सूरिपुरंदर पू.आ.भ. श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी विरचित

तार्किकरत्न पू.आ.श्री. गुणरत्नसूरीश्वरजी रचित वृत्ति सहित

षड्दर्शन समुच्चय

भावानुवाद - हिन्दी व्याख्या

भाग-२

-: भावानुवादकार एवं संपादक :-

पू.मु.श्री संयमकीर्तिविजयजी म.सा.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षड्दर्शन समुच्चय

(भावानुवाद - हिन्दी व्याख्या)

भाग-२

-: ग्रंथकार :-

समर्थ शास्त्रकार शिरोमणी पू.आ.भ.**श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी** महाराजा

: टीकाकार :

तार्किकरत्न पू.आ.भ.**श्री गुणरत्नसूरीश्वरजी** महाराजा

-: दिव्यकृपा :-

तपागच्छाधिराज स्व.पू.आ.भ.श्री.वि. **रामचन्द्रसूरीश्वरजी** महाराजा

सुविशाल गच्छाधिपति स्व.पू.आ.भ.श्री.वि. **महोदयसूरीश्वरजी** महाराजा

गच्छनायक स्व.पू.आ.भ.श्री.वि. **हेमभूषणसूरीश्वरजी** महाराजा

: मार्गदर्शन :

प्रवचन प्रभावक पू.आ.भ.श्री.वि. **कीर्तियशसूरीश्वरजी** महाराजा

: संपादक एवं भावानुवादकार :

तपागच्छाधिराज के प्रशिष्यरत्न पू. पंन्यास प्रवर **श्री दिव्यकीर्तिविजयजी** गणिवर्यश्री के शिष्यरत्न पू. पंन्यास प्रवर **श्री पुण्यकीर्तिविजयजी** गणिवर्यश्री के शिष्य पू.मु.**श्री संयमकीर्ति** वि.म.सा.

: प्रकाशक :
सन्मार्ग प्रकाशन
अहमदाबाद

: प्रचारक :
चौखम्बा पब्लीकेशन
न्यू दिल्ली

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्रंथ का नाम : षड्दर्शन समुच्चय, भाग-१, २ (भावानुवाद-हिन्दी व्याख्या)

ग्रंथकार : पू.आ.भ.श्री. **हरिभद्रसूरीश्वरजी** महाराजा

टीकाकार : पू.आ.भ.श्री. **गुणरत्नसूरीश्वरजी** महाराजा

मार्गदर्शन : पू.आ.भ.श्री.वि. **कीर्तियशसूरीश्वरजी** महाराजा

संपादक एवं भावानुवादकार : पू.मु.श्री **संयमकीर्तिविजयजी** म.सा.

हिन्दी अनुवादक : जिज्ञासाबहन वृ. कटारीया (पडधरी)

प्रकाशक : सन्मार्ग प्रकाशन (अहमदाबाद)

प्रचारक एवं प्रमुख विक्रेता : चौखम्बा पब्लीकेशन - न्यू दिल्ली

प्रकाशन वर्ष : वि.सं. २०६८, महा सुद १४, ता. ६-२-२०१२

©सन्मार्ग प्रकाशन (सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन)

मूल्य : रू. १०००/- (दोनों भाग का)

: संपर्क सूत्र :

सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद-१.
फोन : (०७९) २५३९२७८९

पं.श्री मेहुलभाई शास्त्री
मो. ९१७३३९६०८४

: प्राप्ति स्थान :

(१) सन्मार्ग प्रकाशन
जैन आराधना भवन,
पाछीया की पोल, रीलीफ रोड,
अहमदाबाद-१.
फोन : (०७९) २५३९२७८९
E-mail : sanmargprakashan@gmail.com

(२) चौखम्बा संस्कृत संस्थान
पो. बो. नं. ११३९, के-३७/११६,
गोपालमंदिरलेन, गोलघर,
मैदागीन के पास, वाराणसी-२२१००१,
(इन्डीया) फोन : २३३३४४५
टेली फेक्स : ०५४२-२३३५९३०
मो : ९८३८८१६१७२
E-mail : cssvns@sify.com

(३) चौखम्बा पब्लिकेशन
४२६२/३, अंसारी रोड,
दरियागंज, न्यू दिल्ली-११०००२
फोन : २३२५९०५०,
टेली फेक्स : (०११) २३२६८६३९
मो. : ९३१३८०१७४२
E-mail-cpub@vsnl.net

(४) चौखम्बा संस्कृत संस्थान
६९२/९३, रविवार पेठ,
कपडगंज, डी.एस.हाउस के पास,
पुणे-४११००२
फोन नं. (०२०) २४४७१२८३
मो. ९९७०१९३९५५
E-mail : hn.shah@rediffmail.com

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हार्दिक अनुमोदना

-: लाभार्थी :-

तपागच्छाधिराज पूज्यपाद आचार्य देवेश श्रीमद्विजय **रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा** के पट्टालंकार वर्धमान तपोनिधि पू.आ.भ.श्री.वि. **गुणयशसूरीश्वरजी महाराजा** के शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक पू.आ.भ.श्री.वि. **कीर्तियशसूरीश्वरजी महाराजा** के आशीर्वाद से वर्धमान तपोनिधि पू.पं.प्र.श्री **पुण्यकीर्तिविजयजी** गणिवर्यश्रीजी के शिष्यरत्न पू.मु.श्री **संयमकीर्तिविजयजी म.सा.** के सदुपदेश से

श्री रत्नत्रयी आराधना भवन ट्रस्ट,

वसंतकुंज-अहमदाबाद द्वारा ज्ञाननिधि में से...

इस **षड्दर्शन समुच्चय ग्रंथ** के **दोनों भाग** के प्रकाशन का

संपूर्ण लाभ प्राप्त किया गया है ।

आप के श्रीसंघ की श्रुतभक्ति की हार्दिक अनुमोदना !!! भविष्य में भी आप का उत्तरोत्तर श्रुतभक्ति का शुभभाव उल्लसित बने रहे ऐसी शुभकामना ।

- सन्मार्ग प्रकाशन

नोंध : *इस ग्रंथ, ज्ञाननिधि की द्रव्यराशी के सद्व्यय से प्रकाशित हुआ होने से गृहस्थवर्ग को इस ग्रंथ का संपूर्ण मूल्य ज्ञाननिधि में जमा कराकर ही उसकी मालिकी करने का परामर्श है ।*

- प्रकाशक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दीक्षा स्मृति दिन शताब्दी वर्ष में सादर समर्पणम्

श्री महावीर प्रभु के शासन की अजोड आराधना, प्रभावना और सुरक्षा द्वारा बीसवी-इक्कीसवी सदी के जैन इतिहास को जाज्वल्यमान करते दीक्षायुगप्रवर्तक, व्याख्यान वाचस्पति, जैन शासन शिरताज, तपागच्छाधिराज

पूज्यपाद आचार्यदेवेश श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा

अनेक बार प्रवचनो तथा वाचनाओं में फरमाते थे कि,

जैन शासन के अद्भुत आगम निधि का परमार्थ प्राप्त करना हो,

वैसे प्रत्येक पुण्यात्मा-महात्मा को

❖ सूरिपुरंदर पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् **हरिभद्रसूरीश्वरजी** महाराजा

❖ कलिकालसर्वज्ञ पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् **हेमचंद्रसूरीश्वरजी** महाराजा और

❖ न्यायाचार्य न्यायविशारद पूज्यपाद **महामहोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी गणिवर्य** जैसे शासन मर्मज्ञ, कलिकाल में भी पूर्वधरों का स्मरण करायें ऐसी श्रुतसंपत्ति के धारक महापुरुषो के रचे हुए ग्रंथो का गुरु आज्ञा-निश्रा में सुंदर अभ्यास करना चाहिए । प्राकृत-संस्कृत भाषा से अन्जान ऐसे मुमुक्षु भी इस ज्ञान विरासत से वंचित न रहे और मोक्षमार्ग का सुनिश्चित ज्ञान उनको भी मिल सके इसलिए ऐसे प्रकरणादि ग्रंथो का **भावानुवाद** भी होना चाहिए ।

पूज्यपादश्रीजी की यह आर्षवचनिका मेरे हृदय पट के उपर अंकित हुई और ***"शुभे यथाशक्ति यतनीयम्"*** न्यायानुसार मैंने उनकी - श्रीमद् की कृपा के बल से यह अनुवाद तैयार करने का प्रयास किया है । ग्रंथ परिसमाप्ति के आनंद को परमानंद में परिवर्तित करने के लिए आज उनके - श्रीमद् के ही शास्त्रसंपूत करकमल में समर्पण करके धन्यता का अनुभव करता हुँ ।

- चरणरज **संयमकीर्ति** विजय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संक्षिप्त विषय-सूची

षड्दर्शन समुच्चय भाग १-२

भाग-१

विषय	पृ. नं.
● प्रकाशकीय	७-८
● पूरोवचन	९-११
● किंचित्	१२-१३
● संशोधकप्रतिभावः	१४-१६
● सारस्वतवचनम्	१७-१८
● संपादकीय	१९-२५
● भूमिका	२६-८९
● विस्तृत विषयानुक्रम	९०-१०७
● ग्रंथारंभ	१-३७
● बौद्धदर्शन	३८-८५
● बौद्धदर्शन का विशेषार्थ	८६-१२४
● नैयायिक दर्शन	१२५-२३६
● सांख्यदर्शन	२३७-२६३
● सांख्यदर्शन का विशेषार्थ	२६४-३२६
● **परिशिष्ट-१** (वेदांत दर्शन)	३२७-४७२
● **परिशिष्ट-२** (योगदर्शन)	४७३-४९७
● **परिशिष्ट-३** (जैनदर्शन का कर्मवाद)	४९८-५०६
● **परिशिष्ट-४** (जैनदर्शन का ग्रंथकलाप)	५०७-५२१
● **परिशिष्ट-५** (साक्षीपाठः)	५२२-५५५
● **परिशिष्ट-६** (पारिभाषिकशब्दानुक्रमणी-सार्थ)	५५६-५६४
● **परिशिष्ट-७** (दार्शनिक-पारिभाषिक शब्द-सूची)	५६५-५७२
● **परिशिष्ट-८** (व्याख्या की शैली का परिचय)	५७३-५८७
● **परिशिष्ट-९** (संकेत विवरणम्)	५८८-५९०
● **परिशिष्ट-१०** (उद्धृतवाक्यानुक्रमणिका)	५९१-५९५
● **परिशिष्ट-११** (मूलश्लोकानुक्रम)	५९६-५९७

भाग-२

विषय	पृ. नं.
● संक्षिप्त विषय-सूची	६०५
● विस्तृत विषयानुक्रम	६०६-६२३
● जैन दर्शन	६२४-९३६
● वैशेषिक दर्शन	९३७-९६९
● मीमांसकदर्शन	९७०-९९७
● लोकायत दर्शन	९९८-१०११
● **परिशिष्ट-१** (जैनदर्शन का विशेषार्थ)	१०१२-१०६०
● **परिशिष्ट-२** (स्याद्वाद)	१०६१
● **परिशिष्ट-३** (नयवाद)	१०६२-११२७
● **परिशिष्ट-४** (सप्तभंगी)	११२८-११६१
● **परिशिष्ट-५** (निक्षेपयोजन)	११६२-११८७
● **परिशिष्ट-६** (मीमांसादर्शन का विशेषार्थ)	११८८-१२९३
● **परिशिष्ट-७** (साक्षीपाठः)	१२९४-१३२७
● **परिशिष्ट-८** (पारिभाषिकशब्दानुक्रमणी-सार्थ)	१३२८-१३३८
● **परिशिष्ट-९** (संकेत विवरणम्)	१३३९-१३४१
● **परिशिष्ट-१०** (उद्धृतवाक्यानुक्रमणिका)	१३४२-१३४६
● **परिशिष्ट-११** (मूलश्लोकानुक्रम)	१३४७-१३४८

: बोध :

"साक्षीपाठ" संबंधित परिशिष्ट का अत्रस्थ निर्देशानुसार उपयोग करना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दीक्षा युगप्रवर्तकश्रीजी के श्रीचरणों में ससम्मान श्रद्धांजलि

न्यायांभोनिधि पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् **विजयानंदसूरीश्वरजी (आत्मारामजी)** महाराजा के स्वर्गवास के वर्ष में जन्मे, पादरा के माता **समरथ** व पिता **छोटालाल रायचंद** के इकलौते सुपुत्ररत्न **त्रिभुवनकुमार** ने दीक्षा की सार्वत्रिक विपरीत अवस्थाओं के बादलों को स्वपुरुषार्थ से बिखेरकर भरूच के पास **गंधारतीर्थ** में पू. मु. श्री **मंगलविजयजी** महाराजा के करकमलों से रजोहरण प्राप्त कर पू. मु. श्री **प्रेमविजयजी** महाराज (बाद में सूरीश्वरजी) के प्रथम पट्टशिष्य के रूप में पू. मु. श्री **रामविजयजी** महाराज का नाम धारण किया। उस समय दीक्षितों व दीक्षार्थियों को दीक्षा का आदान-प्रदान करने के लिए जिस तरह से संघर्ष करना पड़ता था, उस परिस्थिति में पूर्व-पश्चिम जैसा प्रचंड बदलाव लाने का दृढ़ संकल्प करके उनके मूल कारण खोजकर उसे ज्ड़-मूल से उखाड़ फेंकने का उन्होंने भीष्म पुरुषार्थ शुरू किया था।

इस पुरुषार्थ की नींव की शिला **'प्रवचनधारा'** बनी। अनंत तीर्थंकरों को हृदय में बसाकर, जिनाज्ञा-गुर्वाज्ञा को भाल प्रदेश में स्थापित कर, करकमल में आगमादि धर्मशास्त्र धारण कर, चरणद्वय में चंचला लक्ष्मी को रखकर, जिह्वा के अग्रभाव में शारदा को संस्थापित कर इन महापुरुष ने दीक्षाविरोध के खिलाफ भीषण जेहाद छेड़ी थी। अनेक बाल, युवा, प्रौढ और वृद्धों को दीक्षा प्रदान की। एक साथ परिवार दीक्षित होने लगे। हीराबाजार के व्यापारी, मिलमालिक, डॉक्टर, इंजीनियर व चार्टर्ड एकाउन्टेंट भी उनकी वैराग्य वाणी से प्रभावित होकर वीरशासन के भिक्षुक बन गए।

इस कार्यकाल के दौरान इन श्रीमद् को कई उतार-चढ़ाव, अपमानों, तिरस्कारों, काच की वृष्टि, कंटकों के रास्ते, काले झंडे, स्थान व गांव में प्रवेश न मिले, ऐसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। पैंतीस से अधिक बार तो सिविल व क्रिमिनल गुनाहों में आरोपी बनाकर जैन वेषधारियों ने ही अदालत दिखाई। मां समरथ के जाए, रतनबा द्वारा पोषित, सूरिदान की आंखों के तारे और समकालीन सर्व वरिष्ठ गुरुवर्यों के हृदयहार के रूप में स्थान प्राप्त करने वाले पूज्यश्री ने जिनाज्ञा व सत्यवादिता के जोर पर इन सभी आक्रमणों पर विजय प्राप्त की थी। पू. मु. श्री **रामविजयजी** महाराजा से पू. आ. श्री विजय **रामचंद्रसूरीश्वरजी** महाराजा के रूप में विख्यात हुए श्रीमद् व्याख्यानवाचस्पति, परमशासनप्रभावक, महाराष्ट्रादिदेशोद्धारक, दीक्षायुगप्रवर्तक, जैनशासनसिरताज, तपागच्छाधिराज जैसे १०८ से अधिक सार्थक खिताब पाकर जैनशासन को आराधना, प्रभावना और सुरक्षा के त्रिवेणी संगम से परिस्नात कराते रहे।

कट्टर से कट्टर विरोधी वर्ग को भी वात्सल्य से देखते और अपने प्रति गंभीर अपराध करनेवाले को भी झट से क्षमा दान करनेवाले श्रीमद् ने अपने ७७-७८ वर्ष के सुदीर्घ संयमपर्याय में मुख्य रूप से दीक्षाधर्म की सर्वांगीण सुरक्षा-संवर्धना की, उनके बीज ऐसे सुनक्षत्र में बोए कि उनके नाम से पुण्य संबंध रखनेवाले एक ही समुदाय में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आज लगभग १४०० संयमी साधनारत हैं। अन्य समुदाय, गच्छ व संप्रदायों में दीक्षाप्रवृत्ति के वेग में भी वे श्रीमद् असामान्य कारणरूप हैं। यह किसी भी निष्पक्षपाती को कहने में गुरेज नहीं होगा।

पूज्यपादश्रीजी के दीक्षास्वीकार की क्षण **वि. सं. २०६८ की पोष सुदी त्रियोदशी** को **'शताब्दी'** में मंगलप्रवेश कर रही है और पूरे वर्ष के दौरान इस उपलक्ष्य में **दीक्षाधर्म** की प्रभावना के विविध अनुष्ठान आयोजित किए जा रहे हैं।

पालीताणा में **'सूरिरामचंद्र'** के साम्राज्यवर्ती पूज्य गच्छस्थविर पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **ललितशेखरसूरीश्वरजी** महाराजा, वात्सल्यनिधि पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **महाबलसूरीश्वरजी** महाराजा, गच्छाधिपति पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **पुण्यपालसूरीश्वरजी** महाराजा, प्रवचनप्रभावक पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **कीर्तियशसूरीश्वरजी** महाराजा आदि दशाधिक सूरिवर, पदस्थ, शताधिक मुनिवर तथा पंचशताधिक श्रमणीवरों की निश्रा-उपस्थिति में पंचदिवसीय महोत्सव के आयोजन के साथ आरम्भित **'दीक्षाशताब्दी-महोत्सव'** देशभर में अनेक स्थलों पर भावपूर्वक मनाया जा रहा है। पूज्यश्री के साथ संलग्न स्मृतिस्थान-तीर्थों में भी विविध आयोजन किए गए हैं। समुदाय के अन्य सूरिवर आदि की निश्रा-उपस्थिति में भी राजनगर, सूरत, मुंबई आदि स्थलों पर प्रभावक आयोजन किए गए हैं।

इन सभी आयोजनों के सिरमौर व समापन स्वरूप पूज्यपादश्रीजी के दीक्षास्थल श्री गंधारतीर्थ में अधिक से अधिक संख्या में चतुर्विध श्रीसंघ को आमंत्रित कर दिगदिगंत में गुंजायमान होनेवाला दीक्षादुंदुभि का पुण्यघोष करने की गुरुभक्तों व समिति की भावना है।

दीक्षाशताब्दीवर्ष में जिनभक्ति, गुरुभक्ति, संघ-शासनभक्ति के विविध अनुष्ठान आयोजित किए जाएंगे । वैसे ही अधिक से अधिक संख्या में मुमुक्षुओं, महात्माओं के दीक्षा महोत्सव भी आयोजित किए जाएंगे। साथ ही ज्ञानसुरक्षावृद्धि, अनुकंपा एवं जीवदयादि के संगीन कार्य करके पूज्यपादश्रीजी के आज्ञासाम्राज्य को ससम्मान श्रद्धांजलि समर्पित की जाएगी।

इस बृहद् योजना के अंतर्गत ही प्राचीन व अर्वाचीन श्रुतप्रकाशन का सुंदर व सुदृढ़ कार्य शुरू किया गया है। सूरिरामचंद्रसाम्राज्य के वर्तमानगच्छाधिपति प्रवचनप्रदीप पूज्यपाद् आचार्यदेव श्रीमद् विजय **पुण्यपालसूरीश्वरजी** महाराजा के आज्ञाशीर्वाद प्राप्त कर प्रवचनप्रभावक पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय **कीर्तियशसूरीश्वरजी** महाराजा के शास्त्रीय मार्गदर्शनानुसार विविध श्रुतरत्नों का प्रकाशन **'शासनसिरताज सूरिरामचंद्र दीक्षाशताब्दी ग्रंथमाला'** के उपक्रम से निर्धारित किया गया है। इसके **पंचम-पुष्प स्वरूप "षड्दर्शनसमुच्चय-हिन्दी भावानुवाद-भाग-२"** ग्रंथ का प्रकाशन करते हुए अतीव आनंद अनुभव कर रहे हैं।

इस पुस्तक का संकलन-संपादन कार्य विद्वद्वर्य पू. मुनिराज **श्री संयमकीर्तिविजयजी** महाराजने करके महान उपकार किया है, तो **सन्मार्ग प्रकाशन,** अहमदाबाद ने भी अथक मेहनत से मुद्रण-प्रकाशन व्यवस्था में पूरा सहयोग दिया है, जिसके लिए उन सभी के भी उपकृत हैं।

सभी कोई इस पुस्तक के पठन-पाठनादि से ज्ञानावरणीयादि कर्मों का क्षयोपशम पाकर मुक्तिमार्ग में आगे बढ़कर आत्मश्रेयः प्राप्त करें, यही हार्दिक-भावना है।

वि. सं. २०६८, माघ सुदी १३ **शासनसिरताज सूरिरामचंद्र दीक्षाशताब्दी समिति**
रविवार दिनांक ५-२-२०१२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विस्तृत विषयानुक्रम

क्रम	विषय	पृ. नं.
१	**प्रकाशकीय**	७
२	**पूरोवचन**-पू.आ.भ.श्री.कीर्तियश सू.म.सा.	९
३	**किंचित्**-पू.मु.श्री. दिव्यकीर्ति वि.गणी	१२
४	**संशोधकप्रतिभावः** - श्री मेहुलभाई शास्त्री	१४
५	**सारस्वतवचनम्** - डॉ. विष्णुप्रसाद शास्त्री	१७
६	**संपादकीय**	१९
७	**भूमिका - संपादक**	२६
	- उपोद्घात	२६
	- दर्शन	२८
	- सभी दर्शन को मान्य मोक्ष का स्वरूप	३०
	- षड्दर्शन	३७
८	**बौद्धदर्शन**	**३७**
	- देवता	३७
	- तत्त्वमीमांसा	३८
	- महत्त्व के दार्शनिक सिद्धांत	४०
	- नैरात्म्यवाद	४०
	- क्षणिकवाद	४१
	- प्रतीत्यसमुत्पाद वाद	४१
	- अनीश्वरवाद	४१
	- चार निकाय	४१
	- प्रमाण विचार	४२
	- ग्रंथ और ग्रंथकार	४२
९	**नैयायिकदर्शन**	**४४**
	- देवता	४५
	- तत्त्वमीमांसा	४५
	- प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय-प्रमिति	४६
	- महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धांत	४७
	- प्रमाण विचार	४७
	- प्रत्यक्ष प्रमाण	४८
	- अनुमान प्रमाण	४९
	- उपमान प्रमाण	४९
	- शब्द प्रमाण	५०
	- ग्रंथ और ग्रंथकार	५०
	- प्राचीन न्याय	५१
	- नव्यन्याय	५१
१०	**सांख्यदर्शन**	**५२**
	- देवता-ईश्वर विषयक महत्त्व की चर्चा	५२
	- तत्त्वमीमांसा	५३
	- प्रमाणमीमांसा	५४
	- महत्त्व के दार्शनिक सिद्धांत	५५
	- सत्कार्यवाद	५५
	- पुरुष बहुत्व	५५
	- ग्रंथ एवं ग्रंथकार	५६
११	**जैनदर्शन**	**५६**
	- देवता	५७
	- तत्त्वमीमांसा	५९
	- जीव	५९
	- अजीव	६०
	- पुण्य-पाप-आश्रव	६१
	- संवर-बंध-निर्जरा	६१
	- मोक्ष	६२
	- प्रमाणमीमांसा	६३
	- प्रत्यक्ष प्रमाण	६३
	- परोक्ष प्रमाण	६३
	- महत्त्व के दार्शनिक सिद्धांत	६४
	- स्याद्वाद	६४
	- नयवाद	६६
	- सप्तभंगी	६६
	- निक्षेप योजन	६७
	- सत् की व्याख्या	६७
	- कर्मवाद	६७
	- शरीर परिमाणवाद	६८
	- ग्रंथ और ग्रंथकार	६९
	- दार्शनिक ग्रंथ	७०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	पृ. नं.
१२	**वैशेषिक दर्शन**	७१
	- देवता	७१
	- तत्त्वमीमांसा	७१
	- अभाव पदार्थ के विषय में स्पष्टता	७३
	- प्रमाणमीमांसा	७३
	- महत्त्व के दार्शनिक सिद्धांत	७४
	- पीलुपाकवाद	७४
	- ईश्वरवाद	७४
	- ग्रंथ और ग्रंथकार	७४
१३	**मीमांसकदर्शन**	७५
	- देवता	७६
	- तत्त्वमीमांसा	७७
	- प्रमाण विचार	७७
	- महत्त्व के दार्शनिक सिद्धांत	७८
	- अपूर्व सिद्धांत	७८
	- प्रामाण्यवाद	७८
	- अपौरुषेयवाद	७९
	- जगत्	७९
	- ग्रंथ एवं ग्रंथकार	७९
१४	**उत्तरमीमांसा (वेदांत) दर्शन**	८०
	- ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार	८१
	- ग्रंथ-ग्रंथकार	८१
१५	**योगदर्शन**	८३
	- ग्रंथ-ग्रंथकार	८३
१६	**दर्शनसंग्राहक ग्रंथ**	८४
१७	**ग्रंथकारश्री का परिचय**	८६
१८	**टीकाकारश्री का परिचय**	८८
१९	**षड्दर्शन समुच्चय की अन्य टीकायें**	८८
२०	**शुभ कामना**	८९

विस्तृत विषयानुक्रम

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
१	टीकाकारश्री का मंगल		१
२	ग्रंथकारश्री का मंगल	(१)	२
३	वीरपरमात्मा के चार अतिशय	(१)	३
४	आदि-मध्य-अंत्यमंगल का कारण	(१)	६
५	'सद्दर्शन' विशेषण के द्वारा जैनदर्शन की सत्यता की सिद्धि	(१)	७
६	भगवान के विशेषणों द्वारा अन्यमतों का खंडन	(१)	८
७	शास्त्रकारपरमर्षि की मध्यस्थता	(१)	१३
८	संख्यातीतदर्शनों का छः में अन्तर्भाव	(१)	१४
९	३६३ परवादियों की मान्यताओं का प्रारंभ	(१)	१६
१०	क्रियावादियों के १८० भेद	(१)	१६
११	अक्रियावादियों के ८४ भेद	(१)	२२
१२	अज्ञानवादियों के ६७ भेद	(१)	२४
१३	सत्त्वादि सात भांगों की विचारणा	(१)	२८
१४	विनयवादियों के ३२ भेद	(१)	२९
१५	लोक के स्वरुप के बारे में भिन्न-भिन्न मान्यतायें	(१)	३०
१६	दर्शनों की संख्या	(२)	३५
१७	दर्शन के नाम	(३)	३६
	बौद्ध दर्शन : अधिकार-१		**३८**
१८	बौद्धदर्शन के देवता सुगत	(४)	३९
१९	दुःखादि चार आर्यसत्य	(४)	४१
२०	(चार आर्यसत्य में से) दुःखतत्त्व के विज्ञानादि पांच भेद - स्कंध	(५)	४२
२१	दुःखतत्त्व के कारणभूत समुदय तत्त्व की व्याख्या	(६)	४५
२२	(चार आर्यसत्य में से) "मार्ग" और "निरोध" तत्त्व की प्ररुपणा तथा "क्षणिकवाद" की सिद्धि	(७)	४६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
२३	बारह आयतन का वर्णन	(८)	५४
२४	प्रमाण का सामान्यलक्षण तथा प्रामाण्यवाद	(८)	५६
२५	बौद्धमत में प्रत्यक्ष और अनुमान दों प्रमाण	(९)	६०
२६	दो प्रमाण से अतिरिक्त प्रमाणों का निषेध	(९)	६३
२७	प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण	(१०)	६८
२८	प्रत्यक्ष प्रमाण के चार भेद	(१०)	७०
२९	अनुमान प्रमाण का लक्षण	(१०)	७६
३०	हेतु के पक्षधर्मतादि तीन रुप	(११)	७८
३१	मूलग्रंथकारश्री ने नहीं कहा हुआ कुछ विशेषवर्णन	(११)	८२
३२	बौद्धदर्शन के वैभाषिक आदि भेदो की आंशिक मान्यता	(११)	८३
३३	बौद्धदर्शन का उपसंहार	(१२)	८४
३४	**बौद्धदर्शन के विशेषार्थ का प्रारंभ**		**८६**
३५	**वैभाषिक मत की मान्यता**		**८६**
३६	धर्मो का वर्गीकरण		८७
३७	विषयीगण विभाजन		८७
३८	पंचस्कन्ध-बार आयतन		८७
३९	अढारहधातु		८८
४०	विषयगत वर्गीकरण		८८
४१	संस्कृत धर्मो के ७५ भेद		८९
४२	असंस्कृत धर्म		९१
४३	**सौत्रान्तिकमत**		**९३**
४४	सौत्रान्तिकमतानुसार धर्मो का वर्गीकरण		९५
४५	**योगाचार (विज्ञानवादि) की मान्यता**		**९६**
४६	विज्ञान के प्रभेद		९८
४७	आलयविज्ञान का स्वरूप		१००
४८	योगाचारमतानुसार पदार्थ समीक्षा		१०१
४९	सत्तामीमांसा		१०२
५०	**माध्यमिक (शून्यवाद) की मान्यता**		**१०४**
५१	ज्ञानमीमांसा		१०४
५२	सत्ता परीक्षा		१०५
५३	कारणतावाद		१०६
५४	स्वभाव परीक्षा		१०७
५५	द्रव्य परीक्षा		१०७
५६	जाति		१०८
५७	संसर्ग विचार		१०८
५८	गति परीक्षा		१०९
५९	आत्मपरीक्षा		१०९
६०	कर्मफल परीक्षा		१११
६१	ज्ञान परीक्षा		११२
६२	सत्ता परीक्षा		११३
६३	संवृत्ति के दो प्रकार		११४
६४	परमार्थ सत्य		११५
६५	व्यवहार की उपयोगिता		११५
६६	शून्यता		११६
६७	शून्यता का उपयोग		११६
६८	शून्यता का लक्षण		११७
६९	शून्यवाद की सिद्धि		११७
७०	शून्यता के प्रकार		११८
७१	सत्ता के प्रश्न को लेकर बौद्धदर्शन के चार संप्रदाय		१२०
७२	हीनयान और महायान की निर्वाण के विषय में मान्यता		१२१
७३	निर्वाण और संसार के विषय में चार मतो की विशेषता		१२२
७४	बौद्धमत में काल विषयक मान्यता		१२३
७५	सम्मितीय संप्रदाय के सिद्धांत		१२४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
	नैयायिक दर्शन : अधिकार - २		
७६	**नैयायिकदर्शन का प्रारंभ, उसके वेश,** लिंग और आचार	(१२)	१२५
७७	नैयायिकमत में विभु-नित्य-एक सर्वज्ञ-नित्यबुद्धिवान् शिवदेव	(१३)	१२८
७८	ईश्वर की जगत्कर्ता के रूप में सिद्धि	(१३)	१२९
७९	प्रमाणादि सोलह (१६) तत्त्वो की प्ररूपणा	(१४, १५, १६)	१३४
८०	प्रमाण का सामान्य लक्षण	(१४, १५, १६)	१३८
८१	प्रमाण के प्रत्यक्षादि चार भेद	(१७, १८, १९)	१३९
८२	प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण	(१७, १८, १९)	१४०
८३	संयोगादि छः सन्निकर्ष	(१७, १८, १९)	१४२
८४	प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षणगत शब्दों की सार्थकता	(१७, १८, १९)	१४४
८५	प्रत्यक्ष प्रमाण का फलादि तीन विशेषणपक्षों की विचारणा	(१७, १८, १९)	१४७
८६	प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद	(१७, १८, १९)	१५०
८७	अनुमान प्रमाण का लक्षण		१५१
८८	अनुमान प्रमाण के पूर्ववत् आदि तीन भेदों का वर्णन	(१७, १८, १९)	१५४
८९	हेतु के पक्षधर्मता आदि पांचरूप	(१७,१८,१९)	१५६
९०	अनुमान के विषय के तीन प्रकार	(१७,१८,१९)	१५७
९१	पूर्ववत् आदि अनुमान के भेदों की भिन्न प्रकार से प्ररुपणा	(१७, १८, १९)	१६४
९२	पूर्ववत् अनुमान का उदाहरण	(२०)	१६८
९३	शेषवत् अनुमान का उदाहरण	(२१)	१६९
९४	सामान्यतोदृष्ट अनुमान का उदाहरण	(२२)	१७०
९५	उपमान प्रमाण का लक्षण	(२३)	१७१
९६	शब्द प्रमाण का लक्षण	(२४)	१७३
९७	प्रमेय का लक्षण तथा आत्मादि प्रमेय का निरुपण	(२४)	१७४
९८	संशय-प्रयोजन का स्वरूप	(२५)	१८१
९९	दृष्टांत और सिद्धांततत्त्व की व्याख्या	(२६)	१८४
१००	अवयव-तर्क-निर्णयतत्त्व का स्वरूप	(२७, २८)	१८९
१०१	प्रतिज्ञा आदि पांच अवयव	(२७, २८)	१८९
१०२	तर्क की व्याख्या	(२७, २८)	१९१
१०३	निर्णय तत्त्व की व्याख्या	(२७, २८)	१९२
१०४	वादतत्त्व का निरुपण	(२९)	१९३
१०५	कथा के दो प्रकार	(२९)	१९३
१०६	कथा के वादि आदि चार अंग	(२९)	१९४
१०७	जल्प और वितंडा का स्वरुप	(३०)	१९५
१०८	हेत्वाभासादि तीन का स्वरुप	(३१)	१९७
१०९	असिद्ध आदि हेत्वाभास के पांच प्रकार	(३१)	१९८
११०	छल का स्वरुप तथा उसके वाक्छल आदि तीन प्रकार	(३१)	२०२
१११	जातितत्त्व की व्याख्या तथा उसके २४ भेदो के नाम	(३१)	२०५
११२	साधर्म्यसमा जाति	(३१)	२०५
११३	वैधर्म्य-उत्कर्ष-अपकर्ष समाजाति	(३१)	२०६
११४	वर्ण्य-अवर्ण्यसमाजाति	(३१)	२०७
११५	विकल्पसमाजाति	(३१)	२०८
११६	साध्य-प्राप्ति-अप्राप्तिसमाजाति	(३१)	२०९
११७	प्रसंग-प्रतिदृष्टांत-अनुत्पत्ति-समाजाति	(३१)	२१०
११८	संशय-प्रकरण समाजाति	(३१)	२११
११९	हेतुसमाजाति	(३१)	२१२
१२०	अर्थापत्ति-अविशेष समाजाति	(३१)	२१३
१२१	उपपत्ति-उपलब्धि-अनुपलब्धि समाजाति	(३१)	२१३
१२२	नित्य-अनित्यसमा जाति	(३१)	२१५
१२३	कार्यसमाजाति	(३१)	२१६
१२४	जातिओं का प्रति समाधान	(३१)	२१७
१२५	निग्रहस्थान का स्वरुप तथा उसके प्रतिज्ञाहानि आदि २२ भेद के नाम	(३२)	२२३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
१२७	प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान	(३२)	२२५
१२८	प्रतिज्ञान्तर-प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान	(३२)	२२६
१२९	प्रतिज्ञासंन्यास निग्रहस्थान	(३२)	२२७
१३०	हेत्वन्तर-अर्थान्तर निग्रहस्थान	(३२)	२२८
१३१	निरर्थक - अविज्ञातार्थ-अपार्थक निग्रहस्थान	(३२)	२२९
१३२	अप्राप्तकाल - न्यून निग्रहस्थान	(३२)	२३०
१३३	अधिक - पुनरुक्त अननुभाषण निग्रहस्थान	(३२)	२३०
	अधिक-अप्रतिभा निग्रहस्थान	(३२)	२३१
	विक्षेप निग्रहस्थान	(३२)	२३२
१३४	मतानुज्ञा-पर्यनुयोज्योपेक्षण-निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान	(३२)	२३३
१३५	अपसिद्धांत-हेत्वाभास निग्रहस्थान	(३२)	२३४
१३६	मूलग्रंथकारश्री ने नहीं कही हुई कुछ नैयायिकदर्शन की मान्यतायें	(३२)	२३५
१३७	नैयायिकमत का उपसंहार सांख्यमत के प्रारंभ का सूचन	(३३)	२३६
	सांख्य दर्शन : अधिकार-३		
१३८	**सांख्यदर्शन**		**२३७**
१३९	सांख्यमत के वेष, लिंग और आचार	(३३)	२३८
१४०	सांख्यमत का प्रारंभ	(३४)	२३९
१४१	दुःख के तीन प्रकार	(३४)	२४०
१४२	सांख्यमत को मान्य २५ तत्त्व का निरुपण	(३५)	२४१
१४३	सत्त्वादि तीनगुणो का निरूपण और उसके कार्य	(३५)	२४२
१४४	प्रकृति का स्वरूप	(३६)	२४३
१४५	सृष्टिक्रम	(३७)	२४४
१४६	बुद्धि-अहंकार का स्वरुप	(३७)	२४५
१४७	षोडशसमुदाय के नाम	(३८,३९)	२४५
१४८	पंचभूत की उत्पत्ति	(४०)	२४७
१४९	पुरुषतत्त्व का निरुपण	(४१)	२४८
१५०	सांख्यकारिका के आधार पर बुद्धि आदि तथा प्रकृति का विस्तार से स्वरूप	(४१)	२४९
१५१	पुरुषतत्त्व का स्वरूप	(४१)	२५२
१५२	तत्त्वो का उपसंहार	(४२)	२५५
१५३	प्रकृति और पुरुष की लंगडे और अंध के समान वृत्ति	(४२)	२५६
१५४	प्रमाण का स्वरूप	(४३)	२५८
१५५	प्रमाण का सामान्यस्वरूप तथा प्रमाण के भेद	(४३)	२५८
१५६	मूलग्रंथकारश्री ने नहि कहा हुआ विशेषवाच्यार्थ	(४३)	२६०
१५७	सांख्यमत का उपसंहार	(४४)	२६१
१५८	**सांख्यदर्शन का विशेषार्थ**		**२६४**
१५९	पुरुष के दो प्रकार		२६४
१६०	तत्त्वविचार		२६५
१६१	सत्कार्यवाद		२६८
१६२	सृष्टि विकास		२७०
१६३	पुरुष तत्त्व		२७१
१६४	पुरुष-प्रकृति संयोग		२७२
१६५	प्रकृति		२७३
१६६	प्रकृति की अवस्था विशेष		२७४
१६७	विशेष अवस्था		२७४
१६८	अविशेष-लिंगमात्र अवस्था		२७५
१६९	अलिंग अवस्था		२७६
१७०	प्रकृति के दूसरे नाम		२७७
१७१	सेश्वरवादी मत से ईश्वर का स्वरूप		२७७
१७२	पांच क्लेश का स्वरूप		२७८
१७३	सांख्यकारिका का विशेषार्थ-कारिका-१		२८१
१७४	कारिका-२		२८१
१७५	कारिका-३ का विशेषार्थ		२८२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
१७६	कारिका-४-५-६ (प्रमाण स्वरूप)		२८३
१७७	कारिका-७ (प्रत्यक्ष-अनुमान प्रमाण)		२८४
१७८	कारिका-८ (प्रकृति की अप्रत्यक्षता का कारण)		२८४
१७९	सत्कार्यवाद - उनके पांच हेतु	(का. ९)	२८५
१८०	प्रकृति का स्वरूप	(का. १०-११)	२८५
१८१	सत्त्वादि तीन गुणो का स्वरूप	(का. १२)	२८६
१८२	तीन गुण के उदाहरण	(का. १३-१४)	२८७
१८३	अव्यक्त का स्वरुप	(का. १५-१६)	२८९
१८४	पुरुष का अस्तित्व	(का. १७)	२९१
१८५	पुरुष बहुत्व	(का. १८)	२९३
१८६	पुरुष का स्वरूप	(का. १९-२०)	२९३
१८७	पुरुष-प्रकृति का संयोग	(का. २१)	२९४
१८८	सृष्टिक्रम	(का. २२,२३,२४,२५,२६)	२९४
१८९	मन का स्वरुप	(का. २७)	२९६
१९०	दस इन्द्रियों की वृत्तियाँ	(का.२८)	२९७
१९१	त्रिविध अन्तःकरण के व्यापार	(का.२९)	२९७
१९२	कारिका-३०		२९७
१९३	जिज्ञासापूर्ति	(का. ३१)	२९८
१९४	पुरुष के प्रयोजन वश करणों की प्रवृत्ति	(का. ३२)	२९८
१९५	अंतःकरणादि के प्रकार	(का. ३३)	२९९
१९६	कारिका ३४-३५-३६		२९९
१९७	बुद्धि की प्रधानता	(का. ३७)	३००
१९८	पंच तन्मात्रा का स्वरूप	(का. ३८-३९)	३००
१९९	सूक्ष्म शरीर	(का. ४०-४१)	३००
२००	प्रयोजन	(का. ४२)	३०१
२०१	कारिका	(का. ४३)	३०१
२०२	कारिका	(का. ४४-४५-४६)	३०२
२०३	प्रत्ययसर्गादि का निरुपण	(का. ४७-४८-४९-५०)	३०३
२०४	सिद्धि का भेद-प्रभेद	(का. ५१)	३०८
२०५	कारिका-५२		३०९
२०६	तन्मात्रकृत सर्ग-भौतिकसर्ग	(का. ५३)	३१०
२०७	का. ५४-५५		३११
२०८	का. ५६		३१२
२०९	का. ५७-५८		३१३
२१०	का. ५९-६०		३१४
२११	का. ६१-६२		३१५
२१२	का. ६३-६४		३१६
२१३	का. ६५-६६		३१७
२१४	का. ६७		३१८
२१५	का. ६८-६९-८०		३१९
२१६	का. ७१-७२-७३		३२०
२१७	बंधन-मुक्ति की विचारणा		३२१

भाग-१ परिशिष्ट विभाग

परिशिष्ट-१- वेदांत दर्शन

२१८	**वेदांत दर्शन**		**३२७**
२१९	ब्रह्म का स्वरुप		३२७
२२०	जीव का स्वरुप		३३३
२२१	ईश्वर का स्वरूप		३३५
२२२	ईश्वर और जीव		३३७
२२३	अज्ञान		३३८
२२४	समष्टि अज्ञान : **माया**		३३९
२२५	व्यष्टि अज्ञान : **अविद्या**		३३९
२२६	अविद्या का **प्रथम लक्षण**		३४३
२२७	अविधा का **द्वितीय लक्षण**		३४५
२२८	अविधा का **तृतीय लक्षण**		३४५
२२९	अविद्या के दो प्रकार		३४६
२३०	अध्यास की आवश्यकता		३४७
२३१	माया और अविद्या		३४८
२३२	अविद्या की भावरूपता		३५०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
२३३	माया-अविद्या की कुछ विशेषताएँ		३५१
२३४	अज्ञान के एकत्व या अनेकत्व		३५१
२३५	अविद्या का आश्रय एवं विषय		३५३
२३६	सृष्टि प्रक्रिया		३५४
२३७	ईश्वक की सृष्टि - सूक्ष्म प्रपंच		३५४
२३८	लिंगशरीर		३५४
२३९	विज्ञानमय कोश		३५५
२४०	मनोमय कोश		३५६
२४१	पाँच कर्मेन्द्रियाँ और उसकी उत्पत्ति		३५६
२४२	प्राणमयकोश-समष्टि लिग शरीर		३५७
२४३	व्यष्टि लिंगशरीर		३५७
२४४	स्थूल प्रपंच-पंचीकरण और स्थूलभूत		३५८
२४५	प्रमाण विचार		३६०
२४६	प्रमाण के प्रकार		३६१
२४७	**(१) प्रत्यक्ष प्रमाण**		३६१
२४८	विषय-प्रत्यक्ष का निकृष्ट लक्षण		३६४
२४९	**(२) अनुमान प्रमाण**		३६६
	- व्याप्ति का स्वरूप		३६७
	- अनुमान में एकविधत्व		३६८
	- अनुमान के दो प्रकार		३६९
२५०	**(३) उपमान प्रमाण**		३६९
२५१	**(४) आगम प्रमाण**		३६९
	- आकांक्षा		३७०
	- योग्यता		३७०
२५२	आसत्ति-तात्पर्यज्ञान		३७१
	- द्विविध पदार्थ		३७१
२५३	अर्थापत्ति प्रमाण		३७२
२५४	अनुपलब्धि प्रमाण		३७४
२५५	प्रामाण्यवाद		३७५
२५६	मुक्ति-मोक्ष विचार		३७६
२५७	- मुक्ति का स्वरुप		३७६
२५८	मुक्ति के प्रकार		३८०
	- जीवन्मुक्त के लक्षण		३८१
२५९	विदेहमुक्त के लक्षण		३८३
२६०	ब्रह्मसाक्षात्कार के साधन		३८७
२६१	चार साधन		३८७
२६२	श्रवण		३८९
२६३	मनन-निदिध्यासन		३९०
२६४	समाधि		३९०
२६५	समाधि के दो प्रकार		३९०
२६६	सविकल्पक समाधि और उसके दो भेद		३९०
२६७	निर्विकल्पक समाधि		३९०
२६८	निर्विकल्प समाधि के अंग		३९१
२६९	ज्ञान की सात भूमिका		३९३
२७०	आत्मा में दृश्य का लय करने की शैली		३९४
२७१	अद्वैत वेदांत में दृग् - दृश्य विवेक		३९५
	- माया में दो शक्ति है		३९६
२७२	अद्वैत वेदांत में भिन्न-भिन्न मान्यतायें		३९८
२७३	**आभासवाद**		**३९८**
	- आभास के भेद		४०१
	- आभासवाद की समीक्षा		४०१
	- आभासवाद की विशेषतायें		४०३
	- जीव और ईश्वर में भेद		४०३
	- आभासवाद का प्रयोजन		४०४
२७४	**कल्पनावाद और आभासवाद**		**४०४**
२७५	**अवच्छेदवाद**		**४०४**
२७६	**प्रतिबिम्बवाद**		**४०६**
२७७	तीनों वाद की समीक्षा		४०७
२७८	दृष्टिसृष्टिवाद		४०९
२७९	सत्ताविचार - तीन प्रकार		४११
	- प्रातिभासिक सत्ता का स्पष्टीकरण		४१२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
	- अनिर्वचनीय ख्याति आदि का स्वरूप		४१३
२८०	ब्रह्मस्वरूपोद्घाटक महावाक्य		४१४
	- उपदेशवाक्य की अर्थनिष्पत्ति		४१४
	- तीन प्रकार के संबंध		४१४
	- तीन प्रकार की अभिधा		४१५
	- अनुभववाक्य का अर्थदर्शन		४१७
२८१	कारण-कार्य संबंध		
	- सत्कार्यवाद-असत्कार्यवाद		४१८
	- तीन वाद		४१८
	- विवर्त और विकार का भेद		४२०
२८२	कर्मविचार-तीन प्रकार के कर्म		४२१
२८३	वेदांत मत में बद्ध संसारी जीव की तीन अवस्था		४२१
२८४	सुषुप्ति के विषय में समीक्षा		४२३
२८५	जाग्रदवस्था के तीन प्रकार		४४३
२८६	स्वप्नावस्था के तीन प्रकार		४४३
२८७	सुषुप्ति अवस्था के तीन प्रकार		४४३
	- अध्यात्मिक दृष्टिकोण से तीन अवस्था		४४४
२८८	वेदांत के विभिन्न संप्रदाय और उनकी मान्यतायें		४४५
	(१) निर्विशेषाद्वैत-केवलाद्वैत मत		४४५
	(२) विशिष्टाद्वैत मत		**४४६**
	- तत्त्वमीमांसा		४४७
	- अंश-अंशी विचार		४४९
	- सृष्टि विचार		४५०
	- जगत्		४५१
	- साधन मार्ग - ईश्वर भक्ति		४५२
	(३) शुद्धाद्वैत मत		**४५३**
	- तत्त्वमीमांसा		४५५
	- ब्रह्म		४५५
	- जीव के प्रकार		४५७
	- जगत्		४५८
	- पुष्टिमार्ग		४५८
	(४) द्वैताद्वैत मत		**४५९**
	- पदार्थ मीमांसा		४६०
	- जडतत्त्व		४६२
	- जीव की दो दशा		४६२
	- साधन मार्ग		४६३
	(५) द्वैत सिद्धान्त		**४६३**
	- पदार्थ मीमांसा		४६४
	- परमात्मा		४६४
	- लक्ष्मी		४६५
	- जीव		४६५
	- साधन मार्ग		४६६
	(६) भेदाभेद सिद्धान्त		**४६६**
	(७) अविभागाद्वैतवाद		**४६७**
	(८) शैवविशिष्टाद्वैतवाद		**४६७**
	(९) वीरशैवविशिष्टाद्वैतवाद		**४६८**
२८९	**अचिन्त्य भेदाभेद वाद**		**४६८**
	- चैतन्यमत में भगवान		४६९
	- भगवान् की शक्तियाँ		४७०
	- जगत्		४७०
	- साधनमार्ग		४७१
२८९	**(१) वेदांत दर्शन की पदार्थ व्यवस्था का चार्ट**		**४७२**
	परिशिष्ट-२ - योगदर्शन		
२९०	**योगदर्शन**		**४७३**
२९१	ईश्वर का स्वरुप		४७३
२९२	क्लेश के पाँच भेद (अविद्यादि)		४७३
२९३	योग का स्वरुप		४७६
२९४	चित्तवृत्ति		४७७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
२९५	चित्त की पाँच अवस्थायें		४७७
	- क्षिप्तावस्था-मूढावस्था-विक्षिप्तावस्था-एकाग्रावस्था		४७७
	- निरुद्धावस्था		४७८
२९६	पाँच प्रकार की वृत्तियाँ		४८०
२९७	(१) प्रमाण		४८०
२९८	(२) विपर्यय		४८१
२९९	(३) विकल्प		४८१
३००	(४) निद्रा		४८२
३०१	(५) स्मृति		४८३
३०२	निरोध के उपाय		४८३
३०३	अभ्यास		४८३
३०४	वैराग्य के दो प्रकार		४८४
३०५	अपर वैराग्य का स्वरुप		४८४
३०६	पर वैराग्य का स्वरूप एवं फल		४८५
३०७	संप्रज्ञात योग का स्वरुप		४८६
३०८	सवितर्क समाधि		४८६
३०९	सविचार समाधि		४८६
३१०	सानंद समाधि		४८७
३११	सास्मिता समाधि		४८७
३१२	असंप्रज्ञात योग		४८७
३१३	योग के ९ अंतराय		४९१
	- दुःखादि पाँच अंतराय		४९२
३१४	अभ्यास का उपसंहार		४९३
३१५	क्लेशों के नाम		४९४
३१६	अविद्या का स्वरुप		४९४
	- अस्मिता का स्वरुप		४९५
	- राग का स्वरुप		४९५
	- द्वेष का स्वरुप		४९५
	- अभिनिवेश का स्वरुप		४९५
	- सूक्ष्म क्लेश के नाश का उपाय		४९६
	- स्थूल क्लेशो के नाश का उपाय		४९६
३१७	योग के आठ अंग		४९८
	- योग का फल-कैवल्यप्राप्ति		४९७
	- प्रमाण विचार		४९७
	परिशिष्ट-३ कर्मवाद		
३१८	जैनदर्शन का कर्मवाद		४९८
३१९	कर्मवाद के सिद्धांत		४९८
३२०	कर्म का अर्थ		४९८
३२१	कर्मबन्ध के कारण		४९९
३२२	कर्मबन्ध की प्रक्रिया		४९९
३२३	कर्म की मूल आठ प्रकृतियाँ		४९९
३२४	आठ कर्म की उत्तरप्रवृत्तियाँ		५००
३२५	कर्मो की स्थिति		५०३
३२६	कर्मफल की तीव्रता-मन्दता		५०३
३२७	कर्मो के प्रदेश		५०३
३२८	कर्म की विविध अवस्थाएँ		५०४
३२९	बंधन-सत्ता-उदय-उदीरणा		५०४
३३०	उद्वर्तना		५०५
३३१	अपवर्तना		५०५
३३२	संक्रमण		५०५
३३३	उपशमना		५०५
३३४	निधत्ति		५०६
३३५	निकाचना-अबाध		५०६
	- कर्म और पुनर्जन्म		५०६
	परिशिष्ट-४ जैनदर्शन का ग्रंथकलाप		
३३६	**जैनदर्शन का ग्रंथकलाप**		**५०७**
३३७	श्री जिनागमो की सारांश माहिती		५०७
३३८	पू. महोपाध्याय **श्री यशोविजयजी विरचित** ग्रंथपरिचय		५१७
३३९	पू.आ.भ.**श्री हरिभद्रसूरिजी विरचित** ग्रंथपरिचय		५१९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
३४०	कार्मग्रंथिक साहित्य		५२०
३४१	दार्शनिक ग्रंथकलाप		५२१
३४२	आकर कोटी के ग्रंथ		५२१
३४३	विशेष सुझाव		५२१
३४४	**परिशिष्ट-५ साक्षीपाठः**		५२२
	- A-1 से 90		५२२
	- B-1 से 100		५३६
	- C-1 से 100		५४७
	- D-1 से 19		५५३
३४५	**परिशिष्ट-६**		
	पारिभाषिकशब्दानुक्रमणी (सार्थ)		**५५६**
	श्लोक १ से ३		५५६
	श्लोक ४ से ११ (बौद्धदर्शनम्)		५५६
	श्लोक ११ से ३२ (नैयायिकदर्शनम्)		५५८
	श्लोक ३३ से ४४ (सांख्यदर्शनम्)		५६२
३४६	**परिशिष्ट-७**		
	दार्शनिक-पारिभाषिक शब्द-सूची		५६५
३४७	**परिशिष्ट-८**		
	व्याख्या की शैली का परिचय		५७३
३४८	**परिशिष्ट-९** संकेत विवरणम्		५८८
३४९	**परिशिष्ट-१०** उद्धृतवाक्यानुक्रमणिका		५९१
३५०	**परिशिष्ट-११** मूलश्लोकानुक्रमणिका		५९६

भाग-२

जैनदर्शन - अधिकार-४

	- संक्षिप्त विषयसूची		६०५
	- विस्तृत विषयानुक्रम		६०६
३५१	जैनदर्शन के लिंग-वेष और आचार	(४४)	६२५
३५२	देव का लक्षण	(४५-४६)	६२६
३५३	भगवान के चार अतिशय का सूचन	(४५-४६)	६२८
३५४	ईश्वर का जगत्कर्तृत्व स्थापन	(४५-४६)	६३०
३५५	जगत्कर्तृत्व का विस्तार से खंडन	(४५-४६)	६३६
३५६	जैमिनीयों (मीमांसको) का अनीश्वरवाद		६५५
३५७	अनीश्वरवाद का विस्तार से निराकरण	,,	६५८
३५८	दिगंबरो की मान्यता-केवलि को कवलाहार का निषेध	,,	६७४
३५९	दिगंबर की मान्यता का खंडन तथा केवलि को कवलाहार ग्रहण की सिद्धि	,,	६७६
३६०	तत्त्वो के नाम	(४७)	६८१
३६१	नवतत्त्वो का सामान्य स्वरूप	(४७)	६८२
३६२	जीव-अजीव-पुण्यतत्त्व का विस्तार से स्वरुप	(४८-४९)	६८३
३६३	जीव के अभाव में चार्वाक की युक्तियाँ	,,	६८५
३६४	चार्वाक की मान्यता का विस्तार से खंडन-जीव की सिद्धि	(४८-४९)	६९२
३६५	आत्मा प्रत्यक्षगम्य	(४८-४९)	६९९
३६६	आत्मा अनुमानगम्य	(४८-४९)	७०१
३६७	आत्मा की आगम-उपमान-अर्थापत्ति-ग्राह्यता	(४८-४९)	७१०
३६८	कूटस्थनित्य आत्मा का अभाव	(४८-४९)	७११
३६९	सांख्यअभिमत अकर्तृत्व में आत्मा का अभाव	(४८-४९)	७११
३७०	जडस्वरूप आत्मा का अभाव	(४८-४९)	७१२
३७१	पृथ्वी में जीव की सिद्धि	(४८-४९)	७१४
३७२	जल में जीव की सिद्धि	(४८-४९)	७१५
३७३	अग्नि में जीव की सिद्धि	(४८-४९)	७१८
३७४	वायु में जीव की सिद्धि	(४८-४९)	७२०
३७५	वनस्पति में जीव की सिद्धि	(४८-४९)	७२१
३७६	दोइन्द्रियादि में जीव की सिद्धि	(४८-४९)	७२५
३७७	अजीव का स्वरूप	(४८-४९)	७२८
३७८	अजीव के पांच भेद	(४८-४९)	७२८
३७९	कारण के तीन प्रकार	(४८-४९)	७२९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
३८०	धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-आकाश का निरुपण	(४८-४९)	७३०
३८१	काल का निरुपण	(४८-४९)	७३२
३८२	पुद्गल का निरुपण	(४८-४९)	७३५
३८३	धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-आकाशास्तिकाय की सिद्धि	(४८-४९)	७३८
३८४	काल की सिद्धि	(४८-४९)	७४७
३८५	पुद्गल की सिद्धि	(४८-४९)	७४८
३८६	शब्द की पुद्गलद्रव्य के रूप में सिद्धि	(४८-४९)	७५०
३८७	अंधकार और छाया की पुद्गलद्रव्य के रुप में सिद्धि	(४८-४९)	७५१
३८८	आतप-उद्योत की पुद्गलद्रव्य के रुप में सिद्धि	(४८-४९)	७५२
३८९	पुण्यतत्त्व का स्वरुप	(४८-४९)	७५३
३९०	पाप और आश्रवतत्त्व की व्याख्या	(५०)	७५३
३९१	पुण्य और पापतत्त्व की सिद्धि	(५०)	७५४
३९२	आश्रवतत्त्व का निरुपण	(५०)	७५८
३९३	संवर और बंधतत्त्व की व्याख्या	(५१)	७६०
३९४	संवर के दो प्रकार	(५१)	७६२
३९५	निर्जरा और मोक्षतत्त्व का निरुपण	(५२)	७६३
३९६	निर्जरा के दो भेद	(५२)	७६४
३९७	मोक्ष का स्वरुप	(५२)	७६४
३९८	मोक्ष के स्वरुप में अन्य द्वारा दी गई अनुपपत्तिओ का परिहार	(५२)	७६५
३९९	वैशेषिक मत में मुक्ति का स्वरुप	(५२)	७६९
४००	वैशेषिको को मान्य मुक्ति के स्वरूप का खंडन	(५२)	७७१
४०१	सांख्यो के मत में मुक्ति का स्वरुप	(५२)	७७५
४०२	सांख्यो के मान्य मुक्ति के स्वरूप का खंडन	(५२)	७७६
४०३	बौद्धमत में मुक्ति का स्वरूप	(५२)	७८१
४०४	बौद्धो को मान्य मुक्ति के स्वरूप का खंडन	(५२)	७८४
४०५	दिगंबरो के द्वारा स्त्री की मुक्ति का निषेध तथा श्वेतांबरो के द्वारा स्त्री की मुक्ति का व्यवस्थापन	(५२)	७९१
४०६	चारित्र की योग्यता	(५३)	८००
४०७	सम्यक्त्व - ज्ञान-चारित्रवान् आत्मा मोक्ष का भाजन	(५४)	८०१
४०८	प्रमाण का सामान्यलक्षण	(५४)	८०३
४०९	सामान्यलक्षणगत विशेषणो के द्वारा अन्यमत को मान्य प्रमाण के स्वरुप का खंडन	(५४)	८०४
४१०	प्रमाण की संख्या और प्रमाण का विषय	(५५)	८०६
४११	जैनदर्शन को मान्य दो प्रमाण में अन्यदर्शन को मान्य प्रमाणो का अन्तर्भाव	(५५)	८०९
४१२	अभावप्रमाण के तीन रुप	(५५)	८१२
४१३	प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण और उसके दो भेद	(५५)	८१४
४१४	परोक्ष प्रमाण का स्वरुप और स्मृति आदि पांच भेद	(५५)	८१७
४१५	स्मृति और प्रत्यभिज्ञा का स्वरुप	(५५)	८१८
४१६	तर्क का स्वरुप	(५५)	८१९
४१७	अनुमान प्रमाण का स्वरुप तथा उसके दो प्रकार	(५५)	८१९
४१८	दृष्टांत के दो भेद	(५५)	८२०
४१९	प्रतिज्ञादि पांच अवयव का स्वरुप	(५५)	८२१
४२०	आगम प्रमाण का स्वरुप	(५५)	८२३
४२१	प्रमाण का विषय अनंतधर्मात्मक वस्तु	(५५)	८२५
४२२	**सुवर्ण के घट के दृष्टांत से विस्तारपूर्वक वस्तु की अनंतधर्मात्मकता की सिद्धि**	(५५)	८२५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
४२३	**द्रव्यतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८२६
४२४	**क्षेत्रतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८२८
४२५	**कालतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८२९
४२६	**भावतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८३१
४२७	**शब्दतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८३२
४२८	**संख्यातः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८३२
४२९	**परिमाणतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८३३
४३०	**दिग्-देशतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८३३
४३१	**ज्ञानतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८३४
४३२	**सामान्यतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८३५
४३३	**विशेषतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८३५
	- **संबंधतः घट** की अनंत धर्मात्मकता		८३६
४३४	**आत्मा में और मुक्तात्मा में अनंतधर्मात्माकता**	(५५)	८३८
४३५	धर्मास्तिकायादि में अनेकधर्मता का निरुपण	(५५)	८४०
४३६	वस्तु में नास्तित्वपर्याय की सिद्धि	(५५)	८४२
४३७	सर्व वस्तुओ की प्रतिनियतस्वभावता	(५५)	८४४
४३८	प्रत्यक्ष और परोक्ष का लक्षण	(५६)	८४५
४३९	ज्ञानाद्वैतवादि की मान्यता का खंडन	(५६)	८४७
४४०	परोक्ष का लक्षण	(५६)	८४९
४४१	वस्तु की अनंतधर्मात्मकता की दृढता	(५७)	८५०
४४२	वस्तु की त्रयात्मकता की सिद्धि	(५७)	८५२
४४३	वस्तु की अनेकांतता में विरोध, संशय, अनवस्था आदि दोषो का उद्भावन	(५७)	८६३
४४४	विरोधादि दोषो का परिहार	(५७)	८६५
४४५	बौद्धमत के द्वारा स्वीकृत अनेकांत का उद्भावन	(५७)	८७७
४४६	नैयायिको तथा वैशेषिको के द्वारा स्वीकृत अनेकांत का प्रकाशन	(५७)	८८६
४४७	सांख्यो तथा मीमांसको के द्वारा स्वीकृत अनेकांत का प्रकाशन	(५७)	८९१
४४८	अनेकांत की सिद्धि के लिए बौद्धादि सर्वदर्शनो के संमतदृष्टांत और युक्तियाँ	(५७)	८९३
४४९	हेतुतमोभास्कर नाम का वाद स्थल	(५७)	८९७
४५०	जैनदर्शन का उपसंहार तथा जैनदर्शन में पूर्वापर के विरोध का अभाव	(५८)	९१९
४५१	बौद्धमत के वचनो में पूर्वापर का विरोध	(५८)	९२१
४५२	नैयायिक और वैशेषिकमत में पूर्वापर विरोध	(५८)	९२५
४५३	सांख्यमत में स्ववचन-विरोध	(५८)	९३०
४५४	मीमांसक मत में स्ववचन विरोध	(५८)	९३१
४५५	मूलग्रंथ में नहीं कही हुई कुछ बाते तथा जैनदर्शन की समाप्ति	(५८)	९३५
	वैशेषिक दर्शन : अधिकार-५		
४५६	वैशेषिक मत का प्रारंभ	(५९)	९३८
४५७	वैशेषिक मत को मान्य छः द्रव्यादि का निरुपण	(६०)	९३९
४५८	द्रव्य के पृथ्वो आदि नवभेद	(६१)	९४०
४५९	पच्चीस गुणो का निरुपण	(६२-६३)	९४५
४६०	कर्मपदार्थ का निरुपण	(६४)	९५५
४६१	पर-अपरसामान्य की व्याख्या	(६५)	९५६
४६२	विशेषपदार्थ का निरुपण	(६५)	९५९
४६३	समवाय का स्वरुप	(६६)	९६२
४६४	वैशेषिक मत में प्रमाण की संख्या	(६७)	९६४
४६५	प्रत्यक्ष के दो प्रकार	,,	९६५
४६६	अनुमान का लक्षण	,,	९६७
४६७	मूलग्रंथ में नहीं कही हुई कुछ बातें	,,	९६८
	मीमांसक दर्शन : अधिकार - ६		
४६८	मीमांसक दर्शन के वेश, आचार, लिंग	(६७)	९७१

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
४६९	वेदांत दर्शन की आंशिक रुपरेखा	(६७)	९७२
४७०	मीमांसकदर्शन में देव का अभाव	(६८)	९७३
४७१	अतीन्द्रियपदार्थो का ज्ञान वेदवाक्य से	(६९)	९७६
४७२	वेदवाक्य की दृढता-वेद पाठ के उपर भार	(७०)	९७८
४७३	धर्म का लक्षण	(७१)	९७८
४७४	प्रमाण का सामान्य लक्षण	(७१)	९८१
४७५	प्रमाण की संख्या	(७२)	९८३
४७६	प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण	(७३)	९८३
४७७	अनुमान प्रमाण का लक्षण	(७४)	९८४
४७८	शाब्द-उपमान प्रमाण का लक्षण	(७४)	९८५
४७९	अर्थापत्ति प्रमाण का लक्षण	(७५)	९८७
४८०	अभाव प्रमाण का स्वरुप	(७६)	९९०
४८१	अभाव प्रमाण के तीन रुप	(७६)	९९१
४८२	अभाव के चार प्रकार	(७६)	९९३
४८३	मूलग्रंथकार के द्वारा नहीं कहा गया कुछ विशेष	(७६)	९९६
४८४	मीमांसक मत का उपसंहार	(७७)	९९६
४८५	मतांतर से पांच आस्तिकदर्शन	(७८)	९९७
४८६	मतांतर से छः दर्शन	(७९)	९९८
	लोकायत दर्शन		
४८७	नास्तिक का स्वरूप	(७९)	९९८
४८८	नास्तिक मत में जीवादि का निषेध	(८०)	९९९
४८९	प्रत्यक्ष विषय ही वस्तु	(८१)	१०००
४९०	परोक्ष के विषय में स्त्री को पति का उपदेश	(८२)	१००४
४९१	प्रमेय और प्रमाण	(८३)	१००५
४९२	चारभूत से देह की उत्पत्ति-देह में चैतन्य की उत्पत्ति	(८४)	१००६
४९३	परोक्ष अर्थ में प्रवृत्ति का निषेध	(८५)	१००८
४९४	काम यही परम धर्म	(८६)	१००८
४९५	चार्वाकमत का उपसंहार	(८७)	१००९
	भाग-२, परिशिष्ट विभाग		
	परिशिष्ट-१ - जैनदर्शन का विशेषार्थ		
४९६	**जैनदर्शन का विशेषार्थ:**		**१०१२**
४९७	जीव के चौदह प्रकार और उसका स्वरुप		१०१२
४९८	जीव के लक्षण ज्ञान-दर्शन-चरित्र-तप-वीर्य-उपयोग		१०१३
४९९	संसारी जीवो की पर्याप्तियाँ		१०१६
५००	पर्याप्ति के ४ भेद		१०१६
५०१	१० प्राण		१०१८
५०२	अजीव के चौदह भेद		१०१९
५०३	पांच अजीव और उसके स्वभाव		१०२१
५०४	द्रव्यो में द्रव्यादि छ संख्या मांगणा		१०२२
५०५	पुद्गल के शब्दादि परिणाम		१०२२
५०६	शब्द-अंधकार आदि की पुद्गल रुपता		१०२३
५०७	पुद्गल के स्वाभाविक और वैभाविक परिणाम		१०२४
५०८	काल का स्वरुप		१०२४
५०९	काल का विशेष स्वरुप		१०२४
	- व्यवहारकाल		१०२४
	- निश्चयकाल		१०२४
५१०	छः द्रव्यो का विशेष विचार		१०२७
५११	पुण्य तत्त्व		१०२८
५१२	पुण्य के ४२ प्रकार		१०२९
५१३	पाप तत्त्व और उसके ८२ भेद		१०३१
५१४	आश्रव तत्त्व और उसके ४२ प्रकार		१०३३
५१५	पाँच - इन्द्रियाँ		१०३३
५१६	चार कषाय		१०३३
५१७	पाँच अव्रत		१०३३
५१८	२५ क्रिया		१०३४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
५१९	संवर का स्वरुप और उसके ५७ प्रकार		१०३७
५२०	पाँच समिति		१०३७
	- तीन गुप्ति		१०३७
	- २२ परिषह		१०३८
	- दस यतिधर्म		१०४०
	- बारह भावना		१०४१
	- पाँच चारित्र		१०४२
५२१	निर्जरा तत्त्व और उसका स्वरुप		१०४४
	- छः प्रकार का बाह्यतप		१०४४
	- छः प्रकार का अभ्यंतर तप		१०४५
	- १० प्रकार का प्रायश्चित्त		१०४५
	- ७ प्रकार का विनय		१०४५
	- १० प्रकार से वैयावृत्य		१०४६
	- ५ प्रकार से स्वाध्याय		१०४६
	- ध्यान के चार प्रकार		१०४६
	- कायोत्सर्ग		१०४८
५२२	बन्ध तत्त्व और उसके चार भेद		१०४८
	- कर्म के स्वभाव		१०४९
५२३	मोक्ष तत्त्व और उसका स्वरुप		१०५०
	- सत्पद प्ररुपणा		१०५०
	- चौद मूल मार्गणायें और उसके ६२ भेदों के संक्षिप्त अर्थ		१०५१
	- गति मार्गणा		१०५१
	- जाति-काय-योग-वेद-कषाय-ज्ञान मार्गणायें		१०५१
	- संयम-दर्शन-लेश्या मार्गणायें		१०५२
	- भव्य-सम्यक्त्व-संज्ञी - आहारी मार्गणायें		१०५३
५२४	मार्गणाओं में मोक्ष की प्ररुपणा		१०५४
५२५	(२-३) द्रव्य प्रमाण और क्षेत्र अनुयोगद्वार		१०५५
५२६	(४-५-६) स्पर्शना, काल और अन्तर अनुयोगद्वार		१०५५
५२७	(७-८) भाग और भाव अनुयोगद्वार		१०५६
	- औपशमिकादि पाँच भाव और उसके पेटा भेद		१०५७
	(९) अल्प-बहुत्व द्वार		१०५७
५२८	नवतत्त्व को जानने का प्रयोजन		१०५८
५२९	सम्यक्त्व मिलने से होनेवाला लाभ		१०५८
५३०	पुद्गल परावर्तन क्या है ?		१०५९
५३१	सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त्त का स्वरूप		१०५९
५३२	सिद्ध के १५ भेद		१०६०
५३३	**परिशिष्ट-२ स्याद्वाद**		**१०६१**
५३४	**परिशिष्ट-३ नयवाद**		**१०६२**
५३५	नय का सामान्यलक्षण		१०६३
	- नयवाक्य का लक्षण		१०६४
	- प्रमाणवाक्य का लक्षण		१०६५
	- सकलादेश का स्वरुप		१०६६
	- विकलादेश का स्वरुप		१०६७
५३६	नय का विशेष स्वरुप		१०६७
५३७	**नय के मुख्यभेद**		**१०६९**
५३८	द्रव्यार्थिक नय का लक्षण		१०७०
५३९	पर्यायार्थिक नय का लक्षण		१०७०
५४०	द्रव्य का लक्षण		१०७०
५४१	द्रव्य के छः प्रकार		१०७१
५४२	द्रव्य का स्वाभाविक एवं वैभाविक पर्याय		१०७१
५४३	द्रव्य का सामान्य एवं विशेष स्वभाव		१०७२
५४४	द्रव्य के दस सामान्य गुण एवं सोलह विशेषगुण		१०७२
५४५	द्रव्यार्थिक नय के प्रकार		१०७३
५४६	पर्यायार्थिक नय के प्रकार		१०७४
५४७	नय के सात प्रकार		१०७४
५४८(१)	**नैगमनय का स्वरूप**		**१०७४**
	- नैगमनय की मान्यता		१०७८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
	- नगमनय के तीन उदाहरण		१०७८
	- नैगमनय के भिन्न-भिन्न प्रकार		१०७९
	- नैगमनय को अभिमत चार निक्षेप		१०८२
५४९(२)	**संग्रहनय का स्वरुप**		**१०८४**
	- संग्रहनय की मान्यता		१०८५
	- संग्रहनय के प्रकार		१०८५
५५०(३)	**व्यवहारनय का स्वरुप**		**१०८८**
	- व्यवहारनय की मान्यता		१०८८
५५१(४)	**ऋजुसूत्रनय का स्वरुप**		**१०९१**
	- ऋजुसूत्रनय की मान्यता		१०९१
	- ऋजुसूत्रनय द्रव्यार्थिक नय है या पर्यायार्थिक नय है ? उसकी चर्चा		१०९३
	- द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय की मान्यता		१०९५
	- अनुयोगद्वार सूत्र का विरोध और उसका परिहार		१०९६
५५२	ऋजुसूत्रनय के प्रकार		१०९८
५५३(५)	**शब्दनय का स्वरूप**		**१०९९**
५५४	शब्द और ऋजुसूत्र नय में मान्यताभेद		११००
५५५	भावनिक्षेप की ही स्वीकृति		११००
५५६(६)	**समभिरुढ नय का स्वरुप**		**११०१**
	- शब्द और समभिरूढ नय में मान्यताभेद		११०२
५५७(७)	**एवंभूतनय का स्वरूप**		११०३
	- एवंभूत नय की मान्यता		११०४
	- भावनिक्षेप की ही स्वीकृति		११०५
	- एवंभूत एवं समभिरूढ में मान्यताभेद		११०५
			११०७
५५८	अर्थनय - शब्दनय के भेद		११०७
५५९	अर्पित-अनर्पित नय का स्वरुप		११०८
५६०	व्यवहार - निश्चयनय का स्वरुप		११०८
५६१	ज्ञाननय - क्रियानय - आध्यात्मिक दृष्टिकोण से दोनों नयों की विचारणा		११०९
५६२	**नयों के न्यूनाधिक विषयों का विचार**		**१११९**
५६३	नयवाक्य पर आश्रित सप्तभङ्गी		१११६
५६४	**नयाभासों (दुर्नयों) का निरुपण**		**१११८**
	- द्रव्यार्थिकाभास		१११८
	- पर्यायार्थिकाभास		१११८
	- नैगमाभास		१११८
	- संग्रहाभास		१११९
	- व्यवहाराभास		११२१
	- ऋजुसूत्राभास		११२३
	- शब्दाभास		११२५
	- समभिरुढाभास		११२६
	- एवंभूताभास		११२६
५६५	अर्थादि आभास		११२७
	परिशिष्ट-४ सप्तभंगी		
५६६	सप्तभंगी		११२८
५६७	सात भङ्ग की उत्पत्ति का रहस्य		११२८
५६८	प्रथम भंग का स्वरुप		११३०
५६९	द्वितीय भंग का स्वरुप		११३२
	- असत्त्व धर्म की तात्त्विकता		११३३
५७०	तृतीय भंग का स्वरुप		११३५
५७१	चतुर्थ भंग का स्वरुप		११३६
५७२	पंचम, षष्ठ एवं सप्तम भंग का स्वरूप		११३९
५७३	एकांत सप्तभंगी स्याद्वाद की समर्थक नहीं है		११४०
	- प्रथम भंग के एकान्त का खंडन		११४०
	- द्वितीय भंग के एकान्त का खंडन		११४०
	- तृतीय भंग के एकान्त का खंडन		११४०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
	- चतुर्थ भंग के एकांत का खंडन		११४१
	- पंचम भंग के एकान्त का खंडन		११४१
	- षष्ठ भंग के एकान्त का खंडन		११४१
	- सप्तम भंग के एकान्त का खंडन		११४१
५७४	सप्त भंगो के सकलादेश और विकलादेश स्वभाव का निरुपण		११४२
	- क्रम और युगपत् का विवेचन		११४४
५७५	सकलादेश एवं विकलादेश साधक कालादि आठ का निरुपण		११४४
५७६	सप्तभंगी में विशेष		११४८
	- सप्तभंगी का उद्भव		११४८
	- स्वद्रव्यादि-परद्रव्यादि की विवक्षा		११४८
	- सात भंग का विशेष विवेचन		११४९
५७७	भिन्नाभिन्नत्व की विवक्षा और उसके आश्रय से सप्तभंगी		११५३
५७८	श्री महोपाध्यायजी म. का मत		११५७
	- पदार्थ के दो पर्याय		११५७
	- अर्थपर्याय - व्यंजनपर्याय		११५८
	- अर्थपर्याय के सप्त विकल्प - व्यंजनपर्याय के दो भंग		११५८
	- सम्मतितर्क प्रकरण की साक्षी		११५८
	- जैनभाव की सार्थकता		११६०
	- स्याद्वाद के अभ्यास की आवश्यकता		११६१
	परिशिष्ट-५ निक्षेपयोजन		
५७९	निक्षेपयोजन		११६२
५८०	निक्षेप का सामान्य स्वरुप		११६२
५८१	निक्षेप का फलवत्त्व		११६३
५८२	निक्षेप के चार प्रकार		११६३
५८३	नाम निक्षेप का स्वरुप		११६३
५८४	स्थापना निक्षेप का स्वरुप		११६३
५८५	द्रव्य निक्षेप का स्वरुप		११६६
५८६	भाव निक्षेप का स्वरुप		११६८
५८७	नामादि निक्षेपो का परस्पर भेद		११६९
५८८	निक्षेपों का नयो के साथ योजना		११७६
५८९	ऋजुसूत्र के अनुसार चारों निक्षेपों का स्वीकार		११७८
५९०	संग्रह और व्यवहार स्थापना नहीं मानते- इस मत का खंडन		११८०
५९१	जीव के विषय में निक्षेप का निरुपण		११८३
	परिशिष्ट-६ मीमांसादर्शन का विशेषार्थ		
५९२	मीमांसादर्शन का विशेषार्थ		११८५
५९३	प्रमाण का सामान्यलक्षण और नैयायिक-गुरुमत-बौद्ध मत का खंडन		११८५
५९४	प्रमाण विशेष		११९१
५९५	प्रत्यक्ष प्रमाण और तद्विषयक नैयायिकादि मत निरास		११९१
५९६	अनुमान		११९८
	- व्याप्ति का स्वरुप		११९८
	- उपाधि का लक्षण		१२००
	- गुरुमत का निरास		१२०१
	- तर्क का लक्षण		१२०२
	- तर्काङ्ग पंचक		१२०२
	- आत्माश्रय-अन्योन्याश्रय-चक्रक-अनवस्था-गौरव - लाघव-अनिष्ट प्रसंग का स्वरुप		१२०२
	- अनेक मतो का खंडन		१२०३
	- अनुमान की द्विविधता या त्रिविधता		१२०८
	- अवयवत्रय का स्थापन और अन्य मत का खंडन		१२१२
	- षट् प्रतिज्ञाभास		१२१३
	- चार हेत्वाभास और नैयायिक मत का खंडन		१२१४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
	- दृष्टान्ताभास	–	
५९७	**शब्द**		**१२२१**
	- व्युत्पत्ति प्रकार		१२२१
	- अन्विताभिधान का खंडन		१२२२
	- आकांक्षा - योग्यता-सन्निधि का निरुपण		१२२३
	- शाब्दं द्विविधं और गुरमत निरास		१२२४
५९८	**उपमान का**		
	स्वरूप और नैयायिक मत का खंडन		१२२६
५९९	**अर्थापति**		**१२२९**
	- अर्थापति का स्वरुप और नैयायिक		
	मत का खंडन		१२२९
	- प्राभाकरमत का खंडन		१२३२
	- दो प्रकार		१२३३
	- गुरुमत का निरास		१२३३
६००	**अनुपलब्धि**		**१२३४**
	- अनुपलम्भ सत्तामात्र से बोधक		१२३४
	- अनुपलम्भ का द्वैविध्य		१२३५
	- तार्किक मत निरास		१२३६
	- प्राभाकरमत निरास		१२३६
	- अन्य प्रमाण का अन्तर्भाव		१२३७
६०१	**प्रमेयानि**		**१२३९**
	- द्रव्य का लक्षण		१२३९
	- नैयायिक मत का खंडन		१२३९
	- द्रव्य के प्रभेद का निरुपण		१२४०
६०२	**पृथ्वी** का लक्षण और		
	प्राभाकर मत का खंडन		१२४०
६०३	**जल** का लक्षण		१२४१
६०४	तेज का स्वरुप		१२४१
६०५	- वायु का लक्षण और वैशेषिक मत		
	का खंडन		१२४२
	- अंधकार (तमः) का स्वरुप		१२४३
	(१) नैयायिक और गुरुमत का खंडन		१२४३
	(२) परमाणु का स्वरूप और नैयायिक मत		
	का खंडन		१२४४
	(३) ईश्वरकर्तृत्व खंडन		१२४५
	(४) वेदपौरुषेयत्व खंडन		१२४७
	(५) स्वतः प्रामाण्य का स्थापन		१२५०
	(६) प्रामाण्याप्रामाण्य विचार		१२५१
६०६	**आकाश**		**१२५२**
६०७	**काल**		**१२५२**
६०८	**दिक्**		**१२५३**
	- दिशा-काल-आकाश का प्रत्यक्ष		१२५३
६०९	**आत्मा**		**१२५४**
	(१) आत्मा का लक्षण		१२५४
	(२) शांकरमत का खंडन		१२५४
	(३) चार्वाकमत का खंडन		१२५५
	(४) अखंडार्थत्व खंडन		१२५६
	(५) आत्मा विभु है		१२५७
	(६) स्वर्ग-अपवर्ग		१२५८
	(७) सौगतमत खंडन		१२५८
	(८) प्रभाकर मोक्ष खंडन		१२५८
	(९) सांख्य मत खंडन		१२५९
	(१०) शांकरमत खंडन		१२५९
६१०	**मन**		**१२६०**
	मन का विभुत्वसाधनम्		१२६०
६११	**शब्दः**		**१२६२**
	(१) शब्द आकाश का गुण नहीं है		१२६२
	(२) शब्द विभु एवं नित्य है		१२६२
	(३) अनित्यत्व का खंडन		१२६३
	(४) शब्द की द्विविधता		१२६४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
६१२	**जाति**		**१२६५**
	(१) बौद्ध मत खंडन		१२६५
	(२) जाति-जातिमत् का भेदाभेद		१२६५
	(३) तार्किक मत का खंडन		१२६६
६१३	**गुणा**		**१२६८**
	(१-४) रुप-रस-गंध-स्पर्श		१२६८
	(५-७) संख्या-परिणाम-पृथक्त्व		१२६८
	(८) संयोग		१२७०
	- संयोग की द्विविधता		१२७०
	(९-१३) विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व		१२७०
	(१४-१५) स्नेह और बुद्ध्यादि षट्क		१२७१
	(१६-१७) सुख-दुःख		१२७२
	(१८-२१) इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-संस्कार		१२७३
	(२२) ध्वनि		१२७३
	(२३) प्राकट्यम्		१२७३
	(२४) शक्ति		१२७३
	- तार्किक मत खंडन		१२७४
	- प्राभाकरमत खंडन		१२७६
	- भावना स्वरुप विचार		१२७९
६१४	**(४) कर्म**		**१२७९**
६१५	**प्राभाकर मत खंडन**		**१२७९**
	(५) अभाव :		
	प्राभाकर-तार्किक मत की शंका		१२८१
	- विशेष - समवाय का खंडन		१२८२
	- भवनाथमत - शून्यमत-विज्ञानवादि सौत्रान्तिक-वैभाषिक मत खंडन		१२८३
	- अद्वैतमत खंडन		१२८७
६१६	**गुरुसम्मतपदार्थाः**		**१२८७**
६१७	**परिशिष्ट-७ साक्षीपाठः**		**१२९४**
६१८	**परिशिष्ट-८ पारिभाषिकशब्दानुक्रमणी (सार्थ)**		**१३२८**
६१९	**परिशिष्ट-९ संकेत विवरणम्**		**१३३९**
६२०	**परिशिष्ट-१० उद्धृतवाक्यानुक्रमणिका**		**१३४२**
६२०	**परिशिष्ट-११ मूलश्लोकानुक्रम**		**१३४७**

❖ ❖ ❖

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षड्दर्शन समुच्चय

भाग - २

जैनदर्शन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षड्दर्शन समुच्चय भाग - २,

(हिन्दी भावानुवाद)

अथ चतुर्थोऽधिकारः । जैनदर्शनः ।

अथादौ जैनमते लिङ्गवेषाचारादि प्रोच्यते । जैना द्विविधाः श्वेताम्बरा दिगम्बराश्च । तत्र श्वेताम्बराणां रजोहरणमुखवस्त्रिकालोचादि लिङ्गं, चोलपट्टकल्पादिको वेषः, [अ]पञ्च समितयस्तिस्र[ब]श्च [E-1]गुप्तयस्तेषामाचारः । "ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञिकाः । पञ्चाहुः समितीस्तिस्रो गुप्तीस्त्रियोगनिग्रहात् ।।१।।" इति वचनात् अहिंसासत्यास्तेयब्रह्माकिंचन्यवान् क्रोधादिविजयी दान्तेन्द्रियो निर्ग्रन्थो गुरुः, माधुकर्या वृत्त्या [E-2]नवकोटीविशुद्धस्तेषां नित्यमाहारः, संयमनिर्वाहार्थमेव वस्त्रपात्रादिधारणम्, वन्द्यमाना धर्मलाभमाचक्षते । दिगम्बराः पुनर्नाग्न्यलिङ्गाः पाणिपात्राश्च । ते चतुर्धा काष्ठासङ्घ-मूलसङ्घ-माथुरसङ्घ-गोप्यसङ्घ-भेदात्[E-3] । काष्ठासङ्घे चमरीवालैः पिच्छिका, मूलसङ्घे मायूरपिच्छैः पिच्छिका, माथुरसङ्घे मूलतोऽपि पिच्छिका नादृता, गोप्या मायूरपिच्छिका । आद्यास्त्रयोऽपि सङ्घा वन्द्यमाना धर्मवृद्धिं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं केवलिनां भुक्तिं सद्व्रतस्यापि सचीवरस्य मुक्तिं च न मन्वते, गोप्यास्तु वन्द्यमाना धर्मलाभं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं केवलिनां भुक्तिं च मन्यन्ते । गोप्या यापनीया इत्यप्युच्यन्ते । सर्वेषां च भिक्षाटने भोजने च द्वात्रिंशदन्तराया[E-4] मलाश्च[E-5] चतुर्दश वर्जनीयाः । शेषमाचारे गुरौ च देवे च सर्वं श्वेताम्बरैस्तुल्यम्, नास्ति तेषां मिथः शास्त्रेषु तर्केष्वपरो भेदः ।।४४।।

व्याख्या का भावानुवाद :

अब प्रारंभ में जैनदर्शन में लिंग, वेष, आचारादि कहे जाते है। जैनो के दो प्रकार है। (१) श्वेतांबर, (२) दिगंबर। उसमें श्वेतांबरो का रजोहरण, मुहपत्ति, लोचसे मुंडित मस्तक आदि लिंग है। चोलपट्टा, पांगरणी इत्यादि वेष है। पंचसमिति और तीन गुप्ति उनका आचार है। **कहा है कि...** "इर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपसमिति और उत्सर्गसमिति, यह पाँच समिति है तथा मन-वचन-काया ये तीन योग के निग्रह से क्रमशः मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियां है। समिति-गुप्ति का स्वरुप परिशिष्ट में देखना।

इस वचन से जैनमत में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पांचमहाव्रतवाले,

(अ) "इर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः" ।। तत्त्वार्थ सू०९/५ ।।

(ब) "सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः" ।। तत्त्वार्थसू० ९/४ ।।

(E-1-2-3-4-5) - तुलनात्मकपाठः परिशिष्टे द्रष्टव्याः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रोधादिकषाय के विजेता, इन्द्रियो का दमन करनेवाले निर्ग्रंथ गुरु होते है। नित्य माधुकरिवृत्ति से (१)नवकोटि विशुद्ध उनका आहार होता है। संयम के निर्वाह के लिए ही वस्त्र-पात्रादि को धारण करते है। वंदन करते हुए भक्तो को 'धर्मलाभ' का आशिर्वाद देते है।

दिगंबर नग्नतालिंगवाले है। अर्थात् श्वेतांबरो के जैसा वस्त्र का परिधान, रजोहरण आदि रखने का कार्य नहीं करते है। दिगंबरो के चार प्रकार है। (१)काष्ठासंघ, (२) मूलसंघ, (३) माथुरसंघ और (४) गोप्यसंघ। काष्ठासंघ में चमरीगाय के बाल से तैयार हुई पिच्छिका रखते है। मूलसंघ में मोरपिच्छ में से तैयार हुई पिच्छिका रखते है। माथुरसंघ में मूल से पिच्छिका का आदर नहि करते है। गोप्य लोग मोरपिच्छ की पिच्छिका रखते है। प्रथम तीन संघ वंदन करते हुए भक्तो को 'धर्मवृद्धि' का आशिर्वाद देते है। स्त्रीकी मुक्ति, केवलज्ञानि की भुक्ति, (अर्थात् केवलज्ञानि को कवलाहार) तथा कपडे सहित के सुन्दर व्रतवालोकी (अर्थात् वस्त्रसहित की) भी मुक्ति नहीं मानते है।

परन्तु गोप्यसंघ वंदन करते हुए भक्तो को 'धर्मलाभ' का आशिर्वाद देते है। स्त्रीकी मुक्ति और केवलभुक्ति को मानते है। गोप्य 'यापनीय' भी कहे जाते है।

सभी दिगंबर साधु भिक्षाटन में तथा भोजन के समय बत्तीस अंतराय और चौदह मलो का त्याग करते है। उनके शेष आचार, देव, तथा गुरु श्वेतांबरो के समान जानना। तथा श्वेतांबरो और दिगंबरो को परस्पर तर्कशास्त्रो में दूसरा कोई भेद नहीं है। ॥४४॥

अथ देवस्य लक्षणमाह - अब देव का लक्षण कहते है।

(मूल श्लो०) जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जितः । हतमोहमहामल्लः केवलज्ञानदर्शनः ॥४५॥

सूरासुरेन्द्रसंपूज्यः सद्भूतार्थप्रकाशकः । कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा संप्राप्तः परमं पदम् ॥४६॥

श्लोकार्थ : रागद्वेष से रहित, महामल्लमोह के नाशक, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सुर--असुर के इन्द्रो से पूज्य, यथावस्थित अर्थ प्रकार सभी कर्म का क्षय करके परमपद के प्रापक (पानेवाले) ऐसे श्री जिनेश्वर भगवंत जैनमत में देवता है। ॥४५-४६॥

व्याख्या-तत्र-जैनमते जयन्ति रागादीनिति जिनाः- सामान्यकेवलिनः तेषामिन्द्र-

(१) माधुकरी वृत्ति अर्थात् भंवरा जैसे एक फूल में से रस चूसता नहीं है, परन्तु अलग-अलग फूलो में से चूसता है तथा फूल को किलामणा न हो, उस तरह से तृप्त होता है। वैसे निर्ग्रंथसाधु भगवंत एक घर से भिक्षा लेते नहीं है, परंतु अलग-अलग घर फिरके भिक्षा प्राप्त करते है तथा जहां से भिक्षा पाते है, उनको बाद में अंतराय न पडे, उस तरह से ग्रहण करते है। वैसे ही निर्ग्रंथ गुरुभगवंत (१) स्वयं हनन करना नहि, (२) दूसरो के पास हनन करवाना नहि, (३) स्वयं हनन करते ऐसे दूसरो की अनुमोदना करना नहीं, (४) स्वयं पकाना नहि, (५) दूसरो से पकवाना नहि, (६) स्वयं पकाते ऐसे दूसरो की अनुमोदना करनी नहि, (७) स्वयं खरीद न करे, (८) दूसरो से खरीद न करवाना, (९) स्वयं खरीद करते दूसरो की अनुमोदना करनी नहि। ये नौ प्रकार से शुद्ध आहार को ग्रहण करते है। जैनदर्शन के श्रीगुरुभगवंत ऐसा नवकोटी से विशुद्धआहार माधुकरीवृत्ति से ग्रहण करके अपना निर्वाह करते है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्तादृशासदृश[E-6]चतुस्त्रिंशदतिशयसनाथपरमैश्वर्यसमन्वितः स्वामी जिनेन्द्रो देवता-देवः कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा परमं पदं संप्राप्त इति संबन्धः । कीदृशः स इत्याह-'रागद्वेषविवर्जितः' मायालोभौ रागः, क्रोधमानौ द्वेषः, रागद्वेषाभ्यां विशेषेण पुनः पुनर्भावेन वर्जितो-रहितो रागद्वेषविवर्जितो वीतराग इत्यर्थः । रागद्वेषौ हि दुर्जयौ दुरन्तभवसंपातहेतुतया च मुक्तिप्रतिरोधकौ समये प्रसिद्धौ । [E-7]यदाह-"[अ]को दुःखं पाविज्जा कस्स य सुक्खेहि विम्हओ हुज्जा । को य न लभिज्जा मुक्खं रागद्दोसा जइ न हुज्जा ।।१।।" इति ।। ततस्तयोर्विच्छेद उक्तः । तथा 'हतमोहमहामल्लः' । मोहनीयकर्मोदयाद्धिंसाद्यात्मकशास्त्रेभ्योऽपि मुक्तिकांक्षणादिव्यामोहो मोहः, स एव सकलजगद्दुर्जयत्वेन महामल्ल इव महामल्लः, हतो मोहमहामल्लो येन स तथा । एतेन विशेषणद्वयेन देवस्यापायापगमातिशयो व्यञ्जितो द्रष्टव्यः, तथा रागद्वेषमहामोहरहितोऽर्हन्नेव देव इति ज्ञापितं च । यदुक्तम्-"रागोऽङ्गनासङ्गमतोऽनुमेयो द्वेषो द्विषद्धारणहेतिगम्यः । मोहः कुवृत्तागमदोषसाध्यो नो यस्य देवः स स चैवमर्हन् ।।१।।" इति ।। तथा केवले-अन्यज्ञानानपेक्षत्वेनासहाये संपूर्णे वा ज्ञानदर्शने यस्य स तथा, केवलज्ञानकेवलदर्शनात्मको हि भगवान्, करतलकलितामलकफलवद्द्रव्यपर्यायात्मकं निखिलमनवरतं जगत्स्वरूपं जानाति पश्यति चेति । केवलज्ञानदर्शन इति पदं साभिप्रायम्, छद्मस्थस्य हि प्रथमं दर्शनमुत्पद्यते ततो ज्ञानं, केवलिनस्त्वादौ ज्ञानं ततो दर्शनमिति । तत्र सामान्यविशेषात्मके सर्वस्मिन्प्रमेये वस्तुनि सामान्यस्योपसर्जनीभावेन विशेषाणां च प्रधानभावेन यद्ग्राहकं तज्ज्ञानम्, विशेषाणामुपसर्जनीभावेन सामान्यस्य च प्राधान्येन यद्ग्राहकं तद्दर्शनम्, एतेन विशेषणेन ज्ञानातिशयः साक्षादुक्तोऽवगन्तव्यः ।

व्याख्या का भावानुवाद :

जैनमत में जिनेन्द्र अर्थात् जिन=सामान्यकेवलि, वे सामान्यकेवलियों के इन्द्र श्री जिनेन्द्र भगवान देवता है। सामान्यकेवलि में जो देखने को नहि मिलता, ऐसे चौंतीस अतिशयो से सनाथ और परमैश्वर्य से युक्त श्रीजिनेन्द्र भगवान है। वे देव सभी कर्मो का क्षय करके परमपद को प्राप्त हुए है। इस प्रकार से अंत में संबंध करना। वे श्री जिनेश्वर भगवान किस प्रकार के है ?

उत्तर : राग-द्वेष से रहित है। अर्थात् कषाय से रहित है। माया और लोभकषाय को राग कहा जाता है। क्रोध और मानकषाय को द्वेष कहा जाता है। इस राग-द्वेष से (पुनः प्राप्त न हो इस प्रकार से) रहित है। अर्थात् राग-द्वेष से वर्जित वीतराग है। शास्त्र में राग-द्वेष को दुर्जय तथा दुरन्त संसारपरिभ्रमण के कारण

(अ) कः दुःखं प्राप्नुयात् कस्य च सुखैः विस्मयो भवेत् । कथं न लभेत् मोक्षं रागद्वेषौ यदि न भवेताम् ।।

(E-6-7) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होने से मुक्ति के प्रतिबंधक कहे है। **जिससे कहा है कि....** "यदि (इस संसार में) राग-द्वेष न होते, तो क्या कोई दुःख प्राप्त करता ? और क्या कोई सुख के द्वारा विस्मय प्राप्त करता ? (और आत्मभान भूल जाता ?) तथा कौन मोक्ष को प्राप्त न कर लेता ? अर्थात् कोई दुःख पाता है, कोई सुख के विभ्रम में पड जाता है और कोई मोक्षरुप कार्य प्राप्त नहीं कर सकता, वह राग-द्वेष का ही फल है।"-इस प्रकार राग-द्वेष के कारण संसार में परिभ्रमण चलता होने से) उस राग-द्वेष का उच्छेद (भगवान में) कहा गया।

मोहनीयकर्म के उदय से हिंसात्मक यज्ञादि के प्रतिपादक शास्त्रो के द्वारा भी मुक्ति की आकांक्षादिस्वरुप व्यामोह को मोह कहा जाता है। वह मोह सकलजगत को दुर्जय होने से महामल्ल जैसा कहा है। वह महामल्लरुपी मोह जिसके द्वारा मारा गया है, उस महामोह के नाशक श्री जिनेश्वर भगवान है। "**रागद्वेषविवर्जित**" और "**हतमोहमहामल्लः**" ये दो विशेषणो से देव का '**अपायापगमातिशय**' सूचित होता है। तथा राग-द्वेष मोह से रहित श्री अरिहंत परमात्मा ही देव है, ऐसा जानना। **जिससे कहा है कि...** "स्त्री के संगम से राग का तथा शत्रुओ को मारने के शस्त्रो से द्वेष का अनुमान होता है। कुचारित्र और कुशास्त्रो में प्रीति या उसका प्रतिपादन करने से मोह का अनुमान होता है। परंतु ये तीनो चिह्नो में से एक भी चिह्न जो देवका दिखता नहीं है, वे श्री अरिहंत परमात्मा है।"

केवल अर्थात् अन्य कोई ज्ञान की अपेक्षा न होने के कारण असहाय या केवल अर्थात् संपूर्ण, वह केवलज्ञान और केवलदर्शन जिनको है वह श्री जिनेश्वर भगवान है। अर्थात् केवलज्ञान--केवलदर्शनात्मक भगवान है। अर्थात् वे भगवान हाथ में रहे हुए आंवले की तरह द्रव्य--पर्यायात्मक सारे जगत के स्वरुप को निरंतर जानता है और देखता है।

यहां "**केवलज्ञानदर्शन**" पद साभिप्राय है। छद्मस्थ को पहले दर्शन उत्पन्न होता है, उसके बाद ज्ञान उत्पन्न होता है, परंतु केवलज्ञानि को प्रथम ज्ञान और बाद में दर्शन उत्पन्न होता है। (इसलिए उस पद में प्रथम ज्ञान और बाद में दर्शन लिखा है।) उसमें सामान्य-विशेषात्मक सभी प्रमेयो (वस्तुओ) में सामान्य अंश को गौण करके और विशेष अंशो को प्रधान करके जिस वस्तु का ग्राहक बनता है, उसे ज्ञान कहा जाता है तथा विशेषअंशो को गौण करके सामान्य अंश को प्रधान बनाकर जिस वस्तु का ग्राहक बनता है, उसे दर्शन कहा जाता है। यह "**केवलज्ञानदर्शन**" विशेषण से भगवान का '**ज्ञानातिशय**' साक्षात् कहा हुआ जानना।

तथा सुराः सर्वे देवाः, असुराश्च दैत्याः, सुरशब्देनासुराणां संग्रहणेऽपि पृथगुपादानं लोकरूढ्या ज्ञातव्यम् । लोको हि देवेभ्यो दानवांस्तद्विपक्षत्वेन पृथग्निर्दिशतीति । तेषामिन्द्राः स्वामिनस्तेषां तैर्वा संपूज्योऽभ्यर्चनीयः । तादृशैरपि पूज्यस्य मानवतिर्यक्खेचरकिन्नरादिनिकरसेव्यत्वमानुषङ्गिकमिति । अनेन पूजातिशय उक्ताः । तथा सद्भूताः-यथावस्थिता येऽर्थाः-जीवादयः पदार्थास्तेषां प्रकाशकः-उपदेशकः । अनेन वचनातिशय ऊचानः । तथा कृत्स्नानि-संपूर्णानि घात्यघातीनि कर्माणि-ज्ञानावरणादीनि, तेषां क्षयः-सर्वथा प्रलयः । तं कृत्वा परमं पदं-सिद्धिं संप्राप्तः । एतेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणा सिद्धावस्थाभिदधे । अपरे सुगतादयो मोक्षमवाप्यापि तीर्थनिकारादिसंभवे भूयो भवमवतरन्ति । यदाहुरन्ये-"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम् । गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ।।१।।" **इति । न ते परमार्थतो मोक्षगतिभाजः कर्मक्षयाभावात् । न हि तत्त्वतः कर्मक्षये पुनर्भवावतारः । यदुक्तम्**-"दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ।।१।।" [तत्वार्थ धि० भा० -१०/७] **उक्तं च श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादैरपि भवाभिगामुकानां प्रबलमोहविजृम्भितम् ।** "दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य निर्वाणमप्यनवधारित-भीरनिष्टम् । मुक्तः स्वयं कृततनुश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ।।१।।" [सिद्ध० द्वा०] **इत्यलं विस्तरेण । तदेवमेभिश्चतुर्भिरतिशयैः सनाथो मुक्तश्च यो देवो भवति, स एव देवत्वेनाश्रयणीयः, स एव च परान् सिद्धिं प्रापयति, न पुनरितरः सरागो भवेऽवतारवांश्च देव इत्यावेदितं मन्तव्यम् ।**

व्याख्या का भावानुवाद :

सुर अर्थात् सभी देव । और असुर अर्थात् सब दैत्य । सुर शब्द से असुरो का संग्रह होने पर भी असुर का पृथक् ग्रहण लोकरुढि (प्रणालिका) से किया हुआ जानना । (क्योंकि) लोग देवेन्द्रो से दानवो का पृथक् निर्देश करता है । क्योंकि दानवो को देवेन्द्रो से विपक्षभूत मानते है ।

वे सुर और असुरो के इन्द्रो से भगवान पूजनीय है । वैसे प्रकार से इन्द्रो से पूज्य भगवान मानव, तिर्यंच, खेचर (पक्षी), किन्नर आदि के समूह से सेव्य ही है, वैसा आनुषंगिक प्रकार से समजा जा सकता है । इस प्रकार, "**सुरासुरेन्द्रसंपूज्यः**" विशेषण से भगवान का "**पूजातिशय**" कहा गया ।

तथा भगवान जीवादिपदार्थो के यथावस्थित उपदेशक है । इस प्रकार "**सद्भूतार्थप्रकाशकः**" विशेषण द्वारा भगवान का **वचनातिशय** कहा गया ।

वैसे ही, भगवान ने घाति-अघाति सभी ज्ञानावरणादिक कर्मो का सर्वथाक्षय करके परम पद को प्राप्त किया है । इस प्रकार इस विशेषण से सभी कर्म के क्षयस्वरुप सिद्धावस्था भगवानमें कही गई । (कर्म के आठ प्रकार है । उसका वर्णन परिशिष्ट-१ में देखना ।)

दूसरे दर्शन के सुगतादि देव मोक्ष प्राप्त करके भी तीर्थ के उपर आपत्ति के संभव में पुनः संसार में अवतार लेते होते है । **दूसरो ने कहा है कि....** "ज्ञानी ऐसे धर्मतीर्थ के कर्ता परमपद (मोक्ष को) पाकर, फिरसे भी तीर्थ की दुर्दशा देखकर (तीर्थके उद्धारके लिए) संसार में जाते है - आते है ।"

(इस तरह से संसार में पुनः आते हुए) वे देवोने परमार्थ से मोक्षगति को प्राप्त ही नहीं किया है । क्योंकि, सर्वकर्म के क्षयका अभाव है । यदि परमार्थ से संपूर्ण कर्मक्षय हुआ हो, तो संसार में फिर से अवतरित होना रहता ही नहीं है । **जिससे अन्य स्थल पे कहा है कि...** "जैसे बीज अत्यंत जल जाने से (उस बीज में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से) अंकुर का प्रादुर्भाव नहीं होता है, वैसे (संसार के कारणरुप) कर्मबीज (अत्यंत) जल जाने से भवरुपी अंकुर आरोहित (अंकुरित) नहीं होता है।"

पू.आ.श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजीने संसार में पुनः अवतार लेनेवाले अन्य तीर्थंकरो की प्रबल मोहवृत्ति को प्रकट करते हुए कहा है कि.... "हे भगवन्! तुम्हारे शासन को नहि समजे हुए प्रबलमोह के साम्राज्य में **ऐसा कहा है कि...** जिन आत्माओने कर्मरुपी इन्धन को जलाकर संसार का नाश किया है, वे भी मोक्षको छोडकर फिर से अवतार लेते है तथा मुक्त होकर भी पुनः शरीर धारण करते है। वास्तव में वे अपने आत्मा का तो कल्याण नहीं कर सके है और दूसरो के कल्याण के लिए शूरता बताते है। वह मात्र मोह का साम्राज्य ही है।' अलं विस्तरेण-विशेष विस्तार से क्या? इसलिए इस अनुसार से चार अतिशयो से सनाथ और मुक्त जो देव है, वही देवत्वेन-देव रुप में आश्रय करने योग्य है तथा वही दूसरो को सिद्धि प्राप्त करवाता है। परंतु इतर सरागि और भव में अवतार लेनेवाला देव नहि है। वह यहां सूचित होता है।

ननु मा भूत्सुगतादिको देवः, जगत्स्रष्टा त्वीश्वरः किमिति नाङ्गीक्रियते ? तत्साधकप्रमाणाभावादिति ब्रूमः । अथास्त्येव तत्साधकं प्रमाणम्-क्षित्यादिकं बुद्धिमत्कर्तृकं[A], कार्यत्वात्[E-8], घटादिवत् । न चायमसिद्धो हेतुः, क्षित्यादेः सावयवत्वेन कार्यत्वप्रसिद्धेः । तथाहि-उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं कार्यं, सावयवत्वात्, घटवत् । नापि विरुद्धः, निश्चितकर्तृके घटादौ कार्यत्वदर्शनात् । नाप्यनैकान्तिकः, निश्चिताकर्तृकेभ्यो व्योमादिभ्यो व्यावर्तमानत्वात् । नापि कालात्ययापदिष्टः, प्रत्यक्षागमाबाधित-विषयत्वात् । न च वाच्यं घटकर्त्रादिदृष्टान्तदृष्टासर्वज्ञत्वासर्वगतत्वकर्तृत्वादिधर्मानुरोधेन सर्वज्ञादिविशेषणविशिष्टसाध्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धो[E-9] हेतुदृष्टान्तश्च साध्यविकलो घटादौ तथाभूतबुद्धिमतोऽभावात् इति । यतः साध्यसाधनयोर्विशेषेण व्याप्तौ गृह्यमाणायां सकलानुमानोच्छेदप्रसक्तिः, किं तु सामान्येनान्वयव्यतिरेकाभ्यां हि व्याप्तिरवधार्यते । तौ चानन्त्याद्व्यभिचाराच्च विशेषेषु गृहीतुं न शक्यौ। तेन बुद्धिमत्पूर्वकत्वमात्रेण कार्यत्वस्य व्याप्तिः प्रत्येतव्या, न शरीरित्वादिना । न खलु कर्तृत्वसामग्र्यां शरीरमुपयुज्यते, तद्व्यतिरेकेणापि

A ईश्वर की जगत्कर्तृत्व की चर्चा भिन्न-भिन्न ग्रंथो में निम्नानुसार देखने को मिलती है।

"महाभूतचतुष्टयमुपलब्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वात्... सावयवत्वात्" - प्रशस्त० कन्द० पृ० ५४ । प्रश० व्यो० पृ० ३०१ । वैशे० उप० पृ० ६२ । "शरीरानपेक्षोत्पत्तिकं बुद्धिमत्पूर्वकम् कारणत्वात्... द्रव्येषु सावयवत्वेन तद्गुणेषु कार्यगुणत्वेन कर्मसु कर्मत्वेनैव तदनुमानात् ।।" - प्रशस्त० किराणा० पृ० ९७ । न्यायली० पृ० २०/न्यायमुक्ता० दिन० पृ०२३ । विवादाध्यासिता तनु रुहमहीधरादयः उपादानाभिज्ञकर्तृका उत्पत्तिमत्त्वात् अचेतनोपादानत्वाद्वा... यथा प्रासादादि । न चैषामुत्पत्तिमत्त्वमसिद्धम्, सावयवत्वेन वा महत्त्वे सति क्रियावत्त्वेन वा वस्त्रादिवतत्सिद्धेः ।।" न्यायवा० ता. टी. पृ. ५९८ । न्यायमं० ।। "कार्यप्रयोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः । वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्य विश्वविदव्ययः ।।१।।" - न्यायकुसु० पद्यमस्त० ।

(E-8-9) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानेच्छाप्रयत्नाश्रयत्वेन स्वशरीरकरणे कर्तृत्वोपलम्भात् । अकिंचित्करस्यापि सहचरत्व-मात्रेण कारणत्वे वह्निपैङ्गल्यस्यापि धूमं प्रति कारणत्वप्रसङ्गः स्यात् । विद्यमानेऽपि हि शरीरे ज्ञानादीनां समस्तानां व्यस्तानां वाऽभावे कुलालादावपि कर्तृत्वं नोपलभ्यते । प्रथमं हि कार्योत्पादककारणकलापज्ञानं, ततः करणेच्छा, ततः प्रयत्नः, ततः फलनिष्पत्तिरित्यमीषां त्रयाणां समुदितानामेव कार्यकर्तृत्वे सर्वत्राव्यभिचारः ।

ईश्वरवादि (पूर्वपक्ष) :

आपकी वह बात योग्य है कि जो मोक्ष में जाकर फिरसे संसार में आते है वे सुगतादि देव नहीं है। वह हमको भी मान्य है। परन्तु आप इस चराचरविश्व के सर्जनहार ईश्वर को देव के रुप में क्यों नहीं मानते है ? (अर्थात् ईश्वर में समस्त जगत के सर्जन की शक्ति माननी चाहिए। आपकी वह बात योग्य है कि जो एकबार मोक्ष में जाते है, वे पुनः संसार में न आ सके, परंतु ईश्वर सादिमुक्त जीवो से विलक्षण है। ईश्वर अनादिमुक्त है। शिष्टानुग्रह और दुष्ट के निग्रह के लिए अवतार लेना, वह ईश्वर की लीला है। केवल अवतार लेने रुप लीला देखने मात्र से ईश्वर को सकर्मा नहि माना जायेगा। इसलिए सृष्टिकर्ता ईश्वर मानने चाहिए।)

जैन : ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने में कोई साधकप्रमाण नहीं है। इसलिए ईश्वर को देव किस तरह से माना जायेगा ?

ईश्वरवादि : ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने में साधकप्रमाण है। वह अनुमानप्रमाण यह है - "**क्षित्यादिकं बुद्धिमत्कर्तृकं, कार्यत्वात्, घटादिवत्।**" अर्थात् पृथ्वी, पर्वत इत्यादि सभी वस्तुएं बुद्धिमान कर्ता द्वारा बनाये गये है, क्योंकि वे सभी कार्य है, जैसे घट कार्य है, तो बुद्धिमान कुम्भकार द्वारा बना हुआ है। वैसे संसार के समस्तकार्य कोई-न-कोई बुद्धिमान द्वारा ही बने हुए है।

तथा पूर्वोक्त अनुमान में निर्दिष्ट कार्यत्व हेतु असिद्ध भी नहीं है। (जो हेतु पक्ष में न रहता हो, वह असिद्ध कहा जाता है। यहां ऐसा नहीं है।) क्योंकि पृथ्वी इत्यादिक अवयववाले होने के कारण कार्य के रुप में प्रसिद्ध है। (**नियम है कि, जिनको अवयव हो वह कार्य कहा जाता है।** इस नियम से पृथ्वी इत्यादि में अवयव है। इसलिए पृथ्वी आदि कार्य ही है। जैसे घडा सावयव है, इसलिए कार्य है, वैसे पृथ्वी इत्यादि भी सावयव होने से कार्य है।) अनुमान प्रयोग इस अनुसार से है - "**उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं कार्यं, सावयवत्वात्, घटवत्।**" इस प्रकार "**कार्यत्व**" हेतु "**क्षित्यादिकं**" पक्ष में रहता होने से असिद्ध नहीं है।

जो पदार्थो का कर्ता निश्चित है, वैसे घटादि सपक्ष में कार्यत्व हेतु की वृत्ति होने से कार्यत्व हेतु विरुद्ध भी नहीं है। जिसको उत्पन्न करनेवाला कोई निश्चित कर्ता नहीं है, वैसा आकाशादि विपक्ष में कार्यत्व हेतु की वृत्ति न होने से (अर्थात् साध्याभाववान् में हेतुकी वृत्ति न होने से) हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है।

प्रत्यक्ष और आगम से पक्ष में बाध न होने से (अर्थात् कार्यत्व हेतु के साध्यरुप विषय (बुद्धिम-त्कर्तृत्वरुप विषय का) पक्ष में प्रत्यक्ष से या आगम से बाध न होने से) कार्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(बाधित) भी नहीं है।

शंका : घट के कर्ता बुद्धिमान् कुम्हार में तो असर्वज्ञत्व, शरीरत्व, असर्वगतत्व आदि धर्मो के साथ संबंध रखनेवाला कर्तृत्व है। इसलिए क्षित्यादि का कर्ता भी असर्वज्ञ, असर्वगत बन जायेगा। इस अनुसार से सर्वज्ञ, अशरीरी और सर्वगत ईश्वर से विपरीत धर्मवाले कर्ता सिद्ध होने के कारण सर्वगत कर्ता को ही साध्य रखोंगे, तो दृष्टांतभूत कुम्हार में अशरीरत्व, सर्वगतत्व और सर्वज्ञत्वधर्म नहि होने के कारण दृष्टांत साध्यविकल बन जायेगा।

समाधान : आपकी बात उचित नहीं है, क्योंकि साध्य और हेतु की व्याप्ति सामान्य धर्म से ही ग्रहण की जाती होती है। यदि विशेषधर्म से व्याप्ति का ग्रहण होता है, ऐसा कहोंगे तो सभी अनुमान के उच्छेद की आपत्ति आयेगी। जैसे कि, महानसीय वह्नि के धर्म पर्वत में सिद्ध होने से अनिष्ट प्रसंग आयेगा और पर्वतीय अग्नि के धर्मो की महानसीय अग्नि में विद्यमानता न होने के कारण दृष्टांत में साध्यविकलता आयेगी। इस तरह से समस्त अनुमानो के उच्छेद की आपत्ति आयेगी।

वैसे ही अन्वय और व्यतिरेक से ग्रहण होती व्याप्ति सामान्यरुप से ही होती है। क्योंकि विशेष तो अनंत है तथा एक विशेष का धर्म दूसरे विशेष में प्राप्त होता न होने के कारण व्यभिचारी भी है। इसलिए विशेषधर्म की अपेक्षा से अन्वय-व्यतिरेक ग्रहण करना संभव नहीं है। इसलिए प्रस्तुत अनुमान में भी सामान्य बुद्धिमानरुप कर्ता के साथ ही कार्यत्वहेतु की व्याप्ति विवक्षित है। परंतु असर्वज्ञ या शरीरि कर्ताविशेष के साथ व्याप्ति का ग्रहण करना इष्ट नहीं है।

वैसे भी कार्य करने की सामग्री में शरीर का उपयोग भी नहि है। अर्थात् कार्य करने की सामग्री में शरीर का समावेश नहीं है, क्योंकि शरीर न भी हो, परंतु कारण सामग्री का ज्ञान, कार्य करने की ईच्छा और उसके अनुकूल प्रयत्न होने से कार्योत्पत्ति हो ही जाती है। (जैसे कि प्राणी जब मरता है और नये शरीर को धारण करने के लिए तैयार होता है, उस समय स्थूलशरीर होता नहीं है। फिर भी अपने नये शरीर का कर्ता हो जाता है। इसलिए शरीर अकिंचित्कर है।) इस प्रकार अकिंचित्कर शरीर सहचारी बनने मात्र से कारण नहीं बन जाता। कारण बनने के लिए तो कोई कार्य करता होना चाहिए और यदि सहचारी होने मात्र से ही पदार्थो को कारण मानने का प्रारंभ करोंगे तो धूम प्रति अग्नि का पीलेपन या भूरेपन को भी कारण मानना पडेगा। वैसे ही जब कुम्हार सो रहे हो अथवा दूसरे कार्य में व्यस्त हो, उस समय शरीर विद्यमान होने पर भी घडे की उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिए मानना ही पडेगा कि उस समय कुलाल (कुम्हार) होने पर भी ज्ञान, इच्छा और कृत्ति ये तीन में से कोई एकका या तीनो को अभाव होने से घटोत्पत्ति नहीं हुइ है। इसलिए ज्ञान, इच्छा और कृत्ति ये तीन से ही कुम्हार या बुद्धिमान कर्ता में कर्तृत्व आता है। केवल शरीर होने से नहि।

इस प्रकार सर्व प्रथम कार्योत्पत्ति में कार्य की कारणसामग्री का ज्ञान करना पडता है उसके बाद कार्य करने की इच्छा होनी चाहिए और कार्य करने के लिए प्रयत्न (कृति) हो तब कार्य की उत्पत्ति होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए ज्ञान, इच्छा और कृति तीनो समुदित एक साथ मिलकर (कार्यके) कारण बनते है और इस तरह से तीनो की विद्यमानता में कभी भी कार्योत्पत्ति में व्यभिचार नहीं आता है।

[E-10]सर्वज्ञता चास्याखिलकार्यकर्तृत्वात्सिद्धा । प्रयोगोऽत्र - ईश्वरः सर्वज्ञोऽखिलक्षित्यादिकार्यकर्तृत्वात् । यो हि यस्य कर्ता स तदुपादानाद्यभिज्ञः, यथा घटोत्पादकः कुलालो मृत्पिण्डाद्यभिज्ञः, जगतः कर्ता चायम्, तस्मात्सर्वज्ञ इति । उपादानं हि जगतः पार्थिवाप्यतैजसवायवीयलक्षणाश्चतुर्विधाः परमाणवः, निमित्तकारणमदृष्टादि, भोक्तात्मा, भोग्यं तन्वादि । न चैतदनभिज्ञस्य क्षित्यादौ कर्तृत्वं संभवत्यस्मदादिवत् । ते च तदीयज्ञानादयो नित्याः[E-11] कुलालादिज्ञानादिभ्यो विलक्षणत्वात् । [E-12]एकत्वं च क्षित्यादिकर्तुरनेककर्तृणामेकाधिष्ठातृनियमितानां प्रवृत्त्युपपत्तेः सिद्धम् । प्रसिद्धा हि स्थपत्यादीनामेकसूत्रधारपरतन्त्राणां महाप्रसादादिकार्यकरणे प्रवृत्तिः । न च ईश्वरस्यैकरूपत्वे नित्यत्वे च कार्याणां कादाचित्कत्वं वैचित्र्यं च विरुध्यते इति वाच्यं । कादाचित्कविचित्रसहकारिलाभेन कार्याणां कादाचित्कत्ववैचित्र्यसिद्धौ विरोधासंभवात् । ननु क्षित्यादेर्बुद्धिमद्धेतुकत्वेऽक्रियादर्शिनोऽपि जीर्णकूपादिष्विव कृतबुद्धिरुत्पद्यते, न चात्र सा उत्पद्यमाना दृष्टा, अतो दृष्टान्तदृष्टस्य हेतोर्धर्मिण्यभावादसिद्धत्वम्, तदप्ययुक्तं, यतः प्रामाणिकमितरं वापेक्ष्येदमुच्येत । यदीतरं तर्हि धूमादावप्यसिद्धत्वानुषङ्गः । प्रामाणिकस्य तु नासिद्धत्वं, कार्यत्वस्य बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वेन प्रतिपन्नाविनाभावस्य क्षित्यादौ प्रसिद्धेः, पर्वतादौ धूमादिवत् । न च यावन्तः पदार्थाः कृतकाः तावन्तः कृतबुद्धिमात्मन्याविर्भावयन्तीति नियमोऽस्ति, खातप्रतिपूरितायां भुव्यक्रियादर्शिनः कृतबुद्ध्युत्पादाभावात् । किं च, बुद्धिमत्कारणाभावोऽत्रानुपलब्धितो भवता प्रसाध्यते एतद्ध्रायुक्तं, दृश्यानुपलब्धेरेवाभावसाधकत्वोपपत्तेः, न चेयमत्र संभवति जगत्कर्तुरदृश्यत्वात्, अनुपलब्धस्य चाभावसाध्यत्वे पिशाचादेरपि तत्प्रसक्तिः स्यादिति ।

व्याख्या का भावानुवाद :

इस प्रकार, इस तरह से सामान्य रुप से बुद्धिमान कर्ता की सिद्धि होने से, इस विचित्रमय जगत की उत्पत्ति के कर्ता के रुप में सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। ईश्वर की सर्वज्ञता समस्त जगत की उत्पत्ति से सिद्ध होती हैं। अनुमान प्रयोग इस अनुसार से है।

"ईश्वर सर्वज्ञ है। क्योंकि जगत के समस्त क्षित्यादि कार्यो के कर्ता है। जो जिसका कर्ता होता है, वह उसके उपादान तथा सहकारि कारणो को जाननेवाला होता है। जैसे कि, घट का कर्ता कुम्हार घट के उपादान मृत्पिड (मिट्टीका पिंड)तथा दंडादि सहकारिकारण का जाननेवाला है।"

इस तरह से जगतकर्ता ईश्वर जगत के समस्त कार्यो के उपादान कारणभूत परमाणु और सहकारिकारण

(E-10-11-12) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रुप अदृष्ट, कालआदि को जानता है। इसलिए ईश्वर सर्वज्ञ है।

इस जगत के समस्तकार्यो के उपादानकारण पार्थिव, जलीय, तैजस, वायवीय स्वरुप चार प्रकार के परमाणु है। उन कार्यो के निमित्तकारण अदृष्ट, काल इत्यादि है। जगत के प्राणी भोक्ता है और शरीर इत्यादि भोग्य है।

इन उपादानकारणो को और सहकारिकारणो को न जाननेवाला (अनभिज्ञ) आत्मा क्षित्यादि कार्यो का कर्ता नहीं हो सकता। इसलिए क्षित्यादिकार्यो का कर्तृत्व हम जैसे लोग में संभवित नहिं होता है।

और उस ईश्वर के ज्ञानादि नित्य है और कुम्हारादि के ज्ञानादि अनित्य है। इसलिए ईश्वर के ज्ञानादि कुम्हारादि के ज्ञानादि से विलक्षण (अपूर्व) है।

जैसे एक कार्य करने में अनेक कर्मचारी काम करते हो, फिरभी वे सभी प्रधान कर्मचारी के नियंत्रण में हो तो ही कार्य सुन्दर होता है। वैसे जगत के समस्त क्षित्यादि कार्यो के कर्ता एक व्यक्ति के नियंत्रण के नीचे है। वह सर्वज्ञ ईश्वर है। इस तरह से ईश्वर में एकत्व सिद्ध हुआ।

दूसरी तरह से नाना (अनेक) कार्यकर्ता प्रधान सचिवो के अधीन होते है। प्रधान सचीव राजा को अधीन होते है। राजायें चक्रवर्ति को आधीन है। वह चक्रवर्ति ईश्वर को अधीन है। इस प्रकार समग्र जगत के कार्यो का अधिष्ठाता सर्वशक्तिमान ईश्वर एक ही है। इस तरह से ईश्वर में एकत्व सिद्ध हुआ।

(प्रश्न : सभी कार्यो का अधिष्ठाता एक ही हो, ऐसा आप किस तरह से कहते है ?)

उत्तर : जैसे महाप्रासादादि कार्य करने में एक सूत्रधार को परतंत्र स्थापत्यो की प्रवृत्ति (जगत में) प्रसिद्ध है। वैसे जगत के सभी कार्यो के अधिष्ठाता के रुप में ईश्वर की सिद्धि होती है।

शंका : यदि ईश्वर को एक तथा नित्य मानोंगे तो कार्यो में जो कादाचित्कत्व और विचित्रता दिखती है। उसका विरोध आयेगा। अर्थात् ईश्वर को एकस्वभाववाले तथा नित्य मानोंगे तो कुछ कार्य ग्रीष्म ऋतु में ही होता है, कुछ कार्य शीतऋतु में ही होता है। कुछ कार्य वर्षाऋतु में ही होता है। ऐसा जो कार्यो में कदाचित्कत्व दिखता है, वह संभवित नही बन सकेगा। और जगत में जो विचित्रतायें दिखती है वह भी संभवित नहीं बन सकेगी।

समाधान : जगत के कार्यो की जो विचित्रता और कार्यो में कादाचित्कत्व दिखता है, वह सहकारि कारणो की प्राप्ति के कादाचित्कत्व और विचित्रता के कारण है। कहने का मतलब यह है कि, अकेले ईश्वर से ही कार्य उत्पन्न नहिं होता, परंतु ईश्वर के सिवा अन्य भी सहकारिकारणो की अपेक्षा होती है। वे सब मिलकर कार्य उत्पन्न करते है। इसलिए ईश्वर एकरुप होने पर भी ईश्वर को सहकारि कारणो का जब समागम हो तब कार्य उत्पन्न करता है। इसके कारण से कार्यो में कादाचित्कत्व आता है। तथा सहकारि कारणो में विचित्रता होने से कार्यो में भी विचित्रता आती है।

शंका : जगत में दिखते हुए कार्यो में, उस कार्यो को होते हुए देखे गये न होने पर भी कार्य हो जाने के बाद **"यह कार्य हो गया और बहोत सुन्दर है।"** तथा **"यह कार्य हुआ परन्तु सुन्दर नहि है।"** ऐसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धि होती है। जैसे पुरानी बावलीयां तथा राजमहल इत्यादि को देखकर "**यह सुन्दर है**" - ऐसी बुद्धि होती है। परन्तु पृथ्वी आदि कार्यो में ऐसी बुद्धि नहीं होती है।

इसलिए पुरानी बावलीयां इत्यादि दृष्टांत में देखी हुइ कृतबुद्धि को उत्पन्न करनेवाला कार्यत्वहेतु पृथ्वी इत्यादि धर्मो में देखने को नहि मिलता है। इसलिए कार्यत्वहेतु असिद्ध है।

उपरांत पृथ्वी आदि प्राकृतिक वस्तुओ को देखकर, ऐसा भी लगता नहीं है कि यह किसीने बनाया है।

समाधान : आपकी यह बात युक्त नहि है, क्योंकि आपने जो कहा कि पृथ्वी इत्यादि में कृतबुद्धि होती नहीं है। वह अकृतबुद्धि प्रामाणिक पुरुषो को होती है या अप्रमाणिक सामान्य पुरुषो को होती है ? वह जवाब आपको देना चाहिए।

यदि आप कहोंगे कि "अप्रामाणिक सामान्य पुरुषो के द्वारा पृथ्वी आदि में कृतबुद्धि नहीं होती है इसलिए कार्यत्वहेतु असिद्ध है" तब तो सामान्य व्यक्ति को धूम और बाष्प (भाप) में भी निश्चित विवेक नहीं होता है। इसलिए उनकी दृष्टि से तो धूमादि सभी हेतु असिद्ध बन जायेंगे।

उपरांत प्रामाणिक पुरुषो को कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि कार्यत्व हेतु का बुद्धिमत्कर्तृत्व के साथ अविनाभाव उन्हों ने देखा हुआ है - स्वीकार किया हुआ है। इसलिए जैसे पर्वतादि में धूमादि को देखकर उसके साथ अविनाभाव से जुडे हुए वहन्यादि का निश्चय होता है। वैसे पृथ्वी आदि में कार्यत्व हेतु को देखने से उसके साथ अविनाभाव से जुडे हुए बुद्धिमत्कर्तृत्व का भी निश्चय हो जाता है। इसलिए कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं है।

उपरांत जितने पदार्थ उत्पन्न होते है, वे सभी पदार्थ कृतबुद्धि का आत्मा में आविर्भाव करेंगे ही, वैसा नियम नहि है। जैसे एक चोरस गडहा खोदने के बाद पुनः भर दिया जाये तो उस समतल जमीन में, जिसने वह गडहा भरते हुए नहीं देखा, उसको कृतबुद्धि नहीं होगी।

उपरांत आप पृथ्वी आदि कार्यो में बुद्धिमत्कर्ता का अभाव, अनुपलब्धि से सिद्ध करते हो, वह योग्य नहीं है, क्योंकि जो वस्तु पहले देखी हो, उसकी उपलब्धि न होती हो, तो वस्तु का अभाव है, ऐसा व्यपदेश किया जाता है। परंतु नहि देखी हुइ वस्तु की अनुपलब्धि को आगे करके वस्तु के अभाव का व्यपदेश नहि किया जा सकता।

इस प्रकार जगत्कर्ता ईश्वर अदृश्य होने से उनका अनुपलब्धि से अभाव सिद्ध नहि किया जा सकता। अन्यथा पिशाचादिकी भी अनुपलब्धि होती है, इसलिए पिशाचादि का भी अभाव सिद्ध हो जायेगा। इसलिए पिशाचादि दिखते नहीं है, इतने मात्र से उसका अभाव सिद्ध नहीं होता है। वैसे ईश्वर दृश्य न होने मात्र से उसका अभाव सिद्ध नहि होता है।

यदि ईश्वर दृश्य हो और पृथ्वी आदि में कर्तृत्व रुप से दिखते न हो, तो ही पृथ्वी आदि के कर्ता ईश्वर नहीं है, ऐसा कहा जायेगा। परन्तु ईश्वर दृश्य ही नहीं है। इसलिए अदृश्य की अनुपलब्धि को आगे करके ईश्वर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के अभाव का उल्लेख नहीं कर सकते है। नहि तो पिशाचादि अतीन्द्रिय पदार्थो का भी अभाव मानना पडेगा, क्योंकि वे भी दृश्य नहि है।

अत्र प्रतिविधीयते । [E-13]तत्र यत्तावत् क्षित्यादेर्बुद्धिमद्धेतुकत्वसिद्धये कार्यत्वसाधनमुक्तं, तत् किं सावयवत्वं १, प्रागसतः स्वकारणसत्तासमवायः २, कृतमितिप्रत्ययविषयत्वं ३, विकारित्वं ४ वा स्यात् । यदि सावयवत्वं, तदेदमपि किमवयवेषु वर्तमानत्वं १, अवयवैरारभ्यमाणत्वं २, प्रदेशवत्त्वं ३, सावयवमितिबुद्धिविषयत्वं ४ वा स्यात् । तत्राद्यपक्षेऽवयवसामान्येनानैकान्तिकोऽयं हेतुः, तद्व्यवयवेषु वर्तमानमपि निरवयवमकार्यं च प्रोच्यते । द्वितीयपक्षे तु साध्यसमो हेतुः, यथैव हि क्षित्यादेः कार्यत्वं साध्यं, एवं परमाण्वाद्यवयवारभ्यत्वमपि । तृतीयोऽप्याकाशेनानैकान्तिकः, तस्य प्रदेशवत्त्वेऽप्यकार्यत्वात् । प्रसाधयिष्यते चाग्रतोऽस्य प्रदेशवत्त्वम् । चतुर्थकक्षायामपि तेनैवानैकान्तो न चास्य निरवयवत्वं, व्यापित्वविरोधात्परमाणुवत् १ । नापि[E-14] प्रागसतः स्वकारणसत्तासमवायः कार्यत्वं, तस्य नित्यत्वेन तल्लक्षणायोगात् । तल्लक्षणत्त्वे वा कार्यस्यापि क्षित्यादेस्तद्वन्नित्यत्वानुषङ्गात्, कस्य बुद्धिमद्धेतुकत्वं साध्यते । किं च, योगिनामशेषकर्मक्षये पक्षान्तःपातिन्यप्रवृत्तत्वेन भागासिद्धोऽयं हेतुः[E-15], तत्प्रक्षयस्य प्रध्वंसाभावरूपत्वेन सत्तास्वकारणसमवाययोरभावात् २ । कृतमितिप्रत्ययविषयत्वमपि न कार्यत्वं, [E-16]खननोत्सेचनादिना कृतमाकाशमित्यकार्येऽप्याकाशे वर्तमानत्वेनानैकान्तिकत्वात् ३ । विकारित्वस्यापि कार्यत्वे महेश्वरस्यापि कार्यत्वानुषङ्गः, सतो वस्तुनोऽन्यथाभावो हि विकारित्वम् । तच्चेश्वरस्याप्यस्तीत्यस्यापरबुद्धिमद्धेतुकत्वप्रसङ्गादनवस्था स्यात्, अविकारित्वे चास्य कार्यकारित्वमतिदुर्घटमिति ४ ।

जैन (उत्तरपक्ष) : वह ईश्वर - कर्तृत्व साधकयुक्तियों का खंडन इस प्रकार से है।

आपने पृथ्वी आदि के बुद्धिमान कर्ता के रुप में ईश्वर की सिद्धि करने के लिए जो कार्यत्वहेतु को कहा है। उसमें आपको निश्चित करना चाहिए कि कार्य किसको कहा जाता है ? उसके चार विकल्प होंगे। (१) क्या जो अवयववाला हो उसको कार्य कहा जायेगा ? (२) पहले जिसका अभाव था, परंतु सत्ता का संबंध होने से तथा कारणो के साथ समवायविशिष्ट संबंध रखने के कारण "सत्" कहा जाता है, वह कार्य है ? (३) क्या जिसको देखने से ही "**कृतम्**"=किया हुआ है। ऐसी बुद्धि हो, उसे कार्य कहा जाता है ? (४) क्या जिसमें विकार हो, वह विकारिपदार्थ कार्य कहा जाता है ?

यदि आप ऐसा कहोंगे कि "**अवयववाले पदार्थ को कार्य कहा जाता है ?**" तो हमारा प्रश्न है कि... सावयव किसको कहा जाता है ? (१) क्या जो पदार्थ अवयवो में रहता है, उसको सावयव कहा जाता है ? अथवा (२) क्या जो पदार्थ अवयवो के संयोग से उत्पन्न हुआ हो, उसको सावयव कहा जाता है। अथवा

(E-13-14-15-16) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) क्या जो पदार्थ के अवयव-प्रदेश विद्यमान हो, उसको सावयव कहा जाता है। अथवा (४) क्या यह अवयववाला है, ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो, उसे सावयव कहा जाता है ?

उसमें प्रथम पक्ष कहोंगे तो अर्थात् अवयवो में रहता है वह सावयव होने से कार्य कहा जाता है। वैसा कहोगे तो अवयवो में रहनेवाले अवयवत्वसामान्य से यह लक्षण व्यभिचारी (अनैकान्तिक) बन जायेगा। क्योंकि यह अवयव है यह अवयव है, ऐसी अनुगतबुद्धि द्वारा जिसका ज्ञान होता है, उस अवयवत्व नामकी जाति आपके (नैयायिकोके) मतानुसार नित्य है। इसलिए वह कार्य तो बन ही नहीं सकती। वह अवयवत्व-जाति अवयवो में रहने के साथ साथ विपक्षभूत नित्य अकार्य में भी लक्षण जाने से वह व्यभिचारी है। वैसे ही अवयवत्व अवयवो में रहने पर भी आपके मत में वह निरवयव निरंश है, उसके अवयव नहीं है।

दूसरे पक्ष का स्वीकार करोंगे तो हेतु साध्यसम बनेगा। अर्थात् ''जो अवयवो से उत्पन्न हो वह सावयव कहा जाता है।'' ऐसे दूसरे पक्ष में हेतु साध्य के समान असिद्ध ही है। जैसे अभी पृथ्वी आदि को कार्य के रुप में सिद्ध करने है। वैसे वह पृथ्वी आदि के परमाणु इत्यादि, अवयवो में से उत्पन्न होते है, वह भी सिद्ध करना बाकी ही है। उसकी सिद्धि अभी हुइ नहि है। कहने का तात्पर्य यह है कि ''जिस प्रकार से (पृथ्वी आदि में) कार्यत्व विवाद में है, असिद्ध है, उसी तरह से वह अवयवो से उत्पन्न हुआ है।'' वह बात भी विवाद ही है। क्योंकि कार्य कहो या अवयवो से उत्पन्न होनेवाला कहो, दोनो एक ही बात है। अर्थात् कार्य के रुप में सिद्ध हो तो अपनेआप अवयवो से उत्पन्न होनेवाला है, यह बात सिद्ध होती है। परन्तु कार्यत्व में ही विवाद होने से 'अवयवो से उत्पन्न' इस बात में भी विवाद खडा ही है। इसलिए द्वितीय पक्ष में साध्यसम अर्थात् साध्य के समान असिद्ध है।

तृतीयपक्ष में आकाश को लेकर लक्षण अनैकान्तिक (व्यभिचारी) बनता है। अर्थात् प्रदेशवाला होने से वह कार्य सावयव है। इस पक्ष में लक्षण व्यभिचारी है। क्योंकि आकाश सप्रदेशी होने पर भी अकार्य है। अर्थात् आकाश नित्य होने पर भी ''यह घटाकाश'', ''यह मठाकाश'' और ''यह पटाकाश'' है, ऐसे प्रदेश पडते है। इसलिए नैयायिको ने आकाश नित्य होने पर भी सप्रदेशी माना है और नित्य हो वह अकार्य होता है। इसलिए लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है। आकाश का सप्रदेशवत्व आगे सिद्ध किया जायेगा।

चौथे पक्ष में भी आकाश को लेकर लक्षण अनैकान्तिक (व्यभिचारी) बनता है। अर्थात् ''यह अवयववाला है,'' ऐसी बुद्धि जिसमें हो उसे सावयव कहा जाता है। उस पक्ष में आकाश को लेकर व्यभिचार आता है' वह इस तरह से-''यह पटाकाश है'', ''यह घटाकाश है'', ''यह मठाकाश है'' इत्यादि अवयवोवाला आकाश भी दिखता है। फिर भी आकाश अकार्य ही है। उपरांत यदि आकाश को निरवयवी मानोंगे तो परमाणु की तरह सर्वव्यापित्व उसमें नहीं आ सकेगा। क्योंकि जैसे परमाणु निरवयव होने से जगत के एक छोटे से भाग में रहता है। वैसे आकाश को निरवयव मानोंगे तो वह भी सर्वजगत में व्याप्त नहि हो सकेगा। इसलिए आकाश सप्रदेशी होने पर भी नित्य होने के कारण अकार्य है। इस प्रकार आकाश को लेकर लक्षण व्यभिचारी बन जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"असत् वस्तु में सत्ता का संबंध होना तथा अपने कारणो में समवायसंबंध से रहना वह कार्य"-ऐसा लक्षण भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि लक्षण में जो समवायसंबंध ग्रहण किया हुआ है वह नित्य है और नित्य होने से वह जहां रहे, वहाँ हंमेशां रहता है और उसी तरह से उसमें जो सत्ता के संबंध का निवेश किया है वह सत्ता भी नित्य है। इसलिए नित्यसमवाय - अनित्यकार्य का लक्षण नहीं हो सकता। फिर भी उसको अनित्यकार्य का लक्षण मानोंगे तो पृथ्वी आदि कार्य भी नित्य बन जायेगा और जो नित्य हो वह उत्पन्न होता न होने से, जगत में कोई कार्य बाकी रहेगा नहि कि जिसके कर्ता के रुप में ईश्वर की सिद्धि हो।

उपरांत योगी अपने ध्यान के बल से कर्मो का क्षय करता है। इसलिए कर्मो का नाश योगीयो के ध्यान का फल होने के कारण अवश्य कार्य है। परंतु कार्य में सत्ता या समवाय रहते नहि है। इसलिए कार्य का यह लक्षण पक्ष के एक भाग में रहता न होने से भागासिद्ध दोष लगता है। कर्मो का नाश प्रध्वंसाभावस्वरुप होने से अभाव नाम का पदार्थ है। सत्ता, द्रव्य, गुण, कर्म ये तीन पदार्थो में ही रहती है तथा समवाय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष ये पांच पदार्थो में ही (आपके मतानुसार) रहता है। इसलिए अभाव में सत्ता या समवाय का अभाव होने से ऐसा अधूरा लक्षण है कि जो पूरे पक्ष में रहता नहि है। इससे वह कार्यसाधक नहीं हो सकता। ॥२॥

जिसमें "कृतम्=किया हुआ"-ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो वह कार्य । ऐसा कार्य का लक्षण भी नित्य आकाश में रहने के कारण अनैकान्तिक है। क्योंकि जमीन खोदकर कुआं बनाया जाता है, तब मिट्टी और कीचड बाहर निकलते है और आकाश होता है। वहां आकाश में 'कृतम्' इस अनुसार से बुद्धि होती है। फिर भी आकाश कार्य नहीं है। (क्योंकि आपके सिद्धांतानुसार वह नित्य है।) इसलिए अकार्य आकाश में लक्षण जाने से अनैकान्तिकदोष लगता है। ॥३॥

"जो विकारि हो-जिसमें परिवर्तन हो वह कार्य।" कार्य का यह लक्षण भी उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने से ईश्वर में भी कार्यत्व मानना पडेगा। वर्तमानकाल में रही हुई अवस्था में अन्यथाभाव (परिवर्तन) होना उसे विकारिपन कहा जाता है। वैसा विकारिपन ईश्वर में भी है। इसलिए ईश्वररुप कार्य के बुद्धिमत्कर्ता के रुप में दूसरे को मानना पडेगा। उस अपर के कर्ता के लिए तीसरी व्यक्ति को माननी पडेगी। उस तीसरे व्यक्ति केकर्ता के रुप में चौथी व्यक्ति का स्वीकार करना पडेगा। इस तरह से अनवस्था (अप्रामाणिक अनंत व्यक्तियों की कल्पनारुप) दोष आ जायेगा और ईश्वर को अविकारी मानोंगे तो जगत के सभी विचित्रकार्य अतिदुर्घट बन जायेंगे। अर्थात् ईश्वर को अविकारी मानने में कार्यकारित्व अतिविषय बन जायेगा। **कहने का मतलब यह है कि** - "जो विकारी हो वह कार्य कहा जाता है।" ऐसा आप कहोंगे तो जगत का सर्जन, रक्षण और विलय करते हुए ईश्वर भी कार्य बन जायेंगे। अर्थात् जिस वक्त ईश्वर जगत का सर्जन करते होंगे, तब उसमें सर्जकस्वभाव होगा। परन्तु जगत का रक्षण करते वक्त उनका सर्जनहार के रुप का स्वभाव नहि होगा। परंतु रक्षकके रुप का स्वभाव होगा। वैसे ही जब सृष्टि का विनाश करते होंगे, तब सृष्टिनाशक का स्वभाव होगा। इसलिए उनके स्वभाव बदलने से वे विकारी सिद्ध होंगे। क्योंकि एक भाव में से अन्यथाभाव में जाये उसे विकारी कहा जाता है। इसलिए ईश्वर विकारी बनेगा और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आपके कार्य के लक्षणानुसार ईश्वर भी विकारी होने से कार्यरुप बनेंगे। जो कार्य हो उसका कोई कर्ता होता ही है। इसलिए ईश्वर के कर्ता के रुप में दूसरा बुद्धिमानकर्ता मानना पडेगा। उसके कर्ता के रुप में तीसरा, तीसरे के कर्ता के रुप में चौथा बुद्धिमानकर्ता मानना पडेगा। इस तरह से अप्रामाणिक अनंतपदार्थो की कल्पनास्वरुप अनवस्थादोष आ जायेगा।

यदि ईश्वर को अविकारी मानोंगे तो सृष्टिसर्जन, सृष्टिरक्षण और सृष्टिनाश का कार्य नहि हो सकेगा। क्योंकि जिसके स्वभाव में बदलाव न हो, उसे अविकारी कहा जाता है। इसलिए ईश्वर को अविकारी मानोंगे तो या तो उसका एक सर्जनहार स्वरुप ही मानना पडेगा। उसके योग से वह ईश्वर द्वारा रक्षण-प्रलय का कार्य नहि हो सकेगा। वैसे ही एक स्वभाववाले ईश्वर घट बनाते होंगे। तब उसके एक स्वभाव के कारण घट ही बना सकेंगे। दूसरे पदार्थ नहि बना सकेंगे और बनायेंगे तो घट जैसे ही सभी पदार्थ बन जायेंगे। इसलिए जगत के कार्यो में दिखती विचित्रता नहीं होगी और अनवस्था खडी होंगी। इसलिए चोथा विकल्प भी उचित नहि है।

कार्यस्वरूपस्य विचार्यमाणस्यानुपपद्यमानत्वादसिद्धः कार्यत्वादित्ययं हेतुः । किं च, कादाचित्कं वस्तु लोके कार्यत्वेन प्रसिद्धम् । जगतस्तु महेश्वरवत्सदा सत्त्वात्कथं कार्यत्वम् ? तदन्तर्गततरुतृणादीनां कार्यत्वात्तस्यापि कार्यत्वे महेश्वरान्तर्गतानां बुद्ध्यादीनां परमाण्वाद्यन्तर्गतानां पाकजरूपादीनां च कार्यत्वात्, महेश्वरादेरपि कार्यत्वानुषङ्गः । तथा चास्याप्यपरबुद्धिमद्धेतुकत्व-कल्पनायामनवस्थापसिद्धान्तश्चानुषज्यते । [E-17]अस्तु वा यथा कथंचिज्जगतः कार्यत्वं, तथापि कार्यत्वमात्रमिह हेतुत्वेन विवक्षितं तद्विशेषो वा ? यद्याद्यः, तर्हि न ततो बुद्धिमत्कर्तृविशेषसिद्धिः, तेन समं व्याप्त्यसिद्धेः, किं तु कर्तृसामान्यस्य (सिद्धिः) । तथा च हेतोरकिंचित्करत्वं साध्यविरुद्ध-साधनाद्विरुद्धत्वं वा । ततः कार्यत्वं कृतबुद्ध्युत्पादकम्, बुद्धिमत्कर्तुर्गमकं न सर्वम् । सारूप्यमात्रेण च गमकत्वे बाष्पादेरप्यग्निं प्रति गमकत्वप्रसङ्गः, महेश्वरं प्रत्यात्मत्वादेः सादृश्यात्संसारित्वकिंचिज्ज्ञ-त्वाखिलजगदकर्तृत्वानुमापकानुषङ्गः, तुल्याक्षेपसमाधानत्वात् । ततो बाष्पधूमयोः केनचिदंशेन साम्येऽपि यथा कुतश्चिद्विशेषाद्धूमोऽग्निं गमयति न बाष्पादिः, तथा क्षित्यादीतरकार्य-त्वयोरपि कश्चिद्विशेषोऽभ्युपगम्यः । अथ द्वितीयः, तर्हि हेतोरसिद्धत्वं कार्यविशेषस्याभावात्, भावे वा जीर्णकूपप्रासादादिवदक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वप्रसङ्गः । समारोपान्नेति चेत्, सोऽप्युभयत्राविशेषतः किं न स्यात्, उभयत्र कर्तुरतीन्द्रियत्वाविशेषात् । अथ प्रामाणिकस्यास्त्येवात्र कृतबुद्धिः । ननु कथं तस्य तत्र कृतत्वावगमोऽनेनानुमानेनानुमानान्तरेण वा । आद्येऽन्योन्याश्रयः । तथाहिसिद्धविशेषणाद्धेतोरस्योत्थानं, तदुत्थाने च हेतोर्विशेषणसिद्धिरिति । द्वितीयपक्षेऽनुमानान्तर-स्यापि सविशेषणहेतोरेवोत्थानम्, तत्राप्यनुमानान्तरात्तत्सिद्धावनवस्था, तत्र कृतबुद्ध्यु-

(E-17) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्पादकत्वरुपविशेषणसिद्धिः । तथा च विशेषणासिद्धत्वं हेतोः । यदुच्यते-"खातप्रति-पूरितभूनिदर्शनेन कृतकानामात्मनि कृतबुद्धयुत्पादकत्वनियमाभावः" इति तदप्यसत्, तत्राकृत्रिमभूभागादिसारूप्यस्य तदनुत्पादकस्य सद्भावात्तदनुत्पादकस्योपपत्तेः[E-18] । न च क्षित्यादावप्यकृत्रिमसंस्थानसारूप्यमस्ति, येनाकृत्रिमत्वबुद्धिरुत्पद्यते, तस्यैवानभ्युपगमात्, अभ्युपगमे चापसिद्धान्तप्रसक्तिः स्यादिति । कृतबुद्धयुत्पादकत्वरूपविशेषणासिद्धेर्विशेष-णासिद्धत्वं हेतोः ।

व्याख्या का भावानुवाद :

इस तरह से कार्य के स्वरुप को सोचने से किसी भी प्रकार से कार्यत्व हेतु सिद्ध नहीं होता है। इसलिए कार्यत्वहेतु असिद्ध है।

उपरांत जगत में कदाचित्कवस्तु कार्य के रुप में पहचानी जाती है। अर्थात् लोक में कार्य तो उसको कहा जाता है कि जो कभी भी उत्पन्न हुआ हो। परंतु जगत को ईश्वर की तरह सदा विद्यमान होने से किस तरह से कार्य कहा जायेगा ? अर्थात् जैसे ईश्वर अनादि है, यानी कि जिसका प्रारंभ नहीं है और उत्पत्ति नहिं है। वैसे जगत भी अनादि और उत्पन्न हुआ न होने से किस तरह से कार्य कहा जायेगा ?

ईश्वरवादि (उत्तरपक्ष) : यद्यपि साधारण रुप से परंपरा-प्रवाह की दृष्टि से जगत अनादि कहा जाता है। परंतु इस जगत के अंतर्गत रहनेवाले वृक्ष, घटादि आदि (विशेषरुप से विचार करने से) सादि तथा कार्यरुप है। क्योंकि जगत का विशेषस्वरुप देखे तो एक उत्पन्न होता है, एक मृत्यु प्राप्त करता है। एक को अंकूर फूटते है, एक मुरझाता है। एक बालक में से तरुण होता है, एक तरुण में से वृद्ध होता है। इस तरह से विशेषदृष्टि से प्रवाहिजगत कार्यभी कहा जाता है और ये अनगिनत कार्यो को छोडकर जगत जैसा दूसरा है भी क्या ? इस तरह से जगत कार्य भी है और ईश्वर उसके सर्जनहार है।

जैन (उत्तरपक्ष) : समस्त जगत प्रवाह की अपेक्षा से अनादि होने पर भी उसके अन्तर्गत वस्तुये नित्य नये नये स्वरुप को धारण करने से (आपकी दृष्टिसे) सादि और कार्यरुप है, तो इस युक्ति से तो स्वयं महेश्वर तथा परमाणु आदि नित्यपदार्थ भी कार्यरुप बन जायेंगे। वह इस तरह से-महेश उत्पन्न नहि होते, अनादि है। परन्तु रहनेवाली बुद्धि, इच्छा इत्यादि तो उत्पन्न होती और नष्ट होती दिखाई देती है। उसी तरह से परमाणु अनादि होने पर भी अग्नि के संयोग से उसके श्यामरुप का लालरंग में परिवर्तन होता दिखाई देता है। इस प्रकार जगत अंतर्गत वृक्षादि कार्यरुप होने से जगत कार्यरुप बन जाता हो, तो महेश अंतर्गत बुद्धि, आदि कार्यरुप होने से महेश भी कार्यरुप बन जायेंगे। इसलिए कार्यरुप महेश की उत्पत्ति दूसरे बुद्धिमान कर्ता से होगी। दूसरे की उत्पत्ति तीसरे से तीसरे की चौथे से वैसे (अप्रामाणिक अनन्त पदार्थो की कल्पनारुप) अनवस्था नामका दोष आयेगा। तथा आपके शास्त्रो में ईश्वर और परमाणु को नित्यद्रव्य माने है। परंतु

(E-18) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आपकी उपरोक्त युक्ति से कार्य सिद्ध होने के कारण अनित्य बन जाने से सिद्धांतविरुद्ध कथन होने से अपसिद्धांत दोष भी आयेगा।

अथवा जगत को किसी भी रुप में कार्य मान भी ले, परन्तु आप सामान्यरुप कार्यत्वहेतु से जगत को ईश्वर रचित मानते हो ? या विशेष प्रकार के कार्यत्वरुप हेतु से जगत को ईश्वररचित मानते हो ?

सामान्यरुप हेतु से जगत्कर्ता के रुप मानोंगे तो ईश्वर में बुद्धिमत्कर्तृत्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि साधारण (सामान्य) रुप कार्यत्व हेतु से तो साधारण कर्ता की सिद्धि हो सकेगी, परंतु विशेष सर्वज्ञकर्ता की सिद्धि नहिं हो सकेगी। क्योंकि साधारण कार्यत्व की साधारण कर्ता के साथ व्याप्ति है। परन्तु साधारण कार्यत्व की ईश्वर जैसे सर्वज्ञत्वादि गुणो से युक्त विशेष कर्ता के साथ व्याप्ति नहि है। इसलिए सामान्य कार्यत्व हेतु से किसी भी कर्ता की सिद्धि हो जाने से आपको इष्ट (इच्छित) ईश्वर की सिद्धि नहिं होती है। इसलिए कार्यत्व हेतु साध्य से विरुद्ध को सिद्ध करता होने से विरुद्ध है तथा कार्य कोई-न-कोई कर्ता से उत्पन्न होता है, यह बात तो सर्वसंमत है। इसलिए आपका सामान्यकार्यत्व हेतु इससे अधिक कुछ भी सिद्ध कर सकता न होने से अकिंचित्कर भी हो जाता है।

(कार्य जिन कारणो से उत्पन्न होता है, वह कारण भी उसका कर्ता है। उस कार्यो को भुगतनेवाला जीव भी अपने कर्मो के द्वारा उसका कर्ता हो सकता है।) इसलिए जो कार्य "**कृतबुद्धि = ईश्वर ने इसको बनाया**" ऐसी कृतबुद्धि उत्पन्न कर सकता है, वही कार्य ईश्वर को अपने कर्ता के रुप में सिद्ध कर सकेगा, सभी कार्य नहिं।

उपरांत "**कार्य-कार्य सभी एक है - सब कार्य एकसमान है।**" ऐसे सारुप्यमात्र से अर्थात् सामान्य कार्यत्व हेतु से भी विशेष ईश्वर को कर्ता सिद्ध करने के लिए प्रयत्न करोंगे तो, कोई मूर्ख धूम और बाष्प में रहा हुआ धुंधलेपन की समानता को आगे करके बाष्प में अग्नि की सिद्धि करने लगेगा। क्योंकि धूम और बाष्प में धुंधलेपन की दृष्टि से समानता है। इस तरह से आत्मा - आत्मा समान है। इस दृष्टि से भी ईश्वर (महेश) में आत्मत्वेन प्रत्येक आत्माओं के साथ समानता होने से ईश्वर भी प्रत्येक आत्माओ की तरह संसारी, असर्वज्ञ, संसार के अकर्ता सिद्ध हो जायेंगे। क्योंकि जो प्रश्न तथा उत्तर आप आपके कार्यत्व सामान्य हेतु के समर्थन में देंगे। वे प्रश्न यहां भी किये जा सकते है।

इसलिए बाष्प और धूम में कुछ अंश से समानता होने पर भी जैसे विशेषधूम ही अग्नि का अनुमापक बन सकता है, परन्तु (धुंधलेपन की समानता को आगे करके) बाष्पादि अग्नि का गमक नहीं बनता है। अथवा जिस तरह से आत्मत्वेन ईश्वर तथा अन्य लोग समान होने पर भी अन्य लोग में रहनेवाला कर्मयुक्त आत्मत्व ही संसारित्व और असर्वज्ञत्व की सिद्धि करता है। परन्तु सामान्य आत्मत्व नहि। उसी तरह से पृथ्वी आदि कार्य तथा घटादि कार्यो में कार्यत्वेन (स्थूल दृष्टि से) समानता होने पर भी कोई ऐसी विशेषता माननी पडेगी कि जिससे विशेषकर्ता का अनुमान किया जा सके। इसलिए सामान्य कार्यत्व हेतु ईश्वर को जगत्कर्ता सिद्ध नहीं कर सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदि कोई विशेष प्रकार के कार्यत्व हेतु से ईश्वर की जगत्कर्ता के रुप में सिद्धि होती है। ऐसा कहोंगे तो विशेषकार्यत्वहेतु असिद्ध है। क्योंकि जगत के सभी कार्य प्रायः समान ही देखने को मिलते है। जिस तरह से घट-पटादि कार्य है, वैसे ही पृथ्वी आदि कार्य है।

यदि पृथ्वी आदि विशेषकार्य मानोंगे तो अर्थात् पृथ्वी आदि में कोई विशेषता मानोंगे तो जिन लोगो ने पृथ्वीआदि को बनता हुआ नहि देखा है, उनको भी कृतबुद्धि = ईश्वर ने ये पृथ्वी आदि बनाये है, ऐसी बुद्धि होनी चाहिए। क्योंकि जैसे कलात्मक जीर्ण कुअे इत्यादि तथा राजमहल को देखकर इसका कर्ता बहोत कुशल लगता है, ऐसी बुद्धि होती है। वैसे पृथ्वी आदि को देखकर भी इसके कर्ता सर्वज्ञ ईश्वर है, ऐसी बुद्धि होनी चाहिए। परन्तु पृथ्वी आदि में ऐसी कृतबुद्धि नहीं होती है। इसलिए पृथ्वी आदि के कर्ता के रुप में ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है।

ईश्वरवादि (पूर्वपक्ष) : पृथ्वी आदि बनती दिखाई नहीं दी। इसलिए पृथ्वी आदि में कृतबुद्धि नहीं होती है। उसके साथ साथ कोई समारोप (मिथ्यावासनायें) भी पृथ्वी आदि में कृतबुद्धि नहीं होने देती है।

जैन (उत्तरपक्ष) : उभयत्र यह सामान्य है। क्योंकि दोनो स्थान पे कर्ता अतीन्द्रिय ही है। कहने का मतलब यह है कि पुराने कलात्मक कुअे तथा राजमहलो को किसीने बनता हुआ नहि देखा, फिर भी कृतबुद्धि होती है। वैसे पृथ्वी आदि भी बनते हुए नहीं देखे, फिर क्यों कृतबुद्धि होती नहीं है? दोनो के कर्ता इस समय तो अतीन्द्रिय ही है। अर्थात् अतीन्द्रियकर्ता इन दोनो में सामान्य है। अर्थात् दोनो के कर्ता इन्द्रिय के विषय बने ही नहि है। वैसे ही मिथ्यावासना का तो निर्णय हो सकता नहिं है कि.... **"हम लोगो को मिथ्यावासना के योग से पृथ्वी इत्यादि में कृतबुद्धि होती नहीं है और आप लोगो को मिथ्यावासना के योग से ही पृथ्वी इत्यादि में कृतबुद्धि होती है !"**

ईश्वरवादि (पूर्वपक्ष) : प्रामाणिक लोगो को तो पृथ्वी इत्यादि में **"यह ईश्वर ने बनाये है"** - ऐसी कृतबुद्धि होती ही है। आपको न हो उसमें हम क्या करे ?

जैन (उत्तरपक्ष) : कौन प्रामाणिक और कौन अप्रामाणिक यह बात एक तरफ रखे। आप कहो कि **"पृथ्वी आदि ईश्वरकृत है"** - ऐसा किस प्रमाण से जानना ? वह (उपरोक्त) अनुमान से या दूसरे कोई अनुमान से ?

यदि (उपरोक्त) अनुमान से अर्थात् कार्यत्व हेतु से होनेवाले अनुमान द्वारा पृथ्वी इत्यादि को ईश्वरकृत मानोंगे तो अन्योन्याश्रय दोष आयेगा। जैसेकि.... जब कार्यत्वहेतु का कृतबुद्ध्युत्पादकत्वरुप विशेषण सिद्ध हो जाये, तब वह सिद्धविशेषणहेतु से प्रकृत अनुमान हो जाये तथा जब प्रकृत अनुमान हो जाये, तब उस अनुमान से कार्यत्व हेतु की कृतबुद्ध्युत्पादकत्वरुप विशेषण की सिद्धि हो जाये=इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आता होने से प्रथमपक्ष योग्य नही है।

द्वितीयपक्ष में यदि अनुमानान्तर से कृतबुद्धि उत्पाकत्व विशेषण की सिद्धि मानी जाये तो वह अनुमानान्तरका उत्थान भी सविशेषणहेतु से ही मानना चाहिए। अब इस अनुमानान्तर के हेतु के विशेषत्व

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की सिद्धि भी तृतीय अनुमान से करनी पडेगी। तृतीय अनुमान के हेतु के विशेषण की सिद्धि चौथे अनुमान से माननी पडेगी... इस तरह से उत्तरोत्तर अप्रामाणिक कल्पना से अनवस्था दोष आता है।

इस तरह से कार्यत्व हेतु के कृतबुद्धि - उत्पादकत्वरुप विशेषण की सिद्धि होती न होने से कार्यत्वहेतु विशेषणासिद्ध बनता है।

ईश्वरवादि (पूर्वपक्ष) : हम पहले कह चुके है कि जो जमीन को खोदकर, उस गड्डे को वैसे को वैसा भर दिया जाये तो भी कृतबुद्धि नहीं होती है। इसलिए जो कार्य हो वह कृतबुद्धि को उत्पन्न करे ऐसा कोई नियम नहीं है।

जैन (उत्तरपक्ष) : आपकी बात उचित नहीं है। क्योंकि जो जमीन को खोदकर वैसी की वैसी पुनः भर देने से वह जमीन बिना खुदी हुए जमीन के समान बन जाती है। इसलिए वहां कृतबुद्धि होती नहिं है। परंतु पृथ्वी आदि में कोई अकृत्रिम वस्तु का सारुप्य नहीं है कि जिसमें पृथ्वी इत्यादि में अकृत्रिमत्व की बुद्धि उत्पन्न हो और इससे पृथ्वी इत्यादि में कृतबुद्धि उत्पन्न न हो। अर्थात् पृथ्वी इत्यादि में अकृत्रिम वस्तु का सारुप्य नहिं है। इसलिए उसमें कृतबुद्धि न होने में कोई कारण नहिं है, फिर कृतबुद्धि क्यों नहीं होती ? उपरांत आपने कोई अकृत्रिम पृथ्वी मानी नहीं है और यदि कोई अकृत्रिम पृथ्वी का स्वीकार करोंगे और पृथ्वी इत्यादि की दूसरे अकृत्रिम पृथ्वी के साथ समानता मानोंगे तो पृथ्वी आदि में कार्यत्व हेतु असिद्ध बन जायेगा। क्योंकि अकृत्रिम पृथ्वी किसीसे बनाई गई न होने से कार्य नहीं है।

उपरांत पृथ्वी इत्यादि को अकृत्रिम मानने से **"पृथ्वी इत्यादिक ईश्वरकृत है।"** ऐसे आपके सिद्धांत का अपलाप होगा। अर्थात् अपसिद्धांत नामका दोष आ पडेगा।

इस तरहसे कार्यत्व हेतु का **"कृतबुद्धि-उत्पादकत्व"** रुप विशेषण असिद्ध होने से कार्यत्व हेतु विशेषणासिद्धिदोष से दूषित बन जाता है।

सिध्यतु वा, तथाप्यसौ विरुद्धः, घटादाविव शरीरादिविशिष्टस्यैव बुद्धिमत्कर्तुरत्र प्रसाधनात् । नन्वेवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकसाम्यान्वेषणे सर्वत्र हेतूनामनुपपत्तिरिति चेत्, न । धूमाद्यनुमाने महानसेतरसाधारणस्याग्नेः प्रतिपत्तेः । अत्राप्येवं बुद्धिमत्सामान्यप्रसिद्धेर्न विरुद्धत्वमित्यप्ययुक्तं, दृश्यविशेषाधारस्यैव तत्सामान्यस्य कार्यत्वहेतोः प्रसिद्धेर्नादृश्यविशेषाधारस्य, तस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीतेः, खरविषाणाधारतत्सामान्यवत् । ततो यादृशात्कारणाद्यादृशं कार्यमुपलब्धं तादृशादेव तादृशमनुमातव्यं, यथा यावद्धर्मात्मकाद्वह्नेर्यावद्धर्मात्मकस्य धूमस्योत्पत्तिः सुदृढप्रमाणात्प्रतिपन्ना तादृशादेव धूमात्तादृशस्यैवाग्नेरनुमानमिति । एतेन 'साध्यसाधनयोर्विशेषेण व्याप्तौ गृह्यमाणायां सर्वानुमानोच्छेद-प्रसक्तिः' **इत्याद्यपास्तं द्रष्टव्यमिति । [E-19]तथाऽकृष्टप्रभवैस्तरुतृणादिभिर्व्यभिचार्ययं हेतुः ।**

(E-19) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या का भावानुवाद :

अथवा मान भी ले कि पृथ्वी इत्यादि में "यह ईश्वर ने बनाई हुई है।" ऐसी कृतबुद्धि उत्पन्न होती है। तो भी कार्यत्वहेतु विरुद्ध है। क्योंकि जैसे घटादि में शरीरी, अल्पज्ञ कर्ता सिद्ध होता है, वैसे पृथ्वी इत्यादि का कर्ता भी शरीरी और असर्वज्ञ ही सिद्ध होगा। परन्तु आपके माने हुए अशरीरी--सर्वज्ञ कर्ता सिद्ध नहीं होंगे। इसलिए पृथ्वी इत्यादि के कर्ता के रुप में सर्वज्ञ और अशरीरी कर्ता की सिद्धि कार्यत्व हेतु से होने के बजाय शरीरि और असर्वज्ञ कर्ता की सिद्धि होने से कार्यत्व हेतु विरुद्ध बन जाता है।

ईश्वरवादि (पूर्वपक्ष) : दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का साम्य ढुंढने में तो सर्वत्र हेतुओ की असंगति हो जायेगी। अर्थात किसी भी स्थान पे दृष्टान्त दिया गया हो, वह दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक के साथ पूर्ण रुप से समानता रखता हो, वैसा देखने को नहि मिलता है। परंतु कुछ अंशो की समानता को आगे करके (दार्ष्टान्तिक को समजाने के लिए) दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे कि, चन्द्रमा के समान मुख है। यहाँ चन्द्रमा का आकाश में रहना, रात्रि में प्रकाशित होना इत्यादि धर्म मुख में न होने पर भी चन्द्र में रहे हुए आह्लादकत्व को आगे करके मुख के साथ समानता बताई जाती है। दृष्टान्त तो कोई मुख्यधर्म की मुख्यता से दिया जाता है। पर्वत में अग्नि को सिद्ध करने के लिए दिया गया हुआ महानसीय अग्नि दृष्टान्त में पर्वतीय अग्नि के सभी धर्म कहां देखने को मिलते है ? सारांश में दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक की पूर्ण रुप से समानता का आग्रह रखोंगे तो सभी अनुमानो के उच्छेद की आपत्ति आयेगी।

जैन (उत्तरपक्ष) : पर्वत में अग्नि का अनुमान करने के समय पर्वतीय अग्नि और महानसीयअग्नि ये दोनो विशेष अग्निओ में रहनेवाला अग्नित्व सामान्यधर्म है। इसलिए वह अनुमान करना युक्त है। परन्तु घटादि के शरीरि और असर्वज्ञ कर्ता तथा पृथ्वी इत्यादि के अशरीरि और सर्वज्ञ कर्ता में कोई सामान्य कर्तृत्व धर्म नहीं है, कि जिससे सामान्यकर्ता की सिद्धि हो सके।

आप ऐसा कहोंगे कि "सामान्यकर्तृत्व की प्रसिद्ध ही है। इसलिए घटादि के उदाहरण से पृथ्वी इत्यादि के कर्ता के रुप में अशरीरि और सर्वज्ञ कर्ता की सिद्धि में कोई बाध नहीं है।"

तो आपकी यह बात युक्त नहीं है, क्योंकि आज तक--किसीने भी अशरीरि तथा सर्वज्ञ कर्ताविशेष का अनुभव ही किया नहीं है। पर्वतीयअग्नि और महानसीयअग्नि दोनो दृश्य है। इसलिए उसमें रहनेवाला अग्नित्व नाम का सामान्यधर्म प्रसिद्ध हो सकता है। परन्तु कुम्हार आदि शरीरिकर्ता दृश्य होने पर भी ईश्वर नाम का अशरीरि और सर्वज्ञ कर्ता आज तक स्वप्न में भी अनुभव में नहीं आया है कि जिससे दोनो में रहा हुआ कर्तृत्व नामका सामान्य धर्म प्रसिद्ध हो सके। जैसे कि गधे के सिंग अप्रसिद्ध है, । इसलिए उसमें रहनेवाले खरविषाणत्वरुप सामान्य धर्म की कल्पना नहीं की, जा सकती। इस तरह से अशरीरि और सर्वज्ञ कर्ता भी अप्रसिद्ध ही होने से उसमें रहनेवाला सामान्यकर्तृत्वधर्म की कल्पना करना नितान्त असंभवित है।

इसलिए जैसे प्रकार के कारण से जिस प्रकार का कार्य उपलब्ध हो, वैसे प्रकार का ही अनुमान करना चाहिए।(नहीं कि कर्ता शरीरी दिखता होने पर भी अशरीरी और सर्वज्ञ कर्ता का अनुमान किया जाये।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैसे कि, जिस प्रकार के धर्मवाली अग्नि से जिस प्रकार के धूम की उत्पत्ति प्रमाणो के द्वारा प्रसिद्ध हो, स्वीकार की गई हुई हो, वैसे प्रकार के धूम से ही वैसे प्रकार के ही अग्नि का अनुमान करना उचित है। परन्तु उससे विपरीत नहीं।

इसलिए दृष्टान्तानुसार शरीरी और असर्वज्ञ कर्ता की सिद्धि होने के कारण कार्यत्व हेतु विरुद्ध है। इससे साध्य और साधन में विशेषरुप से व्याप्तिग्रहण किया जाये तो सभी अनुमान के उच्छेद की आपत्ति आयेगी। ऐसी आपकी (पूर्वकी) बातका भी निराकरण होता है। **हमने सामान्य नियम बताया कि** - जिस कारण से जिस प्रकार का कार्य दिखाई दे, उससे वैसे प्रकार के पदार्थ का अनुमान होता है। उसमें कोई दूषण नहीं है।

वैसे ही बीज बोये बिना भी ऊगकर निकलता हुआ तृण, जंगली वृक्ष, पहाडो के शिखर इत्यादि अवयववाले होने के कारण कार्य अवश्य है। परन्तु उसका कोई बुद्धिमान कर्ता नहीं है। इसलिए कार्यत्व हेतु व्यभिचारि-अनैकान्तिक भी है।

द्विविधानि कार्याण्युपलभ्यन्ते, कानिचिद्बुद्धिमत्पूर्वकाणि यथा घटादीनि, कानिचित्तु तद्विपरीतानि यथाऽकृष्टप्रभवतृणादीनि । तेषां पक्षीकरणादव्यभिचारे, स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवदित्यादेरपि गमकत्वप्रसङ्गान्न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी स्यात्, व्यभिचारविषयस्य सर्वत्रापि पक्षीकर्तुं शक्यत्वात् । ईश्वरबुद्ध्यादिभिश्च व्यभिचारः, तेषां कार्यत्वे सत्यपि समवायिकारणादीश्वराद्विभिन्नबुद्धिमत्पूर्वकत्वाभावात् । तदभ्युपगमे चानवस्था । तथा कालात्ययापदिष्टश्चायं, अकृष्टप्रभ-वाङ्कुरादौ कर्त्रभावस्याध्यक्षेणाध्यवसायात्, अग्नेरनुष्णत्वे साध्ये द्रव्यत्ववत् । ननु तत्राप्यदृश्य ईश्वर एव कर्तेति चेत्, तन्न । यतस्तत्र तत्सद्भावोऽस्मादेवान्यतो वा प्रमाणात्सिध्येत् । प्रथमपक्षे चक्रकम् । अतो हि तत्सद्भावे सिद्धेऽस्यादृश्यत्वेनानु-पलम्भसिद्धिः, तत्सिद्धौ च कालात्ययापदिष्टत्वाभावः, ततश्चास्मात्तत्सद्भावसिद्धिरिति । द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः, तत्सद्भावावेदकस्य प्रमाणान्तरस्यैवाभावात् । [E-20]अस्तु वा तत्र तत्सद्भावः, तथाप्यस्यादृष्टत्वे शरीराभावः कारणं, विद्यादिप्रभावः, जातिविशेषो वा ? । प्रथमपक्षे कर्तृत्वानुपपत्तिः अशरीरत्वात्[E-21], मुक्तात्मवत् । ननु शरीराभावेऽपि ज्ञानेच्छाप्रयत्नाश्रयत्वेन शरीरकरणे कर्तृत्वमुपपद्यत इत्यप्यसमीक्षिताभिधानं, शरीरसंबन्धेनैव तत्प्रेरणोपपत्तेः, शरीराभावे मुक्तात्मवत्तदसंभवात् । शरीराभावे च ज्ञानाद्याश्रयत्वमप्यसंभाव्यं, तदुत्पत्तावस्य निमित्तकारणत्वात्, अन्यथा मुक्तात्मनोऽपि तदुत्पत्तिप्रसक्तेः । विद्यादिप्रभावस्य चादृश्यत्वहेतुत्वे कदाचिदसौ दृश्यते । न खलु विद्याभृतां शाश्वतिकमदृश्यत्वं दृश्यते, पिशाचादिवत् । जातिविशेषोऽपि नादृश्यत्वे

(E-20-21) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विद्याभृतां शाश्वतिकमदृश्यत्वं दृश्यते, पिशाचादिवत् । जातिविशेषोऽपि नादृश्यत्वे हेतुरेकस्य जातिविशेषाभावादनेकव्यक्तिनिष्ठत्वात्तस्य । [E-22]अस्तु वा दृश्योऽदृश्यो वासौ, तथापि किं सत्तामात्रेण १, ज्ञानवत्त्वेन २, ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्वेन ३, तत्पूर्वकव्यापारेण ४ ऐश्वर्येण ५, वा क्षित्यादेः कारणं स्यात् । तत्राद्यपक्षे कुलालादीनामपि जगत्कर्तृत्वमनुषज्यते, सत्त्वाविशेषात् । द्वितीये तु योगिनामपि कर्तृत्वापत्तिः । तृतीयोऽप्यसाम्प्रतः, अशरीरस्य पूर्वमेव ज्ञानाद्याश्रयत्वप्रतिषेधात् । चतुर्थोऽप्यसंभाव्यः, अशरीरस्य कायवाक्कृतव्यापारवत्त्वासंभवात् । ऐश्वर्यमपि[E-23] ज्ञातृत्वं कर्तृत्वमन्यद्वा । ज्ञातृत्वं चेत्, तत्किं ज्ञातृत्वमात्रं सर्वज्ञातृत्वं वा । आद्यपक्षे ज्ञातैवासौ स्यान्नेश्वरः, अस्मदाद्यन्यज्ञातृत्ववत् । द्वितीयेऽप्यस्य सर्वज्ञत्वमेव स्यान्नैश्वर्यं सुगतादिवत् । अथ कर्तृत्वं, तर्हि कुम्भकारादिनामप्यनेककार्यकारिणामैश्वर्यप्रसक्तिः । नाप्यन्यत्, इच्छाप्रयत्नव्यतिरेकेणान्यस्यैश्वर्यनिबन्धनस्येश्वरेऽभावात् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

जगत में दो प्रकार के कार्य उपलब्ध होते है। कुछ घटादिक कार्य बुद्धिमान् कर्ता द्वारा बने हुए दिखाई देते है और कुछ कार्य बुद्धिमान् कर्ता के बिना अपनेआप तैयार हुए है। जैसेकि, तृण, जंगली वृक्ष इत्यादि।

"उन जंगली वृक्षो को पक्ष बना देने से व्यभिचार नहि आयेगा। अर्थात् उन जंगली वृक्षो को भी ईश्वरकृत कह देने से व्यभिचार नहि आयेगा" - ऐसा आप कहोंगे तो वह उचित नहीं है। क्योंकि उससे तो व्यभिचार का विषय बनने से सभी को पक्ष में समाविष्ट करना संभव होने से व्यभिचार जैसा कोई दोष ही नहि रहेगा। अर्थात् जिस वस्तु से हेतु में व्यभिचार बताया होगा। उस वस्तु का पक्ष में समावेश हो जाने से कोई हेतु व्यभिचारि बनेगा ही नहीं। तथा "गर्भ में" रहनेवाला मैत्र का पुत्र श्याम है। क्योंकि वह मैत्र का पुत्र है। जैसेकि मैत्र के विद्यमान चार पुत्रो की तरह। यह अनुमान भी गमक बन जायेगा। क्योंकि सर्वत्र व्यभिचार के विषय को पक्ष में समावेश करके हेतु को अव्यभिचारि बनाया जा सकता है। इसलिए जिस पदार्थ से व्यभिचार बताया जाये उसका समावेश पक्ष में कर देना लेशमात्र उचित नहीं है।

ईश्वर की बुद्धि तथा उसके प्रयत्न आदि गुणो से भी कार्यत्व हेतु व्यभिचारी है। वे सभी बुद्धि आदि गुण आत्मा के विशेष गुण होने से अनित्य = कार्य तो है। परंतु उसकी उत्पत्ति में स्वयं ईश्वररुप समवायिकारण (उपादान कारण) से भिन्न दूसरा कोई बुद्धिमान् ईश्वर निमित्तकारण नहीं होता। यदि उस ईश्वर की बुद्धि आदि की उत्पत्ति में दूसरा ईश्वर कारण हो और उसकी बुद्धि उत्पन्न करने में तीसरा ईश्वर कारण बनता हो, तो अनवस्थादूषण आता है।

(E-22-23) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए वह ईश्वर तो अपनी बुद्धि आदि की उत्पत्ति में समवायिकारण बनता है, निमित्तकारण नहीं। प्रकृत में बुद्धिमन्निमित्तत्वरुप कर्तृत्व ही विविक्षित है। इसलिए ईश्वर की बुद्धि आदि से कार्यत्व हेतु व्यभिचारी बनता है।

तथा कार्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट = बाधित भी बनता है। प्रमाणान्तर से हेतु के साध्य का अभाव सिद्ध हो उसे कालात्ययापदिष्ट = बाधित कहा जाता है। यहां अपने आप उगते निकलते तृण आदि में प्रत्यक्ष से कोई बुद्धिमान् कर्ता देखने को नहि मिलता है। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण से कार्यत्व हेतु के साध्य बुद्धिमत्कर्तृत्व का अभाव सिद्ध होने से कार्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट बनता है। जैसे कि, अग्नि को अनुष्ण सिद्ध करने दिया गया हुआ द्रव्यत्वहेतु। यहां प्रत्यक्ष से अग्नि उष्ण है अर्थात् अनुष्ण नहीं है, ऐसा महसूस किया जाता है। इसलिए द्रव्यत्वहेतु कालात्ययापदिष्ट बनता है।

ईश्वरवादि (पूर्वपक्ष) : बोये बिना उगे हुए तृणादि का कर्ता भी अदृश्य ईश्वर ही है।

जैन (उत्तरपक्ष) : आपकी बात उचित नहीं है। क्योंकि तृणादि में अदृश्य ईश्वर कर्ता का सद्भाव, इसी अनुमान से है या अन्य प्रमाण से है ? (आपको यह जवाब देना चाहिए।)

यदि आप "तृणादि, जंगली वृक्षो में अदृश्य कर्ता कार्यत्व हेतुवाले अनुमान से सिद्ध होता है।" ऐसा कहोंगे तो चक्रकदोष आयेगा।

जहां तीन या तीन से अधिक पदार्थो की सिद्धि एक-दूसरे के अधीन हो वहां चक्रकदोष लगता है। कहने का मतलब यह है कि जब कार्यत्व हेतु से कर्ता का सद्भाव सिद्ध हो, तब उगाये बिना उगते जंगली वृक्ष आदि में अदृश्य होने से कर्ता की अनुपलब्धि मान लिया जाए तथा जब वह निश्चय हो कि, "जंगली वृक्ष आदि में कर्ता की अनुपलब्धि अदृश्य होने के कारण है। कर्ता का अभाव होने से नहि।" तब कार्यत्व हेतु में अबाधितविषयता आये, तथा जब कार्यत्व हेतु अबाधित होने से कालात्ययापदिष्ट दोष से शून्य हो जाये, तब वह जंगली वृक्षो में कर्ता का सद्भाव सिद्ध कर सकेगा। इस तरह से परस्पर अनेक पदार्थो के अधीन कर्ता के सद्भाव की सिद्धि होने से चक्रकदोष लगता है।

द्वितीयपक्ष अयोग्य है। क्योंकि जंगली वृक्षो आदि में कर्ता का सद्भाव सिद्ध करनेवाला दूसरा कोई प्रमाण देखने को नहीं मिलता है।

अथवा किसी भी तरह से मान ले कि "उस जंगली वृक्षादि में कर्ता का सद्भाव है" तो हमारा प्रश्न है कि वह कर्ता अदृश्य है,। उसमें (१) शरीराभाव कारण है ? (२) विद्यादि का प्रभाव कारण है ? या (३) अदृश्य जातिविशेष कारण है ?

प्रथम पक्ष में कर्तृत्व की अनुपपत्ति है। क्योंकि शरीर के बिना कर्तृत्व की संगति नहीं होती है। जैसे मुक्तात्मा को शरीर न होने के कारण उसमें कर्तृत्व नहीं होता, वैसे शरीर के अभाव में कर्तृत्व नहीं होता है।

ईश्वरवादि (पूर्वपक्ष) : शरीर का अभाव होने पर भी ज्ञान, इच्छा और कृति के आश्रय ऐसे (शरीर)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करण में कर्तृत्व होता है। कहने का मतलब यह है कि, कर्तृत्व में शरीर का कोई उपयोग नहीं है। कर्ता बनने में केवल ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ही उपयोगी है। जैसे, मनुष्य मर के नये शरीर को धारण करने की तैयारी करता है, तब उस वक्त स्थूलशरीर न होने पर भी नये शरीर को ग्रहण करता है। नये शरीर में उपयोगी परमाणु आदि की प्रेरणा भी करता है।) इसलिए कर्तृत्व के लिए शरीर की आवश्यकता नहीं है।

जैन (उत्तरपक्ष) : आपका यह असमीक्षित (यथायोग्य विचारणारहित) कथन है। क्योंकि शरीर के बिना परमाणु की प्रेरणा होती नहीं है। कहने का मतलब यह है कि मृत्यु के बाद नये शरीर की रचना में स्थूल शरीर का अभाव होने पर भी सूक्ष्मशरीर तो होता है। वही नये शरीर को उपयोगी परमाणुओको प्रेरणा करता है।

यदि मरण के बाद उत्पन्न होते नये शरीर में सूक्ष्म शरीर के प्रयत्न का अभाव मानोंगे तो मुक्तात्माओ की तरह नये शरीर की रचना असंभवित बन जायेगी।

तथा शरीर के अभाव में ज्ञानादि का आश्रयत्व भी संभवित नहीं है। अर्थात् ईश्वर को शरीर रहित मानोंगे तो ईश्वर में ज्ञानादि नहीं रह सकेंगे। क्योंकि ज्ञानादि की उत्पत्ति में शरीर निमित्तकारण है। अन्यथा (अर्थात् ज्ञानादि की उत्पत्ति में शरीर निमित्तकारण नहीं है, ऐसा मानोंगे तो) मुक्तात्मामें भी ज्ञानादि की उत्पत्ति माननी पडेगी कि जो आपको इष्ट नहीं है। क्योंकि आप मुक्तात्मा में ज्ञानादि की अत्यंतनिवृत्ति मानते हो।

इसलिए "जंगलीवृक्षादि के कर्ता शरीर के अभाव के कारण अदृश्य है।" "यह पक्ष अयोग्य सिद्ध होता है। वैसे ही विद्या के प्रभाव से जंगलीवृक्षादि का कर्ता अदृश्य है।" यह बात भी उचित नहीं है। क्योंकि विद्या के प्रभाव से कर्ता अदृश्य हो तो कोई बार तो वह दृश्य बनेगा ही। क्योंकि विद्याधारि व्यक्ति भी शाश्वतकाल के लिए अदृश्य होते नहीं है। जैसे कि, पिशाचादि विद्या से अदृश्य होने पर भी कोई बार तो दिखते ही है। परन्तु जंगली वृक्षादि के कर्ता तो आज तक नहीं दिखे है। इसलिए विद्या के प्रभाव से अदृश्य है, वह बात भी उचित नहीं है।

तथा जंगलीवृक्षादि का कर्ता अदृश्य होने में अदृश्य जातिविशेष भी कारण नहीं है। क्योंकि जाति एक व्यक्ति में रहती नहीं है। जो अनेक व्यक्तियों में रहे उसको जाति कहा जाता है।

अथवा ईश्वर दृश्य हो या अदृश्य हो, तो भी वह ईश्वर (१) सत्तामात्र से पृथ्वी आदि का कारण बनते है ? या (२) ईश्वर ज्ञानवाले होने से पृथ्वी आदि का कारण बनते है ? या (३) ईश्वर ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नवाले होने से पृथ्वी आदि का कारण बनते है ? या (४) ज्ञानादिपूर्वक व्यापार होने से पृथ्वी आदि के कारण बनते है ? या (५) ऐश्वर्यवाले होने से पृथ्वी आदि के कारण बनते है ?

यदि आप कहोंगे कि **"ईश्वर की उपस्थिति मात्र से=सत्ता मात्र से पृथ्वी आदि कार्य होते है।"** तो कुंभकारादि में भी जगत्कर्तृत्व की आपत्ति आयेगी। क्योंकि ईश्वर और कुम्हारादि सर्वत्र विद्यमान ही होते है। (नैयायिको के मतानुसार आत्मा विभु है।) अर्थात् दोनो के सत्त्व में कोई भेद न होने से ईश्वर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैसे जगत्कर्ता कहा जाता है, वैसे कुम्भकारादि भी सृष्टिकर्ता कहा जायेगा। (कि, जो किसीको इष्ट नहीं है।)

"**समस्तजगत का परिज्ञान होने से ईश्वर पृथ्वी आदि के कर्ता है।**" वैसा दूसरा पक्ष कहोंगे तो सर्वज्ञ योगियों को भी समस्तजगत का परिज्ञान होता है। इसलिए योगीयों में भी जगत्कर्तृत्व की आपत्ति आयेगी। (कि, जो आपको इष्ट नहीं है।)

"**ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नवाले होने से ईश्वर जगत्कर्ता है।**" वैसा तीसरा पक्ष कहोंगे तो भी असाम्प्रत है। क्योंकि ज्ञानादि शरीर के आश्रय रहते है। अशरीरी में ज्ञानादि नहीं रह सकते है। इसलिए आपके ईश्वर अशरीरी होने के कारण उसमें ज्ञानादि रहते नहीं है। "**ज्ञानादिपूर्वक के व्यापारवाले ईश्वर जगत्कर्ता है।**" ऐसा चौथा विकल्प भी असंभवित है। क्योंकि अशरीरि में काया और वचन का व्यापार का संभव नहीं है।

(ईश्वर को ऐश्वर्य के कारण सृष्टि कर्ता कहना, वह भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि आज तक ऐश्वर्य का स्वरुप ही अनिश्चित है। जिससे वह किस तरह से जगत्कर्ता बन सकेगा ?) (१) क्या वह ऐश्वर्य ज्ञातृत्व के कारण है। अर्थात् जगत को जानते है इसलिए ऐश्वर्य है ? या (२) क्या कर्तृत्व के कारण ऐश्वर्य है ? अथवा (३) क्या अन्य कोई कारण से ऐश्वर्य है ?।

यहां ईश्वर में जो ज्ञातृत्व है, वह क्या (१) ज्ञातृत्वमात्र है ? या (२) सर्वज्ञातृत्व मात्र है ?। ईश्वर में ज्ञातृत्व मात्र है, ऐसा कहोंगे तो हम भी जैसे कोई-न-कोई वस्तु के ज्ञाता है, वैसे ईश्वर भी केवल ज्ञाता ही बनेगा, ईश्वर नहि बन सकेगा। ईश्वर में सर्वज्ञातृत्व है, ऐसा कहोंगे तो समस्तजगत के पदार्थो को जाननेवाले बुद्ध आदि की तरह सर्वज्ञ ही ईश्वर बन सकेंगे (आपके माने हुए एक ही) ईश्वर नहि बन सकेंगे।

"**जगत की रचना करते है अर्थात् कर्तृत्वरुप ऐश्वर्य के कारण वह ईश्वर है।**" ऐसा कहोंगे तो कुम्भकारआदि भी कोई-न-कोई अनेक पदार्थो की रचना करता ही है। इसलिए कुम्भकारादि में कर्तृत्वरुप ऐश्वर्य मानना पडेगा और इसलिए वे ईश्वर बन जायेंगे।

इच्छा और प्रयत्न के सिवा ईश्वर में ऐश्वर्य बतानेवाला दूसरा कोई नहीं है, कि जिससे अन्य से ईश्वर के ऐश्वर्य की सिद्धि हो।

E-24**किंच ईश्वरस्य जगन्निर्माणे यथारुचिप्रवृत्तिः १, कर्मपारतन्त्र्येण २, करुणया ३, क्रीडया ४, निग्रहानुग्रहविधानार्थं ५, स्वभावतो ६ वा । अत्राद्यविकल्पे कदाचिदन्यादृश्येव सृष्टिः स्यात् । द्वितीये स्वातन्त्र्यहानिः । तृतीये सर्वमपि जगत्सुखितमेव करोति, अथेश्वरः किं करोति पूर्वार्जितैरेव कर्मभिर्वशीकृता दुःखमनुभवन्ति तदा तस्य कः पुरुषकारः,**

(E-24) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अदृष्टापेक्षस्य च कर्तृत्वे किं तत्कल्पनया, जगत एव तदधीनतास्तु, किमनेनांतर्गडुनात्र । चतुर्थपञ्चमयोस्तु रागद्वेषताभावः प्रसज्यते । तथाहि-"रागवानीश्वरः [E-25]क्रीडाकारित्वाष्टालवत्, तथा अनुग्रहप्रदत्वाद्राजवत्, तथा द्वेषवानसौ निग्रहप्रदत्वात्तद्वदेव" इति । अथ स्वभावतः, तर्ह्यचेतनस्यापि जगत एव स्वभावतः प्रवृत्तिरस्तु किं तत्कर्तृकल्पनयेति । न कार्यत्वहेतुर्बुद्धिमन्तं कर्तारमीश्वरं साधयति । एवं सन्निवेशविशिष्टत्वादचेतनोपादानत्वादभूतभावित्वादित्यादयोऽपि स्वयमुत्थाप्याः, तुल्याक्षेपसमाधानत्वात् । किंच क्षित्यादेर्बुद्धिमत्पूर्वकत्वे साध्ये प्रदीयमानाः सर्वेऽपि हि हेतवो विरुद्धा दृष्टान्तानुग्रहेण सशरीरासर्वज्ञासर्वगतकर्तृपूर्वकत्वसाधनात् । न च धूमात्पावकानुमानेऽप्ययं दोषः, तत्र तार्णपार्णादिविशेषाधारवह्निमात्रव्याप्तस्य धूमस्य दर्शनात् । नैवमत्र सर्वज्ञासर्वज्ञकर्तृविशेषाधिकरणतत्सामान्येन कार्यत्वस्यास्ति व्याप्तिः, सर्वज्ञस्य कर्तुरतोऽनुमानात्प्रागसिद्धेः ।

व्याख्या का भावानुवाद :

वैसे ही ईश्वर की जगतनिर्माण में प्रवृत्ति है। वह क्या (१) यथारुचि है या (२) कर्म की परतंत्रा से है ? या (३) करुणा से है ? या (४) क्रीडा से है ? या (५) निग्रह अनुग्रह करने के लिए है या (६) स्वभाव से ही प्रवृत्ति है ?

"ईश्वर की जगतनिर्माण में प्रवृत्ति यथारुचि है।" वैसा कहोंगे, तो जैसा जगत है उससे कभी विलक्षण जगत भी बन जाने की आपत्ति आयेगी।

"जीवो के पुण्य-पाप कर्मो को अधीन होकर ईश्वर जगत का निर्माण करते है।" ऐसा कहोंगे तो ईश्वर की स्वतंत्रता नष्ट हो जायेगी।

"करुणा से ईश्वर जगत का निर्माण करते है।" वैसा कहोंगे तो ईश्वर सारे जगत को सुखी ही करेगा। यदि ऐसा कहोंगे कि **"जीव पूर्व में इकट्ठे किये हुए कर्मो के कारण दुःख का अनुभव करता है, उसमें ईश्वर क्या करेगा ? ईश्वर तो करुणा से भरे हुए ही है।"** तो ईश्वर का जगत को सुखी करने का पुरुषार्थ क्या रहा ? ईश्वर से बलवान तो कर्म सिद्ध हो गया।

आप ऐसा कहोंगे कि **"ईश्वर जगत निर्माण में पुण्य-पापरुप अदृष्ट की अपेक्षा रखता है।"** तो फिर ईश्वर की कल्पना की क्या आवश्यकता है। सारा जगत ही अदृष्ट के अधीन मानो न ! उसमें क्या दिक्कत है ? जगत को ईश्वर के परतंत्र मानने की क्या जरुरत है ? ऐसे गले में हुए निरर्थक मांसपिण्ड = अन्तर्गडु की तरह ईश्वर की कल्पना से क्या ? अर्थात् ईश्वर की कल्पना से कोई अर्थ नहीं है।

(E-25) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"ईश्वर क्रीडा से जगत-निर्माण में प्रवृत्त हुए है।" ऐसा कहोंगे तो जगत ईश्वर का क्रीडाक्षेत्र बन जायेगा। ईश्वर भी बालक की तरह राग-द्वेषवाले हो जायेंगे।

"ईश्वर अनुग्रह और निग्रह के लिए जगत का निर्माण करते है।" वैसा कहोंगे तो ईश्वर राजा की तरह राग-द्वेष वाले हो जायेंगे। जैसे राजा शिष्टोको अनुग्रह राग से और दुष्टो के निग्रह के लिए द्वेष से प्रवृत्ति करता है। वैसे ईश्वर भी अनुग्रह-निग्रह के लिए जगतनिर्माण की प्रवत्ति करते हो, तो राजा की तरह रागी-द्वेषी बन जायेंगे, वीतरागी नहीं रहेंगे।

"ईश्वर स्वभाव से ही जगत का निर्माण करता है।" वैसा कहोंगे तो अचेतनपदार्थो का भी वही स्वभाव मान लेना चाहिए कि जैसे कारणो का संयोग होता है वैसे स्वरुप में अपनी प्रवृत्ति स्वभाव से ही करता है। उसमें ईश्वर की कर्ता के रुप में कल्पना करना जरुरी नहीं है।

इस प्रकार "कार्यत्व" हेतु बुद्धिमान कर्ता के रुप में ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकता है।

इस तरह से पृथ्वी इत्यादि बुद्धिमान् कर्ता के द्वारा रची गई है। क्योंकि (१) सन्निवेशविशिष्ट है। (अर्थात् बनावटवाले है।) (२) अचेतन परमाणु उपादानकारण है। (३) पहले नहीं थे वह उत्पन्न होते है। इत्यादि हेतुओ का खंडन कार्यत्व हेतु की तरह स्वयं सोच लेना। जिस तरह से कार्यत्व हेतु में शंका-समाधान किये थे, उस तरह से भी स्वयं समज लेना। जिस प्रकार से कार्यत्व हेतु में भागासिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचार, बाध इत्यादि दोष आते है, वे सभी दोष इस हेतुओ में भी सोच लेना। कार्यत्व हेतु में दूसरे बहोत दोष आते होने पर भी विरुद्ध बडा दोष है। क्योंकि पृथ्वी आदि में बुद्धिमत्कर्तृत्व की सिद्धि करने के लिए जो घट का उदाहरण दिया है, उससे असर्वज्ञ, शरीरि और असर्वगत कर्ताकी सिद्धि होती है। इससे कार्यत्व हेतु से सर्वज्ञ, अशरीरि-सर्वगत कर्ता सिद्ध होने के बजाय, घट दृष्टांत के कारण असर्वज्ञ, शरीरि, असर्वगत कर्ता सिद्ध होने से कार्यत्व हेतु विरुद्ध बन जाता है।

धूम से अग्नि का अनुमान करने में यह दोष नहीं है। क्योंकि पर्वत में रहे हुए तृण और वृक्ष के सूखे पत्ती की विशेष अग्नि में और महानसीय विशेष अग्नि में रहे हुए सामान्य नाम के अग्नित्वधर्म का अनुभव होता है और उससे अग्नि का अनुमान करना सहज बन जाता है। परन्तु यहाँ पृथ्वी आदि का सर्वज्ञ कर्ता और घटआदि का असर्वज्ञ कर्ता, ऐसे दो विशेष कर्ताओ में से प्राप्त होता कर्तृत्व नाम का सामान्य धर्म महसूस नहीं होता है, कि जिससे सामान्यकर्ता का अनुमान किया जा सके। क्योंकि कार्यत्व हेतु के योग से पहले कहीं भी सर्वज्ञकर्ता के दर्शन हुए नहीं है, कि जिससे उसमें रहे हुए सामान्यधर्म का ज्ञान किया जा सके। सर्वज्ञ अशरीरि कर्ता का पहले दर्शन हुआ न होने से उसका अनुमान भी असंभवित है। क्योंकि अनुमान में लिंग का प्रत्यक्ष दर्शन होने के बाद ही लिंगि का अनुमान किया जाता होता है।

व्यभिचारिणश्चामी बुद्धिमन्तमन्तरेणापि विद्युदादीनां प्रादुर्भावविभावनात्, स्वप्नाद्यवस्थाया-मबुद्धिमत्पूर्वस्यापि कार्यस्य दर्शनाच्चेति । कालात्ययापदिष्टाश्चैते, प्रत्यक्षागमबाधितपक्षा-नन्तरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रयुक्तत्वात् । तद्बाधा च पूर्वमेव दर्शिता । प्रकरणसमाश्चामी, प्रकरणचिन्ता-प्रवर्तकानां हेत्वन्तराणां सद्भावात् । तथाहि ईश्वरो जगत्कर्ता न भवति निरुपकरणत्वात्, दण्डचक्रचीवराद्युपकरण-रहितकुलालवत्, तथा व्यापित्वादाकाशवत्, एकत्वात्तद्वदित्यादय इति । नित्यत्वादीनि तु विशेषणानि तद्व्यवस्थापनायानीयमानानि शण्ढं प्रति कामिन्या-रूपसंपन्निरूपणप्रायाण्यपकर्णनीयान्येव । विचारासहत्वख्यापनार्थं तु किंचिदुच्यते । तत्रादौ नित्यत्वं विचार्यते तच्चेश्वरे न घटते । तथाहिनेश्वरो नित्यः, स्वभावभेदेनैव क्षित्यादिकार्यकर्तृत्वात्, अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं कूटस्थं नित्यमिति हि नित्यत्वलक्षणाभ्युपगमात् । स्वभावभेदानभ्युपगमे च सृष्टिसंहारादिविरुद्धकार्यका-रित्वमतिदुर्घटम् । नापि तज्ज्ञानादीनां नित्यत्वं वाच्यं प्रतीतिविरोधात्, ईश्वरज्ञानादयो न [E-26]नित्या ज्ञानादित्वाद-स्मदादिज्ञानादिवदित्यनुमानविरोधाच्च । एतेन तदीयज्ञानादयो नित्या इत्यादि यदवादि तदपोहितमूहनीयम् । सर्वज्ञत्वमप्यस्य केन प्रमाणेन ग्राह्यम् ? न तावत्प्रत्यक्षेण, तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वेनातीन्द्रियार्थग्रहणासमर्थत्वात् । नाप्यनुमानेन, अव्यभिचारिलिङ्गाभावात् । ननु जगद्वैचित्र्यान्यथानुपपत्तिरूपं तदस्त्येवेति चेत् न, तेन सहाविनाभावाभावात्, जगद्वैचित्र्यस्य सार्वज्ञ्यं विनापि शुभाशुभकर्मपरिपाकादिवशेनो-पपद्यमानत्वात् । किंचायं यदि सर्वज्ञः, तदा जगदुपप्लवकरणस्वैरिणः पश्चादपि कर्तव्यनिग्रहानसुरादींस्तदधिक्षेपकृतोऽस्मदादींश्च किमर्थं सृजतीति नायं सर्वज्ञः । तथा बहूनामेककार्यकरणे वैमत्यसंभावनाभयेन महेशितुरेकत्वकल्पना भोजनादिव्ययभयात् कृपणस्यात्यन्तवल्लभपुत्रकलत्रमित्रादिपरित्यजनेन शून्यारण्यानीसेवनतुलामाकलयति । अनेककीटिकासरघाशतसंपाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्धमधुच्छात्रादिकार्याणामेकरूपतयाविगानेनो-पलम्भात् । किंच ईश्वरस्याखिलजगत्कर्तृत्वेऽभ्युपगम्यमाने [E-27]शास्त्राणां प्रमाणेतरताव्यव-स्थाविलोपः स्यात् । तथाहिसर्वं शास्त्रं प्रमाणमीश्वरप्रणीत्वादितरतत्प्रणीतशास्त्रवत्-प्रतिवाद्यादिव्यवस्थाविलोपश्च[E-28], सर्वेषामीश्वरादेशविधायित्वेन तत्प्रतिलोमाचरणानु-पपत्तेः प्रतिवाद्यभावप्रसङ्गात् । इति न सृष्टिकरस्य महेश्वरस्य कथंचिदपि सिद्धिः । ततः सद्भूतार्थप्रकाशकत्वाद्वीतराग एव सर्वज्ञो देवो देवत्वेनाभ्युपगमनार्हो नापरः कश्चिदिति स्थितम् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

तथा कार्यत्व-सन्निवेशविशिष्टत्व आदि हेतु भी व्यभिचारी है । क्योंकि बुद्धिमान कर्ता के बिना भी

(E-26-27-28) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बिजली इत्यादि का प्रादुर्भाव होता देखने को मिलता है। यहां बिलजी, मेघ इत्यादि कार्य स्वरुप है। क्योंकि बिजली चमकती है, मेघ गर्जना करता है। यहां बिजली मेघ आदि कार्य है। कुछ खास सन्निवेश= बनावटवाले भी है, पहले चमकती नहीं थी वह चमकने लगी और पहले गर्जना करता नहीं था वह गर्जना करने लगे। इस तरह से बिजली, मेघ इत्यादि में हेतु रहने पर भी उसका बुद्धिमान् कर्ता नहीं है। इसलिए कार्यत्व हेतु व्यभिचारी बनता है। तथा स्वप्नादि अवस्था में जो कार्य दिखते है, उसके कर्ता भी बुद्धिमान होते नहीं है। इसलिए कार्यत्व हेतु व्यभिचारी बनता है।

तथा ये कार्यत्वादि हेतु **कालात्ययापदिष्ट** भी है। क्योंकि प्रत्यक्ष और आगम से बाधित है। उसकी चर्चा पहले निकट में प्रयोजित हुए ही है। अर्थात् सभी कार्यत्वादि हेतु बाधित है, वह पहले बताया ही है।

वैसे ही सब कार्यत्वादि हेतु **प्रकरणसम है।** क्योंकि यहां प्रकरण की विचारणा के अप्रवर्तक दूसरे हेतुओ का सद्भाव है। अर्थात् जगत् को अकर्तृक सिद्ध करनेवाले दूसरे अनेक विपरीत अनुमान विद्यमान होने से आपका हेतु प्रकरणसम भी है। (उसको सत्प्रतिपक्ष भी कहा जाता है।)

अकर्तृत्वसाधक अनुमान इस तरह है- **ईश्वर जगत्कर्ता नहीं है, क्योंकि उनके पास जगतनिर्माण के उपकरण = कारण सामग्री नहीं है।** जैसे दंड, चक्र, चीवरादि सामग्रीरहित कुम्हार घट का अकर्ता कहा जाता है। वैसे ईश्वर भी जगत्कर्ता नहीं है। उसी तरह से **ईश्वर जगत्कर्ता नहीं है। क्योंकि व्यापी होने से क्रियाशून्य है।** जैसे कि, आकाश व्यापक होने से क्रियाशून्य है। इसलिए वह निष्क्रिय ऐसे ईश्वर जगत का निर्माण किस तरह से कर सकेंगे ?

इसी तरह से **ईश्वर जगत्कर्ता नहीं है, क्योंकि एक है।** जैसे आकाश एक स्वभाववाला होने से किसीका कर्ता बनता नहीं है, वैसे ईश्वर एकस्वभाववाले होने से विचित्र जगत के कर्ता किस तरह से बन सकेंगे ?

ईश्वर की सिद्धि करने के लिए नित्यत्व, सर्वज्ञत्व आदि विशेषणो को उपस्थित करना निरर्थक और हास्यास्पद है, क्योंकि जैसे नपुंसक को खुश करने के लिए कामिनी के रुप का वर्णन करना वह निरर्थक और हास्यास्पद है। वैसे मूलतः ईश्वर की सिद्धि नहीं हुई, वहां नित्यत्व, सर्वज्ञत्व विशेषणो की विचारणा करना निरर्थक - हास्यास्पद है।

फिर भी ईश्वर का नित्यत्व, सर्वज्ञत्व आदि विशेषण ईश्वरसिद्धि के विचारमार्ग में सह्य बनते नहीं है, वह बताने के लिए कुछ कहा जाता है। अर्थात् उस विशेषणो की निरर्थकता बताते है।

प्रथम नित्यत्व का विचार किया जाता है। ईश्वर में नित्यत्व होता नहीं है। ईश्वर नित्य नहीं है। क्योंकि पृथ्वी आदि कार्यो को स्वभाव भेद से बनाते है। यदि ईश्वर का स्वभावभेद माना न जाये तो विचित्रकार्य उत्पन्न नहीं हो सकेंगे। **जो वस्तु हंमेशा एकस्वरुप में रहती है, कभी भी उसका नाश नहीं होता और कभी भी वह उत्पन्न नहीं होती, उस वस्तु को नित्य कहा जाता है।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदि ईश्वर में स्वभावभेद माना न जाये तो सृष्टि और संहारादि कार्य दुर्घट बन जायेंगे। क्योंकि जगत का सर्जन करने का स्वभाव हंमेशा एक स्वरुप में मानोंगे तो जगत का संहार नहीं कर सकेगा तथा जगत के संहार करने का स्वभाव नित्य मानोंगे तो जगत का सर्जन नहीं कर सकेगा।

वैसे ही ईश्वर के ज्ञानादि भी नित्य नहीं है। क्योंकि विरुद्ध प्रतीति होती है। ईश्वर के ज्ञानादि नित्य नहीं है, क्योंकि ज्ञानादि है। जैसे हमारे ज्ञानादि नित्य नहीं है। वैसे ईश्वर के ज्ञानादि भी नित्य नहीं है। इस प्रकार अनुमान से भी ईश्वर के ज्ञानादि को नित्य मानने में विरोध है। इसलिए **"ईश्वर के ज्ञानादि नित्य है।"** इत्यादि जो कहा गया था, वह भी खंडन हुआ जानना। ईश्वर का सर्वज्ञत्व किस प्रमाण से ग्राह्य है? ईश्वर का सर्वज्ञत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्राह्य नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न होता होने से अतीन्द्रिय अर्थ (पदार्थ) को ग्रहण करने में असमर्थ है।

ईश्वर की सर्वज्ञता का नित्यसहचारी कोई न होने से अव्यभिचारी लिंग का भी अभाव है। इसलिए अनुमान से भी ईश्वर में सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं होती है।

ईश्वरवादि (पूर्वपक्ष) : जगत में जो विचित्रता दिखाई देती है, वह दूसरी कोई भी पद्धति से संगत नहीं होती है। इसलिए अन्यथा अनुपपत्ति से इस जगत की रचना करनेवाला सर्वज्ञ हो, वैसा सिद्ध होता है। इस तरह से ईश्वर में सर्वज्ञता है।

जैन (उत्तरपक्ष) : आपने जो जगत की विचित्रता से ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध की वह योग्य नहीं है, क्योंकि जगत की विचित्रता का ईश्वर की सर्वज्ञता के साथ अविनाभाव नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञता के बिना भी शुभ-अशुभकर्म के विपाकादि के वश से जगत की विचित्रता संगत हो जाती है।

वैसे ही ईश्वर यदि सर्वज्ञ है, तो जगत में अत्याचार करनेवाले राक्षसो को क्यों उत्पन्न किये ? वैसे ही जिसका पीछे से नाश करने के लिए ईश्वरको स्वयं अवतार लेना पडे, वैसे असुरो की उत्पत्ति ही क्यों की ? तथा हम लोग (जैन) कि जो ईश्वर का निषेध करते है और ईश्वर की टीका करते है, उनकी (हम जैसे लोगोकी) उत्पत्ति क्यों की है ? इसलिए उस ईश्वर में सर्वज्ञता किस तरह से होगी ?

बहोत (एक से ज्यादा) ईश्वरो को मानने में कार्य करने में विवाद खडा होता है तथा कार्य बिगड जाने का संभव रहता है - ऐसे भय से ईश्वर को एक मानना वह कृपण (कंजूस) की समान है। जैसे खाना-पीना इत्यादि के खर्च के भय से कृपण अत्यंत लाडले बच्चो को तथा स्त्री मित्र का त्याग करके शून्य जंगल में रहने चला जाये, वैसी यह बात है। देखो, अनेक कीडे मिलकर, एक स्थान को बनाकर उसमें विवाद के बिना रहते ही है तथा हजारो मधुमक्खीयां मिलकर एक छत पर मधपूडा बनाकर उसमें वे सभी एकसाथ व्यवस्था करके रह जाती है। तो सर्वज्ञ तथा वीतरागी ईश्वरो में विवाद का क्या कारण है ? वे तो सर्वज्ञ और वीतरागी होने से विवाद की आवश्यकता रहेगी ही नहि।

वैसे ही ईश्वर को समस्तजगत के कर्ता मानने में (स्वीकार करने में) आयेगा तो यह शास्त्र प्रमाणभूत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है और यह शास्त्र अप्रमाणभूत है – ऐसी शास्त्रो के प्रमाण – अप्रमाणकी की हुई व्यवस्था का विलोप हो जायेगा। क्योंकि सभी शास्त्र ईश्वरप्रणीत होने के कारण प्रमाण ही हो जायेंगे। इसलिए वादी और प्रतिवादी की व्यवस्था का विलोप हो जायेगा क्योंकि सभी शास्त्र ईश्वर के उपदेश (आदेश – इशारे) से रचे गये होने के कारण उसमें विरोध का अवकाश नहीं है। इसलिए प्रतिवादी का अभाव हो जाता है और हम भी (जैन) जगत के अंदर समाविष्ट होते है। इसलिए ईश्वर को जगत के नियन्तृ मानोंगे तो हम लोग (जैन) भी जो ईश्वर का खंडन करते है, वह ईश्वर के इशारे से ही करते है। इसलिए हम प्रतिवादी नहीं कहे जायेंगे।

इस प्रकार किसी भी प्रकार से महेश (ईश्वर) सृष्टि के कर्ता सिद्ध नहीं होते है। इसलिए सद्भूत अर्थ के प्रकाशक होने से वीतराग ऐसे सर्वज्ञ देव ही देव के रुप में स्वीकार करने के लिए योग्य है। दूसरा कोई नहि, यह बात निश्चित होती है।

अत्र जल्पन्ति जैमिनीयाः । इह हि सर्वज्ञादिविशेषणविशिष्टो भवदभिमतः क चनापि देवो नास्ति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् । तथाहि- न[E-29] **तावत्प्रत्यक्षं तद्ग्राहकं,** 'संबद्धं वर्त्तमानं हि गृह्यते चक्षुरादिना' **[मी. श्लो. प्रत्यक्ष सू. श्लो. ८४]** इति वचनात् । न चानुमानं, प्रत्यक्षदृष्ट एवार्थे तत्प्रवर्तनात् । न चागमः[E-30], सर्वज्ञस्यासिद्धत्वेन तदागमस्यापि विवादास्पदत्वात् । न चोपमानं[E-31], सर्वज्ञसदृशस्यापरस्याभावात् । न चार्थापत्तिरपि[E-32], सर्वज्ञसाधक-स्यान्यथानुपपन्नार्थस्यादर्शनात् । ततः प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तेरभावप्रमाणगोचर एव सर्वज्ञः । तदुक्तम्-"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते । वस्त्वसत्त्वावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ।।१।।" **[मी० श्लोक० अभाव० श्लो० १]** इति । प्रयोगऽत्र नास्ति सर्वज्ञः, प्रमाणपञ्चकाग्राह्यमाणत्वात्, खरविषाणवत् । किंच, यथाऽनादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिप्रक्रियया विशोध्यमानस्य निर्मलत्वं, एवमात्मनोऽपि निरन्तरं ज्ञानाद्यभ्यासेन विगतमलत्वात्सर्वज्ञत्वं किं न भवेदिति मतिस्तदपि न, अभ्यासेन हि शुद्धेस्तारतम्यमेव भवेन्न परमः प्रकर्षः, न हि नरस्य लङ्घनमभ्यासतस्तारतम्यवदप्युपलभ्यमानं सकललोकविषयमुपलभ्यते । उक्तं च "दशहस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति । न योजनशतं गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ।।१।।" इति । अपि च स सर्वं वस्तुजातं केन प्रमाणेन जानाति । किं प्रत्यक्षेणोत यथासंभवं सर्वैरेव प्रमाणैः । न तावत्प्रत्यक्षेण, तस्य सन्निहितप्रतिनियतार्थग्राहित्वात् । नाप्यतीन्द्रियप्रत्यक्षेण, तत्सद्भावे प्रमाणाभावात् । नापि सर्वैरेव प्रमाणैः, तेषां प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् सर्वेषां सर्वज्ञतापत्तेश्चेति । अन्यच्च । [E-33]अनाद्यनन्तः संसारः । तद्वस्तून्यप्यनन्तानि क्रमेण विदन्, कथमनन्तेनापि कालेन सर्ववेदी भविष्यति । किंच, तस्य यथावस्थितवस्तुवेदित्वेऽशुच्या-दिरसास्वादप्रसङ्गः, तेषां यथावस्थिततया संवेदनात् । आह**

(E-29-30-31-32-33) - सु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

च-"अशुच्यादिरसास्वाद-प्रसङ्गश्चानिवारितः" इति । [E-34]**किंचातीतानागतवस्तूनि स किं स्वेन स्वेन स्वरूपेण जानाति किं वा वर्त्तमानतयैव । प्रथमपक्षे तज्ज्ञानस्याप्रत्यक्षतापत्तिः, अवर्त्तमानवस्तुग्राहित्वात्, स्मरणादिवत् । द्वितीये तु तज्ज्ञानस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः, अन्यथास्थितस्यार्थस्यान्यथाग्रहणात्, द्विचन्द्रज्ञानादिवदिति ।।**

व्याख्या का भावानुवाद :

मीमांसक (पूर्वपक्ष) : सर्वज्ञादि विशेषण से विशिष्ट आपको इच्छित ऐसे कोई भी देव नहीं है, क्योंकि उस देव का ग्राहकप्रमाण कोई नहीं है।

जैसे कि, सर्वज्ञादिविशेषण से विशिष्ट कोई देव प्रत्यक्ष से ग्राह्य नहीं है, क्योंकि वर्तमानकालीन तथा इन्द्रियो के साथ संबद्ध अर्थ का प्रकाशक (ग्राहक) प्रत्यक्ष प्रमाण है । जबकि सर्वज्ञादि विशेषण से विशिष्टदेव वर्तमान में उपस्थित नहीं है तथा उसका इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष भी नहि है। इसलिए उसका ग्राहक प्रत्यक्षप्रमाण नहीं है।

सर्वज्ञादि विशेषण से विशिष्ट देव अनुमान से ग्राह्य नहीं है, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष से देखे हुए अर्थ में ही प्रवर्तित होता है। तादृश देव प्रत्यक्ष से देखे हुए नहीं है, इसलिए वे अनुमान से भी ग्राह्य नहि है।

वे देव आगमप्रमाण से भी ग्राह्य नहिं है। क्योंकि सर्वज्ञ असिद्ध होने के कारण उसका आगम भी विवादास्पद है। वे देव उपमानप्रमाण से भी ग्राह्य नहि है, क्योंकि सर्वज्ञ के समान संसार में दूसरा कोई पदार्थ नहि है, कि जिससे उसको देखकर होनेवाला सादृश्य ज्ञान से (उपमान प्रमाण द्वारा) सर्वज्ञ को ग्रहण किया जा सके।

वे देव अर्थापत्ति से भी ग्राह्य नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ के बिना नहि होनेवाला कोई अविनाभावि अर्थ दिखता नहि है, कि जिससे उस पदार्थ द्वारा अर्थापत्ति से सर्वज्ञ ग्राह्य बन सके। अर्थात् सर्वज्ञ के साथ नियतसाहचर्य रखनेवाला और सर्वज्ञ के बिना नहि रहता हुआ ऐसा कोई पदार्थ नहिं है, कि जिससे (अर्थापत्ति द्वारा) सर्वज्ञ को ग्रहण किया जा सके।

इसलिए सर्वज्ञ को ग्रहण करने में पांचो प्रमाणो की प्रवृत्ति का अभाव होने से सर्वज्ञ अभाव प्रमाण का विषय बनता है। अर्थात् अभाव प्रमाण से सर्वज्ञाभाव सिद्ध होता है। इसलिए कहा है कि... "**जब जो वस्तु की सत्ता सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्षादि प्रमाण असमर्थ बन जाते है तब उस वस्तु का अभाव अभावप्रमाण से सिद्ध होता है।**" यहाँ अनुमानप्रयोग इस अनुसार से है - सर्वज्ञ नहि है, क्योंकि वह प्रत्यक्षादि पांच प्रमाण का विषय बनता नहि है। जैसे कि, गधे के सिंग।

प्रश्न : जैसे अनादिकाल से भी खान में रहा हुआ मलिनसुवर्ण क्षार, मिट्टी के पुटपाक की प्रक्रिया से

(E-34) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धीरे धीरे शुद्ध होते होते निर्मल बन जाता है, वैसे आत्मा के द्वारा भी निरंतर ज्ञानादि का अभ्यास करने से आत्माके उपर लगे हुए, कर्ममल का क्षय होने से आत्मा सर्वज्ञ कैसे बन ना सके ? तो आप जगत में कोई सर्वज्ञ नहि है, ऐसा क्यों कहते है ?

उत्तर : आपकी यह बात उचित नहि है । क्योंकि अभ्यास से शुद्धि की तरतमता ही होगी । परंतु परमप्रकर्ष नहि होगा अर्थात् अभ्यास से आत्मा के उपर से कर्ममल नाश होने से आत्मा शुद्ध बनेगा । (पहले अशुद्ध था, उसमें से थोडा शुद्ध बनता है । अभ्यास बढने से थोडा ज्यादा शुद्ध बनता है । परन्तु) सर्वज्ञता को प्रकट करनेवाली परमशुद्धि का प्रकर्ष नहि होता है ।

कोई आदमी ऊंची कूद लगाने का अभ्यास करे तो वह प्रथम पांच-छ फूट कूद सकेगा, अभ्यास से आठ-दस फूट कूद सकेगा, वैसे अभ्यास से ज्यादा ऊंचे तक कूद सकेगा । परंतु बहोत बहोत अभ्यासु से भी वह लोक का उल्लंघन नहि कर सकता । इसलिए कहा है कि **"जो व्यक्ति अभ्यास से आकाश में उछलकर दस हाथ उपर जाता है । वह सेंकडो अभ्यास से भी सौ योजन ऊंचे जाने के लिए समर्थ नहीं होता है ।"**

वैसे ही यह बताये कि, आपका सर्वज्ञ जगत की सर्ववस्तुओ के समूह को किस प्रमाण से जानता है ? क्या प्रत्यक्ष प्रमाण से जानते है ? या यथासंभव सभी प्रमाण इकट्ठे होने से जगत्वर्ती सभी पदार्थो को जानते है ? ।

आप ऐसा कहोगे कि **"प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ जगत्वर्ती सर्व वस्तुओ को जानता है ।"** तो वह योग्य नहि है, क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण निकट के प्रतिनियतक्षेत्र में रहे हुए तथा प्रतिनियत अर्थ का ही ग्राहक है । (अर्थात् प्रत्यक्ष तो इन्द्रियो के साथ संबंध रखनेवाली वर्तमानवस्तुओ को ही जानता है । इसलिए उससे अनागत, अतीत, दूरवर्ती तथा सूक्ष्म अतीन्द्रियपदार्थ जाने नहीं जा सकते ।)

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष तो विवादास्पद होने से उसमें कोई प्रमाण नहिं है ।

सभी प्रमाण इकट्ठे मिलकर जगत्वर्ती सभी पदार्थो को जानते है, यह बात उचित नहीं है । क्योंकि प्रत्यक्ष के सिवा बाकी के सभी प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक ही अर्थ का ग्राहक बनते है । इसलिए जहाँ प्रत्यक्षप्रमाण से ही सभी वस्तुयें जानी नहीं जा सकती, वहाँ दूसरे प्रमाणो से तो किस तरह से जानी जा सकेगी ?

तथा संसार के बहोत जीव कुछ वस्तुओ को प्रत्यक्ष से जानके कुछ वस्तुओ को अनुमान से जान के कुछ वस्तुओको दूसरे प्रमाणो से जानके तथा धर्म इत्यादि अतीन्द्रिय पदार्थो को वेद से जानकर जगत के सभी पदार्थो को जान लेगा । इसलिए सभी जीव सर्वज्ञ बन जाने की आपत्ति आयेगी ।

वैसे ही संसार अनादि अनंत है । उसमें रही हुए वस्तुयें भी अनंतानंत है । उस वस्तुओ को क्रमशः जानती व्यक्ति अनंत काल के द्वारा भी किस तरह से सर्वज्ञ (सभी को जाननेवाला) हो सकेगा ? अर्थात् जगत्वर्ती सभी पदार्थो को जाननेवाला कोई सर्वज्ञ नहीं है । उपरांत आपका सर्वज्ञ यथावस्थित वस्तु का जानकार है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए जगत्वर्ती अशुचि आदि के रस के आस्वाद का प्रसंग भी सर्वज्ञ को आ पडेगा।

क्योंकि जगत के सभी पदार्थ यथावस्थित रुप से महसूस होते है और इसलिए कहा है कि... "सर्वज्ञ जगत्वर्ती सभी पदार्थो का यथावस्थित रुप से अनुभव करता होने से (उस सर्वज्ञ को) अशुचि इत्यादि के रस के आस्वाद का प्रसंग (उस सर्वज्ञको) अनिवारित है।"

उपरांत आप बताये कि भूतकाल में हुए पदार्थो तथा प्रसंगो तथा भविष्य में होनेवाले पदार्थ और होनेवाली हकीकतो को आपका सर्वज्ञ अतीत और अनागतरुप से जानता है या वर्तमानकी तरह साक्षात् जानते है ?

"सर्वज्ञ भूतकालीन पदार्थो-प्रसंगो को अतीत रुप से तथा भविष्यकालीन-पदार्थो हकीकतो को अनागत रुप से जानता है।" ऐसा आप कहोंगे तो.... सर्वज्ञ का ज्ञान अप्रत्यक्ष बन जायेगा। क्योंकि साक्षात्काररुप नहि होता है। इससे उसका ज्ञान प्रत्यक्ष में नहि माना जायेगा क्योंकि अवर्तमानकालीन वस्तु को ग्रहण करता है। जैसे स्मृति इत्यादिक अवर्तमानकालीन वस्तुग्राही है। इसलिए प्रत्यक्ष में नहि गीने जाते, वैसे सर्वज्ञ का उपरोक्त ज्ञान भी प्रत्यक्ष की कोटी में नहि आ सकेंगे।

"सर्वज्ञ भूतकालीन तथा भविष्यकालीन वस्तुओ और प्रसंगोको वर्तमानरुप से जानता है।" वैसा कहोंगे तो सर्वज्ञ का ज्ञान भ्रान्त बन जाने का प्रसंग आयेगा। क्योंकि अन्यथा रहे हुए (अर्थात् भूत और भाविरुप में रहे हुए) पदार्थो को अन्यथा पद्धति से (वर्तमान रुपसे) ग्रहण करता है। जैसे दो चन्द्र को देखनेवाले का ज्ञान भ्रान्त है, वैसे भूतादिरुप से रहे हुए पदार्थो को अन्यथा रुप से अर्थात् वर्तमानरुप में देखना वह भी भ्रान्ति है।

अत्र प्रतिविधीयते । तत्र यत्तावदुक्तं "तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्" इति साधनं तदसम्यक्, तत्साधकानामनुमानप्रमाणानां सद्भावात्। तथाहि ज्ञानतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं, तरतमशब्दवाच्यत्वात्, परिमाणवदिति । नायमसिद्धो हेतुः, प्रतिप्राणिप्रज्ञामेधादि-गुणपाटवरूपस्य ज्ञानस्य तारतम्येनोपलब्धेः । ततोऽवश्यमस्य सर्वान्तिमप्रकर्षेण भाव्यं, यथा परिमाणस्याकाशे । स च ज्ञानस्य सर्ववस्तुप्रकाशकत्वरूपो यत्र विश्रान्तः स भगवान् सर्वज्ञः । ननु संताप्यमानपाथस औष्ण्यतारतम्ये सत्यपि सर्वान्तिमवह्निरूपतापत्तिरूपप्रकर्षादर्शनाद्व्यभिचार्ययं हेतुरिति चेत् न, यतो यो द्रव्यस्यसहजो धर्मो न तु सहकारिसव्यपेक्षः- (सहजोऽपि च यः स्वाश्रये विशेषमारभते) सोऽभ्यासक्रमेण प्रकर्षपर्यन्तमासादयति, यथा कलधौतस्य पुटपाकप्रबन्धाहिता विशुद्धिः । न च [E-35]पाथस्तापः सहजो धर्मः, किं त्वग्न्यादिसहकारिसव्यपेक्षः । तत्कथं तत्र तापोऽभ्यस्यमानः परां काष्ठां गच्छेत् । अत्यन्ततापे प्रत्युत पाथसः परिक्षयात् । ज्ञानं तु जीवस्य सहजो धर्मः स्वाश्रये च विशेषमाधत्ते । तेन तस्य निरन्तराभ्यासाहिताधिकोत्तरोत्तरविशेषाधानात्

(E-35) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तिर्नायुक्ता । एतेन "लङ्घनाभ्यास" इत्यादि निरस्तं, लङ्घनस्यासहजधर्मत्वात्, स्वाश्रये च विशेषानाधानात्, प्रत्युत तेन सामर्थ्यपरिक्षयादिति ।

व्याख्या का भावानुवाद : अब मीमांसको की मान्यता खंडन करते है-

जैन : (उत्तरपक्ष) : आपने पहले सर्वज्ञ के निषेध में **"उस सर्वज्ञ का ग्राहक प्रमाण नहीं है ।"** ऐसा हेतु कहा था वह सत्य नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञसाधक अनुमानो का सद्भाव है ही। कहने का मतलब यह है कि आपने (मीमांसकोने) पहले सर्वज्ञसाधक प्रमाण का अभाव होने से सर्वज्ञ जैसी कोई व्यक्ति नहीं है। ऐसा जो कहा था वह सत्य नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ साधक अनुमान प्रमाण तो है ही। वह अनुमानप्रमाण इस अनुसार से है -

"ज्ञान का तरतमभाव = क्रमिकविकास कहीं विश्रांति = पूर्णता को प्राप्त करता है । क्योंकि वह तरतमशब्द से वाच्य है। अर्थात् उसका क्रमिकविकास होता है। जैसेकि, परिमाण, । परमाणु से क्रमिक विकास करते करते परिमाण आकाश में अपनी पूर्णता को अर्थात् महापरिमाण अवस्था पे पहुंच जाता है। उसी ही तरह से ज्ञान का क्रमिक विकास होते होते पूर्णता तक पहुंचता है, वह सर्वज्ञता है।

ज्ञान का क्रमिकविकास असिद्ध नहीं है, क्योंकि जगत में प्रत्येक जीवो की प्रज्ञा = प्रतिभा तथा मेधा = धारणाशक्ति आदि गुणो का विकास क्रमिक ही दिखता है। किसीके प्रज्ञा-मेधादि गुणो का विकास कम है, तो किसीका ज्यादा है। इसलिए ज्ञानादि गुणो का विकास जगत के जीवो में क्रमिक दिखता है। इसलिए जैसे परमाणु में रहा हुआ परिमाण विकास पाते पाते परम प्रकृष्ट अवस्था से आकाश में देखनेको मिलता है। वैसे ज्ञानादि गुणो का विकास होते होते अवश्य सर्व अंतिमप्रकर्ष होना ही चाहिए और उस जगतवर्ती सर्ववस्तुओ का प्रकाशक ज्ञान की जहां विश्रांति=पूर्णता है, वह भगवान सर्वज्ञ है । अर्थात् जिसमें सर्ववस्तुओ का प्रकाशक ज्ञान पूर्णता तक पहुंचा है, वह सर्वज्ञ भगवान है।

शंका : अग्नि से गरम हुए पानी में उष्णता की तरतमता होने पर भी वह पानी उष्णता का सर्व अंतिम प्रकर्ष जिसमें है, उस अग्नि जैसा उष्ण तो बनता दिखता ही नहीं है। इसलिए जिसका क्रमिकविकास होता है उसकी पूर्णता होती है। यह आपका नियम व्यभिचारी बनता है। क्योंकि पानी में तरतमता से उष्णता होने पर भी अग्नि जैसी उष्णता की पूर्णता पानी में नहि आती है।

समाधान : पदार्थ के स्वाभाविक धर्म ही अभ्यास से पूर्णता को प्राप्त करते है। परन्तु जो धर्म अन्य सहकारीकी अपेक्षा से उत्पन्न होता है, वह पूर्णता को प्राप्त करे ही, वैसा नियम नहीं है। पानी में आई हुई उष्णता सहज नहीं है, परन्तु अग्नि नाम के सहकारी के कारण से आती है। जब कि, सुवर्ण में पुटपाक की प्रक्रिया से आती हुई विशुद्धि सुवर्ण का सहजधर्म होने के कारण पूर्णता को प्राप्त करता है। पानी में रही हुई उष्णता पानी का सहजधर्म न होने से किस तरह से पूर्णता -- परमप्रकर्ष को प्राप्त करे। उल्टा पानी का अत्यंत ताप देने से पानी नष्ट हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परंतु ज्ञान जीव का सहजधर्म है और अपने आश्रय में विशेषता को उत्पन्न करता है। इसलिए ज्ञान के निरंतर अभ्यास से उत्तरोत्तर अपने आश्रय में (ज्ञान) विशेषता को उत्पन्न करता करता परमप्रकर्ष पर्यन्त को प्राप्त करता है। वैसा कहना अयोग्य नहीं है। इसलिए अभ्यास से ऊंचे कूदने से... इत्यादि आपने जो पहले कहा वह असत्य सिद्ध होता है। अर्थात् उसका खंडन होता है। क्योंकि लंघन आत्मा का सहजधर्म नहिं है और वह अपने आश्रय में विशेषता को उत्पन्न भी नहि करता है। उल्टा उसका बहोत ज्यादा अभ्यास करने से आत्मा का सामर्थ्य नष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार जिन में ज्ञान का परमप्रकर्ष है वह सर्वज्ञ है।

तथा जलधिजलपलप्रमाणादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः, प्रमेयत्वात्[E-36], घटादिगतरूपादिविशेषवत् । न च प्रमेयत्वमसिद्धं, अभावप्रमाणस्य व्यभिचारप्रसक्तेः । तथाहिप्रमाणपञ्चकातिक्रान्तस्य हि वस्तुनोऽभावप्रमाणविषयता भवताभ्युपगम्यते । यदि च जलधिजलपलप्रमाणादिषु प्रमाणपञ्चका-तिक्रान्तरूपमप्रमेयत्वं स्यात्, तदा तेष्वप्यभाव-प्रमाणविषयता स्यात् । न चात्र तत्त्वेऽपि सा संभाविनीति । यस्य च प्रत्यक्षाः, स भगवान् सर्वज्ञ इति । तथास्ति [E-37]कश्चिदतीन्द्रिया-र्थसार्थसाक्षात्कारी, अनुपदेशालिङ्गाविसंवादिविशिष्टदिग्देशकालप्रमाणाद्यात्मकचन्द्रादिग्रहणाद्युपदेशदायित्वात् । यो यद्विषयेऽनुपदेशालिङ्गा-विसंवाद्युपदेशदायी स तत्साक्षात्कारी यथास्मदादिः, अनुपदेशालिङ्गाविसंवाद्युपदेशदायी च कश्चित् तस्मात्तत्साक्षात्कारी, तथाविधश्च श्रीसर्वज्ञ एवेति । यच्चोक्तं "प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तेः सर्वज्ञस्याभावप्रमाणगोचरत्वं," तदपि वाङ्मात्रं, प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तेरसंभवात् । सा हि बाधसद्भावत्वेन स्यात्, न च सर्वज्ञे बाधकसंभवः । तथाहि-[E-38]तद्बाधकं प्रत्यक्षं १, अनुमानं २, आगमः ३, उपमानं ४, अर्थापत्तिर्वा ५ । तत्राद्यः पक्षो न श्रेयान्[E-39], यतो यदि प्रत्यक्षं वस्तुनः कारणं[E-40] व्यापकं वा स्यात्, तदा तन्निवृत्तौ वस्तुनोऽपि निवृत्तिर्युक्तिमती, वह्न्यादिकारणवृक्षत्वादिव्यापकनिवृत्तौ धूमत्वादिशिंशपात्वादिनिवृत्तिवत्। न चार्थस्याध्यक्षं कारणं, तदभावेऽपि देशादिव्यव-धानेऽर्थस्यभावात् । नापि व्यापकं, तन्निवृत्तावपि देशादिविप्रकृष्टवस्तूनामनिवर्त्तमानत्वात् । न चाकारणाव्यापकनिवृत्तावकार्याव्याप्यनिवृत्तिरूपपन्ना, अतिप्रसक्तेरिति ।

व्याख्या का भावानुवाद :

अब सर्वज्ञ की सिद्धि के लिए दूसरा अनुमान देते है - समुद्र के पानी के जत्थे का प्रमाणादि किसीको प्रत्यक्ष से प्रतिभासित होता है, क्योंकि प्रमेय है। जैसे घटादि में रहनेवाले रुप, स्पर्श आदि। इस अनुमान से भी सर्वज्ञ की सिद्धि होती है।

समुद्र में कितने प्रमाण में पानी है, वह प्रमेय = प्रमाण का विषय तो है ही। "**उपरांत जो वस्तु सत्**

(E-36-37-38-39-40) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समुद्र में कितने प्रमाण में पानी है, वह प्रमेय = प्रमाण का विषय तो है ही। **"उपरांत जो वस्तु सत् होती है, वह किसी प्रमाण का विषय तो निश्चित होती ही है।"** सामान्यतः ऐसा नियम है। इसलिए समुद्र के पानी के जत्थे का माप सत् होने से किसी प्रमाण का विषय बनता ही है। इसलिए प्रमेयत्व हेतु असिद्ध नहीं है। शायद मान ले कि समुद्र के पानी के जत्थे का माप प्रत्यक्षादि पांच प्रमाण का विषय नहीं बनता है। फिर भी जहाँ प्रत्यक्षादि पांच प्रमाण की प्रवृत्ति न हो, वहाँ अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति तो अवश्य होती ही है। इसलिए प्रमेय अभाव प्रमाण का विषय तो निश्चित बनता ही है। ऐसा तो आप भी मानते ही हो। इसलिए प्रमेयत्व हेतु असिद्ध नहीं है।

यदि समुद्र के पानी के जत्थे के माप में प्रत्यक्षादि पांच प्रमाण की अप्रवृत्ति होने पर भी अभाव प्रमाण की भी प्रवृत्ति न हो तो अभाव प्रमाण व्यभिचारी बन जायेगा, क्योंकि जहां प्रत्यक्षादि पांच प्रमाण की अप्रवृत्ति नहीं होती वहां अभावप्रमाण की प्रवृत्ति तो होती ही है। यह नियम तूट जाता है। इसलिए समुद्र के पानी के जत्थे का माप प्रमेय होने से उसका साक्षात्कार करनेवाला कोई-न-कोई तो होना ही चाहिए और समुद्र के पानी के जत्थे के माप का प्रत्यक्ष जिन को होता है, वह सर्वज्ञ भगवान है।

अब सर्वज्ञ की सिद्धि के लिए तीसरा अनुमान देते है। **"कोई आत्मा अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात्कार करनेवाला है। क्योंकि वह उपदेश (शास्त्र) और अविसंवादिलिंग (= अनुमापक हेतु) के बिना भी चन्द्रग्रहण इत्यादि ज्योतिष का यथार्थ उपदेश देता है।**

जो व्यक्ति जिस विषय में शास्त्र और अनुमापक हेतुओ के बिना उपदेश देता है। वह व्यक्ति उस विषय का साक्षात्कारी होता है। जैसे कि, कोई घट आदि पदार्थो को प्रत्यक्ष देखकर, उसका यथार्थ वर्णन करनेवाले हम लोग।

कहने का मतलब यह है कि, कुछ खास दिन में, कुछ खास घण्टे में, कुछ खास मिनिट में चन्द्रग्रहण होगा इत्यादि ऐसे भाविकालविषयक अतीन्द्रियपदार्थोका साक्षात्कार करनेवाले सर्वप्रथम श्री जिनेश्वर परमात्मा है। इसलिए अतीन्द्रियपदार्थो को देखनेवाले सर्वज्ञ है।

उपरांत, आपने जो कहा था कि **"सर्वज्ञ में प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणो की प्रवृत्ति का अभाव होने से सर्वज्ञ अभावप्रमाण का विषय बनता है। अर्थात् सर्वज्ञ का अभाव है।"** वह भी युक्तियुक्त नहीं है, मात्र प्रलाप ही है। क्योंकि सर्वज्ञ की सिद्धि में प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणो की अप्रवृत्ति असंभवित है। क्योंकि (पहले देखे उस अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होती होने से किस तरह से कहा जा सकेगा कि प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणो कि अप्रवृत्ति है ?) प्रत्यक्षादि प्रमाण की अप्रवृत्ति तो उस पदार्थो में होती है कि जिस प्रमाणो के द्वारा उस पदार्थो में बाध आता हो। सर्वज्ञ में कोई भी प्रमाण बाधा करनेवाला नहीं है। इसलिए सर्वज्ञ की सत्ता निर्बाध है।

आप कहो कि सर्वज्ञ का बाध करनेवाला (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) आगम, (४) उपमान और (५) अर्थापत्ति, इन पांच प्रमाण में से कौन सा प्रमाण है ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ का बाध होता है। ऐसा कहना समुचित नहीं है। क्योंकि यदि प्रत्यक्ष, कोई वस्तु का कारण या वस्तु का व्यापक हो तब उसकी निवृत्ति होने से वस्तु का भी अभाव होता है, ऐसा कहना युक्तियुक्त कहा जायेगा।

जैसे धूम का कारण अग्नि है। इसलिए अग्नि की निवृत्ति हो ने से धूम की निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् कारणरुप अग्नि की निवृत्ति होने से कार्यरुप धूम की निवृत्ति हो जाती है। उसी तरह से वृक्षत्व शिंशपा, आम का पेड इत्यादि तमाम वृक्षो में रहता होने से व्यापक है। इसलिए व्यापकरुप वृक्षत्व की निवृत्ति होने से व्याप्यरुप शिंशपा इत्यादि वृक्षो की भी निवृत्ति हो ही जाती है।

उपरांत प्रत्यक्ष, पदार्थ का कारण नहि है। इसलिए वस्तु का प्रत्यक्ष न होने पर भी देश, काल, दिवाल के व्यवधान से (अंतराय से) रहे हुए पदार्थ का सद्भाव होता ही है। कहने का मतलब यह है कि दूर देश में रहे हुए पदार्थो का प्रत्यक्ष नहीं होता है फिर भी पदार्थ विद्यमान होता है। भूतकालीन पदार्थ का वर्तमान में प्रत्यक्ष नहीं होता है, फिर भी पदार्थ विद्यमान था ही। वैसे ही दिवाल के अंतराय से रहे हुए पदार्थ का प्रत्यक्ष न होने पर भी पदार्थ तो होता ही है। इसलिए प्रत्यक्ष, पदार्थ का कारण नहीं है।

प्रत्यक्ष, वस्तु का व्यापक भी नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष की निवृत्ति होने पर भी दूरदेशादि स्थित पदार्थ की निवृत्ति नहीं होती है।

इसलिए जो पदार्थ का कारण या व्यापक नहीं है, उसकी निवृत्ति से कार्य और व्याप्य की निवृत्ति मान लेना वह संगत नहीं होती। क्योंकि व्यभिचार आता है, अव्यवस्था का दोष आता है। अर्थात् घट की निवृत्ति से पट की निवृत्ति भी मानने की आपत्ति आयेगी। इस तरह से एक पदार्थ की निवृत्ति से दूसरे पदार्थ की निवृत्ति भी मानने की आपत्ति आयेगी। इस तरह से एक पदार्थ की निवृत्ति से दूसरे पदार्थ की निवृत्ति मान लेने से अव्यवस्था खडी होगी।

इसलिए "**सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ का बाध होता है।**" वैसा कहना समुचित नहीं है.....

[E-41]नाप्यनुमानं तद्बाधकं, धर्मिसाध्यधर्मसाधनानां स्वरूपासिद्धेः । तत्र हि धर्मित्वेन किं सर्वज्ञोऽभिप्रेतः १, सुगतादिः २, सर्वपुरुषा वा ३ । यदि सर्वज्ञः, तदा किं तत्र साध्यमसत्त्वं १, असर्वज्ञत्वं वा २ । यद्यसत्त्वं किं तत्र साधनमनुपलम्भो १, विरुद्धविधिः २, वक्तृत्वादिकं ३ वा । यद्यनुपलम्भः किं सर्वज्ञस्योत १, तत्कारणस्य २, तत्कार्यस्य ३, तद्व्यापकस्य ४ वा । यदि सर्वज्ञस्य, सोऽपि किं स्वसंबन्धी १, सर्वसंबन्धी २ वा। स्वसंबन्धी चेन्निर्विशेषणः १, उतोपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वविशेषणो २ वा । आद्ये परचित्तविशेषादिभिरनैकान्तिकः 'अनुपलम्भात्' इति हेतुः, तेषामनुपलम्भेऽप्यसत्त्वानभ्युपगमात् । नाप्युपलब्धिलक्षण-

(E-41) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्तत्वविशेषणः, सर्वत्र सर्वदा च सर्वज्ञाभावसाधनस्याभावप्रसङ्गात् । न हि सर्वथाप्यसत उपलब्धिक्षणप्राप्तत्वं घटते, क्वचित्कदा-चित्सत्त्वोपलम्भाविनाभावित्वात्तस्य । एतेन सर्वसंबन्धिपक्षोऽपि प्रत्याख्यातः । किं चासिद्धः सर्वसंबध्यनुपलम्भः, असर्वविदा प्रतिपत्तुमशक्यत्वात्[E-42] । न खलु सर्वात्मनां तज्ज्ञानानां चाप्रतिपत्तौ तत्संबन्धी सर्वज्ञानुपलम्भः प्रतिपत्तुं शक्यः ।

व्याख्या का भावानुवाद :

अनुमान भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ के बाधक अनुमान में धर्मी किसको रखोंगे ? साध्य किसको बनाओंगे ? और किसको हेतु करोंगे ? (उसका स्वरुप ही) अनिश्चित है।

अच्छा, आप बताये कि आपके सर्वज्ञबाधक अनुमान में धर्मी के रुप में कौन है ? क्या धर्मी के रुप में (१) सर्वज्ञ अभिप्रेत है ? या (२) बौद्ध आदि अभिप्रेत है ? या (३) सभी पुरुष अभिप्रेत है ?

यदि ऐसा कहोंगे कि धर्मी के रुप में सर्वज्ञ अभिप्रेत है, तो कहो कि उस सर्वज्ञ का असत्त्व सिद्ध करोंगे या असर्वज्ञत्व सिद्ध करोंगे ?

यदि आप ऐसा कहोंगे कि इस सर्वज्ञ का असत्त्व सिद्ध करेंगे - तो सर्वज्ञ का असत्त्व सिद्ध करने के लिए आप (१) अनुपलंभ को हेतु बनायेंगे ? या (२) विरुद्ध विधि को हेतु बनायेंगे ? या (३) वक्तृत्वादि को हेतु बनायेंगे ?

यदि सर्वज्ञ के असत्त्व की सिद्धि करने के लिए अनुपलंभ का प्रयोग करोंगे, तब वह बताना चाहिए कि आप (१) अनुपलंभ सर्वज्ञ का बतायेंगे ? या (२) उसके कारणो का ? या (३) उसके कार्य का ? या (४) उसके व्यापक का अनुपलंभ बतायेंगे ?

यदि सर्वज्ञ के असत्त्व कि सिद्धि करने के लिए सर्वज्ञ के अनुपलंभ को हेतु के रुप में आगे करोंगे तो सर्वज्ञ का अनुपलंभ क्या स्वसंबंधी आपको ही है ? या सर्वसंबन्धी है - सर्वसंबन्धी है-जगत के सभी प्राणीओ को है ?

अब यदि खुद आपको सर्वज्ञ का अनुपलंभ होने से सर्वज्ञ का अभाव है, ऐसा आप मानते है तो कहो कि... वह अनुपलंभ विशेषणरहित सामान्य अनुपलंभ से होता है या उपलब्धि लक्षण से युक्त विशेषणसहित अनुपलंभ से होता है। कहने का मतलब यह है कि सर्वज्ञ का अनुपलंभ होता है वह दृश्यआदि विशेषणरहित होता है या दृश्य आदि विशेषणसहित होता है। (दृश्य = देखनेलायक पदार्थ) । यदि आप सर्वज्ञ का अनुपलंभ विशेषणरहित सामान्य अनुपलंभ से होता है। ऐसा कहोंगे तो परचित्त विशेषादि के साथ व्यभिचार आयेगा। क्योंकि अनुपलंभ हेतु है। अर्थात् पर (देवदत्त के) चित्त में क्या विचार चल रहा है,

(E-42) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह यज्ञदत्त तो जान सकता नहीं है। अर्थात् यज्ञदत्त को देवदत्त के चित्त में चलते हुए विचारो का अनुपलंभ है। फिर भी इतने मात्र से देवदत्त के मन में चलते हुए विचारो का असत्त्व सिद्ध नहीं होता है।

"सर्वज्ञ का अनुपलंभ दृश्य पदार्थ के (उपलंभलक्षणप्राप्त विशेषण सहित के पदार्थ के) अनुपलंभ से होता है।" वैसा कहोंगे तो वह भी योग्य नहीं है। क्योंकि दृश्यपदार्थ का उपलंभ सभी जगह और सभी काल में होता ही नहीं है। क्योंकि सभी जगह पे और सभी काल में जिसका अनुपलंभ हो वह दृश्य ही किस तरह कहा जायेगा ? जैसे घट दृश्य होने से कोई स्थान पे या कोई काल में उसका अनुपलंभ मिले, परन्तु सर्वत्र और सभी काल में उसका अभाव देखने को नहि मिला। क्योंकि दृश्यपदार्थ का किसी स्थान पे और किसी काल में तो उपलंभ नियत रुप से होता ही है।

इसलिए दृश्य की अनुपलब्धि से सर्वज्ञ का अत्यंत अभाव सिद्ध किया नहि जा सकता। हा, इतना कहा जा सकता है कि **"इस समय पे, इस स्थान पे सर्वज्ञ नहीं है।"**

इससे सर्वसंबंधी पक्ष भी दूषित हो जाता है। क्योंकि दृश्यपदार्थ की अनुपलब्धि सभी प्राणीयों को नहीं हो सकती। तथा असर्वज्ञप्राणीयों को सर्वज्ञ की उपलब्धि नहीं होती, परंतु सर्वज्ञ को तो "मैं सर्वज्ञ हुं" ऐसी उपलब्धि होती है। इसलिए सभी प्राणियो को सर्वज्ञ की अनुपलब्धि नहीं होती है।

उपरांत जगत के सर्वजीवो को सर्वज्ञ की अनुपलब्धि है, वैसा आप नहीं कह सकते। क्योंकि आप असर्वज्ञ हो तथा सर्वज्ञ के सिवा का दूसरा कोई व्यक्ति जगत के सभी जीवो के अध्यवसायो को (निश्चयो को) जान सकता नहीं है।

नापि कारणानुपलम्भः, तत्कारणस्य[E-43] ज्ञानावरणादिकर्मप्रक्षयस्यानुमानेनोपलम्भात् । एतत्साधकं चानुमानं, युक्तयश्चाग्रे वक्ष्यन्ते । कार्यानुपलम्भोऽप्यसिद्धः, तत्कार्यस्याविसंवाद्यागमस्योपलब्धेः। व्यापकानुप-लम्भोऽप्यसिद्धः, तद्व्यापकस्य सर्वार्थसाक्षात्कारित्व-स्यानुमानेन प्रतीतेः । तथाहि-अस्ति कश्चित्सर्वार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सतिप्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात् । यद्यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धकं तत्तत्साक्षात्कारि, यथापगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनं रूपसाक्षात्कारीति नानुपलम्भादिति साधनं सर्वज्ञाभावं [E-44]साधयति । विरुद्धविधिरपि साक्षात्परंपरया वा सर्वज्ञाभावं साधयति । प्रथमपक्षे सर्वज्ञत्वेन साक्षाद्विरुद्ध-स्यासर्वज्ञत्वस्य क्वचित्कदाचिद्विधानात्सर्वत्र सर्वदा वा । तत्राद्यपक्षे न सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभावः सिध्येत्, यत्रैव हि तद्विधानं तत्रैव तदभावोः नान्यत्र । नहि क्वचित्कदाचिदप्रेर्विधाने सर्वत्र सर्वदा वा तद्व्यापकविरुद्धशीताभावो दृष्टः । द्वितीयोऽप्ययुक्तः, अर्वाग्दृशः सर्वत्र सर्वदा वा सर्वज्ञत्वविरुद्धासर्वज्ञत्वविधेरसंभवात्, तत्संभवे च तस्यैव सर्वज्ञत्वापत्तेः सिद्धं नः समीहितम् । परंपरयापि

(E-43-44) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किं तद्व्यापकविरुद्धस्य १, तत्कारणविरुद्धस्य २, तत्कार्यविरुद्धस्य ३ वा विधिः सर्वज्ञाभावमादिशेत् । न तावद्व्यापकविरुद्धविधिः[E-45], स हि सर्वज्ञस्य व्यापकमखिलार्थ-साक्षात्कारित्वं तेन विरुद्धं तदसाक्षात्कारित्वं नियतार्थग्राहित्वं वा तस्य च विधिः क्वचित्क-दाचित्तदभावं साधयेन्न पुनः सर्वत्र सर्वदा वा, तुषारस्पर्शव्यापकशीतविरुद्धाग्निविधानात् क्वचित्कदाचित्तुषारस्पर्शनिषेधवत् । कारणविरुद्धविधिरपि क्वचित्कदाचिदेव सर्वज्ञाभावं साधयेत्, न सर्वत्र । सर्वज्ञत्वस्य हि कारणमशेषकर्मक्षयः, तद्विरुद्धस्य कर्माक्षयस्य च विधिः क्वचित्कदाचिदेव सर्वज्ञाभावसाधकः, रोमहर्षादिकारण-शीतविरुद्धाग्निविधानात् क्वचित्कदाचिच्छीतकार्यरोमह-र्षादिनिषेधवत् न पुनः साकल्येन, सकलकर्माप्रक्षयस्य साकल्येन संभवाभावात्, क्वचिदप्यात्मनि तस्याग्रे प्रसाधयिष्यमाणत्वात् । नापि विरुद्धकार्यविधिः, सर्वज्ञत्वेन हि विरुद्धं किंचिज्ज्ञत्वं, तत्कार्यं नियतार्थविषयं वचः तस्य विधिः स च न सामस्त्येन सर्वज्ञाभावं साधयेत् । यत्रैव हि तद्विधिस्तत्रैवास्य तदभावसाधनसमर्थत्वात्, शीतविरुद्धदहनकार्यधूमविशिष्टप्रदेश एव शीतस्पर्शनिषेधवत्, तत्र विरुद्धविधिरपि सर्वविदो बाधकः ।

व्याख्या का भावानुवाद :

अब **"सर्वज्ञता के कारणो की अनुपलब्धि होने से सर्वज्ञ का अभाव है ।"** ऐसा आप कहोंगे तो वह भी उचित नहीं है । क्योंकि सर्वज्ञता के कारणरुप ज्ञानावरणीयादि कर्मो का क्षय अनुमान से उपलब्ध ही है । (कहने का मतलब यह है कि, सर्वज्ञता में कारण ज्ञानावरणीयादि कर्मो का अत्यंतनाश है तथा कर्मो का अत्यंतनाश तो हो ही सकता है । हम कर्मो के चढाव-उतार को देख सकते है । उससे वे कर्म आत्मा में आये हुए है, स्वाभाविक नहीं है, वह भी निश्चित होता है, इसलिए जब ठंडी का प्रतिपक्ष गर्मी आने से ठंडी का अत्यंतनाश होता है, वैसे आगंतुक कर्मो का अत्यंतनाश भी प्रतिपक्ष आने से हो जाता है ।)

"कर्म का अत्यंतनाश होता है ।" उसकी सिद्धि करनेवाली युक्तिर्यां आगे कही जायेगी ।

"सर्वज्ञ के कार्य की अनुपलब्धि होने से सर्वज्ञ का अभाव है" - वैसा कहोंगे तो वह भी उचित नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ के कार्य के रुप में अविसंवादि आगम उपलब्ध है ही ।

"सर्वज्ञ के व्यापकधर्म की अनुपलब्धि होने से सर्वज्ञ का अभाव है ।" वैसा कहोंगे तो वह भी योग्य नहीं है । क्योंकि सर्वज्ञ का व्यापकधर्म "सर्वार्थसाक्षात्कारित्व" अनुमान से प्रतीत ही है । अर्थात् अनुमान से सर्वज्ञ का व्यापक धर्म सर्वार्थसाक्षात्कारित्व प्रसिद्ध है । वह इस अनुसार से- "कोई व्यक्ति सकलपदार्थो का यथावत् साक्षात्कार करता है, क्योंकि.... उसका सकल पदार्थो का यथावत् साक्षात्कार

(E-45) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करने का स्वभाव है और उसमें प्रतिबंधक कर्मो का क्षय हुआ है।

जो जो वस्तु का जो जो ग्रहण करने का स्वभाव होता है तथा वह ग्रहण करने में प्रतिबंधक बनती वस्तु का क्षय होता है, तब उस उस वस्तु का साक्षात्कार होता है। जैसे आंख का रुप को ग्रहण करने का स्वभाव है तथा रुप को ग्रहण करने में प्रतिबंधक आंख का रोग (तिमिर) नष्ट हुआ है, वैसी आंख रुप का साक्षात्कार करती है।

इस तरह से व्यक्ति का जगत के सभी पदार्थो का साक्षात्कार करने का स्वभाव है ही। उसमें प्रतिबंधक बनते कर्मो का अत्यंत नाश होता है, तब वह सर्वपदार्थो का साक्षात्कार करता है। यही उसकी सर्वज्ञता है। इसलिए "व्यापकधर्म की अनुपलब्धि" यह हेतु सर्वज्ञाभाव का साधक बनता नहीं है।

विरुद्धविधि अर्थात् सर्वज्ञ से विरुद्ध असर्वज्ञ की विधि भी सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं कर सकती। क्योंकि आप बताये कि असर्वज्ञ की विधि साक्षात् सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करती है या परंपरा से सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करती है ?

"सर्वज्ञ से विरुद्ध असर्वज्ञ की विधि साक्षात् सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करती है। अर्थात् सर्वज्ञ का साक्षात् विरोध करनेवाले असर्वज्ञ का विधान करके सर्वज्ञाभाव सिद्ध करता है।" ऐसा प्रथमपक्ष स्वीकार करोंगे, तो प्रश्न होगा कि सर्वज्ञ का साक्षात् विरोध करनेवाले असर्वज्ञ का विधान किसी निश्चित देश में या निश्चित समय में **अथवा** तीन काल संबंधी सर्वदेश में या तीन काल संबंधी सर्वकाल में किया जायेगा ?

"सर्वज्ञ का साक्षात् विरोध करनेवाले असर्वज्ञ का विधान किसी निश्चित देश-काल में किया जायेगा।" ऐसा प्रथम पक्ष में सर्वत्र और सर्वदा सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहि होगा। केवल जहाँ विधान किया होगा उस उस देश काल में ही सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होगा। जिस स्थान पे जिस काल में अग्नि जलाया जायेगा। उसी स्थान पे और उसी काल में ही शीत (ठंडी) का अभाव होगा। परंतु सर्वत्र और सर्वदा शीत का अभाव होता नहीं है।

अर्थात् जिस देश और जिस समय में अग्नि जलाया जाये, उस देश और उस समय में ही अग्नि के व्यापक उष्णता विरोधी शीत का अभाव दिखता है, परन्तु तीन लोक में या तीनो काल में अग्नि के व्यापक उष्णता के विरोधी शीत का अभाव देखने को नहीं मिलता है।

"सर्वज्ञ का साक्षात् विरोध करनेवाले असर्वज्ञता का विधान तीन लोक में तथा तीनो काल में किया जायेगा।" यह द्वितीय पक्ष भी अयोग्य है। क्योंकि छद्मस्थ (असर्वज्ञ) से तीनो लोक में या तीनो काल में सर्वज्ञ का विरोध करनेवाले असर्वज्ञ का विधान करना असंभवित है। क्योंकि जो सर्वज्ञ हो वही तीनोलोक और तीनो काल का परिज्ञान कर सकता है। असर्वज्ञ के लिए वह संभव नहीं है। इसलिए असर्वज्ञ तीनो काल और तीनो लोक में सर्वज्ञ के अभाव का विधान नहीं कर सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदि असर्वज्ञ भी तीनो काल में या तीनो लोक में सर्वज्ञ के अभाव का विधान कर सकता हो, तो वह भी असर्वज्ञ नहीं रहेगा परन्तु सर्वज्ञ ही बन जायेगा। क्योंकि वह जो विधान करता है, वह तीनो काल या तीनो लोक के परिज्ञान के बिना किया नहीं जा सकता। और यह तो हमको इष्ट ही सिद्ध हो गया।

"सर्वज्ञ का परंपरा से विरोध करनेवाले असर्वज्ञ का विधान किया गया है। अर्थात् सर्वज्ञ का अभाव कहा गया है।" ऐसा कहोंगे तो प्रश्न है कि... (१) सर्वज्ञ के व्यापक धर्म का विरोध करने से सर्वज्ञ का अभाव कहोंगे ? या (२) सर्वज्ञ के कारण का विरोध करने से सर्वज्ञ का अभाव कहोंगे ? (३) सर्वज्ञ के कार्य का विरोध करने से सर्वज्ञ का अभाव कहोंगे ?।

इसके उत्तर में **"सर्वज्ञ के व्यापक धर्म का विरोध करने से सर्वज्ञ का अभाव है।"** ऐसा कहोंगे तो वह योग्य नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ का व्यापक धर्म सकलार्थसाक्षात्कारित्व है। उसका विरोधी धर्म असकलार्थ साक्षात्कारित्व या नियतार्थग्राहित्व है। (अर्थात् सर्वज्ञ का व्यापकधर्म सभी पदार्थो का साक्षात्कार करना वह है। उस धर्म को विरोधी सकल पदार्थो का साक्षात्कार न करना अथवा कुछ खास पदार्थो का ही साक्षात्कार करना वह है।) उस असकलार्थसाक्षात्कारित्व या नियतार्थग्राहित्व का विधान किसी स्थान पे किसी काल में ही किया जा सकता है, परंतु सभी स्थान पे और सर्वकाल में नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह असर्वज्ञ का विषय नहीं है। (हाँ, कुछ खास स्थान पे या कुछ खास काल में निषेध करना वह असर्वज्ञ का विषय है। क्योंकि वह अपने नजदीक में रही हुई हकीकत का विधान कर सकता है। परंतु तीनो काल या तीनो लोकसंबंधित विधान नहीं कर सकता है। जैसे कि, तुषार का व्यापकधर्म शीत स्पर्श है। उसका विरोधी अग्नि है। उस अग्नि के विधान से किसी स्थान पे या किसी समय में तुषार और उसकी ठंडक का निषेध किया जा सकता है। परंतु सभी स्थान पे या सभी काल में तुषार और उसकी ठंडक का निषेध किया नहीं जा सकता। (अर्थात् जहाँ अग्नि जलाई जाये, वहां उसी समय तुषार और उसकी ठंडक का अभाव होता है, परंतु सर्वत्र या सर्वदा नहीं।)

"सर्वज्ञ के कारणो का विरोध करने से सर्वज्ञ का अभाव है।" ऐसा उत्तर भी अयोग्य है। क्योंकि सर्वज्ञता का कारण सकलकर्म का क्षय है। उसका विरोधी सकलकर्म के क्षय का अभाव है। उस सकलकर्म के क्षयाभाव का विधान किसी आत्मा में किसी काल में ही किया जा सकता है। इसलिए किसी आत्मा में किसी काल में ही सर्वज्ञाभाव सिद्ध होता है, परन्तु सर्व जीवो में सर्व काल में सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं होता। जैसे कि, शरीर का रोमांचित होना, हर्ष होना इत्यादि कार्य का कारण शीत है। उसका विरोधी अग्नि है, उस अग्नि को जलाने से किसी स्थान पे या किसी काल में ही शीत का नाश होने से (कारण का नाश होने से) उसका कार्य शरीर रोमांचित होना, हर्ष होना इत्यादि दिखता नहीं है। इसलिए उसका निषेध किया जा सकता है। परंतु सर्वत्र या सर्वदा उसका निषेध किया जा सकता नहीं है। इस प्रकार सर्वकर्म के क्षयाभाव का विधान सर्वकाल में और सर्व स्थान पे आत्मा में नहीं किया जा सकता है। क्योंकि वह असर्वज्ञ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का विषय नहीं है। किसी आत्मा में सर्वकर्मका क्षय हुआ होता है। वह आगे सिद्ध किया जायेगा।

"सर्वज्ञ के कार्य का विरोध करने से सर्वज्ञ का अभाव है।" यह उत्तर भी अनुचित है। क्योंकि सर्वज्ञत्व के साथ विरुद्ध किंचित्सत्व है। अर्थात् सर्वज्ञका विरोधी किंचित्ज्ञत्व है उसका कार्य नियतार्थ विषय है। अर्थात् वह किंचित् ही जानता है यानी कि वह सभी पदार्थो को जानता नहीं है। परंतु नियतपदार्थो को ही जानता है अर्थात् उसका ज्ञान नियतार्थ विषयक है। इस नियतार्थ विषयक का विधान भी सर्वत्र और सर्वदा सर्वज्ञाभाव को सिद्ध नहीं करता है। क्योंकि जिस स्थान पे नियतार्थविषय का विधान किया है, उसी स्थान पे सर्वज्ञाभाव का समर्थन करता है। परन्तु सर्वत्र नहि। जैसे कि.. शीत का विरोधी अग्नि, उसका कार्य धूम। उस धूम विशिष्ट प्रदेश में ही शीतस्पर्श का निषेध किया जा सकता है। परंतु सर्वप्रदेश में नहि। इस प्रकार जहाँ नियतपदार्थ ही विषय बनते हो वहीं सर्वज्ञाभाव सिद्ध हो सकता है। परंतु सामस्त्येन सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहि होता है।

इसलिए विरुद्धविधि भी सर्वज्ञ का बाधक नहि है।

नापि [E-46]वक्तृत्वादिकं, सर्वज्ञसत्त्वानभ्युपगमे तस्यानुपपत्त्याऽसिद्धत्वात्, तदुपपत्तौ च स्ववचनविरोधो 'नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वादिधर्मोपेतश्चेति' तन्न सर्वज्ञस्यासत्त्वं कुतोऽपि हेतोः साधयितुं शक्यम् । नाप्यसर्वज्ञत्वं साध्यं सर्वज्ञोऽसर्वज्ञ इत्येवं, विरोधस्यात्राप्यविशिष्टत्वात् । किंचासर्वज्ञत्वे[E-47] साध्ये सर्वज्ञस्य प्रमाणविरुद्धार्थवक्तृत्वं १ तद्विपरीतं २, वक्तृत्वमात्रं ३ वा हेतुत्वेन विवक्षितम् । प्रथमोऽसिद्धो हेतुः, सर्वज्ञस्य तथाभूतार्थवक्तृत्वासंभवात् । द्वितीयपक्षे तु विरुद्धः, दृष्टेष्टाविरुद्धार्थवक्तृत्वस्य सर्वज्ञत्वे सत्येव संभवात् । तृतीयपक्षेऽप्यनैकान्तिकः, वक्तृत्वमात्रस्य सर्वज्ञत्वेन विरोधासंभवात् । एतेन सुगतादिधर्मिपक्षोऽपि प्रत्याख्यायि, प्रोक्तदोषानुषङ्गाविशेषात् । किंच प्रतिनियतसुगतादेः सर्वज्ञतानिषेधेऽन्येषां तद्विधिरवश्यंभावी, विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानान्तरीयकत्वात्, "अयमब्राह्मणः" इत्यादिर्वादिति । अथ सर्वपुरुषानुररीकृत्य तेषामसर्वज्ञता वक्तृत्वादेः साध्यते तन्न, विपक्षात्तस्य व्यतिरेकासिद्ध्या[E-48] संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात् सर्वज्ञोऽपि भविष्यति वक्तापीति । तन्नानुमानं सर्वज्ञबाधकम् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

तथा सर्वज्ञ के असत्त्व का साधकहेतु वक्तृत्वादि भी नहि है। क्योंकि आप लोग सर्वज्ञ की सत्ता का ही स्वीकार नहीं करते है, तो सर्वज्ञ का बोलना कहाँ से होगा ? अर्थात् जो व्यक्ति का अस्तित्व हो, वही व्यक्ति बोलता होता है।

(E-46-47-48) – तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदि सर्वज्ञ का स्वीकार करोंगे तो उसका विरोध किस तरह से कर सकोंगे ? सर्वज्ञ का स्वीकार करने से आपने किये हुए विधान में ही विरोध आयेगा।

आपने पहले कहा है कि **"वक्तृत्वादि धर्म से युक्त सर्वज्ञ जैसा कोई व्यक्ति नहीं है।"** उसका विरोध आयेगा। इसलिए वक्तृत्वादि हेतु से भी सर्वज्ञत्व का बाध नहीं होता है।

इसलिए कोई भी हेतु से सर्वज्ञ का असत्त्व सिद्ध करना संभव नहीं है।

सर्वज्ञ को धर्मी बनाकर उसमें असर्वज्ञता सिद्ध करनी वह परस्पर विरोधी है। वह सर्वज्ञ है ही, तो फिर असर्वज्ञता किस तरह से सिद्ध हो सकेगी ? **"वह सर्वज्ञ भी है, असर्वज्ञ भी है।"** यह तो परस्पर विरोधी बात है।

अब आप बतायें कि सर्वज्ञ को असर्वज्ञ कहने का कारण क्या है ? (१) क्या प्रमाणविरोधी कथन करने के लिए असर्वज्ञ है ? या (२) प्रमाणसिद्ध सत्यकथन करने के कारण असर्वज्ञ है ? या (३) उसमें वक्तृत्व है, इसलिए असर्वज्ञ है ?।

प्रथमकारण असिद्ध है। क्योंकि सर्वज्ञ प्रमाणविरोधी कथन करे वह असंभवित है। सर्वज्ञ पदार्थ के यथार्थ ज्ञाता है तथा वीतराग है, तो असत्य बोलने का कारण क्या है ?

द्वितीयपक्ष विरुद्ध है। क्योंकि प्रमाणसिद्ध बोलनेवाला असर्वज्ञ किस तरह से हो सकेगा ? दृष्ट और इष्ट जैसे अविरुद्ध अर्थ का कथन सर्वज्ञत्व होने पर भी संभवित होता है। जो सर्वज्ञ हो वही प्रमाणसिद्ध अविरुद्ध अर्थ का कथन कर सकता है। ऐसा प्रमाणसिद्ध दृष्ट और इष्ट ऐसे अविरुद्ध पदार्थ का कथन करनेवाले को असर्वज्ञ किस तरह से कहा जायेगा ?

सर्वज्ञ बोलता है, इतने मात्र से सर्वज्ञता का विरोध करना संभवित नहि है। इसलिए **तीसरा पक्ष** अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है।

इससे धर्मी के रुप में सुगतादि को बनाने का पक्ष भी असत्य सिद्ध होता है। क्योंकि सर्वज्ञ को धर्मी बनाते हुए पक्ष में जो दोष आते थे, वे सभी दोष यहाँ भी आते ही है।

उपरांत प्रतिनियत सुगतादि की सर्वज्ञता का निषेध करने से उसके सिवा के अन्य व्यक्तिओ में सर्वज्ञता का अवश्य विधान हुआ मानना पडेगा। अर्थात् सुगतादि को असर्वज्ञ कहोंगे, तो उसके सिवा अन्य में सर्वज्ञता का विधान अपनेआप हो जायेगा। **क्योंकि नियम है कि, विशेष का निषेध शेष की अनुज्ञा को अविनाभावी होता है। अर्थात् कोई व्यक्तिविशेष में कोई विशेषधर्म का निषेध करने से शेष व्यक्तियों में उस धर्म का सद्भाव अपनेआप सिद्ध हो जाता है। जैसे कि, कोई व्यक्तियों के समूह में कोई एक व्यक्ति को ध्यान में रखकर कहा जाये कि, "यह ब्राह्मण नहीं है" तो उससे शेष व्यक्ति ब्राह्मण है, वह स्वयंमेव सिद्ध हो जाता है।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब "**सभी पुरुष असर्वज्ञ है। क्योंकि वे वक्ता है।**" इस तरह से सभी पुरुषो को धर्मी बनाकर असर्वज्ञता की सिद्धि करना भी उचित नहीं है। क्योंकि वक्तृत्व को सर्वज्ञता के साथ विरोध नहीं है और वक्तृत्व की असर्वज्ञता के साथ मित्रता नहीं है।

वक्तृत्व तो सर्वज्ञ हो या असर्वज्ञ हो, दोनो जगह पे रह सकता है। इसलिए वक्तृत्वरुप हेतु सर्वज्ञरुप विपक्ष में वृत्ति है। अर्थात् विपक्षरुप सर्वज्ञ में वक्तृत्वरुप हेतु के व्यक्तिरेक की असिद्धि (= अभाव की असिद्धि) होने से वक्तृत्व हेतु संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिक (= संदिग्ध - अनैकान्तिक) है। इसलिए वक्तृत्व हेतु सर्वज्ञाभाव को सिद्ध नहीं कर सकता है। अर्थात् सर्वज्ञ वक्ता भी हो सकता है।

इसलिए कोई भी अनुमान सर्वज्ञ का बाध करने के लिए समर्थ नहीं बन सकता है।

नाप्यागमः, स हि पौरुषेयोऽपौरुषेयो वा । न तावदपौरुषेयः तस्याप्रामाण्यात्, वचनानां गुणवद्वक्त्राधीनतया प्रामाण्योपपत्तेः । किं चास्य कार्ये एवार्थे प्रामाण्याभ्युपगमान्न सर्वतः स्वरूपनिषेधे प्रामाण्यं स्यात् । न चाशेषज्ञानाभावसाधकं किंचिद्वेदवाक्यमस्ति,"हिरण्यगर्भःसर्वज्ञः[E-49]" **इत्यादिवेद-वाक्यानां तत्प्रतिपादकानामनेकशः श्रवणात् । नाप्युपमानं तद्बाधकम्[E-50], तत्खलूपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सति गोगवयवत् स्यात् । न चाशेषपुरुषाः सर्वज्ञश्च केनचिद्दृष्टाः येन 'अशेषपुरुषवत्सर्वज्ञः सर्वज्ञवद्वा ते' इत्युपमानं स्यात्। अशेषपुरुषदृष्टौ च तस्यैव सर्वज्ञत्वापत्तिरिति । नाप्यर्थापत्तिस्तद्बा-धिका[E-51], सर्वज्ञाभावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य कस्याप्यर्थ-स्याभावात्, वेदप्रामाण्यस्य च सर्वज्ञे सत्येवोपपत्तेः । न हि गुणवद्वक्तुरभावे वचसां प्रामाण्यं घटत इति न सर्वज्ञे बाधकसंभवः, तदभावे च प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तिरप्यसिद्धा । तथा यदुक्तं** "प्रमाणपञ्चका-प्रवृत्त्याभावप्रमाणविषयत्वं," **तदप्यनैकान्तिकं[E-52], हिमवत्पलपरिमाणपिशाचादिभिः तेषां प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तावप्यभावप्रमाणगोचरत्वाभावादिति "प्रमाणपञ्चकं यत्र" इत्याद्यपास्तं द्रष्टव्यम् ।**

व्याख्या का भावानुवाद :

आगम से भी सर्वज्ञ का बाध नहीं किया जा सकता।

आप कहिये कि .... आगम पौरुषेय है या अपौरुषेय है ? आगम अपौरुषेय होता नहीं है। क्योंकि अपौरुषेय आगम अप्रमाणभूत है। वचन गुणवान वक्ता के अधीनपन से ही प्रमाणभूत बनते है। अर्थात् अपौरुषेय आगम प्रमाणभूत नहीं बन सकता है। क्योंकि किसी भी वचनो की प्रमाणता वक्ता के अधीन होती है। बोलनेवाला वक्ता कौन है ? उसके आधार से वचन प्रमाणभूत है, या अप्रमाणभूत है वह निश्चित

(E-49-50-51-52) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होता है।

इसलिए अपौरुषेय आगम (वेद) प्रमाणभूत न होने से उससे सर्वज्ञ का बाध नहीं हो सकता है। तथा अपौरुषेय वेद का कोई आद्यवक्ता ही नहीं है, तो उसको प्रमाणभूत किस तरह से माना जा सकेगा ? और वैसे अप्रमाणभूत वेद से सर्वज्ञ का बाध किस तरह से हो सकेगा ?

उपरांत आप वेद को स्वरुप प्रतिपादक मानते नहीं है। क्योंकि आपका मत है कि... **"वेद का प्रत्येक शब्द अग्निष्टोम इत्यादि यज्ञरुप कार्यो का ही प्रतिपादन करता है तथा वह कार्य अर्थ में प्रमाण है। वह किसीके स्वरुप के प्रतिपादन या उसके निषेध में प्रमाण ही नहि है।"** वेद में जो **"सर्वज्ञ, सर्ववित्"** इत्यादि शब्द आते है, उसको आप सर्वज्ञ के स्वरुप के प्रतिपादक मानते नहि है। आप तो कहते है कि... वह सर्वज्ञ इत्यादि शब्द कोई यज्ञविशेष की स्तुति करने के लिए है। सर्वज्ञ के स्वरुप के प्रतिपादन के लिए नहीं है। जो अग्निष्टोम या अन्य कोई विवक्षितयज्ञ करता है वही सर्वज्ञ, सर्ववित् है। इस तरह से कोई यज्ञ इत्यादि की स्तुति करना वही सर्वज्ञ इत्यादि शब्दो का कार्य है। इस तरह से वेद का कोई भी शब्द स्वरुपार्थक नहीं है। तो वेद के शब्द से किस तरह से असर्वज्ञता का विधान और सर्वज्ञता का निषेध किया जा सकेगा ?

उपरांत अशेषज्ञान (सर्वज्ञता)के अभाव का साधक कोई वेदवाक्य नहीं है। अर्थात् कोई वेदवाक्य ऐसा नहीं है कि जिससे संपूर्णज्ञान जिसमें है, उस सर्वज्ञता का सीधा खंडन कर सके। परंतु वेद में **"हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः"** इत्यादि अनेकवेदवाक्य सर्वज्ञता का प्रतिपादन करते है। (वैसा अनेक बार सुना है।)

उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञता का बाधक नहीं है। जहाँ उपमान तथा उपमेय दोनो पदार्थ प्रत्यक्ष से अनुभव में आते है वहाँ **"यह गवय, गाय के समान है।"** ऐसा उपमान लगाया जा सकता है। गाय और गवय दोनो भी प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ है। इसलिए उपमान प्रमाण की मर्यादा में आ जाते है। परंतु कोई भी व्यक्ति जगत के सभी व्यक्तियों को या सर्वज्ञ को जान सकती नहीं है कि जिससे जगत के सभी पुरुष जैसे सर्वज्ञ है अथवा सर्वज्ञ जैसे जगत के सभी पुरुष है। ऐसा उपमान लगा सके। यदि उसको जगत के सभी पुरुष तथा सर्वज्ञ प्रत्यक्षसिद्ध हो तो ही वैसे प्रकार का कह सकते है और यदि जगत के सभी पुरुष तथा सर्वज्ञ उसको प्रत्यक्षसिद्ध हो तो वह सर्वज्ञ ही बन जायेगा। उससे वह सर्वज्ञता में बाधा देते देते सर्वज्ञता को सिद्ध करने का जीवंत उदाहरण बन जायेगा।

अर्थापत्ति भी सर्वज्ञता की बाधक नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ के अभाव के बिना असंगत (अनुपपन्न) किसी भी अर्थ का अभाव है। अर्थात् यदि सर्वज्ञ के अभाव के साथ ही कोई खास संबंध रखनेवाले सर्वज्ञ के अभाव के बिना (असंगत =) नहि रहनेवाला कोई भी पदार्थ मिलता हो तो, उससे सर्वज्ञ का अभाव कह सकेंगे परंतु सर्वज्ञाभाव के साथ रहेनाला कोई भी पदार्थ जगत में दृष्टिगोचर होता ही नहीं है। (कहने का मतलब यह है कि जैसे देवदत्त के पतलेपन का अभाव (दिन में खाता हुआ देखने में आता न होने से) रात्रिभोजन पदार्थ के बिना संभव नहीं बनता है। इसलिए अर्थापत्ति से रात्रिभोजन की सिद्धि होती है। यहाँ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देवदत्त के पतलेपन के अभाव के बिना नहि रहनेवाला पदार्थ रात्रिभोजन मिलता है। अर्थात् पतलेपन के अभाव के साथ रहनेवाले रात्रिभोजन नामका पदार्थ जगत में दृष्टिगोचर होता है। इसलिए अर्थापत्ति से रात्रिभोजन के कारण देवदत्त में पीनत्व (मोटापा) संगत होता है। वैसे सर्वज्ञाभाव के साथ रहनेवाला कोई पदार्थ हो तो, अर्थापत्ति से उस पदार्थ के कारण सर्वज्ञाभाव की संगति (सिद्धि) की जा सके। परंतु सर्वज्ञाभाव के साथ रहनेवाला जगत में कोई पदार्थ दृष्टिगोचर होता नहीं है। इसलिए अर्थापत्ति से भी सर्वज्ञाभाव की सिद्धि नहीं हो सकती।)

तथा वेद की प्रमाणता वेद के वक्ता सर्वज्ञ होने पर ही संगत होती है। क्योंकि गुणवान (सर्वज्ञ) वक्ता के अभाव में वचनो की प्रमाणता सिद्ध नहीं होती है।

इस अनुसार से सर्वज्ञतामें कोई भी प्रमाण बाधक नहीं बन सकता है। (तथा सर्वज्ञ की सिद्धि करनेवाले अनेक अनुमान मौजूद होने से) पांच प्रमाण की अप्रवृत्ति कहकर सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि करनी असिद्ध है।

उपरांत आपने जो पहले - **"जिसमें प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणो की प्रवृत्ति होती नहीं है। वह अभावप्रमाण का विषय बनता है।"** ऐसा नियम कहा था, वह भी अनैकान्तिक (व्यभिचारी) बन जाता है। क्योंकि हिमालय पर्वत का वजन है। पिशाच कितनी ऊँचाई का है और कैसा है? इन सभी विषय में कोई भी प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणो की प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती है। फिर भी उसका अभाव नहीं है। अर्थात् हिमालय या पिशाचादि का परिमाण अभावप्रमाण का विषय बनकर अभावरुप सिद्ध नहीं हो जाता है।

इस तरह से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करने के लिये दिये गये **"प्रमाणपंचक की जहाँ अप्रवृत्ति हो वहाँ अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।"** - इस नियम का खंडन हुआ जानना। क्योंकि उपर बताये अनुसार वह नियम अनैकान्तिक सिद्ध होता है।

यच्चोक्तं "सर्वं वस्तुजातं केन प्रमाणेन" **इत्यादि, तदप्ययुक्तं, सकलज्ञानावरणविलयोत्थाविकलकेवलालोकेन सकललोकालोकादिवस्तुवेत्तृत्वात्सर्वज्ञस्येति। यच्चोक्तं** "अशुच्यादिरसास्वाद" **इत्यादि, तदपि**[E-53] **परं प्रत्यसूयामात्रमेव व्यनक्ति, सर्वज्ञस्यातीन्द्रियज्ञानित्वेन करणव्यापारनिरपेक्षत्वात्, जिह्वेन्द्रियव्यापारनिरपेक्षं यथावस्थितं तटस्थतयैव वेदनं, न तु भवद्वत्तद्व्यापारसापेक्षं वेदनमिति। यदप्यवादि** "कालतोऽनाद्यनन्तः संसारः" **इत्यादि, तदप्यसम्यक्, युगपत्संवेदनात्। न च तदसंभवि दृष्टत्वात्। तथाहि-यथा स्वभ्यस्तसकलशास्त्रार्थः सामान्येन**[E-54] **युगपत्प्रतिभासते, एवमशेषविशेषकलितोऽपि। यथा चोक्तम्**-"यथा सकलशास्त्रार्थः स्वभ्यस्तः प्रतिभासते। मनस्येकक्षणेनैव तथानन्तादिवेदनम्॥१॥" प्र. वार्तिकालं० - [१२/२२७] इति **यच्चोक्तं** "अतीतानागत" **इत्यादि, तदपि**

(E-53-54) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वप्रणेतुरज्ञानित्वमेव ज्ञापयति, यतो यद्यपीदानींतनकालोपेक्षया तेऽतीतानागतवस्तुनी असती तथापि यथातीतमतीतकालेऽवर्तिष्ट, यथा च भावि वर्तिष्यते, तथैव तयोः साक्षात्कारित्वेन न कश्चनापि दोष[E-55] इति सिद्धः सुखादिवत्सुनिश्चितासंभवद्-बाधकप्रमाणत्वात्[E-56] सर्वज्ञ इति ।

व्याख्या का भावानुवाद :

उपरांत पहले आपने कहा था कि... "सर्ववस्तुओ का समूह किस प्रमाण से ग्रहण किया जा सकता है ?... (आगे आपने कहा था कि) प्रत्यक्षादिप्रमाण से सर्ववस्तुओ का ज्ञान नहि हो सकता है। इसलिए सर्वज्ञ जैसी कोई व्यक्ति नहि है।" आपकी यह बात भी युक्त नहीं है। क्योंकि सकलज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से युक्त नहीं है। क्योंकि सकलज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से प्राप्त हुए केवलज्ञानरुप प्रकाश के द्वारा सकललोकालोकगत वस्तुओ के समूह का ज्ञान हो सकता है और इसलिए हस्तामलकवत् (हाथ में रहे हुए आंवले की तरह) सभी लोकालोक को जानते हुए सर्वज्ञ हो सकेंगे, उसमें शंका को स्थान नहि है।

तथा "**सकललोकालोकविषयक ज्ञान होने से अशुचि पदार्थो का भी ज्ञान होने के कारण, उसमें रही हुई अशुचि का आस्वाद महसूस करने की आपत्ति आयेगी ।**" इत्यादि आपने जो कहा था वह सकलगुण के धाम सर्वज्ञ के प्रति असूयामात्र से कहा था। परंतु वह उचित नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ अतीन्द्रियज्ञानि होने के कारण इन्द्रियो के व्यापार से निरपेक्ष है। (अतीन्द्रियज्ञानि को वस्तु को जानने के लिए इन्द्रियो के व्यापार की जरुरत पडती नहीं है।) इसलिए सर्वज्ञ रसनेन्द्रिय के व्यापार से निरपेक्ष तटस्थ रुप से ही वस्तु का यथावस्थितवेदन (ज्ञान) करता है (चाहे वह अच्छी हो या बुरी हो।) परन्तु सर्वज्ञ आपकी तरह वस्तु का इन्द्रियो से सापेक्ष वेदन करते नहीं है। (कि जिससे अशुचि के आस्वाद की आपत्ति आयेगी।)

तथा "**अनादिअनंत संसार में अनंतानंत वस्तुओ का समूह है। उसको क्रमशः जानता हुआ व्यक्ति अनंत काल के बाद सर्वज्ञ हो सकेगा ।**" ऐसा जो कहा था वह भी असत्य है। क्योंकि एक साथ सभी पदार्थो का संवेदन होता है और एकसाथ सभी पदार्थो का संवेदन असंभवित नहीं दिखता है। जैसे कि, अच्छी तरह से अभ्यस्त किये हुए सभी शास्त्रो के पदार्थ एकसाथ मन में प्रतिभासित होते दिखते है। उस अनुसार से अनंत शक्तिवाले केवलज्ञान में भी एकसाथ जगत के समस्त पदार्थ प्रतिभासित हो सकते है। तथा प्रमाणवार्तिकालंकार में कहा है कि...

"जिस तरह से अच्छी तरह से अभ्यस्त किये हुए सकल शास्त्र एकक्षण में ही मन में प्रतिभासित होते है, उस तरह से अनंत शक्ति संपन्न केवलज्ञान में एकसाथ अनंतानंत पदार्थ प्रतिभासित होते है ।

तथा "**क्या सर्वज्ञ अतीत अनागतविषयक पदार्थो का अतीत अनागतरुप से जानता है या**

(E-55-56) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमानरुप से जानता है..." इत्यादि जो कहा था वह भी आपके ग्रंथकार का अज्ञान ही बताता है। अर्थात् आपके ग्रंथकार सचमुच अज्ञानी हो ऐसा लगता है क्योंकि वर्तमानकाल की अपेक्षा में वे पदार्थ अतीत-और अनागत होने से विद्यमान न होने पर भी वे पदार्थ अतीतकाल में तो थे ही और अनागत काल में भी होंगे। इसलिए अतीत-अनागत संबंधित उस पदार्थो का साक्षात्कार होने के कारण सर्वज्ञ का त्रिकालविषयक ज्ञान मानने में कोई दोष नहीं है। (कहने का मतलब यह है कि, वर्तमानकाल में अतीत-अनागत विषयक पदार्थ न होने पर भी अतीत या अनागत काल में तो वे पदार्थ विद्यमान थे और होंगे ही। इसलिए वह अतीत-अनागत कालीन पदार्थ असत् नहि कहे जाते। सर्वज्ञ जिस समय जो वस्तु जिस स्वरुप में हो उसको वैसे स्वरुप में जानता है। अतीत को अतीतरुप में, अनागत को भाविरुप में और वर्तमान को वर्तमान रुप में जानता है। पदार्थ जिस हालत में हो, वैसी ही हालत में केवलज्ञान में प्रतिभासित होता है।

इस तरह से समस्त बाधक प्रमाणो का निराकरण करने से सुंदर तरीके से उस बाधक प्रमाणो की असंभवता सिद्ध होने से सर्वज्ञ की सिद्धि निर्बाध हो जाती है। निर्बाध सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध होती है। जैसे सुखी मनुष्य को "**मैं सुखी हूं**" यह स्वसंवेदन से सुख का अनुभव होने से सुख की सत्ता सिद्ध होती है। इसलिए स्पष्ट रुप से कहा जा सकता है कि "**सर्वज्ञ है**" क्योंकि उसकी सत्ता में बाधक सभी प्रमाणो की असंभावना सुन्दर प्रकार से सिद्ध कर दी है।

अथ दिक्पटाः प्रकटयन्ति-ननु भवतु सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्सर्वज्ञसिद्धिः। किंत्वस्य कवलाहार इति न मृष्यामहे। तथाहि-केवलिनः कवलाहारो न भवति तत्कारणाभावात् न च कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिः अतिप्रसक्तेः। न च तत्कारणाभावोऽसिद्धः, [E-57]आहारादाननिदानभूते वेदनादिषट्के एकस्यापि तस्य केवलिन्यभावात्। तथाहि - न तावत्तस्य वेदनोत्पद्यते, तद्वेदनीयस्य[E-58] दग्धरज्जुस्थानिकत्वात्। सत्यामपि वेदनायां न तस्य तत्कृता पीडा, अनन्तवीर्यत्वात्। वैयावृत्त्यकरणं तु भगवति त्रैलोक्यपूज्ये न संभवत्येवेति। ईर्यापथं[E-59] पुनः केवलज्ञानावरणक्षयात् सम्यगवलोक-यत्यसौ। संयमस्तु[E-60] तस्य यथाख्यातचारित्रिणो निष्ठितार्थत्वादनन्तवीर्यत्वाच्च नाहारकारणीभवति[E-61]। प्राणवृत्तिरपि तस्यानपवर्त्यायुष्ट्वादनन्तवीर्यत्वाज्ज्ञान्यथासिद्धैव। धर्मचिन्तावसरस्त्वपगतः, निष्ठितार्थत्वात्। तदेवं केवलिनः कावलिकाहारो बहुदोषदुष्टत्वान्न घटत इति।

व्याख्या का भावानुवाद : अब प्रथम दिगंबर के मत बतावे है,-

पूर्वपक्ष (दिगंबर) : सर्वज्ञ के बाधक प्रमाणो की असंभवता होने से सर्वज्ञ की सिद्धि सुनिश्चित है। परंतु (हम जैसे कवलाहार करते है, वैसे) सर्वज्ञ को कवलाहार होता नहीं है। वह इस तरह से "**केवलज्ञानि को कवलाहार होता नहि है, क्योंकि कवलाहार करने के कारण का अभाव है।**" तथा कारण

(E-57-58-59-60-61) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के अभाव में कार्य की उत्पत्ति मानोंगे तो व्यतिरेक व्यभिचार आके खडा रहेगा और अव्यवस्था खडी होगी। (कहने का मतलब यह है कि सामान्य मनुष्यो को कवलाहार करने में जो कारण या प्रयोजन होते है वे केवलज्ञानि को होते नहि है। इसलिए सामान्य मनुष्यो की तरह केवलज्ञानि को कवलाहार होता नहीं है।)

उपरोक्त अनुमान में **"कारणाभाव"** हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि केवलज्ञानि में आहार ग्रहण करने के कारणभूत वेदनादि छः में से एक भी कारण विद्यमान नहीं है। **वह इस तरह से** - (१) केवलज्ञानि को क्षुधा की वेदना उत्पन्न नहीं होती है। क्योंकि केवलज्ञानि का क्षुधावेदनीय कर्म जले हुए रस्सी जैसा हो गया है और क्षुधा की वेदना होने पर भी उसको वेदना से उत्पन्न होनेवाली पीडा (यातना) अनंतवीर्य के कारण होती नहीं है। (२) भगवान तीन लोक से पूज्य होने से किसी की वैयावच्च (सेवा) करने जाना नहीं पडता। इसलिए आहार ग्रहण में कारणरुप वैयावच्च का संभव नहि है। (३) केवलज्ञानि को केवलज्ञानावरणीय का सर्वथा क्षय हुआ होने से सम्यक् रुप से देख सकते है। इसलिए इर्यासमिति के पालन के लिए भी आहारग्रहण की जरुरत नहीं है। (४) संयम के निर्वाह के लिए भी केवलज्ञानि को आहारग्रहण की जरुरत नहीं है। क्योंकि उनको यथाख्यातचारित्र प्राप्त हुआ होने से कृतकृत्य है। तथा अनतवीर्य होने से आहार ग्रहण का कोई कारण नहि है (५) जीवनवृत्ति के लिए (शरीर टिकाने के लिए) भी केवलज्ञानि को आहार करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि केवलज्ञानि का आयुष्य अनपवर्त्य (कम न हो वैसा) होता है तथा अनंतवीर्य होने से शरीरमें कमजोरी आने की संभावना नहीं है। इसलिए जीवनवृत्ति के प्रति आहारग्रहण अन्यथासिद्ध है। (६) केवलज्ञानि को धर्मचिंतन के लिए भी आहारग्रहण की जरुरत नहीं है। क्योंकि केवलज्ञानि स्वयं कृतकृत्य है। धर्म का फल प्राप्त हो गया है। इसलिए धर्मचिंतन का अवसर चला गया है।

इसलिए इस अनुसार से कवलाहार बहुदोष से दुष्ट होने से केवलियों को कवलाहार होता नहीं है।

अत्रोच्यते-तत्र यत्तावदूचानं "तत्कारणाभावात्" इति साधनं तदसिद्धं, आहारकारणस्य वेदनीयस्य केवलिनि तथैव सद्भावात्। तथा च किमिति सा शारीरी स्थितिः प्राक्तनी न स्यात्। प्रयोगोऽत्र-स्यात्केवलिनो भुक्तिः समग्रसामग्रीकत्वात्[E-62], पूर्वभुक्तिवत्। सामग्री चेयं पर्याप्तत्वं वेदनीयोदय आहारपक्तिनिमित्तं तैजसशरीरं दीर्घायुष्ट्वं चेति। सा च समग्रापि केवलिनि समस्ति। यदपि दग्धरज्जुस्थानिकत्वं वेदनीयस्योच्यते, तदप्यनागमिकमयुक्तियुक्तं च, आगमेऽत्यन्त-सातोदयस्य केवलिनि प्रतिपादनात्[E-63]। युक्तिरपि, यदि घातिकर्मक्षयाज्ज्ञानादयस्तस्य भवेयुः, वेदनीयोद्भवायाः क्षुधः किमायातं येनासौ न भवति। न तयोश्छायातपयोरिव सहानवस्थानलक्षणो भावाभावयोरिव परस्परपरिहारलक्षणो वा कश्चिद्विरोधोऽस्ति[E-64], सातासातयोरन्तर्मुहूर्त-परिवर्तमानतया सातोदयवदसातोदयोऽप्यस्तीत्यनन्तवीर्यत्वे सत्यपि

(E-62-63-64) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शरीरबलापचयः क्षुदुद्भवपीडा च भवत्येव । न चाहारग्रहणे तस्य किंचित्क्षूयते केवलमाहोपुरुषिकामात्रमेवेति ।

व्याख्या का भावानुवाद :

उत्तरपक्ष (श्वेतांबर) : आपने पहले जो केवलि के कवलाहार के निषेध के लिए कारणाभाव हेतु कहा था, वह हेतु असिद्ध है। क्योंकि आहार के कारणरुप वेदनीयकर्म का उदय केवलज्ञानि को भी होता है। उपरांत केवलज्ञानि केवलज्ञान पाने से पहले शरीर होने के कारण कवलाहार करते थे. तो क्या केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद केवलज्ञानि को शरीर नहीं होता कि जिससे केवलज्ञानि को कवलाहार की जरुरत नहीं है! केवलज्ञानि के कवलाहार की सिद्धि करनेवाला अनुमानप्रयोग इस अनुसार से है - "केवलज्ञानि को भोजन (कवलाहार) होता है, क्योंकि कवलाहार करने में कारणरुप समग्रसामग्री विद्यमान है। जैसे केवलज्ञान प्राप्त होने से पहले होता भोजन (कवलाहार)।"

शरीर की पूर्णता, वेदनीयकर्म का उदय, आहार के पाचन में निमित्तभूत तैजस शरीर और दीर्घ आयुष्य, ये कवलाहार में निमित्तभूत सामग्री है। यह तमाम सामग्री केवलज्ञानि को भी होती है।

उपरांत **"केवलज्ञानि का वेदनीय कर्म जले हुए जैसा शक्तिहीन होता है।"** वैसा आपने कहा था वह भी अनागमिक और युक्तिरहित है। क्योंकि आगम में केवलज्ञानि को भी अत्यंत साता वेदनीयकर्म का उदय होता है, ऐसा प्रतिपादन किया है।

उपरांत केवलज्ञानि के कवलाहार को सिद्ध करती हुई युक्ति भी है - "यदि घातिकर्म के क्षय से संपूर्ण कोटी के ज्ञानादि का उदय केवलज्ञानि को हो तो वेदनीय कर्म के उदय की विद्यमानता में केवलज्ञानि को क्यों भूख न लगे? भूख लगती हो तो कवलाहार का निषेध क्यों किया जाता है? अर्थात् वेदनीयकर्म का उदय केवलज्ञानि को होने से उनको भी कवलाहार लेना संगत ही है।

जैसे छाया और आतप (धूप) एकसाथ नहीं रह सकते तथा जैसे भाव और अभाव परस्पर परिहारस्वरुप है। अर्थात् भाव अभाव का परिहार करके अपना सद्भाव स्थित करता है और अभाव भाव का परिहार करके अपनी सत्ता सिद्ध करता है। इस प्रकार जैसे छांव और धूप (छाया और आतप) को तथा भाव और अभाव को एकसाथ रहने में विरोध है। वैसे प्रकार का विरोध केवलज्ञानादि और क्षुधा को एकसाथ रहने में नहीं है। साता और असातारुप वेदनीयकर्म का उदय अंतर्मुहूर्त से बदलता है। इसलिए सातावेदनीय कर्म के उदय की तरह असातावेदनीयकर्म का उदय भी होता ही है। तथा केवलज्ञानी को अंनतवीर्य होने पर भी शरीर के बल का अपचय और क्षुधा वेदनीय की पीडा भी होती ही है।

इसलिए केवलज्ञानि को भोजन करने मात्र से कुछ बिगडता नहीं है। मात्र केवलज्ञानि को कवलाहार न मानने में आपका कदाग्रह काम करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदुच्यते "वेदनीयस्योदीरणाभावात् प्रभूततरपुद्गलोदयाभावः[E-65], तदभावाच्चात्यन्तं पीडाभावः" इति, तदयुक्तं, तुर्यादिगुणस्थानकेषु वेदनीयस्य गुणश्रेणीसद्भावात्, प्रचुरपुद्गलोदये सत्यपि तत्कृतपीडाल्पत्वस्यैव दर्शनात्, जिने सातोदयवत् प्रचुरपुद्गलोदयाभावेऽपि तीव्रत्वप्रदर्शनाच्चेति । यदप्युच्यते "आहाराकाङ्क्षा क्षुत्, सा च परिग्रहबुद्धिः, सा च मोहनीयविकारः, तस्य चापगतत्वात्केवलिनो न भुक्तिः" इति, तदसम्यक्, [E-66]यतो मोहनीयविपाकात्क्षुन्न भवति, तद्विपाकस्य प्रतिपक्षभावनानिवर्त्त्यमानत्वात्, क्रोधादीनां तथोपरमोपलब्धेः । तदुक्तं "उवसमेण हणे कोहं" [दश० वै. ८/३९] इत्यादि[E-67] । न तु क्षुद्वेदनीयं तद्विपक्षभावनया निवर्त्त्यमानं दृष्टम्, अतो न मोहविपाकस्वभावा क्षुदिति । एतेन यदुच्यते-"अपवर्त्यते कृतार्थं, नायुर्ज्ञानादयो न हीयन्ते । जगदुपकृतावनन्तं, वीर्यं किं गततृषो भुक्तिः ।।१।।" [केवलिभुक्ति० श्लो-१६] इत्यादि निरस्तं, एवंविधौदारिकत्वादि-सामग्रीसद्भावेन छद्मस्थावस्थायामपि केवलिनोऽभुक्तिप्रसक्तेः । समस्तवीर्यान्त-रायक्षयाभावच्छद्मस्थस्य भुक्तिरिति चेत्, तदयुक्तम् । यतः, किं तत्रायुष्कस्यापवर्तनं स्यात्किं वा चतुर्णां ज्ञानानां काचिद्धानिः स्यात्, येन भुक्तिः ? तेन यथा दीर्घकालस्थितेरायुष्कं कारणमेवमाहारोऽपि, यथासिद्धिगतेर्व्युपरतक्रियाध्यानचरमक्षणः[E-68] कारणं एवं सम्यक्त्वादिकमपीति अनन्तवीर्यतापि तस्याहारग्रहणे न विरुध्यते । यथा तस्य देवच्छन्दादीनि विश्रामकारणानि [E-69]गमननिषीदनानि च भवन्ति एवमाहारक्रियापि विरोधाभावात् । न च बलवत्तरस्य वीर्यवतोऽल्पीयसी क्षुत्, व्यभिचारात् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

"वेदनीयकर्म के उदय के असमय में भी जबरजस्ती से उन कर्म के पुद्गलो को उदय में लाने स्वरुप वेदनीयकर्म के पुद्गलो की उदीरणा जब होती है, तब भूख की अत्यंत पीडा होती है, परंतु केवलज्ञानि को वेदनीयकर्म की उदीरणा का अभाव होने से प्रभूततर कर्मपुद्गल का अभाव होता है तथा उसके अभाव में अत्यंत पीडा का भी अभाव होता है । इसलिए अत्यंतपीडा के अभाव में कवलाहार करने की भी जरुरत रहती नहीं है ।" आपके द्वारा ऐसा जो कहा जाता है, वह अयोग्य है । क्योंकि बहोत कर्मपुद्गलो के उदय में बहोत पीडा होती है । ऐसा कोई नियम नहीं है ।

चौथे इत्यादि गुणस्थानकादि में गुणश्रेणी का सद्भाव होता है । (अर्थात् सम्यग्दर्शन गुणस्थानक से असंख्यातगुण निर्जरा चालू होती है (शुरु होती है) वह उत्तरोत्तर बढती जाती है ।) वैसी गुणश्रेणी की

(E-65-66-67-68-69) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विद्यमानता में प्रचुर पुद्गलकर्म के उदय में भी तत्कृतपीडा अल्प ही होती है तथा जिनेश्वर परमात्मा को सातावेदनीय कर्म के पुद्गलो के प्रचूर उदय का अभाव होने पर भी तीव्र साता का अनुभव होता है। इसलिए **"पुद्गलकर्मो का उदय ज्यादा होने पर पीडा ज्यादा और पुद्गलकर्मो का उदय कम होने पर पीडा कम।"** ऐसा कोई नियम नहीं है।

इस प्रकार **"वेदनीयकर्म की उदीरणा से ही भूख की पीडा होती है।"** ऐसा संबंध जोडने की आवश्यकता नहीं है। असाता कर्म का उदय भूख लगाने में पर्याप्तकारण है।

उपरांत आपके द्वारा **"आहार की आकांक्षा वही क्षुधा है और वह आकांक्षा परिग्रहस्वरुप है। क्योंकि परिग्रह का मूलकारण आकांक्षा है और यह आकांक्षा मोहनीय कर्म का विकार है और मोहनीय कर्म का विकार केवलज्ञानि का सर्वथा नष्ट हुआ है। इसलिए मोहनीयकर्म के विकार स्वरुप आहार की आकांक्षा केवलज्ञानि को न होने से उनको भुक्ति (कवलाहार) होती नहीं है।"** ऐसा जो कहा जाता है वह भी असत्य है। क्योंकि मोहनीयकर्म के विपाक से क्षुधा उत्पन्न होती नहीं है। क्योंकि मोहनीयकर्म का विपाक प्रतिपक्षभावना से निवर्तमान है। जैसे कि, क्षमा इत्यादि प्रतिपक्षभावना को भावने से मोहनीयकर्म के विपाकस्वरुप क्रोधादि का उपरम होता दिखता है। इसलिए दशवैकालिक अ.८।३९ से **"उपशम से क्रोध को मारो"** इत्यादि कहा है।

परंतु विपक्षभावना भावने से (रखने से) क्षुधावेदनीय निवर्तमान होती नहीं है। विपक्षभावना से भूख मिट जाती नहीं है। इसलिए मोह का विपाकस्वरुप क्षुधा नहीं है।

इसके द्वारा **"कृतार्थ केवलज्ञानि के आयुष्य में न्यूनाधिकता होती नहि है, निरावरण ज्ञानादि की हानि होती नहीं है तथा जगत के उपर उपकार करने में अनंतवीर्य विद्यमान है, जिसकी तृष्णा नष्ट हो गई है, ऐसे केवलज्ञानि को भोजन की क्या आवश्यकता है।"** ऐसा जो कहा जाता है, उसका भी खंडन हो जाता है।

उपरांत आहार ग्रहण में कारणरुप औदारिकसामग्री केवलज्ञानि को केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद भी होती है। इसलिए केवलज्ञान के सद्भाव में आहारग्रहण में कारणरुप शरीरादिसामग्री होने पर भी भोजन का अभाव कहोंगे तो केवलज्ञानिको केवलज्ञान पाने से पहले भी भोजन के अभाव की आपत्ति आ पडेगी।

इसके सामने **"छद्मस्थ जीव को समस्तवीर्यांतराय के क्षय का अभाव होने से (शरीर की स्थिति के लिए) भोजन करना पडता है।"** ऐसा आप कहोंगे तो वह भी अयुक्त है। क्योंकि छद्मस्थ जीव को आयुष्य की हानि या ज्ञानादि की हानिरुप क्या कारण है कि जिससे भोजन करना पडता है। इस प्रश्न के जवाब में बताना ही पडेगा कि दीर्घकाल की स्थितिवाले आयुष्य की हानि न हो, इसके लिए आहार ग्रहण किया जाता है। तो केवलज्ञानि को भी दीर्घ आयुष्य के कारण भोजन मानने में क्या इतराज (दिक्कत) है? इसलिए चिरकालीन आयुष्यकर्म के कारण केवलज्ञानि को भोजन मानने में कोई विरोध नहीं है। इसी तरह से सिद्धिगति में समस्त मन-वचन-काया के व्यापार का निरोध करने स्वरुप व्युपरतक्रिया स्वरुप ध्यान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की पूर्णता कारणरुप है। उसी ही तरह से उसमें सम्यग्दर्शनादि भी परंपरा से कारण है। इसलिए अनंतवीर्य की विद्यमानता में भी मुक्ति के प्रति साक्षात् व्युपरतक्रिया और परंपरा से सम्यग् दर्शनादिगुणो की अपेक्षा है। उसी ही तरह से अनंतवीर्य की विद्यमानता में भी केवलि को लम्बे काल तक जीने में आहारग्रहण की अपेक्षा होती ही है। इसलिए अनंतवीर्य की विद्यमानता में भी केवलि के आहारग्रहण में कोई विरोध नहीं है।

तथा जिस अनुसार से केवली को विश्राम के लिए देवछंदा में आराम करना और चलना, बैठना, उठना इत्यादि क्रियाओ की अपेक्षा होती है। वैसे आहाररुप क्रिया की अपेक्षा में कोई विरोध नहीं है।

उपरांत "बलवत्तरवीर्य के सद्भाव में अल्पभूख होती है --" "ऐसे नियम में भी व्यभिचार है। क्योंकि बलवत्तरवीर्य के सद्भाव में भी बहोत भूख हो ऐसा बहोत बार दिखाई देता है।

किं चागमोऽपि केवलिनो भुक्तिं प्रतिपादयति । तथाहि-तत्त्वार्थसूत्रम् (९,११) । "एकादश जिने" इति । व्याख्या-एकादश परीषहाः क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंश-मशकचर्याशय्यावधरोगतृण-स्पर्शमलाख्या जिने केवलिनि भवन्ति, तत्कारणस्य वेदनीयस्याद्यापि विद्यमानत्वात्[E-70] । न च कारणानुच्छेदे कार्यास्योच्छेदः संभाव्यते, अतिप्रसक्तेः । अत एव केवलिनि क्षुद्वेदनीयपीडा संभाव्यते, किं त्वसावनन्तवीर्यत्वान्न विह्वलीभवति, न चासौ निष्ठितार्थो निःप्रयोजनमेव पीडां सहते, न च शक्यते वक्तुं "एवंभूतमेव[E-71] भगवतः शरीरं, यदुत क्षुत्पीडया न बाध्यते" इति, अनुमानेन तस्यास्तत्र सिद्धत्वात् । तथाहि-केवलिशरीरं क्षुधादिना पीड्यते शरीरत्वात्, अस्मादाद्यधिष्ठित-शरीरवत् । तथा यथा तच्छरीरं स्वभावेन प्रस्वेदादिरहितं एवं प्रक्षेपाहाररहितम-पीत्यपकर्णनीयमेव, अप्रमाणकत्वात् । तदेवं [E-72]देशोनपूर्वकोटिकालस्य केवलिस्थितेः संभवादौदारिकशरीरस्थितेश्च यथायुष्कं कारणमेवं प्रक्षेपाहारोऽपि । तथाहि[E-73]- तैजसशरीरेण मृदूकृतस्या-भ्यवहृतस्य स्वपर्याप्त्या परिणामितस्योत्तरोत्तर-परिणामक्रमेणौदारिकशरीरिणामनेन प्रकारेण क्षुदुद्भवो भवति । वेदनीयोदये चेयं समग्रापि सामग्री भगवति केवलिनि संभवति । ततः केन हेतुनासौ न भुङ्क्त ? इति । न च [E-74]घातिचतुष्टयस्य क्षुद्वेदनीयं प्रति सहकारिकारणभावोऽस्ति, येन तदभावात्तदभाव इत्युच्यते । इति सिद्धा केवलिभुक्तिः । तथा प्रयोगश्चात्र-केवलिनः प्रक्षेपाहारो भवति कवलाहारकेवलित्व-योरविरोधात्, सातवेदनीयवदिति । इति केवलिभुक्तिव्य-वस्थापनस्थलमिति ।। ४५-४६ ।।

(E-70-71-72-73-74) – तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या का भावानुवाद :

उपरांत आगम में भी केवलज्ञानि के भोजनग्रहण का प्रतिपादन किया है। तत्त्वार्थ सूत्र अ. ९।११ में कहा है कि, तेरहवें गुणस्थानक में रहे हुए पे केवलज्ञानि को ग्यारह (११) परीषहो का उदय होता है। अर्थात् क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश, मशक, चर्या-शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल ये ग्यारह परीषह केवलज्ञानि को होते है। क्योंकि वे ग्यारह परीषहो के उदय में कारणरुप वेदनीयकर्म का उदय अभी कारण की विद्यमान है तथा विद्यमानता में कार्य का अभाव होना संभवित नहीं है। अन्यथा (अन्वयव्यभिचाररुप) अतिव्याप्ति आयेगी।

इसलिए ही केवलज्ञानि में क्षुधावेदनीयजन्य पीडा संभवित है। परंतु केवलज्ञानि में अनंतवीर्य होने से भूख की पीडा व्याकुल करती नहीं है।

उपरांत केवलि कृतकृत्य होने से प्रयोजन बिना ही पीडा सहता है, वैसा भी नहि कहना। क्योंकि केवलि कृतकृत्य होने पर भी क्षुधावेदनीयकर्म के उदय में पीडा का अनुभव तो होता ही है। परंतु अनंतवीर्य के कारण वह पीडा हमको जैसे व्याकुल करती है उसी तरह से केवलि को व्याकुल करती नहीं है।

"भगवान का शरीर ही ऐसा होता है कि उनको भूख की पीडा से बाध होता नहीं है। उसके योग से उनको भोजन की भी जरुरत नहीं है।" ऐसा कहने के लिए भी संभव नहीं है। क्योंकि केवलज्ञानि में भूख की पीडा अनुमान से सिद्ध ही है। वह अनुमान प्रयोग इस अनुसार से है - केवलि का शरीर क्षुधादि द्वारा पीडा का अनुभव करता है। क्योंकि शरीर है। जैसे कि हमारा शरीर।

उपरांत **"जैसे केवलि का शरीर स्वभाव से प्रस्वेदादि (पसीने इत्यादि) से रहित होता है। उस अनुसार से कवलाहार का अभाव भी होता है।"** ऐसा कहना बिलकुल अनुचित है क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है।

इसलिए इस अनुसार से देशोनपूर्वक्रोड वर्ष रहनेवाले केवलि के शरीर को लम्बे आयुष्य की अपेक्षा है। वैसे उसके साथ नियत जुडे हुए सहकारीकारण आहार की भी अपेक्षा होती ही है तथा तैजसशरीर पहले खाई हुई खुराक को पचाता है और उसमें से रक्तादि बनाता है और स्वपर्याप्ति द्वारा उसमें से शरीर बनता है।

इस प्रकार से जीव को फिर से भूख लगती है। वेदनीय कर्म के उदय में आहारग्रहण में कारणरुप उपरोक्त बताई हुई समग्रसामग्री केवलज्ञानि में संभवित होती है। इसलिए कौनसे कारण से केवलज्ञानि को भोजन होता नहीं है ऐसा कहते हो ?

"चार घातिकर्म क्षुधा की वेदना के उदय में सहकारीकारण है। केवलज्ञान में चार घातिकर्मो का क्षय हुआ होने से उनको क्षुधा की वेदना होती नहीं है।" ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि क्षुधा वेदनीय के उदय में चार घातिकर्म सहकारि कारण नहीं है, कि जिससे चार घातिकर्म के अभाव में क्षुधावेदनीय के उदय का भी अभाव हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उस तरह से केवलज्ञानि को भी भोजन (आहार ग्रहण - कवलाहार) सिद्ध है।

अनुमानप्रयोग इस अनुसार से है - "**केवलज्ञानि को कवलाहार होता है, क्योंकि केवलज्ञान और कवलाहार को एकसाथ रहने में विरोध नहीं है।**" जैसे कि केवलज्ञान की विद्यमानता में सातावेदनीय के सद्भाव का विरोध नहीं है, वैसे केवलज्ञान की विद्यमानता में कवलाहार के सद्भाव का विरोध नहीं आता है।

इस तरह से केवलिभुक्ति व्यवस्थापनस्थल (सामान्य से पूर्ण होता) है। विशेष वर्णन जैन दर्शन के न्यायाचार्य न्यायविशारद पू. महोपाध्याप श्री यशोविजयजी महाराजा विरचित अध्यात्ममत परीक्षा ग्रंथ से देख लेना ॥४६॥

अथ तत्त्वान्याह । अब जैनदर्शन के तत्त्वो को कहते है।

(मू. लो.) जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापमास्रवसंवरौ ।
बन्धो विनिर्जरामोक्षौ [E-75]नव तत्त्वानि तन्मते ॥४७॥

श्लोकार्थ : जैन मत में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष, ये नौ तत्त्व है।

व्याख्या-चेतनालक्षणो जीवः १, तद्विपरीतलक्षणस्त्वजीवः २ । धर्माधर्माकाशकाल-पुद्गलभेदेन त्वसौ पञ्चधा व्यवस्थितः । अनयोरेव द्वयोर्जगद्वर्तिनः सर्वेऽपि भावा अन्तर्भवन्ति । नहि ज्ञानादयो रूपरसादयश्च द्रव्यगुणा उत्क्षेपणादीनि च कर्माणि सामान्यविशेषसमवायाश्च जीवाजीवव्यतिरेकेणात्मस्थितिं लभन्ते, तद्भेदेनैकान्ततस्तेषामनुपलम्भात्, तेषां तदात्मकत्वेन प्रतिपत्तेः, अन्यथा तदसत्त्वप्रसङ्गात् । बौद्धादिपरिकल्पितदुःखादितत्त्वानि जीवाजीवाभ्यां पृथग्जात्यन्तरतया न वक्तव्यानि, जीवाजीवराशिद्वयेन सर्वस्य जगतो व्याप्तत्वात्, तदव्याप्तस्य शशशृङ्गतुल्यत्वात् । तर्हि पुण्यपापास्रवादीनामपि ततः पृथगुपादानं न युक्तिप्रधानं स्यात्, राशिद्वयेन सर्वस्य व्याप्तत्वादिति चेत् ? न, पुण्यादीनां विप्रतिपत्तिनिरासार्थत्वात्, आस्रवादीनां सकारणसंसारमुक्तिप्रतिपादनपरत्वाद्वा पृथगुपादानस्यादुष्टता । यथा च संवरनिर्जरयोर्मोक्षहेतुता, आस्रवस्य बन्धननिबन्धनत्वं, पुण्यापुण्यद्विभेदबन्धस्य च संसारहेतुत्वं तथागमात्प्रतिपत्तव्यम् । तत्र पुण्यं शुभाः कर्मपुद्गलाः ३ । त एव त्वशुभाः पापं ४ । आस्रवति कर्म यतः स आस्रवः[E-76] कायवाङ्मनो व्यापारः, पुण्यापुण्यहेतुतया चासौ द्विविधः ५ । आस्रवनिरोधः संवरः[E-77]; गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षादीनां[E-78] चास्रवप्रतिबन्ध-कारित्वात्, स च द्विविधः[E-79] सर्वदेशभेदात् ६ । योगनिमित्तः सकषायस्यात्मनः कर्मवर्गणापुद्गलैः संश्लेशविशेषो बन्धः, स च सामान्येनैकविधोऽपि प्रकृतिस्थित्यनु-

(E-75-76-77-78-79) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भागप्रदेशभेदेन चतुर्धा[E-80], पुनरेकैको ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतिभेदादष्टधा[E-81], पुनरपि मत्यावरणादितदुत्तरप्रकृतिभेदादनेकविधः । अयं च कश्चित्तीर्थकरत्वादिफलनिर्वर्तकत्वात्प्रशस्तः, अपरश्च नारकादिफलनिर्वर्तकत्वादप्रशस्तः, प्रशस्ताप्रशस्तात्मपरिणामोद्भूतस्य कर्मणः सुखदुःखसंवेदनीयफलनिर्वर्तकत्वात् ७ । आत्मसंपृक्तकर्मनिर्जरणकारणं निर्जरा द्वादशविधतपोरूपा । सा चोत्कृष्टा शुक्लध्यानरूपा "तपसा निर्जरा च" [तत्त्वार्थाधिगम० ९, ३] इति वचनात्, ध्यानस्य चान्तरतपोरूपत्वात् ९ । विनिर्मुक्ताशेषबन्धनस्य प्राप्तनिजस्वरूपस्यात्मनो लोकान्तेऽवस्थानं मोक्षः, 'बन्धविप्रयोगो मोक्षः' इति वचनात् ९ । एतानि नवसंख्यानि तत्त्वानि तन्मते-जैनमते ज्ञातव्यानि ।।४७।।

व्याख्या का भावानुवाद :

चैतन्य (चेतना) जीव का लक्षण है। अचैतन्य अजीव का लक्षण है। अजीव के पांच प्रकार है। (१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) काल, (५) पुद्गलास्तिकाय।

वे जीव और अजीव दो ही तत्त्वो में जगत्वर्ती सभी भावो का (पदार्थोका) अंतर्भाव हो जाता है।

इसलिए ही वैशेषिको द्वारा माने गये ज्ञानादि, तथा रुपादिगुण, उत्क्षेपणादि पांच कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, जीव और अजीव से स्वतंत्ररुप से (अतिरिक्त रुप से) अपना अस्तित्व रखते नहीं है। वे उन दोनो के स्वभावरुप ही है। अर्थात् उन सभी का जीव-अजीव पदार्थो में समावेश हो जाता है। क्योंकि (कोई भी प्रमाण) गुणआदि पदार्थो को द्रव्य से सर्वथा भिन्नरुप में जान सकता नहीं है। क्योंकि द्रव्य के बिना गुण का उपलंभ होता नहीं है। इसलिए वह द्रव्यात्मक है। यदि गुण आदि पदार्थ को द्रव्य माना जाये तो जिस तरह से गुणरहित द्रव्य का अभाव हो जाता है। वैसे ही द्रव्यरुप आश्रय के बिना गुणादि भी निराधार हो जाने के कारण असत्रुप बन जाने की आपत्ति आयेगी।

बौद्धो के द्वारा परिकल्पित दुःखादि चार तत्त्वो को जीव और अजीव से पृथक् जातिपन से नहि कहना चाहिए, क्योंकि सर्वजगत जीव-अजीव ऐसी दो राशि द्वारा व्याप्त है तथा जीव-अजीव दो राशि से अव्याप्त पदार्थ खरगोस के सिंगकी तरह भ्रान्त है, असत् है।

पूर्वपक्ष : तो फिर आप लोगो ने जीव-अजीव दो राशि से पुण्य-पापादि का पृथक् उपादान किया है। वह युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि आप के मतानुसार दो राशि से सर्व जगत व्याप्त है।

उत्तरपक्ष (जैन) : ऐसा ना कहना। (क्योंकि पुण्य-पापादि का जीव-अजीव दो राशि में समावेश हो ही जाता है। संवर, निर्जरा, मोक्ष का जीवराशि में समावेश हो जाता है। पाप-पुण्य, आश्रव, बंध का समावेश अजीव में होता है।) तो भी लोगो को पुण्य और पाप के विषय में विप्रतिपत्ति (संदेह) है। संदेह

(E-80-81) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के निराकरण के लिए पृथक् उपादान करके उसकी सिद्धि की है। इसलिए पुण्यादिका पृथक् उपादान अदुष्ट है) आश्रव-बंध संसार का तथा संवर-निर्जरा मोक्ष का प्रतिपादन करने में उपयोगी होने से उनका पृथक् उपादान भी अदुष्ट है।

जिस अनुसार से संवर-निर्जरा मोक्ष के कारण है। आश्रव कर्मबंध का कारण है। पुण्य-पापरुप दोनो कर्मबंध संसार का कारण है, उस अनुसार से आगम से स्वीकार करना चाहिए। अर्थात् आगम में पुण्य, पाप, आश्रव, बंध को संसार के कारण कहा है और संवर-निर्जरा को मोक्ष के कारण कहा है, उसे स्वीकार करना चाहिए।

उसमें शुभकर्मो के पुद्गलो को पुण्य कहा जाता है, अशुभकर्म के पुद्गलो को पाप कहा जाता है। जिससे कर्म आता है वह आश्रव। वह मन-वचन-काया के व्यापारस्वरुप और पुण्य-पाप के कारण रुप ऐसा दो प्रकार का है। आश्रव के निरोध को संवर कहा जाता है। गुप्ति, समिति, दसविध यतिधर्म, अनुप्रेक्षा (बारह भावना) परिषह, चारित्र, आश्रवका प्रतिबंध करनेवाले होने से (गुप्ति इत्यादि को) संवर कहा जाता है। वह संवर दो प्रकार का है। (१) सर्वसंवर, (२) देशसंवर। (चौदहवें गुणस्थानक पे सर्वसंवर होता है।)

मन-वचन-काया के व्यापार के निमित्त से सकषायि आत्मा का कर्मपुद्गल के साथ का संश्लेष (संबंध) विशेष को बंध कहा जाता है। वह बंध सामान्यतः एक प्रकार का होने पर भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग (रस) और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है। वे एक एक के ज्ञानावरणीयादि मूलप्रकृति के भेद से आठ प्रकार है। मतिज्ञानावरणीयादि उत्तरप्रकृति के भेद से अनेक प्रकार (= एक सौ अठ्ठावन प्रकार) है।

यह बंध किसी तीर्थंकरत्वादि फल का सर्जन करता हो तब प्रशस्त है और दूसरा नरकादि फल का सर्जन करता होने से अप्रशस्त है तथा प्रशस्त और अप्रशस्त आत्मा के अध्यवसायों से (निश्चयो से) पैदा हुआ कर्म क्रमशः सुख-दुःखरुप फल का सर्जन करता है।

आत्मा के उपर चिपके हुए कर्म को गिराने में कारणरुप निर्जरा बारह प्रकार के तप स्वरुप है। उत्कृष्ट निर्जरा शुक्लध्यानरुप है। क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र के अ. ९।३ में कहा है कि तप से निर्जरा होती है और ध्यान अभ्यंतरतपस्वरुप है।

सभी बंधन से सर्वथामुक्त और सहजस्वरुप के प्रापक आत्मा के लोक का अंत में (सिद्धशिला के उपर) हुए अवस्थान को मोक्ष कहा जाता है। इसलिए शास्त्र में कहा है कि बंध के उच्छेद से मोक्ष होता है।

अथ शास्त्राकार एव तत्त्वानि क्रमेण व्याख्याति, तत्र यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात् प्रथमं जीवतत्त्वमाह - अब शास्त्रकारपरमर्षि ही क्रमशः तत्त्वो की व्याख्या करते है। "(द्वारगाथामें) जिस अनुसार से उद्देश हो, उस क्रमानुसार निर्देश करना चाहिए।" इस न्याय से प्रथम जीवतत्त्व को कहते है।

(मू.श्लो.)

तत्र ज्ञानादिधर्मेभ्यो भिन्नाभिन्नो विवृत्तिमान् । शुभाशुभकर्मकर्त्ता भोक्ता कर्मफलस्य च ।। ४८ ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चैतन्यलक्षणो जीवो यश्चैतद्विपरीतवान् । अजीवः स समाख्यातः पुण्यं सत्कर्मपुद्गलाः ।।४९।।

श्लोकार्थ : ज्ञानादिधर्मो से भिन्नाभिन्न स्वरुप, मनुष्यादि पर्यायो को धारण करनेवाला (विवृत्तिमान्) शुभाशुभकर्मो का कर्ता, कर्म के फल का भोक्ता, चैतन्यस्वरुप जीव है। उससे विपरीत (चैतन्यशून्य) को अजीव कहा जाता है तथा शुभकर्मो के पुद्गलो को पुण्य कहा जाता है।

व्याख्या-तत्रेति निर्धारणार्थः । ये ज्ञानदर्शनचारित्रसुखदुःखवीर्यभव्यत्वाभव्यत्वसत्त्व-प्रमेयत्वद्रव्यत्वप्राणधारित्वक्रोधादिपरिणतत्वसंसारित्वसिद्धत्वपरवस्तुव्यावृत्तत्वादयः स्वपरपर्याया जीवस्य भवन्ति, ते ज्ञानादयो धर्मा उच्यन्ते । तेभ्यो जीवो न भिन्नो नाप्यभिन्नः किं तु जात्यन्तरतया भिन्नाभिन्नः । यदि हि ज्ञानादिधर्मेभ्यो जीवो भिन्नः स्यात्, तदा "अहं जानामि, अहं पश्यामि, अहं ज्ञाता, अहं द्रष्टा, अहं सुखितः, अहं भव्यः" चेत्याद्यभेदप्रतिभासो न स्यात्, अस्ति च सर्वप्राणिनां सोऽभेदप्रतिभासः । तथा यद्यभिन्नः स्यात् तदा "अयं धर्मी, एते धर्माः" इति भेदबुद्धिर्न स्यात्, अस्ति च सा । अथवाऽभिन्नतायां ज्ञानादिसर्वधर्माणामैक्यं स्यात्, एकजीवाऽभिन्नत्वात् । तथा च "मम ज्ञानं मम दर्शनं चास्ति" इत्यादिज्ञानादिधर्माणां मिथोभेदप्रतीतिर्न स्यात्, अस्ति च सा । ततो ज्ञानादिधर्मेभ्यो भिन्नाभिन्न एवाभ्युपगन्तव्यः । अनेन धर्मधर्मिणोर्वैशेषिकाद्यभिमतं भेदैकान्तं सौगतस्वीकृतं चाभेदैकान्तं प्रतिक्षिपति, सौगतेनापि बुद्धिक्षणपरंपरारूपस्यात्मनो धर्मित्वेन स्वीकारात्, । तथा विविधं वर्तनं विवृत्तिर्नरामरादिपर्यायान्तरानुसरणं तद्वान् विवृत्तिमान्, अनेन भवान्तरगामिनमात्मानं प्रति विप्रतिपन्नांश्चार्वाकान् कूटस्थनित्यात्मवादिनो नैयायिकादीन्निरस्यति । तथा शुभाशुभानि कर्माणि करोतीति शुभाशुभकर्मकर्त्ता । तथा स्वकृतस्य कर्मणो यत्फलं सुखादिकं, तस्य साक्षाद्भोक्ता च । चकारो विशेषणानां समुच्चये । एतेन विशेषणद्वयेनाकर्त्तारमुपचरितवृत्त्या भोक्तारं चात्मानं मन्यमानानां सांख्यानां निरासः । तथा चैतन्यं साकारनिराकारोपयोगात्मकं लक्षणं स्वरूपं यस्य स चैतन्यलक्षणः, एतेन जडस्वरूपो नैयायिकादिसंमत आत्मा व्यवच्छिद्यते । एवंविशेषणो जीवः समाख्यात इत्यत्रापि संबन्धनीयमिति ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

श्लोक में "**तत्र**" पद निर्धारणार्थक है। जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, दुःख, वीर्य, भव्यत्व, अभव्यत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, प्राणधारित्व, क्रोधादि परिणतत्व, संसारित्व, सिद्धत्व, परवस्तुव्यावृत्तत्व इत्यादि स्व-पर पर्याय जीव के है, उसे ज्ञानादिधर्म कहे जाते है। उस ज्ञानादिधर्मो से जीव (सर्वथा) भिन्न भी नहीं है या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अभिन्न भी नहीं है। परंतु भिन्नाभिन्नत्वरुप जात्यन्तर है।

यदि ज्ञानादिधर्मो से जीव (सर्वथा) भिन्न हो तो "मैं जानता हूं", "मैं देखता हूं", "मै ज्ञाता हूं", "मैं दृष्टा हूं", "मैं सुखी हूं", "मैं दुःखी हूं", "मैं भव्य हूं" इत्यादि (ज्ञानादिधर्म और जीव के भेदका) प्रतिभास न होता और सभी जीवो को वह भेद का प्रतिभास होता ही है।

तथा ज्ञानादिधर्मो से आत्मा (सर्वथा) अभिन्न हो तो, यह धर्मी है और ये धर्म है। ऐसे प्रकार की भेदबुद्धि नहीं होगी। और ऐसी भेदबुद्धि तो होती ही है।

अथवा ज्ञानादिधर्मो से आत्मा को अभिन्न मानोंगे तो ज्ञानादि सर्वधर्मो का ऐक्य हो जायेगा, क्योंकि एक जीव से वे धर्म अभिन्न है।

तथा **"मेरा ज्ञान, मेरा दर्शन, मेरा सुख"** इत्यादि ज्ञानादिधर्मो का परस्पर भेद, प्रतीत होता ही है। यदि ज्ञानादिधर्मो से आत्मा को अभिन्न मानोंगे तो ऐसी प्रतीति नहिं हो सकेगी।

इसलिए जीव को ज्ञानादिधर्मो से भिन्नाभिन्न मानना चाहिए। इसके द्वारा धर्म और धर्मी को एकांत से भिन्न मानते हुए वैशेषिको के मत का तथा धर्म और धर्मी को एकांत से अभिन्न मानते हुए बौद्ध के मत का खंडन हो जाता है। बौद्धो ज्ञानक्षण की परंपरा को आत्मा मानते है, इसलिए बोद्धोने भी आत्मा को धर्मी के रुप में स्वीकार किया है।

विविध प्रकार से वर्तन करना उसे विवृत्ति कहा जाता है। अर्थात् देव, मनुष्य इत्यादि पर्यायो का अनुसरण करना उसे विवृत्ति कहा जाता है। ऐसा विवृत्तिवाला आत्मा है।

इसके द्वारा भवांतरगामि आत्मा का निषेध करते हुए चार्वाक के मत का तथा आत्मा को (एक स्वरुप के स्थिर रहनेवाला, उत्पत्ति और विनाशरहित) कूटस्थनित्य माननेवाले नैयायिक इत्यादि के मत का भी खंडन हो जाता है।

आत्मा शुभाशुभकर्मो का कर्ता है। तथा स्वयं किये हुए कर्मो के सुखादिफल का साक्षात्भोक्ता है। "च" समुच्चयार्थक है। **"आत्मा कर्म का कर्ता और भोक्ता है।"** ऐसे दो विशेषण के ग्रहण से आत्मा को अकर्ता माननेवाले तथा आत्मा को उपचार से भोक्ता माननेवाले सांख्यो के मत का खंडन हो जाता है।

चैतन्यस्वरुपवाला आत्मा है। अर्थात् साकार (ज्ञान) और निराकार (दर्शन) स्वरुप आत्मा है। इस विशेषण से आत्मा को ज्ञानशून्य माननेवाले नैयायिको इत्यादि के मत का उच्छेद होता है। अर्थात् ज्ञानशून्य जड स्वरुप नैयायिकादि संमत आत्मा का व्यवच्छेद होता है।

ऐसे विशेषण से युक्तजीव जैनदर्शन में कहा गया है। इस अनुसार से यहाँ (अंत में) संबंध करना।

अत्र चार्वाकाश्चर्चयन्ति यथा-इह **कायाकारपरिणतानि चेतनाकारणभूतानि भूतान्येवोप-**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लभ्यन्ते, न पुनस्तेभ्यो व्यतिरिक्तो भवान्तरयायी यथोक्तलक्षणः कश्चनाप्यात्मा, तत्सद्भावे प्रमाणाभावात् । तथाहि-भूतव्यतिरिक्तात्मसद्भावे किं प्रत्यक्षं प्रमाणं प्रवर्तेत उतानुमानम् ? न तावत्प्रत्यक्षं, तस्य प्रतिनियतेन्द्रियसंबद्धरूपादिगोचरतया तद्विलक्षणे जीवे प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । न च "घटमहं वेदिम" इत्यहंप्रत्यये ज्ञानकर्तृतयात्मा भूतव्यतिरिक्तः प्रतिभाति इत्यभिधातव्यं, तस्य "स्थूलोऽहं कृशोऽहं" इत्यादिवच्छरीरविषयत्वस्यैवोपपत्तेः, न खलु तत्प्रत्ययस्यात्मालम्बनत्वमस्ति, आत्मनि स्थौल्यादिधर्मासंभवात् । तथा "घटमहं वेदिम" इत्यस्यापि प्रत्ययस्य न शरीरादन्यो भवत्परिकल्पितः कश्चनाप्यात्माऽऽलम्बनत्वेन स्वप्नेऽपि प्रतीयते, अप्रतीतस्यापि कल्पने कल्पनागौरवं प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थाया अभावश्च स्यात् । नच जडरूपस्य शरीरस्य घटादेरिवाहंप्रत्ययोऽनुपपन्नः इति वाच्यं, चेतनायोगेन तस्य सचेतनत्वात् । नच सा चेतना जीवकर्तृका इति वाच्यं, तस्याऽप्रतीतत्वात् तत्कर्तृत्वमयुक्तं, खपुष्पादेरपि तत्प्रसङ्गात् । ततःप्रसिद्धत्वाच्छरीरस्यैव चैतन्यं प्रति कर्तृत्वं युक्तं, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाच्च । प्रयोगश्चात्र-यत्खलु यस्यान्वयव्यतिरेकावनुकरोति तत्तस्य कार्यं, यथा घटो मृत्पिण्डस्य । शरीरस्यान्वयव्यतिरेकावनुकरोति च चैतन्यम् तस्मात्तत्कर्तृत्वम् । अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः । तौ चात्र विद्येते, सति शरीरे चैतन्योपलब्धेः, असति चानुपलब्धेः । नच मृतशरीरे चैतन्यानुपलब्धेस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वमसिद्धं इति वाच्यं, मृतावस्थायां वायुतेजसोरभावेन शरीरस्यैवाभावात्, विशिष्टभूतसंयोगस्यैव शरीरत्वप्रतिपादनात् । नच शरीराकारमात्रे चैतन्योत्पत्तिर्युक्ता, चित्रलिखिततुरङ्गमादिष्वपि चैतन्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । ततः सिद्धं शरीरकार्यमेव चैतन्यम् । ततश्च चैतन्यसहिते शरीर एवाहंप्रत्ययोत्पत्तिः सिद्धा । इति न प्रत्यक्षप्रमेय आत्मा, ततश्चाविद्यमान एव । प्रयोगश्चात्र-नास्त्यात्मा, अत्यन्ताप्रत्यक्षत्वात् यदत्यन्ताप्रत्यक्षं तन्नास्ति, यथा खपुष्पम् । यच्चास्ति तत्प्रत्यक्षेण गृह्यत एव, यथा घटः । अणवोऽपि ह्यप्रत्यक्षाः, किं तु घटादिकार्यतया परिणतास्ते प्रत्यक्षत्वमुपयान्ति, न पुनरेवमात्मा कदाचिदपि प्रत्यक्षभावमुपगच्छति, अतोऽत्रात्यन्तेति विशेषणमिति न परमाणुभिर्व्यभिचार इति १ ।

व्याख्या का भावानुवाद : (अब आत्मा को स्वतंत्र तत्त्व नहि माननेवाला चार्वाक चर्चा का प्रारंभ करता है ।)

पूर्वपक्ष (चार्वाक) : इस जगत में काया के (शरीर के) आकार में परिणत तथा चेतना के कारणभूत भूत ही उपलब्ध है । परंतु उस भूतो से अतिरिक्त परलोकगामि तथा उपरोक्त विशेषणो से युक्त (अर्थात् परलोकगामि, ज्ञानादिगुणवान्, कर्ता, भोक्ता ऐसा) कोई भी आत्मा नहीं है । क्योंकि ऐसे आत्मा की सत्ता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को सिद्ध करनेवाले प्रमाण का अभाव है - वह इस प्रकार से है - क्या भूत से अतिरिक्त आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्षप्रमाण प्रवर्तित है या अनुमानप्रमाण प्रवर्तित है ? उसमें

प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा भूत से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि होती है, - वैसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण प्रतिनियत क्षेत्र में रहे हुए इन्द्रियसंबद्ध रुपादि स्थूल पदार्थो को विषय करता है। उससे विलक्षण जीव (आत्मा) प्रत्यक्षप्रमाण का विषय बनता नहीं है। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है। अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा भूत से अतिरिक्त आत्मा की सत्ता सिद्ध नहीं होती है।

शंका : इन्द्रिय प्रत्यक्ष से आत्मा की चाहे प्रतीति न होती हो। परंतु **"मैं घट को जानता हुँ।"** इत्याकारक प्रतीति में जो अहम्प्रत्ययिक भान होता है। उसमें वह स्वसंवेदन ज्ञान के कर्ता के रुप में भूत से अतिरिक्त आत्मा प्रतिभासित होता है। अर्थात् **"मैं घट को जानता हुँ।"** इस स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा जाननेरुप क्रिया के कर्ता के रुप में आत्मा प्रतिभासित होता ही है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष पृथ्वी इत्यादि भूतो का नहीं होता है। इसलिए पाँचभूतो से आत्मा विलक्षण है। तथा **"मैं हुँ"** ऐसा अहम्प्रत्यय ही आत्मा की सत्ता सिद्ध करने का प्रबल साधन है।

समाधान (चार्वाक) : **"अहम्प्रत्ययिक"** प्रतीति आत्मा की सत्ता सिद्ध करने का प्रबल साधन है - ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जैसे "मैं स्थूल हुँ" "मैं कृश हुँ" इत्याकारक प्रतीति में शरीर ही विषय बनता है। परंतु इस प्रतीति में आत्मा आलंबनभूत बनता नहीं है। क्योंकि आत्मा में स्थूलता इत्यादि धर्मो का संभव नहीं है। उस अनुसार से **"मैं घटको जानता हुँ।"** इत्याकारक प्रतीति में भी आपने द्वारा परिकल्पित शरीर से अतिरिक्त आत्मा स्वप्न में भी आलंबनभूत बनता नहीं है। परन्तु शरीर ही आलंबनभूत बनता है और जो प्रतीत न होता हो उसकी भी कल्पना करने में कल्पनागौरव नाम का दोष आ जाता है। तथा प्रतिनियतपदार्थो की व्यवस्था नष्ट हो जाती है।

शंका : **"अहम्प्रत्यय"** में शरीर ही आलंबन भूत है। परंतु आत्मा आलंबनभूत नहीं है। ऐसी बात भी योग्य नहीं है। क्योंकि जडरुप शरीर को **"मैं घट को जानता हुँ।"** इत्याकारक ज्ञान में प्रतीत होता **अहम्प्रत्यय** होना संगत होता नहीं है। कहने का मतलब यह है कि जिसमें चैतन्य हो उसको ही **"अहम्प्रत्ययिका"** प्रतीति होती है। परंतु जो चैतन्यशून्य हो, उसको तादृशप्रतीति होती नहीं है।

समाधान (चार्वाक) : चेतना के योग से शरीर भी चैतन्यसंयुक्त होता है। इसलिए **"अहम्प्रत्ययिका"** प्रतीति शरीर में होने में बाध नहीं है।

शंका : उस चेतना का कर्ता जीव होता है। इसलिए सचेतनजीव ही बन सकेगा और इसलिए **"अहम्प्रत्ययिका"** प्रतीति आत्मा में ही होती है, ऐसा मानना ही पडेगा।

समाधान (चार्वाक) : जीव चेतना का कर्ता है - यह आपकी बात उचित नहीं है, क्योंकि आत्मा विद्यमान ही नहीं है। अर्थात् आत्मा जैसी कोई चीज प्रतीत नहीं होती है। इसलिए चेतना के कर्ता के रुप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में आत्मा को कहना अयोग्य है। असत् वस्तु को भी कर्ता माना जायेगा तो आकाशकुसुम से भी चेतना की उत्पत्ति माननी पडेगी। अर्थात् आकाशकुसुम भी चेतना का कर्ता बनने की आपत्ति आयेगी।

इसलिए प्रसिद्ध ऐसे शरीर को ही जानना, देखना, इत्यादि चेतना का कर्ता मानना युक्त है और वैसे प्रकार के अन्वय - व्यतिरेक से भी चेतना के कर्ता के रुप में शरीर ही सिद्ध होता है।

यहाँ प्रयोग इस अनुसार से है। **"जो जिसके अन्वय - व्यतिरेक का अनुसरण करता है, उसे उसका कार्य कहा जाता है। जैसे मृत्पिड का कार्य घट।"** अर्थात् **"जहाँ मृत्पिड है। वहाँ घट है और जहाँ मृत्पिड नहि है वहाँ घट नहीं है।"** ऐसे अन्वय-व्यतिरेक से मृत्पिड के कार्य के रुप में घट की सिद्धि होती है। इसी तरह से शरीर के अन्वय - व्यतिरेक का चैतन्य अनुसरण करता है अर्थात् जहाँ शरीर है वहाँ चैतन्य है तथा जहाँ शरीर नहीं है वहाँ चैतन्य नहीं है, ऐसे प्रकार के अन्वय व्यतिरेक से शरीर और चैतन्य में कार्य कारणभाव सिद्ध होता है। इसलिए चैतन्य के कर्ता के रुप में शरीर की सिद्धि होती है।

जगत में जिन जिन पदार्थो के बीच कार्य-कारण भाव देखने को मिलता है, वह अन्वय-व्यतिरेक के योग से देखने को मिलते है। और ऐसे अन्वय - व्यतिरेक यहाँ उपलब्ध होता है। शरीर होने से चैतन्य उपलब्ध होता है और शरीर के अभाव में चैतन्य उपलब्ध होता नहीं है।

ऐसे अन्वय-व्यतिरेक से शरीर-चैतन्य के बीच कार्य-कारणभाव सिद्ध होता है। इसलिए चैतन्य का कर्ता शरीर ही है।

शंका : मृतशरीर में चैतन्य की उपलब्धि होती नहीं है। इसलिए चैतन्य और शरीर के बीच अन्वय-व्यतिरेक से अविनाभाव बताया था वह असिद्ध है। क्योंकि मृतशरीर में चैतन्य न होने से अन्वय-व्यतिरेक अनुविधायित्व नहीं है।

समाधान (चार्वाक) : मृतअवस्था में वायु और तैजस का अभाव होने से शरीर का ही अभाव है, क्योंकि विशिष्टभूत के संयोग को ही शरीर के रुप में प्रतिपादित किया है। अर्थात् जब विशिष्टभूतो का संयोग हो, तब ही उसे शरीर कहा जाता है। मृत अवस्था में वायु-अग्नि का अभाव होने से विशिष्ट भूतो का संयोग नहीं है। इसलिए विवक्षित शरीर नहीं है।

तथा केवल शरीर का आकार हो इतने मात्र से वह शरीर में चैतन्य की उत्पत्ति होती है -- वह कहना युक्त नहीं है। (इसलिए मृत अवस्था में केवल शरीर का आकार होने मात्र से उसमें चैतन्य की उत्पत्ति होनी ही चाहिए, ऐसा आग्रह रखना युक्त नहीं है।) अन्यथा (शरीर के आकारमात्र की विद्यमानता में ही उस शरीर में चैतन्य की उत्पत्ति का स्वीकार किया जाये तो) चित्र में बनाये हुए घोडे आदि में भी चैतन्य की उत्पत्ति होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि उस चित्र में भी घोडे के शरीर का आकार विद्यमान ही है।

इसलिए सिद्ध होता है कि चैतन्य शरीर का कार्य ही है। और इसलिए चैतन्ययुक्त शरीर में ही अहम्प्रत्यय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की उत्पत्ति होती है वह भी सिद्ध होता है। इस अनुसार से आत्मा प्रत्यक्षप्रमाण का प्रमेय (विषय) बनता ही नहीं है और इसलिए जगत में आत्मा जैसी कोई चीज नहीं है।

अनुमान प्रयोग इस अनुसार से है -

"आत्मा नहीं है, क्योंकि वह अत्यंत अप्रत्यक्ष है, जो अत्यंत अप्रत्यक्ष होता है, वह (वस्तु) होती नहीं है। जैसेकि, आकाशपुष्प। और जो होता है उसे प्रत्यक्ष से ग्रहण किया जाता ही है। जैसेकि, घट।

यद्यपि अणु भी अप्रत्यक्ष है परंतु घटादि कार्यरुप में परिणमित हुए वे परमाणु प्रत्यक्षता को प्राप्त करते है। परंतु आत्मा कभी भी प्रत्यक्षभाव को प्राप्त नहीं करता है। इस प्रकार अनुमान प्रयोग के हेतु में ग्रहण किये हुए "अत्यंत" विशेषण से परमाणुओ के साथ व्यभिचार नहीं आता है।

तथा नाप्यनुमानं भूतव्यतिरिक्तात्मसद्भावे प्रवर्तते, तस्याप्रमाणत्वात्, प्रमाणत्वे वा प्रत्यक्षबाधितपक्षप्रयोगानन्तरं प्रयुक्तत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात् । शरीर-व्यतिरिक्तात्मपक्षो हि प्रत्यक्षेणैव बाध्यते । किंच लिङ्गलिङ्गिसंबन्धस्मरणपूर्वकं ह्यनुमानम् । यथा-पूर्वं-महानसादावग्निधूमयोर्लिङ्गिलिङ्गयोरन्वयव्यतिरेकवन्तमविनाभाव-मध्यक्षेण गृहीत्वा तत उत्तरकालं क्वचित्कान्तार-पर्वतनितम्बादौ गगनावलम्बिनीं धूमलेखामवलोक्य प्राग्गृहीतसंबन्धमनुस्मरति । तद्यथा-यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निमद्राक्षं यथा महानसादौ, धूमश्चात्र दृश्यते तस्माद्वह्निनापीह भवितव्यमित्येवं लिङ्गग्रहणसंबन्धस्मरणाभ्यां तत्र प्रमाता हुतभुजमवगच्छति । न चैवमात्मना लिङ्गिना सार्धं कस्यापि लिङ्गस्य प्रत्यक्षेणः संबन्धः सिद्धोऽस्ति, यतस्तत्संबन्धमनुस्मरतः पुनस्तल्लिङ्गदर्शनाज्जीवे स प्रत्ययः स्यात् । यदि पुनर्जीवलिङ्गयोः प्रत्यक्षतः संबन्धसिद्धिः स्यात्, तदा जीवस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्त्या-नुमानवैयर्थ्यं स्यात्, तत एव जीवसिद्धेरिति । न च वक्तव्यं सामान्यतोदृष्टा-नुमानादादित्यगतिवज्जीवः सिध्यति, यथा गतिमानादित्यो देशान्तरप्राप्तिदर्शनात्, देवदत्तवत् इति । यतो हन्त देवदत्ते दृष्टान्तधर्मिणि सामान्येन देशान्तरप्राप्तिर्गतिपूर्विका प्रत्यक्षेणैव निश्चिता सूर्येऽपि तां तथैव प्रमाता साधयतीति युक्तम् । न चैवमत्र क्वचिदपि दृष्टान्ते जीवसत्त्वेना-विनाभूतः कोऽपि हेतुरध्यक्षेणोपलक्ष्यत इत्यतो न सामान्यतोदृष्टादप्यनुमानात्तद्गतिरिति २ ।

व्याख्या का भावानुवाद : (चार्वाक अपनी चर्चा आगे चलाता है।)

अनुमान प्रमाण से भी भूत से अतिरिक्त आत्मा की सत्ता सिद्ध नहीं होती है। क्योंकि अनुमान प्रमाणरुप ही नहीं है। (चार्वाको ने केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही माना है। क्योंकि जगत में जो प्रत्यक्ष दिखता है वही सत् है। उसके सिवा सभी असत् है, ऐसी उन लोगो की मान्यता है।)

अथवा अनुमान को प्रमाण मान ले तो भी आत्मा की सिद्धि के लिए प्रयोजित किया हुआ हेतु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कालात्ययापदिष्ट (बाधित) है। क्योंकि शरीर से अतिरिक्त आत्मा नाम का पक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित होता है। इसलिए प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित पक्षसहित के प्रयोग में प्रयोजित किया हुआ हेतु कालात्ययापदिष्ट है। कहने का मतलब यह है कि प्रत्यक्ष से शरीर से अतिरिक्त आत्मा जैसी कोई चीज दिखाई देती नहीं है, इसलिए प्रत्यक्षप्रमाण से शरीरातिरिक्त आत्मा का बाध होता है। इसलिए आत्मा की सत्ता की सिद्धि में प्रयोजित किया हुआ हेतु कालात्ययापदिष्ट बनता है। **जिस हेतु का साध्यरुप विषय पक्ष में प्रमाणान्तर से बाधित होता है वह हेतु कालात्ययापदिष्ट कहा जाता है।**

उपरांत लिंग-लिंगि के संबंध के स्मरणपूर्वक अनुमान होता है। जैसे कि, कोई व्यक्ति पहले महानसादि में धूम (लिंग) और अग्नि (लिंगि) के अन्वय-व्यतिरेकवाले अविनाभाव को प्रत्यक्ष से ग्रहण करके उसके बाद के काल में कहीं जंगल में पर्वत के शिखरादि के उपर गगनावलंबी धूमरेखा को देखकर पहले ग्रहण किये हुए धूम-अग्नि के संबंध का स्मरण करता है कि - "जहां जहां धूम होता है, वहां वहां वह्नि (अग्नि) होती है, जैसे कि महानसादि में, और यहां धूम दिखता है, इसलिए वह्नि भी यहां होना चाहिए। इस अनुसार से धूमग्रहण तथा संबंध के स्मरण द्वारा वहां प्रमाता के द्वारा अग्नि का अनुमान होता है। (परंतु) इस अनुसार से लिंगि ऐसे आत्मा के साथ कोई भी लिंग का प्रत्यक्ष से संबंध सिद्ध नहीं है। अर्थात् जैसे अग्नि नाम के लिंगि के साथ धूम नाम के लिंग का प्रत्यक्ष से संबंध महानसादि में सिद्ध है। उसी तरह से आत्मा नाम के लिंगि के साथ किसी भी लिंग का प्रत्यक्ष से संबंध किसी भी स्थान पे सिद्ध नहीं है, कि जिससे उस संबंध के अनुस्मरण से तथा पुनः उस लिंग के दर्शन से "**जीव होना चाहिए**" ऐसा ज्ञान हो।

उपरांत यदि जीव (लिंगि) और लिंग का संबंध प्रत्यक्ष से सिद्ध हो तो जीव का प्रत्यक्ष ही हो जाने की आपत्ति आयेगी और इसलिए (लिंग के स्मरण-दर्शन से जीव का अनुमान करने की जरुरत नहीं रहने से) अनुमान प्रमाण व्यर्थ बन जायेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष से ही जीव की सिद्धि हो जाने से अनुमान की क्या जरुरत है ?।

तथा "**जैसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान से सूर्य की गति सिद्ध होती है। वैसे उस अनुमान से जीव की भी सिद्धि होती है।**" ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि जैसे देवदत्त की देशान्तरप्राप्ति गतिपूर्वक है, वैसे सूर्य की देशान्तरप्राप्ति को देखने से सूर्य की गति का अनुमान होता है। यहाँ दृष्टांत ऐसे देवदत्त धर्मी में सामान्य से देशान्तरप्राप्ति गतिपूर्विका है, ऐसा प्रत्यक्ष से निश्चित हुआ है और सूर्य में भी गतिपूर्विका को देशान्तरप्राप्ति द्वारा ही प्रमाता द्वारा सिद्ध होता है। अर्थात् वहाँ सामान्यतोदृष्ट अनुमान से सूर्य की गति का अनुमान किया जाये तो युक्त है, परंतु जीव की सत्ता की सिद्धि में कहीं भी दृष्टांत में जीवकी सत्ता के साथ अविनाभूत हेतु प्रत्यक्ष से नहीं दिखाई देता नहीं है। इसलिए सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी आत्मा की सत्ता की सिद्धि होती नहीं है।

तथा नाप्यागमगम्य आत्मा । अविसंवादिवचनाप्तप्रणीतत्वेन ह्यागमस्य प्रामाण्यम् । न चैवंभूतमविसंवादिवचनं कंचनाप्याप्तमुपलभामहे यस्यात्मा प्रत्यक्ष इति । अनुपलम्भमानाश्च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कथमात्मानं विप्रलभेमहि । किं चागमाश्च सर्वे परस्परविरुद्धप्ररूपिणः । ततश्च कः प्रमाणं कश्चाप्रमाणमिति संदेहदावानलज्वालावलीढमेवागमस्य प्रामाण्यम् । ततश्च नागमप्रमाणा-दप्यात्मसिद्धिः ३ । तथा नोपमानप्रमाणोपमेयोऽप्यात्मा । तत्र हि यथा गौस्तथा गवय इत्यादाविव सादृश्यमसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति । न चात्र त्रिभुवनेऽपि कश्चनात्मसदृश पदार्थोऽस्ति यद्दर्शनादात्मानमवगच्छामः । कालाकाशदिगादयो जीवतुल्या विद्यन्त एवेति चेत् ? न, तेषामपि विवादास्पदी भूतत्वेन तदंह्रिबद्धत्वात् ४। तथार्थापत्तिसाध्योऽपि नात्मा । नहि दृष्टः श्रुतो वा कोऽप्यर्थ आत्मानमन्तरेण नोपपद्यते, यद्बलात् तं साधयामः । ततः सदुपलम्भकप्रमाणविषयातीतत्वात्तत्प्रतिषेधसाधकाभावाख्यप्रमाणविषयीकृत एव जीव इति स्थितम् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

तथा आत्मा आगमगम्य भी नहीं है। अविसंवादि वचनप्रयोगो को प्रयोजित करता हुआ आप्तपुरुष प्रणीत आगम ही प्रमाणभूत बनता है। ऐसा कोई अविसंवादि वचनप्रयोग करनेवाले आप्तपुरुष ही प्राप्त होते नहीं है कि जिन को आत्मा प्रत्यक्ष हो। अर्थात् जिन को आत्मा प्रत्यक्ष है और उसकी सत्ता की सिद्धि के लिए अविसंवादि वचनप्रयोग करते है, वैसे कोई भी आप्तपुरुष प्राप्त होते ही नहीं है। और ऐसे आप्तपुरुषो के बिना इस आत्मा का स्वीकार किस तरह से कर सकेंगे ?

उपरांत सभी आगम परस्पर विरुद्ध प्ररुपणा करते है। इसलिए कौन सा आगम प्रमाणभूत है और कौन सा आगम अप्रमाणभूत है ? उसमें संदेह होने से आगम का प्रामाण्य संदेहरुपी दावानल की ज्वाला से घिर गया है। अर्थात् कोई भी आगम प्रमाणभूत बनता नहीं है। इसलिए आगमप्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि होती नहीं है।

तथा उपमानप्रमाण से भी आत्मा उपमेय बनता नहीं है। अर्थात् उपमानप्रमाण से भी आत्मा की सत्ता सिद्ध होती नहीं है। क्योंकि जैसे "**यथा गौस्तथा गवय**" इत्यादि में परोक्ष अर्थ में सादृश्यबुद्धि उत्पन्न होती है। अर्थात् जब गाय और गवय दोनो प्रत्यक्ष के विषय हो, तब "**गाय के समान गवय होता है।**" इस वाक्य का स्मरण करने से तथा गवय को सामने देखने से परोक्ष ऐसी गाय में सादृश्यबुद्धि उत्पन्न होती है। परंतु तीन लोक में आत्मा की समान कोई पदार्थ नहीं है कि जिसके दर्शन से (सादृश्य ज्ञान द्वारा परोक्ष अर्थ ऐसे) आत्मा का ज्ञान हो सके।

शंका : काल, आकाश, दिशा, अमूर्तपदार्थ अप्रत्यक्ष है। फिर भी उसकी सत्ता स्वीकार की गई है, तो कालादि की समान आत्मा अप्रत्यक्ष है, फिर भी उसकी सत्ता का क्यों स्वीकार नहीं करते हो ?

समाधान (चार्वाक) : काल, आकाश और दिशा आदि सभी अमूर्त पदार्थ आत्मा के समान अप्रत्यक्ष है यह बात विवादास्पद होने से अनिश्चित है। इसलिए जीव के पैर के साथ कालादि के पैर भी बंध गये हुए है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थापत्ति से भी आत्मा का सद्भाव सिद्ध नही किया जा सकता है। क्योंकि आत्मा के बिना नहीं होनेवाला कोई भी अविनाभावी पदार्थ देखने को नहीं मिलता है या देखने को मिला नहीं था कि जिसके द्वारा अर्थापत्ति से आत्मा के सद्भाव की सिद्धि कर सके।

आत्मा की सत्ता को सिद्ध करनेवाले कोई भी प्रमाण मिलते न होने से आत्मा अभाव प्रमाण का विषय बनता है। अर्थात् आत्मा जैसी कोई चीज नहीं है, वह निश्चित होता है। (यहां चार्वाक का मत पूर्ण होता है अब उसका मतका खंडन करते है-)

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तं "इह कायाकारपरिणतानि भूतान्येवोपलभ्यन्ते न पुनस्तद्व्यतिरिक्त आत्मा, तत्सद्भावे प्रमाणाभावात्" इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानं, प्रत्यक्षस्यैव[E-82] तत्सद्भावे प्रमाणस्य सद्भावात् । तथाहि-"सुखमहमनुभवामि" इत्यन्योन्यविविक्तज्ञेयज्ञातृज्ञानोल्लेखी प्रतिप्राणिस्वसंवेद्यः प्रत्ययो जायमानः संवेद्यते । नचायं मिथ्या, बाधकाभावात् । नापि संदिग्धः, उभयकोटिसंस्पर्शाभावात् । न चेत्थंभूतस्यास्यानालम्बनत्वं युक्तं, रूपादिज्ञानानामप्यनालम्बनत्वप्रसङ्गात् । नापि [E-83]शरीरालम्बनत्वं, बहिःकारणनिरपेक्षान्तःकरणव्यापारेणोत्पत्तेः । न खलु शरीरमित्थंभूताहंप्रत्ययवेद्यं, बहिःकरणविषयत्वात् । अतः शरीरातिरिक्तः कश्चिदेतस्यालम्बनभूतो ज्ञानवानर्थोऽभ्युपगन्तव्यः, तस्यैव ज्ञातृत्वोपपत्तेः । स च जीव एवेति सिद्धः [E-84]स्वसंवेदन[k] प्रत्यक्षलक्ष्य आत्मा । तथा यदप्युक्तं "चेतनायोगेन सचेतनत्वाच्छरीरस्यैवाहंप्रत्ययः" इत्यादि, तदपि प्रलापमात्रं । यतश्चेतनायोगेऽपि स्वयं चेतनस्यैवाहं प्रत्ययोत्पादो युक्तः, न त्वचेतनस्य यथा परः सहस्रप्रदीपप्रभायोगेऽपि स्वयमप्रकाशस्वरूपस्य घटस्य प्रकाशकत्वं न दृष्टं, किं तु प्रदीपस्यैव । एवं चेतनायोगेऽपि न स्वयमचेतनस्य देहस्य ज्ञातृत्वं, किं त्वात्मन एवेति तस्यैव चाहंप्रत्ययोत्पादः । योऽपि "स्थूलोऽहं, कृशोऽहं" इत्यादिप्रत्ययः समुल्लसति, सोऽप्यात्मोपकारकत्वेन शरीरे जायमान औपचारिक[E-85] एव, अत्यन्तोपकारके भृत्ये "अहमेवायं" इति प्रत्ययवत् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

उत्तरूपक्ष (जैन) : "शरीर के आकाररुप में परिणत भूतो को छोडकर वे भूतो से अतिरिक्त आत्मा जैसी कोई चीज नहीं है। क्योंकि भूतो से अतिरिक्त आत्मा के सद्भाव को सिद्ध करनेवाले प्रमाण का अभाव है।" ऐसा जो आपने (चार्वाको ने) पहले कहा था वह नितान्त

---

k स्वसंवेद्याहंप्रत्ययोत्पादयुक्तो नत्वचेतनः । इति प्रत्यन्तरेऽधिकं दरिदृश्यते ।।

(E-82-83-84-85) - तु० पा० प्र० पं० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

असमीक्षित = अविचारणीय कथन है। क्योंकि प्रत्यक्ष से ही आत्मा का सद्भाव सिद्ध होता होने से आत्मा की सिद्धि करनेवाले प्रमाण का सद्भाव है ही। वह इस अनुसार से **"मैं सुख का अनुभव करता हूं"** - इस प्रतिभास में अन्योन्यविविक्त ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान का उल्लेखि स्वसंवेदन प्रत्येक जीवो को होता है। अर्थात् **"मैं सुख का अनुभव करता हूं।"** इस प्रतिभास में सुख का अनुभव करनेवाला ज्ञाता, अनुभव में आनेवाला विषयभूत सुख (ज्ञेय) तथा अनुभव होने रुप ज्ञान - ये तीनो वस्तुओ को स्वतंत्ररुप से प्रत्येक जीवो को अनुभव हो रहा है। उसमें अनुभव करनेवाला **"मैं"** शब्द का वाच्यपदार्थ ही आत्मा है। (उपरोक्त प्रतिभास निर्बाध रुप से होता ही है।) इसलिए वह मिथ्या भी कहा नहि जा सकता।

तथा उपरोक्त प्रतिभास निश्चित एक कोटि को विषय करता होने से अर्थात् उभयकोटि संस्पर्श का अभाव होने से संदिग्ध (संशय) रुप भी नहीं है। (विरुद्ध दो कोटि में होनेवाले प्रतिभास को संशय कहा जाता है। यहां केवल एक कोटि में प्रतिभास होता होने से संशयरुप नहीं है।)

"मैं सुख का अनुभव करता हूं" - यह निर्बाध ज्ञान निर्विषयक है। अर्थात् आलंबनरहित है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उस तरह से तो प्रत्येक ज्ञान निरालंबन मानने की आपत्ति आयेगी। **"यह घट है, यह रुप है।"** (ऐसे ज्ञानो को आप सत्य मानते हो, वे) ज्ञान भी निरालंबन मानने की आपत्ति आयेगी। इसलिए मिथ्या मानना पडेगा और वैसा तो है ही नहीं। इसलिए उपरोक्त प्रतिभास को निर्विषयक नहीं माना जा सकेगा।

उपरोक्त प्रतिभास शरीर को विषय (आलंबन) बनाता है-ऐसा भी नहीं कहा जा सकेगा। क्योंकि उपरोक्त प्रतिभास बाह्यकारण से निरपेक्ष अंत:करण के व्यापार से उत्पन्न होता है। अर्थात् कहने का मतलब यह है कि शरीरादिपदार्थो का प्रतिभास तो चक्षुआदि बाह्य इन्द्रियो से होता है, जब कि **"मैं सुखी हूं"**, इत्याकारक प्रत्यक्ष में बाह्य इन्द्रियो की कोई आवश्यकता ही नहीं है। वह तो शुद्ध मनोव्यापार से ही उत्पन्न होता है। इसलिए मानसिक ज्ञान है तथा केवल मनोव्यापार से होनेवाले ज्ञान में शरीर आलंबन बन सकता ही नहीं है। शरीर तो (घटादि पदार्थो की तरह) चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियो से जाना जा सकता है। (जो अचेतन है तथा बाह्य इन्द्रियो के द्वारा जाना जा सकता है। वह कभी भी मानसिक **"अहम्"** प्रत्यय का विषय नहीं बन सकता है।)

इसलिए इस **"अहम्"** प्रत्यय का विषय शरीर से अतिरिक्त कोई ज्ञानवाला पदार्थ मानना ही चाहिए। क्योंकि **"मैं सुखी हूं"**, ऐसे प्रतिभास में **"अहम्"** शब्द का वाच्य जो है, वही ज्ञाता है - वही आत्मा जीव है - इस तरह से (मानसिक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ही आत्मा की सत्ता की सिद्धि में प्रमाण है।)

तथा **"चेतना के योग से शरीर सचेतन बनता है और वह सचेतन शरीर ही "अहम्" प्रत्यय का विषय बनता है।"** आपकी यह बात बिलकुल अयुक्त है, प्रलापमात्र है। क्योंकि चेतनायोग में स्वयं चेतन ही **"अहम्"** प्रत्यय का विषय बने वह युक्त है। परन्तु स्वयं अचेतन ऐसा शरीर विषय बने वह लेशमात्र योग्य नहीं है। जैसे हजारो प्रदीप (दीये) की प्रभा के योग में भी स्वयं अप्रकाशस्वरुप घट प्रकाशरुप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बनता नहीं है। परंतु प्रदीप ही प्रकाशरुप बनता है। उस अनुसार से चेतना के योग में भी स्वयं अचेतन ऐसा देह "**अहम्**" प्रत्यय का विषय बनने द्वारा ज्ञाता बनता नहीं है। परंतु आत्मा ही "**अहम्**" प्रत्यय का विषय बनने द्वारा ज्ञाता बनता है।

तथा "**मैं स्थूल हूं, मैं कृश हूं**" इत्यादि प्रत्यय पैदा होते है, वह "**अहम्**" प्रत्यय भी शरीर आत्मा का अत्यंत उपकारक होने से (आत्मा में होने पर भी) शरीर में औपचारिक रुप से उत्पन्न होते है - ऐसा कहा जाता है। कहने का आशय यह है कि शरीर आत्मा का अत्यंत उपकारी है और चिरकालीन संबंध के कारण शरीर में ही "**अहम्**" प्रत्यय हो जाता है, फिर भी वह औपचारिक है। मुख्य नहीं है। क्योंकि जैसे अत्यंत उपकारक ऐसे नौकर में (अर्थात् अत्यंत वफादार और भरोसेमंद नौकर में) "**वह मैं ही हूं**", ऐसा व्यवहार होता है। नौकर में होता "**अहम्**" प्रत्यय जैसे औपचारिक है, मुख्य नहीं है, वैसे शरीर में होता "**अहम्**" प्रत्यय औपचारिक है, मुख्य नहीं है।

तथा "शरीरस्यैव चैतन्यं प्रति कर्तृत्वं" इत्यादि यदप्यवादि वादिब्रुवेण, तदप्युन्मत्त-वचनरचनामात्रमेव, चेतनायाः शरीरेण सहान्वयव्यतिरेकाभावात्[E-86] । मत्तमूर्च्छित-प्रसुप्तानां तादृशशरीरसद्भावेऽपि न तथाविधं चैतन्यमुपलभ्यते । दृश्यते च केषांचित् कृशतरशरीराणामपि चेतनाप्रकर्षः, केषांचित् स्थूलदेहानामपि तदपकर्षः । ततो न तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि चैतन्यम्, अतो न तत्कार्यम् । किंच नहि चैतन्यस्य भूतकार्यत्वे किमपि प्रमाणमुपलभामहे । तथाहि - न तावत्प्रत्यक्षं, अतीन्द्रियविषये तदप्रवर्तनात् । नह्युत्पन्नमनुत्पन्नं वा चैतन्यं भूतानां कार्यमिति प्रत्यक्षव्यापारमुपैति, तस्य स्वयोग्यसन्नि-हितार्थग्रहणरूपत्वात्, चैतन्यस्य चामूर्त्तत्वेन तदयोग्यत्वात् । नच "भूतानामहं कार्यं" इत्येवमात्मविषयं भूतकार्यत्वं प्रत्यक्षमवगन्तुमलं, कार्यकारणभावस्यान्व-यव्यतिरेक-समधिगम्यत्वात् । नच भूतचैतन्यातिरिक्तः कश्चिदन्वयी तदुभयान्वयव्यतिरेक-ज्ञाताभ्युपगम्यते, आत्मसिद्धिप्रसङ्गात् । तथा नानुमानेनापि चैतन्यस्य भूतकार्यत्वं प्रतीयते, तस्यानभ्युपगमात्, प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं नान्यदिति वचनात् । अभ्युपगमेऽपि न ततो विवक्षिता-र्थप्रतीतिसिद्धिः । ननु कायाकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्यं समुत्पद्यते, तद्भाव एव चैतन्यभावात्, मद्याङ्गेभ्यो [E-87]मदशक्तिवदित्याद्यनुमानाद्भवत्येव चैतन्यस्य भूतकार्यत्व-सिद्धिरिति चेत् ? न, तद्भाव एव तद्भावादिति हेतोरनैकान्तिकत्वात्, मृतावस्थायां तद्भावेऽपि चैतन्यस्याऽभावात् । स्यादेतत्, पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणभूतचतुष्टयसमुदायजन्यं हि चैतन्यं, न च मृतशरीरे वायुरस्ति, ततस्तदभावात्तत्र चैतन्याभाव इति न तत्र व्यभिचारः । अत्रोच्यते-सति शुषिरे तत्र वातः सुतरां संभाव्यत एव । किंच यदि तत्र वायुवैकल्याच्चैतन्यस्याभावः ततो

(E-86-87) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बस्त्यादिभिः संपादिते वायौ, तत्र चैतन्यमुपलभ्येत, नच तत्र तत्संपादितेऽपि वायौ चैतन्यमुपलभ्यते । अथ प्राणापानलक्षणवायोरभावान्न तत्र चैतन्यमिति चेत् ? न, अन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाभावान्न प्राणापानवायोश्चैतन्यं प्रति हेतुता । यतो मरणाद्यवस्थायां प्रचुरतरदीर्घश्वासोश्वाससंभवेऽपि चैतन्यस्यात्यन्तपरिक्षयः । तथा ध्यानस्तिमितलोचनस्य संवृतमनोवाक्काययोगस्य निस्तरङ्गमहोदधि-कल्पस्य कस्यापि योगिनो निरुद्धप्राणापानस्यापि परमप्रकर्षप्राप्तश्चैतनोपचयः समुपलभ्यते ।

व्याख्या का भावानुवाद :

"**शरीर ही चैतन्य का कर्ता है**" - आपकी यह बात पागल के बकवास (उन्मत के प्रलाप) जैसी है। उन्मत (पागल) आदमी जैसे ऐसा वैसा बोलता है, वैसा यह प्रलापमात्र है। क्योंकि चेतना का शरीर के साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं है। मत्त, मूर्च्छित, सोये हुए जीवो को वैसे प्रकार के शरीर के सद्भाव में भी वैसे प्रकार का चैतन्य उपलब्ध होता नहीं है तथा कुछ अत्यंत कृश (दुबले) शरीरवालो को भी चेतना का प्रकर्ष दिखता है। (जब कि) कुछ स्थूल शरीरवालो को भी चेतना का प्रकर्ष देखने को नहीं मिलता है। इसलिए शरीर के अन्वय-व्यतिरेक को अनुविधायी चैतन्य नहीं है। अर्थात् शरीर के साथ चैतन्य का अन्वय-व्यतिरेक नहीं है। इसलिए चैतन्य शरीर का कार्य नहीं है।

उपरांत "**चैतन्य भूत का कार्य है। अर्थात् भूतोमें से चैतन्य उत्पन्न होता है।**" आपकी इस बात को सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण प्राप्त होता नहीं है। कोई भी प्रमाण भूतो से चैतन्य उत्पन्न होता है, वह सिद्ध नहीं कर सकता है। वह अब बताते है। "**प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा भूतो से चैतन्य की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण अतीन्द्रियविषयो में प्रवर्तित नहीं होता है। अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाण से अतीन्द्रियविषयो का ज्ञान होता नहीं है तथा उत्पन्न हुआ या उत्पन्न न हुआ चैतन्य भूतो का कार्य है**" - इत्याकारक विषय में प्रत्यक्षप्रमाण का व्यापार प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण अपनी निकट में रहे हुए प्रत्यक्ष योग्य अर्थ को ग्रहण करनेवाला है और चैतन्य अमूर्त होने के कारण प्रत्यक्षप्रमाण के लिए अयोग्य है।

स्वयं प्रत्यक्ष "**मैं भूतो से उत्पन्न हुआ हूं।**" इत्याकारक अपनी ही भूतकार्यता को जान सकने में समर्थ नहीं है। क्योंकि कार्य-कारणभाव को जानने के लिए अन्वय-व्यतिरेक मिलने चाहिए। (परंतु) भूत और चैतन्य से अतिरिक्त कोई तीसरा अन्वयीपदार्थ उन दोनो के अन्वय - व्यतिरेक को जाननेवाला उपलब्ध ही नहीं होता है, कि जो दोनो को जानकर अन्वय-व्यतिरेक को पा सके और ऐसा ज्ञाता तो आत्मा ही हो सकेगा। इसलिए चैतन्य की भूतकार्यता का परिज्ञान आत्मा को माने बगैर नहि हो सकेगा।

अनुमान प्रमाण से भी चैतन्य की भूतकार्यता प्रतीत होती नहीं है, क्योंकि आप लोगो ने अनुमान को प्रमाण के रुप में स्वीकार किया ही नहीं है। "**प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, दूसरे नहीं।**" यह आपके वचन से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुमान प्रमाणभूत ही नहीं है।

अनुमान को प्रमाण के रुप में स्वीकार करने में भी अनुमान से विवक्षित अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है।

पूर्वपक्ष (चार्वाक) : **"चैतन्य की उत्पत्ति भूतो से होती है"** - यह सिद्ध करनेवाला निम्नोक्त अनुमान है - "शरीर रुप में परिणत हुए भूतो से चैतन्य उत्पन्न होता है क्योंकि शरीर के सद्भाव में ही चैतन्य का सद्भाव होता है। जैसे, महुडे आदि के मिश्रण में से मदशक्ति उत्पन्न होती है और उसे दारु (शराब) कहा जाता है वैसे भूतो का जब शरीर के रूप में विशिष्ट निश्चय होने से चैतन्य उत्पन्न होता है, तब वही आत्मा कहा जाता है, ।" इस अनुमान से चैतन्य की भूतकार्यता सिद्ध की जा सकती है।

जैन (उत्तरपक्ष) : आपकी बात उचित नहीं है क्योंकि अनुमानप्रयोग में कहा हुआ शरीर के सद्भाव में ही चैतन्य का सद्भाव होता है, यह हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारि) है। क्योंकि मृत अवस्था में शरीर विद्यमान होने पर भी चैतन्य का अभाव होता है। इसलिए आपके अनुमान से चैतन्य की भूतकार्यता सिद्ध होती नहीं है।

चार्वाक (पूर्वपक्ष) : पृथ्वी, जल, तेजस् और वायु स्वरुप चार भूतो से चैतन्य उत्पन्न होता है। मृतशरीर में वायु होता नहीं है। इसलिए वायु के अभाव से मृतशरीर में चैतन्य का अभाव होता है। इसलिए हमारे उपरोक्त अनुमान में हेतु अनैकान्तिक नहीं है।

उत्तरपक्ष (जैन) : शरीर में छिद्र होने से शरीर में सुतरां वायु संभवित है। शरीर के नाक इत्यादि कुछ खास भागो में खाली जगह होती है, उसमें वायु होने की पूरी संभावना है और हवा तो थोडा भी अवकाश मिले वहां पहुंच जाती होती है।

उपरांत वायु का अभाव होने से चैतन्य का अभाव आप कहते हो, तो गुदा इत्यादि के मार्ग द्वारा पेट में भरपूर हवा भर दी जाये तो मृत अवस्था में भी शरीर में चैतन्य उत्पन्न होगा। परंतु वैसे वायु का संपादन करने पर भी चैतन्य प्राप्त होता नहीं है। इसलिए चैतन्य शरीर का कार्य नहीं है।

पूर्वपक्ष (चार्वाक) : हम केवल वायु के सद्भाव में चैतन्य का सद्भाव मानते नहीं है। परंतु प्राण-अपान अर्थात् श्वास - उश्वास स्वरुप वायु के अभाव से मृतअवस्था में शरीर में चैतन्य का अभाव है। अर्थात् मृतअवस्था में शरीर में सांस लेने छोडने की (श्वासोश्वास की) क्रिया चलती नहीं है। तत्स्वरुप वायु के अभाव से चैतन्य का अभाव है।

उत्तरपक्ष (जैन) : श्वासोश्वास चालू रहने का चैतन्य के साथ कोई अन्वय - व्यतिरेक मिलते नहीं है। इसलिए श्वासोश्वास स्वरुप वायु की चैतन्य के प्रति हेतुता नहीं है। अर्थात् श्वासोश्वास स्वरुप वायु चैतन्य का कारण नहीं है। क्योंकि मरणावस्था में प्रचुरत्तर दीर्घ श्वासोश्वास का संभव होने पर भी चैतन्य का अत्यंत परिक्षय देखने को मिलता है तथा ध्यान में एकाग्र - बंध लोचनवाले, मन-वचन-काया के योग को संवृत्त करनेवाले निस्तरंग महासमुद्रसमान श्वासोश्वास का निरोध करनेवाले कोई योगी को भी परमप्रकर्ष चेतना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का विकास होता है। इसलिए श्वासोश्वास चालू रहने का चैतन्य के साथ कोई अन्वय व्यतिरेक मिलते नहीं है। इसलिए चैतन्य शरीर का कार्य नहीं है।

अथ तेजसोऽभावान्न मृतावस्थायां चैतन्यमिति चेत् ? तर्हि तत्र तेजस्युपनीते सति कथं न चेतनोपलभ्यते ?। किंच मृतावस्थायां यदि वायुतेजसोरभावेन चैतन्याभावोऽभ्युपगम्यते, तर्हि मृतशरीरे कियद्वेलानन्तरं समुत्पन्नानां कृम्यादीनां कथं चैतन्यम् ? ततो यत्किंचिदेतत् । किंच न चैतन्यं भूतमात्रकारणम् । तथा सति चैतन्यस्य भूतमात्रजन्यस्वभावत्वात् तेषामपि तज्जननस्वभावत्वात् सर्वदा सर्वत्र घटादौ पुरुषादिष्विव व्यक्तचैतन्योत्पादो भवेत्, निमित्ताविशेषात् । एवं च घटादिपुरुषयोरविशेषः स्यात् । 'ननु कायाकारपरिणामप्राणापानपरिग्रहवद्भ्यो भूतेभ्यश्चैतन्यमुपलभ्यत' इति [E-88]वचनान्न पूर्वोक्तोऽतिप्रसङ्गदोषावकाश इति चेत् ? तन्न, त्वन्मते कायाकारपरिणामस्यैवानुपपद्यमानत्वात् । तथाहि-स कायाकारपरिणामः किं पृथिव्यादिभूत, मात्रनिबन्धनः १ ? उत वस्त्वन्तरनिमित्तः २ ? उताहेतुकः ३ ? इति त्रयी गतिः । तत्र न तावदाद्यः पक्षः कक्षीकरणीयः - पृथिव्यादिसत्तायाः सर्वत्र सद्भावात् सर्वत्रापि कायाकारपरिणामप्रसङ्गः । तथाविधसाम्यादिभावसहकारिकारणवैकल्यान्न सर्वत्र तत्प्रसङ्ग इति चेत् ? तन्न, यतः सोऽपि साम्यादिभावो न वस्त्वन्तरनिमित्तः, तत्त्वान्तरापत्तिप्रसङ्गात्, किंतु पृथिव्यादिसत्तामात्रनिमित्तः, अतस्तस्यापि सर्वत्राप्यविशेषेण भावप्रसङ्गात् कुतः सहकारिकारणवैकल्यमिति । अथ वस्त्वंतरनिमित्तः इति पक्षस्तदप्ययुक्तं, तथाभ्युपगमे जीवसिद्धिप्रसङ्गात् । अथाहेतुकः, तर्हि सदाभावादिप्रसङ्गः, "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात्" [प्र० वा० -३।३४] इति वचनात् । तत्र त्वन्मते कायाकारपरिणामः संगच्छते । तदभावे तु दूरोत्सारितमेव प्राणापानपरिग्रहवत्त्वममीषां भूतानामिति, चैतन्यं न भूतकार्यमित्यतो जीवगुण एव चेतनेत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

"मृतअवस्था में शरीर में से तैजस (गरमी) निकल जाने के कारण चैतन्य का अभाव होता है।" ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि मृतशरीर को अग्नि से गरमी दी जाये तो शरीर में पर्याप्त उष्मा (गरमी) आ जाने के कारण आपके मतानुसार चैतन्य आ जाना चाहिए। तो चैतन्य आ जाने से शरीर आग में जल जाने के बदले सजीवन हो जाने की आपत्ति आयेगी।

वैसे ही यदि **"मृतअवस्था में वायु-अग्नि का अभाव होने के कारण चैतन्य का अभाव है।"** ऐसा आपके द्वारा स्वीकार किया जाये तो मृतशरीर में कुछ समय बाद उत्पन्न होते कृमियो में चैतन्य कहां

(E-88) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से आयेगा ! क्योंकि आपके मतानुसार मृतशरीर में वायु-अग्नि का अभाव होने से मृतशरीर चैतन्य को उत्पन्न करने के लिए समर्थ ही नहीं है।

इसलिए आपके सभी कुतर्क निरर्थक है। वैसे ही यदि पृथ्वी इत्यादि भूतो से चैतन्य उत्पन्न हो जाता हो तो चैतन्य का भूतमात्र से उत्पन्न होने का स्वभाव होने से तथा भूतो का भी चैतन्य को उत्पन्न करने का स्वभाव होने से सभी काल में सभी स्थान पे पुरुषादि में जैसे चैतन्य उत्पन्न होता है। वैसे घटादि में भी चैतन्य उत्पन्न हो जायेगा। क्योंकि भूतो का चैतन्य को उत्पन्न करने का स्वभाव तथा चैतन्य का भूतो से उत्पन्न होने का स्वभाव होने से पुरुषादि की तरह घटादि भी भूतो से बने हुए है। अर्थात् घटादि की उत्पत्ति में और पुरुषादि की उत्पत्ति में निमित्त समान है और इस अनुसार से घट और पुरुष एकसमान बन जायेंगे दोनो में भिन्नता रहेगी नहीं।

पूर्वपक्ष (चार्वाक) : आप हमारी बात को समजे बिना खंडन किये जाते है। हम तो कहते है कि "जब भूतो का विशिष्टमिश्रण होकर शरीर रुप में परिणम होता है तथा उसमें श्वासोश्वास चलने लगते है, तब उससे चैतन्य उत्पन्न होता है, साधारणभूतो से नहीं है।" इसलिय आप घटादि में साधारणभूतो को देखकर चैतन्योत्पत्ति की आपत्ति देते हो, उसका अब अवकाश नहीं है।

उत्तरपक्ष (जैन) : आपकी बात उचित नहीं है। क्योंकि आपके मतानुसार भूतो का शरीररुप में परिणमन होना ही संगत नहीं है। आप बताये कि भूतोका शरीररुप में परिणमन होता है, वह (१) पृथ्वी आदि भूत होनेमात्र से है ? या (२) अन्य कोई वस्तु वे भूतो को शरीररुप में परिणमित करती है ? या (३) कारण के बिना अकस्मात ही भूत शरीर बन जाता है ?

उसमें **"भूतो का शरीर रुप में परिणमन होता है, वह पृथ्वी आदि भूत होने मात्र से होता है"** - यह प्रथम कल्पना स्वीकार करने योग्य नहीं है। क्योंकि पृथ्वीआदि भूतो की सत्ता का सर्वत्र सद्भाव होने से सर्वत्र भी शरीररुप में परिणमन पा जाने का प्रसंग आयेगा। अर्थात् पृथ्वी आदि भूत होने मात्र से शरीररुप बन जाते हो तो घटादि भी भूतरुप होने से वह समस्त भौतिक पदार्थो का शरीररुप में परिणमन हो जायेगा और उसमें चैतन्य की उत्पत्ति हो जायेगी।

पूर्वपक्ष (चार्वाक) : वैसे प्रकार के साम्यादिभाव स्वरुप सहकारिकारण का अभाव होने से सर्वत्र (भौतिक पदार्थ) शरीररुप में परिणमित होने का प्रसंग आता नहीं है। अर्थात् निश्चित प्रकार के सहकारिकारण के सन्निधान में भूतो का तथाविध मिश्रण जगत के सभी पदार्थो में होता नहीं है कि जिससे सभी भौतिकपदार्थ शरीररुप में परिणाम पा जाये और उसमें चैतन्य की उत्पत्ति हो जाये।

उत्तरपक्ष (जैन) : "सहकारीकारण की विकलता के कारण भूतो का तथाविध मिश्रण जगत के सभी पदार्थो में होता न होने के कारण शरीररुप में परिणाम पाते नहीं है।" यह आपकी बात उचित नहीं है, क्योंकि भूतो का कुछ खास मात्रा में तथाविध मिश्रण कोई अन्य चीज तो कर सकेगी नहि। अर्थात् वे साम्यादि भाव स्वरुप सहकारिकारण भूतो से कोई भिन्न चीज मानी नहीं जा सकेगी, क्योंकि आपके मतानुसार भूत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से अतिरिक्त कोई पदार्थ की सत्ता मानी नहीं गई और यदि पृथ्वी आदि पांच भूतो से अतिरिक्त ऐसे साम्यादिभाव स्वरुप सहकारि कारण की कल्पना करोंगे तो भूत से अतिरिक्त तत्त्व मानने की आपत्ति आयेगी, कि जो आपको इष्ट नहीं है। तथा साम्यादिभाव स्वरुप सहकारिकारण के रुप में भूतो की सत्ता मात्र को मानोंगे तो वे भूत सामान्य से जगत में सर्वत्र विद्यमान है। तो सहकारि कारण का अभाव है, वैसा किस तरह से कहा जा सकेगा ? इस प्रकार प्रथम कल्पना से भूतो का शरीर रुप में परिणमन होता है, वह बात स्वीकार की जा सके वैसी नहीं है।

अब "भूतो का शरीररुप में परिणमन होता है, उसमें अन्य वस्तु (तत्त्व) निमित्तभूत बनता है।" यह द्वितीयपक्ष भी अयोग्य है। क्योंकि भूतो से अतिरिक्त तत्त्व का स्वीकार करने से आत्मा की सिद्धि हो जाने की आपत्ति आयेगी, कि जो आपको इष्ट नहीं है।

"भूतो का शरीररुप में परिणमन होने में कोई कारण नहीं है, अपनेआप भूत शरीररुप में परिणमन पा जाते है।" यह तीसरा विकल्प भी अयोग्य है। क्योंकि कारण के बिना भी भूत शरीररुप में परिणाम पा जाते हो तो सभी भूत हंमेशा शरीररुप में परिणाम पा जायेंगे। उपरांत कहा भी है कि... "जिसमें अन्यकारण की अपेक्षा होती नहीं है। वह या तो नित्य सत् होता है अथवा नित्य असत् होता है।" अन्य कारण की अपेक्षा के कारण ही पदार्थो में कादाचित्क=कभी (होने) रुप भाव होता है।

इस प्रकार आपके मत में भूतो का कायारुप में परिणमन होना संगत होता नहीं है। इसलिए जब शरीर ही बन सकता न हो तब उसमें श्वासाश्वास की क्रिया शुरु करना तो असंभवित ही है। इस अनुसार से किसी भी तरह से चैतन्य भूत का कार्य नहीं बन सकता है। चैतन्य तो आत्मा का गुण ही हो सकता है।

किंच गुणप्रत्यक्षत्वादात्मापि गुणी प्रत्यक्ष एव । प्रयोगो यथा-प्रत्यक्ष आत्मा, स्मृति-जिज्ञासाचिकीर्षाजिगमिषासंशयादिज्ञानविशेषाणां तद्गुणानां स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वात् । इह यस्य गुणाः प्रत्यक्षाः स प्रत्यक्षो दृष्टः, यथा घट इति । प्रत्यक्षगुणश्च जीवः, तस्मात्प्रत्यक्षः । अत्राह परः-**अनैकान्तिकोऽयं हेतुः, यत आकाशगुणः शब्दः प्रत्यक्षः, न पुनराकाशम् । तदयुक्तं, यतो नाकाशगुणः शब्दः किंतु पुद्गलगुणः, ऐन्द्रियकत्वात्, रूपादिवत् । एतच्च पुद्गलविचारे समर्थयिष्यते ।** अत्राह ननु **भवतु गुणानां प्रत्यक्षत्वात्तदभिन्नत्वाद्गुणिनोऽपि प्रत्यक्षत्वम् । किंतु देह एव ज्ञानादयो गुणा उपलभ्यन्ते । अतः स एव तेषां गुणी युक्तः, यथा रूपादीनां घटः ।** प्रयोगो यथा-**ज्ञानादयो देहगुणा एव, तत्रैवोपलभ्यमानत्वात्, गौरकृशस्थूलत्वादिवत् ।** अत्रोच्यते-**प्रत्यनुमानबाधितोऽयं पक्षाभासः । तच्चेदम्-देहस्य गुणा ज्ञानादयो न भवन्ति, तस्य मूर्तत्वाच्चाक्षुषत्वाद्वा, घटवत् । अतः सिद्धो गुणप्रत्यक्षत्वाद्गुणी जीवोऽपि प्रत्यक्षः । ततश्चाऽहंप्रत्ययग्राह्यं प्रत्यक्षमात्मानं निन्हुवानस्य अश्रावणः शब्द इत्यादिवत् प्रत्यक्षविरुद्धो नाम पक्षाभासः । तथा वक्ष्यमाणात्मास्तित्वानुमानसद्भावात्**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नित्यः शब्द इत्यादिवदनुमानविरुद्धोऽपि । आबालगोपालाङ्गनादिप्रसिद्धं चात्मानं निराकुर्वतः "नास्ति सूर्यः प्रकाशकर्त्ता" इत्यादिवल्लोकविरोधः । "अहं नाहं" चेति गदतः "माता मे वन्ध्या" इत्यादिवत् स्ववचनविरोधश्च । तथा प्रतिपादितयुक्त्यात्मनः स्वसंवेदनप्रत्यक्ष-त्त्वादत्यन्ताप्रत्यक्षत्वादिति हेतुरप्यसिद्ध इति स्थितम् ।

व्याख्या का भावानुवाद

उपरांत ज्ञानादिगुण प्रत्यक्ष होने से गुणी ऐसा आत्मा भी प्रत्यक्ष ही मानना ज्यादा उचित है। अनुमान प्रयोग इस "अनुसार से है। आत्मा प्रत्यक्ष का विषय है, क्योंकि स्मृति, जिज्ञासा, चिकीर्षा (कार्य करने की इच्छा), जिगमिषा (जाने की-घूमने की इच्छा), संशयादि ज्ञान इत्यादि उसके गुणो का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् स्मृतिआदि आत्मा के गुणो का स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से अनुभव होता है।"

(कहने का मतलब यह है कि **"मैं स्मरण करता हूं"**, **"मैं जानना चाहता हूं"**, इत्यादि मानसिक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में स्मृति इत्यादि गुणो का स्वरुप स्पष्टतया प्रतिभासित होता है। तथा) जिसके गुणो का प्रत्यक्ष होता है, वह गुणी भी अवश्य प्रत्यक्ष होता है। जैसे कि, घट के रुपादि गुणो का प्रत्यक्ष होने से गुणी घट भी प्रत्यक्ष होता है, वह प्रसिद्ध है। वैसे जीव के ज्ञानादिगुण भी स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के विषय बनते है। इसलिए आत्मा का भी प्रत्यक्ष मानना ही चाहिए।

शंका : आपका हेतु अनैकान्तिक है। क्योंकि आकाश के गुण शब्द का प्रत्यक्ष होता है। परंतु गुणी आकाश का प्रत्यक्ष होता नहीं है। (वैशेषिक मत में शब्द को आकाश का गुण माना हुआ है। उनके मत से हेतु में व्यभिचार बताया गया है।)

समाधान : आपकी बात अयोग्य है। क्योंकि शब्द आकाश का गुण नहीं है। परंतु पुद्गल का गुण है, क्योंकि शब्द इन्द्रियग्राह्य है। जैसे, रुपादि इन्द्रियग्राह्य है, इसलिए पुद्गल के गुण है। वैसे शब्द भी श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य होने से पुद्गल का ही गुण है। (आगे) पुद्गलतत्त्व की विचारणा में शब्द की पौद्गलिकता का विस्तार से समर्थन करेंगे।

चार्वाक (पूर्वपक्ष) : "गुणो का प्रत्यक्ष होता होने से वह गुणो से अभिन्न ऐसे गुणी का भी प्रत्यक्ष होता है।" यह आपका नियम उचित है। परंतु उससे आत्मा की सिद्धि नहीं हो जाती है। क्योंकि ज्ञानादिगुण शरीर में ही उपलब्ध होते है। अर्थात् ज्ञानादिगुण शरीर के ही है। इसलिए शरीर ही ज्ञानादि गुणो का गुणी कहना उचित है। जैसे, रुपादि गुणो का गुणी घट है। वैसे ज्ञानादि गुणो का गुणी भी शरीर ही है। अनुमान प्रयोग इस अनुसार से है - **"ज्ञानादि शरीर के ही गुण है। क्योंकि शरीर में ही उपलब्ध होते है। जैसे कि, गोरापन, दुबलापन, स्थूलपन इत्यादि शरीर में उपलब्ध होते है।"** अर्थात् जैसे गौरापन इत्यादि शरीर में उपलब्ध होता है। वैसे ज्ञानादि गुण शरीर में ही उपलब्ध होते है। इसलिए ज्ञानादिगुण शरीर के ही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन (उत्तरपक्ष) : आपका अनुमान प्रति अनुमान से बाधित होने से अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। इसलिए **साध्यरुप विषय पक्ष में बाधित होने के कारण पक्षाभास दोष है। वह प्रतिपक्षी अनुमान यह है - ज्ञानादि देह के गुण नहीं है। क्योंकि देह (घट की तरह) मूर्त है और चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है।**

इसलिए जैसे घट में रुपादि गुण मूर्त और चाक्षुषप्रत्यक्ष के विषय होने से देखे जा सकते है। वैसे ज्ञानादिगुण भी शरीर के ही हो तो, वे भी आंखो के द्वारा देख सकने की आपत्ति आयेगी। परतु ज्ञानादिगुणो को आंखो से देखा नहीं जा सकता। इसलिए वे शरीर के गुण नहीं है।

इसलिए सिद्ध होता है कि, ज्ञानादि गुण प्रत्यक्ष होने से गुणी आत्मा भी प्रत्यक्ष ही है और इसलिए इस प्रकार से **"मैं सुखी हूं"** इत्यादि **"अहम्"** प्रत्ययरुप मानसप्रत्यक्ष से प्रसिद्ध आत्मा का लोप करनेवाला **"आत्मा नहीं है।"** ऐसा पक्ष रखता है, वह स्पष्ट रुप से प्रत्यक्ष विरुद्ध नाम का पक्षाभास है। जैसे कोई कान से सुने जाते शब्द को अश्रावण सिद्ध करने के लिए प्रयत्न करे तो, प्रत्यक्षविरुद्ध पक्षाभास दोष आता है, वैसे **"मैं"** रुप में प्रतिभास होने वाला आत्मा का लोप करना वह भी प्रत्यक्षविरुद्ध पक्षाभास है। तथा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करनेवाले आगे बतायेंगे वे अनुमानो के होने पर भी आत्मा नहीं है ऐसा कहना वह अनुमानविरुद्ध भी है। जैसे **"शब्द नित्य है।"** वह कहना अनुमानविरुद्ध है। क्योंकि पक्ष शब्द अनित्य है। क्योंकि वह उच्चारण के बाद में उत्पन्न होता है। यह प्रतिपक्ष अनुमान से बाधित है। वैसे **"आत्मा नहीं है।"** वैसा कहना भी अनुमान विरुद्ध है।

उपरांत छोटे बच्चे से लेकर स्त्री-पुरुष तक सभी संसार के जीवो को आत्मा का अनुभव होता है। उस आत्मा का निराकरण करना वह **"सूर्य प्रकाशकर्ता नहीं है।"** ऐसा कहने की तरह लोकविरुद्ध भी है। इस तरह से लोकप्रसिद्ध आत्मा का लोप करनेवाला हेतु लोकविरोधी होने के कारण अकिंचित्कर हेत्वाभास है।

वैसे ही जैसे कोई पुत्र **"मेरी माता वन्ध्या (बांझ) है,"** ऐसा बोले तो खुद ही अपने वचन का विरोधी बनता है। क्योंकि अपनी माता वन्ध्या नहीं है उसका प्रबल साक्षी वह खुद ही है। इसी तरह से "मैं मैं नहीं हूं", ऐसा बोलनेवाला चार्वाक भी अपने वचन का विरोधी बनता है।

इस प्रकार उपरोक्त प्रतिपादित की हुई युक्ति से आत्मा का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता होने से **"अत्यन्ताप्रत्यक्षत्व"** हेतु भी असिद्ध है।

तथानुमानगम्योऽप्यात्मा । तानि चामूनि-जीवच्छरीरं **प्रयत्नवताधिष्ठितं, इच्छानुविधायिक्रिया-श्रयत्वात्, रथवत्**[E-88/1] **१ ।** [E-89]**श्रोत्रादीन्युपलब्धिसाधनानि कर्तृप्रयोज्यानि, करणत्वात्, वास्यादिवत् २ । देहस्यास्ति विधाता, आदिमत्प्रतिनियताकारत्वात्, घटवत् ।**

(E-88/1-89) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यत्पुनरकर्तृकं तदादिमत्प्रतिनियताकारमपि न भवति, यथाभ्रविकारः । यः स्वदेहस्य कर्त्ता स जीवः । प्रतिनियता-कारत्वं मेर्वादीनामप्यस्ति, नच तेषां कश्चिद्विधातेति तैरनैकान्तिको हेतुः स्यात्, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थ-मादिमत्त्वविशेषणं द्रष्टव्यम् ३ । तथेन्द्रियाणामस्त्यधिष्ठाता, करणत्वात्, यथा दण्डचक्रादीनां कुलालः ४ । विद्यमानभोक्तृकं शरीरं, भोग्यत्वात्, भोजनवत् । यश्च भोक्ता स जीवः ५ । अथ साध्यविरुद्धसाधकत्वाद्विरुद्धा एवैते हेतवः । तथाहि-घटादीनां कर्त्रादिरूपाः कुम्भकारादयो मूर्त्ता अनित्यादिस्वभावाश्च दृष्टा इति । अतो जीवाऽप्येवंविध एव सिध्यति । एतद्विपरीतश्च जीव इष्ट इति । अतः साध्यविरुद्धसाधकत्वाद्विरुद्धत्वं हेतूनामिति चेत् ? न, यतः खलु संसारिणो जीवस्याष्टकर्म-पुष्टलवेष्टितत्वेन सशरीरत्वात् कथंचिन्मूर्त्तत्वान्नायं दोषः । तथा [E-90]रूपादिज्ञानं क्वचिदाश्रितं, गुणत्वात्, रूपादिवत् ६ । तथा [E-91]ज्ञानसुखादिकमुपादानकारणपूर्वकं, कार्यत्वात्, घटादिवत् ७ । न च शरीरे तदाश्रितत्वस्य तदुपादानत्वस्य चेष्टत्वात्सिद्धसाधनमित्यभिधातव्यं, तत्र तदाश्रितत्वतदुपादानत्वयोः प्राक् प्रतिव्यूढत्वात् । तथा प्रतिपक्षवानयमजीवशब्दः, व्युत्पत्तिमद्शुद्धपदप्रतिषेधात्[E-92] । यत्र व्युत्पत्तिमतः शुद्धपदस्य प्रतिषेधो दृश्यते स प्रतिपक्षवान् । यथाऽघटो घटप्रतिपक्षवान् । अत्र हि अघटप्रयोगे शुद्धस्य व्युत्पत्तिमतश्च घटस्य (पदस्य) प्रतिषेधः । अतोऽवश्यं घटलक्षणेन प्रतिपक्षेण भाव्यम् । यस्तु न प्रतिपक्षवान्, न तत्र व्युत्पत्तिमतः शुद्धपदस्य प्रतिषेधः, यथाऽखरविषाणशब्द अडित्थ इति वा । अखरविषाणमित्यत्र खरविषाणलक्षणस्याशुद्धस्य सामासिकस्य पदस्य निषेधः । अत्र व्युत्पत्तिमत्त्वे सत्यपि शुद्धपदत्वाभावाद्विपक्षो नास्ति । अडित्थ इत्यत्र तु व्युत्पत्तिमत्त्वाभावात् सत्यपि शुद्धपदत्वे नावश्यं डित्थलक्षणः कश्चित्पदार्थो जीववद्विपक्षभूतोऽस्तीति ८ ।

व्याख्या का भावानुवाद :

आत्मा अनुमानगम्य भी है। अर्थात् निम्नोक्त अनुमानो से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। **(१) जिंदा शरीर प्रयत्नवान् से अधिष्ठित है। (अर्थात् जीवित शरीर कोई प्रयत्न करनेवाले के द्वारा परिचालित होता है।) क्योंकि इच्छानुसार क्रिया करता है। जैसे रथ सारथि की इच्छानुसार चलता है, तो रथका सारथि कोई-न-कोई अवश्य होता है। वैसे शरीर भी व्यवस्थित रुप से इच्छानुकूल प्रवृत्ति करता है।** चलनेवाला चलने की इच्छा करे तो चलने की प्रवृत्ति करता है। इसलिए सिद्ध होता है कि शरीर को चलानेवाला कोई-न-कोई होना चाहिए और वही आत्मा है।

(२) श्रोत्रेन्द्रिय इत्यादि उपलब्धि के साधन कर्ता से प्रयोज्य है। क्योंकि करण है। जैसे

(E-90-91-92) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कि, कुल्हाडे से काटने की क्रिया कोई-न-कोई कर्ता से प्रयोज्य होती है। वैसे श्रोत्रेन्द्रिय इत्यादि से स्पर्शादि का ज्ञान करनेवाले कोई-न-कोई प्रयोजनकर्ता होना चाहिए। वही आत्मा है। अर्थात् इस तरह से इन्द्रियो के द्वारा पदार्थो का ज्ञान करनेवाले आत्मा की सिद्धि होती है।

(३) शरीर का विधाता है। क्योंकि शरीर आदिवाला तथा प्रतिनियत आकारवाला है। अर्थात् शरीर कोई न कोई बनानेवाला है। क्योंकि उसकी शुरुआत होती है और उसका प्रतिनियत आकार होता है। जैसे घट का प्रारंभ होता है और प्रतिनियत आकार होने से उसको बनानेवाला कोई-न-कोई होता ही है। वैसे शरीर की भी शुरुआत होती है और प्रतिनियत आकार होने से उसको बनानेवाला कोई-न-कोई होना चाहिए और वही आत्मा है।

उपरांत जो अकर्तृक (जिसकी उत्पत्ति कोई कर्ता के बिना होती है) वह प्रारंभवाला या प्रतिनियत आकारवाला भी होता नहीं है। जैसे कि अनियत आकारवाला बादल। अर्थात् जिसकी उत्पत्ति होती नहीं है और जिसका प्रतिनियत आकार नहीं उसको बनानेवाला भी कोई होता नहीं है। जैसे कि बादल और जो अपने देह का कर्ता है वही जीव (आत्मा) है।

यद्यपि प्रतिनियत आकारवाला मेरुपर्वत इत्यादि भी है, फिर भी उसका कोई कर्ता नहीं है। इसलिए मेरुपर्वतादि के द्वारा हेतु अनैकान्तिक बनता है। तो भी **"आदिमत्"** विशेषण से वह दोष दूर होता है। क्योंकि मेरुपर्वतादि प्रतिनियत आकारवाले होने पर भी **"आदिमत्"** नहीं है। इसलिए हेतु व्यभिचारी बनता नहीं है।

(४) इन्द्रियो का अधिष्ठाता होता है। अर्थात् इन्द्रियो का प्रयोग करनेवाला कोई स्वामि होता है। क्योंकि इन्द्रियां करण है। जैसे दंड-चक्रादि करण होने से उनका अधिष्ठाता प्रयोग करनेवाला स्वामी कुम्भकार (कुम्हार) होता है, वैसे इन्द्रियां भी करण होने से उनका अधिष्ठाता होना चाहिए और वही आत्मा है। इस तरह से आत्मा की सिद्धि होती है।

(५) शरीर का भोक्ता विद्यमान है। क्योंकि शरीर भोग्य है। जैसे भोजन भोग्य होने से उसका भोक्ता होता है। वैसे शरीर भोग्य होने से उसका भोक्ता भी होना चाहिए और जो शरीर का भोक्ता है वही जीव (आत्मा) है।

शंका : आपने उपरोक्त अनुमानप्रयोग में प्रयोजित किये हुए हेतु साध्य से विरुद्ध साधक होने से विरुद्ध है। क्योंकि आपको साध्य ऐसा आत्मा अमूर्त और नित्य इष्ट है। उसके स्थान पे मूर्त और अनित्य आत्मा की सिद्धि होती है। जैसे कि, उदाहरण के रुप में बताये गये घटादि का कर्ता कुम्हारादि मूर्त और अनित्य स्वभाववाले जगत में दिखाई दिये है। इसलिए जीव भी मूर्त और अनित्य ही सिद्ध होता है, जब कि आपको इससे विपरीत स्वभाववाला आत्मा इष्ट है। इसलिए हेतु साध्य से विरुद्ध के साधक होने से **विरुद्ध हेत्वाभास** से दूषित बनते है।

समाधान : आपकी बात उचित नहीं है। हमारे हेतु व्यभिचारी भी नहीं है। क्योंकि संसारी जीव आठ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म पुद्गल से लिपटा हुआ होने के कारण सशरीरी ही है और इसलिए कथंचित् मूर्त भी है। इसलिए आपने बताया हुआ दोष नहीं है, हम सकर्मक आत्मा को सशरीरी और मूर्त भी मानते ही है।

(६) रुपज्ञान, रसज्ञान आदि ज्ञान किसी (द्रव्य) के आश्रय में रहते है क्योंकि गुण है। जैसे रुपादि गुण होने से घटद्रव्य के आश्रय में रहते है वैसे ज्ञानादि भी गुण होने से किसी द्रव्य के आश्रय में ही रहने चाहिए और वही आश्रय आत्मा है। गुण द्रव्य के बिना रह नहीं सकता। इसलिए गुणो के आश्रय के रुप में आत्मा की सिद्धि होती है।

(७) ज्ञान, सुखादि उपादानकारणपूर्वक होता है। क्योंकि कार्य है। जैसे घट कार्य है तो वह उपादानकारण मिट्टीपूर्वक ही होती है। वैसे ज्ञान-सुखादि भी कार्य होने से उपादानकारण पूर्वक ही होता है और वह स्वयं ज्ञानी और सुखी बननेवाला आत्मा है। अर्थात् ज्ञानादि के उपादान कारण के रुप में ज्ञानी-सुखी आत्मा की सिद्धि होती है।

शंका : ज्ञानादिगुणो का आश्रय शरीर है और उपादानकारण भी शरीर ही है। इसलिए हम आपके अनुमानो से शरीर की ही सिद्धि मान लेंगे, तो इसलिए प्रतिवादि ऐसे हमारे मत को सिद्ध करने रुप सिद्धिसाधन दोष आता है।

समाधान : ऐसा नहि कहना चाहिए। क्योंकि हमने पहले ही ज्ञानादिगुणो के आश्रय के रुप में तथा ज्ञानादि गुणो के उपादानकारण के रुप में शरीर का निषेध कर ही दिया है और इसलिए हमारे अनुमानो से शरीर की सिद्धि होती ही नहीं है। इसलिए सिद्धसाधन दोष भी नहीं है। इसलिए ज्ञानादि गुणो के आश्रय तथा उपादानकारणभूत आत्मा की सिद्धि हो जाती है।

(८) अजीव का प्रतिपक्षी जीव है। क्योंकि "न जीवः अजीवः" यह निषेधवाची अजीव शब्द में व्युत्पत्तिसिद्ध (व्याकरण के नियमानुसार प्रकृति-प्रत्यय से बने हुए **"जीवति इति जीवः"** पदका) तथा शुद्ध अखंड जीव पद का निषेध किया है।

जहाँ निषेधात्मक शब्द में व्युत्पत्तिसिद्ध और शुद्ध अखंडपद का निषेध दिखता है। वह पद प्रतिपक्षवाला होता है। जैसे कि, निषेधात्मक अघट शब्द का प्रतिपक्ष घट अवश्य होता ही है। यह **"अघट"** प्रयोग में शुद्ध घटपद का **"न घटः अघटः"** रुप से निषेध किया है। इसलिए उसका प्रतिपक्ष घट अवश्य होना ही चाहिए। (**"जो निषेधात्मक शब्द का प्रतिपक्षी पदार्थ न हो तो समज लेना कि वह या तो व्युत्पत्तिसिद्ध शब्द का निषेध नहीं करता या तो शुद्धशब्द का निषेध नहीं करता, परंतु कोई रुढ शब्द या दो शब्दो के जोडनेवाले संयुक्तशब्द का निषेध करता है"- ऐसा सामान्यतः नियम है।** जैसे कि "अखरविषाण" शब्द खर और विषाण ये दो शब्दो से बना हुआ है। इसलिए खरविषाण यह संयुक्त या अशुद्धपद का निषेध करता है। इसलिए उसका प्रतिपक्षी अपनी वास्तविक सत्ता रखता नहीं है।) व्याख्या में थोडी अलग पद्धति से यह बात को पेश की है वह देखे -

जो शब्द प्रतिपक्षवाला नहीं है, वह शब्द व्युत्पत्तिसिद्ध शब्द का या शुद्धपद का निषेध करता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। जैसे "**अखरविषाण**" शब्द में "**खरविषाण**" स्वरुप सामासिक (संयुक्त) पद का निषेध है। यहाँ व्युत्पत्तिसिद्ध शब्द होने पर भी शुद्धपद का अभाव होने से "**अखरविषाण**" शब्द का विपक्ष "**खरविषाण**" अस्तित्व रखता नहीं है।

वैसे ही "**अडित्थ**" शब्द में "**डित्थ**" शुद्ध होने पर भी व्युत्पत्तिसिद्ध शब्द का अभाव होने से (अर्थात् डित्थ शब्द व्युत्पत्ति सिद्ध = यौगिक शब्द नहीं है। परंतु रुढशब्द होने से) "**अडित्थ**" का विपक्ष ऐसा कोई "**डित्थ**" पदार्थ जीव की तरह अस्तित्व नहीं रखता है। परंतु "**अजीव**" निषेधवाची शब्द यौगिक तथा शुद्ध ऐसे "**जीव**" शब्द का निषेध करता है। इसलिए उसका प्रतिपक्षी जीव अवश्य होना ही चाहिए।

तथा स्वशरीरे स्वसंवेदनप्रत्यक्षमात्मानं साधयित्वा परशरीरेऽपि सामान्यतोदृष्टानुमानेन साध्यते । यथा परशरीरेऽप्यस्त्यात्मा, इष्टानिष्टयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात्, यथा स्वशरीरे । दृश्येते च परशरीर इष्टानिष्टयोः प्रवृत्तिनिवृत्ती, तस्मात्तत्सात्मकं आत्माभावे तयोरभावात्, यथा घटे इति । एतेन यदुक्तं "न सामान्यतोदृष्टानुमानादप्यात्मसिद्धिः" इत्यादि, तदप्यपास्तं द्रष्टव्यम् ९ । तथा नास्ति जीव इति योऽयं जीवनिषेधध्वनिः स जीवास्तित्वेननान्तरीयक एव, निषेधशब्दत्वात् । यथा नास्त्यत्र घट इति शब्दोऽन्यत्र घटास्तित्वाविनाभाव्येव । प्रयोगश्चात्र-इह यस्य निषेधः क्रियते तत्क्वचिदस्त्येव, यथा घटादिकम् । निषिध्यते च भवता "नास्ति जीवः" वचनात् । तस्मादस्त्येवासौ । यच्च सर्वथा नास्ति, तस्य निषेधोऽपि न दृश्यते, यथा पञ्चभूतातिरिक्तषष्ठभूतस्येति । नन्वसतोऽपि खरविषाणादेर्निषेधदर्शनादनैकान्तिकोऽयं हेतुरिति चेत् ? न, इह यत्किमपि वस्तु निषिध्यते, तस्यान्यत्र सत एव विवक्षितस्थाने संयोग-१-समवाय-२-सामान्य-३-विशेष-४-लक्षणं चतुष्टयमेव निषिध्यते, न तु सर्वथा तदभावः प्रतिपाद्यते । यथा नास्ति गृहे देवदत्त इत्यादिषु गृहे देवदत्तादीनां सतामेव संयोगमात्रं निषिध्यते, न तु तेषां सर्वथैवास्तित्वमपाक्रियते । तथा नास्ति खरविषाणमित्यादिषु खरविषाणादीनां सतामेव समवायमात्रं निराक्रियते[E-93] । तथा नास्त्यन्यश्चन्द्रमा इत्यादिषु विद्यमानस्यैव चन्द्रमसोऽन्यचन्द्र-निषेधाच्चन्द्रसामान्यमात्रं निषिध्यते, न तु सर्वथा चन्द्राभावः प्रतिपाद्यते । तथा न सन्ति घटप्रमाणानि मुक्ताफलानीत्यादिषु घटप्रमाणतामात्ररूपो विशेषो मुक्ताफलानां निषिध्यते, न तु तदभावः ख्याप्यत इति । एवं नास्त्यात्मेत्यत्रापि विद्यमानस्यैवात्मनो यत्र क्वचन येन केनचित्सह संयोगमात्रमेव त्वया निषेद्धव्यं, तथा नास्त्यात्मास्मिन् वपुषीत्यादि, न तु सर्वथात्मनोऽसत्त्वमिति ।

व्याख्या का भावानुवाद :

(E-93) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या का भावानुवाद :

(९) इस तरह से आत्मा (जीव) की सिद्धि होती है। जैसे स्व शरीर में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा की सिद्धि होती है, उसी तरह से अन्य के शरीर में भी सामान्यतोदृष्ट अनुमान से आत्मा की सिद्धि की जाती है। अनुमान प्रयोग इस अनुसार है -

"परशरीर में आत्मा है क्योंकि इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट में से निवृत्ति दिखती है। जैसे हमारा शरीर इष्ट में प्रवृत्ति करना चाहता है और अनिष्ट से बचना चाहता है। उसी तरह से दूसरो का शरीर भी इस वस्तु को ही चाहता है।"

तथा दूसरो के शरीर में इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति दिखती है। इसलिए परशरीर सात्मक है=आत्मासहित का है। क्योंकि आत्मा के अभाव में शरीर इष्ट में प्रवृत्त या अनिष्ट से निवृत्त हो सकता नहीं है। जैसे घट में आत्मा नहीं है, तो उसको धूप में रखा जाये तो उससे निवृत्ति करता नहीं है या उसमें दूध भरा जाये तो उससे उसमें उसकी प्रवृत्ति दिखती नहीं है। अर्थात् आत्मारहित घट में प्रवृत्ति - निवृत्ति देखने को नहीं मिलती है। जबकि आत्मा सहित के शरीर में प्रवृत्ति-निवृत्ति दिखती है। इस तरह से परशरीर में प्रवृत्ति-निवृत्ति को देखकर सामान्यतोदृष्ट अनुमान से परशरीर में भी आत्मा की सिद्धि होती है। **"इससे सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी आत्मा की सिद्धि होती नहीं है"** - ऐसा आपने जो पहले कहा था उसका भी खंडन हो जाता है।

तथा **"जीव नहीं है"** यह जो जीव का निषेधवाची शब्द **"अजीव"** है, वह शब्द जीव के अस्तित्व के साथ अविनाभाव रखता है अर्थात् वह निषेध जीव के अस्तित्व बिना नहीं हो सकता। क्योंकि वह निषेधात्मक शब्दप्रयोग है। जैसे **"नास्ति घटः"** यह जो घट का निषेधवाची शब्द **"अघट"** है, वह शब्द (अन्यत्र) घट के अस्तित्व के साथ अविनाभाव रखता है। इसी तरह से जीव का निषेध भी किसी स्थान पे जीव के अस्तित्व की अपेक्षा रखता है, वह निषेध जीव के सद्भाव बिना हो नहीं सकता। अनुमानप्रयोग यह है - **"जगत में जिसका निषेध किया जाता है, वह पदार्थ कहीं तो होता ही है।** जैसे कि घटादि तथा आपके द्वारा **"जीव नहीं है"** ऐसा निषेध किया जाता है" इसलिए (उपरोक्त अनुमान से सिद्ध होता हे कि) जगत में जीव तो है ही। जो सर्वथा अस्तित्व रखता नहीं है। उसका निषेध भी दिखता नहीं है। जैसे पांचभूत से अतिरिक्त छठ्ठे भूत का अस्तित्व न होने से छठ्ठे भूत का कोई निषेध भी करता नहीं है।

शंका : खरविषाण इत्यादि सर्वथा असत् पदार्थो का भी निषेध होता देखने को मिलता है। इसलिए जिसका निषेध होता हो, उसका सद्भाव होना ही चाहिए, ऐसी कोई नियत आवश्यकता दिखाई देती नहीं है। इसलिए उपरोक्त अनुमान में प्रयोजित किया हुआ हेतु अनैकान्तिक है।

समाधान : आपकी बात योग्य नहीं है, क्योंकि जो कोई भी वस्तु का निषेध किया होता है, उसका सर्वत्र सर्वथा निषेध होता ही नहीं है। परन्तु अन्यत्र विद्यमान होने के साथो साथ यहाँ संयोग, समवाय,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् कोई भी वस्तु का निषेध किया जाये तो सर्वथा सर्वत्र नहीं किया जाता। परंतु वह पदार्थ अन्यत्र विद्यमान होने पर भी विवक्षितस्थान में "**संयोग से नहीं है।**" ऐसा ही निषेध किया जाता है। परंतु सर्वथा उसका अभाव प्रतिपादित नहीं किया जाता है।

जैसे "**नास्ति गृहे देवदत्तः**" इस प्रयोग में देवदत्तादि विद्यमान होने पर भी मात्र गृह में उसके संयोगमात्र का निषेध किया जाता है। परंतु देवदत्तादि का सर्वथा निषेध नहीं किया जाता। (अर्थात् अभी देवदत्तादि का गृह में संयोग नहीं है। इसलिए अन्यत्र भी निषेध नहीं होता। अन्यत्र बगीचे आदि में तो वह होता ही है। यहां देवदत्तादि और गृह विद्यमान है, परंतु दोनो का संयोग नहीं है, इसलिए निषेध किया जाता है। परंतु सर्वथा निषेध नहीं किया जाता है।)

उसी तरह से "**खरविषाण नहीं है**" इस प्रयोग में गधा और विषाण विद्यमान होने पर भी उन दोनो के बीच समवायमात्र का निषेध किया जाता है। अर्थात् गधे में सिंग के समवाय विशिष्ट संबंध का निषेध किया जाता है। (यहां गधे या सिंग का स्वतंत्रनिषेध नहीं है। क्योंकि वे अन्यत्र विद्यमान ही है। परंतु उन दोनो के बीच का विशिष्ट समवायसंबंध का निषेध किया जाता है।)

"**अन्य चन्द्र नहीं है।**" इस प्रयोग में विद्यमान चन्द्र से अन्य (दूसरे) चन्द्र का निषेध किया गया है। अर्थात् इस चन्द्रमा की तरह दूसरा चन्द्रमा नहीं है। (चन्द्र तो ऐसे अनेक नहीं है, एक ही है।) ऐसा चन्द्रसामान्य का निषेध किया गया है। परंतु सर्वथा चन्द्र के अभाव का प्रतिपादन नहीं किया गया।

"**मोती घट के प्रमाण के नहीं है।**" इस प्रयोग में मोती घट की तरह ज्यादा प्रमाणवाले नहीं है। ऐसा मात्र घटप्रमाणतारुप विशेष मोतीयों का निषेध किया गया है। परंतु मोतीमात्र का निषेध नहीं किया गया है।

इस अनुसार से "**आत्मा नहीं है**" इस प्रयोग में विद्यमान आत्मा का जो कोई विवक्षितस्थान में किसीके साथ के संयोगमात्र का ही आपके द्वारा निषेध करना चाहिए (सर्वथा नहि)। अर्थात् "**इस शरीर में आत्मा नहीं है।**" इस प्रयोग में इस विवक्षितशरीर में ही आत्मा के संयोग का निषेध किया गया है, परंतु आत्मा का सर्वथा अन्यत्र दूसरे शरीरो में निषेध नहीं किया गया है।

अत्राहकश्चित्-ननु यदि यन्निषिध्यते तदस्ति, तर्हि मम त्रिलोकेश्वरताप्यस्तु, युष्मदादिभिर्निषिध्यमानत्वात्। तथा चतुर्णां संयोगादिप्रतिषेधानां पञ्चमोऽपि प्रतिषेधप्रकारोऽस्ति, त्वयैव निषिध्यमानत्वात्, तदयुक्तम्। **त्रिलोकेश्वरताविशेषमात्रं भवतो निषिध्यते यथा घटप्रमाणत्वं मुक्तानां न तु सर्वथेश्वरता, स्वशिष्यादीश्वरतायास्तवापि विद्यमानत्वात्। तथा प्रतिषेधस्यापि पञ्चसंख्याविशिष्टत्वमविद्यमानमेव निवार्यते न तु सर्वथा प्रतिषेधस्याभावचतुःसंख्याविशिष्टस्य सद्भावात्। ननु सर्वमप्यसंबद्धमिदम्।** तथाहि - **मत्त्रिलोकेश्वरत्वं तावदसदेव निषिध्यते, प्रतिषेधस्यापि पञ्चसंख्याविशिष्टत्वमप्यविद्य-**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मानमेव निवार्यते । तथा संयोगसमवायसामान्यविशेषाणामपि गृहदेवदत्त-खरविषाणा-दिष्वसतामेव प्रतिषेध इति । अतो यन्निषिध्यते तदस्त्येवेत्येतत्कथं न प्लवत इति ? अत्रोच्यते-देवदत्तादीनां संयोगादयो गृहादिष्वेवासंतो निषिध्यन्ते । अर्थान्तरे तु तेषां ते सन्त्येव । तथाहि-गृहेणैव सह देवदत्तस्य संयोगो न विद्यते, अर्थान्तरेण त्वारामादिना वर्तत एव । गृहस्यापि देवदत्तेन सह संयोगो नास्ति, खट्वादिना तु विद्यत एव । एवं विषाणस्यापि खर एव समवायः नास्ति, गवादावस्त्येव । सामान्यमपि द्वितीयचन्द्राभावश्चन्द्र एव नास्ति, अर्थांतरे तु घटादावस्त्येव । घटप्रमाणत्वमपि मुक्तासु नास्ति, अन्यत्र विद्यत एव । त्रिलोकेश्वरतापि भवत एव नास्ति, तीर्थकरादावस्त्येव । पञ्चसंख्याविशिष्टत्वमपि प्रतिषेधप्रकारेषु नास्ति, अनुत्तरविमानादावस्त्येवेत्यनया विवक्षया ब्रूमः यन्निषिध्यते तत्सामान्येन विद्यत एव । नत्वेवं प्रतिजानीमहे यद्यत्र निषिध्यते तत्तत्रैवास्तीति येन व्यभिचारः स्यात्, एवं सत एव जीवस्य यत्र क्वापि निषेधः स्यान्न पुनः सर्वत्रेति । तथास्ति देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मा, [E-94]इन्द्रियोपरमेऽपि तदुपलब्ध्यर्थानुस्मरणात्, पञ्चवातायनोपलब्ध्यर्था-नुस्मर्तृदेवदत्तवत्, इति सिद्धमनुमानग्राह्य आत्मेति ।

व्याख्या का भावानुवाद :

शंका : यदि आप "**जिसका निषेध किया जाये वह अन्यत्र होता है ।**" ऐसा कहते हो तो मुझे "**त्रिलोकनाथता**" प्राप्त हो, क्योंकि आपके द्वारा मुझ में उसका निषेध किया गया है ।

तथा संयोगादि चार प्रतिषेध के प्रकारो में पांचवां भी प्रतिषेधप्रकार है, क्योंकि आपके द्वारा पांचवे प्रतिषेध प्रकार का निषेध किया गया है ।

समाधान : आपकी बात उचित नहीं है । क्योंकि हमने आपमें "**त्रिलोकनाथता**" विशेषमात्र का निषेध किया है । जैसे मोती में घटप्रमाणता विशेषमात्र का निषेध किया था, वैसे हम आपमें "**त्रिलोकनाथता**" विशेषमात्र का निषेध करते है । परंतु ईश्वरता (नाथता) सामान्य मात्र का निषेध करते नहीं है । क्योंकि आपमें भी आपके अपने शिष्यो का स्वामित्व (ईश्वरता) विद्यमान है ।

उसी तरह से प्रतिषेध के प्रकारो में पांचवां संख्याविशिष्ट का (अविद्यमान होने के कारण) निषेध किया जाता है । परंतु सर्वथा प्रतिषेध प्रकारो का निषेध नहीं किया जाता, क्योंकि प्रतिषेध के चार प्रकारोका सद्भाव तो है ही । पांचवा प्रकार उसमें नहीं इतना ही निषेध किया गया है । (पांचवी संख्या भी है और प्रतिषेध भी है । परंतु उन दोनो के बीच विशेषण-विशेष्यभाव नहीं है ।)

(E-94) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शंका : आपकी उपरोक्त सभी बाते असंगत है। क्योंकि.... मेरी त्रिलोकनाथता का निषेध किया जाता है वह असत् है इसलिए। पांचवे प्रतिषेध के प्रकार का निषेध किया जाता है वह भी असत् है। इसलिए असत् पदार्थो का ही निषेध किया जाता है, तो विद्यमान पदार्थो का ही निषेध किया जाता है, ऐसा नियम कहाँ रहा ? उसी तरह से देवदत्त और गृह का संयोग तथा गधे और सिंग का समवाय, चन्द्र की अनेकता तथा मोती में घटप्रमाणताविशेष नहीं है, बिलकुल असत् ही है। फिर भी उसका निषेध किया गया है। इसलिए "जिसका निषेध होता है वह विद्यमान होता है।" यह नियम तूट जाता है। इसलिए उस नियम को दूषित क्यों न माना जाये ?

समाधान : देवदत्तादि का संयोगादि गृहादि में अविद्यमान होने से निषेध किया जाता है। परन्तु अर्थान्तर में तो वह विद्यमान ही है। वह इस अनुसार से है - गृह के साथ ही देवदत्त का संयोग विद्यमान नहीं है। परन्तु अर्थान्तर ऐसे बगीचे इत्यादि के साथ तो है ही। तथा गृह का भी देवदत्त के साथ संयोग नहीं है। परंतु अर्थान्तर ऐसी चारपाई (खटिया) इत्यादि के साथ तो है ही। इस अनुसार से सिंग का भी गधे में ही समवाय नहीं है, गाय आदि में तो है ही। दूसरे चन्द्र का अभाव होने से चन्द्र में समानता (सामान्य) नहीं है। परंतु अर्थान्तर ऐसे घटादि में तो सामान्य (समानता) है ही। घट की प्रमाणता भी मोतीयो में नहीं है। परंतु अन्यत्र होता ही है। त्रिलोकनाथता भी आपमें ही नहीं है, तीर्थंकरादि में तो है ही।

प्रतिषेध की पांचवी संख्या भी (विवक्षित) प्रतिषेध के प्रकारो में ही नहीं है, परंतु पांच अनुत्तरविमानादि में तो है ही। इस अनुसार से इस विवक्षा से हम कहते है कि जिसका निषेध किया जाता है, वह सामान्य से (जगत में) विद्यमान ही होता है।

तथा हमने ऐसा तो नहीं कहा है कि जिसका जिस स्थान पे निषेध किया जाता है, वह उसी स्थान पे ही होता है, कि जिससे व्यभिचार आये।

इस अनुसार से विद्यमान ऐसे जीव का कहीं भी निषेध हो सकता है। परंतु सर्वत्र निषेध हो सकता नहीं है। अर्थात् आत्मा (जीव) विद्यमान होने से उसका कहीं अभाव हो सकता है, सर्वत्र अभाव नहीं हो सकता है।

तथा देह से अतिरिक्त आत्मा है। क्योंकि इन्द्रिय का उपरम (नाश) होने के बाद भी इन्द्रियो से ग्रहण किये हुए पदार्थ का स्मरण होता है। जैसे कि, खिडकी में से देखे हुए पदार्थ को खिडकी बंध होने के बाद भी उस पदार्थ का देवदत्त को स्मरण होता है। (कहने का मतलब यह है कि, देह से अतिरिक्त आत्मा है। क्योंकि इन्द्रियो का व्यापार न होने पर भी तथा कोई इन्द्रियो की हानी हो जाने पर भी, उस इन्द्रियो के द्वारा भूतकाल में महसूस किये हुए अर्थ का स्मरण होता है। और उस स्मरण करनेवाले के रुप में आत्मा की सिद्धि होती है।) इस तरह से सिद्ध होता है कि आत्मा अनुमानग्राह्य भी है।

अनुमानग्राह्यत्वे सिद्धे तदन्तर्भूतत्वेनागमोपमानार्थापत्तिग्राह्यतापि सिद्धा । किं च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"प्रमाणपञ्चकाभावेन" इत्यादि यदप्यवादि तदपि मदिराप्रमादिविलसितसोदरं, यतो हिमवदुत्पल-परिमाणादीनां पिशाचादीनां च प्रमाणपञ्चकाभावेऽपि विद्यमानत्वादिति, अतो यत्र प्रमाणपञ्चकाभाव-स्तदसदेवेत्यनैकान्तिकम् । इति सिद्धः प्रत्यक्षादिप्रमाणग्राह्य आत्मा । स च विवृत्तिमान् परलोकयायी । तत्र चानुमानमिदम् - [E-95]तदहर्जातबालक-स्याद्यस्तन्याभिलाषः पूर्वाभिलाषपूर्वकः, अभिलाषत्वात्, द्वितीयदिनाद्यस्तनाभिलाषवत् । तदिदमनुमानमाद्यस्तनाभिलाषस्याभिलाषान्तरपूर्वकत्वमनुमापयदर्थापत्त्या परलोकगामिनं जीवमाक्षिपति, तज्जन्मन्यभिलाषान्तराभावादिति स्थितम् ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

इस तरह से आत्मा की अनुमानग्राह्यता सिद्ध होने से अनुमान की अंदर समाविष्ट होते आगम, उपमान और अर्थापत्ति से भी आत्मा की ग्राह्यता सिद्ध हो जाती है।

वैसे ही **"आत्मा की सिद्धि में प्रमाणपंचक की प्रवृत्ति का अभाव होने से आत्मा अभाव प्रमाण का विषय बनता है।"** ऐसा जो कहा था, वह भी मदिरापान के उन्माद से बोले हुए असंबद्ध वचनो के जैसा है। क्योंकि हिमालय का परिमाण आदि तथा पिशाचादि में प्रमाणपंचक की प्रवृत्ति का अभाव होने पर भी हिमालय का (कोई-न-कोई) परिमाण आदि तथा पिशाचादि विद्यमान ही है।

इसलिए आपके अनुमान में प्रयोजित हुए **"प्रमाणपंचकाभावत्व"** हेतु अनैकान्तिक है। इसलिए पांच प्रमाण की प्रवृत्ति न होनेमात्र से वस्तु का अभाव नहीं माना जा सकता। इसलिए आत्मा के अभाव के लिए प्रयोजित किया हुआ हेतु व्यभिचारी है। इस अनुसार से प्रत्यक्षादि प्रमाण से ग्राह्य आत्मा सिद्ध होता है।

वह आत्मा विवृत्तिमान् अर्थात् परलोकगामी है। अनुमानप्रयोग इस अनुसार है - **"तत्काल उत्पन्न हुए बालक के आद्य (पहले) स्तनपान की अभिलाषा पूर्वाभिलाषापूर्वक होती है। क्योंकि अभिलाषा है। जैसे कि द्वितीय दिन के आद्यस्तनपान की अभिलाषा।"** अर्थात् द्वितीयस्तनपान की अभिलाषा, अभिलाषापूर्वक की होती है। वैसे तत्काल पैदा हुए बालक के स्तनपान की अभिलाषा भी अभिलाषापूर्वक की होनी चाहिए। इसलिए तत्काल पैदा हुए बालक के स्तनपान की प्रवृत्ति अभिलाषापूर्वक की सिद्ध होने से (इस जन्म में तो तादृश अभिलाषा पहले हुई देखने नहीं मिलती है, इसलिए) अर्थापत्ति से पूर्वजन्म की अभिलाषा का अनुमान होता है और उससे आत्मा के पूर्वभव की सिद्धि होने से आत्मा परलोकगामी सिद्ध होता है।

तथा कूटस्थनित्यताप्यात्मनो न घटते, यतो यथाविधः पूर्वदशायामात्मा तथाविध एव चेज्ज्ञानोत्पत्तिसमयेऽपि भवेत्, तदा प्रागिव कथमेष पदार्थपरिच्छेदकः स्यात् ?,

(E-95) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिनियतस्वरूपाऽप्रच्युतिरूपत्वात्कौटस्थ्यस्य । पदार्थपरिच्छेदे तु प्रागप्रमातुः प्रमातृरूपतया परिणामात्कुतः कौटस्थ्यमिति ? ।

व्याख्या का भावानुवाद :

आत्मा की कूटस्थ नित्यता भी संगत होती नहीं है। (अनुभवविरुद्ध भी है।) क्योंकि जिस प्रकार से पूर्वदशा में आत्मा था, उस प्रकार का ही यदि ज्ञान की उत्पत्ति के बाद भी आत्मा रहता हो, तो पहले की तरह वह मूर्ख (अज्ञानी) ही रहेगा। पदार्थ का ज्ञाता किस तरह से बन सकेगा ? क्योंकि प्रतिनियत स्वरुप में से जो च्युत (चलित) न हो वह कूटस्थ कहा जाता है। अर्थात् जिसके स्वरुप में कभी भी बदलाव न हो, उसे कूटस्थ कहा जाता है।

उपरांत पदार्थ का ज्ञाता बने तब पहले जो पदार्थ का ज्ञाता नहीं था, वह ज्ञातारुप में परिणाम पाता है, तो उसका कूटस्थत्व किस तरह से होगा ? कहने का मतलब यह है कि ज्ञान प्राप्त करनेवाला आत्मा पहले पदार्थ का ज्ञाता नहीं था और ज्ञान पाने से वह ज्ञातारुप में परिणमित हुआ, तो उसमें कूटस्थत्व किस तरह से रहेगा ?

(वैसे ही कूटस्थ नित्य में कोई नये स्वभाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती तथा उसके कोई स्वभाव का नाश नहीं होता। इसलिए वह मूर्ख हो तो मूर्ख ही रहेगा और मूर्ख हो वह विद्वान नहि बनेगा।) इसलिए "**यह व्यक्ति (आत्मा) विद्वान बनी।**" ऐसी अनुभवसिद्ध बात का अपलाप नहीं किया जा सकता। इसलिए आत्मा कूटस्थ नित्य नहीं है।

तथा सांख्याभिमतमकर्तृत्वमप्ययुक्तम् । तथाहि-**कर्त्तात्मा, स्वकर्मफलभोक्तृत्वात्, यः स्वकर्मफलभोक्ता स कर्त्तापि दृष्टः यथा कृषीवलः । तथा सांख्यकल्पितः पुरुषो वस्तु न भवति, अकर्त्तृकत्वात्, खपुष्पवत् । किं चात्मा भोक्ताङ्गीक्रियते स च भुजिक्रियां करोति न वा ? । यदि करोति तदापराभिः क्रियाभिः किमपराद्धम् !। अथ** [E-96]**भुजिक्रियामपि न करोति, तर्हि कथं भोक्तेति चिन्त्यम्** प्रयोगश्चात्र-**संसार्यात्मा भोक्ता न भवति, अकर्त्तृकत्वात्, मुक्तात्मवत् । अकर्त्तृभोक्तृत्वाभ्युपगमे च कृतनाशाकृताभ्यागमादिदोषप्रसङ्गः । प्रकृत्या कृतं कर्म, न च तस्याः फलेनाभिसंबन्ध इति कृतनाशः । आत्मना च तन्न कृतम्, अथ च तत्फलेनाभिसंबन्ध इत्यकृतागम इत्यात्मनः कर्त्तृत्वमङ्गीकर्तव्यम् ।।**

व्याख्या का भावानुवाद :

सांख्यमतानुसार आत्मा कर्ता नहीं है। (प्रकृति ही कर्ता है। सांख्यो की यह बात अयोग्य है।) क्योंकि उस बात की सिद्धि करनेवाले प्रमाण का अभाव है। आत्मा कर्ता है ही और उसमें प्रमाण यह रहा -

(E-96) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा कर्ता है, क्योंकि स्वकर्म के फल को भुगतनेवाला है । जो स्वकर्म के फल का भोक्ता होता है। वह उस कर्म का कर्ता भी होता ही है। जैसे किसान खेती को काट के धान्यरुपी फल का भोक्ता है, तो वह किसान खेती का (कृषि का) कर्ता भी है ही। उसी तरह आत्मा भी कर्म के शुभाशुभ फल का भोक्ता है, तो वह आत्मा कर्म का कर्ता भी है ही।

तथा सांख्यो के द्वारा परिकल्पित पुरुष जैसी कोई वस्तु ही नहीं है। क्योंकि वह कोई कार्य ही करता नहीं है। आकाशपुष्प कोई कार्य करता नहीं है, तो जैसे उसका अस्तित्व ही जगत में नहीं है, वैसे सांख्यो के द्वारा परिकल्पित पुरुष कार्य करता न होने से वास्तव में वह विद्यमान ही नहीं है। अर्थात् सांख्यो के द्वारा माना गया पुरुष वस्तुसत् नहीं है। क्योंकि वह कोई कार्य करता नहीं है। जैसे कि, आकाशकुसुम।

उपरांत हे सांख्यो ! आपका आत्मा (पुरुष) आपने भोक्ता के रुप में अंगीकार (स्वीकार) किया है, तो वह आत्मा भोग क्रिया करता है या नहि ? वह बतायें। यदि भोगक्रिया करता है, तो दूसरी क्रियाएं करने में क्या अपराध है ? और यदि भोगक्रिया करता नहीं है, तो वह भोक्ता किस तरह से कहा जा सकता है ? यह सब आपको सोचना चाहिए। कर्ता बने बिना आत्मा भोक्ता बन सकता ही नहीं है। अनुमान प्रयोग इस अनुसार से है - **"संसारी आत्मा भोक्ता नहीं है। क्योंकि कोई क्रिया करता नहीं है। जैसे मुक्तात्मा।"**

तथा यदि आत्मा को कर्ता तथा भोक्ता के रुप में स्वीकार किया न जाये तो **"कृतनाश"** और **"अकृताभ्यागम"** इत्यादि दोष आ जायेंगे। करनेवाला दूसरा कोई हो और भुगतनेवाला दूसरा कोई हो तो **"कृतनाश"** और **"अकृताभ्यागम"** ये दो दोष आते है। आपके मतानुसार प्रकृति ने कर्म (क्रिया) की और पुरुष को फल मिला अर्थात् प्रकृति कर्ता है और पुरुष भोक्ता है। यह बात संगत होती नहीं है। क्योंकि उसमें **"कृतनाश"** और **"अकृताभ्यागम"** दो दोष आते है - **"प्रकृति से किये गये कर्म के फल का संबंध प्रकृति को नहीं होता अर्थात् प्रकृतिने क्रिया की परंतु उस क्रिया का फल प्रकृति को नहि मीला अर्थात् प्रकृति ने किया हुआ निरर्थक (नाश) हुआ। इसलिए "कृतनाश" दोष स्पष्ट रुप से आता है।"** तथा "आत्मा ने जो क्रिया की नहीं है उस क्रिया के फल का संबंध आत्मा के साथ होता है। अर्थात् आत्मा को नहि किये हुए का अभ्यागम होता है। इसलिए **"अकृताभ्यागम"** दोष स्पष्ट रुप से आता है।" इस प्रकार प्रकृति को कर्ता और आत्मा को भोक्ता मानने से दो दोष आते होने से यह दोष न आये इसलिए आत्मा को कर्ता के रुप में स्वीकार करना ही चाहिए।

तथा जडस्वरूपत्वमप्यात्मनो न घटते, तद्बाधकानुमानसद्भावात् । तथाहि - **अनुपयोगस्वभाव आत्मा नार्थपरिच्छेदकर्त्ता, अचेतनत्वात्, गगनवत् । अथ चेतनासमवायात्परिच्छिनत्तीति चेत् ? तर्हि यथात्मनश्चेतनासमवायाज्ज्ञातृत्वं तथा घटस्यापि ज्ञातृत्वप्रसङ्गः, समवायस्य नित्यस्यैकस्य व्यापिनः सर्वत्राप्यविशेषादित्यत्र बहुवक्तव्यम् तत्तु नोच्यते, ग्रन्थगौरवभयात् । ततश्चात्मनः पदार्थपरिच्छेदकत्वमङ्गीकुर्वाणैश्चैतन्यस्वरूपताप्यस्य गले पादिकान्यायेन प्रतिपत्तव्येति स्थितं चैतन्यलक्षणो जीव इति । जीवश्च**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदान्नवविधः । ननु भवतु जीवलक्षणोपेतत्वाद्द्वीन्द्रियादीनां जीवत्वं, पृथिव्यादीनां तु जीवत्वं कथं श्रद्धेयं ? व्यक्तलिङ्गस्यानुपलब्धेरिति चेत् ? सत्यं, यद्यपि तेषु व्यक्तं जीवलिङ्गं नोपलभ्यते, तथाप्यव्यक्तं तत्समुपलभ्यत एव । यथा हृत्पूरव्यतिमिश्रमदिरापानादिभिर्मूर्च्छितानां व्यक्तलिङ्गाभावेऽपि सजीवत्वमव्यक्तलिङ्गैर्व्यवह्रियते, एवं पृथिव्यादीनामपि सजीवत्वं व्यवहरणीयम् । ननु मूर्च्छितेषूच्छ्वासादिकमव्यक्तं चेतनालिङ्गमस्ति, न पुनः पृथिव्यादिषु तथाविधं किंचिच्चेतनालिङ्गमस्ति । नैतदेवं, पृथिवीकाये तावत्स्वस्वाकारावस्थितानां लवणविद्रुमोपलादीनां समानजातीयाङ्कुरोत्पत्तिमत्त्वमऽर्शो मांसाङ्कुरस्येव चेतनाचिह्नमस्त्येव । अव्यक्तचेतनानां हि संभावितैकचेतनालिङ्गानां वनस्पतीनामिव चेतनाभ्युपगन्तव्या । वनस्पतेश्च चैतन्यं विशिष्टर्तुफलप्रदत्वेन स्पष्टमेव, साधयिष्यते च । ततोऽव्यक्तोप-योगादिलक्षणसद्भावात्सचित्ता पृथिवीति स्थितम् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

तथा आत्मा को जडरुप = ज्ञानशून्य मानना भी संगत नहीं है। क्योंकि आत्मा को ज्ञानशून्य मानने में बाधकप्रमाण विद्यमान है। वह यह रहा - "ज्ञानशून्य आत्मा पदार्थ का ज्ञान कर सकता नहीं है। क्योंकि अचेतन है। जैसे अचेतन ऐसा आकाश पदार्थ का ज्ञान नहीं कर सकता है। वैसे अचेतन = ज्ञानशून्य आत्मा भी पदार्थपरिच्छेदक बन सकता नहीं है।

शंका : चेतना के समवाय से अचेतन आत्मा ज्ञानवाला बनता है और ऐसा आत्मा पदार्थ का परिच्छेदक बनता है, इसलिए आत्मा जड स्वरुप ही है। परन्तु चेतना के समवाय से ज्ञानवाला बनता है।

सामाधान : आपकी यह बात उचित नहीं है। क्योंकि चेतना के समवाय से आत्मा में ज्ञातृत्व मानोंगे तो चेतना के समवाय से घट में भी ज्ञातृत्व मानने की आपत्ति आयेगी। क्योंकि समवाय नित्य, एक, व्यापक है। क्योंकि सर्वत्र अविशेष है। इसलिए समवाय एक होने से आत्मा में जो चेतना का समवाय है, वही समवाय घट में भी है ही। इसलिए घट को भी आत्मा की तरह ज्ञाता (ज्ञानवाला) मानना पडेगा, कि जो आपको भी इष्ट नहीं है। इस विषय में बहोत बहोत कहने योग्य है। परंतु ग्रंथ गौरव के भय से ज्यादा कहते नहीं है।

इसलिए आत्मा की पदार्थपरिच्छेदकता का स्वीकार करनेवालो के द्वारा आत्मा की चैतन्यस्वरुपता का भी स्वीकार करना चाहिए। अर्थात् "गले में पडे हुए ढोल को बजाना ही चाहिए। (बजाना ही पडेगा।)" इस न्याय से आत्मा को पदार्थ का ज्ञाता मानने के बाद अवश्य चैतन्यरुप भी मानना ही पडेगा। इसलिए स्थित होता है कि चैतन्यस्वरुप आत्मा है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, बेंइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, ये नौ प्रकार के जीव है।

शंका : जीव के लक्षण से युक्त बेइन्द्रियादि में जीवत्व मानना उचित है। परंतु पृथ्वी आदि में जीवत्व किस तरह से श्रद्धेय (श्रद्धा करने योग्य) बन सकेगा ? क्योंकि पृथ्वी इत्यादि में जीवत्व की सिद्धि करनेवाला स्पष्ट कोई लिंग उपलब्ध होता नहीं है। इसलिए पृथ्वी आदि में जीवत्व माना नहीं जा सकता।

समाधान : यद्यपि आपकी बात सच है कि, पृथ्वी आदि में जीवत्व की सिद्धि करनेवाले व्यक्त लिंग की अनुपलब्धि है। तो भी पृथ्वी इत्यादि में जीवत्व को मानने में अव्यक्त लिंग उपलब्ध होता ही है। जैसे हत्पूर (धतूरे) से मिश्रित मदिरापान इत्यादि से मूर्च्छित हुए जीवो में व्यक्त लिंग का अभाव होने पर भी अव्यक्त लिंगो के द्वारा "यह सजीव है" ऐसा सजीव के रुप से व्यवहार किया जाता है। इस अनुसार से पृथ्वी इत्यादि में भी अव्यक्तलिंगो से सजीव के रुप में व्यवहार करना चाहिए।

शंका : मूर्च्छित जीवो में श्वासोश्वास स्वरुप अव्यक्त चेतना का लिंग (चिह्न) होता है। परंतु पृथ्वी इत्यादि में वैसे प्रकार का कोई चेतना का लिंग होता नहीं है। इसलिए पृथ्वी इत्यादि को जीव माना नहीं जा सकता।

समाधान : आप कहते हो वैसा नहीं है, क्योंकि जैसे हमारे शरीर में गुदा के आसपास होनेवाले मसे नये नये मसेको उत्पन्न करके शरीर की सजीवता को बताते है, वैसे पृथ्वीकाय जीवो में भी अपने अपने आकार में अवस्थित (रहे हुए) नमक, विद्रुम, पत्थर इत्यादि में समानजातीय अंकुरो की उत्पत्ति देखने को मिलती है। यही पृथ्वीकाय की सजीवता में प्रमाण है। अर्थात् नमक की खान में से नमक निकाल लेने के बाद भी उसमें नये--नये अंकुर फूटते होते है। समुद्र में होनेवाले विद्रुम में भी नित-नित नये अंकुर फूटते दिखते है और पत्थर की खान में से भी पत्थर में से अंकुर फूटते दिखाई देते है। यही नमक इत्यादि पृथ्वीकाय की सजीवता में प्रमाण है।

इसी ही तरह से संभवित एक चेतनारुप लिंग से युक्त अव्यक्त चेतनावाली वनस्पति में भी सजीवता का स्वीकार करना चाहिए। विशिष्टऋतु में (वनस्पति) फल देती होने के कारण वनस्पति में चैतन्य स्पष्ट रुप से सिद्ध ही है। फिर भी उसकी सिद्धि आगे करेंगे। इसलिए (पृथ्वी में) अव्यक्त उपयोगादि स्वरुप चैतन्य लक्षण का सद्भाव होने से पृथ्वी सचित्त है, वह सिद्ध होता है।

ननु च विद्रुमपाषाणादिपृथिव्याः कठिनपुद्गलात्मिकायाः कथं सचेतनत्वमिति चेत् ? नैवं, उच्यते-यथास्थि शरीरानुगतं सचेतनं कठिनं च दृष्टं, एवं जीवानुगतं पृथिवीशरीर-मपीति । अथवा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयो जीवशरीराणि, छेद्यभेद्योत्क्षेप्यभोग्यग्रेयर-सनीयस्पृश्यद्रव्यत्वात्, सास्नाविषाणादिसंघातवत् । नहि पृथिव्यादीनां छेद्यत्वादि दृष्टमपह्नोतुं शक्यम् । नच पृथिव्यादीनां जीवशरीरत्वमनिष्टं साध्यते, सर्वस्य पुष्टलद्रव्यस्य द्रव्यशरीरत्वाभ्युपगमात् । जीवसहितत्वासहितत्वं च विशेषः । अशस्त्रोपहतं पृथिव्यादिकं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कदाचित्सचेतनं संघातत्वात्, पाणिपादसंघातवत् । तदेव कदाचित्किंचिदचेतनमपि शस्त्रोपहतत्वात्, पाण्यादिवदेव, न चात्यन्तं तदचित्तमेवेति ।।१।।

व्याख्या का भावानुवाद :

शंका : विद्वुम, पाषाणादि पृथ्वी कठीन पुद्गलस्वरुप होने से किस तरह से उसमें सचेतनत्व हो सकेगा?

समाधान : कठीन होनेमात्र से अचेतन मानना उचित नहीं है, क्योंकि जीवितशरीर में रही हुई हड्डीयां सचेतन और कठीन होती है। इस तरह से जीवित पृथ्वी का शरीर कठीन होने पर भी सचेतन होने में कोई बाध नहीं है।

अथवा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीव के शरीर है। क्योंकि वे छेद्य, भेद्य, उत्क्षेप्य, भोग्य, घ्रेय, रसनीय, स्पृश्य द्रव्य है। जैसे कि (गाय के) सिंग, दडी इत्यादि का समूह।.

पृथ्वी इत्यादि में स्पष्टतया दिखते छेद्यत्वादि धर्मो को छिपाना संभव नहीं है। इससे पृथ्वी इत्यादि सचेतन सिद्ध होते है। तथा पृथ्वी आदि को जीव के शरीर मानना अनिष्ट नहीं है, क्योंकि जगत के सभी पुद्गलद्रव्य द्रव्यशरीर के रुप में स्वीकार किये गये है।

केवल विशेष इतना ही है कि, कोई पुद्गल जीवसहित हो के सजीवस्वरुप होता है। तो कोई पुद्गल जीवरहित होने से अजीवस्वरुप होता है, इस बात को सिद्ध करते दो अनुमान इस अनुसार से है **"शस्त्र से उपहत नहीं हुई (खान की) पृथ्वी इत्यादि सचेतन है, क्योंकि वह वृद्धि पाती शिलाओं का समुदाय है । जैसे हाथ-पैर आदि का समुदाय ।"**

इस अनुमान से शस्त्र से उपहत न हुआ जीवसहित का पुद्गल सजीव सिद्ध होता है। तथा "उसी खान की पृथ्वी कभी अचेतन भी होती है। क्योंकि शस्त्र से उपहत हुई है। जैसे कि कटा हुआ हाथ इत्यादि।" इस अनुमान से शस्त्र से उपहत हुआ जीवरहित पुद्गलद्रव्य निर्जीव सिद्ध होता है।

वैसे ही पृथ्वी को सर्वथा अचित्त नहीं कहा जा सकता। तथा जो पृथ्वी बढती नहीं है, वह अचित्त है, ऐसा भी नहीं कहना। इस प्रकार कोई पृथ्वी सचेतन होती है। तो कोई पृथ्वी अचेतन होती है। इस तरह से पृथ्वी में जीवत्व की सिद्धि हुई।

अथ नाप्कायो जीवः, तल्लक्षणायोगात्, प्रस्रवणादिवदिति चेत् ? नैवं, हेतोरसिद्धत्वात् । यथा हि - **हस्तिनः शरीरं कललावस्थायामधुनोत्पन्नस्य द्रवं चेतनं च दृष्टं, एवमप्कायोऽपि, यथा वाण्डके रसमात्रमसंजातावयवमनभिव्यक्तचक्ष्वादिप्रविभागं चेतनावद्दृष्टम् । एषैव चोपमाज्जीवानामपि ।** प्रयोगश्चायम्-**सचेतना आपः, शस्त्रानुपहतत्वे सति द्रवत्वात्, हस्तिशरीरोपादानभूतकललवत् । हेतोर्विशेषणोपादानात् प्रस्रवणादिव्युदासः । तथा सात्मकं तोयम्, अनुपहतद्रवत्वात्, अण्डकमध्यस्थितकललवदिति । इदं वा**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राग्वज्जीववच्छरीरत्वे सिद्धे सति प्रमाणम् । सचेतना हिमादयः क्वचित्, अप्कायत्वात्, इतरोदकवदिति । तथा क्वचन चेतनावत्य आपः, खातभूमिस्वाभाविकसंभवात्, दर्दुरवत् । अथवा सचेतना अन्तरिक्षोद्भवा आपः, अभ्रादिविकारे स्वत एव संभूय पातात्, मत्स्यवदिति । तथा शीतकाले भृशं शीते पतति नद्यादिष्वल्पेऽल्पो बहौ बहुर्बहुतरे च बहुतरो य ऊष्मा संवेद्यते स जीवहेतुक एव, अल्पबहुबहुतरमिलितमनुष्यशरीरेष्वल्पबहुबहुतरोष्मवत् । प्रयोगश्चायम्-शीतकाले जलेषूष्णस्पर्श उष्णस्पर्शवस्तुप्रभवः, उष्णस्पर्शत्वात्, मनुष्यशरीरोष्णस्पर्शवत् । न च जलेष्वयमुष्णस्पर्शः सहजः, "अप्सु स्पर्शः शीत एव" इति वैशेषिकादिवचनात् । तथा शीतकाले शीते स्फीते निपतति प्रातस्तटाकादेः पश्चिमायां दिशि स्थित्वा यदा तटाकादिकं विलोक्यते, तदा तज्जलान्निर्गतो बाष्पसंभारो दृश्यते, सोऽपि जीवहेतुक एव । प्रयोगस्त्वित्थम्-शीतकाले जलेषु बाष्प उष्णस्पर्शवस्तुप्रभवः, बाष्पत्वात्, शीतकाले शीतलजलसिक्तमनुष्यशरीरबाष्पवत् । प्रयोगद्वयेऽपि यदेवोष्णस्पर्शस्य बाष्पस्य च निमित्तमुष्णस्पर्शं वस्तु, तदेव तैजसशरीरोपेतमात्माख्यं वस्तु प्रतिपत्तव्यं, जलेष्वन्यस्योष्णस्पर्शबाष्पयोर्निमित्तस्य वस्तुनोऽभावात् । न च शीतकाल उत्कुरुडिकावकरतलगतोष्णस्पर्शेन तन्मध्यनिर्गतबाष्पेण च प्रकृतहेत्वोर्व्यभिचारः शङ्क्यः, तयोरप्यवकरमध्योत्पन्नमृतजीवशरीरनिमित्तत्वाभ्युपगमात् । ननु मृतजीवानां शरीराणि कथमुष्णस्पर्शबाष्पयोर्निमित्तीभवन्तीति चेत् ? उच्यते, यथाग्निदग्धपाषाणखण्डिकासु जलप्रक्षेपे विध्यातादप्यग्नेरुष्णस्पर्शबाष्पौ भवेतां, तथा शीतसंयोगे सत्यप्यत्रापीति । एवमन्यत्रापि बाष्पोष्णस्पर्शयोर्निमित्तं सचित्तमचित्तं वा यथासंभवं वक्तव्यम् । इत्थमेव च शीतकाले पर्वतनितम्बस्य निकटे वृक्षादीनामधस्ताच्च य उष्मा संवेद्यते, सोऽपि मनुष्यवपुरुष्मवज्जीवहेतुरेवावगन्तव्यः । एवं ग्रीष्मकाले बाह्यतापेन तैजसशरीररूपाग्नेर्मन्दीभवनात् जलादिषु यः शीतलस्पर्शः, सोऽपि मानुषशरीरशीतलस्पर्शवज्जीवहेतुकोऽभ्युपगमनीयः, तत एवंविधलक्षणभाक्त्वाज्जीवा भवन्त्यप्कायाः ।।२।।

व्याख्या का भावानुवाद :

शंका : पृथ्वी चाहे सजीव हो, परंतु अप्काय (जल) जीव नहीं है। क्योंकि उसमें जीव के लक्षण का अयोग है। जैसे पेशाब (मूत्र) इत्यादि।

समाधान : आप का हेतु व्यभिचारी है। क्योंकि जैसे हाथी का शरीर हथिनी के गर्भ में कलल - पानी जैसी प्रवाहि अवस्था में होने पर भी सचेतन होता है। उसी अनुसार से अप्काय (जल) भी सचेतन है।

अथवा अण्डे में पक्षी का शरीर रस (प्रवाहि) स्वरुप में होता है, उस समय पक्षी के हाथ, पैर, चांच

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इत्यादि कोई भी अवयव प्रकट हुए नहीं होते है। फिर भी चेतनावाला होता है। इस तरह से पानी भी अण्डे में रहे हुए प्रवाहि की तरह सचेतन ही है।

अनुमान प्रयोग : "पानी सचेतन है। क्योंकि शस्त्र से उपहत हुए बिना रहा द्रव्य (प्रवाहि) है। जैसे कि, हाथी के शरीर के उपादानभूत कलल।"

उपरोक्त आपके अनुमान में "**प्रस्त्रवणादि**" जो हेतु दिया था, उसकी "**शस्त्रानुपहतत्वे सति**" विशेषण से व्यावृत्ति होती है। क्योंकि मूत्र आदि बहनेवाले पदार्थ मूत्राशय इत्यादि से उपहत होते है। इसलिए वे प्रवाहि होने पर भी सजीव नहीं है।

तथा "**पानी सचेतन है। क्योंकि शस्त्र से अनुपहत प्रवाही है। जैसे कि, अण्डे की मध्य में रहा हुआ कलल अथवा पहले की तरह पानी को जीव के शरीर के रुप में सिद्ध करने से वह स्वयंमेव सचेनत सिद्ध होता है।**"

"**कोई-कोई बर्फ इत्यादि सचेतन है। क्योंकि अप्काय है। जैसे अन्य पानी।**" तथा "**कोई कोई (जमीन में से निकलता) पानी सचेतन है। क्योंकि जमीन को खोदने से स्वाभाविक नीकला है। जैसे कि, जमीन खोदने से नीकलता मेंढक।**"

"**बादलो में से बरसता जल सचेतन है। क्योंकि बादल मिल जाने से स्वत: (अपनेआप) तैयार होके बरसते है। जैसे कि, बादलो में से बरसती मछलीयां।**"

ठंडी मोंसम में बहोत ठंडी पडे तब थोडे पानीवाले डबरे में थोडी उष्मा उत्पन्न होती है। उससे ज्यादा पानीवाले तालाब इत्यादि में ज्यादा उष्मा उत्पन्न होती है और उससे भी ज्यादा पानीवाली नदी इत्यादि में बहोत ज्यादा उष्मा उत्पन्न होती है। वह उष्मा (गरमी) जीव के कारण ही उत्पन्न होती है। जैसे कम आदमीओ के शरीर मिले तो कम उससे ज्यादा मिले तो जयादा उससे ज्यादा मिले तो ज्यादा उष्मा उत्पन्न होती है, वह जीवहेतुक है वैसे पानी में उत्पन्न होती उष्मा भी जीवहेतुक है।

अनुमान प्रयोग : "शीतकाल में पानी में उष्णस्पर्शवाली वस्तु से उत्पन्न हुआ उष्णस्पर्श होता है। क्योंकि उष्णस्पर्श है। जैसे कि, मनुष्य से शरीर के उष्णस्पर्श।"

पानी में उष्णस्पर्श सहज नहीं है। क्योंकि "**पानी में शीतस्पर्श ही है।**" यह वैशेषिको का वचन है।

शीतकाल में बहोत ठंडी पडे तब सुबह में तालाब इत्यादि की पश्चिमदिशा में खडे होकर तालाब इत्यादि को देखा जाता है, तब तालाब के पानी में से बाष्प का समूह नीकलता दिखता है। वह भी जीवहेतुक ही है।

अनुमान प्रयोग : "शीतकाल में पानी में बाष्प (भाप) उष्णस्पर्शवाली वस्तु से उत्पन्न होती है, क्योंकि बाष्प है। जैसे शीतकाल में शीतल (ठंडे) पानी से भीगे हुई मनुष्य के शरीर की बाष्प।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपरोक्त दोनो प्रयोगो में भी उष्णस्पर्श में और बाष्प में जो निमित्तभूत उष्णस्पर्शवाली वस्तु है, वह तैजसशरीर से युक्त आत्मा नाम की वस्तु ही स्वीकार करनी चाहिए। क्योंकि पानी में उष्णस्पर्श और बाष्प की निमित्तभूत अन्य वस्तु का अभाव है।

शंका : शीतकाल में कूडे के ढेर के कचरे में से भी बाष्प नीकलती दिखाई देती है और उसकी भीतर में उष्णस्पर्श (गरमी) भी बहोत होती है। परंतु कूडे के ढेर में कोई उष्णस्पर्शवाली वस्तु तो नहीं है। इसलिए उपरोक्त अनुमान का प्रकृतहेतु व्यभिचारी बनता है।

समाधान : आपको ऐसी शंका नहीं करना चाहिए। क्योंकि बाष्प और उष्ण स्पर्श (गरमी) दोनो भी कूडे की ढेर की बीच में उत्पन्न हुए और बाद में मृत हुए (मरे हुए) जीवो के शरीर के निमित्त से उत्पन्न होते है। इसलिए कूडे के ढेर के बीच में रहे हुए उष्णस्पर्श वाले मृत जीवो के शरीर के योग से बाष्प और उष्णस्पर्श की उत्पत्ति होती होने से हेतु व्यभिचारी बनता नहीं है।

शंका : कूडे के ढेर के बीच में रहे हुए मृतजीवो के शरीर में उष्णस्पर्श और बाष्प उत्पन्न होने में कौन निमित्त बनता है।

समाधान : जैसे अग्नि में गरम किये हुए पत्थर या इंट के टुकडो के उपर पानी डालने से शांत हो चुकी अग्नि में से भी उष्णस्पर्श और बाष्प नीकलते है, उसी ही तरह से शीत का संयोग होने पर भी कूडे के ढेर में से बाष्प और गरमी का नीकलना युक्तियुक्त है।

इस अनुसार से अन्यत्र भी बाष्प और उष्णस्पर्श निमित्तभूत सचित्त या अचित्त उष्णस्पर्शवाला पदार्थ बनता है। वह यथासंभव सोच लेना।

इसी ही तरह से शीतकाल में पर्वत की गुफाओ की नजदीक में रहे हुए वृक्षादि के नीचे जो उष्मा का अनुभव होता है, उसे भी मनुष्य के शरीर के उष्मा की तरह जीवहेतुक ही जानना।

ग्रीष्मकाल में (गर्मी के समय) बाह्यताप से तैजस शरीर रुप में अग्नि मंद होने से जलादिकी अंदर जो शीतल स्पर्श होता है। उसे भी मनुष्य शरीर के शीतलस्पर्श की तरह जीवहेतुक स्वीकार करना चाहिए।

इसलिए इस प्रकार के स्वरुप को भजनेवाला (रखनेवाले) अप्काय जीव होते है। इस तरह से पानी में जीव की सिद्धि होती है। अब अग्नि में जीव की सिद्धि की जाती है।

यथा रात्रौ खद्योतकस्य देहपरिणामो जीवप्रयोगनिर्वृत्तशक्तिराविश्चकास्ति, एवमङ्गारादीनामपि प्रतिविशिष्टप्रकाशादिशक्तिरनुमीयते जीवप्रयोगविशेषाविर्भावितेति । यथा वा ज्वरोष्मा जीवप्रयोगं नातिवर्तते, एषैवोपमाग्नेयजन्तूनां, नच मृता ज्वरिणः क्वचिदुपलभ्यन्ते, एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामग्नेः सचित्तता ज्ञेया । प्रयोगश्चात्र-**आत्मसंयोगाविर्भूतोऽङ्गारादीनां प्रकाशपरिणामः, शरीरस्थत्वात्, खद्योतदेहपरिणामवत् । तथात्मसंयोगपूर्वकोऽङ्गारा-**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दीनामूष्मा, शरीरस्थत्वात्, ज्वरोष्मवत् । न चादित्यादिभिरनेकान्तः, सर्वेषा-मुष्ण-स्पर्शस्यात्मसंयोगपूर्वकत्वात् । तथा सचेतनं तेजः, यथायोग्याहारोपादानेन वृद्ध्यादि-विकारोपलम्भात्, पुरुषवपुर्वत् । एवमादिलक्षणैराग्नेय-जन्तवोऽवसेयाः ।।३।।

व्याख्या का भावानुवाद :

जैसे रात में खद्योत (जूगनु) के देह में परिणमित हुई जीव के प्रयोग से उत्पन्न हुई प्रकाशशक्ति प्रकाशित होती है। (अर्थात् रात में खद्योत का शरीर (कुछ) उजाला फैलाता है। वह उजाला जीव के प्रयोग द्वारा उत्पन्न हुई शक्ति का प्रत्यक्ष फल है । इसलिए खद्योत के देहरुप में परिणमित हुई प्रकाशशक्ति जैसे जीवप्रयोगनिमित्तक है।) वैसे अंगारादि में भी प्रतिविशिष्ट प्रकाशादिशक्ति का अनुमान किया जाता है। क्योंकि जीव के प्रयोग विशेष से प्रकट हुई है।

अथवा... जैसे बुखार की उष्मा जीवप्रयोग का अतिक्रमण करता नहीं है, (अर्थात् बुखार से शरीर गरम हो जाता है, तब जीव के प्रयोग (संयोग) बिना होता नहीं है, वह देखा जा सकता है। अर्थात् बुखार से शरीर का गरम हो जाना वह जीव के संयोग का चिह्न है।) उसी ही तरह से अग्नि की गरमी भी जीव के संयोग के बिना संभव नहीं है। इसलिए अग्नि की गरमी में जीव का संयोग अवश्य मानना चाहिए। वैसे ही मृतशरीर में बुखार दिखाई नहीं देता है। क्योंकि उसमें जीवसंयोग नहीं है। सारांश में, जीवितशरीर बुखार के कारण गरम हो जाता है। क्योंकि जीव का संयोग है। और मृतशरीर में बुखार आता न होने से गरमी भी नहीं दिखाई देती, क्योंकि जीव का संयोग नहीं है। इस अनुसार के अन्वय-व्यतिरेक से अग्नि की सचित्तता सिद्ध होती है । **अनुमान प्रयोग : "अंगारे इत्यादि का प्रकाश परिणाम आत्मा के संयोग से प्रकट होता है। क्योंकि वह प्रकाश शरीर में रहा हुआ है। जैसे कि, खद्योत के देह का प्रकाश परिणाम ।"** तथा **"अंगारे इत्यादि की उष्मा आत्मा के संयोगपूर्वक होती है । क्योंकि वह उष्मा शरीर में रही हुई है, जैसे (शरीर में रही हुई) बुखार की उष्मा (गरमी) ।"**

यह उभय अनुमानो से अग्नि की सचित्तता सिद्ध होती है।

"सूर्य इत्यादि द्वारा हेतु व्यभिचारी बनता है ।" ऐसा नहीं कहना । क्योंकि सूर्य इत्यादि सभी पदार्थो का उष्णस्पर्श (गरमी) और प्रकाश आत्मा के संयोगपूर्वक ही होता है। अर्थात् सूर्य जीव के संयोग के कारण सूर्य में से गरमी और प्रकाश प्रकट होते है। इसलिए हेतु व्यभिचारी नहीं है।

तथा अग्नि सचेतन है। क्योंकि यथायोग्य आहार (इन्धन) को ग्रहण करके वृद्धि इत्यादि विकारो को प्राप्त करता है। (अर्थात् अग्नि इन्धनरुप आहार के संयोग से वृद्धि को प्राप्त करता है।) जैसे कि, (यथायोग्य आहार ग्रहण द्वारा वृद्धि प्राप्त करता) मनुष्य का शरीर इस तरह अनेक हेतु के द्वारा अग्नि के जीवो की सिद्धि जान लेनी चाहिए। इस तरह से अग्नि में सजीवता की सिद्धि हुई। अब वायु में और वनस्पति में सजीवता की सिद्धि करते है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यथा देवस्य स्वशक्तिप्रभावान्मनुष्याणां चाञ्जनविद्यामन्त्रैरन्तर्धाने शरीरं चक्षुषानुपलभ्यमानमपि विद्यमानं चेतनावद्ध्याध्यवसीयते, एवं वायावपि चक्षुर्ग्राह्यं रूपं न भवति, सूक्ष्मपरिणामात्, परमाणोरिव वह्निदग्धपाषाणखण्डिकागताचित्ताग्नेरिव वा । प्रयोगश्चायम्-चेतनावान् वायुः, अपरप्रेरितितिर्यग-ऽनियमितदिग्गतिमत्त्वात्, गवाश्वादिवत् । तिर्यगेव गमननियमादनियमितविशेषणोपादानाच्च परमाणुना न व्यभिचारः, तस्य नियमितगतिमत्त्वात्, "जीवपुद्गलयोरनुश्रेणिः" इति वचनात् । एवं वायुरशस्त्रोपहतश्चेतनावानवगन्तव्यः ।।४।। बकुलाशोकचम्पकाद्यनेकविधवनस्पतीनामेतानि शरीराणि न जीवव्यापारमन्तरेण मनुष्यशरीरसमानधर्मभाञ्जि भवन्ति । तथाहि-यथा पुरुषशरीरं बालकुमारयुववृद्धतापरिणामविशेषवत्त्वाच्चेतनावदधिष्ठितं प्रस्पष्टचेतनाकमुपलभ्यते तथेदं वनस्पतिशरीरम्,यतो जातः केतकतरुर्बालको युवा वृद्धश्च संवृत्त इति, अतः पुरुषशरीरतुल्यत्वात् सचेतनो वनस्पतिरिति । तथा यथेदं मनुष्यशरीरमनवरतं बालकुमारयुवाद्यवस्थाविशेषैः प्रतिनियतं वर्धते, तथेदमपि वनस्पतिशरीरमङ्कुर-किसलयशाखाप्रशाखादिभिर्विशेषैः प्रतिनियतं वर्धत इति । तथा यथा मनुष्यशरीरं ज्ञानेनानुगतं एवं वनस्पतिशरीरमपि, यतः शमीप्रपुन्नाटसिद्धेसरका-सुन्दकबच्छूलागस्त्यामलकीकडिप्रभृतीनां स्वापविबोधतस्तद्भावः । तथाधोनिखातद्रविणराशेः स्वप्ररोहेणावेष्टनम् । तथा वटपिप्पलनिम्बादीनां प्रावृड्जलधरनिनादशिशिरवायुसंस्पर्शादङ्कुरोद्भेदः । तथा मत्त-कामिनीसनूपुरसुकुमारचरणताडनादशोकतरोः पल्लवकुसुमाद्भेदः । तथा युवत्यालिङ्गनात् पनसस्य । तथा सुरभिसुरागण्डूषसेकाष्टकुलस्य । तथा सुरभिनिर्मलजलसेकाच्चम्पकस्य । तथा कटाक्षवीक्षणात्तिलकस्य । तथा पञ्चमस्वरोद्गाराच्छिरीषस्य विरहकस्य च पुष्पविकिरणम् । तथा पद्मादीनां प्रातर्विकसनं, घोषातक्यादिपुष्पाणां च संध्यायां, कुमुदादीनां तु चन्दोदये । तथासन्नमेघप्रवृष्टौ शम्या अवक्षरणम् । तथा वल्लीनां वृत्त्याद्याश्रयोपसर्पणम् । तथा लज्जालूप्रभृतीनां हस्तादिसंस्पर्शात्पत्रसंकोचादिका परिस्फुटा क्रियोपलभ्यते । अथवा सर्ववनस्पतेर्विशिष्टर्तुष्वेव फलप्रदानं, न चैतदनन्तराभिहितं तरुसंबन्धिक्रियाजालं ज्ञानमन्तरेण घटते । तस्मात्सिद्धं चेतनावत्त्वं वनस्पतेरिति ।

व्याख्या का भावानुवाद :

जैसे स्वशक्ति के प्रभाव से देव का शरीर दृष्टिगोचर बनता नहीं है। तथा अंजन, विद्या और मंत्र इत्यादि के प्रयोग द्वारा योगी ऐसे मनुष्यो का शरीर भी दृष्टिगोचर बनता नहीं है, फिर भी विद्यमान है। और चेतना वाला होता है। इस अनुसार से परमाणु तथा वह्नि से जले हुए पथ्थर (पाषाण) और इंट के टुकडे इत्यादि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में रहा हुआ अचित्त अग्नि सूक्ष्म परिणाम के कारण दृष्टिगोचर होता नहीं है। फिर भी विद्यमान होता ही है। वैसे सूक्ष्मपरिणाम के कारण वायु भी चक्षुगोचर बनता नहीं है। फिर भी विद्यमान है।

अनुमान प्रयोग : वायु सचेतन है, क्योंकि दूसरो की प्रेरणा के बिना ही तिरछी और अनियमितदिशा में गति करनेवाला है। जैसे कि दूसरो की प्रेरणा के बिना यहां वहां फरते हुए गाय, घोडा इत्यादि। वैसे ही हेतु में तिरछी गति का नियमन करने से तथा "अनियमित" विशेषण ग्रहण करने से परमाणु के साथ व्यभिचार नहीं आता है। क्योंकि परमाणु नियमित गतिवाला है। "जीव और पुद्गल की गति अनुश्रेणि = आकाशप्रदेशो की रचनानुसार सीधी होती है।" यह शास्त्रवचनानुसार पुद्गल की गति नियमित होती है। इसलिए परमाणु वायु की तरह अनियमित गतिवाला न होने से व्यभिचार नहीं आता है। इस अनुसार से शस्त्र से उपहत नहि हुआ वायु सचेतन जानना। अब वनस्पति में सचेतनत्व की सिद्धि करते है।

बकुल, अशोक, चंपा इत्यादि अनेकविध वनस्पति के शरीर जीव के व्यापार के बिना मनुष्य के शरीर जैसे धर्म को भजनेवाले (धारण करनेवाले) बनते नहीं है। जैसे कि, मनुष्य का शरीर बाल, कुमार, युवान, वृद्ध इत्यादि परिणामो से विशिष्ट होता है। अर्थात् मनुष्य का शरीर बाल, युवान, वृद्ध अवस्थामें परिणाम पाता होने से सचेतन होता है और उसमें स्पष्ट चेतना प्राप्त होती है। वैसे वनस्पति का शरीर भी अवस्थाविशेष को प्राप्त करता होने से चेतनावाला ही है। जैसे कि, केतकी वृक्ष में अंकुर का फूटना, बाल, युवान और वृद्ध अवस्थायें होती है। इसलिए केतकीवृक्ष मनुष्य के शरीर की समान होने से (पुरुष का शरीर जैसे सचेतन है, वैसे) वनस्पति भी सचेतन है। उपरांत जैसे मनुष्य का शरीर सतत बाल, कुमार, युवान इत्यादि अवस्थाविशेष से बढता है। उसी अनुसार से वनस्पति का शरीर भी अंकुर, किसलय, शाखा, प्रशाखा इत्यादि अवस्थाविशेष से प्रतिनियत वृद्धि को प्राप्त करता है तथा जैसे मनुष्य का शरीर ज्ञान से अनुगत है। अर्थात् मनुष्य के शरीर में हेयोपादेय का परिज्ञान होता है, वैसे वनस्पति के शरीर में भी ज्ञान होता है। क्योंकि शमी, प्रपुन्नाट, सिद्ध, सरका, सुन्दका, बब्बल, अगत्स्य, आमलकी (इमली) इत्यादि वनस्पतियों में निद्रा और जागना इन दोनो का सद्भाव है। अर्थात् वे वनस्पतियां समय होने पर सोती और समय होने पर जागती दिखाई देती है। इसलिए उसमें भी ज्ञान है।

नीचे जमीन में गाडी हुई धन की राशी को कुछ बेले उसके उपर आरोहण करके अपना बनाती है। तथा बारिश, बादलो की आवाज और शिशिरऋतु के वायु के स्पर्श से वटवृक्ष, पिपल और नीम के पेडो में अंकुर फूटते है।

सुंदर, मत्त, पैर में पायल पहने है, ऐसी सुकोमल पैरवाली कामिनी के पैर के ताडन से अशोकवृक्ष को पल्लव और फूल उगते है। अर्थात् तादृश कामिनी अशोकवृक्ष को लात मारे तब अशोकवृक्ष को नयी पत्तियां और फूल उगते है। युवति के आलिंगन से पनसवृक्ष को, सुन्दरी द्वारा सुगंधी दारु (शराब) के कूल्हे के सिंचन से बकुलवृक्ष को, सुगंधी-निर्मल पानी के सिंचन से चंपकवृक्ष को, सुन्दरी की कटाक्ष नजर से तिलकवृक्ष को, पंचमस्वर के उद्गार से शिरीष और विरहकवृक्ष को पुष्प उगते है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पद्मादिकमल सुबह में विकसित होते है - खीलते है। घोषातकी इत्यादि पुष्प संध्याकाल में विकसित होते है - खिलते है। कुमुदादि चंद्र के उदय में विकसित होते है - खिलते है। मेघ (बरसात) बरसने पर समीवृक्ष के पत्ते गिरने लगते है। लतायें (बेले) योग्य आश्रय को लेकर उपर चढती है। लज्जाशील इत्यादि वनस्पतियों के पत्ते हाथ इत्यादि के स्पर्श से संकुच जाते है। उसी तरह से वनस्पतियों में अनेक प्रकार की स्पष्ट क्रियायें दिखाई देती है। **अथवा** सभी वनस्पतियां विशिष्ट ऋतु में ही फल देती है। इस प्रकार नजदीक में कही हुई वृक्षसंबंधी विविध क्रियायें ज्ञान बिना होती नहीं है। इसलिए सिद्ध होता है कि वनस्पति सचेतन है।

तथा यथा मनुष्यशरीरं हस्तादिछिन्नं शुष्यति, तथा तरुशरीरमपि पल्लवफलकुसुमादिछिन्नं विशोषमुपगच्छद्दृष्टम् । न चाचेतनानामयं धर्म इति । तथा यथा मनुष्यशरीरं स्तनक्षीरव्यञ्जनौ-दनाद्याहाराभ्यवहारादाहारकं, एवं वनस्पतिशरीरमपि भूजलाद्याहाराभ्यवहारादाहारकम् । न चैतदाहारकत्वमचेतनानां दृष्टम् । अतस्तत्सद्भावात्सचेतनत्वमिति । तथा यथा मनुष्यशरीरं नियतायुष्कं तथा वनस्पतिशरीरमपि नियतायुष्कम् । तथाहि-अस्य दशवर्षसहस्राण्युत्कृष्टमायुः । तथा यथा मनुष्यशरीरमिष्टानिष्टाहारादिप्राप्त्या वृद्धिहान्यात्मकं तथा वनस्पतिशरीरमपि । तथा यथा मनुष्यशरीरस्य तत्तद्रोगसंपर्कादरोगपाण्डुत्वोदरवृद्धिशोफकृशत्वाङ्गुलिनासिकानिम्नीभवनविगलनादि । तथा यथा मनुष्यशरीरस्यौषधप्रयोगाद्वृद्धिहानिक्षतभुग्नसंरोहणानि तथा वनस्पतिशरीरस्यापि । तथा यथा मनुष्यशरीरस्य रसायनस्नेहाद्युपयोगाद्विशिष्टकान्तिरसबलोपचयादि तथा वनस्पतिशरीरस्यापि विशिष्टेष्टनभोजलादिसेकाद्विशिष्टरसवीर्यस्निग्धत्वादि । तथा यथा स्त्रीशरीरस्य तथाविधदौहृद-पूरणात्पुत्रादिप्रसवनं तथा वनस्पतिशरीरस्यापि तत्पूरणात्पुष्प-फलादिप्रसवनमित्यादि ।

व्याख्या का भावानुवाद :

जैसे हाथ इत्यादि कट जाने से मनुष्य का शरीर सूख जाता है। वैसे वृक्ष का शरीर भी पत्तियां, फल, फूल इत्यादि छिदने से सूखा होता दिखाई देता है। तथा यह अचेतन का धर्म नहीं है। सचेतन में ही यह धर्म देखने को मिलता है।

जैसे मनुष्य का शरीर माता का दूध, सब्जी, चावल इत्यादि आहार से पुष्ट होता होने से आहारक है, वैसे वनस्पति का शरीर भी पृथ्वी, पानी इत्यादि आहार से पुष्ट होता होने से आहारक है और यह आहारकत्व अचेतनपदार्थो में दिखाई देता नहीं है। इस आहारकता के सद्भाव से वनस्पति का शरीर भी सचेतन सिद्ध होता है।

जैसे मनुष्य का शरीर नियत आयुष्यवाला है, वैसे वनस्पति का शरीर भी नियत आयुष्यवाला है। वनस्पति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का उत्कृष्ट आयुष्य दस हजार वर्ष का है। तथा जैसे इष्ट या अनिष्ट आहार के योग से मनुष्य का शरीर वृद्धि या हानि को प्राप्त करता है, वैसे वनस्पति का शरीर भी इष्ट या अनिष्ट आहार के कारण वृद्धि या हानि को पाता है।

जैसे मनुष्य के शरीर में रोग के संपर्क से पांडुत्व, उदरवृद्धि, स्थूलपन (मोटापा), कृशत्व (दुबलापन), ऊंगली-नाक मुड जाना या गल जाना इत्यादि विकृतियां दिखती है। वैसे वनस्पति के शरीर में भी वैसे प्रकार का रोग होने से पुष्प, फूल, पत्ते, छिलके इत्यादि विपरीत परिणामवाले होते है या गिर जाते है। उसी ही तरह से जैसे मनुष्य के शरीर में औषध के प्रयोग से वृद्धि-हानि, घा (प्रहार) का ठीक होना, तूटे हुए अवयवो का अच्छा हो जाना इत्यादि होता है, वैसे वनस्पति के शरीर में भी औषध (दवाई) के प्रयोग से वृद्धि-हानि इत्यादि होती है।

जैसे मनुष्य के शरीर में रसायण, स्नेहादि के उपयोग से विशिष्टकान्ति, रस, बल का उपचय होता है, वैसे वनस्पति के शरीर में भी विशिष्टप्रकार के इष्ट ऐसे बारिश के पानी इत्यादि के सिंचन से विशिष्टरस, वीर्य और स्निग्धता का उपचय होता है।

जैसे स्त्री के शरीर को गर्भावस्था में वैसे प्रकार के दोहद होते है। उसको पूरा करने से पुत्र जन्म होता है, वैसे वनस्पति के शरीर में भी होते दोहद को पूर्ण करने से उसको पुष्प, फलादि की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार मनुष्य के शरीर में तथा स्त्री के शरीर में होता परिवर्तन सजीवता के कारण है, वैसे वनस्पति के शरीर में होता परिवर्तन भी सजीवता के कारण ही है, वह सिद्ध होता है।

तथा च प्रयोगः-**वनस्पतयः सचेतना बालकुमारवृद्धावस्था १ प्रतिनियतवृद्धि २ स्वापप्रबोधस्पर्शादिहेतुकोल्लाससंकोचाश्रयोपसर्पणादिविशिष्टानेककक्रिया ३ छिन्नावयवम्लानि ४ प्रतिनियतप्रदेशाहारग्रहण ५ वृक्षायुर्वेदाभिहितायुष्केष्टानिष्टाहारदिनिमित्तकवृद्धिहानि ६-७ आयुर्वेदोदिततत्तद्रोग ८ विशिष्टौषधप्रयोगसंपादितवृद्धिहानिक्षतभुग्नसंरोहण ९ प्रतिनियतविशिष्ट (शरीर) रसवीर्यस्निग्धत्वरूक्षत्व १० विशिष्टदौहृदा ११ दिमत्त्वान्यथानुपपत्तेः, विशिष्टस्त्रीशरीरवत्। अथवैते हेतवः प्रत्येकं पक्षेण सह प्रयोक्तव्या अयं वा संगृहीतोक्तार्थः प्रयोगः-सचेतना वनस्पतयो, जन्मजरामरणरोगादीनां समुदितानां सद्भावात्, स्त्रीवत्। अत्र समुदितानां जन्मादीनां ग्रहणात् "जातं तद्दधि" इत्यादिव्यपदेशदर्शनाद्दध्यादिभिरचेतनैर्न व्यभिचारः शङ्कयः। तदेवं पृथिव्यादीनां सचेतनत्वं सिद्धम्। आप्तवचनाद्वा सर्वेषां सात्मकत्वसिद्धिः।।**

व्याख्या का भावानुवाद :

वनस्पति में सचेतनता को सिद्ध करते अनुमान प्रयोग इस प्रकार है - (१) वनस्पतियां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सचेनत है । क्योंकि वनस्पति में होता बाल, कुमार, वृद्धा स्थापन दूसरी तरह से संगत नहीं होता है । जैसे कि, स्त्री का शरीर ।

(२) वनस्पतियां सचेतन है । क्योंकि वनस्पति की प्रतिनियतवृद्धि दूसरी तरह से संगत नहीं होती है । जैसे कि, स्त्री का शरीर ।

(३) वनस्पतियां सचेतन है । क्योंकि सोना (निद्रा लेना), जागना, स्पर्शादि के कारण उल्लास पाना-संकोच पाना । दूसरे के सहारे आरोहण करना (उपर चढना) इत्यादि अनेक विशिष्ट क्रियायें दूसरी तरह से संगत नहीं होती है, जैसे कि, स्त्री का शरीर । **(४) वनस्पतियां सचेतन है ।** क्योंकि अवयवो के छेदे जाने से म्लान होना, दूसरी तरह से संगत होना नहीं है । जैसे कि, स्त्री का शरीर । **(५) वनस्पतियां सचेतन है ।** क्योंकि प्रतिनियत प्रदेशो में से ग्रहण किया जाता आहार दूसरी तरह से संगत नहीं होता । जैसे कि, स्त्री का शरीर । **(६) वनस्पतियां सचेतन है ।** क्योंकि वृक्ष का आयुर्वेद ने कहा हुआ आयुष्य दूसरी तरह से संगत होता नहीं है । जैसे कि, स्त्री के शरीर का आयुष्य । **(७) वनस्पतियां सचेतन है ।** क्योंकि वृक्ष में आयुर्वेद में कही हुई इष्ट-अनिष्ट आहार निमित्तक वृद्धि हानि दूसरी तरह से संगत होती नहीं है । जैसे कि, इष्ट-अनिष्ट आहारनिमित्तक वृद्धि हानि होनेवाला स्त्री का शरीर । **(८) वनस्पतियां सचेतन है ।** क्योंकि वनस्पति में आयुर्वेद में कहे हुए (वनस्पति को होते हुए) वे वे रोग दूसरी तरह से संगत होते नहीं है । जैसे कि स्त्री के शरीर के रोग । **(९) वनस्पतियां सचेतन है ।** क्योंकि वनस्पति में औषध के प्रयोग से वृद्धि, हानि, खरोच भर जाना । टूटे हुए भागो का जुड जाना, दूसरी तरह से संगत नहीं होता है । जैसे कि, औषध-प्रयोग से वृद्धि हानि इत्यादिवाला स्त्री का शरीर । **(१०) वनस्पतियां सचेतन है ।** क्योंकि वनस्पति के शरीर के प्रतिनियत विशिष्टरस, वीर्य, स्निग्धता, रुक्षता दूसरी तरह से संगत होती नहीं है । जैसे कि, स्त्री का विशिष्ट शरीर । **(११) वनस्पतियां सचेतन है ।** क्योंकि उसको विशिष्टदोहद होते है । जैसे कि, स्त्री के शरीर में होते विशिष्टदोहद ।

इस तरह से पक्ष के साथ प्रत्येक हेतुओ को जोडने से उपरोक्त अनुमान प्रयोगो से वनस्पतियां सचेतन है । वह सिद्ध होता है । अथवा उपरोक्त कहे हुए सभी हेतुओ का संग्रह करके अनुमान प्रयोग इस अनुसार से है - वनस्पतियां सचेतन है । क्योंकि वनस्पति में जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, रोगादि समुदाय का सद्भाव है । जैसे स्त्री में जन्मादि के सद्भाव से उसकी सचेतना सिद्ध है । वैसे वनस्पति में भी जन्म, मृत्यु इत्यादि के सद्भाव से सचेतना सिद्ध होती है ।

शंका : दहीं भी उत्पन्न होता है फिर भी वह अचेतन है, सचेतन नहीं है । इसलिए आपका हेतु व्यभिचारी बनता है । जो उत्पन्न हो, वह सचेतन हो वैसा कोई नियम नहीं है ।

समाधान : हमने केवल उत्पन्न होता है, वह सचेतन है वैसा नहीं कहा, परंतु जो उत्पन्न हो, मृत्यु प्राप्त करे, वृद्धावस्था पाये इत्यादि समुदित जन्मादि को सचेतना के प्रति हेतु बनाया है । इसलिए हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि दहीं मात्र उत्पन्न होता है, परंतु मृत्यु पाता नहीं है या वृद्धावस्था भी पाता नहीं है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए दहीं को लेके हेतु व्यभिचारि बनता नहीं है।

इसलिए इस अनुसार से पृथ्वी इत्यादि पांच का सचेतनत्व (जीवत्व) सिद्ध होता है। अथवा आप्तपुरुष श्रीतीर्थंकर परमात्मा के निर्दोष वचन के संग्रहरुप आगमवचन से पृथ्वी इत्यादि सभी की सचेतनता सिद्ध हो जाती है।

द्वीन्दियादिषु च कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यजलचरस्थलचरखेचरपश्वादिषु न केषांचित्सात्मकत्वे विगानमिति । ये तु तत्रापि विप्रतिपद्यन्ते तान् प्रतीदमभिधीयते । इन्द्रियेभ्यो व्यतिरिक्त आत्मा, इन्द्रियव्युपरमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात् । प्रयोगोऽत्र-इह यो यदुपरमे यदुपलब्धानामर्थानामनुस्मर्ता स तेभ्यो व्यतिरिक्तः, यथा गवाक्षैरुपलब्धानामर्थानां गवाक्षोपरमेऽपि (तदनुस्मर्त्ता) देवदत्तः । अनुस्मरति चायमा-त्मान्धबधिर-त्वादिकालेऽपीन्द्रियोपलब्धानर्थान् अतः स तेभ्योऽर्थान्तरमिति । अथवेन्द्रियेभ्यो व्यतिरिक्त आत्मा, इन्द्रियव्यापृतावपि कदाचिदनुपयुक्तावस्थायां वस्त्वनुपलम्भात् । प्रयोगश्चात्र-इन्द्रियेभ्यो व्यतिरिक्त आत्मा, तद्व्यापारेऽप्यर्थानुपलम्भात् । इह यो यद्व्यापारेऽपि यैरुपलभ्यानर्थान्नोपलभते स तेभ्यो भिन्नो दृष्टः, यथाऽस्थगित-गवाक्षेऽप्यन्य-मनस्कतयानुपयुक्तोऽपश्यंस्तेभ्यो देवदत्त इति । अथवेदमनुमानम्-समस्तीन्द्रियेभ्यो भिन्नो जीवोऽन्येनोपलभ्यान्येन विकारग्रहणात् । इह योऽन्येनोपलभ्यान्येन विकारं प्रतिपद्यते स तस्माद्भिन्नो दृष्टः, यथा प्रवरप्रासादोपरिपूर्ववातायनेन रमणीमवलोक्यापरवातायनेन समायातायास्तस्याः करादिना कुचस्पर्शादिविकारमुपदर्शयन्देवदत्तः । तथा चायमात्मा चक्षुषाम्लीका-मश्नन्तं दृष्टा रसनेन हल्लासला-लास्रवणादिकं विकारं प्रतिपद्यते । तस्मात्तयोः (ताभ्यां) भिन्न इति । अथवेन्द्रियेभ्यो व्यतिरिक्त आत्मा अन्येनोपलभ्यान्येन ग्रहणात् । इह यो घटादिकमन्येनोपलभ्यान्येन गृह्णाति स ताभ्यां भेदवान् दृष्टः, यथा पूर्ववातायनेन घटमुपलभ्यापरवातायनेन गृह्णानस्ताभ्यां देवदत्तः । गृह्णाति च चक्षुषोपलब्धं घटादिकमर्थं हस्तादिना जीवः, ततस्ताभ्यां भिन्न इति । एवमत्रानेकान्यनुमानानि नैकाश्च युक्तयो विशेषावश्यकटीकादिभ्यः स्वयं कर्त्त(वक्त)व्यानीति । प्रोक्तं विस्तरेण प्रथमं जीवतत्त्वम् ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

कृमि, चींटी, भंवरा, मनुष्य, जलचर, स्थलचर और खेचर पशु इत्यादि दोइन्द्रियादि जीवो में सचेतनता मानने में किसीका विवाद नहीं है। परंतु जो लोग दोइन्द्रिय इत्यादि जीवो में सजीवता का निषेध करते है, उनको कुछ कहा जाता है। "**इन्द्रियों से अतिरिक्त आत्मा है। क्योंकि इन्द्रियों का व्यापार नष्ट**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होने पर भी इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण किये हुए अर्थ का स्मरण होता है।"

प्रयोग : जो जिसका उपरम होने पर भी उससे उपलब्ध अर्थो का स्मरण करनेवाला होता है, वह उससे अतिरिक्त होता है। जैसे कि, खिडकी बंध होने पर भी गवाक्ष (खिडकी) द्वारा देखे हुए पदार्थो का स्मरण करनेवाला देवदत्त गवाक्ष खिडकी से अतिरिक्त है। (कहने का मतलब यह है कि, जैसे जो वस्तु द्वारा पदार्थो का ज्ञान हुआ, उस वस्तु का नाश होने पर अथवा उसका व्यापार बंध होने पर भी ज्ञाता को पहले देखे हुए पदार्थो का स्मरण होता है। इसलिए स्मरण करनेवाला ज्ञाता, वह ज्ञान करने में निमित्त बनी हुई वस्तु से अतिरिक्त है। वैसे इन्द्रियो के द्वारा आत्मा ने पदार्थ का ज्ञान किया और इन्द्रिय के व्यापार के अभाव में भी आत्मा को ज्ञात पदार्थो का स्मरण होता है। इसलिए उस पदार्थो को ज्ञान करने में निमित्त बनी हुई इन्द्रियो से आत्मा अतिरिक्त है, ऐसा सिद्ध होता है।)

उपरांत इन्द्रियो के अर्थो का जिसने ग्रहण किये है, वैसा व्यक्ति कालांतर से अंध या बधिर हो जाने पर भी पहले ग्रहण किये हुए अर्थो का स्मरण करता है। इसलिए वह व्यक्ति इन्द्रियो से अर्थान्तर (दूसरा स्वतंत्र पदार्थ) है, ऐसा सिद्ध होता है। **अर्थात्** अंधत्व-बधिरत्व अवस्था में भी आत्मा पूर्वगृहीत इन्द्रियों के अर्थो का स्मरण करता है। इसलिए आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है।

अथवा इन्द्रियों से अतिरिक्त आत्मा है। क्योंकि इन्द्रियों का (पदार्थो में) व्यापार होने पर भी कभी अनुपयुक्त अवस्था में वस्तु की (पदार्थ की) उपलब्धि होती नहीं है।

अनुमान प्रयोग : "इन्द्रियो से अतिरिक्त आत्मा है। क्योंकि इन्द्रियो के व्यापार में भी पदार्थ की उपलब्धि होती नहीं है।" यहाँ जो जिसका व्यापार होने पर भी जिनके द्वारा उपलब्ध पदार्थो का ज्ञान करता नहीं है। वह उनसे भिन्न देखा गया है। (अर्थात् जो व्यक्ति का इन्द्रियो के विषयो में व्यापार होने पर भी इन्द्रियो के विषयों का ज्ञान करता नहीं है, वह व्यक्ति (आत्मा) इन्द्रियो से भिन्न है। कहने का मतलब यह है कि, इन्द्रियां है, इन्द्रियो का विषयो में व्यापार है, फिर भी विषयो का ज्ञान होता नहीं है। इसलिए सिद्ध होता है कि विषयो का ज्ञान करनेवाला कोई भिन्न तत्त्व होना चाहिए और वही आत्मा है। इसलिए ही) खिडकी खुली है बाहर पे पदार्थ भी है, फिर भी अन्य जगह पे जिनका मन है वह देवदत्त पदार्थो को देख नहीं सकता है। इसलिए पदार्थो को नहि देखता देवदत्त भिन्न है। उसी ही तरह से इन्द्रियां विषयो में प्रवृत्त होने पर भी विषयो का ज्ञान होता नहीं है। इसलिए उस पदार्थो का ज्ञाता इन्द्रिय से भिन्न दूसरा कोई होना चाहिए, कि जिसका उपयोग न होने के कारण पदार्थो का ज्ञान होता नहीं है और उस इन्द्रियों से भिन्न ज्ञाता है, वही आत्मा है।

अथवा "सभी इन्द्रियो से भिन्न आत्मा है। क्योंकि अन्य इन्द्रिय से पदार्थ को जानकर उससे अन्य इन्द्रियों को विकार होता है।"

यहाँ जो अन्य खिडकी से पदार्थ को जानकर (उससे) अन्य खिडकी से विकार प्रदर्शन करे वह खिडकीयों से भिन्न देखा गया है। जैसे महल की पूर्व दिशा की खिडकी द्वारा सुन्दर स्त्री को देखकर अपर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(पश्चिम) की खिडकी की ओर जाती उस स्त्री के सामने पश्चिम के ओर की खिडकी में जाके हाथ इत्यादि से कुचस्पर्शादि विकार का प्रदर्शन करता हुआ देवदत्त उन खिडकीयों से भिन्न है । कहने का आशय यह है कि, यदि आत्मा इन्द्रियरुप ही हो, तो एक इन्द्रिय से पदार्थ को जानकर दूसरी इन्द्रिय में विकार नहीं कर सकता । क्योंकि वह तो दोनो इन्द्रियो के स्वामी को ही हो सकता है । कोई व्यक्ति, कोई दूसरी व्यक्ति को आँख से इमली खाती देखकर उस व्यक्ति को इमली खाने की इच्छा, जीभ में पानी आना इत्यादि विकार होते है । यह हकीकत इस बात की सूचना करती है कि आँख, हृदय और जीभ के उपर अधिकार रखनेवाला कोई तो होना ही चाहिए, कि जो यथेच्छ रुप से देख सके,इच्छा कर सके, इत्यादि कार्य कर सके । और वही इन्द्रियो से भिन्न आत्मा है ।

अथवा इन्द्रियों से अतिरिक्त आत्मा है क्योंकि अन्य जगह से जानकर अन्य जगह से ग्रहण करता है । जो घटादि को अन्य जगह से जानकर अन्य जगह से ग्रहण करता है, वह उभयस्थानो से भिन्न देखा गया है । जैसे कि, पूर्व के ओर की खिडकी से घट को जानकर अपर (पश्चिम) के ओर की खिडकी से ग्रहण करता देवदत्त वह दोनों खिडकीयों से भिन्न है । जीव चक्षु द्वारा घट को जानता है और हाथ के द्वारा घट को ग्रहण करता है (तो वह आत्मा चक्षु स्वरुप हो, तो हाथ के द्वारा ग्रहण किस तरह से कर सकेगा ? और यदि वह हाथरुप हो, तो चक्षु से देख सकेगा किस तरह से ? इसलिए चक्षु और हाथ के उपर नियंत्रण रखनेवाला उन दोनों से भिन्न आत्मा मानना चाहिए ।) इसलिए आत्मा चक्षु और हाथ से भिन्न है ।

इस तरह से इस विषय में एक नहीं अनेक अनुमान - युक्तियां है । वह विशेषावश्यकभाष्य की टीका (व्याख्या) से जान लेना । इस तरह से विस्तार से जीवतत्त्व का स्वरुप कहा गया ।

अजीवतत्त्वं व्याचिख्यासुराह- "यश्चैतद्विपरीतवान्" इत्यादि । यश्चैतस्माद्विपरीतानि विशेषणानि विद्यन्ते यस्यासावेतद्विपरीतवान् सोऽजीवः समाख्यातः । "यश्चैतद्वैपरीत्यवान्" इति पाठे तु । यः पुनस्तस्माज्जीवाद्वैपरीत्यमन्यथात्वं तद्वानजीवः स समाख्यातः । अज्ञानादिधर्मेभ्यो रूपरसगन्धस्पर्शादिभ्यो भिन्नाभिन्नो नरामरादिभवान्तराननुयायी ज्ञानावरणादिकर्मणामकर्त्ता तत्फलस्य चाभोक्ता जडस्वरूपश्चाजीव इत्यर्थः । स च धर्माधर्माकाशकालपुष्टलभेदात्पञ्चविधोऽभिधीयते । तत्र धर्मो लोकव्यापी नित्योऽवस्थितोऽरूपी द्रव्यमस्तिकायोऽसंख्यप्रदेशो गत्युपग्रहकारी च भवति । अत्र नित्यशब्देन स्वभावादप्रच्युत आख्यायते । अवस्थितशब्देनान्यूनाधिक आविर्भाव्यते । अन्यूनाधिकश्चानादिनिधनते-यत्ताभ्यां न स्वतत्त्वं व्यभिचरति । तथाऽरूपिग्रहणादमूर्त उच्यते । अमूर्तश्च रूपरसगन्धस्पर्शपरिणामबाह्यवर्त्यभिधीयते । न खलु मूर्तिं स्पर्शादयो व्यभिचरन्ति, सहचारित्वात् । यत्र हि रूपपरिणामस्तत्र स्पर्शरसगन्धैरपि भाव्यम् । अतः सहचरमेतच्चतुष्टयमन्ततः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परमाणावपि विद्यते । तथा द्रव्यग्रहणाद्गुणपर्यायवान् प्रोच्यते, "गुणपर्यायवद्द्रव्यम्" [त. सू० ५/३८] इति वचनात् । तथास्तयः-प्रदेशाः प्रकृष्टा देशाः प्रदेशा निर्विभागानि खण्डानीत्यर्थः । तेषांकायः-समुदायः कथ्यते । तथा लोकव्यापीतिवचनेनासंख्यप्रदेश इतिवचनेन च लोकाकाशप्रदेशप्रमाणप्रदेशो निर्दिश्यते । तथा स्वत एव गतिपरिणतानां जीवपुद्गलानामुपकारकरोऽपेक्षाकारणमित्यर्थः । कारणं हि त्रिविधमुच्यते, यथा घटस्य मृत्परिणामिकारणं १, दण्डादयो ग्राहकाश्च निमित्तकारणं २, कुम्भकारो निर्वर्तकं कारणम् ३ । तदुक्तम्-"निर्वर्तकं निमित्तं, परिणामं, च त्रिधेष्यते हेतुः । कुम्भस्य कुम्भकारो, धर्ता मृच्चेति समसंख्यम्[A] ।।१।।" निमित्तकारणं च द्वेधा निमित्तकारणमपेक्षाकारणं च । यत्र दण्डादिषु प्रायोगिकी वैस्रसिकी च क्रिया भवति तानि दण्डादीनि निमित्तकारणम् । यत्र तु धर्मादिद्रव्येषु वैस्रसिक्येव क्रिया तानि निमित्तकारणान्यपि विशेषकारणताज्ञापनार्थमपेक्षाकारणान्युच्यन्ते । धर्मादिद्रव्यगतक्रियापरिणाममपेक्षमाणं जीवादिकं गत्यादिक्रियापरिणतिं पुष्णातीति कृत्वा ततोऽत्र धर्मोऽपेक्षाकारणम् १।

व्याख्या का भावानुवाद :

जीव से विपरीत अजीव है। अर्थात् जीव के विशेषणो से विपरीत विशेषणोवाला अजीव है। जीव से अन्यथास्वरुपवाला अजीव है । जीव ज्ञानादिधर्मोवाला है तो अजीव अज्ञानादि धर्मोवाला है । जीव ज्ञानादिधर्मो से भिन्नाभिन्न है, तो अजीव अज्ञानादिधर्मो से भिन्नाभिन्न है। जीव रुपादिरहित है तो अजीव रुपादिसहित है। उपरांत अजीव रुपादिचार से भिन्नाभिन्न है। जीव मनुष्य, देवादि दूसरे भवो में जानेवाला है। अजीव भवान्तरगामी नहीं है । जीव ज्ञानावरणीयादि कर्मो का कर्ता और भोक्ता है, तो अजीव ज्ञानावरणीयादि कर्मो का कर्ता या भोक्ता नहीं है। अजीव जडस्वरुप है। **अजीव के पांच प्रकार है।** (१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) काल, (५) पुद्गलास्तिकाय।

उसमें धर्मास्तिकाय लोकाकाश में व्याप्त है, नित्य है, अवस्थित है, अरुपी है, अस्तिकाय द्रव्य है, असंख्यप्रदेशवाला है तथा जीव और पुद्गल की गति में सहायक है।

यहाँ "**नित्य**" शब्द से यह सूचना करते है कि धर्मास्तिकाय स्वभाव से नष्ट नहीं होता है। अर्थात् उसका स्वभाव नित्य है, नष्ट नहीं होता है।

"**अवस्थित**" शब्द द्वारा धर्मास्तिकाय न्यूनाधिक होता नहीं है वह प्रकट होता है। अर्थात् वह एक अखंडद्रव्य ही रहता है। वह दो भी नहीं होता है या शून्य भी नहीं होता है।

उपरांत "**अन्यूनाधिकता**" पद द्वारा यह सूचित होता है कि अनादि-सांतता तथा (अनियत) परिमाण

A उद्धृतेयं त० भा० टी० ५/१७ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा धर्मास्तिकाय तत्त्व व्यभिचरित होता नहीं है। क्योंकि धर्मास्तिकाय अनादिअनंत और (जिसमें प्रदेशो की कमी या बढौती होती नहीं है वैसे नियत) परिमाणवाला तत्त्व है।

"**अरुपी**" पद के ग्रहण से धर्मास्तिकाय अमूर्त कहा जाता है। जिसमें रुप, रस, गंध, स्पर्श से बाह्यपरिणाम हो उसे अमूर्त कहा जाता है। अर्थात् जिसमें रुपादि न हो उसे अमूर्त कहा जाता है। जिसमें रुप, रस, गंध, स्पर्श हो उसे मूर्त कहा जाता है और जिसमें रुपादि नहीं है वह उसे अमूर्त कहा जाता है।

तथा मूर्ति का = मूर्त पदार्थो को स्पर्शादि व्यभिचरित करते नहीं है। क्योंकि रुपादि मूर्त पदार्थो मूर्ति को सहचारिसंबंध है। जहाँ रुप का परिणाम हो, वहां अवश्य स्पर्श, रस और गंध होते है ही। इसलिए रुपादि चारों सहचरित है। इसलिए वह परमाणु में भी होते है। अर्थात् रुपादि चारो गुण परमाणु से लेकर स्कन्धपर्यन्त सभी मूर्तपदार्थो में होते ही है।

"**धर्मास्तिकाय अस्तिकाय द्रव्य है**" - ऐसा कहा था, उसमें द्रव्य के ग्रहण से धर्मास्तिकाय गुण और पर्यायवाला तत्त्व है ऐसा सिद्ध होता है। क्योंकि "**गुण-पर्यायवाला जो हो, उसको द्रव्य कहा जाता है।**" ऐसा शास्त्रवचन है। (सहभावी धर्मो को गुण तथा क्रमभावी धर्मो को पर्याय कहा जाता है।)

अस्तिकायका तात्पर्य यह है कि अस्ति यानी प्रदेश अर्थात् प्रकृष्टदेश अर्थात् जिसके विभाग न पड सके वैसे) निर्विभाज्यखंड। उन निर्विभाज्यखंडो का काय - समूह। अर्थात् निर्विभाज्य खंडो के समुदाय को अस्तिकाय कहा जाता है

"**धर्मास्तिकाय लोकव्यापी है और असंख्य प्रदेशवाला है।**" इस वचन से धर्मास्तिकाय लोकाकाश के प्रदेशो के प्रमाणवाले प्रदेशवाला निर्देश किया गया है। अर्थात् लोकाकाश के जितने प्रदेश है, उतने ही धर्मास्तिकाय के है।

तथा धर्मास्तिकाय स्वतः ही गति में परिणत जीव और पुद्गलो को गति करने में उपकारक अर्थात् अपेक्षाकारण है। (वैसे धर्मास्तिकाय जीव-पुद्गल को गति कराता नहीं है। परंतु केवल गति कराने में सहायक होता है। अपेक्षित कारण की भूमिका अदा करता है। जैसे मछली को पानी तैराता नहीं है। परंतु तैरने में अपेक्षितकारण के रुपमें भूमिका अदा करता है।)

कारण तीन प्रकार के है - जैसे कि (१) घट का मिट्टी **परिणामिकारण** है। (२) घट का दंडादि **निमित्तकारण** है। (३) घट का कुंभकार **निर्वर्तककारण** है। इस प्रकार परिणामिकारण, निमित्तकारण और निर्वर्तककारण ऐसे कारण के तीन प्रकार है।

जो कारण स्वयं कार्यरुप में परिणाम प्राप्त कर ले, उसे परिणामिकारण कहा जाता है। जैसे मिट्टी घटरुप में परिणाम प्राप्त कर लेती है। इसलिए मिट्टी घट का परिणामिकारण है।

जो स्वयं कार्यरुप में परिणाम न पाये, परंतु कर्ता को कार्य करने में सहायक हो उसे निमित्त कारण कहा जाता है। जैसे कि घट के प्रति दंड-चक्र इत्यादि। कार्य का कर्ता निर्वर्तककारण कहा जाता है। जैसे कि,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

घटरुप कार्य का कर्ता कुम्भकार (कुम्हार)

इसलिए कहा है कि... **"निर्वर्तक, निमित्त और परिणामि ऐसे तीन प्रकार के कारण है। घट का कर्ता कुम्भकार निर्वर्तककारण है। धारण करनेवाले चक्रादि निमित्तकारण है तथा मिट्टी उपादान-परिणामिकारण है।"**

निमित्तकारण दो प्रकार का है। (१) निमित्तकारण, (२) अपेक्षाकारण।

जो निमित्तकारणो में स्वाभाविक तथा कर्ता के प्रयोग द्वारा क्रिया होती है, उन दोनो प्रकार की क्रियावाले दंडादि कारण (शुद्ध) निमित्तकारण कहा जाता है।

जो कारणो में मात्र स्वाभाविक क्रिया (परिणमन) होती है वह निमित्तकारण होने पर भी अपेक्षाकारण ही कहा जाता है। धर्मास्तिकायादि द्रव्यो में स्वाभाविक परिणमनस्वरुप क्रिया होती है। इसलिए वे निमित्तकारण होने पर भी विशेष कारणता को बताने के लिए अपेक्षाकारण कहा जाता है। अर्थात् अपेक्षाकारण निमित्तकारण ही है। परंतु उसमें मात्र स्वाभाविक परिणमनस्वरुप विशेषता होने के कारण उसे अपेक्षाकारण कहा जाता है।

धर्मद्रव्य में होनेवाली स्वाभाविक परिणमन रुप क्रिया की अपेक्षा करते जीवादि द्रव्यो की अपनी गति आदि क्रियापरिणति पुष्ट होती है। इसलिए जीवादिद्रव्यो की गतिरुप क्रिया में अपेक्षित बनता धर्मास्तिकाय द्रव्य अपेक्षाकारण कहा जाता है।

एवमधर्मोऽपि लोकव्यापितादिसकलविशेषणविशिष्टो धर्मवन्निर्विशेषं मन्तव्यः, नवरं स्थित्युपग्रहकारी स्वत एव स्थितिपरिणतानां जीवपुद्गलानां स्थितिविषयेऽपेक्षाकारणं वक्तव्यः २। एवमाकाशमपि लोकालोकव्यापकमनन्तप्रदेशं नित्यमवस्थितमरूपि-द्रव्यमस्तिकायोऽवगाहोपकारकं च वक्तव्यं, नवरं लोकालोकव्यापकमिति। ये केचनाचार्याः कालो द्रव्यं नाभ्युपयन्ति किंतु धर्मादिद्रव्याणां पर्यायमेव, तन्मते धर्माधर्माकाश-पुद्गलजीवाख्यपञ्चास्तिकायात्मको लोकः। ये तु कालो द्रव्यमिच्छन्ति, तन्मते षड्द्रव्या-त्मको लोकः, पञ्चानां धर्मादिद्रव्याणां कालद्रव्यस्य च तत्र सद्भावात्। आकाश-द्रव्यमेकमेवास्ति यत्र सोऽलोकः लोकालोकयोर्व्यापकमवगाहोपकारकमिति स्वत एवावगा-हमानानां द्रव्याणामवगाहदायि भवति न पुनरनवगाहमानं पुद्गलादि बलादवगाहयति। अतो निमित्तकारणमाकाशमम्बुवन्मकरादीनामिति। अलोकाकाशं कथमवगाहोपकारकं, अनवगाह्यत्वादिति चेत्? उच्यते। तद्धि व्याप्रियेतैवावकाशदानेन यदि गतिस्थितिहेतू धर्माधर्मास्तिकायौ तत्र स्यातां, न च तौ तत्र स्तः, तदभावाच्च विद्यमानोऽप्यवगाहनगुणो नाभिव्यज्यते किलाऽलोकाकाशस्येति ॥३॥ कालोऽर्धतृतीयद्वीपान्तर्वर्ती परमसूक्ष्मो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निर्विभाग एकः समयः । स चास्तिकायो न भण्यते, एकसमयरूपस्य तस्य निःप्रदेशत्वात् । आह च-"तस्मान्मानुषलोकव्यापी कालोऽस्ति समय एक इह । एकत्वाच्च स कायो न भवति कायो हि समुदायः[A] ।।१।।" स च सूर्यादिग्रहनक्षत्रोदयास्तादि-क्रियाभिव्यङ्ग्य एकीयमतेन द्रव्यमभिधीयते । । स चैकसमयो द्रव्यपर्यायोभयात्मैव, द्रव्यार्थरूपेण प्रतिपर्यायमुत्पादव्ययधर्मापि स्वरूपानन्यभूतक्रमाक्रमभाव्यनाद्यपर्यवसानानन्तसंख्यपरिमाणः, अत एव च स स्वपर्यायप्रवाहव्यापी द्रव्यात्मना नित्योऽभिधीयते । अतीतानागतवर्तमानावस्थास्वपि कालः काल इत्यविशेषश्रुतेः । यथा ह्येकः परमाणुः पर्यायैरनित्योऽपि द्रव्यत्वेन सदा सन्नेव न कदाचिदसत्त्वं भजते, तथैकः समयोऽपीति । अयं च कालो न निर्वर्तककारणं नापि परिणामिकारणं, किंतु स्वयं संभवतां भावानामस्मिन् काले भवितव्यं नान्यदेत्यपेक्षाकारणम् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

धर्मद्रव्य की तरह अधर्मद्रव्य भी लोकव्यापी, अमूर्त, अवस्थित आदि विशेषणोवाला है। परंतु अधर्मद्रव्य स्थिति (खडे रहने) में परिणत हुए जीव तथा पुद्गल की स्थिति के विषय में अपेक्षाकारण है। अर्थात् जीवादि की स्थितिरुप क्रिया में अपेक्षाकारण अधर्मद्रव्य है। इतनी धर्मद्रव्य से उसमें विशेषता है।

इस अनुसार से आकाश भी लोकालोकव्याप्त, अनंतप्रदेशवाला, नित्य, अवस्थित, अरुपी, अस्तिकाय, द्रव्य और जीवादि को अवगाहना देने में उपकारक है। धर्म-अधर्म द्रव्य से आकाश में यह विशेषता है कि वह लोकालोकव्यापी है।

कुछ आचार्य काल को स्वतंत्रद्रव्य मानते नहीं है। परंतु धर्मास्तिकाय इत्यादि के पर्याय स्वरुप ही मानते है। उन आचार्यो के मतानुसार धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, और जीव नाम के पांच अस्तिकाय स्वरुप लोक है। अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलस्तिकाय, जीवास्तिकाय रुप पांच द्रव्योवाला लोक है। जो आचार्य काल को (स्वतंत्र) द्रव्य के रुप में मानते है। उनके मतानुसार षड्द्रव्यात्मक लोक है। क्योंकि उस लोक में धर्मादि पांच और कालद्रव्य विद्यमान है।

आकाशद्रव्य एक ही है जिसमें वह अलोक कहा जाता है। अर्थात् छः द्रव्यो में से केवल एक आकाश जहां है वह अलोक कहा जाता है।

आकाशद्रव्य लोकालोक में व्याप्त है तथा अवकाश देने में उपकारक है। अर्थात् स्वतः ही रहनेवाले द्रव्यो को आकाश रहने की जगह देता है। परंतु रहना न चाहनेवाले पुद्गल आदि को जबरदस्ती रहने की जगह देता नहीं है। इसलिए आकाश पुद्गलादि द्रव्यो का अपेक्षाकारण है। जैसे रहने की इच्छावाले मकरादि को

A उद्धृतेयं त० भा० टी० ५/२२ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पानी रहने की जगह देता है, वैसे रहने की इच्छावाले पुद्गलादि को रहने की जगह आकाश देता है।

शंका : आपने कहा कि अवकाश देने में उपकारक आकाश है, तो अलोक में आकाश किसीको रहने की जगह देता नहीं है। तो आकाश किस तरह से अवकाश देने में उपकारक कहा जाता है ?

समाधान : आकाश अलोक में व्याप्त होने से अवकाश देने में प्रवृत्त ही है, परंतु गति-स्थिति में कारणभूत धर्मास्तिकाय - अधर्मास्तिकाय अलोक में न होने से अलोक में कोई पुद्गलादि द्रव्य ही नहीं है। इसलिए जीव-पुद्गलादि के अभाव में आकाश का अवगाहन गुण विद्यमान होने पर भी उसका कार्य प्रकट रुप से दिखाई देता नहीं है। परंतु उसके गुण का परिणमन तो है ही। (पहले भी कहा था कि रहने की इच्छावाले द्रव्यो को रखने का काम आकाश करता है। जबरदस्ती से रखने का काम करता नहीं है। अलोक में रहने की इच्छावाले द्रव्यो का ही अभाव होने से उसको रखने की क्रिया आकाश में दिखती नहीं है।)

काल ढाई द्वीप में रहता है। वह काल परमसूक्ष्म, निर्विभाग, एकसमयरुप है। वह काल अस्तिकाय कहा जाता नहीं है। क्योंकि एक समय रुपकाल प्रदेशरहित है और कहा भी है कि... **"मनुष्यलोकव्यापी काल एक समयरुप है और एक होने से "काय" रूप नही है। समुदाय को "काय" कहा जाता है। ॥१॥"** (जैनदर्शनानुसार "ढाई द्वीप" एक चोक्कस क्षेत्रे है। चौदराजलोक प्रमाण क्षेत्र का एक चोक्कस विभाग ही ढाई द्वीप कहा जाता है। क्षेत्र संबंधी विशेष वर्णन जैनदर्शन के बृहद्संग्रहणी इत्यादि ग्रंथ में मिलता है।)

सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्रादि के उदय-अस्त इत्यादि क्रिया से परिज्ञान होता है वह काल एकमत से द्रव्य कहा जाता है और वह एक समयरुप काल, द्रव्य और पर्याय उभयस्वरुप है। यद्यपि काल में प्रतिक्षण परिणमन होता होने से उत्पाद और व्यय होता रहता है। फिर भी द्रव्यास्तिकनय से (द्रव्यदृष्टिसे) वह अपना स्वरुप बदलता नहीं है, अर्थात् कभी भी कालान्तरभूत या अकालरुप बनता नहीं है। इस कालक्रम से या अक्रम से (एकसाथ) होनेवाले अनंत पर्यायो में अपनी सत्ता रखता है। इस तरह से द्रव्यरुप से समस्तपर्यायो के प्रवाह में अपनी सत्ता व्याप्त होने के कारण नित्य कहा जाता है। अनागत, अतीत या वर्तमान किसी भी अवस्था में भी अपना अस्तित्व रखता है। अर्थात् "काल-काल" ऐसा साधारणव्यवहार प्राप्त करता है। जैसे परमाणु अनेक रुपो में परिवर्तित होनेरुप अनेकविध पर्यायो से अनित्य है फिर भी द्रव्यत्वेन हंमेशा सत् है। कभी भी असत् होता नहीं है। इसलिए नित्य है। उस अनुसार से समयरुप काल अनेकरुपो में परिवर्तित होने के कारण पर्यायो से अनित्य होने पर भी हंमेशा सत् रहता है और कभी भी असत् होता न होने से नित्य है।

यह काल निर्वर्तककारण या परिणामिकारण नहीं है। परंतु स्वयं उत्पन्न के प्रति भाव होनेवाले **"यह काल में ही हो, अन्य काल में नहीं है।"** इस तरह से अपेक्षाकारण बनता है। अर्थात् अपने आप परिणमन पाते पदार्थो के परिणमन में **"यह परिणमन इस काल में होना चाहिए। दूसरे काल में नहि है।"** ऐसे स्वरुप से काल अपेक्षाकारण बनता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कालकृता वर्तनाद्या वस्तूनामुपकाराः । अथवा वर्तनाद्या उपकाराः कालस्य लिङ्गानि, ततस्तानाह "वर्तना परिणामः क्रियापरत्वापरत्वे च" [तत्त्वार्थाधिगमः ५, २२] । तत्र वर्तन्ते स्वयं पदार्थाः, तेषां वर्त्तमानानां प्रयोजिका कालाश्रया वृत्तिर्वर्तना, प्रथमसमयाश्रया स्थितिरित्यर्थः १ । परिणामो द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन परिस्पन्देतरप्रयोगजपर्यायस्वभावः परिणामः । तद्यथा-वृक्षस्याङ्कुरमूलाद्यवस्थाः परिणामः, आसीदङ्कुरः, सम्प्रति स्कन्धवान्, ऐषमः पुष्पिष्यतीति । पुरुषद्रव्यस्य बालकुमारयुवाद्यवस्थाः परिणामः । एवमन्यत्रापि । [E-97]परिणामो द्विविधः, अनादिरमूर्तेषु धर्मादिषु, मूर्तेषु तु सादिरभ्रेन्द्रधनुरादिषु स्तम्भकुम्भाम्भोरुहादिषु च । ऋतुविभागकृतो वेलाविभागकृतश्च परिणामस्तुल्यजातीयानां वनस्पत्यादीनामेकस्मिन्काले विचित्रो भवति २ । प्रयोगविस्रसाभ्यां जनितो जीवानां परिणमनव्यापारःकरणं क्रिया तस्या अनुग्राहकः कालः । तद्यथा-नष्टो घटः, सूर्यं पश्यामि, भविष्यति वृष्टिरित्यादिका अतीतादिव्यपदेशाः परस्परासंकीर्णा यदपेक्षया प्रवर्तन्ते, स कालः ३ । इदं परमिदमपरमितिप्रत्ययाभिधाने कालनिमित्ते ४ - ५ । तदेवं वर्त्तनाद्युपकारानुमेयः कालो द्रव्यं मानुषक्षेत्रे । मनुष्यलोकाद्बहिः कालद्रव्यं नास्ति । सन्तो हि भावास्तत्र स्वयमेवोत्पद्यन्ते व्ययन्त्यवतिष्ठन्ते च । अस्तित्वं च भावानां स्वत एव, नतु कालापेक्षम् । न च तत्रत्याः प्राणापाननिमेषोन्मेषायुःप्रमाणादिवृत्तयः कालापेक्षाः, तुल्यजातीयानां सर्वेषां युगपदभवनात् । कालापेक्षा ह्यर्थास्तुल्यजातीयानामेकस्मिन् काले भवन्ति, न विजातीयानाम् । ताश्च प्राणादिवृत्तयस्तद्वतां नैकस्मिन्काले भवन्त्युपरमन्ति चेति । तस्मान्न कालापेक्षास्ताः । परत्वापरत्वे अपि तत्र चिराऽचिरस्थित्यपेक्षे, स्थितिश्चास्तित्वापेक्षा, अस्तित्वं च स्वत एवेति । ये तु कालं द्रव्यं न मन्यन्ते, तन्मते सर्वेषां द्रव्याणां वर्त्तनादयः पर्याया एव सन्ति, न त्वपेक्षाकारणं कश्चन काल इति ।।४।।

व्याख्या का भावानुवाद :

काल द्वारा पदार्थो के वर्तनादि परिणमनस्वरुप उपकार होता है। अथवा पदार्थो के वर्तनादि उपकार काल के लिंग है। **तत्त्वार्थसूत्र अ. ५।२२ में कहा है कि** - वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व, ये पांच काल के उपकार है।

स्वयं पदार्थ वर्तन करता है। वे स्वयं वर्तन करनेवाले पदार्थो को सहायता देने के कालकी प्रवृत्ति (शक्ति) को वर्तना कहा जाता है। प्रथम समय में होनेवाली पदार्थ की स्थिति वह वर्तना है।

(E-97) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपना मूल स्वभाव छोडे बिना मूल स्वभाव में ही एक अवस्था को छोडकर दूसरी अवस्था में जाना उसे **परिणाम** कहा जाता है। अर्थात् एक पर्याय में से दूसरे पर्याय में जाना उसे परिणाम कहा जाता है। जैसे कि, वृक्ष के अंकुर, मूलादि अवस्थायें वह परिणाम है। अर्थात् भूतकाल में अंकुर था, उसमें से वर्तमान में स्कन्धवाला हुआ और भविष्य में पुष्पवाला होगा। इस तरह से अवस्थान्तर की अंदर परिणमन होना उसे परिणाम कहा जाता है। उसी ही तरह से पुरुषद्रव्य की बाल, कुमार, जवानी इत्यादि अवस्थायें परिणाम है। **परिणाम दो प्रकार का है**। (१) अमूर्त धर्मादि द्रव्यो में **अनादिपरिणाम है**। (२) मूर्ति ऐसे अभ्र (बादल), इन्द्रधनुष्य इत्यादि में तथा स्तंभ, घट, कमल इत्यादि में **सादि परिणाम है**। जिन द्रव्यो के परिणमन का प्रारंभ न हो वह अनादिपरिणाम और जिन द्रव्यो के परिणमन का प्रारंभ हुआ हो वह सादिपरिणाम।

एकजातीय वनस्पतियों में ऋतुभेद से तथा समय के भेद से एक ही काल में विचित्र परिणाम होता है। पुरुष के प्रयोग से या स्वाभाविक रुप से उत्पन्न हुए जीवो के परिणमन के लिए होनेवाली व्यापारक्रिया में काल सहायक होता है। अर्थात् जीवो का अवस्थान्तर में परिणमन प्रयोग से या स्वाभाविक रुप से होता है। उस परिणमन के लिए होनेवाली व्यापारक्रिया में काल सहायक बनता है। घट का नाश हुआ, सूर्य को मैं देखता हूं, बरसात होगी। इत्यादि अतीतादि व्यपदेश अर्थात् परस्परअसंकीर्ण ऐसे अतीतादि कालसंबंधी व्यवहारो का जिसकी अपेक्षा से व्यपदेश किया जाता है। "**वह काल है।**" "यह पर है।" "**यह अपर है।**" इत्यादि ज्ञान तथा व्यवहार भी कालनिमित्तक ही है। अर्थात् काल निमित्त से होता है।

इसलिए इस अनुसार से वर्तनाआदि लिंगो से अनुमेय कालद्रव्य मनुष्यलोक में ही है। मनुष्यलोक से बाहर कालद्रव्य नहीं है। मनुष्यलोक के बाहर रहे हुए पदार्थ स्वयं ही उत्पन्न होते है, स्वयं नाश होते है और स्वयं स्थिर रहते है। अर्थात् मनुष्यलोक से बाहर पदार्थो का अस्तित्व स्वतः ही होता है। कालकी सहायता से नहि है।

तथा वहाँ के जीवो के श्वासोश्वास, आँखो का पलकना, आँखो का खुलना इत्यादि व्यापार काल की अपेक्षा में होता नहीं है। क्योंकि सजातीय पदार्थो का उक्त व्यापार एकसाथ नहीं होता। **सजातीय पदार्थो का एकसाथ होनेवाला व्यापार काल की अपेक्षा रखता है। विजातीय पदार्थो का नहीं**। वहाँ के प्राणीयों का श्वासोश्वासा-दिव्यापार न तो एक काल में उत्पन्न होता है, या न तो नाश होता है, कि जिससे उसको काल की अपेक्षा हो!

मनुष्यलोक की बाहर परत्व-अपरत्व का व्यवहार भी चिरकालीनस्थिति और अचिरकालीनस्थिति की अपेक्षा से होता है और वह स्थिति अस्तित्व की अपेक्षा रखती है और अस्तित्व स्वतः ही है।

वैसे ही जो आचार्य काल को स्वतंत्रद्रव्य मानते नहीं है, उनके मत में सभी द्रव्यो के वर्तनादि पर्यायरुप ही काल है। परन्तु उनको होने में काल नाम के द्रव्य की कोई अपेक्षा नहीं है। अर्थात् काल अपेक्षाकारण बनता नहीं है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ पुद्गलाः । "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः" [तत्त्वार्थाधिगम० ५,२३] । अत्र स्पर्शग्रहणमादौ स्पर्शे सति रसादिसद्भावज्ञापनार्थम् । ततोऽबादीनि चतुर्गुणानि स्पर्शित्वात्, पृथिवीवत् । तथा मनः स्पर्शादिमत्, असर्वगतद्रव्यत्वात्, पार्थिवाणुवदिति प्रयोगौ सिद्धौ । तत्र स्पर्शा हि मृदुकठिनगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाः । अत्र च स्निग्धरूक्षशीतोष्णाश्चत्वार एवाणुषु संभवन्ति । स्कन्धेष्वष्टावपि यथासंभवमभिधानीयाः । रसास्तिक्त-कटुकषायाम्लमधुराः । लवणो मधुरान्तर्गत इत्येके, संसर्गज इत्यपरे । गन्धौ सुरभ्यसुरभी । कृष्णादयो वर्णाः । तद्वन्तः पुद्गला इति । न केवलं पुद्गलानां स्पर्शादयो धर्माः, शब्दादयश्चेति दर्शयते । "शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्य-संस्थानभेदतमछायातपोद्योतवन्तश्च" [तत्त्वार्थाधिगम० ५, २४] पुद्गलाः । अत्र पुद्गलपरिणामाविष्कारे मतुप्रत्ययो नित्ययोगार्थं विहितः । तत्र शब्दो ध्वनिः १ । बन्ध-परस्पराश्लेषलक्षणः प्रयोगविस्रसादिजनित औदारिकादिशरीरेषु जतुकाष्ठा-दिश्लेषवत् परमाणुसंयोगजवद्वेति २ । सौक्ष्म्यं-सूक्ष्मता ३ । स्थौल्यं-स्थूलता ४ । संस्थानमाकृतिः ५ । भेदः-खण्डशो भवनं ६ । तम छायादयः प्रतीताः । सर्व एवैते स्पर्शादयः शब्दादयश्च पुद्गलेष्वेव भवन्तीति । पुद्गला द्वेधा, परमाणवः स्कन्धाश्च । तत परमाणोर्लक्षणमिदम् "कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः । एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च[A] ।।१।।" व्याख्या ।। सकलभेदपर्य-न्तवर्तित्वादन्त्यं तदेव कारणं न पुनरन्यद्द्व्यणुकादि तदेव किमित्याह सूक्ष्मः-आगमगम्यः, अस्मदादी-न्द्रियव्यापारातीतत्वात् । नित्यश्चेति-द्रव्यार्थिकनयापेक्षया ध्रुवः, पर्यायार्थिकनयापेक्षया तु नीलादिभिरा-कारैरनित्य एवेति । न ततः परमणीयो द्रव्यमस्ति, तेन परमाणुः । तथा पञ्चानां रसानां द्वयोर्गन्धयोः पञ्चविधस्य वर्णस्यैकेन रसादिना युक्तः । तथा चतुर्णा स्पर्शानां मध्ये द्वाविरुद्धौ यौ स्पर्शौ स्निग्धोष्णौ स्निग्धशीतौ रूक्षशीतौ रूक्षोष्णौ वा, ताभ्यां युक्तः । तथा कार्यं द्व्यणुकाद्यचित्त-महास्कन्धपर्यन्तं तस्य लिङ्गमिति । एवंविधलक्षणा निरवयवाः परस्परेणाऽसंयुक्ताः परमाणवः ।

व्याख्या का भावानुवाद :

अब पुद्गलद्रव्य का वर्णन किया जाता है। **तत्त्वार्थसूत्र अ. ५।२३ में कहा है कि...** "स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाले पुद्गल होते है।" **सूत्र में प्रथम "स्पर्श" को ग्रहण करने का कारण यह है कि...** "जिसमें स्पर्श होता है, । उसमें रस, गंध, वर्ण अवश्य होता ही है। अर्थात् प्रारंभ से स्पर्श का ग्रहण होने पर भी रसादि का सद्भाव अवश्य होता है, वह बताने के लिए है इसलिए स्पर्श को प्रथम ग्रहण किया है।।" "पानी इत्यादि

(A) उद्धृतोऽयं त० भा० ५/२५ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थ रुप, रस, गंध, स्पर्श ये चार गुणवाले है। क्योंकि उसमें स्पर्श होता है, जैसे कि, पृथ्वी।" **तथा** "मन स्पर्शादि चार गुणवाला है। क्योंकि असर्वगत (अव्यापी) द्रव्य है। जैसे कि, पार्थिवपरमाणु।" ये दोनो अनुमान प्रयोग से सिद्ध होता है कि, जहां स्पर्श होता है, वहां रुपादि तीन अवश्य होते ही है।

उसमें स्पर्श आठ प्रकार के है। (१) मृदु, (२) कठिन, (३) गुरु, (४) लघु, (५) शीत, (६) उष्ण, (७) स्निग्ध, (८) रुक्ष। परमाणुओ में स्निग्ध, रुक्ष, शीत, उष्ण ये चार ही स्पर्श होते है। परंतु स्कन्ध में यथासंभव आठो स्पर्श होते है।

रस पांच प्रकार के है। (१) तिक्त (तीखा), (२) कटु (कडुआ), (३) कषाय (तूरा), (४) आम्ल (खट्टा), (५) मधुर (मीठा)। कुछ आचार्य लवण (नमक) का समावेश मधुर रस में करते है और कुछ आचार्य उसको अन्य रसो के संसर्ग से उत्पन्न हुआ मानते है। गंध सुरभि और असुरभि दो प्रकार की है। काला, पीला, नीला, राता, श्वेत (सफेद) ये पांच वर्ण है। ये स्पर्श, रुप, गंध और वर्णवाले पुद्गल है।

पुद्गलो के मात्र स्पर्शादि धर्म है ऐसा नहीं है। परंतु शब्दादि धर्म भी पुद्गल के है। **तत्त्वार्थसूत्र अ. ५।२४ में कहा है कि...** "शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, आतप, उद्योतवाले भी पुद्गलद्रव्य होते है। अर्थात् शब्दादि पुद्गल के ही पर्याय है।"

सूत्र में पुद्गल के परिणाम (पर्यायो) के कथन में "**मतुप्**" प्रत्यय के प्रयोग से उसका नित्य संबंध सूचित होता है। (१) ध्वनि को शब्द कहा जाता है। कान से सुनी जाती आवाज को ध्वनि-शब्द कहा जाता है। (२) प्रयोग से होते लाक्षा (लाख) और काष्ठ के आश्लेष (बंध) की तरह तथा स्वाभाविक होते परमाणु का संयोग (बंध) की तरह औदारिकादि शरीर में प्रयोग से या स्वभाव से उत्पन्न होनेवाले परस्पर आश्लेष को बंध कहा जाता है। अर्थात् परस्पर जोडना उसे बंध कहा जाता है। (३) सौक्ष्म्य = पतलापन। (४) स्थौल्य = स्थूलता = स्थूलपन (५) संस्थान = आकृति, (६) भेद = खंड होना = टूकडे टूकडे होना, (७) अंधकार, (८) छाया, (९) आतप, (१०) उद्योत प्रत्यक्ष से प्रतीत है। यह उपरोक्त वर्णित स्पर्शादि धर्म तथा शब्दादि पर्याय (धर्म) पुद्गलो में ही होते है।

पुद्गलो के दो प्रकार है। (१) परमाणु स्वरुप और (२) स्कन्ध स्वरुप। उसमें परमाणु का लक्षण यह है - परमाणु कारण ही होता है। अर्थात् यह कार्यरुप नहीं है। वह स्कन्धो को उत्पन्न करने का कारण ही है। वह किसी से उत्पन्न नहि होता है। इसलिए कार्यरुप नहीं है। वह अन्त्य है। अर्थात् उससे छोटा कोई द्रव्य नहीं है। वह सूक्ष्म और नित्य है। एक रस, एक गंध, एक वर्णवाला तथा दो स्पर्शवाला परमाणु है। परमाणु स्कन्ध रुप लिंगो से = कार्यो से अनुमेय है। प्रत्यक्ष नहीं है। ॥१॥"

परमाणु सकलभेदो की पर्यन्तवर्ति है। अर्थात् कोई पदार्थ के टूकडे किये जाये, अंत में एक ऐसा टूकडा हो कि पुनः उसका दूसरा टूकडा न हो सके, वह अंतिम भाग परमाणु ही है। वह परमाणु कारण भी है। द्वयणुकादि कार्यरुप है। उसका कारण परमाणु है। वह परमाणु सूक्ष्म है। अर्थात् आगमगम्य है। क्योंकि.. हमारी इन्द्रियो के व्यापार का वह विषय बन सकता नहीं है। अर्थात् हमारी इन्द्रियो से गोचरातीत है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से परमाणु नित्य = ध्रुव है। पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से नीलादि आकार द्वारा अनित्य ही है। परमाणु से परम अणु (छोटा) द्रव्य नहीं है। इसलिए उसे परमाणु कहा जाता है। पांच रस में से एक रस, दो गंध में से एक गंध, पांच वर्णो में से एक वर्ण से युक्त परमाणु है। चार स्पर्शो में परस्पर अविरुद्ध जो स्पर्श है, उसमें से दो स्पर्शो से युक्त परमाणु है। अर्थात् परस्पर विरुद्ध ऐसे स्निग्ध = उष्ण, स्निग्ध - शीत, रुक्ष - शीत और रुक्ष = उष्ण ये चार जोडीयां है। (इन चार जोडीयो में से कोई एक जोडीवाला अर्थात्) परस्पर अविरुद्ध दो स्पर्शवाला परमाणु होता है।

द्वयणुक से लेकर अचित्त महास्कन्ध तक परमाणु के कार्य है। अर्थात् परमाणु को बतानेवाले वे लिंग है।

ऐसे प्रकार के लक्षणवाले, निरवयव, परस्पर असंयुक्त परमाणु है।

स्कन्धाः पुनर्द्व्यणुकादयोऽनन्ताणुकपर्यन्ताः सावयवाः प्रायो ग्रहणादादानादिव्यापारसमर्थाः परमाणुसंघाता इति । एते धर्माधर्माकाशकालपुद्गला जीवैः सह षड्द्रव्याणि । एष्वाद्यानि चत्वार्येकद्रव्याणि, जीवाः पुद्गलाश्चानेकद्रव्याणि, पुद्गलरहितानि तानि पञ्चामूर्तानि, पुद्गलास्तु मूर्ता एवेति । ननु जीवद्रव्यस्यारूपिणोऽप्युपयोगस्वभावत्वेन स्वसंवेदनसंवेद्यत्वादस्तित्वं श्रद्धानपथमवतारयितुं शक्यम् । धर्माधर्मास्तिकायादीनां तु न जातुचिदपि स्वसंवेदनसंवेद्यत्वं समस्ति, अचेतनत्वात् । नापि परसंवेदनवेद्यता, नित्यमरूपित्वेन । तत्कथं तेषां धर्मास्तिकायादीनां सतां सत्ता श्रद्धेया स्यादिति चेत् ? उच्यते, प्रत्यक्षेण योऽर्थो नोपलभ्यते स सर्वथा नास्त्येव, यथा शशविषाणमित्येकान्तेन न मन्तव्यं । यत इह लोके द्विविधानुपलब्धिर्भवति, तत्रैकाऽसतो वस्तुनोऽनुपलब्धिः, यथा तुरङ्गमोत्तमाङ्गसंसर्गानुषङ्गिशृङ्गस्य, द्वितीया तु सतामप्यर्थाना-मनुपलब्धिर्भवति । या च सत्स्वभावानामपि भावानामनुपलब्धिः, सात्राष्टधाभिद्यते । तथाहि-अतिदूरात्, १, अतिसामीप्यात् २, इन्द्रियघातात् ३, मनसोऽनवस्थानात् ४, सौक्ष्म्यात् ५, आवरणात् ६, अभिभवात् ७, समानाभिहाराच्चेति ८ [ ]। तत्रातिदूराद्देशकालस्वभावविप्रकर्षात्त्रिविधानुपलब्धिः । तत्र देशविप्रकर्षात् यथा कश्चित् देवदत्तो ग्रामान्तरं गतो न दृश्यते, तत्कथं स नास्ति ? सोऽस्त्येव, देशविप्रकर्षान्नोपलब्धिः । एवं समुद्रस्य परतटं मेर्वादिकं वा सदपि नोपलभ्यते । तथा कालविप्रकर्षात् भूता जिनपूर्वजादयो भविष्या वा पद्मनाभादयो जिना नोपलभ्यन्ते, अभूवन् भविष्यन्ति च ते । तथा स्वभावविप्रकर्षान्नभोजीवपिशाचादयो नोपलभ्यन्ते, न च ते न सन्ति १ । तथातिसामीप्यात् यथा नेत्रकज्जलं नोपलभ्यते तत्कथं तन्नास्ति ? तदस्त्येव, पुनरतिसामीप्यान्नोपलभ्यते २ । तथेन्द्रियघातात् यथा अन्धबधिरादयो रुपशब्दादीन्नोपलभ्यते तत्कथं रूपादयो न सन्ति ? सन्त्येव, ते पुनरिन्द्रियघातान्नोपलभ्यन्ते ३ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या का भावानुवाद :

द्वयणुकादि स्कन्ध है। यावत् अनंत अणुवाले द्रव्य स्कन्ध कहे जाते है। वे स्कन्ध अवयवोवाले है। वह ज्यादातर देना, लेना इत्यादि व्यापार में समर्थ होते है। वे स्कन्ध परमाणु के संघात स्वरुप है।

ये धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल, पुद्गलो और जीवो के साथ छः द्रव्य है। उसमें प्रथम चार एक द्रव्य है। जीव और पुद्गल अनेक द्रव्य है। अर्थात् प्रथम चार एक ही द्रव्य है। जब कि जीव और पुद्गल अनेक है। पुद्गल के सिवा पांच द्रव्य अमूर्त है। पुद्गल मूर्त ही है।

शंका : जीव द्रव्य अरुपि होने पर भी जीव का उपयोग स्वभाव होने के कारण उपयोगस्वभावत्वेन स्वसंवेदन से जीव संवेद्य है। इसलिए जीव का अस्तित्व श्रद्धापथ में आ सकता है, अर्थात् जीव अरुपि होने पर भी उसका ज्ञानदर्शन रुप उपयोग स्वभाव **"मैं सुखी हूं", "मैं जानता हूं"** इत्यादि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अनुभव में आता है। इसलिए उसकी सत्ता मानने में दिक्कत नहीं आती है। परंतु धर्मास्तिकायादि का कभी भी स्वसंवेदन होता नहीं है। क्योंकि वह अचेतन है तथा नित्य = हंमेशा अरुपि होने के कारण दूसरा कोई भी उसको प्रत्यक्ष से जाना नहीं जा सकता। इसलिए किस तरह से वह धर्मास्तिकायादि की सत्ता श्रद्धापथ में आ सकेगी।

समाधान : "प्रत्यक्ष से जो पदार्थ उपलब्ध न होता हो, वह सर्वथा होता ही नहीं है। जैसे खरगौश का सिंग।" ऐसा एकांत से मानना नहीं चाहिए। क्योंकि लोक में दो प्रकार से (पदार्थो की) अनुपलब्धि होती है। (१) अविद्यमान - पदार्थ की अनुपलब्धि, जैसे कि, घोडे के मस्तक उपर सिंग। (२) विद्यमान पदार्थ की अनुपलब्धि।

जो सत्स्वभाववाले पदार्थ की भी अनुपलब्धि हो, उसके यहां आठ प्रकार के विभाग होते है। **(१) सत्स्वभाववाले पदार्थ की अनुपलब्धि अति दूर होने से है। (२) अतिसामीप्यात्-** सत्स्वभाववाले पदार्थ की अनुपलब्धि अति नजदीक होने से है। (३) **इन्द्रियघातात्-** सत्स्वभाववाले पदार्थ की अनुपलब्धि इन्द्रियो का घात हुआ होने से है। **(४) मनसोऽनवस्थानात्- सत्स्वभाववाले पदार्थ की अनुपलब्धि (इन्द्रियो का व्यापार होने** पर भी) मन दूसरी जगह पे होने से है। **(५) सौक्ष्म्यात्- सत्स्वभाववाले पदार्थ की अनुपलब्धि पदार्थ की सूक्ष्मता के कारण है। (६) आवरणात्-सत्स्वभाववाले पदार्थ की अनुपलब्धि पदार्थ के उपर आवरण होने से है।** (७) **अभिभवात्-** सत्स्वभाववाले पदार्थ की अनुपलब्धि वह पदार्थ दूसरे पदार्थ से **अभिभूत हुआ होने से है। (८) समानाभिहारात्- सत्स्वभाववाले पदार्थ की अनुपलब्धि समान पदार्थो में मिल जाने** के कारण है।

उसमें (१) अतिदूर का व्यपदेश दूरदेशवर्ती पदार्थ में, अतीत - अनागतकालीन पदार्थ में और स्वभाव से अतीन्द्रिय पदार्थो में होता है। अर्थात् पदार्थ दूर देश में रहा हुआ हो, अतीतकाल या अनागतकाल संबंधी हो अथवा स्वभाव से अतीन्द्रिय हो, उसकी अनुपलब्धि होती है। अर्थात् देवदत्त की अनुपलब्धि देशविप्रकर्ष

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के कारण है। दूसरे गांव गया हुआ देवदत्त दिखाई देता नहीं है। इसलिए क्या वह नहीं है ? वह है ही। परंतु देशविप्रकर्ष के कारण उपलब्ध होता नहीं है। इस तरह से देशविप्रकर्ष के कारण समुद्र का दूसरा किनारा या मेरु, पर्वत इत्यादि विद्यमान होने पर भी उपलब्ध होते नहीं है।

इस अनुसार से कालविप्रकर्ष के कारण हो गये जिनेश्वर तथा अपने पूर्वज अथवा भविष्य में होनेवाले पद्मनाभ इत्यादि जिनेश्वर उपलब्ध होते नहीं है। क्योंकि अतीत काल में वे हुए थे और भविष्य में होनेवाले है। इसलिए कालविप्रकर्ष से विद्यमान होने पर भी वर्तमान में अनुपलब्ध है। उसी ही अनुसार से स्वभाव से आकाश, जीव, पिशाचादि उपलब्ध होते नहीं है। इसलिए वे नहीं है, ऐसा नहीं है।

(२) पदार्थ अतिसमीप में हो, तो भी अनुपलब्ध होता है । जैसे आंख में लगा हुआ काजल उपलब्ध होता नहीं है। इसलिए क्या वह नहीं है ? काजल तो है ही। परंतु अति समीप होने के कारण अनुपलब्ध है।

(३) इन्द्रियो का घात होने से पदार्थ उपलब्ध होता नहीं है। जैसे, अंध और बहेरे आदमी को रुपादि की उपलब्धि होती नहीं है। इसलिए क्या रुपादि नहीं है ? रुपादि तो है, परंतु इन्द्रियो का घात हुआ होने से उपलब्ध होते नहीं है।

तथा मनोऽनवस्थानात् **यथा अनवस्थितचेता न पश्यति । उक्तंच**-"इषुकारनरः कश्चिद्राजानं संपरिच्छदम् । न जानाति पुरो यान्तं यथा ध्यानं समाचरेत् ।।१।।" **तत्किं राजा न गतः ? स गत एव, पुनरनवस्थितचेतस्कत्वान्न दृष्टवान् । नष्टचेतसां वा सतोऽपि भावस्यानुपलब्धिः ४ ।** तथा सौक्ष्म्यात् **यथा जालकान्तरगतधूमोष्मनीहारादीनां त्रसरेणवो नोपलभ्यन्ते, परमाणुद्व्यणुकादयो वा सूक्ष्मनिगोदादयो नोपलभ्यन्ते, तत्किं न सन्ति ? सन्त्येव ते, पुनः सौक्ष्म्यान्नोपलब्धिः ५ ।** तथावरणात् **कुड्यादिव्यवधानाज्ज्ञानाद्यावरणाद्वानुपलब्धिः तत्र व्यवधानात् यथा कुड्यान्तरे व्यवस्थितं वस्तु नोपलभ्यन्ते तत्किं नास्ति ? किं तु तदस्त्येव, पुनर्व्यवधानान्नोपलब्धिः एवं स्वकर्णकन्धरामस्तकपृष्ठानि नोपलभ्यन्ते, चन्द्रमण्डलस्य च सन्नपि परभागो न दृश्यते, अर्वाग्भागेन व्यवहितत्वात् । ज्ञानाद्यावरणाज्ज्ञानुपलब्धिः यथा मतिमान्द्यात्सतामपि शास्त्रसौक्ष्म्यार्थविशेषाणामनुपलब्धिः, सतोऽपि वा जलधिजल-पलप्रमाणस्यानुपलब्धिः, विस्मृतेर्वा पूर्वोपलब्धस्य वस्तुनोऽनुपलब्धिः, मोहात् सतामपि तत्त्वानां जीवादीनामनुपलब्धिरित्यादि ६ ।** तथाभिभवात्, **सूर्यादितेजसाभिभूतानि ग्रहनक्षत्राणि नोपलभ्यन्ते, तत्कथं तेषामभावः ? किं तु तानि सन्त्येव, पुनरभिभवान्न दृश्यन्ते । एवमन्धकारेऽपि घटादयो नोपलभ्यन्ते ७ ।** समानाभिहाराच्च **यथा मुष्टराशौ मुष्टमुष्टिः तिलराशौ तिलमुष्टिर्वा क्षिप्ता सती सूपलक्षितापि नोपलभ्यते, जले क्षिप्तानि लवणादीनि वा**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नोपलभ्यन्ते । तत्कथं तेषामभावः ? तानि सन्त्येव, पुनः समानाभिहाराच्चोपलब्धिः ८ । तथा चोक्तं सांख्यसप्ततौ [७] ।। "अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोनवस्थानात् । सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ।।७।।" **इति ।। एवमष्टधापि सत्स्वभावानामपि भावानां यथानुपलम्भोऽभिहितः एवं धर्मास्तिकायादयोऽपि विद्यमाना अपि स्वभावविप्रकर्षान्नोपलभ्यन्त इति मन्तव्यम् ।।**

व्याख्या का भावानुवाद :

(४) मन का अनवस्थान है । अर्थात् मन दूसरी जगह पे उपयुक्त होने के कारण (इन्द्रियो का पदार्थ के साथ व्यापार होने पर भी) **पदार्थ उपलब्ध होता नहीं है ।** जैसे चक्षुइन्द्रिय की पटुतावाला व्यक्ति भी दूसरी जगह में मन भटकता होने से वस्तु को देखता नहीं है । उसमें वस्तु तो उपलब्ध है । परंतु मन की अनुपयोगदशा के कारण पदार्थ उपलब्ध होता नहीं है । तथा कहा है कि "जैसे कोई (लक्ष्य के उपर एकाग्र दृष्टिवाला) धनुर्धर अपने पास से परिवार सहित (ठाठमाठसे) जाते राजा को देखता नहीं है । (क्योंकि बाणावली (धनुर्धर) का मन दूसरी जगह पे है ।) उस तरह से एकाग्रचित्त से ध्यान करना चाहिए । तो क्या राजा वहाँ से जाता नहीं था ? राजा जाता तो था ही । परंतु बाणावली का मन अन्यत्र होने के कारण उसको दिखता नहीं था । अथवा जिन का चित्त नाश हो गया है, उसको विद्यमान पदार्थ की भी उपलब्धि होती नहीं है ।

(५) उसी अनुसार से पदार्थ की सूक्ष्मता से भी पदार्थ अनुपलब्ध रहता है । जैसे घर के छेदवाले भाग में से निकलता और आता धुंआ (धूम), उष्मा और त्रसरेणु सूक्ष्म होने से उपलब्ध होते नहीं है । अथवा परमाणु - द्वयणुकादि, सूक्ष्मनिगोद आदि उपलब्ध होते नहीं है । इसलिए क्या वह विद्यमान नहीं है ? विद्यमान तो है, परंतु सूक्ष्म होने से उपलब्ध होते नहीं है ।

(६) आवरण से भी पदार्थ उपलब्ध होता नहीं है । दिवाल के व्यवधान से या ज्ञानादि के आवरण से पदार्थ उपलब्ध होता नहीं है । उसमें दिवालादि के व्यवधान से पदार्थ उपलब्ध होता नहीं है । जैसे कि, दिवाल के पीछे रही हुई वस्तु उपलब्ध होती नहीं है । तो क्या वस्तु नहीं है ? वस्तु तो है ही । परंतु दिवालरुप व्यवधान से उपलब्ध होती नहीं है । इसी अनुसार से अपनी पीठ के, कान के या मस्तक के पीछे रही हुई विद्यमान वस्तु भी उपलब्ध होती नहीं है । तथा चंद्रमंडल का पीछे का भाग विद्यमान होने पर भी आगे के भाग से व्यवहित होने के कारण दिखाई देता नहीं है ।

ज्ञानादि के आवरण से भी पदार्थ की उपलब्धि होती नहीं है । जैसे कि, मतिमंदता के कारण शास्त्रकथित सूक्ष्मपदार्थ विशेष विद्यमान होने पर भी उपलब्ध होते नहीं है । अथवा समुद्र के पानी के जत्थे का परिमाणा होने पर भी मापा नहीं जा सकता अथवा विस्मृति से पहले उपलब्ध हुई वस्तु की भी उपलब्धि होती नहीं है । मोह से विद्यमान ऐसे जीवादितत्त्वो की भी उपलब्धि नहीं होती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(७) अभिभव होने से पदार्थो की उपलब्धि होती नहीं है । जैसे सूर्यादि के तेज से अभिभूत हुए ग्रह-नक्षत्र उपलब्ध होते नहीं है । इसलिए क्या उनका अभाव है ? अभाव नहीं है । वे ग्रह-नक्षत्र आदि है ही । परंतु सूर्यादि का अभिभव हुआ होने से दिखते नहीं है । इस अनुसार अंधकार में भी घटादि पदार्थ उपलब्ध होते नहीं है ।

(८) समानपदार्थो में मिल जाने से भी पदार्थ की उपलब्धि होती नहीं है । जैसे मूंग के ढेर में मूंग की मुट्ठी तथा तिलके ढेर में तिलकी मुट्ठी डालने पर भी उसमें मिल जाने के कारण अच्छी तरह से उपलक्षित होने पर भी तादृश मुट्ठी भर मूंग या तिल उपलब्ध होते नहीं है । अथवा पानी में डाला हुआ नमक इत्यादि उपलब्ध होते नहीं है । इसलिए क्या उनका अभाव है ? नहीं, अभाव नहीं है । वे विद्यमान ही है । परन्तु समान के साथ मिल जाने के कारण उपलब्ध होते नहीं है ।

सांख्यसम्मति में भी कहा है कि.. अति दूर होने से, अति समीप होने से, इन्द्रिय का घात हुआ होने से, मन का अन्यत्र अवस्थान होने से, सूक्ष्म होने से, बीच में व्यवधान होने से, दूसरे द्वारा अभिभव हुआ होने से तथा समानद्रव्यो में मिल जाने के कारण पदार्थो की उपलब्धि होती नहीं है । ॥१॥" इस अनुसार से आठ प्रकार से विद्यमान स्वभाववाले पदार्थ भी जिस अनुसार से उपलब्ध होते नहीं है, वह हमने उपर देखा । वैसे धर्मास्तिकायादि भी विद्यमान होने पर भी स्वभावविप्रकर्ष से अर्थात् स्वभाव से अतीन्द्रिय होने से उपलब्ध होते नहीं है । ऐसा मानना चाहिए ।

आह परः **येऽत्र देशान्तरगतदेवदत्तादयो दर्शिताः, तेऽत्रास्माकमप्रत्यक्षा अपि देशान्तरगतलोकानां केषांचित्प्रत्यक्षा एव सन्ति, तेन तेषां सत्त्वं प्रतीयते, धर्मास्तिकायादयस्तु कैश्चिदपि कदापि नोपलभ्यन्ते तत्कथं तेषां सत्ता निश्चीयत इति ?** अत्रोच्यते, **यथा देवदत्तादयः केषांचित्प्रत्यक्षत्वात्सन्तो निश्चीयन्ते, तथा धर्मास्तिकायादयोऽपि केवलिनां प्रत्यक्षत्वात्किं न सन्तः प्रतीयन्ताम् ? यथा वा परमाणवो नित्यमप्रत्यक्षा अपि स्वकार्यानुमेयाः स्युः, तथा धर्मास्तिकायादयोऽपि किं न स्वकार्यानुमेया भवेयुः ?। धर्मास्तिकायादीनां कार्याणि चामूनि । तत्र धर्मो गत्युपग्रहकार्यानुमेयः, अधर्मः स्थित्युपग्रहकार्यानुमेयः, अवगाहोपकारानुमेयमाकाशं, वर्तनाद्युपकारानुमेयः कालः, प्रत्यक्षानुमानावसेयाश्च पुद्गलाः । नन्वाकाशादयः स्वकार्यानुमेया भवन्तु, धर्माधर्मौ तु कथम् ?** अत्रोच्यते **युक्तिः, धर्माधर्मौ हि स्वत एव गतिस्थितिपरिणतानां द्रव्याणामुपगृह्णीतोऽपेक्षाकारणतया आकाशकालादिवत्, न पुनर्निर्वर्तककारणतया, निर्वर्तकं हि कारणं तदेव जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यं वा गतिस्थितिक्रियाविशिष्टं, धर्माधर्मौ पुनर्गतिस्थितिक्रियाविशिष्टानां द्रव्याणामुपकारकावेव न पुनर्बलाद्गतिस्थितिनिर्वर्तकौ । यथा**

---

१. 'नृन्' मनुष्यान्.

अ. "छव्विहे दव्वे पण्णत्ते, तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धसमये अ, सेतं दव्वणामे ।" - अनुयोग० द्रव्यगुण० सू० १२४ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

च सरित्तटाकह्रदसमुद्रेषु वेगवाहित्वे सति मत्स्यस्य स्वयमेव संजातजिगमिषस्योपग्राहकं जलं निमित्ततयोपकरोति, दण्डादिवत्कुम्भकारे कर्तरि मृदः परिणामिन्याः, नभोवद्वा नभश्चरतां नभश्चराणामपेक्षाकारणं, न पुनस्तज्जलं गतेः कारणभावं बिभ्राणमगच्छन्तमपि मत्स्यं बलात्प्रेर्य गमयति, क्षितिर्वा स्वयमेव तिष्ठतो द्रव्यस्य स्थानभूयमापनीपद्यते, न पुनरतिष्ठद्द्रव्यं बलादवनिरवस्थापयति । व्योम वावगाहमानस्य स्वत एव द्रव्यस्य हेतुतामुपैत्यवगाहं प्रति, न पुनरनवगाहमानमवगाहयति स्वावष्टम्भात् । स्वयमेव कृषीवलानां कृष्यारम्भमनुतिष्ठतां वर्षमपेक्षाकारणं दृष्टं, न च [1]नूनऽकृर्वतस्तांस्तदर्थमारम्भयद्वर्षवारि प्रतीतम्, प्रावृषि वा नवाम्भोधरध्वनिश्रवणनिमित्तोपाधीयमानगर्भा स्वत एव प्रसूते बलाका, नचाप्रसूयमानां तामभिनवजलधरनिनादः प्रसभं प्रसावयति । प्रतिबुध्य वा पुरुषः प्रतिबोधनिमित्तामवद्याद्विरतिमातिष्ठमानो दृष्टो, न च पुमांसमविरतं विरमयति बलात्प्रतिबोधः । न च गत्युपकारोऽवगाहलक्षणाकाशस्योपपद्यते, किं तर्हि ? धर्मस्यैवोपकारः स दृष्टः । स्थित्युपकारश्चाधर्मस्य नावगाहलक्षणस्य व्योम्नः । अवश्यमेव हि द्रव्यस्य द्रव्यान्तरादसाधारणः कश्चिद्गुणोऽभ्युपेयः । द्रव्यान्तरत्वं च युक्तेरागमाद्वा निश्चेयम् । युक्तिरनन्तरमेवाग्रतो वक्ष्यते । [2]आगमस्त्वयम्- "कइणं भंते ! दव्वा पण्णत्ता ? गोयमा ! छ दव्वा पण्णत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमए ।" ननु धर्मद्रव्योपकारनिरपेक्षमेव शकुनेरुत्पतनम्, अग्नेरूर्ध्वज्वलनं, मरुतश्च तिर्यक्पवनं स्वभावादेवानादिकालीनादिति ? उच्यते । प्रतिज्ञामात्रमिदं नार्हन्तं प्रति हेतुदृष्टान्तावनवद्यौ स्तः, स्वाभाविक्या गतेर्धर्मद्रव्योपकारनिरपेक्षायास्तं प्रत्यसिद्धत्वात्, यतः सर्वेषामेव जीवपुद्गलानामासादितगतिपरिणतीनामुपग्राहकं धर्ममनुरुध्यन्तेऽनेकान्तवादिनः, स्थितिपरिणामभाजां चाधर्मः, आभ्यां च न गतिस्थिती क्रियेते, केवलं साचिव्यमात्रेणोपकारकत्वं, यथा भिक्षा वासयति, कारीषोऽग्निरध्यापयतीति । ननु तवापि लोकालोकव्यापि(तवापि लोकव्यापि)धर्माधर्म-द्रव्यास्तित्ववादिनः संज्ञामात्रमेव "तदुपकारौ गति स्थित्युपग्राहौ" इति [तत्त्वार्थाधिगम० ५, १०] अत्र जागद्यते युक्तिः, अवधत्तां भवान् । गतिस्थिती ये जीवानां पुद्गलानां च ते स्वतःपरिणामाविर्भावात् परिणामिकर्तृनिमित्तकारणत्रयव्यतिरिक्तोदासीनकारणान्तरसापेक्षात्मलाभे, अस्वाभाविकपर्यायत्वे सति कदाचिद्भावात्, उदासीनकारणपानीयापेक्षात्मलाभझषगतिवत् । इति धर्माधर्मयोः सिद्धिः २ ।

व्याख्या का भावानुवाद :

शंका : देशांतर गये हुए देवदत्तादि उदाहरण जो आपने बताये, वे देवदत्तादि यहाँ रहे हुए हमको

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अप्रत्यक्ष है। परन्तु देशांतर में रहे हुए कुछ लोगो को तो प्रत्यक्ष ही है। इसलिए उनकी विद्यमानता प्रतीत है। परंतु धर्मास्तिकायादिद्रव्य किसी भी व्यक्तियों के द्वारा कभी भी उपलब्ध हुए नहीं है। इसलिए उनकी सत्ता का निश्चय किस तरह से किया जा सकता है ?

समाधान : जैसे देशांतर में गये हुए देवदत्तादि कुछ लोगो को प्रत्यक्ष होने से, उनकी सत्ता का निश्चय किया जाता है। वैसे धर्मास्तिकायादि द्रव्य भी केवलज्ञानियों को प्रत्यक्ष होने से क्या उसकी सत्ता का निश्चय नहीं किया जा सकता ? किया ही जा सकता है। अथवा परमाणु नित्य अप्रत्यक्ष होने पर भी (परमाणु से उत्पन्न हुए) अपने कार्यो स्कन्धों से अनुमेय है, वैसे धर्मास्तिकायादि भी क्या अपने कार्यो से अनुमेय नहीं है ? है ही । धर्मास्तिकाय के कार्य है। धर्मास्तिकाय गति में उपकारक होनेरुप कार्य से अनुमेय है। अधर्मास्तिकाय स्थिति में उपकारक होनेरुप कार्य से अनुमेय है। आकाश अवकाश देनेरुप कार्य से अनुमेय है। वर्तनादि उपकार से अनुमेय काल है और पुद्गल तो प्रत्यक्ष और अनुमान उभय से मालूम होते ही है।

शंका : आकाशादि स्वकार्यो से अनुमेय चाहे हो, परंतु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय स्वकार्यो से किस तरह से अनुमेय होता है ?

समाधान : धर्माधर्म स्वकार्यो से कैसे अनुमेय है, वह युक्ति यहाँ कही जाती है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय स्वतः गति और स्थिति में परिणत द्रव्यो को गति-स्थिति में उपकार करते होने से अपेक्षाकारण है। जैसे कि, वस्तुओ को अवकाश देने का और वर्तनादि पर्यायो में उपकार करनेवाला आकाश और काल अपेक्षाकारण है। वैसे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्यो की गति-स्थिति में अपेक्षाकारण है। परंतु निर्वर्तककारण नहीं है। क्योंकि निर्वर्तककारण तो गति-स्थिति क्रिया से विशिष्ट जीव या पुद्गलद्रव्य स्वयं ही है, जबकि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय तो गति-स्थिति की क्रिया में परिणतद्रव्यो को उपकारक ही है। परंतु जबरदस्ती से गति-स्थिति के निर्वर्तक नहीं है।

तथा जैसे सरोवर, तालाब, समुद्र इत्यादि में अतिवेग से बहने पर भी स्वयं तैरने की इच्छावाली मछली को (तैरने में उपकारक) पानी निमित्ततया ही उपकार करता है। अर्थात् मछली का तैरने का स्वभाव अपना ही है। परंतु पानीरुप निमित्त की आवश्यकता होती है। इसलिए मछली को तैरने में पानी निमित्तकारणतया उपकारक बनता है। परंतु पानी जबरदस्ती से मछली को तैराता नहीं है। तथा जैसे परिणामिकारण मिट्टी से घट के कर्ता कुम्भकार को घट बनाने में दंडादि निमित्त बनते है तथा जिस तरह से आकाश में फिरते पक्षीओ को आकाश अपेक्षाकारण है। परंतु समुद्र इत्यादि का पानी गति का कारण नहीं है। गति करने की इच्छा से रहित मछली को भी समुद्र का पानी जबरदस्ती से तैरने की प्रेरणा करके गति कराता नहीं है। अथवा पृथ्वी स्वयं खडे रहे हुए द्रव्य को खडे रहने का स्थान देती है। परन्तु नहि खडे रहते द्रव्य को जबरदस्ती से खडा रखती नहीं है। **अथवा** आकाश भी स्वयं ही अवगाहना करते द्रव्य को निमित्तकारण बनकर अवगाह (अवकाश) देता है। परंतु अवगाहना को नहि चाहनेवाले को भी अवकाश देता नहीं है। क्योंकि वह खुद केवल सहायक ही है। स्वयं ही खेती के आरंभ में प्रवर्तित हुए किसानो को बरसात अपेक्षाकारण के रुप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में देखी जाती है। परंतु बरसात का पानी खेती के आरंभ में प्रवर्तित नहीं हुए मनुष्यो को खेती के आरंभ में प्रवर्तित करता प्रतीत होता नहीं है। कहने का मतलब वह है कि बरसात किसानो के हाथ में हल पकडाता नहीं है। परंतु बरसात पडने से किसान स्वयं हल चलाने का कार्य करते है। उसमें निमित्त बरसात बनी है।

अथवा वर्षाऋतु में नये बादलो के ध्वनि के श्रवण के निमित्त से गर्भ को धारण की हुई बगलीयां स्वयं ही प्रसव करती है। परंतु गर्भ को नहि धारण की हुई बगलीयों को वे नये बादलो की आवाजमात्र से एकाएक प्रसव होता नहीं है। अर्थात् बगलीयों के गर्भप्रसव में मेघ की आवाज निमित्त बनती है।

पापो से और संसार से स्वयं विरक्तपुरुष को पाप और संसार की असारता का प्रतिबोध कराके प्रतिबोध पापो का या संसार का त्याग करने में निमित्त बनता है। परंतु अविरक्त आत्मा को प्रतिबोध जबरदस्ती से संसार से विराम प्राप्त कराता नहीं है।

उपरांत गति में स्वयं परिणत द्रव्यो को गति में उपकारक के रुप में अवगाह लक्षणवाला आकाश द्रव्य संगत होता नहीं है। क्योंकि धर्मास्तिकाय का ही वह उपकार देखा गया है। उसी ही तरह से स्थिति में उपकारकद्रव्य अधर्मास्तिकाय ही है। अवकाश नहीं है।

तथा एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से कोई असाधारण गुण मानना ही चाहिए। (तो ही उन दोनो में भिन्नता सिद्ध होगी।) धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय आकाश से भिन्न द्रव्य है। उसका निश्चय युक्ति से या आगम से करना चाहिए। अर्थात् कोई भी स्वतंत्र द्रव्य का निश्चय आगम से या युक्ति से करना चाहिए। उन तीनों को स्वतंत्र द्रव्य के रुप में सिद्धि करती युक्तियां आगे दी जायेगी। **आगम इस अनुसार से है** - 'हे भगवान्! द्रव्यो के कितने प्रकार कहे है? हे गौतम! द्रव्य छः प्रकार के कहे है। (१)धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) पुद्गलास्तिकाय, (५) जीवास्तिकाय, (६) काल।'

इस प्रकार आगम से छः द्रव्य स्वतंत्र है, ऐसा सिद्ध होता है।

शंका : धर्मास्तिकायद्रव्य के निरपेक्ष रुप से ही पक्षी आकाश में उडता है। अग्नि उंचे जाता है। पवन तिर्च्छिदिशा में गति करता है। यह अनादिकाल से स्वभाव से ही होता दिखाई देता है और जो स्वभाव से कार्य होता है, उसमें कोई निमित्त बनता नहीं है। इसलिए धर्मास्तिकाय जैसे स्वतंत्रद्रव्य को मानने की आवश्यकता नहीं है।

समाधान : यह आपकी प्रतिज्ञामात्र ही है। परंतु वह प्रतिज्ञा अनवद्य (निर्दोष) हेतु - दृष्टांत के योग्य नहीं है। अर्थात् आपके विधान में = प्रतिज्ञा में हेतु और दृष्टांत निर्दोष नहीं है। क्योंकि धर्मास्तिकाय द्रव्य के उपकार से निरपेक्ष द्रव्यो की गति असिद्ध है। क्योंकि गति में परिणाम प्राप्त हुए सभी जीव और पुद्गलो को उपकार करनेवाले के रुप में अनेकांतवादियों ने धर्मास्तिकाय द्रव्य का स्वीकार किया है और स्थिति में परिणाम प्राप्त हुए जीव और पुद्गलो को उपकार करनेवाले के रुप में अधर्मास्तिकाय द्रव्य का स्वीकार किया है। उन दोनो के द्वारा गति या स्थिति करवाई नहीं जाती। मात्र वे दोनो सहकारमात्र से उपकारक बनते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। अर्थात् सहकार देकर गति-स्थिति में उपकारक बनते है। जैसे कि, सदाव्रत में रहने से भिक्षा सुलभ बनने से वहा बसता हुआ भिखारी। "भिक्षा हमको बसाती है।" ऐसा कहता है। उसमें सदाव्रत रखने का काम करता है। फिर भी भिक्षा के निमित्त से वहाँ बसना होता होने से वह भिक्षा रखने का काम करता है ऐसा कहा जाता है।

उसी ही तरह से "कंडील की (दियेकी) अग्नि पढाती है" ऐसे प्रयोग में अग्नि पढाता नहीं है। परंतु अग्नि का प्रकाश पढने में सहायक होता है। उसी तरह से उपर भी सोच लेना।

शंका : आप लोगोने धर्म और अधर्म द्रव्य को लोकव्यापी मानने में कोई युक्ति दी नहीं है। जो तत्त्वार्थसूत्र ५।१० में उसकी गति और स्थिति में सहायकता स्वरुप उपकार बताया है, वह भी संज्ञामात्र = कथनमात्र ही है। युक्ति से सर्वथा शून्य है।

समाधान : हम युक्तियां बताते है, आप सावधान होकर सुनिये।

स्वतः गति और स्थिति में परिणाम प्राप्त हुए जीवो और पुद्गलो की गति और स्थिति अपनी उत्पत्ति में परिणामी, कर्ता = निर्वर्तक और निमित्तरुप तीन कारणो से अतिरिक्त चौथे उदासीन कारण की अपेक्षा रखती है। क्योंकि वह गति और स्थिति स्वाभाविक पर्याय नहीं है। तथा कोई कोई बार होता है। जैसे कि, उदासीनकारण ऐसे पानीकी गति में अपेक्षा रखती मछली। अर्थात् मछली पानी बिना गति कर सकती नहीं है, उदासीन ऐसे पानी की अपेक्षा रखती है। उपरोक्त अनुमान से गति और स्थिति में उदासीन कारण के रुप में धर्म और अधर्म द्रव्य की सिद्धि होती है।

अवगाहिनां धर्मादिनामवकाशदायित्वेनोपकारेणाकाशमनुमीयते । अवकाशदायित्वं चोपकारोऽवगाहः, स चात्मभूतोऽस्य लक्षणमुच्यते । मकरादिगत्युपकारकारिजलादि-दृष्टान्ता अत्राप्यनुवर्तनीयाः । नन्वयमवगाहः पुद्गलादिसम्बन्धी व्योमसंबन्धी च ततः स उभयोर्धर्मः कथमाकाशस्यैव लक्षणं ? उभयजन्यत्वात्, द्व्यङ्गुलसंयोगवत् । न खलु द्रव्यद्व-यजनितः संयोगो द्रव्येणैकेन व्यपदेष्टुं पार्यते लक्षणं चैकस्य भवितुमर्हतीति, सत्यमेतत्, सत्यपि संयोगजन्यत्वे लक्ष्यमाकाशं प्रधानम् ततोऽवगाहनमनुप्रवेशो यत्र तदाकाशम-वगाह्यमवगाहलक्षणं विवक्षितं, इतरत्तु पुद्गलादिकमवगाहकम्, यस्मा-द्व्योमैवासाधार-णकारणतयावगाह्यत्वेनोपकरोति, अतो द्रव्यान्तरासंभविना स्वेनोपकारेणाती-न्द्रियमपि व्योमानुमेयं, आत्मवत्, धर्मादिवद्वा । यथा पुरुषहस्तदण्डसंयोगभेर्यादिकारणः शब्दो भेरी-शब्दो व्यपदिश्यते, भूजलानिलयवादिकारणश्चाङ्कुरो यवाङ्कुरोऽभिधीयते, असाधारण-कारणत्वात्, एवमवगाहोऽप्यम्बरस्य प्रतिपत्तव्यः । [अ]वैशेषिकास्तु शब्दलिङ्गमाकाशं

(अ). "प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना ।" त० वा० ५/२२ ।

(ब). शब्दोऽम्बरगुणः श्रोत्रग्राह्यः ।" प्रश० भा० व्यो० पृ-६४५ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सङ्गिरन्ते, गुणगुणिभावेन व्यवस्थानादिति । तदयुक्तं, रूपादिमत्त्वाच्छब्दस्य, रूपादिमत्ता च प्रतिघाताभिभवाभ्यां विनिश्चेया ३ । कालस्तु वर्तनादिभिर्लिङ्गैरनुमीयते । यतो "वर्तना प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्णीतैकसमयस्वसत्तानुभूतिलक्षणा, सा च सकलवस्त्वाश्रया काल-मन्तरेण प्रतिसमयमनुपपन्ना, अतोऽस्ति कार्यानुमेयः कालः पदार्थपरिणतिहेतुः । लोकप्रसिद्धाश्च कालद्रव्याभिधायिनः शब्दाः सन्ति, न तु सूर्यक्रियामात्राभिधायिनः । यथाह-"युगपदयुगपत्क्षिप्रं चिरं चिरेण परमपरमिदमिति च । वर्त्स्यति नैतद्वर्त्स्यति वृत्तं तत्र वृत्तमपि ।।१।। वर्तत इदं न वर्तत इति कालापेक्षमेवाप्ता यत् । सर्वे ब्रुवन्ति तस्मान्नानु सर्वेषां मतः कालः ।।२।। ह्यः श्वोऽद्य संप्रति परुत्परारि नक्तं दिवैषमः प्रातः । सायमिति कालवचनानि कथं युक्तान्यसति काले।।३।।" परिणामोऽपि सजातीयानां वृक्षादिवस्तूनामेकस्मिन्काले ऋतुविभागकृतो वेलानियमकृतश्च विचित्रः कारणं नियामकमन्तरेणानुपपन्नः ततः समस्ति तत्कारणं काल इत्यवसीयते । तथा विनष्टो विनश्यति विनङ्क्ष्यति च घट इत्यादिक्रियाव्यपदेशा अतीतवर्तमानानागतकालत्रयविभागनिमित्ता; परस्परासङ्कीर्णाः संव्यवहारानुगुणाः कालमन्तरेण न भवेयुः, ततोऽस्ति कालः । तथेदं परमिदमपरमिति यन्निमित्ते प्रत्ययाभिधाने, स समस्ति काल इति ४ ।

व्याख्या का भावानुवाद :

अवकाश की आवश्यकतावाले धर्मास्तिकाय इत्यादि द्रव्यो को अवकाश देनेरुप कार्य से आकाश का अनुमान किया जाता है। अवकाश देना वही आकाश का अवगाहस्वरुप उपकार है। वह अवकाश का स्वाभाविक असाधारण लक्षण है। मगरमच्छ इत्यादि की गति इत्यादि में जिस प्रकार से पानी इत्यादि अपेक्षाकारण है। उसी तरह से आकाश समस्तवस्तुओ को अवकाश देने में उदासीन कारण है। इस तरह से पहले जो पानी इत्यादि के दृष्टांत दिये थे वे सभी आकाश की सिद्धि में भी लगाना।

शंका : अवगाह (अवकाश) देने की दृष्टि से आकाश का धर्म है और प्राप्त करने की दृष्टि से पुद्गल का धर्म है। "आकाश में पुद्गल रहता है।" यहां "**रहना**" आकाश और पुद्गल दोनों का धर्म है। क्योंकि उभय से उत्पन्न हुआ धर्म है। अर्थात् दोनो का समानरुप से कारण बनता है। जैसे दो अंगलीयों के संयोग में "**संयोग**" धर्म दोनो अंगलीयो का होता है, एक अंगुली का नहि, क्योंकि दो द्रव्यो से उत्पन्न हुआ संयोग कोई एक द्रव्य में ही होता नहीं है। परंतु उन दोनो द्रव्यो को ही संयोग कहा जाता है। उसी तरह से "**अवगाह**" भी आकाश और पुद्गलादि दोनो का ही धर्म है, तो उसको मात्र आकाश का ही धर्म किस तरह से कहा जा सकता है ? अर्थात् उसको मात्र आकाश का ही लक्षण कैसे कहा जा सकेगा ?

समाधान : आपकी बात सत्य है। संयोग से उत्पन्न होने पर भी अवगाह में आकाश की तरह पुद्गल भी निमित्त होता है। फिर भी आकाश अवकाश देनेवाला है। इसलिए दाता आकाश (लक्ष्य) प्रधान है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए आकाश में अवगाह मिलता है। उसमें प्रवेश करके पुद्गलादि आकाश में रहते है। इसलिए आकाश अवगाह्य = अवकाश देने योग्य है। इसलिए उसको "अवगाह" विवक्षित लक्षण किया है। जब कि, पुद्गलादि आकाश में रहनेवाले है। अर्थात् अवगाहक = अवकाश प्राप्त करनेवाले है। इसलिए वह गौण है। इसलिए अवगाह देने में आकाश ही असाधारण कारण के रुप में ग्रहण किया हुआ है। इसलिए पुद्गलादि को अवगाहरुप उपकार करनेवाला आकाश द्रव्य है।

इसलिए दूसरे द्रव्य में असंभवित ऐसे अपने उपकार से अतीन्द्रिय भी आकाशद्रव्य का अनुमान किया जाता है। जैसे कि, आत्मा या धर्मादि अतीन्द्रियपदार्थो की सिद्धि भी इस तरह से असाधारण धर्मो या कार्यो से की जाती है।

उपरांत पुरुष के हाथ के दण्ड के साथके संयोग से तथा भेरी इत्यादि के संयोग से उत्पन्न होने वाला शब्द में पुरुष का हाथ, दंड, भेरी इत्यादि बहोत कारण होने पर भी, जैसे शब्द का असाधारण कारण भेरी होने से भेरी का शब्द कहा जाता है। जैसे यव के अंकुरो में यव, पृथ्वी, पानी, पवन इत्यादि कारण होने पर भी अंकुरो का असाधारणकारण यव होने से यव के अंकुरा ऐसा व्यपदेश किया जाता है। इस तरह से अवगाह भी आकाश का असाधारणधर्म है।

वैशेषिको ने शब्द को आकाश का गुण माना है और शब्दरुप लिंग से आकाश का अनुमान करते है। शब्द को गुण तथा आकाश को गुणी मानकर गुण से गुणी का अनुमान करते है।

परंतु वैशेषिको की यह बात युक्त नहीं है। क्योंकि पौद्गलिक शब्द में तो रुप, रस इत्यादि होते है, जब कि आकाश में वे गुण होते नहीं है, वह तो अमूर्त है। इसलिए दोनो में इतना विरोध हो तो उन दोनो के बीच गुण-गुणीभाव किस तरह से हो सकेगा ? शब्द मूर्त तथा पौद्गलिक है। वह प्रतिघात और अभिभव से सिद्ध है। (शब्द दिवाल से टकराता है, बीजली इत्यादि का तीव्रध्वनि कान का पर्दा फाड देता है। ढोल का तीव्र शब्द मंद शब्द को दबा देता है। यदि शब्द अमूर्त हो तो उसमें प्रतिघात-टकराना तथा अभिभव= मंद शब्दो का दब जाना इत्यादि नहीं हो सकता है।)

आकाश तथा धर्मादि अमूर्तद्रव्य प्रतिघात या अभिभव पाते नहीं है। इसलिए प्रतिघात और अभिभव से शब्द मूर्त तथा पौद्गलिक सिद्ध होता है।

वर्तनादि लिंगो के द्वारा काल का अनुमान किया जाता है। प्रत्येक द्रव्य और पर्याय प्रतिक्षण जो अपनी एक समयवाली सत्ता का अनुभव करता है, वे सभी वस्तुओ की एक समयवाली सत्ता ही वर्तना कही जाती है। काल के बिना समस्तवस्तुओ में रही हुई एक समयवाली सत्ता का प्रतिसमय होता महसूस संगत नहीं होता है। इसलिए एक समयवाली पदार्थो की सत्तारुप वर्तना से पदार्थो के परिणमन में निमित्त होनेवाले काल का अनुमान किया जाता है।

सूर्य की क्रिया को ही काल नहीं कह सकते है। क्योंकि जगत में कालद्रव्य के वाचक शब्द व्यवहार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में देखने को मिलते है। सूर्य की गति का वाचक शब्द तो काल के अर्थ में कहीं प्रयोजित हुआ दिखाई देता नहीं है। इसलिए लोकप्रसिद्ध काल को स्वतंत्रद्रव्य मानना चाहिए। **इसलिए कहा है कि** "सभी आप्त = प्रामाणिक पुरुष युगपत्, अयुगपत्, क्षिप्र, शीघ्र, चिर - अचिर, यह पर यह अपर, यह होगा, यह नहि होगा, यह था, यह नहीं है, यह है" इस तरह से काल की अपेक्षा करके व्यवहार करते है, बोलते है। इसलिए निश्चित मानना चाहिए कि सभी लोगो को काल मान्य है। अर्थात् सभी लोग काल के अस्तित्व का स्वीकार करते है। यदि कालद्रव्य न हो तो बीता हुआ दिन (कल), आज, परसों, यह वर्तमानसमय, पिछे का समय, बहोत, जल्दी, रात, दिन, अभी, सुबह, शाम इत्यादि काल संबंधित व्यवहार किस तरह से होंगे ? यह व्यवहार कालद्रव्य बिना सिद्ध नहीं हो सकता है। ॥१-३॥"

सजातीय ऐसे वृक्षादि वस्तुओ का एक ही काल में ऋतु से किये गये विभागरुप और समय के नियमन से किये गये विभागरुप विचित्र परिणाम नियामक कारण के बिना होता नहीं है। इसलिए कोई नियामककारण है और वही काल है, ऐसा जानना। तथा "घट नाश हुआ" "घट नाश होगा" और "घट नाश हो रहा है" इत्यादि अतीत-वर्तमान-अनागत स्वरुप तीन काल के विभाग में निमित्तभूत तथा परस्पर असंकीर्ण और व्यवहार को अनुसरित होता क्रिया का व्यपदेश काल के बिना होता नहीं है।

तथा 'ज्येष्ठ में परत्व स्वरुप और कनिष्ठ में अपरत्वरुप' ज्ञान में निमित्तभूत कोई कारण होना चाहिए, वही काल है।

पुद्गलाः प्रत्यक्षानुमानागमावसेयाः, तत्र कटघटपटलकुटशकटादयोऽध्यक्षसिद्धाः, अनुमानगम्या इत्थम्-स्थूलवस्त्वन्यथानुपपत्त्या सूक्ष्मपरमाणुद्व्यणुकादीनां सत्तावसीयते, आगमगम्यता चैवं "पुग्गलत्थिकाए" इत्यादि[अ] । तथा परमाणवः सर्वेऽप्येकरूपा एव विद्यन्ते, न पुनर्वैशेषिकाभिमतचतुस्त्रि-[E-98]द्व्यणुकस्पर्शादिगुणवतां पार्थिवाप्यतैजसवायवीयपरमाणूनां जातिभेदाच्चतूरूपाः । यथा लवणहिंगुनी स्पर्शनचक्षुरसनघ्राणयोग्येऽपि जले विलीने सती लोचनस्पर्शनाभ्यां ग्रहीतुं न शक्ये परिणामविशेषवत्त्वात्, एवं पार्थिवादिपरमाणवोऽप्येकजातीया एव परिणतिविशेषवत्त्वात् न सर्वेन्द्रियग्राह्या भवन्ति, न पुनस्तज्जातिभेदादिति[E-99] । शब्दादीनां तु पौद्गलिकतैवं ज्ञेया-शब्दः पुद्गलद्रव्यपरिणामः, तत्परिणामता चास्य मूर्तत्वात्, मूर्तता चोरःकण्ठशिरोजिह्वामूलदन्तादिद्रव्यान्तरविक्रियापादनसामर्थ्यात्, पिप्पल्यादिवत् । तथा ताड्यमानपटहभेरीजलरितलस्थकिलिञ्जादिप्रकम्पनात् । तथा शङ्खादिशब्दानामतिमात्रप्रवृद्धानां श्रवणबधिरीकरणसामर्थ्यम्[E-100]

अ. चत्तारि अत्थिकाया अजीवकाया पण्णत्ता, तं जहा - धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थकाए, आगासत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए ।" स्थानांग स्थान ४ उद्दः १. सू. २५१ ।

(E-98-99-100) - तु० पा० प्र० प० । (F-1-2) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तच्चाकाशादावमूर्ते नास्ति । अतो न तद्गुणः शब्दः । तथा प्रतीपयायित्वात्[F-1], पर्वतप्रतिहतप्रस्तरवत् । तथा शब्दो नाम्बरगुणः[F-2], द्वारानुविधायित्वात्, आतपवत्। तस्मिन्नेव पक्षे सति दर्शनसाधनपञ्चकं प्रपञ्च्यते । यथा शब्दोऽम्बरगुणो न भवति संहारसामर्थ्यात् अगरुधूपवत्, तथा वायुना प्रेर्यमाणत्वात् तृणपर्णादिवत्, सर्वदिग्गाह्यत्वात् प्रदीपवत्, अभिभवनीयत्वात्, तारासमूहादिवत्, अभिभावकत्वात् सवितृमण्डलप्रकाशवत् । महता हि शब्देनाल्पीयानभिभूयते शब्द इति प्रतीतमेव, तस्मात्पुद्गलपरिणामः शब्दः । अथ शङ्खे तद्विनाशे तदीयखण्डेषु च यथा पौद्गलिकत्वाद्रूपमुपलभ्यते, तथा शब्देऽपि कुतो नेति चेत् ?, उच्यते, सूक्ष्मत्वात्, विध्यातप्रदीपशिखारूपादिवत् गन्धपरमाणुव्यवस्थितरूपादिवद्वेति । गन्धादीनां तु पुद्गलपरिणामता प्रसिद्धैव ।

व्याख्या का भावानुवाद :

पुद्गलो की प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से सिद्धि जानना। उसमें घट, पट, चटाई, बैलगाडी इत्यादि पौद्गलिक पदार्थ प्रत्यक्षसिद्ध है। पुद्गल अनुमान से इस तरह से मालूम होता है -

घटपटादि स्थूलवस्तुओ को देखकर, अन्यथा अनुपपत्ति से सूक्ष्म परमाणु और द्वयणुकादि की सत्ता अनुमान से सिद्ध होती है। अर्थात् जगत में स्पष्टतया दिखाई देता स्थूलपदार्थ सूक्ष्मपरमाणु और द्वयणुकादि की सत्ता के बिना संगत होते नहीं है। इसलिए स्थूल पदार्थो के दर्शन से परमाणु इत्यादि की सत्ता अनुमान से सिद्ध होती है।

पुद्गल आगम से भी सिद्ध है। पहले बताये "**पुग्गलत्थिकाए**" इत्यादि आगम वचन से पुद्गलास्तिकाय की सत्ता सिद्ध होती है।

सभी परमाणु भी एक स्वरुपवाले ही है। परंतु वैशेषिको के अभिमत चार स्वरुपवाले नहीं है। वैशेषिको ने परमाणुओ की चार जातियां मानी है। पार्थिवजाति के परमाणुओ में रुपादि चारो भी गुण होते है। जलीय जातिवाले परमाणुओ में गंध के सिवा रुपादि तीन गुण होते है। अग्नि जाति के परमाणुओ में रुप और स्पर्श गुण ही होता है। वायु जातिवाले परमाणुओ में मात्र स्पर्श गुण ही होता है। वैशेषिको ने ये चार जातिवाले परमाणुओ को माना है। (यही बात को न्यायसूत्र में बताई है। "**कथं तर्हि इमे गुणा विनियोक्तव्या इति । एकैकश्येनोत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तराणां तदनुपलब्धिः**" **न्यायसू. ३।१।६७**) उनकी यह मान्यता असंगत और प्रमाणशून्य है।

जैसे नमक और हींग श्रोत्र के सिवा चारो इन्द्रियो से ग्राह्य होने पर भी जब यह पानी में विलीन होता है। तब परिणाम विशेष के कारण (अर्थात् विशेष प्रकार का परिणाम उत्पन्न होने से) चक्षु और स्पर्शन इन्द्रियो के द्वारा ग्राह्य नहीं बन सकता है। इस अनुसार से एकजातीय भी पार्थिव इत्यादि के परमाणु परिणाम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेष को पाने से सभी इन्द्रियो से ग्राह्य बनते नहीं है। वे एकजातीय परमाणुओ में सभी इन्द्रियो से अग्राह्यता आई, उसमें परिणाम विशेष की उत्पत्ति कारण है,नहि कि जातिभेद, क्योंकि जाति तो समान ही है। (इस बात को सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में जरा अलग रुप से बताई गई है। **"पृथिव्यप्तेजोवायुमनांसि पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भवन्ति, रुपरसगन्धस्पर्शवत्त्वात् ।..... न च केचित्पार्थिवादिजाति विशेषयुक्ताः परमाणवः सन्ति, जातिसंकरेणारम्भदर्शनात् । सर्वार्थसि० ४१३ ॥**

उपरांत शब्दादि की पौद्गलिकता इस अनुसार जानना। शब्द इत्यादि पुद्गल द्रव्य के परिणाम है। अर्थात् पौद्गलिक है। शब्द मूर्त होने के कारण पौद्गलिक है। शब्द को उत्पन्न करते वक्त हृदय, गला, कंठ, मस्तक, जीभ का अंतिम मूल भाग, दांत आदि में प्रयत्नविशेष की आवश्यकता है। जैसे पीपल खाने से गला विकृत हो जाता है, वैसे शब्द की उत्पत्ति के वक्त भी कंठादि में विकृति पेदा होती है। इस प्रकार मूर्त द्रव्यो में = द्रव्यान्तर में विक्रिया पेदा करने का सामर्थ्य होने के कारण पीपल की तरह शब्द भी मूर्त है।

तथा भेरी, नगारा, झालर, तबला इत्यादि को बजाने से उसमें कंपन पैदा होता है। यदि शब्द अमूर्त हो तो मूर्त भेरी आदि में कभी भी कंपन पैदा नहि कर सकेंगे। इस प्रकार भेरी इत्यादि के कंपनो से शब्द में मूर्तता की सिद्धि होती है। **तथा** शंखादि की तीव्रमात्रा में वृद्धि पाये हुए शब्दो में मानवी के कान के पर्दे को तोड डालनेका और मानवी को बहरा कर देने का सामर्थ्य है। अमूर्त आकाश में ऐसा कोई लक्षण देखने को नहि मिलता है। इसलिए शब्द आकाश का गुण नहीं है। उपरांत, जैसे पर्वत के साथ टकराके पत्थर वापस जाता है। वैसे शब्द दिवाल के साथ टकराके वापस फिरता है। इसलिए वह पत्थर की तरह मूर्त है। (इस बात की साक्षी अष्टसहस्री तथा प्रमेयकमलमार्तंडग्रंथ देता है। **"कर्णशष्कुल्यां कटकटायमानस्य प्रायशः प्रतिघातहेतोर्भवताद्युपघातिनः शब्दस्य प्रसिद्धिः । अस्पर्शत्वकल्पना-मस्तंगमयति...।" (अष्टसह०) । द्रव्यं शब्दः स्पर्शाल्पत्वमहत्त्वपरिणाम संख्यासंयोगगुणाश्रयत्वात्, यद्यदेवविधं तत्तद्द्रव्यम् यथा बदरामलकबिल्वादि, तथा चायं शब्दः तस्माद् द्रव्यम् (प्रमेयक०)**

तथा शब्द आकाश का गुण नहीं है, क्योंकि द्वार का अनुसरण करता है। अर्थात् जहाँ रास्ता मिले उसमें से गुजर जाता है। जैसे कि सूर्य की धूप। (यही बात को न्यायकुमुदचंद्र ग्रंथ में बताई है.... **"गुणवान् शब्दः स्पर्श-अल्पत्व-महत्त्व-परिमाण-संख्या-संयोगाश्रयत्वात्, यद् एवंविधं तद् गुणवत् यथा-बदर-आमलकादि तथा च शब्दः, तस्मात्तथा इति ।" न्यायकुमु०॥)**

शब्द पौद्गलिक है, परन्तु आकाश का गुण नहीं है। ऐसा सिद्ध करने के लिए उपरोक्त अनुमान को पक्ष के रुप में स्वीकार करके नये पांच हेतु देते है -

(१) शब्द आकाश का गुण नहीं है। क्योंकि उसमें संहरण (फैलाने) का सामर्थ्य है। जैसे कि, अगरुधूप।

(२) शब्द आकाश का गुण नहीं है। क्योंकि वायु से प्रेरणा पाता है। अर्थात् वायु द्वारा चाहे वहां फेंक सकते है। जैसे कि, तृण, पत्ते इत्यादि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) शब्द आकाश का गुण नहीं है। क्योंकि सभी दिशाओं से (सभी दिशा में रहनेवाले लोग से) ग्राह्य है। जैसे कि, प्रदीप।

(४) शब्द आकाश का गुण नहीं है। क्योंकि शब्दो का अभिभव होता है। जैसे कि, सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होते तारादि का समूह।

(५) शब्द आकाश का गुण नहीं है। क्योंकि शब्द (दूसरोका) अभिभव करता है। जैसे कि, सूर्यमंडल का प्रकाश।

बहोत जोर से बोले गये शब्द अल्प आवाज की मात्रावाले शब्द का अभिभव करते है, वह प्रसिद्ध ही है। इसलिए शब्द पुद्गलका परिणाम ही है।तथा तादृशधर्म अमूर्त द्रव्य में देखने को नहीं मिलते है। इसलिए शब्द मूर्त भी है।

शंका : शंख और शंख के टूकडे पौद्गलिक होने से उसका रुप आंख से उपलब्ध होता है, इस तरह शब्द भी जो पौद्गलिक है, तो उसका रुप भी आंख से उपलब्ध क्यों नहीं होता ?

समाधान : शब्द पौद्गलिक होने से उसमें रुप इत्यादि होने पर भी सूक्ष्म परिणमन के कारण आंख से प्रत्यक्ष होते नहीं है। तथा (गुलाब की अंदर रहे हुए आंखो से गंध के परमाणुओ में रुपादि है। परंतु वह अनुद्भत होने से दृष्टिगोचर बनते नहीं है। इस तरह से शब्द के रुपादि सूक्ष्म तथा अनुद्भूत होने के कारण दृष्टिगोचर होते नहीं है।

गंधादि की पुद्गल परिणामता प्रसिद्ध ही है। अर्थात् गंध इत्यादि पुद्गल का परिणाम विशेष है, यानी कि पौद्गलिक है। वह प्रसिद्ध ही है।

तम[अ] छायादीनां त्वेवम्-तमः पुद्गलपरिणामो दृष्टिप्रतिबन्धकारित्वात् कुड्यादिवत्, आवरकत्वात् पटादिवत् । छायापि शिशिरत्वात् आप्यायकत्वात् जलवातादिवत् । [ब]छायाकारेण परिणममानं प्रतिबिम्बमपि पौद्गलिकं, साकारत्वात् । अथ कथं कठिनमादर्शं प्रतिभिद्य मुखतो निर्गताः पुद्गलाः प्रतिबिम्बमाजिहत इति चेत् ? उच्यते, तत्प्रतिभेदः कठिनशिलातलपरिस्रुतजलेनायस्पिण्डेऽग्निपुद्गलप्रवेशेन शरीरात्प्रस्वेदवारिलेशनिर्गमनेन च व्याख्येयः । [क]आतपोऽपि द्रव्यं तापकत्वात्, स्वेदहेतुत्वात्, उष्णत्वात्, अग्निवत् । [ड]उद्योतश्च चन्द्रिकादिर्द्रव्यं आह्लादकत्वात् जलवत्, प्रकाशकत्वात्, अग्निवत् । तथा पद्मरागादीनामनुष्णाशीत उद्योतः । अतो मूर्तद्रव्यविकारस्तम छायादिः । इति सिद्धाः

अ. "तमस्तावत्पुद्गलपरिणामः दृष्टिप्रतिबन्धकारित्वात् कुड्यादिवत्, आवरकत्वात् पटादिवत् ।" - तत्वार्थ० भा. व्या० ।।

ब. "द्रव्यं छायाद्यन्धकारः घटाद्यावरकत्वात् काण्डपटादिवत् । गतिमत्त्वाच्चासौ वाणादिमद्द्रव्यम् ।।" न्यायकुमु० ।।

क. "आतपः उष्णप्रकाशलक्षणः ।" त० वा० ५/२४ ।

ड. उद्योतश्चन्द्रमणिखद्योतादिविषयः ।" त० वा० ५/२४ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गलाः । इति सुस्थितमजीवतत्त्वम् ।। अथ पुण्यतत्त्वमभिधत्ते "पुण्यं सत्कर्मपुद्गलाः" इति पुण्यं सन्तस्तीर्थकरत्वस्वर्गादिफलनिर्वर्तकत्वात्प्रशस्ताः कर्मणां पुद्गला जीवसंबद्धाः कर्मवर्गणाः ।।४८-४९।।

व्याख्या का भावानुवाद :

अंधकार और छाया की पौद्गलिकता इस अनुसार से है। (१) अंधकार पुद्गल का परिणाम है। क्योंकि दृष्टि का प्रतिबंधक है। जैसे दिवाल इत्यादि पौद्गलिक पदार्थ दृष्टिसंचार का प्रतिबंधक है, वैसे अंधकार भी दृष्टिसंचार का प्रतिबंधक होने से दिवाल की तरह पौद्गलिक है। (२) अंधकार पुद्गल का परिणाम है। क्योंकि आवरण करनेवाला है, जैसे कपडा इत्यादि आवरण करता है, वैसे अंधकार आवरण करता है। इसलिए अंधकार कपडे इत्यादि की तरह पौद्गलिक है।

छाया भी पौद्गलिक है। क्योंकि वह ठंडी और शरीर को पुष्ट करके शांति देता है। जैसे (गर्मी के दिनो में) ठंडी हवा। (दर्पण इत्यादि में) छाया रुप से पडा हुआ प्रतिबिंब भी पौद्गलिक है। क्योंकि वह आकारवाला है।

शंका : मुख से निकले हुए छाया पुद्गल अत्यंत कठोर दर्पण को भेदकर प्रतिबिंब किस तरह से बन जाते है ?

समाधान : उसका प्रतिभेद - उत्तर यह है कि.... जैसे कठिन शिला के उपर डाला हुआ पानी अंदर उतर जाता है। गोले को अग्नि से गरम करने से गोले में अग्नि प्रवेश करती है और अग्नि की तरह लाल बन जाता है तथा शरीर में से पसीना बाहर नीकलता है। वैसे मुख में से निकले हुए छाया के पुद्गल दर्पणतल में प्रवेश करके प्रतिबिंब बताता है।

आतप भी पुद्गल द्रव्य है। क्योंकि तपाता है। शरीर में पसीना करता है तथा उष्ण है। जैसे कि, अग्नि।

उद्योत तथा चांदनी इत्यादि भी पुद्गलद्रव्य ही है। क्योंकि आह्लाद कराता है। जैसे कि, पानी तथा अग्नि की तरह प्रकाशक है।

उसी ही तरह से पद्मराग इत्यादिक मणियों का प्रकाश भी अनुष्णाशीत है।

इस प्रकार अंधकार, छाया, आतप (धूप), उद्योत इत्यादि मूर्त (ऐसे पुद्गलद्रव्य) के विकार है। इस तरह से पुद्गलो की सिद्धि होती है। इस अनुसार से अजीव तत्त्व का वर्णन पूर्ण हुआ।

अब पुण्यतत्त्व को कहते है। सत् = प्रशस्तकर्म के पुद्गलो को पुण्य कहा जाता है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, स्वर्ग इत्यादि प्रशस्त पदो तक पहुंचानेवाला कर्म पुद्गल पुण्य कहा जाता है। वह कर्मपुद्गल जीव के साथ संबद्ध रहता है। ॥४८-४९॥

अथ पापास्रवतत्त्वे व्याख्याति। अब पाप और आश्रवतत्त्व की व्याख्या करते है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(मू. श्लो.) पापं तद्विपरीतं तु, मिथ्यात्वाद्यास्तु हेतवः ।
ये बन्धस्य स विज्ञेय, आस्रवो जिनशासने ।।५०।।

श्लोकार्थ : पुण्य से विपरीत अप्रशस्तकर्म पुद्गल को पाप कहा जाता है और जैनशासन में कर्मबंध के कारण मिथ्यात्वआदि को आश्रव कहा जाता है वह जानना ।

व्याख्या-तुर्भिन्नक्रमे, पापं तु तस्मात्पुण्याद्विपरीतम्-नरकादिफलनिर्वर्तकत्वादप्रशस्ता जीवसंबद्धाः कर्मपुद्गलाः पापमित्यर्थः । इह च वक्ष्यमाणबन्धतत्त्वान्तर्भूतयोरपि पुण्यपापयोः पृथग्निर्देशः पुण्यपापविषयनानाविधपरमतभेदनिरासार्थः । परमतानि चामूनिकेषांचित्तैर्थिकानामयं प्रवादः पुण्यमेवैकमस्ति, न पापम् । अन्ये त्वाहुः पापमेवैकमस्ति न पुण्यम् । अपरे तु वदन्ति उभयमप्यन्योन्यानुविद्धस्वरूपं मेचकमणिकल्पं सन्मिश्रसुखदुःखाख्यफलहेतुः साधारणं पुण्यपापाख्यमेकं वस्त्विति । अन्ये पुनराहुः । मूलतः कर्मैव नास्ति स्वभावसिद्धः सर्वोऽप्ययं जगत्प्रपञ्च इति । तदेतानि निखिलानि मतानि न सम्यगिति मन्तव्यानि यतः सुखदुःखे विविक्ते एवोभे सर्वैरनुभूयेते, ततस्तत्कारणभूते पुण्यपापे अपि स्वतन्त्रे एवोभे अङ्गीकर्तव्ये, न पुनरेकतरं तद्द्वयं वा तन्मिश्रमिति । अथ कर्माभाववादिनो नास्तिका वेदान्तिनश्च वदन्ति, ननु पुण्यपापे नभोम्भोजनिभे एव मन्तव्ये, न पुनः सद्भुते, कुतः पुनस्तयोः फलभोगस्थाने स्वर्गनरकाविति चेत् ?, उच्यते, पुण्यपापयोरभावे सुखदुःखयोर्निर्हेतुकत्वादनुत्पाद एव स्यात्, स च प्रत्यक्षविरुद्धः, तथाहि-मनुजत्वे समानेऽपि दृश्यन्ते केचन स्वामित्वमनुभवन्तो, अपरे पुनस्तत्प्रेष्यभावमाबिभ्राणाः, एके च लक्षकुक्षिंभरयः, अन्ये तु स्वोदरदरीपूरणेऽप्यनिपुणाः, एके देवा इव निरन्तरं सरसविलाससुखशालिनः, इतरे पुनर्नारका इवोन्निद्रदुःखविद्राणचित्तवृत्तय इति । अतोऽनुभूयमानसुखदुःखनिबन्धने पुण्यपापे स्वीकर्तव्ये । तदङ्गीकरणे च विशिष्टयोस्तत्फलयोर्भोगस्थाने स्वर्गनरकावपि प्रतिपत्तव्यौ, अन्यथार्धजरतीयन्यायप्रसङ्गः[अ] स्यात् । प्रयोगश्चात्र सुखदुःखे कारणपूर्वके, कार्यत्वात्, अङ्कुरवत् । ये च तयोः कारणे, ते पुण्यपापे मन्तव्ये, यथाङ्कुरस्य बीजम् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

श्लोक में "तु" भिन्नक्रम में है । वैसे ही पाप पुण्यकर्म से विपरीत है । अर्थात् नरकादि अप्रशस्तफल

अ. "तद्यथा-अर्धं जरत्याः कामयन्ते अर्धं नेति ।"-पात. महाभा० ४/१/७८ ।। "मुखं न कामयते अङ्गान्तरं तु कामयन्ते जरत्याः ।" -महाभा- प्रतीप । "अर्धं मुखमात्रं जरत्याः वृद्धायाः कामयते नाङ्गानीति सोऽयमर्धजरतीन्यायः ।।" -ब्रह्मसू० शां० भा० रत्नप्रभा १/२/८ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को देनेवाले कर्मपुद्गल को पाप कहा जाता है। उस पापकर्म के पुद्गल जीव के साथ संबद्ध रहते है।

यद्यपि यहाँ आगे कहा जायेगा उस बंधतत्त्व में पुण्य और पाप का समावेश हो जाता होने पर भी उन दोनो का पृथक् निर्देश प्रतिवादियों के द्वारा पुण्य और पाप के विषय में की गई अनेकविध कल्पनाओं के निराकरण के लिए है।

उन दोनो तत्त्व के विषय में अन्य मत इस अनुसार से है। कुछ परवादि "एक मात्र पुण्य ही है पाप नहीं है।" ऐसा कहते है। दूसरे कुछ प्रतिवादि कहते है कि... 'पाप एक ही तत्त्व है, पुण्य नहीं है।' दूसरे कुछ वादि कहते है कि, "अन्योन्य एकदूसरे में समावेश पाये हुए स्वरुपवाला है। जैसे मेचकमणि में अनेक रंगो का समावेश हुआ है, वैसे सुखमिश्रित दुःख तथा दुःखमिश्रित सुखरुप फल को देनेवाले पुण्यपाप नामकी एक ही वस्तु है। उपरांत अन्यवादि कहते है कि... 'मूल से ही कर्म जैसा कोई तत्त्व नहीं है। यह सभी जगत का प्रपंच स्वभावसिद्ध है।'

ये सभी मत सत्य नहीं है। क्योंकि सभी जीवो के द्वारा सुख और दुःख भिन्न भिन्न रुप से महसूस किये जाते है। इसलिए उसके कारणभूत पुण्य और पाप को भी स्वतंत्र रुप से स्वीकार करना चाहिए। परंतु दोनो में से एक को या मिश्ररुप से भी दोनो को मानना नहि चाहिए।

शंका : (नास्तिको तथा वेदान्तियों ने कर्म की सत्ता को माना नहीं है। उनका अभिप्राय है कि) पुण्य और पाप आकाशपुष्प की तरह असत् ही मानने चाहिए। परंतु सद्भूत नहीं मानने चाहिए। तब उसके फल भुगतने के स्थानभूत स्वर्ग और नर्क की कल्पना भी निरर्थक है।

समाधान : पुण्य और पाप के अभाव में सुख-दुःख की उत्पत्ति निर्हेतुक माननी पडेगी। किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति निर्हेतुक नहीं हो सकती। इसलिए पुण्य-पाप के अभाव में सुख और दुःख की उत्पत्ति का भी अभाव मानना पडेगा और वह प्रत्यक्षविरुद्ध है। क्योंकि मनुष्य के रुप में समान होने पर भी उसमें कुछ लोग स्वामीपन का अनुभव करते है और कुछ लोग सेवक(नौकर)पन का अनुभव करते है। एक व्यक्ति लाखो लोगो का भरणपोषण करता है तो कोई अपने उदर को भी भरने में समर्थ होते नहीं है। कोई देवो की तरह निरतंर सुंदर भोगविलास का अनुभव करते है, तो कोई नारको की तरह दुःख से उब गये हुए चित्तवृत्तिवाले होते है। ऐसी विचित्रता में नियामक कोई तत्त्व मानना ही पडेगा। इसलिए महसूस होते सुख-दुःख में कारणभूत पुण्य-पाप का स्वीकार करना चाहिए और पुण्य-पाप का स्वीकार करने से, उन दोनों का फल भुगतने के विशिष्टस्थानभूत स्वर्ग और नरक का भी स्वीकार करना चाहिए। अन्यथा अर्धजरती न्याय का प्रसंग आयेगा। अर्थात् कोई वृद्ध स्त्री के मुख इत्यादि सुंदर अंगो को चाहना तथा स्तनादि शिथिल अवयवो को न चाहना, वह अर्धजरती न्याय है, वैसे पुण्य और पाप को मानना और उसके फलभूतस्थान स्वर्ग और नर्क को नहीं माना, वह अर्धजरती न्याय है।

अनुमान प्रयोग : सुख-दुःख कारणपूर्वक होता है। क्योंकि कार्य है। जैसे कि, अंकुर। जैसे अंकुर रुप

अ. यस्तुल्यसाधनानां फले विशेषः न सो विना हेतुम् । कार्यत्वात् गौतम घट इव हेतु च तत् कर्म ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कार्य का कारण बीज है, वैसे सुख-दुःखरुप कार्य के कारण पुण्य-पाप मानने चाहिए।

अथ नीलादिकं मूर्तं वस्तु यथा स्वप्रतिभासिज्ञानस्यामूर्तस्य कारणं भवति, तथान्नस्रक्चन्दनाङ्गनादिकं मूर्तं दृश्यमानमेव सुखस्यामूर्तस्य कारणं भविष्यति, अहिविषकण्टकादिकं च दुःखस्य । ततः किमदृष्टाभ्यां पुण्यपापाभ्यां परिकल्पिताभ्यां प्रयोजनमिति चेत् ? तदयुक्तं, व्यभिचारात्, तथाहि-तुल्यान्नस्रगादिसाधनयोरपि द्वयोः पुरुषयोः सुखदुःखलक्षणे फले महान्भेदो दृश्यते । तुल्येऽपि ह्यन्नादिके भुक्ते कस्याप्याह्लादो दृश्यते, अपरस्य तु रोगाद्युत्पत्तिः, अयं च फलभेदोऽवश्यमेव सकारणः, निःकारणत्वे नित्यं सत्त्वासत्त्वप्रसङ्गात् । यच्च तत्कारणं तददृष्टं पुण्यपापरूपं कर्मेति । तदुक्तम्-"जो तुलसाहणाणं फले विसेसो न सो विणा हेउं । कज्जत्तणओ गोयम घडोव्व हेउ अ सो कम्मं" ।।१।।" इति । अथवा कारणानुमानात्कार्यानुमानाच्चैवं पुण्यपापे गम्येते । तत्र कारणानुमानमिदम्-दानादिशुभक्रियाणां हिंसाद्यशुभक्रियाणां चास्ति फलभूतं कार्यं, कारणत्वात्, कृष्यादिक्रियावत् । यच्चासां फलभूतं कार्यं तत्पुण्यं पापं चावगन्तव्यं, यथा कृष्यादिक्रियाणां शालियवगोधूमादिकम् । ननु यथा कृष्यादिक्रिया दृष्टशाल्यादिफलमात्रेणैवावसितप्रयोजना भवन्ति, तथा दानादिकाः पशुहिंसादिकाश्च सर्वा अपि क्रियाः श्लाघादिना मांसभक्षणादिना च दृष्टफलमात्रेणैवावसितप्रयोजना भवन्तु, किमदृष्टधर्माधर्मफलकल्पनेन ? । लोको हि प्रायेण सर्वोऽपि दृष्टमात्रफलास्वेव कृषिवाणिज्यहिंसादिक्रियासु प्रवर्तते, अदृष्टफलासु पुनर्दानादिक्रियास्वत्यल्प एव लोकः प्रवर्तते न बहुः । ततश्च कृषिहिंसाद्यशुभक्रियाणामदृष्टफलाभावाद्दानादिशुभक्रियाणामप्यदृष्टफलाभावो भविष्यतीति चेत् ? न, यत एव कृष्याद्यशुभक्रियासु दृष्टफलासु बहवः प्रवर्तन्ते, अदृष्टफलासु पुनर्दानादिशुभक्रियास्वत्यल्प एव लोकः प्रवर्तते, तत एव कृषिहिंसादिका दृष्टफलाः क्रिया अदृष्टपापरूपफला अपि प्रतिपत्तव्याः अनन्तसंसारिजीवसत्तान्यथानुपपत्तेः । ते हि कृषिहिंसादिक्रियानिमित्तमनभिलषितमप्यदृष्टं पापलक्षणं फलं बद्ध्वा अनन्तसंसारं परिभ्रमन्तोऽनन्ता इह तिष्ठन्ति । यदि हि कृषिहिंसाद्यशुभक्रियाणामदृष्टं पापरूपं फलं नाभ्युपगम्यते तदा तत्कर्तारोऽदृष्टफलाभावान्मरणानन्तरमेव सर्वेऽप्ययत्नेन मुक्तिं गच्छेयुः । ततः प्रायः शून्य एव संसारः स्यात् ततश्च संसारे दुःखी कोऽपि नोपलभ्येत । दानादिशुभक्रियानुष्ठातारः शुभतत्फलविपाकानुभवितार एव केवलाः सर्वत्रोपलभ्येरन् । दुःखिनश्चात्र बहवो दृश्यन्ते सुखिनस्त्वल्पाः तेन ज्ञायते कृषिवाणिज्यहिंसादिक्रियानिबन्धनोऽदृष्टपापरूपफलविपाको दुःखिनां, इतरेषां तु दानादि-क्रियाहेतुकोऽदृष्ट-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्मरूपफलविपाक इति । व्यत्ययः कस्मान्न भवतीति चेत् ?, उच्यते, अशुभक्रियारम्भिणामेव च बहुत्वात् शुभक्रियानुष्ठातृणामेव च स्वल्पत्वादिति कारणानुमानम् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

शंका : जैसे नीलादि मूर्तवस्तु, स्वप्रतिभासि अमूर्तज्ञान का कारण है, वैसे अन्न, माला, चंदन, अंगनादि दृश्यमान मूर्तवस्तु ही अमूर्तसुख का कारण है। तथा सांप, विष, कंटक इत्यादि दृश्यमान मूर्तवस्तु ही अमूर्तदुःख का कारण है। इसलिए

परिकल्पित अदृष्ट पुण्य-पाप द्वारा क्या प्रयोजन है ?

समाधान : आपकी बात योग्य नहीं है। क्योंकि व्यभिचार आता है। अन्न, स्त्री आदि समान साधनवाले दो पुरुषो में सुख-दुःखरुप फल में महान भेद दिखाई देता है। तुल्य अन्नादि के भुगतान में एक को आह्लाद होता दिखाई देता है और दूसरे को बिमारी होती है। यह फल में दिखाई देता भेद सकारण है। क्योंकि निष्कारणत्व में या तो वस्तु एकांतिक सत् होता है या तो एकांतिक असत् होता है अर्थात् फल में दिखता यह भेद निष्कारण मानोंगे तो वह नित्य सत् या नित्य असत् मानने का प्रसंग आयेगा। अर्थात् वह हंमेशां होता, या हंमेशा न होता वैसा मानना पडेगा। इस प्रकार जगत में फल में दिखाई देता भेद सकारण ही होता है और उस कारण के रुप में पुण्य-पापरुप अदृष्ट कर्म है। **इसलिए आगममें कहा है कि...**

"तुल्य सामग्रीवाले पुरुषो के सुख-दुःखरुप फल में जो विशेषता दिखती है। वह कारण के बिना होती नहीं है। हे गौतम ! जैसे घट बिना कारण उत्पन्न होता नहीं है, वैसे समान सामग्रीवाले पुरुषो के सुख-दुःखादि की विचित्रता भी बिना कारण उत्पन्न होती नहीं है। ॥१॥"

अथवा कारण अनुमान से तथा कार्य अनुमान से इस अनुसार पुण्य-पाप की सिद्धि होती है।

कारणानुमान : "दानादि शुभक्रियाओ का तथा हिंसादि अशुभक्रियाओ का फलभूत कार्य है। क्योंकि कारण है। जैसे कि खेती इत्यादि की क्रिया।" इस अनुमान से वे क्रियाओ का जो फल है उसे पुण्य और पाप जानना। जैसे खेती इत्यादि क्रियाओंका फल चावल, यव, गेहूं इत्यादि है, वैसे उस क्रियाओंका फल पुण्य और पाप जानना।

शंका : जैसे खेती इत्यादि क्रिया दृष्ट साक्षात् ऐसे शालि इत्यादि के फलमात्र से पूर्ण प्रयोजनवाली होती है, वैसे दानादिक्रिया और हिंसादिक्रिया, इस प्रकार सभी क्रियाएं प्रशंसा आदि और मांसभक्षणादि स्वरुप, दृष्ट फलमात्र से पूर्ण प्रयोजनवाली हो।

उसके फल के रुप में पुण्य-पाप की कल्पना करने की क्या जरुरत है ? कहने का मतलब यह है कि, जैसे खेती इत्यादि क्रियाओं का साक्षात् प्रयोजन धान्य की प्राप्ति है। वह प्राप्त होने से प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। बाद में कोई अदृष्ट फल की कल्पना नहीं की जाती है। वैसे दानादिक्रियाओ का साक्षात् प्रयोजन प्रशंसा, मान, सन्मानादि है, वह प्राप्त होने से उस क्रिया का प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है। तो फिर अदृष्ट ऐसे पुण्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है ? तथा पशु हिंसादि क्रियाओ का मांस भक्षणादि प्रयोजन सिद्ध होने से अदृष्ट ऐसे पाप की कल्पना करने की क्या जरुरत है ?

उपरांत, सभी लोग भी ज्यादातर खेती इत्यादि क्रियाओ के तथा हिंसादि क्रियाओं के दृष्ट फलमात्र में ही प्रवर्तित होते है। दानादिक्रिया के अदृष्ट फल में तो अल्प लोग ही प्रवर्तित होते है, ज्यादा लोग प्रवर्तित नहीं होते है। इसलिए कृषि, हिंसादि अशुभक्रियाओ के अदृष्टफल का अभाव होने से दानादि शुभक्रियाओ के अदृष्टकल का भी अभाव ही हो जायेगा। इसलिए पुण्य-पाप जैसी कोई वस्तु नहीं है।

समाधान : ऐसा मत कहना। क्योंकि जिस कारण से ही दृष्टफलवाली कृषि इत्यादि क्रियाओ में बहोत लोग प्रवर्तित होते है तथा अदृष्टफलवाली दानादि शुभ क्रियाओ में अल्प ही लोग प्रवर्तित होते है, उसी कारण से ही कृषि और हिंसादि दृष्टफलवाली क्रियायें अदृष्ट ऐसे फलवाली भी स्वीकार करनी ही चाहिए। (क्योंकि आप ने अल्प लोगो को अदृष्टफलवाली क्रिया में प्रवर्तित होते स्वीकार किया है।) तथा पाप स्वरुप अदृष्टफल के बिना अनंतकाल से चली आ रही जीव की सत्ता संगत नहीं होती है। वे लोग कृषि, हिंसा आदि क्रिया निमित्तक अनभिलषित भी पाप स्वरुप अदृष्टफल को बांधकर अनंत संसार में परिभ्रमण करते हुए अनंतकाल से संसार में रहते है।

उपरांत, यदि कृषि और हिंसादि अशुभक्रियाओं का पाप स्वरुप अदृष्टफल स्वीकार नहीं किया जायेगा, तो उसके सभी कर्ता अदृष्टफल का अभाव होने से मरण के बाद तुरंत ही बिना प्रयत्न से मुक्ति में जायेगा। इसलिए प्रायः पूरा संसार शून्य ही बन जायेगा। इसलिए संसार में कोई दुःखी ही मिलेगा नहीं तथा दानादिक्रियायें करनेवाले और उसके शुभविपाक को ही अनुभव करनेवाले केवल सभी जगह पे उपलब्ध होंगे ।

इस संसार में बहोत लोग दुःखी दिखते है। परंतु अल्प लोग ही सुखी दिखते है। उससे लगता है कि दुःखी जीवो को कृषि, वाणिज्य, हिंसादि अशुभक्रियानिमित्तक अदृष्ट पापस्वरुप फल का विपाक है और सुखी जीवो को दानादि शुभक्रिया निमित्तक अदृष्ट पुण्यस्वरुप फल का विपाक है।

शंका : संसार में सुखी जीव बहोत ज्यादा हो और दुःखी जीव अल्प हो - ऐसा व्यत्यय क्यों होता नहीं है ?

समाधान : व्यत्यय न होने का कारण यह है कि, संसार में अशुभक्रियाओ का आरंभ करनेवाले लोग ही ज्यादा होते है। शुभक्रियाओ का आरंभ करनेवाले कम ही होते है। इस तरह से कारणानुमान है।

अथ कार्यानुमानम् - **जीवानामात्मत्वाविशेषेऽपि नरपश्वादिषु देहादिवैचित्र्यस्य कारणमस्ति, कार्यत्वात्, यथा घटस्य मृद्दण्डचक्रचीवरादिसामग्रीकलितः कुलालः । न च दृष्ट एव मातापितादिकस्तस्य हेतुरिति वक्तव्यं, दृष्टहेतुसाम्येऽपि, सुरूपेतरादिभावेन देहादीनां वैचित्र्यदर्शनात्, तस्य चादृष्टशुभाशुभकर्माख्यहेतुमन्तरेणाभावात् । अत एव शुभदेहादीनां**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुण्यकार्यत्वं, इतरेषां तु पापकार्यत्वमिति कार्यानुमानम् । सर्वज्ञवचनप्रामाण्याद्वा पुण्यपापयोरुभयोः सत्ता प्रतिपत्तव्या । विशेषार्थिना तु विशेषावश्यकटीकावलोकनीयेति ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

अब कार्यानुमान बताते है । – "सभी जीवो में आत्मा एक होने पर भी कोई मनुष्य है, कोई पशु है इत्यादि जाति आदि में तथा कोई गोरा है, कोई कूबडा है इत्यादि शरीर आदि में जो विचित्रता है, उसका कोई कारण है । क्योंकि वह कार्य है । जैसे कि छोटे-बडे घट की विचित्रता में मिट्टी, दंड, चक्र, चीवरादि सामग्री से युक्त कुम्हार कारण है ।"

इस प्रकार मनुष्य इत्यादि जाति में तथा शरीर की रचना में जो विचित्रता है, उसका कोई अदृष्ट कारण है । इसलिए दृष्ट ऐसे माता-पितादि, उस विचित्रता में कारण है ऐसे कहना नहीं चाहिए । क्योंकि (माता-पितादि) हेतु समान होने पर भी (एक ही माता के संतानो में) कोई कूबडा है, कोई गोरा है, ऐसी देहादि की विचित्रता देखने को मिलती है और उस देहादि की विचित्रता का अदृष्ट ऐसे शुभ या अशुभकर्म नाम के हेतु के बिना दूसरे किसीका अभाव है । अर्थात् शुभाशुभ अदृष्ट=कर्म के बिना वह विचित्रता संगत होती नहीं है ।

इसलिए शुभदेहादि पुण्यकर्म का कार्य है और अशुभदेहादि पापकर्म का कार्य है । इस तरह से कार्यानुमान है ।

अथवा सर्वज्ञ भगवंत के वचन प्रामाण्य से पुण्य-पाप दोनो की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए । इस विषय में विशेष जिज्ञासुओ को विशेषावश्यक भाष्य की टीका देखनी चाहिए ।

अथास्रवमाह । "मिथ्यात्वाद्यास्तु हेतवः" इत्यादि । असद्देवगुरुधर्मेषु सद्देवादिबुद्धिर्मिथ्यात्वम् । हिंसाद्यनिवृत्तिरविरतिः । प्रमादो मद्यविषयादिः । कषायाः क्रोधादयः । योगा मनोवाक्कायव्यापाराः । अत्रैवमक्षरघटना। मिथ्यात्वाविरत्यादिकाः पुनर्बन्धस्य ज्ञानावरणीयादि-कर्मबन्धस्य ये हेतवः, स आस्रवो जिनशासने विज्ञेयः । आस्रवति कर्म एभ्यः स आस्रवः । ततो मिथ्यात्वादिविषया मनोवाक्कायव्यापारा एव शुभाशुभकर्मबन्धहेतुत्वादास्रव इत्यर्थः । अथ बन्धाभावे कथमास्रवस्योपपत्तिः, आस्रवात् प्राग्बन्धसद्भावे वा न तस्य बन्धहेतुता, प्रागपि बन्धस्य सद्भावात् । नहि यद्यद्धेतुकं तत्तदभावेऽपि भवति, अतिप्रसङ्गात् । असदेतत्, यत आस्रवस्य पूर्वबन्धापेक्षया कार्यत्वमिष्यते, उत्तरबन्धापेक्षया च कारणत्वम् । एवं बन्धस्यापि पूर्वोत्तरास्रवापेक्षया कार्यत्वं कारणत्वं च ज्ञातव्यं, बीजाङ्कुरयोरिव बन्धास्रवयोरन्योन्यं कार्यकारणभावनियमात् । नचैवमितरेतराश्रयदोषः, प्रवाहापेक्षयानादित्वात् । अयं चास्रवः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुण्यापुण्यबन्धहेतुतया द्विविधः । द्विविधोऽप्ययं मिथ्यात्वाद्युत्तरभेदापेक्षयोत्कर्षापकर्ष-भेदापेक्षया वानेकप्रकारः । अस्य च शुभाशुभमनोवाक्कायव्यापोररूपस्यास्रवस्य सिद्धिः स्वात्मनि स्वसंवेदनाद्यध्यक्षतः, परस्मिंश्च वाक्कायव्यापारस्य कस्यचित्प्रत्यक्षतः, शेषस्य च तत्कार्यप्रभवानुमानतश्चावसेया, आगमाच्च ।।५०।।

व्याख्या का भावानुवाद :

अब आश्रवतत्त्व का निरुपण करते है। मिथ्यात्वादि कर्मबंध के हेतु है। कुदेव में सुदेव की, कुगुरु में सुगुरु की, कुधर्म में सुधर्म की बुद्धि को **मिथ्यात्व** कहा जाता है। (अर्थात् राग-द्वेष की तीव्र परिणति की विद्यमानता में जो कुदेवादि में सुदेवादि की बुद्धि होती है, उसको मिथ्यात्व कहा जाता है।) हिंसादि की अनिवृत्ति को **अविरति** कहा जाता है। (प्रकर्ष से आत्मा के लिए अहितकर प्रवृत्तियो में व्यस्त-त्रस्त करे उसे **प्रमा**द कहा जाता है।) मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा पांच प्रकार का प्रमाद है। (जिससे संसार का लाभ अर्थात् संसार परिभ्रमण चलता रहे उसे कषाय कहा जाता है।) क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय है। मन, वचन और काया के व्यापार को **योग** कहा जाता है। यहाँ इस अनुसार से अक्षर घटना है - ज्ञानावरणीयादि कर्मबंध के मिथ्यात्वादि जो हेतु है उसको मिथ्यात्वादि को जैनशासन में आश्रव जानना।

जिससे (आत्मामें) कर्म आता है,

उसे आश्रव कहा जाता है। इसलिए मिथ्यात्वादि विषयक मन-वचन-काया के व्यापार ही शुभाशुभ कर्मबंध के कारण होने से **आश्रव** कहे जाते है।

शंका : बंध के अभाव में आश्रव की उपपत्ति किस तरह से होती है ? अर्थात् आत्मा में कर्म का बंध नहीं है, तो आत्मा में बंध के कारणभूत मिथ्यात्वादि आश्रव किस तरह से हो सकते है ? तथा मिथ्यात्वादि मलिन भावो के बिना आत्मा में कर्म किस तरह से आ सकेंगे ? अथवा आत्मा में पहले से ही बंध का सद्भाव है। इसलिए आश्रव की बंधहेतुता निरर्थक है। क्योंकि पहले भी आत्मा में बंध विद्यमान है फिर उसके कारणभूत आश्रव की जरूरत है ? उपरांत, जो जिसके अभाव में भी होता है, वह उसका कारण होता नहीं है। अर्थात् जो जिसका कारण होता है, वह उसके अभाव में नहीं होता है। अर्थात् आश्रव आत्मा में नहीं था, उस वक्त आत्मा में बंध था, अर्थात् जो पहले भी आत्मा मे बंध था और आश्रव नहीं था, तो उस आश्रव को बंध का कारण किस तरह से कहा जा सकता है ? यदि आश्रव को कारण कहोंगे तो अतिप्रसंग आयेगा। क्योंकि बंध के प्रति आश्रव की हेतुता न होने पर भी आश्रव को बंध का प्रति हेतु कहने से अतिव्याप्ति आती है।

समाधान : आपकी बात उचित नहीं है। क्योंकि आश्रव पूर्वबंध की अपेक्षा से कार्य के रुप में चाहा जाता है। अर्थात् पहले आत्मा में जो कर्म बंध था, उसके योग से आत्मा में मिथ्यात्वादि मलिनभाव उत्पन्न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होते है। इसलिए पूर्वबंध की अपेक्षा से आश्रव कार्य है, बंध कारण है। तथा उत्तरबंध की अपेक्षा से आश्रव कारण है। अर्थात् आत्मा में पडे हुए मिथ्यात्वादि मलिनभाव कर्मबंध का कारण बनते है। इसलिए उत्तरबंध की अपेक्षा आश्रव कारण है, कर्मबंध कार्य है। इस तरह से बंध भी पूर्व-उत्तर आश्रव की अपेक्षा से कार्य और कारण जानना। बीज और अंकुर की तरह बंध और आश्रव में परस्पर कार्यकारणभाव नियामक है। अर्थात् अंकुरका कारण बीज है और अंकुर कार्य है। उसके बाद अंकुरो में से क्रमिकविकास होने से धान्योत्पत्ति होती है, तब अंकुर कारण बनते है और बीज कार्य है। इस प्रकार अंकुर और बीज के बीच परस्पर कार्य-कारणभाव है, वैसे मिथ्यात्वादि मलिनभावो के योग से कर्मबंध होता है, तब मिथ्यात्वादि आश्रव कारण बनते है और बंध कार्य बनता है और कर्मबंध के कारण मिथ्यात्वादि मलिनभाव पेदा होता है, तब कर्मबंध कारण बनता है, मिथ्यात्वादि आश्रव कार्य बनते है। इस प्रकार आश्रव और बंध के बीच परस्पर कार्यकारणभाव है।

तथा इस तरह से आश्रव और बंध के बीच परस्पर कार्यकारणभाव कहने से इतरेतराश्रयदोष आता नहीं है। अर्थात् एकदूसरे के उपर आधार रखना उसे अन्योन्याश्रय (इतरेतराश्रय) दोष कहा जाता है। आश्रव बंध से उत्पन्न होता है और आश्रव से बंध उत्पन्न होता है। ऐसा अन्योन्याश्रयदोष होने से दोनो में से एक की भी सिद्धि होती नहीं है। ऐसा मत कहना। क्योंकि आश्रव और बंध का प्रवाह अनादि होने से इतरेतराश्रयदोष आता नहीं है। अर्थात् अनादिकाल से पूर्वबंध से आश्रव, उससे उत्तरबंध, उससे आश्रव, उससे उत्तरोत्तर बंध, इस तरह से दोनो प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है।

यदि उस आश्रव को बंध का हेतु और वही आश्रव को ही बंध का कार्य कहे तो अन्योन्याश्रयदोष आता है। परन्तु वैसा तो नहीं है।

पुण्य बंध और पाप बंध के हेतुरुप आश्रव दो प्रकार का है।

ये दोनो प्रकार का आश्रव भी मिथ्यात्वादि उत्तरभेद की अपेक्षा से तथा उत्कर्ष-अपकर्ष के भेद की अपेक्षा से अनेक प्रकार का है।

यह शुभाशुभ मन-वचन-काया के व्यापारस्वरुप आश्रव की स्वात्मा में (अपने आत्मामें) स्वसंवेदनादि प्रत्यक्ष से सिद्धि होती है। दूसरे के आत्मा में यह आश्रव, उसके वचन और काययोग के व्यापार से किसी को प्रत्यक्ष होता ही है और शेषमनोयोग के व्यापाररुप आश्रव कार्य देखकर अनुमान से मालूम होता है। इस प्रकार स्व-पर के आत्मा में प्रत्यक्ष और अनुमान से आश्रव की सिद्धि होती है। आश्रवतत्त्व की सिद्धि में आगम प्रमाण तो है ही। इसलिए आश्रव तत्त्व की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए। ॥५०॥

अथ संवरबन्धौ विवृणोति। अब संवर और बंधतत्त्व का निरुपण करते है।

(मू.श्लो.) संवरस्तन्निरोधस्तु, बन्धो जीवस्य कर्मणः ।
अन्योन्यानुगमात्मा तु, यः सम्बन्धो द्वयोरपि ॥५१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्लोकार्थ : आश्रव के निरोध को संवर कहा जाता है। जीव और कर्म को एकदूसरे को मिल जाना-दोनो का परस्परअनुप्रवेश स्वरुप संबंध होना उसे बंध कहा जाता है।

व्याख्या-तेषां-मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगानामास्रवाणां[F-3] सम्यग्दर्शन-विरति-प्रमादपरिहार-क्षमादिगुप्तित्रयधर्मानुप्रेक्षाभिर्निरोधो[F-4]-निवारणं स्थगनं संवरः[F-5], पर्याय-कथनेन व्याख्या । आत्मनः कर्मोपादानहेतुभूतपरिणामाभावः संवर इत्यभिप्रायः । स देशसर्वभेदाद्द्वेधा । तत्र बादरसूक्ष्मयोगनिरोधकाले सर्वसंवरः । शेषकाले चरण-प्रतिपत्तेरारभ्य देशसंवरः ।। अथ बन्धतत्त्वमाह-

"बन्धो जीवस्य कर्मणः" इत्यादि । तत्र बन्धनं बन्धः-परस्पराश्लेषो जीवप्रदेशपुद्गलानां क्षीरनीरवत्, अथवा बध्यते येनात्मा पारतन्त्र्यमापद्यते ज्ञानावरणादिना स बन्धः-पुद्गल-परिणामः । ननु जीवकर्मणोःसम्बन्धः किं गोष्ठामाहिलपरिकल्पितकञ्चुकिकञ्चुक-संयोगकल्प उतान्यः कश्चिदित्याशङ्क्याह "द्वयोरपि" कर्मवर्गणायोग्यस्कन्धानां जीवस्य चान्योन्यानुगमात्मा-अन्योन्यानुगतिस्वरूपः परस्परानुप्रवेशरुप इत्यर्थः । अयमत्र भावः-वह्न्ययस्पिण्डसम्बन्धवत् क्षीरोदकसम्पर्कवद्वा जीवकर्मणोर्मिथोऽनुप्रवेशात्मक एव सम्बन्धो बन्धो बोद्धव्यो, न पुनः कञ्चुकिकञ्चुकसंयोगकल्पोऽन्यो वेति । अत्राह-कथममूर्तस्यात्मनो हस्ताद्यसंभवे सत्यादानशक्तिविरहात्कर्मग्रहणमुच्यत इति चेत् ? उच्यते, इयमेव तावदस्थानारेकाप्रक्रिया भवतोऽनभिज्ञतां ज्ञापयति, यतः केनामूर्तताभ्युपेतात्मनः ? कर्मजीवसम्बन्धस्यानादित्वादेकत्वपरिणामे सति क्षीरोदकवन्मूर्त एव कर्मग्रहणे व्याप्रियते, नच हस्तादिव्यापारादेयं कर्म, किंतु पौद्गलमपि सदध्यवसायविशेषाद्रागद्वेष-मोहपरिणामा-भ्यञ्जनलक्षणादात्मनः कर्मयोग्यपुद्गलजालश्लेषणमादानं स्नेहाभ्यक्तवपुषो रजोलगनवदिति । प्रतिप्रदेशानन्तपरमाणुसंश्लेषाज्जीवस्य कर्मणा सह लोलीभावात्कथंचिन्मूर्त्तत्वमपि संसारा-वस्थायामभ्युपगम्यत एव स्याद्वादवादिभिरिति । स च प्रशस्ताप्रशस्तभेदाद् द्वेधा । प्रकृति-स्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्च[F-6] चतुर्विधा । प्रकृतिःस्वभावो यथा ज्ञानावरणं ज्ञानाच्छादन-स्वभावमित्यादि । स्थितिः-अध्यवसायकृतः कालविभागः । अनुभागो-रसः । प्रदेशः-कर्मदलसंचय इति । पुनरपि मूलप्रकृतिभेदादष्टधा[F-7] ज्ञानावरणादिकः । [F-8]उत्तरप्रकृति-भेदादष्टपञ्चाशदधिकशतभेदः । सोऽपि तीव्रतीव्रतरमन्दमन्दतरादिभेदादनेकविध इत्यादि कर्मग्रन्थादवसेयम् ।

(F-3-4-5-6-7-8) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या का भावानुवाद :

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगस्वरुप आश्रवो का सम्यग्दर्शन-विरति-प्रमादपरिहार-क्षमादि-गुप्ति-यतिधर्म-अनुप्रेक्षा (भावना) आदि द्वारा निरोध करना उसे संवर कहा जाता है। यहाँ आत्मा के मिथ्यात्वादि मलिनपर्यायो का आत्मा के सम्यग्दर्शनादिविशुद्ध पर्यायो के द्वारा निरोध करना उसे संवर कहा जाता है। इस तरह से पर्याय के कथन द्वारा संवर की व्याख्या की गई है।

आत्मा में (आने वाले) कर्म के उपादानकारणभूत परिणाम के अभाव को संवर कहा जाता है। अर्थात् आत्मा में कर्म का आवागमन मिथ्यात्वादि मलिनपरिणामो से होता है, उस परिणामो के अभाव को संवर कहा जाता है।

संवर दो प्रकार का है। (१) देशसंवर, (२) सर्वसंवर। बादर-सूक्ष्म मन-वचन-काया स्वरुप योग के निरोधकाल में सर्वसंवर होता है। अर्थात् अयोगिगुण स्थानक पे सूक्ष्म या बादर सभी मन-वचन-काया के व्यापार का जहाँ निरोध होता है, उसे सर्वसंवर कहा जाता है। उसके सिवा के शेषकाल में चारित्र स्वीकार के प्रारंभ से देशसंवर होता है।

अब बंधतत्त्व को कहते है - आत्मप्रदेश और कर्मपुद्गलो का दूध-पानी की तरह परस्पर एकमेक हो जाना उसे बंध कहा जाता है। अथवा जिसके द्वारा आत्मा बंधाता है अर्थात् ज्ञानावरणीयादि के द्वारा परतंत्रता को प्राप्त करता है, उस पुद्गलकर्म के परिणाम को बंध कहा जाता है।

शंका : शरीर के उपर पहनी हुई कंचुकि (चोली) या सांप के शरीर उपर रही हुई कांचरी के संयोग समान जीव और कर्म के बीच का संबंध जैसे गोष्ठामाहिलजीने माना है वैसे आप भी मानते हो, या दोनो के बीच अन्य प्रकार का संबंध मानते हो ?

समाधान : हमने कर्मवर्गणा के स्कन्धो को या जीव का परस्पर अनुप्रवेश स्वरुप संबंध माना है। अर्थात् वह्नि और लोह के गोले का **अथवा** दूध-पानी के संबंध जैसा परस्पर अनुप्रवेश स्वरुप ही संबंध जीव और कर्म का माना है, वैसा जानना। परंतु शरीर-कञ्चुकी या कञ्चुक के संयोग जैसा या अन्य प्रकार का कोई संयोग जैसा संयोग माना नहीं है।

शंका : अमूर्त आत्मा को हस्त आदि का असंभव होने से आदानशक्ति का अभाव है। तो आत्मा कर्म का ग्रहण किस तरह से कर सकता है ?

समाधान : आपकी शंका ही अयोग्य है। इसलिए आपकी इस विषय में अनभिज्ञता मालूम होती है। क्योंकि किसके द्वारा आत्मा की सर्वथा अमूर्तता स्वीकार की गई है ? कर्म और जीव का संबंध अनादिकाल से है। उससे दोनो के बीच एक अमूर्त और एक मूर्त होने पर भी दूध-पानी की तरह एकत्व का परिणाम होने पर आत्मा मूर्त जैसा होता है और कर्मग्रहण में प्रवर्तित होता है तथा आत्मा हाथ इत्यादिके व्यापार से कर्मग्रहण में प्रवर्तित होता नहीं है। (क्योंकि वह कर्म हाथ से उठाने की चीज नहीं है, वह तो पुद्गल का अत्यंत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सूक्ष्मभाग है। इसलिए हाथ इत्यादि से कर्म ग्रहण होते नहीं है।) परंतु राग-द्वेष-मोह के परिणाम स्वरुप चिकनाहटवाले आत्मा में कर्मयोग्य पुद्गलो का समूह चिपक जाता है। अर्थात् चीकनाहटवाले शरीर के उपर जैसे धूल लग जाती है, वैसे राग-द्वेष-मोह के परिणाम से युक्त चीकनाहटवाले आत्मा के उपर भी कर्म लग जाते है। आत्मा के प्रतिप्रदेश के उपर कर्मवर्गणा के अनंतापरमाणु चिपक गये होने से जीव कर्म के साथ एकीभाव को पा गया है। इससे जीव कथंचित् मूर्त हो गया है। इसलिए स्याद्वाद वादियों के द्वारा संसारी अवस्था में जीव को कथंचित् मूर्त भी स्वीकार किया गया है।

वह बंध प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है। तथा प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है। उसमें प्रकृति यानी स्वभाव। अर्थात् जैसे ज्ञानावरणीय का ज्ञान को ढकने का स्वभाव इत्यादि कर्मो के स्वभाव को प्रकृति कहा जाता है। अपने कषायरुप परिणाम से आत्मा के उपर कर्म को रहने की कालमर्यादा को स्थिति कहा जाता है। अनुभाग अर्थात् रस अर्थात् कर्म की मंद या तीव्रफल देने की शक्ति। कर्म के दल के संचय को प्रदेश कहा जाता है। ज्ञानावरणीयादि मूलप्रकृति के भेद से बंध आठ प्रकार का है। उत्तरप्रकृति के भेद से कर्मबन्ध एक सौ अट्ठावन प्रकार का है। वह भी तीव्र, तीव्रतर, मंद, मंदतर आदि भेद से अनेक प्रकार का है। इत्यादि (जैन दर्शन के) कर्मग्रंथ से जान लेना। ॥५२॥

उक्तं बन्धतत्वम् निर्जरातत्त्वमाह। बन्धतत्त्व कहा गया। अब निर्जरातत्त्व को कहते है।

(मू.श्लो.) बद्धस्य कर्मणः साटो, यस्तु सा निर्जरा मता ।
आत्यन्तिको वियोगस्तु, देहादेर्मोक्ष उच्यते ।।५२।।

श्लोकार्थ : आत्मा के उपर बंधे हुए कर्म का जो गिर जाना उसे निर्जरा कहा जाता है। देहादि के आत्यंतिक वियोग को मोक्ष कहा जाता है। ॥५२॥

व्याख्या-यस्तु बद्धस्य-जीवेन सम्बद्धस्य कर्मणो-ज्ञानावरणादेः साटः-सटनं द्वादशविधेन तपसा विचटनं, सा निर्जरा मता-संमता । सा च द्विधा, सकामाकामभेदात् । तत्राद्या चारित्रिणां दुष्करतरतपश्चरणकायोत्सर्गकरणद्वाविंशतिपरीषहपराणां लोचादिकायक्लेशकारिणामष्टादशशीलाङ्गधारिणां बाह्याभ्यन्तरसर्वपरिग्रहपरिहारिणां निःप्रतिकर्मशरीरिणां भवति । द्वितीया त्वन्यशरीरिणां तीव्रतरशरीरमानसानेककटुकदुःखशतसहस्रसहनतो भवति ।। अथोत्तरार्धेन मोक्षतत्त्वमाह-

"आत्यन्तिकः" इत्यादेः । **देहादिः-शरीरपञ्चकेन्द्रियायुरादिबाह्यप्राणपुण्यापुण्यवर्णगन्धरसस्पर्शपुनर्जन्मग्रहणवेदत्रयकषायादिसङ्गाज्ञानासिद्धत्वादेरात्यन्तिको वियोगो विरहः पुनर्मोक्ष इष्यते । यो हि शश्वद्भवति न पुनः कदाचिन्न भवति, स आत्यन्तिकः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या का भावानुवाद :

जीव के साथ संबद्ध कर्म का बारह प्रकार के तप द्वारा गिर जाना उसे निर्जरा कहा जाता है। **वह निर्जरा दो प्रकार की है।** (१) सकामनिर्जरा, (२) अकामनिर्जरा।

उसमें सकामनिर्जरा चारित्रीयों को दुष्करतप-चारित्र-कायोत्सर्ग करण-बाईस परिषहो को सहने में तत्पर आत्माओ को, लोचादि कायक्लेश करनेवालो को, अठारह शीलांग को धारण करनेवालो को, बाह्य-अभ्यंतर सर्वपरिग्रह का त्याग करनेवालो को, शरीर की (सुश्रुषाशुद्धि इत्यादि) प्रतिकर्म नहीं करनेवाले आत्माओं को होती है। अकामनिर्जरा उपरोक्त आत्माओ से अन्य जीवो को तीव्र शारीरिक, मानसिक अनेक प्रकार के सेंकडो दु:खो को (इच्छा के बिना) सहने से होती है।

अब श्लोक के उत्तरार्ध द्वारा मोक्षतत्त्व का निरुपण करते है। शरीर, पांच इन्द्रिय, आयुष्य, श्वासोश्वासरुप दस बाह्यप्राण, पुण्य, पाप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, पुनर्जन्मग्रहण, तीन वेद, कषायादि का संयोग, अज्ञान तथा असिद्धत्वादि के आत्यंतिक वियोग को मोक्ष कहा जाता है।

जो वियोग = नाश शाश्वत होता है परंतु कादाचित्क होता नहीं है तथा जिसका (लेशमात्र) सद्भाव (अर्थात् जिसका नाश हुआ है, उसका सद्भाव) होता नहीं है उसे आत्यंतिक कहा जाता है। देहादि का वियोग (नाश) हंमेशा रहे तथा पुन: देहादि उत्पन्न न हो अर्थात् देहादि उत्पन्न होके नाश का अभाव न करे, अनंतकाल तक जो नाश रहे उसे आत्यंतिक वियोग (नाश) कहा जाता है। इस प्रकार नाश के शाश्वतभाव को ही आत्यंतिक कहा जाता है।

अत्र पर आह, **ननु भवतु देहस्यात्यन्तिको वियोगः तस्य सादित्वात्, परं रागादिभिः सहात्यन्तिको वियोगोऽसंभवी प्रमाणबाधनात्।** प्रमाणं चेदम्-**यदनादिमत् न तद्विनाशमाविशति यथाकाशम्। अनादिमन्तश्च रागादय इति उच्यते, यद्यपि रागादयो दोषा जन्तोरनादिमन्तः-तथापि कस्यचिद्यथावस्थितस्त्रीशरीरादिवस्तुतत्त्वावगमेन तेषां रागादीनां प्रतिपक्षभावनातः प्रतिक्षणमपचयो दृश्यते। ततः संभाव्यते विशिष्टकालादिसामग्रीसद्भावे भावनाप्रकर्षतो निर्मूलमपि क्षयः, निर्मूलक्षयानभ्युपगमेऽपचयस्याप्यसिद्धेः।** यथा हि-**शीतस्पर्शसंपाद्या रोमहर्षादयः शीतप्रतिपक्षस्य च वह्नेर्मन्दतायां मन्दा उपलब्धा उत्कर्षे च निरन्वयविनाशिनः। एवमन्यत्राप्यमन्दतासद्भावे निरन्वयविनाशोऽवश्यमेष्टव्यः।** अथ **यथा ज्ञानावरणीयकर्मोदये ज्ञानस्य मन्दता भवति तत्प्रकर्षे च ज्ञानस्य न निरन्वयो विनाशः, एवं प्रतिपक्षभावनोत्कर्षेऽपि न रागादीनामत्यन्तमुच्छेदो भविष्यतीति ?,** तदयुक्तम्, **द्विविधं हि बाध्यं, सहभूस्वभावं सहकारिसंपाद्यस्वभावं च। तत्र यत्सहभूस्वभावं, तन्न बाधकोत्कर्षे कदाचिदपि निरन्वयं विनाशमाविशति। ज्ञानं चात्मनः सहभूस्वभावम्। आत्मा च**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिणामिनित्यः, ततोऽत्यन्तप्रकर्षवत्यपि ज्ञानावरणीयकर्मोदये ज्ञानस्य न निरन्वयो विनाशः । रागादयस्तु लोभादिकर्मविपाकोदयसंपादितसत्ताकाः, ततः कर्मणो निर्मूलमपगमे तेऽपि निर्मूलमपगच्छन्ति । प्रयोगश्चात्र-ये सहकारिसंपाद्या यदुपधानादपकर्षिणः ते तदत्यन्तवृद्धौ निरन्वयविनाशधर्माणः, यथा रोमहर्षादयो वह्निवृद्धौ । भावनोपधानादपकर्षिणश्च सहकारिकर्मसंपाद्या रागादय इति । अत्र "सहकारिसंपाद्या" इति विशेषणं सहभूस्वभावज्ञानादिव्यवच्छेदार्थम् । यदपि च प्रागुपन्यस्तं प्रमाणं "यदनादिमत्, न तद्विनाशमाविशति" इति, तदप्यप्रमाणं, प्रागभावेन हेतोर्व्यभिचारात् । प्रागभावो ह्यनादिमानपि विनाशमाविशति, अन्यथा कार्यानुत्पत्तेः । काञ्चनोपलयोः संयोगेन च हेतुरनैकान्तिकः । तत्संयोगोऽपि ह्यनादिसंततिगतोऽपि क्षारमृत्पुटपाकादिनोपायेन विघटमानो दृष्ट इति ।

व्याख्या का भावानुवाद :

शंका : शरीर का आत्यंतिक वियोग चाहे हो, क्योंकि देह सादि है, परंतु रागादि के साथ का आत्यंतिकवियोग असंभवित है। क्योंकि वह प्रमाण से बाधित है। वह प्रमाण यह रहा। **जो भाव अनादि है, उसका विनाश होता नहीं है। जैसे कि, आकाश** । वैसे रागादि अनादि होने से उसका विनाश नहीं हो सकता है।

समाधान : यद्यपि जीव के रागादि दोष अनादि है, तो भी कोई जीव को स्त्री के शरीर का, संसार के पदार्थ का यथावस्थित स्वरुप समजाने से उसको रागादि की प्रतिपक्षभावना से वह रागादि दोषो का प्रतिक्षण अपचय होता दिखाई देता है। अर्थात् जिसके उपर रागादि हुए है, उसका वास्तविक स्वरुप समजाने से प्रतिपक्षभावना के बल से रागादि का अपचय होता दिखाई देता है। इसलिए विशिष्ट कालादि सामग्री के सद्भाव में भावना के प्रकर्ष से रागादि का निर्मूलक्षय भी संभवित होता है। यदि रागादि का निर्मूल सर्वथा क्षय स्वीकार नहि करोंगे तो रागादि के अपचय की भी सिद्धि नहीं हो सकती है। जैसे कि, शीतस्पर्श के कारण शरीर में हुए रोमांच, हर्षादि शीतस्पर्श के प्रतिपक्षभूत वह्नि की मंदता में वे मंद होते दिखाई देते है और वह्नि की उत्कर्षता में संपूर्ण नाश होता भी दिखाई देता है। इस अनुसार से अन्य स्थान पे भी प्रतिपक्ष की मंदता (उत्कर्षता) में निरन्वयविनाश मानना चाहिए।

शंका : जैसे ज्ञानावरणीय कर्म के उदय में ज्ञान की मंदता होती है और उस कर्म के उदय की प्रकर्षता में ज्ञान का निरन्वय नाश होता नहीं है। इस अनुसार से भावना का उत्कर्ष होने पर भी रागादि का अत्यंत उच्छेद नहीं होगा।

समाधान : बाध्य (बाधित होने योग्य) वस्तु दो प्रकार की है। (१) सहभूस्वभाववाली। अर्थात् सदा के लिए साथ रहनेवाले स्वभाववाली वस्तु। (२) सहकारिकारणो के कारण उत्पन्न हुए (विकारयुक्त) स्वभाववाली वस्तु।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसमें जो सहभूस्वभाववाली वस्तु है, वह कभी भी उत्कृष्ट बाधक के सद्भाव में निरन्वय विनाश प्राप्त नहीं करती है। ज्ञान आत्मा का सहभूस्वभाव है। आत्मा परिणामिनित्य है। इसलिए अत्यंत प्रकर्षवाले ज्ञानावरणीय कर्म के उदय में भी ज्ञान का निरन्वयविनाश होता नहीं है। परंतु आत्मा का रागादिस्वभाव लोभादिकर्म के विपाकोदयस्वरुप सहकारि के कारण उत्पन्न हुआ है। इसलिए (सहकारि ऐसे) कर्म का निर्मूलनाश होने पर वे रागादिदोष भी निर्मूलनाश पाते है।

प्रयोग : "जो सहकारि से उत्पन्न हुए स्वभाव है, वे प्रतिपक्षभावना की मंदता में अपकर्षवाले होते है और प्रतिपक्षभावना की प्रकर्षता-वृद्धि में निरन्वयविनाश प्राप्त करते है। जैसे कि, प्रतिपक्षभूत वह्नि की वृद्धि में रोमहर्षादि का संपूर्ण विनाश।"

"प्रतिपक्षभावना से सहकारिकर्म में से उत्पन्न हुए रागादि अपकर्ष को प्राप्त करते है।" यहाँ **"सहकारिसंपाद्या"** विशेषण सहभू स्वभावरुप ज्ञानादि के व्यवच्छेद के लिए है। वैसे ही **"जो अनादिभाव है वह विनाश प्राप्त करता नहीं है।"** ऐसे प्रमाण का आपने उपन्यास किया था, वह भी प्रमाणभूत नहीं है। क्योंकि प्रागभाव से हेतु व्यभिचारी बनता है। क्योंकि प्रागभाव अनादि होने पर भी विनाश पाता है। यदि प्रागभाव का विनाश होता न हो, तो कार्य की उत्पत्ति ही नहीं होगी। इस प्रकार, प्रागभाव अनादि होने पर भी विनाश प्राप्त करता है। इसलिए आपका प्रमाण सत्य नहीं है। उसी ही तरह से सुवर्ण-मिट्टी के संयोग से भी हेतु व्यभिचारी बनता है। क्योंकि सुवर्ण-मिट्टी का संयोग अनादि होने पर भी क्षार-मिट्टी-पुटपाकादि की प्रक्रिया से उस संयोग का नाश होता दिखाई देता है।

अथ **रागादयो धर्मा धर्मिण आत्मनो भिन्ना अभिन्ना वा ?** भिन्नाश्चेत्, **तदा सर्वेषां वीतरागत्वसिद्धत्वप्रसङ्गः, रागादिभ्यो भिन्नत्वात्, मुक्तात्मवत्** । अभिन्नाश्चेत्, तदा **तेषां क्षये धर्मिणोऽपि क्षय इति,** तदयुक्तं, **भेदाभेदपक्षस्य जात्यन्तरस्याभ्युपगमात् । कथमिति चेत् ?, उच्यते । धर्मिधर्माणां न भेद एव, अभेदस्यापि सत्त्वात् । नाप्यभेद एव, भेदस्यापि सद्भावात् । ततो नोक्तदोषावकाश इति । अथ कार्मणशरीरादेः सर्वथावियोगे कथं जीवस्योर्ध्वमालोकान्तं गतिरिति चेत् ? पूर्वप्रयोगादिभिस्तस्योर्ध्वगतिरिति ब्रूमः ।** तदुक्तं तत्त्वार्थभाष्ये-"तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात्स गच्छति । पूर्वप्रयोगासङ्गत्वबन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः ।।१।। कुलालचक्रे दोलायामिषौ चापि यथेष्यते । पूर्वप्रयोगात्कर्मेह, तथा सिद्धगतिः स्मृता ।।२।। मृल्लेपसङ्गनिर्मोक्षाद्यथा दृष्टाप्स्वलाबुनः । कर्मसङ्गविनिर्मोक्षात्, तथा सिद्धगतिः स्मृता ।।३।। एरण्डयन्त्रपेडासु, बन्धच्छेदाद्यथा गतिः । कर्मबन्धनविच्छेदात्सिद्धस्यापि तथेष्यते ।।४।। उर्ध्वगौरवधर्माणो, जीवा इति जिनोत्तमैः । अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम् । ।।५।। यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च, लोष्टवाय्वग्निवीचयः । स्वभावतः प्रवर्तन्ते, तथोर्ध्वगतिरात्मनः ।।६।। अधस्तिर्यक् तथोर्ध्वं च, जीवानां कर्मजा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गतिः । उर्ध्वमेव तु तद्धर्मा, भवति क्षीणकर्मणाम् ।।७।। ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषां, कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः । धर्मास्तिकायस्याभावात्, स हि हेतुर्गतेः परम् ।।८।।" ।। त.भा.१०/७।।

धर्मास्तिकायस्य गतिहेतुत्वं पुरापि व्यवस्थापितमेवेति ।

व्याख्या का भावानुवाद :

शंका : रागादिधर्म धर्मी ऐसे आत्मा से भिन्न है या अभिन्न है ? यदि रागादिधर्म आत्मा से भिन्न हो तो सभी जीव वीतराग और सिद्ध हो जायेंगे । क्योंकि रागादि से भिन्न है । जैसे मुक्तात्मा रागादि से भिन्न होने के कारण वीतराग और सिद्ध है, वैसे सभी आत्मा भी रागादि से भिन्न होने के कारण वीतराग और सिद्ध है । यदि रागादि धर्मो से आत्मा अभिन्न है, तो रागादि का क्षय होने से आत्मा का भी क्षय हो जायेगा ।

समाधान : धर्म और धर्मी में भेद ही नहीं है । क्योंकि दोनो के बीच अभेद विद्यमान है । दोनो के बीच अभेद ही नहीं है । क्योंकि दोनो के बीच भेद का सद्भाव है । (इस प्रकार रागादि धर्म और आत्मा कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होने से) आपने कहे हुए दोष का अवकाश नहीं है । अर्थात् हम धर्म और धर्मी का सर्वथाभेद या सर्वथाअभेद नहीं मानते है । परंतु भेद और अभेद से विलक्षण कथंचित् भेदाभेद मानते है । इसलिए आपने बताये हुए दोषो का अवकाश नहीं है ।

शंका : जब कार्मणशरीर आदि का अत्यंतवियोग होता है । तब लोक के अंतभाग तक जीव की उर्ध्वगति किस तरह से होती है ?

समाधान : पूर्वप्रयोग आदि द्वारा जीव की उर्ध्वगति होती है । **इसलिए तत्त्वार्थभाष्य में कहा है कि...** "सर्वकर्मबन्ध का उच्छेद होने से तुरंत ही जीव लोक के अग्रभाग के प्रति गति करता है । जीव की उर्ध्वगति के कारण है - पूर्वप्रयोग, असंगत्व = निर्लेपता, बन्धच्छेद - निर्बंध तथा उर्ध्वगौरव स्वभाव । जैसे कुम्हार का चक्र की एकबार दंड से गति देने के बाद दंड ले लेने के बाद भी गति चालू रहती है । झूले को एकबार खिंचकर छोडने से वह पूर्वप्रयोग के कारण लक्ष्य तक पहुंच जाता है । वैसे (जीव ने कर्म के योग से संसार में बहोत गति की थी, अब कर्मबंध नाश होने पर भी पूर्वप्रयोग के कारण) उर्ध्वगति करता है । वही सिद्धिगति कही जाती है । जैसे मिट्टी के लेप दूर होने से (पानी में डूबा हुआ) तुम्बरा पानी के समतल उपर आ जाता है वैसे कर्म का संग दूर होने से जीव ऊर्ध्वगति करता है । उसे ही सिद्धिगति कहा जाता है । जैसे एरण्ड का बकला (कांचला) फूटते ही उसमें से एरण्ड का बीज बाहर उछलता है, वैसे ही कर्मबंध का विच्छेद होने से सिद्ध की भी उर्ध्वगति चाही जाती है । श्रीजिनेश्वर परमात्माओ के द्वारा उर्ध्वगौरव धर्मवाले जीव और अधोगौरव धर्मवाले पुद्गल कहे जाते है । अर्थात् जीव में ऐसे प्रकार का गौरव है कि वह स्वभावतः उर्ध्व की ओर गति करता है और पुद्गल में ऐसे प्रकार का गौरव है कि वह स्वभावतः अधः गति करता है । जैसे मिट्टी का पत्थर, वायु और अग्निज्वाला स्वभावतः अनुक्रम से अधो (नीचे की ओर) तिरछी ओर उर्ध्व गति में (उपर की ओर) प्रवर्तित होते है, वैसे आत्मा की स्वभावतः उर्ध्वगति है । जीवो की अधो,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तिरछी और उर्ध्व गति कर्म के कारण उत्पन्न होती है, परंतु उर्ध्वगति जीव का धर्म है। वह उर्ध्वगति क्षीणकर्मोवाले आत्माओंकी होती है।

प्रश्न : लोक के अग्रभाग तक ही जीव की गति क्यों होती है ? उससे उपर जीव क्यों गति नहीं कर सकता है ?

उत्तर : अलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव होने से जीव की वहाँ गति होती नहीं है। धर्मास्तिकाय गति का परम (अपेक्षा) कारण है। ॥१-८॥"

धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल की गति में अपेक्षा कारण है, वह पहले भी सिद्ध किया ही है।

ननु भवतु कर्मणामभावेऽपि पूर्वप्रयोगादिभिर्जीवस्योर्ध्वगतिः, तथापि सर्वथा शरीरेन्द्रियादिप्राणानामभावान्मोक्षे जीवस्याजीवत्वप्रसङ्गः । यतो जीवनं प्राणधारणमुच्यते, तच्चेन्नास्ति, तदा जीवस्य जीवनाभावादजीवत्वं स्यात्, अजीवस्य च मोक्षाभाव इति चेत् ? न, अभिप्रायापरिज्ञानात्, प्राणा हि द्विविधाः, द्रव्यप्राणा भावप्राणाश्च । मोक्षे च द्रव्यप्राणानामेवाभावः, न पुनर्भावप्राणानाम् । भावप्राणाश्च मुक्तावस्थायामपि सन्त्येव । यदुक्तम्-"यस्मात्क्षायिकसम्यक्त्ववीर्यदर्शनज्ञानैः । आत्यन्तिकैः स युक्तो निर्द्वन्द्वेनापि च सुखेन ।।१।। ज्ञानादयस्तु भावप्राणा मुक्तोऽपि जीवति स तैर्हि । तस्मात्तज्जीवत्वं नित्यं सर्वस्य जीवस्य ।।२।।" **ततश्चानन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तवीर्यानन्तसुखलक्षणं जीवनं सिद्धानामपि भवतीत्यर्थः । सुखं च सिद्धानां सर्वसंसारसुखविलक्षणं परमानन्दमयं ज्ञातव्यम् ।** उक्तं च- "नवि अत्थि माणुसाणं तं सुक्खं नेव सव्वदेवाणं । जं सिद्धाणं सुक्खं आव्वाबाहं उवगयाणं ।।१।। सुरगणसुहं समग्गं सव्वद्धा पिण्डियं अनन्तगुणं । नवि पावइ मुत्तिसुहं णन्ताहिंवि वग्गवग्गूहिं ।।२।। सिद्धस्स सुहो रासी सव्वद्धा पिण्डिउं जइ हविज्जा । सोऽणन्तवग्गभइओ सव्वागासे न माइज्जा ।।३।।" **तथा योगशास्त्रेऽप्युक्तम्-**"सुरासुरनरेन्द्राणां यत्सुखं भुवनत्रये । तत्स्यादनन्तभागेऽपि न मोक्षसुखसंपदः ।।१।। स्वस्वभावजमत्यक्षं यस्मिन्वै शाश्वतं सुखम् । चतुर्वर्गाग्रणीत्वेन तेन मोक्षः प्रकीर्तितः ।।२।।"

व्याख्या का भावानुवाद :

शंका : कर्म का अभाव होने पर भी पूर्वप्रयोग आदि द्वारा जीव की उर्ध्वगति चाहे हो। तो भी सर्वथा शरीरादि प्राणो का अभाव होने से मोक्षावस्था में जीव में अजीवत्व आ जायेगा। क्योंकि प्राणो का धारण करना उसे ही जीवन कहा जाता है। मोक्ष में शरीरादि प्राण नहीं है, तो जीव के जीवन का ही अभाव होने से जीव अजीव बन जायेगा और अजीव का मोक्ष होता नहीं है।

समाधान : " ऐसा मत कहना। शरीरादि का आत्यंतिक वियोग वह मोक्ष" ऐसा हमने जो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहा था, उसमें आपने शंका खडी की है वह योग्य नहीं है। क्योंकि वैसा कहने के पीछे का हमारा अभिप्राय आपने अब तक विवक्षित रुप से जाना ही नहीं है। प्राण दो प्रकार के है। (१) द्रव्यप्राण और (२) भावप्राण। मोक्षावस्था में शरीरादि द्रव्यप्राणो का ही अभाव होता है। परंतु ज्ञानादि भावप्राणो का अभाव नहीं है। मोक्षावस्था में भावप्राण तो होते ही है।

जिससे अन्य ग्रंथ में कहा है कि "सभी कर्म का क्षय होने से वे मुक्तात्मा क्षायिकसम्यक्त्व, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य, अनंतदर्शन इन (पूर्णकक्षा पर पहुंचे हुए) आत्यंतिक गुणो से तथा निर्द्वन्द्वसुख द्वारा भी युक्त होते है। (जिसमें दुःख की मिलावट नहीं है तथा जो सुख आने के बाद चला जाता नहीं उसे निर्द्वन्द्वसुख कहा जाता है।) ज्ञानादि भावप्राण है। मुक्तात्मा भी उन ज्ञानादि भावप्राणो के द्वारा जीता है। इसलिए सभी जीवो का जीवत्व नित्य होता है। (**अपि** शब्द से मुक्तात्मा के अतिरिक्त जीवो को भी जान लेना।) ॥१-२॥"

इसलिए अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, अनंतसुखस्वरुप जीव सिद्धो को भी होता है। सिद्धो का सुख सभी सांसारिक सुख से विलक्षण परमानंदस्वरुप होता है वह जानना।

अन्य शास्त्र में भी कहा है कि - "अव्याबाधसुख को पाने वाले सिद्धो का जो सुख है, वह सुख मनुष्यो का भी नहीं है या सर्वदेवो का भी नहीं है। यदि सर्वदेवो के समूह का त्रिकालवर्ती सुख इकट्ठा करके उसको अनंतगुना किया जाये तो भी मुक्ति के सुख से अनंत वे भाग का भी होता नहीं है। यदि सिद्धो के सुख को इकट्ठा करके उसके अनंतवें भाग का बनायें तो भी वह लोकालोक प्रमाण आकाश में समा नहीं सकता। ॥१-२-३॥"

तथा योगशास्त्र में कहा है कि -

"तीन भुवन में सुरेन्द्रो, नरेन्द्रो का जो सुख है, वह सुख मोक्षसुख की संपत्ति से अनंतवें भाग का भी नहीं है। मोक्ष का सुख स्वाभाविक है। इन्द्रियो से अतीत अतीन्द्रिय है। वह नित्य है, इसलिए वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरुप चार पुरुषार्थ में परमपुरुषार्थ है तथा चतुर्वर्ग अग्रणी (शिरोमणी) कहा जाता है। ॥१-२॥"

अत्र सिद्धानां सुखमयत्वे त्रयो विप्रतिपद्यन्ते । तथाहि-आत्मनो मुक्तौ बुद्ध्याद्यशेषगुणोच्छेदात्कथं सुखमयत्वमिति वैशेषिकाः १ । अत्यन्तचित्तसन्तानोच्छेदत आत्मन एवासंभवादिति सौगताः २ । अभोक्तृत्वात्कथमात्मनो मुक्तौ सुखमयत्वमिति सांख्याः ३ । अत्रादौ वैशेषिकाः स्वशेमुषीं विशेषयन्ति । ननु मोक्षे विशुद्धज्ञानादिस्वभावता आत्मनोऽनुपपन्ना, बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदरूपत्वान्मोक्षस्य । तथाहि - प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रतिपन्ने जीवस्वरूपे परिपाकं प्राप्ते तत्त्वज्ञाने [F-9]नवानां जीवविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदे स्वरूपेणात्मनोऽवस्थानं मोक्षः । तदुच्छेदे च प्रमाणमिदं । यथा, [F-10]नवानामात्मविशेषगुणानां

(F-9-10) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संतानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, संतानत्वात्, प्रदीपादिसंतानवत् । न चायमसिद्धो हेतुः, पक्षे वर्तमानत्वात् । नापि विरुद्धः, सपक्षे प्रदीपादौ सत्त्वात् । नाप्यनैकान्तिकः, केवल-परमाण्वादावप्रवृत्तेः । नापि कालात्ययापदिष्टः, विपरीतार्थोपस्थापकयोः प्रत्यक्षानुमानयोरत्रासंभवात् । ननु संतानोच्छेदे हेतुर्वक्तव्य इति चेत् ? [F-11]उच्यते, निरन्तर-शास्त्राभ्यासात्कस्यचित्पुंसस्तत्त्वज्ञानं जायते, तेन च मिथ्याज्ञाननिवृत्तिर्विधीयते, तस्य निवृत्तौ तत्कार्यभूता रागादयो निवर्तन्ते, तदभावे तत्कार्या मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्व्यावर्तते, तद्व्यावृत्तौ च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः । आरब्धशरीरेन्द्रियकार्ययोस्तु सुखादिफलोप-भोगात्प्रक्षयः । अनारब्धशरीरादिकार्ययोरप्यवस्थितयोस्तत्फलोपभोगादेव प्रक्षयः । ततश्च सर्वसंतानोच्छेदान्मोक्ष इति स्थितिम् ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

मोक्ष में जीवो के सुखमयत्व के विषय में वादियों में तीन प्रकार से विवाद है। **(१) वैशेषिकोने कहा** है कि-मोक्ष में बुद्धि इत्यादि आत्मा के विशेषगुणो का उच्छेद होने से मोक्ष में आत्मा सुखमय किस तरह से हो सकता है ? **(२) बौद्धो ने कहा है कि** - मोक्षावस्था में चित्तसंतान का अत्यंत उच्छेद होने से आत्मा का सद्भाव ही नहीं है, तो सुख किस तरह से हो सकता है ? **(३) सांख्यो ने कहा है कि** - मुक्ति में आत्मा भोक्ता नहीं है, तो मुक्ति में सुखमय किस तरह से हो सकता है ? (सांख्यो ने आत्मा को नित्य मानकर भी वहाँ सुख चाहे हो परंतु आत्मा उसको भुगतता नहीं है। तो सुखमय किस तरह से हो सकेगा ? ऐसा माना है।)

उसमें प्रारंभ में वैशेषिको अपनी बुद्धि की विशेषता बताते हुए कहते है।

पूर्वपक्ष (वैशेषिक) : मोक्ष में आत्मा की विशुद्ध ज्ञानादिस्वभावता संगत होती नहीं है। क्योंकि बुद्धि आदि विशेषगुणो के उच्छेद स्वरुप मोक्ष है। वह इस तरह से है - प्राप्त हुआ तत्त्वज्ञान परिपाक पाने पर भी बुद्धि इत्यादि जीव के नौ विशेषगुणो का उच्छेद होने से प्रत्यक्षादिप्रमाण से स्वीकार किये गये = सिद्ध हुए जीवस्वरुप में स्वरुप से आत्मा का अवस्थान हो, उसको मोक्ष कहा जाता है। अर्थात् तत्त्वज्ञान से नौ गुणो का उच्छेद होने से आत्मा का आत्मा के स्वरुप में अवस्थान होना उसे मोक्ष कहा जाता है। जीव के बुद्धि इत्यादि नौ गुणो के उच्छेद में यह प्रमाण है - **"आत्मा के नौ विशेष गुणो का प्रवाह (संतान) अत्यंत उच्छेद को प्राप्त करता है। क्योंकि प्रवाह (संतान) है। जैसे कि, प्रदीप इत्यादि का प्रवाह।"**

अ. "विरुद्धश्चायं हेतुः, शब्दबुद्धिप्रदीपादिषु अत्यन्तानुच्छेदवत्स्वेव संतानत्वस्य भावात् ।।" सम्मति० टी० । न्यायकुमु० । प्रमेयक० । रत्नाकराव० - ७/५७ ।

ब. "यदि हि मोक्षावस्थायां शिलाशकलकल्पः अपगतसुखसंवेदनलेशः पुरुषः संपद्यते तदा कृतं मोक्षेण [न्यायकुमु० पृ. ८२८]

(F-11) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"संतानत्व" हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि पक्ष ऐसे बुद्धि इत्यादि विशेषगुणो में रहता है। हेतु विरुद्ध भी नहीं है। क्योंकि सपक्ष ऐसे प्रदीप में वृत्ति है। हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी) नहीं है। क्योंकि विपक्ष ऐसे परमाणु में वृत्ति नहीं है। हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधित) भी नहीं है। क्योंकि साध्य से विपरीत अर्थ का साधक प्रत्यक्ष या अनुमान कोई भी प्रमाण नहीं है।

बुद्धि आदि गुणो के संतान के उच्छेद में कारण कौन बनता है ? **इस प्रश्न का उत्तर अब देते है -** निरंतर शास्त्र के अभ्यास से किसी पुरुष को तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने से उसके कार्यभूत राग-द्वेष नष्ट हो जाते है। राग-द्वेष के अभाव में राग-द्वेष के कार्यभूत मन-वचन-काया का व्यापार बंध होता है। उससे धर्माधर्म = पुण्य-पाप की उत्पत्ति होती नहीं है।

जो पुण्य-पाप पहले संचित किये हुए है, उसमें से जिनको शरीर इत्यादि उत्पन्न करके फल देने का आरंभ किया है। वह फल भुगतके विनाश किया जाता है तथा जो अभी उदय में आया नहीं, सत्ता में विद्यमान है, उसका भी एकसाथ अनेक शरीर आदि उत्पन्न करके, उसके फल को भुगत के ही नाश किया जाता है। इस प्रकार से पुण्य-पाप इत्यादि की परंपरा का सर्वथा उच्छेद होने से संतान-उच्छेद स्वरुप मोक्ष होता है।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तं "संतानत्वात्" इत्यादि, तदसमीचीनं, [F-12]यत आत्मनः सर्वथा भिन्नानां बुद्ध्यादिगुणानां संतानस्योच्छेदः साध्यतेऽभिन्नानां वा कथंचिद्भिन्नानां वा ? । आद्यपक्षे आश्रयासिद्धो हेतुः, संतानिभ्योऽत्यन्तं भिन्नस्य सन्तानस्यासत्कल्पत्वात् । द्वितीयपक्षे तु सर्वथाऽभिन्नानां तेषामुच्छेदसाधने संतानवत् संतानिनोऽप्युच्छेदप्रसङ्गः । ततश्च कस्यासौ मोक्षः ? भिन्नाभिन्नपक्षाभ्युपगमे चापसिद्धान्तः। किंच [अ]विरुद्धश्चायं हेतुः, कार्यकारणभूतक्षणप्रवाहलक्षणसंतानत्वस्य नित्यानित्यैकान्तयोरसंभवात् । अर्थक्रियाकारित्वस्यानेकान्त एव प्रतिपादिष्यमाणत्वात् । साध्यविकलश्च दृष्टान्तः, प्रदीपादेरत्यन्तोच्छेदासंभवात्, तैजसपरमाणूनां भास्वररूपपरित्यागेनान्धकाररूपतयावस्थानात् । प्रयोगश्चात्र पूर्वापरस्वभावपरिहाराङ्गीकारस्थितिलक्षणपरिणामवान्प्रदीपः, सत्त्वात्, घटादिवदिति । अत्र बहु वक्तव्यं, तत्त्वभिधास्यते विस्तरेणानेकान्तप्रघट्टके । किंच[F-13] इन्द्रियजानां बुद्ध्यादिगुणानामुच्छेदः साध्यमानोऽस्ति भवता उतातीन्द्रियाणाम् ? तत्राद्यपक्षे सिद्धसाधनं, अस्माभिरपि तत्र तदुच्छेदाभ्युपगमात् । द्वितीयविकल्पे मुक्तौ कस्यचिदपि प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । मोक्षार्थी हि सर्वोऽपि निरतिशयसुखज्ञानादिप्राप्त्यभिलाषेणैव प्रवर्तते, न पुनः शिलाशकलकल्पमपगतसकलसुखसंवेदनमात्मानमुपपादयितुं यतते, यदि [ब]मोक्षावस्थायामपि पाषाणकल्पोऽपगतसुखसंवेदनलेशः पुरुषः संपद्यते, तदा कृतं मोक्षेण, संसार

(F-12-13-14) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एव वरीयान् । यत्र सान्तरापि सुखलेशप्रतिपत्तिरप्यस्ति । अतो न वैशेषिकोपकल्पिते मोक्षे कस्यचिद्गन्तुमिच्छा । उक्तंच-"वरं वृन्दावने वासः[F-14], श्रृगालैश्च सहोषितम् । नतु वैशेषिकीं मुक्तिं, गौतमो गन्तुमिच्छति ।।१।।"

व्याख्या का भावानुवाद :

उत्तरपक्ष (जैन) : आपका "**संतानत्व**" हेतु प्रमाण से बाधित होने के कारण साध्य को सिद्ध कर सकता नहीं है। इसलिए सत्य नहीं है। क्योंकि (१) "**संतानत्व**" हेतु आत्मा से सर्वथा भिन्न ऐसे बुद्धि आदि गुणो का उच्छेद करता है ? या (२) आत्मा से सर्वथा अभिन्न ऐसे बुद्धि आदि गुणो का उच्छेद करता है ? या (३) आत्मा से कथंचित् भिन्न ऐसे बुद्धि आदि गुणो का उच्छेद करता है ?

उसमें प्रथमपक्ष में हेतु आश्रयासिद्ध बन जाता है । क्योंकि संतानि से अत्यंतभिन्न संतान ही उपलब्ध होती नहीं है, असत् है। आत्मा से भिन्न सत्ता रखनेवाले बुद्धि आदि गुणो का आश्रय सिद्ध ही नहीं है कि जिसमें आपका हेतु रहे ! इसलिए हेतु आश्रयासिद्ध बनता है। स्वसाध्य को सिद्ध कर सकता नहीं है।

द्वितीयपक्ष भी उचित नहीं है। क्योंकि बुद्धि आदि गुण आत्मा से सर्वथा अभिन्न हो तो, बुद्धि आदि का उच्छेद होने से (संतान का उच्छेद होने से) संतानि ऐसे आत्मा का भी उच्छेद हो जायेगा ? इसलिए यह मोक्ष किसका होगा ?

तृतीय कथंचित् भिन्नाभिन्न पक्ष में वैशेषिको के अपने सिद्धान्त की हानिस्वरुप निग्रहस्थान आ जाता है। क्योंकि वैशेषिको ने धर्म और धर्मि को एकांतिक भिन्न माना है। वैसे ही, संतानत्वहेतु **विरुद्ध** भी है । क्योंकि कार्य-कारणभूत क्षणप्रवाहो को संतान कहा जाता है । वह कार्य-कारणभाव सर्वथा (एकांत) नित्यवाद में या एकांत अनित्यवाद में असंभवित है। अर्थक्रिया करने की शक्ति (वस्तु का अपने कार्य करने की शक्ति स्वरुप अर्थक्रियाकारित्व) तथा तन्मूलक कार्यकारणभाव तो अनेकांतवाद में ही हो सकता है। (उसका प्रतिपादन विशेष आगे करेंगे ।) इसलिए "संतानत्व" हेतु द्वारा आपके साध्य से बिलकुल विपरीत कथंचित् नित्यानित्य पदार्थ की ही सिद्धि होती है। इसलिए हेतु विरुद्ध भी है।

तथा उपरोक्त अनुमान निर्दिष्ट दृष्टांत **साध्यविकल है।** क्योंकि प्रदीपादि का अत्यंत उच्छेद असंभवित है। (दीपक जब बुझता है, तब दीपक के चमकते) भास्वर रुपवाले तैजस परमाणु भास्वररूप का त्याग करके अंधकार रुप में परिवर्तित होते है। परंतु दीपक का अत्यंत उच्छेद होता नहीं है।

अनुमान प्रयोग : पूर्वरुप का त्याग, उत्तररुप की उत्पत्ति और पुद्गलरुप से स्थिर रहने के परिणामवाला दीपक है। (परंतु अत्यंत उच्छेद होनेवाला दीपक नहीं है ।) क्योंकि सत् है। जैसे कि, घटादि।

इस विषय में बहोत कहने योग्य है। परंतु वह अनेकांत के प्रकरण में विस्तार से कहेंगे ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपरांत आप यह बताये की मोक्ष में इन्द्रियजन्य बुद्धि आदि गुणो का उच्छेद आप सिद्ध करना चाहते हो या इन्द्रियो की सहायता के बिना ही केवल आत्मा से उत्पन्न होनेवाला अतीन्द्रिय बुद्धि आदि गुणो का उच्छेद आप सिद्ध करना चाहते हो ?

उसमें प्रथमपक्ष में सिद्धसाधनदोष आता है। (जिसका प्रतिवादि स्वीकार करता हो, उस सिद्ध पदार्थो को सिद्ध करने का प्रयत्न करना उसे सिद्धसाधन दोष कहा जाता है। प्रथम पक्ष में सिद्ध साधन दोष आता है।) क्योंकि प्रतिवादि ऐसा हमारे द्वारा उसका स्वीकार किया ही गया है। इसलिए उसको सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रयोग बताना निरर्थक है।

दूसरे विकल्प में तो मोक्ष पाने के लिए कोई भी व्यक्ति प्रवृत्ति करेगी नहीं, मोक्ष के लिए होता पुरुषार्थ असंगत बन जायेगा। क्योंकि सभी मोक्षार्थी जीव (संसार के सुख से अतिशयित सुख तथा अतिशयितज्ञानादि को प्राप्त करने की अभिलाषा से ही मोक्ष प्राप्ति के पुरुषार्थ में प्रवर्तित होते है। परंतु पत्थर की शिला के टूकडो के समान सकलसुख के संवेदन से रहित (संवेदनरहित) आत्मा का उत्पाद करने के लिए प्रयत्न करते नहीं है। तथा यदि मोक्षावस्था में भी पाषाणसमान लेशमात्र भी सुख के संवेदनरहित आत्मा होता है, तो उस मोक्ष से क्या लाभ ? संसार ही श्रेष्ठ है। क्योंकि संसार में समय समय पे (दुःख के बाद) थोडा सा भी सुख होता है। इसलिए वैशेषिको के द्वारा कल्पित मोक्ष में जाने के लिए किसीको भी इच्छा नहीं होती है। **इसलिए कहा है कि...** "गौतमऋषि वैशेषिको के द्वारा कल्पित जडमुक्ति में जाना नहीं चाहते है। परंतु वृन्दावन के जंगल में श्यालो के साथ रहना अच्छा मानते है।"

एतेन यदूचुर्मीमांसका [चुर्नैयायिका] अपि-"यावदात्मगुणाः सर्वे, नोच्छिन्ना वासनादयः। तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्नावकल्प्यते ।।१।। धर्माधर्मनिमित्तो हि, संभवः सुखदुःखयोः। मूलभूतौ च तावेव, स्तम्भौ संसारसद्मनः ।।२।। तदुच्छेदे च तत्कार्यशरीराद्यनुपप्लवात्। नात्मनः सुखदुःखे स्त, इत्यसौ मुक्त उच्यते ।।३।। ननु तस्यामवस्थायां, कीदृगात्मावशिष्यते। स्वरूपैकप्रतिष्ठानः, परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ।।४।। उर्मिषट्कातिगं रूपं, तदस्याहुर्मनीषिणः। संसारबन्धनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम् ।।५।।" **[न्यायम० प्रमे० पृ० ७]** **उर्मयः**[F-15] **कामक्रोधमद-गर्वलोभदम्भाः**, "नहि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" **[छान्दो० ८/१२/१]**[F-16] **इत्यादि, तदप्यपास्तं द्रष्टव्यम्। यतः किं शुभकर्मपरिपाकप्रभवाणि भवसंभवानि सुखानि मुक्तौ निषिध्यमानानि सन्त्युत सर्वथा तदभावः। आद्ये सिद्धसाधनम्। द्वितीयेऽसिद्धः आत्मनः सुखस्वरूपत्वात्। न च पदार्थानां स्वरूपमत्यन्तमुच्छिद्यते, अतिप्रसङ्गात्। न च सुखस्वभावत्वमेवासिद्धं, तत्सद्भावे प्रमाणसद्भावात्। तथाहि-आत्मा सुखस्वभावः**[F-17], **अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वात्** [F-18]**अनन्यपरतयोपादीयमानत्वाच्च,**

(F-15-16-17-18) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वैषयिकसुखवत् । यथा [F-19]सुखार्थो मुमुक्षुप्रयत्नः, प्रेक्षापूर्वकारिप्रयत्नत्वात्, कृषीवल-प्रयत्नवदिति । तच्च सुखं मुक्तौ परमातिशयप्राप्तं, सा चास्यानुमानात्प्रसिद्धा यथा, सुखतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं, तरतमशब्दवाच्यत्वात्, परिमाणतारतम्यवत् । तथाहि-"[F-20]आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते । यदा दृष्ट्वा परं ब्रह्म, सर्वं त्यजति बन्धनम् ।।१।। तदा तन्नित्यमानन्दं, मुक्तः स्वात्मनि [F-21]विन्दति ।" **इति श्रुतिसद्भावात् । तथा-**"सुखमात्यन्तिकं यत्र, बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्[F-22] । तं वै मोक्षं विजानीयाद्दुःप्रापमकृतात्मभिः ।।१।।" **इति स्मृतिवचनाच्च मोक्षस्य सुखमयत्वं प्रतिपत्तव्यमिति स्थितम् ।।**

व्याख्या का भावानुवाद :

इसके द्वारा मीमांसको के (? नैयायिकोके) कथनो का भी खंडन हो जाता है। वे कहते है कि "**जब तक वासना (संस्कार), पुण्य, पाप आदि सभी गुणो का उच्छेद होता नहीं है, तब तक आत्यंतिकी दुःखनिवृत्ति** संभवित नहीं है। जीवो के सुख-दुःख की उत्पत्ति धर्माधर्म = पुण्य-पाप निमित्तक है। वे दोनो ही संसाररुपी प्रासाद के मूलभूत स्तंभ है। उस धर्माधर्म का उच्छेद होने से उसके कार्यभूत शरीरादि उत्पन्न होते नहीं है। उसके अभाव में आत्मा को सुख-दुःख होता नहीं है। यही मोक्ष कहा जाता है।

प्रश्न : आत्मा के सभी गुणो का उच्छेद हो जाता हो तो मोक्षावस्था में आत्मा किस प्रकार का रहता है ? **उत्तर :** मोक्षावस्था में आत्मा आत्मस्वरुप में अवस्थानयुक्त, सभी गुणो से रहित होता है तथा आत्मा का छः उर्मिसे अतीतस्वरुप होता है। संसार के बंधन के अधीन दुःख-क्लेशादि से अदूषित स्वरुप होता है। इस अनुसार से विद्वानोने कहा है। ॥१-५॥ काम, क्रोध, मद, गर्व, लोभ, दंभ ये छः उर्मियाँ है तथा "शरीरधारी आत्मा को सुख-दुःख का अभाव होता नहीं है। वह सुखी या दुःखी ही होता है। परंतु अशरीरी आत्मा को सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय स्पर्श नहीं कर सकता है।"

इत्यादि मीमांसको (नैयायिको) की बातो का खंडन हो जाता है।

उपरांत आप नैयायिको, ने हमको यह बात बतायें कि - मोक्ष में शुभकर्मो के परिपाक से उत्पन्न होते-संसार में उत्पन्न होते सुखो का निषेध करते है या सर्वथा सुखो का अभाव कहते है ?

प्रथम पक्ष में सिद्धसाधन दोष आता है। क्योंकि वह हमको भी मान्य ही है। द्वितीयपक्ष असिद्ध है। क्योंकि आत्मा सुखस्वरुप है तथा पदार्थो के स्वरुप का अत्यंत उच्छेद होता नहीं है। क्योंकि वैसा मानने से अतिव्याप्ति आती है।

आत्मा का सुखस्वरुप असिद्ध नहीं है। क्योंकि उसके सद्भाव में प्रमाण विद्यमान है। अनुमानप्रयोग

(F-19-20-21-22) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस अनुसार से है - "**आत्मा सुख के स्वभाववाला है। क्योंकि वह अत्यंतप्रिय बुद्धि का विषय है तथा वह दूसरे के लिए नहीं, परंतु अपनी शांति के लिए ग्रहण किया जाता है। जैसे कि, वैषयिक सुख।**" तथा "**मुमुक्षु का तप, चारित्र इत्यादि में प्रयत्न सुख के लिए है। क्योंकि बुद्धिमान व्यक्ति का बुद्धिपूर्वक किया गया प्रयत्न है। जैसे कि, किसानो का खेती करने का प्रयत्न।**"

वह सुख मोक्ष में परमातिशय प्राप्त होता है। वह इस अनुमान से प्रसिद्ध है - "सुख की तरतमता कहीं विश्राम पाती है। अर्थात् परमातिशयता को प्राप्त करती है। क्योंकि तरतम शब्द से वाच्य है। (उसका क्रमिक विकास होता है।) जैसे कि, परिमाण की तरतमता अर्थात् परिमाण का क्रमिक विकास।"

तथा "**आनंद ही ब्रह्म का स्वरुप है। और वह मोक्ष में (पूर्णतया) प्रकट होता है। जिस समय परब्रह्म का साक्षात्कार करके सर्व अविद्यादि बंधनो को तोड डालता है उस समय बंधनो से मुक्त आत्मा अपने स्वरुप में हंमेशा उस परमानंद का अनुभव करता है।**" यह श्रुति के वचन से भी मोक्ष में (आत्मा के) आनंद स्वरुप का स्पष्ट प्रतिपादन होता है।

तथा "**जहां आत्यंतिकसुख है, जिसका सुख अतीन्द्रिय है, वह सुख मात्र बुद्धिग्राह्य ही है और जो आत्मज्ञान से रहित मूढ आत्मा को दुःख से प्राप्त होता है, उसे मोक्ष जानना।** इस श्रुति के वचन से मोक्ष की सुखमयता का स्वीकार करना चाहिए। इस तरह से मोक्ष में सुख(आनंद)मयता सिद्ध होती है। इसलिए वैशेषिको की मान्यता का खंडन हो जाता है।

अत्र सांख्या ब्रुवते । इह शुद्धचैतन्यस्वरूपोऽयं पुरुषः, तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यशक्तत्वादकर्ता, साक्षादभोक्ता, जडां प्रकृतिं सक्रियामाश्रितः । अज्ञानतमश्छन्नतया प्रकृतिस्थमपि सुखादिफलमात्मनि प्रतिबिम्बितं चेतयमानो मोदते मोदमानश्च प्रकृतिं सुखस्वभावां मोहान्मन्यमानः संसारमधिवसति । यदा तु [F-23]ज्ञानमस्याविर्भवति "दुःखहेतुरियं न ममानया सह संसर्गो युक्तः" इति, तदा विवेकख्यातेर्न तत्संपादितं कर्मफलं भुङ्क्ते । सापि च "विज्ञातविरूपाहं न मदीयं कर्मफलमनेन भोक्तव्यम्," इति मत्वा कुष्ठिनीस्त्रीवद्दूरादवसर्पति । तत उपरतायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्षः । स्वरूपं च [F-24]चेतनाशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा प्रतिदर्शितविषयाऽनन्ता च अतस्तदात्मक एव मुक्तात्मा न पुनरानन्दादिस्वभावः, तस्य प्रकृतिकार्यत्वात्, तस्याश्च जीवनाशं नष्टत्वात् ।।

(F-23-24) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या का भावानुवाद :

पूर्वपक्ष (सांख्य) : शुद्ध चैतन्य स्वरुप पुरुष है। वह पुरुष तिनके को (तृणको) भी टेढा करने के लिए असमर्थ होने से अकर्ता है। वह पुरुष साक्षात् अभोक्ता है। जडप्रकृति के सहारे से पुरुष सक्रिय बनता है। अर्थात् सक्रिय ऐसी प्रकृति के द्वारा पुरुष भोक्ता बनता है। अज्ञानरुपी अंधकार से व्याप्त होने से प्रकृति में रहे हुए सुखादिफल को, अपने आत्मा में प्रतिबिंबित होने के कारण अपना ही मानकर आनंद करता है - पुरुष प्रकृति के सुखस्वभाव को अपना मानते हुए संसार में भटकता है। (कहने का मतलब यह है कि प्रकृति ही कर्ता है। सुख-दुःखादि स्वभाव प्रकृति के ही है। आत्मा के नहीं है। उस सुखादि का आत्मा साक्षात् भोक्ता बनता नहीं है। परन्तु अज्ञान से व्याप्त आत्मा में (पुरुष में) प्रकृति का प्रतिबिंब पडता है तब प्रकृति के सुखादि स्वभावो को पुरुष अपना मानने लगता है और वैसे भ्रामकसुखादि के लिए संसारचक्र में फिरता रहता है।) परंतु जब पुरुष को भेदज्ञान का आविर्भाव होता है। अर्थात् **"इस प्रकृति के विकार मेरे दुःखका कारण है। इसके साथ मेरा संसर्ग युक्त नहीं है।"** ऐसे प्रकार की विवेकख्याति से प्रकृति संसर्गयुक्त नहीं है, ऐसे प्रकार की विवेकख्याति से प्रकृति द्वारा संपादित कर्म के फल को पुरुष भुगतता नहीं है। प्रकृति भी **"यह पुरुष मुज से विरक्त हुआ है। उसने मुजको कुरुपा मान ली है।"** ऐसा मानकर कुष्ठरोगी स्त्री की तरह (स्वयं) पुरुष से दूर सरकती है - दूर रहती है। उसके बाद प्रकृति उपरत होने से पुरुष का स्वरुप में अवस्थान होता है, उसे मोक्ष कहा जाता है। अर्थात् प्रकृति का संसर्ग नाश होने से पुरुष अपने शुद्धचैतन्यस्वरुपमात्र में स्थित हो जाता है। इस स्वरुपावस्थिति को मोक्ष कहा जाता है।

पुरुष का स्वरुप चैतन्यमय है। वह चेतनाशक्ति अपरिवर्तनशील है। अर्थात् नित्य है। अप्रतिसंक्रमादर्पण की तरह स्वयं विषयो के आकार से होती नहीं है। परंतु प्रदर्शितविषयवाली (बुद्धि द्वारा) विषयो का प्रदर्शन करती है - और अनंत है। मुक्तात्मा ऐसे प्रकार के शुद्धचैतन्यस्वरुप में अवस्थित होते है। परंतु आनंदादिस्वरुप से नहि, क्योंकि आनंदादि स्वभाव प्रकृति के कार्य है। अर्थात् प्रकृति के स्वभाव है, पुरुष के स्वभाव नहीं है। प्रकृति तो मुक्तजीव की अपेक्षा से नाश हुई होने से, मुक्त पुरुष के उपर उसका अधिकार नाश हुआ है। (अत्र उल्लेखनीय है कि, यहाँ चेतनाशक्ति का स्वरूप हमारे क्षयोपशम अनुसार बताया है। विशेष जिज्ञासुओं को योगभाष्य की तत्त्ववैशारदी टीका से देख लेना। उसका विवेचन योग भा. १/२ में किया है।)

अत्र वयं ब्रूमः । यत्तावदुक्तं "संसार्यात्मा अज्ञानतमश्छन्नतया" इत्यादि, तदसुन्दरम्, यतः किमज्ञानमेव तम उताज्ञानं च तमश्चेति । प्रथमपक्षे मुक्तात्मापि प्रकृतिस्थमपि सुखादिफलं किं नात्मस्थं मन्येत, ज्ञानस्य बुद्धिधर्मत्वाद्बुद्धेश्च प्रकृत्या सममुपरतत्वात्, मुक्तात्मनोऽपि ज्ञानाभावेनाज्ञानतमश्छन्नत्वाविशेषात् । द्वितीयपक्षे तु किमिदमज्ञानादन्यत्तमो नाम ? रागादिकमिति चेत् ?, तन्न, तस्यात्मनोऽत्यन्तार्थान्तरभूतप्रकृतिधर्मतयात्माच्छादकत्वानुपपत्तेः । आच्छादकत्वे वा मुक्तात्मनोऽप्याच्छादनं स्यात्, अविशेषात् । किंच संसार्यात्म-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नोऽकर्तुरपि भोक्तृत्वेऽङ्गीक्रियमाणे कृतनाशाकृतागमादयो दोषाः प्रसज्यन्ते । किंच, प्रकृति-पुरुषयोः संयोगः केन कृतः किं प्रकृत्योतात्मना वा ? न तावत्प्रकृत्या, तस्याः सर्वगतत्वान्मुक्तात्मनोऽपि तत्संयोगप्रसङ्गः । अथात्मना, तर्हि स आत्मा शुद्धचैतन्यस्वरूपः सन् किमर्थं प्रकृतिमादत्ते ? तत्र कोऽपि हेतुरस्ति न वेति वक्तव्यम् । अस्ति चेत् ? तर्हि स हेतुः प्रकृतिर्वा स्यादात्मा वा ?, अन्यस्य कस्याप्यनभ्युपगमात् । आद्यपक्षे यथा सा प्रकृतिस्तस्यात्मनः प्रकृतिसंयोगे हेतुः स्यात्, तथा मुक्तात्मनः किं न स्यात् ? प्रकृतिसंयोगात्पूर्वं शुद्धचैतन्य-स्वरूपत्वेनोभयोरप्यविशेषात् नियामकाभावाच्च । द्वितीयपक्षे स आत्मा प्रकृत्यात्मनोः संयोगे हेतुत्वं प्रतिपद्यमानः किं स्वयं प्रकृतिसहकृतः सन् हेतुर्भवति तद्वियुक्तो वा ? आद्ये तस्यापि प्रकृतिसंयोगः कथमित्यनवस्था । द्वितीये पुनः स प्रकृतिरहित आत्मा शुद्धचैतन्य-स्वरूपः सन् किमर्थं प्रकृत्यात्मनोः संयोगे हेतुत्वं प्रतिपद्यते ? तत्र कोऽपि हेतुर्विलोक्य इति तदेवावर्त्तत इत्यनवस्था । इति सहेतुकः प्रकृत्यात्मन संयोगो निरस्तः ।

व्याख्या का भावानुवाद :

उत्तरपक्ष (जैन) : आपने पहले संसारी आत्मा को अज्ञानरुप अंधकार से आच्छादित बताया था। तो हमारा प्रश्न है कि, क्या अज्ञान ही अंधकार है, अर्थात् अज्ञान का नाम ही अंधकार है या अज्ञान और अंधकार दो वस्तुयें है ?

यदि अज्ञान का नाम ही अंधकार है और अज्ञानी पुरुष प्रकृतिके सुख को अपना सुख मानता है, तो मुक्तात्मा भी अज्ञानी होने से प्रकृति के सुख को अपने का क्यों मानता नहीं है ? मुक्तात्मा अज्ञानी इस तरह से है - ज्ञान बुद्धि का धर्म है और बुद्धि प्रकृति के साथ ही मुक्तात्मा में नष्ट हुई है। इसलिए जैसे पुरुष में से प्रकृति का वियोग हुआ है, वैसे बुद्धि का भी वियोग होगा। उसके योग से मुक्तात्मा को भी अज्ञानी मानना पडेगा। क्योंकि वह भी (बुद्धि के वियोग से) अज्ञान नाम के अंधकार से आच्छादित ही है। अर्थात् संसारी आत्मा की तरह मुक्तात्मा भी अज्ञान अंधकार से आच्छादित है। इसलिए संसारी आत्मा की तरह मुक्तात्मा भी अज्ञानी सिद्ध होगा। इसलिए दोनो के बीच कोई फर्क नहि रहेगा, कि जो इष्ट नहीं है। इसलिए प्रथमपक्ष उचित नहीं है।

यदि अज्ञान से अंधकार भिन्न है। अर्थात् दो भिन्न वस्तुयें है, तो आप बताये कि कौन से भिन्न अंधकार है ? कि जिससे आच्छादित होके आत्मा अपने मूलस्वरुप को ढक देता है। रागादि तो अंधकार बनकर आत्मा के स्वरुप को आच्छादित नहीं कर सकते है। क्योंकि रागादि आत्मा से अत्यंत अर्थान्तर है। अर्थात् रागादि आत्मा से अत्यंतभिन्न वस्तु है। रागादि प्रकृति के धर्म होने से आत्मा को आच्छादित करने के लिए समर्थ बनते नहीं है।

यदि रागादि प्रकृति के धर्म आत्मा से अत्यंत भिन्न होने पर भी आत्मा को आच्छादित करते है, ऐसा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मानोंगे तो मुक्तात्मा भी रागादि से आच्छादित होने की आपत्ति आयेगी। क्योंकि प्रकृति के धर्म ऐसे रागादि से संसारी आत्मायें और मुक्तात्मायें समानतया भिन्न है। आत्मा प्रकृति से भिन्न होने से चाहे वह मुक्तात्मा हो ! संसारी आत्मा या मुक्तात्मा दोनो प्रकृति से सर्वथाभिन्न होने से प्रकृति के रागादिधर्म संसारी आत्मा को आच्छादित करते है, वैसा मानोंगे तो मुक्तात्मा को भी आच्छादित करेंगे वैसा मानना पडेगा, कि जो आपको इष्ट नहीं है। इसलिए द्वितीय पक्ष भी अयोग्य है।

उपरांत, आपने संसारी आत्मा कर्ता नहीं है, फिर भी उसको भोक्ता के रुप में स्वीकार किया है। वह भी उचित नहीं है। क्योंकि संसारी आत्मा को कर्ता के रुप में अस्वीकार करने में और भोक्ता के रुप में स्वीकार करने में कृतनाश और अकृताभ्यागम इत्यादि दोष आ जायेंगे। कहने का मतलब यह है कि, जो प्रकृतिने कार्य करके पुरुषार्थ किया है, उसका फल उसको नहि मिलेगा। परंतु जिसने कोई पुरुषार्थ किया नहीं है वैसे पुरुष को फल मिलेगा। इसलिए प्रकृति ने किये हुए कर्म का फल प्रकृति को न मिलने से कृतनाश दोष आयेगा। जिसने कोई कर्म किया नहीं है। वैसे पुरुष को फल मिलने से अकृताभ्यागमदोष आयेगा। (ये दोनो दोष इसलिए कहा जाता है कि जगत में जो कर्म करे, उसको फल मिलेगा और जो कर्म न करे, उसको फल मिलता नहीं है। इससे विपरीत दिखाई नहीं देता है। इससे विपरीत बने तब ये दोष पैदा होते है।)

किंच, आप जवाब दिजीये कि प्रकृति और पुरुष का संयोग किसके द्वारा किया गया है ? क्या प्रकृति द्वारा दोनो का संयोग हुआ है कि क्या आत्मा द्वारा उभय का संयोग हुआ है ?

"प्रकृति द्वारा उभय का संयोग हुआ है।" वैसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्रकृति सर्वगत होने से मुक्तात्मा से साथ भी प्रकृति का संयोग होने की आपत्ति आयेगी। (तदुपरांत, आपके मतमें प्रकृति स्वंगत होने से सभी पदार्थ के साथ उसका संयोग है। तो प्रकृति संसारी आत्मा के साथ ही संयोग करेंगी और मुक्तात्मा के साथ संयोग नहीं करेंगी, इसमें नियामक कौन है। - ये प्रश्न भी खडा होगा।)

"आत्मा द्वारा उभय का संयोग हुआ है।" ऐसा मानना भी योग्य नहीं है। क्योंकि आत्मा शुद्धचैतन्यस्वरुप है, तो उसको क्यों प्रकृति के साथ संयोग करना पडे ?

आत्मा प्रकृति के साथ संयोग करता है, उसमें कोई हेतु है या नहीं ? वह भी आपको कहना चाहिए।

यदि आप ऐसा कहोंगे कि आत्मा को, प्रकृति को ग्रहण करने में हेतु है। तो वह हेतु क्या आत्मा है या प्रकृति है ? तीसरा कोई हेतु तो आप दे नहीं सकते। क्योंकि उन दोनो से अन्य वस्तु का स्वीकार आपने किया ही नहीं है।

"आत्मा को प्रकृति के साथ के संयोग में कारण (हेतु) प्रकृति है।" ऐसा प्रथमपक्ष उचित नहीं है। क्योंकि प्रकृति आत्माके प्रकृति के साथ के संयोग में कारण हो, तो प्रकृति के साथ मुक्तात्मा का भी संयोग क्यों न हो ? क्योंकि प्रकृति के संयोग से पहले संसारी आत्मा और मुक्तात्मा दोनो का शुद्धचैतन्यस्वरुप होने के कारण दोनो समान ही है। वैसे ही प्रकृति का संसारी आत्मा के साथ ही संयोग हो और मुक्तात्मा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के साथ संयोग हो ही नहीं। उसमें कोई नियामक कारण भी नहीं है। इस प्रकार, प्रथमपक्ष उचित नहीं है।

"आत्मा के प्रकृति के साथ के संयोग में हेतु आत्मा है।" ऐसा द्वितीयपक्ष उचित नहीं है। क्योंकि आप जवाब दीजिये कि आत्मा के प्रकृति के साथ के संयोग में हेतु बनता आत्मा प्रकृति सहित हेतु बनता है या प्रकृति के सहकार बिना हेतु बनता है ?

प्रकृति सहित आत्मा प्रकृति के संयोग में हेतु बनता है, इस प्रथम पक्ष में अनवस्थादोष आता है। क्योंकि "उसका भी प्रकृति के साथ संयोग किस तरह से हुआ ? आत्मा से या प्रकृति से ?" इस तरह से बारबार कल्पना करने स्वरुप अनवस्था दोष आयेगा।

"प्रकृति रहित आत्मा प्रकृति के संयोग में कारण बनता है।" यह द्वितीयपक्ष उचित नहीं है। क्योंकि प्रकृति रहित शुद्धचैतन्यस्वरुपवाला आत्मा क्यों प्रकृति और आत्मा के संयोग में कारण बनेगा ? किसी भी तरह से वह संभव नहीं है। शुद्धचैतन्यस्वरुपवाला आत्मा भी उभय के संयोग में हेतु बनता है, उसमें कोई कारण को आगे करोंगे तो पुनः उपर बताये अनुसार अनवस्था आयेगी।

इस तरह से **"प्रकृति और आत्मा का संयोग सहेतुक है।"** इस बात का खंडन हो जाता है।

अथ निर्हेतुकः, तर्हि मुक्तात्मनोऽपि प्रकृतिसंयोगप्रसङ्गः । किंच, अयमात्मा प्रकृतिमुपाददानः पूर्वावस्थां जह्यान्न वा । आद्येऽनित्यत्वापत्तिः । द्वितीये तदुपादानमेव दुर्घटम् । नहि बाल्यावस्थामत्यजन् देवदत्तस्तरुणत्वं प्रतिपद्यते । तन्न कथमपि सांख्यमते प्रकृतिसंयोगो घटते ततश्च संयोगाभावाद्वियोगोऽपि दुर्घट एव, संयोगपूर्वकत्वाद्वियोगस्य । किंच, यदुक्तं "विवेकख्यातेः" इत्यादि, तदविचारितरमणीयम् । [F-25]तत्र केयं ख्यातिर्नाम प्रकृतिपुरुषयोः स्वेन स्वेन रूपेणावस्थितयोर्भेदेन प्रतिभासनमिति चेत् ? सा कस्य, प्रकृतेः पुरुषस्य वा ? न प्रकृतेः, [F-26]तस्या असंवेद्यपर्वणि स्थितत्वादचेतनत्वादनभ्युपगमाच्च । नाप्यात्मनः, तस्याप्यसंवेद्यपर्वणि स्थितत्वात् । तथा यदपि "विज्ञातविरुपाहं" इत्याद्युक्तं, तदप्यसमीक्षिताभिधानं, [F-27]प्रकृतेर्जडतयेत्थं विज्ञानानुपपत्तेः । किंच, विज्ञातापि प्रकृतिः संसारदशावन्मोक्षेऽप्यात्मनो भोगाय स्वभावतो वायुवत्प्रवर्ततां, तत्स्वभावस्य नित्यतया तदापि सत्त्वात् । नहि प्रवृत्तिस्वभावो वायुर्विरूपतया येन ज्ञातस्तं प्रति तत्स्वभावादुपरमत, इति कुतो मोक्षः स्यात् ? तदा तदसत्त्वे वा प्रकृतेर्नित्यैकरूपताहानिः, पूर्वस्वभावत्यागेनोत्तरस्वभावोपादानस्य नित्यैकरूपतायां विरोधात्, परिणामिनि नित्य एव तदविरोधात् । प्रकृतेश्च परिणामिनित्यत्वाभ्युपगमे आत्मनोऽपि तदङ्गीकर्तव्यं, तस्यापि प्राक्तनसुखोपभोक्तृस्वभावपरिहारेण मोक्षे तदभोक्तृस्वभावस्वीकारात्, अमुक्तादिस्वभावत्यागेन मुक्तत्वा-

---

(F-25-26-27) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिस्वभावोपादानाच्च । सिद्धे चास्य परिणामिनित्यत्वे सुखादिपरिणामैरपि परिणामित्वमस्याभ्युपगन्तव्यं, अन्यथा मोक्षाभावप्रसङ्गः । ततश्च न कथमपि सांख्यपरिकल्पितो मोक्षो घटत इति यथोक्तस्वरूप एवानन्तसुखादिस्वरूपोऽभ्युपगन्तव्यः ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

यदि प्रकृतिसंयोग निर्हेतुक हो तो मुक्तात्मा को भी प्रकृति के संयोग का प्रसंग आयेगा।

वैसे ही आप जवाब दीजिये कि.... आत्मा जिस समय प्रकृति को ग्रहण करता है, उस समय पहले की अवस्था का त्याग करता है या त्याग करता नहीं है ?

यदि आत्मा प्रकृति को ग्रहण करे तब पूर्वअवस्था का त्याग करता हो, तो अनित्य मानने की आपत्ति आयेगी। अर्थात् आप आत्मा को जो कूटस्थनित्य मानते हो वह नहीं मान सकोंगे और यदि प्रकृति के ग्रहणकाल में आत्मा पूर्व अवस्था का त्याग करता न हो, तो प्रकृति का ग्रहण संभव नहीं बनेगा। क्योंकि जैसे देवदत्त बाल्य अवस्था को छोडता नहीं है तब तक तरुणावस्था का स्वीकार नहीं कर सकता है। अवस्थान्तर की प्राप्ति में पूर्वअवस्था का त्याग जरुरी है। वैसे आत्मा अपने कूटस्थनित्य स्वभाव का त्याग न करे, तब तक प्रकृति के साथ की संयोगरुप नई अवस्था का स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिए किसी भी तरह से सांख्यमत में आत्मा के साथ प्रकृति का संयोग होता नहीं है। इसलिए संयोग के अभाव में प्रकृति का वियोग भी होता नहीं है। क्योंकि संयोगपूर्वक ही वियोग होता है अर्थात् जिनका संयोग हो, उनका ही वियोग हो सकता है।

तदुपरांत, आपने पहले विवेकख्याति की चर्चा की थी, वह भी विचारविहीन रमणीय है। आप बतायें की विवेकख्याति का अर्थ क्या है ? यदि अपने-अपने स्वरुप में अवस्थित प्रकृति और पुरुष का भिन्न-भिन्न प्रतिभास होना वही विवेकख्याति का अर्थ है, तो वैसी विवेकख्याति प्रकृति को होती है या पुरुष को होती है ?

प्रकृति को तो विवेकख्याति होती नहीं है। क्योंकि प्रकृति स्वयं असंवेद्यपर्व में स्थित है अर्थात् उसमें कोई ज्ञान होता नहीं है। वह स्थित है। प्रकृति अचेतन है तथा प्रकृति में विवेकख्याति का आपने स्वीकार नहीं किया है।

आत्मा को भी विवेकख्याति होती नहीं है। क्योंकि वह भी स्वयं असंवेद्यपर्व में स्थित है। इसलिए अज्ञानी है।

आपने **"प्रकृति भी समज जाती है कि पुरुषने मुजे विरुपा मान ली है।"** इत्यादि जो कहा था, वह बिना सोचे किया गया कथन है। क्योंकि प्रकृति जड होने के कारण ऐसे प्रकार का उसको ज्ञान होना संभव नहीं है। तथा मान ले कि पुरुष ने प्रकृति को विरुपा मान लिया, तो भी विज्ञानवाली प्रकृति संसार अवस्था में जैसे पुरुष के भोग के लिए प्रवर्तित है, वैसे मोक्ष में भी मुक्तात्मा के लिए स्वभाव से प्रवर्तित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होगी। जैसे वायु स्वभाव से सर्वत्र पहुंच जाता है। वैसे प्रकृति भी मोक्ष में आत्मा के भोग के लिए स्वभाव से पहुंच जाती है। और वह स्वभाव नित्य होने के कारण तब भी विद्यमान ही है। इसलिए किसी भी तकलीफ के बिना मोक्ष में आत्मा के भोग के लिए पहुंच जायेगी। प्रवृत्ति के स्वभाववाला वायु जो पुरुष को वायु पसंद न हो अर्थात् वायु की विरुपता जो पुरुष को मालूम हुई है, उस पुरुष के प्रति उसकी प्रवृत्ति का स्वभाव नाश नहीं होता है। अर्थात् जिसको वायु पसंद न हो उसके पास न जाना, ऐसा वायु से नहीं होता है। वैसे मोक्षावस्था में प्रकृति की कुरुपता को जानने वाले आत्मा के प्रति प्रकृति का स्वभाव नष्ट नहीं हो जाता और इसलिए मोक्षावस्था में भी आत्मा के भोग के लिए प्रकृति पहुंच जाती हो, तो आत्मा का मोक्ष किस तरह से होगा ? अथवा मोक्षावस्था में प्रकृति का पुरुष, भोगस्वरुप स्वभाव विद्यमान नहीं है वैसा कहोंगे तो प्रकृति का नित्यतारुप स्वभाव ही चला जायेगा। अर्थात् प्रकृति का नित्यस्वभाव नहीं माना जा सकेगा, क्योंकि पूर्वस्वभाव का त्याग और उत्तर स्वभाव का स्वीकार कूटस्थ नित्य पदार्थ में संभव नहीं है। वह तो परिणामिनित्य पदार्थ में ही संभव है। अर्थात् परिणामि नित्य पदार्थ में ही पूर्व स्वभाव का त्याग और उत्तरस्वभाव के स्वीकार का विरोध नहीं है।

यदि प्रकृति को परिणामिनित्य स्वीकार करोंगे तो आत्मा को भी परिणामिनित्य स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि आत्मा भी मोक्ष में अपने पूर्व के सांसारिक सुख भुगतने के स्वभाव का परिहारपूर्वक उस सांसारिक सुख को नहि भुगतने के स्वभाववाला स्वीकार किया गया है तथा आत्मा मोक्ष में अमुक्तत्वादिस्वभाव के त्यागपूर्वक मुक्तत्वादिस्वभाव का स्वीकार करता है तथा आत्मा परिणामिनित्य सिद्ध होने पर भी सुखादि परिणामो के द्वारा भी आत्मा को परिणामी स्वीकार करना पडेगा। अर्थात् आत्मा में ज्ञान, सुख आदि परिणाम भी मानने चाहिए। यदि आत्मा का अनंत सुखादि रुप में परिणमन न होता हो, तो उसका मोक्ष भी नहीं हो सकेगा।

इसलिए किसी भी तरह से सांख्यो के द्वारा परिकल्पित मोक्ष संगत होता नहीं है। इस प्रकार परिणामिनित्य स्वरुपवाले आत्मा में ही अनंत सुखादि स्वरुप का स्वीकार करना चाहिए। अर्थात् आत्मा को परिणामिनित्य स्वरुपवाला तथा अनंतज्ञानादि स्वरुपवाला स्वीकार करना चाहिए।

अथ सौगताः संगिरन्ते । ननु ज्ञानक्षणप्रवाहव्यतिरेकेण कस्याप्यात्मनोऽभावात्कस्य मुक्तौ ज्ञानादिस्वभावता प्रसाध्यते ? मुक्तिश्चात्मदर्शिनोदूरोत्सारिता-यो हि पश्यत्यात्मानं स्थिरादिरूपं तस्यात्मनि स्थैर्यगुणदर्शननिमित्तस्नेहोऽवश्यंभावी, आत्मस्नेहाच्चात्मसुखेषु परितृप्यन् सुखेषु तत्साधनेषु च दोषांस्तिरस्कृत्य गुणानारोपयति, गुणदर्शी च परितृप्यन्ममेतिः सुखसाधनान्युपादत्ते । ततो यावदात्मदर्शनं तावत्संसार एव । तदुक्तम्-"यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतस्नेहः । स्नेहात्सुखेषु तृप्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते ।।१।। गुणदर्शी परितृप्यन्ममेति सुखसाधनान्युपादत्ते । तेनात्माभिनिवेशो यावत्तावत्स संसारः ।।२।। आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ । अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः समायान्ति ।।३।।" [प्र०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वा० १/२१९-२२१] ततो मुक्तिमिच्छता पुत्रकलत्रादिकं स्वरूपं चानात्मकमनित्यमशुचि दुःखमिति [F-28]श्रुतमय्या चिन्तामय्या च भावनया भावयितव्यम्, एवं भावयतस्तत्राभिष्वङ्गाभावादभ्यासविशेषाद्वैराग्यमुपजायते, ततः सास्रवचित्तसंतानलक्षणसंसारविनिवृत्तिरूपा मुक्तिरुपपद्यते । अथ तद्भावनाभावेऽपि कायक्लेशलक्षणात्तपसः सकलकर्मप्रक्षयान्मोक्षो भविष्यतीति चेत् ? न, कायक्लेशस्य कर्मफलतया नारकादिकायसंतापवत् तपस्त्वायोगात्[F-29] । विचित्रशक्तिकं च कर्म, विचित्रफलदानान्यथानुपपत्तेः । तच्च कथं कायसंतापमात्रात् क्षीयते, अतिप्रसङ्गात् । अथ तपःकर्मशक्तीनां संकरेण [F-30]क्षयकरणशीलमिति कृत्वा एकरूपादपि तपसश्चित्रशक्तिकस्य कर्मणः क्षयः । नन्वेवं स्वल्पक्लेशेनोपवासादिनाप्यशेषस्य कर्मणः क्षयापत्तिः, शक्तिसांकार्यान्यथानुपपत्तेः । उक्तंच-कर्मक्षयाद्धि मोक्षः स च तपसस्तच्च कायसंतापः कर्मफलत्वान्नारकदुःखमिव कथं तपस्तत्स्यात् ।।१।। अन्यदपि चैकरूपं तच्चित्रक्षयनिमित्तमिह न स्यात् । तच्छक्तिसंकरः क्षयकरीत्यपि वचनमात्रम् ।।२।।" तस्मान्नैरात्म्यभावनाप्रकर्षविशेषाच्चित्तस्य निःक्लेशावस्था मोक्षः ।।

(अब बौद्धो ने इस विषय में अपना जो अभिप्राय (मत) प्रकट किया है। वह बताते है।)

पूर्वपक्ष (बौद्ध) : प्रतिक्षण में नष्ट होनेवाले ज्ञानक्षण के प्रवाह को छोडकर दूसरे किसी आत्मा का अभाव होने से मुक्ति में किस की ज्ञानादि स्वभावता सिद्ध करते हो ? (कहने का मतलब यह है कि ज्ञानक्षण के प्रवाह से अतिरिक्त दूसरा कोई आत्मा नहीं है। जब ज्ञानक्षण के प्रवाह का अत्यंत उच्छेद हो जाता है तब मोक्ष होता है। उपरांत, कोई ज्ञान आदि स्वभावो में रहनेवाला अनुयायी आत्मा हो, तो वह मोक्ष में अनंतज्ञानादिस्वभावो को धारण कर लेता। परंतु ज्ञानधारा को छोडकर आत्मा नाम का कोई अतिरिक्त पदार्थ ही नही है, कि वह संभव बने।)

वैसे ही वास्तविकता तो यह है, कि आत्मदर्शीयों की = आत्मा की सत्ता माननेवालो की मुक्ति ही हो नहीं सकती। आत्मदर्शीयों की मुक्ति का अभाव इस अनुसार से है - जो स्थिरादिस्वरुप आत्मा को देखता है। अर्थात् जो आत्मा को नित्य रहनेवाला देखता है, उसको आत्मा में स्थिरता--नित्यत्व आदि गुणो के कारण अवश्य स्नेह होगा। अर्थात् आत्मा में स्थिरता नित्यत्व-गुणदर्शननिमित्तक स्नेह अवश्य होगा। और आत्मा के स्नेह (राग) से आत्मा के सुखो में तृप्त होता (सुखो के लिए) प्रयत्न करता होगा। उसके योग से सुखो में और सुख के साधनो में (दोष होने पर भी वे) दोषो की उपेक्षा करके (सुखो और सुख के साधनो में) गुणो का आरोप करता रहेगा। इस तरह से जिसमें दोष है, उसमें भी गुणो को देखनेवाला व्यक्ति (उन सुखो में) तृप्त होता (यह मेरे सुख के साधन है।) ऐसे ममत्वपूर्वक वे साधनो को ग्रहण करता है। उसके योग से पाप का बंध करके संसारपरिभ्रमण करता है। इसलिए जब तक आत्मदर्शन है, तब तक संसार ही है।

(F-28-29-30) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए कहा है कि "**जो आत्मा को (नित्यत्व आदि स्वरुप में) देखता है उनको आत्मा में "मैं हूं"** इस प्रकार का सदा के लिए स्नेह होता है। आत्मा के स्नेह से उसके सुखो के लिए प्रयत्न करता है। वह सुखो में खुश होता है सुखो की तृष्णा पैदा होती है। उसके योग से होने वाले हिंसादि पापो की उपेक्षा करता है। (इसलिए) तृष्णा के योग से दोषवाले सुखो में भी गुणो को देखता हुआ उन सुखो में खुश होता **"ये सुख मेरे सुख के कारण है।"** ऐसी सुखो में अपनेपन की बुद्धि से सुखो के साधनो का ग्रहण करता है। इसलिए जब तक आत्मा का अभिनिवेश है, तब तक संसार है आत्मा होने पर ही आत्मा से भिन्न चीजो में परायेपन की बुद्धि होती है। अर्थात् "यह मेरा और यह पराया" ऐसी बुद्धि होती है। ऐसे स्व-पर के विभाग के कारण राग-द्वेष होते है। उन राग-द्वेष के साथ जुडे हुए सभी दोष (राग-द्वेष के कारण) आ के खडे रहते है। (उससे संसार परिभ्रमण चलता है।) ॥१-२-३॥"

इसलिए मुक्ति को चाहनेवाले जीव के द्वारा स्त्री, पुत्र आदि पदार्थो को अनात्म, अनित्य, अशुचिमय और दुःखमय देखने चाहिए और श्रुतमयी = शास्त्राभ्यास या शब्द से होनेवाले परार्थानुमान तथा चिन्तामयी = स्वयं सोचना या स्वार्थानुमान - भावनाओं के द्वारा उपरोक्त विचारो को सतत सोचते रहना चाहिए। इस अनुसार से सोचते सोचते स्त्री आदि पदार्थो के उपर का राग नष्ट हो जाता है। बारबार के अभ्यास से उस पदार्थो के उपर वैराग्य उत्पन्न होता है।

वैराग्य द्वारा अविद्या और तृष्णारुप आश्रव से युक्त चित्तसंततिस्वरुप संसार की विनिवृत्ति होती है, संसार का नाश होता है। इस अविद्या - तृष्णा से युक्त चित्तसंततिका नाश ही मोक्ष है।

शंका : उपरोक्त स्त्रीआदि पदार्थो के विषय में अनित्यत्वादि की भावना न रखने पर भी अर्थात् तादृश भावना के अभाव में भी कायक्लेश स्वरुप तप से सकलकर्म का नाश होता है और उससे मोक्ष हो जायेगा। तो फिर तादृशभावना रखने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान : कायक्लेश कर्म के फलस्वरुप होने के कारण तप नहीं है। जैसे नरकादि में काया को संताप हो, तब कायक्लेश होने पर भी उन जीवो को तप नाम का धर्म होता नहीं है। क्योंकि उन जीवो को हुआ कायक्लेश कर्म के फलस्वरुप होने के कारण तपरुप नहीं है और इसलिए कायक्लेशस्वरुप तप से सकलकर्म का क्षय नहीं हो सकेगा। मुक्ति भी नहि हो सकेगी।

वैसे ही कर्म विचित्र शक्तिवाला होता है। (उस कर्म के कारण जीवो को अनेक प्रकार के शुभाशुभ फल की प्राप्ति होती है। यदि कर्म को विचित्रशक्तिवाला मानोंगे नहीं तो कोई धनवान, कोई दरिद्र, कोई कूबडा, कोई रुपवान, कोई दुर्भाग्यवाला, कोई सौभाग्यवाला होता है। इत्यादि प्रकार के) विचित्रफल का दान दूसरी तरह से संगत होता नहीं है। अर्थात् कर्म को एक ही प्रकार का माना जाये और विचित्रशक्तिवाला मानने में न आये, तो कर्म के फल में (उपरोक्त) विविधता नहीं आ सकेगी। परंतु जगत में विविधता दिखाई देती है, वह दूसरी तरह से संगत होती न होने से कर्म को विचित्रशक्तिवाला मानना आवश्यक है।

इसलिए कायसंताप मात्र से किस तरह से सर्वकर्म का क्षय हो ? क्योंकि मात्र कायसंताप से सर्वकर्म

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का क्षय मानने से अतिव्याप्ति आती है। क्योंकि नरकादि जीवो को उत्कट कक्षा का कायक्लेश होने पर भी सर्वकर्म का क्षय होता नहीं है। अर्थात् नरकादि जीवो में कायक्लेशस्वरुप कारण होने पर भी सर्वकर्मक्षयस्वरुप कार्य दिखता नहीं है, इसलिए अतिव्याप्ति आती है।

इसलिए ऐसे विचित्रफल देनेवाले विचित्रशक्तिवाले कर्म का, शरीर को क्लेश देनेवाले तप से किस तरह से क्षय हो ? एक रुपवाला कारण अनेकरुपवाली वस्तु को नष्ट नहीं कर सकता है।

शंका : तप में ऐसी शक्ति है कि, जिससे उस कर्मो की शक्ति में परिवर्तन करके उसको संकर - एकरुप में बदल देता है। उस एकरुप में सर्वकर्म के क्षय का स्वभाव पैदा होता है। इसलिए एकरुपवाले तपसे भी विचित्रप्रकार की शक्तिवाले कर्म का क्षय होता है। इसलिए सर्वकर्म के क्षय के लिए भावनाओ का आग्रह क्यों रखते हो ?

समाधान : (टीका में **नन्वेवं** पद है, उसके स्थान पे **तन्नेवं** ज्यादा उचित लगता है।)

आपकी बात उचित नहीं है। क्योंकि स्वल्प उपवास आदि कायक्लेश से भी सर्वकर्म का क्षय हो जाने की आपत्ति आयेगी। क्योंकि (आपने उपर बताई हुई) शक्ति का सांकर्य = एकरुपता दूसरी तरह से होती नहीं है अर्थात् कहने का मतलब यह है कि, आपने तप और कर्मो की शक्ति के मिश्रण में एक ऐसे प्रकार की शक्ति बताते है कि जिससे विचित्रशक्तिवाले कर्मो की विचित्रता परिवर्तित होके एक रुप में बदल जायेगी, तब तो (हम भी कहेंगे कि..) स्वल्प उपवास आदि कायक्लेश से भी सर्वकर्मो की शक्ति में परिवर्तन होके वे सभी कर्म एकरुप में बदल जायेंगे। (तप द्वारा) एकरुपवाले सर्वकर्म का नाश हो जायेगा। अर्थात् एकरुपवाले तप से तादृश एकरुपवाले कर्म का नाश सहज बन जायेगा। परंतु वैसा नहीं है। **कहा भी है कि,**

"कर्म के क्षय से मोक्ष होता है। कर्मो का क्षय तप से होता है और यदि तप केवल कायसंताप रुप हो, तो नारकी के जीवो का दारूण दुःख जैसे कर्मो का फल है, वैसे वह भी कर्म का फल ही है, तो किस तरह से कायक्लेश को तप कहा जा सकेगा ? क्योंकि केवल कायक्लेश को तप मानोंगे तो नारकी के जीवो के कायक्लेश को भी तप मानना पडेगा। (परंतु वैसा तो आप भी मानते ही नहीं है।) वैसे ही एकरुप तप से विचित्ररुपवाले कर्मो का क्षय तो असंभवित ही है। इसलिए शक्ति का संकर = एकरुपता तथा उस शक्ति के संकर = एकरुपता से सर्वकर्म का क्षय केवल वचन प्रलाप ही है।" ॥१-२॥

इसलिए नैरात्म्यभावना के प्रकर्ष विशेष से चित्त की निक्लेशअवस्था प्राप्त होती है। वही मोक्ष है। अर्थात् **"आत्मा नहीं है या संसार निरात्मक है -आत्मस्वरुप नहीं है।"** ऐसी नैरात्म्य भावना की प्रकर्षता से चित्त निक्लेश अवस्था को प्राप्त करता है। अर्थात् सर्वकर्म का क्षय होता है। उसे ही मोक्ष कहा जाता है।

अत्र प्रतिविधीयते । **तत्र यत्तावदुक्तं "ज्ञानक्षणप्रवाह" इत्यादि, तदविचारितविलपितं, ज्ञानक्षणप्रवाहव्यतिरिक्तं मुक्ताकणानुस्यूतसूत्रोपममन्वयिनमात्मानमन्तरेण कृतनाशाकृतागमादिदोषप्रसक्तेः स्मरणाद्यनुपपत्तेश्च ।** [F-31]**यत्पुनरुक्तं "आत्मानं यः पश्यति"**

(F-31) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इत्यादि, तत्सूक्तमेव, किंत्वज्ञो जनो दुःखानुषक्तं सुखसाधनं पश्यन्नात्मस्नेहात्सांसारिकेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्ततेऽपथ्यादौ च मुर्खातुरवत् । हिताहितविवे[1]चकस्त्वतात्त्विकसुखसाधनमङ्गनादिकं परित्यज्यात्मस्नेहादात्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते, पथ्यादौ चतुरातुरवत् । यदप्युक्तं "मुक्तिमिच्छता" इत्यादि, तदप्यज्ञानविजृम्भितं, [F-32]सर्वथाऽनित्यानात्मकत्वादिभावनाया निर्विषयत्वेन मिथ्यारूपत्वात्सर्वथा नित्यादिभावनावन्मुक्तिहेतुत्वानुपपत्तेः । नहि कालान्तरावस्थाय्येकानुसंधातृव्यतिरेकेण भावनाप्युपपद्यते । तथा यो हि निगडादिभिर्बद्धस्तस्यैव तन्मुक्तिकारणपरिज्ञानानुष्ठानाभिसंधिव्यापारे सति - मोक्षः, इत्येकाधिकरण्ये सत्येव बन्धमोक्षव्यवस्था लोके प्रसिद्धा । इह त्वन्यः [F-33]क्षणो बद्धोऽन्यस्य च तन्मुक्तिकारणपरिज्ञानमन्यस्य चानुष्ठानाभिसंधेर्व्यापारश्चेति वैयधिकरण्यात्सर्वमयुक्तम् ।

व्याख्या का भावानुवाद : (अब बौद्ध मत का खंडन किया जाता है ।)

उत्तरपक्ष (जैन) पूर्व में आपने "ज्ञानक्षण के प्रवाह से अतिरिक्त आत्मा जैसी कोई चीज नहीं है ।" इत्यादि जो कहा था, वह केवल बिना सोचे किया गया प्रलाप ही है । अर्थात् आपने ज्ञानक्षण के प्रवाह को ही आत्मा कहा, वह लेशमात्र उचित नहीं है । क्योंकि ज्ञानक्षणप्रवाह से अतिरिक्त मोतीयों में पिरोये गये सूत्र-धागे की तरह (पूर्व और उत्तरज्ञानक्षण में) आत्मस्वरुप से अन्वयी (अनुयायी) आत्मा को माना नहीं जायेगा तो कृतनाश और अकृताभ्यागम इत्यादि दोष आ जायेंगे तथा पूर्वोत्तर क्षणो में आत्मस्वरुप में अन्वयी (अनुयायी) आत्मा के बिना (आत्मा को होनेवाला) स्मरण की भी अनुपपत्ति हो जायेगी । (कहने का मतलब यह है कि ज्ञानक्षणप्रवाह से अतिरिक्त आत्मा की सत्ता का स्वीकार नहिं करोंगे, तो अच्छे या बुरे कार्य जिस ज्ञानक्षण से होते थे, वह ज्ञानक्षण तो नष्ट हो जाने के कारण उन कार्यो के अच्छे या बुरे फल उस ज्ञानक्षण को मिलेंगे नहीं । इसलिए कृतनाशदोष आयेगा । उल्टा वे अच्छे या बुरे कार्यो का फल जिस ज्ञानक्षण में वे कार्य किये नहीं है उस उत्तरज्ञानक्षण को मिलेंगे । इसलिए अकृताभ्यागम (= नहीं किये हुए कार्य का भी फल मिलने स्वरुप अकृताभ्यागम) दोष आयेगा । वैसे ही जो वस्तु का अनुभव हुआ होता है उस वस्तु का कालांतर से स्मरण होता है । परंतु ज्ञानक्षणप्रवाह से अतिरिक्त आत्मस्वरुप से अन्वयीआत्मा का स्वीकार नहीं किया जायेगा, तो आत्मा को अनुभूत वस्तु का स्मरण हो नहीं सकेगा । क्योंकि अनुभव करनेवाली ज्ञानक्षणं तो नष्ट हो गई है । इसलिए स्मरण भी नहि होगा । इस प्रकार, ज्ञानक्षणप्रवाह से अतिरिक्त आत्मा का स्वीकार नहीं करने से कृतनाश, अकृताभ्यागम, स्मरणाभाव इत्यादि दोष आ जाते है ।)

---

१. विवेकज्ञ.

(F-32-33) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"आत्मदर्शीको संसार होता है.." इत्यादि जो विवेचन किया था वह अपेक्षा से सत्य है। फिर भी अज्ञानी = मुर्ख मनुष्य आत्मा के असत् राग (स्नेह) से दुःख मिश्रित सुख के साधन को (अपने सुख का कारण) देखता वह दुःखमिश्रित सांसारिक सुख के साधनो को पाने की प्रवृत्ति करता है। जैसे मुर्ख बिमार मानवी रोग को (बिमारी को) निकालने के लिए अपथ्यादि में प्रवृत्ति करता है, वैसे मुर्ख मनुष्य सुखी होने के लिए दुःखमिश्रित सुखो में प्रवृत्ति करता है। जब कि, हिताहित का यथार्थज्ञानी अतात्त्विक (जिसमें वास्तविकता नहीं है ऐसे अत्तात्विक) सुख के साधन ऐसे स्त्री आदि का त्याग करके आत्मा के शुद्ध स्वरुप के राग से (दुःखरहित) आत्यंतिक सुख के साधनरुप मुक्ति मार्ग में प्रवर्तित होता है। जैसे चतुर (दक्ष) रोगी (अपथ्य के त्यागपूर्वक) पथ्य में प्रवृत्ति करता है, वैसे ज्ञानी मनुष्य वास्तविक सुख के साधन ऐसे मोक्षमार्ग में प्रवर्तित होता है। (कहने का मतलब यह है कि, जैसे बिमारी को निकालने के लिए अपथ्य में प्रवृत्ति करना वह मूर्खता है और पथ्य में प्रवृत्ति करना वह चतुरता (दक्षता) है, वैसे अवास्तविक दुःखमिश्रित सुखो में प्रवृत्ति करना वह अज्ञता है और वास्तविक आत्यंतिक सुखो के लिए मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करना वह अभिज्ञता है। इसलिए दुःखमिश्रित सुखो को आत्मा के मिथ्या राग से सुख के कारण मानकर जो मूर्ख मानवी उसको पाने की प्रवृत्ति करता है वह संसार में परिभ्रमण करता है, परंतु विवेकी आत्मा आत्यंतिक सुख के साधनभूत मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करके संसार से पार उतरने का काम करता है।)

वैसे ही मोक्ष की इच्छावाले आत्मा के लिए अनित्यादि भावनायें आपके द्वारा बताई गई, वह मात्र आपके अज्ञान का विस्तार ही है। क्योंकि सर्वथा अनित्यत्व, अनात्मकत्व इत्यादि भावनायें निर्विषयक होने के कारण मिथ्यारुप है। जैसे सर्वथा नित्यत्वादि की भावना मुक्ति का कारण बनती नहीं है वैसे सर्वथा अनित्यत्वादि भावनाओं में भी मोक्षहेतुता की संगति नहीं है। कहने का मतलब यह है कि, संसार के सभी पदार्थ जब सर्वथा अनित्य नहीं है तब सर्वथा अनित्यत्वादि की निर्विषयक मिथ्या भावनायें मोक्ष में कारण नहीं हो सकती है। (अर्थात् अनित्यत्वादि भावनाओं का विषय संसार के समस्तपदार्थ बन सकते नहीं है, तो उस समस्त पदार्थो को अनित्यादि किस तरह से मान सकते है ?) जैसे संसार के सभी पदार्थ नित्य न होने से नित्यत्वादि की भावनायें निर्विषयक होने के कारण मोक्ष का कारण बनती नहीं है। वैसे सर्वथा क्षणिकत्वादि की भावनायें मोक्ष का कारण नहीं बन सकती है।

तदुपरांत, कालांतर से रहनेवाले एक अनुसंधातृ (भावना करनेवाले एक अन्वयी अनुसंधातृ) के बिना भावना भी होती नहीं है। अर्थात् जब तक अनेक क्षणो में रहनेवाले एकभाव को करनेवाला पूर्व और उत्तर का अनुसंधान करनेवाला आत्मा नहीं माना जायेगा, तब तक भावनायें हो सकती ही नहीं है।

तथा जो जंजीर इत्यादि से बंधा हुआ है, उसको ही इस बंधनो में से मुक्त होने के कारणो का ज्ञान, बंधन से मुक्त होने की इच्छा और बंधन से मुक्त होने का प्रयत्न होने पर ही बंधन से मुक्त होता है। इसलिए एक ही अधिकरण होने पर ही बंध-मोक्ष की व्यवस्था लोक में प्रसिद्ध है। अर्थात् जंजीर में बंधी हुई व्यक्ति को ही बंधन से मुक्ति के कारण का ज्ञान, मुक्त होने की इच्छा तथा मुक्ति के लिए प्रयत्न हो, तो ही बंधन से मुक्त हो सकता है। (सारांश में, बद्ध और मुक्त का व्यपदेश एक आत्मा में ही होता है।) इस तरह से बंधन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से लेकर कारणों का ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि मुक्त होने तक की सभी बात एक ही आत्मा में होती है, तब ही मुक्त होने की भावना तथा उससे छूटने का संभव होता है। अर्थात् एक अन्वयी आत्मा मानने में ही **"जो बंधा हुआ था वह मुक्त हुआ"**-ऐसे प्रकार के बन्ध-मोक्ष की नियतव्यवस्था हो सकती है। (संसार में भी बंधाना और छूटना एक ही अधिकरण में देखने को मिलते है। वैयधिकरण में नहि।)

(आप बौद्धोने अन्वयी आत्मा को ही माना नहीं है, इसलिए) आपके मत में अन्यज्ञानक्षण बांधेगी, तो अन्य-ज्ञानक्षण मुक्ति के कारण का ज्ञान करेगी, उससे अन्यज्ञानक्षण मुक्त होने की इच्छा करेगी, तो उससे अन्यज्ञानक्षण मुक्त होने का व्यापार (प्रयत्न) करेगी। इससे सभी बाते भिन्न-भिन्न ज्ञान क्षणो की होगी। अर्थात् एकाधिकरण में नहीं होगी, परंतु वैयधिकरण में होगी। इसलिए बंध-मोक्ष की व्यवस्था किसी भी तरह से संगत नहीं होगी।

किंच, सर्वो बुद्धिमान् बुद्धिपूर्वं प्रवर्तमानः किंचिदिदमतो मम स्यादित्यनुसंधानेन प्रवर्तते। [F-34]इह च कस्तथाविधो मार्गाभ्यासे प्रवर्तमानो मोक्षो मम स्यादित्यनुसंदध्यात्। क्षणः संतानो वा। न तावत्क्षणः तस्यैकक्षणस्थायितया निर्विकल्पतया चैतावतो व्यापारान् कर्तुमसमर्थत्वात्। नापि संतानः, तस्य संतानिव्यतिरिक्तस्य सौगतैरनभ्युपगमात्। किंच, निरन्वयविनश्वरत्वे च संस्काराणां मोक्षार्थः प्रयासो व्यर्थ एव स्यात्, यतो रागाद्युपरमो हि भवन्मते मोक्षः, उपरमश्च विनाशः, स च [F-35]निर्हेतुकतयाऽयत्नसिद्धः, ततस्तदर्थोऽनुष्ठानादिप्रयासो निष्फल एव। [F-36]किं च तेन मोक्षार्थानुष्ठानेन प्राक्तनस्य रागादिक्षणस्य नाशः क्रियते १ भाविनो वानुत्पादः २ तदुत्पादकशक्तेर्वा क्षयः ३ सन्तानस्योच्छेदो ४ अनुत्पादो वा ५ निराश्रयचित्तसन्तत्युत्पादो वा ६, तत्राद्योऽनुपपन्नः, विनाशस्य निर्हेतुकतया भवन्मते कुतश्चिदुत्पत्तिविरोधात्। द्वितीयोऽप्यत एवासाधीयान्, उत्पादाभावो ह्यनुत्पादः, सोऽभावरूपत्वात्कथं कुतश्चिदुत्पद्यते, अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्। तच्छक्तेः क्षयोऽनुपपन्नः, तस्याप्यभावरूपतया निर्हेतुकत्वेन भवन्मते कुतश्चिदुत्पत्तिविरोधात्। सन्तानस्योच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्प्रयास इत्यप्येनेन निरस्तं, क्षणोच्छेदानुत्पादवत्। तयोरप्यभावरूपतया निर्हेतुकत्वात्कुतोऽप्युत्पत्त्यनुपपत्तेः। किं च, वास्तवस्य सन्तानस्यानभ्युपगमात्किं तदुच्छेदादिप्रयासेन ? न हि मृतस्य मारणं क्वापि दृष्टम्, तन्न सन्तानोच्छेदलक्षणा मुक्तिर्घटते। अथ निराश्रयरूपचित्तसन्तत्युत्पत्तिलक्षणा सा तत्प्रयाससाध्येति पक्षस्तु ज्यायान्। [F-37]केवलं सा चित्तसन्ततिः सान्वया निरन्वया वेति वक्तव्यम्, आद्ये सिद्धसाधनं, तथाभूत एव चित्तसन्ताने मोक्षोपपत्तेः, बद्धो हि मुच्यते नाबद्धः, द्वितीयोऽनुपपन्नः, निरन्वये हि सन्तानेऽन्यो बध्यतेऽन्यश्च मुच्यते, तथा च बद्धस्य

(F-34-35-36-37) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिर्न स्यात्, कृतनाशादयश्च दोषाः पृष्टलग्ना एव धावन्ति ।

व्याख्या का भावानुवाद :

किंच, जगत में सभी बुद्धिमान पुरुष कोई भी कार्य में बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति करते है। अर्थात् यह कार्य करने से मुजको कुछ खास लाभ होगा, ऐसे अनुसंधानपूर्वक बुद्धिमान पुरुष कार्य करने के लिए प्रवृत्त होते है। अब आप बतायें कि, आपका मोक्षमार्ग के अभ्यास में प्रवृत्ति करनेवाला तथा "इससे मुजे मोक्ष मिलेगा" - ऐसे अनुसंधानपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाला कौन है ? ऐसा विचार ज्ञानक्षण करेगी ? या संतान करेगी ? वह भी आपको बताना चाहिए।

यदि आप कहोंगे कि **"ज्ञानक्षण तादृश अनुसंधानपूर्वक प्रवर्तित होती है।"** -तो वह उचित नहीं है, क्योंकि वह ज्ञानक्षण एकक्षणस्थायी और निर्विकल्पक होने के कारण इतने विचारणारुप व्यापारो को करने के लिए समर्थ नहीं है। (इतना लम्बा विचार तो दस-बीस क्षण तक रहनेवाला सविकल्पक ज्ञान ही कर सकता है।) इसलिए ज्ञानक्षण तादृशअनुसंधानपूर्वक प्रवर्तित होती है, ऐसा कहना संभव नहीं है।

यदि आप ऐसा कहोंगे कि **"ज्ञानक्षणरुप संतान तादृश अनुसंधानपूर्वक प्रवृत्ति करती है।"** तो वह उचित नहीं है। क्योंकि परस्परभिन्न ज्ञानक्षणरुप संतानियों से अतिरिक्त सत्ता रखनेवाली संतान बौद्धो के द्वारा स्वीकृत नहीं है।

तदुपरांत, आपके मत में सर्वपदार्थ क्षणिक है तथा रागादिसंस्कारो का भी दूसरी क्षण मे निरन्वय = निर्मूलविनाश हो जाता है। अर्थात् रागादि का नाश अपनेआप हो जायेगा, उसके योग से मोक्ष भी अपनेआप हो जायेगा, तो फिर मोक्ष के लिए किये जाते पुरुषार्थ व्यर्थ ही है। अर्थात् मोक्ष के लिए की जाती बुद्धदीक्षा व्यर्थ हो जायेगी। क्योंकि आपने रागादि के उपरम (नाश) को ही मोक्ष माना है। उपरम का अर्थ नाश होता है और नाश तो आपके मत में निर्हेतुक है। वह कारणो से होता नहीं है, स्वभाव से ही अपनेआप हो जाता है और इसलिए रागादि का उपरम प्रयास बिना ही सिद्ध है। इसलिए रागादि के क्षय के लिए प्रव्रज्यारुप अनुष्ठानादिप्रयास निष्फल ही है।

अच्छा, अब आप हमको बतायें कि... मोक्ष के लिए जो बुद्धदीक्षा ग्रहण की जाती है, उससे क्या होता है ? (१) क्या प्राक्तन रागादि क्षण का क्षय किया जाता है या (२) भाविकाल में राग उत्पन्न नहीं होता है ? या (३) रागोत्पादक शक्ति का नाश होता है ? या (४) संतान का उच्छेद होता है ? या (५) रागादि सन्तति आगे उत्पन्न नहीं होती है ? या (६) निराश्रवचित्तसन्तति उत्पन्न हो जाती है ?

उसमें प्रथमपक्ष संगत नहीं है। अर्थात् बुद्धदीक्षा से प्राक्तन रागादि का नाश होता है - यह प्रथमपक्ष संगत होता नहीं है, क्योंकि आपके मत में विनाश निर्हेतुक होने से प्रव्रज्या से रागादि का क्षय उत्पन्न हो नहीं सकता है।

"प्रव्रज्या से भाविरागादि का अनुत्पाद होता है।" यह द्वितीयपक्ष भी असुंदर है। क्योंकि उत्पाद के अभाव को ही अनुत्पाद कहा जाता है। वह अनुत्पाद अभावरुप होने से किस तरह से उत्पन्न किया जा सकता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है ? आपके मत में अनुत्पाद भी उत्पाद के विनाशस्वरुप होने से निर्हेतुक है। वह तो अपनेआप उत्पन्न होता है, ऐसा कहोंगे तो अपसिद्धांत का प्रसंग आयेगा। अर्थात् अपसिद्धांत नाम के निग्रहस्थान में आ जाओंगे।

"**बुद्धदीक्षा से रागादि की उत्पादशक्ति का क्षय होता है**।" यह तृतीयपक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि उस शक्ति का क्षय भी अभावरुप होने से निर्हेतुक होने के कारण आपके मत में उसकी उत्पत्ति का विरोध है। अर्थात् शक्ति का क्षय अभावरुप है। अभाव की उत्पत्ति निर्हेतुक होती है। इसलिए उसकी उत्पत्ति मानने में आपका विरोध है। इसलिए तृतीयपक्ष उचित नहीं है।

इससे संतान का उच्छेद तथा संतान का अनुत्पाद = उत्पादाभाव पक्ष भी निरस्त होता है। क्योंकि, जैसे क्षण का उच्छेद और क्षण का अनुत्पाद विनाशरुप होने से निर्हेतुक है, वैसे संतान का उच्छेद और संतान का अनुत्पाद दोनो भी अभावरुप होने से निर्हेतुक है। इसलिए कारणो से उसकी उत्पत्ति किस तरह से हो सकती है ? (हो ही नहीं सकती।) वैसे ही (आप लोगोने) वास्तविक संतान का स्वीकार ही किया न होने से संतान के उच्छेद करने के प्रयास द्वारा क्या ? (अर्थात् जो वस्तु का स्वीकार ही किया नहीं, उसकी उत्पत्ति-विनाश का प्रश्न ही कहां से होगा ?) क्या मरे हुए को मारना कहीं भी दिखाई देता है ? वैसे वास्तविक संतान ही नहीं है, वहां उसके उच्छेद का प्रयास ही किस तरह से होगा ? इसलिए संतान उच्छेद स्वरुप मुक्ति होती नहीं है।

"निराश्रवचित्तसंतति की उत्पत्ति स्वरुप मोक्ष है और वह प्रव्रज्या के पुरुषार्थ से साध्य है अर्थात् जो चित्तसंतति पहले अविद्या और तृष्णा से संयुक्त थी, वह चित्तसंतति प्रव्रज्यासे अविद्या और तृष्णा से रहित बनती है और वही मोक्ष है। उसके लिए प्रव्रज्या है।" **यह पक्ष उचित प्रतीत होता है**। केवल आप हमको कहिये कि, वह चित्तसंतति सान्वय है या निरन्वय है ? यदि आप निराश्रवचितसंतति को सान्वय = वास्तविक रुप में पूर्वोतरक्षणो में अपनी सत्ता रखनेवाली मानते हो और उस निराश्रवचित्तसंतति को ही मोक्ष मानते हो, तब तो वह हमको भी मान्य है। इसलिए सिद्धसाधन दोष है। (अर्थात् जिसको प्रतिवादि हम जैन) स्वीकार करते है, वैसे सिद्धपदार्थ को सिद्ध करने के लिए आपने प्रयत्न किया होने से सिद्धसाधनदोष आता है।

वैसे प्रकार की सान्वय निराश्रवचित्तसंतति में ही मोक्ष संगत होता है। जो बंधा हुआ हो वही बंधन से छूटता है। जो बंधा हुआ ही न हो, वह मुक्त होता नहीं है।

निराश्रवचित्तसंतति को निरन्वय मानने का पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि निरन्वयसंतान में अन्य बंधाता है और अन्य छूटता है और इसलिए जो बंधाता है, वह तो मुक्ति के लिए प्रवृत्ति करता ही नहीं है और उसमें कृतनाश तथा अकृताभ्यागम दोष भी पीछे पीछे दोडते आते है।

तथा यदुक्तं "कायक्लेशः" इत्यादि, तदसत्यं, [F-38]हिंसाविरतिरुपव्रतोपबृंहकस्य काय-

(F-38) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्लेशस्य कर्मत्वेऽपि तपस्त्वाविरोधात्, व्रताविरोधी हि कायक्लेशः कर्मनिर्जराहेतुत्वात्तपोऽभिधीयते । न चैवं नारकादिकायक्लेशस्य तपस्त्वप्रसङ्गः, तस्य हिंसाद्यावेशप्रधानतया तपस्त्वविरोधात्, अतः कथं प्रेक्षावतां तेन समानता साधुकायक्लेशस्यापादयितुं शक्या, यदपि शक्तिसङ्करपक्षे "स्वल्पेन" इत्यादि प्रोक्तं, तत्सूक्तमेव, विचित्रफलदानसमर्थानां कर्मणां शक्तिसङ्करे सति क्षीणमोहान्त्यसमयेऽयोगिचरमसमये चाक्लेशतः स्वल्पेनैव शुक्लध्यानेन तपसा प्रत्ययाभ्युपगमात्, जीवन्मुक्तेः परममुक्तेश्चान्यथानुपपत्तेः, स तु तच्छक्तिसङ्करो बहुतरकायक्लेशसाध्य इति युक्तस्तदर्थोऽनेकोपवासादिकायक्लेशाद्यनुष्ठानप्रयासः, तमन्तरेण तत्सङ्करानुपपत्तेः, ततः कथञ्चिदनवच्छिन्नो ज्ञानसन्तानोऽनेकविधतपोऽनुष्ठानान्मुच्यते, तस्य चानन्तचतुष्टयलाभस्वरूपो मोक्ष इति प्रतिपत्तव्यम् ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

तथा "**कायक्लेश नारकादिकायसंताप की तरह कर्म के फलभूत होने से तपरुप नहीं है ।**" इत्यादि जो कहा था वह असत्य है। क्योंकि हिंसादि की विरतिरुप व्रत का उपबृंहक (उपकारक) कायक्लेश कर्मरुप में होने पर भी तप के रुप में मानने में विरोध नहीं है। क्योंकि व्रत का अविरोधी कायक्लेश कर्मनिर्जरा का हेतु होने से तप कहा जाता है। इस अनुसार से नारकादिकायक्लेश तप मानने का प्रसंग आता नहीं है। क्योंकि उस कायक्लेश में हिंसादि आवेश की प्रधानता होने से तप मानने में विरोध आयेगा। (अर्थात् हिंसादि का आवेश व्रत का उपबृंहक बनता नहीं है, इसलिए तप माना नहीं जा सकता।) इसलिए बुद्धिमान किस तरह से साधु के कायक्लेश को नारकादि कायक्लेश के साथ समानता प्रतिपादित करने के लिए समर्थ हो सकेगा ? नहीं हो सकेगा। अर्थात् साधु को व्रतपालन में होते कायक्लेश के साथ नरक के जीवो को होते कायक्लेश की तुलना का काम कोई पंडित कर नहीं सकेगा। वैसे ही आपने जो "**तप द्वारा शक्तिसंकर मानकर स्वल्प उपवासादि से ही समस्तकर्मो का क्षय होना चाहिए**" इत्यादि कहा था, वह उचित ही है। (वास्तविकता यह है कि...) विचित्रफल देने में समर्थ कर्मो का शक्तिसंकर होने पर ही क्षीणमोह गुणस्थानक के अन्त्यसमय और अयोगीगुणस्थानक के चरमसमय क्लेश के बिना ही शुक्ल ध्यान तप के द्वारा क्रमशः केवलज्ञान तथा मुक्ति को प्राप्त करता है। अर्थात् क्रमशः जीवनमुक्ति और परममुक्ति प्राप्त करता है। तथा विचित्रफल देने में समर्थ कर्मो के शक्ति संकर बिना जीवनमुक्ति या परममुक्ति संगत होती नहीं है। (कहने का मतलब यह है कि... जिसका मोहकर्म नष्ट हो गया, वैसे बारहवें गुणस्थानकवर्ती क्षीणमोही व्यक्ति के स्वल्पशुक्लध्यानरुपी तप से विचित्रफल देनेवाले ज्ञानावरणीय आदिकर्मो की शक्ति में परिवर्तन होके संकर-एकरुपता आकर उसका नाश हो जाता है और दूसरी ही क्षण में क्षीणमोही व्यक्ति जीवनमुक्त केवलि हो जाता है तथा जिसके मन-वचन-काया के समस्त व्यापारो का निरोध हुआ है वैसे चौदहवें गुणस्थानकवर्ती व्यक्ति का स्वल्प शुक्लध्यानरुपी तप एक ही क्षण में सर्वकर्म का नाश कर देता है और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह व्यक्ति दूसरी ही क्षण में परममुक्ति को प्राप्त कर लेता है। यहाँ दोनो स्थानो पे व्यक्ति को बहुतर कायक्लेश नहीं है, स्वल्पशुक्लध्यानरुप स्वल्प तप से ही साध्य सिद्ध होता है। फिर भी इतना याद रखने कि, उस विचित्रफल को देनेवाले कर्मो की शक्ति का संकर (पहले के) बहुतर कायक्लेश से ही साध्य है। अर्थात् पूर्व की उभयअवस्था प्राप्त करने से पहले अनेक प्रकार के तप के उपबृंहक कायक्लेशो से ही मोहनीय आदि कर्म निर्बल होते जाते है। इसलिए उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए अर्थात् शक्तिसंकर प्राप्त करने के लिए अनेक कायक्लेशादि करानेवाले उपवासादि अनुष्ठानो में प्रयास करना योग्य ही है। उसके बिना शक्तिसंकर संगत होता नहीं है = प्राप्त होता नहीं है। अर्थात् कायक्लेश करानेवाले बाह्य-अभ्यंतर तप के बिना तप में ऐसे प्रकार की शक्ति आ सकती नहीं है तथा कर्मो में परिवर्तन हो नहीं सकता है। इसलिए अनवच्छिन्न अन्वयी ज्ञानसंतान ही अनेक प्रकार के (बाह्य-अभ्यंतर) तप करने से कर्मो का नाश करके मोक्ष प्राप्त करता है। वह अन्वयी ज्ञानसंतान को अनंतज्ञान-अनंतदर्शन, अनंतचारित्र और अनंतवीर्य इस प्रकार अनंतचतुष्टयवाले स्वरुप की प्राप्ति हो जाती है, वही मोक्ष है।

अथात्र दिगम्बराः स्वयुक्तीः स्फोरयन्ति । ननु भवतु यथोक्तलक्षणो मोक्षः, परं स पुरुषस्यैव घटते न त्वङ्गनायाः, तथाहि-न स्त्रियो मोक्षभाजनं भवन्ति, पुरुषेभ्यो हीनत्वात्, [F-39]नपुंसकवत् । अत्रोच्यते-स्त्रीणां पुरुषेभ्यो हीनत्वं किं चारित्राद्यभावेन १ विशिष्टसामर्थ्यासत्त्वेन २ पुरुषानभिवन्द्यत्वेन ३ स्मारणाद्यकर्तृत्वेन ४ अमहर्द्धिकत्वेन ५ मायादिप्रकर्षवत्त्वेन ६ वा, तत्र न तावदाद्यः पक्षः क्षोदक्षमः, यतः किं चारित्राभावः सचेलत्वेन १ मन्दसत्त्वतया २ वा, तत्र यद्याद्यपक्षः, तदा चेलस्यापि चारित्राभावहेतुत्वं किं परिभोगमात्रेण १ परिग्रहरूपतया २ वा, यदि परिभोगमात्रेण, तदा परिभोगोऽपि किं वस्त्रपरित्यागासमर्थत्वेन १ संयमोपकारित्वेन २ वा, तत्र न तावदाद्यः, यतः प्राणेभ्योऽपि नापरं प्रियं, प्राणानप्येताः परित्यजन्त्यो दृश्यन्ते, वस्त्रस्य का कथा ? अथ संयमोपकारित्वेन, तर्हि किं न पुरुषाणामपि संयमोपकारितया वस्त्रपरिभोगः ? । अथाबला एता बलादपि पुरुषैरुपभुज्यन्त इति तद्विना तासां संयमबाधासम्भवो न पुनर्नराणामिति न तेषां तदुपभोग इति चेत् ? तर्हि न वस्त्राच्चारित्राभावः, तदुपकारित्वात्तस्य, आहारादिवत् । नापि परिग्रहरूपतया,यतोऽस्य तद्रूपता किं मूर्च्छा हेतुत्वेन १ धारणमात्रेण वा २ अथवा स्पर्शमात्रेण ३ जीवसंसक्तिहेतुत्वेन वा ४, तत्र यद्याद्यः तर्हि शरीरमपि मूर्च्छायाहेतुर्न वा ? न तावदहेतुः, तस्यान्तरङ्गत्वेन दुर्लभतरतया विशेषतस्तद्धेतुत्वात् । अथ मूर्च्छाया हेतुरिति पक्षः, तर्हि वस्त्रवत्तस्यापि किं दुस्त्यजत्वेन १ मुक्त्यङ्गतया वा २, न प्रथमत एव परिहारः ? यदि दुस्त्यजत्वेनेति पक्षः, तदा तदपि किं

(F-39) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वपुरुषाणां १ केषाञ्चिद्वा २ । न तावत्सर्वेषां, दृश्यन्ते हि बहवो वह्निप्रवेशादिभिः शरीरमपि त्यजन्तः । अथ केषाञ्चित्, तदा वस्त्रमपि केषाञ्चिद्दुस्त्यजमिति न परिहार्यं शरीरवत् । अथ मुक्त्यङ्गत्वेनेति पक्षः, तर्हि वस्त्रस्यापि तथाविधशक्तिविकलानां स्वाध्यायाद्युपष्टम्भकत्वेन शरीरवन्मुक्त्यङ्गत्वात्किमिति परिहारः ? अथ धारणमात्रेण, एवं सति शीतकाले प्रतिमापन्नं साधुं दृष्ट्वा केनाप्यविषह्योपनिपातमद्य शीतमिति विभाव्य धर्मार्थिना साधुशिरसि वस्त्रे प्रक्षिप्ते सपरिग्रहता स्यात् । अथ यदि स्पर्शमात्रेण, तदा भूम्यादिना निरन्तरं स्पर्शसद्भावात्सपरिग्रहत्वेन तीर्थङ्करादीनामपि न मोक्षः स्यादिति लाभमिच्छतो भवतो मूलक्षतिः सञ्जाता । अथ जीवसंसक्तिहेतुत्वेन, तर्हि शरीरस्यापि जीवसंसक्तिहेतुत्वात्परिग्रहहेतुत्वमस्तु, कृमिमण्डूकाद्युत्पादस्य तत्र प्रतिप्राणिप्रतीतत्वात् । अथास्ति, परं यतना तत्र विधीयते, तेनायमदोष इति चेत् ? तर्हि वस्त्रेऽप्ययं न्यायः किं काकैर्भक्षितः ? वस्त्रस्यापि यतनयैव सीवनक्षालनादिकरणेन जीवसंसक्तिनीवारणात्, तत्र वस्त्रसद्भावेन चारित्रासम्भवः ।

व्याख्या का भावानुवाद :

अब इस विषय में दिगंबरो ने अपनी युक्तियां प्रकट की है वह देखेंगें।

पूर्वपक्ष (दिगंबर) : उपर कहे हुए स्वरुपवाला मोक्ष चाहे हो, उसमे हमको दिक्कत नहीं है। क्योंकि हम भी मोक्ष का स्वरुप वैसा ही मानते है। परंतु वैसे स्वरुपवाला मोक्ष पुरुष को ही होता है। स्त्री को होता नहीं है। वह इस अनुसार से है - "स्त्रीयां मोक्ष का भाजन होती नहीं है। क्योंकि पुरुषो से हीन होती है। जैसे नपुंसक पुरुषो से हीन होने से मोक्ष का भाजन होता नहीं है। वैसे स्त्रीयां भी पुरुषो से हीन होने से मोक्ष का भाजन नहीं हो सकती।

उत्तरपक्ष (श्वेतांबर) : (आपने आपके अनुमान में स्त्रीयों में मोक्षाभाव सिद्ध करने के लिए पुरुष से स्त्रीयां हीन है ऐसा हेतु दिया है। तो हमारा प्रश्न है कि) स्त्रीयों में पुरुषो से हीनत्व (१) क्या चारित्र आदि के अभाव के कारण से है ? (२) विशिष्ट सामर्थ्य के अभाव के कारण से है ? (३) पुरुष साधु स्त्रीयों को वंदन करते नहीं है, उसके कारण से है ? या (४) सारणा, वारणा आदि नहीं करने से है ? या (५) उनको लौकिकऋद्धि-सिद्धि प्राप्त होती नहीं, वह कारण है ? या (६) माया आदि का प्रकर्ष होने के कारण से है ?

उपरोक्त छ पक्षो में "चारित्र आदि के अभाव के कारण स्त्रीयां पुरुष से हीन है - यह प्रथम पक्ष विचार करने के लिए भी संभव नहीं है। क्योंकि (आप बताये कि) स्त्रीयों में चारित्र का अभाव क्यों है। (१) स्त्रीयां कपडे को धारण करती है (सचेलक है) इसलिए चारित्र का अभाव है ? या (२) स्त्रीयों में मंद सत्त्व होने के कारण चारित्र का अभाव है ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसमें यदि आप ऐसा कहोंगे कि "स्त्रीयां सचेलक होने से उसमें चारित्र का अभाव है" तो हमारा प्रश्न है कि यदि कपडे भी चारित्र के अभाव के हेतु है, तो वे कपडे किस कारण से चारित्र का अभाव करते है ? क्या (१) कपडे के परिभोगमात्र से चारित्र का अभाव होता है ? या (२) परिग्रहरुप होने के कारण (ममता होने से) चारित्र का अभाव होता है ?

यदि आप ऐसा कहोंगे कि कपडे के परिभोगमात्र से चारित्र का अभाव होता है। तो हमारा प्रश्न है कि स्त्रीयां जो कपडे का परिभोग करती है, उन वस्त्रो का परिभोग क्या (१) वस्त्र के परित्याग में वे समर्थ न होने के कारण होता है ? या (२) वस्त्र संयम में उपकारक होने के कारण होता है ?

उसमें "वस्त्र के परित्याग में वे समर्थ न होने के कारण वस्त्र का परिभोग करती है" ऐसा प्रथमपक्ष उचित नहीं है . क्योंकि प्राणो से अधिक दूसरी कोई चीज प्रिय होती नहीं है। उन प्राणो का भी (शील के रक्षण के लिए-गुण समृद्धि की रक्षा के लिए) त्याग करती स्त्रीयां दिखाई देती है। (यदि वस्त्रो से भी अत्यंत प्रिय प्राणो का त्याग करने का सामर्थ्य स्त्रीयो में आ सकता हो, तो फिर) वस्त्र की तो क्या बात करे ? (ये तो सुतरां त्याग कर सकती है।)

संयम में उपकारी होने के कारण वे वस्त्र का परिभोग करती है - ऐसा कहोंगे तो पुरुष भी संयम के लिए तथा संयम की स्थिरतारुप उपकार के लिए वस्त्र का परिभोग क्यों न कर सके ? उसमें क्या हानी है?

पूर्वपक्ष (दिगंबर) : स्त्रीयां अबला है। (तथा उसके शरीर के अवयवो की रचना ही ऐसी है कि जिससे) पुरुषो के द्वारा जबरदस्ती से उपभोग किया जाता है। इसलिए वस्त्र के बिना स्त्रीयों के शील की - संयम की रक्षा हो नहीं सकती। संयम में बाधा का संभव होने से वे वस्त्र का परिभोग करती है। परंतु पुरुषो को वैसा कोई संभव नहीं है। इसलिए पुरुषो को वस्त्रो का उपभोग होता नहीं है।

उत्तरपक्ष (श्वेतांबर) : आपके उपरोक्तकथन से तो यह तात्पर्य निकलता है कि, स्त्रीयों के वस्त्र के परिभोगमात्र से चारित्र का अभाव होता नहीं है। आहार जैसे (शरीरपुष्टि) द्वारा संयम में उपकारक है, वैसे वस्त्र भी संयम में उपकारक ही है।

तथा वस्त्र परिग्रहरुप भी नहीं है, कि जिससे उससे चारित्र का अभाव हो। वस्त्र परिग्रहरुप कब बनते है ? (१) क्या वस्त्र मूर्च्छा (ममत्व) का कारण होने से परिग्रहरुप बनते है ? या (२) क्या धारण करनेमात्र से परिग्रहरुप बनते है ? या (३) क्या वस्त्र के स्पर्शमात्र से परिग्रहरुप बनते है ? या (४) क्या जीवो की उत्पत्ति के स्थान होने के कारण परिग्रहरुप बनते है ?

"वस्त्र मूर्च्छा (ममत्व) का कारण होने से परिग्रहरुप है" ऐसा कहोंगे तो (हमारा प्रश्न है कि...) शरीर भी मूर्च्छा का हेतु होता है या नहि ?

"शरीर मूर्च्छा का कारण बनता नहीं है।" ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि शरीर अंतरंग होने के कारण तथा अत्यंत दुर्लभ होने से विशेष से मूर्च्छा का कारण बनता है। कहने का मतलब यह है कि शरीर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो वस्त्र से भी अधिक दुर्लभतर है। वस्त्र के त्याग करने के बाद भी इच्छानुकूल दूसरा वस्त्र प्राप्त किया जा सकता है। वस्त्र बाह्य है। परंतु शरीर का त्याग करने के बाद इच्छानुकूल दूसरा शरीर मिलना असंभव है। वह अंतरंग है। इसलिए अति निकट का तथा घनिष्ठ संबंध होने के कारण शरीर तो विशेष से मूर्च्छा का कारण बन सकता है।

यदि शरीर वस्त्र की तरह मूर्च्छा का कारण है, तो उसको पहले से ही क्यों छोड दिया नहीं जाता ? (१) क्या उसका त्याग वस्त्र के त्याग से अत्यंत कठिन है ? या (२) वह संयम का साधक बनकर मोक्ष का कारण होता है ? कि जिससे प्रथम से उसका त्याग नही किया जाता है ?

यदि "पहले से ही शरीर का त्याग करना कठीन है" ऐसा कहोंगे तो प्रश्न है कि.. (१) क्या सर्वपुरुष (पहले से) शरीर का त्याग कर सकते नहीं है ? या (२) क्या अल्पशक्तिवाले कुछ व्यक्ति ही उसको छोड सकते नहीं है ?

"सभी व्यक्ति शरीर का त्याग नही कर सकते है, । ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बहोत पुरुष अग्नि में प्रवेश करना, पर्वत के उपर से गिरना, जहर पीना इत्यादि क्रियायों के द्वारा शरीर का त्याग करते दिखाई देते है।

"अल्पशक्तिवाले व्यक्ति शरीर का त्याग नहीं कर सकते है" ऐसा कहोंगे तो वस्त्र छोडना भी कुछ लोगो को कठिन हो सकता है। इसलिए शरीर की तरह वस्त्र का परिहार करने में आग्रह नहीं होना चाहिए।

"शरीर (संयम की साधना द्वारा) मुक्ति का अंग होने के कारण अत्याज्य है।" ऐसा कहोंगे तो... वस्त्र भी वैसे प्रकार की शक्ति से विकल जीवो को स्वाध्याय आदि में आलंबनभूत होने के कारण शरीर की तरह मुक्ति का अंग बनता है। तो वस्त्र के त्याग का आग्रह क्यों रखते है ?

"वस्त्र धारण करने (अर्थात् शरीर के उपर आ जाने) मात्र से परिग्रहरुप बनता है" ऐसा कहोंगे तो शीतऋतु में (नदी के किनारे पे या स्मशान में) कायोत्सर्गध्यान में रहे हुए मुनि को देखकर कोई धर्मार्थी भक्त के द्वारा "अभी सहन न की जा सके वैसे ठंड पडती है," ऐसा सोचकर साधु के मस्तक के उपर वस्त्र ढक दिया जाये तो भी साधु में सपरिग्रहता आ जायेगी। (परंतु वैसा तो नहीं है। इसलिए वस्त्र धारण करने मात्र से परिग्रहता नहीं आ जाती।)

वस्त्र जीवोत्पत्ति का स्थान होने से परिग्रहरुप है वैसा कहोंगे तो शरीर भी जीवोत्पत्ति का स्थान होने से परिग्रह का कारण बन जायेगा। शरीर में भी कृमि इत्यादि की उत्पत्ति प्रत्येक जीवो में दिखाई देती है। इसलिए शरीर भी जीवोत्पत्ति का स्थान होने से परिग्रह का कारण बन जायेगा।

"यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने से जीवो की विराधना से बचा जा सकता है" यदि आप ऐसा कहोंगे तो वस्त्र में भी यतनापूर्वक दोष का परिहार किया जा सकता है। शरीर में जो युक्ति बताई वह वस्त्र मे भी दी जा सकती है, तो वे युक्तियों का क्या कौए के द्वारा बीच में से भक्षण किया गया है ? कि जिससे वस्त्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के लिए वे युक्तियों का आपको स्फुरण होता नहीं है। वस्त्र का भी यतना द्वारा सीना, काटना इत्यादि करने से जीवोत्पत्ति का निवारण किया जा सकता है। इसलिए वस्त्र के सद्भावमात्र से चारित्र का असंभव नहीं है।

नापि मन्दसत्त्वतया, यतः सत्त्वमिह व्रततपोधारणविषयमेषितव्यम्, तच्च तास्वनल्पं सुदुर्धरशीलवतीषु सम्भवति । अतो न चारित्रासम्भवेन तासां हीनत्वम् । ननु भवत्वविशिष्टं चारित्रं स्त्रीणां, परं परमप्रकर्षप्राप्तं यथाख्याताभिधं तासां न स्यादिति पुरुषेभ्यो हीनत्वमिति चेत् ? तर्हि चारित्रपरमप्रकर्षाभावोऽपि तासां किं कारणाभावेन १ विरोधसम्भवेन वा, न तावदाद्यः पक्षः, अविशिष्टचारित्राभ्यासस्यैव तन्निबन्धनत्वात्, तस्य च स्त्रीष्वनन्तरमेव समर्थितत्वात् । नापि द्वितीयः, यथाख्यातचारित्रस्यार्वाग्दृशामत्यन्तपरोक्षतया केनचिद्विरोधानिर्णयादिति न चारित्राभावेन स्त्रीणां हीनत्वम् ? नापि विशिष्टसामर्थ्यासत्त्वेन, यत इदमपि किं सप्तमनरकपृथ्वीगमनायोग्यत्वेन १ वादादिलब्धिरहितत्वेन २ अल्पश्रुतत्वेन वा २ ? । न तावदाद्यः पक्षः, यतस्तदभावः किं यत्रैव जन्मनि तासां मुक्तिगामित्वं तत्रैवोच्यते सामान्येन वा ? यद्याद्यपक्षः, तर्हि पुरुषाणामपि यत्र जन्मनि मुक्तिगामित्वं तत्र सप्तमपृथ्वीगमनायोग्यत्वं, ततस्तेषामपि मुक्त्यभावः स्यात् । अथ द्वितीयः, तदायमाशयो भवतः, यथा सर्वोत्कृष्टपदप्राप्तिः सर्वोत्कृष्टेनाध्यवसायेन प्राप्यते, सर्वोत्कृष्टे च द्वे एव पदे सर्वदुःखस्थानं सप्तमी नरकपृथ्वी सर्वसुखस्थानं मोक्षश्च, ततो यथा स्त्रीणां सप्तमपृथ्वीगमनमागमे निषिद्धं तद्गमनयोग्यतथाविधस[1]र्वोत्कृष्टमनोवीर्याभावात्, एवं [2]मोक्षोऽपि तथाविधशुभमनोवीर्याभावान्न स्त्रीणां भविष्यति । प्रयोगश्चात्र-नास्ति स्त्रीषु मुक्तिकारणशुभमनोवीर्यपरमप्रकर्षः प्रकर्षत्वात् सप्तमपृथ्वीगमनकारणाशुभमनोवीर्यपरमप्रकर्षवत्[F-40], तदेतदयुक्तं, [F-41]व्याप्तेरभावात् । न हि बहिर्व्याप्तिमात्रेण हेतुर्गमकः स्यात्, किं त्वन्तर्व्याप्त्या, अन्यथा तत्पुत्रत्वादेरपि गमकत्वप्रसङ्गः, अन्तर्व्याप्तिश्च प्रतिबन्धबलेनैव सिध्यति, न चात्र प्रतिबन्धो विद्यते, ततः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमिदं साधनं चरमशरीरिभिर्निश्चिन्तव्यभिचारं च, तेषां हि सप्तमपृथ्वीगमनहेतुमनोवीर्यप्रकर्षाभावेऽपि मुक्तिहेतुमनोवीर्यप्रकर्षसद्भावात्, तथा मत्स्यैरपि व्यभिचारः, तेषां हि सप्तमपृथ्वीगमनहेतुमनोवीर्यप्रकर्षसद्भावेऽपि न मुक्तिगमनहेतुशुभमनोवीर्यप्रकर्षसद्भाव इति ।

व्याख्या का भावानुवाद :

"मंदसत्त्व होने के कारण स्त्रीयों को चारित्र का अभाव होता है।"-ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि

१. सर्वोत्कृष्टाशुभ इत्यपि पाठः । (२) यथा मुक्तिगमनमपि तद्गमनयोग्यतथाविधशुभमनोवीर्याभावात् इत्यपि पाठः

(F-40-41) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ व्रत, तप धारण करने विषयक सत्त्व की बात है, वह सत्त्व तो अत्यंत दु:ख से धारण किया जा सके, वैसे शील को धारण करनेवाली स्त्रीयों में भी संभवित है। इसलिए स्त्रीयों को चारित्र का असंभव नहीं है, इसलिए स्त्रीयों में पुरुषो से हीनत्व नहीं है।

पूर्वपक्ष (दिगंबर) : साधारण तप, व्रत आदि स्वरुप चारित्र स्त्रीयों को चाहे हो, परंतु परमप्रकर्ष प्राप्त यथाख्यात = स्वरुपस्थिति नाम का चारित्र स्त्रीयों को नहीं हो सकता। (जब कि पुरुषो को यथाख्यातचारित्र प्राप्त होता है।) इसलिए स्त्रीयां पुरुष से हीन ही है।

उत्तरपक्ष (श्वेतांबर) : आपने स्त्रीयों में चारित्र के परमप्रकर्ष का अभाव कहा उसमें बाधक क्या है? (१) क्या आवश्यक कारण के अभाव की वजह से होता है ? या (२) क्या कोई विरोधी कारण के संभव से होता है ?

उसमें प्रथमपक्ष उचित नहीं है। क्योंकि सामान्य कक्षा के चारित्र का अभ्यास ही परमप्रकर्ष पर्यन्त यथाख्यातचारित्र का कारण बनता है और सामान्य कक्षा के चारित्र का सद्भाव स्त्रीयों में होता है। उसका समर्थन पहले नजदीक में किया ही है। इसलिए चारित्र के परम प्रकर्ष के कारणभूत अभ्यास कोटी के चारित्र का स्त्रीयों में निषेध किया जा सकता न होने से चारित्र के परमप्रकर्ष का अभाव नहीं कहा जा सकता।

द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है। क्योंकि छद्मस्थो को यथाख्यातचारित्र अतीन्द्रिय होने से अत्यंत परोक्ष है और अत्यंत परोक्ष वस्तु में, उस वस्तु का किसके साथ विरोध है, उसका निर्णय अल्पज्ञानवाले हम नहीं कर सकते है।

इसलिए चारित्र के अभाव से स्त्रीयों में हीनत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। (१)

"विशिष्ट सामर्थ्य के असत्त्व (अभाव) के कारण स्त्रीयां पुरुषो से हीन होती है।" यह पक्ष भी उचित नहीं है। क्योंकि आप हमे जवाब दिजीये कि स्त्रीयों में जो विशिष्टसामर्थ्य का अभाव कहा है वह, (१) क्या स्त्रीयां सातवीं नरक पृथ्वी में जाने के लिए अयोग्य होने के कारण कहा है ? या (२) वाद इत्यादि लब्धि से रहित होने के कारण कहा है ? या (३) अल्पश्रुत होने से कहा है ?" उसमें प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि क्या स्त्रीयां जिस जन्म में मोक्ष में जाती है,उसी जन्म में सातवीं नरक में जाने के लिए अयोग्य होती है ? या सामान्यरुप से किसी भी जन्म में वह सातवीं नरक में जाने अयोग्य होती है ?

यदि "स्त्रीयां जिस जन्म में मोक्ष में जाती है, उसी जन्म में सातवीं नरक में जाने के लिए अयोग्य होती है" ऐसा कहोंगे तो पुरुष भी जिस जन्म में मोक्ष में जाता है उस जन्म में सातवीं नरक में जाने के लिए अयोग्य होता है। (इसलिए पुरुषो को भी असमर्थ = हीन मानना पडेगा और) इसलिए पुरुषो की मुक्ति का भी अभाव हो जायेगा।

(अब दूसरे पक्ष की अनुचितता बताने से पहले दिगंबरो का आशय स्पष्ट किया जाता है।)

पूर्वपक्ष (दिगंबर) : सर्वोत्कृष्टपद की प्राप्ति सर्वोत्कृष्ट अध्यवसाय के द्वारा प्राप्त की जाती है। जगत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में सर्वोत्कृष्ट स्थान दो है। एक सर्वदुःख का स्थान सातवीं नरक और दूसरा सर्वसुख का स्थान मोक्ष है। इसलिए जैसे स्त्रीयों का सातवीं नरक पृथ्वी में गमन आगम में नकारा है। क्योंकि सातवीं नरक पृथ्वी में जाने प्रायोग्य वैसे प्रकार के सर्वोत्कृष्ट अशुभमनोवीर्य का स्त्री में अभाव होता है। इस अनुसार से वैसे प्रकार के सर्वोत्कृष्ट शुभमनोवीर्य का भी स्त्रीयो में अभाव होने से मोक्ष भी होगा नहीं। अनुमानप्रयोग इस अनुसार से है -

"स्त्रीयों में मुक्ति के कारणभूत शुभ मनोवीर्य का प्रकर्ष होता नहीं है, क्योंकि वह परमप्रकर्ष (सर्वोच्चदशा) है। जैसे कि, सातवीं पृथ्वी में जाने के कारणभूत अशुभमनोवीर्य का परमप्रकर्ष अभाव।

इस प्रकार स्त्रीयों में शुभमनोवीर्य का परमप्रकर्ष का अभाव होने से मुक्ति होती नहीं है।

उत्तरपक्ष (श्वेतांबर) : आपका कथन अयोग्य है। क्योंकि व्याप्ति का अभाव है। (ऐसा कोई नियम नहीं है कि कोई दृष्टांत में हेतु और साध्य की व्याप्ति मिल जाने से ही हेतु सत्य बन जाये। परंतु पक्ष में भी उसका अविनाभाव मिलना चाहिए। इसलिए अंतर्व्याप्ति = पक्ष में साध्य-साधन की व्याप्ति ही सचमुच हेतु में सत्यता लाने का प्रधान कारण है। सारांश में, **दृष्टांत में साध्य-साधन की व्याप्ति वह बहिर्व्याप्ति।** उससे हेतु सत्य बनता नहीं है। **पक्ष में साध्य-साधन की व्याप्ति वह अंतर्व्याप्ति** । उससे हेतु सत्य बनता है। इसलिए) बहिर्व्याप्ति मात्र से हेतु (साध्यका) गमक बन जाता नहीं है। परंतु अंतर्व्याप्ति से ही हेतु साध्य का गमक बनता है। अन्यथा तत्पुत्रत्वादि हेतु से भी गमकत्व प्रसंग आयेगा। (अर्थात् अंतर्व्याप्ति से हेतु में साध्य का गमकत्व मानने के बदले बहिर्व्याप्ति से भी हेतु में साध्य का गमकत्व मानोंगे तो) गर्भगत बालक में श्यामता (कालापन) सिद्ध करने के लिए दीया गया तत्पुत्रत्व हेतु भी सत्य बन जायेगा। इसलिए अंतर्व्याप्ति प्रतिबंध (अविनाभाव) के बल से ही सिद्ध होता है। यहाँ (उपरोक्त आपके अनुमान में) प्रतिबंध (अविनाभाव) विद्यमान नहीं है। अर्थात् सातवीं नरक में जाने में और मोक्ष में जाने में कोई अविनाभाव नहीं है। क्योंकि कोई सातवीं नरक में न जाये तो भी मोक्ष में जा सकता है) इसलिए हेतु संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिक - संदिग्धव्यभिचारी है तथा चरमशरीरी जीवो के साथ निश्चय से व्यभिचार है। (क्योंकि चरमशरीरी नरक में न जाने पर भी मोक्ष में जाते है। इसलिए निश्चय से उपरोक्त आपका नियम व्यभिचारी है।)

वैसे ही चरमशरीरी जीवो में सातवीं नरक पृथ्वी में जाने के कारणभूत अशुभमनोवीर्य के प्रकर्ष के असद्भाव में भी मुक्ति में जाने के कारणभूत शुभ मनोवीर्य के प्रकर्ष का सद्भाव होता है।

तथा महामत्स्यो से भी आपका उपरोक्त नियम व्यभिचारी बनता है। क्योंकि वे महामत्स्यो में सातवीं नरक पृथ्वी में गमन के कारणभूत अशुभमनोवीर्य के प्रकर्ष का सद्भाव होने पर भी मुक्तिगमन में कारणभूत शुभमनोवीर्य के प्रकर्ष का सद्भाव होता नहीं है।

तथा नहि येषामधोगमनशक्तिः स्तोका तेषामूर्ध्वगतावपि शक्तिः स्तोकैव, भुजपरिसर्पादिभिर्व्यभिचारात् । तथाहि-[F-42]भुजपरिसर्पा अधो द्वितीयामेव पृथ्वीं गच्छन्ति न ततोऽधः,

(F-42) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पक्षिणस्तृतीयां यावत्, चतुर्थीं चतुष्पदाः, पञ्चमीमुरगाः, अथ च सर्वेऽप्यूर्ध्वमुत्कर्षतः सहस्रारं यावद्गच्छन्ति, अतो न सप्तमपृथ्वीगमनायोग्यत्वेन विशिष्टसामर्थ्यासत्त्वम् । नापि वादादिलब्धिरहितत्वेन,[F-43] मूककेवलिभिर्व्यभिचारात्[F-44] । तथाल्पश्रुतत्वेनेति पक्षस्त्वनुद्घोष्य एव, मुक्त्यवाप्त्यानुमितविशिष्टसामर्थ्यैर्माषतुषादिभिरनेकान्तिकत्वात्, तत्र विशिष्टसामर्थ्यासत्त्वं स्त्रीणां घटते २ । नापि[F-45] पुरुषानभिवन्द्यत्वेन स्त्रीणां हीनत्वं, यतस्तदपि किं सामान्येन १ गुणाधिकपुरुषापेक्षया २ वा ? आद्योऽसिद्धः, तीर्थङ्करजनन्यादयो हि शक्रैरपि पूज्यन्ते किमङ्ग शेषपुरुषैः । द्वितीयश्चेत्, तदा गणधरा अपि तीर्थङ्करैर्नाभिवन्द्यन्त इति तेषामपि हीनत्वान्मोक्षो न स्यात् । तथा चतुर्वर्णस्य सङ्घस्य तीर्थङ्करैर्वन्द्यत्वात्सङ्घान्तर्गतत्वेन संयतीनामपि तीर्थंकरवन्द्यत्वाभ्युपगमात्कथं स्त्रीणां हीनत्वम्[F-46] ३ ? [F-47]अथ स्मारणाद्यकर्तृत्वेनेति पक्षः, तदाचार्याणामेव मुक्तिः स्यान्न शिष्याणां, तेषां स्मारणाद्यकर्तृत्वात् ४ । अथामहर्द्धिकत्वेनेति पक्षः, सोऽपि न दक्षः, यतो दरिद्राणामपि केषाञ्चिन्मुक्तिः श्रूयते केषाञ्चिन्महर्द्धिकाणामपि चक्रवर्त्यादीनां तदभावः ५ । अथ मायादिप्रकर्षकत्वेनेति, तदपि न युक्तं, नारददृढप्रहारिभिर्व्यभिचारात्, तत्र हीनत्वं कथमपि स्त्रीणां जाघटीतीति हीनत्वादित्यसिद्धो हेतुः ६ । ततश्चाविगानेन पुरुषाणामिव योषितामपि निर्वाणं प्रतिपत्तव्यम् । प्रयोगश्चात्र-अस्ति[F-48] स्त्रीणां मुक्तिः अविकलकारणवत्त्वात्, पुंवत्, तत्कारणानि सम्यग्दर्शनादीनि स्त्रीषु संपूर्णान्युपलभ्यन्ते । ततो भवत्येव स्त्रीणां मोक्ष इति स्थितं मोक्षतत्त्वम् । एतेन "ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम् । गत्वागच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ।।१।।" इति परपरिकल्पितं पराकृतम् ।।५२।।

व्याख्या का भावानुवाद :

जिनमें अधोगमन की शक्ति स्तोक (अल्प) है। उनमें उर्ध्वगमन की शक्ति भी स्तोक (अल्प) ही होती है, वैसा नहीं है। क्योंकि भुजपरिसर्पादि के साथ व्यभिचार आता है। वह इस अनुसार से है-

भुजपरिसर्पजीव नीचे दूसरी ही नरक पृथ्वी तक जाते है, उससे अधिक नहीं। पक्षी यावत् तीसरी नरक तक, चतुष्पद चौथी नरक तक, सांप पांचवी नरक तक जाता है। वे भुजपरिसर्प, पक्षी, चतुष्पद और सांप सभी उंचे उत्कृष्ट से सहस्रार विमान (आठवें देवलोक) तक जाते है। (अर्थात् भुजपरिसर्पादि में अधोगति में जाने योग्य शक्ति का तारतम्य होने पर भी उर्ध्वगति में जाने योग्य शक्ति की समानता है। इसलिए जिन की अधोगमन की शक्ति स्तोक (अल्प) हो, उसकी उर्ध्वगमन की शक्ति भी स्तोक हो, वैसा नियम नहीं है।)

इसलिए स्त्रीयों में सातवीं नरक पृथ्वी में जाने की अयोग्यता होने के कारण विशिष्ट सामर्थ्य का अभाव

(F-43-44-45-46-47-48) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(असत्त्व) सिद्ध होता नहीं है।

उपरांत, स्त्रीयां वादादिलब्धि से रहित होने से भी विशिष्टसामर्थ्य से रहित नहीं है। क्योंकि मूककेवलियों के साथ व्यभिचार आता है। मूककेवली केवलज्ञान के बाद (वाद तो एक तरफ रखो) एक भी शब्द बोलते न होने पर भी मुक्ति में जाते है।

"अल्पश्रुत होने के कारण स्त्रीयां हीन है, इसलिए मोक्ष के लिए अयोग्य है।" यह पक्ष आपको बोलने योग्य ही नहीं है। क्योंकि मुक्ति की प्राप्ति द्वारा अनुमान से मालूम होते विशिष्ट सामर्थ्यवाले श्रीमाषतुषादि के साथ व्यभिचार आता है। श्री माषतुषादि मुनि अल्पश्रुतवाले होने पर भी मुक्ति में गये है। इसलिए मुक्ति की प्राप्ति द्वारा उसमें विशिष्टसामर्थ्य का अनुमान किया जा सकता है। (उनको श्रुत अल्प होने पर भी गुर्वाज्ञा का अखंड पालन, प्रज्ञापनीयता, सरलता आदि गुणो ने ऐसा विशिष्टसामर्थ्य पैदा कराया कि जिसके द्वारा केवलज्ञान पाकर मुक्ति में पहुंच गये।) इसलिए अल्पश्रुत होने मात्र से विशिष्ट सामर्थ्य का अभाव कहा नहीं जा सकता। इसलिए स्त्रीयों में विशिष्ट सामर्थ्य का असत्त्व होता नहीं है। ॥२॥

"पुरुष द्वारा स्त्रीयों को वंदन किया जाता न होने से स्त्रीयां पुरुषो से हीन है" यह कथन भी योग्य नहीं है। क्योंकि... (१) स्त्रीयां सामान्यरुप से ही सर्वपुरुषो से अवंदनीय है या (२) अपने से कोई विशिष्ट गुणीपुरुष की अपेक्षा से अवंदनीय है ? वह आपको कहना चाहिए।

उसमें प्रथम पक्ष तो असिद्ध है। क्योंकि तीर्थंकर की मातायें इन्द्रो के द्वारा भी पूजनीय होती है, तो बाकी के पुरुषो की तो क्या बात करे ?

दूसरा पक्ष भी अयोग्य है। क्योंकि गणधर भी तीर्थंकरो के द्वारा अवंदनीय है। इससे गणधर भगवंतो को भी हीन कहना पडेगा और हीन होने से मोक्ष में नहीं जा सकेंगे।

तथा चतुर्विधसंघ तीर्थंकरो के द्वारा भी वंदनीय होता है। साध्वीजीयां भी उस चतुर्विधसंघ की अन्तर्गत होने के कारण तीर्थंकरो से वंदनीय स्वीकार की गई हुई है। तो स्त्रीयों में किस तरह से हीनत्व है ? इस तरह से स्त्री हीन होने से मोक्षगमन में योग्य नहीं है, उस पक्ष का निराकरण हुआ। (३)

"स्त्रीयां अध्ययन करा सकती नहीं है या दूसरो को कर्तव्य की सारणा इत्यादि करा सकती नहीं है। इसलिए पुरुषो से हीन है।" वह पक्ष भी उचित नहीं है। क्योंकि (वैसा मानने में तो) आचार्यो की ही मुक्ति होगी, दूसरे अन्य साधु-शिष्यो की मुक्ति नहीं हो सकेगी। क्योंकि दूसरे शिष्य-साधु सारणा इत्यादि करते नहीं है। इस तरह से स्त्रीयों में हीनत्व सिद्ध करता चौथा पक्ष भी उचित नहीं है।

"स्त्रीयों में ऋद्धि न होने से पुरुषो से हीन है।" यह पक्ष भी उचित नहीं है। क्योंकि (ऋद्धिरहित) कुछ दरिद्रो की भी मुक्ति सुनी जाती है और महाऋद्धिवाले कुछ चक्रवर्तीयों की भी मुक्ति का अभाव सुना जाता है।

इस प्रकार ऋद्धि के अभाववाला पक्ष अयोग्य है।

"स्त्रीयों में मायादि का प्रकर्ष होने से पुरुषो से हीन है" यह पक्ष असत्य है। क्योंकि पुरुष ऐसे नारद,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दृढप्रहारि इत्यादि के साथ व्यभिचार आता है। नारद इत्यादि में मायादि का प्रकर्ष होने पर भी उनकी मुक्ति हुई है। इसलिए आपका हेतु व्यभिचारी बनता है। (६)

इसलिए किसी भी तरह से स्त्रीयों में हीनत्व होता नहीं है। इस प्रकार हीनत्वादि हेतु असिद्ध है।

इसलिए निर्विवाद पुरुषो की तरह स्त्रीयों की भी मुक्ति माननी चाहिए। अनुमान प्रयोग इस अनुसार से है - "स्त्रीयों की मुक्ति होती है। क्योंकि (मुक्तिप्रायोग्य) कारण सामग्री से अविकल (संपूर्ण) होती है, जैसे कि पुरुष। मुक्ति के कारण सम्यग्दर्शनादि (रत्नत्रयी) स्त्रीयों में संपूर्ण उपलब्ध होते है। इसलिए स्त्रीयों का मोक्ष होता है। इस तरह से मोक्षतत्त्व का विवरण पूरा होता है।

ऐसे प्रकार की मुक्ति जिन को प्राप्त होती है, । उनको संसार में वापस आना पडता नहीं है। इसलिए "धर्मतीर्थ के प्रवर्तक ज्ञानी आत्मा परमपद (मोक्ष) में जाकर तीर्थधर्म की हानी देखकर पुनः भी आते है - अवतार धारण करते है।" यह अन्यदर्शन की मान्यता का भी खंडन हो जाता है। ॥५२॥

(मू. श्लो.) एतानि नव तत्त्वानि यः श्रद्धत्ते स्थिराशयः ।
सम्यक्त्वज्ञानयोगेन तस्य चारित्रयोग्यता ॥५३॥

श्लोकार्थ : ये नव तत्त्वो के उपर स्थिर आशयवाला जो अडग श्रद्धा रखता है - विश्वास करता है, उसमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सद्भाव होने से चारित्र की योग्यता होती है। अर्थात् चारित्र की योग्यता विकसित होती है।

व्याख्या-एतानि-अनन्तरोदितानि नवसङ्ख्यानि तत्त्वानि यः स्थिराशयो-न पुनः शङ्कादिना चलचित्तः श्रद्धानस्य ज्ञानपूर्वकत्वाज्जानीते श्रद्धत्ते च-अवैपरीत्येन मनुते । एतावता जानन्नप्यश्रद्धधानो मिथ्यादृगेवेति सूचितम् । यथोक्तं श्रीगन्धहस्तिना महातर्के "द्वादशाङ्गमपि श्रुतं विदर्शनस्य मिथ्या" **इति । तस्य श्रद्धधानस्य सम्यक्त्वज्ञानयोगेन-सम्यग्दर्शनज्ञानसद्भावेन चारित्रस्य-सर्वसावद्यव्यापारनिवृत्तिरूपस्य देशसर्वभेदस्य योग्यता भवति, अत्र ज्ञानात्सम्यक्त्वस्य प्राधान्येन पूज्यत्वात्प्राग्निपातः, अनेन सम्यक्त्वज्ञानसद्भाव एव चारित्रं भवति नान्यथेत्यावेदितं द्रष्टव्यम् ॥५३॥**

व्याख्या का भावानुवाद :

नजदीक में कहे हुए नौ तत्त्वो में शंकादि से चलचित्त नहीं है, वैसा स्थिराशयवाला व्यक्ति ज्ञानपूर्वक उन नौ तत्त्वो को जानता है तथा उन नौ तत्त्वो को अविपरीत रुप से मानते है, वह व्यक्ति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का भागी बनने के द्वारा चारित्र की योग्यता प्राप्त करती है - इस तरह से श्लोक का अन्वय करना।

"जो नौ तत्त्वो को ज्ञानपूर्वक जानता है और नौ तत्त्वो को अविपरीत रुप से मानते है, वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करते है।" यह पद कहने द्वारा यह सूचित होता है कि जो नौ तत्त्वो को जानता होने पर भी श्रद्धा रखता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है। उसका ज्ञान मिथ्या है। **इसलिए गंधहस्ति द्वारा महातर्क में कहा गया है कि, "मिथ्यादृष्टि को बारह अंगरुप श्रुत भी मिथ्या है।"** इस प्रकार जो नौ तत्त्वो की श्रद्धा रखते है, उसको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सद्भाव होने से सर्वसावद्यव्यापार की निवृत्ति स्वरुप सर्वचारित्र तथा अल्पांश से पाप की निवृत्तिरुप देशचारित्र की योग्यता प्राप्त होती है।

यहाँ ज्ञान से सम्यग्दर्शन की प्रधानता होने से पूज्य है और इसलिए उसको (रत्नत्रयी रुप मोक्षमार्ग में) प्रथम ग्रहण किया हुआ है। इसके द्वारा निश्चित होता है कि, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के सद्भाव में ही चारित्र होता है। अन्यथा नहि। ॥५३॥

(मू. श्लो.) तथाभव्यत्वपाकेन यस्यैतत्त्रितयं भवेत् ।
सम्यग्ज्ञानक्रियायोगाज्जायते मोक्षभाजनम् ।।५४।।

श्लोकार्थ : जो भव्यात्मा को तथाभव्यत्व (मोक्षगमन की योग्यतास्वरुप भव्यत्व गुण) के परिपाक से (सम्यग्दर्शन - सम्यग्ज्ञान - सम्यग्चारित्र रुप) रत्नत्रयी प्राप्त होती है। वह भव्यात्मा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्क्रिया (चारित्र) के योग से मोक्ष का भाजन बनता है = मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या-**जीवा द्वेधा भव्याभव्यभेदात्, अभव्यानां सम्यक्त्वाद्यभावः, भव्यानामपि भव्यत्वपाकमन्तरेण तदभाव एव, तथाभव्यत्वपाके तु तत्सद्भावः**, ततोऽत्रायमर्थः-**भविष्यति विवक्षितपर्यायेणेति भव्यः, तद्भावो भव्यत्वं**, भव्यत्वं नाम सिद्धिगमनयोग्यत्वं, **जीवानामनादिपारिणामिको भावः, एवं सामान्यतो भव्यत्वमभिधायाथ तदेव प्रतिविशिष्टमभिधातुमाह-तथा-तेनानियतप्रकारेण भव्यत्वं तथाभव्यत्वम्, अयं भावः-भव्यत्वमेव स्वस्वकाल-क्षेत्रगुर्वादिद्रव्यलक्षणसामग्रीभेदेन नानाजीवेषु भिद्यमानं सत्तथाभव्यत्वमुच्यते, अन्यथा तु सर्वैः प्रकारैरेकाकारायां योग्यतायां सर्वेषां भव्यजीवानां युगपदेव धर्मप्राप्त्यादि भवेत्, तथाभव्यत्वस्य यः पाकः फलदानाभिमुख्यं तेन तथाभव्यत्वपाकेन, यस्य कस्यापि सागरोपमकोट्यभ्यन्तरानीतसर्वकर्मस्थितिकस्य भव्यस्य एतत्त्रितयं ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं भवेत्, यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात्, स भव्यः सम्यक्-समीचीने ये ज्ञानक्रिये-ज्ञानचारित्रे तयोर्योगात्संयोगान्मोक्षस्य-बन्धवियोगस्या-नन्तज्ञानदर्शनसम्यक्त्वसुखवीर्यपञ्चकात्मकस्य भाजनं-स्थानं जायते, एतेन केवलाभ्यां ज्ञानक्रियाभ्यां न मोक्षः किं तूभाभ्यां संयुक्ताभ्यां ताभ्यामिति ज्ञापितं भवति । अत्र ज्ञानग्रहणेन सदा सहचरत्वेन दर्शनमपि ग्राह्यम्, यदुवाच वाचकमुख्यः** "सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्गः" **[त० सू० १/१]** इति ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

जीवो के दो प्रकार है। भव्य और अभव्य। अभव्य जीवो को सम्यक्त्वादि रत्नत्रयी का अभाव होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भव्य जीवो को भी जहाँ तक तथाभव्यत्व का परिपाक न हो, तब तक रत्नत्रयी का अभाव होता है। तथा-भव्यत्व का परिपाक होने से रत्नत्रयी की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य यह है कि, जो (अपने उस) विवक्षित सम्यग्दर्शन आदि पर्यायरुप से परिणत होगा, उसे भव्य कहा जाता है। भव्य के (असाधारण) भाव (स्वरुप) को भव्यत्व कहा जाता है। (अर्थात् जिससे वह भव्य के रुप से पहचाना जाता है उसे भव्यत्व कहा जाता है।) सारांश में सिद्धिगमन की जिसमें योग्यता होती है, उसे भव्य कहा जाता है। सिद्धिगमन की योग्यता स्वरुप भव्यत्व है। यह भव्यत्व जीवो का अनादिकाल से रहनेवाला पारिणामिक = स्वाभाविक भाव है।

इस अनुसार से सामान्य रुप भव्यत्व को कहकर, अब उसके ही विशिष्ट स्वरुप को बताने के लिए कहते है - अनियत प्रकार से मोक्षगमन की योग्यता को तथाभव्यत्व कहा जाता है। अर्थात् अनियत प्रकार की मोक्षगमन की योग्यता को तथाभव्यत्व कहा जाता है।

कहने का मतलब यह है कि.... (मोक्षगमन की योग्यतास्वरुप) भव्यत्व ही स्व-स्वकाल, क्षेत्र, गुर्वादि द्रव्यस्वरुप सामग्री के भेद से अनेक जीवो में भिन्न-भिन्न होने पर ही तथाभव्यत्व कहा जाता है। अर्थात् सभी जीवो में मोक्षगमन की योग्यता समान होने पर भी उस योग्यता का परिपाक करनेवाली क्षेत्र, काल, गुर्वादि स्वरुप सामग्री का होनेवाला समवधान (प्रत्येक जीवो में) अनियत होने के कारण प्रत्येक जीव का भव्यत्व भिन्न-भिन्न माना जाता है और वही तथाभव्यत्व कहा जाता है। अन्यथा यदि ऐसा माना न जाये तो सर्व प्रकारो के द्वारा एकाकारयोग्यता होने से ही सभी भव्य जीवो की एकसाथ ही धर्मप्राप्ति इत्यादि मानना पडेगा। (कहने का मतलब यह है कि सर्व जीवो का तथाभव्यत्व भिन्न-भिन्न माना नहीं जायेगा, तो मोक्षगमन की योग्यता स्वरुप भव्यत्व तो सभी भव्यजीवो में समान होने से सभी भव्यजीवो की एकसाथ धर्मप्राप्ति आदि की प्राप्ति माननी पडेगी। परंतु वैसा नहीं दिखाई देता है। कोई कुछ खास क्षेत्र में, कुछ खास काल में, धर्मप्राप्त करता है, तो दूसरा कोई उससे अन्य क्षेत्र में अन्य काल में धर्म प्राप्त करता है। इत्यादि जो भिन्नता-विचित्रताएँ दिखाई देती है, वे प्रत्येक भव्यात्माओ के तथाभव्यत्व की भिन्नता के कारण है।)

तथाभव्यत्व की जो फल देने की अभिमुखता है, उसको तथाभव्यत्व का पाक कहा जाता है। अर्थात् सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति के लिए आवश्यक धर्मसामग्री का प्रदान करके उसके फल (सम्यग्दर्शनादि) की ओर अभिमुख करे, वह तथाभव्यत्व का परिपाक कहा जाता है।

सर्वकर्मो की स्थिति एककौडाकौडी सागरोपम की अंदर की है, ऐसे जो किसी भव्य को ज्ञान-दर्शन-चारित्ररुप रत्नत्रयी की प्राप्ति होती है, वह भव्यात्मा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के योग से कर्मबंध के वियोग स्वरुप तथा अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, सम्यक्त्व, अनंतसुख और अनंतवीर्य ये अनंतपंचक के स्थानभूत मोक्ष का भाजन बनता है।

(**यत्तदोर्नित्याभिसम्बधात्**-**यत्** और **तद्** का नित्यसंबंध होता है। इस न्याय से श्लोक में **यत्** मात्र का उल्लेख होने पर भी अध्याहार से **तत्** का ग्रहण कर लेना। इसलिए जो कोई रत्नत्रयी को प्राप्त करता है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह भव्यात्मा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के योग से मोक्ष का भाजन होता है... ऐसा अर्थ होता है।)

इससे यह बताया गया है कि, केवल ज्ञान और केवल क्रिया से मोक्ष होता नहीं है। परंतु सम्यग्ज्ञान और सम्यक्क्रिया (चारित्र) के संयोग से ही मोक्ष होता है।

यहाँ मोक्षमार्गभूत सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में ज्ञान के ग्रहण से सदा सहचारी होने से दर्शन का भी ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान हो सकता नहीं है। इसलिए सम्यग्ज्ञान के ग्रहण से सम्यग्दर्शन का भी ग्रहण करना चाहिए। जिससे (मोक्षमार्ग को बताते हुए) पू.वाचकप्रवर श्री उमास्वातिजी महाराजा ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि.... **"सम्यग्ज्ञान - सम्यग्दर्शन - सम्यक्चारित्र मोक्ष मार्ग है।"**

प्रत्यक्षादिप्रमाणविशेषलक्षणमत्र ग्रन्थकारः स्वयमेव वक्ष्यति, तच्च विशेषलक्षणं सामान्यलक्षणाविनाभावि, सामान्यलक्षणं च विशेषलक्षणाविनाभावि, सामान्यविशेषलक्षणयोरन्योन्यापरिहारेण स्थितत्वात् । तेन प्रमाणविशेषलक्षणस्यादौ प्रमाणसामान्यलक्षणं सर्वत्र वक्तव्यम्, अतोऽत्रापि प्रथमं तदभिधीयते । "स्वपरव्यवसायि ज्ञानं [अ]प्रमाणं" इति, प्रकर्षेण संशयाद्यभावस्वभावेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत्प्रमाणम् । स्वमात्मा ज्ञानस्य स्वरूपं परः स्वस्मादन्योऽर्थ इति यावत् तौ विशेषेण यथावस्थितस्वरूपेणावस्यति निश्चिनोतीत्येवंशीलं यत्तत्स्वपरव्यवसायि, ज्ञायते प्राधान्येन विशेषो गृह्यतेऽनेनेति ज्ञानम् अत्र ज्ञानमिति विशेषणमज्ञानरुपस्य व्यवहारमार्गानवतारिणः सन्मात्रगोचरस्य स्वसमयप्रसिद्धस्य दर्शनस्य सन्निकर्षादेश्चाचेतनस्य नैयायिकादिकल्पितस्य प्रामाण्यपराकरणार्थं, ज्ञानस्यापि च प्रत्यक्षरूपस्य शाक्यैर्निर्विकल्पतया प्रामाण्येन कल्पितस्यापि संशयविपर्ययानध्यवसायानां च प्रमाणत्वव्यवच्छेदार्थं व्यवसायीति, पारमार्थिकपदार्थसार्थापलापिज्ञानाद्वैतादिवादिमतमपाकर्तुं परेति, नित्यपरोक्षबुद्धिवादिनां मीमांसकानामेकात्मसमवायिज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादिनां वैशेषिकयौगानामचेतनज्ञानवादिनां कापिलानां च कदाग्रहनिग्रहाय स्वेति, समग्रं तु लक्षणवाक्यं परपरिकल्पितस्यार्थोपलब्धिहेत्वादेः प्रमाणत्वलक्षणत्वप्रतिक्षेपार्थम्, अत्र च स्वस्य ग्रहणयोग्यः परोऽर्थः स्वपर इत्यस्यापि समासस्याश्रयणाद्व्यवहारिजनापेक्षया यस्य यथा ज्ञानस्याविसंवादः, तस्य तथा तत्र प्रामाण्यमित्यभिहितं भवति, तेन संशयादेरपि धर्मिमात्रापेक्षया न प्रामाण्यव्याहतिः ।।५४।।

व्याख्या का भावानुवाद :

यहाँ (आगे उपर) ग्रंथकार श्री स्वयं प्रत्यक्षादिप्रमाण के विशेषलक्षण को कहेंगे। वह विशेषलक्षण

अ "स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।" - प्रमा० त० - १/२। जैनतर्कभाषा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामान्यलक्षण के अविनाभावि होता है और सामान्यलक्षण विशेषलक्षण के अविनाभावि होता है। क्योंकि सामान्य और विशेषलक्षण एकदूसरे को परिहार करके नहीं रह सकते है। इसलिए प्रमाण का विशेषलक्षण (कहने से पहले) प्रारंभ में प्रमाण का सामान्यलक्षण सभी जगह पे कहना चाहिए। इसलिए यहाँ भी प्रथम प्रमाण का सामान्यलक्षण कहा जाता है।

स्व-पर व्यवसायिज्ञान को प्रमाण कहा जाता है - अर्थात् संशय, विपर्यय आदि के निराकरण करने के स्वभाव द्वारा वस्तु जिससे मालूम होती है, उसे प्रमाण कहा जाता है। अर्थात् "स्व-"अपने (ज्ञानके) स्वरुप का तथा "स्व" से भिन्न परपदार्थ का यथावस्थित निश्चयात्मक ज्ञान जिससे होता है, वह स्व-पर व्यवसायिज्ञान प्रमाण कहा जाता है।

जिसके द्वारा वस्तु प्रधानरुप से मालूम होती है - वस्तु का विशेषअंश ग्रहण किया जाता है, इसे ज्ञान कहा जाता है।

प्रमाण के लक्षण में "**ज्ञान**" विशेषण के ग्रहण से ज्ञान से, भिन्न अज्ञानरुप, प्रवृत्ति आदि व्यवहार मार्ग में अनुपयोगी, सामान्यमात्र विषयक जैनआगम में प्रसिद्ध दर्शन तथा नैयायिक इत्यादि के द्वारा कल्पित अचेतनात्मक सन्निकर्ष आदि में प्रमाणता का निराकरण होता है।

प्रमाण के लक्षण में "**व्यवसायि**" विशेषण के ग्रहण से बौद्धो के द्वारा प्रमाणभूत माने गये निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान की तथा संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय की प्रमाणता का व्यवच्छेद होता है।

"**पर-व्यवसाय**" विशेषण के ग्रहण से पारमार्थिक घट-पटादि बाह्यपदार्थो के समूह का अपलाप करनेवाले, मात्र ज्ञान की सत्ता माननेवाले ज्ञानाद्वैतवादि के मत का खंडन होता है।

ज्ञान को सर्वथा परोक्ष माननेवाले मीमांसको के, ज्ञान को द्वितीय अनुव्यवसायरुप से प्रत्यक्ष माननेवाले वैशेषिकोके और नैयायिको के तथा अचेतनज्ञानवादियों के (अर्थात् ज्ञान को प्रकृति का धर्म मानकर अचेनत माननेवाले) सांख्यो के कदाग्रह का निग्रह करने के लिए - "**स्व-व्यवसाय**" पद दिया गया है।

समग्र लक्षणवाक्य नैयायिको इत्यादि के द्वारा परिकल्पित "**अर्थोपलब्धि में हेतु बने वह प्रमाण कहा जाता है।**" इत्यादि प्रमाण के लक्षणो के व्यवच्छेद के लिए है।

(१) नैयायिकोने प्रत्यक्ष के प्रति इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की प्रमाणता का स्वीकार किया है। परंतु वह युक्त नहीं है। क्योंकि जैसे घट जड होने से **स्वके निश्चय में** या **पदार्थ के निश्चय में** साधकतम होता नहीं है। इस अनुसार से इन्द्रिय और विषय के संबंधरुप सन्निकर्ष भी **स्व-निश्चय में** या पदार्थ के निश्चय में साधकतम नहीं हो सकता, क्योंकि जड है। नैयायिको की मान्यता के खंडन के लिए प्रमाण के लक्षण में "**ज्ञान**" पद का ग्रहण किया है।

(२) "उत्पन्न हुआ ज्ञान एक आत्मा में समवाय संबंध से रहा हुआ, अनंतर समय पर उत्पन्न होते मानसप्रत्यक्ष के द्वारा मालूम होता है। परन्तु स्वरुप से प्रतीत होता नहीं है।" ऐसा मानने वाले नैयायिको

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के मत का निराकरण "**स्व**" पद के ग्रहण से होता है।

(३) बौद्धमत में सर्व वस्तुयें क्षणिक है। क्षणिक वस्तु के प्रथमअक्ष सन्निपातके अनंतर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह नाम, जाति इत्यादि की कल्पना से रहित होने के कारण निर्विकल्पक कहा जाता है। वह निर्विकल्पकज्ञान के अनंतर वासना के बल से उत्पन्न हुआ सविकल्पकज्ञान संकेतकालदृष्टत्वेन वस्तु ग्रहण करता है। इसलिए ही संकेतकाल से होनेवाला शब्द, प्रयोग में आता है तथा वही शब्दप्रयोग के योग्य निर्विकल्पक ज्ञान के अनंतर वासना से उत्पन्न होता सविकल्पक ज्ञान है। उसका विषय भूत और संतान है। सविकल्पक ज्ञान पूर्वदृष्टत्वेन ही सर्व का निश्चय करता है। बालक भी जब तक पूर्वदृष्टत्वेन स्तन का अवधारण करता नहीं है, तब तक स्तन में मुख रखता नहीं है। इसलिए ही सभी लौकिक व्यवहार इस विज्ञान द्वारा चलता है।

निर्विकल्पक ज्ञान निश्चायक बनता नहीं है, क्योंकि स्व लक्षणमात्र से जन्य है और उसका प्रथमक्षण में ही नाश होता होने से शब्दसंबंध के योग्य नहीं है। इसलिए ही व्यवहारपथ में उपयोगी बनता नहीं है। ऐसे व्यवहारपथ में अनुपयोगी निर्विकल्पकज्ञान को प्रमाणभूत माना नहीं जा सकता।

"निर्विकल्पकज्ञान के उत्तर में होनेवाले व्यवहारमार्ग में उपयोगी ऐसे सविकल्पकज्ञान की उत्पत्ति, उससे होती होने से वह प्रमाणभूत है।" ऐसा कहोंगे तो निर्विकल्पकज्ञान व्यवहारमार्ग में अनुपयोगी होने से तथा सविकल्पकज्ञान व्यवहारमार्ग में उपयोगी होने से, सविकल्पकज्ञान को ही प्रमाणभूत मानना ज्यादा उचित है। तदुपरांत, आपके मत में सविकल्पक ज्ञान स्वयं अप्रमाणभूत है, तो फिर अप्रमाणभूत ऐसा सविकल्पक ज्ञान किस तरह से निर्विकल्पक ज्ञान की प्रमाणता का व्यवस्थापन कर सकता है? इसलिए आपकी बात उचित नहीं है। **इसलिए प्रमाणभूत ज्ञान व्यवसाय स्वभाववाला ही स्वीकार करना चाहिए, निर्विकल्पक नहीं।** इस प्रकार प्रमाण के लक्षण में "**व्यवसाय**" पद के ग्रहण से बौद्ध की निर्विकल्पक ज्ञान की प्रमाणता का निराकरण होता है।

(४) नित्यपरोक्षबुद्धिवादि मीमांसक कुमारिलभट्ट की मान्यता है कि... "**ज्ञानं अतीन्द्रियं ज्ञानजन्यज्ञातृता प्रत्यक्षा तथा ज्ञानमनुमीयते।**" ज्ञान अतीन्द्रिय है। ज्ञानजन्य ज्ञातृता प्रत्यक्ष होती है। उससे ज्ञान का अनुमान किया जाता है। कहने का मतलब यह है कि, "**अयं घटः**" ऐसा ज्ञान जब उत्पन्न होता है, तब ही ज्ञान के विषय घट में "**ज्ञातता**" नाम के पदार्थ की उत्पत्ति होती है। "**ज्ञातो घटः**" यह प्रतीति ज्ञातता की साधक है। यह ज्ञातता ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करती है।

परंतु कुमारिल भट्ट का मत योग्य नहीं है। क्योंकि, जैसे सूर्य की प्रभा से (प्रकाशित होते) घट, पटादि वस्तु के समूह को देखते लोग सूर्य की प्रभा को भी देखते ही है। उस प्रकार ज्ञान के विषय बनते कुंभादि के प्रकाश को माननेवालो के द्वारा ज्ञान का प्रकाश भी स्वीकार करना ही चाहिए। अथवा दीपक का प्रकाश स्वयं को और पदार्थ को प्रकाशित करता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार प्रमाण के लक्षण में "**स्व**" पद के ग्रहण से मीमांसक के मत का निराकरण होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(५) "**व्यवसाय**" पद के ग्रहण से संशयात्मक, विपर्ययात्मक, अनध्यवसायरुप ज्ञान का व्यवच्छेद होता है।

साधक - बाधक प्रमाण के अभाव से अनिश्चित अनेक अंशो के अवगाही ज्ञान को संशय कहा जाता है। जैसे कि यह स्थाणु है या पुरुष है ? ऐसा ज्ञान। "व्यवसायात्मक = निश्चयात्मक" ज्ञान के ग्रहण से संशयात्मकज्ञान की प्रमाणता का व्यवच्छेद होता है।

जो आकार में वस्तु रही हुई हो उससे, विपरीत आकार में वस्तु का निश्चय करना वह विपर्यय। जैसे की सीप में रजत का ज्ञान। विपर्ययात्मकज्ञान की प्रमाणता का व्यवच्छेद "**व्यवसायि**" पद से होता है।

जहाँ विशेष का स्पष्टरुप से भान होता नहीं है, परंतु क्या है ? इस प्रकार आलोचनात्मकज्ञान होता है, वह अनध्यवसाय कहा जाता है। जैसे कि, अन्य वस्तु में जिसका चित्त है, वैसे गमन करते हुए व्यक्ति को रास्ते में तृण का स्पर्श होने से "**मुजे कुछ स्पर्श हुआ**" ऐसा आलोचनात्मक जो ज्ञान होता है, उसे अनध्यवसाय कहा जाता है। ऐसे ज्ञान की प्रमाणता का व्यवच्छेद भी **व्यवसायि** पद से हो जाता है।

(६) सांख्योने ज्ञान को प्रकृति का धर्म माना है। प्रकृति में से उत्पन्न होती बुद्धि, जब विषयाकार में परिणत होती है, तब उसे ज्ञान कहा जाता है। इसलिए ज्ञान प्रकृति का धर्म है। प्रकृति अचेतन होने से उनका धर्म ऐसा ज्ञान भी अचेतन है। - सांख्यो के इस मतके निराकरण के लिए "**स्व**" पद का ग्रहण प्रमाण के लक्षण में किया है। ज्ञान अचेतन नहीं है, परंतु स्वयं प्रकाशित है। "**स्वस्य ग्रहणयोग्यः परोऽर्थः स्वपर**" इस समास के आश्रय से, भी अर्थात् ऐसा समास करने द्वारा स्वपर का "**स्व को ग्रहण करने योग्य पर**" ऐसा अर्थ करने से व्यवहारिकजन की अपेक्षा से, जिसको जो प्रकार से जहाँ ज्ञान का अविसंवाद हो, उसको उस प्रकार से वहाँ ज्ञान का प्रामाण्य समजना। स्व-पर का ऐसा अर्थ करने से अपने-अपने योग्य पदार्थो को जाननेवाला संशयादि ज्ञान भी स्वरुप की अपेक्षा से तथा सामान्य वस्तु को जानने की अपेक्षा से कथंचित् प्रमाणरुप है, यह बात सूचित होती है। "**जो ज्ञान वस्तु के जिस अंश में अविसंवादि है, वह ज्ञान वस्तु के उस अंश में प्रमाणभूत है।**" ऐसे व्यवहारप्रसिद्ध नियम से संशय, विपर्ययज्ञानादि भी वस्तु के सामान्यअंश में प्रमाण है।

इसलिए धर्ममात्र की अपेक्षा से = स्वरुपमात्र की अपेक्षा से संशय, विपर्यय आदि सर्व ज्ञानमात्र प्रमाणभूत है। इस प्रकार संशयादि ज्ञान की भी प्रमाणता नष्ट होती नहीं है। ॥५४॥

अथ विशेषलक्षणाभिधित्सया प्रथमं तावत्प्रमाणस्य संख्यां विषयं चाह-अब प्रमाण के विशेषलक्षण को कहने की इच्छा से ग्रंथकारश्री प्रथम प्रमाण की संख्या और प्रमाण के विषय को कहते है।

(मू. श्लो.) प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्वे प्रमाणे तथा मते ।
अनन्तधर्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्विह ॥५५॥

श्लोकार्थ : प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे प्रमाण के दो भेद है। अनंतधर्मात्मकवस्तु प्रमाण का विषय है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् प्रमाण द्वारा अनंतधर्मात्मक वस्तु को जाना जा सकता है।

व्याख्या-अक्षम्-इन्द्रियं प्रतिगतमिन्द्रियाधीनतया यदुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षमिति तत्पुरुषः, इदं [F-49]व्युत्पत्तिनिमित्तमेव प्रवृत्तिनिमित्तं तु स्पष्टत्वम्, तेनानिन्द्रियादिप्रत्यक्षमपि-प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सिद्धम्, [F-50]अक्षो-जीवो वात्र व्याख्येयः, जीवमाश्रित्यैवेन्द्रियनिरपेक्ष-मनिन्द्रियादिप्रत्यक्षस्योत्पत्तेः । तत्र तत्पुरुषाश्र[illegible]क्षे [illegible]ः प्रत्यक्षा बुद्धिरित्यादौ स्त्रीपुंसभावोऽपि सिद्धः । अक्षाणां पर[illegible]यापारानिरपेक्षं मनोव्यापारेणासाक्षा-दर्थपरिच्छेदकम् [F-51]परोक्षमिति, परशब्दसमानार्थेन परस्-शब्देन सिद्धम् । [F-52]चशब्दौ द्वयोरपि तु[illegible]ां लक्षयतः, तेनानुमानादेः परोक्षस्य प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन प्रवृत्तेर्यत्कैश्चित्प्र-त्यक्षं [F-53][illegible]ष्टमेतन्न श्रेष्ठमिति सूचितम्, द्वयोरपि प्रामाण्यं प्रतिविशेषाभावात् । "पश्य मृगो धावति" इत्यादौ प्रत्यक्षस्यापि परोक्षपूर्वकस्य प्रवृत्तेः परोक्षस्य ज्येष्ठताप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षपूर्वकमेव च परोक्षमुपजायत इति नायं सर्वत्रैकान्तः, अन्यथानुपपन्नतावधारि-तोच्छ्वास-निःश्वासादिजीवलिङ्गसद्भावासद्भावाभ्यां जीवसाक्षात्कारिप्रत्यक्षक्षणेऽपि जीव-न्मृतप्रतीतिदर्शनात्, अन्यथा लोकव्यवहाराभावप्रसङ्गात् । तथाशब्दः प्रागुक्तनयतत्त्वाद्य-पेक्षया समुच्चये, वाक्यस्य सावधारणत्वात्, द्वे एव [F-54]प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणे मते-सम्मते ।

व्याख्या का भावानुवाद :

इन्द्रिय की अधीनतया जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। अर्थात् इन्द्रियो के द्वारा जो ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। यह (मात्र) प्रत्यक्ष शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त है। अर्थात् प्रत्यक्ष शब्द की शाब्दिक व्युत्पत्ति है। प्रत्यक्ष का प्रवृत्तिनिमित्त स्पष्टत्व है। इससे सिद्ध होता है कि जो ज्ञान स्पष्ट हो, वह इन्द्रिय से उत्पन्न हो या अनिन्द्रिय से उत्पन्न हो तो भी प्रत्यक्ष शब्द से वाच्य है।

यहाँ अक्ष का अर्थ जीव = आत्मा करना। (इसलिए व्याख्या इस प्रकार होगी) आत्मा का आश्रय करके इन्द्रियो से निरपेक्ष जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी प्रत्यक्ष है। इस व्युत्पत्ति से अतीन्द्रिय और अनिन्द्रिय - मानसज्ञान में भी प्रत्यक्षता सिद्ध हो जाती है।

तत्पुरुष समान करने से प्रत्यक्ष बोध और प्रत्यक्षा बुद्धि, इस तरह से पुंलिग और स्त्रीलिंग में प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग हो सकता है। (कहने का मतलब यह है कि तत्पुरुष समास का आश्रय करने से प्रत्यक्ष शब्द का विशेष्य के लिंग अनुसार तीनो लिंगो में प्रयोग होता है। जैसे कि **प्रत्यक्षो बोधः, प्रत्यक्षा बुद्धिः, प्रत्यक्षं ज्ञानं**। यहाँ टीका में दो लिंगो का प्रयोग बताया है।)

इन्द्रिय के व्यापार से निरपेक्ष मनोव्यापार से असाक्षात (अप्रत्यक्ष) पदार्थ का जो ज्ञान कराता है उसे

(F-49-50-51-52-53-54) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परोक्षज्ञान कहा जाता है। "पर" शब्द के पर्यायवाची "**परस्**" शब्द से परोक्ष शब्द की सिद्धि होती है। अर्थात् परस् + अक्ष मिलकर परोक्ष बनता है। श्लोक के पूर्वार्ध में दो "**च**" शब्द का विधान प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो की तुल्यकक्षा का सूचन करने के लिए है। अर्थात् प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो पद के पिछे "**च**" रखने से दोनो, प्रमाणो का बल समान है, वह सूचित करने के लिए है और अपने अपने विषय में प्रमाणभूत है वह भी साथ साथ सूचित होता है। उससे अनुमानादि परोक्ष प्रमाण की प्रत्यक्षपूर्वक प्रवृत्ति होने के कारण कुछ लोग प्रत्यक्ष को ज्येष्ठ मानते है (और अनुमानादि को कनिष्ठ मानते है।) वह सत्य नहीं है, वह भी सूचित होता है, क्योंकि दोनो में भी प्रमाणता है। क्योंकि प्रतिविशेष का अभाव है। अर्थात् प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो भी अपने-अपने विषय में स्वतंत्र तथा समान बलवाले है। उसमें कोई ज्येष्ठ नहीं है। और कनिष्ठ नहीं है।

"देखो, मृग दोडता है।" (इस वाक्य को सुनकर उसका अर्थ विचार करके मृग के) प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति भी परोक्ष ऐसे शब्दज्ञानपूर्वक हुई होने से परोक्ष को ज्येष्ठ मानने का प्रसंग आयेगा।

'देखो, मृग दौडता है।' इत्यादि में (मृग का हुआ) प्रत्यक्ष भी परोक्ष ऐसे शब्दज्ञानपूर्वक की प्रवृत्ति से हुआ होने से (अर्थात् प्रत्यक्ष भी परोक्षपूर्वक होने के कारण) परोक्ष को (प्रत्यक्ष से) ज्येष्ठ मानने का प्रसंग आता है। कहने का मतलब यह है कि "देखो, मृग दौडता है" - इस वाक्य को सुनकर उसके अर्थ को सोचकर, जिन को मृग का प्रत्यक्ष होगा, वह शब्दज्ञानपूर्वक हुआ है। अर्थात् परोक्ष ऐसे शब्दज्ञानपूर्वक हुआ है। इसलिए (आपने उपर प्रत्यक्षपूर्वक परोक्ष ज्ञान हुआ होने से प्रत्यक्ष को ज्येष्ठ मानते थे तो) यहां प्रत्यक्षज्ञान परोक्षपूर्वक हुआ होने से परोक्ष को ज्येष्ठ मानने की आपत्ति आपको आयेगी।

तदुपरांत, परोक्षज्ञान प्रत्यक्षपूर्वक ही उत्पन्न होता है, ऐसा सर्वत्र कोई एकांत नहीं है। क्योंकि, जीव का साक्षात्कार करनेवाले प्रत्यक्षज्ञान की क्षण में भी अन्यथा - अनुपपन्नता से ग्रहण किये गये श्वासोश्वासादि जीव के लिंग के सद्भाव या असद्भाव से मनुष्य जीवित है या मृत है, ऐसी प्रतीति होती दीखाई देती है। अर्थात् तात्पर्य यह है कि., जिस क्षण में दूसरो के आत्मा को हम देख रहे है, तब उसी ही समय जीवन के साथ अविनाभाव रखनेवाले श्वासोश्वासादि लिंगो से (जीवन की) सत्ता का तथा श्वासोश्वासादि लिंगो के अभाव में (जीवन की) असत्ता का (मृत्यु का) अनुमान से परिज्ञान होता ही है। इसलिए वह प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान साथसाथ ही हुए है। (इसलिए प्रत्यक्षपूर्वक ही अनुमान ज्ञान की उत्पत्ति होती है, वैसा कोई एकांतिक नियम नहीं है।) यदि ऐसा न माना जाये तो लोकव्यवहार का अभाव हो जायेगा। इसलिए प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण में कोई ज्येष्ठ-कनिष्ठभाव नहीं है।

श्लोक के पूर्वार्ध में "तथा" शब्द है, वह पहले कहे हुए जीवादि नवतत्त्वो के समुच्चय के लिए है।

सभी वाक्य सावधारण = निश्चयात्मक होते है। इस न्याय से प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही प्रमाण संमत है। उससे अधिक नहीं वह जानना।

यदपि परैरुक्तं द्व्यातिरिक्तं प्रमाणसङ्ख्यान्तरं प्रत्यज्ञायि, तत्रापि यत्पर्यालोच्यमानमु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पमानार्थापत्त्यादिवत्प्रमाणतामात्मसाक्षात्करोतितदनयोरेवप्रत्यक्षपरोक्षयोरन्तर्भावनीयम् । यत्पुनर्विचार्यमाणं मीमांसकपरिकल्पिताभाववत्प्रामाण्यमेव नास्कन्दति न तेन बहिर्भूतेनान्तर्भूतेन वा प्रयोजनम्, अवस्तुत्वादित्यपकर्णनीयम् । तथाहि-प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावसम्भवैतिह्यप्रातिभयुक्त्यनुपलब्ध्यादीनि प्रमाणानि यानि परे प्रोचुः, तत्रानुमानागमौ परोक्षप्रकारावेव विज्ञातव्यौ, [F-55]उपमानं तु नैयायिकमते कश्चित्प्रेष्यः प्रभुणा प्रेषयाञ्चक्रे "गवयमानय" इति स गवयशब्दवाच्यर्थमजानानः कञ्चन वनेचरं पुरुषमप्राक्षीत् "कीदृग्गवयः" इति, स प्राह "यादृग्गौस्तादृग्गवयः" इति ततस्तस्य प्रेष्यपुरुषस्यातिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकारि गोसदृशगवयपिण्डज्ञानं "अयं स गवयशब्दवाच्योऽर्थः" इति प्रतिपत्तिं फलरूपामुत्पादयत्प्रमाणमिति, मीमांसकमते तु येन प्रतिपन्ना गौरुपलब्धो न गवयो न चातिदेशवाक्यं "गौरिव गवय." इति श्रुतं, तस्य विकटाटवीं पर्यटतो गवयदर्शने प्रथमे समुत्पन्ने सति यत्परोक्षे गवि सादृश्यज्ञानमुन्मज्जति "अनेन सदृशः स गौः" इति "तस्य गोरनेन सादृश्यं" इति वा, तदुपमानम् । "तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितं प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम्" । [मी० श्लोक० उप० श्लो० ३] इति वचनादिति, [F-56]एतच्च परोक्षभेदे प्रत्यभिज्ञायामन्तर्भाव्यम् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

वैसे ही प्रतिवादियो के द्वारा दो से अतिरिक्त प्रमाण की संख्या मानी गई है। उसमें भी सोचने से अर्थापत्ति, उपमान आदि की तरह प्रमाणकोटी में आते है - प्रमाणभूत सिद्ध होते है, उनका समावेश भी प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण में कर लेना चाहिए। तदुपरांत सोचने से मीमांसको के द्वारा परिकल्पित अभावप्रमाण की तरह, जो प्रमाणभूत ही सिद्ध होते नहीं है। उनका प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण में अन्तर्भाव है या बहिर्भाव है ? वह चर्चा करने का कोई प्रयोजन ही नहीं है। क्योंकि वह तो अवस्तुरुप = अप्रमाणभूत होने से उपेक्षणीय ही है। (अब प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से अतिरिक्त प्रमाण, जो अन्यदर्शनकारों ने माने है, उनका समावेश भी इन दोनो प्रमाण में ही हो जाता है, वह बताया जाता है .....)

परवादियोंने प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, संभव, ऐतिह्य, प्रातिभ, युक्ति और अनुपलब्धि आदि अनेक प्रमाणो को माना है। इन प्रमाणो में अनुमान और आगम का परोक्ष प्रमाण में ही समावेश हो जाता है।

नैयायिक उपमान को प्रमाण मानते है - (उसका आकार वे इस तरह से बताते है-) कोई नौकर अपने स्वामि के द्वारा गवय लाने के लिए भेजा गया। (वह नौकर अपने स्वामि से पूछना भूल गया कि गवय किसे

(F-55-56) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहा जाता है।) उस गवय शब्द के वाच्यार्थ को नहीं जाननेवाले नौकरने किसी वनेचर (जंगलवासी) पुरुष को पूछा कि "**गवय किस प्रकार का होता है ?**" तब उस वनेचरने कहा कि, "**जैसे प्रकार की गाय होती है, वैसे प्रकार की गवय होती है।**" (इस वाक्य को सुनकर याद रखकर आगे बढे हुए उस नौकर को गाय जैसा पशु जंगल में नजर में आया) उस वक्त उस नौकर को वनेचर ने कहे हुए वाक्य का स्मरण हुआ। (एक जगह पे सुने हुए के अन्यत्र संबंध को अतिदेश कहा जाता है। वनेचर के पास से सुने हुए "**गाय जैसी गवय होती है।**" वाक्यार्थ का, गाय पशु को देखते ही नौकर को उस अतिदेशवाक्यार्थ का स्मरण होता है। वह) अतिदेश सहकारी ऐसा "**गाय जेसी गवय होती है।**" यह पिंडज्ञान "**यह, उस गवय शब्द से वाच्य अर्थ है**" - ऐसी उपमिति फलरुप प्रतिपत्ति को उत्पन्न करता उपमानप्रमाण बनती है। (कहने का मतलब यह है कि अतिदेशवाक्यार्थ के ज्ञानस्वरुप उपमान है। एक स्थान पे सुने हुए का अन्यत्र संबंध को अतिदेश कहा जाता है। वनेचर पुरुष के पास से "**गो सदृशो गवयो भवति**" इत्याकारक वाक्य को सुनकर (नौकर को जंगल में गाय जैसे पशु को देखने से) उस अर्थ के स्मरण प्रसंग से उसका संबंध होता है। इसलिए वह वाक्य अतिदेशवाक्य कहा जाता है। "**गो सदृश गवय**" पिंडज्ञान "**असौ गवयशब्दवाच्यः**" इत्याकारक उपमितिरुप फल को उत्पन्न करता प्रमाण बनता है।)

(मीमांसकोने उपमान प्रमाण का स्वरुप अलग रुप से बताया है। वह इस अनुसार से है।) जो व्यक्ति द्वारा गाय उपलब्ध है अर्थात् देखी गई है। "गवय" आज तक देखा नहीं गया तथा "गाय जैसी गवय है" इस अतिदेशवाक्य को भी सुना नहीं है। उस व्यक्ति को विकट जंगल में फिरते फिरते **गवय** का पहलीबार दर्शन होने पर भी (वर्तमानमें) परोक्ष ऐसी गाय में सादृश्यज्ञान उत्पन्न होता है कि "**इस गवय के समान वह गाय है।**" अथवा "**उस गाय का इस गवय के साथ सादृश्य है।**" इसे उपमानप्रमाण कहा जाता है।

तथा (गवय को देखकर) जो गाय का स्मरण होता है, वह गाय गवय की समानता से विशिष्ट बनकर उपमान प्रमाण द्वारा मालूम होती है अथवा गाय से विशिष्ट गवय की समानता उपमान प्रमाण का विषय बनती है। अर्थात् गोविशिष्टसादृश्य या सादृश्यविशिष्टगो दोनो उपमान प्रमाण के प्रमेय है। इस वचन से भी उपर की बात सिद्ध होती है। वे दोनो प्रकार के उपमान का परोक्ष प्रमाण के भेदरुप प्रत्यभिज्ञा में समावेश हो जाता है। (कहने का मतलब यह है कि काशी में देखे हुआ देवदत्त को (कुछ समय के बाद) अहमदाबाद में देखने से "यह वही देवदत्त है।" ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। यहां काशी में देवदत्त का जो प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ था, वह अहमदाबाद में स्मृतिपथ में आने से "यह वही देवदत्त है।" ऐसी प्रत्यभिज्ञा को उत्पन्न करता है। यहाँ जैसे प्रत्यभिज्ञा में प्रत्यक्ष और स्मरण का संकलन होता है, वैसे उपमान में भी गवय का प्रत्यक्ष तथा अतिदेशवाक्य या गाय का स्मरण कारण बनता है और सादृश्यरुप में उनका संकलन किया जाता है। इसलिए प्रत्यक्ष और स्मरण से उत्पन्न होनेवाला तथा सादृश्य को संकलित करनेवाले सादृश्यज्ञान (उपमान प्रमाण का) भी प्रत्यभिज्ञा में समावेश होता है। (इसलिए न्यायकुसुमाञ्जली में कहा है कि... "**ततो यः संकलनात्मकः प्रत्ययः स प्रत्यभिज्ञानमेव यथा 'स एवायम्' इति प्रत्ययः संकलनात्मकश्च**" "**अनेन सदृश गौ इति प्रत्यय इति।**" (अर्थ स्पष्ट है।) सारांश में, प्रत्यक्ष और स्मरण से उत्पन्न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होनेवाला एकत्व सादृश्य विलक्षणता आपेक्षिक आदि रुप से जितने भी संकलन ज्ञान होते है, उनका प्रत्यभिज्ञा में समावेश होता है ।

[F-57]**अर्थापत्तिरपि**-"प्रमाणपट्कविज्ञातो यत्रार्थोऽनन्यथा भवन् । अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता ।।१।।" **इत्येवं लक्षणानुमानान्तर्गतैव**[F-58], **अर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्यान्यथानुपपत्तिनिश्चयेनैवादृष्टार्थपरिकल्पनात्, अन्यथानुपपत्तिनिश्चयस्यानुमानत्वात् । अभावाख्यं तु प्रमाणं प्रमाणपञ्चकाभावः १ तदन्यज्ञानं २ आत्मा वा ज्ञानविनिर्मुक्तः ३ इति** [F-59]**त्रिधाभिधीयते, तत्राद्यपक्षस्यासम्भव एव प्रसह्यवृत्त्या प्रमाणपञ्चकाभावस्य तुच्छत्वेनावस्तुत्वात्, अभावज्ञानजनकत्वायोगात्, द्वितीयपक्षे तु पर्युदासवृत्त्या यत्तदन्यज्ज्ञानं** [F-60]**तत्प्रत्यक्षमेव, प्रत्यक्षेणैव घटादिविविक्तस्य भूतलादेर्ग्रहणात् । क्वचित्तु तदघटं भूतलमिति प्रत्यभिज्ञानेन, योऽग्निमान्न भवति नासौ धूमवानिति तर्केण, नात्र धूमोऽनाग्नेरित्यनुमानेन**[F-61]**, गृहे गर्गो नास्तीत्यागमेन वाऽभावप्रतीतेः क्वाभावः प्रमाणं प्रवर्तताम् । तृतीयपक्षस्य पुनरसम्भव एव, आत्मनो ज्ञानाभावे कथं वस्त्वभाववेदकत्वं, वेदनस्य ज्ञानधर्मत्वात्, अभाववेदकत्वे वा ज्ञानविनिर्मुक्तत्वस्याभावात्, तन्नाभावः प्रमाणान्तरम् ।** [F-62]**सम्भवोऽपि समुदायेन समुदायिनोऽवगम इत्येवंलक्षणः सम्भवति खार्यां द्रोण इत्यादिको नानुमानात्पृथक्, तथाहि-खारी द्रोणवती, खारीत्वात्पूर्वोपलब्धखारीवत् ।** [F-63]**ऐतिह्यं त्वनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यम्, एवमूचुर्वृद्धा यथा "इह वटे यक्षः प्रतिवसति" इति, तदप्रमाणं, अनिर्दिष्टवक्तृकत्वेन सांशयिकत्वात्, आप्तप्रवक्तृकत्वनिश्चये त्वागम इति । यदपि** [F-64]**प्रातिभ-मक्षलिङ्गशब्दव्यापारानपेक्षमकस्मादेव** "अद्य मे महीपतिप्रसादो भविता" **इत्याकारं स्पष्टतया वेदनमुदयते तदप्यनिन्द्रियनिबन्धनतया** [F-65]**मानसमितिप्रत्यक्षकुक्षिनिक्षिप्तमेव । यत्पुनः प्रियाप्रियप्राप्तिप्रभृतिफलेन सार्धं गृहीतान्यथानुपपत्तिकात्मनः प्रासादोद्वेगादेर्लिङ्गादुदेतितत्पिपीलिकापटलोत्सर्पणोत्थज्ञानवदस्पष्टमनुमानमेव । एवं युक्त्यनुपलब्ध्योरादिशब्दाद्विशिष्टोपलब्धिजनकस्य बोधाबोधरूपविशेषत्यागेन सामान्यतो लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्" [याज्ञवं० स्मृ० २/२२] इत्युक्तस्य प्रमाणस्यान्येषां च केषाञ्चित्प्रमाणान्तरत्वेन परपरिकल्पितानां यथालक्षणं प्रत्यक्षपरोक्षयोरन्तर्भावो निराकरणं च विधेयम् । तदेवं न प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणद्वैविध्यातिक्रमं शक्रोऽपि कर्तुं क्षमः ।।**

व्याख्या का भावानुवाद :

"प्रत्यक्षादि छः प्रमाणो में से कोई भी प्रमाण से ज्ञातपदार्थ दूसरी तरह से संगत होता न

(F-57-58-59-60-61-62-63-64-65) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो, तब अन्य अदृष्टपदार्थ की कल्पना की जाती है, उसे अर्थापत्ति कहा जाता है ।" जैसे कि, जीवित देवदत्त घर में न दिखने से देवदत्त के अदृष्ट बहिर्भाव की कल्पना की जाती है, उसे अर्थापत्ति कहा जाता है । इस स्वरुपवाली अर्थापत्ति का भी अनुमान में समावेश होता है । क्योंकि अर्थापत्ति से उत्थापक अर्थ (पदार्थ) अन्यथा अनुपपत्ति के निश्चय से ही अदृष्ट अर्थ की परिकल्पनारुप है और अन्यथा अनुपपत्ति का निश्चय अनुमानरुप है। (कहने का मतलब यह है कि, जैसे अनुमान में लिंग से अविनाभावि परोक्षसाध्य का ज्ञान होता है, वैसे अर्थापत्ति में भी एकपदार्थ से अविनाभावि परोक्ष पदार्थों की कल्पना की जाती है । दोनो में अविनाभाव के निश्चय से ही अन्य परोक्षपदार्थ की सिद्धि होती है । जहाँ भी अविनाभाव के निश्चय से-बल से अन्य परोक्षपदार्थ का ज्ञान होता है, वे सब भी अनुमानरुप ही है । इतना याद रखना कि, अनुमान में "तथा उपपत्ति और अन्यथा अनुपपत्तिरुप" हेतु से परोक्षपदार्थ की सिद्धि होती है, जब कि अर्थापत्ति में अन्यथा अनुपपत्तिरुप हेतु से परोक्ष पदार्थ की सिद्धि होती है ।)

अभावप्रमाण के तीन रुप है । (१) जो पदार्थ का अभाव करना है, उसकी सिद्धि करनेवाले प्रमाणपंचक का अभाव है । अर्थात् **प्रमाणपंचकाभाव** । (२) **तदन्यज्ञान** अर्थात् जो आधार में अथवा जो पदार्थ के साथ उसको देखा था, उसमें से मात्र उससे अन्य ऐसे आधार और पदार्थो का ज्ञान हो । परंतु उसका ज्ञान न हो । (जैसे घट को भूतल में या भूतल के साथ देखा था, अब मात्र भूतल ही दिखता है, तो घट का अभाव हो जाता है ।) (३) **आत्मा ज्ञान से रहित हो** । अर्थात् आत्मा में ज्ञान उत्पन्न ही न हो ।

उसमें प्रथमपक्ष का असंभव ही है । क्योंकि प्रमाणपंचक का अभाव प्रसज्यपक्ष में तुच्छरुप होने से अवस्तुरुप है तथा जो अवस्तुरुप है, वह ज्ञान को उत्पन्न कर सकता नहीं है । जो वस्तुरुप है, वही ज्ञान को उत्पन्न कर सकता है । इसलिए वह अवस्तुरुप होने से अभावविषयकज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकेगा ।

द्वितीयपक्ष में तो पर्युदास पक्षानुसार घट से अन्य भूतलादि का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही हो रहा है, वह प्रत्यक्षरुप ही है । प्रत्यक्ष से ही घटादि से रहित भूतलादि ग्रहण होता है । तो फिर उससे अतिरिक्त अभावप्रमाण मानने की आवश्यकता ही क्या है ? अर्थात् अतिरिक्त अभाव प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है ।

कभी **"वह (यह) भूतल आज घटशून्य है । (जिसमें कल घट था ।)"** ऐसे प्रकार का अभावज्ञान प्रत्यभिज्ञा से ही हो जाता है ।

"जो अग्निवाला नहीं है, वह धूमवाला भी नहीं है ।" ऐसे प्रकार का धूम-अग्नि के अभाव का ज्ञान तर्क से होता है । "यहां धूम नहीं है, क्योंकि अग्नि नहीं है ।" ऐसे प्रकार के धूम के अभाव का ज्ञान अनुमान से होता है । "घर में गर्ग नहीं है ।" ऐसे प्रकार के प्रामाणिकवचन से गृह में गर्ग के अभाव का ज्ञान आगमप्रमाणरुप ही है । (इस तरह से यथायोग्य प्रत्यक्षादि प्रमाणो से ही) अभाव की प्रतीति हो जाती है, तो अभावप्रमाण की आवश्यकता ही क्या है ?

तृतीयपक्ष का तो संभव ही नहीं है । आत्मा में ज्ञान का अभाव हो, तो आत्मा किस तरह से वस्तु के अभाव का संवेदन कर सकेगा ? क्योंकि संवेदन ज्ञान का धर्म है । यदि आत्मा में ज्ञान न हो, तो उसका धर्मरुप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संवेदन आत्मा में किस तरह से हो सकता है ? (फिर भी) आत्मा को वस्तु के अभाव का वेदक (अर्थात् वस्तु के अभाव का संवेदन करनेवाला) मानोंगे तो आत्मा को ज्ञानविनिमुक्त माना नहीं जा सकेगा। इसलिए तृतीयपक्ष उचित नहीं है।

इसलिए अभाव अतिरिक्त प्रमाण नहीं है। संभवप्रमाण भी समुदाय से समुदायी के ज्ञान स्वरुप है। बडी चीज से अपने अवयवभूत छोटी वस्तु का अनुमान संभवप्रमाण है। जैसे कि, खारी (= १८ द्रोण प्रमाण) में द्रोण की संभावना है। (वह उसमें समा जाता है।) वह संभव प्रमाण भी अनुमान से पृथक् नहीं है। संभव प्रमाण का अनुमान में अंतर्भाव इस अनुसार से है। **"खारी द्रोणवाली है, क्योंकि वह खारी है। जैसे कि, पहले देखी हुई खारी।"**

अनिर्दिष्ट वक्ता के प्रवाद की परंपरारुप ऐतिह्यप्रमाण है। अर्थात् जिनको कहनेवाले वक्ता की किसी को खबर नहीं है, परंतु परंपरा से चला आता प्रवाद = लोकश्रुतियां ऐतिह्य है। जैसे कि.... वृद्धो ने कहा था कि **"इस वटवृक्ष में (बरगद में) यक्ष बसता है।"** यह ज्ञान प्रमाणरुप ही नहीं है। क्योंकि वह अनिर्दिष्ट वक्ता के द्वारा बोला गया होने से सांशयिक है। कोई भी वचन (प्रवाद) आगमरुप तब ही बनेगा कि जब वह आप्तपुरुष द्वारा बोला गया हो अर्थात् जो प्रवाद में आप्तवक्ता के द्वारा बोला गया है, ऐसा निश्चय हो, वह प्रवाद ही आगमरुप बनता है।

इन्द्रिय, लिंग और शब्द व्यापार की अपेक्षा के बिना ही अकस्मात् **"आज मेरे उपर राजा प्रसन्न होंगे।"** ऐसे प्रकार का स्पष्टभान होता है, उसे प्रातिभज्ञान कहा जाता है। यह प्रातिभज्ञान अनीन्द्रियनिबंधन होने से अर्थात् मनोभावना से उत्पन्न हुआ होने से मानसप्रत्यक्ष में अंतर्भूत होता है।

तदुपरांत, आत्मा की प्रसन्नता या अप्रसन्नता आदि लिंग से प्रिय-अप्रिय आदि फल के साथ (पहले) ग्रहण किये हुए अन्यथा - अनुपपत्तिरुप अविनाभाव से उत्पन्न हुआ अस्पष्ट प्रातिभज्ञान अनुमानरुप ही है। जैसे चींटीयों के बील में से बहार आनेरुप लिंग से वृष्टि का अस्पष्टज्ञान होता है, वह अनुमानरुप ही है। (कहने का मतलब यह है कि, जैसे पहले चींटीयो का बील में से बाहर आना और बरसात पडना, यह अविनाभाव ग्रहण किया होने से जब चींटीया बील में से बाहर आये, तब पहले ग्रहण किये हुए अविनाभाव से) वृष्टिका अनुमान किया जाता है। वैसे जब पहले मनकी प्रसन्नता हुई थी, तब इष्ट की प्राप्ति हुई थी और मन की अप्रसन्नता हुई थी तब अनिष्ट की प्राप्ति हुई थी इस अविनाभाव को ग्रहण कीए हुए व्यक्ति को मन की प्रसन्नता या अप्रसन्नता के कारण से इष्ट-अनिष्ट का अस्पष्टप्रातिभज्ञान होता है। वह अविनाभाव के बल से हुआ होने के कारण अनुमानरुप है।) इस प्रकार स्पष्टप्रातिभज्ञान का मानसप्रत्यक्ष प्रमाण में और अस्पष्टप्रातिभज्ञान का अनुमान में समावेश होता होने से प्रातिभज्ञान को स्वतंत्रप्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

इस अनुसार से युक्ति और अनुपलब्धि प्रमाण का, आदि शब्द से विशिष्ट उपलब्धि के जनक ज्ञानात्मक या, अज्ञानात्मक (विशेष के त्यागपूर्वक) सामान्य से सभी पदार्थो को प्रमाण कहा जाता है। उस प्रमाण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का तथा लिखित = स्टेम्प, साक्षि और भुक्ति = अनुभव, ये तीन को जो प्रमाण मानते है, उनके वे प्रमाणो का तथा दूसरे वादियों के द्वारा परिकल्पित अन्य प्रमाणो का यथासंभव प्रत्यक्ष और परोक्ष में अन्तर्भाव करना चाहिए और (जो प्रमाणभूत न हो उसका) निराकरण करना चाहिए।

(इस तरह से युक्ति और अनुपलब्धि, इन दोनो प्रमाणो का भी उपरोक्त दो प्रमाणो में समावेश कर देना। यदि युक्ति अविनाभाव रखती हो, तो उसका समावेश अनुमानो में करना और अविनाभाव रखती न हो तो वह प्रमाणरुप ही नहीं है।

अनुपलब्धि तो अभावप्रमाणरुप है। इसलिए उसका यथासंभव प्रत्यक्षादि में अंतर्भाव हो जायेगा। आदि शब्द से (प्रतिवादियों के द्वारा माने गये) अन्यप्रमाणो का भी प्रत्यक्ष और परोक्ष में ही अंतर्भाव कर लेना.। जैसे कि, वृद्धनैयायिक विशिष्ट उपलब्धि के जनक ज्ञानात्मक या अज्ञानात्मक सभी पदार्थो को साधारणरुप से प्रमाण मानते है। उन्हों ने कहा है कि "लिखित स्टेम्प, साक्षि तथा भुक्ति = अनुभव तीन प्रमाण है।" तथा अन्यवादि द्वारा माने गये दूसरे प्रमाणो का यथासंभव प्रत्यक्ष और परोक्ष में समावेश करना और अप्रमाणभूत हो तो खंडन करना।)

इसलिए इस अनुसार से प्रमाण की प्रत्यक्ष और परोक्षरुप से कही गई (प्रमाण की) दो संख्या का अतिक्रम करने के लिए इन्द्र भी समर्थ नहीं है।

अथ तयोर्लक्षणाद्यभिधीयते-**स्वपरव्यवसायि ज्ञानं स्पष्टं** प्रत्यक्षम्[F-66] । तद्द्विप्रकारं सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च । **तत्र** [F-67]सांव्यवहारिकं **बाह्येन्द्रियादिसामग्रीसापेक्षत्वादपारमार्थिकमस्मदादिप्रत्यक्षम्**, [F-68]पारमार्थिकं **त्वात्मसंनिधिमात्रापेक्षमवध्यादिप्रत्यक्षम्** । सांव्यवहारिकं द्वेधा, **चक्षुरादीन्द्रियनिमित्तं मनोनिमित्तं च** । तद्द्विविधमपि चतुर्धा, [F-69]**अवग्रहेहावायधारणाभेदात्** । **तत्र विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः**[F-70] । अस्यार्थः-**विषयो द्रव्यपर्यायात्मकोऽर्थो, विषयी चक्षुरादिः, तयोः समीचीनो भ्रान्त्याद्यजनकत्वेनानुकूलो निपातो योग्यदेशाद्यवस्थानं, तस्मादनन्तरं समुद्भूतमुत्पन्नं यत्सत्तामात्रगोचरं दर्शनं निराकारो बोधस्तस्माज्जातमाद्यं सत्तासामान्याद्यवान्तरैर्मनुष्यत्वादिभिर्विशेषैर्विशिष्टस्य वस्तुनो यद्ग्रहणं ज्ञानं** तदवग्रहः। **पुनरवगृहीतविषयसंशयानन्तरं तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा**[F-71] । **तदनन्तरं तदीहितविशेषनिर्णयोऽवायः**[F-72] । **अवेतविषयस्मृतिहेतुस्तदनन्तरं धारणा**[F-73] । **अत्र च** [F-74]**पूर्वपूर्वस्य प्रमाणतोत्तरोत्तरस्य च फलतेत्येकस्यापि मतिज्ञानस्य चातुर्विध्यं कथञ्चित् प्रमाणफलभेदश्चोपपन्नः । तथा यद्यपि क्रमभाविनामवग्रहादिनां हेतुफलतया व्यवस्थितानां पर्यायार्थाद्भेदः तथाप्येकजीवतादात्म्येन द्रव्यार्थादेशादमीषामैक्यं कथञ्चिदविरुद्धं, अन्यथा**

(F-66-67-68-69-70-71-72-73-74) – तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हेतुफलभावाभावप्रसक्तिर्भवेदिति प्रत्येयम् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

अब प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण का लक्षण कहा जाता है। स्व और पर का निश्चय करनेवाले स्पष्ट = परनिरपेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है। **वह दो प्रकार का है। (१) सांव्यवहारिक, (२) पारमार्थिक।** बाह्यचक्षु आदि इन्द्रियां, प्रकाश आदि सामग्री से उत्पन्न होनेवाला हम जैसो का ज्ञान सांख्यवहारिक ज्ञान कहा जाता है। वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बाह्यइन्द्रियादि को सापेक्ष होने से अपारमार्थिक है। (फिर भी लोकव्यवहार में उसकी प्रत्यक्ष रुप में प्रसिद्धि होने से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है।)

पारमार्थिक प्रत्यक्ष तो केवल आत्मा से उत्पन्न होता है। अर्थात् केवल आत्मा से उत्पन्न होता अवधिज्ञान आदि पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। (१) चक्षु आदि इन्द्रियनिमित्तक, (२) मनोनिमित्तक। इन्द्रियो के निमित्त से होता ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा जाता है। मन के निमित्त से होता ज्ञान मानस प्रत्यक्ष कहा जाता है।

ये दोनो प्रकार के सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष के **(१) अवग्रह, (२) ईहा, (३) अपाय, और (४) धारणा,** ये चार भेद से चार प्रकार है।

उसमें विषय = पदार्थ और विषयी = इन्द्रियो का सन्निपात होने से, उसके अनंतर "**यह कुछ है**" - ऐसी सत्तामात्र को विषय करनेवाला दर्शन होता है। उससे उत्पन्न हुए सामान्याकार के अवांतर विशिष्टवस्तु को ग्रहण करनेवाले प्रथम ज्ञान को **अवग्रह** कहा जाता है। कहने का मतलब यह है कि-द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थरुप विषय और चक्षु आदि इन्द्रियाँ रुप विषयि का भ्रान्ति आदि को नहि उत्पन्न करने में अनुकूल योग्यदेश स्थितिरुप संबंध से अनंतर "यह कुछ है" ऐसा वस्तु की सत्ता मात्र को विषय करनेवाला दर्शन = निराकारबोध उत्पन्न होता है। उस निराकार बोध से सत्ता-सामान्यादि के अवांतर मनुष्यत्व, घटत्व आदि विशेषो से विशिष्ट वस्तु का ग्रहण करनेवाला प्रथम ज्ञान उत्पन्न होता है। उसे "अवग्रह" कहा जाता है - अर्थात् "यह मनुष्य है", "यह घट है" इत्यादि अवांतर विशेषो से विशिष्टवस्तु का ग्रहण होता है। वह अवग्रह कहा जाता है।

अवग्रह से ग्रहण किये गये विषय में= पदार्थ में संशय होने के बाद उस वस्तु के विशेषनिर्णय के लिए **"यह ऐसा होना चाहिए।"** इस प्रकार की विचारणा को "ईहा" कहा जाता है। (जैसे कि सामान्यरुप से घट को जान लेने के बाद **"यह घट अहमदावादी है या वापी का है"** - ऐसा संशय होता है, उस संशय के उत्तर में यह घट अहमदाबादी होना चाहिए - ऐसी संभावनाविषयक ज्ञान को ईहा कहा जाता है।)

इहा के अनंतर इहा द्वारा संभावित विशेषपदार्थ का निर्णय करना उसे **"अवाय"** (अपाय) कहा जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निर्णित हुए विषय की = पदार्थ की (कालांतर में) होनेवाली स्मृति में जो हेतु = कारण बने, उसे (अपाय के बाद होनेवाली) "धारणा" कहा जाता है।

यहाँ पूर्व पूर्व की प्रमाणता और उत्तर उत्तर की फलता है। अर्थात् अवग्रह प्रमाण है, उसका ईहा फल है। ईहा प्रमाण हैं, उसका अवाय (अपाय) फल है। अपाय प्रमाण है, उसका धारणा फल है। इसलिए एक ही मतिज्ञान के प्रकार की चार संख्या तथा कथंचित् प्रमाण - फल का भेद संगत होता है।

उस अनुसार से यद्यपि क्रम से उत्पन्न होनेवाले अवग्रहादि चारो ज्ञानो में क्रमशः कारण - कार्यभाव है। इसलिएपर्यायार्थिक-अवस्थाओ के भेद से भेद है, तो भी ये चारो ज्ञान एक आत्मा से तादात्म्य-अभेद रखते है। अर्थात् ये चारो ज्ञान का आत्मा में अभेद होने से (आत्म) द्रव्य की अपेक्षा से चारो ज्ञानो को कथंचित् एक अभिन्न मानने में विरोध नहीं है। अन्यथा अर्थात् आत्मद्रव्य की अपेक्षा से चारो ज्ञानो में कथंचित् एकता और पर्याय = अवस्थाभेद से अनेकता न मानी जाये तो) उन चारों ज्ञानो में परस्पर हेतु-फलभाव का अभाव हो जायेगा। अर्थात् परस्पर उपादान-उपादेयभाव या कारण-कार्यभाव नहीं बन सकेगा।

[F-75]धारणास्वरूपा च मतिरविसंवादस्वरूपस्मृतिफलस्य हेतुत्वात्प्रमाणं, स्मृतिरपि तथाभूतप्रत्यवमर्शस्वभावसंज्ञाफलजनकत्वात्, संज्ञापि तथाभूततर्कस्वभावचिन्ता-फलजनकत्वात् । चिन्ताप्यनुमानलक्षणाऽऽभिनिबोधफलजनकत्वात्, सोऽपि हाना-दिबुद्धिजनकत्वात्, तदुक्तम्-'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिवोध इत्यनर्थान्तरम्' [त० सू० १/१३] अनर्थान्तरमिति-कथञ्चिदेकविषयं प्रावशब्दयोजनान्मतिज्ञानमेतत् । शेषमनेकप्रभेदं शब्दयोजनादुपजायमानमविशदं ज्ञानं श्रुतमिति केचित्[F-76] । [F-77]सैद्धान्तिकास्त्ववग्रहे-हावायधारणाप्रभेदरूपाया मतेर्वाचकाः पर्यायशब्दा मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्येते शब्दा इति प्रतिपन्नाः । स्मृतिसंज्ञाचिन्तादीनां च कथञ्चिद्गृहीतग्राहित्वेऽप्यवि-संवादकत्वादनुमानवत्प्रमाणताभ्युपेया, अन्यथा व्याप्तिग्राहकप्रमाणेन गृहीतविष-त्वेनानुमानस्याप्रमाणताप्रसक्तेः, [F-78]अत्र च यच्छब्दसंयोजनात्प्राक् स्मृत्यादिकमविसंवादि व्यवहारनिर्वर्तनक्षमं वर्तते तन्मतिः शब्दसंयोजनात्प्रादुर्भूतं तु सर्वं श्रुतमिति विभागः । स्मृतिसंज्ञादीनां च स्मरणतर्कानुमानरूपाणां परोक्षभेदानामपि यदिह प्रत्यक्षाधिकारे भणनं तन्मतिश्रुतविभागज्ञानाय प्रसङ्गेनेति विज्ञेयम् ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

धारणा स्वरुप मतिज्ञान अविसंवादस्वरुप स्मृतिरुप फल का कारण होने से प्रमाण है। अर्थात् धारणा प्रमाण है। स्मृति फल है। स्मृति भी "**यह वही है**" इत्याकारक प्रत्यवमर्श स्वभावक = संकलन रुप संज्ञा

(F-75-76-77-78) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के फल का जनक है। अर्थात् संज्ञा = प्रत्यभिज्ञान फल है और स्मृति प्रमाण है। प्रत्यभिज्ञारुप संज्ञा भी तथाभूत तर्कस्वभावक चिंता को उत्पन्न करती है। अर्थात् प्रत्यभिज्ञारुप संज्ञा से तर्करुप चिंता फल उत्पन्न होता है। इसलिए संज्ञा प्रमाण है। तर्क फल है। चिंतारुप तर्क भी अनुमानस्वरुप आभिनिबोध-फल का जनक है। अर्थात् तर्क अविनाभाव का ज्ञान कराके आभिनिबोध - अनुमान को उत्पन्न करता है। इसलिए तर्क प्रमाण है, आभिनिबोध - अनुमान फल है। आभिनिबोध से भी हेयोपादेय बुद्धिरुप फल उत्पन्न होता है। इसलिए आभिनिबोध - अनुमान प्रमाण है, हेयोपादेयबुद्धि फल है। **इसलिए तत्वार्थसूत्र में कहा है कि..** "मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, आभिनिबोध - यह अनर्थान्तर है - कथंचित् अभिन्न है = कथंचित् एक विषयक है।" (अकलंकदेव इस सूत्र का तात्पर्यार्थ इस तरह से बताते है -) जब तक इन ज्ञानो का शब्दरुप से उल्लेख न किया जाये अर्थात् उसमें शब्दयोजना न हो, तब तक वे सभी मतिज्ञान है।

शब्दयोजना से उत्पन्न होनेवाला अविशदज्ञान श्रुत है। तात्पर्य यह है कि जब तक मति, स्मृति आदि में शब्दयोजना होती नहीं है तब तक वह मतिज्ञानरुप है तथा शब्दयोजना से होनेवाला तथा अन्य भी शब्दयोजना से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान श्रुतज्ञान है। परंतु सैद्धान्तिको ने तो ये मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और आभिनिबोध को अवग्रह-ईहा-अपाय-धारणा के रुप से चार भेदवाले मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्द ही माने है। (यही बात तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के भाष्य १।१३ में की है। **आभिनिबोधकज्ञानस्यैव त्रिकालविषयस्यैते पर्याया नार्थान्तरेति मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यस्यानर्थान्तरमेतदिति।)**

स्मृति, संज्ञा, चिंता आदि यद्यपि पहले प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से ग्रहण किये हुए पदार्थो को ही जानते है। तो भी अविसंवादि होने के कारण अनुमान की तरह प्रमाण ही है। जैसे व्याप्तिज्ञान तर्क द्वारा जाने गये सामान्य अग्नि और धूमको ही कुछ विशेषरुप से जाननेवाला अनुमान कथंचित् अगृहीतग्राहि मानकर प्रमाण माना जाता है। वैसे स्मृति आदि ज्ञान भी प्रमाण है। अन्यथा व्याप्ति = तर्क रुप ग्राहकप्रमाण द्वारा गृहीत पदार्थ को विषय बनानेवाला अनुमान भी अप्रमाण बन जायेगा।

यहाँ शब्दयोजना से पूर्व अर्थात् शब्दयोजना न हो तब अविसंवादि और व्यवहार चलाने में समर्थ स्मृति आदि मतिज्ञान है और शब्दयोजना से उत्पन्न होता सर्वज्ञान श्रुतरुप है। इस तरह से मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विभाग करना। यहाँ स्मृति, संज्ञा, तर्क आदि परोक्ष प्रमाणो के भेदो को प्रत्यक्ष प्रमाण के विवरण के समय कहने का कारण यह है कि मति और श्रुत के विभाग का ज्ञान भी प्रसंग से स्पष्ट हो जायेगा।

अथ परोक्षम्-**अविशदमविसंवादि ज्ञानं परोक्षम्**[F-79] । **स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत्पञ्चधा**[F-80] । **संस्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं** [F-81]**स्मरणं, यथा तत्तीर्थकर बिम्बमिति १ अनुभवस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानं,** [F-82]**तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि, यथा स एवायं देवदत्तः, गोसदृशो गवयः, गोविलक्षणो महिषः,**

(F-79-80-81-82) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इदमस्माद्दीर्घं ह्रस्वमणीयो महीयो दवीयो वा दूरादयं तीव्रो वह्नि सुरभीदं चन्दनमित्यादि । अत्रादिशब्दात्स एव वह्निरनुमीयते स एवानेनाप्यर्थः कथ्यत इत्यादि स्मरणसचिवानुमानागमादिजन्यं च सङ्कलनमुदाहार्यम् २ । उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनं [F-83]तर्कः, यथाग्नौ सत्येव धूमो भवति तदभावे न भवत्येवेति ३ । अनुमानं द्विधा, **स्वार्थं परार्थं च** । हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणहेतुकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्[F-84] । **निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो** हेतुः[F-85] । **इष्टमबाधितमसिद्धं** [F-86]साध्यं, **साध्यविशिष्टः प्रसिद्धो धर्म्मी** पक्षः[F-87] । पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्[F-88] । [F-89]मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि प्रयोज्यानि ।

व्याख्या का भावानुवाद :

अब परोक्षप्रमाण को कहते है। अविशद - अस्पष्ट अविसंवादि ज्ञान को परोक्ष कहा जाता है। वह परोक्ष स्मरण (स्मृति), प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से पांच प्रकार का है।

(१) **स्मृतिप्रमाण :** (पहले अनुभव कीये हुए पदार्थ के) संस्कार के प्रबोध से उत्पन्न होनेवाला, अनुभूत अर्थ के विषयवाला **"वह था"** इत्यादि रुप में **"वह"** शब्द में जिसका वेदन होता है, वह स्मरण (स्मृति) कहा जाता है। जैसे कि, पहले देखी हुई मनोज्ञ तीर्थंकर की प्रतिमा का वर्तमान में दर्शन होती प्रतिमा में **"वही तीर्थंकर की प्रतिमा है।"** ऐसा वेदन होता है। उसे स्मरण कहा जाता है। (यहाँ पहले देखी हुई परमात्मा की मनोज्ञप्रतिमा के आत्मा में पडे हुए संस्कार के प्रबोध से अनुभूत अर्थ विषयक **"वही तीर्थंकर की प्रतिमा है"**-इत्याकारक संवेदन होता है। उसे स्मरण कहा जाता है।)

(२) **प्रत्यभिज्ञाप्रमाण :** अनुभव और स्मरण से उत्पन्न हुए संकलनात्मक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। अर्थात् अनुभव और स्मरण से उत्पन्न होनेवाला संकलनज्ञान कि जो पूर्व और उत्तर को जोडने का काम करके एकत्वसादृश्यज्ञान कराये उसे **प्रत्यभिज्ञान** कहा जाता है। अर्थात् सामने रहे हुए पदार्थ में पहले देखे हुए पदार्थ का अभेदअवगाहिज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। वह प्रत्यभिज्ञान अनेक प्रकार का है। **सादृश्य प्रत्यभिज्ञान** - **"वह उसके समान है"** इत्याकारक है। जैसे कि "वही यह देवदत्त है" और "गाय के समान गवय है।" **वैलक्षण्यसादृश्य** - "वह उससे विलक्षण है" इत्याकारक है। जैसे कि, गाय से विलक्षण भैंस है। **प्रतियोगीप्रत्यभिज्ञान** - "यह उसकी अपेक्षा से दूर, पास, छोटा, बडा है" इत्यादि रुप से होता है। जैसे कि यह उससे लम्बा है, यह छोटा है, कम वजन का है, ज्यादा वजन का है, बहोत दूर है। अग्नि तेज है, चंदन सुरभि है। "उसी अग्नि का अनुमान किया जाता है कि जो पहले देखी थी" तथा **"वही शब्द द्वारा भी यह अर्थ कहा जाता है।"** इत्यादि स्मरण सहकार से अनुमानजन्य

(F-83-84-85-86-87-88-89-) - तु० पा० प्र० प०। (G-1-2) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

या स्मरण के सहकार से आगम जन्य जो कोई संकलनात्मकज्ञान है, उसका समावेश प्रत्यभिज्ञान में कर लेना।

(३) **तर्कप्रमाण :** उपलंभ या अनुपलंभ से उत्पन्न होनेवाला त्रिकालविषयक (त्रिलोकवर्ती) सभी साध्य-साधन के संबंध का आलंबन = विषय करनेवाले **"यह यह होने पर ही होता है"** इत्याकारक संवेदन = ज्ञान को तर्क कहा जाता है। अर्थात् "साध्य होने पर ही साधन होता है।" और **"साध्य के अभाव में साधन होता नहीं है।"** इत्याकारक ज्ञान को तर्क कहा जाता है। जैसे कि अग्नि होने पर ही धूम होता है। अग्नि के अभाव में धूम होता ही नहीं है।

इस तरह से साधारणरुप से त्रिलोकवर्ती समस्त अग्नि और धूमो के अविनाभाव संबंध को तर्क प्रमाण जान लेना।

(४) **अनुमानप्रमाण :** (साधन से होते साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा जाता है।) वह अनुमान दो प्रकार का है। (१) स्वार्थानुमान, (२) परार्थानुमान। हेतु का ग्रहण तथा संबंध (अविनाभाव) स्मरण से होनेवाले साध्य के ज्ञान को स्वार्थानुमान कहा जाता है। निश्चित अन्यथा अनुपपत्तिरुप एकमात्र लक्षणवाले पदार्थ को हेतु कहा जाता है।

इष्ट, अबाधित, असिद्ध लक्षणवाले पदार्थ को साध्य कहा जाता है। अर्थात् जिसको सिद्ध करना वादि को इष्ट है, जो प्रत्यक्षादि प्रमाणो से बाधित नहीं है और आज तक जो प्रतिवादि को असिद्ध है अथवा जिसकी पक्ष में सिद्धि संदिग्ध है, उसे साध्य कहा जाता है। साध्यविशिष्ट प्रसिद्ध धर्मी को पक्ष कहा जाता है। अर्थात् साध्ययुक्त धर्मी पक्ष कहा जाता है। धर्मी प्रसिद्ध होता है।

पक्ष और हेतु का (दूसरे के ज्ञान के लिए) कथन करना उसे अर्थात् पक्ष-हेतु वचनात्मक (साध्य के ज्ञान को) उपचार से परार्थानुमान कहा जाता है। कहने का मतलब यह है कि पक्ष और हेतु के वचन = कथन को सुनकर श्रोता को होनेवाला साध्य का ज्ञान को, परार्थानुमान कहा जाता है। यद्यपि मुख्यरुप से तो परार्थानुमान ज्ञानात्मक ही होता है, फिर भी जो वचनो से वह ज्ञान उत्पन्न होता है, उस वचनो को भी कारण में कार्य का उपचार करके अर्थात् कार्यभूत ज्ञान के कारणभूत वचनो में उपचार करके परार्थानुमान कहा जाता है। सारांश में, पक्ष और हेतु के कथन को उपचार से परार्थानुमान कहा जाता है।

(यद्यपि अनुमान के प्रतिज्ञा और हेतु दो ही अवयव होते है।) परंतु मंदमतिवाले शिष्यो को समजाने के लिए दृष्टान्त, उपनय और निगमन-ये तीन अवयवो का प्रयोग किया जा सकता है।

दृष्टान्तो द्विधा, **अन्वयव्यतिरेकभेदात्**[F-90] । **साधनसत्तायां यत्रावश्यं साध्यसत्ता प्रदर्श्यते** सोऽन्वयदृष्टान्तः[F-91] । **साध्याभावेन साधनाभावो यत्र कथ्यते स** व्यतिरेकदृष्टान्तः[F-92] । **हेतोरुपसंहार** उपनयः[F-93] । **प्रतिज्ञायास्तूपसंहारो** निगमनम्[F-94] । **एते पक्षादयः पञ्चावयवाः**

(F-90-91-92-93-94) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कीर्त्यन्त इत्यादि । अत्रोदाहरणम्-परिणामी[F-95] शब्दः कृतकत्त्वात्, यः कृतकः स परिणामी दृष्टो यथा घटः, कृतकश्चायम् तस्मात्परिणामी । यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टः, यथा वन्ध्यास्तनन्धयः । कृतकश्चायम् तस्मात्परिणामी शब्द इत्यादि । नन्वत्र निश्चितान्यथानुपपत्तिरेवैकं हेतोर्लक्षणमभ्यधायि किं न [F-96]पक्षधर्मत्वादित्रैरूप्यमिति चेत् ? उच्यते, पक्षधर्मत्वादौ त्रैरूप्ये सत्यपि तत्पुत्रत्वादेर्हेतोर्गमकत्वादर्शनात्[F-97], [F-98]असत्यपि च त्रैरूप्ये हेतोर्गमकत्वदर्शनात्, तथाहि-जलचन्द्रान्नभश्चन्द्रः, कृतिकोदयाच्छकटोदयः, पुष्पितैकचूततः पुष्पिताः शेषचूताः, शशाङ्कोदयात्समुद्रवृद्धिः, सूर्योदयात्पद्माकरबोधः, वृक्षाच्छाया चैते [F-99]पक्षधर्मताविरहेऽपि सर्वजनैरनुमीयन्ते । कालादिकस्तत्र धर्मी समस्त्येवेति चेत् ? न, अतिप्रसङ्गात्[F-100] । एवं हि शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये [G-1]काककार्ष्ण्यादेरपि गमकत्वप्रसक्तेः, लोकादेर्धर्मिणस्तत्र कल्पयितुं शक्यत्वात् । [G-2]अनित्य शब्दः श्रावणात्, मद्भ्राताऽयमेवंविधस्वरान्यथानुपपत्तेः, सर्वं नित्यमनित्यं वा सत्त्वादित्यादिषु सपक्षे सत्त्वस्याभावेऽपि गमकत्वदर्शनाच्चेति ४ ।

व्याख्या का भावानुवाद :

दृष्टान्त अन्वय और व्यतिरेक के भेद से दो प्रकार का है । जिसमें साधन की सत्ता होने पर ही साध्य की सत्ता अवश्य बताई जाये उसे अन्वयदृष्टान्त कहा जाता है । जिसमें साध्य के अभाव से साधन का अभाव कहा जाता है वह व्यतिरेक दृष्टांत है ।

(दृष्टांत का कथन करके) हेतु का पक्ष में पुनः उपसंहार करना अर्थात् हेतु की पक्ष में सत्ता पुनः कहना उसे **उपनय** कहा जाता है । (यहाँ पुनः लिखने का कारण यह है कि हेतुवाक्य के कथन में पक्षधर्मता = पक्ष में हेतु की सत्ता का निर्देश होता है, तब (साध्य और साधन के संबंध को = अविनाभाव के) स्मरण बिना मात्र पक्ष में हेतु को देखने मात्र से हेतु वाक्य का कथन किया जाता है, जबकि उपनय वाक्य में अविनाभाव के स्मरणपूर्वक पक्ष में हेतु की सत्ता अर्थात् पक्षधर्मता का कथन किया जाता है । अर्थात् अविनाभाव के स्मरण के बाद पुनः पक्ष में हेतु का निर्देश होता है कि जो निगमनवाक्य के कथन के अभिमुख ले जाता है ।)

(पक्ष में हेतु की सत्ता का पुनः कथन करके) प्रतिज्ञा का उपसंहार करना उसे निगमन कहा जाता है । अर्थात् पक्ष में साध्य का पुनः निर्देश करना उसे निगमन कहा जाता है ।

प्रश्न : प्रथम प्रतिज्ञा वाक्य और अंतिम निगमनवाक्य में क्या फर्क है वह समज में नहीं आता है । क्योंकि दोनो का आकार एक समान ही है । अर्थात् प्रतिज्ञावाक्य और निगमनवाक्य का **"पक्षः साध्यमान्"**

(F-95-96-97-98-99-100) (G-1-2) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इत्याकारक समान आकार है, तो दोनो में फर्क क्या है ?

उत्तर : दोनो का आकार एक होने पर भी प्रतिज्ञावाक्य में पक्ष में साध्य की सिद्धि हुई नहीं है, जबकि निगमनवाक्य में पक्ष में साध्य की सिद्धि होने के बाद का निर्देश होता है। इतना दोनो के बीच फर्क है। वही पुनः पद लिखने का प्रयोजन है।) यह पक्षादि (प्रतिज्ञादि पांच) को पंचावयव कहा जाता है। यहाँ पक्षादि पंचावयव के समजाने के लिए उदाहरण देते है....

(१) प्रतिज्ञा (पक्ष) वाक्य : शब्दः परिणामी। (२) हेतु वाक्य : कृतकत्वात्। (३) **उदाहरण वाक्य :** (१) अन्वय दृष्टान्तः यः कृतकः, स परिणामी दृष्टः, यथा घटः (२) व्यतिरेकदृष्टान्त : यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टः, यथा वन्ध्यास्तनन्धयः । (४) उपनय वाक्य : कृतकश्च अयम् (शब्दः) अथवा शब्दः परिणामीव्याप्यकृतकवान्। (५) निगमन वाक्य : शब्दः परिणामी।

(यहाँ याद रखना कि सामान्य से **पक्षः साध्यवान् हेतोः** ऐसा अनुमानप्रयोग होना चाहिए। अर्थात् यहाँ प्रस्तुत में **शब्दः परिणामी, कृतकत्वात्** प्रयोग होना चाहिए। परंतु जैन दार्शनिक ग्रंथो में ज्यादातर **साध्यवान् पक्षः हेतोः** अर्थात् **परिणामी शब्दः कृतकत्वात्** ऐसा प्रयोग हुआ दीखाई देता है।) अब पंचावयव के उदाहरण के विषय में पंक्ति खोली जाती है।) **अत्रोदाहरणम्** -

शब्द परिणामी है। क्योंकि कृतक है। जो कृतक होता है, वह परिणामी - परिवर्तनशील दिखाई देता है। जैसे कि घट दिखाई देता शब्द कृतक है, तो इसलिए वह परिणामी भी होना चाहिए। जो परिणामी होता नहीं है, वह कृतक (जन्य) भी दिखाई देता नहीं है। जैसे कि, वंध्या का पुत्र। इसलिए शब्द कृतक है, इसलिए वह परिणामी ही होगा।

शंका : यहाँ आपने निश्चित अन्यथा अनुपपत्ति = अविनाभावरुप हेतु का एक ही स्वरुप कहा है। (हेतु के लक्षण में पक्षधर्मकता, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, ये तीन रुपो का समावेश होता है।) वह पक्षधर्मता आदि तीन रुप क्या हेतु के लक्षण में आते नहीं है ?

समाधान : (पक्षधर्मता आदि तीन रुप हेतु के अव्यभिचारी लक्षण नहीं है। अर्थात् त्रैरुप्य हेतु का अव्यभिचारी लक्षण नहीं है।) क्योंकि पक्षधर्मता आदि तीन रुप होने पर भी तत्पुत्रत्वादि हेतु साध्य का गमक बनता दिखाई देता नहीं है और पक्षधर्मतादि तीन रुप न होने पर भी हेतु साध्य का गमक बनता दिखाई देता है। अर्थात् **"गर्भ में रहनेवाला मैत्र का बालक श्याम (काला) है। क्योंकि वह मैत्र का पुत्र है। जैसे कि, उसके पांच श्याम (काले) बच्चे।"** इस अनुमान प्रयोग के हेतु में पक्षधर्मता, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व ये तीन रुप होने पर भी "तत्पुत्रत्व" हेतु साध्य का गमक बनता नहीं है। क्योंकि तत्पुत्रत्व = मैत्रतनयत्त्व रुप हेतु का श्यामत्व साध्य के साथ कोई अविनाभाव नहीं है।

अब त्रैरुप्य होने पर भी हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव न होने से हेतु साध्य का गमक बनता नहीं है और त्रैरुप्य न होने पर भी हेतु का साध्य के साथ के अविनाभाव के योग से हेतु साध्य का गमक बनता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। उसके उदाहरण इस अनुसार से है।

(१) **जलचन्द्रान्नभश्चन्द्र : "आकाश में चन्द्र का उदय हुआ (आकाश चन्द्रवाला है), क्योंकि पानी में चन्द्र का प्रतिबिंब दिखाई देता है।"** इस अनुमान में पानी में पडा हुआ चन्द्र के प्रतिबिंबरुप हेतु अपने पक्ष में रहता नहीं है। अर्थात् पक्षधर्मता रुप न होने पर भी अविनाभाव के कारण सभी लोगो के द्वारा तादृश अनुमान किया जाता है और हेतु सत्य बनता है।

(२) **कृतिकोदयात् शकटोदय :- "रोहिणी नक्षत्र का एक मुहूर्त बाद उदय होगा, क्योंकि अभी कृतिकानक्षत्र का उदय है।"** इस अनुमान में "कृतिकोदय" हेतु पक्ष में रहता नहीं है। अर्थात् "**पक्षधर्मता**" रुप न होने पर भी अविनाभाव के कारण तादृशअनुमान किया जाता है और हेतु सत्य बनता है।

(३) **पुष्पितैकचूतत: पुष्पिता: शेषचूता: :- "सभी आम के पेडो में फूल आ गये है, क्योंकि वह आम का पेड है। जैसे कि, यह फूलोवाला आम का पेड।"** इस अनुमान में "**पुष्पितआम्रत्व**" हेतु पक्ष में न रहने पर भी = पक्षधर्मतारुप के अभाव में भी तादृशअनुमान लोगो के द्वारा किया जाता है और हेतु सत्य बनता है।

(४) **शशाङ्कोदयात् समुद्रवृद्धि :- "समुद्र में पानी की वृद्धि हो रही है। क्योंकि चन्द्र का उदय हुआ है।"** इस अनुमान में "**चन्द्रोदय**" हेतु पक्ष में न रहने पर भी = पक्षधर्मता रुप के अभाव में भी तादृशअनुमान लोगो के द्वारा किया जाता है और हेतु सत्य बनता है।

(५) **सूर्योदयात्पद्माकरबोध:- "कमल विकसित हो गये है, क्योंकि सूर्योदय हुआ है।"** इस अनुमान में "**सूर्योदय**" हेतु पक्ष में न रहने पर भी = पक्षधर्मतारुप के अभाव में भी तादृश अनुमान किया जाता है और हेतु सत्य बनता है।

(६) **वृक्षाच्छाया:- "छाया (छांव) गिर रही है, क्योंकि धूप भी है और वृक्ष भी है।"** इस अनुमान में वृक्षत्व हेतु पक्ष में रहा नहीं है, फिर भी तादृशअनुमान होता है और हेतु सत्य बनता है।

ये उपरोक्त अनेकहेतुओ में पक्षधर्मता का विरह होने पर भी सभी लोगो के द्वारा अनुमान किया जाता है। इसलिए पक्षधर्मता आदि तीन रुप हेतु के अव्यभिचारी लक्षण नहीं है।

शंका : कृतिकोदय हेतु में काल या आकाश को धर्मी बनाकर पक्षधर्मता कही जा सकती है। जैसे कि, आकाश या काल एक मुहूर्त में रोहिणी के उदय से मुक्त होगा। क्योंकि अभी उसमें कृतिका का उदय हो रहा है।

समाधान : आपकी बात उचित नहीं है। क्योंकि, वैसा मानने में अतिप्रसंग = अव्यवस्था होती है। कहने का मतलब यह है कि, आकाश या काल जैसे व्यापकपदार्थो को पक्ष बनाना चालु होगा तो कोई भी हेतु असत्य बनेगा ही नहीं, सभी हेतु सत्य बन जायेंगे और साध्य के गमक बन जायेंगे। जैसे कि, "**शब्द**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनित्य है, क्योंकि कौआ काला है ।" यह पक्षधर्म से रहित हेतु भी लोक को धर्मी मानके पक्षधर्मता से सहित है, वैसा कहने के लिए संभव है । अर्थात् "लोक" अनित्य शब्दवाला है, क्योंकि उसमें काला कौआ देखने को मिलता है, इसलिए आकाश या काल आदि व्यापक पदार्थो को पक्ष बनाकर किसी में भी पक्षधर्मता की सिद्धि करनी उचित नहीं है ।

उसी ही तरह से "शब्द अनित्य है । क्योंकि सुनने में आता है ।" "यह मेरा भाई है कयोंकि ऐसे प्रकार की आवाज दूसरी तरह से संगत होती नहीं है ।" (भाई के बोले बिना आ सकता नहीं है ।) "सभी पदार्थ नित्य या अनित्य है क्योंकि वह सत् है ।" इत्यादि अनुमानो के श्रावणत्व आदि हेतु सपक्ष में रहते न होने पर भी (अविनाभाव के बल से सत्य होने के कारण) साध्य के गमक होते दिखाई देते है ।

आप्तवचनाज्जातमर्थज्ञानमागमः[G-3], [G-4]उपचारादाप्तवचनं च [G-5]यथाऽस्त्यत्र निधिः, [G-6]सन्ति मेर्वादयः । [G-7]अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते यथाज्ञानं चाभिधत्ते, स आप्तो [G-8]जनकतीर्थकरादिः ५ इत्युक्तं परोक्षम्, तेन[G-9] "मुख्यसंव्यवहारेण, संवादिविशदं मतम् । ज्ञानमध्यक्षमन्यद्धि, परोक्षमिति सङ्ग्रहः ।।१।। इति । यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् । विसंवाद्यप्रमाणं च तदध्यक्षपरोक्षयोः ।।२।।" **[सम्मतितर्कटीका, पृ-५९]** तत एकस्यैव ज्ञानस्य [G-10]यत्राविसंवादस्तत्र प्रमाणता, इतरत्र च तदाभासता, यथा [G-11]तिमिराद्युपप्लुतं ज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकत्वात्प्रमाणं, तत्सङ्ख्यादौ च तदेव विसंवादकत्वादप्रमाणम् । प्रमाणेतरव्यवस्थायाः विसंवादाऽविसंवादलक्षणत्वादिति स्थितमेतत् "प्रत्यक्षं परोक्षं च द्वे एव प्रमाणे" । अत्र च मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानानां[G-12] मध्ये मतिश्रुते परमार्थतः [G-13]परोक्षं प्रमाणं, अवधिमनःपर्यायकेवलानि तु प्रत्यक्षं[G-14] प्रमाणमिति ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

(५) **आगम प्रमाण :** आप्त के वचनो से उत्पन्न हुए पदार्थ के ज्ञान को आगम कहा जाता है । उपचार से आप्त के वचनो को भी आगम कहा जाता है । (क्योंकि उन वचनो के द्वारा ही ज्ञान उत्पन्न होता है । इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके आप्त के वचनो को भी आगम कहा है ।)

जो अभिधेय वस्तु को यथावस्थित जानता है और जिस प्रकार से उसका ज्ञान हुआ है, उसी प्रकार से ही कथन करते है, उसे **आप्त** कहा जाता है । जैसे कि, माता,पिता, तीर्थंकरादि ।

"यहाँ धन का भंडार है" यह पिता का कथन तथा "मेरुपर्वत है" - यह तीर्थंकर परमात्मा का कथन, उस वस्तु को यथावस्थित जानकर किया गया होने से, कहे गये वचनो के वे आप्त है ।

इस तरह से परोक्षप्रमाण कहा गया । इसलिए कहा है कि, "**संवादि और विशद (स्पष्ट) ज्ञान**

(G-3-4-5-6-7-8-9-10-11-12-13-14) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्ष है । वह मुख्य (पारमार्थिक) और संव्यवहार ऐसे दो प्रकार का है । प्रत्यक्ष से अन्य समस्तज्ञान परोक्ष है । इस अनुसार से (सामान्यरुप से) प्रमाणो का संग्रह है ।"

तथा "जिस जिस अंश में अविसंवादि है, उस उस अंश में प्रमाण है और जिस जिस अंश में विसंवादि है, उस उस अंश में अप्रमाण है । यह प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो ज्ञान में जानना ।"

इसलिए एक ही ज्ञान जिस अंश में अविसंवादि हो, उस अंश में ज्ञान की प्रमाणता है । उसके सिवा के (अतिरिक्त) स्थान में अर्थात् जो अंश में विसंवादि हो, वह ज्ञान की प्रमाणाभासता है । जैसे कि, तिमिररोगी को एक चंद्र दो दिखते है । उसका यह द्विचन्द्र का ज्ञान चंद्रअंश में अविसंवादि = यथार्थ है, इसलिए प्रमाण है और वह ज्ञान चंद्र की संख्या में विसंवादि = अयथार्थ होने से अप्रमाण है ।

प्रमाण की व्यवस्था अविसंवाद से तथा अप्रमाण की व्यवस्था विसंवाद से होती है । इस अनुसार के विवेचन से निर्णय होता है कि, प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही प्रमाण है । यहाँ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान, इन पांच ज्ञान में मति और श्रुतज्ञान परमार्थ से **परोक्षप्रमाण** है और अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान परमार्थ से **प्रत्यक्ष प्रमाण** है ।

अथोत्तरार्धं व्याख्यायते । "अनन्तधर्मकं वस्तु" इत्यादि । इह प्रमाणाधिकारे प्रमाणस्य प्रत्यक्षस्य परोक्षस्य च विषयस्तु ग्राह्यं पुनरनन्तधर्मकं वस्तु, अनन्तास्त्रिकाल-विषयत्वादपरिमिता धर्माः-स्वभावाः सहभाविनः क्रमभाविनश्च स्वपरपर्याया यस्मिंस्तद-नन्तधर्ममेव स्वार्थे कप्रत्ययेऽनन्तधर्मकमनेकान्तात्मकमित्यर्थः । अनेकेऽन्ता अंशा धर्मा वात्मा स्वरूपं यस्य तदनेकान्तात्मकमिति व्युत्पत्तेः, वस्तु सचेतनाचेतनं सर्वं द्रव्यम्, अत्र अनन्तधर्मकं वस्त्विति पक्षः, प्रमाणविषय इत्यनेन प्रमेयत्वादिति केवलव्यतिरेकी हेतुः सूचितः, अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणत्वाद्धेतोरन्तर्व्याप्त्यैव[G-15] साध्यस्य सिद्धत्वात् दृष्टान्ता-दिभिर्न प्रयोजनम्, यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तत्प्रमेयमपि न भवति, यथा व्योमकुसुममिति केवलो व्यतिरेकः, साधर्म्यदृष्टान्तानां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनान्वययायो-गादिति । अस्य च हेतोरसिद्धविरुद्धानैकान्तिकादिदोषाणां सर्वथानवकाश एव प्रत्यक्षादिना प्रमाणेनानन्तधर्मात्मकस्यैव सकलस्य प्रतीतेः । ननु कथमेकस्मिन् वस्तुन्य-नन्तधर्माः प्रतीयन्त इति चेत् ? उच्यते, प्रमाणप्रमेयरूपस्य सकलस्य क्रमाक्रमभाव्य-नन्तधर्माक्रान्तस्यैकरूपस्य वस्तुनो यथैव स्वपरद्रव्याद्यपेक्षया सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रमातृणां प्रतीतिर्जायमानास्ति तथैव वयमेते सौवर्णघटदृष्टान्तेन सविस्तरं दर्शयामः ।

(G-15) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या का भावानुवाद :

श्लोक के उत्तरार्ध में रहे हुए "**अनन्तधर्मकं वस्तु**" इत्यादि पद की व्याख्या की जाती है। यहाँ प्रमाण के अधिकार में प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण का विषय अनंतधर्मात्मक वस्तु है। अर्थात् उन दो प्रमाण से ग्राह्यवस्तु अनंतधर्मात्मक है। अनंत = त्रिकालविषयक अपरिमित सहभावी और क्रमभावी स्व-पर पर्याय जिसमें होता है, वह अनंतधर्मात्मक कहा जाता है। जगत के सभी पदार्थ तादृश अनंतधर्मात्मक होते है। यहाँ "अनंतधर्म" शब्द को स्वार्थ में "**क**" प्रत्यय लगने से "**अनंतधर्मकम्**" शब्द बना हुआ है। उसका दूसरा नाम "**अनेकान्तात्मक**" है। "**अनेक अंश या धर्म ही स्वरुप जिसका होता है, उसको अनेकान्तात्मक कहा जाता है।**" इस व्युत्पत्ति से "**अनेकान्तात्मक**" शब्द बना हुआ है।

'**अनेकान्तात्मक**' विशेषण का विशेष्य जो वस्तु है, उसमें सचेतन-अचेतन सर्वद्रव्यो का समावेश होता है .. इसलिए "अनेकान्तात्मक सचेतन - अचेतन वस्तु पक्ष है। "प्रमाण विषय" इस शब्द के द्वारा "प्रमेयत्वात्" केवलव्यतिरेकी हेतु सूचित होता है। अन्यथा अनुपपत्ति = अविनाभावरुप एक ही हेतु का लक्षण है तथा पक्ष में ही साध्य और साधन के अविनाभाव को ग्रहण करनेवाली अंतर्व्याति के बल से ही हेतु साध्य को सिद्ध करता है। इसलिए उक्त अनुमान में दृष्टांत आदि का कोई प्रयोजन नहीं है।

तदुपरांत, "जो अनंतधर्मात्मक नहीं है, वह प्रमेय भी नहीं है, जैसे कि आकाशकुसुम" यह व्यतिरेक व्याप्ति से ही प्राप्त होता है। इसलिए हेतु केवलव्यतिरेकी ही है।

साधर्म्यदृष्टांतो-अन्वयदृष्टांतो का पक्ष की कुक्षी में ही समावेश होता होने से अन्वय - व्याप्ति का अयोग है। (कहने का मतलब यह है कि जगत के सचेतन-अचेतन सभी पदार्थो को उक्त अनुमान में पक्ष बनाया है और कभी भी पक्ष को दृष्टांत के रुप में दिया नहीं जा सकता। इसलिए यहाँ अन्वयदृष्टांत का अभाव है। इसलिए मात्र व्यतिरेकी दृष्टांत दीया है।)

"प्रमेयत्व" हेतु में असिद्धि, विरुद्ध, अनैकान्तिक (व्यभिचार) आदि किसी दोषो का अवकाश नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादिप्रमाणो के द्वारा सभी सचेतन-अचेतनवस्तु अनंतधर्मात्मक प्रतीत होती ही है। अर्थात् प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणो का विषय अनंतधर्मात्मक वस्तु ही बनती है।

इसलिए वस्तु की अनेकांतता को सिद्ध करने के लिए प्रयोजित किया गया हेतु सर्वथायोग्य ही है।

शंका : एक ही वस्तु में अनंतधर्म किस तरह से प्रतीत होते है, वह हमको समज में नहीं आता है।

समाधान : प्रमाण या प्रमेयरुप समस्तवस्तु में स्व-परद्रव्य की अपेक्षा से क्रम या युगपत् रुप से रहनेवाले अनंतधर्मो की सर्वत्र सर्वदा जिस अनुसार से सर्वप्रमातृओ को प्रतीति होती है, उसी अनुसार से ही हम अनेकान्तात्मकता को सुवर्ण के घट के उदाहरण से सविस्तार बताते है।

विवक्षितो हि घटः स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्विद्यते, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च[G-16] न विद्यते,

(G-16) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथाहि-स घटो यदा सत्त्वज्ञेयत्वप्रमेयत्वादिधर्मैश्चिन्त्यते तदा तस्य सत्त्वादयः स्वपर्याया एव सन्ति, न तु केचन परपर्यायाः, सर्वस्य वस्तुनः सत्त्वादीन्धर्मानधिकृत्य सजातीयत्वाद्विजातीयस्यैवाभावान्न कुतोऽपि व्यावृत्तिः । द्रव्यतस्तु यदा पौद्गलिको घटो विवक्ष्यते, तदा स पौद्गलिकद्रव्यत्वेनाऽस्ति, धर्माधर्माकाशादिद्रव्यत्वैस्तु नास्ति । अत्र पौद्गलिकत्वं स्वपर्यायः, धर्मादिभ्योऽनन्तेभ्यो व्यावृत्तत्वेन परपर्याया अनन्ताः, जीवद्रव्याणामनन्तत्वात् । पौद्गलिकोऽपि स घटः पार्थिवत्वेनाऽस्ति न पुनराप्यादित्वैः, अत्र पार्थिवत्वं स्वपर्यायः, आप्यादिद्रव्येभ्यस्तु बहुभ्यो व्यावृत्तिः ततः परपर्याया अनन्ताः । एवमग्रेऽपि स्वपरपर्यायव्यक्तिर्वेदितव्या । पार्थिवोऽपि स धातुरूपतयास्ति न पुनर्मृत्त्वादिभिः । धातुरूपोऽपि स सौवर्णत्वेनाऽस्ति न पुना राजतत्वादिभिः । सौवर्णोऽपि स घटितसुवर्णात्मकत्वेनाऽस्ति नत्वघटितसुवर्णात्मकत्वादिना । घटितसुवर्णात्मापि देवदत्तघटितत्त्वेनाऽस्ति नतु यज्ञदत्तादिघटितत्वादिना । घटितोऽपि पृथुबुध्नाद्याकारेणाऽस्ति न पुनर्मुकुटादित्वेन । पृथुबुध्नोदराद्याकारोपि वृत्ताकारेणास्ति नावृत्ताकारेण । वृत्ताकारोपि स्वाकारेणास्ति न पुनरन्यघटाद्याकारेण । स्वाकारोऽपि स्वदलिकैरस्ति न तु परदलिकैः । एवमनया दिशा परेणापि स येन येन पर्यायेण विवक्ष्यते स तस्य स्वपर्यायः, तदन्ये तु परपर्यायाः । तदेवं द्रव्यतः स्तोकाः स्वपर्यायाः, परपर्यायास्तु व्यावृत्तिरूपा अनन्ता, अनन्तेभ्यो द्रव्येभ्यो व्यावृत्तित्वात् ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

"विवक्षित घट स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से विद्यमान है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से अविद्यमान है।" वह इस अनुसार से है - उन घट का जब सत्त्व, ज्ञेयत्व, प्रमेयत्वादि सामान्यधर्मो के द्वारा विचार किया जाता है। तब वह घट के सत्त्वादि स्व-पर्यायो के रुप में ही विद्यमान है। अर्थात् सत्त्वादि सभी घट के स्व-पर्याय ही बन जाते है। उस समय दूसरे कोई परपर्याय रहते नहीं है। क्योंकि सर्ववस्तु सत्त्वादि धर्मो का आश्रय करके सजातीय ही बन जाती है। कोई विजातीय बनती ही नहीं है। इसलिए विजातीय = परपर्यायो का अभाव होने से उसकी व्यावृत्ति करनी नहीं पडती है। (कहने का मतलब यह है कि, सत्त्वधर्म को आगे करके जब विचार किया जाये, तब सर्व सत् ऐसे सचेतन और अचेतनपदार्थो में कोई भेद रहता नहीं है, क्योंकि सत्त्वेन सर्वपदार्थो में अभेद है। उसी ही तरह से प्रमेयत्वेन, अभिधेयत्वेन भी सर्वपदार्थ सजातीय है। इसलिए सत्त्वेन, प्रमेयत्वेन, अभिधेयत्वेन कोई भी पदार्थ विजातीय बनते ही नहीं है। उसके कारण से सत्त्वादि सामान्यधर्मो को आगे करके घट का विचार किया जाये, तब वे स्वपर्याय ही बन जाते है, दूसरे कोई भी परपर्याय रहते नहीं है।)

(अब विशेषधर्मो को आगे करके घट का विचार किया जाता है।) **द्रव्यतः जब पौद्गलिकघट की**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवक्षा की जाती है, तब वह घट पौद्गलिकद्रव्यत्वेन विद्यमान है, परंतु धर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अधर्मास्तिकायद्रव्यत्वेन विद्यमान नहीं है। (कहने का मतलब यह है कि, जब द्रव्यतः घट का विचार किया जाता है, तब पुद्गलद्रव्य की अपेक्षा से घट विद्यमान (सत्) है और धर्मास्तिकायादि अन्यद्रव्यो की अपेक्षा से अविद्यमान (असत्) है। इसलिए) यहाँ घट का पौद्गलिकत्वधर्म स्व-पर्यायरुप है और धर्मादि अनंतद्रव्यो की व्यावृत्ति होने के कारण धर्मास्तिकायादि अनंत पर्याय घट के पर-पर्याय बन जाते है। अर्थात् द्रव्यतः घट का स्वपर्याय पौद्गलिकत्व है और धर्मास्तिकायादि पर पर्याय अनंता है। क्योंकि (पुद्गल से अतिरिक्त पांच द्रव्यो में से) जीवद्रव्य अनंत है। अर्थात् जीव अनंता होने के कारण घट के लिए वे अनंता पर्याय पर पर्याय बन जाते है। (इस तरह से एक पौद्गलिकत्व विशेषधर्म की अपेक्षा से घट के अनंतपर्यायो की सिद्धि होती है। अर्थात् घट अनंतधर्मात्मक सिद्ध होता है।) (अब उस दिशा में आगे सोचने से दूसरे एक अवांतर विशेषधर्म की अपेक्षा से घट अनंतधर्मात्मक सिद्ध किया जाता है।)

(पृथ्वी, पानी आदि अनंता पुद्गलो होने पर भी) वह सुवर्ण का (सोने का) घट पार्थिवत्वेन विद्यमान है, परंतु जलत्वादि धर्मो की अपेक्षा से विद्यमान नहीं है। इसलिए घट के लिए पार्थिवत्व स्व पर्याय है, परंतु जलत्वादि बहोत द्रव्यो की व्यावृत्ति होती है। अर्थात् जलत्वादि धर्म पर-पर्याय बन जाते है। इसलिए जलत्वादि धर्मो की अपेक्षा घट के पर-पर्याय अनंता है। (इस तरह से भी घट स्व-पर पर्यायो की अपेक्षा से अनंतधर्मात्मक सिद्ध होता है।) इस तरह से आगे भी घट के स्व-पर पर्यायो को जानना। (अब दूसरे एक अवांतर विशेषधर्म की अपेक्षा से सुवर्ण के घट की अनंतधर्मात्मकता का विचार किया जाता है।)

पार्थिव वह घट भी धातुरुप में विद्यमान है, परंतु मृत्त्वादि धर्मो की अपेक्षा से अविद्यमान है। अर्थात् धातुरुप से सत् है, मिट्टी आदि पर्यायो की अपेक्षा से असत् है। (यहाँ पार्थिव घट का धातुरुप पर्याय स्व है और मिट्टीरुप अनंता पर्याय पर है। इसलिए पार्थिव घट भी अनंतधर्मात्मक सिद्ध होता है। (अब अवांतर-अवांतर विशेषधर्मो की अपेक्षा से घट की अनंतधर्मात्मकता सिद्ध की जाती है।) धातुरुप भी वह घट सौवर्णत्वेन (सुवर्णपन से) विद्यमान (सत्) है, परंतु राजतत्वादि (रजतादिपन-चांदीपन) से अविद्यमान (असत्) है। वह सुवर्णघट भी घटित (घडे हुअे) सुवर्णात्मकत्वेन सत् है। अर्थात् सुवर्ण का वह घट घडे हुए सुवर्णरुप से सत् है। परंतु नहीं घडे हुए सुवर्ण आदि रुप से असत् है। घडा हुआ सुवर्णरुप घट भी देवदत्त के द्वारा घडे हुए के रुप में सत् है। यज्ञदत्त आदि सुनारो के द्वारा घडे हुए के रुप में असत् है। घडा हुआ घट भी पृथुबुध्नादि आकार से सत् है। मुकुटादि आकार से असत् है। पृथुबुध्नादि आकारवाला घट भी वृत्ताकार से (गोल आकार से) सत् है, परंतु अवृत्ताकार से असत् है। वृत्ताकारघट भी स्वाकार से सत् है, परंतु अन्यघटादि आकार से असत् है। स्व-आकारवाला घट भी स्व-दलिको से सत् है, परंतु परदलिको से असत् है। इस तरह से इस दिशा अनुसार दूसरे जिस जिस पर्यायो के द्वारा घट की विवक्षा की जाये, उस उस पर्याय उसके स्व-पर्याय है। परन्तु उससे अन्य पर पर्याय है।

इसलिए इस अनुसार द्रव्यतः घट के स्व-पर्याय स्तोक (अल्प) है। परंतु व्यावृत्तिरुप पर पर्याय अनंता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। इस प्रकार द्रव्यतः घट अनंतधर्मात्मक सिद्ध किया गया। अब क्षेत्रतः घट की विवक्षा करके घट की अनंत धर्मात्मकता सिद्ध की जाती है।

क्षेत्रतश्च स त्रिलोकीवर्तित्वेन विवक्षितो न कुतोऽपि व्यावर्तते । ततः स्वपर्यायोऽस्ति न परपर्यायः । त्रिलोकीवर्त्यपि स तिर्यग्लोकवर्तित्वेनाऽस्ति न पुनरूर्ध्वाधोलोकवर्तित्वेन । तिर्यग्लोकवर्त्यपि स जम्बूद्वीपवर्तित्वेनाऽस्ति न पुनरपरद्वीपादिवर्तितया । सोऽपि भरतवर्तित्वेनाऽस्ति न पुनर्विदेहवर्तित्वादिना । भरतेऽपि स पाटलिपुत्रवर्तित्वेनाऽस्ति न पुनरन्यस्थानीयत्वेन । पाटलिपुत्रेऽपि देवदत्तगृहवर्तित्वेनाऽस्ति न पुनरपरथा । गृहेऽपि गृहैकदेशस्थतयाऽस्ति न पुनरन्यदेशादितया । गृहैकदेशेऽपि स येष्वाकाशप्रदेशेष्वस्ति तत्स्थिततयाऽस्ति न पुनरन्यप्रदेशस्थतया । एवं यथासम्भवमपरप्रकारेणापि वाच्यम् । तदेवं क्षेत्रतः स्वपर्यायाः स्तोकाः परपर्यायास्त्वसंख्येयाः, लोकस्यासङ्ख्येयप्रदेशत्वेन । अथवा मनुष्यलोकस्थितस्य घटस्य तदपरस्थानस्थितद्रव्येभ्योऽनन्तेभ्यो व्यावृत्तत्वेनानन्ताः परपर्यायाः । एवं देवदत्तगृहादिवर्तिनोऽपि । ततः परपर्याया अनन्ताः ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

क्षेत्रतः विवक्षित वह सुवर्णघट त्रिलोकवर्ति होने के कारण वह किसीसे भी व्यावृत्त होता नहीं है। कहने का मतलब यह है कि क्षेत्र की दृष्टि से जब घट त्रिलोकवर्ति-व्यापकरुप से विवक्षित होता है, तब वह किसी से व्यावृत्त होता नहीं है। इसलिए क्षेत्र की दृष्टि से घट का स्वपर्याय ही बनेगा। परंतु घट का परपर्याय कोई नहीं बन सकेगा। (यद्यपि अलोकाकाश में घट रहता नहीं है। इसलिए अलोकाकाश को घट का परपर्याय कहा जा सकता है। परंतु घट किसी भी संयोग में चाहे तो भी अलोकाकाश में नहीं रह सकता है वह सर्वदा लोक में ही रह सकता है। इसलिए उस स्वरुप से परपर्याय की विवक्षा नहीं की गई। फिर भी घट आकाश में रहता है। ऐसी विवक्षा में जब आकाश स्वपर्याय होगा, तब परपर्याय कोई होगा ही नहीं।)

त्रिलोकवर्ति भी घट तिर्च्छालोकवर्तित्वेन विद्यमान ही है। परन्तु उर्ध्व-अधोलोकवर्तित्वेन अविद्यमान है। अर्थात् त्रिलोकवर्ति भी घट तिर्च्छालोक में रहता है, इसलिए तिर्च्छालोक की दृष्टि से सत् है और उर्ध्व या अधोलोक में रहता नहीं है, इसलिए उसकी अपेक्षा से असत् है।

तिर्च्छालोकवर्ति भी घट जंबूद्वीपवर्तित्वेन विद्यमान है, परंतु अपरद्वीपादिवर्तितया अविद्यमान है। अर्थात् तिर्च्छालोकवर्ति भी घट जंबूद्वीप में रहता होने से जंबूद्वीप की अपेक्षा से सत् है। अपरद्वीपो में रहता न होने से अपरद्वीपो की अपेक्षा से असत् है।

जंबूद्वीपवर्ति भी घट भरतक्षेत्रवर्तित्वेन विद्यमान है। परंतु विदेहादिक्षेत्रवर्तित्वेन अविद्यमान है। अर्थात् जंबूद्वीपवर्ति भी घट भरतक्षेत्र में रहता होने से भरतक्षेत्र की अपेक्षा से सत् है और विदेहादिक्षेत्र में रहता न होने से उसकी अपेक्षा से असत् है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भरतक्षेत्रवर्ति भी घट पाटलिपुत्रवर्तित्वेन विद्यमान है, परंतु अन्यस्थानीयत्वेन अन्यस्थानवर्तित्वेन अविद्यमान है। अर्थात् भरतक्षेत्रवर्ति भी घट पाटलिपुत्र में रहता होने से, उसकी दृष्टि से सत् है और अन्यस्थानो में रहता न होने से, अन्यस्थानो की अपेक्षा से असत् है।

पाटलिपुत्रवर्ति भी घट देवदत्तगृहवर्तित्वेन सत् है। अपरगृहवर्तित्वेन असत् है। देवदत्तगृहवर्ति भी घट उस गृह के एक देश में रहता होने से गृहैकदेशवर्तित्वेन सत् है। परंतु गृह के अन्य देशो में रहता न होने से अन्यदेशवर्तित्वेन असत् है। गृहैकदेशवर्ति भी घट जो आकाश प्रदेशो में रहता है वह आकाशप्रदेशवर्तित्वेन सत् है। परंतु अन्यआकाशप्रदेशो में रहता न होने से तदन्याकाशवर्तित्वेन असत् है।

इस तरह से यथासंभव दूसरे प्रकारो के द्वारा भी सोचना चाहिए। इसलिए इस अनुसार क्षेत्रतः स्वपर्याय अल्प है। पर-पर्याय असंख्य है। यहाँ लोक के असंख्यप्रदेश होने के कारण पर-पर्याय असंख्य ग्रहण किये है। **अथवा** मनुष्यलोक में रहा हुआ घट, उससे अन्यस्थान में रहे हुए अनंताद्रव्यो से व्यावृत्त होता होने के कारण (घट के क्षेत्रतः) अनंता पर पर्याय हो सकते है।

इसी ही तरह से देवदत्तगृहादिवर्ति घट भी, उससे अन्यस्थानवर्ति अनंताद्रव्यो से व्यावृत्त होता होने के कारण पर-पर्याय अनंता हो सकते है। इसलिए क्षेत्रतः घट के स्वपर्याय स्तोक (अल्प) है और परपर्यया असंख्य या अनंता है। अब कालतः) घट की विवक्षा करने से घट की अनंतधर्मात्मकता सिद्ध की जाती है।

कालतस्तु नित्यतया स स्वद्रव्येणावर्तत वर्तते वर्तिष्यते च ततो न कुतोऽपि व्यावर्त्तते। स चैदंयुगीनत्वेन विवक्ष्यमाणस्तद्रूपत्वेनाऽस्ति नत्वतीतानागतादियुगवर्तित्वेन। अस्मिन् युगेऽपि स ऐषमस्त्यवर्षतयास्ति न पुनरतीतादिवर्षत्वादिना। ऐषमस्त्योऽपि स वासन्तिकतयाऽस्ति न पुनरन्यर्तुनिष्पन्नतया। तत्रापि नवत्वेन विद्यते न पुनः पुराणत्वेन। तत्राप्यद्यतनत्वेनाऽस्ति न पुनरनद्यतनत्वेन। तत्रापि वर्तमानक्षणतयास्ति न पुनरन्यक्षणतया। एवं कालतोऽसङ्ख्येयाः स्वपर्याया, एकस्य द्रव्यस्याऽसङ्ख्यकालस्थितिकत्वात्। अनन्तकालवर्तित्वविवक्षायां तु तेऽनन्ता अपि वाच्याः। परपर्यायास्तु विवक्षितकालादन्यकालवर्तिद्रव्येभ्यो अनन्तेभ्यो व्यावृत्तत्वेनानन्ता एव। भावतः पुनः स पीतवर्णेनाऽस्ति न पुनर्नीलादिवर्णैः। पीतोऽपि सोऽपरपीतद्रव्यापेक्षयैकगुणपीतः, स एव च तदपरापेक्षया द्विगुणपीतः, स एव च तदन्यापेक्षया त्रिगुणपीतः, एवं तावद्वक्तव्यं यावत्कस्यापि पीतद्रव्यस्यापेक्षयानन्तगुणपीतः। तथा स एवापरापेक्षयैकगुणहीनः, तदन्यापेक्षया द्विगुणहीन इत्यादि तावद्वक्तव्यं यावत्कस्याप्यपेक्षयानन्तगुणहीनपीतत्वेऽपि स भवति। तदेवं पीतत्वेनानन्ताः स्वपर्याया लब्धाः। पीतवर्णवत्तरतमयोगेनानन्तभेदेभ्यो नीलादिवर्णेभ्यो व्यावृत्तिरूपाः परपर्याया अप्यनन्ताः। एवं रसतोऽपि स्वमधुरादिरसापेक्षया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पीतत्ववत्स्वपर्याया अनन्ता ज्ञातव्याः, नीलादित्ववत् क्षारादिपररसापेक्षया परपर्याया अप्यनन्ता अवसातव्याः । एवं सुरभिगन्धेनापि स्वपरपर्याया अनन्ता अवसातव्याः । एवं गुरुलघुमृदुखरशीतोष्णस्निग्धरूक्षस्पर्शाष्टकापेक्षयापि तरतमयोगेन प्रत्येकमनन्ताः स्वपरपर्याया अवगन्तव्याः, यत एकस्मिन्नप्यनन्तप्रदेशके स्कन्धेऽष्टावपि स्पर्शाः प्राप्यन्त इति सिद्धान्ते प्रोचानम्[G-17] । तेनात्रापि कलशेऽष्टानामभिधानम् । अथवा सुवर्णद्रव्येऽप्यनन्तकालेन पञ्चापि वर्णा द्वावपि गन्धौ षडपि रसा अष्टावपि स्पर्शाश्च सर्वेऽपि तरतमयोगेनानन्तशो भवन्ति । तत्तदपरापरवर्णादिभ्यो व्यावृत्तिश्च भवति । तदपेक्षयापि स्वपरधर्मा अनन्ता अवबोधव्याः ।

व्याख्या का भावानुवाद :

कालतः जब घडे को स्व-द्रव्य की अपेक्षा से नित्य माना जाता है । तब वह वर्तमान में रहता है। अतीत में था और भविष्य में भी होगा। इसलिए कालतः वह त्रिकालवर्ती होने के कारण उसकी किसीसे भी व्यावृत्ति होती नहीं है। अर्थात् इस तरह से द्रव्य की अपेक्षा से त्रिकालवर्ती होने के कारण ऐसा कोई काल नहीं है कि जिसमें वह रहता न हो । इसलिए त्रिकाल उसका स्व-पर्याय बनेगा और पर-पर्याय कोई बनेगा नहीं ।

उस घट की जब ऐदंयुगीनत्वेन-वर्तमानकालीनत्वेन विवक्षा करने से, वह घट वर्तमानकालीनत्वेन विद्यमान है और अतीत-अनागतकालीनत्वेन अविद्यमान है। अर्थात् वर्तमानकालीनत्वेन सत् है, अतीत-अनागतकालीनत्वेन असत् है ।

वर्तमानकालीनघट भी इस वर्ष की अपेक्षा से ही सत् है, अतीतादि वर्षो की अपेक्षा से असत् है। इस वर्ष का घट भी वसंतऋतु में उत्पन्न होने के कारण सत् है। परंतु उसके सिवा की अन्य ऋतुओ में उत्पन्न हुआ न होने से उस ऋतुओ में असत् है। वसंतऋतु संबंधी घट भी नवत्वेन (नया होने के कारण) विद्यमान है। परंतु पुराणत्वेन (पुराना होने के कारण) अविद्यमान (असत्) है। वह नूतनघट भी अद्यतनत्वेन (आज का होने के कारण) सत् है। परंतु अनद्यतनत्वेन, (बीते हुए कल की अपेक्षा से) असत् है। वह अद्यतनकाल संबंधी घट भी वर्तमानक्षणतया (वर्तमानक्षण की अपेक्षा से) सत् है। परंतु (वर्तमान से अतिरिक्त) अन्यक्षणो की अपेक्षा से असत् है । इस अनुसार से कालतः घट के असंख्य स्व-पर्याय है । क्योंकि एकद्रव्य असंख्यकाल तक अपनी स्थिति में रहता है। अनंतकाल की विवक्षा से तो द्रव्य अनंतकाल तक रहता होने से अनंता भी स्वपर्याय हो सकते है। विवक्षित काल से भिन्नकाल अन्य अनंतकालो से तथा उसमें रहे हुए अनंतद्रव्यो से घट की व्यावृत्ति होती है। इसलिए घट के परपर्याय भी अनंत है। अब भावतः घट की विवक्षा करके अनंतधर्मात्मकता सिद्ध की जाती है ।

(G-17) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भाव से वह सुवर्णघट पीतवर्ण से विद्यमान है। परंतु नीलादिवर्णो से अविद्यमान है। वह पीतघट भी अपर पीतद्रव्य की अपेक्षा एकगुण पीत है। वही पीतघट दूसरे कोई पीतद्रव्य की अपेक्षा द्विगुणपीत है। वही पीतघट तीसरे कोई पीतद्रव्य से त्रिगुणपीत है। इस अनुसार तब तक भी कहा जा सकता है कि यावत् किसी (एकदम हलके पीतवर्णवाले) पीतद्रव्य की अपेक्षा से पीतघट अनंतगुणपीत भी है।

उस अनुसार से वही पीतघट अन्य पीतद्रव्य की अपेक्षा से एकगुणहीनपीत है। दूसरे कोई पीतद्रव्य की अपेक्षा से द्विगुणहीनपीत है – इत्यादि तब तक कहा जा सकता है कि यावत् किसी पीतद्रव्यकी अपेक्षा से अनंतगुणहीनपीत भी पीतघट है। इसलिए इस अनुसार से पीतत्वेन घट के अनंता **स्व-पर्याय** प्राप्त होते है। पीतवर्ण की तरह तरतमरुप से लाल, नील आदि वर्ण अनंत प्रकार के होते होने से पीतघट की नीलादि अनंतावर्णो से व्यावृत्ति होने के कारण पीतघट की व्यावृत्तिरुप पर-पर्याय भी अनंता है।

इस अनुसार से रसतः भी पीतघट के स्व-मधुरादिरस की अपेक्षा से पीतवर्ण की तरह स्वपर्याय अनंत जानना और जैसे पीतघट के नीलादिवर्ण की अपेक्षा से अनंत परपर्याय पूर्व (पहले) बताये थे, वैसे (मधुरादि रस से भिन्न) क्षारादि अपररसो की अपेक्षा से परपर्याय भी अनंता जानना।

इस तरह से (गन्धतः पीतघट के पर्यायो की विचारणा करे तो) सुरभिगंध की अपेक्षा से भी पीतघट के (पहले की तरह) अनंता स्व-पर पर्याय होते है वह जानना।

इस अनुसार से घट के गुरु-लघु, मृदु-कर्कश, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रुक्ष ये आठ स्पर्शो की अपेक्षा से भी तरतमता के योग से प्रत्येक के (पहले रसादि में कहे अनुसार से) अनंता स्वपर्याय होते है वह जानना, क्योंकि सिद्धांतो में कहा है कि एक अनंतप्रदेशवाले स्कन्ध में भी आठ स्पर्श (एकसाथ) प्राप्त होते है। इसलिए यहां घट में भी आठ स्पर्शो का कथन किया है। (और तरतमता से स्वपर्यायो की गिनती अनंत बताई है।)

अथवा सुवर्णद्रव्य में भी अनंतकाल की अपेक्षा से पांचो वर्ण, दोनो भी गंध छः भी रस और आठ भी स्पर्श, ऐसे सभी तरतमता से अनंता स्वपर्याय होते है और वे वे अपर अपर वर्णादि से उस सुवर्णद्रव्य की व्यावृत्ति भी होती है। इसलिए सुवर्णद्रव्य के पर पर्याय भी अनंता ही है।

शब्दतश्च घटस्य नानादेशापेक्षया घटाद्यनेकशब्दवाच्यत्वेनानेके स्वधर्मा घटादित-त्तच्छब्दानभिधेयेभ्योऽपरद्रव्येभ्यो व्यावृत्तत्वेनानन्ताः परधर्माः । अथवा तस्य घटस्य ये ये स्वपरधर्मा उक्ता वक्ष्यन्ते च तेषां सर्वेषां वाचका यावन्तो ध्वनयस्तावन्तो घटस्य स्वधर्माः, तदन्यवाचकाश्च परधर्माः । सङ्ख्यातश्च घटस्य तत्तदपरापरद्रव्यापेक्षया प्रथमत्वं द्वितीयत्वं तृतीयत्वं यावदनन्ततमत्वं स्यादित्यनन्ताः स्वधर्माः, तत्तत्सङ्ख्यानभिधेयेभ्यो व्यावृत्तत्वे-नानन्ताः परधर्माः । अथवा परमाणुसङ्ख्या पलादिसङ्ख्या वा यावती तत्र घटे वर्तते सा स्वधर्मः, तत्संख्यारहितेभ्यो व्यावृतत्त्वेनानन्ताः परपर्यायाः । अनन्तकालेन तस्य घटस्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वद्रव्यैः समं संयोगवियोगभावेनानन्ताः स्वधर्माः, संयोगवियोगाविषयीकृतेभ्यो व्यावृत्तस्यानन्ताः परधर्माश्च । परिमाणतश्च तत्तद्द्रव्यापेक्षया तस्याणुत्वं महत्त्वं ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं चानन्तभेदं स्यादित्यनन्ताः स्वधर्माः । ये सर्वद्रव्येभ्यो व्यावृत्त्या तस्य परपर्यायाः सम्भवन्ति ते सर्वे पृथक्त्वतो ज्ञातव्याः । दिग्देशतः परत्वापरत्वाभ्यां तस्य घटस्यान्यान्यानन्तद्रव्यापेक्षयासन्नतासन्नतरतासन्नतमता दूरता दूरतरता दूरतमता एकद्व्याद्यसङ्ख्यपर्यन्तयोजनैरासन्नता दूरता च भवतीति स्वपर्याया अनन्ताः । अथवाऽपरवस्त्वपेक्षया स पूर्वस्यां तदन्यापेक्षया पश्चिमायां स इत्येवं दिशो विदिशश्चाश्रित्य दूरासन्नादितयाऽसङ्ख्याः स्वपर्यायाः । कालतश्च परत्वापरत्वाभ्यां सर्वद्रव्येभ्यः क्षणलवघटीदिनमासवर्षयुगादिभिर्घटस्य पूर्वत्वेन परत्वेन चानन्तभेदेनानन्ताः स्वधर्माः ।

व्याख्या का भावानुवाद :

(शब्दतः घट की विचारणा करने से) शब्दतः घट के नानादेश की अपेक्षा से घट, कलश आदि अनेक शब्दो से वाच्य होने के कारण (घट के) अनेक स्वधर्म है। तथा घटादि उस उस शब्द के अनभिधेय अपर द्रव्य (घट से) व्यावृत्त होने के कारण घट के अनंता परधर्म होंगे। अर्थात् घट का घट, कलश आदि अनेक शब्दो से प्रयोग होता होने से शब्दतः घट के स्वधर्म अनेक है और जिस द्रव्यो का घट शब्द से प्रयोग होता नहीं है, वैसे द्रव्य अनंता है। इसलिए घट के परधर्मो की संख्या भी अनंती है।

अथवा उस घट के जो जो स्व-परधर्म कहे गये और आगे कहे जायेंगे, (उसमें) वे सभी स्वधर्म के जितने वाचक शब्द है, उतने ही घट के स्वधर्म होगें और अन्य पदार्थो के जितने वाचक शब्द है, वे घट के परधर्म होगें।

इसी ही तरह से संख्यातः भी स्व-पर धर्मो की विचारणा करे । संख्यातः घट का उस उस अपर-अपर द्रव्यो की अपेक्षा पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा यावत् अनंतवां ऐसा व्यवहार होता है। अर्थात् इस द्रव्य की अपेक्षा से घट पहला, उस द्रव्य की अपेक्षा से दूसरा, इस प्रकार यावत् उस उस द्रव्यो की अपेक्षा से अनंतवां ऐसा भी व्यवहार होता है। इसलिए संख्यातः घट के अनंता स्व-धर्म है।

उस उस संख्या से अनभिधेय अनंता द्रव्यो से घट की व्यावृत्ति होने के कारण घट के पर पर्याय भी अनंता है। अर्थात् घट में जो प्रथम, द्वितीय यावत् अनंततमत्व का व्यपदेश होता है, वह व्यपदेश घट से अन्यद्रव्यो में होता नहीं है, तब घट की उस द्रव्यो से व्यावृत्ति हो जाती है। वे द्रव्य अनंता होने से घट के अनंता पर पर्याय है। अथवा घटके परमाणुओ की जितनी संख्या या उसके वजन के रत्तियों की जितनी संख्या है, वह संख्या स्वधर्म है और वह संख्या से रहित द्रव्यो से घटकी व्यावृत्ति होने से घटके अनंता पर्याय है।

तदुपरांत अनंतकाल की अपेक्षा से घट का सर्वद्रव्यो के साथ संयोग-वियोग होने के कारण उस संयोग-विभाग की दृष्टि से घट के अनंता स्व-धर्म होते है। अर्थात् स्वद्रव्यो के साथ का संयोग-विभाग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

घट का स्व-धर्म बनेगा और वैसे संयोग-विभाग अनंता होने से अनंता स्वधर्म बनेंगे । तथा जो संयोग-विभाग के विषय नहीं कीये गये अर्थात् जिसमें संयोग-विभाग दिखाई नहीं देता, उन अनंतपदार्थों से घट की व्यावृत्ति होने के कारण वह परधर्म होगा । ऐसे पदार्थ भी अनंता होने से घट के परधर्म भी अनंता होंगे ।

परिमाणतः उस उस द्रव्य की अपेक्षा से घट में अणुत्व, ह्रस्वत्व, महत्त्व, दीर्घत्व ऐसे अनंतभेद पडेंगे । अर्थात् अणुत्वादि परिमाण की अपेक्षा से घट के अनंता भेद है । इसलिए घट के अनंता स्वधर्म है । कहने का मतलब यह है कि घट मकान की अपेक्षा से छोटा है । छोटी घटिका (छोटे घडे) की अपेक्षा से बडा है । इत्यादि परिमाण की अपेक्षा से घट के अनंता भेद पडेंगे । वे सभी उसके स्व-धर्म है । उस उस परिमाणवाले घट की उस उस (घट के परिमाण से) भिन्न परिमाण वाले द्रव्यो से परिमाणतः व्यावृत्ति होने से परिमाणतः घट के पर पर्याय भी अनंता जानना ।

सभी द्रव्यो से घट की व्यावृत्ति होती होने से **पृथक्त्वतः** वे सभी पदार्थ घट के पर-पर्याय होते है ।

दिग्-देशतः अर्थात् दिशा की दृष्टि से परत्व-अपरत्व द्वारा उस घट में अन्य अन्य अनंत द्रव्यो की अपेक्षा से आसन्नता, आसन्नतरता, आसन्नतमता, दूरता, दूरतरता, दूरतमता होती है । तथा देश की दृष्टि से घट में एक, दो, तीन -- यावत् अनंत योजनो के द्वारा अनंताद्रव्यो की अपेक्षा से आसन्नता-दूरता होती है । इसलिए दिग्-देशतः घट के अनंता स्व-पर्याय है । कहने का मतलब यह है कि इस घट में अनंतद्रव्यो की अपेक्षा से निकटता, अतिनिकटता, अति-अति निकटता या दूरी, अति दूरी, अति-अति दूरी होती है । इसलिए दिशाकी दृष्टि से निकटता-दूरता आदि अनंता स्व-पर्याय घट में होते है । देशतः घट का विचार करे तो घट अनंत द्रव्यो की अपेक्षा से दूर के देश में रहा है.... यावत् असंख्ययोजन दूर के देश में रहा है । एक, दो.. यावत् असंख्ययोजन पास के देश में रहा है । इसलिए देशतः घट में भी निकटता - दूरता आदि अनंता स्वरूप पर्याय होते है ।

अथवा वह घट दूसरी वस्तु की अपेक्षा से पूर्वदिशा में है । (उससे) अन्यवस्तु की अपेक्षा से पश्चिम दिशा में है... इत्यादि तरह से सोचने से दिशा और विदिशा के आश्रय में (घट में) दूरता-आसन्नता की अपेक्षा से असंख्य स्वपर्याय है । (सारांश में, दिक्कृत परत्व-अपरत्व की अपेक्षा से अनंता स्व-पर्याय है । कालकृत परत्व-अपरत्व की अपेक्षा से भी घट में अनंता स्वधर्म होते है । वे अब बताते है ।) कालतः परत्व-अपरत्व द्वारा सर्वद्रव्य से क्षण-लव-घडी-दिन-मास-वर्ष-युगादि इत्यादि वर्षो की अपेक्षा से घट में पूर्वत्व और परत्व होने के कारण अनंतभेद होते है । इसलिए घट के कालकृत परत्व-अपरत्वतः अनंता स्व-धर्म है । कहने का मतलब यह है कि यह घट एक वस्तु से एक क्षण पूर्व का या पीछे का है, वही घट दूसरी वस्तु से दो क्षण पूर्व का या बाद का है, वही घट अन्य वस्तु से एक दिन पूर्व का या पीछे का है । इस तरह से क्षणादि कालो के द्वारा अनंत द्रव्यो से घट में परत्व-अपरत्व का व्यवहार होता है । इसलिए घट के कालकृत परत्व-अपरत्वतः अनंता स्व-धर्म है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानतोऽपि **घटस्य ग्राहकैः सर्वजीवानामनन्तैर्मत्यादिज्ञानैर्विभङ्गाद्यज्ञानैश्च स्पष्टास्पष्ट-स्वभावभेदेन ग्रहणाद्ग्राह्यस्याप्यवश्यं स्वभावभेदः सम्भवी, अन्यथा तद्ग्राहकाणामपि स्वभावभेदो न स्यात्तथा च तेषामैक्यं भवेत् । ग्राह्यस्य स्वभावभेदे च ये स्वभावाः ते स्वधर्माः । सर्वजीवानामपेक्षयाल्पबहुबहुतराद्यनन्तभेदभिन्नसुखदुःखहानोपादानोपेक्षागोचरेच्छापुण्यापुण्य-कर्मबन्धचित्तादिसंस्कारक्रोधाभिमानमायालोभरागद्वेषमोहाद्युपाधिद्रव्यत्वलुठनपतनादिवेगादीनां कारणत्वेन सुखादीनामकारणत्वेन वा घटस्यानन्तधर्मत्वम् । स्नेहगुरुत्वे तु पुरापि स्पर्शभेदत्वेन प्रोचाने ।** कर्मतश्चोत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणभ्रमणस्यन्दनरेचनपूरण-चलनकम्पनान्यस्थानप्रापणजलाहरणजलादिधारणादिक्रियाणां तत्तत्कालभेदेन तरतमयोगेन वानन्तानां हेतुत्वेन घटस्यानन्ताः क्रियारूपाः स्वधर्माः, तासां क्रियाणामहेतुभ्योऽन्येभ्यो व्यावृत्तत्वेनानन्ताः परधर्माश्च । सामान्यतः पुनः प्रागुक्तनीत्यातीतादिकालेषु ये ये विश्ववस्तू-नामनन्ताः स्वपरपर्याया भवन्ति तेष्वेकद्वित्र्याद्यनन्तपर्यन्तधर्मैः सदृशस्य घटस्यानन्त-भेदसादृश्यभावेनानन्ताः स्वधर्माः । विशेषतश्च घटोऽनन्तद्रव्येष्व-परापरापेक्षयैकेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा यावदनन्तैर्वा धर्मैर्विलक्षण इत्यनन्तप्रकारवैलक्षण्यहेतुका अनन्ताः स्वधर्माः, अनन्तद्रव्यापेक्षया च घटस्य स्थूलताकृशतासमताविषमतासूक्ष्मताबादरतातीव्रताचाक-चिक्यतासौम्यतापृथुतासङ्कीर्णतानीचतोच्चताविशालमुखतादयः प्रत्येकमनन्तविधाः स्युः । ततः स्थूलतादिद्वारेणाप्यनन्ता धर्माः ।

व्याख्या का भावानुवाद :

(अब ज्ञानतः घट की विवक्षा की जाती है ।) ज्ञान की दृष्टि से भी अनंतजीवो के अनंत प्रकार के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि तथा विभंगज्ञानादि - ग्राहकज्ञानो के द्वारा स्पष्ट या अस्पष्ट स्वभाव के भेद से घट का ग्रहण होता है । इसलिए ग्राह्य ऐसे घट के भी स्वभावभेद अवश्य संभवित होते है । कहने का मतलब यह है कि सर्वजीवो के क्षयोपशम की तरतमता के कारण मतिज्ञानादि ज्ञानो की तथा विभंग आदि अज्ञानो की भी तरतमता होती है । इसलिए उस ज्ञान-अज्ञान के अनंता भेद है । वे सभी अनंता ज्ञानो (ग्राहको) का विषय घट बनता है । इसलिए ग्राहकज्ञानो में स्वभाव भेद होने के कारण ग्राह्य घट में भी स्वभावभेद स्वीकार करना ही पडेगा । अन्यथा (ग्राह्य में भेद नहि मानोंगे तो ग्राहकज्ञानो में भी स्वभावभेद नहीं रहेगा । अर्थात् विषय में भेद स्वीकार नहीं किया जायेगा, तो ज्ञानो में भी भेद नहि पडेगा । इससे सिद्ध होता है कि, सर्व जीवो के अनंतज्ञानो में स्वभावभेद होने के कारण ग्राह्य ऐसे घट का भी स्वभावभेद है ही । ग्राह्य घट के स्वभावभेद में जो स्वभाव है वे सर्वघट के स्व-धर्म है । अर्थात् ग्राहक अनंतज्ञान की अपेक्षा से ग्राह्यघट में अनंत स्वभाव है और वे सभी उसके स्व-धर्म है ।

सर्व जीवो की अपेक्षा से घट अल्प, बहु, बहुतरादि अनंतभेद से भिन्न-भिन्न सुख-दुःख का कारण बनता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होने से हान-उपादान और उपेक्षा का विषय बनता होने से, इच्छा का विषय बनता होने से पुण्य-पाप कर्मबंध का कारण बनता होने से, क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेष-मोहादि-विकारो को (उपाधियों को) उत्पन्न करने में मूलभूतद्रव्य बनता होने से आलोटन, पतन, भ्रमण आदि तथा पतनादि का कारण बनता होने से **अथवा** सुखादि का कारण बनता होने से, घट के अनंतधर्म होते है। अर्थात् घट अनंतधर्मात्मक है। कहने का मतलब यह है कि सर्वजीवो की अपेक्षा से किसीको घट अल्पसुख का कारण है, तो किसीको ज्यादा सुख का कारण बनता है। किसीको अति-अति सुख का कारण बनता है, किसीको दुःख का कारण बनता है। किसीको त्याज्य (छोडनेका) विषय बनता है, किसीको ग्राह्य (ग्रहण) करने में, तो किसीकी उपेक्षा का विषय बनता है, किसीकी इच्छा का आलंबन बनता है, तो किसीके पुण्य-पापकर्म बंध में निमित्त बनता है। किसीके चित्त में सत्संस्कार पैदा करता है तो किसीके चित्त में असत् संस्कारो को पैदा करता है,। किसीको क्रोध, किसीको मान, किसीको माया, किसीको लोभ, किसीको राग-द्वेष-मोह पैदा कराता है। किसीको नीचे गिराता है। इत्यादि का कारण बनता होने से घट के अनंतधर्म है।

स्नेह और गुरुत्व पहले बताये गये स्पर्श के ही भेद होने से उसकी अपेक्षा से स्व-पर धर्म कहे ही गये है।

कर्म (क्रिया) की अपेक्षा से घट के अनंता क्रियारुप स्व-धर्म है। उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, भ्रमण, स्यंदन, रेचन, पूरण, चलन, कंपन, अन्य स्थान प्रापण, जलाहरण, जलादिधारण आदि अनंतक्रियाओं का घट उस उस काल के भेद से अथवा तरतमता के योग से कारण होने के कारण घट के अनंताक्रियारुप स्व-धर्म है। कहने का आशय यह है कि सुवर्ण का घट उंचे फेंक सकते है, नीचे फेंक सकते है; घट को आकार दिया जा सकता है, यहां वहां ले के जाया जा सकता है। इत्यादि असंख्य क्रियायें घटमें होती है। इसलिए असंख्यक्रियाओं का घट कारण होने से वे उसके स्वधर्म है। अर्थात् अनेक स्वभाववाला है। क्रिया के तीनो काल की अपेक्षा से तथा धीरे से जोर से मध्यमरुप से ऐसे तरतमता की अपेक्षा से अनंतभेद हो सकते है। इसलिए घट वह क्रियाओं का हेतु होने से उसके अनंता स्व-धर्म है। उस क्रियाओ में अहेतुभूत अन्य अनंता द्रव्यो से घट की व्यावृत्ति होती होने से घट के पर-धर्म भी अनंता है।

वैसे ही, **सामान्य (सादृश्य) की अपेक्षा से पहले कही हुई नीति अनुसार अतीतादि कालो में जो जो जगत के पदार्थो के अनंता स्व-पर पर्याय होते है।** उसमें अन्य पदार्थो से भी घट की एक, दो आदि अनेक धर्मो के द्वारा समानता मिल सकती है। इसलिए सादृश्यरुप सामान्य की अपेक्षा से घट में स्व-पर्याय सोचने चाहिए।

विशेषतः घट का विचार करे तो घट अनंत द्रव्यो में रहे हुए अपर-अपर धर्म की अपेक्षा से एक, दो, तीन.... यावत् अनंत धर्मो से विलक्षण है। इसलिए घट में अनंत पदार्थो से विलक्षणता सिद्ध करने में कारणभूत अनंताधर्म विद्यमान है। वे सभी घट के स्व-धर्म है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनंत द्रव्यो की अपेक्षा से घट में स्थूलता, कृशता, समानता, विषमता, सूक्ष्मता, बादरता, तीव्रता, चाकचिक्यता (चमकनापन) सौम्यता, पृथुता, संकीर्णता, नीचता, उच्चता, विशालमुखता इत्यादि प्रत्येकधर्मो की अपेक्षा से अनंताधर्म होते है। कहने का मतलब यह है कि, उस घट में किसी द्रव्य की अपेक्षा से स्थूलता, किसी द्रव्य की अपेक्षा से कृशता, किसीकी अपेक्षा से समानता, किसी की अपेक्षा से विषमता... इस प्रकार उपर बताये हुए अनेक धर्म रहे हुए है। इसलिए घट के अनंता स्वधर्म है। सारांश में स्थूलता आदि के द्वार से (स्थूलता आदि धर्मो के द्वार से सोचने से भी) घट के अनंताधर्म है।

सम्बन्धत**स्त्वनन्तकालेनानन्तैः परैर्वस्तुभिः समं प्रस्तुतघटस्याधाराधेयभावोऽनन्तविधो भवति, ततस्तदपेक्षयाप्यनन्ताः स्वधर्माः । एवं स्वस्वामित्वजन्यजनकत्वनिमित्तनैमित्तिकत्व-षोढाकारकत्वप्रकाश्यप्रकाशकत्वभोज्यभोजकत्ववाह्यवाहकत्वाश्रयाश्रयिभाववध्यवधकत्वविरोध्य-विरोधकत्वज्ञेयज्ञापकत्वादिसङ्ख्यातीतसम्बन्धैरपि प्रत्येकमनन्ता धर्मा ज्ञातव्याः । तथा ये येऽत्र घटस्य स्वपरपर्याया अनन्तानन्ता ऊचिरे, तेषामुत्पादा विनाशाः स्थितयश्च पुनः पुनर्भवनेनानन्तकालेनानन्ता अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च, तदपेक्षयाप्यनन्ता धर्माः । एवं पीतवर्णादारभ्य** भावतोऽनन्ता धर्माः ।

व्याख्या का भावानुवाद :

संबंधतः घट की विवक्षा करने से अनंतकाल की अपेक्षा से अनंता पर-पदार्थो के साथ प्रस्तुत घट का आधार-आधेयभाव अनंतप्रकार का होता है। अर्थात् अनंतकाल की अपेक्षा से सोचे तो घट अनंतीबार आधार या आधेय बना होगा। इसलिए घट के आधार-आधेयभाव अनंत प्रकार के होते है। इसलिए अनंतकाल की अपेक्षा से आधार-आधेयभाव की दृष्टि से भी घट के अनंता स्वधर्म है।

इस अनुसार से स्व-स्वामित्व, जन्य-जनकत्व, निमित्त-नैमित्तिकत्व, पानी लाना आदि पदार्थो से कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान आदि छः कारकरुप संबंध, प्रकाश्य-प्रकाशकत्व, भोज्य-भोजकत्व, वाह्य-वाहकत्व, आश्रय-आश्रयिभाव, वध्य-वधकत्व, विरोध्य-विरोधकत्व, ज्ञेय-ज्ञापकत्व, इत्यादि संख्यातीत संबंधो के द्वारा भी प्रत्येक के अनंताधर्मो को जानना। कहने का मतलब यह है कि.... सुवर्ण के घट का अपने स्वामि के साथ स्वस्वामिसंबंध, घट उत्पन्न करनेवाले सुवर्णकार (सुनार) के साथ जन्य-जनकभाव संबंध, उस घट के स्वामि में यह धनवान है ऐसे व्यवहार में निमित्त होने से अथवा कुंअेमें से पानी खिंचने में निमित्त होने से उसके साथ निमित्त-नैमित्तिकभाव संबंध, कोई पानी आदि लाने के पदार्थो से कर्ता, कर्म, करण आदि छः कारकरुप संबंध, दीपक आदि से प्रकाश्य-प्रकाशकभाव संबंध, जिसके उपभोग में आता है, उस भोक्ता से भोज्य-भोजकभाव संबंध, वह पानी दूध आदि पदार्थो को लाने में मददरुप होने से उसके साथ वाह्य-वाहकभाव संबंध, जिसको स्थान के उपर रखा जाता है या उसमें जो चीज रखी जाती है उससे आश्रय-आश्रयि (आधार-आधेय) भाव संबंध, जो घडे को तोडता है या वह घट किसीको मस्तकके उपर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लगने से यातना देता है, उससे वध्यवधकभाव संबंध, उस घट के कारण जिससे विरोध होता है या उस घट में रखी हुई वस्तु खराब होती है, उसके योग से विरोध्य-विरोधकभाव संबंध, वह घट ज्ञान का विषय बनता होने से ज्ञान के साथ ज्ञेयज्ञापकभाव संबंध, इत्यादि संख्यातीत संबंध है। उन संबंधो की अपेक्षा से (प्रत्येक =) एक घट में अनंतस्वभाव होते है।

इस अनुसार से जो जो अनंतानंत स्व-पर पर्याय कहे, वे सभी का उत्पाद, विनाश और स्थिति बारबार होती होने से अनंतकाल की अपेक्षा से (सर्व पर्याय) हुए थे, होते हैं और होंगे.. इसलिए तीन काल की अपेक्षा से (उत्पाद, विनाश स्थितिरुप त्रिपदी से भी) घट में अनंता धर्म है। कहने का मतलब यह है कि पहले कहे हुए घट के अनंता स्व पर्याय अनंतकाल की अपेक्षा से उत्पन्न हुए थे, उत्पन्न होते है और उत्पन्न होंगे, इसलिए उत्पाद-विनाश-ध्रुवरुप त्रिपदी से भी अनंताधर्म घट में है।

इस अनुसार से (घट की **भावतः** विवक्षा करने से) पीतवर्ण से आरंभ करके भावतः घट के अनंताधर्म होते है। अर्थात् भावतः घट की अनंतधर्मात्मकता सिद्ध होती है। इस तरह से एक ही घट में स्वधर्मो की अपेक्षा से अस्तित्व और परधर्मो की अपेक्षा से नास्तित्व है।

तथा द्रव्यक्षेत्रादिप्रकारैर्ये ये स्वधर्माः परधर्माश्चाचचक्षिरे तैरुभयैरपि युगपदादिष्टो घटोऽवक्तव्यः स्यात्, यतः कोऽपि स शब्दो न विद्यते येन घटस्य स्वधर्माः परधर्माश्चोच्यमाना द्वयेऽपि युगपदुक्ता भवन्ति, शब्देनाभिधीयमानानां क्रमेणैव प्रतीतेः, सङ्केतितोऽपि शब्दः क्रमेणैव स्वपरधर्मान् प्रत्याययति, न तु युगपत्, "शतृशानचौ सत्" इति शतृशानचोः सङ्केतितसच्छब्दवत्, ततः प्रतिद्रव्यक्षेत्रादिप्रकारं घटस्यावक्तव्यतापि स्वधर्मः स्यात्, तस्य चानन्तेभ्यो वक्तव्येभ्यो धर्मेभ्योऽन्यद्रव्येभ्यश्च व्यावृत्तत्वेनानन्ता अवक्तव्याः परधर्मा अपि भवन्ति । तदेवमनन्तधर्मात्मकत्वं यथा घटे दर्शितं, तथा सर्वस्मिन्नप्यात्मादिके वस्तुनि भावनीयम् । तत्राप्यात्मनि तावच्चैतन्यं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं प्रमातृत्वं प्रमेयत्वममूर्तत्वमसङ्ख्यातप्रदेशत्वं निश्चलाष्टप्रदेशत्वं लोकप्रमाणप्रदेशत्वं जीवत्व-मभव्यत्वं भव्यत्वं परिणामित्वं स्वशरीरव्यापित्वमित्यादयः सहभाविनो धर्माः, हर्षविषादौ सुखदुःखे मत्यादिज्ञानचक्षुर्दर्शनादिदर्शनोपयोगौ देवनारकतिर्यग्नरत्वानि शरीरादितया परिणमितसर्वपुद्गलत्वमनाद्यनन्तत्वं सर्वजीवैः सह सर्वसम्बन्धवत्त्वं संसारित्वं क्रोधा-द्यसङ्ख्याध्यवसायवत्त्वं हास्यादिषट्कं स्त्रीपुंनपुंसकत्वमूर्खत्वान्धत्वादीनीत्यादयः क्रमभाविनो धर्माः मुक्तात्मनि तु सिद्धत्वं साद्यनन्तत्वं ज्ञानदर्शनसम्यक्त्वसुखवीर्याण्यनन्तद्रव्यक्षेत्र-कालसर्वपर्यायज्ञातृत्वदर्शित्वानिअशरीरत्वमजरामरत्वमरूपरसगन्धस्पर्शशब्दत्वानि निश्चलत्वं नीरुक्त्वमक्षयत्वमव्याबाधत्वं प्राक्संसारावस्थानुभूतस्वस्वजीवधर्माश्चेत्यादयः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या का भावानुवाद :

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इत्यादि प्रकारो के द्वारा घट के जो जो स्व-धर्म और पर-धर्म कहे गये, वे उभयधर्मो के द्वारा घट को एक साथ बोलने के लिए संभव नहीं है। अर्थात् उभय धर्मो की अपेक्षा से शब्द से घट अवक्तव्य है। क्योंकि कोई भी ऐसा शब्द विद्यमान नहीं है कि जिससे घट के कहे जाते स्व-पर दोनो धर्म भी एक साथ कहे हुए होते है। अर्थात् कोई भी ऐसा शब्द नहीं है कि घट के सर्व स्व-पर धर्मो का कथन एक साथ कर सके। क्योंकि शब्द के द्वारा कहे जाते धर्म क्रमशः ही प्रतीत होते है।

(शब्द की प्रवृत्ति संकेतानुसार होती है। फिर भी) संकेतित शब्द भी क्रम से ही स्व-पर धर्मो को बताते है। युगपत् (एकसाथ) नहीं। जैसे कि... **शतृ** और **शानच्** का संकेतित **सत्** शब्द। (कहने का मतलब यह है कि शब्द की प्रवृत्ति संकेत के अनुसार से होती है। इसलिए कहा जा सकता है कि "जैसे **शतृ** और **शानच्** दोनो प्रत्ययो की **सत्** संज्ञा दोनो भी प्रत्ययो का कथन करती है। उसी ही तरह से दोनो धर्मो का जो शब्द का संकेत किया जाता है, उसके द्वारा दोनो धर्मो का युगपत् कथन हो जायेगा। परंतु यह बात उचित नहीं है क्योंकि **शतृ** और **शानच्** की **सत्** संज्ञा दोनो प्रत्ययो का क्रम से ही ज्ञान कराती है। युगपत् नहि। इसलिए संकेत करने पर भी शब्द द्वारा दोनो धर्मो का प्रधानरुप से कथन नहीं हो सकता।

इसलिए (प्रति द्रव्य-क्षेत्र-कालादि की अपेक्षा से घट में रहे हुए स्व-पर धर्मो को एकसाथ कहने की इच्छा होने पर भी युगपत् कथन करनेवाला शब्द न होने से) घट में प्रतिद्रव्य-क्षेत्रादि की अपेक्षा से रहे हुए तमाम स्व-पर धर्मो के प्रकारो की अवक्तव्यता है। अर्थात् घट में रहे हुए स्व-पर धर्म अवक्तव्य होने के कारण घट में रही हुई अवक्तव्यता भी (घट का) स्वधर्म होती है। उस अवक्तव्य घट की अनंता वक्तव्यधर्मो से तथा अनंताद्रव्यो से व्यावृत्ति होती होने के कारण (घट के)इस तरह से अनंता परधर्म भी होते है।

घट में जिस अनुसार से अनंतधर्मात्मकता बताई गई, उस अनुसार से सभी आत्मादि पदार्थो में अनंत धर्मात्मकता सोच लेना।

आत्मा में भी चैतन्य, (कर्मो का) कर्तृत्व, (कर्मो का) भोक्तृत्व, (जगत के पदार्थो का ज्ञान पाने स्वरुप) प्रमातृत्व, (प्रमाका (ज्ञानका) विषय होने के कारण) प्रमेयत्व, (रुपादि का अभाव होने से) अमूर्तत्व, (असंख्यात आत्मप्रदेश होने से) असंख्यातप्रदेशत्व, (वे असंख्यात आत्मप्रदेशो में से आठ आत्मप्रदेश ऐसे है कि जिसके उपर कर्मबंध होता नहीं है। कर्मबंध में कारणभूत चंचलता का अभाव उस आठ आत्मप्रदेशो में होने से) निश्चल-अष्टप्रदेशत्व, (तीन भवोपग्राहि कर्मो की स्थिति आयुष्यकर्म की स्थिति के समान करने के लिए किये जाते केवली समुद् घात में आत्मा के असंख्यातप्रदेश लोक में फैल जाते है। इसलिए लोकाकाश के जितने प्रदेश है उतने ही उसके प्रदेश होने से) लोकप्रमाणप्रदेशत्व, जीवत्व, (मोक्ष गमन की अयोग्यतारुप) अभव्यत्व, (मोक्षगमन की योग्यतारुप) भव्यत्व, (परिवर्तनशीलतारुप) परिणामीत्व (जो जो शरीर मिला हो, उस शरीर में फैल के रहने स्वरुप स्वशरीर व्यापित्व.. इत्यादि सहभावी धर्म होते है।

आत्मा में हर्ष-शोक, सुख-दुःख, मत्यादि ज्ञान- उपयोग, चक्षुःदर्शनादि दर्शन-उपयोग, देव-नारक-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तिर्यंच-मनुष्यत्व, शरीर आदि रुप से परिणत, (सर्व पुद्गल के साथ संबंध रखने स्वरुप) सर्व पुद्गलत्व, अनादि-अनंतत्व (सर्व जीवो के साथ सर्वसंबंध किये होने से) सर्वजीवो के साथ सर्वसंबंधवत्त्व, (चार गतिरुप संसार में परिभ्रमण करने स्वरुप) संसारित्व, (क्रोधादि असंख्य अध्यवसायो से विकृत होता होने से) क्रोधादि असंख्याताध्यवसायत्व, हास्य-रति-अरति-भय-शोक-जुगुप्सा आदि भावो का सद्भाव, स्त्रीत्व, पुरुषत्व, नपुंसकत्व, मूर्खत्व, अंधत्व, बधिरत्व इत्यादि क्रमभावीधर्म होते है।

मुक्तात्मा में सिद्धत्व, सादि-अनंतत्व, ज्ञान, दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, सुख, वीर्य, अनंत द्रव्य, क्षेत्र और काल में रहनेवाले समस्त पर्यायो का ज्ञातृत्व, दर्शित्व, अशरीरत्व, अजरामरत्व, अरुपत्व, अरसत्व, अगंधत्व, अस्पर्शत्व, अशब्दत्व (अर्थात् रुपादि से शून्य), निश्चलत्व, नीरुकत्व (रोगरहितत्व) अक्षयत्व, अव्याबाधत्व, संसार अवस्था में रहनेवाले जीवद्रव्य के अपने-अपने जीवत्व आदि सामान्यधर्मो की प्राप्ति करना... इत्यादि अनेक धर्म होते है।

धर्माधर्माकाशकालेष्वसङ्ख्यासङ्ख्यानन्तप्रदेशाप्रदेशत्वं सर्वजीवपुद्गलानां गतिस्थित्यवगाहवर्तनोपग्राहकत्वं तत्तदवच्छेदकावच्छेद्यत्वमवस्थितत्वमनाद्यनन्तत्वमरूपित्वमगुरुलघुतैकस्कन्धत्वं मत्यादिज्ञानविषयत्वं सत्त्वं द्रव्यत्वमित्यादयः, पौद्गलिकद्रव्येषु घटदृष्टान्तोक्तरीत्या स्वपरपर्यायाः शब्देषु चोदात्तानुदात्तस्वरितविवृतसंवृतघोषवदघोषतात्पप्राणमहाप्राणताभिलाप्यानभिलाप्यार्थवाचकावाचकताक्षेत्रकालादिभेदहेतुकतत्तदनन्तार्थप्रत्यायनशक्त्यादयः, आत्मादिषु च सर्वेषु नित्यानित्यसामान्यविशेषसदसदभिलाप्यानभिलाप्यत्वात्मकता परेभ्यश्च वस्तुभ्यो व्यावृत्तिधर्माश्चावसेयाः। आह-ये स्वपर्यायास्ते तस्य सम्बन्धिनो भवन्तु, ये तु परपर्यायास्ते विभिन्नवस्त्वाश्रयत्वात्कथं तस्य सम्बन्धिनो व्यपदिश्यन्ते ? उच्यते, इह द्विधा सम्बन्धोऽस्तित्वेन नास्तित्वेन च। तत्र स्वपर्यायैरस्तित्वेन सम्बन्धः यथा घटस्य रूपादिभिः। परपर्यायैस्तु नास्तित्वेन सम्बन्धस्तेषां तत्रासम्भवात्, यथा घटावस्थायां मृद्रूपतापर्यायेण, यत एव च ते तस्य न सन्तीति नास्तित्वसंबन्धेन सम्बद्धाः, अत एव च ते परपर्याया इति व्यपदिश्यन्ते। ननु ये यत्र न विद्यन्ते ते कथं तस्येति व्यपदिश्यन्ते, न खलु धनं दरिद्रस्य न विद्यत इति तत्तस्य सम्बन्धि व्यपदेष्टुं शक्यम्, मा प्रापल्लोकव्यवहारातिक्रमः, तदेतन्महामोहमूढमनस्कतासूचकं, यतो यदि नाम ते नास्तित्वसम्बन्धमधिकृत्य तस्येति न व्यपदिश्यन्ते, तर्हि सामान्यतस्ते परवस्तुष्वपि न सन्तीति प्राप्तम्, तथा च ते स्वरूपेणापि न भवेयुर्न चैतद्दृष्टमिष्टं वा, तस्मादवश्यं ते नास्तित्वसम्बन्धमधिकृत्य तस्येति व्यपदेश्याः, धनमपि च नास्तित्वसम्बन्धमधिकृत्य दरिद्रस्येति व्यपदिश्यत एव, तथा च लोके वक्तारो भवन्ति "धनमस्य दरिद्रस्य न विद्यते" इति। यदपि चोक्तं "तत्तस्येति व्यपदेष्टुं न शक्यं" इति, तत्रापि तदस्तित्वेन तस्येति व्यपदेष्टुं न शक्यं, न पुनर्नास्तित्वेनापि, ततो न कश्चिल्लोकव्यवहारातिक्रमः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या का भावानुवाद :

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल में क्रमशः असंख्यातप्रदेशत्व, असंख्यातप्रदेशत्व, अनंतप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व धर्म है तथा सर्वजीव और पुद्गलो का गत्युपग्राहकत्व, स्थित्युपग्राहकत्व, अवगाहोपग्राहकत्व, वर्तनापरिणमन धर्म है। तथा अवच्छेदकावच्छेद्यकत्व (अर्थात् भिन्न-भिन्न पदार्थो की अपेक्षा से घटाकाश-मठाकाश, घटकाल - प्रातःकाल इत्यादि व्यवहारो का पात्र बनाना।) अवस्थितत्व (अवस्थित रहना), अनादि-अनंतत्व, अरुपित्व, अगुरुलघुता, एकस्कंधत्व, मत्यादिज्ञानविषयत्व, सत्त्व (सता), द्रव्यत्व इत्यादि अनेक धर्म होते है।

पुद्गल द्रव्य में घट के दृष्टांत में कहे अनुसार से अनंता स्व-पर धर्म होते है। शब्दो में उदात्तत्व, अनुदात्तत्व, स्वरितत्व, विवृतत्व, संवृतत्व, घोषता, अघोषता, अल्पप्राणता, महाप्राणता, अभिलाप्यत्व, अनभिलाप्यत्व, अर्थवाचकता, अर्थावाचकता, भिन्न-भिन्न क्षेत्रो में और भिन्न-भिन्न समयो में भिन्न-भिन्न भाषाओ के अनुसार से अनंतपदार्थो का कथन करने के शक्ति रखना इत्यादि अनेकधर्म है।

आत्मादि सर्वद्रव्यो में नित्यत्व, अनित्यत्व, सामान्य, विशेष, सत्त्व,असत्त्व, अवक्तव्यत्व, वक्तव्यत्व तथा अनंत पदार्थो से व्यावृत्त होने का स्वभाव अर्थात् अनंता व्यावृत्तिधर्मो का सद्भाव जानना।

शंका : (वस्तुके) जो स्वपर्याय है, वे सभी उसके संबंधी चाहे हो, परंतु जो पर-पर्याय है, कि जो विभिन्न वस्तुओ में रहे हुए होने से किस तरह से उसका संबंधी के रुप में व्यपदेश किया जा सके ?। अर्थात् घट के अपने स्वरुप आदि की अपेक्षा से "अस्तित्व" तो उसका धर्म हो सकता है। परंतु पट आदि पर पदार्थो का नास्तित्व तो पट आदि परपदार्थो को अधीन है। इसलिए उसको घट का धर्म किस तरह से कहा जा सकता है ?

समाधान : वस्तु में पर्यायो का संबंध दो प्रकार से है। एक अस्तित्व रुप से और दूसरा नास्तित्व रुप से। उसमें वस्तु का स्व-पर्यायो के साथ अस्तित्व संबंध है। जैसे कि, घट का रुपादि पर्यायो के साथ का संबंध **तथा** घट का पर पर्यायो के साथ नास्तित्व संबंध है। क्योंकि विवक्षित वस्तु में उस परपर्यायो का संभव नहीं है। (इसलिए नास्तित्व रुप से संबंध है।) जैसे कि घटाकार अवस्था में मृद्रुपता पर्याय के साथ संबंध नहीं है। क्योंकि वे पर्याय (वर्तमान में) उसके नहीं है। इसलिए वे पर्याय नास्तित्वसंबंध से वस्तु के साथ जुडे हुए है और इसलिए उस पर्यायो का पर-पर्यायो के रुप में व्यपदेश किया जाता है। (सारांश में, जो कारण से वे पर-पर्याय उस पदार्थ में रहते नहीं है, असत् है, उसी कारण से वे पर-पर्याय कहे जाते है। यदि वे पर्याय वस्तु में अस्तित्व रखते होते तो वस्तु के स्व-पर्याय ही कहे जाते। तथा पर की अपेक्षा से नास्तित्व नाम का धर्म तो घट आदि वस्तुओ में ही देखने को मिलेगा और यदि घट पटरुप से असत् न हो तो वह पटरुप ही बन जायेगा, कि जो आपको भी इष्ट नहीं है। इसलिए पर-पर्यायो से वस्तु का नास्तित्वरुप संबंध मानना ही चाहिए।)

शंका : जो पर्याय जिस वस्तु में विद्यमान ही नहीं है, तो किस तरह से वे पर्याय उस वस्तु के पर्याय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, इस अनुसार से व्यपदेश किया जा सके। जैसे कि, दरिद्र को (गरीब को) धन होता नहीं है, इसलिए धन को दरिद्र के संबंधी के रुप में व्यपदेश करने के लिए संभव नहीं है। अर्थात् दरिद्र के पास धन न होने से "दरिद्र का धन" ऐसा व्यवहार होता नहीं है। (तथा जो वस्तु जिसमें देखने को मिलती नहीं है वह विरुद्ध है।) इसलिए वस्तु में पर पर्यायो का व्यपदेश करने से लोक व्यवहार का अतिक्रम हो जायेगा।

समाधान : आपकी यह शंका महामूर्खता और पागलपन की सूचक है। क्योंकि यदि वे पर-पर्याय व्यपदेश संबंध के आश्रय से उस घट के है, इस अनुसार से व्यपदेश किया नहीं जायेगा, तो, सामान्यतः वे पर-पर्याय परवस्तुओ में भी प्राप्त किये नहीं जायेंगे - रह नहीं सकेंगे, क्योंकि परवस्तु में तो वे स्व-पर्यायरुप से ही रहते है। सामान्यपर्याय बन के नहीं। (इसलिए जब घट में तथा अन्य परवस्तुओ में उसका संबंध न रहे, तो उसको पर्याय ही किस तरह से कहा जा सकेगा ?) परंतु उसका पर्याय के रुप में अस्वीकार तो इष्ट नहीं है और ऐसा अनुभव का विषय भी नहीं है। इसलिए वे पर-पर्याय नास्तित्वसंबंध का आश्रय करके धन के है, इस अनुसार से व्यपदेश करना चाहिए। तथा धन भी नास्तित्वसंबंध का आश्रय करके दरिद्र का है, । इस प्रकार से व्यपदेश किया जा सकता है। इसलिए ही जगत में कहा जाता है कि.. "इस दरिद्र को धन विद्यमान नहीं है।" उपरांत "वह उसका संबंधी है इस अनुसार से व्यपदेश करने के लिए संभव नहीं है" इस अनुसार जो आपने कहा था, उसमें भी जान लेना कि अस्तित्वरुप से धन दरिद्र का संबंधी है, ऐसा व्यपदेश करना संभव नहीं है, परंतु नास्तित्वरुप से तो धन दरिद्र का संबंधी होने से नास्तित्वरुप से धन को दरिद्र के संबंधी के रुप में व्यपदेश का निषेध करना उचित नहीं है। इसलिए एक ही वस्तु में अस्तित्वरुप से स्वपर्याय का और नास्तित्वरुप से परपर्यायो का व्यपदेश करने में लेशमात्र लोकव्यवहार का अतिक्रम होता नहीं है।

ननु **नास्तित्वमभावोऽभावश्च तुच्छरूपस्तुच्छेन च सह कथं सम्बन्धः, तुच्छस्य सकलशक्तिविकलतया सम्बन्धशक्तेरप्यभावात्। अन्यच्च, यदि परपर्यायाणां तत्र नास्तित्वं, तर्हि नास्तित्वेन सह सम्बन्धो भवतु, परपर्यायैस्तु सह कथं सम्बन्धः, न खलु घटः पटाभावेन सम्बद्धः पटेनापि सह सम्बन्धो भवितुमर्हति, तथाप्रतीतेरभावात्,** तदेतदसमीचीनं, **सम्यग्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्,** तथाहि-**नास्तित्वं नाम तेन तेन रूपेणाभवनमिष्यते तेन तेन रूपेणाभवनं च वस्तुनो धर्मः, ततो नैकान्तेन तत्तुच्छरुपमिति न तेन सह सम्बन्धाभावः। तेन तेन रुपेणाभवनं च तं तं पर्यायमपेक्ष्यैव भवति नान्यथा,** तथाहि-**यो यः पटादिगतः पर्यायः तेन तेन रूपेण मया न भवितव्यमिति सामर्थ्याद् घटस्तं तं पर्यायमपेक्ष्यते इति सुप्रतीतमेतत्, ततस्तेन तेन पर्यायेणाभवनस्य तं तं पर्यायमपेक्ष्य सम्भवात्तेऽपि परपर्यायास्तस्योपयोगिन इति तस्येति व्यपदिश्यन्ते। एवंरूपायां च विवक्षायां पटोऽपि घटस्य सम्बन्धी भवत्येव, पटमपेक्ष्य घटे पटरूपेणाभवनस्य भावात्, तथा च लौकिका अपि घटपटादीन् परस्परमितरेतराभावमधिकृत्य सम्बद्धान् व्यवहरन्तीत्यविगीतमेतत्, इतश्च ते**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर्यायास्तस्येति व्यपदिश्यन्ते, स्वपर्यायविशेषणत्वेन तेषामुपयोगात् । इह ये यस्य स्वपर्यायविशेषकत्वेनोपयुज्यन्ते ते तस्य पर्यायाः, यथा घटस्य रूपादयः पर्यायाः परस्परविशेषकाः । उपयुज्यन्ते च घटस्य पर्यायाणां विशेषकतया पटादिपर्यायाः, तानन्तरेण तेषां स्वपर्यायव्यपदेशाभावात्, तथाहि - **यदि ते परपर्याया न भवेयुः तर्हि घटस्य स्वपर्यायाः स्वपर्याया इत्येवं न व्यपदिश्येरन्, परापेक्षया स्वव्यपदेशस्य सद्भावात्, ततः स्वपर्यायव्यपदेशकारणतया तेऽपि परपर्यायास्तस्योपयोगिन इति तस्येति, व्यपदिश्यन्ते ।**

व्याख्या का भावानुवाद :

शंका : नास्तित्व अभावस्वरुप है। अभाव तुच्छरुप है और तुच्छ के साथ संबंध किस तरह से होगा। क्योंकि तुच्छवस्तु सकल शक्तियों से विकल होने के कारण उसमें संबंधशक्ति का भी अभाव ही है। दूसरा, यदि विवक्षित वस्तु में पर-पर्यायो का नास्तित्व है, तो विवक्षित वस्तु का नास्तित्व के साथ संबंध चाहे हो, परंतु पर-पर्यायो के साथ संबंध किस तरह से होगा ? पटाभाव के साथ संबद्ध-घट, पट के साथ संबंध करने के लिए योग्य बन सकता नहीं है। कहने का मतलब यह है, कि.. यदि घडे में पर-पर्यायो का नास्तित्व है, तो नास्तित्व नाम के धर्म से घट का संबंध माना जा सकता है, परंतु पर-पर्यायो के साथ संबंध नहीं माना जा सकता। यदि पटका अभाव घट में रहता है, तो पट के नास्तित्व से घट का संबंध है, परंतु उससे पट से भी घट का संबंध किस तरह से कहा जा सकेगा और ऐसे प्रकार की प्रतीति होती कहीं भी देखने को नहीं मिलती है। अर्थात् जो पदार्थ का अभाव जिसमें देखने को मिले, वह पदार्थ भी उसमें देखने को मिले वैसी प्रतीति होती नहीं है। इसलिए विवक्षित वस्तु में पर-पर्यायो का संबंध हो सकता नहीं है।

समाधान : आपकी शंका बिलकुल असमीचीन - मिथ्या है। क्योंकि सम्यग् वस्तु तत्त्व का आपको ज्ञान ही नहीं है। (हमारी बात उचित है और आपकी शंका मिथ्या है, वह) इस अनुसार से है-नास्तित्व यानी उस उस रुप में परिणमन न होना और उस उस अपरिणमन यह वस्तु का धर्म है। इसलिए नास्तित्व रुप अभाव एकांत से तुच्छरुप नहीं है। इसलिए उसके साथ संबंध हो, उसमें कोई दोष भी नहीं है और इसलिए तादृश वास्तविक धर्मरुप नास्तित्व का वस्तु के साथ का संबंध भी संगत होता है। वैसे ही, वस्तु का उस उस रुप से होता परिणमन, वस्तु के उस उस पर्याय के आश्रय से ही होता है, उस उस पर्याय के निरपेक्ष रुप से नहीं। वह इस तरह से है - "जो जो पटादि गत पर्याय है उस वह, रुप में मेरा परिणमन न होना" ऐसे प्रकार के सामर्थ्य से घट उस उस पर्यायो की अपेक्षा करता है ऐसा सुप्रतीत ही है। अर्थात् उस उस पटादिगत पर्यायो के आश्रय में ही कहे जाते है। इसलिए स्व की विवक्षा में पर--पर्यायो की अपेक्षा रहती ही होती है। इसलिए उस उस पर-पर्यायो के द्वारा अपरिणमन उस पर--पर्याय के आश्रय में ही संभवित है। इसलिए वे पर-पर्याय भी विवक्षितवस्तु को उपयोगी है। इसलिए ही उसका घट के पर्यायो के रुप में व्यपदेश किया गया है।

तथा ऐसे प्रकार की निषेध की विवक्षा में पट भी घट का संबंधी होता ही है। क्योंकि पट के आश्रय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से ही घट में पटरुप से अपरिणमन का सद्भाव है। अर्थात् घट पटरुप से परिणमित होता नहीं है, उसमें पट का स्व-पर्याय ही कारणभूत बनता होने से घट में पटरुप से अपरिणमन पट के आश्रय से ही है। अर्थात् घट पट नहीं है, ऐसी विवक्षा पट के आश्रय से ही होती है - उसमें पट की अपेक्षा है ही।

तदुपरांत, लोक में घट-पटादि के परस्पर के इतरेतराभाव के आश्रय से एक-दूसरे के संबंधी के रुप में व्यवहार होता है। अर्थात् **"घट पटरुप नहीं है"** या **"पट घटरुप नहीं है"** इस तरह से घट-पट का परस्पर अभाव इतरेतराभाव को निमित्त बनाकर लोक में घट और पट में नास्तित्वरुप संबंध का व्यवहार होता है। इसलिए यह बात अविगीत - निर्विवाद है।

"वे पर-पर्यायों उसके है" इस अनुसार से जो व्यपदेश किया जाता है, उसमें स्व-पर्यायों के भेदक के रुप में पर-पर्यायो का उपयोग होता है। कहने का मतलब यह है, कि घट को दूसरे पदार्थो से भिन्न करने के लिए प्रथम यह घट के पर्याय है तथा ये दूसरी वस्तुओ के पर्याय है कि जो घट के पर्यायो से भिन्न है। ऐसी विवक्षा हो तब ही घट दूसरे पदार्थो से भिन्न सिद्ध होता है। उसमें घट के स्वपर्यायो के भेदक पर-पर्याय ही बनते है। इसलिए घट के स्व-पर्यायो के भेदक के रुप में पर-पर्यायो का उपयोग होता ही है।

यहाँ जो **जिसके स्व-पर्याय के भेदक के रुप में उपयोगी होते है, वे उसके पर्याय ही होते है।** जैसे कि, **घट का परस्पर भेद करनेवाले रुपादि पर्याय।** वैसे ही घट के स्वपर्यायो के भेदक के रुप में पटादिपर्याय भी उपयोगी होते है। क्योंकि वे पटादिपर्यायो के बिना घट के स्वपर्यायों स्वपर्याय के रुप में व्यपदेश नहीं पा सकते। वह इस तरह-से यदि वे परपर्याय घट के न हो तो घट के स्वपर्याय स्वपर्याय के रुप में व्यपदेश नहीं पा सकते है। क्योंकि पर की अपेक्षा से ही स्व के व्यपदेश का सद्भाव होता है। इसलिए (विवक्षित घट-वस्तु के) स्व पर्याय के व्यपदेश का कारण होने से वे (पटादि गत) पर-पर्याय भी उसके उपयोगी बनते है। इसलिए वे परपर्यायो का भी घट के पर्यायो के रुप में व्यपदेश किया जाता है।

अपि च, सर्वं वस्तु प्रतिनियतस्वभावं, सा च प्रतिनियतस्वभावता प्रतियोग्यभावात्मकतोपनिबन्धना। ततो यावन्न प्रतियोगिविज्ञानं भवति तावन्नाधिकृतं वस्तु तदभावात्मकं तत्त्वतो ज्ञातुं शक्यते, तथा च सति पटादिपर्यायाणामपि घटप्रतियोगित्वात्तदपरिज्ञाने घटो न याथात्म्येनऽवगन्तुं शक्यत इति पटादिपर्याया अपि घटस्य पर्यायाः। तथा चात्र प्रयोगः- **यदनुपलब्धौ यस्यानुपलब्धिः स तस्य सम्बन्धी, यथा घटस्य रूपादयः, पटादिपर्यायानुपलब्धौ च घटस्य न याथात्म्येनोपलब्धिरिति ते तस्य 'सम्बन्धिनः। न चायमसिद्धो हेतुः, पटादिपर्यायरूपप्रतियोग्यपरिज्ञाने तदभावात्मकस्य घटस्य तत्त्वतो ज्ञातत्वायोगादिति, आह च भाष्यकृत्-**"जेसु अनाएसु तओ, न नज्जाए नज्जाए य नाएसु। किह तस्स ते न धम्मा, घडस्स रूवाइधम्मव्व ।।१।।" **तस्मात्पटादिपर्याया अपि घटस्य सम्बन्धिन इति। परपर्यायाश्च स्वपर्यायेभ्योऽनन्तगुणाः उभये तु स्वपरपर्यायाः सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाणाः। न चैतदनार्षं यत**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उक्तमाचाराङ्गे-"जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ । जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ।" **अस्यायमर्थः- य एकं वस्तूपलभते सर्वपर्यायैः स नियमात्सर्वमुपलभते, सर्वोपलब्धिमन्तरेण विवक्षितस्यैकस्य स्वपरपर्यायभेदभिन्नतया सर्वात्मनावगन्तुमशक्यत्वात्, यश्च सर्वं सर्वात्मना साक्षादुपलभते, स एकं स्वपरपर्यायभेदभिन्नं जानाति, अन्यत्राप्युक्त[अ]म्**-"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः । सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ।।१।।" **ततः सिद्धं प्रमेयत्वादनन्तधर्मात्मकत्वं सकलस्य वस्तुन** इति ।।५५।।

व्याख्या का भावानुवाद :

वैसे ही, सभी वस्तुयें प्रतिनियत स्वभाववाली होती है। सर्ववस्तुओ में रही हुई प्रतिनियत स्वभावता प्रतियोगि अभावात्मकता के कारण होती है । कहने का मतलब यह है कि... प्रत्येक वस्तु प्रतिनियतस्वभाववाली होती है। वह प्रतिनियत स्वभावता दूसरी वस्तु से भिन्न होने के कारण है। अर्थात् जगत की समस्त वस्तुयें अपने अपने प्रतिनियत स्वरुप में स्थित है, किसी भी वस्तु का स्वरुप दूसरी वस्तुओ से मिलता नहीं आता। इसलिए उस उस वस्तु का स्वरुप अपने-अपने स्वाधीन है। वस्तुओ का यह असाधारण स्वरुप जो वस्तुओसे उसका स्वरुप भिन्न रहता है, वे प्रतियोगिपदार्थो के अभाव बिना हो सकता नहीं है। अर्थात् वस्तु की प्रतिनियत स्वभावता प्रतियोगि के अभाव के कारण है। इसलिए जब तक प्रतियोगिका ज्ञान होता नहीं है, तब तक अधिकृत वस्तु उस प्रतियोगि के अभाव स्वरुप है, ऐसा तत्त्वतः जाना नहीं जा सकता और उस अनुसार से होने पर ही (अर्थात् वस्तु के यथावस्थित ज्ञान करने के लिए प्रतियोगि का ज्ञान आवश्यक होने पर ही) पटादि पर्याय भी घट के प्रतियोगि होने से उसके ज्ञान बिना घट यथावस्थित रुप से जानने के लिए संभव बनता नहीं है। इसलिए इस अनुसार से पटादि पर्याय भी घट के पर्याय ही है। अनुमान प्रयोग इस अनुसार से है - "जिसकी अनुपलब्धि में जिसकी अनुपलब्धि हो, वह उसका संबंधी है। जैसे कि, घट के रुपादि।" तथा पटादिपर्यायो की अनुपलब्धि में घट की यथावस्थित उपलब्धि होती नहीं है। इसलिए पटादि पर्याय घट के संबंधी है। उपरोक्त अनुमान प्रयोग में हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि पटादिपर्यायरुप प्रतियोगि के ज्ञान बिना पटादि-अभावात्मक घट के ज्ञातत्वका परमार्थ से अयोग है। अर्थात् पटादिपर्यायरुप प्रतियोगि के ज्ञान के बिना घट में पटादि का अभाव है, ऐसा परमार्थ से ज्ञान हो सकता नहीं है।

इस प्रकार अधिकृतवस्तु के यथावस्थित ज्ञान के लिए प्रतियोगि का ज्ञान आवश्यक है, इसलिए ही भाष्यकार श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणपूज्यश्रीने कहा है कि... **"जिसको जानने से जिसका ज्ञान होता है और जिसको नहीं जानने से जिसका ज्ञान होता नहीं है, उसे उसके धर्म क्यों न कहे जा सकते ? (कहे ही जा सकेंगे ।) जैसे कि घट के रुपादिधर्म ।"**

इसलिए पटादि पर्याय भी घट के संबंधी ही है। तथा पर-पर्याय का प्रमाण (अधिकृत-वस्तु के)

(अ) उद्धृतोऽयम् - तत्त्वोप० पृ - ९८ । न्यायवा० ता- टी. पृ-३७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्व-पर्यायो से अनंतगुना है। दोनो ही स्व-परपर्यायें सभी द्रव्यो में पाये जाते है, सभी द्रव्यो का स्वपर्याय तथा परपर्याय रुप से परिणमन होता है।

हमारी यह बात अनार्षीय भी नही है। अर्थात् पहले ऋषियों द्वारा कही गई ही है। क्योंकि श्री आचारांग सूत्र में कहा है कि..."**जो एक को जानता है वह सर्व को जानता है और जो सर्व को जानता है वह एक को जानता है।**" इस कथन का तात्पर्यार्थ इस अनुसार से है - जो एक वस्तु को स्व-पर सभी पर्यायो के द्वारा जानता है, वह नियम से सर्ववस्तुओ को जानता है, क्योंकि सर्व के ज्ञान बिना विवक्षित एक वस्तु का स्व-पर-पर्याय के भेद की भिन्नता से सर्व प्रकार से ज्ञान नहीं हो सकता है। तथा जो सर्व को सर्वप्रकार से साक्षात् जानता है, वह स्व-पर पर्याय के भेद से भिन्न एक वस्तु को जानता है। अन्यत्र भी कहा है कि "**जिसके द्वारा एक भाव सर्वथा देखा गया है, उसके द्वारा सर्वप्रकार से सर्वभाव देखे गये है। तथा जिसके द्वारा सर्वभाव सर्वथा देखे गये है, उसके द्वारा सर्वप्रकार से एक भाव देखा गया है।**"

इसलिए सकल वस्तु प्रमेय होने से अनंतधर्मात्मक सिद्ध होती है। अर्थात् इस विवेचन से सिद्ध होता है कि, सभी वस्तुयें अनंतधर्मात्मक है, क्योंकि प्रमेय है। ॥५५॥

अथ सूत्रकार एव प्रत्यक्षपरोक्षयोर्लक्षणं लक्षयति-

अब सूत्रकारश्री स्वयं ही प्रत्यक्ष और परोक्ष का लक्षण कहते है।

(मू. श्लो.) अपरोक्षतयार्थस्य[G-18] ग्राहकं ज्ञानमीदृशम् ।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं, परोक्षं ग्रहणेक्षया ।।५६।।

श्लोकार्थ : पदार्थ को अपरोक्षतया - स्पष्टरुप से ग्रहण करनेवाला ज्ञान **प्रत्यक्ष** कहा जाता है। प्रत्यक्ष से भिन्न ज्ञान **परोक्ष** है। ज्ञान में आई हुई परोक्षता बाह्य पदार्थो को ग्रहण करनेकी अपेक्षा से ही है। (क्योंकि स्वरुपतः सर्वज्ञान प्रत्यक्ष ही होते है।) अर्थात् जो ज्ञान अपरोक्षतया = साक्षात् मात्र आत्मा की प्रवृत्ति से विषय का ग्राहक बने, वह प्रत्यक्षज्ञान और इन्द्रियादि की सहायतापूर्वक होता ज्ञान परोक्ष है तथा ग्रहण करनेवाले साधन ज्ञान को "**परोक्ष**" शब्द के व्यवहारयोग्य बनाते है।) ॥५६॥

व्याख्या-**तत्र प्रत्यक्षमिति लक्ष्यनिर्देशः । अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमिति लक्षणनिर्देशः । परोक्षोऽक्षगोचरातीतः, ततोऽन्योऽपरोक्षस्तद्भावस्तत्ता तयाऽपरोक्षतया-साक्षात्कारितया न पुनरस्पष्टसन्दिग्धादितया, अर्थस्य-आन्तरस्यात्मस्वरूपस्य, बाह्यस्य च घटकटपटशकटलकुटादेर्वस्तुनो ग्राहकं व्यवसायात्मकतया साक्षात्परिच्छेदकं, ज्ञानम् ईदृशम् विशेषणस्य व्यवच्छेदकत्वादीदृशमेव प्रत्यक्षं नत्वन्यादृशम् । अपरोक्षतयेत्यनेन परोक्षलक्षण-**

(G-18) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सङ्कीर्णतामध्यक्षस्य परिहरति । एतेन परपरिकल्पितानां [G-19]कल्पनापोढत्वादीनां प्रत्यक्षलक्षणानां निरासः कृतो द्रष्टव्यः । ज्ञानवादिनोऽवादिषुः । अहो आर्हताः ! अर्थस्यात्मस्वरूपस्य यद्ग्राहकं तत्प्रत्यक्षमित्येव अत्र व्याख्यायताम्, अर्थशब्देन बाह्योऽप्यर्थः कुतो व्याख्यातो बाह्यार्थस्यासत्त्वादित्याशङ्कायां "अर्थस्य ग्राहकं" इत्यत्रापि "ग्रहणेक्षया" इति वक्ष्यमाणं पदं सम्बन्धनीयं, बहिरर्थनिराकरणपरान् योगाचारादीनधिकृत्यैव "ग्रहणेक्षया" इति वक्ष्यमाणपदस्य योजनात्, ततोऽयमर्थः-ग्रहणं ज्ञानात्पृथग् बाह्यार्थस्य यत्संवेदनं तस्येक्षयापेक्षयार्थस्य यद्ग्राहकं तत्प्रत्यक्षम् । न चार्थस्य ग्राहकमित्येतावतैव बाह्यार्थापेक्षया यद्ग्राहकं तत्प्रत्यक्षमित्येतत्सिद्धमिति वाच्यं, यत आत्मस्वरूपस्यार्थस्य ग्राहकमित्येतावताप्यर्थस्य ग्राहकं भवत्येव, ततो ग्रहणेक्षयेत्यनेन ये योगाचारादयो बहिरर्थकलाकलनविकलं सकलमपि ज्ञानं प्रलपन्ति तान्निरस्यति । स्वांशग्रहणे ह्यन्तःसंवेदनं यथा व्याप्रियते तथा बहिरर्थग्रहणेऽपि, इतरथा बहिरर्थग्रहणाभावे सर्वप्रमातृणामेकसदृशो नीलादिप्रतिभासो नियतदेशतया न स्यात् । अस्ति च स सर्वेषां नियतदेशतया, ततोऽर्थोऽस्तीत्यवसीयते ।

व्याख्या का भावानुवाद :

"**अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानम् इदृशं प्रत्यक्षम्**" इस व्याख्या में "**प्रत्यक्ष**" पद लक्ष्यनिर्देशक है। तथा "**अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानम्**" यह पद लक्षणनिर्देशक है। परोक्ष-इन्द्रियो के अविषय, उससे भिन्न अपरोक्ष अर्थात् इन्द्रियो के द्वारा जाने गये पदार्थ की तरह साक्षात् रुप से, अस्पष्ट या संदिग्धतया नहि, (परंतु स्पष्टतया) अर्थ का अर्थात् अपने आंतरिकस्वरुप का तथा घटपटादि बाह्यवस्तुओ का ग्राहक = साक्षात् रुप से निश्चय करनेवाले ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा जाता है।

विशेषण अन्य का व्यवच्छेद कराता है। इसलिए ऐसे प्रकार का ही ज्ञान प्रत्यक्ष है, अन्य प्रकार का नहि... (यह बात उस विशेषण से सिद्ध होती है।)

"**अपरोक्षतया**" पद से प्रत्यक्ष के लक्षण की परोक्ष के लक्षण के साथ की संकीर्णता दूर होती है। अर्थात् प्रत्यक्ष के लक्षण को परोक्ष के लक्षण से भिन्न सिद्ध करते है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का तादृश विशद लक्षण करने से बौद्ध आदि द्वारा परिकल्पित प्रत्यक्ष के कल्पनापोढ = निर्विकल्पक आदि लक्षणो का व्यवच्छेद हो जाता है।

(यहाँ "**अहो... बाह्यार्थस्यासत्त्वादिति**" तक शंकाग्रंथ है और "**अर्थस्य ग्राहकं**" इत्यादि पद समाधान ग्रंथ के है।)

(G-19) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानाद्वैतवादि (पूर्वपक्ष) : अरे जैनो ! आप **अर्थस्य=आत्मस्वरुपस्य यद् ग्राहकं तत्प्रत्यक्षम्** अर्थात् अर्थ का यानी कि अपने आंतरिक स्वरुप का ग्राहक जो ज्ञान है, उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। इतनी ही प्रत्यक्ष की व्याख्या करो न ! अर्थ शब्द से बाह्यार्थ घटपटादि की विवक्षा क्यों करते हैं ? क्योंकि बाह्यार्थ घटपटादि की सत्ता ही नहीं है। अर्थात् अर्थ के तात्पर्य ज्ञान को अपने स्वरुप तक ही सीमित बना देना, उसको घटपटादि बाह्यपदार्थो तक ले जाना नहि चाहिए, क्योंकि ज्ञान से अतिरिक्त घटपटादि बाह्यपदार्थो की सत्ता ही नहीं है।

(यहाँ ज्ञानाद्वैतवादि की मान्यता है कि.... ज्ञान ही एक परमार्थसत् है। वही अविद्यावासना के विचित्र विपाक से नील-पीत आदि अनेक पदार्थो के आकार में प्रतिभास होने लगता है। इसलिए "**अर्थग्राहक**" पद का अर्थ ज्ञान का केवल अपने स्वरुप को ग्रहण करना इतना ही अर्थ करना।)

समाधान (उत्तरपक्ष) : "**अर्थग्राहक**" पद के साथ आगे कहे जानेवाले "**ग्रहणेक्षया**" पद का संबंध कर लेना चाहिए। "**ग्रहणेक्षया**" पद (खास करके) बाह्यार्थ का निराकरण करनेवाले योगाचार के मत का खंडन करने के लिए है। "**ग्रहणेक्षया**" पद का अर्थ इस अनुसार से है-ग्रहणेक्षया=ज्ञान से भिन्न (सत्ता रखनेवाले) बाह्यार्थ घटादि पदार्थो के संवेदन को ग्रहण कहा जाता है। उस बाह्य पदार्थो के ग्रहण की इक्षा=अपेक्षा करके अर्थ को ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है।

शंका : "**अर्थस्य ग्राहकं**" इस पद से ही "**बाह्यार्थ की अपेक्षा से अर्थ का ग्राहक जो ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है।**" ऐसा अर्थ निकल ही जाता है तब "**ग्रहणेक्षया**" पद निरर्थक हो जाता है।

समाधान : ऐसा नहि कहना। क्योंकि अर्थग्राहक पद से "**अपने स्वरुपमात्र का ग्राहक**" इतना अर्थ भी निकल सकता है। इस वक्त विज्ञानवादियोंने भी अर्थग्राहक पद का वही अर्थ निकालके प्रत्यक्षज्ञान को मात्र स्वरुप ग्राहक ही कहा था, अर्थग्राहक कहा नहीं था। इसलिए "**ग्रहणेक्षया**" पद से (जो योगाचार समस्त ज्ञान बाह्यार्थ के निश्चयात्मक बनते है उसका निषेध करके) अर्थात् ज्ञान बाह्यार्थ का निश्चयात्मक नहीं है। अर्थात् समस्तज्ञान बाह्यार्थ के निश्चय से विकल है, ऐसा माननेवाले योगाचारो के मत का निराकरण होता है। इसलिए योगाचार मत के निराकरण के लिए इस्तेमाल किया गया "**ग्रहणेक्षया**" पद सार्थक ही है।

जिस प्रकार से अंत:संवेदन स्व-अंश के ग्रहण में=अपने स्वरुप को जानने में व्यापार करता है। उसी प्रकार से वह बाह्य घटपटादिपदार्थो को भी जानता है। इतरथा (यदि अंत:संवेदन=ज्ञान बाह्यपदार्थो को बताता न हो और मात्र स्वरुप का प्रकाशक हो तो) बाह्यपदार्थो के अग्रहण में सर्वप्रमातृओ को-लोगो को नीलादि पदार्थो का एकसमान नियतदेशतया प्रतिभास नहि होगा और सर्व जीवो को नियतदेशतया नीलादिपदार्थो का एकसमान प्रतिभास होता है और "घटादि पदार्थ है" इस अनुसार से मालूम होता है इसलिए ज्ञान बाह्य पदार्थो का भी प्रकाशक बनता है। इसलिए बाह्यार्थ घटादि भी विद्यमान है ही। (कहने का मतलब यह है कि.. ज्ञानवादियों के मत में अपने अपने ज्ञान का ही नील-पीतादि आकारो में प्रतिभास

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होता है, वह ज्ञानरुप नीलादि बाहर दिखना नहीं चाहिए तथा सर्व जीवो को साधारणरुप से उसका प्रत्यक्ष नहि होना चाहिए। क्योंकि ज्ञान का आकार तो स्वसंवेद्य होता है, साधारण जनसंवेद्य नहीं। परंतु नीलादि पदार्थ निश्चित बाह्यप्रदेश में सभी को साधारणरुप से ही प्रतिभासित होता है। इसलिए बाह्यपदार्थो की सत्ता अवश्य माननी ही चाहिए।

अथ चिद्रूपस्यैव तथा तथा प्रतिभासनान्न बहिरर्थग्रहणमिति चेत् ? तर्हि बहिरर्थवत् स्वज्ञानसन्तानादन्यानि सन्तानान्तराण्यपि विशीर्येरन् । अथ सन्तानान्तरसाधकमनुमानमस्ति[G-20], तथाहि—विवक्षितदेवदत्तादेरन्यत्र यज्ञदत्तादौ व्यापारव्याहारौ बुद्धिपूर्वकौ व्यापारव्याहारत्वात्, सम्प्रतिपन्नव्यापारव्याहारवदिति । सन्तानान्तरसाधकमनुमानं स्वस्मिन् व्यापारव्याहारयोर्ज्ञानकार्यत्वेन प्रतिबन्धनिश्चयादिति चेत् ? न, एतस्यानुमानस्यार्थस्येव स्वप्नदृष्टान्तेन भ्रान्ततापत्तेः, तथाहि-सर्वे प्रत्यया निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवदिति, [G-21]तदभिप्रायेण यथा बहिरर्थग्रहणस्य निरालम्बनतया बाह्यार्थाभावस्तथा सन्तानान्तर-साधनस्यापि निरालम्बनतया सन्तानान्तराभावः स्यादिति ।

व्याख्या का भावानुवाद :

पूर्वपक्ष (विज्ञानवादि) : ज्ञान ही (अनादि वासनाओ के विचित्र विपाक से) उस उस प्रकार से (अर्थात् नीलादिरुपो में बाह्यदेश में) प्रतिभासित होता है। इसलिए बाह्यपदार्थ है ही नहि, इसलिए बाह्यपदार्थो को ग्रहण करनेवाला कोई ज्ञान ही नहीं है।

उत्तरपक्ष (जैन) : तो फिर बाह्यघटादि पदार्थो की जैसे सत्ता नहीं है, वैसे स्व-ज्ञान संतान से अन्य संतानो की भी सत्ता नहीं मानी जा सकेगी। कहने का मतलब यह है कि, यदि घटादि बाह्य पदार्थो की वास्तविक सत्ता ही न हो, परंतु ज्ञान ही नीलादि आकारो में प्रतिभासित होता हो, तो स्व-ज्ञानसंतान से भिन्न अन्य संतान या जिसको संतानान्तर या आत्मान्तर भी कहा जता है, उसकी भी वास्तविक सत्ता मानी नहीं जा सकेगी और वह एक स्व-ज्ञानसंतान ही विचित्र वासना के कारण नीलादि बाह्यपदार्थरुप तथा संतानान्तररुप से प्रतिभास होती रहेगी। (आपने मानी हुई) अन्यज्ञानसंतान निरर्थक बन जायेगी।

पूर्वपक्ष (विज्ञानवादी) : हमारे पास ज्ञान की अनेक संतानान्तर को सिद्ध करनेवाला अनुमान विद्यमान है। वह यह रहा "विवक्षित देवदत्त आदि की ज्ञानसंतान से भिन्न यज्ञदत्त आदि ज्ञानसंतानो में होनेवाले वचनव्यवहार और प्रवृत्तियां बुद्धिपूर्वक है, क्योंकि वह वचनव्यवहार तथा प्रवृत्तियां है। जैसे कि स्वज्ञान संतान में होनेवाले वचनव्यवहार और प्रवृत्तियां बुद्धिपूर्वक होती है।" (कहने का मतलब यह है कि) यह संतानान्तरसाधक अनुमान से सिद्ध होता है कि... हमको हमारी ज्ञानसंतान में ही वचन और अन्यप्रवृत्तियों का ज्ञान के साथ कार्य-कारणभाव का निश्चय होता है अर्थात् मुज में ज्ञान है, इसलिए अच्छी

(G-20-21) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तरह से बोल सकता हूं और अन्य प्रवृत्तियां कर सकता हुं। इस तरह ज्ञान और वचनव्यवहार तथा प्रवृत्तियों के बीच प्रतिबंध = कार्यकारणभाव का निश्चय होता है। अर्थात् व्यापार और व्यवहार का ज्ञानकार्यत्वेन प्रतिबंध निश्चित होता है। इस तरह यज्ञदत्त आदि भी वचनप्रयोग करते है और भोजन आदि की प्रवृत्ति करते है। इसलिए उनकी वे प्रवृत्तियां भी ज्ञानपूर्वक की है। इससे देवदत्त के वचनव्यवहार और प्रवृत्तियों में कारणभूत ज्ञानसंतान से यज्ञदत्त आदि के वचनव्यवहार में और प्रवृत्तियो में कारणभूत ज्ञानसंतान स्वतंत्र सिद्ध होती है। इसलिए यह अनुमान प्रत्येक की स्वतंत्र ज्ञानसंतान सिद्ध करने में पर्याप्त है। इसलिए ज्ञानसंतान अनेक ही है।

उत्तरपक्ष (जैन) : आपकी बात उचित नहीं है। क्योंकि आप लोगो ने प्रत्यक्षज्ञान को स्वप्न के दृष्टांत के निर्देशपूर्वक अनुमान से भ्रान्त सिद्ध किया है। वैसे उपरोक्त ज्ञानसंतानान्तर साधक अनुमान भी स्वप्न के दृष्टान्त से भ्रान्त बन जाने की आपत्ति आती ही है। (आप लोगो ने प्रत्यक्षज्ञान को भ्रान्त सिद्ध करने के लिए जो अनुमान दिया है वह इस अनुसार है) "जगत के समस्त प्रत्यय निरालंबन है अर्थात् उसका कोई बाह्यपदार्थ विषय नहीं है। (स्वरुपमात्र को विषय करता है।) क्योंकि वह प्रत्यक्ष है। जैसे कि स्वप्न-प्रत्यय सारांश में, आपने इस अनुमान से सिद्ध किया है कि "जो जो प्रत्यक्ष है वह निर्विषयक है - निरालंबन है," जैसे कि, स्वप्न-प्रत्यय।

इसलिए उपरोक्त अभिप्राय से जैसे प्रत्यय बाह्यार्थ ग्रहण के निरालंबनपूर्वक होने से अर्थात् प्रत्यय बाह्यार्थ को विषय बनाता न होने से बाह्यार्थ का अभाव सिद्ध किया था, वैसे संतानान्तरसाधन भी निरालंबन होने से अर्थात् संतानान्तरसाधक प्रत्यय भी निर्विषयक होने से (उपर की तरह) संतानान्तर का अभाव सिद्ध हो जाता है। (परंतु वह किसी भी तरह से उचित नहीं है, क्योंकि वादि-प्रतिवादि की चर्चा में अनेक ज्ञानसंतान प्रत्यक्ष से स्वतंत्र सत्ता रखती देखने को मिलती है।)

"इतरज्ज्ञेयं परोक्षं" प्रागुक्तात् प्रत्यक्षादितरत्-अस्पष्टतयार्थस्य स्वपरस्य ग्राहकं-निर्णायकं परोक्षं ज्ञेयम्-अवगन्तव्यम् । परोक्षमप्येतत्स्वसंवेदनापेक्षया प्रत्यक्षमेव बहिरर्थापेक्षया तु परोक्षव्यपदेशमश्नुत इति दर्शयन्नाह "ग्रहणेक्षया" इति । इह ग्रहणं प्रस्तावादपरोक्षे बाह्यार्थे ज्ञानस्य प्रवर्तनमुच्यते न तु स्वस्य ग्रहणं, स्वग्रहणापेक्षया हि स्पष्टत्वेन सर्वेषामेव ज्ञानानां प्रत्यक्षतया व्यवच्छेद्याभावाद्विशेषणवैयर्थ्यं स्यात्, ततो ग्रहणस्य बहिःप्रवर्तनस्य या ईक्षा-अपेक्षा तया, बहिःप्रवृत्तिपर्यालोचनयेति यावत् । तदयमत्रार्थः**-परोक्षं यद्यपि स्वसंवेदनापेक्षया प्रत्यक्षं, तथापि लिङ्गशब्दादिद्वारेण बहिर्विषयग्रहणेऽसाक्षात्कारितया व्याप्रियत इति परोक्षमित्युच्यते ।।५६।।**

व्याख्या का भावानुवाद :

"प्रत्यक्ष से इतरज्ञान परोक्ष है।" अर्थात् पहले कहे हुए प्रत्यक्षज्ञान से इतर - अस्पष्टतया (अस्पष्टरुप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से) स्व-पर का निर्णायकज्ञान परोक्ष जानना। परोक्षज्ञान भी स्वसंवेदन की अपेक्षा से प्रत्यक्ष ही है। परंतु बाह्यार्थ की अपेक्षा से परोक्ष के रुप में व्यपदेश को प्राप्त करता है। यही बात बताते हुए **"ग्रहणेक्षया"** पद का श्लोक में ग्रहण किया है। (कहने का मतलब यह है कि, परोक्ष ज्ञान भी स्वसंवेदन की अपेक्षा से प्रत्यक्ष ही होता है। क्योंकि सभी स्वरुपसंवेदी होने के कारण स्वरुप में प्रत्यक्ष होते है। अर्थात् आत्मा में परोक्ष ज्ञान हो या संशयज्ञान हो, उसके स्वरुप का प्रत्यक्ष तो हो ही जाता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि, ज्ञान उत्पन्न हो जाये, परंतु उसका प्रत्यक्ष न हो। ज्ञान तो दीपक की तरह अपने स्वरुप को प्रकाशित करता ही उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष की संज्ञा तो बाह्यपदार्थ को स्पष्ट या अस्पष्ट से जानने के कारण प्राप्त होती है। इस बात का सूचन करने के लिए **"ग्रहणेक्षया"** पद श्लोक में दिया है। अर्थात् वह ज्ञान बाह्यार्थ की अपेक्षा से परोक्ष है।)

श्लोक में सूचित किये गये **"ग्रहणेक्षया"** पद के ग्रहण शब्द का अर्थ इस प्रत्यक्ष के प्रस्ताव में इस ज्ञान को बाह्यार्थ में प्रवृत्ति करने का है, परंतु स्वरुपमात्र को जानने का नहीं है। क्योंकि स्वरुपग्रहण की अपेक्षा से तो सर्वज्ञान स्पष्ट और प्रत्यक्ष होने से कोई भी ज्ञान के व्यवच्छेद का अभाव होने के कारण **"अपरोक्षतया"** विशेषण व्यर्थ बन जायेगा। (अर्थात् सर्वज्ञान स्वरुप ग्रहण की अपेक्षा से स्पष्ट और प्रत्यक्ष होने के कारण उसकी अपेक्षा से कोई भी ज्ञान परोक्ष नही बन सकेगा, उसके योग से प्रत्यक्ष के प्रस्ताव में परोक्ष ज्ञान के व्यवच्छेद के लिए दिया गया **"अपरोक्षतया"** विशेषण व्यर्थ बन जायेगा। और उस विशेषणपद की सार्थकता तब ही होगी कि, जब कोई ज्ञान परोक्षतया अर्थग्राहक बनता हो, उसके व्यवच्छेद के लिए उसका प्रयोग किया हुआ हो, इसलिए) ग्रहण=बाह्य पदार्थो में प्रवृत्ति की इक्षा=अपेक्षा से पदार्थो का अस्पष्टरुप से निश्चय करनेवाला ज्ञान परोक्ष है। (सारांश में) ग्रहणेक्षा का अर्थ बाह्यपदार्थो में प्रवृत्ति का विचार या अपेक्षा है। इसलिए तात्पर्यार्थ इस अनुसार से होगा कि **"यद्यपि परोक्ष स्वसंवेदन की अपेक्षा से प्रत्यक्ष है, तो भी बाह्य पदार्थरुप लिंग (हेतु) या शब्द आदि द्वारा बहिर्विषय के ग्रहण में अस्पष्टतया प्रवर्तित होता है। अर्थात् बाह्यार्थरुप लिंग या शब्दादि द्वारा बाह्यार्थ को अस्पष्टरुप से जानता है। इसलिए परोक्ष कहा जाता है। सारांश में परोक्षज्ञान बाह्यार्थ की अपेक्षा से ही होता है।"** ॥५६॥

अथ प्रागुक्तामेव वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकतां दृढयन्नाह -

अब वस्तु की पहले कही हुई अनंतधर्मात्मकता को दृढ करते हुए कहते है कि -

(मू. श्लो.) येनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं[G-22] यत्तत्सदिष्यते ।
अनन्तधर्मकं वस्तु तेनोक्तं मानगोचरः ।।५७।।

श्लोकार्थ : जिस कारण से उत्पाद, व्यय और ध्रुवतावाली वस्तु ही सत् होती है; उस कारण से (पहले) अनंतधर्मात्मक वस्तु को प्रमाण बताया है। (अर्थात् उत्पत्ति-स्थिति और लय, ये तीन परिणामवाली वस्तु ही **"सत्"** है। इसलिए ही अनंतधर्मात्मक वस्तु को प्रमाण का विषय कही गई है।)

(G-22) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या - **येनेति शब्दोऽग्रे व्याख्यास्यते, वाक्यस्य सावधारणत्वात् । यदेव वस्तूत्पादव्ययध्रौव्यैः समुदितैर्युक्तं तदेव सद्विद्यमानमिष्यते । उत्पत्तिविनाशस्थितियोग एव सतो वस्तुनो लक्षणमित्यर्थः । ननु पूर्वमसतो भावस्योत्पादव्ययध्रौव्ययोगाद्यदि पश्चात्सत्त्वं ? तर्हि शशशृङ्गादेरपि तद्योगात्सत्त्वं स्यात्, पूर्वं सतश्चेत्, तदा स्वरूपसत्त्वमायातं किमुत्पादादिभिः कल्पितैः ? तथोत्पादव्ययध्रौव्याणामपि यद्यन्योत्पादादित्रययोगात्सत्त्वं, तदानवस्थाप्रसक्तिः । स्वतश्चेत्सत्त्वम्, तदा भावस्यापि स्वत एव तद्भविष्यतीति व्यर्थमुत्पादादिकल्पनमिति चेत् ? उच्यते न हि भिन्नोत्पादव्ययध्रौव्ययोगाद्भाव स्यसत्त्वमभ्युपगम्यते, किं तूत्पादव्ययध्रौव्ययोगात्मकमेव सदिति स्वीक्रियते**[G-23] । तथाहि- **उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते विपद्यते वा, परिस्फुटान्वयदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यं, प्रमाणेन बाध्यमानस्या-न्वयस्यापरिस्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानत्वात् ।** "सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः, सत्योश्चित्यपचित्योरा-कृतिजातिव्यवस्थानात्[अ] ।।" **इति वचनात् । ततो द्रव्यात्मना सर्वस्य वस्तुनः स्थितिरेव, पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते वा, अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात् ।**

व्याख्या का भावानुवाद :

श्लोक में निर्दिष्ट "**येन**" शब्द का व्याख्यान आगे किया जायेगा । सभी वाक्य निश्चयात्मक होते है । इसलिए जो वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रुवता ये तीन परिणामो से युक्त हो, उसे सत् - विद्यमान कही जा सकती है । उत्पत्ति, विनाश और स्थिति का योग ही सत् वस्तु का लक्षण है । अर्थात् जिसमें उत्पत्ति, विनाश और स्थिति, ये तीन का योग हुआ हो वही वस्तु सत् कही जाती है ।

शंका : "यदि पहले पदार्थ असत् हो और बाद में उत्पाद, व्यय और ध्रुवता के संबंध से सत् हो जाती है।" ऐसा हो तो खरगोस के सींगादि असत्पदार्थो की भी उत्पादादि तीन के योग से सत्ता हो जायेगी । अर्थात् वह सत् बन जायेंगे ।

उपरांत, पदार्थ पहले से ही सत् हो, तो अर्थात् उत्पादादि तीन के संयोग के पहले ही सत् हो तो, वे पदार्थ स्वरुप से ही सत् है और जो पदार्थ स्वरुप से ही सत् है, तब उसमें उत्पादादि संबंध की कल्पना करके सत्ता मानना निरर्थक है । तथा जिस प्रकार से पदार्थो में उत्पादादि से सत्ता आती है, उसी ही प्रकार से यदि उत्पाद, व्यय और ध्रुवता में अन्य उत्पादादि से सत्ता आती हो तो उसमें भी अन्य से आयेगी... इस तरह से अनवस्था

(अ) उद्धृतोऽयम् - अनेकान्तवादप्र० पृ ५१ ।।

(G-23) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चलेगी और अनवस्था दूषण आयेगा।

यदि उत्पाद, व्यय और स्थिति, अन्य उत्पादादि की अपेक्षा बिना स्वतः ही सत् है, तो समस्तपदार्थ भी स्वतः ही सत् बनते है। वे पदार्थो में भी उत्पादादि से सत्त्व की कल्पना करना निरर्थक है।

समाधान : हम लोग (पदार्थ से) भिन्न ऐसे उत्पाद, लय और स्थिति के योग से पदार्थ की सत्ता का स्वीकार करते नहीं है। परंतु उत्पादादित्रययोगात्मक ही सत्ता का स्वीकार करते है। (अर्थात् हम लोग पदार्थ स्वतंत्र है और उत्पादादि तीन (पदार्थ से भिन्न =) स्वतंत्र है और घट में पानी के संयोग की तरह उत्पादादि से पदार्थ में सत्ता आ जाती है, ऐसा हम मानते नहीं है। परंतु उत्पाद, लय और स्थिति, ये तीनो का योग = तादात्म्य ही वस्तु है और वह सत् है। उत्पादादि पृथक् और वस्तु पृथक् है वैसा नहीं है।)

जैसे कि पृथ्वी, पर्वतादि सभी वस्तु द्रव्य की दृष्टि से उत्पन्न होती नहीं है या नष्ट होती नहीं है। क्योंकि उसमें पुद्गल द्रव्य का परिस्फुट अन्वय (सदा होनेपन रुप अन्वय) देखने को मिलता है। (यदाँ एक सिद्धांत याद रखना कि किसी भी असत् द्रव्य की उत्पत्ति होती नहीं है और किसी भी सत् पदार्थ का अत्यंत नाश होता नहीं है, बल्कि रुपांतर अवश्य होते रहते है। इसलिए कोई भी वस्तु का उत्पाद या अत्यंत लय तो हो सकता ही नहीं है।)

शंका : काटे गये और पुनः उत्पन्न हुए नाखून, बाल आदि में अन्वय के दर्शन द्वारा व्यभिचार आता है। कहने का मतलब यह है कि आपने उपर वस्तु में होते परिस्फुट अन्वय के कारण उत्पत्ति और विनाश का निषेध किया है वह योग्य नहीं है। क्योंकि काटे गये नाखून और बाल में "ये वही नाखून या बाल है।" ऐसे अन्वय के दर्शन होते होने पर भी नाखून और बाल की उत्पत्ति और विनाश भी होता ही है। इसलिए अन्वयदर्शन से उत्पत्ति-विनाश का निषेध किया वह लेशमात्र उचित नहीं है।

समाधान : ऐसा नहि कहना चाहिए। क्योंकि प्रमाण से बाध होता अन्वय परिस्फुट होता नहीं है। कहने का मतलब यह है कि आपने हमारे हेतु को ध्यान से निहारा (देखा) नहीं है। हमने परिस्फुट अन्वय को हेतु बनाया है। जो अन्वय किसी भी प्रमाण से बाधित न हो वह अन्वय परिस्फुट कहा जाता है और जो अन्वय प्रमाण से बाधित हो उसे अपरिस्फुट कहा जाता है। (आपने व्यभिचार देते वक्त नाखून और बालरुप द्रव्य का उदाहरण दिया था।) उसमें तो सदृश नाखून और बाल के "ये वही है" ऐसे एकत्व के भान से असत्यअन्वय मालूम होता है। परंतु हमारा प्रस्तुत अन्वय प्रमाण विरुद्ध नहीं है। इसलिए परिस्फुट अन्वय है। पृथ्वी आदि में द्रव्यरुप से दिखाई देता अन्वय किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं है। बल्कि सत्य प्रत्यभिज्ञान द्वारा "यह वही पुद्गल है" इत्यादि अन्वय निर्बाधरुप से अनुभव में आते है। इसलिए कहा भी है कि "सर्वपदार्थो में नियतरुप से प्रतिक्षण अन्वयत्व का अनुभव होता है, परंतु विशेष नहि। क्योंकि अपचय और उपचय होने पर भी आकृति, जाति और द्रव्य की सत्ता स्थिर रहती है। (अर्थात् सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहे है, वे जो पहले के समय में थे, वह दूसरे समय में रहते नहीं है। और वे प्रतिक्षण परिवर्तित होने पर भी सर्वथा भेद या विनाश होता नहीं है। उपचय और अपचय होने पर भी आकृति, जाति, द्रव्य की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सत्ता रहती ही है।")

इसलिए द्रव्य की दृष्टि से सर्ववस्तुओ की स्थिति = ध्रुवता ही है। पर्याय की दृष्टि से सभी वस्तुए उत्पन्न होती है और विनाश भी प्राप्त करती है। क्योंकि पदार्थ के पर्यायो का परिवर्तन अस्खलितरुप से महसूस किया जाता है।

न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्खलद्रूपत्वात्, न खलु सोऽस्खलद्रूपो, येन पूर्वाकारविनाशोऽजहद्वृत्तोत्तराकारोपादानाविनाभावी भवेत् । न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायानुभवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद्बाधकस्याभावात् । ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते न वा ? यदि भिद्यन्ते कथमेकं त्र्यात्मकम् कथमेकात्मकम् । न भिद्यन्ते चेत्, तथापि कथमेकं त्र्यात्मकमिति कथमेकात्मकम् चेत् ? तदयुक्तं, **कथञ्चिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथिञ्चिद्भेदाभ्युपगमात् ।** तथाहि-**उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात्, रूपादिवत् । न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धं, असत आत्मलाभ** उत्पादः, **सतः सत्तावियोगो** विनाशः, **द्रव्यरूपतयानुवर्तनं** ध्रौव्यम्, **इत्येवमसंकीर्णलक्षणानां तेषां सर्वैः प्रतीतेः । न चामी परस्परानपेक्षत्वेन भिन्ना एव, [G-24]परस्परानपेक्षाणां खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः ।** तथाहि-**उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मरोमवत् । तथा विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, तद्वत्, एवं स्थितिरपि केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्वदेव, इत्यन्योन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । [1]तथा च [G-25]कथं नैकं त्र्यात्मकम् नैकमाकात्मकम् ? तथा चोक्तम्-**"प्रध्वस्ते कलशे शुशोच तनया मौलौ समुत्पादिते पुत्रः प्रीतिमुवाह कामपि नृपः शिश्राय मध्यस्थताम् ।

पूर्वाकारपरिक्षयस्तदपराकारोदयस्तद्द्वयाधारश्चैक इति स्थितं त्रयमयं तत्त्वं तथाप्रत्ययात् ।।१।।

घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वलम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।।२।।

पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे, तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।।३।।

[आप्तमी- श्लो० ५९-६०]

व्याख्या का भावानुवाद :

तदुपरांत, इससे हमारा हेतु शुक्लशंख में होने वाले पीतादि पर्याय के अनुभव से अर्थात् शुक्लशंख पीले रंग के जाननेवाले भ्रान्त पीतशंखज्ञान से व्यभिचारी नहीं है। क्योंकि सफेद शंख में होता पीतशंख का

---

1 तथा च कथं नैकं त्र्यात्मकम् ।

(G-24-25) - त० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुभव तो (आंख की बिमारी के कारण हुआ होने से वास्तविक नहीं है। परंतु) स्खलित स्वरुपवाला भ्रान्त है। इसलिए ही हमने हेतु में **"अस्खलित = निर्बाध"** विशेषण को दिया है और शुक्लशंख में होता पीतशंख का अनुभव अस्खलितरुप = अभ्रान्तरुप नहीं है, कि जिससे वह भी पूर्वाकारका (पूर्वपर्याय का) विनाश, अजहद् - उत्तराकारका (उत्तर पर्याय का) उत्पाद तथा उन दोनो के बीच का अविनाभाव अर्थात् उन दोनो में दिखाई देती किसी भी प्रकार से नहि तूटनेवाली स्थितिरुप परिणाम से अविनाभाव रख सके।

वैसे ही जीव आदि पदार्थो में हर्ष, शोक, उदासीनता आदि पर्यायो का अनुभव स्खलित -- भ्रान्तरुप नहीं है। क्योंकि (पदार्थो में होता प्रतिक्षण परिवर्तन सभी के अनुभवपथ में आता है...) उसमें कोई भी बाधक प्रमाण का अभाव है।

शंका : उत्पाद, विनाश और ध्रुवता, तीनो भी परस्पर भिन्न (= स्वतंत्र) है या अभिन्न है ? यदि "वे तीनो परस्पर भिन्न है" ऐसा कहोंगे तो वे तीनो एक वस्तु में किस तरह से रह सकते है ? और यदि "वे तीनो परस्पर अभिन्न है" - ऐसा कहोंगे तो एक वस्तु में तीन रुप से किस तरह से रह सकेंगे ? अर्थात् तीनो अभिन्न होने के कारण, वे मिलके जब एक ही हो जाते है, तो वस्तु त्रयात्मक किस तरह से कही जा सकती है?

समाधान : आपकी बात उचित नहीं है। क्योंकि हमने कथंचित् भिन्नलक्षणत्वेन वे तीन रुपो का कथंचित् भेद स्वीकार किया है। अर्थात् उत्पादादि तीन रुपो के लक्षण भिन्न-भिन्न होने से उन तीनो में कथंचित् भेद है। (और फिर भी वे तीनो किसी भी वस्तु से भिन्न या परस्परभिन्न उपलब्ध होते नहीं है और एक वस्तु के उत्पाद आदि को दूसरी वस्तु में ले जा सकते नहीं है। इसलिए वे तीनो अभिन्न है और वे तीनो परस्पर भिन्न भी है। क्योंकि वे तीनो के लक्षण भिन्न-भिन्न है -। **अनुमान प्रयोग इस अनुसार से है** -

उत्पाद, विनाश और स्थिति परस्परभिन्न है। क्योंकि उन तीनो के लक्षण भिन्न है। जैसे रसादि के लक्षण भिन्न है। इसलिए वे परस्पर भिन्न है। वैसे उत्पादादि तीनो के लक्षण भी भिन्न होने से वे तीनो परस्पर भिन्न है।

हमारे अनुमान में भिन्नलक्षणत्व हेतु असिद्ध नहीं है। अर्थात् उत्पादादि तीनो के लक्षण भिन्न है, यह हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि.... वे तीनो के लक्षण भिन्न-भिन्न ही है। असत् का आत्मलाभ वह **उत्पाद** कहा जाता है। अर्थात् पदार्थ पहले जो स्वरुप-से पर्याय से नहीं है, उस स्वरुप का लाभ होना वह **उत्पाद** कहा जाता है। सत् की सत्ता के वियोग को **विनाश** कहा जाता है। अर्थात् (विद्यमान पर्यायवाली) वस्तु के विद्यमान पर्याय का वियोग होना उसे **विनाश** कहा जाता है। द्रव्यरुप से अनुवर्तन को **ध्रुवता = स्थिति** कहा जाता है। अर्थात् उत्पाद और विनाश होने पर भी द्रव्यरुप से अनुवर्तन= अन्वय रहना वह स्थिति कहा जाता है। इस तरह से तीनो के असंकीर्ण (भिन्न-भिन्न) लक्षणो की सभी को प्रतीति होती ही है। इसलिए वे तीनो के लक्षण भिन्न होने से उन तीनो में कथंचित् भेद है ही।

उपरांत, ये उत्पादादि तीन परस्पर निरपेक्ष रुप से भिन्न है ही नहीं। क्योंकि परस्परनिरपेक्ष वस्तुएं आकाशकुसुम की तरह असत् बन जाती है। कहने का मतलब यह है कि, वे उत्पादादि लक्षण की भिन्नता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के कारण कथंचित् भिन्न होने पर भी परस्पर निरपेक्ष नहीं है, परंतु एकदूसरे की अपेक्षा रखते है। वे परस्पर निरपेक्ष रुप से अत्यंत भिन्न नहीं है। यदि वे परस्पर निरपेक्ष और अत्यंत भिन्न हो जाये तो उसका आकाशकुसुम की तरह अभाव हो जायेगा। (उत्पादादि तीन परस्पर निरपेक्ष और अत्यंतभिन्न नहीं है--) वह इस अनुसार से सिद्ध होता है - केवल उत्पाद सत् नहीं है, क्योंकि स्थिति और विगम से रहित है। जैसे कि, कछुंअे के रोम (रोंगटे)।

उस अनुसार से, केवलविनाश सत् नहीं है। क्योंकि स्थिति-उत्पत्ति से रहित है। जैसे कि, कछुँअे के रोम (रोंगटे)। उस अनुसार, केवलस्थिति सत् नहीं है। क्योंकि विनाश और उत्पत्ति से रहित है। जैसे कि, कछुंअे के रोम (रोंगटे)। (कहने का मतलब यह है कि जगत में जो पदार्थ उत्पन्न होते है, उसकी स्थिति बनी रहती है और कालांतर में विनाश भी होता है, ऐसा अनुभव से सिद्ध ही है। उसी तरह से जो पदार्थ की स्थिति हो, वह वस्तु कभी उत्पन्न भी हुई ही होती है और कालांतर में उनका विनाश भी होता दिखाई देता है। उसी अनुसार से जो वस्तु का विनाश होता है, उसकी पूर्वावस्था में उत्पत्ति हुई ही होती है। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और विनाश परस्पर सापेक्ष है। यदि उसको परस्पर निरपेक्ष मानोंगे तो कछुंअे के रोंगटे की तरह असत् बन जायेंगे क्योंकि कछुंअे के रोंगटे उत्पन्न होते न होने से ही उसमें स्थिति और विनाश देखने को नहीं मिलते है। उसी तरह से स्थिति देखने को मिलती न होने से ही उत्पाद और विनाश भी अनुभवपथ में आते नहीं है और विनाश होता दिखाई न देने से उत्पाद और स्थिति भी अनुभवपथ में आते नहीं है। इससे उत्पादादि तीन में से दो की असत्ता से एककी असत्ता सिद्ध होती है। इसलिए फलित होता है कि.. उत्पादादि तीनो परस्पर सापेक्ष है। परस्परनिरपेक्ष रुप से एक भी सत् सिद्ध होते नहीं है। इस प्रकार एक वस्तु में वे तीनो साथ रहते है।)

इस अनुसार से परस्पर सापेक्ष ही उत्पादादि तीन सत् बनते है और वस्तु में भी उसकी परस्पर सापेक्ष ही सत्ता होती है। (अर्थात् ये तीनरुप से युक्त वस्तु ही सत् होती है, वे तीन धर्मो से रहित वस्तु असत् बन जाती है।) इस तरह से उत्पादादि को परस्पर सापेक्ष होने से वस्तु को त्रयात्मक क्यों न कहा जाये ? अर्थात् वस्तु उत्पादादि तीन धर्मो से सापेक्ष होने से त्रयात्मक कही ही जाती है - सिद्ध हो ही जाती है - **इसलिए कहा है कि**.... "एक राजाने सुवर्ण के घट को तोडने के लिए सुनार को कहा तब) सुवर्णघट का नाश होने पर राजकुमारीने शोक किया और (उसमें से जब सुनारने मुकुट को बनाना शुरु किया तब) मुकुट उत्पन्न होने पर राजकुमार ने प्रीति को धारण की (राजकुमार खुश हुआ।) फिर भी ये दोनो अवस्था में सुवर्ण, सुवर्ण के रुप में रहता होने से उसके खजाने में हानी होती न होने से) राजा मध्यस्थता को धारण करता है। इस प्रकार (घटरुप) पूर्व आकार के परिक्षयरुप और उससे अपर (मुकुटरुप) आकार की उत्पत्तिरुप उभय अवस्था का आधार एक सुवर्ण बनता है। अर्थात् आकार बदलने पर भी सुवर्ण, सुवर्ण के रुप से स्थिर रहता है।

(इसलिए एक सुवर्ण में उत्पत्ति, स्थिति और विनाश ये तीन धर्म रह गये, इससे) सिद्ध होता है कि, वस्तु त्रयात्मक होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(आप्तमीमांसा में भी) कहा है कि... "घट, मुकुट और सुवर्ण के अर्थी मनुष्य उसके नाश, उत्पाद और स्थिति में अनुक्रम से शोक, प्रमोद और मध्यस्थता को प्राप्त करते है। इसलिए शोकादि क्रिया सहेतुक सिद्ध होती है। (अर्थात् तीन भिन्न व्यक्तियों को एक साथ हुए तीन प्रकार के भाव (सुवर्णरुप वस्तु की) विनाश, उत्पाद और स्थितिरुप तीन अवस्थाओं के बिना हो नहीं सकते है। इससे तीन व्यक्तियों को होते भिन्नभिन्न तीन भाव, वस्तु में रहे हुए तीन धर्मो के कारण हुए है - वह सिद्ध होता है। उससे वस्तु त्रयात्मक सिद्ध होती है।)"

तथा दूध के व्रतवाला दहीं खाता नहीं है - दहीं के व्रतवाला दूध खाता नहीं है और अगोरस व्रतवाला दूध-दहीं उभय को खाता नहीं है, उससे भी वस्तु त्रयात्मक सिद्ध होती है। (अर्थात् जो व्रतधारीने आज नियम किया कि "आज में दूध ही पिउंगा" ऐसे प्रकार के पयोव्रतवाला व्यक्ति दहीं खाता नहीं है। अब यदि दहीं अवस्था में दूध का विनाश हुआ न हो तो, उस व्यक्ति को दहीं भी खाना चाहिए। क्योंकि दहीं अवस्था में विद्यमान है और खुद को दूध खाने का नियम है। परंतु वह व्यक्ति दहीं खाता नहीं है। इससे मानना ही पडेगा कि दहीं जमने की अवस्था में दूध का नाश हुआ ही है। जो व्रतधारीने "आज में दहीं ही खाउंगा" ऐसा नियम किया है वह व्यक्ति दूध खाता नहीं है। अब यदि दूध अवस्था में दहीं नाम की नई अवस्था का उत्पाद होता न हो तो (और दूध का नाम ही दहीं हो तो) दधिव्रतवाले को दूध भी पीना चाहिए, क्योंकि उसमें नये दहीं उत्पन्न होने की संभावना नहीं है। परंतु दहींव्रती दूध पीता नहीं है। इससे मानना ही पडेगा कि दूध से उत्पन्न होनेवाला दहीं भिन्न वस्तु है और दहीं का उत्पाद होता है। अब जिसको अगोरस व्रत है अर्थात् दूध और दहीं दोनो न खाने का व्रत है। वह व्यक्ति दोनो को खाता नहीं है। क्योंकि गोरस की सत्ता दोनो में भी है। यदि गोरस नाम की एक अनुस्यूत वस्तु दूध और दहीं में न हो तो उसको दोनो को भी खाना चाहिए। परंतु वह दोनो को खाता नहीं। इससे गोरस की दोनो में स्थिति माननी चाहिए।) इस तरह से वस्तु उत्पादादि तीनधर्मोवाली सिद्ध होती है।

परो हि वादीदं प्रष्टव्यः । यदा घटो विनश्यति तदा किं देशेन विनश्यति आहोस्वित्सामस्त्येनेति ? यदि देशेनेति पक्षः, तदा घटस्यैकदेश एव विनश्येत् न तु सर्वः, सर्वश्च स विनष्टस्तदा प्रतीयते, न पुनर्घटस्यैकदेशो भग्न इति प्रतीतिः कस्यापि स्यात्, अतो न देशेनेति पक्षः कक्षीकारार्हः । सामस्त्येन विनश्यतीति पक्षोऽपि न, यदि हि सामस्त्येन घटो विनश्येत्, तदा घटे विनष्टे कपालानां मृद्रूपस्य च प्रतीतिर्न स्यात्, घटस्य सर्वात्मना विनष्टत्वात् । न च तदा कपालानि मृद्रूपं च न प्रतीयन्ते, मार्दान्येतानि कपालानि न पुनः सौवर्णानीति प्रतीतेः, अतः सामस्त्येनेत्यपि पक्षो न युक्तः । ततो बलादेवेदं प्रतिपत्तव्यं, घटो घटात्मना विनश्यति कपालात्मनोत्पद्यते मृद्द्रव्यात्मना तु ध्रुव इति । तथा घटो यदोत्पद्यते, तदा किं देशेनोत्पद्यते, सामस्त्येन वा ? इत्यपि परः प्रष्टव्योऽस्ति । यदि देशेनेति वक्ष्यति तदा घटो देशेनैवोत्पन्नः प्रतीयेत न पुनः पूर्ण इति । प्रतीयते च घटः पूर्ण उत्पन्न इति । ततो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देशेनेति पक्षो न क्षोदक्षमः । नापि सामस्त्येनेति पक्षः । यदि सामस्त्येनोत्पन्नः स्यात्, ततो मृदः प्रतीतिस्तदानीं न स्यात्, न च सा नास्ति, मार्दोऽयं न पुनः सौवर्ण इत्येवमपि प्रतीतेः। ततो घटो यदोत्पद्यते तदा स घटात्मनोत्पद्यते मृत्पिण्डात्मना विनश्यति मृदात्मना च ध्रुव इति बलादभ्युपगन्तव्यं स्यात् । यथा हि वस्तु सर्वैः प्रतीयते तथा चेन्नाभ्युपगम्यते, तदा सर्ववस्तुव्यवस्था कदापि न भवेत् । अतो यथाप्रतीत्यैव वस्त्वस्त्विति । [G-26]अत एव यद्वस्तु नष्टं तदेव नश्यति नङ्क्ष्यति च कथञ्चित्, यदुत्पन्नं तदेवोत्पद्यत उत्पत्स्ये च कथञ्चित्, यदेवं स्थितं तदेव तिष्ठति स्थास्यति च कथञ्चित् । तथा यदेव केनचिद्रूपेण नष्टं तदेव केनचिद्रूपेणोत्पन्नं केनचिद्रूपेण स्थितं च, एवं यदेव नश्यति तदेवोत्पद्यते तिष्ठति च, यदेव नङ्क्ष्यति तदेवोत्पत्स्यते स्थास्यति चेत्यादि सर्वमुपपन्नं, अन्तर्बहिश्च सर्वस्य वस्तुनः सर्वदोत्पादादित्रयात्मकस्यैवाबाधिताध्यक्षेणानुभूयमानत्वात्, अनुभूयमाने च वस्तुनः स्वरूपे विरोधासिद्धेः, अन्यथा वस्तुनो रूपरसादिष्वपि विरोधप्रसक्तेः । प्रयोगश्चाऽत्रायम्-सर्वं वस्तूत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं, सत्त्वात्, यदुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं न भवति तत्सदपि न भवति, यथा खरविषाणम्, तथा चेदम्, तस्मात्तथेति केवलव्यतिरेकानुमानम् । अनेन च सल्लक्षणेन नैयायिकादिपरिकल्पितः [G-27]सत्तायोगः सत्त्वं बौद्धाभिमतं[G-28] चार्थक्रियालक्षणं सत्त्वं द्वे अपि प्रतिक्षिप्ते द्रष्टव्ये । तन्निरासप्रकारश्च ग्रन्थान्तरादवसातव्यः ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

(जो वस्तु को त्रयात्मक मानता नहीं है, वह त्रयात्मक वस्तु को न माननेवाले) परवादि को यह पश्न करना चाहिए की,... "यदि घट विनाश प्राप्त करता हो तो क्या वह देश से विनाश पाता है या समग्रतया विनाश प्राप्त करता है ?

"घट देश से विनाश प्राप्त करता है" -- ऐसा कहोंगे तो वह पक्ष उचित नहीं है। क्योंकि (यदि घट का देश से विनाश होता हो) तो घट का एकदेश ही विनाश पायेगा, परंतु सर्व घट विनाश पायेगा नहि। और वह घट तो समग्रतया विनाश पाया हुआ प्रतीत होता है। परंतु घट का एकदेश विनाश पाया हुआ किसीको भी प्रतीत होता नहीं है। इसलिए "देशेन" पक्ष स्वीकार्य बनता नहीं है।

"समग्रतया घट विनाश प्राप्त करता है" - यह पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि घट समग्रतया विनाश प्राप्त कर ले तो विनाश पाये हुए घट के कपालो में मिट्टीरुप की (जो प्रतीति होती है वह प्रतीति) हो नहीं सकेगी, क्योंकि घट समग्रतया नाश हुआ है और तब कपाल मिट्टीरुप नहीं है, ऐसी प्रतीति तो होती ही नहीं है। परंतु ये कपाल मिट्टी की है, सुवर्ण की नहीं है, ऐसे प्रकार की ही प्रतीति होती है। इसलिए समग्रतया घट का

(G-26-27-28) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विनाश होता है, यह पक्ष भी योग्य नहीं है। इसलिए इच्छा न होने पर भी आपको स्वीकार करना पडेगा कि, घट घटस्वरुप से नाश होता है, कपालस्वरुप से उत्पन्न होता है और मिट्टीस्वरुप से ध्रुव रहता है।

(विनाशधर्म की विचारणा की, अब घट के विषय में उत्पादधर्म की विचारणा करते हुए कहते है कि) वस्तु को त्रयात्मक न मानते परवादि को प्रश्न करना चाहिए कि... घट जब उत्पन्न होता है, तब वह क्या देश से उत्पन्न होता है या समग्रतया उत्पन्न होता है ?

यदी "देश से घट उत्पन्न होता है।" ऐसा कहोंगे तो वह भी योग्य नहीं है। क्योंकि घट देश से उत्पन्न हुआ प्रतीत होना चाहिए, परंतु पूर्णरुप से नहि। परन्तु घट तो पूर्णरुप से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। इसलिए "देश से घटोत्पत्तिवाला" पक्ष युक्तियुक्त नहीं है।

"समग्रतया घट उत्पन्न होता है।" यह पक्ष भी उचित नहीं है। क्योंकि यदि घट समग्रतया उत्पन्न होता हो, तब मिट्टी की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। परंतु तब मिट्टी की प्रतीति होती नहीं है ऐसा नहीं है, अर्थात् होती ही है। यह घट मिट्टी का है, सुवर्ण का नहीं है, ऐसे प्रकार की प्रतीति होती ही है।

इसलिए घट जब उत्पन्न होता है, तब वह घटस्वरुप से उत्पन्न होता है, मृत्पिंडरुप से नाश होता है, मिट्टी स्वरुप से ध्रुव रहता है, ऐसा आपको इच्छा न होने पर भी स्वीकार करना ही पडेगा।

वैसे ही जगत में जिस अनुसार से वस्तु सभी लोगो के द्वारा प्रतीत होती है, उस अनुसार से स्वीकार करने में न आये तो सर्ववस्तु की व्यवस्था कभी भी नहीं हो सकेगी। इसलिए यथाप्रतीति अनुसार ही वस्तु हो, अन्यथा प्रकार से नहि और इसलिए ही जो वस्तु नाश हुई थी, वह वस्तु ही आज नाश होती है और भविष्य में भी कथंचित् (पर्याय रुप से) नाश होगी। जो वस्तु स्थिर थी वही वस्तु आज स्थिर रहती है और भविष्य में भी कथंचित् स्थिर रहेगी।

इत्यादि त्रिकालवर्ती सर्ववस्तुओ की उत्पादादि त्रयात्मकता संगत होती है। जगत की समस्त चेतन और अचेतन वस्तुए सर्वदा उत्पादादि त्रयात्मक रुप से ही निर्बाध प्रत्यक्ष से महसूस होती है और त्रयात्मक स्वरुप से अनुभव में आती सर्ववस्तुओ में विरोध का कोई अवकाश नहीं है। अन्यथा (वस्तु के ये त्रयात्मक स्वरुप से किसी को विरोध होना ही नहीं चाहिए और विरोध हो तो) घट वस्तु का अपने रुपादि प्रतीतधर्मो से भी विरोध होने की आपत्ति आयेगी।

जगत की समस्त वस्तुओं की त्रयात्मकता को सिद्धि करता (अनुमान) प्रयोग इस अनुसार से है। "सभी वस्तुएं उत्पादादि त्रयात्मक है। क्योंकि सत् है। जो उत्पादादि त्रयात्मक नहीं है वह सत् भी नहीं है, जैसे की गधे के सिंग (**तथा चेदम्**) जगत की समस्त वस्तुए सत् है। (**तस्माद् तथा**) इसलिए उत्पादादि त्रयात्मक है। यहाँ केवलव्यतिरेकी अनुमान वस्तुओं को त्रयात्मक सिद्ध करता है।

सत्त्व के ये उत्पादादि त्रयात्मक रुप लक्षण से नैयायिको इत्यादि के द्वारा परिकल्पित सत्ता के योग (संबंध) रुप सत्त्व के लक्षण का तथा बौद्धो के द्वारा माने गये अर्थक्रियारुप सत्त्व के लक्षण का ऐसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दोनो ही उनके लक्षणो का खंडन हुआ जानना। (क्योंकि उस लक्षणो में सत्तायोग = सत्ता संबंध सत् पदार्थो में मानना या असत् में इत्यादि दूषण है तथा **"अर्थक्रिया में सत्ता यदि अन्य अर्थक्रिया से माना जाये तो अनवस्थादोष और यदि अर्थक्रिया स्वतः सत् हो तो पदार्थ भी स्वतः सत् हो जायेगा।"** इत्यादि दूषण आता है।) उस लक्षणो का विस्तृत खंडन अन्यग्रंथो से जानना।

अथ येनेति शब्दो योज्यते । येन कारणेनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिष्यते, तेन कारणेन मानयोः-प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणयोर्गोचरो विषयः । अनन्त धर्माः स्वभावाः सत्त्वज्ञेयत्व-प्रमेयत्ववस्तुत्वादयो यस्मिन् तदनन्तधर्मकमनन्तपर्यायात्मकमनेकान्तात्मकमिति यावत् । वस्तु-जीवाजीवादि, उक्तमभ्यधायि । अयं भावः-यत एवोत्पादादित्रयात्मकं परमार्थसत्, तत एवानन्तधर्मात्मकं सर्वं वस्तु प्रमाणविषयः, अनन्तधर्मात्मकतायामेवोत्पादव्य-यध्रौव्यात्मकताया उपपत्तेः, अन्यथा तदनुपपत्तेरिति । अत्रानन्तधर्मात्मकस्यैवोत्पादव्य-यध्रौव्यात्मकत्वं युक्तियुक्ततामनुभवतीति ज्ञापनायैव भूयोऽनन्तधर्मात्मकपदप्रयोगो न पुनः पाश्चात्यपद्योक्तेनानन्तधर्मात्मकपदेनात्र पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयमिति । तथा च प्रयोगः - अनन्तधर्मात्मकं वस्तु, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वात्, यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तदुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमपि न भवति, यथा वियदिन्दीवरमिति व्यतिरेक्यनुमानम् । अनन्ताश्च धर्मा यथैकस्मिन् वस्तुनि भवन्ति, तथा प्रागेव दर्शितम् । धर्माश्चोत्पद्यन्ते व्ययन्ते च, धर्मी च द्रव्यरूपतया सदा नित्यमवतिष्ठते । धर्माणां धर्मिणश्च कथञ्चिदनन्यत्वेन धर्मिणः सदा सत्त्वे कालत्रयवर्तिधर्माणामपि कथञ्चिच्छक्तिरूपतया सदा सत्त्वं, अन्यथा धर्माणामसत्त्वे कथञ्चित्तदभिन्नस्य धर्मिणोऽप्यसत्त्वप्रसङ्गात् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

अब श्लोक में "येन" शब्द को जोडते है - जिस कारण से उत्पाद, व्यय और स्थिरता से युक्तवस्तु को सत् चाहा जाता है, उस कारण से प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के विषय अनंतधर्मात्मक जीवादि पदार्थ कहे जाते है।

जिसमें सत्त्व, प्रमेयत्व, अभिधेयत्व आदि अनंत स्वभाव होते है, वह अनंतधर्म, अनंत पर्यायात्मक या अनेकान्तात्मक कहे जाते है। श्लोक में **"वस्तु"** शब्द से जीवाजीवादि पदार्थ कहे गये है। तात्पर्य यह है कि... जिस कारण से ही उत्पादादित्रयात्मक वस्तु परमार्थसत् है, उस कारण से ही अनंतधर्मात्मक सर्वजीवाजीवादि पदार्थ (प्रत्यक्ष और परोक्ष) प्रमाण के विषय है।

वस्तु की अनंतधर्मात्मकता में ही उत्पादादि त्रयात्मकता संगत होती है। अर्थात् वस्तु को अनंत धर्मवाली मानेंगे तो ही उसमें उत्पादादि तीन स्वभाव संगत होते है। अन्यथा संगत होते नहीं है।

वैसे ही, यहाँ अनंतधर्मात्मक वस्तु की ही उत्पादादि त्रयात्मकता युक्तियुक्त के रुप में अनुभवपथ में आती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् अनंतधर्मात्मकता का उत्पादादि त्रयात्मकता के साथ अविनाभाव है, वह बताने के लिए ही यह श्लोक-५७ में "**अनंतधर्मात्मक**" पद का पुनः प्रयोग किया है । इसलिए पहले के श्लोक-५६में "**अनंतधर्मात्मक**" पद का ग्रहण किया होने पर भी इस श्लोक में पुनः ग्रहण करने से, यहाँ पुनरुक्ति दोष की शंका मत करे ।

प्रयोग : वस्तु अनंतधर्मात्मक होती है । क्योंकि उसमें उत्पादादि तीन धर्म होते है । जो अनंतधर्मात्मक नहीं है, उसमें उत्पादादि तीन धर्म होते नहीं है । जैसे कि, आकाशकुसुम । यह केवल व्यतिरेकी अनुमान वस्तु को निर्विवादरुप से अनंतधर्मात्मक सिद्ध करती है और जिस अनुसार से एक वस्तु में अनंता धर्म है, उसे पहले बताया ही है ।

धर्म उत्पन्न होते है और विनाश पाते है, धर्मी द्रव्यरुप से स्थिर रहता है, नित्य है । धर्म और धर्मी में कथंचित् अभेद होने के कारण धर्मी हंमेशा विद्यमान होने से अर्थात् धर्मी सदा स्थायी और नित्य है, तो उससे अभिन्न कालत्रयवर्ती धर्म भी कथंचित् शक्तिरुप से हंमेशा रहता है । अर्थात् धर्म और धर्मी कथंचित् अभिन्न है और धर्मी हंमेशा विद्यमान रहता होने से उससे अभिन्न ऐसे त्रिकालवर्ती धर्म भी कथंचित् शक्तिरुप से हंमेशा विद्यमान ही है । अन्यथा (अर्थात् धर्मी नित्य विद्यमान होने पर भी उससे अभिन्न ऐसे धर्म कथंचित् शक्तिरुप से विद्यमान न हो तो) धर्मो की अविद्यमानता में धर्मो से कथंचित् अभिन्न ऐसे धर्मी भी अविद्यमान बन जाने की आपत्ति आयेगी ।

न च धर्मिणः सकाशादेकान्तेन भिन्ना एवाभिन्ना एव वा धर्माः, तथानुपलब्धेः, कथञ्चित्तदभिन्नानामेव तेषां प्रतीतेश्च । न चोत्पद्यमानविपद्यमानतत्तद्धर्मसद्भावव्यतिरेकेणापरस्य धर्मिणोऽसत्त्वमेवेति वक्तव्यं, धर्म्याधारविरहितानां केवलधर्माणामनुपलब्धेः, एकधर्म्याधाराणामेव च तेषां प्रतीतेः, उत्पद्यमानविपद्यमानधर्माणामनेकत्वेऽप्येकस्य तत्तदनेकधर्मात्मकस्य द्रव्यरूपतया ध्रुवस्य धर्मिणोऽबाधिताध्यक्षगोचरस्यापह्नोतुमशक्यत्वात्, अबाधिताध्यक्षगोचरस्यापि धर्मिणोऽपह्नवे सकलधर्माणामपह्नवप्रसङ्गात् । तथा च सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिरिति सिद्धमनन्तधर्मात्मकं वस्तु । प्रयोगश्चात्र–विवादास्पदं वस्त्वेकानेकनित्यानित्यसदसत्सामान्यविशेषाभिलाप्यानभिलाप्यादिधर्मात्मकं, तथैवास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानत्वात्, यद्यथैवास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानं तत्तथैव प्रमाणगोचरतयाभ्युपगन्तव्यम् यथा घटो घटरूपतया प्रतीयमानो घटतयैव प्रमाणगोचरोऽभ्युपगम्यते न तु पटतया, तथैवास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानं च वस्तु, तस्मादेकानेकाद्यात्मकं प्रमाणगोचरतयाभ्युपगन्तव्यम् । न चात्र स्वरूपासिद्धो हेतुः, तथैवास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानत्वस्य सर्वत्र वस्तुनि विद्यमानत्वात् । न हि द्रव्यपर्यायात्मकाभ्यामेकानेकात्मकस्य १ नित्यानित्यात्मकस्य च २ स्वरूपपररूपाभ्यां सदसदात्मकस्य ३ सजातीयेभ्यो विजातीयेभ्यश्चानुवृत्तव्या-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वृत्तरूपाभ्यां सामान्यविशेषात्मकस्य ४ स्वपरपर्यायाणां क्रमेणाभिलाप्यत्वेन युगपत्तेषामनभिलाप्यत्वेन चाभिलाप्यानभिलाप्यात्मकस्य च ५ सर्वस्य पदार्थस्यास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानत्वं कस्यचिदसिद्धम् । तत एव न संदिग्धासिद्धोऽपि, न खल्वबाधकतया प्रतीयमानस्य वस्तुनः संदिग्धत्वं नाम । नापि विरुद्धः, विरुद्धार्थसंसाधकत्वाभावात् । न हि साङ्ख्यसौगताभिमतद्रव्यैकान्तपर्यायैकान्तयोः काणादयौगाभ्युपगतपरस्परविविक्तद्रव्यपर्यायैकान्ते च तथैवास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानत्वमास्ते, येन विरुद्धः स्यात् । नापि पक्षस्य प्रत्यक्षादिबाधा, येन हेतोरकिञ्चित्करत्वं स्यात् । नापि दृष्टान्तस्य साध्यविकलता साधनविकलता वा, न खलु घटस्यैकानेकादिधर्मात्मकत्वम् तथैवास्खलत्प्रत्ययप्रतीयमानत्वं चासिद्धं, प्रागेव दर्शितत्वात् । तस्मादनवद्यं प्रयोगमुपश्रुत्य किमित्यनेकान्तो नानुमन्यते ।

व्याख्या का भावानुवाद :

एकांत से धर्मी से धर्म भिन्न या अभिन्न होते नहीं है। क्योंकि वैसे प्रकार की उपलब्धि होती नहीं है और धर्मी से कथंचित् अभिन्न ही धर्मो की प्रतीति होती है। अर्थात् धर्मी से धर्म एकांत से भिन्न या अभिन्न नहीं है क्योंकि वैसे प्रकार की प्रतीति नहीं है और धर्मी से कथंचित् अभिन्न धर्मो की ही प्रतीति होती है। अर्थात् कोई भी प्रमाण द्वारा धर्मी से धर्म एकांत से अभिन्न या भिन्न सिद्ध होते नहीं है। परंतु प्रमाण के द्वारा धर्मी से धर्म कथंचित् अभिन्न ही प्रतीत होते है। (यहाँ अब "न... वक्तव्यं" के बीच बौद्ध मत है, उसको बताके वह योग्य नहीं है, ऐसा ग्रंथकार श्री "**न...वक्तव्यं**" द्वारा कहेंगे।

पूर्वपक्ष (बौद्ध) : उत्पन्न होनेवाले और विनाश पानेवाले धर्मो को छोडकर अन्य कोई अतिरिक्त धर्मी का सद्भाव ही नहीं है। अर्थात् धर्म ही प्रतिक्षण उत्पन्न होता है और विनाश पाता है। उस धर्मो में रहनेवाला कोई स्थायी अन्वयी धर्मी ही नहीं है।

उत्तरपक्ष (जैन) : ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि धर्मीरुप आधाररहित केवल धर्मो की उपलब्धि होती नहीं है। धर्मीरुप एक आधार में रहे हुए धर्मो की ही प्रतीति होती है। अर्थात् धर्म कोई न कोई आधारभूत आधार में ही प्रतीत होता है। उत्पद्यमान और विपद्यमानधर्म अनेक, भिन्न और अनित्य होने पर भी उस उस अनेक धर्मो का आधारभूत धर्मी द्रव्यरुप से ध्रुव-स्थिर और नित्य है। तादृश धर्मी अबाधित प्रत्यक्षप्रमाण का विषय बनता है। इसलिए धर्म का अपलाप करना संभव नहीं है। यदि आप लोग अबाधित प्रत्यक्ष प्रमाण के विषयभूत धर्मी का भी अपलाप करोंगे तो, उसी न्याय से सकल (सभी) धर्मो के अपलाप का भी प्रसंग आयेगा और उससे उभय का लोप होने से जगत के समस्त व्यवहारो के उच्छेद की भी आपत्ति आयेगी। (सारांश में "**घट उत्पन्न होता है और विनाश प्राप्त करता है।**" इस प्रतीति में उत्पाद और विनाशरुप धर्म के आधारभूत घटरुपधर्मी अनुभवसिद्ध ही है। इसलिए) इस अनुसार से वस्तु अनंतधर्मात्मक सिद्ध होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोग : विवादास्पद वस्तु = चर्चा का विषय बनी हुई जगत की समस्त वस्तु एक-अनेक, नित्य-अनित्य, सत्-असत्, सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य आदि रुप से अनंतधर्मात्मक है। क्योंकि उसी अनुसार से ही (अनंतधर्मात्मक रुप से ही) अबाधितप्रतीति का विषय बनती है। जो पदार्थ जिस स्वरुप से ही अबाधितप्रतीति का विषय बनता है, वह पदार्थ उसी स्वरुप से ही प्रमाण का विषय बनता है। जैसे कि, घट पदार्थ घट स्वरुप से प्रतीति का विषय बनता है। इसलिए वह घट स्वरुप से ही प्रमाण का विषय बनता है, परंतु पटस्वरुप से प्रमाण का विषय बनता नहीं है। उस अनुसार से ही अबाधित प्रतीति का विषय बनती वस्तु है, इसलिए अनंतधर्मात्मक वस्तु ही प्रमाण के विषयके रुप से माननी चाहिए। अर्थात् नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि स्वरुप से ही समस्त पदार्थो का निर्बाधित प्रतिभास होता है। इसलिए समस्त वस्तुए अनेक-एक आदि अनेकान्तात्मक रुप से ही प्रमाण का विषय माननी चाहिए।

हमारा हेतु स्वरुपासिद्ध भी नहीं है। क्योंकि अनंतधर्मात्मकरुप से ही अबाधित प्रतीति का विषय बनती वस्तुएं सर्वत्र विद्यमान है। अर्थात् अनेकान्तात्मकरुप से ही समस्त वस्तुओ का अबाधित प्रतिभास होता है।

द्रव्यरुप से वस्तु एक और नित्य है। पर्याय की दृष्टि से वस्तु अनेक और अनित्य है। स्व-रुप, स्व-क्षेत्र आदि की दृष्टि से वस्तु सदात्मक है, पर-रुप, पर-क्षेत्र आदि की दृष्टि से वस्तु असदात्मक है। सजातीय पदार्थो में एक जैसे अनुवृत्त = अनुगत प्रत्यय का कारण होने से वस्तु सामान्यात्मक है। विजातीय पदार्थो से व्यावृत्ति का कारण होने से (अर्थात् व्यावृत्त प्रत्यय का कारण होने से) वस्तु विशेषात्मक है। (वस्तु के) स्व-पर पर्याय क्रम से शब्दो के द्वारा कहे जा सकते होने से वस्तु अभिलाप्य = वाच्य है। (वस्तु के स्व-पर पर्याय युगपत् शब्दो के द्वारा कहे जा सकते न होने से वस्तु अनभिलाप्य= अवाच्य है। अर्थात् एक साथ वस्तु के स्व-पर पर्याय कहने के लिए कोई शब्द न होने से वस्तु अवाच्य है। इस तरह से सर्व वस्तु के नित्य, एक आदि अनेक धर्म अस्खलित = निर्बाधितप्रतीति के विषय बनते होने से वस्तु की निर्बाधित प्रतीति किसी को भी असिद्ध नहीं है और इसलिए ही उक्तप्रतीति निर्बाधित रुप से सर्वजन प्रसिद्ध होने से, उसमें संदेह का कोई अवकाश नहीं है। इसलिए ही हमारा हेतु संदिग्धासिद्ध भी नहीं है।

हमारा हेतु विरुद्ध भी नहीं है। क्योंकि हेतु द्वारा कोई भी विरुद्ध अर्थ की सिद्धि होती नहीं है। हमारा हेतु साध्य से विरुद्ध अर्थ की सिद्धि करता न होने से विरुद्ध भी नहीं है। सांख्यो के द्वारा परिकल्पित द्रव्यैकान्त=सर्वथा नित्यत्व, सौगत अभिमत पर्यायैकान्त=सर्वथा अनित्यत्व, (क्षणिकत्व), वैशेषिक और नैयायिक के द्वारा स्वीकृत द्रव्य-पर्याय की एकांत से भिन्नता (तथा द्रव्य, गुण, कर्म आदि की सर्वथा भिन्नता) निर्बाधित प्रतीति का विषय बनती नहीं है, कि जिससे उसके द्वारा हमारा अनेकान्तात्मकता की सिद्धि करने वाला हेतु विरुद्ध बन जायें।

हमारा पक्ष प्रत्यक्षादि प्रमाणो से बाधित भी नहीं है, कि जिससे हेतु (बाधित बनके) अकिंचित्कर बन जाये। अर्थात् वस्तु की अनेकान्तात्मकता किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं है, कि जिससे हेतु अकिंचित्कर (साध्य सिद्धि के लिए निष्क्रिय) बन जाये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हमारा घट नाम का दृष्टांत साध्यविकल (साध्यशून्य) या साधनविकल (साधन-शून्य) नहीं है। क्योंकि घट की एक-अनेक आदि धर्मात्मकता निर्बाधितप्रतीति का विषय बनती होने से असिद्ध नहीं है। अर्थात् घट में रहे हुए एक-अनेक आदि धर्म निर्बाधित प्रतीति के विषय बनते है और हमने वह प्रक्रिया पहले बताई ही है। इसलिए (इस निर्दोषअनुमान प्रयोग से जब निर्बाधरुप से वस्तु की अनेकान्तात्मकता सिद्ध हो जाती है, तब) इस निर्दोष अनुमान प्रयोग को सुनकर आप लोग (परवादि) अनेकान्तवाद को क्यों स्वीकार नहीं करते है!। (वह बडा आश्चर्य है।)

ननु [G-29]सत्त्वासत्त्वनित्यानित्याद्यनेकान्तो दुर्धरविरोधादिदोषविषमविषधरदष्टत्वेन कथं स्वप्राणान्धारयितुं धीरतां दधाति । तथाहि-यदेव वस्तु सत् तदेव कथमसत् ? असच्चेत् सत्कथम् ? इति विरोधः, सत्त्वासत्त्वयोः परस्परपरिहारेण स्थितत्वात्, शीतोष्णस्पर्शवत् । यदि पुनः सत्त्वमसत्त्वात्मना असत्त्वं च सत्त्वात्मना व्यवस्थितं स्यात् तदा सत्त्वासत्त्वयोरविशेषात्प्रतिनियतव्यवहारोच्छेदः स्यात् । एवं नित्यानित्यादिष्वपि वाच्यम् १ । तथा सत्त्वासत्त्वात्मकत्वे वस्तुनोऽभ्युपगम्यमाने सदिदं वस्त्वसद्वेत्यवधारणद्वारेण निर्णीतेरभावात्संशयः २ । तथा येनांशेन सत्त्वं तेन किं सत्त्वमेवाहोस्वित्तेनापि सत्त्वासत्त्वम् । यद्याद्यः पक्षः, तदा स्याद्वादहानिः । द्वितीये पुनः येनांशेन सत्त्वं तेन किं सत्त्वमेवाहोस्वित्तेनापि सत्त्वासत्त्वमित्यनवस्था । तथा येनांशेन भेदः तेन किं भेद एवाथ तेनापि भेदाभेदः ? आद्ये मतक्षतिः । द्वितीये पुनरनवस्था । एवं नित्यानित्यसामान्यविशेषादिष्वपि वाच्यम् ३ । तथा सत्त्वस्यान्यदधिकरणमसत्त्वस्य चान्यदिति वैयधिकरण्यम् ४ । तथा येन रूपेण सत्त्वं तेन सत्त्वमसत्त्वं च स्यादिति संकरः, 'युगपदुभयप्राप्तिः संकरः' इति वचनात् ५ । तथा येन रूपेण सत्त्वं तेनासत्त्वमपि स्यात् येन चासत्त्वं तेन सत्त्वमपि स्यादिति व्यतिकरः, 'परस्परविषयगमनं व्यतिकरः' इति वचनात् ६ । तथा सर्वस्यानेकान्तात्मकत्वेऽङ्गीक्रियमाणे जलादेरप्यनलादिरूपता, अनलादेरपि जलरूपता, ततश्च जलार्थ्यनलादावपि प्रवर्तेत, अनलार्थी च जलादावपीति, ततश्च प्रतिनियतव्यवहारलोपः ७ । तथा च प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधः ८ । ततश्च तादृशो वस्तुनोऽसंभव एव ९ ।

व्याख्या का भावानुवाद :

शंका : एक ही वस्तु में सत्त्व, असत्त्व, नित्य, अनित्य आदि विरोधी धर्मो के सद्भावरुप अनेकांत दुर्धर ऐसे विरोधादि दोषरुप विषम विषधर से डसा गया होने के कारण अनेकांत अपने प्राणो को धारण करने के लिए धीरता किस तरह से रख सकता है ? अर्थात् वस्तु की अनेकान्तात्मकता में विरोधादि अनेकदोष

(G-29) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आते होने से वह अपने स्वरुप को धारण करके रखने में समर्थ नहीं है। (अनेकान्तात्माकता में आते विरोधादिदोष) इस अनुसार से है - (१) यदि वस्तु सत् है, तो वही वस्तु असत् किस तरह से होगी ? **तथा** यदि वस्तु असत् हो, तो सत् किस तरह से होगी ? (उन दोनो में इस तरह से) विरोध है। क्योंकि सत्त्वधर्म और असत्त्वधर्म एकदूसरे का परिहार करके ही अपना अस्तित्व धारण करते है। जैसे कि, शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श। अर्थात् जहाँ शीतस्पर्श है, वहाँ उष्णस्पर्श नहीं है और जहाँ उष्णस्पर्श है, वहाँ शीतस्पर्श नहीं है। इसी ही तरह से सत्त्व, असत्त्वधर्म का परिहार करके अपना अस्तित्व सिद्ध करता है। उसी ही तरह से असत्त्व, सत्त्वधर्म का परिहार करके ही अपना अस्तित्व सिद्ध करता है। इसलिए जैसे शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श को एक साथ रहने में विरोध है, वैसे सत्त्व और असत्त्व को भी एकसाथ वस्तु में रहने में विरोध है।

उपरांत, यदि (सत्त्व और असत्त्व का अस्तित्व एकदूसरे का परिहार करके स्थित न हो तो) सत्त्व असत्त्वरुप से और असत्त्व सत्त्वरुप से स्थित बन जायेगा। क्योंकि दोने अपने अस्तित्व में एकदूसरे का परिहार करते न होने से सत्त्व और असत्त्व में कोई विशेषता नहीं रहेगी। दोनो एकरुप बन जायेंगे। उसके योग से "**एक मौजूद (उपस्थित) है और एक गैरमौजूद (अनुपस्थित) है।**" इत्यादि प्रतिनियत व्यवहारो का उच्छेद हो जायेगा।

इस अनुसार से नित्यत्व-अनित्यत्व, अभिलाप्य - अनभिलाप्य इत्यादि में भी विरोधदोष आता है, वह सोच लेना। (२) वस्तु के सत्त्वासत्त्वात्मकता का स्वीकार करने में (अर्थात् वस्तु को सत् और असत् उभय स्वरुप से स्वीकार करने में (अर्थात् वस्तु को सत् और असत् उभयस्वरुप से मानने में) "**यह वस्तु सत् है या असत् है**-ऐसे प्रश्न में निर्णय होता न होने से संशय पैदा होता है। (इस संशय का निराकरण करने के लिए सोचते हुए, वैसे ही दूसरे दोष आते है, वह अब बताये जाते है।) वस्तु जिस अंश से (स्वरुप से) सत् है (वह वस्तु) क्या उसी स्वरुप से सत् ही है या सत्त्व और असत्त्व दोनो ही धर्मोवाली होती है।

यदि "**वस्तु जो स्वरुप से सत् है, उसी स्वरुप से सत् ही है।**" ऐसा प्रथम पक्ष कहोंगे तो स्याद्वाद की हानी होगी। क्योंकि वस्तु का जो स्वरुप सत् है, उसी स्वरुप से सत् मानने से एकांतवाद हो जायेगा और सर्वथा सत् ही पक्ष मानने से स्याद्वाद किस तरह से टिक सकता है ?

(३) अब यदि "**जो स्वरुप से वस्तु सत् है उसी ही स्वरुप से वस्तु सदसत् होती है।**" यह द्वितीय पक्ष कहोंगे तो अनवस्था दोष आयेगा। क्योंकि वहाँ भी वह प्रश्न उपस्थित हुआ ही करेगा कि... वस्तु जो रुप से सत् है, उसी स्वरुप से सत् है या सदसत् है ? यदि सत् है तो स्याद्वाद की हानी और सदसत् है तो वही प्रश्न पुनः उपस्थित होगा। इस तरह से अप्रमाणिकधर्मो की कल्पना करने से **अनवस्था** दोष आयेगा।

उसी ही अनुसार से वस्तु में जो अंश से=स्वरुप से भेद है, वही स्वरुप से वस्तु में भेद है या वही स्वरुप से वस्तु में भेदाभेद है ? प्रथम पक्ष में स्याद्वाद की हानी है। क्योंकि उसी ही स्वरुप से वस्तु में भेद मानने से एकांतवाद हो जायेगा। और अनेकांतवाद की हानि हो जायेगी। द्वितीय पक्ष में उपर बताये अनुसार से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अप्रमाणिकधर्मो की कल्पना करने से अनवस्था दोष आता है। इस तरहसे नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष आदि में सोच लेना।

(४) सत्त्वधर्म का अधिकरण अन्य है और असत्त्वधर्म का अधिकरण अन्य है, क्योंकि जिसमें सत्त्व है, उसमें असत्त्व नहीं है, परंतु उससे अन्य में ही असत्त्व होता है। इसलिए दूषण आता है। (दो विरोधिधर्म एक अधिकरण में रह सकते नहीं है, उस अपेक्षा से यह दोष दिया है।)

(५) (आप जैन लोग वस्तु के सत्त्व और असत्त्व दोनो धर्मो को कथंचित् अभिन्न-तादात्म्य मानते हो इसलिए) जो स्वरुप से वस्तु में सत्त्व है, उसी स्वरुप से वस्तु में सत्त्वासत्त्व होगा। क्योंकि आप वस्तु के सत्त्व और असत्त्व धर्मो को कथंचित् अभिन्न मानते हो। इसलिए वस्तु में दोनो धर्मो की एकसाथ प्राप्ति होने के कारण संकर दोष आता है। इसलिए कहा भी है कि... **"एक साथ उभय धर्मो की प्राप्ति को संकर कहा जाता है।"**

(६) (आप जैन लोग वस्तु के सत्त्व और असत्त्व दोनो धर्मो को कथंचित् अभिन्न मानते होने से) जो स्वरुप से वस्तु में सत्त्व होगा उसी स्वरुप से वस्तु में असत्त्व होगा ही। तथा जो स्वरुप से वस्तु में असत्त्व होगा, उस स्वरुप से वस्तु में सत्त्व भी होगा ही। इससे व्यतिकर दोष आयेगा। क्योंकि कहा है कि **"एकदूसरे के विषय में गमन करना वह व्यतिकरदोष है।"** अर्थात् सत्त्व के विषय में असत्त्व और असत्त्व के विषय में सत्त्व (उपर कहे अनुसार से) पहुंच जाता है। इसलिए स्पष्ट रुप से व्यतिकर दोष आता है।

(७) तथा सर्व वस्तुओ को अनेकान्तात्मक स्वीकार करने में अर्थात् सर्ववस्तुओ में अनेकधर्मो का स्वीकार करने मे जलादि भी अग्नि आदिरुप बन जायेंगे और इससे जलका अर्थी अग्नि आदि में भी प्रवृत्ति करेगा और अग्नि का अर्थी जलादि में भी प्रवृत्ति करेगा। उससे (जलादि का अर्थी जलादि में ही प्रवृत्ति करता है और अग्नि आदि का अर्थी अग्नि आदि में ही प्रवृत्ति करता है। ऐसे) प्रतिनियत लोकव्यवहार का अपलाप हो जायेगा।)

(८) उस अनुसार से वस्तु की अनेकान्तात्मकता को सिद्ध करने के लिए किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाणो की सहायता मिलती नहीं है। परंतु उसमें वे प्रमाण बाधा ही देते है। इसलिए प्रमाणबाधा नामका दोष भी आता है।

(९) वस्तु की अनेकान्तात्मकता में प्रमाणबाधा होने से तादृशवस्तु किसी भी प्रमाण का विषय बनती नहीं है। जो वस्तु प्रमाण का विषय न बनती हो, उस वस्तु का जगत में संभव ही नहीं है। क्योंकि जो वस्तु जगत में विद्यमान होती है, वह वस्तु कोई-न-कोई प्रमाण का विषय अवश्य बनती ही है। इसलिए तादृशवस्तु का असंभव होने से तादृशवस्तु के स्वीकार में असंभव दोष भी आता है।

अत्रोच्यते। यदेव सत्तदेव कथमसदित्यादि यदवादि वादिवृन्दवृन्दारकेण तद्व-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चनरचनामात्रमेव, विरोधस्य[G-30] प्रतीयमानयोः सत्त्वासत्त्वयोरसंभवात्, तस्यानुपलम्भलक्षणत्वात्, वन्ध्यागर्भे स्तनन्धयवत् । न च स्वरूपादिना वस्तुनः सत्त्वे तदैव पररूपादिभिरसत्त्वस्यानुपलम्भोऽस्ति, येन सहानवस्थानलक्षणो विरोधः स्यात्, शीतोष्णवत् । परस्परपरिहारस्थितिलक्षणस्तु विरोध एकत्राम्रफलादौ रूपरसयोरिव संभवतोरेव सदसत्त्वयोः स्यात्, न पुनरसंभवतोः संभवदसंभवतोर्वा । एतेन वध्यघातकभावविरोधोऽपि फणिनकुलयोर्बलवदबलवतोः प्रतीतः सत्त्वासत्त्वयोरशङ्कनीय एव, तयोः समानबलत्वात्, मयूराण्डरसे नानावर्णवत् । किं च, अयं विरोधः किं स्वरूपमात्रसद्भावकृतः १ उतैककालासंभवेन २ आहोस्विदेकद्रव्यायोगेन ३ किमेककालैकद्रव्याभावतः ४ उतैककालैकद्रव्यैकप्रदेशासंभवात् ५ । तत्राद्यो न युक्तः, यतो न हि शीतस्पर्शोऽनपेक्षितान्यनिमित्तः स्वात्मसद्भाव एवोष्णस्पर्शेन सह विरुध्यते, उष्णस्पर्शो वेतरेण, अन्यथा त्रैलोक्येऽप्यभावः स्यादनयोरिति । नापि द्वितीयः, एकस्मिन्नपि काले पृथक् पृथग्द्वयोरप्युपलम्भात् । नापि तृतीयः, एकस्मिन्नपि लोहभाजने रात्रौ शीतस्पर्शो दिवा चोष्णस्पर्शः समुपलभ्यते, न च तत्र विरोधः । नापि तुरीयः, धूपकडुच्छकादौ द्वयोरप्युपलम्भात् । पञ्चमोऽपि न घटते, यत एकस्मिन्नेव तप्तलोहभाजने स्पर्शापेक्षया यत्रैवोष्णत्वं तत्रैव प्रदेशे रूपापेक्षया शीतत्वम् । यदि हि रूपापेक्षयाप्युष्णत्वं स्यात्, तर्हि जननयनदहनप्रसङ्गः । नन्वेकस्य युगपदुभयरूपता कथं घटत इति चेत् ? न, यतो यथैकस्यैव पुरुषस्यापेक्षावशाल्लघुत्वगुरुत्वबालत्व[G-31]वृद्धत्वयुवत्वपुत्रत्वपितृत्वगुरुत्वशिष्यत्वादीनि परस्परविरुद्धान्यपि युगपदविरुद्धानि तथा सत्त्वासत्त्वादीन्यपि । तस्मान्न सर्वथा भावानां विरोधो घटते कथञ्चिद्विरोधस्तु सर्वभावेषु तुल्यो न बाधकः १ ।

व्याख्या का भावानुवाद :

समाधान : (परवादि ने वस्तु की अनेकान्तात्मकता में जो विरोधादिदोष दिये थे, उसके खंडन की प्रक्रिया अब शुरु होती है। उसमें प्रथम दिये गये विरोध दोष का परिहार किया जाता है।)

(१) परवादियों के द्वारा "जो वस्तु सत् हो वही वस्तु असत् किस तरह से हो ?" इत्यादि कथन से अनेकान्तात्मकता में जो विरोध दोष दिया था, वह मात्र वचनरचना में ही रमणीय है। परमार्थ से बकवास है। (यहाँ विरोधदोष की भिन्न-भिन्न व्याख्यायें करके उसमें से एक भी विरोधदोष की व्याख्या हमारी वस्तु की अनेकान्तात्मकता में बाधक नहीं है, वह क्रमशः बताया जाता है।)

(१) जब वस्तु में सत्त्व और असत्त्व दोनो प्रतीत होते हो, तब उसमें विरोध किस तरह से हो सकेगा ?

(G-30-31) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् एक ही वस्तु में प्रतीत होते सत्त्व और असत्त्व के विरोध का संभव नहीं है। क्योंकि विरोध का लक्षण अनुपलब्धि है। अर्थात् विरोध उसमें होता है कि जो दो की एकसाथ अनुपलब्धि होती हो। जैसे कि (वन्ध्या स्त्री के गर्भ में बालक होता नहीं है। इसलिए) वन्ध्या स्त्री के गर्भ में बालक का विरोध होता है।

तथा (जिस समय) स्वरुप की अपेक्षा से सत्त्व रहता है, उस समय पररुप की दृष्टि से असत्त्व की अनुपलब्धि होती नहीं है, कि जिससे **सह अनवस्थान** रुप विरोध हो। एक ही वस्तु में एक ही समय शीत और उष्ण एकसाथ रह नहीं सकते। इसलिए उसमें सहानवस्थान - एकसाथ नहि रहना - नाम का विरोध आता है। परंतु स्वरुप की अपेक्षा से सत्त्व और पररुप की अपेक्षा से असत्त्व को वस्तु में रखने से तादृशविरोध आता नहीं है।

कहने का मतलब यह है कि वस्तु जब शीत हो तब, उसमें उष्ण की अनुपलब्धि होती है और वस्तु उष्ण हो तब, उसमें शीत की अनुपलब्धि होती है। इसलिए दोनो एकसाथ नहि रहने रुप विरोध उभय में आता है। परंतु वस्तु में रहे हुए सत्त्व और असत्त्व के लिए ऐसा नहीं है। क्योंकि यदि वस्तु में जब सत्त्व रहता है, तब उसमें (किसी भी अपेक्षा से) असत्त्व की अनुपलब्धि होती है, तो उन दोनो के बीच विरोध माना जा सकेगा। परंतु वैसा नहीं है। घट जो समय घट है, उस समय पट नहीं है। इसलिए घट में घटस्वरुप की अपेक्षासे सत्त्व है और पटस्वरुप की अपेक्षा से असत्त्व है। इसलिए उभय को भिन्न-भिन्न अपेक्षा से एक वस्तु में मानने में कोई विरोध नहीं है।

परस्पर परिहार स्थिति=स्वतंत्रस्थितिरुप विरोध। जैसे एक आम के फल में रुप और रस की विद्यमानता हो तब ही रुप की स्वतंत्रस्थिति रस के परिहारपूर्वक होती है और रस की स्वतंत्रस्थिति रुप के परिहारपूर्वक होती है। इसलिए स्वतंत्रस्थिति विरोध मानना हो तो पहले एक वस्तु में दो धर्मो का स्वीकार करना ही पडेगा। इसलिए एक ही वस्तु में सत्त्व और असत्व का परस्पर परिहार (= संभवित ऐसे सत्त्व-असत्त्व का ही परस्पर परिहार = स्वतंत्रस्थितिरुप विरोध) आयेगा। परंतु दोनो एक वस्तु में अविद्यमान हो तब तथा एक विद्यमान हो और एक अविद्यमान हो तब तादृशविरोध आता नहीं है। इसलिए एक निर्णय हुआ कि तादृशविरोध दोनो धर्म एक वस्तु में विद्यमान हो तब ही आयेगा। तब तो वस्तु में उभय की सत्ता सिद्ध हो जाती है। उससे वस्तु की अनेकान्तात्मकता स्वयं ही सिद्ध हो जाती है।

उपरांत, वध्य-घातकभावरुप विरोध बलवान सांप और कमजोर नेवले के बीच ही प्रतीत होता है। परंतु वह विरोध सत्त्व और असत्त्व के बीच शंका करने योग्य नहीं है। क्योंकि सत्त्व और असत्त्व समान समान बलवाले है। अर्थात् बलवान सांप से कमजोर नेवला मारा जाता है। इसलिए उन दोनो के बीच वध्य-घातकभाव स्वरुप विरोध है। परंतु सत्त्व या असत्त्व समान बलवाले होने से परस्पर एकदूसरे को मार नहीं सकते। इसलिए तादृश विरोध उन दोनो के बीच नहीं है। जैसे मोर के अण्डे के रस में स्वभाव से अनेक वर्ण होते है। वैसे वस्तु में स्वभाव से ही सत्त्व-असत्त्व आदि अनेक धर्म होते है।

अब आप बताये कि ये सत्त्व - असत्त्व आदि धर्मो में विरोध किस कारण से आता है? (१) क्या दोनो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में स्वरुपमात्र के सद्भाव से किया गया विरोध है। अर्थात् दोनो के स्वरुप स्वतंत्र होने के कारण उन दोनो में विरोध है ? या (२) वे दोनो एक समय में एकसाथ रह सकते नहीं है इसलिए विरोध है ? या (३) वे दोनो एक द्रव्य में एकसाथ रह सकते न होने से विरोध है ? या (४) एक द्रव्य में एक समय साथ रहने में विरोध है ? या (५) एक समय एक द्रव्य में एक प्रदेश में साथ रहने में विरोध है ?

उसमें **"दोनो का स्वतंत्र स्वरुप होने से साथ रहने में विरोध है।"** यह प्रथम पक्ष योग्य नहीं है। क्योंकि.. शीतस्पर्श अपने स्वरुप के मात्र सद्भाव से, अन्य समीपदेश संयोग आदि निमित्तो की अपेक्षा बिना उष्णस्पर्श का विरोधि बनता है तथा उष्णस्पर्श भी अपने स्वरुपमात्र के सद्भाव से तादृश अन्यनिमित्तो से निरपेक्षरुप से शीतस्पर्श का विरोधी बनता है, तो तीनो लोक में भी उन दोनो का अभाव हो जायेगा।

[**पंक्ति का अर्थ :** उसमें प्रथम पक्ष योग्य नहीं है, क्योंकि शीतस्पर्श का अन्यनिमित्तो की अपेक्षा बिना मात्र अपने स्वरुप के सद्भाव से उष्णस्पर्श के साथ विरोध नहीं है या उष्णस्पर्श को भी अन्यनिमित्तो से निरपेक्ष मात्र अपने स्वरुप के सद्भाव से शीतस्पर्श के साथ विरोध नहीं है। अन्यथा (उन दोनो के बीच तादृशविरोध हो तो) तीन लोक में भी उन दोनो का अभाव हो जायेगा। क्योंकि.. शीतस्पर्श अपने स्वरुप के सद्भाव मात्र से कहीं भी रहकर तीन लोक में किसी भी स्थान में रहे हुए उष्णस्पर्श का नाश कर देगा और उष्णस्पर्श भी उसी प्रकार से शीतस्पर्श का नाश कर देगा। इसलिए दोनो का परस्पर नाश होने से तीन लोक में भी दोनो का सर्वथा अभाव सिद्ध हो जायेगा।]

एक काल की अपेक्षा से विरोध सूचित करता द्वितीयपक्ष भी योग्य नहीं है। क्योंकि एक ही काल में दोनो का पृथक् पृथक् सद्भाव उपलब्ध होता ही है। (जैसे कि... जिस समय बर्फ शीत है, उस समय अग्नि उष्ण है।)

एक द्रव्य की अपेक्षा से विरोधवाला तृतीयपक्ष भी योग्य नहीं है। अर्थात् एक द्रव्यरुप आधार की अपेक्षा से भी सत्त्व-असत्त्व धर्म को विरोध नहीं है। क्योंकि... एक ही लोहे के भाजन में रात में शीतस्पर्श और दिन में उष्णस्पर्श उपलब्ध होता है। इसलिए एक द्रव्य में उन दोनो का विरोध नहीं है।

"एक द्रव्य में एक समय उभय धर्म का विरोध है।" यह चौथा पक्ष भी उचित नहीं है। क्योंकि.. धूपदान इत्यादि में एक समय एक तरफ उष्ण स्पर्श और दूसरी तरफ शीत स्पर्श का अनुभव होता ही है।

"एक समय में एक द्रव्य में एक प्रदेश में उभय धर्मो का विरोध है।" यह पांचवा पक्ष भी संगत नहीं है। क्योंकि एक ही तपे हुए लोहे के भाजन में स्पर्श की अपेक्षा से जो प्रदेश में उष्णत्व है, उसी प्रदेश में रुप की अपेक्षा से शीतत्व है। (वे तपे हुए लोहे के भाजन में जब स्पर्श की अपेक्षा से उष्णत्व होता है, तब भी) यदि रुप की अपेक्षा से उष्णत्व हो तो (उस भाजन को देखने से) मनुष्य की आंख जल जाने की आपत्ति आयेगी।

शंका : एक वस्तु में एक साथ उभयरुपता किस तरह से संगत होती है ? अर्थात् एक वस्तु में परस्पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विरोधी धर्म एकसाथ किस तरह से रहेंगे, वह समज में नहीं आता है ?

समाधान : ऐसा मत कहना। क्योंकि जैसे एक ही पुरुष में अलग-अलग अपेक्षाओ के कारण लघुत्व, गुरुत्व, बालत्व, वृद्धत्व, युवत्व, पुत्रत्व, पितृत्व, गुरुत्व, शिष्यत्व आदि परस्पर विरुद्धधर्म भी होते है। वैसे एक ही वस्तु में भिन्न भिन्न अपेक्षा के वश से परस्पर विरुद्ध ऐसे सत्त्व-असत्त्व, नित्य-अनित्य आदि धर्मो को मानने में विरोध नहीं है। इसलिए वस्तुओ में सर्वथा विरोध होता नहीं है। कथंचित् विरोध है, वह तो सर्ववस्तुओ में तुल्य है। उस कथंचित् विरोध के कारण ही एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद सिद्ध होता है। इसलिए सर्व वस्तुओ में समानतया रहा हुआ कथंचित् विरोधरुप भेद बाधक नहीं है।

तथा संशयोऽपि न युक्तः, सत्त्वासत्त्वयोः[G-32] स्फुटरूपेणैव प्रतीयमानत्वात् । अदृढप्रतीतौ हि संशयः, यथा क्वचित्प्रदेशे स्थाणुपुरुषयोः । तथा यदुक्तं "अनवस्था" इति, तदप्यनुपासितगुरोर्वचः, यतः [G-33]सत्त्वासत्त्वादयो वस्तुन एव धर्माः, न तु धर्माणां धर्माः, 'धर्माणां धर्मा न भवन्ति' इति वचनात् । न चैवमेकान्ताभ्युपगमादनेकान्तहानिः, अनेकान्तस्य[G-34] सम्यगेकान्ताविनाभावित्वात्, अन्यथानेकान्तस्यैवाघटनात् नयार्पणादेकान्तस्य प्रमाणादनेकान्तस्यैवोपदेशात्, तथैव दृष्टेष्टाभ्यामविरुद्धस्य तस्य व्यवस्थितेः । किं च, प्रमाणार्पणया सत्त्वेऽपि सत्त्वासत्त्वकल्पनापि भवतु । न च तत्र कश्चनापि दोषः । ननूक्तमनवस्थेति चेत् ? न, यतः साप्यनेकान्तस्य भूषणं न दूषणं, अमूलक्षि(क्ष)तिकारित्वेन प्रत्युतानेकान्तस्योद्दीपकत्वात्, मूलक्षि(क्ष)तिकरी ह्यनवस्था दूषणम् । यदुक्तम्-"मूल क्षि(क्ष)तिकरीमाहुरनवस्थां हि दूषणम् । वस्त्वानन्त्येऽप्यशक्तौ च नानवस्थापि वार्यते ॥१॥" ततो यथा यथा सत्त्वेऽपि सत्त्वासत्त्वकल्पना विधीयते, तथा तथानेकान्तस्यैवोद्दीपनं न तु मूलवस्तुक्षि(क्ष)तिः । तथाहि-इह सर्वपदार्थानां स्वरूपेण सत्त्वं पररूपेण चासत्त्वम् । तत्र जीवस्य तावत्सामान्योपयोगः स्वरूपं, तस्य तल्लक्षणत्वात्, ततोऽन्योऽनुपयोगः पररूपम्, ताभ्यां सदसत्त्वे प्रतीयेते । तदुपयोगस्यापि विशेषतो ज्ञानस्य स्वार्थाकारव्यवसायः स्वरूपं, दर्शनस्यानाकारग्रहणं स्वरूपं, तद्विपरीतं तु पररूपम्, ततस्ताभ्यां तत्रापि सत्त्वासत्त्वे । तथा पुनर्ज्ञानस्यापि परोक्षस्यावैशद्यं प्रत्यक्षस्य वैशद्यं स्वरूपं, दर्शनस्यापि चक्षुरचक्षुर्निमित्तं चक्षुराद्यालोचनं स्वरूपं, अवधिदर्शनस्याप्यवध्यालोचनं स्वरूपं, अन्यच्च पररूपम्, । ततस्ताभ्यां तत्रापि सत्त्वासत्त्वे । परोक्षस्यापि मतिज्ञानस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं स्वार्थाकारग्रहणं स्वरूपं, अनिन्द्रियमात्रनिमित्तं श्रुतस्य स्वरूपं, प्रत्यक्षस्यापि विकलस्यावधिमनःपर्यायरूपस्य मनोऽक्षानपेक्षं स्पष्टार्थग्रहणं स्वरूपं, सकलप्रत्यक्षस्य सर्वद्रव्यपर्यायसाक्षात्करणं स्वरूपं, ततोऽन्यत्पररूपम् । ताभ्यां पुनरपि तत्रापि सदसत्त्वे प्रतिपत्तव्ये ।

(G-32-33-34) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवमुत्तरोत्तरविशेषाणामपि स्वपररूपे तद्वेदिभिरभ्यूह्ये, तद्विशेषप्रतिविशेषाणामनन्तत्वात् । एवं घटपटादिपदार्थानामपि स्वपरप्ररूपणा कार्या, तदपेक्षया च सत्त्वासत्त्वे प्रतिपाद्ये । एवं च वस्तुनः सत्त्वेऽपि सत्त्वासत्त्वकल्पनायामनेकान्तोद्दीपनमेव, न पुनः कापि क्षि(क्ष)तिरिति ।

व्याख्या का भावानुवाद :

वस्तु की अनेकान्तात्मकता में आपने दिया हुआ संशयदोष भी योग्य नहीं है। क्योंकि वस्तु में (स्वरुप की अपेक्षा से) सत्त्व और (पररुप की अपेक्षा से) असत्त्व स्पष्टतया प्रतीत होता है। इसलिए संशयदोष नहीं है। अस्पष्टप्रतीति में ही संशयदोष आता है। जैसे कि, किसी प्रदेश में होने वाली "यह पुरुष है या स्थाणु है ?" ऐसी चलितप्रतीति अस्पष्ट होने के कारण संशय कहा जाता है।

तथा हमारी वस्तु की अनेकान्तात्मकता में अनवस्था दोष जो व्यक्ति ने दीया है, उसने वास्तव में गुरु की उपासना के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया हो ऐसा लगता नहीं है।क्योंकि सत्त्व-असत्त्व, नित्य-अनित्य आदि वस्तु के धर्म है। परंतु वे धर्मो के धर्म नहीं है। कहा भी है कि, **"धर्मो के धर्म होते नहीं है। धर्म निधर्मक होते है।"**

शंका : "धर्म धर्मरुप ही है।" ऐसा एकांत मानने में तो अनेकांत की हानी हो जाती है।

समाधान : "धर्म धर्मरुप ही है।" ऐसा एकांत मानने में अनेकांत की हानी होती नहीं है। क्योंकि अनेकांत सम्यग् एकांत का अविनाभावी होता है। अन्यथा (अर्थात् जो सम्यग् एकांत ही नहीं है, तो उसके साथ नियतसाहचर्य रखनेवाला समुदायरुप) अनेकांतभी नहीं हो सकेगा। **तथा** एकदेशवाचि नय की अपेक्षा से एकांत और सर्वदेशवाचि प्रमाण की अपेक्षा से अनेकांत माना गया है। (कहने का मतलब यह है कि जो एकांत = एक धर्म वस्तु के दूसरे धर्मो की अपेक्षा रखता है। परंतु दूसरे धर्मो का निराकरण करता नहीं है, उसे सम्यक् एकांत कहा जाता है और वही सुनय का विषय बनता है। जो एकांत अन्य धर्मो का निराकरण करता है, उसे मिथ्या एकांत कहा जाता है और वह दुर्नय का विषय बनता है। सम्यग् एकांतो के समुदायो को ही अनेकांत – अनेकांत धर्मवाली वस्तु कहा जाता है। वह अनेकांतात्मक वस्तु प्रमाण का विषय बनती है।) उस अनुसार से ही दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (अनुमान) के द्वारा अविरुद्ध वस्तु की व्यवस्था होती है। अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा उस व्यवस्था में कोई विरोध नहीं है। प्रत्युत प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण द्वारा वस्तु की अनेकान्तात्मकता सिद्ध होती है।

वैसे ही प्रमाण की दृष्टि से सत्त्व में भी सत्त्वासत्त्व की कल्पना करे, उसमें हमको कोई विरोध नहीं है। क्योंकि उसमें कोई दोष नहीं है। अर्थात् प्रमाण की दृष्टि से सत्त्व भी वस्तु से अभिन्न होने के कारण वस्तुरुप ही हो जाता है। इसलिए सत्त्व में भी (जैसे वस्तु में सत्त्व और असत्त्वरुप उभयधर्म होते है। वैसे सत्त्व वस्तुरुप होने से सत्त्व में भी) सत्त्व और असत्त्व, उभयधर्म मानने में कोई विरोध नहीं है और इसलिए कोई दोष नहीं है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रति शंका : इस प्रकार मानने से अनंतधर्म माननेरुप अनवस्था आयेगी।

प्रति समाधान : ऐसी स्थिति में भी अनवस्था दोष बताना निरर्थक ही है। क्योंकि वह अनवस्था = अनंताधर्मो की कल्पना तो (अनेकांत की साधक होने से) अनेकांत की भूषण है। दूषण नहीं है। क्योंकि तादृश अनंतधर्मो की कल्पनारुप अनवस्था मूल अनेकांत के सिद्धांत की हानी करती नहीं है। परंतु उल्टा अनेकांत की मान्यता को उद्दीपन करने में सहायक बनती है। जो कल्पनाओं की परंपरा ये मूलवस्तु की हानी करे, वही कल्पनाओ की परंपरारुप अनवस्था दूषणरुप है। जिससे कहा भी है कि... **अनवस्था दूषण मूल वस्तु की हानी करनेवाला है। (क्योंकि उससे मूल वस्तु का लोप हो जाता है।)** वस्तु के अनंतधर्मो की विचारणा में (हमारी बुद्धि समर्थ न होने से) ऐसी अशक्ति में भी (वस्तु की विचारणा में अनंता धर्मो की जो प्रामाणिक कल्पना की जाती है, तद्रुप) अनवस्था का निवारण नहीं हो सकता है। अर्थात् तादृश अनवस्था होने पर भी उसका निराकरण नहीं किया जा सकता। परंतु तादृश अनवस्था (वस्तु की अनेकांतात्मकता को सिद्ध करने में साधक होने से दूषणरुप नहीं है,) भूषणरुप है। इसलिए जैसे जैसे सत्त्व में भी सत्त्वासत्त्व की कल्पना की जाती है वैसे वैसे अनेकांत का उद्दीपन होता है। वस्तु की अनेकान्तता प्रकट होती जाती है। परंतु मूल वस्तु की हानी होती नहीं है . (अनेकांतता की उद्दीपक अनवस्था किस तरह से भूषणरुप है और दूषणरुप नहीं है, वह अब बताया जाता है।) सर्व पदार्थो में स्वरुप से सत्त्व और पररुप से असत्त्व है। वे सभी पदार्थो में से) आत्मा में सामान्यतः ज्ञान-दर्शनरुप उपयोग ही स्वरुप है। क्योंकि जीव का (असाधारण) लक्षण उपयोग है। उस उपयोग से भिन्न अनुपयोग (कि जो अचेतन का स्वरुप है, वह चेतन ऐसे) जीव का पररुप है। (यह उपयोग और अनुपयोग से सत्त्व और असत्त्व का विचार किया जाता है तब) आत्मा में उपयोग की अपेक्षा से सत्त्व और अनुपयोग की दृष्टि से असत्त्व प्रतीत होता है।

(आत्मा का उस) उपयोग में भी विशेषतः ज्ञानोपयोग का स्वरुप है स्व और अर्थ का निश्चय करना वह और दर्शनोपयोग का स्वरुप है निराकार सामान्य आलोचन करना वह। उससे विपरीत धर्म पररुप होगा। इसलिए उन दोनो के द्वारा उसमें भी सत्त्व और असत्त्व का विचार करना। ज्ञान में भी परोक्ष का स्वरुप अस्पष्टज्ञान और प्रत्यक्ष का स्वरुप स्पष्टज्ञान है। दर्शन में भी चक्षुदर्शन का स्वरुप चक्षुरिन्द्रिय से होनेवाले ज्ञान के पहले पदार्थ का सामान्य अवलोकन करना वह है और अचक्षुदर्शन का स्वरुप चक्षु से भिन्न इन्द्रियो के द्वारा होनेवाले ज्ञान के पहले पदार्थ का सामान्य अवलोकन करना वह है। अवधिदर्शन का स्वरुप भी अवधिज्ञान के पहले मर्यादा में (रुपी द्रव्यो का) सामान्यतः प्रतिभास करना वह है। यह ज्ञान और दर्शन के स्वरुप हुए। उससे अन्य धर्म वह पररुप है। इसलिए उसमें भी वे दो के द्वारा सत्त्वासत्त्व का विचार करना। परोक्ष में भी मतिज्ञान का स्वरुप इन्द्रिय - अनिन्द्रिय द्वारा स्व और अर्थ का प्रतिभासन करना वह है। श्रुतज्ञान का स्वरुप अनिन्द्रियमात्र निमित्तक है - अर्थात् अनिन्द्रिय (मन) द्वारा होना वह है।

प्रत्यक्ष में भी विकल ऐसे अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञान का स्वरुप मन और इन्द्रिय से निरपेक्षरुप से स्व और अर्थ का स्पष्टतया प्रतिभास करना है। अर्थात् मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना उस उस कर्म के क्षयोपशम से आत्मा को स्पष्टतया होता स्व और अर्थ का ज्ञान।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्ष में भी सकल ऐसे केवलज्ञान का स्वरुप सर्वद्रव्यो और सर्व पर्यायो का साक्षात्कार करना वह है। उससे अन्य पररुप है। उन दोनो के द्वारा (पहले कहे अनुसार से) उसमें भी सत्त्वासत्त्व की विचारणा करना।

इस अनुसार से उत्तरोत्तर भी विशेषधर्मो के स्व-पररुप जाननेवाले पुरुषो के द्वारा स्वयं विचार कर लेना। क्योंकि विशेषधर्म और प्रतिविशेषधर्म अनंता है। (यहाँ स्वयं सोचने की राय देने में ग्रंथकारश्री का आशय यह है कि वे विशेषधर्म और उसके प्रतिविशेषधर्म अनंता होने से यहाँ ग्रंथगौरव के भय से वर्णन करने के लिए संभावना न होने के कारण उपर विचारणा का आंशिक फिर भी पर्याप्त मार्ग दिखा दीया है। इसलिए अंगुलीनिर्देश करके पूर्ण किया जाता है।)

इस अनुसार से धट-पटादि पदार्थो में भी स्व-पररुप की प्ररुपणा करनी चाहिए और स्व-पर की अपेक्षा से सत्त्व और असत्त्व का प्रतिपादन करना चाहिए।

इस अनुसार से वस्तु के सत्त्व में भी सत्त्वासत्त्व की कल्पना करने पर भी (उससे कोई दोष नहीं आते है। अनेकांत की हानी होती नहीं है। प्रत्युत) अनेकांत का (विशेषतया) प्रकटीकरण ही होता है और इसलिए तादृश मान्यता में कोई भी हानी नहीं है।

ननु सत्त्वेऽपि सत्त्वान्तरकल्पने "धर्माणां धर्मा न भवन्ति" इति वचो विरुध्यते । मैवं वोचः । अद्याप्यनभिज्ञो भवान् स्याद्वादामृतरहस्यानां, यतः स्वधर्म्यपेक्षया यो धर्मः सत्त्वादिः स एव स्वधर्मान्तरापेक्षया धर्मी, एवमेवानेकान्तात्मकव्यवस्थोपपत्तेः । ततः सत्त्वेऽपि सत्त्वान्तरकल्पनायां सत्त्वस्य धर्मित्वं, सत्त्वान्तरस्य च धर्मत्वमिति धर्मिण एव धर्मत्वमिति धर्मिण एव धर्माभ्युपगमान्न पूर्वोक्तदोषावकाशः । न चैवं धर्मस्यापि धर्मान्तरापेक्षया धर्मित्वप्राप्त्यानवस्था, अनाद्यनन्तत्वाद्धर्मधर्मिव्यवहारस्य, दिवसरात्रिप्रवाहवत्, बीजाङ्कुरपौर्वापर्यवत्, अभव्यसंसारवद्वा । एवं नित्यानित्यभेदाभेदादिष्वपि वाच्यम् ३। तथा वैयधिकरण्यमप्यसत्[G-35], निर्बाधकाध्यक्षबुद्धौ सत्त्वासत्त्वयोरेकाधिकरणत्वेन प्रतिभासनात् । न खलु तथाप्रतिभासमानयोर्वैयधिकरण्यं, एकत्र फले रूपरसयोरपि तत्प्रसङ्गात् ४ । संकरव्यतिकरावपि[G-36] मेचकज्ञानदृष्टान्तेन निरसनीयौ । यथा मेचकज्ञानमेकमप्यनेकस्वभावं, न च तत्र संकरव्यतिकरौ, एवमत्रापि । किं च यथाऽनामिकाया युगपन्मध्यमाकनिष्ठिकसंयोगे ह्रस्वदीर्घत्वे न च तत्र संकरादिदोषपोषः एवमत्रापि ६ । तथा यदप्यवादि "जलादेरप्यनलादिरूपता" इत्यादि, तदपि महामोहप्रमादिप्रलपितप्रायं, यतो जलादेः स्वरुपापेक्षया जलादिरूपता न पररूपापेक्षया, न ततो जलार्थिनामनलादौ प्रवृत्तिप्रसङ्गः, स्वपरपर्यायात्मकत्वेन सर्वस्य सर्वात्मकत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा वस्तुस्वरूपस्यैवाघटमानत्वात् । किं च, भूतभविष्यद्गत्या

(G-35-36) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जलपरमाणूनामपि भूतभाविवह्निपरिमाणापेक्षया वह्निरूपताप्यस्त्येव । तथा तप्तोदके कथञ्चिद्वह्निरूपतापि जलस्याङ्गीक्रियत एव ७ । प्रत्यक्षादिबुद्धौ प्रतिभासमानयोः सत्त्वासत्त्वयोः का नाम प्रमाणबाधा । न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, अन्यथा सर्वत्रापि तत्प्रसङ्गः ८ । प्रमाणप्रसिद्धस्य च नाभावः कल्पयितुं शक्यः, अतिप्रसङ्गात्, प्रमाणादिव्यवहारविलोपश्च स्यादिति ९ ।

व्याख्या का भावानुवाद :

शंका : सत्त्व में सत्त्वान्तर की कल्पना करने से "**धर्मो के धर्म होते नहीं है ।**" यह आपके पूर्वप्रतिपादित वचन का विरोध आता है। (क्योंकि सत्त्व भी वस्तु का धर्म है और सत्त्वान्तर भी धर्म है। इसलिए सत्त्वरुप धर्म में सत्त्वान्तर की कल्पना करने से तादृशनियम के साथ विरोध आता है ।)

समाधान : ऐसा नहि कहना। आप लोग अभी स्याद्वाद रुप अमृत के रहस्यो को जानते ही नहीं है। क्योंकि स्वधर्मी की अपेक्षा से जो सत्त्वादि धर्म है, वही सत्त्वादि स्व-धर्मान्तर की अपेक्षा से धर्मी है। अर्थात् जो सत्त्वादि अपने आधारभूत वस्तु की अपेक्षा से धर्म है। वे अपने में रहनेवाले दूसरे धर्मो के धर्मी भी होते है। इसी तरह से ही प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक वस्तु के अंश में धर्म और धर्मी रुप से अनेकांतात्मकता है। इस अनुसार से मानने से ही अनेकांतात्मकता की व्यवस्था संगत होती है।

इसलिए सत्त्व में सत्त्वान्तर की कल्पना में सत्त्व धर्मी बनता है और सत्त्वान्तर धर्म बनता है। इस अनुसार से धर्मी को ही धर्मरुप से और धर्म को ही धर्मीरुप से स्वीकार करने से पूर्वोक्त किसी दोष का अवकाश रहता नहीं है।

इस अनुसार से धर्म को भी धर्मान्तर की अपेक्षा से धर्मी मानने में अनवस्था दोष नहीं है। क्योंकि जैसे दिवस और रात्रि का प्रवाह अनादि अनंत है। बीज से अंकुर-अंकुर से बीज, पुनः बीज से अंकुर, इस तरह का प्रवाह भी अनादि अनंत है। अभव्य का संसार परिभ्रमण अनादि अनंत है। वैसे धर्म और धर्मी के व्यवहार की परंपरा भी चलती है। (जो ज्ञान जीव का धर्म है, वह ज्ञान अपने में रहे हुए सत्त्व की अपेक्षा से धर्मी है। वैसे सत्त्व ज्ञान की अपेक्षा से धर्म होने पर भी अपने में रहे हुए प्रमेयत्व की अपेक्षा से धर्मी है। इस तरह से धर्म-धर्मीव्यवहार अनादि-अनंत है ।) इस तरह से नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि धर्मो की व्यवस्था में भी विचार करें।

भिन्न अधिकरणो में रहने के कारण-इत्यादि कहकर "वैयधिकरण्य" दोष दिया था, वह भी असत्य है। क्योंकि निर्बाधप्रत्यक्ष बुद्धि में सत्त्व और असत्त्व का एक अधिकरण (समानाधिकरण) प्रतिभास होता है।

वैसे प्रकार के एकत्र उभय के प्रतिभास में भी वैयधिकरण्य की कल्पना करना उचित नहीं है। क्योंकि वैसे तो एक आम के फल में रुप और रस के साथ होने पर भी रुप और रस का वैयधिकरण्य मानना पडेगा। अर्थात् सत्त्व और असत्त्व धर्म एक ही स्थान पे प्रतीत होने पर भी दोनो में वैयधिकरण्य मानोंगे तो एक ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

फल में रहे हुए रुप और रस में भी वैयधिकरण्य मानना पडेगा। (कि जो किसीको मान्य नहीं है .)

पहले दिये गये संकर और व्यतिकर दोष भी मेचकज्ञान के दृष्टांत द्वारा दूर करने चाहिए। जैसे अनेक रंगो का मिश्रित प्रतिभास करानेवाला मेचकरत्न का ज्ञान एक होने पर भी अनेक प्रकार का या अनेक स्वभाववाला है। उस मेचकरत्न के ज्ञान में संकर या व्यतिकर दोष नहीं माने गये। वैसे वस्तु को सत्त्व-असत्त्व आदि अनेकधर्मोवाली मानने में भी संकर या व्यतिकर दोष नहीं है।

तदुपरांत, जैसे मध्यमा और कनिष्ठ उंगली के संयोग में (उन दोनो की अपेक्षा से सोचने से) एक अनामिका उंगली में एक साथ ह्रस्वत्व और दीर्घत्व धर्म आते है। फिर भी उसमें संकरादि दोष नहीं माने जाते, वैसे वस्तु की अनेकांतात्मकता में भी संकरादि दोष नहीं है।

तथा आपने जो "जल में भी अग्निरुपता का प्रसंग" इत्यादि कहा था, वह भी महामोहरुप प्रमाद में मस्त व्यक्ति का प्रलाप मात्र ही है। क्योंकि... जलादि की स्वरुप की अपेक्षा से ही जलरुपता है। परंतु पररुप की अपेक्षा से जलरुपता नहीं है, कि जिससे जलार्थिओ की अग्नि आदि में प्रवृत्ति करने का प्रसंग आये।

जगत की समस्त वस्तुयें स्व-पर पर्याय की अपेक्षा से सर्वात्मक मानी गयी है। अर्थात् जगत की सभी वस्तुयें कोई वस्तु के साथ स्व-पर्याय से और कोई वस्तु के साथ पर-पर्याय से संबंध रखती है। इसलिए किसी के साथ अस्तित्वरुप से और किसी के साथ नास्तित्वरुप से संबंध होने से सर्ववस्तुयें सर्वात्मक मानी जाती है। अन्यथा वस्तु का स्वरुप ही हो नहीं सकेगा। (यहाँ याद रखना कि पानी का अपनी शीतलता आदि के साथ जो स्वपर्यायरुप से अस्तित्वात्मक संबंध है, तो अग्नि आदि के साथ पर-पर्यायरुप से नास्तित्वात्मक संबंध भी है। फिर भी पानी पानी रुप से सत् है। अग्निरुप से तो असत् है। इसलिए पानी का अर्थी आत्मा अग्नि में प्रवृत्ति करता नहीं है।)

उपरांत, भूत और भविष्य की गति से=अपेक्षा से जलपरमाणुओ में भी भूत- भावि=वह्नि परिणाम की अपेक्षा से वह्निरुपता है ही। (कहने का मतलब यह है कि.... पुद्गल द्रव्य का विचित्र परिणमन होता है। जो अभी जलरुप में होता है वह भावि में अग्निरुप में भी परिणमन पा सकता है और वह भूतकाल में अग्निरुप था वैसा भी कहा जा सकता है और वह भूत-भावि पर्याय की अपेक्षा से जल में अग्निरुपता मानने में बाध नहीं है।) गरम किये हुए पानी में कथंचित् अग्निरुपता (पानी की) स्वीकार की ही गई है।

जब सत्त्व और असत्त्व प्रत्यक्ष बुद्धि में स्पष्टतया प्रतिभास होता है, तब (उसमें आपने दी हुई) प्रमाणबाधा का प्रसंग ही कहां आता है ? दृष्ट = प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ में असंगति का नामोनिशान होता नहीं है। अन्यथा (= प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ में भी असंगति को आगे करोंगे तो) प्रत्येक स्थान पे प्रमाणबाधा का प्रसंग आयेगा।

प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ के अभाव की कल्पना करना भी संभव नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ का अपलाप करने से अतिप्रसंगदोष तथा प्रमाणादि सर्व व्यवहारो का लोप होता है। उसके योग से जगत के सर्वपदार्थ का अभाव सिद्ध हो जायेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एतेन [G-37]यदप्युच्यते "अनेकान्ते प्रमाणमप्यप्रमाणं सर्वज्ञोऽप्यसर्वज्ञः सिद्धोऽप्यसिद्धः" इत्यादि, तदप्यक्षरगुणनिकामात्रमेव, यतः प्रमाणमपि स्वविषये प्रमाणं परविषये चाप्रमाणमिति स्याद्वादिभिर्मन्यत एव । सर्वज्ञोऽपि स्वकेवलज्ञानापेक्षया सर्वज्ञः सांसारिकजीवज्ञानापेक्षया त्वसर्वज्ञः । यदि तदपेक्षयापि सर्वज्ञः स्यात्, तदा सर्वजीवानां सर्वज्ञत्वप्रसङ्गः, सर्वज्ञत्वस्यापि छाद्मस्थिकज्ञानित्वप्रसङ्गो वा । सिद्धोऽपि स्वकर्मपरमाणुसंयोगक्षयापेक्षया सिद्धः परजीवकर्मसंयोगापेक्षया त्वसिद्धः । यदि तदपेक्षयापि सिद्धः स्यात्, तदा सर्वजीवानां सिद्धत्वप्रसक्तिः स्यात् । एवं "कृतमपि न कृतं, उक्तमप्यनुक्तं, भुक्तमप्यभुक्तं" इत्यादि सर्वं यदुच्यते परैः, तदपि निरस्तमवसेयम् । ननु सिद्धानां कर्मक्षयः किमेकान्तेन कथञ्चिद्वा ? आद्येऽनेकान्तहानिः । द्वितीये सिद्धानामपि सर्वथा कर्मक्षयाभावादसिद्धत्वप्रसङ्गः, संसारिजीववदिति । अत्रोच्यते । सिद्धैरपि स्वकर्मणां क्षयः स्थित्यनुभागप्रकृतिरूपापेक्षया चक्रे, न परमाण्वपेक्षया । न ह्यणूनां क्षयः केनापि कर्तुं पार्यते, अन्यथा मुद्गरादिभिर्घटादीनां परमाणुविनाशे कियता कालेन सर्ववस्त्वभावप्रसङ्गः स्यात् । ततस्तत्राप्यनेकान्त एवेति सिद्धं दृष्टेष्टाविरुद्धमनेकान्तशासनम् ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

(उपरोक्त विवेचन किया) उसके द्वारा "**अनेकांतवाद में प्रमाण भी अप्रमाण, सर्वज्ञ भी असर्वज्ञ तथा सिद्ध भी असिद्ध = संसारि बन जायेगा**" इत्यादि आपका कथन भी मात्र अर्थशून्य अक्षरो की गणना करने समान निरर्थक है। क्योंकि (स्याद्वादि ऐसे हम) प्रमाण को भी अपने विषय में ही प्रमाणरुप मानते है और परविषय में अप्रमाणरुप मानते है।

सर्वज्ञ भी स्व-केवलज्ञान की अपेक्षा से सर्वज्ञ है। परन्तु संसारिजीवो के अल्पज्ञान की अपेक्षा से असर्वज्ञ है। सर्वज्ञ यदि संसारिजीवो के अल्पज्ञान की अपेक्षा से भी सर्वज्ञ हो तो सर्व जीवो को सर्वज्ञ मानने का प्रसंग आयेगा। अर्थात् तादृश अपेक्षा से सर्वज्ञ मानेंगे तो उसका यह अर्थ होता है कि संसार के समस्त जीव सर्वज्ञ है अथवा सर्वज्ञ भी छाद्मस्थिकज्ञानि (हमारे जैसे अल्पज्ञानि) बन जायेंगे। (कहने का मतलब यह है कि सर्वज्ञ संसारि जीवो के अल्पज्ञान की अपेक्षा से सर्वज्ञ हो तो संसारिजीव सर्वज्ञ बन जायेंगे। सर्वज्ञ अपने ज्ञान द्वारा सर्व को जानता है। यदि वह सर्वज्ञ हम लोगो के ज्ञान द्वारा भी पदार्थो का ज्ञान कर सकते तो हमारा आत्मा में और उनके आत्मा में कोई अंतर नहीं रहेगा। क्योंकि जिस तरह से हम जगत के पदार्थो को हमारे ज्ञान से जानते है उसी तरह से सर्वज्ञ भी हमारे ज्ञान से ही जानता है। इसलिए सर्वज्ञ और हमारे (छद्मस्थो के) आत्मा में अभेद होने से तो छद्मस्थ ऐसे हम सर्वज्ञ जैसे बन जायेंगे अथवा तो सर्वज्ञ हमारे जैसे अल्पज्ञ बन जायेंगे।)

(G-37) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध भी स्व--कर्म परमाणुसंयोग के क्षय की अपेक्षा से सिद्ध है। परंतु अन्यजीवो के उपर लगे हुए कर्म परमाणु संयोग की अपेक्षा से असिद्ध है। अर्थात् सिद्ध = मुक्तजीव अपने आत्मा के उपर लगे हुए कर्मसंयोग के क्षय की अपेक्षा से सिद्ध है। अन्य आत्माओं के उपर लगे हुए कर्मसंयोग की अपेक्षा से सिद्ध नहीं है। यदि वह अन्य जीवो के उपर लगे हुए कर्मसंयोग की अपेक्षा से भी सिद्ध हो तो सर्व जीव सिद्ध बन जायेंगे। (क्योंकि अन्यजीवो के उपर लगे हुए कर्मसंयोग की अपेक्षा से सिद्ध हो, तो उसका मतलब यह हुआ कि **"अन्यआत्माओ का धर्म भी सिद्धजीव का स्वपर्याय ही है। तब वह अन्य आत्माओ से संयुक्त कर्मपरमाणुओ की अपेक्षा से भी सिद्ध माना जाता है।"**-इस तरह से अन्यसंसारी आत्माओ और सिद्ध आत्माओ में सीधा स्वपर्याय का संबंध होने से एकरुपता हो जायेगी और उससे या तो समस्त संसारी जीव सिद्ध बन जाने की आपत्ति आयेगी या तो सिद्धात्मा संसारी बन जाने की आपत्ति आयेगी। अभेद पक्ष में एकरुपता है। उसमें सर्व संसारी बन जायेंगे या सर्व मुक्त बन जायेंगे। जो किसीको भी इष्ट नहीं है।)

इस तरह से अनेकांतवाद में **"किया हुआ कार्य भी कथंचित् नहीं किया हुआ, कहा हुआ वचन भी कथंचित् नहि कहा हुआ, खाया हुआ भोजन भी कथंचित् नहीं खाया हुआ"** इत्यादि परवादियों के द्वारा जो दूषण कहे गये है, वे सभी दूषणो का खंडन भी हो जाता है। (क्योंकि एक ही वस्तु में भिन्न भिन्न अपेक्षा से विरोधी धर्म रह सकते है।)

शंका : आप हमको बताये कि सिद्धात्माओ को जो कर्मक्षय होता है। वह एकांत से होता है या कथंचित् होता है ? **"सिद्धो को एकांत से कर्मक्षय होता है।"** यह प्रथम पक्ष कहोंगे तो अनेकांतवाद की हानी होगी और **"सिद्धो को कथंचित् कर्मक्षय होता है।"** यह द्वितीयपक्ष कहोंगे तो सिद्धो को भी सर्वथा कर्मक्षय का अभाव होने से असिद्ध बन जाने की आपत्ति आयेगी। जैसे संसारिजीवो के कर्मो का सर्वक्षय हुआ न होने से असिद्ध कहे जाते है, वैसे सिद्धो को भी असिद्ध कहने की आपत्ति आयेगी।

समाधान : सिद्धो के द्वारा भी स्वकर्मो का क्षय स्थिति, रस और प्रकृतिरुप की अपेक्षा से किया है। परंतु कर्मपरमाणु मात्र की अपेक्षा से क्षय किया नहीं है। (कहने का मतलब यह है कि, सिद्धो के द्वारा भी अपने आत्मा के उपर लगे हुए कर्मपरमाणुओ की स्थिति का, उन कर्मो में शुभाशुभ आदि फल देने की शक्ति का तथा अपने प्रतिकर्मत्वरुप में परिणमन करने के स्वभाव का (अर्थात् उदय में आते ज्ञानादि आत्मगुणो को ढकने के स्वभाव का) नाश किया है। सिद्धोने उन कर्मपरमाणुओ को अपने आत्मा में कर्मत्वरुप में परिणमन पाते रोक दिये है। (अर्थात् अपने आत्मा में कर्मरुप से संबंध नहीं रहने दिया है। परन्तु परमाणुरुप पुद्गल द्रव्य का क्षय किया नहीं है।) क्योंकि परमाणुरुप पुद्गल द्रव्यो को क्षय करने के लिए कोई अनंतशक्तिशाली व्यक्ति भी समर्थ बनती नहीं है। अन्यथा (परमाणुरुप पुद्गलद्रव्य का नाश हो सके तो) मुद्गरादि द्वारा घटादि पदार्थो के परमाणुओ का समूलविनाश हो जायेगा और उससे कुछ काल के बाद सर्ववस्तुओ का अभाव हो जायेगा। (क्योंकि वस्तु के उपादानकारणभूत परमाणुओ का समूलनाश होने के कारण वस्तुओ की पुनः उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। उसके योग से सर्ववस्तुओ का अभाव हो जायेगा। परंतु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वहाँ भी मुद्गरादि से घटादि पर्यायो को नाश होता है। परंतु परमाणुओ का नाश नहीं होता है। ऐसा स्वीकार करेंगे तो सर्व वस्तुओ के अभाव की आपत्ति नहीं आयेगी।) इसलिए सिद्धो के कर्मक्षय में अनेकांत ही सिद्ध होता है। इस अनुसार से प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणो के द्वारा सर्वथा अबाधित अनेकांतशासन की सिद्धि होती है।

एते हि बौद्धादयः स्वयं स्याद्वादवादं युक्त्याभ्युपगच्छन्तोऽपि तं वचनैरेव निराकुर्वन्तो नूनं कुलीनताभिमानिनो मानवस्य स्वजननीमाजन्मतोऽप्यसतीमाचक्षाणस्य वृत्तमनुकुर्वन्ति । तथाहि-प्रथमतः सौगताभ्युपगतोऽनेकान्तः प्रकाश्यते । दर्शनेन क्षणिकाक्षणिकत्वसाधारणस्यार्थस्य विषयीकरणात्कुतश्चिद्भ्रमनिमित्तादक्षणिकत्वारोपेऽपि न दर्शनमक्षणिकत्वे प्रमाणं, किं तु प्रत्युताप्रमाणं, विपरीताध्यवसायाक्रान्तत्वात् । क्षणिकत्वेऽपि न तत्प्रमाणं, अनुरूपाध्यवसायाजननात् नीलरूपे तु तथाविधनिश्चयकरणात्प्रमाणमित्येवं वादिनां बौद्धानामेकस्यैव दर्शनस्य क्षणिकत्वाक्षणिकत्वयोरप्रामाण्यं, नीलादौ तु प्रामाण्यं प्रसक्तमित्यनेकान्तवादाभ्युपगमो बलादापतति १ । तथा दर्शनोत्तरकालभाविनः स्वाकाराध्यवसायिन एकस्यैव विकल्पस्य बाह्येऽर्थे सविकल्पकत्वमात्मस्वरूपे तु सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षमिति वचनान्निर्विकल्पकत्वं च रूपद्वयमभ्युपगतवतां तेषां कथं नानेकान्तवादापत्तिः २ ।

व्याख्या का भावानुवाद :

ये निर्बाध अकाट्ययुक्तियों से बौद्ध आदि सर्ववादियोंने स्वयं स्याद्वाद का स्वीकार करते होने पर भी वे स्याद्वाद को असंबद्धवचनो के द्वारा निराकरण किया है। (वे बौद्धो इत्यादि वादि अपने शास्त्र व्यवहार में और लोक व्यवहार में स्याद्वाद का स्वीकार करते होने पर भी ऐसे वैसे वचनो के द्वारा स्याद्वाद का निराकरण करके) सचमुच, कुलीन की तरह दयापात्र बन जाते है। जो मनुष्य अपनी कुलीनता का अभिमान रखने पर भी वह मनुष्य (अनभिज्ञता वश अपने ही वचनो के द्वारा) अपनी माता को इस जन्म से भी असती = व्यभिचारिणी कहते है। (अपनी कुलीनता का अभिमान माता की पवित्रता के योग से है, फिर भी माता को असती कहनेवाला जैसे मूर्ख है, वैसे अपने शास्त्रव्यवहारो और लोकव्यवहारो को चलाने के लिए स्याद्वाद का आसरा लेने पर भी स्याद्वाद का खंडन करनेवाले बौद्ध इत्यादि वादि अनभिज्ञ है।)

वे वादि अनेकांतवाद का आसरा किस तरह से लेते है, वह अब बताया जाता है - **उसमें प्रथम सुगत = बौद्ध ने स्वीकार किये अनेकांत का प्रकाशन किया गया है।**

(यहाँ प्रथम बौद्ध किस तरह से स्याद्वाद का स्वीकार करते है, उसे विस्तार से बताकर बाद में पंक्ति का भावानुवाद लिखेंगे।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(बौद्ध निर्विकल्पकदर्शन = प्रत्यक्षको प्रमाणरुप भी मानते है और अप्रमाणरुप भी मानते है। उनका मत है कि, निर्विकल्पकदर्शन - प्रत्यक्ष का विषय बनता पदार्थ क्षणिक भी होता है और अक्षणिक भी होता है। अनादिकालीन अविद्या और पदार्थो की प्रतिक्षण सदृशरुप से उत्पत्ति होना - इत्यादि कारणो से वस्तु में **"यह वही वस्तु है।"** इस प्रकार का नित्यत्व का आरोप हो जाता है। इस मिथ्या आरोप के कारण वस्तु नित्यरुप में भासित होने लगती है। निर्विकल्पक दर्शन यह नित्यत्व के आरोप में प्रमाण नहीं है। वह उसका समर्थन करता नहीं है। वैसे ही क्षणिक वस्तु में नित्यत्वरुप विपरीत आरोप होने के कारण दर्शन उसमें प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि दर्शन तो वस्तु के अनुसार ही उत्पन्न होता है। इस तरह से निर्विकल्पकदर्शन नित्यत्व के आरोप में भी प्रमाण तो है ही नहीं, प्रत्युत अप्रमाण ही है।

यद्यपि निर्विकल्पकदर्शन क्षणिक अंश का अनुभव कर लेता है। परंतु **"वह क्षणिक है"** ऐसे अनुकूलविकल्प को उत्पन्न करता न होने से क्षणिक अंश में भी वह प्रमाण नहीं है। यदि निर्विकल्पक दर्शन ही क्षणिक अंशो में प्रमाण हो जाये तो अनुमान से क्षणिकत्व की सिद्धि करने की कोई आवश्यकता रहेगी ही नहीं। और ऐसी स्थिति में **"सर्व क्षणिक है, सत् होने से"** यह अनुमान निरर्थक ही बन जायेगा। (कि जो बौद्धो को इष्ट नहीं है।) इस तरह से निर्विकल्पक दर्शन क्षणिकअंश में भी प्रमाण नहीं है। नीलादि अंशो में तो **"यह नील है"** ऐसे प्रकार के अनुकूल विकल्प को उत्पन्न करने के कारण प्रमाणरुप माना जाता है।

तात्पर्य यह है कि, एक ही निर्विकल्पकदर्शन को नीलादि अंशो में अनुकूल अध्यवसाय की उत्पत्ति होती होने से प्रमाणरुप तथा क्षणिक और अक्षणिक अंशो में अप्रमाणरुप बौद्ध मानते है। उससे सिद्ध होता है कि वे एक वस्तु में अनेकधर्मो का स्वीकार करते है। इसलिए उनको जबरदस्ती से भी हमारे स्याद्वाद का अनुसरण करना ही पडता है, वह स्वीकार किये बिना और कोई चारा ही नहीं है। वे एक ही निर्विकल्पकज्ञान को प्रमाण और अप्रमाणरुप मानकर अनेकांतवाद का ही समर्थन करते है।)

पंक्ति का भावानुवाद : (पहले बौद्ध अनेकांत का किस तरह से स्वीकार करते है, वह प्रकाशित किया जाता है।) निर्विकल्पकदर्शन द्वारा क्षणिक और अक्षणिकसाधारण अर्थ को विषय कराता होने से किसी भ्रम के कारण (अर्थात् अनादिकालीन अविद्या इत्यादि कारणो से वस्तु क्षणिक होने पर भी) अक्षणिकत्व का आरोप होने पर भी वह निर्विकल्पकदर्शन अक्षणिकत्व अंश में प्रमाण नहीं है। परंतु अप्रमाण है। क्योंकि विपरीत अध्यवसाय (विकल्पो) से उत्पन्न हुआ है। तथा वह दर्शन क्षणिकत्व अंश में भी प्रमाण नहीं है। क्योंकि **"यह क्षणिक है"** इत्याकारक (अनुरुप) अध्यवसाय को उत्पन्न कर सकता नहीं है। परंतु वही दर्शन नीलरुप में **"यह नील है।"** ऐसे प्रकार का निश्चय कराता होने से प्रमाण है। इस अनुसार से बौद्ध वादियों ने एक ही निर्विकल्पकदर्शन में क्षणिकअंश और अक्षणिकअंशो को लेकर अप्रामाण्य और नीलादि अंश को लेकर प्रामाण्य बताया। इस तरह से (एक ही जगह पे भिन्न-भिन्न धर्मो का स्वीकार करते बौद्धो को) हमारे अनेकांतवाद का बलात्कार (जबरदस्ती) से भी स्वीकार करना ही पडता है। (१) इस प्रकार एक तरह से बौद्ध अनेकांतवाद का स्वीकार करते है, वह बताया अब दूसरी तरह से बताया, जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(इस तरह से वे निर्विकल्पकदर्शन के बाद उत्पन्न होनेवाले सविकल्पकज्ञान को बाह्यार्थ में सविकल्पक तथा स्वरुप में निर्विकल्पक मानते है। निर्विकल्पकदर्शन के बाद "**यह नीला है।**" "**यह पीला है।**" इत्यादि विकल्पज्ञान उत्पन्न होते है। वह विकल्पज्ञान अपने आकारमात्र का ही निश्चय करनेवाला होता है। वह बाह्य नीलादि अंशो में ही शब्दयोजना होने से सविकल्पक होता है। स्वरुप की दृष्टि से तो सर्वज्ञान निर्विकल्पक ही होता है। ज्ञान सविकल्पक हो या निर्विकल्पक हो, दोनो का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तो निर्विकल्पकरुप ही होता है। धर्मकीर्ति नाम के बौद्धाचार्य ने स्वयं न्यायबिन्दु ग्रंथ में कहा है कि... "**समस्त चित्त, सामान्य अवस्था को ग्रहण करनेवाला ज्ञान तथा चैत्त, विशेष अवस्थाओ के ग्राहक ज्ञानो का स्वरुपसंवेदन प्रत्यक्षनिर्विकल्पक होता है।**" इसलिए एक ही विकल्पज्ञान को बाह्यनीलादि की अपेक्षा से सविकल्पक तथा स्वरुप की अपेक्षा से निर्विकल्पक मानते है। इस तरह से एक ही विकल्पज्ञान को सविकल्पक और निर्विकल्पक उभयरुप मानकर बौद्ध अनेकांत का स्वीकार कर ही लेते है।)

पंक्ति का भावानुवाद : उस अनुसार से निर्विकल्पक दर्शन के उत्तरकाल में होनेवाला स्वाकार अध्यवसायरुप एक ही विकल्पज्ञान बाह्यार्थ में सविकल्पक होता है। परंतु स्वरुप में निर्विकल्पक होता है। इस तरह से एक विकल्पज्ञान के दो रुपो का स्वीकार करते उन बौद्धो को अनेकांतवाद मानने की आपत्ति क्यों नहि आयेगी ? अर्थात् एक विकल्पज्ञान के दो रुपो का स्वीकार करने से बौद्धो ने अनेकांतवाद का स्वीकार कर ही लिया है। ॥२॥

तथा हिंसाविरतिदानादिचित्तं यदेव स्वसंवेदनगतेषु सत्त्वबोधरूपत्वसुखादिषु प्रमाणं, तदेव क्षणक्षयित्वस्वर्गप्रापणशक्तियुक्तत्वादिष्वप्रमाणमित्यनेकान्त एव ३ । तथा यद्वस्तु नीलचतुरस्रोर्ध्वतादिरूपतया प्रमेयं, तदेव मध्यभागक्षणविवर्त्तादिनाऽप्रमेयमिति कथं नानेकान्तः ४ । तथा सविकल्पकं स्वप्नादिदर्शनं वा यद्बहिरर्थापेक्षया भ्रान्तं ज्ञानं, तदेव स्वस्वरुपापेक्षयाऽभ्रान्तमिति बौद्धाः प्रतिपन्नाः ५ । तथा यन्निशीथिनीनाथद्वयादिकं द्वित्वेऽलीकं, तदपि धवलतानियतदेशचारितादौ तेऽनलीकं प्रतिपद्यन्ते ६ । कथं च भ्रान्तज्ञानं भ्रान्तिरूपतयात्मानमसंविदत् ज्ञानरूपतया चावगच्छत् स्वात्मनि भावद्वयं विरुद्धं न साधयेत् ७ । तथा पूर्वोत्तरक्षणापेक्षयैकस्यैव क्षणस्य जन्यत्वं जनकत्वं चाभ्युपागमन् ८ । तथार्थाकारमेव ज्ञानमर्थस्य ग्राहकं नान्यथेति मन्यमानाश्चित्रपटग्राहकं ज्ञानमेकमप्यनेकाकारं संप्रतिपन्नाः ९ । तथा सुगतज्ञानं सर्वार्थविषयं सर्वार्थाकारं चित्रं कथं न भवेत् १० । तथैकस्यैव हेतोः पक्षधर्मसपक्षसत्त्वाभ्यामन्वयं विपक्षेऽविद्यमानत्वाद्व्यतिरेकं चान्वयविरुद्धं ते तात्त्विकमूरीचक्रिरे ११ । एवं वैभाषिकादिसौगताः स्वयं स्याद्वादं स्वीकृत्यापि तत्र विरोधमुद्भावयन्तः स्वशासनानुरागान्धकारसंभारविलुप्तविवेकदृशो विवेकिनामपकर्णनीया एव भवन्ति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या का भावानुवाद :

(इस तरह से वे बौद्धो अहिंसारुप धर्मक्षण के प्रत्यक्ष को स्वसत्ता में प्रमाणरुप तथा स्वर्ग प्राप्त कराने की शक्ति में अप्रमाणरुप मानते है । हिंसा से विराम पाकर अहिंसक बनना तथा दान देना, इत्यादि शुभक्रियाओ में स्वर्ग में पहुंचाने की शक्ति मानते है। तथा बौद्ध उसे क्षणिक भी मानते है। जो समय कोई व्यक्ति अहिंसा का पालन करती है, दान देती है, उस समय अहिंसा और दान का प्रत्यक्ष, अहिंसा आदि की सत्ता, उसकी ज्ञानरुपता तथा उसकी सुखरुपता का प्रत्यक्ष ही अनुभव करते है तथा आगे "मैंने दया का पालन किया, उससे सुख हुआ" ऐसे प्रकार के अनुकूलविकल्प को उत्पन्न करता होने से उस अहिंसा आदि की सत्ता में और सुखरुपता में प्रमाण माना जाता है। अथवा अहिंसा, दान आदि स्वयं ज्ञानक्षणरुप है। इसलिए वह अपनी सत्ता ज्ञानरुपता तथा सुखरुपता का स्वयं अनुभव करता होने से वे कहे हुए अंशो में प्रमाण है। परंतु अहिंसा आदि में रहनेवाली स्वर्ग-प्रापणशक्ति में तथा उसकी क्षणिकता में वह अहिंसा प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। यद्यपि प्रत्यक्ष से उसकी क्षणिकता तथा स्वर्ग प्रापणशक्ति का अनुभव हो जाता है। परंतु उसको अनुकूल **"वह क्षणिक है - वह स्वर्गप्रापक है"** इत्यादि विकल्पो की उत्पत्ति होती न होने से प्रत्यक्ष उन अंशो में प्रमाण नहीं माना जाता। इस तरह से एक अहिंसाक्षण को अपनी सत्ता आदि में प्रमाणात्मक तथा स्वर्गप्रापणशक्ति और क्षणिकता में अप्रमाणरुप माननेवाले बौद्ध अनेकांत का स्वीकार करते ही है।)

पंक्तिका भावानुवाद : जो - जो हिंसादिविरति-दानादि चित्त का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष सत्ता के ज्ञान के विषय में तथा सुखादि के विषय में प्रमाण है, वही क्षणिकता और स्वर्ग-प्रापण शक्ति के विषय में अप्रमाण है। (इसलिए एक ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में उभय का स्वीकार करना वह अनेकांत ही है। (३)

इस तरह से वे बौद्धो नीलादि वस्तुओ का नीलादि की अपेक्षा से प्रमेय तथा क्षणिकत्व की अपेक्षा से अप्रमेय कहते है। जो नीलवस्तु अपने नीलरुप, चतुरस्त्र, उर्ध्वता आदि आकार की दृष्टि से प्रमेय है। अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाण का विषय बनती है, वही अपने मध्य में रहे हुए अवयवो की दृष्टि से तथा क्षणिकत्व आदि की अपेक्षा से प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय बनता नहीं है। इस अनुसार से एक ही नीलादि को प्रमेय और अप्रमेयरुप मानना, वह क्या अनेकांत नहीं है ?

पंक्तिका भावानुवाद : उस अनुसार जो वस्तु नीलरुप, चतुरस्त्र, उर्ध्वतादि रुपतया प्रमेय और वही वस्तु मध्यभागवर्ती क्षण-विर्वतादि की दृष्टि से अप्रमेय है। इस तरह से (एक ही वस्तु को प्रमेय और अप्रमेयरुप मानने में) किस तरह से अनेकांत नहीं है ? (अर्थात्) अनेकांत को मानते ही हो। (४)

(वे बौद्धो स्वप्नादि भ्रान्तज्ञान को बाह्यपदार्थ की प्राप्ति न कराते होने से भ्रान्त मानते है और स्वरुप की अपेक्षा से अभ्रान्त मानते है। स्वप्न में "मैं राजा हूं", "मैं धनवान हूं" इत्यादि विकल्पज्ञान होता है। वह विकल्पज्ञान बाह्य में धनवानपन का या राजवीपन का अभाव होने के कारण जागते समय कंगालीयत का अनुभव होने से भ्रान्त है। परंतु वह अपने स्वरुप की दृष्टि से अभ्रान्त है। क्योंकि वह विकल्प स्वप्न में अवश्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होता ही है। इसी तरह से सीप में होता रजत का ज्ञान अर्थात् सीप में रजत का भान करानेवाले मिथ्या विकल्प रजतरुप बाह्य अर्थ का प्रापक न होने से भ्रान्त है परंतु तादृशमिथ्याज्ञान अवश्य हुआ तो है ही - उसका स्वरुपसंवेदन तो होता ही है। इसलिए स्वरुप की दृष्टि से अभ्रान्त है।)

पंक्ति का भावानुवाद : उस अनुसार से सविकल्पक या स्वप्नादि दर्शन जो बाह्यार्थ की अपेक्षा से भ्रान्तज्ञान है, वही स्व - स्वरुप की अपेक्षा से अभ्रान्त ही है। (इस तरह से एक ही सविकल्पक या स्वप्नादि दर्शन में भ्रान्तता और अभ्रान्तता का स्वीकार करने वाले) बौद्ध अनेकांत का भी स्वीकार करते ही है। (५)

(इस अनुसार से जो व्यक्ति को आंख के रोग के कारण दो चंद्र का ज्ञान होता है। उस मिथ्याज्ञान में भी आप अनेकांत का स्वीकार करते है। क्योंकि आप द्विचंद्रज्ञान को द्वित्व अंश में विसंवादि होने से अप्रमाण मानते हो और धवलता, नियतदेश में गमन करना इत्यादि की अपेक्षा से प्रमाण मानते हो। इसलिए एक ही द्विचंद्रज्ञान को अंशतः प्रमाण तथा अंशतः अप्रमाण कहना वह अनेकांत का ही स्वीकार है।)

पंक्ति का भावानुवाद : उस अनुसार से जो द्विचंद्रविषयक ज्ञान है। उसमें वह द्वित्व अंश में अलीक - असत्य है और वही ज्ञान धवलता, नियतदेश के अंदर फिरना इत्यादि अंश में अनलीक - सत्य है। (ऐसा बौद्ध स्वीकार करते है - वह अनेकांतवाद का ही स्वीकार है।) (६)

(उसी तरह से जो व्यक्ति को मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है, वह व्यक्ति उस मिथ्याज्ञानको ज्ञानरुप से तो अनुभव करता है। परन्तु मिथ्यात्वरुप से अनुभव करता नहीं है। यदि अपनी भ्रान्तता को जानने लगे तो सम्यग्ज्ञान ही हो जायेगा। अथवा मिथ्याज्ञान अपनी ज्ञानरुपता का तो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से साक्षात्कार करते है, परन्तु अपनी भ्रान्तता को जान नहीं सकता है। इसलिए एक ही मिथ्याज्ञानका अंशतः ज्ञानरुप से स्वरुपसाक्षात्कार तथा अंशतः मिथ्यारुप से असाक्षात्कार होता है। इस तरह से स्पष्टतया दो विरोधिभाव एकत्र अवस्थान करते है। इसलिए आपने अनेकांतवाद का मजबूरन भी स्वीकार किया ही है।)

पंक्ति का भावानुवाद : भ्रान्तज्ञान=मिथ्याज्ञान भ्रान्तिरुपतया अपना असंवेदन करता और ज्ञानरुपतया अनुभव में आता (स्व संवेदन करता) आत्मा में (मिथ्याज्ञान युक्त आत्मा में) प्रवर्तित होता है। इसलिए किस तरह से एक स्थान पे दो विरोधिभावो का विरोध हो सकता है ?।

(आप लोग कोई एक क्षण को पूर्वक्षण के कार्य के रुप में तथा उत्तरक्षण के कारण के रुप में मानते ही हो। यदि वह क्षण पूर्वक्षण का कार्य न हो, तो सत् होने पर भी किसी से भी उत्पन्न होता न होने से वह नित्य बन जायेगी। यदि वह उत्तरक्षण को उत्पन्न न करे तो अर्थक्रियाकारी न होने से अवस्तु बन जायेगी। तात्पर्य यही है कि एक मध्यक्षण में पहले की अपेक्षा से कार्यता और उत्तर की अपेक्षा से कारणतारुप विरुद्ध धर्म मानना वह अनेकांत का स्पष्टतया स्वीकार ही है।)

पंक्ति का भावानुवाद : उस अनुसार पूर्वोत्तरक्षण की अपेक्षा से एक ही क्षण में जन्यत्व और जनकत्व का आप लोगो ने स्वीकार किया हुआ ही है। इसलिए आप लोगो ने अनेकांवाद का स्वीकार किया ही है।) (८)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

("जो ज्ञान जो पदार्थो का आकार होता है, वह उसी ही पदार्थ को जानता है, निराकारज्ञान पदार्थ को जान नहीं सकता।" इस तदाकारता के नियम को बौद्धोने प्रमाणता का नियामक माना है। इस नियमानुसार नाना रंगवाले चित्रपट को जाननेवाला ज्ञान भी चित्राकार ही होगा। इसलिए एक ही चित्रपटज्ञान को अनेक आकारवाला मानना (अर्थात् एक को ही चित्र-विचित्र रुप मानना) वह अनेकांतवाद का ही स्वीकार है।)

पंक्ति का भावानुवाद : उस अनुसार से अर्थाकारज्ञान ही अर्थ का ग्राहक है, अन्यथा नहि, ऐसा मानने वाले बौद्धो ने चित्रपट का ग्राहकज्ञान एक होने पर भी अनेक आकारवाला स्वीकार किया है। (वही अनेकांतवाद का स्वीकार है) (९)

(उपर बताये नियमानुसार संसार के समस्त पदार्थो को जाननेवाले सुगत का ज्ञान सर्वाकार अर्थात् चित्र-विचित्रकार होना ही चाहिए। इस तरह से एक ही ज्ञान को सर्वाकार से मानना वह भी अनेकांत का ही समर्थन है। वैसे ही, बौद्ध हेतु के तीन स्वरुप मानते है। पक्ष में रहने स्वरुप पक्षधर्मता, सपक्ष दृष्टांत में उसकी सत्ता के कारण अन्वयात्मक तथा विपक्ष में उसकी सत्ता न होने के कारण व्यतिरेकात्मक मानते है। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक को स्पष्ट रुप से विरोध होने पर भी एक ही हेतु में स्वीकार करना वह अनेकांत का स्वीकार ही है।)

पंक्ति का भावानुवाद : तथा सर्वार्थविषयक तथा सर्वार्थाकारक सुगत का ज्ञान चित्र क्यों न बन सकेगा ? तथा एक ही हेतु में पक्षधर्म - पक्ष में हेतु का रहना और सपक्षरुप दृष्टांत में रहने द्वारा अन्वय तथा विपक्ष में नहि रहने से (अन्वय से विरुद्ध) व्यतिरेक अर्थात् एक ही हेतु में परस्पर विरुद्ध अन्वय और व्यतिरेक आप लोग स्वीकार करते हो और उसे तात्त्विक मानने वाले आप लोग अनेकांत का स्वीकार करते ही हो।

इस अनुसार से वैभाषिक आदि बौद्ध स्वयं स्याद्वाद का स्वीकार करके भी, अनेकांतवाद में विरोध का उद्भावन करते है. वे अपने शासन -- दर्शन के अनुराग के अंधकार के समूह से लुप्त बनी हुई विवेकीहीन दृष्टिवाले बौद्ध विवेकीपुरुषो को सुनने के लिए योग्य भी होते नहीं है। अपने शास्त्रव्यवहार तथा लोकव्यवहार में स्याद्वाद का भरपूर उपयोग करके भी स्याद्वाद का अपलाप करनेवाले बौद्ध विवेकहीन है। विवेकहीन लोगो ने स्याद्वाद ने दिये गये विरोधो को विवेकीपुरुष सुनने के लिए भी तैयार होते नहीं है।

किञ्च सौत्रान्तिकमत एकमेव कारणमपरापरसामग्र्यन्तःपातितयानेककार्यकार्याऽऽविद्यते, यथा रूपरसगन्धादिसामग्रीगतं रूपमुपादानभावेन स्वोत्तरं रूपक्षणं जनयति, रसादिक्षणांश्च सहकारितया, तदेव च रूपं रूपालोकमनस्कारचक्षुरादिसामग्र्यन्तरगतं सत्पुरुषस्य ज्ञानं सहकारितया जनयति । आलोकाद्युत्तरक्षणांश्च तदेवमेकं कारणमनेकानि कार्याणि युगपत्कुर्वाणं किमेकेन स्वभावेन कुर्यात्, नानास्वभावैर्वा ? यद्येकेन स्वभावेन, तर्ह्येकस्वभावेन कृतत्वात्कार्याणां भेदो न स्यात् । अथवा नित्योऽपि पदार्थ एकेन स्वभावेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नानाकार्याणि कुर्वाणः कस्मान्निषिध्यते । अथ नित्यस्यैकस्वभावत्वेन नानाकार्यकरणं न घटते, तर्ह्यनित्यस्यापि तेषां करणं कथमस्तु ? निरंशैकस्वभावत्वात् । सहकारिभेदाच्चेत्कुरुते ? तर्हि नित्यस्यापि सहकारिभेदात्तदस्तु । अथ नानास्वभावैरनित्यः कुर्यादिति चेत् ? नित्यस्यापि तथा तत्करणमस्तु । अथ नित्यस्य नानास्वभावा न संभवन्ति, कूटस्थनित्यस्यैकस्वभावत्वात्, तर्ह्यनित्यस्यापि नानास्वभावा न सन्ति, निरंशैकस्वभावत्वात् । तदेवं नित्यस्यानित्यस्य च समानदोषत्वान्नित्यानित्योभयात्मकमेव वस्तु मानितं वरम् । तथा चैकान्तनित्यानित्यपक्षसंभवं दोषजालं सर्वं परिहृतं भवतीति १२ ।

व्याख्या का भावानुवाद :

वैसे ही, सौत्रान्तिकमत में स्वीकार किया गया है कि एक ही कारण भिन्न-भिन्न सामग्री के वश से अनेक भिन्न-भिन्न कार्यो को उत्पन्न करता है। (सौत्रान्तिक एक ही कारण को भिन्न-भिन्न सामग्री के सहकार से एक साथ अनेक कार्यो का उत्पादक मानते है।)

जैसे कि, रुप-रस-गंधादि सामग्रीगत रुप उपादानभावेन स्वोत्तररुपक्षण को उत्पन्न करता है और वह रुपक्षण उत्तररसादि क्षणो की उत्पत्ति में सहकारी बनती है। अर्थात् जैसे रुप-रस-गंध आदि सामग्रीगत एक ही रुपक्षण अपनी उत्तर रुपक्षण को उपादान बनकर उत्पन्न करती है। वही रुपक्षण उत्तर रसादिक्षणो की उत्पत्ति में सहकारी होती है। वही रुपक्षण रुप, आलोक मनस्कार, चक्षुरादि ज्ञानसामग्री में अन्तर्भाव पाकर पुरुष के रुपज्ञान में आलंबनकारण बनती है तथा आलोक आदि की उत्तरक्षणो में सहकारी कारण बनती है अर्थात् वही रुप-आलोकमनस्कार-चक्षुरादि की उत्तरक्षण में सहकारी बनती है।

"तदेवमेकं..." इसलिए इस अनुसार से (होने से आप जबाव दिजीये के) अनेक कार्यो को एकसाथ करता कारण क्या एक ही स्वभाव से अनेक कार्यो को उत्पन्न करता है या नाना प्रकार के स्वभाव से अनेक कार्यो को उत्पन्न करता है ? यदि अनेक कार्यो को एकसाथ उत्पन्न करता कारण एक ही स्वभाव से ही अनेक कार्यो को उत्पन्न करता हो तो वह कारण एक स्वभाव के द्वारा कार्य करता होने से कार्यो का भेद नहि होगा। अर्थात् कार्यो में भिन्नता नहि आयेगी। **तथा** नित्य भी पदार्थ एक स्वभाव से अनेक कार्यो को उत्पन्न करता हो, तब (कार्य अभिन्न=एक स्वरुप बन जायेंगे, ऐसी आपत्ति देकर, उसका) निषेध क्यों करते हो ?

अब (यदि आप ऐसा कहोंगे कि) नित्य पदार्थ का एक स्वभाव होने के कारण **"अनेक कार्य उसके द्वारा उत्पन्न होते है"** ऐसा कहना संगत होता नहीं है। तो (हमारा कहना है कि...) तो फिर अनित्य पदार्थ भी किस तरह से भिन्न-भिन्न कार्यो को उत्पन्न कर सकेगा ? क्योंकि आपने अनित्य पदार्थ को निरंश और एक स्वभाववाला ही स्वीकार किया है। अर्थात् नित्य पदार्थ यदि एक स्वभाववाला होने से भिन्न भिन्न कार्यो को उत्पन्न कर सकता न हो, तो निरंश और एक स्वभाववाला अनित्य पदार्थ भी किस तरह से भिन्न भिन्न कार्यो को उत्पन्न कर सकेगा ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(यदि आप ऐसा कहोंगे कि...) अनित्य पदार्थ एक स्वभाववाला होने पर भी सहकारि कारणो की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न कार्यो को उत्पन्न कर सकता है। तो (हम कह सकते है कि) एक स्वभाववाला नित्य पदार्थ भी सहकारि कारणो की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न कार्यो को उत्पन्न कर सकेगा।

अब यदि आप ऐसा कहोंगे कि, अनित्य पदार्थ नानास्वभावो के द्वारा भिन्न-भिन्न कार्यो को करता है। तो हम भी कहेंगे कि, नित्य पदार्थ भी अनेक स्वभावो के द्वारा भिन्न-भिन्न कार्यो को करेंगे।

यदि (आप ऐसा कहोंगे कि) नित्य पदार्थ नाना स्वभाववाला संभवित होता नहीं है, क्योंकि कूटस्थनित्य का एक ही स्वभाव होता है - तो हम भी कहेंगे कि अनित्य पदार्थ भी अनेक स्वभाववाला संभवित होता नहीं है। क्योंकि (आपने) उसको निरंश एक स्वभाववाला माना है।

इसलिए वस्तु को एकांत से नित्य या अनित्य मानने में समान दोष होने से वस्तु को नित्यानित्य उभय स्वरुप मानना ज्यादा श्रेष्ठ है और इसलिए एकांत नित्य पक्ष में तथा एकांत अनित्य पक्ष मे जो कोई दोषो का संभव था, उन सभी दोषो के समूह का परिहार होता है।

शंका : एकांत नित्य पक्ष में आपने दोष बताये और एकांत अनित्य पक्ष में भी आपने दोष बताये। उन दोषो को टालने के लिए वस्तु को नित्यानित्य स्वरुप मानी, तो हमको कहना है कि, जो दोष एकांत नित्य और एकांत अनित्यपक्ष में आते थे, वे सभी दोष नित्यानित्यपक्ष में आकर खडे रहेंगे। एकांत नित्य पक्ष में ५० दोष है और एकांत अनित्य पक्ष में ५० दोष है, तो नित्यानित्य पक्ष में तो १०० दोष आकर खडे रहेंगे न ?

समाधान : आपका यह मात्र अज्ञान का विलास है। क्योंकि आप परमार्थ को समजे ही नहीं है। जैसे गुड कफ करता है और सूंठ पित्त करती है। फिर भी उन दोनो के मिश्रण में से तैयार हुआ औषध (सूंठ की गोली) कफ-पित्त दोनो का नाश करता है। वैसे वस्तु को नित्यानित्य मानने से एकांत दोनो पक्ष में आने वाले सभी दोष नाश होते है। (१२)

ज्ञानवादिनोऽपि ताथागताः स्वार्थाकारयोरभिन्नमेकं संवेदनं संवेदनाच्च भिन्नौ ग्राह्यग्राहकाकारौ स्वयमनुभवन्तः कथं स्याद्वादं निरस्येयुः १ ? तथा संवेदनस्य ग्राह्यग्राहकाकारविकलता स्वप्नेऽपि भवद्भिर्नानुभूयते, तस्या अनुभवे वा सकलासुमतामधुनैव मुक्ततापत्तेः, तत्त्वज्ञानोत्पत्तिर्मुक्तिरिति वचनात् । अनुभूयते च संवेदनं संवेदनरूपतया कथञ्चित् । तत एकस्यापि संवेदनस्यानुभूताननुभूततयानेकान्तप्रतिभासो दुःशकोऽपह्नोतुमिति २ । तथा सर्वस्य ज्ञानं स्वसंवेदनेन ग्राह्यग्राहकाकारशून्यतयात्मानमसंविदत्, संविद्रूपतां चानुभवद्विकल्पेतरात्मकं सदेकान्तवादस्य प्रतिक्षेपकमेव भवेत् ३ । तथा ग्राह्याकारस्यापि युगपदनेकार्थावभासिनश्चित्रैकरूपता प्रतिक्षिपत्येवैकान्तवादमिति ४ ।

व्याख्या का भावानुवाद : (सौ प्रथम यहाँ पंक्ति के आशय स्थान खोलकर बाद में पंक्ति का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावानुवाद करेंगे ।)

(ज्ञानाद्वैतवादि योगाचार ज्ञानाकार और अर्थाकार को अभिन्न मानते है। उस उस ज्ञान से भिन्न किसी बाह्य अर्थ की सत्ता का स्वीकार नहीं करता है। ज्ञान ही ग्राह्यपदार्थ के आकार में तथा ग्राहक-ज्ञान के आकार में प्रतिभासित होता है। इस तरह से एक ही संवेदन में परस्पर भिन्न ग्राह्याकार और ग्राहकाकार का स्वयं अनुभव करनेवाले योगाचार स्याद्वाद का अपलाप किस तरह से कर सकते है ? उनका ग्राह्य-ग्राहकाकारसंवेदन भी स्वयं अनेकांतवाद का समर्थन ही करता है। संवेदनमात्र परमार्थ से ग्राह्य और ग्राहक दोनो भी आकारो से सर्वथा शून्य-निरंश है। परन्तु संवेदन की वह ग्राह्य-ग्राहकादि आकारशून्यता स्वप्न में भी आपके द्वारा अनुभव में आई नहीं है। और यदि संवेदन का यह वास्तविक ग्राह्य-ग्राहकादि आकार रहित निरंश स्वरुप का अनुभव होने लगे तो सभी प्राणीयों को तत्त्वज्ञान होने से, तत्काल-तुरंत ही मुक्ति हो जायेगी। क्योंकि, "तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति ही मुक्ति है।" यह सर्वसंमत सिद्धांत है। संवेदन की संवेदनरुपता का अनुभव तो सभी जीवो को होता ही रहता है। इस तरह से एक ही संवेदन का ग्राह्य-ग्राहक आकार शून्यता की दृष्टि से अनुभव न होना, तथा उसकी संवेदनस्वरुपता की दृष्टि से अनुभव होना वह अनेकांतवाद का ही रुप है। एक ही संवेदन में अनुभूतता तथा अननुभूततारुप उभयधर्मो को माननेवाले बौद्ध अनेकांतवाद का अपलाप नहीं कर सकते है और अनेकांतवाद का विरोध करने से संवेदन के स्वरुप का ही लोप हो जायेगा। इस तरह से सभी ज्ञानो के स्वसंवेदनज्ञान की ग्राह्यादि आकार शून्यता अनुभवपथ में आती न होने से संवेदनरुपता का अनुभव अवश्य करता ही है। इस तरह से एक ही ज्ञान को निरंशताकी दृष्टि से अनिश्चयात्मक तथा संवेदनरुप की दृष्टि से निश्चयात्मक मानने से स्वयं उसके एकांतवाद का खंडन करके स्याद्वाद की सिद्धि कर दी है। संवेदन का ग्राहयाकार भी एक साथ अनेक पदार्थो के आकार में परिणत होके एक होने पर भी चित्र-विचित्ररुप से प्रतिभासित होता है। एक ग्राह्याकार की यह चित्ररुपता भी अनेकांत का स्थापन तथा एकांतवाद का खंडन कर देती है।

पंक्ति का भावानुवाद : ज्ञानवादि योगाचार भी स्वाकार - ज्ञानाकार और अर्थाकार को अभिन्न मानते है। (ज्ञान ही ग्राह्यपदार्थ के आकार में तथा ग्राहकज्ञान के आकार में प्रतिभासित होता है इसलिए) एक ही संवेदन में (परस्पर) भिन्न ऐसे ग्राह्याकार और ग्राहकाकार का स्वयं अनुभव करने वाला योगाचार किस तरह से स्याद्वाद का खंडन करते है। (१)। (संवेदनमात्र परमार्थतः ग्राह्य और ग्राहक दोनो भी आकारो से सर्वथा शून्य-निरंश है। परन्तु) संवदेन की वह ग्राह्य-ग्राहक आकारविकलता स्वप्न में भी आपके द्वारा अनुभव में आई नहीं है। अथवा तो संवेदन की ग्राह्य-ग्राहकाकारविकलता का (अनुभव होने लगे तो उस) अनुभव में सभी जीवो को तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने से तत्काल ही मुक्त हो जाने की आपत्ति आयेगी। क्योंकि "तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति ही मुक्ति है।" यह शास्त्रवचन है और संवेदन की संवेदनरुपता कथंचित् अनुभव में आती ही है। इसलिए एक ही संवेदन में अनुभूतता - अननुभूतता उभय को माननेवाले बौद्ध संवेदन में प्रतिभास होने वाला अनेकांतवाद का अपलाप करने के लिए समर्थ बनते नहीं है। (२) सर्व ज्ञानो के स्वसंवेदन की ग्राह्य-ग्राहकाकारक शून्यता आत्मा में अनुभव के तौर पर आती नहीं है। (और इसलिए)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संवेदनरुपता का अनुभव होता है। (३) इस तरह से (एक ही ज्ञान) विकल्पात्मक और अविकल्पात्मक होने से एकांतवाद का खंडन करनेवाला ही होता है। तथा एकसाथ अनेक अर्थ का अवभासन करनेवाले ग्राह्याकार में भी चित्ररुपता आती है। (वह ग्राह्याकारगत चित्ररुपता) एकांतवाद का खंडन करती है। (अनेकांतवाद का स्थापन करती है।) (४)

नैयायिकैर्वैशेषिकैश्च यथा स्याद्वादोऽभ्युपजग्मे तथा प्रदर्श्यते । इन्द्रियसन्निकर्षादेर्धूमज्ञानं जायते, तस्माच्चाग्निज्ञानम् । अत्रेन्द्रियसन्निकर्षादि प्रत्यक्षं प्रमाणं, तत्फलं धूमज्ञानं, धूमज्ञानं चाग्निज्ञानापेक्षयानुमानं प्रमाणम्, अग्निज्ञानं त्वनुमानफलम् । तदेव धूमज्ञानस्य प्रत्यक्ष-फलतामनुमानप्रमाणतां चोभयरूपतामभ्युपगच्छन्ति । एवमन्यत्रापि ज्ञाने फलता प्रमाणता च पूर्वोत्तरापेक्षया यथार्हमवगन्तव्या १ । एकमेव चित्रपटादेरवयविनो रूपं विचित्राकारमभ्युपयन्ति । न च विरोधमाचक्षते । तदुक्तं कन्दल्याम्-[G-38]विरोधादेकमनेकस्वभावमयुक्तमिति चेत् ? न तथा च प्रावादुकप्रवादः-"एकं चेत्तत्कथं चित्रं, चित्रं चेदेकता कुतः । एकं चैव तु चित्रं चेत्येतच्चित्रतरं [1]मतम् ।।१।।" इति को विरोध इत्यादि । चित्रात्मनो रूपस्य नायुक्तता, विचित्रकारणसामर्थ्यभाविनस्तस्य सर्वलोकप्रसिद्धेन प्रत्यक्षेणैवोपपादित्वादित्यादि [प्रश० कन्द० पृ० ३०] २ । एकस्यैव धूपकडुच्छकस्यैकस्मिन् भागे शीतस्पर्शः परस्मिंश्च भाग उष्णस्पर्शः । अवयवानां भिन्नत्वेऽप्यवयविन एकत्वादेकस्यैव द्वौ विरुद्धौ तौ स्पर्शौ, यतस्तेषामेवं सिद्धान्तः "एकस्यैव पटादेश्चलाचलरक्तारक्तावृताऽनावृताद्यनेकविरुद्धधर्मोपलम्भेऽपि दुर्लभो विरोधगन्धः" इति ३ । नित्यस्येश्वरस्य सिसृक्षा संजिहीर्षा च, रजस्तमोगुणात्मकौ स्वभावौ, क्षितिजलाद्यष्टमूर्तिता च, सात्विकस्वभावाः परस्परं विरुद्धाः ४ । एकस्यामलकस्य कुवलयबिल्वाद्यपेक्षया महत्त्वमणुत्वं च विरुद्धे ५ । एवमिक्षोः समिद्वंशापेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वे अपि ६ । देवदत्तादेः स्वपितृसुतापेक्षया परत्वापरत्वे अपि ७ । अपरं सामान्यं नाम्ना सामान्यविशेष इत्युच्यते । सामान्यविशेषश्च द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वलक्षणः । द्रव्यत्वं हि नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात्सामान्यं, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेषः । एवं गुणत्वकर्मत्वयोरपि सामान्यविशेषता विभाव्या । ततश्च सामान्यं च तद्विशेषश्चेति सामान्यविशेषः । तस्यैकस्य सामान्यता विशेषता च विरुद्धे ८ ।

व्याख्या का भावानुवाद :

नैयायिको और वैशेषिको ने जिस अनुसार से स्याद्वाद का स्वीकार किया है, उस अनुसार से अब बताया

१ ततः, इति प्रत्यन्तरे.

(G-38) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बताया जाता है।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षादि से धूमज्ञान उत्पन्न होता है और धूमज्ञान से अग्निज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ इन्द्रिय-सन्निकर्षादि प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसका फल धूमज्ञान है तथा धूमज्ञान अग्निज्ञान की अपेक्षा से अनुमानप्रमाण है। परंतु अग्निज्ञान अनुमानफल है। इसलिए इस अनुसार से धूमज्ञान में प्रत्यक्षफलता और अनुमान प्रमाणता उभय का समावेश होता है। इस प्रकार नैयायिकों एक धूमज्ञान में उभयरुपता का स्वीकार करते है। (तो किस तरह से अनेकांतवाद का प्रतिक्षेप कर सकेंगे।)

इस अनुसार से अन्यत्र भी ज्ञान में पूर्वोतर अपेक्षा से ज्ञानता और प्रमाणता यथायोग्य जानना। अर्थात् पूर्व-पूर्व साधकतम अंशो में प्रमाणता तथा उत्तरोत्तर साध्य अंशो में फलरुपता समज लेना। इस प्रकार एक ही ज्ञान में प्रमाणता और फलरुपता का स्वीकार करना वह अनेकांतवाद का ही समर्थन है। (१)

नैयायिकोने एक ही अनेकरुपवाले पटादि अवयवी का चित्र-विचित्ररुप माना है। एक ही अवयवी में चित्र-विचित्ररुप को मानने में वे कोई विरोध नहीं बताते है। इसलिए ही न्यायकंदली में (श्रीधराचार्य ने विरोध परिहार करते हुए) कहा है कि...

शंका : एक अवयवी में अनेक स्वभाव=रुप मानने में तो विरोध दूषण आता है। इसलिए एक अवयवी को चित्ररुप मानना अयुक्त है। किसी वादि ने कहा भी है कि... यदि एक है, तो चित्र-अनेकरुपवाला किस तरह से हो सकता है ? यदि चित्र=अनेकरुपवाला है, तो उसमें एकता किस तरह से हो सकती है ? एकता और चित्रता में तो विरोध है। एक भी कहना और चित्र भी कहना अयुक्त है।

समाधान : रुप को चित्र मानना अयुक्त नहीं है। क्योंकि चित्र रुपवाले कारणो के सामर्थ्य से होनेवाले रुप को चित्र मानने में कोई विरोध नहीं है। तथा लोकप्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से यह वस्तु सभी को अनुभव में आती ही है। (२)

एक ही धूपदान के एक भाग में शीतस्पर्श और दूसरे भाग में उष्णस्पर्श होता है। यद्यपि (धूमदानरुप) अवयवी के अवयव भिन्न होने पर भी उन अवयवो का अवयवी एक ही है। उन अवयवी में ही परस्पर विरोधी शीत और उष्णस्पर्श प्राप्त होता ही है। वैशेषिको का भी इस अनुसार से सिद्धांत है कि... "एक ही पटादि अवयवी में एक भाग में चलरुपता - क्रिया होना, हिलना तथा दूसरे भाग में अचल - स्थिर रहना, एक भाग में रक्तता और एक भाग में अरक्तता, एक भाग में (दूसरे कपडो के द्वारा) आवृत्त = ढका हुआ और दूसरे भाग में अनावृत्त, ऐसे अनेक विरोधिधर्मो की उपलब्धि होती है। फिर भी उसमें विरोध की कोई गंध नहीं है।" (३)

वे नित्य एक ईश्वर में जगत का सर्जन करने की इच्छा, जगत का प्रलय - संहार करने की इच्छा, रजोगुण-तमोगुणरुप स्वभाव तथा अनेक सात्त्विक भावो को मानते है। उसमें स्पष्ट रुप से परस्परविरोध है। एक ही ईश्वर को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, कालरुप अष्टमूर्ति मानने में स्पष्ट रुप से विरोध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। (और फिर भी आप एक ईश्वर में अनेक धर्मो का स्वीकार करके अनेकांतवाद का समर्थन ही करते हो।) (४)

आप एक आंवले में कुवलय (कमल) की अपेक्षा से महत्त्व तथा बिल्वफल की अपेक्षा से अणुत्व, इस तरह से परस्पर विरुद्ध धर्मो को मानते है। वह अनेकांतवाद का ही समर्थन है। (५)

इस अनुसार से आप एक गन्ने में इक्षु के सांठे में किसी यज्ञ में उपयोगी लकडी की अपेक्षा से दीर्घत्व और बांस की अपेक्षा से ह्रस्वत्व मानते हो, वह भी अनेकांतवाद का ही स्वीकार है। (६)

देवदत्तादि में अपने पिता की अपेक्षा से लघुता और अपने पुत्र की अपेक्षा से ज्येष्ठता होती है। (७)

अपरसामान्य को सामान्यविशेष कहते हो। अर्थात् अपरसामान्य एक विशेषप्रकार का सामान्य है। द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व सत्ता की अपेक्षा से अपरसामान्य सामान्यविशेष है। द्रव्यत्व पृथ्वी आदि नौ द्रव्यो में अनुगत होने से सामान्यरुप है। वह द्रव्यत्व गुण - कर्म से व्यावृत्त होता होने से विशेषरुप है। इस अनुसार से गुणत्व और कर्मत्व की भी सामान्यरुपता और विशेषरुपता का विचार करे। (गुणत्व सभी गुणो में अनुगत होने से सामान्यरुप है। तथा द्रव्य और कर्म से व्यावृत्त होता होने से विशेषरुप है। इस तरह से कर्मत्व के लिए सोचना।) इसलिए जो सामान्य भी है और विशेष भी है, उसे सामान्य-विशेष कहा जाता है। इस प्रकार एक द्रव्यत्वादि में परस्परविरुद्ध सामान्यता और विशेषता का स्वीकार करना वह अनेकांतवाद का ही स्वीकार है। (८)

एकस्यैव हेतोः पञ्च रूपाणि संप्रतिपद्यन्ते ९ । एकस्यैव पृथिवीपरमाणोः सत्ता-योगात्सत्त्वं, द्रव्यत्वयोगाद्द्रव्यत्वं, पृथिवीत्वयोगात्पृथिवीत्वं, परमाणुत्वयोगात्परमाणुत्वं अन्त्याद्विशेषात्परमाणुभ्यो भिन्नत्वं चेच्छतां परमाणोस्तस्य सामान्यविशेषात्मकता बलादापतति, सत्त्वादीनां परमाणुतो भिन्नतायां तस्याऽसत्त्वाऽद्रव्यत्वा-ऽपृथिवीत्वाद्यापत्तेः १० । एवं देवदत्तात्मनः सत्त्वं द्रव्यत्वम्, आत्मत्वयोगादात्मत्वम्, अन्त्याद्वि-शेषाद्यज्ञदत्ताद्यात्मभ्यो भिन्नतां चेच्छतां तस्यात्मनः सामान्यविशेषरुपतावश्यं स्यात् । एवमाकाशादिष्वपि सा भाव्या ११ । योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनःसु च प्रत्याधारं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययो येभ्यो भवति तेऽन्त्या विशेषा, इत्यत्र तुल्याकृतिगुणक्रियात्वं विलक्षणत्वं चोभयं प्रत्याधारमुच्यमानं स्याद्वादमेव साधयेत् १२ । एवं नैयायिकवैशेषिका आत्मनानेकान्तमुररीकृत्यापि तत्प्रतिक्षेपायोद्यच्छन्तः सतां कथं नोपहास्यतां यान्ति । किं च, अनेकान्ताभ्युपगमे सत्येष गुणः परस्पर-विभक्तेष्ववयवावयव्यादिषु मिथोवर्तनचिन्तायां यद्दूषणजालमुपनिपतति तदपि परिहृतं भवति । तथाहि-अवयवानामवयविनश्च मिथोऽत्यन्तं भेदोऽभ्युपगम्यते नैयायिकादिभिर्न पुनः कथञ्चित् । ततः पर्यनुयोगमर्हन्ति ते । अवयवेष्ववयवी वर्तमानः किमेकदेशेन वर्तते किं वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामस्त्येन । यद्येकदेशेन तदयुक्तं, अवयविनो निरवयवत्वाभ्युपगमात् । सावयवत्वेऽपि तेभ्योऽवयवी यद्यभिन्नः, ततोऽनेकान्तापत्तिः, एकस्य निरंशस्यानेकावयवत्वप्राप्तेः । अथ तेभ्यो भिन्नोऽवयवी, तर्हि तेषु स कथं वर्तत इति वाच्यम् । एकदेशेन सामस्त्येन वा ? एकदेशपक्षे पुनस्तदेवावर्तत इत्यनवस्था । अथ सामस्त्येन तेषु स वर्तते, तदप्यसाधीयः, प्रत्यवयवमवयविनः परिसमाप्ततयावयविबहुत्वप्रसङ्गात् । ततश्च तेभ्यो भिन्नोऽवयवी न विकल्पभाग् भवति ।

व्याख्या का भावानुवाद :

आप लोगो ने एक ही हेतु के पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व, ऐसे पांच रुपो का स्वीकार किया है। वह भी अनेकांतवाद का ही स्वीकार है। (९) एक ही पृथ्वी के परमाणु में सत्ता के योग से - संबंध से सत्त्व, द्रव्यत्व के संबंध से द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व के संबंध (समवाय) से पृथ्वीत्व, परमाणुत्व के योग से परमाणुत्व आदि अनेक सामान्य धर्म प्राप्त होते है। आप लोग उसी परमाणु को नित्यद्रव्य में रहनेवाले विशेष पदार्थ से तथा अन्य परमाणुओ से भिन्न मानते है। अर्थात् विशेष मानते है। इसलिए एक ही परमाणु में सामान्यरुपता तथा विशेषरुपता अवश्य है ही और वही अनेकांतवाद का स्वीकार है। (यदि सत्त्व, द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व आदि से परमाणुओ का भेद माना जायेगा, तो वह असत्, अद्रव्य और अपृथ्वी बन जायेंगे।) इसी ही तरह से एक ही देवदत्त के आत्मा में सत्त्व, द्रव्यत्व, आत्मत्व के समवाय से आत्मत्व आदि अनेक सामान्यधर्म प्राप्त होते है और उसी देवदत्त का आत्मा (विनाश और आरंभरुप अवस्थाओ में भी शेष रहनेवाले) नित्य द्रव्यो में कहे हुए विशेष पदार्थ से तथा यज्ञदत्त आदि की आत्माओ से भिन्न भी है। इसलिए उसमें विशेषरुपता भी है। जिस तरह से आत्मा में सामान्यरुपता तथा विशेषरुपता दिखाई देती है, उसी तरह से आकाश, काल आदि द्रव्यो में भी सत्त्व, द्रव्यत्व आदि की अपेक्षा से सामान्यरुपता तथा अन्य द्रव्य, गुण आदि से भिन्न होने के कारण विशेषरुपता होती है। वह स्वयं सोच लेना। (११)

(आप लोगोने विशेषपदार्थ का लक्षण करते हुए कहा है कि...) तुल्य आकृतिवाले, तुल्य गुणवाले तथा तुल्य क्रियावाले परमाणुओ में, मुक्तात्मा के निर्गुण आत्माओ में तथा मुक्त जीवो से मुक्त हुए मन में, जिस कारण से योगीयों को - **"यह इससे विलक्षण है।" "यह इससे विलक्षण है"** ऐसा विलक्षण प्रत्यय होता है, उसे अन्त्य विशेष कहा जाता है। यहाँ प्रत्येक परमाणु आदि आधारो में तुल्याकृतिक्रियत्व और विलक्षणत्व उभय को कहने वाले आप लोग स्याद्वाद का ही स्थापन करते है।

(कहने का मतलब यह है कि, वैशेषिक विशेष नाम के पदार्थ का स्वीकार करके उनके ग्रंथो में लिखते है कि.. परमाणुओ में, मुक्तात्माओ में तथा मुक्तात्माओ से निवृत्त हुए मनो में (उपर कहे अनुसार) आकृति, गुण और क्रिया की समानता होने पर भी **"यह इससे विलक्षण है"** ऐसा प्रत्यय करानेवाला विशेषपदार्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। उस विशेष के कारण परमाणु आदि में विलक्षणता आती है। इस तरह से वैशेषिक परमाणु आदि में (आकृति आदि की अपेक्षा से सामान्यरुपता और विलक्षणता = विशेषरुपता को स्वीकार करके स्याद्वाद का ही स्थापन करते है।)

इस अनुसार से नैयायिक और वैशेषिक अपने आप ही (अपने शास्त्रव्यवहारो में) अनेकांतवाद का स्वीकार करके भी उस अनेकांतवाद का खंडन करने के लिए तत्पर बने हुए नैयायिक और वैशेषिक सचमुच सत्पुरुषो के उपहास का साधन बन जाते है। नैयायिको की स्ववचनविरोधिता भी उपहास्य बन जाती है।

वैसे ही, अनेकांतवाद का स्वीकार करने से यह गुण होता है कि, परस्परविभक्त अवयव, अवयवी आदि में परस्परवृत्ति मानने की विचारणा में जो दूषण आते है, उन सभी का परिहार होता है।

(यहाँ प्रथम अनेकांतवाद का स्वीकार न करने वाले नैयायिको की तथा बौद्धो की चर्चा चालू होती है। उसमें बौद्ध प्रथम एकांत से अवयव-अवयवी को भिन्न मानने वाला तथा सत्तासामान्य आदि की अपनी व्यक्तिओ में वृत्ति मानने वाले वैशेषिको को-नैयायिको को दूषण देते है।) नैयायिक आदि अवयवो को अवयवी से अत्यंत भिन्न मानते है। कथंचित् भेद नहीं मानते है। (इसलिए बौद्ध उसमें दूषण देते है कि..) यदि आप (नैयायिक आदि) अवयवो का अवयवी से एकांत से भेद मानते हो तो हमारा (बौद्धोका) प्रश्न है कि... अवयवो में अवयवी रहता है, वह क्या एक देश से रहता है या सर्वदेश से रहता है ? यदि आप **"अवयवो में अवयवी एक देश से रहता है"** ऐसा कहोंगे तो, वह योग्य नहीं है, क्योंकि अवयवी तो निरवयव माना गया है।

आप लोग यदि अवयवी को सावयव मानोंगे तो हमारा (बौद्धो का) आपको (नैयायिक आदि को) प्रश्न है कि... अवयवी अवयवो से भिन्न है या अभिन्न है ? यदि अवयवी अपने अनेक अवयवो से अभिन्न है, तो अनेकांतवाद मानने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि एक निरंश अवयवी को अनेक अवयवोवाला-प्रदेशवाला मानना पडता है।

यदि अवयवी अपने अनेक अवयवो-प्रदेशो से भिन्न है, तो अवयवी अवयवो में किस तरह से रहता है ? वह आपको कहना चाहिए। अर्थात् अवयवी अपने अनेक प्रदेशो से भिन्न है, तो वह अवयवी प्रदेशो में एक देश से रहता है या सर्वदेश से रहता है ? इसका जवाब देना चाहिए।

एक देश से वृत्ति मानना उचित नहीं है, क्योंकि अनवस्थादोष आता है। (कहने का मतलब यह है कि, अवयवी निरंश होने से उसके प्रदेश ही नहीं है। प्रदेश माने जायेंगे तो उन प्रदेशो में वह सर्वदेश में रहेगा या एक देश से रहेगा.. इत्यादि प्रश्न पुनः चालू ही रहेंगे, अंत ही नहीं आयेगा। इस तरह से अनवस्थादोष आता है।)

"अवयवी अपने प्रत्येक अवयवो में समग्रतया सर्वदेश से रहता है," यह पक्ष मानोंगे, तो वह भी उचित नहीं है। क्योंकि प्रत्येक अवयवो में अवयवी परिपूर्णतया रहता होने से (अवयव अनेक है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए) अवयवी भी अनेक हो जायेंगे। अर्थात् जितने अवयव है, उतने स्वतंत्र अवयवी हो जायेंगे। क्योंकि प्रत्येक अवयव में अवयवी अपने पूर्णरुप से रहता है। (कि जो इष्ट नहीं है।) इसलिए अवयवो से भिन्न अवयवी का अपने अवयवो में रहना कठीन है। इसलिए अवयवो से भिन्न अवयवी मानने का विकल्प उचित नहीं है।

नन्वभेदपक्षेऽप्यवयविमात्रमवयवमात्रं वा स्यादिति चेत् ? न, अभेदस्याप्येकान्तेनानभ्युपगमात् । किं तर्ह्यन्योन्याविश्लिष्टस्वरूपो विवक्षया संदर्शनीयभेदोऽवयवेष्ववयव्यभ्युपगम्यते, अबाधितप्रतिभासेषु सर्वत्रावयवावयविनां मिथो भिन्नाभिन्नतया प्रतिभासनात्, अन्यथा प्रतिभासमानानामन्यथापरिकल्पने ब्रह्माद्वैतशून्यवादादेरपि कल्पनाप्रसङ्गात् । एवं संयोगिषु संयोगः, समवायिषु समवायो, गुणिषु गुणो, व्यक्तिषु सामान्यं चात्यन्तं भिन्नान्यभ्युपगम्यमानानि तेषु वर्तनचिन्तायां सामस्त्यैकदेशविकल्पाभ्यां दूषणीयानि । तदेवमेकान्तभेदेऽनेकदूषणोपनिपातादनेकान्ते च दूषणानुत्थानादनेकान्तानभ्युपगमात् न मोक्ष इति । अतो वरमादावेव मत्सरितां विहायानेकान्तो-ऽभ्युपगतः किं भेदैकान्तकल्पनया अस्थान एवात्मना परिक्लेशितेनेति ।।

सांख्यः सत्त्वरजस्तमोभिरन्योन्यं विरुद्धैर्गुणैर्ग्रथितं प्रधानमभिदधान एकस्याः प्रकृतेः संसारावस्थामोक्षसमययोः प्रवर्तननिवर्तनधर्मौ विरुद्धौ स्वीकुर्वाणश्च कथं स्वस्यानेकान्तमतवैमुख्यमाख्यातुमीशः स्यात् ?

मीमांसकास्तु स्वयमेव प्रकारान्तरेणैकानेकाद्यनेकान्तं प्रतिपद्यमानास्तत्प्रतिपत्तये सर्वथा पर्यनुयोगं नार्हन्ति । अथवा शब्दस्य तत्संबन्धस्य च नित्यत्वैकान्तं प्रति तेऽप्येवं पर्यनुयोज्यात्रिकालशून्यकार्यरूपार्थविषयविज्ञानोत्पादिका नोदनेति मीमांसकाभ्युपगमः । अत्र कार्यतायास्त्रिकाल-शून्यत्वेऽभावप्रमाणस्य विषयता स्यात्, अर्थत्वे तु प्रत्यक्षादिविषयता भवेत्, उभयरूपतायां पुनर्नोदनाया विषयतेति ।

व्याख्या का भावानुवाद :

अवयवी और अवयव के बीच सर्वथा अभेद मानोंगे तो, या तो अवयवी मात्र की सत्ता रहेगी या अवयव मात्र की सत्ता रहेगी। अभेदपक्ष में दोनो की सत्ता नहीं हो सकती और ऐसे प्रकार का सर्वथा (एकांत से) अभेद, हमने (जैनोने) स्वीकार नहीं किया है। परंतु वह अन्योन्य अविश्लिष्ट = संबंधस्वरुप होते है। यद्यपि उसके भेद की विवक्षा हो, तब अवयवो में अवयवी का स्वीकार करते है अर्थात् भेद की विवक्षा हो तब **"यह अवयवी है, यह अवयव है"** इस प्रकार का भेद किया जाता है। (जैसे आडे-खडे रुप से संबद्ध तंतुओ को छोडकर उससे अत्यंत भिन्न पट नामका अतिरिक्त अवयवी होता ही नहीं है। इसलिए अवयवो में ही अवयवी रहा हुआ है, ऐसा सिद्ध होता है। फिर भी जब भेद की विवक्षा हो, तब **"यह अवयव रुप**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तंतु है'' और ''**यह पटरुप अवयवी है**'' ऐसे प्रकार का भेद किया जाता है।)

सारांश में, जब भेद की विवक्षा की जाती है, तब अवयवो में अवयवी का स्वीकार किया जाता है। क्योंकि अबाधितप्रतीतिओ में सर्वत्र अवयव और अवयवी का परस्पर भिन्नाभिन्नरुप से ही प्रतिभास होता है। (अर्थात् सभी जगह पे अवयव और अवयवी का कथंचित् भेदाभेद ही निर्बाध प्रतीति का विषय बनती है। किसी भी जगह पे तंतुओ से अतिरिक्त अकेला पट प्रतीत होता नहीं है। उस अपेक्षा से उन दोनो में अभेद है। पट की पटसंज्ञा, तंतु की तंतुसंज्ञा इत्यादि संज्ञाभेद, लक्षणभेद, परिमाणभेद आदि की दृष्टि से उन दोनो में भेद है ही। इस अनुसार से) अवयव से कथंचित् भिन्न-अभिन्न अवयवी का प्रतिभास होता है और फिर भी उससे भिन्न (अन्यथा) प्रतिभास की कल्पना करने से अर्थात् सर्वथा अप्रतिभासमान अत्यंत भेद माना जायेगा तो अप्रतिभासमानब्रह्माद्वैत या शून्यवाद को भी मानने की आपत्ति आयेगी। (कहने का मतबल यह है कि सभी जगह पे अवयव से कथंचित् भिन्नाभिन्न अवयवी प्रतीत होता होने पर भी अप्रतिभासमान (-प्रतीत न होता) उभय के बीच सर्वथा भेद मानने में तो अप्रतिभासमान सर्वथा अभेद के सूचक ब्रह्माद्वैतवादि या शून्यवाद को भी सत्य मानने की आपत्ति आयेगी।)

इस अनुसार से संयोगीओ में संयोग, समवायीओ में समवाय, गुणीओ में गुण, व्यक्तिओ में सामान्य, इन सबको अत्यंत भिन्न मानकर उनकी परस्परवृत्ति का विचार करने से पहले कहा था उस अनुसार से एकदेश और सर्वदेशवाले विकल्पो के द्वारा दूषण देने चाहिए, (कहनेका मतलब यह है कि, दो द्रव्यो मे संयोग संबंध होता है। दहीं और घडे में संयोग संबंध माना गया है। यद्यपि उसमें अवयव-अवयवी भाव नहीं है। गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, सामान्य और सामान्यवान् (व्यक्ति), विशेष और विशेषवान् (नित्यद्रव्य) **तथा** अवयव-अवयवी में समवाय संबंध होता है। इसलिए संयोग की अपने संयोगीओ में, समवाय की समवायीओ में, गुण की गुणी में, सामान्य की अपने व्यक्तिओ वृत्ति एक देश से होती है या सर्वदेश से होती है ? इत्यादि उभय विकल्प करते हुए पहले बताये गये दूषण संयोग और समवाय आदि को संयोगी और समवायी से सर्वथा भिन्न मानने में आके खडे रहेंगे।

इस अनुसार से सर्वथा भेद मानने में अनेक दूषण आ जाते होने पर भी तथा अनेकांतवाद में एक भी दूषण का आप उत्थान कर सकते नहीं है, तो भी अनेकांतवाद का स्वीकार नहीं करते है इससे आपका मोक्ष नहीं हो सकता। इससे अच्छा है कि पहले से आप इर्ष्या का त्याग करके अनेकांत का स्वीकार कर लो। एकांतभेद की कल्पना द्वारा व्यर्थ आत्मा को क्लेश क्यों देते है!

रजस्, तमस्, सत्त्वरुप अन्योन्यविरोधगुणो से पिरोये हुए प्रधान को माननेवाले, एक ही प्रकृति की संसारावस्था में प्रवर्तनधर्मता और मोक्षावस्था में निवर्तनधर्मता का अर्थात् विरुद्धधर्मता का स्वीकार करनेवाले, सांख्य किस तरह से अपनी अनेकांतमत की विमुखता को कहने के लिए समर्थ होंगे ? कहने का मतलब यह है कि, सांख्य एक ही प्रधान को त्रिगुणात्मक मानते है। वह प्रधान परस्परविरोधि सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुणो से गूंथा हुआ है। अर्थात् त्रयात्मक है। एक ही प्रकृति में संसारी जीवो की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपेक्षा से उसमें सुख-दुःख आदि उत्पन्न करने के कारण प्रवृत्त्यात्मक स्वभाव तथा मुक्तजीवो की अपेक्षा से निवृत्तिरुप स्वभाव मानते है। इस तरह से एक ही प्रधान में त्रिगुणात्मकता तथा एक ही प्रकृति भिन्न-भिन्न जीवो की अपेक्षा से नष्टानष्ट, प्रवृत्ताप्रवृत्त आदि विरुद्धधर्मोवाली माननेवाले सांख्य किस तरह से स्वयं को अनेकांत का विरोधी कह सकते है। एक ही प्रधान में, एक ही प्रकृति में, विरुद्ध धर्मो का स्वीकार ही अनेकांतवाद का समर्थन करता है।

मीमांसक स्वयं ही प्रकारान्तर से अनेकादि अनेकांत का स्वीकार करते ही है। इसलिए उनको इस विषय में कोई पर्यनुयोग (पूछताछ) करने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् मीमांसको में कुमारिल भट्ट आदि तो स्वयं ही सामान्य और विशेष में कथंचित् तादात्म्य, धर्म और धर्मी में भेदाभेद तथा वस्तु को उत्पादादित्रयात्मक स्वीकार करके अनेकांत को मानते ही है। इसलिए उनको इस विषय की विशेष पूछताछ करने की आवश्यकता नहीं है।)

यद्यपि वे शब्द और अर्थ संबंध को एकांतिक नित्य मानते है। इस विषय में वे भी पूछने योग्य है।

(प्रथम इस विषय में मीमांसक का मत बताकर पंक्ति का भावार्थ खोलेंगे। मीमांसक शब्द और अर्थ का नित्यसंबंध मानते है। नोदना - श्रुतिवाक्य को कार्यरुप अर्थ में ही प्रमाण मानते है और उस कार्य को त्रिकालशून्य मानते है। उनका आशय यह है कि वेदवाक्य त्रिकालशून्य शुद्धकार्यरुप अर्थ को ही विषय करता है।)

पंक्ति का भावानुवादः "त्रिकालशून्य कार्यरुप अर्थविषयक ज्ञान उत्पादिका नोदना है।" इस अनुसार से मीमांसक मानते है (इस विषय में उनको कहना है कि...) यदि कार्यरुपता त्रिकालशून्य है - किसीभी काल में अपनी सत्ता रखती नहीं है। तो वह अभाव प्रमाण का ही विषय बन जायेगी। (उसको आगमगम्य मानना युक्त नहीं है।) यदि वह कार्यरुपता अर्थरुप है, तो प्रत्यक्षादि प्रमाण से ही उसका परिज्ञान हो जायेगा। अर्थात् उस कार्यरुपता में प्रत्यक्षादि प्रमाणो की विषयता आयेगी (इसलिए कार्य को त्रिकालशून्य और अर्थरुप भी मानोंगे, तब ही वह वेदवाक्य का विषय बन सकेगा। अर्थात्) कार्यरुपता में त्रिकालशून्यता तथा अर्थरुपता उभय का स्वीकार करोंगे तब ही वह नोदना वेदवाक्य का विषय बन सकेगी। (इस तरह से मीमांसको ने भी एक कार्यरुपता में उभयधर्मो का स्वीकार करके अनेकांत का ही समर्थन किया है।)

अथ बौद्धादिसर्वदर्शनाभीष्टा दृष्टान्ता युक्तयश्चानेकान्तसिद्धये समाख्यायन्ते-बौद्धादिसर्वदर्शनानि संशयज्ञानमेकमुल्लेखद्वयात्मकं प्रतिजानानानि नानेकान्तं प्रतिक्षिपन्ति १। तथा स्वपक्षसाधकं परपक्षोच्छेदकं च विरुद्धधर्माध्यस्तमनुमानं मन्यमानाः परेऽनेकान्तं कथं पराकुर्युः ? २। मयूराण्डरसे नीलादयः सर्वेऽपि वर्णा नैकरूपा नाप्यनेकरूपाः, किंत्वेकानेकरूपा यथावस्थिताः, तथैकानेकाद्यनेकान्तोऽपि। तदुक्तं नामस्थापनाद्यनेकान्तमाश्रित्य-"मयूराण्डरसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यद्वद्वर्णा नीलादयः स्थिताः । सर्वेऽप्यन्योन्यसंमिश्रास्तद्वन्नामादयो घटे ।।१।। नान्वयः[A] स हि भेदित्वान्न भेदोऽन्वय-वृत्तितः । मृद्भेदद्वयसंसर्गवृत्ति जात्यन्तरं घटः ।।२।।" **अत्र हिशब्दो हेतौ यस्मादर्थे स घटः** । "भागे सिंहो नरो भागे, योऽर्थो भागद्वयात्मकः । तमभागं विभागेन, नरसिंहं [B]प्रचक्षते ।।३।। न नरः सिंहरूपत्वान्न सिंहो नररूपतः । शब्दविज्ञानकार्याणां भेदाज्जात्यन्तरं हि सः ।।४।। त्रैरूप्यं पञ्चरूप्यं वा, ब्रुवाणा हेतुलक्षणम् । सदसत्त्वादि सर्वेऽपि, कुतः परे न मन्वते ।।५।।"

व्याख्या का भावानुवाद : अब अनेकांत की सिद्धि के लिए बौद्धादि सर्वदर्शनो को संमत दृष्टांत और युक्तियाँ कही जाती है।

(१) बौद्धादि सर्वदर्शन एक ही संशय ज्ञान में (परस्परविरोधी दो आकार के प्रतिभास को तथा) दो परस्पर विरोधी उल्लेखो को मानते है। तो वे अनेकांत का परिक्षेप किस तरह से कर सकते है ?

(२) स्वपक्ष का साधक तथा परपक्ष के उच्छेदकरुप विरोधीधर्मो से युक्त अनुमान को माननेवाले वादि किस तरह से स्याद्वाद का निराकरण कर सकते है ? एक ही हेतु में स्वपक्ष-साधकता और परपक्ष असाधकता को मानने में अनेकांत का ही समर्थन है।

(३) मोर के अण्डे के रस में (तरल प्रवाही में) जो नील, पीत आदि वर्ण होते है, वे एकरुप होते नहीं है या अनेकरुप भी होते नहीं है। परंतु एकानेकरुप होते है। वैसे वस्तु में भी एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेक धर्म रहे हुए है। (अर्थात् मोर के अण्डे के प्रवाही रस में नील, पीत आदि अनेक रंग दिखाई देते है। उन रंगो को सर्वथा एकरुप भी कह नहीं सकते और स्वतंत्ररुप से अनेकरुप भी नहीं कह सकते। परंतु कथंचित् एकानेकरुप से तादात्म्य भाव से रहते है। उस तरह से वस्तु में एक-अनेक, नित्य- अनित्य आदि धर्म भी कथंचित् तादात्म्य भाव से रहते है, यही अनेकांतवाद का समर्थन है।)

एक ही वस्तु में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, ये चार निक्षेपा का व्यवहार होता है। उस नाम-स्थापना आदि से अनेकांत का समर्थन करते हुए कहा है कि... **"जिस तरह से मोर के अण्डे के रस में नीलादि सभी वर्ण अन्योन्य मिलकर रहते है। अर्थात् अण्डे के रस में नीलादि अनेक वर्ण परस्पर मिश्रित होके तादात्म्य भाव से रहते है, वैसे वस्तु में नामघट, स्थापनाघट आदि रुप से नामादि चारों निक्षेपा का व्यवहार होता है।"** (१)

(मिट्टी के घडे में) मिट्टी और घट का (सर्वथा) अन्वय =अभेद नहीं माना जा सकता, क्योंकि घटोत्पत्ति पहले की पिंडरुप मिट्टी अलग थी और घटोत्पत्ति के बाद की घट अवस्था में मिट्टी अलग है। (उसी तरह से मिट्टी के घट में) मिट्टी और घट का (सर्वथा) भेद भी नहीं है, क्योंकि मिट्टी की अपेक्षा से अन्वय =

A उद्धृतोऽयम्-अनेकान्तवादप्रवेश० पृ. ३१/अनेकान्तजयप० पृ.११९

B उद्धृतोऽयम् - तत्त्वोप० पृ० ९८ उद्धृतोऽयम् - न्यायावता० वा. वृ पृ. ८८ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अभेद दिखाई देता है। अर्थात् घटोत्पत्ति के पूर्व मिट्टी के पिंड में "**यह मिट्टी है**" तथा घट अवस्था में "**यह मिट्टी है**" ऐसा अन्वय देखने को मिलता है। (**प्रश्न :** यदि घट में सर्वथा भेदजाति नहीं है या सर्वथा अभेदजाति भी नहीं है, तो घट में किस जाति का स्वीकार करते हो ? **उत्तर** (हम) घट में सर्वथा भेदरुप और सर्वथा अभेदरुप दोनो जातियों में अतिरिक्त भेदाभेद जाति का स्वीकार करते है।

यहाँ श्लोक में "**हि**" शब्द हेतु में है। अर्थात् "**हि**" शब्द का "**यस्मात्** जिस कारण से" अर्थ है (जिस कारण से वह घट.. इत्यादि करना।) (श्लोक का भावार्थ यह है कि.. मिट्टी के घट में मिट्टी और घट का सर्वथा अभेद भी नहीं माना जा सकता और सर्वथा भेद भी नहीं माना जा सकता। घटका मिट्टी रुप से सर्वथा अभेद भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह मिट्टी भिन्न थी और यह मिट्टी भिन्न है। अवस्थाभेद तो निश्चित है ही। उसमें सर्वथा भेद भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि मिट्टीरुप से अन्वय दिखाई देता है। पिंड भी मिट्टी का ही था और घट भी मिट्टी का ही है। इसलिए घट सर्वथा अभेद और सर्वथा भेदरुप दो जातियों से अतिरिक्त एक कथंचित् भेदाभेदरुप तीसरी जाति का ही है। उस अवस्था में घट सर्वथा मिट्टीरुप नहीं है और मिट्टी में से अन्य द्रव्यरुप भी नहीं बन गया है। परंतु द्रव्यरुप से मिट्टी का घट में अन्वय है। तथा पर्यायरुप से भेद है। पिंडावस्था में घटाकार नहीं है, घटावस्था में घटाकार है। इसलिए पर्यायरुप से भेद है। फिरभी दोनो अवस्था में मिट्टीरुप से अन्वय तो है ही।(२)`

जो पदार्थ भागद्वयात्मक है, वह एक भाग में सिंहाकार है और एक भाग में नराकार है। (फिर भी उसमें एक) अन्वयी = अविभागी द्रव्य है। तथा (अवयवो की दृष्टि से) विभाग भी है। उसे नरसिंह कहा जाता है। वह नरसिंह मात्र नररुप नहीं है, क्योंकि (कुछ खास अंश में) सिंहरुप भी है तथा वह नरसिंह केवल सिंहरुप नहीं है, । क्योंकि (कुछ अंश में नररुप भी है।) वैसे ही नरसिंह के वाचकशब्द से नर और सिंह का वाचकशब्द भिन्न है। नरसिंहाकार के ज्ञान से नर और सिंह का ज्ञान भिन्न है। तथा नरसिंह के कार्य से नर और सिंह का कार्य भिन्न है। इसलिए नरसिंह नररुप और सिंहरुप दो जातियों से) भिन्न तीसरी जाति है। (३-४) (नरसिंहावतार की चर्चा दार्शनिक जगत में प्रसिद्ध है। वह नरसिंह मुख आदि अवयवो में सिंह के आकार का है तथा अन्य पैर आदि अवयवो की दृष्टि से मनुष्य के आकार का है। अर्थात् उन दोनो प्रकार के अवयवो का अखंड अविभागीरुप नरसिंह है। उसमें भेददृष्टि से नर और सिंह की कल्पना की जाती होने पर भी वस्तुतः उन दोनो अवयवो से तादात्म्य रखनेवाला अखंडपदार्थ है। उसको नर भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अंशतः सिंहरुप भी है तथा उसको सिंह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अंशतः नररुप भी है। वह नरसिंह तो उन दोनो से भिन्न एक तीसरी मिश्रितजाति का अखंड पदार्थ है, कि जिसमें वे दो भाग दिखाई देते है। विशेष सुगम है।)

(इस तरह से घट में भेदाभेदरुप तीसरी जाति का तथा नरसिंह में उभय से भिन्न तीसरी जाति का स्वीकार करना वही अनेकांतवाद का समर्थन है।)

हेतु का लक्षण त्रिरुप या पंचरुप कहने वाले परवादि भी एक वस्तु में सत्त्व-असत्त्व, नित्य-अनित्य आदि सभी धर्मो का स्वीकार क्यों नहीं करते है ? वह आश्चर्य है। (५) (कहने का मतलब यह है कि पक्षधर्मता, सपक्षसत्त्व,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्व, और असत्प्रतिपक्षत्व, ये पांच रुप हेतु के कुछ नैयायिक मानते है। बौद्ध प्रारंभ के तीनरुपो-वाला हेतु मानते है। एक ही हेतु में पांच या तीन रुपो का स्वीकार करने वाला बौद्ध और नैयायिक अनेकांतवाद का ही समर्थन करते है। फिर भी अनेकांतवाद मानने में आनाकानी क्यों करते है, वह बडा आश्चर्य है।)

यथैकस्यैव नरस्य पितृत्वपुत्रत्वाद्यनेकसंबन्धा भिन्ननिमित्ता न विरुध्यन्ते । तद्यथा-स नरः स्वपित्रपेक्षया पुत्रः, स्वसुतापेक्षया तु पितेत्यादि । अभिन्ननिमित्तास्तु संबन्धा विरुध्यन्ते, तद्यथा-स्वपित्रपेक्षयैव स पिता पुत्रश्चेत्यादि । एवमनेकान्तेऽपि द्रव्यात्मनैकं पर्यायात्मना त्वनेकमित्यादिभिन्ननिमित्ततया न विरुध्यते । द्रव्यात्मनैवैकमनेकं चेत्यादि त्वभिन्ननिमित्ततया विरुध्यते । अभिन्ननिमित्तत्वं हि विरोधस्य मूलं, न पुनर्भिन्ननिमित्तत्वमिति । सुखदुःख-नरदेवादिपर्याया अप्यात्मनो नित्यानित्यत्वाद्यनेकान्तमन्तरेण नोपपद्यन्ते, यथा सर्पद्रव्यस्य स्थिरस्योत्फणविफणावस्थे मिथो विरुद्धे अपि द्रव्यापेक्षया न विरुद्धे, यथैकस्या अङ्गुल्याः सरलताविनाशो वक्रतोत्पत्तिश्च, यथा वा गोरसे स्थायिनि दुग्धपर्यायविनाशोत्तरदधि-पर्यायोत्पादौ संभवन्तौ प्रत्यक्षादिप्रमाणेनोपलब्धौ, एवं सर्वस्य वस्तुनो द्रव्यपर्यायात्मकतापि।

किं च, सर्वेष्वपि दर्शनेषु स्वाभिमतसाध्यसाधनायाभिधीयमाना हेतवोऽप्यनेकान्ता-भ्युपगममन्तरेण न समीचीनतामञ्चन्ति, तथाहि-अत्र स्वोपज्ञमेव परहेतुतमोभास्करनामकं वादस्थलं लिख्यते । यथा-इह हि सकलतार्किकचक्रचूडामणितयात्मानं मन्यमानाः सर्वदापि प्रसभं पोषितस्वाभिमाना गुणवत्सु विद्वत्सु मत्सरं विदधाना मुग्धजनसमाजेऽत्यूर्जित-स्फूर्जितमभिदधानाः स्पष्टोद्भवेन स्वानुभवेन समस्तवस्तुस्तोमगतमभ्रान्तमनेकान्त-मनुभवन्तोऽपि स्वयं च युक्त्यानेकान्तमेव वदन्तोऽपि प्रकटं वचनमात्रेणैवानेकान्त-मनिच्छन्तो यथावस्थितं वस्तुस्वरूपमपश्यन्तो निजमतानुरागमेव पुष्णन्तो विद्वत्समीपे च कदापि सम्यग्धेतुस्वरूपमपृच्छन्तो निजबुद्ध्या च तदनवगच्छन्तो भवन्तो यत्साध्यसाधनाय साधनमधुनाभ्यधुः, तत्रापि साध्यसिद्धिनिबन्धनं हेतुः । अतोऽनेकान्तव्यवस्थापनार्थं यथावस्थितं वस्तुस्वरूपं दर्शयद्भिः सद्भिरस्माभिः प्रथमतो हेतोरेव स्वरूपं सम्यगनेकान्तरूपं प्रकाश्यते । तावदत्तावधाना निरस्तस्वपक्षाभिमानाः क्षणं माध्यस्थ्यं भजन्तः श्रृण्वन्तु भवन्तः, तथाहि-युष्मदुपन्यस्तेन हेतुना किमन्वयिना स्वसाध्यं साध्येत व्यतिरेकिणा वा अन्वयव्यतिरेकिणा वा । यदि तावदन्वयिना, तदा तत्पुत्रत्वादेरपि गमकत्वं स्यात्, अन्वयमात्रस्य तत्रापि भावात् । नापि व्यतिरेकिणा, तत्पुत्रत्वादेरेव गमकत्वप्रसङ्गात्। श्यामत्वाभावेऽन्यत्र गौरपक्षे विपक्षे तत्पुत्रत्वादेरभावात् । अन्वय-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यतिरेकिणा चेत्, तदापि तत्पुत्रत्वादित एव साध्यसिद्धिप्रसक्तिः । न चास्य त्रैरूप्यलक्षण-योगिनो हेत्वाभासताशङ्कनीया, अनित्यत्वसाधने कृतकत्वादेरपि तत्प्रसङ्गात् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

जैसे एक मनुष्य में भिन्न-भिन्न निमित्तो - अपेक्षाओं से पितृत्व, पुत्रत्व आदि अनेक संबंधो को=धर्मो को मानने में विरोध नहीं है। (वैसे किसी भी वस्तु में भिन्न-भिन्न अपेक्षा से अनेक धर्म मानने में विरोध नहीं है।) मनुष्य में भिन्न-भिन्न अपेक्षा से रहे हुए पितृत्व आदि अनेक धर्म इस अनुसार से है - वह मनुष्य अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है, परंतु अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है... इत्यादि सोचना, **अभिन्ननिमित्तक संबंधो को ही विरोध होता है।** अर्थात् अभिन्न एक ही अपेक्षा से वस्तु में अनेकधर्म मानने में विरोध आता है। जैसे कि, वह मनुष्य पिता की अपेक्षा से पिता और पुत्र दोनो कहे जाये तो विरोध आयेगा। इत्यादि स्वयं विचार कर लेना। उस अनुसार से अनेकांत में भी वस्तु द्रव्यदृष्टि से एक है और पर्याय की दृष्टि से अनेक है... इत्यादि भिन्न-भिन्न अपेक्षा से वस्तु में अनेकधर्मो का स्वीकार करने में विरोध नहीं है।

सुख, दुःख, मनुष्यत्व, देवत्व आदि पर्याय भी आत्मा में नित्यानित्यात्मक अनेकांत बिना संगत होता नहीं है। अर्थात् यदि आत्मा को कथंचित् नित्यानित्यात्मक = परिणामीनित्य मानेने में न आये, तो उसमें सुख, दुःख, मनुष्यत्व, देवत्व आदि पर्याय नहीं हो सकेंगे। (क्योंकि सर्वथा नित्य मानोंगे तो वह हंमेशा स्थायी रहेगा तथा सर्वथा अनित्य मानोंगे तो अत्यंतपरिवर्तित बन जाने से आत्मा की सत्ता ही नहीं रहेगी, पर्याय तो द्रव्य को स्थिर रखकर ही हुआ करते होते है।) जैसे स्थिर सर्पद्रव्य में परस्परविरुद्ध फन चढाई हुई अवस्था तथा फन बिना की अवस्था होती है, फिर भी एक अन्वयी द्रव्य की अपेक्षा से उसमें विरोध नहीं है। अर्थात् अवस्थाभेद होने पर भी सर्प द्रव्यद्रष्टि से एक ही रहता है। इसलिए उसमें अवस्थाभेद स्वीकार करने में विरोध नहीं है। तथा जैसे एक अंगुली में सरलता का विनाश और वक्रता की उत्पत्ति अथवा एक ही स्थायी गोरस में दूधपर्याय का नाश और उत्तर में दहीं पर्याय की उत्पत्ति होती प्रत्यक्ष प्रमाण से देखी जाती है, वैसे सर्व वस्तुओ की द्रव्य-पर्यायात्मकता भी प्रत्यक्ष से देखी जाती ही है। (कहने का मतलब यह है कि, जैसे एक स्थिर रहे हुए अंगुलीद्रव्य में सरलता और वक्रता पर्याय की उत्पत्ति देखने को मिलती है, इसलिए अंगुली द्रव्यपर्यायात्मक है, वह प्रत्यक्ष से मालूम होता ही है। उसी तरह से स्थायी द्रव्यरुप गोरस में दूधपर्याय का विनाश और दहीं पर्याय की उत्पत्ति होती दिखाई देती है। इसलिए गोरस में द्रव्यपर्यायात्मकता प्रत्यक्ष से प्रतीत होती है। वैसे सर्व वस्तुओ की द्रव्यपर्यायात्मकता भी प्रत्यक्ष से मालूम होती ही है।

वैसे ही सर्व दर्शनो में अपने इष्टसाध्य की सिद्धि के लिए प्रयोजित किये गये हेतु भी वस्तु की अनेकांतात्मकता माने बिना सत्य-प्रमाणता को पाते नहीं है।

यही बात को स्पष्ट किया जाता है - (इस विषय में टीकाकारश्री द्वारा स्वयं) अपने द्वारा बताये गये **"परहेतुतमोभास्कर"** = प्रतिवादियों के हेतुरुपी अंधकार के विनाशक सूर्यनामक वादस्थल को लिखते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है-इस जगत में अपने आपको सकलतार्किकचूडामणि माननेवाले, हंमेशा भी आग्रहपूर्वक स्वाभिमान को पोषनेवाले, गुणवान् विद्वानो के उपर मत्सर धारण करने वाले, मुग्धसमाज में अपनी बातो को कुतर्को के द्वारा लम्बी लम्बी तरह से कहनेवाले, स्पष्ट स्वानुभाव से समस्त वस्तुओ में रहे हुए अभ्रान्त - सत्यरुप अनेकांत को महसूस करते हुए परन्तु स्वयं (अपने शास्त्र की बातो की पुष्टि के लिए) युक्ति से अनेकांत को कहने वाले भी **"हम अनेकांत का स्वीकार करते है"** ऐसे प्रगट वचनमात्र से अनेकांत का स्वीकार नहि करते, वस्तु के यथावस्थित स्वरुप को नहीं देखते, अपने मतानुराग को ही पोषते, (में अज्ञानी हूं ऐसा सिद्ध न हो जाये इसलिए) कभी भी विद्वानो के पास से हेतु के सम्यक् स्वरुप को नहि पूछते; अपनी बुद्धि से नहि जानते, आप लोग हेतु के स्वरुप से सर्वथा अनभिज्ञ होने पर भी स्वपक्ष की सिद्धि के लिए जैसे तैसे हेतु के प्रयोग किया करते हो।

वहाँ भी साध्य की सिद्धि में मुख्य कारण हेतु है। इसलिए अनेकांत की सिद्धि के लिए यथावस्थित वस्तु का स्वरुप बताते हमारे द्वारा प्रथम से ही साध्य सिद्धि के प्रधान अंगरुप हेतु के स्वरुप की अर्थात् हेतु की सम्यग् अनेकांतरुपता प्रकाशित की जाती है। इसलिए सावधान बनकर स्वपक्ष का अभिमान बाजू पे रखकर, क्षणभर के लिए मध्यस्थता को धारण करके आप परवादि हमारी बात को सुनिए।

आप बताये कि.... आपने उपन्यस्त किया हुआ हेतु क्या अन्वयी होने के कारण स्वसाध्य का साधक है या व्यतिरेकी होने के कारण स्वसाध्य का साधक है या अन्वयी - व्यतिरेकी होने के कारण स्वसाध्य का साधक है ?

"हेतु अन्वयी होने के कारण स्वसाध्य का साधक है।" यह पक्ष कहोंगे तो तत्पुत्रत्वादि हेतुएं भी साध्य के गमक बन जायेंगे। क्योंकि अन्वयमात्र का वहाँ भी सद्भाव है। कहने का मतलब यह है कि, यदि साध्य और साधन के दृष्टांत में सद्भाव रहने के कारण वह हेतु अन्वयी बनकर सत्य बन जाता हो तो साध्य का साधक बनता हो तो - **"गर्भगत बालक श्याम है क्योंकि वह उसका पुत्र है"** इस अनुमान में **"तत्पुत्रत्व"** हेतु भी सत्य बन जाना चाहिए। क्योंकि उसके चार श्याम बालको में तत्पुत्रत्व और श्यामत्व का अन्वय देखने को मिलता ही है। परंतु तत्पुत्रत्व हेतु सत्य नहीं है।)

"हेतु व्यतिरेकी होने के कारण स्वसाध्य का गमक बनता है।" यह पक्ष भी उचित नहीं है। क्योंकि तब तो **"तत्पुत्रत्वादि"** हेतु भी साध्य के साधक बन जायेंगे। कहने का मतलब यह है कि कोई व्यतिरेक व्याप्ति से ही हेतु सत्य बन जाता हो तो शुक्ल (गोरे) ऐसे चैत्र के पुत्रो में श्यामत्व के अभाव में तत्पुत्रत्व का अभाव देखने को मिलता ही है। इसलिए यहाँ प्रयोजित हुआ हेतु **"तत्पुत्रत्व"** भी प्रामाणिक बन जायेगा। (परंतु वैसा नहीं है।)

"हेतु अन्वय - व्यतिरेकी होने के कारण स्वसाध्य का गमक बनता है।" यह पक्ष भी उचित नहीं है। क्योंकि तब भी **"तत्पुत्रत्वादि"** हेतु साध्य के साधक बन जाने की आपत्ति आयेगी। कहने का मतलब यह है कि अन्वय और व्यतिरेक दोनो मिल जाने से हेतु सत्य बन जाता हो तो तत्पुत्रत्व हेतु में अन्वय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और व्यतिरेक दोनो मिलते होने से वह प्रामाणिक और साध्य का साधक बन जायेगा। वह तत्पुत्रत्व हेतु पक्ष में वृत्ति है, सपक्ष में रहता है तथा विपक्ष से व्यावृत्त है। इसलिए त्रैरुप्य लक्षणवाला होने से (आप बौद्ध) उसको हेत्वाभास नहीं मान सकोंगे। अर्थात् "**तत्पुत्रत्व**" हेतु में हेत्वाभास के रुप की आप शंका करते है, वह नहीं कर सकेंगे। यदि पक्षवृत्तित्वादि तीन रुपवाले हेतु को हेत्वाभास मानोंगे तो "**शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है।**" यहां अनित्यत्व का साधक "**कृतकत्व**" हेतु भी हेत्वाभास बन जाने की आपत्ति आयेगी। (कहने का मतलब यह है कि पक्षवृत्तित्वादि तीनरुपवाला हेतु साध्य का गमक है। ऐसा स्वीकार करोंगे तो (उपर बताये अनुसार) "**तत्पुत्रत्व**" हेतु भी साध्य का गमक बन जायेगा। क्योंकि वह तीनरुपवाला है ही और यदि तीनरुपवाले "**तत्पुत्रत्व**" हेतु को हेत्वाभास अर्थात् साध्य का अगमक मानोंगे तो शब्द के अनित्यत्व का साधक तीन "रुपवाला कृतकत्व" हेतु भी अगमक बन जायेगा।)

अस्ति च भवदभिप्रायेण त्रैरूप्यं तत्पुत्रादाविति । अथ भवत्वयं दोषो येषां पक्षधर्मत्व-सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वरूपे त्रैरूप्येऽविनाभावपरिसमाप्तिः, नास्माकं पञ्चलक्षणहेतुवादिनां, अस्माभिरसत्प्रतिपक्षत्वप्रत्यक्षागमाबाधितविषयत्वयोरपि लक्षणयोरभ्युपगमादिति चेत् ? तर्हि केवलान्वयकेवलव्यतिरेकानुमानयोः पञ्चलक्षणत्वासंभवेनागमकत्वप्रसङ्गः । न च तयोरगमकत्वं यौगैरिष्टं, तस्मात्प्र[1]तिबन्धनिश्चायकप्रमाणासंभवेन, अन्यथानुपपत्तेः अनिश्चय एव तत्पुत्रत्वादेरगमकतानिबन्धनमस्तु, न तु त्रैलक्षण्याद्यभावः । अथात्र विपक्षेऽसत्त्वं निश्चितं नास्ति, तर्हि श्यामत्वाभावे तत्पुत्रत्वेनावश्यं निवर्तनीयमित्यत्र प्रमाणमस्तीति सौगतः । यौगस्तु गर्जतिशाकाद्याहारपरिणामः श्यामत्वेन समव्याप्तिको, न तु तत्पुत्रत्वेने-त्युपाधिसद्भावान्न तत्पुत्रत्वे विपक्षासत्त्वसंभव इति । तौ ह्येवं निश्चितान्यथानुपपत्तिमेव शब्दान्तरेण शरणीकुरुत इति सैव हेतोर्लक्षणमस्तु । अपि च, अस्ति नभश्चन्द्रो जलचन्द्रात्, उदेष्यति श्वः सविता, अद्यतनादित्योदयात् इत्यादिषु पक्षधर्मत्वाभावेऽपि, मन्मातेयमे-वंविधस्वरान्यथानुपपत्तेः, सर्वं क्षणिकमक्षणिकं वा सत्त्वात्, इत्यादिषु च सपक्षस्याभावेऽपि हेतूनां गमकत्वदर्शनात्किं त्रैरूप्यादिना । निश्चितान्यथानुपपत्तिरेवैकं लिङ्गलक्षणमक्षूण्णं तत्त्वमेतदेव, प्रपञ्चः पुनरयमिति चेत् ? तर्हि सौगतेनानाबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं ज्ञातत्वं च यौगेन च ज्ञातत्वं लक्षणमाख्यानीयम् । अथ विपक्षान्निश्चितव्यावृत्तिमात्रेणा-बाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं च ज्ञापकहेत्वधिकाराज्ज्ञातत्वं च लब्धमेवेति चेत् ? तर्हि गमकहेत्वधिकारादशेषमपि लब्धमेवेति किं शेषेणापि प्रपञ्चेनेति । अत एव नान्वय-मात्राद्धेतुर्गमकः, अपित्वाक्षिप्तव्यतिरेकादन्वयविशेषात् । नापि व्यतिरेकमात्रात्, किन्त्व-ङ्गीकृतान्वयाद्व्यतिरेकविशेषात् । न चापि परस्परानुविद्धतदुभयमात्रात्, अपि तु परस्पर-

१ प्रतिबन्धनिश्चयो प्रमाणासंभवेन । इत्यपि पाठः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूपाजहद्वृत्तान्वयव्यतिरेकत्वात्, निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणस्य हि हेतोर्यथाप्रदर्शितान्वयव्यतिरेकरूपत्वात् । न च जैनानां हेतोरेकलक्षणताभिधानमनेकान्तस्य विघातकमिति वक्तव्यं, प्रयोगनियम एवैकलक्षणो हेतुरित्यभिधानात्, न तु स्वभावनियमे, नियतैकस्वभावस्य शशशृङ्गादेरिव निःस्वभावत्वात्, इति कथं न हेतोरनेकान्तात्मकता ।

व्याख्या का भावानुवाद :

(बौद्ध हेतु में पक्षधर्मत्वादित्रिरुपता का स्वीकार करके हेतु को प्रामाणिक - साध्य का गमक मानते थे। वैसी अवस्था में टीकाकारश्रीने तत्पुत्रत्वादि हेतुओ में पक्षधर्मत्वादि त्रिरुपता होने पर भी वे हेतु साध्य के गमक बनते नहीं है, इसलिए हेतु में त्रिरुपता होने मात्र से वह सत्य बनता नहीं है, ऐसा सिद्ध किया। तब नैयायिक कहते है कि हम हेतु में पंचरुपता मानते है, इसलिए हमारा हेतु तो सत्य ही है। ऐसे अभिप्राय से नैयायिक पूर्वपक्ष के रुप में अपना पक्ष प्रदर्शित करते है। वह **"अस्ति च.... चेत् ?"** तक के शंकाग्रंथ में टीकाकारश्रीने ग्रहण किया है।)

नैयायिक : आपके अभिप्राय से तीनरुपवाले तत्पुत्रत्वादि हेतु चाहे असत्य हो। परंतु उससे तो पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व, ये हेतु के तीन रुप में अविनाभाव की परिसमाप्ति मानते बौद्धो को यह दोष आयेगा। अर्थात् आपने बताया हुआ दोष, चाहे बौद्धो को होगा परंतु हमको तो नहीं है। क्योंकि हम पंचलक्षण हेतुवादि है। अर्थात् हमने हेतु के पांच रुप माने है। हमारे द्वारा हेतु के पक्षधर्मत्वादि तीनरुपो के साथ साथ असत्प्रतिपक्षत्व और प्रत्यक्षागमाबाधितविषयत्व, ये दो रुपो का भी स्वीकार किया गया है। अर्थात् हम लोगो ने हेतु का पक्ष में रहना, सपक्ष में रहना तथा विपक्ष में न रहना, हेतु के ये तीन स्वरुप माने है। उसके साथ साथ प्रत्यक्ष और आगम से हेतु का बाधित न होना तथा साध्याभाव की सिद्धि करनेवाले प्रतिपक्ष का हेतु न होना, ये दो स्वरुप भी हेतु के माने है। इसलिए हमारे मत से हेतु का अविनाभव पांचरुपो से पूर्ण होता है।

जैन : (यदि पांच रुप होने से ही हेतु सत्य बन जाता है।) तो केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी हेतुओं में पांच रुपो का असंभव होने से वे हेतु भी साध्य के अगमक बनने का प्रसंग आयेगा। कहने का मतलब यह है कि, केवलान्वयी हेतु में विपक्षासत्त्व के सिवा चार ही रुप होते है तथा केवलव्यतिरेकी हेतु में सपक्षसत्त्व के सिवा चार ही रुप होते है। अर्थात् केवलान्वयी हेतु में विपक्षासत्व और केवलव्यतिरेकी हेतु में सपक्षसत्त्व रुप होता नहीं है। इस प्रकार उन दोनो में चार ही रुप है, पांचरुप नहीं है। इसलिए केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी हेतु साध्य का गमक बनता नहीं है। परंतु उन दोनो का अगमकत्व नैयायिको को इष्ट नहीं है। अर्थात् केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी हेतु को नैयायिक साध्य का गमक मानते है। उसको हेत्वाभास मानते नहीं है। नैयायिक मत में चार रुपवाले हेतु भी सत्य बनते ही है।

इस प्रकार हेतु की त्रिरुपता या पंचरुपता ही हेतु की प्रमाणता में नियामक नहीं है। परंतु अविनाभाव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(प्रतिबंध) का निश्चय ही हेतु की प्रमाणता में नियामक है। इसलिए जहाँ प्रतिबंध = अविनाभाव के निश्चायक प्रमाण का असंभव है, वहाँ हेतु साध्य का अगमक बनता है। इसलिए अन्यथा अनुपपत्ति से (अर्थात् तत्पुत्रत्व और श्यामत्व के अविनाभाव को ग्रहण करनेवाला प्रमाण मिलता न होने से, उसके अविनाभाव का निश्चय नहीं हो सकता। इसलिए अन्यथा अनुपपत्ति से) अविनाभाव का अनिश्चय ही तत्पुत्रत्वादि हेतुओ में अगमकता का कारण बनता है। अर्थात् तत्पुत्रत्वादि हेतु साध्य के अगमक बनने में कारण अविनाभाव का अनिश्चय ही है। परन्तु हेतु की त्रिरुपता का या पंचरुपता का अभाव साध्य की अगमकता में नियामक नहीं है।

(नैयायिक और बौद्ध अपने हेतु की पंचरुपता और त्रिरुपता ही हेतु की सत्यता में नियामक है, उस बात को खडी रखने के लिए दलील करते है, वह टीकाकारश्री ने "**अथात्र... इति**" तक के शंकाग्रंथ में रखी है।)

बौद्ध + नैयायिक : (बौद्ध कहते है कि) विपक्षासत्त्व का निश्चय नहीं है। अर्थात् तत्पुत्रत्व हेतु में विपक्षासत्त्व का निश्चय नहीं है। (यदि उसकी विपक्षव्यावृत्ति निश्चित होती तो) श्यामत्व के अभाव में तत्पुत्रत्व की अवश्य निवृत्ति हो जानी चाहिए। (परंतु "श्यामत्व के अभाव में तत्पुत्रत्व की अवश्य निवृत्ति होती ही है।" ऐसा निश्चय करनेवाला कोई प्रमाण ही नहीं है।) इस तरह से विपक्षासत्त्व का निश्चय न होने से तत्पुत्रत्व हेतु हेत्वाभास है।

नैयायिक इस अनुसार गर्जना करके कहते है कि... शाकादि-आहारपरिणाम की श्यामत्व के साथ समान व्याप्ति है, पुत्रत्व के साथ व्याप्ति नहीं है। अर्थात् गर्भीणी माता का हरी पत्तो की सब्जी का खाना इत्यादि ही गर्भ के श्यामत्व के कारण है। अर्थात् शाकदि आहार परिणाम की ही श्यामत्व के साथ समान व्याप्ति है। परंतु तत्पुत्रत्व के साथ नहीं है। इस अनुसार से तत्पुत्रत्व हेतु में शाकादि-आहारपरिणाम उपाधि होने से, वह हेतु विपक्ष से व्यावृत्त नहीं है। (उपाधिसहित हेतु व्याप्यत्वासिद्ध कहा जाता है। जो धर्म साध्य का व्यापक है तथा साधन का अव्यापक है, उसको उपाधि कहा जाता है। जैसे कि, पर्वतो धूमवान वह्नेः। अर्थात् वह धूमवाला है, क्योंकि अग्निवाला होने से यहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है। आर्द्रेन्धनसंयोग साध्यभूत धूम के साथ हंमेशां रहता है, फिर भी साधनभूत वह्नि के साथ हंमेशा रहने का उसका नियम नहीं है। क्योंकि तपे हुए लोहे के गोले में साधनभूत अग्नि होने पर भी आर्द्रेन्धनसंयोग होता नहीं है। इसलिए आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है। इसलिए साधन वह्नि व्याप्यत्वासिद्ध है। उस अनुसार से "शाकादि आहारपरिणाम" साध्यभूत श्यामत्व के साथ रहता है। परंतु साधनभूत तत्पुत्रत्व के साथ हंमेशा रहे वैसा नियम नहीं है। इसलिए "शाकादि आहारपरिणाम" उपाधि है। वह उपाधि सहित का तत्पुत्रत्व हेतु ही व्याप्तत्वासिद्ध बनता है। परंतु तत्पुत्रत्व हेतु हेत्वाभास बन सकता नहीं है। तात्पर्य यह है कि केवल तत्पुत्रत्व की श्यामत्व के साथ व्याप्ति नहीं है, परंतु जब वह शाकादि आहारपरिणाम से विशिष्ट होता है तब ही उसकी श्यामत्व के साथ व्याप्ति हो सकती है।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन : वे बौद्ध और नैयायिक ने विपक्षासत्त्व की जिस अनुसार से व्याख्या की है, उससे तो उन्हों ने दूसरे शब्दो के द्वारा अन्यथा-अनुपपत्तिरुप अविनाभाव के निश्चय का ही स्वीकार कर लिया है और वही हेतु का लक्षण है। अर्थात् आप फिर फिर के अविनाभाव को ही हेतु के निर्दोषलक्षण के रुप में स्वीकार लिया है।

देखो, **"आकाश में चंद्र है क्योंकि जलचंद्र दिखता है। अर्थात् जल में चंद्र का प्रतिबिंब पडता है।"** तथा **"कल सूर्य का उदय होगा, क्योंकि आज सूर्य का उदय हो रहा है।"** इत्यादि हेतुओ में पक्षधर्मता देखने को नहीं मिलती है। इस पक्षधर्मता रुप के अभाव में भी हेतु को सत्य तो मानते ही है। **"यह मेरी माता मालूम होती है क्योंकि ऐसी प्रकार की आवाज दूसरी तरह से संगत होती नहीं है - (अर्थात् मेरी माता न हो तो वैसी अवाज भी संगत होती नहीं है।)"** तथा **"सर्व पदार्थ क्षणिक या नित्य है, क्योंकि वह सत् है"** इत्यादि हेतुओ में सपक्षसत्त्व रुप न होने पर भी वे हेतु साध्य के गमक बनते दीखाई देते है। इसलिए अविनाभाव ही हेतु का एकमात्र असाधारण लक्षण मानना चाहिए। त्रैरुप्य आदि तीन लक्षणो को मानना निरर्थक है।

बौद्ध-नैयायिकादि : निश्चित अन्यथा - अनुपपत्ति अर्थात् अविनाभाव का निश्चय ही हेतु का (प्रधान तथा निर्दोष) लक्षण मान भी ले, तो भी उस अविनाभाव के प्रपंच के लिए=विस्तार से समजने या समजाने के लिए त्रैरुप्य और पंचरुप्य मान लिये जाते है।

जैन : आप लोगो को यदि अविनाभाव का विस्तार और स्पष्टता इष्ट है, तो बौद्धो के द्वारा अबाधित विषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व और ज्ञातत्व को भी हेतु के स्वरुप कहने चाहिए - मानने चाहिए। तथा नैयायिको के द्वारा भी ज्ञातत्व को हेतु का स्वरुप कहना चाहिए। इसलिए अविनाभाव की स्पष्टता को चाहते बौद्धादि को षडरुप हेतु मानना चाहिए। (पक्षधर्मता, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व और ज्ञातत्व, ये छः रुपवाला हेतु मानना चाहिए।)

बौद्धादि : हेतु की विपक्ष से निश्चित व्यावृत्ति का ज्ञान होने मात्र से अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व अपनेआप फलित हो जाता है। और हेतु में ज्ञातत्व होता ही है। क्योंकि हेतु का प्रकरण होने से हेतु को ज्ञात तो होना ही पडेगा। अज्ञातपदार्थ ज्ञापक नहीं बन सकता है। इस तरह से त्रैरुप्य से ही अन्य अबाधितविषयत्व आदि चरितार्थ हो जाते होने से उसका पृथक् कथन आवश्यक नहीं है।

जैन : तब तो गमक हेतु के प्रकरण में अविनाभाव के कथन से ही अन्य सभी पक्षधर्मत्वादि अपनेआप फलित हो जाते है। उसका भिन्न कथन निरर्थक है। शेष के प्रपंच की जरुरत ही नहीं है। इसलिए अविनाभावी ही हेतु साध्य का गमक होता है। (इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि...) अन्वय मात्र से हेतु साध्य का गमक बनता नहीं है। परन्तु उसमें व्यतिरेक = विपक्षव्यावृत्ति का बल अवश्य होना चाहिए। अर्थात् व्यतिरेक के बल से युक्त अन्वयविशेष ही साध्य का गमक बनता है। अन्वयमात्र नहीं। (विपक्षव्यावृत्ति और व्यतिरेक का सरल अर्थ अविनाभाव ही है। इसलिए अविनाभाव विशिष्ट अन्वय से ही हेतु साध्य का गमक बनता है।) उसी तरह से केवलव्यतिरेक से ही हेतु में गमकता नहीं आती है, परंतु अंगीकृतान्वयविशिष्टव्यतिरेक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से ही हेतु में गमकता आती है। अर्थात् अन्वय की अपेक्षा रखनेवाले व्यतिरेक से ही हेतु में गमकता आती है। तथा परस्पर अननुविद्ध - निरपेक्ष अन्वय और व्यतिरेक मात्र से भी हेतु में गमकता आती नहीं है। परंतु परस्पर स्वरुप अजहद्वृत्त अन्वय-व्यतिरेक से ही हेतु में गमकता आती है। अर्थात् अन्वय और व्यतिरेक परस्पर सापेक्ष बनकर तादात्म्य रखता है, तब हेतु में गमकता आती है। अर्थात् अविनाभावी हेतु में अन्वय और व्यतिरेक परस्पर सापेक्ष होते है। तथा तादात्म्य रखते है।

अन्यथा=साध्य के अभाव में, अनुपपत्ति=न होना अर्थात् साध्य के सद्भाव में ही होना तद्रुप अविनाभाव ही हेतु का स्वरुप माना जाता है। वैसा पहले प्रदर्शित किये हुए अन्वय - व्यतिरेक से विशिष्ट होता है।

तथा **"हेतु का यह एक ही लक्षण कहने से जैनो के अपने अनेकांत सिद्धांत की हानी होती है।"** ऐसा मत कहना। क्योंकि प्रयोगनियम में ही एक लक्षणवाला हेतु कहा हुआ है। परंतु स्वभाव नियम में नहीं। अर्थात् एकलक्षणवाले हेतु का स्वीकार करने से हमको हमारे अनेकांत के सिद्धांत में कोई हानी आती नहीं है। क्योंकि हम हेतु के प्रयोग को मात्र अविनाभाव से नियमित करते है। परंतु उसके स्वरुप को नियमित करते नहीं है।

यदि वस्तु का कोई एक नियत स्वभाव नियत कर दिया जाये और हेतु की परिवर्तिता तथा एकरुपता का स्वीकार न किया जाये, तो वह असत् (स्वभाववाले) खरगोस के सिंग की तरह निःस्वभाव ही बन जायेगा।

इसलिए हेतु अनुमानप्रयोग की अपेक्षा से मात्र अविनाभाव स्वरुपवाला मानते है। इसलिए किस तरह से हेतु की अनेकान्तात्मकता खतम हो जायेगी !।

तथा ननु भोः भोः सकर्णाः प्रतिप्राणिप्रसिद्धप्रमाणप्रतिष्ठितानेकान्तविरुद्धबुद्धिभिर्भवद्भिरन्यैश्च कणभक्षाक्षपादबुद्धादिशिष्यकैरुपन्यस्यमानाः सर्व एव हेतवो विवक्षयासिद्धविरुद्धानैकान्तिकतां स्वीकुर्वन्तीत्यवगन्तव्यम् । तथाहि-पूर्वं तावत्तेषां विरुद्धता-भिधीयते । यदि ह्येकस्यैव हेतोस्त्रीणि पञ्च वा रूपाणि वास्तवान्यभ्युपगम्यन्ते, तदा सोऽनेकधर्मात्मकमेव वस्तु साधयतीति कथं न विपर्ययसिद्धिः, एकस्य हेतोरनेकधर्मात्मकस्याभ्युपगमात् । न च यदेव पक्षधर्मस्य सपक्ष एव सत्त्वं तदेव विपक्षात्सर्वतो व्यावृत्तत्वमिति वाच्यं, अन्वयव्यतिरेकयोर्भावाभावरूपयोः सर्वथा तादात्म्यायोगात्, तत्त्वे वा केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी वा सर्वो हेतुः स्यात्, न तु त्रिरूपः पञ्चरूपो वा, तथा च साधनाभासोऽपि गमकः स्यात् । अथ विपक्षासत्त्वं नाभ्युपेयते किं तु साध्यसद्भावेऽस्तित्वमेव साध्याभावे नास्तित्वमभिधीयते न तु ततस्तद्भिन्नमिति चेत् ? तदसत् । एवं हि विपक्षासत्त्वस्य तात्विकस्याभावाद्धेतोस्त्रैरूप्यादि न स्यात् । अथ ततस्तदन्यद्धर्मान्तरं, तर्ह्येकरूपस्यानेकात्मकस्य हेतोस्तथाभूतसाध्याविनाभूतत्वेन निश्चितस्यानेकान्तवस्तुप्रसाधनात्कथं न परोपन्यस्तहेतूनां सर्वेषां विरुद्धता, एकान्तविरुद्धेनानेकान्तेन व्याप्तत्वात् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या का भावानुवाद :

तथा आप लोग कान खोलकर सुन ले कि प्रत्येक जीवो को प्रसिद्ध = स्वानुभवसिद्ध तथा प्रमाण से प्रसिद्ध ऐसे भी अनेकांत की विरुद्धबुद्धिवाले आप तथा अन्य कणाद, अक्षपाद, बुद्ध आदि के शिष्यो द्वारा (अपने शास्त्रव्यवहारो की सिद्धि के लिए) प्रयोजित किये हुए सभी हेतु (अब आगे बताई जाती) विवक्षा से असिद्धता - विरुद्धता - अनेकान्तिकता को प्राप्त करते है वह जानना। अर्थात् असिद्धादि हेत्वाभास को प्राप्त करते है वह जानना। (वह विवक्षा इस अनुसार से है।) पहले उनको अपने हेतुओ की विरुद्धता कही जाती है, यदि एक ही हेतु के वास्तविक तीन या पांच रुप मानते हो, तो वह हेतु अनेकात्मक ही बन जायेगा। उससे अनेकान्तात्मक हेतु की ही सिद्धि हो जाती है। इसलिए आपके एकांत से विपर्यय अनेकांत की सिद्धि होने से विरुद्ध दोष आता है। क्योंकि आप लोगो ने एक हेतु को अनेकधर्मात्मक (पंचरुप या त्रिरुप) माना है।

शंका : जो पक्षधर्म का सपक्ष में सत्त्व है, वही विपक्ष से सर्वतः व्यावृत्त है। अर्थात् जो पक्षधर्म हेतु की सपक्ष में वृत्ति है, वही विपक्ष में अवृत्ति है। अर्थात् हेतु की विपक्ष व्यावृत्ति ही सपक्षसत्त्व है। इसलिए हेतु एकरुप ही है, अनेकरुप नहीं है, कि जिससे हमको अनेकांत का स्वीकार करना पडेगा।)

समाधान : भावरुप अन्वय और अभावरुप व्यतिरेक का सर्वथा तादात्म्य नहीं हो सकता। अर्थात् भावरुप अन्वय और अभावरुप व्यतिरेक को सर्वथा एक नहीं माना जा सकता। अथवा यदि वे दोनो वास्तविक रुप से एक है, तो सर्वहेतु या तो केवलान्वयी बन जायेंगे या तो केवलव्यतिरेकी बन जायेंगे। वे हेतु त्रिरुपी या पंचरुपी नहि रहेंगे। इसलिए (आपके मतानुसार वह त्रिरुपी या पंचरुपी न होने से) साधनाभास बनेगा और इसलिए साधनाभास हेतु भी साध्य का गमक बन जायेगा।

शंका : विपक्षासत्त्व को हम मानते ही नहीं है। परंतु साध्य के सद्भाव में हेतु का अस्तित्व तथा साध्य के असद्भाव में हेतु का नास्तित्व मानते है। (अर्थात् सपक्षसत्त्व का फलितरुप ही विपक्षासत्त्व है।) इसलिए विपक्षासत्त्व सपक्षसत्त्व से भिन्न नहीं है।

समाधान : आपकी बात असत्य है। क्योंकि आपके मतानुसार विपक्षासत्त्व तात्त्विक = वास्तविकरुप न होने से हेतु में त्रिरुपता या पंचरुपता किस तरह से आ सकेगी ? अब यदि (त्रिरुपता की सिद्धि के लिए) विपक्षासत्त्व को पक्षधर्मता और सपक्षसत्त्वरुप दो धर्म - रुप से भिन्न रुप मानोंगे तो एकरुपवाला हेतु, अनेकांतरुप = अनेकरुपवाला (अनायासेन) बन जायेगा और वह अनेकांतात्मक हेतु तथाभूत अनेकांतात्मक साध्य के साथ अविनाभाव रखता होने से अनेकांत वस्तु का ही साधक बनेगा। इस तरह से परवादि द्वारा उपन्यस्त सभी हेतु अपनी मान्यता के ऐकांत से विरुद्ध अनेकांत के साथ अविनाभाव रखते होने से) विरुद्ध बन जाते है। अर्थात् परवादि प्रयुक्त सभी हेतु ओ में विरुद्धता आती है। क्योंकि एकांत से विरुद्ध अनेकांत को व्याप्त है।

तथाऽसिद्धतापि सर्वसाधनधर्माणामुन्नेया, यतो हेतुः सामान्यं वा भवेद्विशेषो वा तदुभयं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वानुभयं वा । न तावत्सामान्यं हेतुः । तद्धि सकलव्यापि सकलस्वाश्रयव्यापि वा हेतुत्वेनोपादीयमानं प्रत्यक्षसिद्धं वा स्यात्तदनुमानसिद्धं वा । न तावत्प्रत्यक्षसिद्धं, प्रत्यक्षं ह्यक्षानुसारितया प्रवर्त्तते । अक्षं च नियतदेशादिनैव संनिकृष्यते । अतोऽक्षानुसारि ज्ञानं नियतदेशादावेव प्रवर्तितुमुत्सहते, न सकलकालदेशव्यापिनि । अथ नियतदेशस्वरूपाव्यतिरेकात्तन्निश्चये तस्यापि निश्चय इति चेत् ? न, नियतदेशस्वरूपाव्यतिरेके नियतदेशतैव स्यात्, न व्यापिता, तन्न व्यापिसामान्यरूपो हेतुः प्रत्यक्षसिद्धः । अनुमानसिद्धतायामनवस्थाराक्षसी दुर्निवारा । अनुमानेन हि लिङ्गग्रहणपूर्वकमेव प्रवर्त्तमानेन सामान्यं साध्यते लिङ्गं च न विशेषरूपमिष्यते, अननुगमात् । सामान्यरूपं तु लिङ्गमगवतं वानवगतं वा भवेत् ? न तावदनवगतं, अनिष्टत्वादतिप्रसङ्गाच्च । अवगतं चेत् ? तदा तस्यावगमः प्रत्यक्षेणानुमानेन वा ? न प्रत्यक्षेण, संनिकृष्टग्राहित्वात्तस्य । नाप्यनुमानेन, तस्याप्यनुमानमन्तरेण लिङ्गग्रहणे पुनस्तदेवावर्तते । तथा चानुमानानामानन्त्याद्युगसहस्रैरप्येकलिङ्गिग्रहणं न भवेत् । अपि च, अशेषव्यक्त्याधेयस्वरूपं सामान्यं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां निश्चीयमानं स्वाधारनिश्चयमुत्पादयेत् । स्वाधारनिश्चयोऽपि निजाधारनिश्चयमिति सकलो जनः सर्वज्ञः प्रसज्यते ।

व्याख्या का भावानुवाद :

उस अनुसार से परवादिप्रयुक्त सर्वसाधनधर्मो की = सर्वसाध्य के साधक हेतुओ की असिद्धता भी तर्क से सोचनी चाहिए । आप बतायें कि, आपका हेतु सामान्यरुप है ? या विशेषरुप है । उभयरुप = सामान्यविशेष उभयरुप है ? या उभयरुप नहीं है ?

यदि हेतु सामान्यरुप हो, तो वह सामान्यरुप हेतु सकलपदार्थव्यापि है या मात्र वह अपने आश्रय = व्यक्तियों में रहता है ? (इसका जवाब एक तरफ रखे ।) आप बताये कि वह सामान्य रुप हेतु प्रत्यक्षसिद्ध है या अनुमानसिद्ध है ? अर्थात् वह सामान्यरुपहेतु प्रत्यक्ष से मालूम होता है या अनुमान से मालूम होता है ?

उसमें सामान्यरुप हेतु प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है। क्योंकि, प्रत्यक्ष इन्द्रियानुसारितया प्रवर्तित होता है। अर्थात् प्रत्यक्ष इन्द्रियो के अधीन है और इन्द्रिय नियतदेशादि के साथ ही सन्निकर्ष रखती है । अर्थात् इन्द्रियो का सन्निकर्ष नियतदेश में रहे हुए स्थूलपदार्थो तक ही सीमित होता है। इसलिए इन्द्रियानुसारिज्ञान नियतदेशादि में ही प्रवर्तित करने के लिए उत्साहित करता है। अर्थात् तादृशज्ञान का विषय नियतदेश में रहे हुए स्थूलपदार्थ ही बन सकते है। परन्तु इन्द्रियानुसारिज्ञान सकल काल-देशव्यापी होता नहीं है। अर्थात् इन्द्रियानुसारिज्ञान में सकलदेश तथा त्रिकालवर्ती व्यक्तियों में रहनेवाले सामान्य को जानने की शक्ति नहीं है।

शंकाकार : नियतदेश में स्वरुप के अव्यतिरेक से नियतदेश में उसका निश्चय होने पर दूरदेश तथा अतीतकाल में भी निश्चय हो जायेगा। अर्थात् जो सामान्य नियतदेशवाली व्यक्तियों में रहता है, वह तो दूरदेश

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा अतीतादिकालवर्ती व्यक्तियों में भी दिखाई देता है। इसलिए नियतदेश में उसका प्रत्यक्ष होता होने से दूरदेश और अतीतादिकालवर्ती व्यक्तियो में रहनेवाले स्वरुप का भी प्रत्यक्ष हो ही जाता है।

समाधान : ऐसा मत कहना। क्योंकि (यदि सामान्य को) नियतदेशवर्ती व्यक्तियों में रहे हुए स्वरुप से अव्यतिरेक = अभिन्न मानोंगे तो, उसकी भी नियतदेशता ही हो जायेगी। अर्थात् यदि सामान्य नियतदेशवर्ती व्यक्तियो में रहे हुए सामान्य से सर्वथा अभिन्न है, तो फिर वह भी नियतदेशवाला ही हो जायेगा। ऐसी अवस्था में वह सर्वव्यापी नहीं रह सकेगा। इसलिए व्यापी सामान्यरुप हेतु प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है।

सामान्यरुप हेतु को अनुमान से सिद्ध करने का प्रयत्न करने में भी अनवस्थादोष नाम की राक्षसी का निवारण नहीं किया जा सकता। अर्थात् अनवस्थादोष आता है। क्योंकि सामान्य को सिद्ध करने के लिए प्रवर्तमान अनुमान लिंगज्ञानपूर्वक ही प्रवर्तित होता है और लिंग तो सामान्यरुप ही है। परन्तु विशेषरुप होता नहीं है। क्योंकि (विशेष का दूसरी व्यक्तियो में) अनुगम होता नहीं है। (इसलिए लिंग को विशेषरुप में माना नहि जा सकेगा। अब वह लिंग सामान्यरुप है उसके बारे में सोचे !) वह सामान्यरुपलिंग ज्ञात बनके लिंग बनेगा या अज्ञात रहकर ही लिंग बनेगा ?

"सामान्यरुपलिंग अज्ञात रहकर ही लिंग बनता है।" (तथा वह लिंग साध्य का गमक बनता है।) ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अनिष्टता और अतिव्याप्ति का प्रसंग आयेगा। (जिस व्यक्ति ने धूमादिलिंगो को जाने नहीं है, उसको भी अग्नि आदि का अनुमान होना चाहिए -यह अनिष्ट आयेगा तथा किसी भी व्यक्ति को किसी भी लिंग से किसी भी साध्य का ज्ञान हो जाना चाहिए--यह अतिव्याप्ति आयेगी) "सामान्यरुपलिंग ज्ञात बनकर ही लिंग बनता है और वह लिंग साध्य का गमक होता है।" इस पक्ष में हमारा प्रश्न है कि, वह सामान्यलिंग प्रत्यक्ष से ज्ञात है या अनुमान से ज्ञात है ? अर्थात् वह सामान्यरुपलिंग का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है या अनुमान से होता है ?

"सामान्यरुपलिंग का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है।" ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष संनिकृष्टपदार्थग्राही है। अर्थात् प्रत्यक्ष इन्द्रियो के साथ संबद्ध स्थूलपदार्थो में ही प्रवृत्ति कर सकता है। इसलिए उससे सर्वव्यापी सामान्यरुपलिंग का ज्ञान होना संभव नहीं है।

"सामान्यरुपलिंग का ज्ञान अनुमान से होता है-" ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसमें भी अनुमानान्तर से लिंग ग्रहण इत्यादि विचारणा चलती ही रहेगी। कहने का मतलब यह है कि, अनुमान से भी सामान्यरुपलिंग का ज्ञान होना संभव नहीं है। क्योंकि वह अनुमान भी लिंगग्रहणपूर्वक होगा। लिंग विशेषरुप न होने के कारण सामान्यरुप होगा। वह सामान्यरुपलिंग का ज्ञान प्रत्यक्ष से होगा या अनुमान से ? इस तरह से प्रश्न चलते ही रहेंगे और इसलिए हजारो युगो के बाद अनंता अनुमानो से भी एक साध्य की सिद्धि हो नहीं सकेगी।

तदुपरांत, यदि प्रत्यक्ष और अनुमान से सभी व्यक्तियों के आधेयस्वरुप सामान्य का निश्चय होता है, तो,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उस सामान्य के आधारभूत व्यक्तियों का भी निश्चय प्रत्यक्ष और अनुमान से हो जायेगा और इसलिए समस्त व्यक्तियों का निश्चय होने से वह निश्चय जिनको हुआ होगा, उसका भी निश्चय होने से-इस अनुसार से सभी जीव सर्वज्ञ बन जायेंगे।

किं च, स्वाश्रयेन्द्रियसंयोगात्प्राक् स्वज्ञानमजनयत्सामान्यं पश्चादपि न तज्जनयेत्, अविचलितरूपत्वात् परैरनाधेयातिशयत्वाच्च, विचलितत्वे आधेयातिशयत्वे च क्षणिकतापत्तिः । अन्यच्च, तत्सामान्यं व्यक्तिभ्यो भिन्नमभिन्नं भिन्नाभिन्नं वा हेतुर्भवेत् ? न तावद्भिन्नं व्यक्तिभ्यः पृथगनुपलम्भात् । समवायेन व्यक्तिभिः सह सामान्यस्य संबन्धितत्वात् पृथगनुपलम्भ इति चेत् ? न, समवायस्येह बुद्धिहेतुत्वं गीयते, इहेदमिति बुद्धिश्च भेदग्रहणमन्तरेण न भवेत् । किं च, अतोऽश्वत्वादिसामान्यं स्वाश्रयसर्वगतं वा सर्वसर्वगतं वेष्यते ? यदि स्वाश्रयसर्वगतं, तदा कर्कादिव्यक्तिशून्ये देशे प्रथमतरमुपजायमानाया व्यक्तेरश्वत्वादिसामान्येन योगो न भवति, व्यक्तिशून्ये देशे सामान्यस्यानवस्थानाद्व्यक्त्यन्तरादनागमनाच्च । अथ सर्वसर्वगतं तत्स्वीक्रियते, तदा कर्कादिभिरिव शाबलेयादिभिरपि तदभिव्यज्यते । न च कर्काद्यानामेव तदभिव्यक्तौ सामर्थ्यं न शाबलेयादीनामिति वाच्यं, यतः किंरूपं तत्कर्काद्यानां सामर्थ्यम् ? साधारणरूपत्वमिति चेत् ? न, स्वतश्चेत्साधारणरूपा व्यक्तयः, तदा स्वत एव ता अश्वोऽश्व इत्यनुवृत्तं प्रत्ययं जनयिष्यन्तीति किं तद्भिन्नसामान्यपरिकल्पनया । यदि च स्वतोऽसाधारणरूपा व्यक्तयः, तदापरसामान्ययोगादपि न साधारणा भवेयुः, स्वतोऽसाधारणरूपत्वात्, इति व्यक्तिभिन्नस्य सामान्यस्याभावादसिद्धस्तल्लक्षणो हेतुः । कथं ततः साध्यसिद्धिर्भवेत् । अथ व्यक्त्यभिन्नं सामान्यं हेतुः, तदप्ययुक्तं, व्यक्त्यभिन्नस्य व्यक्तिस्वरूपवद्व्यक्त्यन्तराननुगमात्सामान्यरूपतानुपपत्तेर्व्यक्त्यभिन्नत्वस्य सामान्यरूपतायाश्च मिथोविरोधात् । अथ भिन्नाभिन्नमिति चेत् ? न, विरोधात् । अथ केनाप्यंशेन भिन्नं केनाप्यभिन्नमिति । तदपि न युक्तं, सामान्यस्य निरंशत्वात् । तन्न एकान्तसामान्यरूपो हेतुः साकल्येन सिद्धो, नापि विशेषरूपः, तस्यासाधारणत्वेन गमकत्वायोगात्, साधारणत्व एवान्वयोपपत्तेः । नापि सामान्यविशेषोभयं परस्परानुविद्धं हेतुः उभयदोषप्रसङ्गात् । नाप्यनुभयं, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकाभावे द्वितीयविधानादनुभयस्यासत्त्वेन हेतुत्वायोगात् । बुद्धिप्रकल्पितं च सामान्यमवस्तुरूपत्वात्साध्येनाप्रतिबद्धत्वादसिद्धत्वाच्च न हेतुः । तदेवं सामान्यादीनामसिद्धत्वे तल्लक्षणाः सर्वेऽपि हेतवोऽसिद्धा एव २ ।

व्याख्या का भावानुवाद :

(सामान्य नित्य तथा एकरुप माना जाता है।) इसलिए वह सामान्य अपने आधारभूत व्यक्ति का इन्द्रिय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के साथ संबंध न हो, तब तक ज्ञान उत्पन्न नहीं करता, तो पीछे से भी वह किस तरह से ज्ञान को उत्पन्न कर सकेगा ? क्योंकि वह सामान्य अविचलित, हंमेशा एक स्थायी स्वरुपवाला है तथा दूसरे किसी पदार्थो के द्वारा उसमें कोई नया अतिशय भी उत्पन्न हो सकता नहीं है । यदि सामान्य का स्वरुप विचलित = परिवर्तनशील हो, तो और सहकारि किसी पदार्थ के द्वारा उसमें अतिशय उत्पन्न होता हो तो अर्थात् सामान्य में विचलितत्व और आधेयातिशयत्व मानोंगे, तब तो वह क्षणिक बन जाने की आपत्ति आयेगी ।

दूसरा, वह सामान्य (सामान्यवान् =) व्यक्तियों से भिन्न है या अभिन्न है या भिन्नाभिन्न है ? वह सामान्य व्यक्तियों से भिन्न तो नहीं है । क्योंकि व्यक्तियों से पृथक् उपलब्ध होता नहीं है ।

नैयायिक : समवाय से सामान्य का व्यक्तियों के साथ संबंध हुआ होने से सामान्य व्यक्तियों से भिन्न उपलब्ध होता नहीं है, परन्तु भिन्न तो है ही । अर्थात् यद्यपि सामान्य व्यक्तियो से भिन्न है, परंतु उसका व्यक्तियों के साथ नित्यसमवाय रहने के कारण व्यक्तियों से स्वतंत्ररुप में भिन्न उपलब्ध होता नहीं है ।

जैन : यहाँ समवाय "**इहेदम्**" बुद्धि का कारण है तथा "**इहेदम्**" बुद्धि (सामान्य तथा विशेष के) भेदज्ञान के बिना संभव नहीं है । कहने का मतलब यह है कि, समवाय "**इहेदम्**" "इसमें यह है" यह बुद्धि का कारण बनता है । जब तक सामान्य और विशेष का भिन्न = स्वतंत्ररुप से ज्ञान न हो, तब तक ="**इहेदम्**" इसमें यह है, । यह बुद्धि उत्पन्न हो नहीं सकती । "**इह**"= विशेष में "**इदम्**" सामान्य है, यह बुद्धि स्पष्टतया भेद का ही ज्ञान कराती है ।

तदुपरांत, आप बतायें की "**इहेदम्**" बुद्धि से अश्वत्व आदि सामान्य की वृत्ति अपने आश्रय ऐसे अश्व आदि में चाही जाती है या सर्वगत = संसार में सर्वत्र चाही जाती है ? अर्थात् आप लोग अश्वत्व आदि सामान्य की वृत्ति किस में सिद्ध करोंगे ?

यदि "सामान्य की वृत्ति अपने आश्रय ऐसे अश्वादि में है" ऐसा कहोंगे, तो कर्कादि व्यक्ति = सफेद आदि घोडे व्यक्तियों से शून्य देश में पहले ही उत्पन्न हुई अश्व व्यक्ति में "**अश्वत्व**" सामान्य का योग नहि होगा । क्योंकि, व्यक्तिशून्यदेश में सामान्य रहता नहीं है तथा वह सामान्य दूसरे व्यक्तियों से आता नहीं है । कहने का मतलब यह है कि, यदि अश्वत्व सामान्य कर्क = सफेद घोडे, पीले घोडे आदि अपनी व्यक्तियों में ही रहता है, तो जिस समय में अश्वशाला में कोई नया घोडा उत्पन्न होता है, उस समय पर उसमें अश्वत्वसामान्य का संबंध नहीं होना चाहिए । क्योंकि उस अश्वशाला के शून्य देश में तो अश्वत्व रहा नहीं था कि जिससे वहाँ के वहाँ नये उत्पन्न हुए अश्व व्यक्ति में आ जाये । सामान्य ही उसका नाम कि, जो अपनी व्यक्तिके आश्रय में रहे । सामान्य निराश्रय तो रहता ही नहीं है । वैसे ही सामान्य निष्क्रिय है । इसलिए अश्वत्वसामान्य पूर्वोत्पन्न घोडे में से निकलकर नवजात अश्व में आ सकता नहीं है । सारांश में तात्पर्य यह है कि, नये उत्पन्न हुए अश्व में अश्वत्व का संबंध हो सकेगा ही नहीं ।

यदि अश्वत्वादिसामान्य को समस्त जगत में व्याप्त मानोंगे, तब तो अश्वत्वादिसामान्य का जैसे अश्वादि में प्रतिभास होता है, वैसे शाबलेय = काबर गाय इत्यादि में भी उसका प्रतिभास होगा । क्योंकि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अश्वत्वसामान्य सर्वगत है। **"अश्व में ही अश्वत्व को प्रकट करने का सामार्थ्य है। गाय इत्यादि में वह सामर्थ्य नहीं है"** ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि (आपको जवाब देना चाहिए कि,) अश्वो में ही अश्वत्व को प्रकट करने की ऐसी कौन सी विशेषता है कि जो गाय आदि में देखने मिलती नहीं है ?

"साधारणरुपत्वेन अश्वो में वैसा सामर्थ्य है अर्थात् अश्वो में परस्पर समानता है। इसलिए वही अश्वत्व को प्रकट कर सकता है। नहि कि अत्यंतविलक्षण गाय आदि।" ऐसा आपका उत्तर भी उचित नहीं है। क्योंकि यदि स्वत: ही सर्वव्यक्ति (घोडे) समान-सदृश है, परस्पर अत्यंत समान है, तो उस सदृशता से ही **"अश्व, अश्व"** ऐसा अनुगताकार ज्ञान उत्पन्न होगा। तो फिर वह अनुगताकार ज्ञान के लिए भिन्न एक अश्वत्व नाम के सामान्य की कल्पना करना निरर्थक है। यदि स्वत: व्यक्ति असाधारण = विलक्षण है । अर्थात् सभी अश्व स्वभाव से ही विलक्षण है एक दूसरे से समान नहीं है, दूसरे साधारण के योग से भी उसमें समानता नहीं आयेगी। अर्थात् अश्व स्वभाव से ही परस्पर विलक्षण है तो सामान्य के योग से भी उसमें **"अश्व, अश्व"** यह साधारण = सदृश प्रत्यय को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं आ सकेगी। क्योंकि वे अश्व स्वत:असाधारण है। (तथा जो स्वत: विलक्षण है, उसमें दूसरा पदार्थ सदृशता किस तरह से ला सकता है ?) इस अनुसार से व्यक्तियों से सर्वथाभिन्न सामान्य का अभाव होने से सामान्य की सिद्धि होती नहीं है और ऐसे असिद्ध सामान्य से साध्य की सिद्धि किस तरह से हो सकेगी ?

"सामान्य हेतु व्यक्ति से अभिन्न है" - यह पक्ष भी अयुक्त है। क्योंकि जो व्यक्ति से अभिन्न है, वह व्यक्तिस्वरुप बन जाता है तथा जैसे एक व्यक्ति का दूसरी व्यक्ति में अन्वय देखने को मिलता नहीं है, वैसे सामान्य का भी दूसरी व्यक्ति में अन्वय मिलेगा नहीं तथा दूसरी व्यक्ति में अनुगत ही न हो तो उसकी सामान्यरुपता संगत होती नहीं है। अर्थात् वह यदि दूसरी व्यक्ति में अनुगत ही न हो तो वह सामान्य ही किस तरह से बन सकता है ? सामान्य तो अनेकानुगत होता है, व्यक्ति से अभिन्नत्व और सामान्यरुपता (वे दो) परस्परविरोधी है। अर्थात् व्यक्ति से अभिन्न भी होना और सामान्य भी होना वह तो परस्पर विरोधी बात है।

"सामान्य हेतु व्यक्तियों से भिन्नाभिन्न है" - यह पक्ष भी उचित नहीं है। क्योंकि उसमें विरोध है। एक सामान्य भिन्न भी हो और अभिन्न भी हो, तो सचमुच विरोधी है।

शंका : सामान्य किसी अंश से व्यक्ति से भिन्न है तो किसी अंश से अभिन्न है। इस तरह से हम सामान्य को भिन्नाभिन्न मानते है। **समाधान :** आपकी यह बात भी युक्त नहीं है। क्योंकि सामान्य निरंश है। उसके कोई अंश ही नहीं है कि जिससे आपकी बात मानी जाये। इसलिए हेतु सर्वथा=सामान्यरुप तो सिद्ध हो सकता नहीं है।

हेतु को विशेषरुप तो कहा नहीं जा सकता। क्योंकि, विशेष असाधारण होने के कारण उसमें गमकत्व नहि आयेगा। अर्थात् उसमें परस्पर अन्वय नहीं मिलेगा। क्योंकि, साधारण में = सामान्य में ही अन्वय की संगति होती है। अर्थात् अन्वय तो साधारण = सदृश व्यक्तियों में ही देखने को मिलता है। इसलिए वह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषरुप हेतु भी साध्य का गमक बन सकता नहीं है।

तदुपरांत, परस्परनिरपेक्ष सामान्य और विशेष उभयरुपहेतु भी साध्य का गमक बन सकता नहीं है। क्योंकि वैसा मानने में सामान्य और विशेषपक्ष में जो दोष आते थे, वे सभी दोष इस पक्ष में आ जायेंगे।

"हेतु अनुभयरुप है। अर्थात् सामान्यरुप भी नहीं है या विशेषरुप भी नहीं है" - यह पक्ष तो बिलकुल अनुचित है। (क्योंकि जगत में अनुभय तो कोई पदार्थ हो सकता ही नहीं है।) सामान्य और विशेष एकदूसरे का व्यवच्छेद करके ही रहते है। क्योंकि **नियम है कि परस्पर का व्यवच्छेद करनेवाले पदार्थ एक का निषेध करके ही दूसरे का विधान करता है**। अर्थात् जो सामान्य होगा वह विशेष का निषेध करके तथा जो विशेष होगा वह सामान्य का निषेध करके ही अपना स्थापन करेगा। इसलिए यदि वह सामान्यरुप न हो, तो विशेषरुप होना ही चाहिए और यदि वह विशेषरुप न हो, तो सामान्यरुप होना ही चाहिए। सारांश में एक का निषेध करने से दूसरे का विधान अवश्य हो जाता है। दोनो का एक साथ निषेध किया नहीं जा सकता। इसलिए उभय के निषेधरुप अनुभय की सत्ता न होने से ऐसा हेतु का भी अयोग हो जायेगा।

बुद्धिकल्पित (अन्यापोहरुप) सामान्य तो अवस्तु है। क्योंकि उसका साध्य के साथ प्रतिबंध = अविनाभावि संबंध असिद्ध है। इस तरह से वह सर्वथा असिद्ध होने से हेतु बन सकता नहीं है।

इस तरह से सामान्यादि की असिद्धि होने से सामान्यादिस्वरुप सभी हेतु भी असिद्ध ही है।

तथा प्रतिबन्धविकलाः समस्ता अपि परोपन्यस्ता हेतवोऽनैकान्तिका अवगन्तव्याः । न चैकान्तसामान्ययोर्विशेषयोर्वा साध्यसाधनयोः प्रतिबन्ध उपपद्यते । तथाहि-सामान्ययोरेकान्तेन नित्ययोः परस्परमनुपकार्योपकारकभूतयोः कः प्रतिबन्धः, मिथः कार्यकारणादिभावेनोपकार्योपकारत्वे त्वनित्यत्वापत्तेः । विशेषयोस्तु नियतदेशकालयोः प्रतिबन्धग्रहेऽपि तत्रैव तयोर्ध्वंसात्साध्यधर्मिण्यगृहीतप्रतिबन्ध एवान्यो विशेषो हेतुत्वेनोपादीयमानः कथं नानैकान्तिकः । किंच प्रतिबन्धः पक्षधर्मत्वादिके लिङ्गलक्षणे सति संभवी, नच साध्यसाधनयोः परस्परतो धर्मिणश्चैकान्तेन भेदेऽभेदे वा पक्षधर्मत्वादिधर्मयोगो लिङ्गस्योपपत्तिमान्, संबन्धासिद्धेः ।

व्याख्या का भावानुवाद :

तदुपरांत, परवादि के द्वारा उपन्यस्त सभी प्रतिबंध = अविनाभाव से विकलहेतु अनैकान्तिक जानना। अर्थात् प्रतिवादि के द्वारा प्रयोजित किये हुए हेतुओ का अपने साध्य के साथ अविनाभाव संबंध नहीं है। इसलिए वे सभी हेतु अविनाभावशून्य होने से अनैकान्तिक है।

एकांत से (सर्वथा) सामान्यरुप या विशेषरुप हेतु और साध्य में प्रतिबंध = अविनाभाव संबंध हो नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकता। (अर्थात् परवादि साध्य और हेतु को सर्वथा सामान्यरुप या सर्वथा विशेषरुप मान सकते है परंतु सामान्यविशेषात्मक तो मान सकते नहीं है और एकांतिक सामान्यरुप या एकांतिक विशेषरुप हेतु और साध्य में प्रतिबंध = अविनाभाव संबंध नहीं हो सकता।) वह इस अनुसार से - (यदि हेतु और साध्य सामान्यरुप हो तो सामान्य एकांत से नित्य होने से) दोनो परस्पर अपने कार्य में अपेक्षा नहीं रख सकेंगे। क्योंकि एकांत से नित्य होने से परस्पर के कार्य में दूसरे की अपेक्षा रखते नहीं है। तथा वह सामान्य अविकारीनित्य होने के कारण परस्पर उपकार भी करेंगे नहि। इसलिए परस्पर अनुपकार्य तथा अनुपकारक साध्य सामान्य और हेतु सामान्य में प्रतिबंध = संबंध किस तरह से हो सकता है। (जो पदार्थ एक-दूसरे का कार्य या कारण बनकर उपकार करता है, उसमें ही संबंध हो सकता है। परंतु नित्यसामान्य तो न किसी का कारण होता है, न किसी का कार्य। तथा जो कार्य-कारणभाव द्वारा उपकार करके उपकारक बनता है, वह अनित्य ही होता है, इसलिए) आप सामान्य को कार्य-कारणभावेन उपकारक मानोंगे तो वह अनित्य बन जायेगा।

वैसे ही साध्यविशेष और साधनविशेष नियतदेश और नियतकाल में रहते है। (वहाँ उस क्षण में) उन दोनो का संबंधग्रह होने पर भी, दूसरी क्षण में तो नष्ट ही होनेवाला है। (तब उन दोनो का संबंध ग्रह हो या न हो समान ही है। अर्थात्) साध्यधर्मि का अगृहीतप्रतिबंध ही है। (क्योंकि जिसमें संबंध ग्रहण किया था वह तो नष्ट ही हो गया है, और उस समय तो) अन्य हेतुविशेष ही ग्रहण होता है। ऐसे अन्य अगृहीतसंबंधवाले पदार्थ को हेतु के रुप में स्वीकार करने से वह अनैकान्तिक क्यों न बने ? (कहने का मतलब यह है कि, साध्यविशेष और साधनविशेष तो अपने नियतदेश तथा नियतकाल में रहनेवाले है। इसलिए उसमें संबंध ग्रहण करके भी लिया जाये, तो भी जब वह दूसरी क्षण में नष्ट ही हो जानेवाला है, तो उसमें संबंध का ग्रहण करना या न करना समान ही है। क्योंकि जिसमें संबंध ग्रहण किया था, वह तो नष्ट ही हो गया है। उस समय तो (भिन्न क्षणरुपपक्ष में) एक नूतन ही हेतुविशेष दिखाई देता है। जब इस नूतनहेतुविशेष का साध्य के साथ संबंध ही ग्रहण नहीं हुआ, तब उस साध्य का अनुमान किस तरह से कर सकता है ? तथा यदि इस नूतन अगृहीतसंबंधवाले पदार्थो को हेतु बनाया जायेगा, तो वह अनैकन्तिक ही बन जायेगा।)

तदुपरांत, प्रतिबंध = अविनाभावसंबंध पक्षधर्मत्वादि लिंग के लक्षण होने पर भी संभवित होता है और साध्य-साधन तथा धर्मी में सर्वथाभेद या अभेद हो तो लिंग में पक्षधर्मत्वादि धर्मो का योग ही संगत नहीं बनेगा। क्योंकि सर्वथाभिन्न या सर्वथाअभिन्न दो चीजो का संबंध हो सकता नहीं है। (कहने का मतलब यह है कि जब पक्षधर्मता - हेतु का पक्ष में रहना, आदि सिद्ध हो जाता है, तब ही अविनाभाव संबंध बन सकता है। परन्तु साध्य-साधन तथा धर्मी में सर्वथा भेद मानने से तो पक्ष आदि का स्वरुप ही बन सकेगा नहि। तथा सर्वथाअभेद मानने से तो कोई एक पदार्थ ही शेष रहेगा। और एक पदार्थ में तो धर्म- धर्मिभाव असंभव ही है। इस तरह से धर्मी-साध्य और साधन का संबंध न होने के कारण हेतु के पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व आदि रुपो की सिद्धि हो नहीं सकेगी। पक्ष और हेतु सर्वथा भिन्न होगा तो "पक्ष में हेतु रहता है। अर्थात् पक्षधर्मतारुप" मिल नहीं सकेगा। क्योंकि वे दोनो सर्वथाभिन्न है। (इस तरह से सपक्षसत्त्वादि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के लिए सोचना) पक्ष और हेतु सर्वथाअभिन्न होगा तो दोनो एकस्वरुप बन जाने के कारण "पक्ष में हेतु रहता है ।" एसा व्यपदेश ही हो सकेगा नहीं । इस प्रकार एकांत से भिन्न या अभिन्न मानने में पक्षधर्मत्वादिरुपो की सिद्धि हो सकती नहीं है ।)

संबन्धो हि साध्यसाधनयोर्धर्मिणश्च किं समवायः, संयोगो, विरोधो, विशेषणविशेष्यभावः तादात्म्यं, तदुत्पत्तिर्वा भवेत् ? न तावत्समवायः, तस्य धर्मधर्मिद्वयातिरिक्तस्य प्रमाणेनाप्रतीयमानत्वात्, इह तन्तुषु पट इत्यादेस्तत्साधकस्य प्रत्ययस्यालौकिकत्वात्, पांसुलपादानामपीह पटे तन्तव इत्येवं प्रतीतिदर्शनात्, इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात् । सत्त्वे वा समवायस्य स्वत एव धर्मधर्म्यादिषु वृत्त्यभ्युपगमे तद्वत्साध्यादिधर्माणामपि स्वत एव धर्मिणि वृत्तिरस्तु किं व्यर्थया समवायकल्पनया ? समवायस्य समवायान्तरेण वृत्त्यभ्युपगमे तु तत्राप्यपरसमवायकल्पनेऽनवस्थानदी दुस्तरा । अस्तु समवायस्य स्वतः परतो वा वृत्तिः, तथापि तस्य प्रतिनियतानामेव संबन्धिनां संबन्धकत्वं न स्यात् अपित्वन्येषामपि व्यापकत्वेन, तस्य सर्वत्र तुल्यत्वादेकस्वभावत्वाच्च । नापि संयोगः, स हि साध्यसाधनादीनां भवन् किं ततो भिन्नो वा स्यादभिन्नो वा । प्राचि पक्षे कथं विवक्षितानामेवैष किं नान्येषामपि ? भेदाविशेषात्, न च समवायोऽत्र नियामकः तस्य सर्वत्र सदृशत्वात् ?। द्वितीये तु साध्यादीन्येव स्युः न कश्चित्संयोगो नाम कथञ्चिद्भिन्नसंयोगाङ्गीकारे तु परवादाश्रयणं भवेत् । नापि विरोधोऽभिधातव्यः, तस्याप्येकान्तमतेऽसंभवात् । [G-39]स हि सहानवस्थानं परस्परपरिहारो वा भवेत् । तत्राद्ये किं कदाचिदप्येकत्रानवस्थानमुत कियत्कालं स्थित्वा पश्चादनवस्थानम् । आद्ये पक्षेऽहिनकुलादीनां न विरोधः स्यात् अन्यथा त्रैलोक्येऽप्युरगादीनामभावः । द्वितीये तु नरवनितादेरपि विरोधः स्यात्, तयोरपि किंचित्कालमेकत्र स्थित्वापगमात् । किंच वडवानलजलधिजलयोर्विद्युदम्भोदाम्भसोश्च चिरतरमेकत्रावस्थातः कथमयं विरोधः । परस्परपरिहारस्तु सर्वभावानामविशिष्टः कथमसौ प्रतिनियतानामेव भवेत् । नापि विशेषणविशेष्यभावो घटामियर्ति, तस्य संयोगाद्यसंभवेऽभावात् तस्य तु प्रागेव निरासात् । नापि साध्यसाधनयोस्तादात्म्यं घटते, साध्यसाधनयोरसिद्धसिद्धयोर्भेदाभ्युपगमेन तादात्म्यायोगात्, तादात्म्ये च साध्यं साधनं चैकतरमेव भवेन्न द्वयं कथञ्चित्तादात्म्ये तु जैनमतानुप्रवेशः स्यात् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

(अब आप बताये कि) साध्य-साधन तथा धर्मी में कौन-सा संबंध मानते है ? क्या उसमें समवाय

(G-39) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संबंध मानते हो ? या **संयोगसंबंध** मानते हो ? या **विरोध** मानते हो ? या **विशेषण-विशेष्यभाव** मानते हो या **तादात्म्य** मानते हो ? या **तदुत्पत्ति** मानते है ?

उपर्युक्त में विकल्पो साध्यधर्म और धर्मी में समवायसंबंध तो माना नहि जा सकेगा। क्योंकि धर्म और धर्मी को छोडकर उन दोनो में रहनेवाला कोई अतिरिक्त संबंध किसी भी प्रमाण से प्रतीत होता नहीं है- अनुभव में आता नहीं है। (कहने का मतलब यह है कि "यह धर्म है, यह धर्मी है और यह उसका समवाय हैं।" इस तरह से समवाय का धर्म और धर्मी से भिन्न प्रतिभास होता हो तो समवाय की सत्ता मान सकते है। परन्तु तादृश प्रतिभास तो होता ही नहीं है - अनुभव में आता ही नहीं है।) "इस तंतु में पट है" इत्यादि प्रत्यय, जो समवाय की सिद्धि के लिए आगे किये जाते है। वह तो सचमुच अलौकिक है। उपानह (जूते) के बिना चलनेवाले गांव के किसान को भी "कपडे में तंतु है" ऐसी प्रतीति होती है। (और "इस कपडे में तंतु है", ऐसा कहते सुनते मिलते नहीं है।) तथा ("**इहेदं**" प्रत्यय से समवाय की सिद्धि करोंगे तो) "इह भूतले घटाभाव" इस भूतल में घट का अभाव है, इस प्रत्ययसे भी भूतल और घटाभाव में समवाय की सिद्धि हो जानी चाहिए।

चलो, समवाय की सत्ता मान भी ले। परंतु समवाय की धर्म और धर्मी आदि में स्वतः ही वृत्ति मानोंगे तो (अर्थात् समवाय की सत्ता मान भी ले, परंतु वह धर्म और धर्मी में यदि दूसरे संबंध के बिना ही अपने आप रह जाता हो तो) समवाय की तरह साध्यादि धर्म भी अपने धर्मी में स्वतः ही रह जाये न !। उसमें निरर्थक समवाय की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है ?

समवाय की दूसरे किसी समवाय से धर्म और धर्मी में वृत्ति मानोंगे तो वह समवाय भी अपने संबंधियों में कोई तीसरे समवाय से रहेगा, तीसरा चौथे से.... इस अनुसार से अनेक समवायो की कल्पना करने में अनवस्थानदी तैरनी कठिन बन जायेगी। अनवस्थादूषण आ जायेगा। असत् कल्पना से मान भी ले, कि) समवाय की अपने संबंधियो में स्वतः या परतः चाहे वृत्ति हो, तो भी वह सर्वत्र तुल्य और एक होने से सभी संबंधियो में व्यापक होने के कारण "**समवाय अमुक संबंधीयों में ही संबंध करता है**।" ऐसा नहि कहा जा सकेगा। (इसलिए तंतु का पट की तरह घट में भी समवाय हो जायेगा।)

यदि साध्य और साधन का परस्पर संयोगसंबंध मानोंगे, तो वह संयोग उससे भिन्न या अभिन्न है ? (वह बताना चाहिए)

यदि साध्य-साधन से संयोग भिन्न है, तो "**विवक्षित साध्य-साधन का ही संयोग है। अन्यो का संयोग नहीं है।**" यह नियम नहि बन सकेगा। क्योंकि भेद में विशेषता नहीं है। अर्थात् संयोग विवक्षित साध्य-साधन से जितना भिन्न है, उतना ही अन्य अविवक्षित साध्य-साधन से भी भिन्न है ही। तो फिर विवक्षित साध्य-साधन का ही संयोग करे और अविवक्षित साध्य-साधन का संयोग न करे, ऐसा किस तरह से कहा जा सकता है ?

संयोग कुछ विवक्षित साधन-साध्य के साथ संबंध कर सकता है और कुछ अविवक्षित साधन-साध्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के साथ संबंध नहीं कर सकता है, उसमें समवाय नियामक है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि समवाय एक और सर्वत्र होने से उसकी सभी स्थान पे तुल्यदृष्टि होती है।

"साध्य आदि से संयोग अभिन्न है" - यह द्वितीयपक्ष कहोंगे तो साध्य-साधन की ही सत्ता रहेगी। संयोग की सत्ता रहेगी नहीं। क्योंकि अभेद में एक की ही वास्तविक सत्ता बनी रहती है। **"साध्य आदि से संयोग कथंचित् भिन्न है"** - यह पक्ष मानने में तो (आपको) हमारे अनेकांतवाद का ही आश्रय करना होता है।

साध्य और साधन में परस्परविरोध भी कहा नहीं जा सकता। क्योंकि सर्वथा एकांत मत में विरोध को सिद्ध करना संभवित नहीं है।

विरोध दो प्रकार के होते है -- एक सहानवस्थानरुप तथा दूसरा परस्परपरिहाररुप। उसमें आप बताइये कि, विरोध दो में से कौन से एक स्वरुपवाला है ? अर्थात् साध्य और साधन में सहानवस्थानरुप विरोध होगा या परस्परपरिहाररुप विरोध होगा ?

उसमें सहानवस्थानरुप विरोध भी क्यों मान जाता है ? क्या वह कभी भी एक स्थान पे नहि रहता होने के कारण या कुछ काल साथ रहकर पिछे से साथ नहि रहता होने के कारण है ?

यदि कभी भी एक स्थान में नहि रहने के कारण सहानवस्थानविरोध है, तो सांप और नेवले आदि में विरोध नहीं माना जा सकेगा। क्योंकि वह कभी कभी तो एकसाथ रहते ही है। यदि उनमें सहानवस्थानविरोध है, तो तीन लोक में सांपो का अभाव ही हो जायेगा।

यदि कुछ काल साथ रहकर बाद में साथ नहि रहते होने के कारण सहानवस्थानविरोध है तो स्त्री पुरुष में भी विरोध आयेगा। क्योंकि वे भी कुछ काल एकट्ठा रहकर अलग पड जाते है। तदुपरांत यदि कुछ थोडे समय साथ रहकर अलग पड जाते होने से उसमें सहानवस्थान विरोध होता है, तो वडवानल = समुद्र की अग्नि और समुद्र का पानी, बिजली और बादलो में रहनेवाला पानी, वे सभी बहोत लंबे समय तक एकसाथ रहते है, तो उसमें विरोध नहीं होना चाहिए। (फिर भी विरोध तो माना जाता ही है।)

परस्परपरिहारस्थितिरुप विरोध सर्वपदार्थो में अविशेषतया = सामान्यरुप से हुआ ही करता है। प्रत्येक पदार्थ दूसरे पदार्थ से अपनी स्वतंत्र भिन्नस्थिति रखता ही है। इसलिए किस तरह से सर्वसाधारण विरोध को प्रतिनियतस्थानो में ही जोडा जा सके ?

साध्य और साधन में विशेषण-विशेष्यभाव भी संगत होता नहीं है। क्योंकि उस साध्य और साधन में संयोगादि का असंभव होने से विशेषण - विशेष्यभाव का अभाव है। साध्य और साधन में संयोगादि का संभव हमने पहले ही निषेध कर दिया है। कहने का मतलब यह है कि, साध्य और साधन में विशेषणविशेष्यभाव भी माना नहि जा सकता। क्योंकि विशेषण-विशेष्यभाव तो उन पदार्थो में होता है कि जिसमें पहले से ही परस्पर कोई संयोग या समवाय आदि संबंध रहता है। परन्तु जब साध्य और साधन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में संयोगादि संबंधो का अभाव पहले ही सिद्ध कर दिया है तब उसमें विशेषण-विशेष्यभाव की सिद्धि करना सर्वथा (बिलकुल) अनुचित है।

साध्य और साधन में तादात्म्यसंबंध भी होता नहीं है। क्योंकि साध्य असिद्ध होता है और साधन सिद्ध होता है और इसलिए उस अपेक्षा से साध्य और साधन में भेद माना गया है तथा जिसमें भेद माना गया है उसमें तादात्म्य= अभेद मानोंगे तो साधन या साध्य में से एक ही रहेगा। दोनो नहीं रह सकेंगे। तादात्म्य संबंध में दोनो बच नहीं सकते। उन दोनो के बीच कथंचित् तादात्म्य मानोंगे तो जैनमत का स्वीकार करना पडेगा।

तदुत्पत्तिस्तु कार्यकारणभावे संभविनी कार्यकारणभावश्चार्थक्रियासिद्धौ सिध्येत् । अर्थक्रिया च नित्यस्य क्रमाक्रमाभ्यां सहकारिषु सत्स्वसत्सु च जनकाजनकस्वभावद्वयानभ्युपगमेन नोपपद्यते । अनित्यस्य तु सतोऽसतो वा सा न घटते, सतः समवायवर्तिनि व्यापारायोगात्, व्यापारे वा स्वस्वकारणकाल एव जातानामुत्तरोत्तरसर्वक्षणानामेकक्षणवर्तित्वप्रसङ्गात्, सकलभावानां मिथःकार्यकारणभावप्रसक्तेश्च, असतश्च सकलशक्तिविकलत्वेन कार्यकारणासंभवात्, अन्यथा शशविषाणादेरपि तत्प्रसङ्गात् । तदित्थं साध्यादीनां संबन्धानुपपत्तेरेकान्तमते पक्षधर्मत्वादि हेतुलक्षणमसंगतमेव स्यात्, तथा च प्रतिबन्धो दुरुपपाद एव । तथैकान्तवादिनां प्रतिबन्धग्रहणमपि न जाघटीति, अविचलितस्वरूपे आत्मनि ज्ञानपौर्वापर्याभावात्, प्रतिक्षणध्वंसिन्यपि कार्यकारणाद्युभयग्रहणानुवृत्त्यैकचैतन्याभावात् । न च कार्याद्यनुभवानन्तरभाविना स्मरणेन कार्यकारणभावादिः प्रतिबन्धोऽनुसंधीयत इति वक्तव्यं, अनुभूत एव स्मरणप्रादुर्भावात् । न च प्रतिबन्धः केनचिदनुभूतः, तस्योभयनिष्ठत्वात् । उभयस्य पूर्वापरकालभाविन एकेनाग्रहणादिति न प्रतिबन्धनिश्चयोऽपि । तदेवमेकान्तपक्षे परैरुच्चार्यमाणः सर्वोऽपि हेतुः प्रतिबन्धस्याभावादनिश्चयाज्ज्ञानैकान्तिक एव भवेत् ३ ।

व्याख्या का भावानुवाद :

साध्य और साधन में कार्य-कारणभाव होने से ही तदुत्पत्ति संबंध की विचारणा की जा सकती है और कार्य-कारणभाव अर्थक्रियावाले पदार्थो में होता है। अर्थात् पदार्थो में अर्थक्रिया सिद्ध हो, तो ही कार्य-कारणभाव सिद्ध होता है और उसके बाद ही तदुत्पत्तिसंबंध की विचारणा की जा सकती है। नित्य पदार्थ में क्रम से या युगपत् सहकारियों की मदद होने से या सहकारियों की मदद नहि होने से अर्थक्रिया की जनकता या अजनकता मानी हुई न होने से (नित्य पदार्थ में) अर्थक्रिया संगत होती नहीं है। (कहने का मतलब यह है कि, नित्य पदार्थ हंमेशा एक स्वभाववाला होने के कारण उसमें क्रम से तथा युगपत् सहकारियों की मदद से या उसकी मदद के बिना किसी भी तरह से कोई भी अर्थक्रिया कर सकता नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। क्योंकि अनेक कार्यो को उत्पन्न करने के लिए अनेक स्वभावो की आवश्यकता है। उस अनेकस्वभावता का नित्य पदार्थ में सर्वथा अभाव है।)

सर्वथा अनित्यपदार्थ में भी अपने सद्भाव या असद्भाव में अर्थक्रिया होती नहीं है। यदि वह अनित्य पदार्थ अपने सद्भाव में ही अपनी अर्थक्रिया को उत्पन्न करता है, तो समवायवर्तिनी = समान समयवालो में व्यापार का अभाव है = कार्यकारणभाव का अभाव है। यदि एक समय रहनेवालो में भी व्यापार = कार्यकारणभाव हो जाये, तो स्व-स्व कारण काल में ही उत्तरोत्तरक्षणो में उत्पन्न होनेवाले कार्य एक क्षण में ही हो जाने की आपत्ति आयेगी। अर्थात् उत्तरोत्तरकार्य पूर्व-पूर्वक्षण में हो जायेगा। (जैसे कि नौंवीक्षण दसवींक्षण को अपने सद्भाव में अर्थात् नौंवीक्षण में ही उत्पन्न कर देगी। उस तरह से आठवींक्षण नौंवीक्षण को अपने सद्भाव में अर्थात् आठवींक्षण में नौंवी क्षण को, सातवींक्षण में आठवींक्षण को, छट्ठीक्षण में सातवींक्षण को, छठ्ठीक्षण को पांचवीक्षण में, पांचवीक्षण को चौथीक्षण में, चौथीक्षण को तीसरीक्षण में, तीसरीक्षण को द्वितीयक्षण में, वैसे ही प्रथमक्षण में द्वितीय क्षण को उत्पन्न कर देगी। अर्थात् प्रथमक्षण में ही सभी कार्य हो जायेंगे। (और दूसरीक्षण में नाश होने से संसार शून्य बन जायेगा।) तथा (यदि सहभावियो में कार्यकारणभाव हो तो) समस्त सहभाविपदार्थो में परस्पर कार्य-कारणभाव आ जायेगा।)

(कोई भी कारण असत् होके कार्य को उत्पन्न कर सकता ही नहीं है। क्योंकि) असत्पदार्थ सभी शक्ति से विफल होने से कारण कार्य करने के लिए समर्थ बनता नहीं है। यदि असत्पदार्थ भी कार्य करने के लिए समर्थ बन जाता हो तो असत् ऐसा खरगोस का सिंग भी कार्य करने के लिए समर्थ बन जायेगा और इसलिए खरगोस का सिंग, अर्थक्रियाकारि बनने से सत् बन जायेगा।

इस अनुसार से साध्य-साधन आदि के संबंध की एकांतमत में अनुपपत्ति होने से हेतु के पक्षधर्मत्वादि भी असंगत ही बन जाते है। इसलिए साध्य और साधन आदि का प्रतिबंध संबंध सिद्ध करना कठिन है।

उस अनुसार से एकांतवादियों को (एकांतवाद में) प्रतिबंध का ग्रहण भी संगत होता नहीं है। क्योंकि अविचलितस्वरुपवाले (कूटस्थ नित्य) आत्मा में ज्ञान के पर्याय के परिवर्तन का अभाव है तथा प्रतिक्षणध्वंस होने से क्षणिक में (क्षणिक आत्मा में)) भी कार्य-कारण, साध्य-साधन आदि उभय के ग्रहण में अनुवृत्त (अन्वयी) एक चैतन्य का अभाव है। (कहने का मतलब यह है कि, एकांतनित्यवादि आत्मा को सर्वथा अपरिवर्तन शील नित्य मानते है। वह सर्वथा अविचलित स्वभाववाला है। इसलिए उसमें ज्ञान के पर्याय भी बदलते नहीं है। ऐसा कूटस्थनित्य आत्मा है। उसमें साध्य और साधन के संबंध को ग्रहण करना ही कठिन है। जो आत्मा के ज्ञान में साध्य-साधन और उसका अविनाभाव क्रमशः प्रतिभासित होता हो,वह आत्मा संबंध-को ग्रहण कर सकता है। जो हंमेशां एक स्वभाववाला है, उसमें तादृशक्रमिक परिणमन हो सकता नहीं है। बौद्ध आत्मा को क्षणिकज्ञानप्रवाहरुप मानते है। उसका वह क्षणिकआत्मा भी साध्य-साधन के संबंध को ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि जो ज्ञानक्षण साधन को जानती है, वह ज्ञानक्षण साध्य को जानती नहीं है। तथा साध्य को जाननेवाली ज्ञानक्षण साधन को जानती नहीं है। इस तरह से कार्यकारण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

या साध्य-साधन दोनो को जाननेवाले कोई अन्वयी चैतन्य का सद्भाव न होने से उसके संबंध को जानना बिलकुल असंभवित है ।)

बौद्ध : कार्य-कारण या साध्य-साधन के अनुभव के अनंतर होनेवाले स्मरण के द्वारा कार्य-कारणभाव तथा अविनाभाव आदि संबंधो का ज्ञान अच्छी तरह से होता ही है ।

जैन : ऐसा नहीं कहना चाहिए । क्योंकि अनुभूत में ही स्मरण का प्रादुर्भाव होता है । अर्थात् स्मरण अनुभव के अनुसार ही होता है । जो पदार्थ का अनुभव हो उसका ही स्मरण होता है । कार्य-कारणभाव या अविनाभाव आदि संबंधो का अनुभव ही किसीके द्वारा हुआ नहीं है तो फिर स्मरण कहां से हो सकता है ? संबंध तो उभय में रहता है । आपकी कोई भी क्षणिक ज्ञानक्षण पूर्वोत्तरकालभावि दो भावपदार्थो को जानती ही नहीं है, तो वह किस तरह से उन दोनो में रहनेवाले संबंध का निश्चय कर सकती है ? (कार्य-कारणभाव तो क्रमभावि कारण और कार्य में रहता है । आपकी कोई एक ज्ञानक्षण के द्वारा क्रमभावि कार्य और कारण को ग्रहण करना असंभवित है । इसलिए उससे उसके संबंध का ग्रहण भी होता नहीं है ।) इसलिए एकांतपक्ष में परवादियों के द्वारा कहे गये सभी हेतु संबंध का अभाव होने के कारण तथा निश्चय का अभाव होने से अनैकान्तिक ही है ।

एवं च केवलस्य सामान्यस्य विशेषस्य च द्वयोर्वा परस्परविविक्तयोस्तयोर्हेतुत्वाघटनाद-नुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययनिबन्धनपरस्परसंवलितसामान्यविशेषात्मनो हेतोरनेकान्तात्मनि साध्ये गमकत्वमभ्युपगन्तव्यम् । न च यदेव रूपं रूपान्तराद्व्यावर्तते तदेव कथमनुवृत्ति-मासादयति, यच्चानुवर्तते तत्कथं व्यावृत्तिमाश्रयति इति वक्तव्यं, अनुवृत्तव्यावृत्तरूपत-याध्यक्षतः प्रतीयमाने वस्तुरूपे विरोधासिद्धेः, सामान्यविशेषवच्चित्रज्ञानवच्चित्रपट-स्यैकचित्ररूपवद्वा । किंच एकान्तवाद्युपन्यस्तहेतोः साध्यं किं सामान्यमाहोस्विद्विशेष उतोभयं परस्परविविक्तमुतस्विदनुभयमिति विकल्पाः । न तावत्सामान्यं, केवलस्य तस्यासंभवादर्थक्रियाकारित्ववैकल्याच्च । नापि विशेषः, तस्याननुयायित्वेन साधयितुम-शक्यत्वात् । नाप्युभयं, उभयदोषानतिवृत्तेः । नाप्यनुभयं, तस्यासतो हेत्वव्यापकत्वेन साध्यत्वायोगात् । तस्माद्विवादास्पदीभूतसामान्यविशेषोभयात्मकसाध्यधर्मस्य साध्यधर्मिणि साधनायान्योन्यानुविद्धान्वयव्यतिरेकस्वभावद्वयात्मैकहेतोः प्रदर्शने लेशतोऽपि नैकान्तपक्षोक्तदोषावकाशः संभवी, अतोऽनेकान्तात्मकं हेतुस्वरूपं चावश्यमङ्गीकर्तव्यं, अन्यथा सकलानुमानेषु साध्यसाधनानामुक्तन्यायत उच्छेद एव भवेत् । तस्माद्भो एकान्तवादिनो ! निजपक्षाभिमानत्यागेनाविषादिनोऽक्षिणी निमील्य बुद्धिदृशमुन्मील्य मध्यस्थवृत्त्या युक्त्यानुसारैकप्रवृत्त्या तत्तत्त्वं जिज्ञासन्तो भवन्तोऽनेकान्तं विचारयन्त, प्रमाणैकमूलसकलयुक्तियुक्तं प्रागुक्तनिखिलदोषविप्रमुक्तम् तत्तत्त्वं चाधिगच्छन्तु । इति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परहेतुतमोभास्करनामकं वादस्थलं । ततः सिद्धं सर्वदर्शनसंमतमनेकान्तमतम् ।।५७।।

व्याख्या का भावानुवाद :

इस अनुसार से हेतु केवल सामान्यरुप या विशेषरुप हो सकता नहीं है। परस्परविविक्त = निरपेक्षरुप से स्वतंत्रसामान्य - विशेषरुप भी हो सकता नहीं है। केवल सामान्यरुप में या विशेषरुप में या परस्परनिरपेक्षतया स्वतंत्रसामान्य - विशेषरुप में हेतुत्व होता नहीं है। (इसलिए परस्परसापेक्ष सामान्य-विशेषात्मकरुप ही हेतु अनेकांतात्मक साध्य का गमक बनता है। अर्थात्) परस्परसंवलित = तादात्म्य रखनेवाले सामान्य और विशेष ही अनुवृत्त = अनुगताकार प्रत्यय तथा व्यावृत्ताकार = विलक्षणप्रत्यय में कारण बनते होने से तादृशसामान्य - विशेषात्मक हेतु ही अनेकांतात्मक साध्य का गमक मानना चाहिए।

शंका - जो रुप रुपान्तर से व्यावृत्त होता है, वही रुप किस तरह से अनुवृत्त = साधारण प्रत्यय में कारण बनता है अर्थात् जो पदार्थ विशेषात्मक है, दूसरो से व्यावृत्त होता है, वह अनुवृत्त = साधारणप्रत्यय में किस तरह से कारण बन सकता है ? इसी तरह से जो साधारण सामान्यरुप बनकर अनुगतप्रत्यय में कारण होता है, वह किस तरह से व्यावृत्तप्रत्यय में कारण बन सकता है ?

समाधान : ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि अनुवृत्त = अनुगताकार तथा व्यावृत्ताकाररुप में प्रत्यक्ष से प्रतीत होते वस्तु के रुप में विरोध की असिद्धि है। जैसे कि, एक ही वस्तु में प्रतीत होते सामान्य और विशेष आकारो, चित्रज्ञान तथा चित्रपटका एकचित्र रुप। (कहने का मतलब यह है कि, जैसे सामान्य-विशेष पृथ्वीत्व आदि अपर सामान्य जलादि से व्यावर्तक होने के कारण विशेषरुप होने पर भी पृथ्वी व्यक्तियों में अनुगताकार प्रत्यय में कारण होने से सामान्यरुप भी है। अथवा जिस प्रकार से चित्रज्ञान एक होने पर भी अनेक नील-पितादि आकारो को धारण करता है, अथवा जिस अनुसार से एक ही रंगबिरंगी चित्रपट में अनेक नील-पीत रंग रह जाते है, उसी ही तरह से एक ही वस्तु सामान्य और विशेष दो आकार को धारण कर सकती है। जब एक ही वस्तु का अनुगताकार और व्यावृत्ताकारप्रत्यय में कारण होना प्रत्यक्ष सिद्ध है, तब उसमें विरोध किस तरह से हो सकता है ? विरोध तो उसमें होता है, कि जिसकी एक साथ उपलब्धि न हो सकती हो।)

अच्छा, आप एकांतवादि बताइयें कि आपने उपन्यास किये हुए हेतु का साध्य मात्र सामान्यरुप मानते हो ? या मात्र विशेषरुप मानते हो ? या परस्परनिरपेक्ष उभयरुप मानते हो ? या अनुभयरुप मानते हो ?

"हेतु का साध्य मात्र सामान्यरुप है" यह उत्तर तो असंभवित है। तथा वैसी वस्तु में अर्थक्रियाकारित्व का भी असंभव है। अर्थात् केवल सामान्यपदार्थ तो असत् है। वह कोई भी अर्थक्रिया कर सकता नहीं है।

"हेतु का साध्य मात्र विशेषरुप है" - यह उत्तर भी अयोग्य है। क्योंकि विशेष दूसरी व्यक्तियों में अनुगत नहीं होने के कारण, उसका संबंध अगृहीत रहने के कारण, वह) साध्य बनने के लिए समर्थ नहीं है।

हेतु का साध्य परस्परनिरपेक्ष उभयरुप तो नहीं है। क्योंकि मात्र सामान्यरुप तथा मात्र विशेषरुप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मानने में जो दोष आते थे वे सभी दोष यहाँ आयेंगे।

हेतु का साध्य अनुभयरुप तो हो सकता नहीं है। क्योंकि अनुभयरुप तो कोई पदार्थ होता ही नहीं है। इसलिए अनुभयपक्ष में साध्य असत् बन जायेगा। असत् साध्य हेतु को व्यापक न होने के कारण साध्यरुप बन सकता नहीं है। अर्थात् असत् साध्य में हेतु का अव्यापकत्व होने के कारण साध्यत्व का अयोग है। (परस्पर व्यवच्छेदात्मक सामान्य और विशेष दोनो का युगपत् निषेध किया नहीं जा सकता है। इस तरह से जब अनुभय पदार्थ की सत्ता ही नहीं है, तब वह हेतु का व्यापक बनकर साध्य बन सकता नहीं है।)

इसलिए (जिसकी सिद्धि करनी है, वैसे) विवादास्पद सामान्य-विशेषोभयात्मक साध्यधर्म को साध्यधर्मी में सिद्ध करने के लिए परस्पर अनुविद्ध अन्वय - व्यतिरेकद्वयात्मक हेतु का प्रदर्शन करने में लेशमात्र भी एकांतपक्ष में हेतु का प्रदर्शन करने में लेशमात्र भी एकांतपक्ष में कहे हुए दोषो का अवकाश संभवित नहीं है। इसलिए हेतु का अनेकांतात्मक स्वरुप ही मानना चाहिए। अन्यथा सकल अनुमानो में साध्य-साधनो का उक्त न्याय से उच्छेद हो जायेगा। अर्थात् हेतु का अनेकांतात्मक स्वरुप स्वीकार नहि करोंगे तो समस्त साध्य-साधनो का लोप होके अनुमानमात्र का उच्छेद हो जायेगा। इसलिए हे एकांतवादियो! अपने पक्ष का अभिमान त्याग करके चंचल आंखो को बंध करके तथा ज्ञानरुपी चक्षु को खोलकर तटस्थवृत्ति से युक्ति अनुसार विचार करके तत्त्वजिज्ञासापूर्वक आप लोग अनेकांत का विचार करें। (और उसके योग से) समस्त दूषणो से रहित प्रमाणैकमूल युक्तियुक्त = प्रमाणसिद्ध युक्तियों से युक्त अनेकांततत्त्व को प्राप्त करो। (अर्थात् मध्यस्थ बुद्धि से आप विचार करोंगे तो निश्चित अनेकांततत्त्व को प्राप्त करोंगे।) इस अनुसार से "**परहेतुतमोभास्कर**" नाम का वादस्थल पूर्ण होता है। उपरोक्त विवेचन से अनेकांततत्त्व सर्वदर्शनसंमत सिद्ध हो जाता है। ॥५७॥

अथ जैनमतं संक्षेपयन्नाह - अब जैनमत का उपसंहार करते हुए कहते है कि...

(मू. श्लो.) जैनदर्शनसंक्षेप इत्येष गदितोऽनघः ।
पूर्वापरपराघातो यत्र क्वापि न विद्यते ॥५८॥

श्लोकार्थ : इस अनुसार से सर्वथा निर्दोष जैनदर्शन का संक्षेप से कथन किया है। उस जैनदर्शन की मान्यताओ में कहीं भी पूर्वापर विरोध आता नहीं है।

व्याख्या-जैनदर्शनस्य संक्षेपो विस्तरस्यागाधत्वेन वक्तुमशक्यत्वादुपयोगसारः समास इत्यमुनोक्तप्रकारेणैवप्रत्यक्षो गदितो-अभिहितोऽनघो-निर्दूषणः सर्ववक्तव्यस्य सर्वज्ञमूलत्वे दोषकालुष्यानवकाशात् । यत्रजैनदर्शने क्वापि क्वचिदपि जीवाजीवादिरूपविचारणा-विषयसूक्ष्ममतिचर्चायामपि पूर्वापरयोः-पूर्वपश्चादभिहितयोः पराघातः-परस्परव्याहतत्वं न विद्यते, अयं भावः-**यथा परदर्शनसंबन्धिषु मूलशास्त्रेष्वपि किं पुनः पाश्चात्यविप्रलम्भक-**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्रथितग्रन्थ[1]कथासु प्रथमपश्चादभिहितयोर्मिथोविरोधोऽस्ति, तथा जैनदर्शने क्वापि केवलिप्रणीतद्वादशाङ्गेषु पारम्पर्यग्रन्थेषु च सुसंबद्धार्थत्वात्सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्षितोऽपि स नास्ति । यत्तु परदर्शनेष्वपि क्वचन सहृदयहृदयङ्गमानि वचनानि कानिचिदाकर्णयामः तान्यपि जिनोक्तसूक्तसुधासिन्धुसमुद्गतान्येव संगृह्य मुधा स्वात्मानं बहु मन्यते । यच्छ्रीसिद्धसेनपादाः-"सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु, स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसंपदः । तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता, जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ।।१।।" [द्वात्रिंश.] इति । अत्र परे प्राहुः-अहो आर्हता ! अर्हदभिहिततत्त्वानुरागिभिर्युष्माभिरिदमसंबद्धमेवाविर्भावयांबभूवे यदुत युष्मद्दर्शनेष्वपि पूर्वापरयोर्विरोधोऽस्तीति । न ह्यस्मन्मते सूक्ष्मेक्षणैरीक्षमाणोऽपि विरोधलेशोऽपि क्वचन निरीक्ष्यते, अमृतकरकरनिकरेष्विव कालिमेति चेत् ? उच्यते । भोः ! स्वमतपक्षपातं परिहृत्य माध्यस्थ्यमवलम्बमानैर्निरभिमानैर्धीप्रधानैः प्रति[2]भाद्यवधानं विदधानैर्निशम्यते, तदा वयं भवतां सर्वं दर्शयामः ।

व्याख्या का भावानुवाद :

प्रश्न : जैनदर्शन का संक्षेप से ही क्यों वर्णन किया है ?

उत्तर : जैनदर्शन अगाध है। उसका विस्तार से वर्णन करना संभव नहीं है। अगाध समंदर को तैरना जैसे कठिन है, वैसे अगाधजैनदर्शन का विस्तार से एक जगह पे वर्णन करना संभव नहीं है। इसलिए ही उपयोगी सारभूतवस्तु का वर्णन किया है। वही जैनदर्शन का संक्षेप है। फिर भी प्रत्यक्ष से उपरोक्त प्रकारो के द्वारा कहे गये जैनदर्शन का संक्षेप निर्दोष है। क्योंकि जैनदर्शन सर्वज्ञमूलक है। अर्थात् जैनदर्शन के मूल वक्ता सर्वज्ञ होने के कारण उसमें दोषो की कलुषिता का अवकाश नहीं है। जैनदर्शन में कहीं भी जीवादि पदार्थो की विचारणा करने समय अतिसूक्ष्म चर्चा में भी पहले कहे हुए में और बाद में कहे हुए में लेशमात्र भी परस्परविरोध आता नहीं है। कहने का मतलब यह है कि जिस अनुसार से अन्यदर्शन संबंधी मूलशास्त्रो में भी पहले कहे हुए में और बाद में कहे हुए में परस्परविरोध है। तो फिर उस उस अन्यदर्शन के बाद में केवल अपने मत की पुष्टि करने के लिए विप्रलंभको के द्वारा रचे गये ग्रंथो में विरोध हो उसमें आश्चर्य क्या है? सारांश में जिस अनुसार से अन्यदर्शन के मूलग्रंथो के और शिष्यपरंपरा में रचे गये अन्यग्रंथो के पूर्वापर कथन में परस्परविरोध है, उस अनुसार से जैनदर्शन में कहीं भी केवलिप्ररुपित द्वादशांगी में या उसके बाद की शिष्य परंपरा में रचे गये (उत्तरकालीन) ग्रंथो में सूक्ष्मेक्षिका से निरीक्षण करने पर भी परस्परविरोध नहीं है। क्योंकि जैनदर्शनकारों का कथन सर्वत्र सुसंबद्ध होता है।

तदुपरांत, अन्य मत में भी कहीं सहृदय विद्वान लोगो के चित्त में विस्तरित हुए सुंदर हृदयहारि वचन सुनने को मिलते है। वह वस्तुतः जैनवचनरुप समुद्र से निकले हुए सुंदर वचनो को ग्रहण करके अपने शास्त्र में

१ कंथा । २ प्रतिभाव यद्यवधानं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गूँथ लिये है और उल्टा अपनी जात को बडी मानते है। जिससे श्रीसिद्धसेनदिवाकरसूरिजीने कहा है कि... **"हे भगवान् ! यह बात सुनिश्चित है कि परशास्त्रो में जो कहीं भी कुछ सुयुक्तियां = सुवचन स्कुरायमान है, वह (मूलतः) आपका ही है । वह जिनवचनरुपी समुद्र में से उछले हुए पानी के बिंदु ही है । इसलिए जिनवचन ही सुयुक्तियों का समुद्र है और प्रमाणरुप है । जगत उसको ही व्यवहार में प्रमाणभूत मानता है ।"**

परवादि : अरे जैनो ! श्रीजिनशासनकथित तत्त्व के अनुरागवाले आपके द्वारा हमारे मत में पूर्वापरविरोध है, ऐसा कहा जाता है, वह आपका असंबद्धवचन है। क्योंकि हमारे वचनो में सूक्ष्म बुद्धि से देखने पर भी विरोध का लेश भी देखने को मिलता नहीं है। पूर्णचन्द्र के धवल किरणो में कालिमा किस तरह से हो सकती है ?

जैन : हे परवादियो ! आप लोग जल्दबाजी मत करे। आप लोग स्वमत का आग्रह छोडकर मध्यस्थता का आलंबन करके, निराभिमानी बनकर स्वबुद्धि - प्रतिभा को अवधान -- सावधान करके सुनिए। हम सभी पूर्वापरविरोध बताते है।

तथाहि प्रथमं तावत्तथागतसंमते मते पूर्वापरविरोध उद्भाव्यते । पूर्वं सर्वं क्षणभङ्गुरमभिधाय पश्चादेवमभिदधे 'नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं, नाकारणं विषय' इति अस्यायमर्थः-ज्ञानमर्थे सत्येवोत्पद्यते न पुनरसतीत्यनुकृतान्वयव्यतिरेकोऽर्थो ज्ञानस्य कारणम् । यतश्चार्थाज्ज्ञान-मुत्पद्यते तमेव तद्विषयीकरोतीति । एवं चाभिदधानेनार्थस्य क्षणद्वयं स्थितिरभिहिता । तद्यथा-अर्थात्कारणाज्ज्ञानं कार्यं जायमानं द्वितीये क्षणे जायते न तु समसमये कारणकार्ययोः समसमयत्वायोगात् । तच्च ज्ञानं स्वजनकमेवार्थं गृह्णाति नापरं 'नाकारणं विषय' इति वचनात् । तथा चार्थस्य क्षणद्वयं स्थितिर्बलादायाता सा च क्षणक्षयेण विरुद्धेति पूर्वापरविरोधः १ । तथा नाकारणं विषय इत्युक्त्वा योगिप्रत्यक्षस्यातीतानागतादिरप्यर्थो विषयोऽभ्यधायि । अतीतानागतश्च विनष्टानुत्पन्नत्वेन तस्य कारणं न भवेत् । अकारणमपि च तं विषयतयाभिदधानस्य पूर्वापरविरोधः स्यात् २ । एवं साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्राहकस्य ज्ञानस्य कारणत्वाभावेऽपि त्रिकालगतमर्थं विषयं व्याहरमाणस्य कथं न पूर्वापरव्याघातः, अकारणस्यप्रमाणविषयत्वानभ्युपगमात् ३ । तथा क्षणक्षयाभ्युपगमेऽन्वयव्यतिरे-कयोर्भिन्नकालयोः प्रतिपत्तिर्न संभवति । ततः साध्यसाधनयोस्त्रिकालविषयं व्याप्तिग्रहणं मन्वानस्य कथं न पूर्वापरव्याहतिः ४ ।

व्याख्या का भावानुवाद :

अब अन्यमत में पूर्वापरविरोध किस तरह से है वह बताया जाता है। **उसमें प्रथम बौद्धमत में जो पूर्वापरविरोध है, उसका उद्भावन किया जाता है** । बौद्ध एक ओर जगत के समस्त पदार्थो को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षणभंगुर कहते है और दूसरी ओर उससे विपरीत कहते है। कि... जो पदार्थ कार्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक रखता नहीं है, वह कारण बन सकता नहीं है और जो पदार्थ कारण बन सकता नहीं है, वह ज्ञान का विषय भी बन सकता नहीं है। (बौद्ध के द्वारा किये गये इस विधान का टीकाकार श्री स्वयं अर्थ करते है -) उस सूत्र का अर्थ यह है - ज्ञान पदार्थ होने से ही उत्पन्न होता है। पदार्थ के अभाव में उत्पन्न होता नहीं है। इसलिए ज्ञान के साथ अन्वय-व्यतिरेक होते है वह पदार्थ ज्ञान में कारण बनता है तथा जो पदार्थ से ज्ञान उत्पन्न होता है, उस पदार्थ को ज्ञान विषय बनाता है। अर्थात् जिस पदार्थ से ज्ञान उत्पन्न होता है उस पदार्थ को ज्ञान जानता है। इस अनुसार से कहने से (अर्थात् जो पदार्थ को ज्ञान का कारण कहा यही पदार्थ को ज्ञान का विषय कहने से) पदार्थ की दो क्षण तक स्थिति माननी पडेगी। वह इस तरह से- पदार्थ ज्ञान का कारण है, उस पदार्थरुप कारण से ज्ञानरुपकार्य उत्पन्न होता है। वह उत्पन्न होता कार्य द्वितीयक्षण में ही उत्पन्न होता है, क्योंकि कार्य और कारण सम-समय में रहते नहीं है। क्योंकि कारण पूर्वक्षण में होता है। कार्य उसकी उत्तरक्षण में उत्पन्न होता है। इसलिए कार्य और कारण की क्षण समान होती नहीं है। इसलिए ज्ञान अपने जनक ऐसे पदार्थ को ही ग्रहण करता है, दूसरे को नहि। क्योंकि उनका वचन है कि, यदि ज्ञान का कारण नहीं है, तो ज्ञान का विषय नहीं है। (इस अनुसार से वह पदार्थ कारण होने से वह ज्ञान के एक क्षण पहले रहेगा और विषय होने के कारण ज्ञान के साथ भी रहेगा। इसलिए) पदार्थ की दो क्षणस्थिति बलात्कार से भी माननी पडेगी। इस अनुसार से एक ओर पदार्थ की द्विक्षणस्थति मानना और दूसरी ओर संसार के समस्तपदार्थो को क्षणभंगुर मानना वह विरुद्ध है। इस तरह से बौद्धमत में पूर्वापरविरोध आता है। (१)

आप बौद्धोने "जो ज्ञान का कारण नहीं है, वह ज्ञान का विषय भी नहीं है" - ऐसा कहकर योगीप्रत्यक्ष में अतीतकालीन और अनागतकालीन पदार्थ भी विषय बनते है वैसा कहा। परंतु वह योग्य नहीं है। क्योंकि अतीत विनाश हुआ होने से और अनागत उत्पन्न हुआ न होने से योगीप्रत्यक्ष का कारण बन सकता नहीं है और अतीत-अनागत अर्थ योगीप्रत्यक्ष का कारण न होने पर भी उसको विषय तो आप कहते ही हो। इसलिए पूर्वापर में विरोध है। (कहने का मतलब यह है कि जो ज्ञान का कारण नहीं है, वह ज्ञान का विषय भी नहीं है। इस नियमानुसार तो त्रिकालवर्ती सभी पदार्थो को जाननेवाले योगीज्ञान में अतीत, अनागत और वर्तमान सभी पदार्थो को कारण मानने ही पडेगे। परंतु अतीत तो अतीत होने के कारण विनष्ट है तथा अनागत उत्पन्न हुआ ही नहीं है तो फिर वे दोनो योगीज्ञान में कारण किस तरह से बन सकेगा ? और यदि योगीज्ञान में अतीत और अनागत पदार्थ कारण न होने पर भी विषय बनता हो तो आपके बनाये हुए नियम में विरोध होने से अवश्य पूर्वापरविरोध है ही।) (२)

इस अनुसार से त्रिकालवर्ती साध्य और साधन को जाननेवाले व्याप्तिग्राहकज्ञान में त्रिकालवर्ती पदार्थ कारण बनता न होने पर भी विषय होता है। तो फिर पूर्वापर का व्याघात क्यों न कहा जाये ? क्योंकि आप लोगो ने अकारण को प्रमाण (ज्ञान का) विषय माना नहीं है। (यहाँ त्रिकालवर्ती पदार्थ कारण न होने पर भी विषय बनने से पूर्वापरविरोध स्पष्ट है ही।) (३)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा पदार्थ को क्षणभंगुर मानने में भिन्नकाल में होनेवाले (साधनके सद्भाव में साध्य की सत्ता को बतानेवाले) व्यतिरेक का ज्ञान संभवित नहीं बनेगा। (कहने का मतलब यह है कि जगत के पदार्थो को क्षणक्षयि मानने से अन्वय और व्यतिरेक का ज्ञान नहि हो सकेगा। जो ज्ञान प्रथम साधन की सत्ता को ग्रहण करके उसके सद्भाव में ही साध्य की सत्ता को तथा साध्य के अभाव में साधन के अभाव को जानने का है। उसमें ज्ञान का व्यापार एक क्षण से विशेष लंबा चलता है और वैसे ज्ञान से ही अन्वय-व्यतिरेक जाने जा सकते है। परंतु क्षणभंगुरवाद में कोई भी ज्ञानक्षण का इतना लम्बा व्यापार असंभवित है। इसलिए क्षणभंग मानकर अन्वय-व्यतिरेक के ग्रहण को असंभवित बना देना ओर) उसके बाद साध्य-साधन के त्रिकालविषयक व्याप्तिज्ञान को माननेवाले बौद्ध को किस तरह से पूर्वापरविरोध नहीं आयेगा ? (अर्थात् प्रथम क्षणभंग का स्वीकार करके (पहले कहे अनुसार से) अन्वयव्यतिरेक के ग्रहण को असंभवित बनाकर, बाद में **"जहां जहां साधन वहां वहां साध्य"** तथा **"जहां जहां साध्याभाव वहां वहां साधनाभाव"** ऐसे साध्यसाधन के (कि जिसका व्यापार लम्बे काल तक चलता है वैसे) त्रिकालविषयक व्याप्तिज्ञान का स्वीकार करना अर्थात् सर्वसंग्राही अन्वय-व्यतिरेकमूलक व्याप्तिज्ञान से व्यवहार चलाना, वह स्पष्ट रुप से पूर्वापरविरोध है। सारांश में, एक ओर पदार्थ को क्षणभंगुर मानकर अन्वय-व्यतिरेक ज्ञान को असंभवित बनाना ओर दूसरी और अन्वय-व्यतिरेकमूलक व्याप्ति ज्ञान को मानना वह स्पष्टतया विरुद्ध है। (४)

तथा क्षणक्षयमभिधाय । "इत एकनवतौ कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः । तत्कर्मणो विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥१॥" **इत्यत्र श्लोके जन्मान्तरविषये मेशब्दास्मिशब्दयोः प्रयोगं क्षणक्षयविरुद्धं ब्रुवाणस्य बुद्धस्य कथं न पूर्वापरविरोधः ५ । तथा निरंशं सर्वं वस्तु प्राग्प्रोच्य हिंसाविरतिदानचित्तस्वसंवेदनं तु स्वगतं सद्द्रव्यचेतनत्वस्वर्गप्रापणशक्त्यादिकं गृह्णदपि स्वगतस्य सद्द्रव्यत्वादेरेकस्यांशस्य निर्णयमुत्पादयति न पुनः स्वगतस्यापि द्वितीयस्य स्वर्गप्रापणशक्त्यादेरंशस्येति सांशतां पश्चाद्वदतः सौगतस्य कथं पूर्वापरविरुद्धं वचो न स्यात् ६ । एवं निर्विकल्पकमध्यक्षं नीलादिकस्य वस्तुनः सामस्त्येन ग्रहणं कुर्वाणमपि नीलाद्यंशे निर्णयमुत्पादयति न पुनर्नीलाद्यर्थगते क्षणक्षयेऽश इति सांशतामभिदधतः सौगतस्य पूर्वापरवचोविरोधः सुबोध एव ७ । तथा हेतोस्त्रैरूप्यं संशयस्य चोलेखद्वयात्मकतामभिदधानोऽपि स सांशं वस्तु यत्र मन्यते तदपि पूर्वापरविरुद्धम् ८ । तथा परस्परानाश्लिष्टा एवाणवः प्रत्यासत्तिभाजः समुदिता घटादिरूपतया प्रतिभासन्ते न पुनरन्योन्यमङ्गाङ्गिभावरूपेणारब्धस्कन्धकार्यास्ते इति हि बौद्धमतम् । तत्र चामी दोषाः । परस्परपरमाणूनामनाश्लिष्टत्वाद्घटस्यैकदेशे हस्तेन धार्यमाणे कृत्स्नस्य घटस्य धारणं न स्यात्, उत्क्षेपावक्षेपापकर्षाश्च तथैव न भवेयुः । धारणादीनि च घटस्यार्थक्रियालक्षणं सत्त्वमङ्गीकुर्वाणैः सौगतैरभ्युपगतान्येव तानि च तन्मतेऽनुपपन्नानि । ततो भवति

१ तेन कर्मविपाकेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वापरयोर्विरोधः ।।९।।

व्याख्या का भावानुवाद :

(अब बौद्धमत में आगे पूर्वापरविरोध बताया जाता है।) (एक ओर आत्माको) क्षणभंगुर कहकर (और दूसरी ओर) "**आज से इक्यानवे कल्प में मैने शक्ति से एक पुरुष को मारा था, उस कर्म के विपाक से हे भिक्षुओ ! मैं पांव में कांटो से बिंधा गया हूं।**" इस श्लोक में जन्मान्तर विषयक "**मे**" और "**अस्ति**" शब्द का प्रयोग, कि जो क्षणभंगुरता का विरोधी है, वह बोलते बुद्ध को किस तरह से पूर्वापर का विरोध नहीं है ?

(कहने का मतलब यह है कि-बुद्ध आत्मा को क्षणभंगुर कहते है और साथ साथ बुद्ध अपने शिष्यो को श्लोक में सूचित की हुई बात को कहने से जन्मान्तर में स्थायी आत्मा का भी स्वीकार करते है। किस तरह से ? उपरोक्त श्लोक के कथन से इक्यानवां कल्प और बुद्ध ने शिष्यो को विधान किया वह दिन, ये दोनो काल तक "**मे**" और "**अस्मि**" शब्द का वाच्य, जन्मांतर में अपनी सत्ता रखनेवाला स्थायी आत्मा सिद्ध हो जाता है और वह क्षणभंगुरवाद को स्पष्ट रुप से नष्ट करता है। तथा "**जो में शक्ति से पुरुष को मारनेवाला था, वही मैं आज कांटो से बिंधा गया हूं।**" इस प्रत्यभिज्ञान से आत्मा का स्थायित्व स्वयंमेव सिद्ध हो जाता है और वही पूर्वापर विरोध है।) (५) (इस अनुसार से पहले वस्तु को निरंश कहकर, पिछे से उसकी अंशसहितता का कथन करना वह स्पष्ट पूर्वापरविरोध है।)

सर्ववस्तु को निरंश मानकर बाद में बौद्ध कहते है कि - "**हिंसाविरति=अहिंसाक्षण**" या "**दानक्षण**" रुप चित्त, स्वसत्ता, द्रव्यत्व, चेतनत्व, स्वर्गप्रापणशक्ति आदि अनेक अंशो को जानकर भी स्वगत सत्त्व, द्रव्यत्व और चेतनत्व आदि अंशो का निर्णय उत्पन्न करती है। परन्तु स्वगत स्वर्ग प्रापणशक्ति आदि दूसरे अंशो का निश्चय उत्पन्न कर सकती नहीं है। इस अनुसार से सांशता का पिछे से कथन करते बौद्ध को किस तरह से पूर्वापर विरोध नहीं है। अर्थात् एक ओर वस्तु की निरंशताका प्रतिपादन करना और दूसरी ओर वस्तु के (उपर बताये अनुसार) विभिन्न अंशो का निरुपण करना, वह स्पष्ट स्ववचन विरोध है। (६)

इसी अनुसार से निर्विकल्पप्रत्यक्ष को नीलादि वस्तुओ के समस्त धर्मो का ग्राहक मानकर भी उसको नीलादि अंश में निश्चय का उत्पादक मानते है और नीलादि पदार्थ के क्षणक्षयांश में निश्चय का उत्पादक मानते नहीं है। इस अनुसार से नीलादि वस्तुओ की भी सारांशता को कहते हुए बौद्ध का पूर्वापर वचन का विरोध अच्छी तरह से मालूम होता है। (७)

एक ओर हेतु की त्रिरुपता का निरुपण करते तथा संशयज्ञान में विरोधी आकारो का उल्लेख करने वाले बौद्ध भी उस वस्तु की सांशता को मानते नहीं है, वह भी पूर्वापरविरोध ही है। (८)

बौद्धो का मत है कि... (घट आदि स्थूलपदार्थो की वास्तविक सत्ता नहीं है। परन्तु) परस्पर असंबद्ध प्रत्यासत्ति को भजनेवाले (अर्थात् अत्यंत निकट निकट रहनेवाले) परमाणुओ का समुदाय ही घटरुपतया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिभासित होता है। अर्थात् स्थूल घट जो प्रतिभासित होता है, वह मात्र परमाणुओ का पुंज है। परन्तु परस्पर अंगअंगिभाव रुप से = परस्परसापेक्ष बनकर स्कन्धरुप कार्य बनता नहीं है। (कहने का मतलब यह है कि जो परमाणुओ का समुदाय हमको स्थूल घटरुप में प्रतिभासित होता है, वे परमाणु असंबद्ध होने पर भी दूसरे से इतने ज्यादा करीब है कि उनका स्वतंत्रप्रतिभास होता नहीं है। स्थूल और स्थिर रुप से प्रतिभास होता है। परन्तु वह वास्तविक नहीं है।

उनके परमाणुपुंजवाद में ये दोष है - परस्पर परमाणु असंबद्ध होने से घट के एक देश से (घटको) हाथ से उंचा करने से वह पूर्ण घट उंचा नहीं उठेगा। परन्तु उसके कुछ परमाणु ही धारण किये जायेंगे। अर्थात् जितने परमाणु हाथ में आयेंगे उतने ही हाथ में उंचे उठेंगे, पूरा घट हाथ में उंचा नहीं उठेगा। तथा घट को उंचे फेंकने से, नीचे फेंकने से या खींचने से परस्पर असंबद्ध परमाणु बिखर जाने चाहिए। घट नाश हो जाना चाहिए तथा घट घटरुप में जो दिखता है वह नहीं दिखना चाहिए तथा घट घटरुप में न रहने से, उसमें पानी भरने की क्रिया नहीं हो सकेगी। इस तरह से आप लोग एक ओर घट को परमाणुओ का पुंज मानते है और दूसरी ओर घट में जलधारणादि अर्थक्रिया मानते हो, वह परस्पर विरुद्ध है। अर्थात् एक ओर परमाणुपुंजवाद मानना और दूसरी ओर घट में जलधारणादि अर्थक्रिया बताकर उसको सत् मानना वह परस्परविरुद्ध है। (जिसमें अर्थक्रियाकारित्व हो उसे सत् कहा जाता है। अर्थात् वस्तु अपनी क्रिया करती हो तब वह सत् कहा जाता है। बौद्धमत परमाणुपुंजवाद को मानता होने से उसके मतानुसार वस्तु में अर्थक्रियाकारित्व (उपर कहे अनुसार) संगत होता नहीं है। इसलिए परमाणुपुंजवाद को भी मानना और वस्तु में अर्थक्रियाकारित्व मानना वह परस्पर विरुद्ध है। (९) इस तरह से बौद्धमत में पूर्वापरविरोध है ही।

अथ नैयायिकवैशेषिकमतयोः पूर्वोपरतो व्याहतत्वं दर्शयते । सत्तायोगः सत्त्वमित्युक्त्वा सामान्यविशेषसमवायानां सत्तायोगमन्तरेणापि सद्भावं भाषमाणानां कथं न व्याहतं वचो भवेत् १ । ज्ञानं स्वात्मानं न वेत्ति स्वात्मनि क्रियाविरोधादित्यभिधायेश्वरज्ञानं स्वात्मनि क्रियाविरोधाभावेन स्वसंवेदितमिच्छतां कथं न स्ववचनविरोधः २ । प्रदीपोऽप्यात्मानमात्मनैव प्रकाशयन् स्वात्मनि क्रियाविरोधं व्यपाकरोति ३ । परवञ्चनात्मकान्यपि छलजातिनिग्रहस्थानानि तत्त्वरूपतयोपदिशतोऽक्षपादर्षेर्वैराग्यव्यावर्णनं तमसः प्रकाशात्मकताप्रख्यापनमिव कथं न व्याहन्यते ४ । आकाशस्य निरवयवत्वं स्वीकृत्य तद्गुणः शब्दस्तदेकदेश एव श्रूयते न सर्वत्रेति सावयवतां ब्रुवाणस्य कथं न विरोधः ५ सत्तायोगः सत्त्वं योगश्च सर्वैर्वस्तुभिः सांशतायामेव भवति सामान्यं च निरंशमेकमभ्युपगम्यते, ततः कथं न पूर्वापरतो व्याहतिः ६ । समवायो नित्य एकस्वभावश्चेष्यते सर्वैः समवायिभिः संबन्धश्च नैयत्येन जायमानोऽनेकस्वभावतायामेव भवति, तथा च पूर्वापरविरोधः सुबोधः ७ । अर्थवत्प्रमाणमित्यत्रार्थः सहकारी यस्य तदर्थवत्प्रमाणमित्यभिधाय योगिप्रत्यक्षमतीताद्यर्थविषयमभिदधानस्य पूर्वापरविरोधः स्यात्, अतीतादेः सहकारित्वायोगात् ९ । तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्मृतिर्गृहीतग्राहित्वेन न प्रमाणमिष्यते अनर्थजन्यत्वेन वा ? गृहीतग्राहित्वेन स्मृतेरप्रामाण्ये धारावाहिज्ञानानामपि गृहीतग्राहित्वेनाप्रामाण्यप्रसङ्गः । न च धारावाहिज्ञानानामप्रामाण्यं नैयायिकवैशेषिकैः स्वीक्रियते, अनर्थजन्यत्वेन तु स्मृतेरप्रामाण्येऽतीतानागतादिविषयस्यानुमानस्याप्यनर्थजन्यत्वेनाप्रामाण्यं भवेत्, त्रिकालविषयं ते चानुमानं शब्दवदिष्यते, धूमेन हि वर्तमानोऽग्निरनुमीयते मेघोन्नत्या भविष्यन्ती वृष्टिर्नदीपूरेण च सैव भूतेति, तदेवं धारावाहिज्ञानैरनुमानेन च स्मृतेः सादृश्ये सत्यपि यत्स्मृतेरप्रामाण्यं धारावाहिज्ञानादीनां च प्रामाण्यमिष्यते स पूर्वापरविरोधः ९ ।

व्याख्या का भावानुवाद : अब नैयायिक और वैशेषिक मत में पूर्वापरविरोध बताया जाता है ।

नैयायिक "सत्" पदार्थ का लक्षण करते हुए कहते है कि.. "जिसमें सत्ता का योग = संबंध = समवाय हो वह सत् है ।" नैयायिकोने "सत्" पदार्थ का इस अनुसार से लक्षण कहकर सामान्य, विशेष और समवाय का सत्ता के संबंध बिना भी सद्भाव कहते है । ऐसा परस्परविरुद्ध बोलते नैयायिक का वचन क्यों व्याघात को न पायें ? (एक ओर "**सत्**" का लक्षण कुछ अलग करते है और दूसरी ओर पदार्थ दूसरे किसी प्रकार से भी सत् माना जाता है - यह स्पष्ट रुप से परस्परविरोध है ।) (१)

(नैयायिक और वैशेषिक ज्ञान को अस्वसंवेदी मानते है । उनका कहना है कि ज्ञान अपने स्वरुप को जान सकता नहीं है, क्योंकि स्वात्मा में क्रिया का विरोध है । जैसे कोई नर चाहे कितना कुशल हो तो भी वह अपने कन्धे पे चढकर नृत्य कर सकता नहीं है तथा तलवार चाहे कितनी ही तेज नोंकदार हो तो भी अपने को काट सकती नहीं है । उस तरह से ज्ञान अपने को प्रकाशित कर सकता नहीं है । इस तरह से ज्ञान को अस्वसंवेदी मानते है ।)

"**ज्ञान अपने स्वरुप को जान सकता नहीं है, क्योंकि स्वात्मा में क्रिया का विरोध है - इस अनुसार से ज्ञान को अस्वसंवेदी कहकर ईश्वरज्ञान को स्वात्मा में क्रिया का विरोध न होने से स्वसंवेदी मानते है ।**" यह परस्परविरुद्ध मानते नैयायिको और वैशेषिको को किस तरह से स्ववचनविरोध नहीं है ? है ही । (२)

अपने को अपने द्वारा प्रकाशित करता दीपक भी स्वात्मा में क्रियाविरोध होता है, उस बात का खंडन करते है । अर्थात् दीपक अपने आप ही अपने स्वरुप का प्रकाशन करता है तथा परपदार्थ को भी प्रकाशित करता है, इसलिए स्वात्मा में क्रिया के विरोध की बात निरर्थक है । दीपक के दृष्टांत से ही उस बात का खंडन हो जाता है । इस प्रकार दीपक जैसे स्व-परप्रकाशक है वैसे ज्ञान भी स्व-पर प्रकाशक है । (३)

परवंचनात्मक छल-जाति-निग्रहस्थानादि का तत्त्वरुप से उपदेश देते अक्षपादऋषि का वैराग्य का वर्णन सचमुच अंधकार को प्रकाश स्वरुप बताने समान ही है । तो किस तरह से स्व-वचनविरोध न कहा जाये ? (कहने का मतलब यह है कि... अक्षपादऋषि एक ओर तत्त्वज्ञान के द्वारा वैराग्य को दृढ करने का उपदेश

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देते है और दूसरी ओर शास्त्रार्थ में दूसरो को ठगने के लिए, भूलावे में डालने के लिए छल, जाति, निग्रहस्थान जैसे छल-कपट के उपायों को तत्त्व मानते है । क्या उनका यह अंधकार को प्रकाश कहने समान स्ववचनविरोध नहीं है ?) (४)

आकाश को निरवयवद्रव्य के रुप में स्वीकार करके शब्द को आकाश का गुण कहते है तथा आकाश का शब्द गुण आकाश के एक देश में ही सुनाई देता है - सर्वदेशो में नहि, इस तरह से आकाश की सावयवता को कहते है। अर्थात् एक ओर आकाश को निरवयव मानते और दूसरी ओर आकाश की सावयवता सिद्ध हो वैसा कहते, नैयायिको और वैशेषिको को किस तरह से स्ववचनविरोध नहीं है ? (५)

नैयायिको सत्ता के संबंध को सत्त्व कहते है और एक सत्तासामान्य का सभी (भिन्न-भिन्न देशवर्ती) सत् पदार्थो के साथ संबंध तब ही हो सकता है कि जब सामान्य में सांशता हो । अर्थात् सामान्य में सांशता - अंश सहितता हो, तब ही वह विभिन्न देश के साथ संबंध कर सके अन्यथा नहि। इस तरह से एक ओर सर्वपदार्थो में सत्तासामान्य का स्वीकार करके उसकी सांशता का स्वीकार किया और दूसरी ओर सामान्य को निरंश और एक मानते हो तो किस तरह से पूर्वापरविरोध नहीं है ? (६)

इस तरह से नैयायिक समवाय को नित्य और एक स्वभाववाला भी कहते है तथा दूसरी ओर सर्व समवायी के साथ नियतसंबंध करनेवाला भी मानते है। क्योंकि समवाय का भिन्न-भिन्न समवायीओ में संबंध समवाय की अनेकस्वभावता होगा तो ही संभव बनता है। अर्थात् घट और रुप का तथा ज्ञान और आत्मा का समवाय भिन्न है । इसलिए भिन्न-भिन्न समवायीओं में रहनेवाला समवाय एक स्वभाववाला रह सकता ही नहीं है। अन्यथा सर्व में एक ही प्रकार का समवाय होगा, परंतु वैसा नहीं है। उपर कहा वैसे घट और रुप के समवाय से ज्ञान और आत्मा का समवाय भिन्न है। इस तरह से नैयायिक एक ओर समवाय को नित्य और एक स्वभाववाला मानते है और दूसरी ओर सर्व संबंधीओ के साथ नियत संबंध रखने का विधान करके समवाय की अनेकस्वभावता को कहते है, तो वह क्या उनका स्ववचनविरोध नहीं है ? (७)

"प्रमाण अर्थवाला होता है" - ऐसा विधान नैयायिक करते है। उसमें **"अर्थवत्"** की व्याख्या करते हुए कहते है कि, प्रमाणज्ञान में अर्थ = पदार्थ सहकारीकारण होता है। इसलिए प्रमाण अर्थवाला कहा जाता है। इस अनुसार कहकर योगीप्रत्यक्ष में अतीत और अनागतपदार्थ को विषय कहते नैयायिको को पूर्वापरविरोध क्यों न हो ? क्योंकि अतीतादि पदार्थ प्रमाणज्ञान में सहाकारी कारण बन सकते नहीं है। इस प्रकार एक ओर अर्थकारणतावाद को कहना और दूसरी ओर योगीयों के प्रत्यक्ष को अतीत कि जो विनष्ट है तथा अनागत कि जो अनुत्पन्न है, वह पदार्थो को विषय करनेवाला कहना वह स्पष्ट रुप से पूर्वापरविरोध है।(८)

(अब नैयायिक स्मृति को अप्रमाणभूत मानते है। उसमें भी पूर्वापरविरोध बताया जाता है।) आप नैयायिक स्मृति को क्यों अप्रमाण मानते हो ? क्या वह गृहीतग्राही अर्थात् जाने हुए अर्थ को ग्रहण करता है इसलिए अप्रमाण मानते हो या वह पदार्थ से उत्पन्न होती न होने के कारण अप्रमाण मानते हो ? **"यदि स्मृति गृहीतग्राहि होने से अप्रमाण है।"** वैसा कहोंगे तो वह उचित नहीं है। क्योंकि धारावाहिज्ञान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(कि जिनको आप प्रमाण मानते हो वह भी) अप्रमाण बन जाने की आपत्ति आयेगी। **"यह घट है, यह घट है"**, ऐसे गृहीतग्राहि धारावाहिज्ञानो को नैयायिक और वैशेषिक अप्रमाणभूत मानते नहीं है। प्रमाणभूत ही मानते है।

यदि पदार्थ से उत्पन्न न होने के कारण स्मृति अप्रमाणभूत हो, तो अतीतादिविषयक अनुमान भी पदार्थ से उत्पन्न होता न होने से अप्रमाण बन जायेगा। (अर्थात् अतीत और अनागत पदार्थो का अनुमान भी अप्रमाण हो जायेगा। अतीत और अनागत पदार्थ विनष्ट और अनुत्पन्न होने से असत् है। इसलिए उससे अनुमान की उत्पत्ति नहि हो सकती फिर भी) नैयायिक और वैशेषिक आगम की तरह अनुमान को भी त्रिकालविषयक मानते है। धूम से वर्तमानकालीन अग्नि का अनुमान होता है। मेघोन्नति से विशिष्टघन घिरे हुए बादलो को देखकर होनेवाली बारीश का अनुमान किया जाता है - अनागतवृष्टि का अनुमान किया जाता है। नदी की बाढ को देखकर अतीतवृष्टि का अनुमान किया जाता है। इसलिए इस अनुसार से धारावाहिज्ञानो और अनुमान के साथ स्मृति की समानता होने पर भी नैयायिक और वैशेषिक स्मृति को अप्रमाणभूत मानते है और धारावाहिज्ञानादि को प्रमाणभूत मानते है, वह पूर्वापरविरोध है। (९)

ईश्वरस्य सर्वार्थविषयं प्रत्यक्षं किमिन्द्रियार्थसंनिकर्षनिरपेक्षमिष्यत आहोस्विदिन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नम् ? यदीन्द्रियार्थसन्निकर्षनिरपेक्षं तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमित्यत्र सूत्रे संनिकर्षोपादानं निरर्थकं भवेत्, ईश्वरप्रत्यक्षस्य संनिकर्षं विनापि भावात्। अथेश्वरप्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नमेवाभिप्रेयत इति चेत् ? उच्यते, नहीश्वरसंबन्धिमनसोऽणुपरिमाणत्वाद्युगपत्सर्वार्थैः संयोगो भवेत्, ततश्चैकमर्थं स यदा वेत्ति तदा नापरान् सतोऽप्यर्थान् ततोऽस्मदादिवन्न तस्य कदापि सर्वज्ञता, युगपत्संनिकर्षासंभवेन सर्वार्थानां युगपदवेदनात्। अथ सर्वार्थानां क्रमेण संवेदनात् सर्वज्ञ इति चेत् ? न, बहुना कालेन सर्वार्थसंवेदनस्य खण्डपरशाविवास्मदादिष्वपि संभवात्ते(अस्मदादयो)ऽपि सर्वज्ञाः प्रसजेयुः। अपि च अतीतानागतानामर्थानां विनष्टानुत्पन्नत्वादेव मनसा संनिकर्षो न भवेत्, सतामेव संयोगसंभवात्तेषां च तदानीमसत्त्वात्, ततः कथं महेश्वरस्य ज्ञानमतीतानागतार्थग्राहकं स्यात्, सर्वार्थग्राहकं च तज्ज्ञानमिष्यते ततः पूर्वापरो विरोधः सुबोधः। एवं योगिनामपि सर्वार्थसंवेदनं दुर्धरविरोधरुद्धमवबोद्धव्यम् १०। कार्यद्रव्ये प्रागुत्पन्ने सति तस्य रूपं पश्चादुत्पद्यते निराश्रयस्य रूपस्य गुणत्वात्प्रागनुत्पादनेति पूर्वमुक्त्वा पश्चाच्च कार्यद्रव्ये विनष्टे तद्रूपं विनश्यतीत्युच्यमानं पूर्वापरविरुद्धं भवेत्, यत्रोऽत्र रूपं कार्ये विनष्टे सति निराश्रयं स्थितं सत् पश्चाद्विनश्येदिति ।।११।।

व्याख्या का भावानुवाद :

(नैयायिक और वैशेषिक ईश्वर को जगत के सर्वपदार्थो के ज्ञाता मानते है।) ईश्वर का वह सर्वार्थविषयक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्ष क्या इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से निरपेक्ष मानते हो या इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ मानते हो ? (अर्थात् आप लोग ईश्वर के प्रत्यक्ष को इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से निरपेक्ष मानते हो तो (प्रत्यक्ष का जो लक्षण आपने न्यायसूत्र में दिया है, वह) **"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्"** इस सूत्र में **"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं"** विशेषण निरर्थक ही है। क्योंकि ईश्वरप्रत्यक्ष सन्निकर्ष के बिना भी उत्पन्न होता है।

यदि आप लोग ईश्वर के प्रत्यक्ष को इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ मानते हो तो वह भी योग्य नहीं है। क्योंकि ईश्वर को इन्द्रियां आप मानते नहीं है और ईश्वरसंबंधी मन तो अणुपरिमाणवाला होने से उसका एकसाथ सर्वपदार्थों के साथ संयोग होगा नहीं। इसलिए एक ही पदार्थ को वह ईश्वर जब जानता है, तब दूसरे पदार्थ विद्यमान होने पर भी जाने नहीं जा सकेंगे। इसलिए आपका ईश्वर भी हमारी तरह कभी भी सर्वज्ञ नहि बनेगा। (क्योंकि मन का एकसाथ सर्वपदार्थों के साथ सन्निकर्ष होना असंभवित होने से सर्वपदार्थों का एकसाथ ज्ञान होगा नहि। परंतु जो पदार्थ के साथ सन्निकर्ष होगा, उसका ज्ञान होगा और दूसरे पदार्थ विद्यमान होने पर भी सन्निकर्ष न होने के कारण दूसरे पदार्थों का ज्ञान होगा नहि। इसलिए उसको सर्वपदार्थों का ज्ञान न होने के कारण हमारी तरह सर्वज्ञ नहीं बन सकेगा।

यदि आप **"ईश्वर क्रम से सर्वपदार्थों के साथ सन्निकर्ष करके सर्वेपदार्थों को जानेंगे तब सर्वज्ञ बनेंगे।"** ऐसा कहोंगे तो बहोत काल के द्वारा ईश्वर जैसे सर्वज्ञ बन गये, वैसे हम भी सर्वपदार्थों का क्रम से सन्निकर्ष करेंगे तब सर्वज्ञ बन जायेंगे। अर्थात् क्रम से जैसे महेश्वर को जगत के सभी पदार्थों का ज्ञान होता है, वैसे हमको भी क्रम से जगत के तमाम पदार्थों का ज्ञान हो जायेगा। (शायद मान ले कि वर्तमानकालीन तमाम पदार्थों को ईश्वर किसीभी तरह से जान भी ले, तो भी) अतीतकालिन पदार्थों का नाश हो गया होने से तथा अनागतकालिन पदार्थ उत्पन्न हुए न होने से मन के साथ सन्निकर्ष को नहीं पा सकते है। अर्थात् अतीत-अनागत संबंधी पदार्थों का मन के साथ सन्निकर्ष हो सकता नहीं है। क्योंकि मन का संयोग विद्यमान (वर्तमानकालीन) पदार्थों के साथ ही संभवित होता है और वर्तमानकाल में तो अतीत-अनागतकालीन पदार्थों का अभाव है। इसलिए महेश्वर का ज्ञान किस तरह से अतीत - अनागतकालीन पदार्थों का ग्राहक बन सकता है ?

इस अनुसार से एक ओर महेश्वर को सर्वज्ञ मानना और दूसरी ओर उसके ज्ञान को सन्निकर्षज मानना, वह परस्पर विरुद्ध है।

इसी ही तरह से अन्य योगीयों का सर्वार्थसंवेदन भी दुर्धरविरोध से घिरा हुआ ही जानना। अर्थात् योगीयों का ज्ञान भी सन्निकर्षज होगा, तो वे सर्वज्ञ हो नहीं सकेंगे। (१०)

"कार्यद्रव्य पहले उत्पन्न होने पर (अर्थात् कार्यद्रव्य पहले उत्पन्न हो और) उस कार्यद्रव्य का रुप बाद में उत्पन्न होता है। (अर्थात् कार्यद्रव्य जिस क्षण में उत्पन्न होगा, उसके बाद की क्षण में रुप उत्पन्न होता है।) क्योंकि रुपादि निराश्रय = निराधार रह नहीं सकते है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रुपादि गुण होने से किसी द्रव्य के आश्रय में ही रह सकते है और इसलिए द्रव्य की उत्पत्ति से पहले उसकी उत्पत्ति हो सकती नहीं है ।" ऐसा कहकर पीछे से **"कार्यद्रव्य का विनाश होने के बाद द्रव्य का रुप नाश होता है।"** ऐसा कहते नैयायिकोको पूर्वापरविरोध आता है। क्योंकि नैयायिको ने पहले कहा कि, गुण आधारद्रव्य के बिना रह सकता नहीं है और बाद में कहा कि कार्यद्रव्य का नाश होने से रुप का नाश होता है। उससे वह सिद्ध हुआ कि कार्यद्रव्य का विनाश होने पर भी रुप निराश्रय रहकर बाद में विनाश पायेगा। अर्थात् कार्यद्रव्य का नाश होने के बाद द्वितीयक्षण में रुपादि का नाश होगा, ऐसा मानते है। इसलिए नैयायिक एक ओर द्रव्य की उत्पत्ति के समय में रुपादि में निराधारता न आये, इसलिए उसकी उत्पत्ति कार्यद्रव्य की उत्पत्ति की दूसरी क्षण में मानी और दूसरी ओर कार्यद्रव्य के विनाश के समय रुपादि को कार्यद्रव्य के नाश के बाद की क्षण में नाश पाता कहकर (कम से कम एक क्षण) रुपादि गुण की निराधारता का विधान किया, वह सचमुच पूर्वापरविरोध है।

साङ्ख्यस्य त्वेवं स्ववचनविरोधः । प्रकृतिर्नित्यैका निरवयया निष्क्रियाऽव्यक्ता चेष्यते । सैवानित्यादिभिर्महदादिविकारैः परिणमत इति चाभिधीयते, तच्च पूर्वापरतोऽसंबद्धम् १ । अर्थाध्यवसायस्य बुद्धिव्यापारत्वाच्चेतनाविषयपरिच्छेदरहितार्थं न बुध्यत इत्येतत्सर्वलोक-प्रतीतिविरुद्धम् २ । बुद्धिर्महदाख्या जडा न किमपि चेतयत इत्यपि स्वपरप्रतीतिविरुद्धं ३ । आकाशादिभूतपञ्चकं स्वरादितन्मात्रेभ्यः सूक्ष्मसंज्ञेभ्य उत्पन्नं यदुच्यते तदपि नित्यैकान्तवादे पूर्वापरविरुद्धं कथं श्रद्धेयम् ४ । यथा पुरुषस्य कूटस्थनित्यत्वान्न विकृतिर्भवति नापि बन्धमोक्षौ तथा प्रकृतेरपि न ते संभवन्ति कूटस्थनित्यत्वादेव, कूटस्थनित्यं चैकस्वभावमिष्यते ततो ये प्रकृतेर्विकृतिर्बन्धमोक्षौ चाभ्युपगम्यन्ते परैः, ते नित्यत्वं च परस्परविरुद्धानि ५ ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

सांख्यो के मत में स्ववचनविरोध इस अनुसार से है - सांख्य एक ओर प्रकृति को नित्य, एक, निरवयव, निष्क्रिय और अव्यक्त कहते है और दूसरी ओर उसी प्रकृत्ति का अनित्य, अनेक सावयव, सक्रिय और कार्यरुप महान अहंकार आदि रुप से परिणमन मानते है। वह सचमुच पूर्वापर से असंबद्ध वचन है। क्योंकि नित्यादिधर्मोवाली प्रकृति का अनित्यादिधर्मवाली महान् = बुद्धि आदि में परिणमन किस तरह से हो सकता है ? (१)

पदार्थ का निश्चय बुद्धि के व्यापार से होता होने से चैतन्य विषयपरिच्छेद से रहित है। अर्थात् चैतन्य पदार्थ का निश्चायक नहीं है, ऐसा कहना वह लोकप्रतीति और अनुभव से विरुद्ध है। कहने का मतलब यह है कि, सांख्य अर्थ के निश्चय को बुद्धि का धर्म मानते है तथा चैतन्य को बाह्य विषयो के परिज्ञान से शून्य मानते है-ये दोनो बातें लोकप्रतीति से विरुद्ध है। जगत में सभी लोग मानते है तथा अनुभव में आता चैतन्य ही मुख्यतया पदार्थो का परिज्ञाता है। (२)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महान्-बुद्धि जड है, ऐसा कहना भी प्रतीतिविरुद्ध है। बुद्धि तो स्व और पर दोनो का अनुभव करती है। इसलिए बुद्धि को जड मानना स्व-परप्रतीति विरुद्ध है। यदि बुद्धि जड और चेतनशून्य हो तो, उसके द्वारा स्व और पर का अनुभव हो नहीं सकेगा। (३)

''सूक्ष्मसंक्षक स्वरादितन्मात्राओं से आकाशादि पांच भूत की उत्पत्ति होती है'' - ऐसा जो सांख्यो के द्वारा कहा जाता है, वह भी नित्य एकांतवाद में पूर्वापरविरुद्ध होने से किस तरह से श्रद्धेय बन सकता है? कहने का मतलब यह है कि, सांख्य एक और मूलप्रकृति को नित्य मानते है और वैसे ही दूसरी ओर वे नित्यप्रकृति से महान - बुद्धि, बुद्धि में से अहंकार, अहंकार में से पांच तन्मात्रा और पांच तन्मात्रा में से पंचमहाभूत की उत्पत्ति मानते है। यह परस्परविरुद्ध है। क्योंकि नित्य मानने में उत्पत्ति तो हो सकती नहीं है। जैसे तुम्हारे मतमें पुरुष कूटस्थनित्य होने से पुरुष की विकृति होती नहीं है। अर्थात् पुरुष में से विकार उत्पन्न होते नहीं है। पुरुषका बंध-मोक्ष होता नहीं है। उस अनुसार से प्रकृति में से भी महादादि विकार उत्पन्न ही नहीं होने चाहिए और प्रकृति का बंध-मोक्ष भी नहीं होना चाहिए। क्योंकि प्रकृति भी कूटस्थनित्य ही है। सदा एक स्वरुप में रहनेवाला पदार्थ कूटस्थ नित्य कहा जाता है। इसलिए प्रकृति को कूटस्थ नित्य भी मानना और उसकी विकृति और बंध-मोक्ष भी मानना वह परस्परविरुद्ध है। (४-५)

मीमांसकस्य पुनरेवं स्वमतविरोधः । [G-39/1]न हिंस्यात्सर्वभूतानि [ ] **इति** न वै हिंस्रो भवेद् [ ] **इति चाभिधाय** महोक्षं वा महोजं वा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेद् **[याज्ञ० स्मृ० १९९] इति जल्पतो वेदस्य कथं न पूर्वापरविरोधः । तथा** "न हिंस्यात्सर्वभूतानि" [ ] **इति प्रथममुक्त्वा पश्चात्तदागमे पठितमेवम् ।** "षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ।।१।।" [ ] **तथा** "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" **[ऐतरेय आ० ६/१३]** "सप्तदश प्राजापत्यान्पशूनालभेत" **[तैति० सं० १/४] इत्यादि वचनानि कथमिव न पूर्वापरविरोधमनुरुध्यन्ते ? १। तथानृतभाषणं प्रथमं निषिध्य पश्चादूचे ब्राह्मणार्थेऽनृतं ब्रूयादित्यादि । तथा** "न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले । प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ।।२।।" **[वसि० धर्म० १६/३६] तथाऽदत्तादानमनेकधा निरस्य पश्चादुक्तम् । यद्यपि** [G-40]**ब्राह्मणो हठेन परकीयमादत्ते बलेन वा, तथापि तस्य नादत्तादानं, यतः सर्वमिदं ब्राह्मणेभ्यो दत्तं ब्राह्मणानां तु दौर्बल्याद्वृषलाः परिभुञ्जते, तस्मादपहरन् ब्राह्मणः स्वमादत्ते स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददातीति ३ ।** [G-41]**तथाऽपुत्रस्य** गतिर्नास्तीति **लपित्वोक्तम्** "अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् । दिवंगतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ।।१।।" **इत्यादि ।। तथा** "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।।१।।" **[मनु० ५/५६] इति स्मृतिगते श्लोके । यदि प्रवृत्तिर्निर्दोषा, तदा**

(G-39/1-40-41) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कथं ततो निवृत्तिस्तु महाफलेति व्याहतमेतत् ४ । वेदविहिता हिंसा धर्महेतुरित्यत्र प्रकट एव स्ववचनविरोधः, तथाहि-धर्महेतुश्चेद्धिंसा कथं ? हिंसा चेद्धर्महेतुः कथम् ? न हि भवति माता च वन्ध्या चेति । धर्मस्य च लक्षणमिदं श्रूयते । "श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् । आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।१।।" [चाणक्य० १/७] इत्यादि अर्चिर्मार्गप्रपन्नैर्वेदान्तवादिभिर्गर्हिता चेयं हिंसा । "अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे । हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति ।।१।।" इति[G-42] ।। तथा भवान्तरं प्राप्तानां तृप्तये च श्राद्धादिविधानं तदप्यविचारितरमणीयम् । तथा च तद्यूथिनः पठन्ति । "मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् । तन्निर्वाणप्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम् इति ।।१।।" ५ ।। एवमन्यान्यपि पुराणोक्तानि पूर्वापरविरुद्धानि संदेहसमुच्चयशास्त्रादत्रावतार्य वक्तव्यानि । तथा नित्यपरोक्षज्ञानवादिनो भट्टाः स्वात्मनि क्रियाविरोधाज्ज्ञानं स्वप्रकाशकमभ्युपगच्छन्तः प्रदीपस्य परं(स्व)प्रकाशकमनङ्गीकुर्वन्तश्च कथं सद्भूतार्थभाषिणः । तथा ब्रह्माद्वैतवादिनोऽविद्याविवेकेन सन्मात्रं प्रत्यक्षात्प्रतियन्तोऽपि न निषेधकं प्रत्यक्षमिति ब्रुवाणाः कथं न विरुद्धवादिनः, अविद्यानिरासेन सन्मात्रस्य ग्रहणात् । तथा पूर्वोत्तरमीमांसावादिनः कथमपि देवमनङ्गीकुर्वाणा अपि सर्वेऽपि ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादीन्देवान्पूजयन्तो ध्यायन्तो वा दृश्यन्ते । तदपि पूर्वापरविरुद्धम् इत्यादि ।

व्याख्या का भावानुवाद : मीमांसको के मत में इस अनुसार से स्ववचनविरोध है।

वेद में एक स्थान पे **"किसी भी प्राणी की हिंसा करनी नहीं चाहिए । कभी भी हिंसक बनना नहीं ।"** ऐसा अहिंसकवाक्यो का विधान करके, दूसरे स्थान पे **"श्रोत्रिय ब्राह्मण के आतिथ्य के लिए सांढ या बडे बकरे का भी उपयोग करे"**-ऐसा कथन किया गया है। वह क्यों पूर्वापरविरोध न कहा जाये ? एक ओर हिंसकविधान करना और दूसरी ओर अहिंसकविधान करना वह परस्परविरुद्ध ही है।

उस अनुसार से ही **"किसी भी जीव की हिंसा मत करना ।"** ऐसा कहकर बाद में उनके शास्त्र में कहा कि अश्वमेघयज्ञ के मध्यमदिन में तीन कम ऐसे छः सौ = ५९७ पशुओ का वध करना चाहिए। **"प्रजापति यज्ञ संबंधी सत्रह पशुओ का वध करना चाहिए"** और **"अग्निषोम यज्ञसंबंधी पशुओ का वध करना चाहिए.."** इत्यादि वचन कहे गये है। तो किस तरह से पूर्वापरविरोध नहीं है ? (१)

इस तरह से प्रथम असत्यभाषण का निषेध करके बाद में **"ब्राह्मण के लिए असत्य बोलना चाहिए"** - इत्यादि तथा **"हे राजन्, मजाक में बोला जाता, स्त्रीओ के विलास में प्रयोजित किया जाता, विवाहकाल में प्रयोजित होता, कोई प्राण का नाश करने आये तब बोला जाता और कोई**

(G-42) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समस्तधन का हरण करने आये तब बोला जाता, ये पांच असत्य अपातक - पापरुप नहीं है।" ऐसा वेद में कहा गया है। यह भी पूर्वापरविरोध ही है। (२)

उसी अनुसार से अदत्तादान (चोरी) का अनेक प्रकार से निषेध करके बाद में कहा जाता है कि **"यद्यपि ब्राह्मण हठ से या छल से दूसरो का ग्रहण करते है-चुरा लेते है, तो भी ब्राह्मण को अदत्तादान नहीं है। क्योंकि संसार की समस्तसंपत्ति ब्राह्मणो को दी हुई है। परंतु ब्राह्मणो की निर्बलता होने से शुद्रो उस संपत्ति को भुगतते है। इसलिए अपनी ही उस संपत्ति का ग्रहण करता हुआ ब्राह्मण अपना ही ग्रहण करते है और अपना ही भुगतते है। अपने में ही रहते है और अपना ही देते है।..."** इस प्रकार यहाँ भी वेद में परस्परविरोधी वचन है। (३)

उसी अनुसार से **"अपुत्रीयों गति होती नहीं है-सद्गति होती नहीं है"**-ऐसा कहकर बाद में कहा जाता है कि **"हजारो ब्रह्मचारी विप्रकुमार अपनी कुलपरंपरा को चलाये बिना भी स्वर्ग में गये है"**- इस अनुसार से परस्परविरोध है। तथा **"मांसभक्षण में, मद्यपान में और मैथुनसेवन में दोष नहीं है। उसमें तो जीवो की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही होती है, फिर भी उन तीनो को त्याग महाफल को देता है"** - इस स्मृति के श्लोक में स्पष्टतया विरोधी बातें की है। यदि उन तीनो में की जाती प्रवृत्ति निर्दोष है। तो उन तीनो की निवृत्ति महाफल को किस तरह से दे सकती है ? इसलिए परस्पर विरुद्ध ही बात है। (४)

वेदविहित याज्ञिकहिंसा को धर्म कहना वह तो स्पष्ट रुप से स्ववचनविरोध है। यहि वह धर्म का कारण है, तो हिंसा किस तरह से होगी ? और यदि वह हिंसा है तो धर्म का कारण किस तरह से होगी ? **"माता भी हो और वन्ध्या (बांज) भी हो"** - यह बात तो असंभवित है। हिंसा तीनकाल में भी धर्म का कारण बनती नहीं है। शास्त्र में धर्म का (अहिंसात्मक) लक्षण बताया है - **"जो व्यवहार हमको प्रतिकूल लगता है। दुःखदायक लगता है। वैसा व्यवहार दूसरो के साथ नहिं करना चाहिए। यह सर्व धर्मो का सार है। वह धर्म सर्वस्व है। इसको अच्छी तरह से सुनके धारण करे।"** अर्चिमार्गि वेदांतीओने उस हिंसा की कठोर शब्दो मे निंदा करते हुए कहा है कि **"जो लोग पशुओ का वध करके यज्ञ करते है, ईश्वर की पूजा करते है, वे घोर अंधकार में डूबते है। हिंसा कभी भी धर्मरुप नहीं थी या कभी भी धर्मरुप नहीं होगी।"**

तथा परलोक में गये हुए मृतव्यक्तिओ की तृप्ति के लिए श्राद्ध आदि विधान करते है वह भी अविचारित रमणीय है। आपके ही पक्ष वाले कहते है कि.... **'यदि श्राद्ध मृतव्यक्तिओं की तृप्ति का कारण बनता हो, तो बुझा हुआ दीपक भी तेल डालने मात्र से जलने लगेगा।** (५)

इस अनुसार से अन्य भी पुराणो में कहे हुए पूर्वापर विरुद्ध वचन संदेहसमुच्चयग्रंथ से अवतरण करके यहाँ सोच लेना।

ज्ञान को नित्यपरोक्ष माननेवाले भाट्ट लोग (कुमारिल भट्ट के अनुयायी) "स्वात्मा में क्रिया का विरोध होने से ज्ञान को स्व-प्रकाशक मानते नहीं है, वे लोग दीपक को स्व-पर प्रकाशक देखते होने पर भी ज्ञान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को स्व-प्रकाशक मानते नहीं है। तो किस तरह से यथार्थवादि कहे जायेंगे ? (अर्थात् दीपक की स्व-पर प्रकाशकता की उपेक्षा करके, उससे सिद्ध होती ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता का निषेध करनेवाले वे लोग किस तरह से यथार्थवादि कहे जायेंगे ?) (कुमारिल भट्ट की मान्यता है कि **अयं घटः** ऐसा ज्ञान जब उत्पन्न होता है, तब ही ज्ञान के विषय घट में **"ज्ञातता"** नामके पदार्थ की उत्पत्ति होती है। **"ज्ञातो घटः"** यह प्रतीति ज्ञातता की साधक है। यह ज्ञातता ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय कराती है।)

ब्रह्माद्वैतवादी प्रत्यक्ष से अविद्यारहित सन्मात्रब्रह्म का साक्षात्कार करते है। परंतु प्रत्यक्ष को निषेधक = निषेध करनेवाला मानते नहीं है। जब प्रत्यक्ष अविद्या का निषेध करके सन्मात्र ब्रह्म का अनुभव कर रहा है, तब वह निषेधक तो अपनेआप सिद्ध हो जाता है। एक ओर प्रत्यक्ष से अविद्या का निषेध भी करना और दूसरी ओर प्रत्यक्ष को निषेधक न मानना, वह परस्पर विरुद्ध है।

इसी तरह से पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसावाले शास्त्रो में किसी भी ईश्वर का स्वीकार नहि किया गया है। परंतु वे सभी भी व्यवहार में ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सभी देवो की पूजा-उपासना करते है तथा उन देवो का ध्यान करते है। यह भी पूर्वापरविरोध है।

अथवा ये ये बौद्धादिदर्शनेषु स्याद्वादाभ्युपगमाः प्राचीनश्लोकव्याख्यायां प्रदर्शिताः ते सर्वेऽपि पूर्वापरविरुद्धतयात्रापि सर्वदर्शनेषु यथास्वं दर्शयितव्याः, यतो बौद्धादय उक्तप्रकारेण स्याद्वादं स्वीकुर्वन्तोऽपि तन्निरासाय च युक्तीः स्फोरयन्तः [1]पूर्वापरविरुद्धवादिनः कथं न भवेयुः । कियन्तो वा दधिमाषभोजनात्कृष्णा विविच्यन्त इत्युपरम्यते ।। चार्वाकस्तु वराक आत्मतदाश्रितधर्माधर्मानेकान्तस्वर्गापवर्गादिकं सर्वं कुग्रहग्रहिलतयैवाप्रतिपद्यमानोऽवज्ञोपहत एव कर्तव्यः, न पुनस्तं प्रत्यनेकान्ताभ्युपगमोपन्यासेन पूर्वापरोक्तविरोधप्रकाशनेन वा किमपि प्रयोजनं, सर्वस्य तदुक्तस्य सर्वलोकशास्त्रैः सह विरुद्धत्वात् । मूर्तेभ्यो भूतेभ्योऽमूर्तचैतन्योत्पादस्य विरुद्धत्वाद्भूतेभ्य उत्पद्यमानस्यान्यत आगच्छतो वा चैतन्यस्यादर्शनात्, आत्मवच्चैतन्यस्याप्यैन्द्रियकप्रत्यक्षाविषयत्वात् इत्यादि, तदेवं बौद्धादीनामन्येषां सर्वेषामागमाः प्रत्युत स्वप्रणेतॄणामसर्वज्ञत्वमेव साधयन्ति, न पुनः सर्वज्ञमूलतां, पूर्वापरविरुद्धार्थवचनोपेतत्वात् । जैनमतं तु सर्वं पूर्वापरविरोधाभावात्स्वस्य सर्वज्ञमूलतामेवावेदयतीति स्थितम् ।।

अथानुक्तमपि किमपि लिख्यते । प्राप्यकारीण्येवेन्द्रियाणीति कणभक्षाक्षपादमीमांसकसांख्याः समाख्यान्ति । चक्षुःश्रोत्रेतराणि तथेति ताथागताः । चक्षुर्वर्जानीति स्याद्वादावदातहृदयाः । श्वेताम्बराणां संमतिर्नयचक्रवालः स्याद्वादरत्नाकरो रत्नाकरावतारिका तत्त्वार्थः प्रमाणवार्त्तिकं प्रमाणमीमांसान्यायावतारोऽनेकान्तजयपताकानेकान्तप्रवेशो धर्मसंग्रहिणी प्रमेयरत्नकोश-

१. पूर्वापराविरुद्धवादिनः कथं भवेयुः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्चेत्येवमादयोऽनेके तर्कग्रन्थाः । दिगम्बराणां तु प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्र आप्त-परीक्षाष्टसहस्री सिद्धान्तसारो न्यायविनिश्चयटीका चैत्यादयः ।।९८।।

इति श्रीतपोगणनभोङ्गणदिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरिपदपद्मोपजीविश्रीगुणरत्नसूरिविर-चिततायां तर्करहस्यदीपिकायां षड्दर्शनसमुच्चयटीकायां जैनमतस्वरूपनिर्णयो नाम चतुर्थोऽधिकारः ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

पहले उस उस दर्शन की उस उस मान्यता का अनुसरण करते श्लोको की व्याख्या में, जो जो दर्शनकारोने अपनी मान्यता में स्याद्वाद का स्वीकार किया है वह बताया था। वे सभी भी पूर्वोपरविरुद्धतया सर्वदर्शनो में यहाँ यथायोग्य बताना चाहिए। क्योंकि बौद्धादि पहले कहे हुए प्रकार से स्याद्वाद को मानते होने पर भी उस स्याद्वाद सिद्धांत के खंडन के लिए अनेक युक्तियां-कुतर्क देते है, तब उनको पूर्वापर विरुद्धवादि क्यों न कहा जाये ? अर्थात् एक ओर अपने शास्त्रव्यवहार में स्याद्वाद का स्वीकार करना और दूसरी ओर स्याद्वाद का खंडन करना वह परस्पर विरुद्ध है।

दहीं और ऊडद में से बने हुए भोजन में से काले उडद बीनने के समान कितने अन्य दर्शनो के दोषो का विवेचन करे। इसलिए यहाँ पूर्वापरविरोधरुप दोष को ढूंढने की प्रक्रिया के उपर विराम रखा जाता है।

चार्वाक तो बिचारा अवज्ञायोग्य है। चार्वाक आत्मा और आत्मा के आश्रय में रहे हुए धर्माधर्म, अनेकांत, स्वर्ग, अपवर्ग आदि सभी को मानता ही नहीं है। इसलिए उसकी अवज्ञा ही करने जैसी है। चार्वाक को अनेकांत का स्वीकार करने तथा उसके मत में पूर्वापर विरोध कहने का कोई भी प्रयोजन नहीं है। क्योंकि उसने कहीं हुई सभी बाते लोकप्रतीति तथा सर्वदर्शनो के शास्त्रो से विरुद्ध है। मूर्त ऐसे भूतो से अमूर्त चैतन्य की उत्पत्ति विरुद्ध है। चैतन्य भूतो से उत्पन्न होता या किसी जगह से आता दिखाई नहीं देता है। चैतन्य तो आत्मा का अपना धर्म है और जैसे आत्मा का इन्द्रियप्रत्यक्ष होता नहीं है परंतु मानसप्रत्यक्ष होता है। उस तरह से चैतन्य का भी इन्द्रियप्रत्यक्ष होता नहीं है, मानसप्रत्यक्ष होता है।

इस अनुसार से सभी अन्य बौद्धादिदर्शनकारो के आगम पूर्वापरविरुद्ध वचनो से व्याप्त होने के कारण अपने ग्रंथप्रणेता की असर्वज्ञता को सिद्ध करते है। सर्वज्ञमूलता को सिद्ध करते नहीं है। परन्तु जैन दर्शन में सभी पूर्वापरविरोधो का अभाव होने से जैनागमो की सर्वज्ञमूलता को ही प्रकट करते है। इसलिए जैन मत ही सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित है, तथा सत्य है वह निश्चित होता है।

श्लोक में=मूलग्रंथ में नहि कहा हुआ भी कुछ कहा जाता है - वैशेषिक, नैयायिक मीमांसक और सांख्य चक्षु आदि सर्व इन्द्रियो को प्राप्यकारी=पदार्थो को प्राप्त करके, उससे सन्निकर्ष करके ज्ञान उत्पन्न करनेवाली मानते है.. बौद्ध चक्षु और श्रोत्र से अतिरिक्त इन्द्रियो को प्राप्यकारी कहते है। स्याद्वादि जैन चक्षु से अतिरिक्त सर्व इन्द्रियो को प्राप्यकारी मानते है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्वेताम्बरो के संमतितर्क, नयचक्रवाल, स्याद्वादरत्नाकर, रत्नाकरावतारिका, तत्त्वार्थप्रमाणवार्तिक, प्रमाणमीमांसा, न्यायावतार, अनेकांतजयपताका, अनेकांतप्रवेश, धर्मसंग्रहिणी, प्रमेयरत्नकोश इत्यादि अनेक तर्कग्रंथ है । दिगंबरो के प्रमेयकमलमार्तंड, न्यायकुमुदचंद्र, आप्तपरीक्षा, अष्टसहस्री, सिद्धांतसार तथा न्यायविनिश्चियटीका इत्यादि तर्कग्रंथ है। (५८) ॥

इस अनुसार से श्रीतपागच्छरुपी आकाशमंडल में सूर्य जैसे तेजस्वी पू.श्री देवसूरीश्वरजी महाराजा के चरणसेवी श्रीगुणरत्नसूरीश्वरजी महाराजा विरचित तर्करहस्यदीपिका नाम की षड्दर्शन समुच्चय ग्रंथ की टीका में जैनमत के स्वरुप का निर्णायक चौथा अधिकार भावानुवाद सहित सानंद पूर्ण होता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षड्दर्शन समुच्चय

भाग-२

वैशेषिक दर्शन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

।। अर्हम् ।।

।। अथ पञ्चमोऽधिकारः ।। वैशेषिकदर्शन ।।

अथ वैशेषिकमतविवक्षया प्राह - अब वैशेषिकमत का निरुपण करते है -

(मू. श्लो.) देवताविषयो भेदो नास्ति नैयायिकैः समम् ।
वैशेषिकाणां तत्त्वे तु विद्यतेऽसौ निदर्श्यते ।।५९।।

श्लोकार्थ : वैशेषिको को देवता के स्वरुप के विषय में नैयायिको के साथ मतभेद नहीं है। परन्तु तत्त्व के विषय में मतभेद है, वह बताया जाता है।

व्याख्या-अस्य लिङ्गवेषाचारदेवादिनैयायिकप्रस्तावे प्रसङ्गेन प्रागेव प्रोचानम् । मुनिविशेषस्यकापोतीं-वृत्तिमनुष्ठितवतो रथ्यानिपतितांस्तण्डुलकणानादायादाय कृताहारस्याहारनिमित्तात्कणाद इति संज्ञा अजनि । तस्य कणादस्य मुनेः पुरः शिवेनोलूकरूपेण मतमेतत्प्रकाशितम् । तत औलूक्यं प्रोच्यते । पशुपतिभक्तत्वेन पाशुपतं चोच्यते । कणादस्य शिष्यत्वेन वैशेषिकाः काणादा भण्यन्ते । आचार्यस्य च प्रागभिधानीपरिकर इति नाम समाम्नायते ।।

अथ प्रस्तुतं प्रस्तूयते । देव एव देवता तद्विषयो भेदो-विशेषो वैशेषिकाणां नैयायिकैः समं नास्ति एतेन यादृग्विशेषण ईश्वरो देवो नैयायिकैरभिप्रेतः, तादृग्विशेषणः स एव वैशेषिकाणामपि देव इत्यर्थः । तत्त्वे तु तत्त्वविषये पुनर्विद्यते भेदः । असौ तत्त्वविषयो भेदो निदर्श्यते-प्रदर्श्यते ।।५९।।

व्याख्या का भावानुवाद :

वैशेषिको के लिंग, वेष, आचार तथा देवता आदि का स्वरुप नैयायिकमत के निरुपण के समय प्रसंग से बता दिया है। एक विशिष्ट मुनि कापोतीवृत्ति से मार्ग में पडे हुए चावल के कणो को ग्रहण कर करके उदरपूरण करते थे। इसलिए उनकी कणाद = कण को आद = खानेवाले की संज्ञा थी। अर्थात् आहार के निमित्त से मार्ग में पडे हुए चावल के दानो को ग्रहण करके उदरपूरण करते वे मुनिविशेष की कणाद संज्ञा थी। अर्थात् लोग उनको कणाद मुनि कहते थे। (जिस अनुसार से कबूतर रास्ते में पडे हुए अनाज के दानो को चोंच सें बीन-बीन के आजीविका चलाता है। उसी तरह से गृहस्थ के पास से याचना किये बिना रास्ते में पडे हुए दाने के भोजन से आजीविका चलाना वह कापोतीवृत्ति कही जाती है। इस कणाद मुनि के आगे शिव के द्वारा उलूक रुप धारण करके इस वैशेषिक मत का प्रारंभ में निरुपण किया गया था। इसलिए इस मत को औलुक्य दर्शन भी कहा जाता है। वैशेषिक मतानुयायी पशुपति = शिव के भक्त होने से यह दर्शन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाशुपतदर्शन भी कहा जाता है। (उस कणाद ऋषिने सर्वप्रथम कणादसूत्र की रचना की थी।) वैशेषिकों कणादऋषि के ही शिष्य होने के कारण काणाद भी कहे जाते है। आचार्य का "प्रागभिधानीपरिकर" यह नाम कहा जाता है।

अब श्लोक की प्रस्तुत बात को कहा जाता है - देव को ही देवता कहा जाता है। देवताविषयक भेद वैशेषिको को नैयायिको के साथ नहीं है। इसलिए जिस प्रकार से नैयायिक नित्य, सर्वज्ञ, सृष्टिकर्ता आदि रुप से ईश्वर को मानते है। वैसे ही प्रकार के ईश्वर को वैशेषिक देव के रुप में मानते है। इसलिए देवता के विषय में कोई मतभेद नहीं है। परन्तु तत्त्व के विषय में मतभेद है। वे तत्त्वविषयक मतभेद बताये जाते है। ॥५९॥

तमेवाह - वह तत्त्वविषयक भेद ही अब बताया जाता है -

(मू. श्लो.) [G-43]**द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं च चतुर्थकम् ।**
विशेषसमवायौ च तत्त्वषट्कं तु तन्मते ॥६०॥

श्लोकार्थ : वैशेषिकमत में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय वे छः तत्त्व है।

व्याख्या-द्रव्यं प्रथमं तत्त्वं, गुणो द्वितीयम्, तथाशब्दो भेदान्तरसूचने कर्म तृतीयं, सामान्यं च चतुर्थमेव चतुर्थकम् स्वार्थे कप्रत्ययः, विशेषसमवायौ च पञ्चमषष्ठे तत्त्वे, उभयत्र चकारौ समुच्चयार्थौ । तुशब्दस्यावधारणार्थत्वे तत्त्वषट्कमेव न न्यूनाधिकं षडेव पदार्था इत्यर्थः । तन्मते वैशेषिकमते, अत्र पदार्थषट्के द्रव्याणि गुणाश्च केचिन्नित्या एव केचित्त्वनित्याः, कर्मानित्यमेव, सामान्यविशेषसमवायास्तु नित्या एवेति । केचित्त्वभावं सप्तमं पदार्थमाहुः[G-44] **॥६०॥**

व्याख्या का भावानुवाद :

वैशेषिकमत में पहला तत्त्व द्रव्य है। दूसरा तत्त्व गुण है। श्लोक में **"तथा"** शब्द भेदान्तरसूचक है। तीसरा तत्त्व कर्म है। चौथा तत्त्व सामान्य है। यहाँ स्वार्थ में **"क"** प्रत्यय लगकर **"चतुर्थकम्"** बना हुआ है। पांचवा और छट्ठा तत्त्व विशेष और समवाय है। उभयत्र **"च"** कार समुच्चयार्थक है। श्लोक में **"तु"** अवधारणार्थक है। इसलिए वैशेषिकमत में छः ही तत्त्व है। उससे न्यून या अधिक नहीं है। अर्थात् पांच या सात नहीं है। वैशेषिकमत में छः पदार्थो में से द्रव्यो और गुणो में कुछ नित्य है और कुछ अनित्य है। कर्म अनित्य है। परन्तु सामान्य, विशेष और समवाय नित्य ही है। कोई आचार्य सातवें पदार्थ अभाव को भी मानते है। ॥६०॥

अथ द्रव्यभेदानाह - अब द्रव्य के भेदो को कहते है।

(G-43-44) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(मू. श्लो.) तत्र द्रव्यं नवधा[G-45] भूजलतेजोनिलान्तरिक्षाणि ।
कालदिगात्ममनांसि च गुणः पुनः पञ्चविंशतिधा ।।६१।।

श्लोकार्थ : वे छः पदार्थो में द्रव्य नौ प्रकार के है। (१) पृथ्वी, (२) पानी, (३) अग्नि, (४) वायु, (५) आकाश, (६) काल, (७) दिशा, (८) आत्मा, (९) मन। तथा गुण के २५ प्रकार है। ॥६२॥

व्याख्या-तत्र-तेषु षट्सु पदार्थेषु द्रव्यं नवधा, व्यवच्छेदफलं वाक्यमिति न्यायान्नवधैव न तु न्यूनाधिकप्रकारम् । अत्र द्रव्यमिति जात्यपेक्षमेकवचनम्, एवं प्रागग्रे च ज्ञेयम्, ततो नवैव द्रव्याणीत्यर्थः । एतेन [G-46]छायातमसी आलोकाभावरूपत्वान्न द्रव्ये भवत इत्युक्तम् । भूः [G-47]पृथिवी, काठिन्यलक्षणा मृत्पाषाणवनस्पतिरूपा । [G-48]जलमापः, तच्च सरित्समुद्रकरकादिगतम् । [G-49]तेजोऽग्निः, तच्च चतुर्धा, भौमं काष्ठेन्धनप्रभवं, दिव्यं सूर्यविद्युदादिजं, आहारपरिणामहेतुरौदर्यं, आकरजं च सुवर्णादि । [G-50]अनिलोवायुः । एतानि चत्वार्यनेकविधानि । अन्तरिक्षमाकाशं, तच्चैकं नित्यममूर्तं विभु च द्रव्यम् । विभुशब्देन विश्वव्यापकम् । इदं च शब्देन लिङ्गेनावगम्यते, आकाशगुणत्वाच्छब्दस्य[G-51] । द्वन्द्वे भूजलतेजोऽनिलान्तरिक्षाणि । [G-52]कालःपरापरव्यतिकरयौगपद्ययौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गो द्रव्यम्, तथाहि-परः पिताऽपरः पुत्रो युगपदयुगपद्वा चिरं क्षिप्रं कृतं करिष्यते वेति यत्परापरादिज्ञानंतदादित्यादिक्रियाद्रव्यव्यतिरिक्तपदार्थनिबन्धनं, तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्, घटादिप्रत्ययवत् । योऽस्य हेतुः स पारिशेष्यात्कालः स चैको नित्योऽमूर्तो विभुर्द्रव्यं च । [G-53]दिगपि द्रव्यमेका नित्याऽमूर्ता विभुश्च (विभ्वीच) । मूर्तेष्वेव हि द्रव्येषु मूर्तं द्रव्यमवधिकृत्वेदमस्मात्पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेनोत्तरेण पूर्वदक्षिणेन दक्षिणापरेणापरोत्तरेणोत्तरपूर्वेणाधस्तादुपरिष्टादित्यमी दशप्रत्यया यतो भवन्ति, सा दिगिति । एतस्याश्चैकत्वेऽपि प्राच्यादिभेदेन नानात्वं कार्यविशेषाद्व्यवस्थितम् । [G-54]आत्मा जीवोऽनेको नित्योऽमूर्तो विभुर्द्रव्यं च ।

व्याख्या का भावानुवाद :

तथा छः पदार्थो में द्रव्य नौ प्रकार का है, "प्रत्येकवाक्य व्यवच्छेदफलक = निश्चयात्मक होता है।" इस न्याय से द्रव्य की संख्या नौ ही है। न्युनाधिक नहीं है। अर्थात् आठ या दस नहीं है। द्रव्य नौ होने पर भी "**द्रव्यम्**" ऐसा एकवचन का प्रयोग द्रव्यत्व जाति की अपेक्षा से समजना। इस अनुसार से पूर्व के श्लोक में तथा आगे जहाँ एकवचनांत द्रव्य शब्द का प्रयोग हो तो द्रव्यत्व जाति की अपेक्षा से समज लेना। इसलिए द्रव्य तो नौ ही है। इस तरह से द्रव्यो की संख्या नौ नियत हो जाने से छाया और अंधकार स्वतंत्रद्रव्य नहीं

(G-45-46-47-48-49-50-51-52-53-54) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। छाया और अंधकार तेजोद्रव्य के अभावरुप है। इसलिए द्रव्यरुप नहीं है। भू = पृथ्वी। पृथ्वी कठोर होती है। वह मिट्टी, पाषाण, वनस्पतिरुप में होती है। जल = पानी, वह पानी सरोवर, समुद्र, ओस आदि अनेकरुपो में होता है। तेज = अग्नि। उसके चार प्रकार है। (१) काष्ठ के लकडे (इन्धन) से उत्पन्न हुआ **भौम** जाति का, (२) सूर्य और बिजली आदि का **दिव्य** जाति का, (३) भोजन आदि के पाचन में कारणभूत **औदर्य**, (४) खान में से उत्पन्न होते सुवर्णादि **आकरज**।

अनिल = वायु। इस पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु के अनेक प्रकार दिखाई देते है। अंतरिक्ष = आकाश। आकाश नित्य, एक, अमूर्त और विभु द्रव्य है। विभु का अर्थ है विश्वव्यापक। आकाश शब्दरुपलिंग द्वारा अनुमेय है। क्योंकि शब्द आकाश का गुण है - ये पांच का द्वन्द्व समास हो के **"भूजलतेजोऽनिलान्तरिक्षाणि"** यह पद बना हुआ है।

पर और अपर प्रत्ययो के व्यतिकर से तथा इस कार्य साथ हुआ, उस कार्य क्रम से हुआ, यह कार्य जल्दी हुआ यह कार्य विलंब से हुआ, इत्यादि प्रत्ययरुपलिंग से काल द्रव्य की सिद्धि होती है। (कहने का मतलब यह है कि... दिशा, गुण, जाति की अपेक्षा से जो समीपवर्ती अधमजातीय मुर्खपुरुष में अपरप्रत्यय होता है, उसमें काल द्रव्य जवान विद्वान युवक की अपेक्षा से परप्रत्यय करवाता है। तथा जो दूरदेशवर्ती जवान विद्वानयुवक में दिशा आदि की अपेक्षा से परप्रत्यय होता है, उसमें काल द्रव्य अधमजातीय मूर्ख वृद्ध की अपेक्षा से अपरप्रत्यय करवाता है। इस तरह से वे पर-अपरप्रत्ययो की विपरीतता दिशा आदि से भिन्न कालद्रव्य की सत्ता सिद्ध करती है। तथा **"यह कार्य एक साथ हुआ, यह कार्य क्रम से हुआ, यह कार्य जल्दी हुआ, यह कार्य विलंब से हुआ"** इत्यादि काल संबंधी प्रत्यय भी कालद्रव्य की सिद्धि करते है।)

तथा पिता ज्येष्ठ है। पुत्र कनिष्ठ है। **"युगपत्, क्रम से, शीघ्र, या धीरे धीरे कार्य हुआ या होगा"** इत्यादि परापरादिप्रत्यय सूर्य की गति तथा अन्य द्रव्यो से उत्पन्न न होते हुए दूसरे किसी द्रव्य की अपेक्षा से होता है। क्योंकि सूर्यकी गति आदि में होनेवाले प्रत्ययो से यह प्रत्यय विलक्षण प्रकार का है। जैसे कि, घट से होनेवाला **"यह घट है"**, ऐसा प्रत्यय, सूर्य की गति आदि से भिन्न घट नाम के पदार्थ की अपेक्षा रखे, उसी तरह से परापरादिप्रत्यय भी सूर्य की गति आदि से भिन्न कालद्रव्य की अपेक्षा रखते है। इसलिए परापरादिप्रत्यय का जो निमित्त है, वह (अन्य सभी निमित्तो को निषेध होने से) पारिशेषन्याय से कालद्रव्य है। इस तरह से कालद्रव्य की सिद्धि होती है। वह एक, नित्य, अमूर्त और विभु द्रव्य है।

दिशा द्रव्य भी एक, नित्य, अमूर्त और विभु है। मूर्तद्रव्यो में परस्पर मूर्तद्रव्यो की अपेक्षा से यह उससे पूर्व में, दक्षिण में, पश्चिम में, उत्तर में, अग्निकोण में, नैऋत्य कोण में, वायव्य कोण में, इशानकोण में उपर और नीचे है। इस अनुसार से दस प्रत्यय जिससे होते है वह दिशा है। वह दिशा एक होने पर भी (मेरुपर्वत की चारो ओर परिभ्रमण करनेवाले सूर्य का जब भिन्न-भिन्न दिशा के प्रदेशो में रहनेवाले लोकपालो के द्वारा ग्रहण की हुई दिशा के प्रदेशो में संयोग होता है तब) कार्यविशेष से उसमें पूर्वपश्चिम आदि अनेक प्रकार का व्यवहार होने लगता है। आत्मा-जीव; नित्य-अमूर्त और विभु द्रव्य है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

[G-55]मनश्चित्तं, तच्च नित्यं द्रव्यमणुमात्रमनेकमाशुसंचारि प्रतिशरीरमेकं च । युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्, आत्मनो हि सर्वगतत्वाद् युगपदनेकेन्द्रियार्थसंनिधाने सत्यपि क्रमेणैव ज्ञानोत्पत्त्युपलम्भादनुमीयते । आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षेभ्यो व्यतिरिक्तं कारणान्तरं मनोऽस्तीति, यस्य संनिधानाज्ज्ञानानामुत्पत्तिरसंनिधानाच्चानुत्पत्तिरिति । तस्य च मनसो मृतशरीरान्निर्गतस्य मृतशरीरप्रत्यासन्नमदृष्टवशादुपजातक्रियैरणुभिर्द्व्यणुकादिक्रमेणारब्धमतिसूक्ष्ममनुपलब्धियोग्यं शरीरं संक्रम्यैव स्वर्गादौ गतस्य स्वर्गाद्युपभोग्यशरीरेण संबन्धो भवति । केवलस्य त्वेतावद्दूरं गतिर्न स्यात् । तच्च मरणजन्मनोरान्तरालं गतं शरीरं मनसः स्वर्गनारकादिदेशं प्रतिवहनधर्मकत्वादातिवाहिकमित्युच्यते, ततो द्वन्द्वे कालदिगात्ममनांसि । चः समुच्चये । तत्र पृथिव्यापस्तेजोवायुरित्येतच्चतुःसङ्ख्यं द्रव्यं प्रत्येकं नित्यानित्यभेदाद्द्विप्रकारम् । तत्र परमाणुरूपं नित्यं "सदकारणवन्नित्यम्" [वैशे० सू० ४/१/१] इति वचनात् । तदारब्धं तु द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यमनित्यम् । आकाशादिकं नित्यमेव, अनुत्पत्तिमत्त्वात् । एषां च द्रव्यत्वाभिसंबन्धाद्द्रव्यरूपता । द्रव्यत्वाभिसंबन्धश्च द्रव्यत्वसामान्योपलक्षितः समवायः । तत्समवेतं वा सामान्यम् । एतच्च द्रव्यत्वाभिसंबन्धादिकमितरेभ्यो गुणादिभ्यो व्यवच्छेदकमेषां लक्षणम् । एवं पृथिव्यादिभेदानामपि पाषाणादीनां पृथिवीत्वाभिसंबन्धादिकं [G-56]लक्षणमितरेभ्योऽबादिभ्यो भेदव्यवहारहेतुर्द्रष्टव्यम् । अभेदवतां त्वाकाशकालदिग्द्रव्याणामनादितच्छब्दवाच्यता[G-57] द्रष्टव्या । इदं च नवविधमपि द्रव्यं सामान्यतो द्वेधा, अद्रव्यं द्रव्यं अनेकद्रव्यं च द्रव्यमृतत्राद्रव्यमाकाशकालदिगात्ममनः परमाणवः कारणद्रव्यानारब्धत्वात् । अनेकद्रव्यं तु द्व्यणुकादिस्कन्धाः । तत्र च द्वाभ्यां परमाणुभ्यां कार्यद्रव्ये आरब्धेऽणुरिति व्यपदेशः, परमाणुद्वयारब्धस्य द्व्यणुकस्याणुपरिमाणत्वात् । त्रिचतुरैः परमाणुभिरारब्धस्यापि कार्यद्रव्यस्याणुपरिमाणतैव स्यात्, परं द्व्यणुकव्यपदेशो न स्यात् । त्रिभिर्द्व्यणुकैश्चतुर्भिर्वारब्धे त्र्यणुकमिति व्यपदेशः, न तु द्वाभ्यां द्व्यणुकाभ्यामारब्धे, द्वाभ्यामारब्धस्य ह्युपलब्धिनिमित्तं महत्त्वं न स्यात् । त्र्यणुकं च द्रव्यमुपलब्धियोग्यमिष्यते । ततश्चापरापरारब्धत्वेऽपरापरद्रव्योत्पत्तिर्ज्ञेया ।। गुणः पुनः पञ्चविंशतिधा स्पष्टम् ।।६१।।

व्याख्या का भावानुवाद :

मन = चित्त । वह नित्य है, परमाणुरुप है, अनेक है । प्रत्येक शरीर में एक-एक रहता है । तथा बहोत शीघ्रगति से समग्रशरीर में गति करता है । एक साथ सभी ज्ञानो की उत्पत्ति न होना, वही मन का लिंग है -

(G-55-56-57) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मन की सिद्धि का लिंग है। अर्थात् एकसाथ ज्ञानो की उत्पत्ति न होना, वही मन के सद्भाव का प्रबल साधक है। आत्मा सर्वगत होने से एकसाथ सभी इन्द्रियो और पदार्थो का सन्निधान कर सकता होने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति क्रम से ही होती है। इस क्रम के द्वारा ही होते ज्ञानोत्पत्ति के उपलंभ से मन का अनुमान होता है। आत्मा और इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से अतिरिक्त (ज्ञानोत्पत्ति में) दूसरा कारण है और वही मन है। जब मन का (इन्द्रियो के साथ) सन्निधान हो, तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है और जब मन का (इन्द्रियों के साथे सन्निधान नहीं है, तब ज्ञान की उत्पत्ति होती नहीं है। (कहने का मतलब यह है कि, आत्मा तो सर्वव्यापक है। इसलिए उसका एकसाथ सभी इन्द्रियों के साथ संयोग है ही। पदार्थो के साथ इन्द्रियो का भी एक साथ संयोग हो सकता है। जैसे कि, एक आम को चोसते वक्त रुप, रस, गंध, स्पर्श आदि सभी के साथ इन्द्रियो का एकसाथ संबंध हो रहा है। तो भी रुपादि पांच ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते नहीं है, परंतु क्रम से ही उत्पन्न होते है। इस क्रमोत्पत्ति से मालूम होता है कि कोई एक सूक्ष्मपदार्थ है कि जिसके क्रमिकसंयोग से ज्ञान एकसाथ उत्पन्न न होते हुए क्रमशः उत्पन्न होता है। आत्मा, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से अतिरिक्त मन नाम का कारण अवश्य है। उसका जिस इन्द्रिय के साथ संयोग होता है, उस इन्द्रिय से ज्ञान उत्पन्न होता है। अन्य से नहीं। उसका संयोग ही ज्ञानोत्पत्ति का कारण बनता है। यदि मन का संयोग न हो तो इन्द्रिय का पदार्थ के साथ संयोग होने पर भी ज्ञानोत्पत्ति होती नहीं है। जैसे कि, रास्ते में चलते हुए मन दूसरी जगह हो, तब सामने दिखती हुए व्यक्ति का भी ज्ञान होता नहीं है।)

(जब मनुष्य मृत्यु को प्राप्त करता है, तब वह मन मृत-शरीर में से निकल के स्वर्ग आदि में जाता है और वहाँ स्वर्गीय दिव्य शरीर के साथ संबंध करके, उसका उपभोग करता है। जब मनुष्य मृत्यु पाता है, तब मन का स्थूलशरीर के साथ का संबंध छूट जाता है। वह मन उस समय अदृष्ट पुण्य-पाप के अनुसार वहाँ तैयार हुए अत्यंतसूक्ष्म आतिवाहकलिंग शरीर में प्रवेश करता है और उसके द्वारा स्वर्ग तक पहुंच जाता है। जीव के अदृष्टानुसार मृत्यु के बाद ही परमाणुओ में क्रिया होती है। उस क्रिया के द्वारा द्व्यणुक-त्र्यणुक आदि क्रम से अत्यंतसूक्ष्म आतिवाहिकशरीर बन जाता है। वह सूक्ष्मशरीर इन्द्रिय का विषय बनता नहीं है। मन केवल अकेला उस आतिवाहिकशरीर के बिना स्वर्ग या नर्क तक पहुंचता नहीं है। वह शरीर मन को स्वर्गादि तक पहुंचाता है।)

पंक्ति का भावानुवाद : तस्य मनसो..... मृतशरीर में से निकला हुआ वह मन, मृतशरीर के नजदीक में जीव के अदृष्ट के वश से परमाणुओ में उत्पन्न हुए क्रिया के द्वारा द्व्यणुक-त्र्यणुक आदि के क्रम से अतिसूक्ष्म - इन्द्रिय अगोचर शरीर में प्रवेश करके स्वर्गादि में जाता है। वहाँ स्वर्गीयादि भोग्य शरीरो के साथ संबंध करता है और उसको भोग करता है। यह मन अकेला सूक्ष्म शरीर के बिना इतनी दूर गति कर सकता नहीं है। इसलिए मृत्यु और जन्म के बीच रहा हुआ सूक्ष्मशरीर मन को स्वर्ग-नरकादि देश तक ले जाने के धर्मवाला होने से आतिवाहिक कहा जाता है।)

यहाँ द्वन्द्व समास होके "**कालदिगात्ममनांसि**" पद बना हुआ है। "**च**" समुच्चयार्थक है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसमें पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु, ये चारो द्रव्यो के नित्य और अनित्य ऐसे दो भेद है। परमाणुरुप पृथ्वी आदि नित्य है। क्योंकि कहा है कि.. "सत् होने पर भी जो वस्तु कारणो से उत्पन्न होती नहीं है, वह नित्य होती है।" परमाणुरुप द्रव्य सत् तो है ही। साथ साथ किसी कारणो से उत्पन्न होता नहीं है। इसलिए नित्य है।

उस परमाणु के संयोग से उत्पन्न हुए द्व्यणुक आदि कार्यद्रव्य अनित्य है। आकाशादि द्रव्य नित्य ही है। क्योंकि किसी कारण से उत्पन्न होते नहीं है। द्रव्यत्व नाम की जाति के संबंध से उसमें द्रव्यरुपता आती है। अर्थात् "**द्रव्य - द्रव्य**" ऐसा अनुगतव्यवहार कराता है। तथा द्रव्यत्व सामान्य से उपलक्षित द्रव्यत्व का द्रव्य के साथ समवाय संबंध होता है। अर्थात् समवाय तो एक और नित्य है। इसलिए द्रव्यत्वविशेषवाला समवाय या समवाय से संबद्ध द्रव्यत्व द्रव्यो में द्रव्यरुपता का प्रयोजक है। इस द्रव्यत्व का समवाय गुणादिपदार्थो से द्रव्य को व्यावृत्त करता है और उसमें "**द्रव्य द्रव्य**" एसा अनुगत व्यवहार कराता है। इसलिए यह द्रव्य का व्यवच्छेदकलक्षण = असाधारणलक्षण है।

इस अनुसार से पृथ्वी आदि के पाषाणादि भेदो में भी पृथ्वीत्वादि का समवायसंबंध जानना। वह समवाय जलादिपदार्थो से पृथ्वी को भिन्न सिद्ध करता है तथा पृथ्वी आदि जलादि से भिन्न है ऐसे व्यवहार में कारण बनता है। अर्थात् इस अनुसार से पृथ्वी में पृथ्वीत्व का समवाय, अग्नि में अग्नित्व का समवाय, उस पृथ्वी आदि की इतरद्रव्यो से व्यावृत्ति कराके "**पृथ्वी**" आदि अनुगतव्यवहार में कारण बनता है।

भेद वगैर के आकाश, काल, दिशा ये तीनद्रव्यो की आकाश, काल, दिशा ये संज्ञाए तथा व्यवहार अनादिकालीन है। अर्थात् आकाश, काल और दिशा एक ही द्रव्य है। इसलिए उसमें आकाशत्व आदि जाति प्राप्त होती नहीं है। इसलिए उनकी "आकाश, काल और दिशा" ये संज्ञाए अनादिकालीन है।

ये नौ प्रकार के द्रव्यो के सामान्य से दो प्रकार है। (१) अद्रव्य द्रव्य, (२) अनेकद्रव्य द्रव्य। उसमें आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन और परमाणु अद्रश्य द्रव्य है। क्योंकि कारणद्रव्यो से उत्पन्न होते नहीं है। इसलिए आकाशादि अद्रव्य द्रव्य है। अर्थात् नित्य है।

द्व्यणुकादि स्कंध अनेकद्रव्य है। (जिसकी उत्पत्ति में अनेकद्रव्य समवायिकारण बनते है, वह अनेकद्रव्य द्रव्य है। अर्थात् अनित्य द्रव्य कहा जाता है। जैसे कि, परमाणु से उत्पन्न हुए द्व्यणुकादि। अर्थात् द्रव्य या तो अद्रव्य - नित्य होगा या अनेकद्रव्य - अनित्य होगा। कोई भी द्रव्य "एक द्रव्य" - जिसकी उत्पत्ति में एक ही समवायिकारण हो वह एकद्रव्य, हो सकता नहीं है। जैसे कि, ज्ञानादिगुण।

दो परमाणु से उत्पन्न होनेवाले कार्यद्रव्य को अणु कहा जाता है। क्योंकि दो परमाणु से उत्पन्न हुए द्व्यणुक का अणुपरिमाण होता है। (उसी तरह से) तीन-चार परमाणुओं से उत्पन्न हुए कार्यद्रव्य का परिणाम भी अणु ही होता है। परंतु वह द्व्यणुक नहीं कहा जाता। तीन या चार द्व्यणुक से उत्पन्न हुए कार्यद्रव्य को त्र्यणुक कहा जाता है। परंतु दो द्व्यणुक से उत्पन्न हुए कार्यद्रव्य को त्र्यणुक कहा जाता नहीं है। क्योंकि दो द्व्यणुक से उत्पन्न हुए कार्यद्रव्य की उपलब्धि में निमित्तभूत महत्त्व होता नहीं है। तथा त्र्यणुक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही प्रत्यक्ष के योग्य माना गया है। इस तरह से आगे-आगे महान परिमाणवाले द्रव्यो की उत्पत्ति जानना। (कहने का मतलब यह है कि तीन या चार द्व्यणुक से उत्पन्न होनेवाला कार्यद्रव्य त्र्यणुक कहा जाता है। दो द्व्यणुको से उत्पन्न होनेवाले कार्यद्रव्य को त्र्यणुक कहा नहीं जा सकता क्योंकि दो द्व्यणुको से उत्पन्न कार्य में इन्द्रियो में ग्रहण करने योग्य महत्त्वपरिमाण होता नहीं है। त्र्यणुकद्रव्य ही इन्द्रियग्राह्य है। इस तरह से आगे आगे महान परिमाणवाले कार्यद्रव्यो की उत्पत्ति होती जाती है। विशेष में **"कारण द्रव्य का परिमाण कार्य में स्व-सजातीय उत्कृष्टपरिमाण को उत्पन्न करता है।"** ऐसा नियम है। यदि परमाणु के परिमाण को द्व्यणुक के परिमाण में कारण मानोंगे तो उसमें अणु परिमाण के सजातीय उत्कृष्ट अणुतरपरिमाण की उत्पत्ति होगी। इसलिए परमाणु के परिमाण को कार्य के परिमाण में कारण न मानते हुए परमाणु की संख्या को कारण माना जाता है। जिससे द्व्यणुक में अणु परिमाण की ही उत्पत्ति होती है, नहि कि अणुतरपरिमाण से। इस तरह से यदि द्व्यणुक के अणुपरिमाण को त्र्यणुक के परिमाण में कारण मानोंगे, तो उसमें भी अणुजातीय - उत्कृष्ट - अणुतरपरिमाण से ही उत्पत्ति होगी, (कि जो इष्ट नहीं है।) इसलिए द्व्यणुको में रहनेवाली बहुत्वसंख्या को कारण मानने से ही त्र्यणुक में महापरिमाण की उत्पत्ति हो सकती है। इसी कारण से तीन द्व्यणुक से त्र्यणुक की उत्पत्ति बताई है। दो द्व्यणुक से नहि। दो द्व्यणुक में बहुत्व संख्या नहीं है, द्वित्वसंख्या ही रहती है।) गुण २५ प्रकार के है, वह स्पष्ट है। ॥६१॥

गुणस्य पञ्चविंशतिविधत्वमेवाह - अब पच्चीस गुणो का ही निरुपण करते है।

(मू. श्लो.) [G-58]**स्पर्शरसरूपगन्धाः शब्दः संख्या विभागसंयोगौ ।**
परिमाणं च पृथक्त्वं तथा परत्वापरत्वे च ।।६२।।
बुद्धिः सुखदुःखेच्छाधर्माधर्मप्रयत्नसंस्काराः ।
द्वेषः स्नेहगुरुत्वे द्रवत्ववेगौ गुणा एते ।।६३ ।। युग्मम् ।।

श्लोकार्थ : स्पर्श, रुप, रस, गंध, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिमाण, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, द्वेष, स्नेह, गुरुत्व, द्रवत्व और वेग, ये पच्चीस गुण है। ॥६२-६३॥

व्याख्या[G-59]**स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकज्वलनपवनवृत्तिः १ ।** [G-60]**रसोरसनेन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकवृत्तिः २ । चक्षुर्ग्राह्यं**[G-61] **रूपं पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति, तच्च रूपं जलपरमाणुषु तेजःपरमाणुषु च नित्यं, पार्थिवपरमाणुरूपस्य त्वग्निसंयोगो विनाशकः । सर्वकार्येषु च कारणरूपपूर्वकरूपमुत्पद्यते, उत्पन्नेषु हि द्व्यणुकादिकार्येषु पश्चात्तत्र रूपोत्पत्तिः, निराश्रयस्य कार्यरूपस्यानुत्पादात् । तथा कार्यरूपविनाशस्याश्रयविनाश एव हेतुः । पूर्वं हि कार्यद्रव्यस्य नाशः, तदनु च रुपस्य, आशुभावाच्च क्रमस्याग्रहणमिति ३ ।**

(G-58-59-60-61) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

[G-62]गन्धो घ्राणग्राह्यः पृथिवीवृत्तिः, स्पर्शादेश्च गुणत्वे सति त्वगिन्द्रियग्राह्यादिकं लक्षणमितरव्यवच्छेदकम् ४ । [G-63]शब्दः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यो गगनवृत्तिः क्षणिकश्च । श्रोत्रेन्द्रियं चाकाशात्मकम् । अथाकाशे निरवयव इदमात्मीयं श्रोत्रमिदं च परकीयमिति विभागः कथमिति चेत् ? उच्यते, यदीयधर्माधर्माभिसंस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धं [G-64]यन्नभस्तत्तस्य श्रोत्रमिति विभागः, अत एव नासिकादिरन्ध्रान्तरेण न शब्दोपलम्भः संजायते । तत्कर्णशष्कुलीविघाताद्बाधिर्यादिकं च व्यवस्थाप्यत इति ५ । संङ्ख्या तु एकादिव्यवहारहेतुरेकत्वादिलक्षणा । सा पुनरेकद्रव्या चानेकद्रव्या च । तत्रैकसंख्यैकद्रव्या, अनेकसङ्ख्या तु द्वित्वादिसङ्ख्या । तत्रैकद्रव्यायाः सलिलादिपरमाण्वादिगतरूपादीनामिव नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः । अनेकद्रव्यायास्त्वेकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिः । अपेक्षाबुद्धिविनाशाच्च विनाशः क्वचित्त्वाश्रयविनाशादिति ६ । [G-65]प्राप्तिपूर्विका ह्यप्राप्तिर्विभागः, [G-66]अप्राप्तिपूर्विका च प्राप्तिः संयोगः । एतौ च द्रव्येषु यथाक्रमं विभक्तसंयुक्तप्रत्ययहेतू । अन्यतरोभयकर्मजौ विभागसंयोगौ च यथाक्रमम् । ७-८ ।

व्याख्या का भावानुवाद :

स्पर्शेन्द्रिय से ग्राह्य स्पर्शगुण है। अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय का विषयभूत गुण स्पर्श है। यह पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु में रहता है। (१) रसनेन्द्रिय से ग्राह्य गुण रस है। वह पृथ्वी, पानी में रहता है। (२) चक्षु से ग्राह्य रुपगुण है। वह पृथ्वी, पानी और अग्नि में रहता है। वह रुप जलीय परमाणुओं में तथा तैजसीय परमाणुओ में नित्य है। तथा पार्थिवपरमाणुओ का रुप अग्नि के संयोग से नष्ट हो जाता है। सभी कार्यो में कारण के रुप से रुप उत्पन्न होता है। अर्थात् सर्व कार्यो में रहा हुआ रुप कारणरुपपूर्वक उत्पन्न होता है। (जब) द्व्यणुकादि कार्य उत्पन्न हो जाते है, उसके बाद उसमें रुप उत्पन्न होता है। अर्थात् पहले द्व्यणुकादि कार्य उत्पन्न होते है और बाद में उसमें रुप उत्पन्न होता है। क्योंकि रुपादि गुण है। इसलिए वे निराधार उत्पन्न हो सकते नहीं है। उसका आधारभूतद्रव्य होना ही चाहिए। सारांश में, निराधारकार्य का रुप उत्पन्न होता नहीं है। उसी तरह से कार्यरुप के विनाश में आधार का विनाश ही हेतु है। इसलिए पहले (१)कार्यद्रव्यनाश होता है। उसके बाद रुप का विनाश होता है। यह प्रक्रिया बहोत जल्दी होती होने से क्रम का ग्रहण नहीं होता है। (क्षण इतनी सूक्ष्म होती है कि, वह हमारी दृष्टि में आती नहीं है। उसी कारण से कार्यद्रव्य के विनाश को और उसके रुप के विनाश को एक ही क्षण में मान लेते है। इसलिए क्रमशः होती प्रक्रिया हमारी दृष्टि में आती नहीं है।) (३)

(१) एक ओर कहते है कि गुण निराधार रह सकता नहीं है और दूसरी ओर कहते है कि कार्यद्रव्य = आधार का नाश होगा, उसकी दूसरी क्षण में रुप गुण नाश होता है, तो गुण एकक्षण निराधार न बना ? परस्पर विरुद्ध बात है, वह जैनदर्शन में आगे बताई गई है।

(G-62-63-64-65-66) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्यगुण गंध है। वह केवल पृथ्वी में रहता है। स्पर्शादि का इतर-व्यवच्छेदकलक्षण इस अनुसार से है-गुण होने के साथ जो स्पर्शेन्द्रिय से ग्राह्य हो, उसे स्पर्शादि कहा जाता है। अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय से ग्राह्य जो गुण हो वह स्पर्श, रसनेन्द्रिय से ग्राह्य जो गुण है, वह रस, घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य जो गुण है, वह गंध। चक्षु से ग्राह्य जो गुण है, वह रुप। श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य जो गुण है, वह शब्द। (यद्यपि रुपत्व आदि भी उस उस इन्द्रियो से ग्राह्य होने पर भी वह गुण नहीं है। इसलिए उसमें लक्षण अतिव्याप्त बनता नहीं है। **जो इन्द्रिय से जो पदार्थ ग्रहण होता है उसी इन्द्रिय से उसकी जाति और उसका अभाव ग्रहण होता है, ऐसा नियम है।** इसलिए रसनेन्द्रिय से रस की तरह रसत्व ग्रहण होता है फिर भी रसत्व गुण न होने से उसमें लक्षण जाता नहीं है। अर्थात् **"गुण"** विशेषण रखने से रसत्वादि में लक्षण अतिव्याप्त बनता नहीं है। रसत्व जाति है।) (४)

शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य है। आकाश में रहता है और क्षणिक है। श्रोत्रेन्द्रिय आकाशस्वरुप है।

शंका : आकाश तो निरवयव है। इसलिए यह हमारा श्रोत्र है और यह दूसरे का श्रोत्र है। ऐसा विभाग किस तरह से पड सकते है ?

समाधान : (इसमें कोई शंका करने जैसी नहीं है।) जिसके पुण्य-पाप से संस्कृत कर्णशष्कुलि में आकाश का जो भाग रुकता है, आता है, वह उसका श्रोत्र कहा जाता है, इस अनुसार से विभाग होते है। इसलिए ही नासिका आदि के रहे हुए आकाश से शब्द सुनाई देता नहीं है। जिसकी कर्णशष्कुलि विघात पाती है - कट जाती है या उसमें छेद होता है वह व्यक्ति बहरा कहा जाता है। उसके द्वारा कम सुनाई देता है। (५)

एक, दो, तीन आदि व्यवहार में कारणभूतगुण एकत्व, द्वित्व आदि संख्या है। वह संख्या एक द्रव्य में भी रहती है और अनेक द्रव्यो में भी रहती है। एकत्वसंख्या एक द्रव्य में रहती है। द्वित्वादिसंख्या अनेक द्रव्यो में रहती है। एक द्रव्य में रहनेवाली एकत्वसंख्या जलादि के परमाणुओ में तथा कार्य द्रव्य में रहनेवाले रुपादि गुणो की तरह नित्य भी होती है और अनित्य भी होती है। (परमाणु में नित्य, कार्यद्रव्य में अनित्य।) कार्यद्रव्य की एकत्वसंख्या कारण की एकत्वसंख्या से उत्पन्न होती है।

अनेकद्रव्यो में रहनेवाली द्वित्वादिसंख्या अनेक पदार्थो के एकत्व का विषय करनेवाली अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होती है। वह द्वित्वादिसंख्या अपेक्षाबुद्धि के नाश से नाश होती है और कभी आधारभूतद्रव्य के नाश से नाश होता है। (कहने का मतलब यह है कि अनेक द्रव्यो में रहनेवाली द्वित्वादिसंख्या अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होती है। तथा उस अपेक्षाबुद्धि के नाश से भी उसका नाश होता है। दो या तीन पदार्थो को देखकर **"यह एक, यह एक और यह एक"** ऐसी अनेक पदार्थो के एकत्व को विषय करनेवाली अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है वह अपेक्षाबुद्धि से उस पदार्थो में द्वित्वादि संख्या उत्पन्न होती है। जब वह अपेक्षाबुद्धि नष्ट होती है, तब वह संख्या का भी नाश होता है। वैसे ही द्वित्वादिसंख्याएँ रुपादि की तरह घट जब तक टिके तब तक रहती नहीं है। वह तो जो व्यक्ति देखती है, उसकी अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होके अपेक्षाबुद्धि के नाश से नाश पाती है। जो दो पानी के गुब्बारे में किसी व्यक्ति को अपेक्षाबुद्धि से द्वित्वसंख्या उत्पन्न हुई थी, उस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुब्बारे का दूसरी क्षण में नाश होने से, द्वित्वसंख्या भी आधारभूतद्रव्य के नाश से नाश होती है।)

प्राप्तिपूर्विका अप्राप्ति **विभाग** कही जाती है। अर्थात् जो पहले संयुक्त हो और बाद में अलग हो जाना, उसे विभाग कहा जाता है।

अप्राप्तिपूर्विका प्राप्ति को **संयोग** कहा जाता है। अर्थात् जो पहले अलग-अलग थे, उनका मिलन होना, उसे संयोग कहा जाता है। यह विभाग और संयोग पदार्थो में क्रमशः **"विभक्त = अलग-अलग होना"** और **"संयुक्त = एकठ्ठा होना"** - यह प्रत्यय व्यवहार का हेतु है।

दो में से एक पदार्थ में क्रिया होने से या दोनो पदार्थो में क्रिया होने से विभाग और संयोग होते है। (अर्थात् जिन दो पदार्थों का विभाग या संयोग होनेवाला है, उसमें कभी दो में से एक पदार्थ में ही क्रिया होती है और कभी दोनो पदार्थ में क्रिया होती है। जैसे कि, पक्षी का उडकर वृक्ष की शाखा के उपर बैठना और उड जाना। यहाँ पक्षी का वृक्ष के साथ का सयोग और उन दोनो का विभाग हुआ। उसमें क्रिया केवल पक्षी में होती है। जब दो कुस्तीबाज कुस्ती करे तब संयोग और विभाग होते है। उसमें दोनो में क्रिया होती है। इस प्रकार संयोग और विभाग दो पदार्थो में होती क्रिया से या एक पदार्थ की क्रिया से उत्पन्न होते है।) (७-८)

परिमाणव्यवहारकारणं परिमाणम्[G-67] । तच्चतुर्विधं, महदणु दीर्घं ह्रस्वं च । तत्र महद् द्विविधं, नित्यमनित्यं च । नित्यमाकाशकालदिगात्मसु परममहत्त्वम् । अनित्यं द्व्यणुकादिषुत्र्यणुकादिषु द्रव्येषु । अण्वपि नित्यानित्यभेदाद्द्विविधम् । परमाणुमनःसु पारिमाण्डल्यलक्षणं नित्यम् । अनित्यं द्व्यणुक एव । बदरामलकबिल्वादिषु बिल्वामलकबदरादिषु च क्रमेण यथोत्तरं महत्त्वस्याणुत्वस्य च व्यवहारो विभक्तोऽवसेयः, आमलकादिषूभयस्यापि व्यवहारात् । एवमिक्षौ समिद्वंशाद्यपेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोर्भाक्तत्वं ज्ञेयम् । ननु महद्दीर्घयोस्त्र्यणुकादिषु वर्तमानयोर्द्व्यणुके चाणुत्वह्रस्वत्वयोः को विशेषः ? महत्सु दीर्घमानीयतां दीर्घेषु महदानीयतामिति व्यवहारभेदप्रतीतेरस्ति तयोः परस्परतो भेदः । अणुत्वह्रस्वत्वयोस्तु विशेषो योगिनां तद्दर्शिनामध्यक्ष एव ९ । संयुक्तमपि द्रव्यं यद्वशादत्रेदं पृथगित्यपोद्दिश्यते, तदपोद्धारव्यवहारकारणं पृथक्त्वम् १०[G-68] । इदं परमिदमपरमिति यतोऽभिधानप्रत्ययौ भवतः, तद्यथाक्रमं परत्वमपरत्वं[G-69] च । द्वितयमप्येतत् दिक्कृतं कालकृतं च । तत्र दिक्कृतस्येत्थमुत्पत्तिः-एकस्यां दिशि स्थितयोरेकस्य द्रष्टुरपेक्षया सन्निकृष्टमवधिंकृत्वैतस्माद्विप्रकृष्टस्य परेण दिक्प्रदेशेन योगात्परत्वमुत्पद्यते, विप्रकृष्टं चावधिंकृत्वैतस्मात्सन्निकृष्टस्यापरेण दिक्प्रदेशेन योगादपरत्वमुत्पद्यते । कालकृतं त्वेवमुत्पद्यते-वर्तमानकालयोरनियतदिग्देशसंयुक्तयोर्युवस्थविरयोर्मध्ये युवानमवधिंकृत्वा चिरकालीनस्य

(G-67-68-69) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थविरस्य परेण कालप्रदेशेन योगात्परत्वमुत्पद्यते, स्थविरं चावधिकृत्वाल्प-कालीनस्य यूनोऽपरेण कालप्रदेशेन योगादपरत्वमुत्पद्यते ।।११-१२।।

व्याख्या का भावानुवाद :

लघु आदि परिमाण के व्यवहार में कारणभूत गुण **परिमाण** है। वह परिमाण चार प्रकार के है। (१) महत् - बडा, (२) अणु - छोटा, (३) दीर्घ - लम्बा, (४) ह्रस्व - छोटा (नाटा)।

उसमें महत्परिमाण दो प्रकार का है। (१) नित्य और (२) अनित्य। आकाश, काल, दिशा और आत्माओं में (सर्वोत्कृष्ट) नित्य परममहत् परिमाण है। द्वयणुकादि - त्र्यणुकादि द्रव्यो में अनित्य महत्परिमाण है।

अणुपरिमाण भी नित्य और अनित्य ऐसे दो प्रकार का है। परमाणु और मन में नित्य अणुपरिमाण होता है। उसकी संज्ञा "पारिमांडल्य" है। अनित्य अणुपरिमाण मात्र द्व्यणुक में ही होता है।

बेर, आमलक (आंवला) और बिल्वफल आदि में तथा बिल्वफल, आमलक और बेर आदि में क्रमशः यथोत्तर महत्त्व और अणुत्व का व्यवहारविभाग जानना। क्योंकि आमलकादि में उभय का व्यवहार होता है। (कहने का मतलब यह है कि बेर, आमलक और बिल्वफल आदि में मध्यममहत्परिमाण होने पर भी एकदूसरे की अपेक्षा से उनमें महत्व और अणुत्व का व्यवहार होता है। बेर की अपेक्षा से आमलक में महत्त्व है। तो बिल्वफल की अपेक्षा से आमलक में अणुत्व है। इसलिए मध्यम महत्परिमाणवाली उस उस वस्तुओ में छोटे-बडे का जो व्यवहार होता है, वह गौणरुप से है। मुख्यरुप से नहि है और वह भी अनियत है।)

इस अनुसार से ही मध्यममहत्परिमाणवाले गत्रे में समित्यज्ञ में उपयोगी (अग्निकुंड में जलाया जाता है वह) लकडी की अपेक्षा से दीर्घत्व (लम्बेपन) का और बांस की अपेक्षा से ह्रस्वत्व का व्यवहार होता है। यह विभाग भी गौणरुप समजना और अनियत जानना।

शंका : त्र्यणुक आदि में रहनेवाले महत्त्व और दीर्घत्व में तथा द्व्यणुक में रहनेवाले अणुत्व और ह्रस्वत्व में परस्पर क्या भेद है ?

समाधान : "महत् (= बडो) में दीर्घ (लम्बे) को ले जाना।" तथा "लम्बो में बडो को ले जाना" ये दो प्रकार के भेद व्यवहार में प्रतीत होते है और उससे उन दोनो में परस्परभेद है। (यहाँ याद रखना कि दीर्घत्व केवल लम्बेपन की अपेक्षा से होता है। जब महत्त्व में लंबाई और चौडाई दोनो की विवक्षा होती है।)

अणुत्व और ह्रस्वत्व में परस्पर भेद क्या है ? वह उसको देखनेवाले योगीओ का ही प्रत्यक्ष का विषय है। उसका विशेषकथन शब्दो में कहने योग्य नहीं है। द्व्यणुक का प्रत्यक्ष योगीओ को ही होता है। इसलिए उसमें रहनेवाले अणुत्व और ह्रस्वत्व का प्रत्यक्ष भी योगीओ को ही होता है। इसलिए उसमें परस्पर क्या भेद है ? वह हम कह सकते नहीं है। (९)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परस्परसंयुक्त भी द्रव्य जिसके कारण "ये दोनो पृथक् है" - ऐसा भेद स्पष्ट होता है, वह अपोद्धारव्यवहार - भेद व्यवहार का कारण पृथक्त्व गुण है। (१०)

यह "पर = दूर या ज्येष्ठ है" "तथा" यह "अपर = नजदीक या लघु है" इस प्रकार के परापर अभिधान = शब्द प्रयोग में तथा परापरज्ञान में कारणभूत गुण क्रमशः परत्व और अपरत्व है।

परत्व और अपरत्व दोनो भी दिशाकृत् और कालकृत् है। अर्थात् दिशा और काल की अपेक्षा से उत्पन्न होते है।

उसमें दिक्कृत् परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति इस अनुसार से होती है, किसी एक देखनेवाला व्यक्ति जब एक ही दिशा में दो पुरुषो को क्रम से खडे रहे हुए देखते है। तो समीपवर्ती पुरुष की अपेक्षा से दुरवर्तीपुरुष को पर = अधिक दिशा के प्रदेशो का संयोग होने से पर = दूर समजता है। अर्थात् वह दुरवर्तीपुरुष में परत्व उत्पन्न होता है। तथा दुरवर्ती पुरुष की अपेक्षा से समीपवर्ती पुरुष को अपर = कम दिशा के प्रदेशो का संयोग होने से अपर = नजदीक समजते है। अर्थात् समीपवर्ती पुरुष में अपरत्व उत्पन्न होता है। (इसलिए क्रमशः दूरवर्ती और निकटवर्ती पदार्थ में पर और अपर दिशा के प्रदेशो के संयोग से परत्व और अपरत्व गुणो की उत्पत्ति होती है और उस कारण से "यह उससे दूर है" और "यह उससे नजदीक है" ऐसा दूर-समीप का व्यवहार होता है।

कालकृत् परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति इस अनुसार से होती है - जो कोई भी दिशा या देश में वर्तमान (रहे हुए) युवान और स्थविर में युवान की अपेक्षा से चिरकालीन-स्थविर में पर = अधिककाल का संयोग हुआ होने से परत्व = ज्येष्ठत्व उत्पन्न होता है तथा स्थविर की अपेक्षा से अल्पकालीन=लघुयुवान में अपर = कम काल का संयोग होने से अपरत्व = कनिष्ठत्व उत्पन्न होता है। (११-१२)

[G-70]बुद्धिर्ज्ञानं ज्ञानान्तरग्राह्यम् । सा द्विविधा, विद्याऽविद्या च । तत्राविद्या[G-71] चतुर्विधा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा । [G-72]विद्यापि चतुर्विधा प्रत्यक्ष-लैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा । प्रत्यक्षलैङ्गिके प्रमाणाधिकारे व्याख्यास्येते । अतीतविषया स्मृतिः[G-73] । सा च गृहीतग्राहित्वान्न प्रमाणम् । ऋषीणां व्यासादीनामतीतादिष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु यत्प्रातिभं तदार्षम्[G-74] । तच्च प्रस्तारेणर्षीणां, कदाचिदेव तु लौकिकानां, यथा कन्यका ब्रवीति "श्वो मे भ्राता गन्तेति हृदयं मे कथयति" इति । आर्षं च प्रत्यक्षविशेषः १३ । अनुग्रहलक्षणं सुखम्[G-75] १४ । आत्मन उपघातस्वभावं[G-76] दुःखं, तच्चामर्षदुःखानुभवविच्छायताहेतुः १५ । स्वार्थं परार्थं चाप्राप्तप्रार्थनमिच्छा[G-77], तस्याश्च कामोऽभिलाषो रागः संकल्पः कारुण्यं वैराग्यं वञ्चनेच्छा गूढभाव इत्यादयो भेदाः १६ । कर्तृफलदाय्यात्मगुण

(G--70-71-72-73-74-75-76-77) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्ममनःसंयोगजः स्वकार्यविरोधी धर्माधर्मरूपतया भेदवान् परोक्षोऽदृष्टाख्यो गुणः । तत्र धर्मः [G-78]पुरुषगुणः कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुरतीन्द्रियोऽन्त्यसुखसंविज्ञानविरोधी, अन्त्यस्यैव सुखस्य सम्यग्विज्ञानेन धर्मो नाश्यते, अन्त्यसुखकालं यावत् धर्मस्यावस्थानात् । स च पुरुषान्तःकरणसंयोगविशुद्धाभिसंधिजो वर्णाश्रमिणां प्रतिनियतसाधननिमित्तः, साधनानि तु श्रुतिस्मृतिविहितानि सामान्यतोऽहिंसादीनि, विशेषतस्तु ब्राह्मणादीनां पृथक्पृथग्यजनाध्ययनादीनि ज्ञातव्यानि १७ । अधर्मोऽप्यात्मगुणः[G-79] कर्तुरहितः प्रत्यवायहेतुरतीन्द्रियोऽन्त्यदुःखसंविज्ञानविरोधी १८ । प्रयत्न[G-80] उत्साहः, स च सुप्तावस्थायां प्राणापानप्रेरकः प्रबोधकालेऽन्तःकरणस्येन्द्रियान्तरप्राप्तिहेतुर्हिताहितप्राप्तिपरिहारोद्यमः शरीरविधारकश्च १९ ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

ज्ञान को बुद्धि कहा जाता है । ज्ञान (स्वयं अपने स्वरुप को जानता नहीं है, परंतु वह) ज्ञानान्तर - अनुव्यवसाय के द्वारा गृहीत होता है । वह बुद्धि दो प्रकार की है । (१) विद्या और (२) अविद्या । उसमें अविद्या चार प्रकार की है । (१) संशय, (२) विपर्यय, (३) अनध्यवसाय, और (४) स्वप्न । विद्या भी चार प्रकार की है । (१) प्रत्यक्ष, (२) लैंगिक = अनुमान, (३) स्मृति, (४) आर्ष ।

प्रत्यक्ष और अनुमान का निरुपण प्रमाण अधिकार में करेंगे । स्मृति अतीतविषयक होती है । अर्थात् अतीतपदार्थो को जाननेवाली स्मृति होती है । वह गृहीतग्राही होने से प्रमाण नहीं है । अर्थात् अनुभव के द्वारा गृहीतपदार्थ को जाननेवाली होने से प्रमाण नहीं है ।

व्यासादि ऋषीओ को अतीतादि अतीन्द्रियपदार्थो के विषय में तथा धर्म-अधर्म आदि के विषय में (इन्द्रियो की सहायता के बिना) जो प्रातिभज्ञान होता है, वह आर्षज्ञान कहा जाता है । वह प्रातिभज्ञान प्रायः ऋषीओ को ही होता है । कभी कभी लौकिक पुरुषो को भी होता है । जैसे कि, कोई कन्या कहती है "**कल मेरा भाई अवश्य आयेगा, इस अनुसार मेरा हृदय कहता है ।**" यह आर्षज्ञान प्रत्यक्ष ही है । (१३)

अनुग्रह = अनुकूलसंवेदन को **सुख** कहा जाता है । जिसका आत्मा को उपघात करने का स्वभाव है, उसे **दुःख** कहा जाता है । वह दुःख आमर्ष, दुःखानुभव, विच्छायता = मनमलीनता तथा निस्तेजता का कारण बनता है । (१४-१५)

स्व या पर के लिए अप्राप्तपदार्थ को प्राप्त करने की प्रार्थना को "**इच्छा**" कहा जाता है । काम, अभिलाषा, राग, संकल्प, कारुण्य, वैराग्य, छलने की इच्छा, गूढभाव इत्यादि इच्छा के भेद - रुप ही है । (१६)

कर्ता को क्रिया का फल देनेवाला, आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होनेवाला धर्म और अधर्मरुप दो भेदवाले स्वकार्यविरोधी=अपने कार्यभूतसुख - दुःखादि फल से ही जिसका विनाश होता है, उस आत्मा

(G-78-79-80) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के गुण को अदृष्ट कहा जाता है।

अदृष्ट दो प्रकार का है। एक धर्म और दुसरा अधर्म। धर्म पुरुष का गुण है। कर्ता के प्रिय, हित और मोक्ष में कारण बनता है। अतीन्द्रिय है। अंतिमसुख संविज्ञानविरोधी है। अर्थात् अंतिमसुख का यथार्थज्ञान होने से वह विनाश प्राप्त करता है। अंतिमसुख ही तत्त्वज्ञान के द्वारा धर्म का नाश करता है। जहाँ तक अंतिमसुख है, वहाँ तक धर्म रहता है। (अर्थात् जहां तक तत्त्वज्ञान की पूर्णता होती नहीं है, वहाँ तक धर्म का कार्य सुख चालू रहता है। तत्त्वज्ञान होने के बाद भी प्रारब्धकर्मो के फलरुप अंतिमसुख तक धर्म रहता है। अंतिम सुख को उत्पन्न करने के बाद तत्त्वज्ञान से धर्म का नाश होता है।)

वह धर्म पुरुष और अंत:करण के संयोग से विशुद्ध विचारो के द्वारा वर्णाश्रमधर्म का श्रुति-स्मृतिविहित पालन करने से उत्पन्न होता है। उसके साधन सामान्यरुप से श्रुति-स्मृतिओ में बताये गये अहिंसादि है, विशेषरुप से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के पूजन, अध्ययन, शस्त्रधारण आदि अनेक आचार जानना। (१७)

अधर्म भी आत्मा का गुण है। कर्ता को अहित और प्रत्यपाय का कारण है। अतीन्द्रिय है। अंत्यदु:ख - संविज्ञानविरोधी है। अर्थात् अंतिमदु:ख के सम्यग्ज्ञान से विनाश होता है। (अर्थात् तत्त्वज्ञान के बाद प्रारब्धकर्म के फलरुप अंतिमदु:ख को उत्पन्न करके तत्त्वज्ञान के द्वारा अधर्म का नाश हो जाता है। (१८)

प्रयत्न - उत्साह अर्थात् कार्य करने का परिश्रम। वह प्रयत्न सुषुप्ति अवस्था में श्वासोश्वास का प्रेरक है। अर्थात् वह प्रयत्न सोते वक्त श्वासोश्वास लेने में प्रेरक बनता है तथा जाग्रत अवस्था में अंत:करण को इन्द्रियों के साथ संयोग कराता है। हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए उद्यम करवाता है और शरीर को धारण करने में सहायक होता है।

[G-81]संस्कारो द्वेधा, भावना स्थितिस्थापकश्च, भावनाख्य आत्मगुणो ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च दृष्टानुभूतश्रुतेष्वर्थेषु स्मृतिप्रत्यभिज्ञानकार्योन्नीयमानसद्भावः, स्थितिस्थापकस्तु मूर्तिमद्-द्रव्यगुणः स च घनावयवसंनिवेशविशिष्टं स्वमाश्रयं कालान्तरस्थायिनमन्यथाव्यवस्थित-मपि प्रयत्नतः पूर्ववद्यथावस्थितं स्थापयतीति स्थितिस्थापक उच्यते। दृश्यते तालपत्रादेः प्रभूततरकालसंवेष्टितस्य प्रसार्यमुक्तस्य पुनस्तथैवावस्थानं संस्कारवशात्। एवं धनुःशाखा-शृङ्गदन्तादिषु भुग्ना(मुक्ता)पवर्तितेषु च वस्त्रादिषु तस्य कार्यं परिस्फुटमुपलभ्यते २०। प्रज्वलनात्मको द्वेषः[G-82] यस्मिन् सति प्रज्वलितमिवात्मानं मन्यते। द्रोहः क्रोधो मन्युरक्षमामर्ष इति द्वेषभेदाः २१। स्नेहोऽपां [G-83]विशेषगुणः संग्रहमृद्वादिहेतुः। अस्यापि गुरुत्ववत् नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः २२। गुरुत्वं [G-84]जलभूम्योः पतनकर्मकारणमप्रत्यक्षम्। तस्याबादिपरमाणुरूपादिवत् नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः २३। [G-85]द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणं त्रिद्रव्यवृत्तिः। तद्द्वेधा, सहजं, नैमित्तिकं च। सहजमपां द्रवत्वम्। नैमित्तिकं तु

(G-81-82-83-84-85) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृथिवीतेजसोरग्निसंयोगजं यथा सर्पिषः सुवर्णत्रप्वादेश्चाग्निसंयोगाद्द्रवत्वमुत्पद्यते २४ । वेगः[G-86] पृथिव्यप्तेजोवायुमनःसु मूर्तिमद्द्रव्येषु प्रयत्नाभिघातविशेषापेक्षात्कर्मणः समुत्पद्यते, नियतदिक्क्रियाकार्यप्रबन्धहेतुः स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगविरोधी च । तत्र शरीरादिप्रयत्नाविर्भूतकर्मोत्पन्नवेगवशादिषोरपांतरालेऽपातः, स च नियतदिक्क्रियाकार्यसंबन्धोन्नीयमानसद्भावः । लोष्टाद्यभिघातोत्पन्नकर्मोत्पाद्यस्तु शाखादौ वेगः । [G-87]केचित्तु संस्कारस्य त्रिविधस्य भेदतया वेगं प्राहुः । तन्मते चतुर्विंशतिरेव गुणाः, शौर्यौदार्यकारुण्यदाक्षिण्यौन्नत्यादीनां च गुणानामेष्वेव प्रयत्नबुद्ध्यादिषु गुणेष्वन्तर्भावान्नाधिक्यम् २५ ।।

स्पर्शादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसंबन्धो द्रव्याश्रितत्वं निष्क्रियत्वमगुणत्वं च । तथा स्पर्शरसगन्धरूपपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहवेगा मूर्तगुणाः । बुद्धिसुखदुःखेच्छाधर्माधर्मप्रयत्नभावनाद्वेषशब्दा अमूर्तगुणाः । सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागा उभयगुणा इत्यादि गुणविषयं विशेषस्वरूपं स्वयं [A]समवसेयम् ।।६३।।

व्याख्या का भावानुवाद :

संस्कार दो प्रकार के है। (१) भावना, (२) स्थितिस्थापक।

भावना नाम का आत्मा का गुण ज्ञान से उत्पन्न होता है और ज्ञान का कारण है। अर्थात् अनुभव आदि ज्ञानो से उत्पन्न होनेवाला तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानो को उत्पन्न करनेवाला भावना नाम का संस्कार है। साक्षात् देखे हुए=महसूस किये हुए या सुने हुए पदार्थो का स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि से इस संस्कार का अस्तित्व सिद्ध होता है। इस संस्कार के बिना स्मरण आदि हो सकता नहीं है।

स्थितिस्थापकसंस्कार मूर्तिमान्पदार्थो का गुण है। घन अवयव के संनिवेशविशिष्ट अपने आश्रय को अर्थात् घन अवयववाली कालांतरस्थायिवस्तु को दूसरी अवस्था में ले जाने पर भी उस वस्तु को प्रयत्न से पूर्वावस्था में पुनः स्थापन करता है, उसे स्थितिस्थापक कहा जाता है। जैसे कि, बहोत लम्बेकाल से लपेट के रखे हुए तालपत्र को पसार के रखने पर भी पुनः वे लिपट जाते है। उसमें यह स्थितिस्थापक गुण कारण बनता है।

उसी तरह से वृक्ष की शाखा को नीचे से पकडकर झुकाया जाये और फिर छोड देने से पुनः वह इस संस्कार के कारण मूल अवस्था में आ जाती है।

धनुष्य को खींच के तीर छोडने के बाद धनुष्य मूल स्थिति में इस संस्कार के कारण आ जाता है। सिंग को या दांत आदि को खिंच के फिर छोड देने से मूल स्थिति में आ जाते है। घडीया के रखे हुए कपडे आदि

(A) द्रष्टव्यम् - प्रश० भा० - पृ. ३८-४३

(G-86-87) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को खोल के छोड दिया जाये तो इस संस्कार के कारण पुनः लिपट जाते है। इन उदाहरणो में स्पष्ट रुप से स्थितिस्थापक संस्कार का कार्य दिखाई देता है। (२०)

प्रज्वलनात्मक **द्वेष** है। उस द्वेष की विद्यमानता में आत्मा में क्रोध प्रज्वलित होता है। इसलिए वह द्वेष होने पर क्रोध से प्रज्वलित आत्मा को माना गया है। द्वेष की विद्यमानता में आत्मा अंदर से जला करता है। द्रोह, क्रोध, अहंकार,अक्षमा, असिहष्णुता आदि द्वेष के ही भेद=रुपान्तर है। (२१)

स्नेह = चीकनाहट, पानी का विशेष गुण है। वह आटा आदि को पिंडीभूत करने में तथा पदार्थो को स्वच्छ करने में कारण बनता है। वह गुरुत्व की तरह नित्य भी है और अनित्य भी है। परमाणुओ का स्नेह नित्य है तथा कार्यद्रव्यो का स्नेह अनित्य है। (२२)

गुरुत्व = भारीपन। पानी और पृथ्वी की पतनक्रिया का कारण है। अर्थात् गुरुत्व पानी और पृथ्वी को नीचे गीरने में कारण होता है। वह अप्रत्यक्ष=अतीन्द्रिय है। जिस तरह से पानी आदि परमाणुओ के रुपादि नित्य और कार्यद्रव्य अनित्य है। इसी तरह से गुरुत्व भी परमाणुओ में नित्य और कार्यद्रव्य में अनित्य है। (२३)

स्यन्दन = बहने में कारणभूत गुण द्रवत्व है। वह द्रवत्व पृथ्वी, पानी और अग्नि में रहता है। द्रवत्व दो प्रकार का है। (१) साहजिक और (२) नैमित्तिक। पानी में साहजिकद्रवत्व है। परंतु पृथ्वी और अग्नि में अग्नि के संयोग से उत्पन्न होता नैमित्तिक द्रवत्व है। जैसे कि घी, सुवर्ण तथा सीसा इत्यादि में अग्निसंयोग से द्रवत्व उत्पन्न होता है। (२४)

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और मन, इन मूर्तद्रव्यो में प्रयत्न और अभिघातविशेष से क्रिया होती है तथा क्रिया से वेग उत्पन्न होता है।

यह वेग[१] नियतदिशा में क्रिया करने में = गति करने में कारण बनता है। अर्थात् वेग के कारण फेंका गया हुआ पत्थर नियत दिशा में ही जाता है। दूसरी - दूसरी दिशा में जाता नहीं है। तथा वह स्पर्शवाले पृथ्वी आदि मूर्तपदार्थो के संयोग का विरोधी है। अर्थात् स्पर्शवाले पृथ्वी आदि मूर्तपदार्थो से टकराने के कारण वेग रुक के नष्ट हो जाता है।

शरीर आदि के प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाली क्रिया से बाण में क्रिया और वेग उत्पन्न होते है। इस वेग के कारण बाण बीच में गिर जाता नहीं है और वह बाण नियतदिशा में क्रिया करता है और उसका नियतलक्ष्य के साथ ही संबंध होता है। उससे वेग की सत्ता सिद्ध होती है। पत्थर आदि के अभिघात से वृक्षो की शाखा में क्रिया हो के वेग उत्पन्न होता है।

किसी [२]आचार्यने संस्कार के तीन प्रकार कहे है। वेग, भावना और स्थितिस्थापक। उनके मतानुसार

(१) "वेगो मूर्तिमत्सु पञ्चसु...." प्रश. भा. पृ. १३६ ।

(२) प्रशस्तपादभाष्यकाराः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वेग संस्कार का ही भेद है। स्वतंत्रगुण नहीं है। इसलिए उनके मत में चौबीस ही गुण है। शौर्य, औदार्य, कारुण्य, दाक्षिण्य, उन्नति आदि गुणो का इस प्रयत्न, बुद्धि आदि गुणो में ही अन्तर्भाव हो जाता होने से चौबीस से अधिक गुण नहीं है।

स्पर्श आदि सभी गुणो में गुणत्व का अभिसंबंध = समवाय है। वे स्पर्शादि सभी गुण द्रव्याश्रित है। निष्क्रिय तथा निर्गुण है।

स्पर्श, रस, गंध, रुप, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग ये गुण मूर्तद्रव्यो के है।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, भावना, द्वेष और शब्द ये गुण अमूर्तद्रव्यो के है। संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग, ये गुण मूर्त और अमूर्त दोनो द्रव्यो के है। इत्यादि गुणो का विशेषस्वरुप स्वयं समज लेना। ॥६३॥

अथ कर्मव्याचिख्यासुराह - अब कर्मपदार्थ का व्याख्यान करते है।

(मू. श्लो.) [1]उत्क्षेपावक्षेपावाकुञ्चनकं प्रसारणं गमनम् ।
पञ्चविधं कर्मेतत्परापरे द्वे तु सामान्ये[A] ।।६४।।

श्लोकार्थ : उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन ये पांच कर्म है। परसामान्य और अपरसामान्य के भेद से दो प्रकार का सामान्य है। ॥६४॥

व्याख्या-उत्क्षेपः-उर्ध्वं क्षेपणं मुशलादेरूर्ध्वं नयनमुत्क्षेपणं कर्मेत्यर्थः । तद्विपरीतोऽवक्षेपोऽधोनयनमित्यर्थः ।। ऋजुनोऽङ्गुल्यादिद्रव्यस्य कुटिलत्वकारणं कर्माकुञ्चनम् । स्वार्थे कप्रत्यय आकुञ्चनकम् । येन वक्रोऽवयव्यृजुः संपद्यते तत्कर्म प्रसारणम् । यदनियतदिग्देशैः संयोगविभागकारणं तद्गमनम् । अनियतग्रहणेन भ्रमणपतनस्यन्दनरेचनादीनामपि गमन एवान्तर्भावो विभावनीयः । पञ्चविधमेव कर्म क्रियारूपमेतदनन्तरोक्तम् । अथ सामान्यमुच्यते । तुशब्दस्य व्यस्तसंबन्धात्सामान्ये तु द्वे परापरे-परमपरं च द्विविधं सामान्यमित्यर्थः ।।६४।।

व्याख्या का भावानुवाद :

उत्क्षेप = उपर की ओर फेंकना। मुसलादि को उपर की ओर ले जाने की क्रिया को उत्क्षेपण कहा जाता है। उत्क्षेपण से विपरीत अवक्षेपण। अर्थात् नीचे ले जाना। अर्थात् नीचे की ओर ले जाने की क्रिया को अवक्षेपण कहा जाता है।

सीधी ऊंगली आदि द्रव्यो को कूटिलता में कारणभूत क्रिया आकुञ्चन है। अर्थात् सीधी ऊंगली आदि को टेढी करनेवाली क्रिया को आकुञ्चन कहते है। स्वार्थ में "**क**" प्रत्यय लगकर "**आकुञ्चनकम्**" शब्द

१. "उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि" वैश० सू० - १/१/७

A. "सामान्यं द्विविधम् - परमपरञ्च" - प्रश० भा० पृ० १६०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बना हुआ है। जिसके द्वारा वक्र अवयव सरल हो जाता है, उस क्रिया को **प्रसारण** कहा जाता है। अनियतदिशा और देशो से संयोग और विभाग में कारणभूत क्रिया को **गमन** कहा जाता है। (अनियत किसी भी दिशा में तिरछा आदि रुप से होनेवाली सभी क्रियाएं गमन है।) लक्षण में रहे हुए अनियतशब्द से भ्रमण, पतन, स्यंदन, रेचन आदि का भी गमन में ही अन्तर्भाव हो जाता है। (कहने का मतलब यह है कि उत्क्षेपण में नियत रुप से उपर के आकाशप्रदेशो से संयोग और नीचे के आकाशप्रदेशो से विभाग होता है। अवक्षेपण क्रिया में उपर के प्रदेशो से विभाग और नीचे के प्रदेशो से संयोग होता है। आकुञ्चन में वस्तु के मूल प्रारंभ के अपने ही प्रदेशो में संयोग होके अन्य आकाशप्रदेशो से विभाग होता है। प्रसारण में मूलप्रदेशो से विभाग होके अन्य अग्रभाव के आकाशप्रदेशो से संयोग होता है। जबकि गमन में अनियतदिशाओ में सभी तरफ के आकाशप्रदेशो से संयोग-विभाग होता है।) ये पांच प्रकार के कर्म क्रियारुप है।

"तु" शब्द का संबंध "**सामान्य**" शब्द के साथ करे। अर्थात् वैसे ही सामान्य पर और अपर के भेद से दो प्रकार का है। ॥६४॥

अथ परापरे व्याख्याति - अब पर और अपर सामान्य की व्याख्या करते है -

(मू. श्लो.) तत्र परं सत्ताख्यं द्रव्यत्वाद्यपरमथ विशेषस्तु ।
निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यो विनिर्दिष्टः ॥६५॥

श्लोकार्थ : उसमें सत्ता परसामान्य है। तथा द्रव्यत्व, गुणत्व आदि अपर सामान्य है। निश्चय से = परमार्थ से नित्यद्रव्य में रहनेवाला अन्त्य विशेषपदार्थ कहा जाता है। ॥६५॥

व्याख्या-तत्र-तयोः परापरयोर्मध्ये परं-सामान्यं [A]सत्ताख्यम् । इदं सदिदं सदित्यनुगताकारज्ञानकारणं सत्तासामान्यमित्यर्थः । तच्च त्रिषु द्रव्यगुणकर्मसु पदार्थेषु सत्सदित्यनुवृत्तिप्रत्ययस्यैव कारणत्वात्सामान्यमेवोच्यते, न तु विशेषः । अथापरमुच्यते "द्रव्यत्वादि" द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं चापरं [B]सामान्यम्, तत्र नवसु द्रव्येषु द्रव्यं द्रव्यमिति बुद्धिहेतुर्द्रव्यत्वम् । एवं गुणेषु गुणत्वबुद्धिविधायि गुणत्वं, कर्मसु च कर्मत्वबुद्धिकारणं कर्मत्वम् । तच्च द्रव्यत्वादिकं स्वाश्रयेषु द्रव्यादिष्वनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात्सामान्यमप्युच्यते, स्वाश्रयस्य च विजातीयेभ्यो गुणादिभ्यो व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुतया विशेषोऽप्युच्यते । ततोऽपरं सामान्यमुभयरूपत्वात्सामान्यविशेषसंज्ञां लभते । अपेक्षाभेदादेकस्यापि सामान्यविशेषभावो न विरुध्यते । एवं पृथिवीत्वस्पर्शत्वोत्क्षेपणत्वगोत्वघटत्वादीनामप्यनुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुत्वा-

A. "तत्र सत्तासामान्ये परमनुवृत्तिप्रत्ययकारणमेव ।" प्रश० भा० पृ-१६५ ।

B. "अपरं द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादिअनुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुत्वात्सामान्यं विशेषश्च भवति । प्रश० भा० पृ. १६५ ।

१. 'तुल्यत्वम् तुल्यत्वात् न जातित्वम्' इत्यधिकम् क्वचित् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्सामान्यविशेषभावः सिद्ध इति । अत्र सत्तायोगात्सत्त्वं यदिष्यते तद्द्रव्यगुणकर्मस्वेव न पुनराकाशादिषु, आकाशकालदिक्षु हि वस्तुस्वरूपमेवास्तित्वं स्वीक्रियते व्यक्त्यैक्यादिकारणैः । तथा चोदयनः "व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः । रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः ।।१।।" [प्रश० किरणा० पृ-३३] अस्य व्याख्या- व्यक्तेरभेद एकमनेकवर्ति सामान्यम् । आकाशे व्यक्तेरभेदान्न जातित्वम् १ । पृथिवीत्वे जातौ यदि भूमित्वमुच्यते, तदा [१]तुल्यत्वम् २ । परमाणुषु जातित्वेऽङ्गीकृते पार्थिवाप्यतैजसवायवीयत्वयोगात्सङ्करः ३ । सामान्ये यदि सामान्यमङ्गीक्रियते, तदा मूलक्षतिकारिणी अनवस्थितिः ४ । विशेषेषु यदि सामान्यं स्वीक्रियते, तदा विशेषस्य रूपहानिः ५ । यदि समवाये जातित्वमङ्गीक्रियते, तदा संबन्धाभावः । केन हि संबन्धेन तत्र सत्ता संबध्यते ?, समवायान्तराभावादिति ६ । परे पुनः प्राहुः-सामान्यं त्रिविधं, महासामान्यं सत्तासामान्यं सामान्यविशेषसामान्यं च । तत्र महासामान्यं षट्स्वपि पदार्थेषु पदार्थत्वबुद्धिकारि । सत्तासामान्यं त्रिपदार्थसट्टुद्धिविधायि । सामान्यविशेषसामान्यं तु द्रव्यत्वादि । अन्ये त्वाचक्षते त्रिपदार्थसत्कारी सत्ता, सामान्यं द्रव्यत्वादि, सामान्यविशेषः पृथिवीत्वादिरिति । लक्षणभेदादेतेषां सत्तादीनां द्रव्यगुणकर्मभ्यः पदार्थान्तरत्वं सिद्धम् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

पर और अपरसामान्य में परसामान्य सत्ता है। "यह सत् है", "यह सत् है" - इस प्रकार का अनुगताकारकज्ञान का जो कारण बनता है उसको सत्तासामान्य कहा जाता है। अर्थात् सत्ता, "यह सत् है", "यह सत् है, यह सत् है" इस सद्रुप से अनुगतज्ञान की उत्पत्ति में कारण बनती है। वह सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन पदार्थो में "**सत् सत्**" इत्याकारक अनुवृत्ति = अनुगतज्ञान का ही कारण बनती है। इसलिए वह सामान्य ही है। परन्तु विशेष नहीं है। अर्थात् सत्ता मात्र सामान्यरुप ही है, विशेषरुप नहीं है।

अब अपरसामान्य को कहते है। द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व अपर सामान्य है। उसमें नौ द्रव्यो में "यह द्रव्य है, यह द्रव्य है" इत्याकारक जो बुद्धि होती है उसमें कारण द्रव्यत्व, अपर सामान्य है। इस अनुसार से रुपादि सभी गुणो में "**यह गुण है, यह गुण है**" इत्याकारकबुद्धि को करनेवाला गुणत्व अपरसामान्य है। पांचो कर्मो में "**यह कर्म है, यह कर्म है**" इत्याकारक बुद्धि में कारण कर्मत्व अपरसामान्य है।

वे द्रव्यत्वादि अपने आश्रय ऐसे द्रव्यादि में अनुगताकारक ज्ञान के कारण होने से सामान्य भी है और अपने आश्रय को विजातीयगुणादि से व्यावृत्त करता होने से अर्थात् व्यावृत्ति ज्ञान का कारण होने से विशेष भी कहा जाता है। इसलिए अपरसामान्य अपेक्षा से उभयरुप होने से सामान्य और विशेष दोनो संज्ञा को प्राप्त करता है। अपेक्षा का भेद होने से एक में ही सामान्य और विशेष का व्यपदेश विरोधी नहीं है। इस अनुसार से पृथ्वीत्व, स्पर्शत्व, उत्क्षेपणत्व, गोत्व, घटत्व आदि भी अनुगताकारकज्ञान के तथा व्यावृत्तिज्ञान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के कारण होने से सामान्य और विशेष दोनो तरह से सिद्ध है।

यहाँ जो सत्ता के संबंध से=समवाय से सत् माना जाता है, ऐसा कहा वह मात्र द्रव्य, गुण और कर्म में ही जानना। अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन ही पदार्थ सत्ता के समवाय से सत् माने जाते है। परंतु आकाशादि में नहीं। आकाश काल और दिशा में स्वरुपात्मक अस्तित्व माना गया है। आकाश में जाति नहीं मानी जाती है। क्योंकि आकाश आदि एक - एक ही व्यक्ति है। श्रीउदयनाचार्यने कहा है कि, **"व्यक्ति का अभेद, तुल्यत्व, संकर, अनवस्था, रुपहानि और असंबंध ये छः जाति-बाधक है"** अब इस श्लोक की व्याख्या करते है।

(१) **व्यक्ति का अभेद :** व्यक्ति का अभेद। अर्थात् व्यक्ति का अकेलापन जाति में बाधक है। क्योंकि सामान्य तो अनेक व्यक्तिओ में रहता है, आकाश में व्यक्ति का अभेद होने से अर्थात् आकाश एक ही होने से उसमें आकाशत्व जाति नहीं मानी जाती। (उसी तरह से काल आदि भी एक होने से कालत्वादि भी जाति नहीं मानी जाती।)

(२) **तुल्यत्व :** पृथ्वी में पृथ्वीत्वजाति होने पर भी यदि उसमें भूमित्व को जाति कहा जाये तो तुल्यत्वजाति बाधक दोष आयेगा। अर्थात् पृथ्वी में पृथ्वीत्व और भूमित्व नाम की समानार्थक दो जातियां रहती नहीं है। क्योंकि दोनो की व्यक्ति तुल्य है। तथा वे दोनो समानार्थक है। इसलिए पृथ्वीत्व से तुल्यता होने से भूमित्व अतिरिक्त जाति नहीं बनता।

(३) **संकर :** (एक दूसरे के) अभाव के साथ समानाधिकरण हो ऐसे दो धर्म किसी एक स्थान में रह जाना वह सांकर्यदोष है। यह दोष जाति का बाधक है। (जैसे कि **"परमाणुत्व,"** को जाति के रुप में मानने में यह सांकर्य दोष आता है। घट में परमाणुत्व नहीं है। पृथ्वीत्व है। जलीय परमाणुओ में परमाणुत्व है, पृथ्वीत्व नहीं है। तथा पार्थिव परमाणुओ में परमाणुत्व और पृथ्वीत्व दोनो है।)

परमाणुत्व को जाति मानने से उसका पृथ्वीत्व, जलत्व, अग्नित्व और वायुत्व इन सभी के साथ (उपर बताये अनुसार) सांकर्य होता है। इसलिए परमाणुत्व जाति नहीं है। (मात्र एक धर्मविशेष है।)

(४) **अनवस्था :** सामान्य (जाति) में ही जाति मानने में मूल का क्षय करनेवाला अनवस्थादोष आता है। (अकाल्पनिक कल्पनाओ की कहीं भी विश्रांति न होना वह अनवस्थादोष है। मान लो कि जगत में घटत्व, पटत्व, कटत्व आदि तीन जातियां ही है। ये तीनो के बारे में, **"यह जाति, यह जाति, यह जाति।"** इत्याकारक अनुगतप्रतीति तो होती ही है। इसलिए ये तीनो में रही हुई हो ऐसी एक "अ" जाति माननी पडेगी। अब जगत में चार जाति हुई। उन चारो में भी **"यह जाति, यह जाति, यह जाति"** इस अनुसार से अनुगताकारक बुद्धि होती है। इसलिए उन चारो में रहनेवाली **"ब"** जाति माननी पडेगी। इस तरह से कुल मिलाके पांच जातियां हुई। वे भी सभी में समानाकारकबुद्धि तो होती ही है। इसलिए आगे उसमें रहनेवाली नयी छट्ठीजाती माननी पडेगी। इस तरह से कल्पनाओ का अंत ही नहीं आयेगा। अनवस्था चलेगी। इस अनवस्था नाम के जातिबाधक के कारण सामान्य (जाति) में जाति नहीं मानी जाती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह अनवस्था मूलतः सामान्यपदार्थ का ही लोप कर डालती है। इसलिए उसको मूलक्षतिकारि कहा जाता है।

(५) **रुपहानि :** यदि विशेष में जाति मान ले तो विशेष के स्वरुप की हानि होगी। (जिसमें जाति मानने से उस पदार्थ के स्वरुप की हानि हो जाती हो तो वह धर्म जाति नहीं बन सकता। इसलिए यदि विशेषपदार्थ में भी जाति मानोंगे, तो वह भी स्वतः व्यावृत्त नहि हो सकेगा। परंतु जाति के द्वारा व्यावृत्त होगा। उससे विशेष के "**स्वतः व्यावर्तक**" स्वरुप की हानि हो जायेगी। इसलिए विशेषपदार्थ में जाति नहीं मानी जाती।)

(६) **असंबंध = संबंधाभाव :** यदि समवाय में जाति मानोंगे तो संबंधाभाव नाम का दूषण आयेगा। (सत्ता अन्यपदार्थो में समवायसंबंध से रहती है।) तो सत्ता किस संबंध से समवाय में रहेगी ? क्योंकि दूसरे समवाय का अभाव है। समवाय तो एक ही है। (इस तरह से द्रव्यादि तीन पदार्थो में सत्ता समवाय संबंध से रहती है। बाकी के सामान्यादि पदार्थ स्वरुपसत् है।) इसलिए दूसरे समवाय का अभाव होने से अर्थात् समवाय एक ही होने से संबंधाभाव के कारण समवाय में जाति मानी जाती नहीं है।

दूसरे किसी आचार्यने तीन प्रकार के सामान्य कहे है। (१) महासामान्य, (२) सत्तासामान्य, (३) सामान्य - विशेषसामान्य।

उसमें महासामान्य छः पदार्थो में रहता है। तथा उसमें "**पदार्थ, पदार्थ**" इत्याकारक पदार्थत्व बुद्धि को उत्पन्न करता है। सत्तासामान्य द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन पदार्थो में "सत् सत्" बुद्धि उत्पन्न करता है। द्रव्यत्व आदि सामान्य विशेष-सामान्य है। (वह प्रतिनियत द्रव्य आदि में "**द्रव्य, द्रव्य**" आदि अनुगतबुद्धि करता है। तथा गुणादि से व्यावृत्ति करता है।)

अन्य आचार्य इस अनुसार से कहते है - सत्ता, "द्रव्य, गुण और कर्म" ये तीन पदार्थो में "**सत्, सत्**" बुद्धि कराती है। (इसलिए वह सत्तारुप महासामान्य है।) द्रव्यत्वादि सामान्यरुप है। पृथ्वीत्वादि सामान्यविशेषरुप है। द्रव्य, गुण और कर्म से सत्ता आदि के लक्षण भिन्न होने से सत्ता आदि द्रव्यादि से भिन्न पदार्थ है। अर्थात् सत्ता आदि स्वतंत्र पदार्थ के रुप में सिद्ध होते है।

'अथ' इत्यानन्तर्ये । विशेषस्तु निश्चयतः-तत्त्ववृत्तित एव विनिर्दिष्टः, न पुनर्घट-पटकटादिरिव व्यवहारतो विशेषः । तुशब्दोऽनन्तरोक्तसामान्यादस्यात्यन्तव्यावृत्तिबुद्धि-हेतुत्वेन भृशं वैलक्षण्यं सूचयति । यत एव निश्चयतो [A]विशेषः, तत एव 'नित्यद्रव्य-वृत्तिरन्त्यः' इति । तत्र नित्यद्रव्येषु विनाशारम्भरहितेष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनःसु वृत्तिर्वर्तनं यस्य स नित्यद्रव्यवृत्तिः । तथा परमाणूनां जगद्विनाशारम्भकोटिभूतत्वात् मुक्तात्मानां मुक्तमनसां स संसारपर्यन्तरूपत्वादन्तत्वम्, अन्तेषु भवोऽन्त्यो विशेषो विनिर्दिष्टः-प्रोक्तः, अन्तेषु स्थितस्य विशेषस्य स्फुटतरमालक्ष्यमाणत्वात् । वृत्तिस्तु तस्य सर्वस्मिन्नेव परमाण्वादौ नित्ये द्रव्ये

A "नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः । ते खल्वत्यन्तव्यावृत्तिहेतुत्वाद्विशेषा एव ।"- प्रश० भा० पृ० ४ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विद्यत एव । अत एव नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्य इत्युभयपदोपादानम् । विशेषश्च द्रव्यं द्रव्यं प्रत्येकैक एव वर्तते नानेकः, एकेनैव विशेषेण स्वाश्रयस्य व्यावृत्तिसिद्धेरनेकविशेषकल्पनावैयर्थ्यात् । सर्वनित्यद्रव्याण्याश्रित्य पुनर्विशेषाणां बहुत्वेऽपि जातावत्रैकवचनम् । तथा च प्रशस्तकारः "अन्तेषु भवा अन्त्याः, स्वाश्रयस्य विशेषकत्वात् विशेषाः, विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनःसु प्रतिद्रव्यमेकशो वर्तमाना अत्यन्त-व्यावृत्ति-बुद्धिहेतवः, यथास्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिगुणक्रियावयवसंयोगनिमित्ता प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा, यथा गौ शुक्लः, शीघ्रगतिः, पीनककुद्मान्, महाघण्ट इति । तथास्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनःसु चान्य-निमित्तासंभवाद्येभ्योनिमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः, देशकालविप्रकृष्टे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति, तेऽन्त्या विशेषा इति" ।। प्रश-भा.पृ.१६८।। अन्ये तु 'नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः' इति सूत्रमेवं व्याचक्षते । नित्यद्रव्येष्वेव वृत्तिरेव येषामिति सावधारणं वाक्यमेतत् । नित्यद्रव्यवृत्तय इति पदमन्त्य-पदस्य विवरणमेतत्, तथा चोक्तम्-- नित्यद्रव्याण्युत्पत्तिविनाशयोरन्ते व्यवस्थित्वादन्त-शब्दवाच्यानि तेषु भवास्तद्वृत्तयो विशेषा [A]अन्त्या [ ] इत्याख्यायन्त इति । अमी चात्यन्तव्यावृत्तिहेतवो द्रव्यादिभ्यो वैलक्षण्यात्पदार्थान्तरम् ।।६५।।

व्याख्या का भावानुवाद :

श्लोक में "**अथ**" शब्द आनन्तर्य अर्थ में है। **अथ** = उसके बाद।

विशेषपदार्थ निश्चय से = तात्त्विकदृष्टि से ही कहे गये है। नहि कि घट, पट, कट आदि की तरह व्यावहारिक दृष्टि से। श्लोक में **तु** है। उससे सूचन होता है कि यह विशेषपदार्थ अत्यंत व्यावृत्तबुद्धि कराने में कारण होने से पहले नजदीक में कहे हुए सामान्यपदार्थ से अत्यंतविलक्षण है। जिस कारण से विशेषपदार्थ का निरुपण तात्त्विकदृष्टि से किया है। उसी कारण से ही वह विशेषपदार्थ नित्यद्रव्यो में रहनेवाला तथा अन्त्य है। उत्पाद और विनाश से रहित परमाणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन में इस विशेषपदार्थ की वृत्ति है।

संसार के विनाश - प्रलय और संसार के आरंभ में परमाणु ही दिखाई देते है। इसलिए उसको अन्त कहा जाता है। तथा मुक्त आत्मा तथा मुक्तात्माओ के मनने भी संसार का अंत किया है। इसलिए वह भी अन्त कहा जाता है।

अन्त = अंतिमवस्तुओ में रहनेवाला अन्त्य कहा जाता है। अन्त = अंतिमअवस्था में प्राप्त परमाणु आदि में विशेषपदार्थ स्पष्टतया प्रतीत होता है। तथा वह विशेषपदार्थ सभी परमाणु आदि नित्यद्रव्यो में रहता है।

A. "उत्पादविनाशयोरन्तेऽवसाने भवन्तीत्यन्त्या नित्यद्रव्याणि तेषु भवन्तीत्यन्त्या विशेषा इति वृत्तिकृतः ।" वैशे० उप० १/२/६/

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए ही विशेष के लक्षण में "**नित्यद्रव्यवृत्ति**" और अन्त्य इन दो पदो को ग्रहण किये है। प्रत्येक नित्यद्रव्य में एक एक ही विशेषपदार्थ रहता है। अनेक नहि। जब एक ही विशेष से उस नित्यद्रव्य की अन्य पदार्थो से व्यावृत्ति हो जाती हो तो अनेक विशेष की कल्पना निरर्थक है। (सर्वनित्य द्रव्यो में एक एक विशेष होने से कुलविशेष अनंत है। (सर्वनित्य द्रव्यो के आश्रय में विशेष बहोत होने पर भी एकवचन का प्रयोग जाति की = संग्रह की अपेक्षा से किया है। [कहने का मतलब यह है कि संसार का प्रलय होने के बाद तथा संसार के प्रारंभ में सर्वत्र परमाणु परमाणु ही दिखाई देते है। इसलिए उसको "**अन्त**" कहा जाता है। इस तरह से मुक्तजीवो के आत्मा तथा मुक्तजीवो के मन भी संसार का अंत कर चूके होने से अन्त कहे जाते है। ये सब भी अन्त = अंतिम चीजो में विशेषपदार्थ व्यावृत्तिबुद्धि कराता है। उसमें उसका रहना है - इसलिए यह "**अन्त्य**" कहा जाता है। इस अंतिम अवस्था में मिलते परमाणु आदि में विशेषपदार्थ का कार्य स्पष्टतया मालूम पडता है। क्योंकि वे सभी परमाणु आदि तुल्यगुण, तुल्यक्रिया तथा तुल्यआकृति आदि वाले है। इसलिए उसमें अन्यनिमित्तो से व्यावृत्तबुद्धि हो सकती नहीं है। उस कारण से उसमें विशेषपदार्थ ही व्यावृत्तबुद्धि करवाता है और योगीयों को विशेषपदार्थ उनमें स्पष्ट दिखता ही है। यह विशेषपदार्थ सर्व परमाणु आदि नित्यद्रव्यो में रहता है। अन्त=अंतिम चीजो में विशेष का स्फुटतरप्रतिभास होता है। इसलिए लक्षण में "**नित्यद्रव्यवृत्ति**" और "**अन्त्य**" दोनो विशेषण दिये है। शेष उपर अनुसार)

तथा प्रशस्तपादभाष्यकार ने कहा है कि... "विशेष अन्त = अंतिम अवस्था प्राप्त द्रव्यो में रहने के कारण अन्त्य है। अपने आश्रयभूत द्रव्य का विशेषक = भेदक होने से विशेष है। अर्थात् अपने आश्रयभूतद्रव्य का विशेषक - भेदक होने से विशेष है। अर्थात् अपने आश्रयभूतद्रव्य को अन्य से व्यावृत्ति करवाता है। इसलिए विशेष - भेदक है। वह विनाश और आरंभरहित परमाणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन इन नित्यद्रव्यो में प्रत्येक में एक-एक करके रहता है। तथा अत्यंत व्यावृत्तबुद्धि कराने में कारणभूत होता है। जैसे हम लोगो को गाय आदि में अश्वादि से जाति, आकृति, गुण, क्रिया, विशिष्ट अवयव, घडे में घंट आदि के संयोग आदि से विलक्षणबुद्धि होती है कि... "वह गाय है, सफेद है, शीघ्रगतिवाली है। पुष्टस्कन्धवाली है, घडे में बडा घंट है," इसी तरह से हम लोगो से विशिष्ट ज्ञानवाले योगीओ को समान आकृति, समानगुण तथा समानक्रियावाले नित्य परमाणुओ में मुक्तात्माओ में तथा मुक्तात्माओ के मनो में अन्य जाति आदि व्यावर्तक निमित्त से परमाणु आदि में "**यह विलक्षण है, यह विलक्षण है**।" यह विलक्षण=व्यावृत्त बुद्धि होती है। उसको अन्त्य विशेष कहा जाता है। तथा इस विशेषपदार्थ के कारण देश-काल से "**वही यह परमाणु है।**" ऐसा प्रत्यभिज्ञान (निर्बाधरुप से) होता है।

अन्य व्याख्याकार विशेष के लक्षण में यह सूत्र कहते है "**नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः**" नित्यद्रव्य में रहनेवाला अन्त्य विशेष है।

"सभी वाक्य सावधारण होते है" - "**इस न्याय से नित्यद्रव्यो में ही जिनकी वृत्ति है, उसे**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेष कहा जाता है।" इस तरह से सूत्र का अर्थ होगा। सूत्र में "**नित्यद्रव्यवृत्तयः**" को अन्त्यपद का विवरण मान के इस अनुसार से अर्थ कहा है। तथा कहा है कि... "नित्यद्रव्य उत्पत्ति और विनाश से अन्त=पर रहे हुए होने से उनको "**अन्त**" कहा जाता है। उस अन्त में रहनेवाले अर्थात् नित्यद्रव्य में रहनेवाला विशेषपदार्थ अन्त्य भी कहा जाता है,"

ये विशेष अत्यंत व्यावृत्तबुद्धि कराने में कारण होने से द्रव्यादि से विलक्षण है। इसलिए स्वतंत्र पदार्थ है। ॥६५॥

अथ समवायं स्वरुपतो निरुपयति। अब समवाय के स्वरुप का निरुपण करते है।

(मू. लो.) य इहायुतसिद्धानामाधारधेयभूतभावानाम् ।
संबन्ध इह प्रत्ययहेतुः स हि भवति समवायः[A] ॥६६॥

श्लोकार्थ : अयुतसिद्ध - आधार- आधेयभूतपदार्थो के "यह इसमें है" इत्याकारक "**इहेदं**" प्रत्यय में कारणभूतसंबंध समवाय कहा जाता है। ॥६६॥

व्याख्या-केचिद्धातुपारायणकृतो 'यु अमिश्रणे' इति पठन्ति, तत एवायुतसिद्धानामित्यादि वैशेषिकीयसूत्रे अयुतसिद्धानामपृथक्सिद्धानामिति व्याख्यातम्। तथा लोकेऽपि भेदाभिधायी युतशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते, द्वावपि भ्रातरावेतौ युतौ जातावित्यादि। ततोऽयमत्रार्थः। "इह" वैशेषिकदर्शने "अयुतसिद्धानाम्" अपृथक्सिद्धानां, तन्तुषु समवेतपटवत् पृथगाश्रयानाश्रितानामिति यावत् आधाराश्चाधेयाश्च आधाराधेया ते भवन्ति स्म "आधाराधेयभूताः" ते च ते भावाश्चार्थाः तेषां यः "संबन्ध इह प्रत्ययहेतुः" इह तन्तुषु पटः इत्यादेः प्रत्ययस्यासाधारणं कारणं "स हि" स एव "भवति समवायः" संबन्धः। यतो हीह तन्तुषु पटः, इह पटद्रव्ये गुणकर्मणी, इह द्रव्यगुणकर्मसु सत्ता, इह द्रव्ये द्रव्यत्वं, इह गुणे गुणत्वं, इह कर्मणि कर्मत्वं, इह द्रव्येष्वन्त्या विशेषा इत्यादि विशेषप्रत्यय उत्पद्यते, स पञ्चभ्यः पदार्थेभ्योऽर्थान्तरं समवाय इत्यर्थः। स चैको विभुर्नित्यश्च विज्ञेयः ॥६६॥

व्याख्या का भावानुवाद :

कोई धातुपाठी यु धातु का "अमिश्रण" अर्थ में भी पाठ करते है। इसलिए वैशेषिकसूत्र में "**अयुतसिद्धानाम्**" पद का व्याख्याकारो ने "**अपृथक्सिद्धानाम्**" अर्थ किया है। लोकव्यवहार में भी भेद को कहनेवाले "**युत**" शब्द का प्रयोग होता दिखाई देता है। "**ये दोनो भी भाई साथ जनमें**" इसका अर्थ यह हुआ कि दोनो भाइयो की सत्ता पृथक् - पृथक् है - दोनो भिन्न-भिन्न है। (युत = संयुक्त तो दो भिन्न सत्तावाले पदार्थ ही हो सकते है। एक में तो संयुक्त या युत व्यवहार दिखाई नहीं देता है।) इसलिए

A अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः संबन्ध इह प्रत्ययहेतुः स समवायः। एवं धर्मैर्विना धर्मिणामुद्देशकृतः ॥" प्रश० भा० पृ.५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्लोक का अर्थ इस अनुसार होगा- **इह** = वैशेषिकदर्शन में अयुतसिद्ध = अपृथक्सिद्ध = जो पदार्थो की भिन्न - भिन्न स्थिति नहीं है, जो तंतु पट की तरह अर्थात् जो तंतु और पट की तरह भिन्न आश्रयो में रहते नहीं है। अर्थात् तंतु और पट की तरह अभिन्न आश्रयो में रहते है, भिन्न-भिन्न आधारो में रहते नहीं है। वे आधार - आधेयभूत जो पदार्थ है, उन पदार्थो में **''ये तंतुओ में पट है''** इत्यादि प्रत्यय का जो संबंध असाधारण कारण होता है, उसे समवाय कहा जाता है।

इस समवाय से ही ''तंतुओ में पट'', ''इस पटद्रव्य में गुण-कर्म'' इस द्रव्य-गुण कर्म में सत्ता,'' ''इस द्रव्य में द्रव्यत्व'', ''इस गुण में गुणत्व'', ''इस कर्म में कर्मत्व'' और ''इस नित्यद्रव्यो में विशेष'' इत्यादि विशेषप्रत्यय उत्पन्न होते है। इसलिए अवयव - अवयवीभूत द्रव्यो में, गुण और गुणी में, क्रिया और क्रियावान् में, सामान्य और सामान्यवान् में तथा विशेष और विशेषवान् पदार्थो में रहनेवाला नित्यसंबंध द्रव्यादि पांच पदार्थो से अर्थान्तर=पृथक्पदार्थ है। वह समवाय, एक, विभु और नित्य जानना। ॥६६॥

तदेवं षट्पदार्थस्वरूपं प्ररूपितम् । संप्रति प्रमाणस्य सामान्यतो लक्षणमाख्यायते । अर्थोपलब्धिहेतुः [A]प्रमाणमिति । **अस्यायमर्थः-अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धि-जनिका [B]सामग्री तदेकदेशो वा बोधरूपोऽबोधरूपो वा ज्ञानप्रदीपादिः साधकतमत्वात्प्रमाणम् । एतत्कार्यभूता वा यथोक्तविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिः प्रमाणस्य सामान्यलक्षणं, तया स्वकारणस्य प्रमाणाभासेभ्यो व्यवच्छिद्यमानत्वात् । इन्द्रियजत्वलिङ्गजत्वादिविशेषण-विशेषिता सैवोपलब्धिः प्रमाणस्य विशेषलक्षणमिति ।**

व्याख्या का भावानुवाद :

इस अनुसार से छः पदार्थो का स्वरुप कहा गया। अब प्रमाण का सामान्यलक्षण कहते है। **''अर्थोपलब्धि हेतुः प्रमाणम्''** पदार्थो की उपलब्धि में जो कारण बनता है, उसे प्रमाण कहा जाता है। कहने का मतलब यह है कि, अव्यभिचारी आदि विशेषणो से विशिष्ट = युक्त अर्थोपलब्धि को उत्पन्न करनेवाली ज्ञानरुप या अज्ञान (अचेतन) रुप समग्रसामग्री या सामग्री का एक अंश साधकतम होने से प्रमाण है। इस सामग्री में बोधरुपज्ञान तथा अचेतनदीपक आदि सभी का अन्तर्भाव होता है। अथवा इस सामग्री की कार्यभूत यथोक्तविशेषण से विशिष्ट अर्थोपलब्धि ही प्रमाण का सामान्य लक्षण है। अर्थात् इस सामग्री से उत्पन्न होनेवाली यथोक्त विशेषण से विशिष्ट निर्दोष अर्थोपलब्धि ही प्रमाण का सामान्यलक्षण है। इस यथोक्तविशेषण से विशिष्ट अर्थोपलब्धि अपनी कारणभूतसामग्री को प्रमाणाभास से व्यावृत्त कराती है। तथा वह सामान्य अर्थोपलब्धि ही इन्द्रियजत्व तथा लिंगजत्व विशेषण से विशेषित होके प्रत्यक्ष और अनुमानरुप प्रमाण का विशेष लक्षण बनती है। अर्थात् यह सामान्य अर्थोपलब्धि जब इन्द्रियो से उत्पन्न होती है, तब उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है और यही अर्थोपलब्धि जब लिंग से उत्पन्न होती है, तब अनुमान कहा

A. ''उपलब्धिहेतुष्टा प्रमाणं ।'' - न्याय भा० पृ. ९९ ।

B. ''अव्यभिचारिणीमसंदिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम् ।'' - न्यायमं० प्रमाण० पृ० १२ ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाता है । ॥६६॥

अथ प्रमाणसङ्ख्यां प्राह । अब प्रमाण की संख्या कहते है -

(मू. श्लो.) प्रमाणं च द्विधामीषां प्रत्यक्षं लैङ्गिकं तथा ।
वैशेषिकमतस्यैष संक्षेपः परिकीर्तितः ।।६७।।

श्लोकार्थ : वैशेषिक लोग प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते है। इस अनुसार से वैशेषिक मत का संक्षेप से निरुपण किया गया । ॥६७॥

व्याख्या-अमीषां-वैशेषिकाणां प्रमाणं द्विधा-द्विविधम् । चः पुनरर्थे । कथमित्याह "प्रत्यक्षं" । तथेति समुच्चये । लिङ्गाज्जातं लैङ्गिकं च तत्र प्रत्यक्षं द्वेधा, ऐन्द्रियं योगजं च । [G-88]ऐन्द्रियं-घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनःसन्निकर्षजमस्मदादीनां प्रत्यक्षम् । तद्द्वेधा, निर्विकल्पकं सविकल्पकं च । तत्र वस्तुस्वरूपालोचनमात्रं निर्विकल्पकम्, तच्च न सामान्यमात्रं गृह्णाति भेदस्यापि प्रतिभासनात्, नापि स्वलक्षणमात्रं सामान्याकारस्यापि संवेदनात्, व्यक्त्यन्तरदर्शने प्रतिसंधानाच्च, किंतु सामान्यं विशेषं चोभयमपि गृह्णाति । (यदि) परमिदं सामान्यमयं विशेष इत्येवं विविच्य न प्रत्येति, सामान्यविशेषसंबन्धिनोरनुवृत्तिव्यावृत्तिधर्मयोरग्रहणात् । सविकल्पकं तु सामान्यविशेषरुपतां विविच्य प्रत्येति वस्त्वन्तरैः सममनुवृत्तिव्यावृत्तिधर्मौ प्रतिपद्यमानस्यात्मन इन्द्रियद्वारेण तथाभूतप्रतीत्युपपत्तेः ।

[G-89]योगजमपि प्रत्यक्षं द्वेधा, युक्तानां प्रत्यक्षं वियुक्तानां च । तत्र युक्तानां समाधिमैकाग्र्यमाश्रितानां योगजधर्मबलादन्तःकरणे शरीराद्बहिर्निर्गत्यातीन्द्रियार्थैः समं संयुक्ते सति यदतीन्द्रियार्थदर्शनं तद्युक्तानां प्रत्यक्षम् । ये चात्यन्तयोगाभ्या[1]सोचितधर्मातिशयादसमाधिं प्राप्ता अप्यतीन्द्रियमर्थं पश्यन्ति, ते वियुक्ताः । तेषामात्ममनइन्द्रियार्थसन्निकर्षादेशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्राहकं यत्प्रत्यक्षं तद्वियुक्तानां प्रत्यक्षम् एतच्चोत्कृष्टयोगिनोऽवसेयं, योगिमात्रस्य तदसंभवादिति । विस्तरस्तु न्यायकन्दलीतो विज्ञेयः ।

व्याख्या का भावानुवाद :

इस वैशेषिको के मतानुसार दो प्रकार के प्रमाण है । श्लोक में "**च**" पुनः अर्थ में है और "**तथा**" समुच्चयार्थक है। प्रत्यक्ष तथा लिंग से उत्पन्न होनेवाला लैंगिक = अनुमान, ये दो प्रमाण है। प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। (१) इन्द्रियज, (२) योगज । हम लोगो की नाक, जीभ, आंख, स्पर्शन, श्रोत्र तथा मन इन्द्रियो के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाला प्रत्यक्ष इन्द्रियप्रत्यक्ष कहा जाता है ।

---

१. भ्यासासेवितधर्मा ।

(G-88-89) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उस इन्द्रियप्रत्यक्ष के भी दो प्रकार है - (१) निर्विकल्पक, और (२) सविकल्पक।

वस्तु के स्वरुप का साधारणरुप से आलोचन करनेवाला ज्ञान निर्विकल्पक कहा जाता है। वह निर्विकल्पकज्ञान मात्र सामान्य को ग्रहण करता नहीं है। क्योंकि उससे भेद का भी प्रतिभास होता है। तथा वह मात्र स्वलक्षणविशेष को भी ग्रहण करता नहीं है। क्योंकि वह सामान्यकार का भी संवेदन करता है। (अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान मात्र सामान्य या मात्र विशेष को ही विषय करता नहीं है, उसमें सामान्य की तरह विशेषाकार का भी भान होता है। और वह किसी तरह से होता है, वह बताते है।) दूसरी व्यक्ति को देखकर "यह उसके जैसी है" ऐसे प्रकार के अनुसंधान से स्पष्ट रुप से प्रतीत होता है कि, निर्विकल्पक में स्वलक्षणविशेष की तरह सामान्यधर्मो का भी प्रतिभास होता है।

इस अनुसार से निर्विकल्पक में सामान्य और विशेष उभय का प्रतिभास होता होने पर भी "**यह सामान्य और यह विशेष**" अर्थात् "**यह इससे समान है**" तथा "**इससे विलक्षण है**" इत्याकारक सामान्य और विशेष का पृथक् पृथक् विवेचन करके प्रतिभास होता नहीं है। क्योंकि निर्विकल्पक में सामान्य और विशेष के संबंधी ऐसे अनुगतधर्मो और व्यावृत्तधर्मो का प्रतिभास होता नहीं है। (इसलिए निर्विकल्पक में "**अयं घटः**" इत्यादि शब्दात्मक व्यवहार होता नहीं है।)

सविकल्पक प्रत्यक्ष में सामान्य और विशेषरुप का अर्थात् "**यह सामान्य है, यह विशेष है**" इत्याकारक सामान्य और विशेषरुप का पृथक् - पृथक् विवेचन करके प्रतिभास होता है। दूसरी वस्तुओ के साथ के अनुगतधर्म और व्यावृत्तधर्मो को जाननेवाले आत्मा को इन्द्रिय के द्वारा वैसे प्रकार की प्रतीति होती है। अर्थात् "**यह उससे समान है तथा यह उससे विलक्षण है।**" इत्याकारक अनुगतधर्मो तथा व्यावृत्तधर्मो को जाननेवाले आत्मा को इन्द्रियो से सविकल्पकज्ञान उत्पन्न होता है।

योगज प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है। (१) युक्तयोगीओ का प्रत्यक्ष, (२) वियुक्तयोगीओ का प्रत्यक्ष। समाधि में अत्यंतलीन ऐसे योगीयो का अंतःकरण (चित्त) योगजधर्म के बल से (योग से उत्पन्न होनेवाले विशिष्टधर्म से) शरीर से बाहर निकल के अतीन्द्रियपदार्थो के साथ संयुक्त होने से जो अतीन्द्रियपदार्थो का दर्शन होता है, उसे युक्तयोगीयो का प्रत्यक्ष कहा जाता है।

जो अत्यंत योगाभ्यासोचित धर्मातिशय से समाधि में न होने पर भी अतीन्द्रियपदार्थो को देखते है, उसे वियुक्तयोगीयो का प्रत्यक्ष कहा जाता है। उनको आत्मा मन, इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से दूरदेशवर्ती अतीत और अनागतकालीन (तथा सूक्ष्मपरमाणु आदि) अतीन्द्रियपदार्थो का जो प्रत्यक्ष होता है उसे वियुक्तयोगीयो का प्रत्यक्ष कहा जाता है। यह प्रत्यक्ष उत्कृष्टयोगी का ही जानना। योगीमात्र को उसका असंभव है। (ये वियुक्तयोगियो का समाधि में लीन हुए बिना ही योगाभ्यास के अतिशय से अतीन्द्रियपदार्थो का दर्शन होता है। उसका विस्तृतवर्णन न्यायकंदली ग्रंथ से जान लेना।)

लैङ्गिकस्य पुनः स्वरूपमिदम् । लिङ्गदर्शनाद्यदव्यभिचारित्वादिविशेषणं ज्ञानं तद्यतः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परामर्शज्ञानोपलक्षितात्कारकसमूहाद्भवति तल्लैङ्गिकमनुमानमिति यावत् । तच्चैवं भवति । "अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि समवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम्" [वैशे० सू० ९/५/१] । तत्र कार्यं कारणपूर्वकत्वेनोपलम्भादुपलभ्यमानं कारणस्य गमकं, यथायं नदीपूरो वृष्टिकार्यो विशिष्टनदीपूरत्वात् पूर्वोपलब्धविशिष्टनदीपूरवत् १ । कारणमपि कार्यजनकत्वेन पूर्वमुपलब्धेरुपलभ्यमानं कार्यस्य लिङ्गं यथा विशिष्टमेघोन्नतिर्वर्षकर्मणः २ । तथा धूमोऽग्नेः संयोगी ३ । समवायी चोष्णस्पर्शो वारिस्थं तेजो गमयतीति ४ । विरोधी च यथाऽहिर्विस्फूर्जनविशिष्टो नकुलादेर्लिङ्गं वह्निर्वा शीताभावस्येति ५ । "अस्येदं" इति सूत्रे च कार्यादीनामुपादानं लिङ्गनिदर्शनार्थं कृतं, न पुनरेतावन्त्येव लिङ्गानीत्यवधारणार्थं, यतः कार्यादिव्यतिरिक्तान्यपि लिङ्गानि सन्ति, यथा चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकाशस्य च लिङ्गम्, न च चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धिविकाशौ च मिथः कार्यं कारणं वा भवन्ति, विशिष्टदिग्देशकालसंयोगात्कल्लोलपत्रविस्तारलक्षणानामुदकवृद्धिविकाशानां स्वस्वकारणेभ्य एवोत्पत्तेः । शरदि च जलस्य नैर्मल्यमगस्त्योदयस्य लिङ्गमित्यादि तत्सर्वं "अस्येदं" इति पदेन गृहीतं विज्ञेयम् । अस्य साध्यस्येदं संबन्धीति कृत्वा यद्यस्य देशकालाद्यविनाभूतं तत्तस्य लिङ्गमित्यर्थः । ततः 'अस्येदं' इति सूत्रस्य नाव्यापकतेति । विशेषार्थिना तु न्यायकन्दली विलोकनीया । शब्दादीनां तु प्रमाणानामनुमान एवान्तर्भावात् कन्दलीकाराभिप्रायेणैतत्प्रमाणद्वितयमवोचदाचार्यः । व्योमशिवस्तु प्रत्यक्षानुमान-शाब्दानि त्रीणि प्रमाणानि प्रोचिवान् ।। उपसंहरन्नाह "वैशेषिकमतस्य" इत्यादि । वैशेषिकमतस्यैषोऽनन्तरोक्तः संक्षेपः परिकीर्तितः-कथितः ।।६७।।

व्याख्या का भावानुवाद :

अनुमानप्रमाण का स्वरुप इस अनुसार से है । लिंग को देखकर अव्यभिचारि आदि विशेषणो से युक्त ज्ञान हो, उसको अनुमिति कहा जाता है। यह अनुमिति परामर्श = व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान आदि कारण-समुदाय से उत्पन्न होता है। अनुमिति के कारक (कारण) समुदाय को लैंगिक = अनुमान कहा जाता है।

यह अनुमान अनेक प्रकार का है। **"यह उसका संबंधी है"** - यह नियत संबंधितापूर्वक होनेवाले कार्य, कारण, संयोगी, समवायी, विरोधी आदि अनेक प्रकार के अनुमान है।

कार्य कारणपूर्वकत्वेन उपलब्ध होता है। इसलिए कार्य की उपलब्धि कारण की गमक बनती है। अर्थात् कार्य हंमेशा कारणपूर्वक दिखाई देता है। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति होती नहीं है। इसलिए कार्य को देखकर कारण का अनुमान होता है। **अनुमान प्रयोग :** यह नदी की बाढ वृष्टि का कार्य है। क्योंकि नदी की विशिष्ट बाढ है। जैसे कि पहले नदी में आई हुई विशिष्ट बाढ। (अर्थात् इस नदी की बाढ वृष्टि के कारण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आई हुई है। क्योंकि इस विशिष्टवृष्टि से होनेवाली, लकडे को खींच लाना आदि से युक्त नदी की बाढ है। जैसे कि पहले की बरसात में आई हुई नदी की बाढ।) (सारांश में जहाँ नदी में बाढ आई है, वहां बरसात नहीं है। फिर भी बाढरुप कार्य देखने से उपरीतनवास में हुई वृष्टि का अनुमान होता है। अर्थात् कार्य से कारण का अनुमान होता है।) (१)

कारण भी कार्य का जनक होने से, कार्य के पहले उपलब्ध होता है। उस उपलब्ध होते कार्य के लिंग = कारण से कार्य का अनुमान होता है। जैसे कि आकाश में विशिष्टमेघ = बादलो की उन्नति के दर्शन से वृष्टिरुप कार्य का अनुमान होता है। अर्थात् आकाश में काले-काले बादलो के दर्शन से वृष्टि का अनुमान होता है। (२)

धूम अग्नि का संयोगी है। इसलिए धूम को देखकर होनेवाला अग्नि का अनुमान संयोगी अनुमान कहा जाता है। (३)

पानी में रहे हुए उष्ण स्पर्श से (जल में प्रविष्ट) अग्नि का अनुमान होता है। वह समवायी अनुमान है।

फुत्कार मारते सांप को देखकर निकट में नेवले का तथा अग्नि से शीताभाव का अनुमान होता है, वह विरोधी अनुमान है।

"अस्येदं" इस सूत्र में कार्य, कारण आदि लिंगो का ग्रहण किया है। वह केवल उदाहरणो के निमित्त से ग्रहण किये हुए है। परन्तु उससे ऐसा नियम होता नहीं है कि, कार्यादि से अतिरिक्त लिंग नहीं है। क्योंकि उपर कहे हुए कार्यादि से अतिरिक्त लिंग भी है कि जो अपने अविनाभावि साध्य का यथार्थ अनुमान कराते है।

जैसे कि-चंद्रोदय समुद्र में ज्वार का तथा कमल के विकास का लिंग है। इसलिए चंद्रोदय से समुद्र की ज्वार का तथा कमल के विकास का अनुमान होता है। वह चंद्रोदय समुद्र की ज्वार का तथा कमल के विकास का कार्य या कारण नहीं है। (फिर भी तादृश अनुमान होता है। तथा) विशिष्ट देश, काल आदि के संयोग से चंद्र का उदय, समुद्र में ज्वार का तथा कमल के पत्तो का विकास स्वतंत्रतया अपने-अपने कारणो से उत्पन्न होता है। (फिर भी उसमें अविनाभाव अवश्य है। इसलिए उसके बल से चंद्रोदय से उसका अनुमान हो जाता है।

इस तरह से शरदऋतु में पानी की निर्मलता से अगत्स्य के उदय का अनुमान होता है। (इस जल की निर्मलता कुछ खास वायु आदि कारणो से उत्पन्न हो के भी अविनाभाव संबंध के कारण अगत्स्योदय का अनुमान करा देती है। अगत्स्योदय और शरत्कालीन जल की निर्मलता के बीच कोई कार्य-कारणभाव नहीं है। दोनो अपने-अपने कारणो से उत्पन्न होते है।) ये सभी कार्य-कारण आदि से अतिरिक्त लिंग **"अस्येदं"** - **"यह इसका संबंधी है"** - यह सामान्य अविनाभावसूचक पद से ग्रहण कर लेना।

"इस साध्य का यह संबंधी है" - इस रुप से जो जिसके देश कालादि से अविनाभाव रखता है वह उसका लिंग होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए "अस्येदं" सूत्र में सभी लिंगो का समावेश होने से वह सूत्र अव्यापक - अपर्याप्त नहीं है। परंतु सर्वथापूर्ण है। इस विषय को विशेषजिज्ञासुओ द्वारा न्यायकंदली टीका से देखना चाहिए।

शब्दादि= आगमादि प्रमाणो का अनुमान में ही अंतर्भाव होता होने से कंदलीकार के अभिप्राय से ये प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण कहे है। परंतु व्योमवती टीकाकार व्योमशिवाचार्य तो प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाणो को मानते है। इस तरह से वैशेषिक मत का संक्षिप्त कथन किया। ॥६७॥

अथात्राप्यनुक्तं किंचिदुच्यते । व्योमादिकं नित्यम् । प्रदीपादि कियत्कालावस्थायि । बुद्धि-सुखादिकं च क्षणिकम् । चैतन्यादयो रूपादयश्च धर्माः आत्मादेर्घटादेश्च धर्मिणोऽत्यन्तं व्यति-रिक्ता अपि समवायसंबन्धेन संबद्धाः, स च समवायो नित्यः सर्वगत एकश्च । सर्वगत आत्मा । बुद्धिसुखदुःखेच्छाधर्माधर्मप्रयत्नभावनाख्यसंस्कारद्वेषाणां नवानामात्मविशेष-गुणानामुच्छेदो मोक्षः । परस्परविभक्तौ सामान्यविशेषौ द्रव्यपर्यायौ च प्रमाणगोचरः । द्रव्यगुणादिषु षट्सु पदार्थेषु स्वरूपसत्त्वं वस्तुत्वनिबन्धनं विद्यते । द्रव्यगुणकर्मसु च सत्तासंबन्धो वर्त्तते सामान्यविशेषसमवायेषु च स नास्तीति ।

षट्पदार्थी कणादकृता तद्भाष्यं प्रशस्तकारकृतं तट्टीका कन्दली श्रीधराचार्यीया, किरणावली तूदयनसंदृब्धा, व्योममतिर्व्योमशिवाचार्यविरचिता, लीलावतीतर्कः श्रीवत्साचार्यीय आत्रेयतन्त्रं चेत्यादयो वैशेषिकतर्काः ।।६७।।

इति श्रीतपोगणनभोगणदिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरिपदपद्मोपजीविश्रीगुणरत्नसूरिकृतायां तर्करहस्यदीपिकायां षड्दर्शनसमुच्चयटीकायां वैशेषिकमतनिर्णयो नाम पञ्चमोऽधिकारः ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

मूलग्रंथकारश्री ने श्लोक में नहि कहा हुआ भी टीकाकारश्री कुछ कहते है।

आकाशादि नित्य है। प्रदीपादि कुछ काल रहनेवाले है। बुद्धि, सुख, दुःख आदि क्षणिक है। चैतन्य आदि धर्म आत्मा से तथा रुपादि धर्म घटादि से सर्वथा भिन्न होने पर भी उसमें समवायसंबंध से रहते है। समवाय नित्य एक तथा सर्वगत है। आत्मा सर्वव्यापी है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, भावना नाम का संस्कार और द्वेष, ये नौ आत्मा के विशेषगुणो का उच्छेद होना वह मोक्ष है। (सामान्य और विशेष द्रव्य, गुण, कर्म परस्पर भिन्न है) वही द्रव्य, सामान्य और पर्याय-विशेष, परस्पर भिन्न रहकर भी प्रमाण के विषय बनते है। द्रव्य, गुण आदि छः पदार्थो में "यह वस्तु है" ऐसा व्यवहार करानेवाला स्वरुपसत्त्व होता है। सत्ता का संबंध मात्र द्रव्य, गुण और कर्म में ही है। सामान्य, विशेष और समवाय में नहीं है। (द्रव्यादि तीन सत्ता के समवाय से सत् बनते है। सामान्यादि तीन स्वरुप से सत् है।)

कणादरचित षट्पदार्थी=वैशेषिकसूत्र, प्रशस्तकारकृत प्रशस्तपादभाष्य, श्रीधराचार्य विरचित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रशस्तपाद-भाष्यकार की टीका, न्यायकंदली टीका, उदयनाचार्यविरचित किरणावली टीका, व्योमशिवाचार्यकृत व्योमवती टीका, श्रीवत्साचार्यकृत लीलावतीतर्क, आत्रेयतंत्र आदि वैशेषिको के तर्कग्रंथ है। ॥६७॥

॥ इस अनुसार से श्रीतपोगच्छरुप आकाशमंडप में सूर्य जैसे तेजस्वी पू.आ.श्री देवेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा के चरणकमलसेवी पू.आ.श्री गुणरत्नसूरीश्वरजी महाराजा विरचित षड्दर्शन समुच्चय की टीका तर्करहस्यदीपिका में वैशेषिक मत के निर्णय नाम का पांचवां अधिकार सानुवाद पूर्ण होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षड्दर्शन समुच्चय

भाग-२

मीमांसक दर्शन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

।। षष्ठोऽधिकारः ।। मीमांसक दर्शन ।।

अथ मीमांसकमतं जैमिनीयापराह्वयं प्रोच्यते । जैमिनीया वेषेण साङ्ख्या इवैकदण्डास्त्रिदण्डा धातुरक्तवाससो मृगचर्मोपवेशनाः कमण्डलुधरा मुण्डशिरसः संन्यासिप्रभृतयो द्विजाः । तेषां वेद एव गुरुर्न पुनरन्यो वक्ता गुरुः । त एव स्वयं तव संन्यस्तं संन्यस्तमिति भाषन्ते । यज्ञोपवीतं च प्रक्षाल्य त्रिर्जलं पिबन्ति ।। ते द्विधा, एके याज्ञिकादयः पूर्वमीमांसावादिनः, अपरे तूत्तरमीमांसावादिनः । तत्र पूर्वमीमांसावादिनः कुकर्मविवर्जिनो, यजनादिषट्कर्मकारिणो, ब्रह्मसूत्रिणो गृहस्थाश्रमसंस्थिताः शूद्रान्नादिवर्जका भवन्ति । ते च द्वेधा भाट्टाः प्राभाकराश्च षट् पञ्च प्रमाणप्ररूपिणः । ये तूत्तरमीमांसावादिनः, ते वेदान्तिनो ब्रह्माद्वैतमेव मन्यन्ते । "सर्वमेतदिदं[A]ब्रह्म" [छान्दो० ३/१४/१] इति भाषन्ते प्रमाणं च यथा तथा वदन्ति । एक एवात्मा सर्वशरीरेषूपलभ्यत इति जल्पन्ति । "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ।।१।।" [त्रि० ता० ५/१२] इति वचनात् । "पुरुष एवेदं ग्निं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" । [ऋक्० १०/९०/२] इति वचनाच्च । आत्मन्येव लयं मुक्तिमाचक्षते, न त्वपरां कामपि मुक्तिं मन्यन्ते । ते च द्विजा एव भगवन्नामधेयाश्चतुर्धाभिधीयन्ते कुटीचरबहूदकहंसपरमहंसभेदात् । तत्र त्रिदण्डी सशिखो ब्रह्मसूत्री गृहत्यागी यजमानपरिग्रही सकृत्पुत्रगृहेऽश्नन् कुट्यां निवसन् कुटीचर[G-90] उच्यते । कुटीचरतुल्यवेषो विप्रगेहनैराश्यभिक्षाशनो विष्णुजापपरो नदीनीरस्नायी बहूदकः कथ्यते । ब्रह्मसूत्रशिखाभ्यां रहितः कषायाम्बरदण्डधारी ग्रामे चैकरात्रं नगरे च त्रिरात्रं निवसन् विधूमेषु विगताग्निषु विप्रगेहेषु भिक्षां भुञ्जानस्तपःशोषितविग्रहो देशेषु भ्रमन् हंसः समुच्यते । हंस एवोत्पन्नज्ञानश्चातुर्वर्ण्यगेहभोजी स्वेच्छया दण्डधार ईशानीं दिशं गच्छन् शक्तिहीनतायामनशनग्राही वेदान्तैकध्यायी परमहंसः समाख्यायते । एतेषु चतुर्षु परः परोऽधिकः । एते च चत्वारोऽपि केवलब्रह्माद्वैतवादसाधनैकव्यसनिनः शब्दार्थयोर्निरासायानेका युक्तीः स्फोरयन्तोऽनिर्वाच्यतत्त्वे यथा व्यवतिष्ठन्ते तथा खण्डनतर्कादभियुक्तैरवसेयम् । नात्र तन्मतं वस्यते ।

व्याख्या का भावानुवाद :

अब मीमांसकमत, कि जिसका दूसरा नाम जैमिनि दर्शन है, उसका वाच्यार्थ कहा जाता है ।

A. "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीताथ..." छान्दोग्योप ३/१४/१ त्रि० भ० ना० १/३ "ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम् ।" मैत्र्युप० ४/६/३

(G-90) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैमिनि वेश से सांख्यो के जैसे है। वे एकदंड या त्रिदंड को धारण करनेवाले है। लाल रंग के वस्त्र पहननेवाले है। मृगचर्म के आसन के उपर बैठते है। कमंडलु धारण करनेवाले है। मस्तक पे मुंडन करनेवाले संन्यासि इत्यादि ब्राह्मण है।

वेद उनके गुरु है। वेद के सिवा अन्य कोई वक्ता सर्वज्ञ आदि गुरु नहीं है। वे (संन्यास लेते वक्त) स्वयं ही "तेरा संन्यास हुआ, संन्यास हुआ" - ऐसा बोलकर संन्यास ग्रहण कर लेते है। यज्ञोपवीत धोकर उसका पानी तीन बार पीते है।

मीमांसक दो प्रकार के है। (१) यज्ञादि क्रियाकांड करनेवाले पूर्वमीमांसक और (२) उत्तर मीमांसक।

उसमें पूर्वमीमांसक कुकर्मो का त्याग करके (यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह, ये) छः ब्राह्मणकर्मो का (षट्कर्म का) अनुष्ठान करनेवाले तथा ब्रह्मसूत्र को धारण करनेवाले है। वे गृहस्थाश्रम में रहते है तथा शुद्र के अन्न का त्याग करते है।

पूर्वमीमांसको में दो प्रकार है। (१) प्रत्यक्षआदि छः प्रमाणो को माननेवाले कुमारिलभट्ट का शिष्य भाट्ट। (२) (अभाव के सिवा) प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणो को माननेवाले प्रभाकरगुरु का शिष्य प्राभाकर।

उन मीमांसको में उत्तरमीमांसक है उसे [१]वेदांती कहे जाते है और वे ब्रह्माद्वैत को मानते है - अद्वैतब्रह्म को मानते है। वे कहते है कि **"सर्वमेतदिदं ब्रह्म"**-सर्व इस (दृश्यमान) जगत ब्रह्म ही है। अर्थात् यह दीखाई देता दृष्ट और स्थूलजगत ब्रह्म के ही अंश है। उत्तर मीमांसक मत में प्रमाण की संख्या पूर्वमीमांसको की तरह ही जानना। तदुपरांत, वे कहते है कि एक ही आत्मा (ब्रह्म) सर्व शरीरो में प्रतिभासित होता है। उनका शास्त्रवचन है कि एक, ही भूतात्मा सिद्धब्रह्म सर्व भूतो में रहता है। वही एकरुप से तथा अनेकरुप से जल में पडते चंद्रमा के प्रतिबिंब की तरह दिखता है। अर्थात् जैसे पानी के गमलो में प्रतिबिंबित होता चंद्र (एक ही होने पर भी) अनेक लगता है, वैसे एक ही भूतात्मा सिद्धब्रह्म बहु प्रकार से दिखाई देता है।"

दूसरा शास्त्रवचन है कि "यह जो हुआ मालूम होता है या अब जो होनेवाला है, वह सर्व पुरुष (ब्रह्म) ही है।" (यहाँ पुरुष से ब्रह्म का अभिप्राय है।)

आत्मा (ब्रह्म) में लय होना उसे ही मुक्ति कहा जाता है। (ब्रह्म का ही अंश ऐसा जीव जब (भ्रम के निरासपूर्वक) ब्रह्म में ही लय पाता है, उसको ही जीव की मुक्ति कहा जाता है।) और इस ब्रह्म में लय होनेरुप मुक्ति से दूसरी कोई भी मुक्ति नहीं है। ऐसी वेदांतीओ की मान्यता है।

वे ब्राह्मण ही होते है और **"भगवत्"** शब्द से पहचाने जाते है। उसके कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहंस ऐसे चार भेद है। उसमें तीन दण्ड को धारण करनेवाले, शिखा रखनेवाले, ब्रह्मसूत्र को धारण करनेवाले, यजमान के वहाँ भोजन करनेवाले, घर का त्याग करके झोंपडी बनाकर रहनेवाले, कुटीचर कहे जाते है। वे एकादबार अपने पुत्र के वहाँ भी भोजन कर लेते होते है।

(१) भाग-१ के प्रथम परिशिष्ट में देखें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बहूदको का वेष कुटीचर के समान ही है। वे ब्राह्मणो के घर से भिक्षा पाके नीरस भोजन करनेवाले है। विष्णु के जाप में लीन रहते है और ज्यादा पानीवाली नदी में स्नान करने के कारण वे बहूदक कहे जाते है।

हंस साधु ब्रह्मसूत्र और शिखा से रहित है। वे काषाय (गेरुये) वस्त्रधारी है तथा दंड को धारण करते है। गांव में एकरात्री और नगर में तीन रात्री रहते है। गृहस्थो के घरो में धुआं बंध हो और अग्नि शांत हो, तब ब्राह्मणो के घरो में से भिक्षावृत्ति से भोजन करते है। वे कठीन तपस्याओ से शरीर को कृश करके देश-विदेश में घूमते है।

हंस साधुओ को जब तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है तब ही उसे परमहंस कहा जाता है। परमहंस साधु ब्राह्मण शुद्रादि चारो वर्णो के घरो में से भिक्षा प्राप्त करके भोजन करते है। इच्छानुसार कभी दण्ड लेते भी है और कभी लेते भी नहीं है। जब वे शक्तिहीन होते है, तब इशान दिशा में जाकर अनशन-उपवास कर लेते है। उनके अध्ययन का एक ही विषय है वेदांत। वे हंमेशां ब्रह्म के स्वरुप का विचार करते रहते है। उन चार में क्रमशः कुटीचर से बहूदक, बहूदक से हंस, हंस से परमहंस उत्कृष्ट होते है। ये चारों ब्राह्मण केवल ब्रह्म अद्वैत की सिद्धि की साधना में लीन रहते है। वे ब्रह्म के सिवा के शब्द या पदार्थ के निराकरण के लिए अनेक युक्तिओ को पेश करते करते अंत में अनिर्वचनीय ब्रह्म की सिद्धि में वाद की समाप्ति करते है। उसके अनिर्वचनीय ब्रह्मतत्त्व की सिद्धि तथा परपदार्थ खंडन की युक्तिओ का समूह खंडनखंडन्खाद्य नाम का तर्कग्रंथ देखने को मिलता है। (कहने का मतलब यह है कि यह दृश्यजगत (= द्वैत की प्रतीति) माया का विवर्त है और वह दृश्यजगत भी ब्रह्म का अंशमात्र ही है। इस अद्वैतवाद की सिद्धि वेदांती जिस तरह से करते है, वह प्रतिवादिविद्वानो के द्वारा अन्यग्रंथ से जाने सकते है।) वह यहाँ नहीं कहा जायेगा। (हमने वह टिप्पणी में कुछ अंश में देखा है।) ॥६७॥

इह तु सामान्येन शास्त्रकारः पूर्वमीमांसावादिमतमेव बिभणिषुरेवमाह -

यहाँ ग्रंथकारश्री सामान्यतः पूर्वमीमांसक मत का व्याख्यान करने की इच्छा से (उसका निरुपण करते हुए) कहते है कि....

(मू. श्लो.) जैमिनीयाः पुनः प्राहुः सर्वज्ञादिविशेषणः ।
देवो न विद्यते कोऽपि यस्य मानं वचो भवेत् ।।६८।।

श्लोकार्थ : जैमिनीय मतानुयायी कहते है कि, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, जगत्कर्ता आदि विशेषणवाले कोई भी देवता ही नहीं है, कि उनका वचन प्रमाणरुप हो। ॥६८॥

व्याख्या-जैमिनीयास्तु ब्रुवते । सर्वज्ञादीनि विशेषाणि यस्य स सर्वज्ञादिविशेषणः सर्वज्ञः सर्वदर्शी वीतरागः सृष्ट्यादिकर्ता चेत्यादिविशेषणवान् कोऽपि प्रागुक्तदर्शनसंमतदेवानामेकतरोऽपि देवो-दैवतं न विद्यते, यस्य देवस्य वचो-वचनं मानं-प्रमाणं भवेत् । प्रथमं तावदेव एव वक्ता न वर्तते, कुतस्तत्प्रणीतानि वचनानि संभवेयुरिति भावः । तथाहि-पुरुषो न सर्वज्ञः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मानुषत्वात् रथ्यापुरुषवत् । अथ किंकरायमाणसुरासुरसेव्यमानता त्रैलोक्यसाम्राज्य-सूचकछत्रचामरादिविभूत्यन्यथानुपपत्तिरस्ति सर्वज्ञे विशेष इति चेत् ? न, मायाविभिरपि कीर्तिपूजालिप्सुभिरिन्द्रजालवशेन तत्प्रकटनात् । यदुक्तं त्वद्यूथ्येनैव समन्तभद्रेण-"देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ।।१।।" [आप्त मी० श्लो-१] । अथ यथानादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिप्रक्रियया विशोध्यमानस्य निर्मलत्वं, एवमात्मनोऽपि निरन्तरज्ञानाद्यभ्यासेन विगतमलत्वात्सर्वज्ञत्वं किं न संभवेदिति मतिः, तदपि न । अभ्यासेन हि शुद्धेस्तारतम्यमेव भवेत्, न पुनः परमः प्रकर्षः । न हि नरस्य लङ्घनमभ्यासतस्तारतम्यवदप्युपलभ्यमानं सकललोकविषयमुपलभ्यते । उक्तं च-"दशहस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति । न योजनशतं गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ।।१।।" अथ मा भून्मानुषस्य सर्वज्ञत्वं, ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादीनां तु तदस्तु । ते हि देवा, संभवत्यपि तेष्वतिशयसंपत् । यत्कुमारिलः-"अथापि दिव्यदेहत्वाद्ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । कामं भवन्तु सर्वज्ञाः सार्वज्ञ्यं मानुषस्य किम् ।।१।।" इति तदपि न रागद्वेषमूलनिग्रहानुग्रहग्रस्तानां कामासेवनविहस्तानामसंभाव्यमिदमेषामिति । न [G-91]च प्रत्यक्षं तत्साधकं "संबद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" [मी. प्रत्यक्ष० सू० श्लो० ८४] इति वचनात् । न चानुमानं, प्रत्यक्षदृष्ट एवार्थे तत्प्रवृत्तेः । न चागमः सर्वज्ञस्यासिद्धत्वेन तदागमस्यापि विवादास्पदत्वात् । न चोपमानं, तदपरस्यापि सर्वज्ञस्याभावादेव । न चार्थापत्तिरपि, सर्वज्ञसाधकस्यान्यथानुपपन्नपदार्थस्यादर्शनात् । ततः प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तेरभावप्रमाणगोचर एव सर्वज्ञः । प्रयोगश्चात्रनास्ति सर्वज्ञः, प्रत्यक्षादिगोचरातिक्रान्तत्वात्, शशशृङ्गवदिति ।।६८।।

व्याख्या का भावानुवाद :

जैमिनीय अनुयायी कहते है कि... सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, सृष्ट्यादि के कर्ता इत्यादि गुणोवाले, पहले जैनदर्शन आदि में कहे हुए सर्वदर्शनो को संमत देव में से कोई भी देव विद्यमान नहीं है - उस देव की सत्ता ही नहीं है कि जिससे उनका वचन प्रमाणभूत माना जाये । कहने का मतलब यह है कि, पहले तो सर्वज्ञ वक्ता ऐसे कोई देव ही जगत में विद्यमान नहीं है । तो फिर उनके द्वारा प्ररुपित वचन तो कहाँ से होगा ? और इसलिए सर्वज्ञ वक्ता के द्वारा प्ररुपित वचन प्रमाणरुप है, या अप्रमाणभूत है ऐसी विचारणा विचारमाध्यम में किस तरह से आ सकेगी ? तथा सर्वज्ञ वक्ता के अभाव में किसी भी मनुष्य के बोले हुए वचन प्रमाणरुप भी किस तरह से बनेंगे ?

इसलिए अनुमान किया जा सकता है कि... कोई भी पुरुषविशेष सर्वज्ञ नहीं है । क्योंकि वह मनुष्य है ।

(G-91) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैसे कि, गली में भटकता हुआ कोई मूर्ख मनुष्य ।

शंका : हम भी रास्ते में भटकते ईन्सान को सर्वज्ञ कहते नहीं है । परंतु हम उस महानव्यक्ति को सर्वज्ञ मानते है कि जिसकी सुर-असुर दास बनके सेवा करते है । तथा जिनके पास त्रैलोक्य के साम्राज्य की सूचक, छत्र, चामर, सिंहासन आदि विभूतियां सर्वज्ञता के बिना हो सकती नहीं है । इसलिए उस अन्यथा अनुपपत्ति = अविनाभावि विभूतियों के आधार से आप लोग सर्वज्ञ को क्यों मानते नहीं है ?

समाधान : आपकी बात योग्य नहीं है । क्योंकि मायावी पुरुषो के द्वारा भी कीर्ति, पूजा आदि की लालसा से इन्द्रजाल के वश से तादृशविभूतियां प्रकट की जाती है । तो क्या बाह्य विभूतियां मात्र से सर्वज्ञ की सत्ता किस तरह से मान सकते है । आपके ही आचार्य श्री समन्तभट्टने कहा है कि... **"देवो का आना, नभोयान, छत्र-चामरादि विभूतियां तो मायाविओ में भी देखने को मिलती है । इसलिए उस विभूतियां मात्र से आप हमारे लिए महान-पूज्य नहीं है ।"**

शंका : जैसे अनादिकाल का मलिन भी सुवर्ण को क्षारमृत् पुटपाकादि प्रक्रिया के द्वारा (--तेजाब आदि से मिट्टी के पात्र में पकाने के द्वारा) शुद्ध करने से सुवर्ण निर्मलता को प्राप्त करता है, उस अनुसार से आत्मा भी निरंतर ज्ञानाभ्यास तथा योग आदि प्रक्रियाओ से कर्ममल रहित होने से सर्वज्ञ क्यों न बन सकें ? अर्थात् सतत ज्ञानाभ्यास आदि प्रक्रियाओ से ज्ञानावरणीयकर्म नाश पाने से क्या कोई व्यक्ति सर्वज्ञ बन सकता नहीं है ? सर्वज्ञता के लिए मुख्यतया ज्ञानावरणीय कर्मो का नाश ही आवश्यक है ।

समाधान : आपकी वह बात भी उचित नहीं है । क्योंकि अभ्यास से प्राप्त होने वाली शुद्धि तरतमतावाली होती है । परन्तु अभ्यास से परमप्रकर्ष प्राप्त होना असंभवित है । (अर्थात् ज्ञानाभ्यास से पहले जो ज्ञान था उससे थोडा बढेगा, पुनः ज्ञानाभ्यास से उससे भी थोडा बढेगा । परन्तु बढता बढता लोकालोकविषयक बन जाना संभवित नहीं है । इसलिए अभ्यास से ज्यादा-कम प्रमाण में तबदिली होगा । परन्तु परमप्रकर्ष प्राप्त नहीं होगा । जैसे कोई मनुष्य उंचे कूदने को चाहे जितना अभ्यास करे परन्तु वह कभी भी समस्त लोक का उल्लंघन नहीं कर सकता है । केवल अभ्यास से पहले जितना उंचे कूद सकता था, उससे ज्यादा कूद सकेगा परंतु सकललोक को लांघ जाना संभवित नहीं है । कहा भी है कि... **"जो मनुष्य अभ्यास करता करता दस हाथ उंचा उछल सकता है, वह सेंकडो अभ्यास करने पर भी सो योजन उंचा नहीं कूद सकता है ।"**

शंका : अच्छा, मनुष्यो को अभ्यास से सर्वज्ञता भले ही प्राप्त न हो, परंतु ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि तो देव है, उनमें तो सर्वज्ञतारुपी अतिशय हो सकता है । कुमारिलने कहा है कि.... "यदि दिव्य देह होने से ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि चाहे सर्वज्ञ हो परंतु सामान्य मनुष्य में सर्वज्ञता किस तरह से हो सकती है ?" इससे स्पष्ट होता है कि अलौकिक दिव्य पुरुष ब्रह्मा आदि में सर्वज्ञता मानने में बाध नहीं है । इसलिए उनको ही सर्वज्ञ मान लेने चाहिए ।

समाधान : आपकी वह बात भी अयोग्य है । क्योंकि राग-द्वेषमूलक शिष्यानुग्रह करनेवाले तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कामसेवन आदि विकारो में व्याकुल चित्तवाले उनमें सर्वज्ञता संभवित नहीं है।

उपरांत प्रत्यक्षादि प्रमाणपंचक से भी सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध होती नहीं है। प्रत्यक्ष तो असंबद्ध तथा अवर्तमान सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध कर सकता नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण तो इन्द्रियो से संबद्ध और वर्तमानकालीन पदार्थ को ही ग्रहण कर सकता है। यहाँ सर्वज्ञत्व किसी इन्द्रिय से संबंध रखता नहीं है कि जिससे उसका प्रत्यक्ष होगा।

अनुमान भी सर्वज्ञताका साधक नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष से देखे हुए अर्थ में ही अनुमान की प्रवृत्ति होती है। (जैसे कि पर्वत के उपर धूम का प्रत्यक्ष होने से, धूमलिंग द्वारा वह्नि का अनुमान होता है।) परन्तु यहाँ मनुष्य में सर्वज्ञत्व प्रत्यक्ष से असिद्ध होने से उसमें अनुमान की प्रवृत्ति संभवित नहीं है। अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है।

आगम प्रमाण से भी सर्वज्ञता की सिद्धि होती नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञता ही असिद्ध होने से वह सर्वज्ञ का आगम भी विवादास्पद है, ऐसे विवादास्पद आगम से सर्वज्ञ की सिद्धि किस तरह से हो सकती है ?

उपमानप्रमाण से भी सर्वज्ञता की सिद्धि होती नहीं है। क्योंकि दूसरे सर्वज्ञ व्यक्ति का अभाव है। दूसरा कोई सर्वज्ञ दिखाई देता हो, तो सादृश्यज्ञान से उपमान द्वारा सर्वज्ञता की सिद्धि हो सके, परंतु दूसरे किसी सर्वज्ञ का अभाव होने से सादृश्यज्ञान के अभाव के कारण सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

अर्थापत्ति से भी सर्वज्ञता की सिद्धि होती नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञता का साधक अन्यथा अनुपपन्न =अविनाभावी पदार्थ जगत में देखने को मिलता नहीं है।

इसलिए सर्वज्ञता की सिद्धि में प्रमाणपंचक की प्रवृत्ति न होने से सर्वज्ञता अभावप्रमाण का ही विषय बनती है। अर्थात् सर्वज्ञ ही नहीं है। **अनुमान प्रयोग : "सर्वज्ञ ही नहीं है क्योंकि वह सदुपलंभक प्रत्यक्षादि प्रमाणो का विषय बनता नहीं है। जैसे कि, खरगोस का सींग।"** ॥६८॥

यदि देवस्तद्वचनानि च न सन्ति, तर्हि कुतोऽतीन्द्रियार्थज्ञानमित्याशंक्याह-

यदि सर्वज्ञ देव और सर्वज्ञदेव प्ररुपित वचनो के संग्रहरुप आगम नहीं है तो अतीन्द्रिय पदार्थो का परिज्ञान किससे होगा ? इस शंका का परिहार करते हुए मीमांसक कहते है कि...

(मू. श्लो.) तस्मादतीन्द्रियार्थानां साक्षाद्द्रष्टुरभावतः ।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः ।।६९ ।।

श्लोकार्थ : (जिस कारण से सर्वज्ञ देव नहीं है।) उस कारण से अतीन्द्रियपदार्थो के साक्षात् द्रष्टा उपलब्ध होते नहीं है। इसलिए ही नित्यवेदवाक्यो से अतीन्द्रियपदार्थो का यथार्थरुप से निश्चय होता है। ॥६९॥

व्याख्या-तस्मात्-ततः कारणात् कुतो हेतुत इत्याह । अतीन्द्रियार्थानां-इन्द्रियविषयातीतपदार्थानामात्मधर्माधर्मकालस्वर्गनरकपरमाणुप्रभृतीनां साक्षात्-स्पष्टप्रत्यक्षावबोधेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रष्टुः-ज्ञातुरभावतो-असद्भावाद्धेतोः; नित्येभ्यो-अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावेभ्योऽवधारणस्येष्टविषयत्वाद्वेदवाक्येभ्य एव यथार्थत्वविनिश्चयः-अर्थानामनतिक्रमेण यथार्थं तस्य भावो यथार्थत्वं यथावस्थितपदार्थत्वं तस्य विशेषेण निश्चयो भवति । नित्यत्वेनापौरुषेयेभ्यो वेदवचनेभ्य एव यथावदतीन्द्रियाद्यर्थज्ञानं भवति, न पुनः सर्वज्ञप्रणीतागमादिभ्यः, सर्वज्ञादीनामेवाभावादिति भावः । यथाहुस्ते-"अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद्द्रष्टा न विद्यते । वचनेन हि नित्येन यः पश्यति स पश्यति ।।१।।" नन्वपौरुषेयानां वेदानां कथमर्थपरिज्ञानमिति चेत्, अव्यवच्छिन्नानादिसंप्रदायेनेति ।।६९।।

व्याख्या का भावानुवाद :

जगत में सर्वज्ञदेव नहीं है और इसलिए प्रमाणभूत आगम भी नहीं है। तब अतीन्द्रियपदार्थो का परिज्ञान किससे होता है ? इस शंका के समाधान मे बताते है कि "आत्मा, धर्म, अधर्म, काल, स्वर्ग, नरक, परमाणु इत्यादि पदार्थ इन्द्रियो के विषय नहीं बन सकते है। ये अतीन्द्रिय पदार्थो का साक्षात् अर्थात् स्पष्ट प्रत्यक्षज्ञान से साक्षात्कार करनेवाले ज्ञाता का अभाव होने से अप्रच्युत - अनुत्पन्न और स्थिर एक स्वभाववाले नित्य वेदवाक्यो से ही यथार्थरुप से विनिश्चय होता है। (श्लोक में अवधारण बोधक **"एव"** कार न होने पर भी अवधारण इष्ट होने से व्याख्या में **"एव"** कार का उपयोग किया है।) जिससे पदार्थो को वास्तविक स्वरुप का अतिक्रमण होता न हो वह यथार्थ कहा जाता है। यथार्थ का भाव वह यथार्थत्व = यथार्थता। वह यथार्थत्व का अर्थात् यथावस्थितपदार्थत्व का विशेष से निश्चय वेदवाक्यो से ही होता है, ऐसा मीमांसको को इष्ट है। उनका आशय यह है कि अपौरुषेय ऐसे नित्यवेदवचनो से ही यथावत् अतीन्द्रियपदार्थो का परिज्ञान होता है। परंतु अतीन्द्रिय पदार्थो का परिज्ञान सर्वज्ञप्रणीत आगमादि से होता नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ और सर्वज्ञप्रणीत आगम का ही अभाव है। कहा भी है कि... **"अतीन्द्रिय पदार्थो का साक्षात् द्रष्टा विद्यमान नहीं है। इसलिए नित्यवेदवोक्यो से जो अतीन्द्रियपदार्थो को देखता है और जानता है, वही सच्चा देखनेवाला है - अतीन्द्रियदर्शी है।"**

शंका : वेद अपौरुषेय है। उसके कोई आद्यप्रणेता नहीं है। तो उस अपौरुषेय वेदो के अर्थ का परिज्ञान किस तरह से होगा ?

समाधान : वेद अपौरुषेय तथा उसके कोई आद्यप्रणेता न होने पर भी अर्थ तथा पाठ की परंपरा अनादिकाल से अविच्छिन्नरुप से चली आ रही है। उसमें कोई विच्छेद पडा नहीं है। उससे ही वेद के वाक्यो के अर्थ का यथार्थनिर्णय हो जाता है। ॥६९॥

अथैतदेव दृढयन्नाह -

यही बात ज्यादा स्पष्ट करते हुए कहते है -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(मू. श्लो.) अत एव पुरा कार्यो वेदपाठः प्रयत्नतः ।
ततो धर्मस्य जिज्ञासा कर्तव्या धर्मसाधनी ।।७०।।

श्लोकार्थ : इसलिए ही पहली वय में प्रयत्नपूर्वक वेद पाठ करना चाहिए। बाद में धर्म को सिद्ध करने के लिए धर्म की [२]जिज्ञासा करनी चाहिए। ॥७०॥

व्याख्या : अत एव-सर्वज्ञाद्यभावादेव पुरा-पूर्वं वेदपाठः ऋग्यजुःसामाथर्वणानां वेदानां पाठः प्रयत्नतः कार्यः । ततः किं कर्त्तव्यमित्याह-'ततो धर्मस्य' इति । ततो वेदपाठादनन्तरं धर्मस्य जिज्ञासा कर्तव्या । धर्मो ह्यतीन्द्रियः, ततः स कीदृक्केन प्रमाणेन वा ज्ञास्यत इत्येवं ज्ञातुमिच्छा कार्या । सा कीदृशी धर्मसाधनी - धर्मसाधनस्योपायः ।।७०।।

व्याख्या का भावानुवाद :

सर्वज्ञ और उनके वचनो का अभाव होने से प्रथम वय में ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्वण वेदो का पाठ प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। प्रथम वय में प्रयत्नपूर्वक वेदो का पाठ करने के बाद क्या करना चाहिए ? वेदपाठ की अनंतर धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। धर्म अतीन्द्रिय है। इसलिए वह धर्म कौन से प्रकार से तथा कौन से अनुसार से मालूम होगा अर्थात् धर्म को जानने की इच्छा = जिज्ञासा करनी चाहिए। उस धर्म की जिज्ञासा धर्मसिद्धि का उपाय है। ॥७०॥

यतश्चैवं ततस्तस्य निमित्तं परीक्ष्यं निमित्तं च नोदना । निमित्तं हि द्विविधं जनकं ग्राहकं च । अत्र तु ग्राहकं ज्ञेयम् । एतदेव विशेषिततरं प्राह-

जिस कारण से "प्रथमवय में वेदपाठ और बाद में धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए।" इस अनुसार वह धर्म को जानने का एकमात्र निमित्त नोदना है। धर्म के निमित्त की परीक्षा करनी चाहिए। उस धर्म का निमित्त एकमात्र नोदना = वेद है। निमित्त दो प्रकार के है। (१) जनकनिमित्त और (२) ग्राहकनिमित्त। (कार्य को उत्पन्न करनेवाले को जनकनिमित्त कहा जाता है। जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान किया जाता है, वह ग्राहकनिमित्त कहा जाता है।) यहाँ नोदना से धर्म का ज्ञान होता है। इसलिए नोदना धर्म का ग्राहकनिमित्त है। यही बात को विशेष कहा जाता है।

(मू. श्लो.) नोदनालक्षणो[A]धर्मो नोदना तु क्रियां प्रति ।
प्रवर्तकं वचः प्राहुः स्वःकामोऽग्निं यथा यजेत् ।।७१।।

श्लोकार्थ : प्रेरणा (नोदना - चोदना) यह धर्म का लक्षण है। क्रिया के प्रति प्रवर्तकवचन को नोदना कहा जाता है। अर्थात् नोदना यानी क्रिया की प्रेरणा करने वाला वचन। जैसे कि **"स्वर्गकामो यजेत्"** इस वाक्य

A "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ।।२।। चोदना - इति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः । आचार्यचोदितः करोमि-इति ।" मी सू. शाबरभा० ।।१।१।२।।

(२) पेज नंबर ३९३ पर देखें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में विध्यर्थ यज्ञ करने की प्रेरणा देते है। इसलिए वह धर्म है। (अर्थात् "स्वर्ग की इच्छावाला अग्निहोत्र यज्ञ करे" यह वेदवचन स्वर्ग की इच्छावाले पुरुष की प्रवृत्ति में प्रवर्तक बनता है। इसलिए वह धर्म है।) ॥७१॥

व्याख्या-नोद्यन्ते प्रेर्यन्ते श्रेयःसाधकद्रव्यादिषु प्रवर्त्यन्ते जीवा अनयेति नोदना-वेदवचनकृता प्रेरणेत्यर्थः । धर्मो नोदनया लक्ष्यते ज्ञायते इति नोदनालक्षणः । धर्मो ह्यतीन्द्रियत्वेन नोदनयैव लक्ष्यते नान्येन प्रमाणेन, प्रत्यक्षादीनां विद्यमानोपलम्भकत्वात्, धर्मस्य तु कर्तव्यतारूपत्वात्, कर्तव्यतायाश्च त्रिकालशून्यार्थरूपत्वात्, त्रिकालशून्यकार्य-रूपार्थविषयविज्ञानोत्पादिका (चो)नोदनेति मीमांसकाभ्युपगमात् । अथ नोदनां व्याख्याति "नोदना तु क्रियां प्रति" इत्यादि । नोदना पुनः क्रियां हवनसर्वभूताऽहिंसनदानादिक्रियां प्रति प्रवर्तकं वचो वेदवचनं प्राहुर्मीमांसका भाषन्ते । हवनादिक्रियाविषये यदेव प्रेरकं वेदस्य वचनं सैव नोदनेति भावः । प्रवर्तकं तद्वचनमेव निदर्शनेन दर्शयति "स्वःकामोऽग्निं यथा यजेत्" इति । यथेत्युपदर्शनार्थः । स्वः स्वर्गे कामो यस्य स स्वः कामः पुमान् स्वःकामः सन् । अग्निं-वह्निं यजेत्-तर्पयेत् । अत्रेदं श्लोकबन्धानुलोम्येनेत्थमुपन्यस्तम् । अन्यथा त्वेवं भवति । "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम" [मैत्र्यु० ६।३] इति प्रवर्तकवचनस्योपलक्षणत्वात् । निवर्तकमपि वेदवचनं नोदना ज्ञेया, यथा "न हिंस्यात्सर्वभूतानि" इति । एवं "न वै हिंस्रो भवेत्" इत्याद्यपि । आभिर्नोदनाभिर्नोदितो यदि यथा नोदनं यैर्द्रव्यगुणकर्मभिर्यो हवनादौ प्रवर्तते निवर्तते वा, तदा तेषां द्रव्यादीनां तस्याभीष्टस्वर्गादिफलसाधनयोग्यतैव धर्म इत्यभिधीयते । एतेन वेदवचनैः प्रेरितोऽपि यदि न प्रवर्तते न निवर्तते वा विपरीतं वा प्रवर्तते, तदा तस्य नरकाद्यनिष्टफलसंसाधनयोग्यतैव द्रव्यादिसंबन्धिनी पापमित्युच्यत इत्यपि ज्ञापितं द्रष्टव्यम् । इष्टानिष्टार्थसाधनयोग्यतालक्षणौ धर्माधर्माविति हि मीमांसकाः । उक्तं च शाबरे- "य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते" [शाबरभा० १।१।२] अनेन द्रव्यादीनामिष्टार्थसाधन-योग्यता धर्मः इति प्रतिपादितं शबरस्वामिना । भट्टोऽप्येतदेवाह-"श्रेयो[२] हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः । नोदनालक्षणैः साध्या तस्मादेष्वेव धर्मता ।।१।। [मी० श्लो० चोदना सू० श्लो० १३१] एषामैन्द्रियकत्वेऽपि न तादूप्येण धर्मता । क्षेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते ।।२।। तादूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः ।" इति [मी० श्लो० चोदना सू० श्लो० १९१]।।७१।।

व्याख्या का भावानुवाद :

जिसके द्वारा जीव कल्याणकारी द्रव्यो के बारे में प्रेरित बनके प्रवृत्त होता है, -- उस वेदवचनो से होनेवाली प्रेरणा को नोदना - चोदना कहा जाता है। धर्म नोदना के द्वारा लक्षित होता है। इसलिए धर्म का लक्षण नोदना है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्म अतीन्द्रिय होने के कारण नोदना के द्वारा ही मालूम होता है। अन्य प्रत्यक्षादिप्रमाण से धर्म मालूम होता नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षादिप्रमाण विद्यमानपदार्थो के उपलंभक है। धर्म कर्तव्यतारुप है और कर्तव्यता त्रिकाल शून्य अर्थ रुप है। मीमांसको की मान्यता है कि चोदना = नोदना त्रिकालशून्य शुद्धकार्यरुप अर्थ का ज्ञान उत्पन्न करती है।

अब "**नोदना तु क्रियां प्रति**" पद द्वारा नोदना की व्याख्या करते है। हवन, सर्व जीवो के उपर दया, दान आदि क्रियाओ में प्रवर्तक वेदवचन को मीमांसक नोदना कहते है। तात्पर्य यह है कि हवनादि क्रिया के विषय में वेद का जो वचन प्रेरक बनता है, उसे नोदना कहा जाता है। प्रवृत्ति में प्रवर्तक वेदवचन ही उदाहरण के द्वारा बताया जाता है - "**स्वःकामोऽग्निं यथा यजेत्**" अर्थात् स्वर्ग की इच्छावालो को अग्निहोत्र यज्ञ करना चाहिए। (यहाँ "**यथा**" पद उदाहरण को बताने के लिए प्रयोजित किया गया है।)

उस वेदवचन का अर्थ यह है - स्वर्ग की इच्छावाला पुरुष अग्नि का तर्पण करे। श्लोकरचना में नियत अक्षर होते है। इसलिए "**स्वः कामोऽग्निं यजेत्**" यह पद कहा है। वास्तव में वह वेदकथन "**अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम**" स्वर्गाभिलाषि अग्निहोत्र यज्ञ करे, यह प्रवर्तक वेदवाक्य का ही द्योतक है। अर्थात् उपलक्षण से वेदवचन को प्रवर्तक कहा। बाकी तो निवर्तक वेदवचन भी नोदना कही जाती है। जैसे कि "**न हिंस्यात्सर्वभूतानि**" - किसी भी जीव की हिंसा न करे, तथा "**न वै हिंस्रो भवेत्**" - हिंसक न बने। ऐसे निवर्तक वेदवचन भी नोदना कहे जाते है। इस तरह प्रवर्तक और निवर्तक होनो वेदवचन भी नोदना कहे जाते है। यह नोदना = प्रेरणात्मकवेदवचनो से प्रेरणा पाके, प्रेरणा के अनुसार से जब पुरुष द्रव्य, गुण, क्रियाओ से हवनादि क्रियाओ में प्रवर्तित होता है और हिंसादि से वापस आता है, तब उस द्रव्य-गुण क्रियाओ में इच्छित स्वर्गादि फल के साधन बनने की जो योग्यता = शक्ति है, उसे ही धर्म कहा जाता है। कहने का मतलब यह है कि पुरुषरुप द्रव्य जो बुद्धि आदि गुणो से हवनप्रायोग्य द्रव्यो को इकट्ठा करके हिलना-चलना क्रिया करता है, वे सभी द्रव्य, गुण, क्रियाओ में स्वर्गादि फल के साधन बनने की जो योग्यता - शक्ति है, उसे धर्म कहा जाता है। इससे यह सूचित होता है कि वेदवचनो के द्वारा प्रेरणा प्राप्त करके भी जो पुरुष हवनादि में प्रवर्तित होता नहीं है, हिंसादि से निवृत्त होता नहीं है और विपरीत रुप से प्रवर्तित होता है, तब उसकी उस अन्यथाप्रवृत्ति में साधनभूत द्रव्य, गुण और क्रियाओ की जो नरकादि अनिष्ट फल के साधक होने की जो योग्यता = शक्ति है उसे ही पाप = अधर्म कहा जाता है। सारांश में इष्टार्थ के साधन होने की जिसमें योग्यता हो वह धर्म और अनिष्टार्थ के साधन होने की जिसमें योग्यता हो उसे अधर्म कहा जाता है। यह मीमांसको की मान्यता है।

श्री प्रभाकरमिश्र ने शाबरभाष्य में कहा है कि... "**जो जो श्रेयस्कर = कल्याणकारि है, वही धर्म शब्द से कहा जाता है।**" इस वचन से प्रभाकरमिश्र ने भी प्रतिपादन किया है कि.... "**द्रव्यादि की इष्ट अर्थ को सिद्ध करनेवाली योग्यता ही धर्म है।**"

श्री कुमारिल भट्ट भी यही कहते है कि.. पुरुष की प्रीति को श्रेय कहा जाता है, वह प्रीति नोदना-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वेदवाक्य के द्वारा प्रतिपादित यागादि में उपयुक्त होनेवाले द्रव्य, गुण, क्रिया से उत्पन्न होती है। इसलिए स्वर्गादि रुप प्रीति के साधनभूत द्रव्यादि में ही धर्मरुपता है। यद्यपि द्रव्य, गुण और क्रिया इन्द्रियगम्य होने पर भी उसका इन्द्रियगम्य स्वरुप धर्म नहीं है। परन्तु वेद द्वारा प्रतिपादित उसकी श्रेयः साधनता ही धर्म है। वेद द्रव्यादि श्रेयःसाधनता का हंमेशा प्रतिपादन करता है। इसलिए द्रव्यादि श्रेयःसाधनरुप से ही धर्म कहा जाता है। उसी ही कारण से उसकी श्रेयः साधनतारुप शक्ति, कि जिसको धर्म कहा जाता है, वह इन्द्रियो का विषय बनता नहीं है।

अथ विशेषलक्षणं प्रमाणस्याभिधानीयं, तच्च सामान्यलक्षणाविनाभूतम्, ततः प्रथमं प्रमाणस्य [G-92]सामान्यलक्षणमभिधीयते । "अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणम्" इति । अनधिगतो-

(३) **प्रामाण्य विचार :** प्रामाण्यवाद मीमांसको का विशिष्ट सिद्धांत है। "**अयं घटः**" इत्यादि ज्ञान उत्पन्न होने के बाद उस ज्ञान की सत्यता (उत्पन्न हुआ ज्ञान सत्य है या असत्य ? उसका निर्णय) उस ज्ञान के द्वारा ही होता है या उसके लिए अन्य ज्ञान की अपेक्षा रहती है। यह प्रश्न प्रामाण्यवाद का हृदय है। प्रामाण्य = ज्ञान की सत्यता। नैयायिक ज्ञान की सत्यता के लिए अन्यज्ञान की अपेक्षा रखते है। "**अयं घटः इति ज्ञानवानहं**" अथवा "**घटमहं जानामि**" यह अनुव्यवसायात्मक ज्ञान प्रथम ज्ञान के (**अयं घटः**) प्रामाण्य का निश्चय कराता है। इस प्रकार ज्ञान का प्रामाण्य अन्यज्ञान के उपर आधारित होने से नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी कहे जाते है। मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी है। अर्थात् ज्ञान की सत्यता का निर्णय ज्ञान स्वयं ही कराता है। उसके लिए अन्य की = पर की आवश्यकता नहीं है। यह उनकी मान्यता है। स्वतः प्रामाण्यवादी होने पर भी मीमांसा के तीन मत अलग-अलग तरह से उसकी समज देते है।

● **गुरुमत :** प्रत्येक ज्ञान सत्य ही होता है। "**भ्रम**" का अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए जो सामग्री ज्ञानजनक है, वह सामग्री ही ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रह करवाती है। जैसे दीपक का प्रकाश स्वयं को और अन्य पदार्थ को प्रकाशित करता है, वैसे ज्ञान भी स्वयं को तथा पदार्थ को प्रकाशित करता है।

● **भट्टमत :** "**अयं घटः**" ऐसा ज्ञान जब उत्पन्न होता है, तब ही ज्ञान के विषय घट में "ज्ञातता" नामके पदार्थ की उत्पत्ति होती है। "**ज्ञातो घटः**" यह प्रतीति ज्ञातता की साधक है। यह ज्ञातता ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करवाती है।

● **मिश्रमत :** नैयायिको की तरह ही मिश्र भी अनुव्यवसायात्मक ज्ञान प्रामाण्योत्पादक है ऐसा मानते है। प्रामाण्य की तरह अप्रामाण्य का भी निश्चय स्वतः होता है कि परतः यह प्रश्न है। मीमांसक अप्रामाण्यग्रह को परतः ही मानते है। शुक्ति में रजत का ज्ञान अन्यज्ञान से बाधित हो तब ही उसके अप्रामाण्य का निश्चय होता है।

(भ्रमात्मक ज्ञान के विषय में मीमांसको का स्वतंत्र मत है। प्रभाकरमिश्र की मान्यता अनुसार प्रत्येक ज्ञान प्रमात्मक ही होता है। भ्रम का अस्तित्व ही नहीं है। शुक्ति में रजत के ज्ञान को भ्रमात्मक कहा जाता है। वह सत्य नहीं है। भ्रमस्थान पे चाकचिक्य इत्यादि रजत के धर्मो को देखकर रजत की स्मृति होती है। (वह स्मृति है, भ्रम नहीं है।) और शुक्ति का तथा रजत का भेद पकडा नहीं जाता। यही भ्रम की प्रक्रिया है। वस्तुतः यह भ्रम नहीं है। भेदाग्रह है। उनका यह मत अख्याति नाम से प्रसिद्ध है। भट्ट और मुरारि दोनो का मत नैयायिको के जैसा ही है। उसको विपरीतख्याति कहते है।)

(G-92) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अगृहीतो योऽर्थो-बाह्यः स्तम्भादिस्तस्याधिगन्तृ-आधिक्येन संशयादिव्युदासेन परिच्छेदकम् । अनधिगतार्थाधिगन्तृप्रागज्ञातार्थपरिच्छेदकं, समर्थविशेषणोपादानाज्ज्ञानं विशेष्यं लभ्यते, अगृहीतार्थग्राहकं ज्ञानं प्रमाणमित्यर्थः । अत्र "अनधिगत" इति पदं धारावाहिज्ञानानां गृहीतग्राहिणां प्रामाण्यपराकरणार्थम् । "अर्थ" इति ग्रहणं संवेदनं स्वसंविदितं न भवति, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्, किन्तु नित्यं परोक्षमेवेति ज्ञापनार्थम् । तच्च परोक्षं ज्ञान भाट्ट-मतेऽर्थप्राकट्यफलानुमेयं[G-93], भाट्टप्रभाकरमते[G-94] संवेदनाख्यफलानुमेयं वा प्रतिपत्तव्यम् ।

व्याख्या का भावानुवाद :

अब प्रमाणो का विशेषलक्षण कहना चाहिए । विशेषलक्षण सामान्यलक्षण को अविनाभूत होता है । अर्थात् विशेषलक्षण का कथन सामान्यलक्षण के कथनपूर्वक ही होता है । इसलिए पहले प्रमाण के सामान्यलक्षण को कहा जाता है - "**अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणम्**" पहले नहि जाने हुए पदार्थ को बतानेवाले ज्ञान का प्रमाण कहा जाता है । (सामान्य लक्षण की व्याख्या की जाती है -) "**अनधिगत**" = नहि जाने हुए जो स्तंभादि पदार्थ है, वह बाह्य स्तंभादि पदार्थो को अधिक से = संशयादि दोषो का निरासपूर्वक बतानेवाला जो ज्ञान होता है वह प्रमाण कहा जाता है । अनधिगतार्थाधिगन्तृ-पहले नहि जाने हुए को जो बताता है उसे प्रमाण कहा जाता है । यहाँ लक्षणवाक्य में "**ज्ञान**" पद नहीं है, तो भी "**अगृहीतपदार्थ को जाननेवाला**" इस विशेषण के सामर्थ्य से विशेष्यभूत "**ज्ञान**" पद का बोध होता है । इसलिए लक्षण का आकार इस प्रकार होगा - "**अगृहीतार्थग्राहकं ज्ञानं प्रमाणम्**" अगृहीत पदार्थ को जाननेवाला ज्ञान प्रमाण कहा जाता है । लक्षण में "**अनधिगत**" पद गृहीतग्राहि धारावाहिज्ञानो की प्रमाणता के निराकरण के लिए है । "**यह घट है, यह घट है**" इत्यादि धारावाहिज्ञान में अनधिगत अर्थ का ज्ञान होता नहीं है । परंतु अधिगतार्थ का ही ज्ञान होता है,० इसलिए उसमें प्रमाणता न आ जाये, इसलिए लक्षण में "**अनधिगत**" पद का ग्रहण किया हुआ है । (कहने का मतलब यह है कि... धारावाहिज्ञान में अनधिगत अर्थ का ज्ञान होता न होने से वह अप्रमाणरुप है । इसलिए धारावाहि ज्ञान में प्रमाणता न आये इसलिए "**अनधिगत**" विशेषणपद रखा है ।)

प्रमाण के सामान्यलक्षण में "**अर्थ**" पद का ग्रहण ज्ञान स्वसंवेदित नहीं है, वह बताने के लिए है । अर्थात् ज्ञान, पदार्थ का ज्ञान करा देता है । परंतु ज्ञान अपने स्वरुप का ज्ञान करा सकता नहीं है । ज्ञान स्वसंवेदी नहीं है, क्योंकि स्वात्मा में क्रिया का विरोध है । अर्थात् अपनी अपने में क्रिया का विरोध है । (पहले कहे हुए नटके उदाहरण से समज लेना ।) इसलिए ज्ञान स्वसंवेदी नहीं है, परंतु नित्यपरोक्ष ही है ।

भाट्टमत में इस [3]परोक्षज्ञान का अर्थप्राकट्य नामक फल से अनुमान होता है । प्रभाकर मत में उस परोक्ष ज्ञान का प्रमाण के संवेदनरुप फल से अनुमान होता है । (टीका में "**भाट्टप्रभाकरमते**" के स्थान पे

(G-93-94) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"**प्रभाकरमते**" ज्यादा उचित लगता है। क्योंकि पहले कुमारिल भट्ट का मत अलग बताया गया है।)

अथ प्रमाणस्य विशेषलक्षणं विवक्षुः प्रथमं तन्नामानि तत्संख्यां चाह -

अब प्रमाण के विशेषलक्षण को कहने की इच्छावाले ग्रंथकारश्री प्रथम विशेषलक्षणो के नाम और उसकी संख्या कहते है।

(मू. श्लो.) प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दं चोपमया सह ।
अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ।।७२।।

श्लोकार्थ : जैमिनिमत में प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव ये छः प्रमाण है ।।७२।।

व्याख्या-प्रत्यक्षानुमानशाब्दोपमानार्थापत्त्यभावलक्षणानि षट् प्रमाणानि जैमिनिमुनेः संमतानीत्यध्याहारः । चकाराः समुच्चयार्थाः । तत्राद्यानि पञ्चैव प्रमाणानीति प्रभाकरोऽभावस्य प्रत्यक्षेणैव ग्राह्यतां मन्यमानोऽभिमन्यते । षडपि तानीति भट्टो भाषते ।। ७२ ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

जैमिनिमुनि को प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव ये छः प्रमाण मान्य है। श्लोक में "**च**" कार समुच्चयार्थक है। प्रभाकर अभाव को प्रत्यक्ष से ग्राह्य मानकर, अर्थापत्ति तक के पांच प्रमाणो का स्वीकार करते है। भट्ट प्रत्यक्षादि छः प्रमाणो को मानते है। ।।७२।।

अथ प्रत्यक्षस्य लक्षणमाचष्टे - अब प्रत्यक्ष का लक्षण कहते है।

(मू. श्लो.) तत्र प्रत्यक्षमक्षाणां संप्रयोगे सतां सति ।
आत्मनो बुद्धिजन्मेत्यनुमानं लैङ्गिकं पुनः ।।७३।।

श्लोकार्थ : विद्यमानवस्तु के साथ इन्द्रियो का सन्निकर्ष होने से आत्मा को जो बुद्धि - ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहा जाता है। लिंग से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को अनुमान कहा जाता है।

व्याख्या-"तत्र" इति निर्धारणार्थः । इयमत्राक्षरघटना-सतां संप्रयोगे सति आत्मनोऽक्षाणां बुद्धिजन्मप्रत्यक्षमिति । श्लोके तु बन्धानुलोम्येन व्यस्तनिर्देशः । सतां-विद्यमानानां वस्तूनां संबन्धिनि सम्प्रयोगे-सबन्धे सति आत्मनोजीवस्येन्द्रियाणां यो बुद्ध्युत्पादः तत्प्रत्यक्षमिति । सतामित्यत्र सत इत्येकवचनेनैव प्रस्तुतार्थसिद्धौ षष्ठीबहुवचनाभिधानम् बहूनामप्यर्थानां संबन्ध इन्द्रियस्य संयोगः क्वचन भवतीति ज्ञापनार्थम् । अत्र जैमिनीयं सूत्रमिदं "सत्संप्रयोगे सति पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षं" [मीमां० सू०-१।१।४] **इति । व्याख्या-सताविद्यमानेन वस्तुनेन्द्रियाणां संप्रयोगे संबन्धे सति पुरुषस्य यो ज्ञानोत्पादः, तत्प्रत्यक्षम् ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अयमत्र भावः-यद्विषयं विज्ञानं तेनैवार्थेन संप्रयोगे इन्द्रियाणां प्रत्यक्षं, प्रत्यक्षाभासं त्वन्य-संप्रयोगजं यथा मरुमरीचिकादिसंप्रयोगजं जलादिज्ञानमिति । अथवा सत्संप्रयोगजत्वं विद्यमानोपलम्भनत्वमुच्यते । तत्र सति-विद्यमाने सम्यक्प्रयोगोऽर्थेष्विन्द्रियाणां व्यापारो योग्यता वा, न तु नैयायिकाभ्युपगत एवं संयोगादिः । तस्मिन्सति शेषं प्राग्वत् । इतिशब्दः प्रत्यक्षलक्षणसमाप्तिसूचकः ।। अथानुमानं लक्षयति पुनःशब्दस्य व्यस्तसंबन्धात् । अनुमानं पुनर्लैङ्गिकम् लिङ्गाज्जातं लैङ्गिकम् । लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानमित्यर्थः । तत्रेदमनुमान-लक्षणस्य सूचामात्रमुक्तम् । संपूर्णं त्वित्थं तल्लक्षणं "[२]ज्ञातसंबन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानम्" [शावर. भा० १।१।५] इति शाबरमनुमानलक्षणम् । व्याख्याअवगतसाध्य-साधनाविनाभावसंबन्धस्य पुंस एकदेशस्य साधनस्य दर्शनादसन्निकृष्टे परोक्षेऽर्थे बुद्धि-र्ज्ञानमनुमानमिति ।।७३।।

व्याख्या का भावानुवाद :

श्लोक में निर्दिष्ट "**तत्र**" निर्धारणार्थक है। श्लोक में छन्दरचना के अनुरोध से लक्षणगत शब्दो की व्यस्तता है। परंतु श्लोक में सूचित किये गये प्रत्यक्ष के लक्षण की अक्षर घटना इस अनुसार से है - विद्यमान वस्तुओ के साथ संप्रयोग = संबंध होने से आत्मा को इन्द्रियो के द्वारा बुद्धि = ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहा जाता है। वस्तुतः क्रम इस अनुसार है - विद्यमान वस्तुओ का संबंध होने से आत्मा को इन्द्रियो के द्वारा जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। यद्यपि "**सतः**" ऐसा एकवचन का प्रयोग करने से भी प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि हो जाती। अर्थात् वर्तमान पदार्थो से इन्द्रियो के सन्निकर्ष का सूचन हो सकता था, तो भी "**सताम्**" ऐसा बहुवचन का प्रयोग किया है, वह भी सूचित करता है कि कभी कभी कहीं-कहीं ज्यादा पदार्थो के साथ भी इन्द्रियो का संबंध होता है। जैमिनिसूत्र यह है -

"**सत्संप्रयोगे सति पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्**" **व्याख्याः** विद्यमान वस्तु से इन्द्रियो का संबंध होने से पुरुष को जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। कहने का मतलब यह है कि.. जो पदार्थविषयक ज्ञान होता है उस पदार्थ के साथ इन्द्रियो का संबंध होने से प्रत्यक्ष होता है। अन्यपदार्थ के साथ संबंध होने से अन्यपदार्थ का ज्ञान होना वह प्रत्यक्षाभास है। जैसे कि, मरुस्थल की रेत और सूर्य के किरण आदि के साथ संबंध होने से उत्पन्न होता भ्रान्त जलज्ञान प्रत्यक्षाभास है। अथवा "**सत्संप्रयोगज**" का अर्थ है, विद्यमान पदार्थो की उपलब्धि करनेवाला, विद्यमान पदार्थ में इन्द्रियो का सम्यक्प्रयोग या इन्द्रियो की योग्यता को सत्प्रयोग कहा जाता है, नहि कि नैयायिको के द्वारा माने गये संयोगादि सन्निकर्ष ही। प्रत्यक्ष के लक्षण में निर्दिष्ट "**इति**" पद समाप्ति का सूचक है।

अब अनुमान का लक्षण करते है - "**पुनः**" शब्द का संबंध श्लोक में जिसके साथ है, उससे भिन्न पद के साथ है। श्लोक में "**अनुमानं लैङ्गिकं पुनः**" - यह पद है। उसके स्थान पे "**अनुमानं**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुनर्लैङ्गिकम्'' यह पद जानना । लिंग से उत्पन्न होनेवाले लिंगि के ज्ञान को अनुमान कहा जाता है । यह अनुमान के लक्षण की साधारण सूचनामात्र ही है । उसका पूर्णलक्षण तो शाबरभाष्य में इस अनुसार से बताया है - ''**ज्ञातसंबन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानम्**'' साध्य और साधन के अविनाभाव के यथार्थज्ञानवाले पुरुष को एकदेश-साधन को देखने से असन्निकृष्ट=परोक्ष साध्य अर्थ का ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहा जाता है । (जैसे कि, रसोईघर में धूम और अग्नि के अविनाभावसंबंध को जानने वाला पुरुष को (पर्वत के उपर) धूम का दर्शन होने से असन्निकृष्ट = परोक्ष ऐसे वह्नि का ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहा जाता है ।) ॥७३॥

अथ शाब्दमाह - अब शाब्दप्रमाण का लक्षण कहते है -

शाब्दं शाश्वतवेदोत्थमुपमानं तु कीर्तितम् ।
प्रसिद्धार्थस्य साधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ॥७४॥

श्लोकार्थ : नित्यवेद से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को शाब्द = आगम कहा जाता है । प्रसिद्ध अर्थ की सदृशता से अप्रसिद्ध की सिद्धि करना उसे उपमान कहा जाता है । ॥७४॥

व्याख्या-शाश्वतोऽपौरुषेयत्वान्नित्यो यो वेदः तस्मादुत्था-उत्थानं यस्य तच्छाश्वतवेदोत्थम् । अर्थाद्वेदशब्दजनितं ज्ञानं शाब्दं प्रमाणम् । अस्येदं [1]लक्षणं "शब्दज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः शाब्दम्" [शाबरभा. १ ।१ ।५] इति[G-95] । **अयं शब्दोऽस्यार्थस्य वाचक इति यज्ज्ञानं तच्छब्दज्ञानम् । तस्मादनन्तरं शब्दे श्रुते ज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे अप्रत्यक्षेऽप्यर्थे-घटादौ बुद्धिःज्ञानं शाब्दं प्रमाणम् । शब्दादप्रत्यक्षे वस्तुनि यज्ज्ञानमुदेति तच्छाब्दमित्यर्थः । अत्र मते शब्दस्येदं स्वरूपं प्ररूप्यते । नित्या आकाशवत्सर्वगताश्च वर्णाः । ते च तालवोष्ठादिभिरभिव्यज्यन्ते न पुनरुत्पाद्यन्ते । विशिष्टानुपूर्वीका वर्णाः शब्दो** [G-96]**नित्यः । शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकसंबन्ध इति ।। अथोपमानमाह** "उपमानं तु" इत्यादि । उपमानं पुनः कीर्तितम् । तत्किं रूपमित्याह "प्रसिद्धार्थस्य" **इत्यादि । प्रसिद्ध उपलब्धोऽर्थो गवादिर्यस्य पुंस स प्रसिद्धार्थः ज्ञातगवादिपदार्थ इत्यर्थः । तस्य गवयदर्शने साधर्म्यादगवयगतसादृश्यात्परोक्षे गवि अप्रसिद्धस्य पुरानुपलब्धस्य सादृश्य-साधनं ज्ञानम् । अस्येदं सूत्रं** "उपमानमपि सादृश्यादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य" [शाबर भा० १ ।१ ।८] इति । **व्याख्या-गवयसादृश्यादसन्निकृष्टेऽर्थे परोक्षस्य गोः सादृश्ये गोस्मरणस्येति । गवि स्मरणं यस्य पुंसः स गोस्मरणः तस्य गोस्मरणवत इत्यर्थः । शेषं स्पष्टम् । तत्रेदं तात्पर्यम् येन प्रतिपन्ना गौरुपलब्धो न गवयो न चातिदेशवाक्यं "गौरिव गवयः" इति श्रुतं, तस्यारण्ये पर्यटतो गवयदर्शने प्रथम उपजायते परोक्षे गवि सादृश्य-ज्ञानं यदुत्पद्यते**

(G-95-96) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"अनेन सदृशो गौः" इति, तदुपमानमिति । तस्य [G-97]विषयः सादृश्यविशिष्टः परोक्षो गौः, तद्विशिष्टं वा सादृश्यमिति । अस्य चानधिगतार्थाधिगन्तृतया प्रामाण्यमुपपन्नं, यतोऽत्र गवय-विषयेण प्रत्यक्षेण गवय एव विषयीकृतो न पुनरसन्निहितस्य गोः सादृश्यम् । यदपि तस्य पूर्वं गौरिति प्रत्यक्षमभूत्, तथापि तस्य गवयोऽत्यन्तमप्रत्यक्ष एवेति कथं गवि तदपेक्षं तत्सा-दृश्यज्ञानम् । तदेवं गवयसदृशो गौरिति प्रागप्रतिपत्तेरनधिगतार्थाधिगन्तृपरोक्षे गवि गवयदर्शनात्सादृश्यज्ञानम् ।।७४।।

व्याख्या का भावानुवाद :

वेद अपौरुषेय होने से नित्य है। वह नित्यवेद से उत्पन्न होनेवाला अर्थात् वेद के शब्दो से उत्पन्न हुआ ज्ञान शाब्दप्रमाण है । शाबरभाष्य में शाब्दप्रमाण का यह लक्षण किया है - **"शब्दज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः शाब्दं"** - शब्दज्ञान से परोक्ष अर्थ में होने वाले ज्ञान को शाब्द = आगम कहा जाता है। "यह शब्द इस अर्थ का वाचक है" - इस संकेतज्ञान को शब्दज्ञान कहा जाता है। इस संकेतग्रहण के अनंतर शब्द सुनते ही जो परोक्ष घटादि अर्थ का भी ज्ञान होता है, उसको शाब्दप्रमाण कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि, जो शब्द से परोक्ष वस्तु में ज्ञान उत्पन्न हो, उसे शाब्द कहा जाता है। अर्थात् शब्द से होनेवाले अप्रत्यक्ष वस्तुविषयक ज्ञान को शाब्दप्रमाण कहा जाता है ।

जैमिनिमत में शब्द का स्वरुप इस अनुसार से बताया है - वर्णो को आकाश की तरह नित्य और सर्वगत मानते है। वे वर्ण तालु, मुख, नासिका आदि से प्रकट होते है। परंतु वे उत्पन्न होते नहीं है। विशिष्ट आनुपूर्वी = रचनावाले वर्ण ही शब्द कहे जाते है । शब्द भी नित्य है । शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचकसंबंध भी नित्य है।

अब उपमानप्रमाण का लक्षण कहते है। उपमान प्रसिद्ध है। उपमान का स्वरुप क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्लोक में उसका स्वरुप बताते हुए कहा है कि - **"प्रसिद्धार्थस्य"** इत्यादि-प्रसिद्ध- उपलब्ध है । गौ आदि पदार्थ जिनको ऐसे पुरुष को - उस प्रसिद्धार्थ गौ आदि को अच्छी तरह से जाननेवाले पुरुष को गवय का दर्शन होते ही गवयगत सादृश्यता से परोक्ष ऐसी गाय में गवय की समानता का ज्ञान होना वह उपमान कहा जाता है। (यद्यपि गाय में गवय की समानता है ही, परंतु उपमान से पहले पुरुष को उसकी समानता का ज्ञान नहीं था । उपमानप्रमाण से **"गाय इस गवय के समान है"** ऐसा सादृश्यज्ञान होता है।) उपमान का लक्षणसूत्र यह है - **"उपमानमपि सादृश्यादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शनं गौस्मरणस्य"** गवय की सदृशता से परोक्ष ऐसी गाय में (सादृश्य) ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे उपमान कहा जाता है। यह उपमान गवय के दर्शन के बाद जिस पुरुष को गाय का स्मरण हो, उसको होता है। अर्थात् गवय का स्मरण करनेवाले पुरुष को ही होता है। शेष स्पष्ट है।

(G-97) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तात्पर्य यह है कि, जो प्रतिपत्तृ = जाननेवाले ज्ञाताने गाय को देखा है, गवय को आज तक देखा नहीं है । **"गाय के समान गवय है"** ऐसे अतिदेशवाक्य को भी सुना नहीं है, उस व्यक्ति को अरण्य में फिरते-फिरते पहलीबार ही गवय का दर्शन होता है और **"इसके समान वह गाय है"** ऐसा गाय में गवय की समानता का जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे उपमान कहा जाता है । उपमान का विषय सादृश्यविशिष्ट परोक्षगाय है या गोविशिष्टसादृश्य है ।

यह उपमान अनधिगतपदार्थ को बतानेवाला होने से प्रमाण है । अर्थात् अनधिगतपदार्थ को जाननेपन उपमान में होने से, उसमें प्रामाण्य संगत होता है । (उपमान अनधिगतपदार्थ को बतानेवाला है ।) क्योंकि गवयविषयक प्रत्यक्ष के द्वारा गवय ही विषय किया गया है । परंतु असन्निहित = परोक्षगाय की सदृशता विषय बनी नहीं है । अर्थात् गवय को जाननेवाला प्रत्यक्ष तो केवल गवय को ही जानता है, परंतु परोक्षगाय की सदृशता तो जानता नहीं है । यद्यपि पहले गोविषयक प्रत्यक्ष हुआ था, तो भी तब गवय अत्यंत अपरोक्ष ही थी । तो किस तरह से उसके द्वारा गवय की अपेक्षा से गाय में सादृश्यज्ञान होगा ? । इस अनुसार से **"गवय के समान गाय है"** यह प्रतीति (न तो गवय प्रत्यक्ष द्वारा पहेले हुई है या न तो गोप्रत्यक्ष द्वारा हुई है ।) इसलिए वह प्रतीति अनधिगत ही है । इस तरह से गवय के दर्शन से परोक्ष गाय में होनेवाला सादृश्यज्ञान अगृहीतग्राहि होने से प्रमाण है । ॥७४॥

अथार्थापत्तिलक्षणमाह - अब अर्थापत्ति लक्षण कहते है -

(मू. श्लो.) दृष्टार्थानुपपत्त्या तु कस्याप्यर्थस्य कल्पना ।
क्रियते यद्बलेनासावर्थापत्तिरुदाहृता ॥७५॥

श्लोकार्थ : दृष्टपदार्थ की अनुपपत्ति के बल से जो कोई भी अदृष्टपदार्थ की कल्पना की जाती है, उसे अर्थापत्ति कहा जाता है । ॥७५॥

व्याख्या-प्रत्यक्षादिभिः षड्भिः प्रमाणैर्दृष्टः-प्रसिद्धो योऽर्थः, तस्यानुपपत्त्या-अन्यथाऽसंभवेन तुः-पुनः कस्याप्यन्यस्य-अदृष्टस्यार्थस्य कल्पना यद्बलेन-यस्य ज्ञानस्य बलेन सामर्थ्येन क्रियते । "दृष्टाद्यनुपपत्त्या" इति पाठे तु दृष्टः प्रमाणपञ्चकेन, आदिशब्दात् श्रुतः शाब्दप्रमाणेन तस्य दृष्टस्य श्रुतस्य चार्थस्यानुपपत्त्या कस्याप्यर्थस्य कल्पना यद्बलेन क्रियत इति प्राग्वत् । असावदृष्टार्थकल्पनारूपं ज्ञानमेवार्थापत्तिरुदाहृता । अत्रेदं सूत्रं "अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पना" (शा.भा-१/१/५) **इति । अत्र प्रमाणपञ्चकेन दृष्टः शब्देन श्रुतश्चार्थो मिथोवैलक्षण्यज्ञापनार्थं पृथक्कृत्योक्तौ स्तः । शेषं तुल्यम् । इदमुक्तं भवति-प्रत्यक्षादिप्रमाणषट्कविज्ञातोऽर्थो येन विना नोपपद्यते तस्यार्थस्य कल्पनमर्थापत्तिः । तत्र प्रत्यक्षपूर्विकार्थापत्तिः यथाग्नेः प्रत्यक्षेणोष्णस्पर्शमुपलभ्य दाहकशक्तियोगोऽर्थापत्त्या प्रकल्प्यते । न हि शक्तिरध्यक्षपरिच्छेद्या नाप्यनुमानादिसमधिगम्या प्रत्यक्षया शक्त्या सह कस्यचिदर्थस्य**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संबन्धासिद्धेः । [G-98]अनुमानपूर्विकार्थापत्तिः यथादित्यस्य देशान्तरप्राप्त्या देवदत्तस्येव गत्यनुमाने ततोऽनुमानाद्गमनशक्तियोगोऽर्थापत्त्यावसीयते । [G-99]उपमानपूर्विकार्थापत्तिः यथा "गवयवद्गौः" इत्युक्तेरर्थाद्वाहदोहादिशक्तियोगस्तस्य प्रतीयते, अन्यथा गोत्वस्यैवायोगात् । शब्दपूर्विकार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिरितीतरनामिका यथा शब्दादर्थप्रतीतौ शब्दस्यार्थेन संबन्धसिद्धिः । [G-100]अर्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तिः । यथोक्तप्रकारेण शब्दस्यार्थेन संबन्धसिद्धावर्थान्नित्यत्वसिद्धिः पौरुषेयत्वे शब्दस्य संबन्धायोगात् । [H-1]अभावपूर्विकार्थापत्तिः यथा जीवतो देवदत्तस्य गृहेऽदर्शनादर्थाद्बहिर्भावः । अत्र च चतसृभिरर्थापत्तिभिः शक्तिः साध्यते, पञ्चम्या नित्यता, षष्ठ्या गृहाष्टहिर्भूतो देवदत्त एव साध्यत इत्येवं षट्प्रकारार्थापत्तिः । अन्ये तु [H-2]श्रुतार्थापत्तिमन्यथोदाहरन्ति, पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्त इति वाक्यश्रवणाद्रात्रिभोजनवाक्यप्रतीतिः, श्रुतार्थापत्तिः । गवयोपमितस्य गोस्तज्ज्ञानग्राह्यताशक्तिरुपमानपूर्विकार्थापत्तिरिति । इयं च षट्प्रकाराप्यर्थापत्तिर्नाध्यक्षं अतीन्द्रियशक्त्याद्यर्थविषयत्वात् । अत एव नानुमानमपि, प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्तस्य, ततः प्रमाणान्तरमेवार्थापत्तिः सिद्धा ।।७५।।

व्याख्या का भावानुवाद :

प्रत्यक्षादि छः प्रमाणो के द्वारा सिद्ध हुआ अर्थ अन्य प्रकार से संभवित न होने से (उसकी संगति के लिए) पुनः किसी भी अदृष्टार्थ की कल्पना जिस ज्ञान के बल-सामर्थ्य से की जाती है, उसे अर्थापत्ति कहा जाता है।

उपरांत, किसी स्थान पे **"दृष्टाद्यनुपपत्त्या"** ऐसा पाठ भी देखने को मिलता है। उस पाठ के अनुसार इस प्रकार अर्थ करना-प्रत्यक्षादि पांच प्रमाण से सिद्ध अर्थ या शाब्दप्रमाण से सुने हुए अर्थ, जब दूसरी तरह से संगत होता न हो, तब (उसकी संगति के लिए) दूसरे किसी भी अर्थ की कल्पना जिस ज्ञान के बल - सामर्थ्य से की जाती है, उसे अर्थापत्ति कहा जाता है। इस अनुसार से अदृष्टपदार्थ की कल्पनारुप ज्ञान ही अर्थापत्ति कहा जाता है।

शाबरभाष्य में अर्थापत्ति का लक्षण इस अनुसार से है - **"अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पना"** प्रत्यक्षादि पांच प्रमाण से दृष्टपदार्थ या शाब्दप्रमाण से सुना हुआ पदार्थ दूसरी तरह से संगत होता नहीं है, तब जो अदृष्टार्थ की कल्पना की जाती है, उसे अर्थापत्ति कहा जाता है।

यहाँ सूत्र में प्रत्यक्षादि पांच प्रमाण से प्रसिद्ध दृष्टपदार्थ तथा शाब्दप्रमाण से प्रसिद्ध श्रुतपदार्थ की परस्परविलक्षणता बताने के लिए दोनो को पृथक् ग्रहण किया है। शेष उपर की हुई व्याख्या अनुसार है।

(G-98-99-100) - तु० पा० प्र० प० । (H-1-2) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तात्पर्यार्थ यह है कि प्रत्यक्षादि छः प्रमाणो से जाना हुआ पदार्थ जिसके बिना संगत होता नहीं है, उस अविनाभावी परोक्षपदार्थ की कल्पना अर्थापत्ति कही जाती है। (अब प्रत्यक्षादि छः प्रमाणपूर्विका अर्थापत्ति के उदाहरण देते है।)

(१) **प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति :** जैसे कि, अग्नि का स्पार्शन प्रत्यक्ष से उष्णस्पर्श जानकर (अग्नि में रही हुई) दाहकशक्ति का योग अर्थापत्ति से कल्पित किया जाता है। शक्ति प्रत्यक्ष से परिच्छेद्य नहीं है। अनुमान से भी परिच्छेद्य नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष से शक्ति के साथ जुडा हुआ कोई भी अर्थ प्रतीत होता नहीं है। शक्ति के साथ जुडा हुआ कोई भी अर्थ जब लिंग बनके प्रत्यक्ष का विषय बने, तब ही अनुमान से लिंगि = शक्ति का अनुमान किया जा सकता है। अन्यथा नहि। (अर्थात् शक्ति के साथ जुडा हुआ ऐसा कोई पदार्थ नहीं है कि, जिसको देखकर अनुमान होगा।) इसलिए शक्ति अनुमानगम्य भी नहीं है। इसलिए ही अग्नि में रहा हुआ दाहकशक्ति का योग अर्थापत्ति से मालूम होता है।

(२) **अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति :** देवदत्त का एक देश से दूसरे देश में पहुंचना गतिपूर्वक होता है, ऐसा देखकर सूर्य की देशान्तर प्राप्ति भी गतिपूर्वक होती है - ऐसा अनुमान किया जाता है। अनुमान के अनंतर सूर्य में गमनशक्तिका योग अर्थापत्ति से मालूम होता है।

(३) **उपमानपूर्विका अर्थापत्ति :** जैसे **"गवय के जैसी गाय है।"** इस उपमानवाक्य के अर्थ से गाय में भार वहन करना, दूध देना आदि की शक्ति का योग प्रतीत होता है। अर्थात् **"गवय जैसी गाय है"** - इस उपमानवाक्य के अर्थ से गाय में तादृशशक्ति का योग की कल्पना की जाती है। यदि तादृशशक्ति का योग न हो, तो उसमें गोत्व का योग ही नहि रहेगा। अर्थात् वह गाय ही नहीं रहेगी।

(४) **शब्दपूर्विका अर्थापत्ति :** (जिसका दूसरा नाम श्रुतार्थापत्ति है।) जैसे कि, शब्द से अर्थ की प्रतीति होने से शब्द का अर्थ के साथ जो संबंध है, वह अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। अर्थात् शब्द वाचक है और अर्थ वाच्य है - ऐसे प्रकार के वाच्य-वाचकरुप संबंध की सिद्धि होती है।

(५) **अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति :** पहले कहे अनुसार शब्द का अर्थ के साथ संबंध सिद्ध होने से अर्थापत्ति से शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है। क्योंकि, यदि वचन को पौरुषेय मानोंगे तो (अर्थात् पुरुष से उत्पन्न होता होने से अनित्य मानोंगे तो) शब्द का (अर्थ के साथ का) नित्यसंबंध का अयोग हो जायेगा। अर्थात् शब्द और अर्थ के बीच जो नित्य वाचक-वाच्यभावरुप संबंध है, वह नहि बन सकेगा।

(६) **अभावपूर्विका अर्थापत्ति :** जैसे कि, जीवित देवदत्त घर में देखने मिलता नहीं है। अर्थात् जीवित देवदत्त का गृह में अभाव होने से अर्थापत्ति से देवदत्त का बहिर्भाव सिद्ध होता है।

यहाँ छः अर्थापत्ति में से चार अर्थापत्ति से शक्ति की सिद्धि होती है। पांचवी अर्थापत्ति से नित्यता और छट्ठी अर्थापत्ति से घर से बाहर देवदत्त की सत्ता सिद्ध होती है। इस प्रकार से छः प्रकार की अर्थापत्ति है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किसी आचार्यने श्रुतार्थापत्ति का दूसरी तरह से उदाहरण दिया है। **"हृष्टपुष्ट देवदत्त दिन में खाता नहीं है"** इस वाक्यश्रवण से देवदत्त के रात्रिभोजनसंबंधी वाक्य की प्रतीति होती है, उसे श्रुतार्थापत्ति मानते है।

इस तरह से गवय से उपमित होनेवाली गाय में उपमानज्ञान की ग्राह्यताशक्ति की कल्पना को 'उपमानपूर्विका' अर्थापत्ति मानते है।

यह छः प्रकार की अर्थापत्ति अतीन्द्रियशक्ति आदि को विषय करती होने से प्रत्यक्षरुप नहीं है और इसलिए ही अनुमानरुप भी नहीं है, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है। इसलिए अर्थापत्ति स्वतंत्रप्रमाण सिद्ध होती है। ॥७५॥

अथाभावप्रमाणं स्वरुपतः प्ररुपयति - अब अभावप्रमाण का स्वरुप बताया जाता है -

(मू. श्लो.)[II-3]प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥७६॥

श्लोकार्थ : वस्तु की सत्ता के ग्राहक प्रत्यक्षादि पांच प्रमाण जिस वस्तु में प्रवृत्ति करते नही है, उसमें अभावप्रमाण की प्रवृत्ति होती है। ॥७६॥

व्याख्या-सदसदंशात्मके वस्तुनि प्रत्यक्षादीनि पञ्च प्रमाणानि सदंशं गृह्यते न पुनरसदंशं । प्रमाणाभावलक्षणस्त्वभावोऽसदंशं गृह्णीते न पुनः सदंशम् । अभावोऽपि प्रमाणाभावलक्षणो नास्तीत्यर्थस्यासन्निकृष्टस्य प्रसिद्ध्यर्थं प्रमाणम् [शा० भा० १।१] **इति वचनात् । अन्ये पुनरभावाख्यं प्रमाणं त्रिधा वर्णयन्ति[II-4] । प्रमाणपञ्चकाभावलक्षणोऽनन्तरोऽभावः १ प्रतिषिध्यमानाद्वा तदन्यज्ञानं २ आत्मा वा विषयग्रहणरूपेणानभिनिर्वृत्तस्वभावः ३ । इति ततः प्रस्तुतश्लोकस्यायमर्थः प्रमाणपञ्चकं-प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकं यत्र-भूतलादावाधारे घटादेराधेयस्य ग्रहणाय न जायते-न प्रवर्तते, तत्र-आधेयवर्जितस्याधारस्य ग्रहणेऽभावप्रमाणता-अभावस्य प्रामाण्यम् । एतेन निषिध्यमानात्तदन्यज्ञानमुक्तम् । तथा 'प्रमाणपञ्चकं यत्र' इति पदस्यात्रापि संबन्धाद्यत्र वस्तुरूपे-घटादेर्वस्तुनो रूपेऽसदंशे ग्राहकतया न जायते, तत्रासदंशेऽभावस्य प्रमाणता । एतेन प्रमाणपञ्चकाभाव उक्तः २ । तथा प्रमाणपञ्चकं 'वस्तुसत्तावबोधार्थं' घटादिवस्तुसत्ताया अवबोधाय न जायते-असदंशे न व्याप्रियते तत्र सत्तानवबोधेऽभावस्य प्रमाणता । अनेनात्मा विषयग्रहणरूपेण परिणत उक्तः ३ । एवमिहाभावप्रमाणं त्रिधा प्रदर्शितम् । तदुक्तम्-** "प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते । सात्मनो परिणामो वा, विज्ञानं वान्यवस्तुनि ॥१॥" [मी. श्लोक० अभाव श्लोक० ११] **अत्र सशब्दोऽनुत्पत्तेर्विशेषणतया योज्य इति । सम्मतिटीकायामभावप्रमाणं यथा त्रिधोपदर्शितं तथेहापि तद्दर्शितम् । रत्नाकरावतारिकायां**

(II-3-4) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तु प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिरित्यस्यैवोक्तस्य बलेन द्विधा तद्वर्णितमास्ते । तत्र सशब्दः पुलिङ्गः प्रमाणाभावस्य विशेषणं कार्य इति । तत्त्वं तु बहुश्रुता जानते ।

व्याख्या का भावानुवाद :

वस्तु सदसदंशात्मक = भावाभावात्मक होती है। अर्थात् वस्तु में सदंश की तरह असदंश भी रहता है। उसमें प्रत्यक्षादि पांच प्रमाण वस्तु का सदंश ग्रहण करते है। परंतु असदंश को ग्रहण करते नहीं है। प्रत्यक्षादिप्रमाणपंचक के अभाव में प्रवृत्त अभावप्रमाण वस्तु के असदंश को ग्रहण करता है। परन्तु सदंश को ग्रहण करता नहीं है। कहा भी है कि... "प्रमाणो के अभाव को अभावप्रमाण कहते है। वह "**नास्ति**= नहीं है" इस अर्थ की सिद्धि करता है। इस अभाव को जानने के लिए किसी भी प्रकार के सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् प्रमाणो के अभावस्वरुप अभाव भी "**नास्ति**" इस अनुसार असन्निकृष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए प्रमाण है।"

अन्य आचार्य अभावप्रमाण को तीन रुप से मानते है -

(१) (नजदीक में कहे हुए) प्रमाणपंचक का अभाव, (२) जिसका निषेध करना है, उस पदार्थ के मात्र आधारभूत पदार्थ का ज्ञान (अर्थात् निषेध्यमानपदार्थ से भिन्न आधारभूत पदार्थ का ज्ञान।) और (३) आत्मा का विषयज्ञानरुप से अनभिनिवृत्त = परिणत न होने का स्वभाव।

इसलिए प्रस्तुतश्लोक का यह अर्थ होगा - "**प्रत्यक्षादि प्रमाणपंचक जो भूतलादि आधार में घटादि आधेय को ग्रहण करने के लिए प्रवर्तित नहीं होता है; वह आधेयवर्जित आधार के ग्रहण में अभाव की प्रमाणता - प्रामाण्य है।**" इस अर्थ से अभाव प्रमाण का दूसरा रुप कहा गया।

("**प्रमाणपंचकं यत्र**" यह पद यहाँ भी जोडना। इसलिए अर्थ इस प्रकार होगा -) प्रमाण पंचक की जिस घटादि वस्तु के असदंश में ग्राहकतया प्रवृत्ति नहीं है, उस घटादि वस्तु के असदंश में अभाव की प्रमाणता है। इसके द्वारा प्रमाणपंचकाभावरुप प्रथमरुप कहा गया।

उस अनुसार से जहाँ प्रमाणपंचक घटादि वस्तु की सत्ता के अवबोध के लिए प्रवर्तित होता नहीं है। अर्थात् घटादि वस्तु के असदंश में व्यापार करता नहीं है, वहाँ घटादि वस्तु की सत्ता के अनवबोध में अभाव की प्रमाणता है। इसके द्वारा अभावप्रमाण का तीसरा रुप कहा गया। इस अनुसार से यहाँ अभावप्रमाण के तीन रुप बताये गये। कहा भी है कि... "प्रत्यक्षादि पांच प्रमाण की अनुत्पत्ति प्रमाणाभाव=अभावप्रमाण कहा जाता है। अथवा आत्मा की विषयग्रहणरुप से परिणति न होना या घटादि निषेध्यपदार्थो से भिन्न शुद्धभूतलादि वस्तुओ का परिज्ञान होना, (वह) भी अभावप्रमाण है।

यहाँ श्लोक में "**सा**" शब्द अनुत्पत्ति का विशेषण है। सम्मतितर्क की टीका में अभावप्रमाण के इस अनुसार से तीन प्रकार बताये है, उस अनुसार से ही यहाँ बताये है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु रत्नाकरावतारिका में प्रत्यक्षादि की अनुत्पत्ति के ही दो रुप कहकर, इस श्लोक में अभाव प्रमाण के दो प्रकार ही बताये है। "स" शब्द पुल्लिंग है और प्रमाणाभाव का विशेषण है।

अभाव प्रमाण को दो प्रकार का मानना या तीन प्रकार का मानना, वह बहुश्रुत आचार्य भगवंतो के ग्रंथो से जान लेना।

अथ येऽभावप्रमाणमेकधाभिदधति तन्मतेन प्रस्तुतश्लोको व्याख्यायते । प्रमाणपञ्चकं-प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकं यत्र-यस्मिन् वस्तुरूपे-घटादिवस्तुरूपे न जायते-न व्यापिपर्त्ति । वस्तुरूपं द्वेधा, सदसद्रूपभेदात् । अतो द्वयो रूपयोरेकतरव्यक्तये प्राह-"वस्तुसत्ता" इत्यादि । वस्तुनो-घटादेः सत्ता-सद्रूपता सदंश इति यावत्, तस्या अवबोधार्थं सदंशो हि प्रत्यक्षादिपञ्चकस्य विषयः, स चेत्तेन न गृह्यते, तदा तत्र वस्तुरूपे शेषस्यासदंशस्य ग्रहणायाभावस्य प्रमाणतेति । "वस्त्वसत्तावबोधार्थं" इति क्वचित्पाठान्तरम् । तत्रायमर्थः-प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुनो रूपे न व्याप्रियते, तत्र वस्तुनो याऽसत्ता-असदंशः, तदवबोधार्थमभावस्य प्रमाणतेति । अनेन च त्रिविधेनैकविधेन वाभावप्रमाणेन प्रदेशादौ घटाभावो गम्यते न च प्रत्यक्षेणैवाभावोऽवसीयते, तस्याभावविषयत्वविरोधात्, [II-5]भावांशेनैवेन्द्रियाणां संयोगात् । अथ घटानुपलब्ध्या प्रदेशे धर्मिणि घटाभावः साध्यत इत्यनुमानग्राह्योऽभाव इति चेत्, न, साध्यसाधनयोः कस्यचित्संबन्धस्याभावात् । तस्मादभावोऽपि प्रमाणान्तरमेव । अभावश्च प्रागभावादिभेदभिन्नो वस्तुरूपोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा कारणादिव्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसङ्गात् । तदुक्तम् - "[1]न च स्याद्व्यवहारोऽयं कारणादिविभागतः । प्रागभावादिभेदेन नाभावो यदि भिद्यते ।।१।। यद्वानुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यो यतस्त्वयम् । तस्माद्गवादिवद्वस्तुप्रमेयत्वाच्च [2]गृह्यताम् ।।२।। न चावस्तुन एते स्युर्भेदास्तेनास्य वस्तुता । कार्यादीनामभावः को भावो यः कारणादिना ।।३।। (२/१) वस्तुसंकरसिद्धिश्च तत्प्रामाण्[3]यं समाश्रिता । क्षीरोदध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते ।।४।। नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभावलक्ष[4]णम् । गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते ।।५।।" शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः ।। शशशृङ्गादिरुपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते ।।६।।" **यदि चैतद्व्यवस्थापकमभावाख्यं प्रमाणं न भवेत्, तदा प्रतिनियतवस्तुव्यवस्था दूरोत्सारितैव स्यात् ।** "क्षीरे दधि भवेदेवं दध्नि क्षीरं घटे पटः । शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ चैतन्यं

---

१ मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ. ४१४-श्लो. ७१-७३ ७-९-८-२-३-४-५-६ । २. गम्यते, (२/१) वस्त्वसंकरसिद्धिश्च गी. श्लोक. । ३. एव समाश्रया, ४. इष्यते

(II-5) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूर्त्तिरात्मनि ।।७।। अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ वायौ रूपेण तौ सह । व्योम्नि संस्पर्शिता ते च न चेदस्य प्रमाणता ।।८।।" **[मी. श्लोक० अभाव० श्लो-२-९] इति ।।**

व्याख्या का भावानुवाद :

अब जो लोग अभावप्रमाण को एक ही प्रकार से मानते है, उनके मत से प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या की जाती है - । "जब घटादि वस्तु के सदंश में प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणो का व्यापार होता नहीं है, तब उस वस्तु के शेष असदंश में - अभावांश में अभावप्रमाण का व्यापार होता है ।

वस्तु के दो रुप होते है । एक सदात्मक और दूसरा असदात्मक । वस्तु का सदात्मक अंश प्रत्यक्षादि पांच प्रमाण का विषय बनता है और वस्तु का शेष असदंश कि जो पांच प्रमाणो का विषय बनता नहीं है, वह अभावप्रमाणका विषय बनता है । अर्थात् असदंश में अभाव की प्रमाणता है ।

किसी स्थान पे "**वस्तुसत्तावबोधार्थं**" के स्थान पे "**वस्त्वसत्तावबोधार्थं**" पाठ भी देखने को मिलता है । वहाँ वस्तु की जो असत्ता - असदंश है, उसको जानने के लिए अभावप्रमाण का व्यापार होता है ।

इसलिए तीन प्रकार के या एक प्रकार के अभाव प्रमाण से भूतलादि प्रदेश में घटाभाव को जाना जा सकता है । प्रत्यक्ष प्रमाण से अभाव मालूम होता नहीं है। क्योंकि अभाव को प्रत्यक्षप्रमाण का विषय बनने में विरोध है । अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा अभाव विषय बन सकता नहीं है । इन्द्रियो का संयोग वस्तु के भाव अंश में ही होता है । अभाव अंश में नहि ।

शंका : घटकी अनुपलब्धिरुपलिंग से भूतलादि प्रदेशरुपी धर्मी में घटाभाव को साध्य मानकर "इस प्रदेश में घट नहीं है, क्योंकि अनुपलब्धि है । इस अनुमान से अभाव को ग्रहण किया जा सकता है । तो फिर अभावांश को ग्रहण करने के लिए स्वतंत्र अभावप्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है । क्योकि (उपरोक्त अनुमान के) साध्य और साधन का अविनाभाव पहले से ग्रहण किया हुआ दिखाई नहीं देता है तथा उपरोक्त अनुमान में साध्य-साधन में कोई कार्य-कारणभाव आदि संबंध भी नहीं है । इसलिए अनुमान से अभाव ग्राह्य नहीं बन सकता है । इसलिए वस्तु के अभावांश को ग्रहण करनेवाला स्वतंत्र अभावप्रमाण माना जाता है ।

तथा अभावप्रमाण का विषय अभाव वस्तुरुप है तथा वह चार प्रकार का है । (१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अन्योन्याभाव, और (४) अत्यंताभाव । यदि अभावप्रमाण का विषय अभाव वस्तुरुप और प्रागभावादि प्रकारवाला न हो तो लोकप्रतीत सभी कारणादि व्यवहारो का लोप होने का प्रसंग आयेगा । इसलिए ही कहा है कि...

"यदि अभाव प्रागभावादि चार प्रकार का न हो तो कारण-कार्य आदि के विभाग से जो लोकव्यवहार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चलता है वह नहीं चल सकेगा। (१) अथवा अभाव वस्तु है, क्योंकि उसमें गाय आदि की तरह अनुवृत्ति - व्यावृत्तिविशेष बुद्धि होती है। तथा वह प्रमाण का विषय है - प्रमेय है। (२) अवस्तु के प्रागभावादि चार भेद नहीं हो सकते। इसलिए अभाव के प्रागभावादि अवांतर भेद होने से वह वस्तु है। घट आदि कार्यो का अभाव ही मृत्पिड आदि कारण का सद्भाव है। (३) वस्तुओ का अपने अपने नियतस्वरुप में स्थिर रहना परस्पर मिलना नहीं, वही अभाव की सत्ता का साक्षात् प्रमाण है। दूध आदि कारणो में दहीं आदि कार्यो का न होना उसे ही प्रागभाव कहा जाता है। (४) दहीं आदि कार्य में दूध आदि कारणो का न होना वही प्रध्वंसाभाव का लक्षण है। गाय में घोडे आदि का अभाव अन्योन्याभाव कहा जाता है। खरगोस के मस्तक में अवयवो में वृद्धि तथा कठिनता न होना और निम्न समतल में रहना, वह सिंग का अत्यंताभाव कहा जाता है। (६) यदि इन सबका व्यवस्थापक अभाव नाम का प्रमाण न हो तो वस्तु की प्रतिनियत व्यवस्था तूट जायेगी। अर्थात् प्रतिनियत व्यवस्था में कोई नियामक न रहने से... **"दूध में दहीं, दहीं में दूध, घट में पट और खरगोस के मस्तक के उपर सिंग, पृथ्वी आदि में चैतन्य, आत्मा में मूर्तता, पानी में गंध, अग्नि में रस, वायु में रुप-रस-गंध, आकाश में स्पर्श आदि मानने का प्रसंग आ जायेगा, यदि अभाव की प्रमाणता नहि मानोंगे तो ...."** (७-८)

(कहने का मतलब यह है कि, अभावप्रमाण का विषयभूत अभावपदार्थ वस्तुरुप है। अवस्तुरुप नहीं है। तथा वह अभाव प्रागभावादि भेद से चार प्रकार के है। यदि ये चार प्रकार का अभाव न हो तो जगत में कार्य, कारण तथा घट, पट, जीव, अजीव आदि की प्रतिनियत व्यवस्था का लोप हो जाने से समस्तव्यवहार नष्ट हो जायेंगे। ये समस्त कार्यकारण आदि व्यवहार सर्वलोकप्रसिद्ध है। उसका लोप करने से वस्तुमात्र का अभाव हो जायेगा। मीमांसक श्लोकवार्तिक में कहा भी है कि... **"यदि प्रागभावादि भेद से अभाव के चार भेद न हो तो संसार में यह कार्य है, यह कारण है इत्यादि व्यवहार ही नहि हो सकेगा। कार्य के प्रागभाव को कारण तथा प्रागभाव के प्रध्वंस को ही कार्य कहा जाता है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव न हो तो कारण-कार्य व्यवहार किसके बल पर बन सकता है ?" अथवा** अभाव वस्तु है, क्योंकि उसमें गाय आदि की तरह **"अभाव अभाव"** यह अनुवृत्ति = अनुगतप्रत्यय सामान्यप्रत्यय तथा **"प्रागभाव"** "प्रध्वंसाभाव" यह व्यावृत्त = विलक्षणप्रत्यय = विशेषप्रत्यय होता है। तथा वह प्रमाण का विषय है - प्रमेय है। अवस्तु के तो वे प्रागभावादि भेद हो सकते ही नहीं है। इसलिए अभाव के प्रागभावादि अवांतर भेद है, इसलिए ही वस्तु है। घट आदि कार्य का अभाव ही मृत्पिड आदि कारणो का सद्भाव है। तात्पर्य यह है कि अभाव सर्वथा तुच्छ नहीं है। भावान्तररुप है। घट का अभाव शुद्धभूतलरुप है। कार्य का अभाव कारण के सद्भावरुप है। वस्तुओ का अपने अपने स्वरुप में नियत रहना बल्कि एकदूसरे में मिल न जाना, वही अभाव की सत्ता का प्रबल प्रमाण है। दूध आदि कारणो में दहीं आदि कार्यो का न होना वही प्रागभाव है। यदि प्रागभाव न हो तो दूध में भी दहीं मिलना चाहिए। दहीं आदि कार्यो में दूध आदि कारणो का न होना वही प्रध्वंसाभाव है। यदि प्रध्वंसाभाव न हो तो दूध का नाश न होने से, दहीं अवस्था में भी उसका सद्भाव रहना चाहिए। गाय आदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में घोडे आदि का अभाव अन्योन्याभाव है। अर्थात् एक वस्तु में उससे भिन्न वस्तु के तादात्म्य का अभाव को अन्योन्याभाव कहा जाता है। **"घटे न पटः"** उसका आकार है। खरगोस के मस्तक के उपर के अवयवो में वृद्धि तथा कठिनता न होना प्रत्युत निम्न-समतल में रहना वह सिंग का अत्यंताभाव है। मस्तक के अवयवो में कठिन बन के वृद्धि पाना-आगे के हिस्से में नीकलना वही शृंग कहा जाता है। जब मस्तक के अवयव समतल में रहेंगे कठिनता तथा वृद्धि प्राप्त नहि करेगें तब उस मस्तक की समतलता ही **"शशश्रृंग"** का अत्यंताभाव कही जाती है। यदि उसका व्यवस्थापक अभावप्रमाण न हो तो वस्तु की नियत व्यवस्था ही नहि रहेगी। अभाव का लोप करने से तो सर्वपदार्थ सर्वरुप हो जायेंगे। उसमें भिन्नता लानेवाले कोई नियामक ही नहीं रहेगा। (उसके योग से जैस घट जो पट से भिन्न है, उन दोनो को भिन्न करनेवाला अन्योन्याभावरुप अभावप्रमाण ही न हो तो घट ही पटरुप बन जाने के कारण घटार्थी की पट में भी प्रवृत्ति हो जाने की आपत्ति आयेगी। उसके योग से) समस्त प्रतिनियतव्यवहार का लोप होगा। सारांश में, सर्वपदार्थ में भिन्नता लानेवाला नियामक अभावप्रमाण नहि मानोंगे तो दूध में दहीं, दहीं में दूध, घट ही पट, खरगोस के मस्तक के उपर सिंग, पृथ्वी में चैतन्य, आत्मा में मूर्तत्व, जल में गंध, अग्नि में रस, वायु में रुप-रस-गंध, आकाश में स्पर्श आदि का प्रसंग आ जायेगा। उसके योग से समस्त लोकव्यवस्था नष्ट हो जायेगी। सारांश में, अभाव की सत्ता मानने में नहि आयेगी, तो जगत की प्रतिनियतव्यवस्था तूट जायेगी।)

अथ निरंशसदेकरूपत्वाद्वस्तुनोऽध्यक्षेण सर्वात्मना ग्रहणे कोऽपरो सदंशो यत्राभावः प्रमाणं भवेदिति चेत्, न, स्वपररूपाभ्यां सदसदात्मकत्वाद्वस्तुनः[II-6], अन्यथा वस्तुत्वायोगात्। न च सदंशादसदंशस्याऽभिन्नत्वात्तद्ग्रहणे तस्यापि ग्रहः इति वाच्यं, सदसदंशयोर्धर्म्यभेदेऽपि भेदाभ्युपगमात्[II-7]। तदेवं प्रत्यक्षाद्यगृहीतप्रमेयाभावग्राहकत्वात्प्रमाणाभावः प्रमाणान्तरमिति। अथो(थानु)क्तमपि किंचिद्व्यक्तये लिख्यते**अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणं। [II-8]पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरं तु फलं। [II-9]सामान्यविशेषात्मकं वस्तु प्रमाणगोचरम्। नित्यपरोक्षं ज्ञानं हि भाट्टप्रभाकरमतयोरर्थप्राकट्याख्यसंवेदनाख्यफलानुमेयम्। वेदोऽपौरुषेयः। वेदोक्ता हिंसा धर्माय। शब्दो नित्यः। सर्वज्ञो नास्ति अविद्याऽपरनाममायावशात्प्रतिभासमानः सर्वः प्रपञ्चोऽपारमार्थिकः। परब्रह्मैव परमार्थसत्।।७६।।**

व्याख्या का भावानुवाद :

शंका : निरंशवस्तु एक सद्रुप ही है। तादृशवस्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सर्वथा ग्रहण हो जाती है। तब उसमें सद्-अंश के अभावरुप कौन सा दूसरा असंदश बाकी रहता है कि, उसको ग्रहण करनेवाले अभावप्रमाण को मानना पडे ? अर्थात् वस्तुमात्र सद्रुप है। उसमें एक ही सदंश है, अन्य असदंश है ही

(II-6-7-8-9) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं। इसलिए जब वह निरंशवस्तु पूर्णतया प्रत्यक्षादि प्रमाणो से ग्रहण हो ही जाती है, तब उसमें ऐसा कौन सा दूसरा असदंश बाकी रहता है कि उसको जानने के लिए अभाव प्रमाण की आवश्यकता हो ?

समाधान : वस्तु स्वरुप और पररुप की अपेक्षा से सदसदात्मक है। यदि वस्तु सदसदात्मक न हो, तो उसमें वस्तुता का योग ही नहीं होगा। अर्थात् वह वस्तु ही नहि रहेगी। (कहने का मतलब यह है कि वस्तु न तो निरंश है, न तो केवल सदंशवाली है। वस्तु में तो सत् और असत् दोनो ही अंश है। वस्तु में स्वरुप की अपेक्षा से सदंश है और परवस्तुओ की अपेक्षा से असदंश है। यदि वस्तु स्वरुप से सत् न हो, तो कुछ भी नहीं रहेगा। सर्वथा असत् ही बन जायेगा। उसी तरह से वस्तु यदि पररुप से असत् न हो तो स्व-पर का विभाग नहीं हो सकेगा। इसलिए वस्तु को सदसदात्मक मानेंगे तो ही उसमें वस्तुत्व रह सकेगा।)

शंका : "**सत्**" अंश से "**असत्**" अंश अभिन्न होने से, जब प्रत्यक्षादि प्रमाण से वस्तु के सदंश का ग्रहण होगा, तब वस्तु के असदंश का भी ग्रहण हो जायेगा। इसलिए असदंश को ग्रहण करनेवाले स्वतंत्र अभावप्रमाण को मानने की आवश्यकता नहीं है। (धर्म और धर्मी में तादात्म्य होने से धर्मो में भी परस्पर तादात्म्य ही हो जाना चाहिए। इस अपेक्षा को आगे करके यह शंका की गई है।)

समाधान : धर्मी अभिन्न होने पर भी उस धर्मी के सदंश और असदंशरुप धर्मो में भेद माना गया है। अर्थात् सदंश और असदंशरुप धर्मो का धर्मी अभिन्न है - एक ही है। परंतु उसका परस्पर भेद भी है। इसलिए धर्मी की दृष्टि से परस्परतादात्म्य होने पर भी स्वरुप की दृष्टि से दोनो धर्मो में भिन्नता है। इसलिए ही (सदंश का प्रत्यक्षादिप्रमाण से ग्रहण होने पर भी प्रत्यक्षादिप्रमाण से अगृहीत असदंश बाकी रहता है। इसलिए ही) प्रत्यक्षादिप्रमाणो से अगृहीतप्रमेयाभाव नाम के प्रमेय को ग्रहण करनेवाले प्रमाणाभाव =अभाव नाम के प्रमाण की स्वतंत्र प्रमाण के रुप में आवश्यकता रहती है। अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणो से अगृहीत असदंशो के ग्राहक अभाव प्रमाण की स्वतंत्रसिद्धि हो जाती है।

मूलग्रंथकार द्वारा नहि कहा हुआ कुछ स्पष्टता के लिए कहा जाता है। अगृहीत को जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है। पूर्व-पूर्व प्रमाण है और उत्तर-उत्तर फल है। अर्थात् पूर्व-पूर्व साधकतम अंश प्रमाण है और उत्तर-उत्तर अंश फल है। सामान्य - विशेषात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय बनती है। मीमांसामत में ज्ञान नित्यपरोक्ष है। भाट्टमत में अर्थप्राकट्यरुप फल से तथा प्रभाकरमत में संवेदनरुप फल से ज्ञान अनुमेय है। वेद अपौरुषेय है। वेदोक्तहिंसा धर्म के लिए होती है। अर्थात् वेदोक्तहिंसा से धर्म होता है। शब्द नित्य है। सर्वज्ञ नहीं है। अविद्या कि जिसका दूसरा नाम माया है, उस माया के वश से-माया के विवर्त से प्रतिभासित होता यह सर्व जगत प्रपंच अपारमार्थिक है। अर्थात् दृश्यमानजगत की सत्ता प्रातिभासिक है। पारमार्थिक नहीं है। अर्थात् जगत मिथ्या है। ब्रह्म ही परमार्थ सत् है। ॥७६॥

उपसंहरन्नाह - मीमांसक मत का उपसंहार करते हुए कहते है.....

(मू. श्लो.) जैमिनीयमतस्यापि सङ्क्षेपोऽयं निवेदितः ।
एवमास्तिकवादानां कृतं सङ्क्षेपकीर्तनम् ॥७७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्लोकार्थ : इस अनुसार से यह जैमिनि (मीमांसा) मत का संक्षेप है। उसके साथ आस्तिकदर्शनो का संक्षिप्तविवरण पूर्ण होता है। ॥७७॥

व्याख्या-अपिशब्दान्न केवलमपरदर्शनानां सङ्क्षेपो निवेदितो जैमिनीयमतस्याप्ययं सङ्क्षेपो निवेदितः । वक्तव्यस्य बाहुल्यादल्पीयस्यस्मिन् सूत्रे समस्तस्य वक्तुमशक्यत्वात्संक्षेप एव प्रोक्तः । अथ प्रागुक्तमतानां सूत्रकृन्निगमनमाह "एवं" इत्यादि । एवं-इत्थमास्तिकवादानां-जीवपरलोकपुण्यपापाद्यस्तित्ववादिनां बौद्धनैयायिकसाङ्ख्यजैन-वैशेषिकजैमिनीयानां संक्षेपेण कीर्तनं-वक्तव्याभिधानं संक्षेपकीर्तनं कृतम् ।।७७।।

व्याख्या का भावानुवाद :

"अपि" शब्द से सूचित होता है कि केवल अन्य दर्शनो का संक्षिप्त निवेदन नही किया गया। जैमिनि मत का भी संक्षिप्त निवेदन किया गया। कहना तो बहोत था परंतु ग्रंथ की मर्यादा होने से एक ही सूत्र में ज्यादा कहना असंभव होने से संक्षिप्तकथन ही करना उचित है। पहले कहे हुए मतो का उपसंहार करते हुए मूलसूत्रकार कहते है कि... इस अनुसार से जीवादि के अस्तित्व को स्वीकार करने वाले बौद्धादि आस्तिकवादो का संक्षेप पूर्ण होता है। अर्थात् जीव-अजीव-पुण्य-पापादि के अस्तित्व को स्वीकार करने वाले बौद्ध, नैयायिक, और सांख्य, जैन, वैशेषिक, जैमिनि इन आस्तिकदर्शनो का संक्षेप से कथन किया। ॥७७॥

अत्रैव विशेषमाह - अब ग्रंथकारश्री विशेष कुछ कहते है -

(मू. श्लो.) नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह ।
न मन्यन्ते मते तेषां पञ्चैवास्तिकवादिनः ।।७८।।

श्लोकार्थ : कुछ आचार्य न्यायदर्शन से वैशेषिकदर्शन को भिन्न मानते नहीं है। इसलिए उनके मतानुसार आस्तिकदर्शन पांच ही है। ॥७८॥

व्याख्या-अन्ये-केचनाचार्या नैयायिकमताद्वैशेषिकैः सह भेदं-पार्थक्यं न मन्यन्ते । एकदेवतत्त्वेन तत्त्वानां मिथोऽन्तर्भावेनऽल्पीयस एव भेदस्य भावाच्च नैयायिकवैशेषिकाणां मिथो मतैक्यमेवेच्छन्तीत्यर्थः । तेषाम्-आचार्याणां मते आस्तिकवादिनः पञ्चैव न पुनः षट् ।।७८।।

व्याख्या का भावानुवाद :

कुछ आचार्य नैयायिक मत से वैशेषिकमत को पृथक् मानते नहीं है। क्योंकि उन दोनो में देव समान है। तत्त्वो में जो कुछ अंश से भेद है, उन तत्त्वो का परस्पर अन्तर्भाव हो जाता होने से अत्यंत अल्प ही भेद

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रहता है। इसलिए कुछ आचार्य नैयायिक और वैशेषिको का मत परस्पर एक ही मानते है। इन आचार्यो के मत में आस्तिकदर्शन पांच ही है, छः नहीं है। ॥७८॥

अथ दर्शनानां सङ्ख्या षडिति या जगत्प्रसिद्धा सा कथमुपपादनीयेत्याशंक्याह -

अब जगत में दर्शनो की संख्या छः प्रसिद्ध है। तो वह किस तरह से संगत होगा ? ऐसी शंका के समाधान में कहते है कि....

(मू. श्लो.) षड्दर्शनसङ्ख्या तु पूर्यते तन्मते किल ।
लोकायतमतक्षेपे कथ्यते तेन तन्मतम् ॥७९॥

श्लोकार्थ : जो लोग (नैयायिक और वैशेषिक दर्शन को एक मानते है।) उनके मत में लोकायत - मत को रखने से दर्शनो की छः संख्या पूर्ण होती है। इसलिए अब लोकायत - चार्वाक मत का स्वरुप कहा जाता है। ॥७९॥

व्याख्या-ये नैयायिकवैशेषिकयोर्मतमेकमाचक्षते तन्मते षड्दर्शनसङ्ख्या तु-षण्णां दर्शनानां सङ्ख्या पुनर्लोकायता-नास्तिकास्तेषां यन्मतं तस्य क्षेपे-मीलन एव । किलेत्याप्तवादे । पूर्यते-पूर्णीभवेत् । तेन कारणेन तन्मतं-चार्वाकमतं कथ्यते-स्वरूपतः प्ररूप्यते । अत्राद्यपादे सप्ताक्षरं छन्दोऽन्तरमिति न छन्दःशास्त्रविरोधः शङ्कनीयः ॥७९॥

व्याख्या का भावानुवाद :

जो लोग नैयायिक और वैशेषिकमत को एक मानते है, उनके मत में लोकायतो = नास्तिको का मत रखने से दर्शनो की छः संख्या पूर्ण होती है। उस कारण से अब चार्वाक के मत का स्वरुप कहा जाता है। यहाँ श्लोक में प्रथमपाद में सात अक्षर है। इसलिए उसे कोई आर्षछंद मानना चाहिए। उसको अनुष्टुप छन्द मानकर छंदशास्त्र से विरोध की शंका न करे। ॥७९॥

॥ अथ लोकायतमतम् ॥

प्रथमं नास्तिकस्वरूपमुच्यते । कापालिका भस्मोद्धूलनपरा योगिनो ब्राह्मणाद्यन्त्यजान्ताश्च केचन नास्तिका भवन्ति । ते च जीवपुण्यपापादिकं न मन्यन्ते । चतुर्भूतात्मकं जगदाचक्षते । केचित्तु चार्वाकैकदेशीया आकाशं पञ्चमं भूतमभिमन्यमानाः पञ्चभूतात्मकं जगदिति निगदन्ति । तन्मते भूतेभ्यो [H-10]मदशक्तिवच्चैतन्यमुत्पद्यते । [H-11]जलबुद्बुदवज्जीवाः । चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति । ते च मद्यमांसे भुञ्जते मात्राद्यगम्यगमनमपि कुर्वते । वर्षे

(H-10-11) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्षे कस्मिन्नपि दिवसे सर्वे संभूय यथानामनिर्गमं स्त्रीभिरभिरमन्ते । धर्मं कामादपरं न मन्वते । तन्नामानि चार्वाका लोकायता इत्यादीनि । 'गलचर्व अदने' चर्वन्ति भक्षयन्ति तत्त्वतो न मन्यन्ते पुण्यपापादिकं परोक्षं वस्तुजातमिति चार्वाकाः । "मयाकश्यामाक" **इत्यादिसिद्ध-हैमोणादिदण्डकेन शब्दनिपातनम् । लोकाः-निर्विचाराः सामान्यलोकास्तद्वदाचरन्तिस्मेति लोकायता लोकायतिका इत्यपि । बृहस्पतिप्रणीतमतत्वेन बार्हस्पत्याश्चेति ।।**

व्याख्या का भावानुवाद :

प्रथम नास्तिकमत का स्वरुप कहा जाता है। लोकायत-चार्वाकमत के अनुयायि कापालिको की तरह एक कपाल रखते है। शरीर के उपर भस्म लगाते है। ब्राह्मण से लेकर अन्त्य = शुद्र तक के सभी जाति के कुछ लोग नास्तिक होते है। वे जीव, पुण्य, पाप आदि अतीन्द्रियपदार्थो को मानते नहीं है। भूतचतुष्टयरुप इस जगत को मानते है। अर्थात् इस जगत को पृथ्वी, अप् (पानी), तैजस् और वायु इन चारभूतो से उत्पन्न हुआ मानते है। उससे अतिरिक्त पांचवें तत्व की सत्ता वे मानते नहीं है। कोई चार्वाक पांचवे भूत के रुप में आकाश को मानते है। उनके मतानुसार जगत पंचभूतात्मक है। उनके मत में जैसे महुडे, गुड आदि के संयोग से मदशक्ति उत्पन्न होती है, वैसे इस भूतो से चैतन्य उत्पन्न होता है। तथा जल में उत्पन्न होते बुलबुले पानी में ही विलीन होते है, वैसे भूतो में से उत्पन्न होते जीव भूतो में ही विलीन हो जाते है। चैतन्यविशिष्ट शरीर ही आत्मा है। वे मदिरापान करते है, मांस खाते है, तथा माता आदि अगम्या स्त्रीओ में भी व्यभिचार का सेवन करते है। (वे ये तीनो धर्मबुद्धि से करते हैं।) वे प्रतिवर्ष कोई एक दिन इकठ्ठे होते है और जिस पुरुष का नाम जो स्त्री के साथ नीकले, वह पुरुष उस स्त्री के साथ यथेच्छरुप से क्रीडा करता है (और उस दिन को वे पर्वदिन मानते है।) वे कामसेवन से अधिक दूसरा धर्म मानते नहीं है। चार्वाक, लोकायत आदि नाम से पहचाने जाते है।

गल और **चर्व** धातु भक्षणार्थक है। इसलिए **चर्वन्ति** = खाना - पीना और मौज करना ये उनका एकमात्र लक्ष्य है। तथा पुण्य-पापादि अतीन्द्रिय वस्तुओ को वास्तविक मानते नहीं है, वे चार्वाक कहे जाते है। "**मयाक-श्यामाक**" आदि सिद्ध हैमव्याकरण के औणादिक सूत्र से "**चार्वाक**" शब्द निपातसंज्ञक सिद्ध होता है।

सामान्य विचारशून्य लोगो की तरह जो आचरण करते है, वे लोकायत या लौकायतिक कहे जाते है। (चार्वाको के गुरु बृहस्पति है। इसलिए) बृहस्पतिप्रणीत मत के अनुयायी होने के कारण बार्हस्पत्य भी कहे जाते है। ॥७९॥

अथ तन्मतमेवाह - अब उनके मत को ही कहते है।

(मू. श्लो.) लोकायता वदन्त्येवं नास्ति जीवो न निर्वृतिः ।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः ।।८०।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्लोकार्थ : लोकायत = नास्तिक कहते है कि-"**जीव नहीं है, मोक्ष नहीं है, धर्म-अधर्म नहीं है, पुण्य-पाप का फल कुछ भी नहीं है।**" ॥८०॥

व्याख्या-लोकायता-नास्तिका एवं-इत्थं वदन्ति । कथमित्याह । जीवश्चेतनालक्षणः परलोकयायी नास्ति, पञ्चमहाभूतसमुद्भूतस्य चैतन्यस्येहैव भूतनाशे नाशात्परलोकानुसरणासंभवात् । जीवस्थाने देव इति पाठे तु देवः सर्वज्ञादिर्नास्ति । तथा न निर्वृत्तिर्मोक्षो नास्तीत्यर्थः । अन्यच्च धर्मश्चाधर्मश्च धर्माधर्मौ न विद्येते पुण्यपापे सर्वथा न स्त इत्यर्थः । न-नैव पुण्यपापयोः फलं-स्वर्गनरकादिरूपमस्ति, धर्माधर्मयोरभावे कुतस्त्यं तत्फलमिति भावः ॥८०॥

व्याख्या का भावानुवाद :

चैतन्यलक्षणवाला परलोकगामी आत्मा नहीं है। क्योंकि पांच महाभूत में से उत्पन्न हुआ चैतन्य पांच भूतो का नाश होने से, यहीं नाश हो जाता है। इसलिए परलोक में जाने का कोई संभव ही नहीं है। जीव के स्थान पर देव पाठ भी देखने को मिलता है। इसलिए उनके मतानुसार सर्वज्ञादि विशेषणोवाले कोई देव नहीं है। उसी तरह से मोक्ष नहीं है। धर्म और अधर्म भी नहीं है। पुण्य-पाप सर्वथा नहीं है। पुण्य-पाप के फलरुप स्वर्ग-नरकादि भी नहीं है। जहाँ धर्म-अधर्मरुप कारण ही नहीं है, तो उसके फल कहां से होंगे ? ॥८०॥

सोल्लुण्ठं यथा ते स्वशास्त्रे प्रोचिरे तथैव दर्शयन्नाह-

जिस अनुसार से चार्वाकलोग सोल्लुंठ = दूसरो की मजाक (हंसी) करते हुए दूसरो की अच्छी बातो की निंदा करते हुए अपने शास्त्र में तत्वनिरुपण करते है, उस अनुसार ही (यहां कुछ नमूना) बताते हुए कहते है कि..

(मू. श्लो.) तथा च तन्मतम् - एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे वृकपदं पश्य यद्वदन्त्यबहुश्रुताः ॥८१॥

श्लोकार्थ : नास्तिको का मत है कि, जितना आंख से दिखाई देता है, इन्द्रियो से ग्राह्य बनता है, उतना ही यह लोक है। जो अबहुश्रुत, अज्ञानी लोग इन्द्रिय से अगोचर अर्थ की कृत्रिम = अवास्तविक "वृकपद्" की तरह अनुमान से सत्ता मानते है। हे कल्याणि ! यह आश्चर्य तुम देखो ! ॥८१॥

व्याख्या-"तथा च" इत्युपदर्शने । तन्मतं-प्रक्रमान्नास्तिकमतम् । तत्कीदृगित्याह-अयं-प्रत्यक्षो लोको-मनुष्यलोकः । एतावानेव-एतावन्मात्र एव । यावान्-यावन्मात्रः । इन्द्रियगोचरः-इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि पञ्च तेषां गोचरो-विषयः, पञ्चेन्द्रियविषयीकृतमेव वस्तु विद्यते नापरं किमपि । लोकग्रहणाल्लोकस्थाः पदार्थसार्था ग्राह्याः । ततो यत्परे जीवं पुण्यपापे तत्फलं स्वर्गनरकादिकं च प्राहुः, तन्नास्ति, अप्रत्यक्षत्वात् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अप्रत्यक्षमप्यस्तीति चेत् ? शशशृङ्गवन्ध्यास्तनन्धयादीनामपि भावोऽस्तु । न हि पञ्चविधेन प्रत्यक्षेण मृदुकठोरादिवस्तूनि तिक्तकटुकषायादिद्रव्याणि सुरभिदुरभिभावान् भूभूधरभुवनभूरुहस्तम्भाम्भोरुहादिनरपशुश्वापदादिस्थावरजङ्गमपदार्थसार्थान् विविधवेणुवीणादिध्वनींश्च विमुच्य जातुचिदन्यदप्यनुभूयते । यावता च भूतोद्भूतचैतन्यव्यतिरिक्तचैतन्यहेतुतया परिकल्प्यमानः परलोकयायी जीवः प्रत्यक्षेण नानुभूयते, तावता जीवस्य सुखदुःखनिबन्धनौ धर्माधर्मौ तत्प्रकृष्टफलभोगभूमी स्वर्गनरकौ पुण्यपापक्षयोत्थमोक्षसुखं चोपवर्ण्यमानानि आकाशे विचित्रचित्रविरचनमिव कस्य नाम न हास्यावहानि ? ततो-येऽत्रास्पृष्टमनास्वादितमनाघ्रातमदृष्टमश्रुतमपि जीवादिकमाद्रियमाणाः स्वर्गापवर्गादिसुखलिप्साविप्रलब्धबुद्धयःशिरस्तुण्डमुण्डनदुश्चरतरतपश्चरणाचरणसुदुःसहतपनातपसहनादिक्लेशैर्यत्सौवं जन्म क्षपयन्ति, तत्तेषां महामोहोद्रेकविलसितम् । तदुक्तम् - [H-12]"तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवञ्चना । अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेव लक्ष्यते ।।१।। [H-13]यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्तावद्वैषयिकं सुखम् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।२।।" इत्यादि ततः सुस्थितमिन्द्रियगोचर एव तात्त्विक इति ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

श्लोक में "**तथा**" उपदर्शनार्थक है । प्रत्यक्ष रुप से दीखाई देता मनुष्यलोक, केवल इतना ही है कि जितना स्पर्शन रसन घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये पांच इन्द्रियो का विषय बनता है । अर्थात् पांच इन्द्रियो की विषय बनी हुई वस्तु ही विद्यमान है । उससे दूसरा कुछ भी विद्यमान नहीं है । यहाँ "लोक" पद से लोक में रहा हुआ पदार्थो का समूह जानना । इसलिए पांच इन्द्रियो से ग्राह्य जो पदार्थ बनते है वही वास्तविक है, उससे दूसरे अतीन्द्रिय आत्मा, पुण्य, पाप, पुण्य-पाप का फल स्वर्ग-नरकादि पदार्थ जो लोग कहते है, वह विद्यमान नहीं है । क्योंकि उनका कभी भी पांचो इन्द्रियो से प्रत्यक्ष होता नहीं है । "**अप्रत्यक्ष ऐसे जीवादिपदार्थ भी होते ही है**" - ऐसा कहोंगे तो खरगोस का सिंग, वन्ध्या का पुत्र, आकाशकुसुम आदि, अप्रत्यक्ष पदार्थ भी सत् बन जायेंगे । पांच प्रकार के प्रत्यक्ष से ग्राह्य मृदु - कठोरादि वस्तुए, तीखे-कडुए आदि द्रव्य, सुरभि-दुरभि भाव, पृथ्वी, पर्वत, जगत, वृक्ष, स्तंभ, कमल आदि, मनुष्य, पशु, श्वापद आदि स्थावर तथा जंगम=चलने फिरनेवाले पदार्थो का समूह, विविध वीणा, बांसुरी आदि सुनने लायक शब्दो को छोडकर जगत में दूसरा कुछ भी अनुभव में आता नहीं है । उस पदार्थो का समूह ही जगत है । उससे अतिरिक्त किसी भी अतीन्द्रियपदार्थ की सत्ता नहीं है । जब भूतो से उत्पन्न हुए चैतन्य से अतिरिक्त चैतन्यहेतुतया परिकल्पित परलोकगामी अतीन्द्रिय आत्मा प्रत्यक्ष से अनुभव में नहीं आता है तब जीव के सुख-दुःख में कारणभूत धर्म और अधर्म तथा उस धर्म और अधर्म के फल को भुगतने के लिए उत्कृष्ट

(H-12-13) - तु० पा० प्र० प० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भूमिरुप स्वर्ग-नर्क, पुण्य और पाप के क्षय से उत्पन्न होने वाले मोक्षसुख का वर्णन करती हुइ कल्पनायें तो आकाश में विचित्र रंगो से विचित्र चित्र बनाने की कल्पना के समान केवल कल्पनायें ही है। वह किसको हास्यास्पद न बने ? इसलिए न स्पर्श किये हुए, न स्वाद में आये हुए, सुंघने में नहि आये हुए, नहि देखे हुए, नहि सुने हुए ऐसे, भी अतीन्द्रिय जीवादि पदार्थो का आदर करते हुए, स्वर्ग-मोक्ष आदि के सुख की लिप्सा से ठगी गई (छल की गई) बुद्धिवाले भ्रष्ट हुए बुद्धिवाले जो लोग मस्तक मुंडाके कठोर तप करके, दुश्चर तप को धारण करके, कष्टदायक चारित्र का पालन कर के, दुःसह ताप के परिषह को सहन करके इत्यादि क्लेशो के द्वारा अपने जन्म को निष्फल बनाते है। वह उनका महामोह के तीव्र उदय का विलासमात्र है - केवल वे दयापात्र है। इसलिए कहा भी है कि - **"विविध तप केवल निरर्थक दारुण यातना सहने बराबर है। अनेक प्रकार का संयम केवल भोग से वंचित रहने समान है। अग्निहोत्र क्रियाए बालचेष्टा ही मालूम होती है। इसलिए जब जीवित हो तब तक सुख से जीओ और भरपूर विषयसुखो को भोग करना। जब यह देह भस्मीभूत होगा, तब इसमें से कुछ भी पुनः मिलनेवाला नहीं है। इसलिए आगे की भ्रामकसुख की इच्छा से वर्तमानकालीन सुख को छोडने की जरुरत नहीं है।"** इसलिए वह बात निश्चित होती है कि, इन्द्रियगोचर पदार्थ ही तात्त्विक है। उसकी ही वास्तविक सत्ता है।

अथ ये परोक्षे विषयेऽनुमानागमादीनां प्रामाण्येन जीवपुण्यपापादिकं व्यवस्थापयन्ति न जातुचिद्विरमन्ति तान् प्रबोधयितुं दृष्टान्तं प्राह "भद्रे वृकपदं पश्यं" इति । अत्रायं संप्रदायः-**कश्चित्पुरुषो नास्तिकमतवासनावासितान्तःकरणो निजां जायामास्तिक-मतनिबद्धमतिं स्वशास्त्रोक्तयुक्तिभिरभियुक्तः प्रत्यहं प्रतिबोधयति । सा तु यदा न प्रतिबुध्यते तदा स इयमनेनोपायेन प्रतिभोत्स्यत इति स्वचेतसि विचिन्त्य निशायाः पश्चिमे यामे तया समं नगरान्निर्गत्य तां प्रत्यवादीत्।** "प्रिये ! य इमे नगरवासिनो नराः परोक्षविषयेऽनुमाना-दिप्रामाण्यमाचक्षाणा लोकेन च बहुश्रुततया व्यवह्रियमाण विद्यन्ते, पश्य तेषां चारुविचारणायां चातुर्यं" **इति । ततः स नगरद्वारादारभ्य चतुष्पथं यावन्मन्थरतरप्रसृमर-समीरणसमी-भूतपांशुप्रकरे राजमार्गे द्वयोरपि स्वकरयोरङ्गुष्ठप्रदेशिनी-मध्यमाङ्गुलित्रयं मीलयित्वा स्वशरीरस्योभयोः पक्षयो पांशुषु न्यासेन वृकपदानि प्रचक्रे । ततः प्रातस्तानि पदानि निरीक्ष्यास्तोको लोको राजमार्गेऽमिलत् । बहुश्रुता अपि तत्रागता जनान् प्रत्यवोचान्** "भो भो वृकपदानामन्यथानुपपत्त्या नूनं निशि वृकः कश्चन वनतोऽत्रागच्छत्" इत्यादि । **ततः स तांस्तथाभाषमाणान्निरीक्ष्य निजां भार्यां जजल्प । हे भद्रे प्रिये वृकपदं 'अत्र जातावेकवचनं' पश्य निरीक्षस्व किं तदित्याह । यद्-वृकपदं वदन्ति-जल्पन्त्य-बहुश्रुतालोकरूढ्या बहुश्रुता अप्येते परमार्थमज्ञात्वा भाषमाणा अबहुश्रुता एवेत्यर्थः । यद्वदन्ति बहुश्रुता इति पाठे त्वेवं**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्येयम्-लोकप्रसिद्धा बहुश्रुता इति, तथा ह्येते वृकपदविषये सम्यगविदितपरमार्था बहवोऽप्येकसदृशमेव भाषमाणा अपि बहुमुग्धजनध्यान्ध्यमुत्पादयन्तोऽपि च ज्ञाततत्त्वानामादेयवचना न भवन्ति । तथा बहवोऽप्यमी वादिनो धार्मिकच्छद्मधूर्ताः परवञ्चनैकप्रवणा यत्किंचिदनुमानागमादिभिर्दार्ढ्यमादर्श्य जीवाद्यस्तित्वं सदृशमेव भाषमाणा अपि मुधैव मुग्धजनान् स्वर्गादिप्राप्तिलभ्यसुखसन्ततिप्रलोभनया भक्ष्याभक्ष्य-गम्यागम्यहेयोपादेयादिसङ्कटे पातयन्तो बहुमुग्धधार्मिकव्यामोहमुत्पादयन्तोऽपि च सतामवधीरणीयवचना एव भवन्तीति । ततः सा पत्युर्वचनं सर्वं मानितवती ।।८१।।

व्याख्या का भावानुवाद :

अब जो लोग परोक्षविषय में अनुमानादि की प्रमाणता मानकर अर्थात् अनुमान आदि प्रमाणो के द्वारा परोक्ष ऐसे जीवादिपदार्थो की व्यवस्था करते है और किसी भी तरह से विराम प्राप्त करते नहीं है, उनको बोध देने के लिए दृष्टांत कहते है - नास्तिकमत की वासना से वासित अंत:करणवाला कामासक्त कोई पुरुष अपनी आस्तिकमत में आस्थावाली धार्मिकपत्नी को हररोज अपने शास्त्रो की युक्तिओं से (काम-भोगो के प्रति आकर्षण पैदा कराने के लिए) प्रतिबोध करता है। परंतु वह स्त्री जब प्रतिबोध पाती नहीं है, तब वह कामासक्त पुरुष इस उपाय से में उसे प्रतिबोध करुंगा, इस अनुसार अपने चित्त में सोचकर रात्रि के अंतिम प्रहर में उस स्त्री के साथ नगर से बाहर निकलता है, इस अनुसार से कहता है कि हे प्रिये ! जो ये नगरवासिलोग परोक्ष ऐसे आत्मा के विषय में अनुमानादि की प्रमाणता को कहते और लोगो को द्वारा बहुश्रुत कहे जाते नगर में रहते है, उनकी सुंदर विचारणाओ की चतुरता का (चातुर्य को) तुम देखो। अर्थात् वे लोग बहुश्रुत कहे जाते है फिर भी उनकी मूर्खता को तुम देखो। उसके बाद वह पुरुष नगर के द्वार से आरंभ करके यावत् नगर के मुख्य चौराहे तक के मंथरतर (धीमी) गति से बहुत पवन से खींच के आई हुई रेत से व्याप्त राजमार्ग के उपर दोनो हाथ के अंगुठे, तर्जनी, मध्यमा - ये तीन उंगलीओ को मिलाकर अपने शरीर के दोनो पक्ष को रेत में स्थापित करके वृक (भेडिये) के पैर के निशान छापे। (वे पति-पत्नी इस घटना के बाद देखते है कि क्या होता है ?) तब सुबह में उन पैर के निशानो को देखकर बहोत लोग राजमार्ग के उपर इकट्ठे होते है। बहुश्रुत लोग भी वहाँ आये है। आये हुए वे बहुश्रुत लोगो को कहते है कि... "हे हे लोग ! सुने, भेडिये के पैर के निशान दूसरे किसी भी तरह से संगत होते नहीं है। इसलिए जरुर रात्रि में कोई भेडिया यहाँ वन में से आया था।" इत्यादि चर्चा चलती है, तब वह नास्तिकमतानुयायी पुरुष उन बहुश्रुत पुरुषो को उस अनुसार से बोलते देखकर अपनी भार्या को कहता है कि, हे कल्याणि ! हे प्रिये ! भेडिये के पैरो के निशान को कहते इन बहुश्रुतो को तुम देखो। चाहे वे लोकरुढि से बहुश्रुत कहे जाते हो परंतु वे परमार्थ को जाने बिना बोलते है। इसलिए अबहुश्रुत ही है। (यहाँ "**वृकपदं**" पद में जाति में एकवचन है।) इसलिए ज्यादातर ऐसे धार्मिकता के वेश के नीचे ठगनेवाले, दूसरो को छलने में निष्णात, लोग को स्वर्गादि में प्राप्त होते सुख की परंपरा का प्रलोभन देकर, भक्ष्याभक्ष्य, गम्यागम्य, पेयापेय, हेय-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपादेय की असंगत बात करके संकट में डालते तथा अत्यंत मुग्धता-धार्मिक व्यामोह को उत्पन्न करने वाले वादिओं का वचन अच्छे लोगो के लिए उपेक्षणीय है। (उसके बाद वह स्त्री पति के इन वचनो को सुनकर सब सच मानने लगी और यथेच्छभोगो में प्रवृत्ति करने लगी।) **पेज नंबर ३७९ बाकी छे.**

कुछ स्थान पे "**यद् वदन्ति बहुश्रुताः**" इस अनुसार से पाठ है, उस पाठ अनुसार इस प्रकार की व्याख्या करना लोकप्रसिद्ध बहुश्रुत कि, जो वृकपद के विषय में सम्यग् परमार्थ को जानते नहीं है। इसलिए बहोत भी एक समान बोलते होने पर भी बहोत मुग्ध लोगो की बुद्धि की अंधता को उत्पन्न करते होने से वे लोकप्रसिद्ध बहुश्रुत लोगो के वचन तत्त्वज्ञानीओ को आदेय बनते नहीं है। शेष पूर्ववत् जानना। ॥८१॥

तदनु च तस्याः स पतिर्यदुपदिष्टवान् तदेव दर्शयन्नाह -

इस दृष्टांत को बताने के बाद अपनी पत्नी को उस पति ने जो उपदेश दिया था, वह बताते हुए कहते है कि-

(मू. श्लो.) पिब खाद च चारुलोचने, यदतीतं वरगात्रि तन्न ते ।
न हि भीरुगतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥८२॥

श्लोकार्थ : हे सुनयना! खाओ, पीओ और मौज करो। हे सुन्दरी! बीता हुआ यौवन वापस मिलनेवाला नहीं है। हे भोली! जो गया वह वापस नहीं आता है। यह देह तो केवल पांचभूतो का समुदाय है। ॥८२॥

व्याख्या-हे चारुलोचने-शोभनाक्षि पिब-पेयापेयव्यवस्थालोपेन मदिरादेः पानं कुरु । न केवलं पिब खाद च-भक्ष्याभक्ष्यनिरपेक्षतया मांसादिकं भक्षय च । पिबखादक्रिययोरुपलक्षणत्वाद्गम्यागम्यविभागत्यागेन भोगानामुपभोगेन स्वयौवनं सफलीकुर्वित्यपि वचोऽत्र ज्ञातव्यम् । यत्-यौ(व)नाद्यतीतम्-अतिक्रान्तं हे वरगात्रि-हे प्रधानाङ्गि तद्भूयस्ते-तव न भविष्यतीत्यध्याहार्यम् । चारुलोचने वरगात्रीति संबोधनद्वयस्य समानार्थस्यापादरानुरागातिरेकान्न पौनरुक्त्यदोषः । यदुक्तम्-"अनुवादादरवीप्साभृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु । ईषत्संभ्रमविस्मयगणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम् ॥१॥" [ ] अथ स्वेच्छाविरचिते पाने खादने भोगसेवने च सुप्रापा परलोके कष्टपरम्परा, सुलभं च सति सुकृतसञ्चये भवान्तरे भोगसुखयौवनादिकमिति पराशङ्कां पराकर्तुं प्राह । नहि-नैव हे भीरु ! परोक्तमात्रेण नरकादिप्राप्यदुःखभयाकुले ! गतम्-इह भवादतिक्रान्तं सुखयौवनादि निवर्तते-परलोके पुनरप्युपढौकते । परलोकसुखलिप्सया तपश्चरणादिकष्टक्रियाभिरिहत्यसुखोपेक्षणं व्यर्थमित्यर्थः । अथ शुभाशुभकर्मपारतन्त्र्येण जीवेनामुं कायमधुनाधिष्ठाय स्थितेनावश्यं परलोकेऽपि स्वकर्महेतुकं सुखदुःखादिवेदितव्यमेवेत्याशंक्य प्राह । समुदयमात्रं-समुदयो भूतचतुष्टयसंयोगस्तन्मात्रम् । मात्रशब्दोऽवधारणे । इदं-प्रत्यक्षं कलेवरं-शरीरं एवास्तीत्यध्याहारः, न पुनर्भूतचतुष्टयसंयोगमात्रादपरो भवान्तरयायी शुभाशुभकर्मविपाकभोक्ता काये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कश्चन जीवो विद्यते । भूतचतुष्कसंयोगश्च विद्युद्द्योत इव क्षणतो दृष्टो नष्टः । तस्मात्परलोकानपेक्षया यथेच्छं पिब खाद चेत्यर्थः ।।८२।।

व्याख्या का भावानुवाद :

हे सुनयना ! पेय-अपेय की (व्यवस्था का विचार किये बिना उसकी व्यवस्था का लोप करके मदिरादि का पान करो। केवल पीने का ही नहि, भक्ष्याभक्ष्य के विचार से निरपेक्षरुप से मांसादि को खाओ, उपलक्षण से गम्यागम्य स्थान के विभाग करे बिना भोगो को भुगतने द्वारा स्वयौवन को सफल करो। यह वचन भी वह पति अपनी पत्नी को कहता है वह जानना। हे सुंदरी ! यौवन बीत जाने के बाद कुछ नहि मिलेगा। यहाँ "**चारुलोचना**" और "**वरगात्रि**" दो संबोधन समान अर्थवाले होने पर भी स्त्री के प्रति आदर-अनुराग के अतिरेक से प्रयुक्त है। (पुरुष लोग ऐसा बोलते होते है।) इसलिए उसमें पुनरुक्तिदोष नहीं है।

जिससे कहा है कि... "अनुवाद, आदर, वीप्सा, भृशार्थ = बहुलता, विनियोग, हेतु, असूया, इषत्, संभ्रम, विस्मय, गणना तथा स्मरणः इस अर्थो में शब्द का दो बार प्रयोग करने में पुनरुक्त दोष आता नहीं है।

आस्तिक स्त्री : इच्छानुसार स्वच्छंदतापूर्वक खाने में, पीने में और भोग भुगतने में तो पाप बंधेगा। उसके योग से परलोक में बहोत दुःखो की परंपरा प्राप्त होगी और सुकृत का संचय करेंगे तो भवांतर में भोगसुख, यौवन आदि सुलभ बनेगा।

नास्तिक पति : दूसरो के कहने मात्र से नरकादि में प्राप्त होते दुःखो से भयाकुल हे भोली ! उस लोक का बीता हुआ यौवन तथा सुख परलोक में आनेवाला नहीं है। जो गया वह गया। इसलिए परलोक के मिथ्यासुख की लिप्सा से तपचारित्र आदि कष्टकारि क्रियाओ के द्वारा इस लोक के सुख की उपेक्षा करना निरर्थक है।

आस्तिक स्त्री : पूर्वकृत शुभाशुभकर्म की परतंत्रता से जीव के द्वारा इस जन्म में इस शरीर में रहकर उसके फल भुगतते है। उस तरह से इस शरीर में रहकर जीव के द्वारा कीये हुए कर्म परलोक में अवश्य भुगतने पडेगे। इसलिए कर्म के फल तो किसी को भी भुगते बिना चले ऐसा नहीं है।

नास्तिक पति : यह शरीर पृथ्वी आदि चार भूतो का क्लेवर ही है। परन्तु शरीर में ये चार के संयोग से अतिरिक्त परलोकगामी शुभाशुभकर्मो के विपाक को भुगतनेवाला कोई जीव नहीं है। और चार भूतो का संयोग बिजली के उद्योत की तरह क्षणभर में देखते-देखते नाश हो जाता है। परलोक जैसी कोई चीज नहीं है। इसलिए परलोक की चिंता छोडकर, उसके निरपेक्षरुप से इच्छानुसार (हे सुन्दरी !) पीओ और खाओ।।८२।।

अथ प्रमेयं प्रमाणं चाह - अब उसके प्रमेय और प्रमाण का निरुपण करते है।

(मू. श्लो.) किंच-पृथ्वी जलं तथा तेजो वायुर्भूतचतुष्टयम् ।
आधारो भूमिरेतेषां मानं त्वक्षजमेव हि ।।८३।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्लोकार्थ : पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु यह भूतचतुष्टय ही तत्त्व है। उसका आधार पृथ्वी है। प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। ॥८३॥

व्याख्या-"किंच" इत्यभ्युच्चये । पृथ्वी-भूमिः, जलं-आपः, तेजो-वह्निः, वायुः-पवनः, भूतचतुष्टयम् । एतानि भूतानि चत्वारि आधारो भूमिरेतेषां-भूतानामाधारो-ऽधिकरणं भूमिः-पृथ्वी । "चैतन्यभूमिरेतेषां" इति पाठे तु चतुष्टयं किंविशिष्टं चैतन्यभूमिः-चैतन्योत्पत्तिस्थानम्, भूतानि संभूयैकं चैतन्यं जनयन्तीत्यर्थः । एतेषां-चार्वाकाणां मते "प्रमाणभूमिरेतेषां" इति पाठान्तरे तु भूतचतुष्टयं प्रमाणभूमिः-प्रमाणगोचरस्तात्त्विक एतेषां मते । मानं तु-प्रमाणं पुनरक्षजमेव-प्रत्यक्षमेवैकं न पुनरनुमानादिकं प्रमाणम् । हिशब्दोऽत्र विशेषणार्थो वर्तते । विशेषः पुनश्चार्वाकैर्लौकयात्रानिर्वाहप्रवणं धूमाद्यनुमानमिष्यते क्वचन न पुनः स्वर्गादृष्टादिप्रसाधकमलौकिकमनुमानमिति ॥८३॥

व्याख्या का भावानुवाद :

श्लोक में "**किंच**" अभ्युच्चयार्थक है। अर्थात् "**उपरांत**" अर्थ में इस्तेमाल होता है।

उपरांत, पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु, यह भूतचतुष्टय है। उन चार भूतो का आधार पृथ्वी है। परन्तु जब "**चैतन्यभूमिरेतेषां**" - यह पाठ हो, तब इस अनुसार से अर्थ करना, "चार भूत चैतन्य के उत्पत्तिस्थान है।" इस चार्वाकमत में चैतन्य का उत्पत्तिस्थान चार भूत है। उपरांत, "**प्रमाणभूमिरेतेषां**" यह पाठ हो, तब इस अनुसार से अर्थ करना-चार्वाकमत में प्रमाण के विषय चार है। पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु। वही तत्त्व है - प्रमेय है। उसकी ही वास्तविक सत्ता है। चार्वाकमत में प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमानादि प्रमाण नहीं है। अर्थात् चार्वाकमत में इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। अनुमानादि नहीं है। "**हि**" शब्द विशेषकथन के लिए है। वैसे ही यहाँ विशेष बात यह है कि.... चार्वाक लोग व्यवहार का निर्वाह करने के लिए धूम आदि से अग्नि आदि लौकिकपदार्थो के अनुमान को प्रमाण के रुप में मानते है। परन्तु स्वर्ग, अदृष्ट आदि अतीन्द्रियपदार्थो के अनुमान को प्रमाण मानते नहीं है। ॥८३॥

अथ भूतचतुष्टयीप्रभवाद्देहे चैतन्योत्पत्तिः कथं प्रतीयताम् ? इत्याशंक्याह -

अब चार भूतो से उत्पन्न हुए शरीर में चैतन्य की उत्पत्ति किस तरह से होती है ? ऐसी शंका के समाधान में कहते है कि...

(मू. श्लो.) पृथ्व्यादिभूतसंहत्या तथा देहपरीणतेः ।
मदशक्तिः सुराङ्गेभ्यो यद्वत्तद्वच्चिदात्मनि ॥८४॥

श्लोकार्थ : महुडे, गुड आदि के संयोग से जैसे स्वयंमेव (अपनेआप) मदशक्ति उत्पन्न होती है, वैसे पृथ्वी आदि चार भूत के संयोग से देहाकार परिणमन से शरीर में चित्शक्ति=चैतन्य स्वयंमेव उत्पन्न होता है। ॥८४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या-पृथिव्यादीनि-पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणानि यानि भूतानि तेषां संहतिः-समवायः संयोग इति यावत् तया हेतुभूतया । तथा-तेन प्रकारेण या देहस्य परीणतिः-परिणामस्तस्याः सकाशात् चिदिति प्रयोगः । यद्वद्यथा सुराङ्गेभ्यो-गुडधातक्यादिभ्यो मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिः-उन्मादकत्वं भवति, तद्वत्तथा चित् चैतन्यमात्मनि-शरीरे । अत्रात्मशब्देनानेकार्थेन शरीरमेव ज्ञातव्यं, न पुनर्जीवः । अयं भावः- भूतचतुष्टयसंबन्धाद्देहपरीणामः, ततश्च देहे चैतन्यमिति । अत्र परीणतिशब्दे घञ्भावेऽपि बाहुलकादुपसर्गस्य दीर्घत्वं सिद्धम् । पाठान्तरं वा । "पृथ्व्यादिभूतसंहत्यां तथा देहादिसंभवः । मदशक्तिः सुराङ्गेभ्यो यद्वत्तद्वत्स्थितात्मता ।।" पृथिव्यादिभूतसंहत्यां सत्यां, तथा शब्दः पूर्वश्लोकापेक्षया समुच्चये, देहादिसंभवः । आदिशब्दाद्भूधरादयो भूतसंयोगजा ज्ञेयाः । सुराङ्गेभ्यो यद्वन्मदशक्तिर्भवति, तद्वद्-भूतसंबन्धाच्छरीर आत्मता-सचेतनता स्थिता-व्यवस्थितेति । यदुवाच वाचस्पतिः "पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरविषयेन्द्रियसंज्ञाः[II-14], तेभ्यश्चैतन्यं" इति ।।८४।।

व्याख्या का भावानुवाद :

पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु ये चार भूतो के संयोगरुप हेतु से देहाकार परिणमन होता है। (उसमें चैतन्य उत्पन्न होता है।) जैसे महुडे, गुड आदि दारु (शराब) की सामग्री से मदशक्ति = उन्मादत्व उत्पन्न होता है, वैसे चार भूतो के संयोग से देहाकार परिणमन से शरीर में चैतन्य उत्पन्न होता है। यहाँ आत्मा का अर्थ शरीर ही जानना, जीव नहीं। तात्पर्य यह है कि, चार भूतो के संबंध से देह परिणमन और उससें देह में चैतन्य उत्पन्न होता है। यहाँ परीणति शब्द में "**परि**" उपसर्ग का विकल्प से दीर्घ हुआ है।

इस श्लोक का इस अनुसार से पाठान्तर भी मिलता है। "**पृथ्व्यादिभूतसंहत्यां तथा देहादिसंभव। मदशक्ति सुराङ्गेभ्यो यद्वत्तद्वत्स्थितात्मता ।।**" (यहाँ "**तथा**" शब्द पूर्वश्लोक की अपेक्षा से समुच्चयार्थक है।) अब श्लोक का अर्थ इस प्रकार होगा - पृथ्वी आदि चार भूतो का संयोग होने से देहादि की उत्पत्ति होती है। आदि शब्द से पृथ्वी, पर्वत आदि स्थूलजगत भी भूतसंयोग से उत्पन्न होता है, ऐसा जानना। महुडे आदि दारु (शराब) की सामग्री से जैसे मदशक्ति उत्पन्न होती है, वैसे भूतो के संयोग से शरीर में सचेतनता स्थित होती है - उत्पन्न होती है। श्रीवाचस्पतिने (भी इस विषय में) कहा है कि... पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु ये चार तत्त्व है। उसका समुदाय = विशिष्टसंयोग से शरीर, इन्द्रिय और विषयसंज्ञक पदार्थ उत्पन्न होते है। उससे नित्य चैतन्य उत्पन्न होता है। ।।८४।।

एवं स्थिते यथोपदिशन्ति तथा दर्शयन्नाह -

इस अनुसार से तत्त्वो का निरुपण करके चार्वाक जिस प्रकार का उपदेश देते है, वह बताते हुए कहते है -

(II-14) - तु० पा० प्र० प०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(मू. श्लो.) तस्माद्दृष्टपरित्यागाद्यददृष्टे प्रवर्तनम् ।
लोकस्य तद्विमूढत्वं चार्वाकाः प्रतिपेदिरे ।।८५।।

श्लोकार्थ : इसलिए प्रत्यक्ष से अनुभूत = नजर से दिखते सुखो को छोडकर, नहि दिखते हुए सुख के लिए प्रवर्तित होना, वह मूढता है, ऐसा चार्वाको का कहना है। ॥८५॥

व्याख्या-यस्माद्भूतेभ्यश्चैतन्योत्पत्तिः तस्मात्कारणाद् दृष्टपरित्यागात्-दृष्टं-प्रत्यक्षानुभूतमैहिकं लौकिकं यद्विषयजं सुखं तस्य परित्यागाददृष्टे-परलोकसुखादौ तपश्चरणादिकष्टक्रियासाध्ये यत्प्रवर्तनं-प्रवृत्तिः तल्लोकस्य विमूढत्वं-अज्ञानमेवेति चार्वाकाः प्रतिपेदिरे-प्रतिपन्नाः । यो हि लोको विप्रतारकवचनोपन्यासत्रासितसंज्ञानो हस्तगतमिहत्यं सुखं विहाय स्वर्गापवर्गसुखप्रेप्सया तपोजपध्यानहोमादौ यद्यतते, तत्र तस्याज्ञानतैव कारणमिति तन्मतोपदेशः ।।८५।।

व्याख्या का भावानुवाद :

जिस तरह से पृथ्वी आदि भूतो से चैतन्य की उत्पत्ति होती है, उस कारण से प्रत्यक्ष से अनुभव में आते यह लोकसंबंधी लौकिक विषयजन्य सुख का त्याग करके, कठीन तप और चारित्र की कष्टकारि क्रिया से साध्य परलोकसुखादि के लिये प्रवृति करना वह लोक की मूढता = अज्ञानता है। इस अनुसार से चार्वाक मानते है।

धूर्तो के द्वारा फैलाये गये मिथ्यावचनो के कारण जिन का सम्यग्ज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसे लोग हाथ में रहे हुए आलोकसंबंधी सुख को छोडकर स्वर्ग-मोक्ष सुख की लालसा से तप, जप, ध्यान, होम-हवनादि क्रियाओ में प्रयत्न करते है। उसमें उन लोगो की अज्ञानता ही कारण है। इस अनुसार से चार्वाकमत का उपदेश है। ॥८५॥

अथ ये शान्तरसपूरितस्वान्ता निरुपमं शमसुखं वर्णयन्ति, तानुद्दिश्य यच्चार्वाका ब्रुवते तदाह-

अब जो शान्तरस से पूरित=प्लावित हृदयवाले होकर तप, जप, ध्यानादि से निरुपम शमसुख की प्राप्ति होती है - ऐसा बताते है। उनको ध्यान में रखकर चार्वाक कहते है कि...

(मू. श्लो.) साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने ।
निरर्था सा मते तेषां धर्मः कामात्परो न हि ।।८६।।

श्लोकार्थ : स्वर्ग, मोक्ष इत्यादि साध्य के लिए की प्रवृत्ति के द्वारा और दुःख, नरक इत्यादि असाध्य के लिए की निवृत्ति के द्वारा लोगो को जो आनंद उत्पन्न होता है, वह निरर्थक है। क्योंकि उनके मत में भोग सुख से दूसरा कोई श्रेष्ठ धर्म नहीं है। ॥८६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या-साध्यं-ध्यानं द्वेधा, उपादेयं हेयं च । उपादेये धर्मशुक्लध्यानयुगे हेये चार्तरौद्रध्यानयुगे । अथवा साध्ये-साधनीये कार्ये, उपादेये पुण्यकृत्ये तपःसंयमादौ, हेये च पापकृत्ये विषयसुखादिके क्रमेण वृत्तिनिवृत्तिभ्यां-प्रवर्तननिवर्तनाभ्यां जने - लोके या प्रीतिः - मनः सुखं जायते - समुत्पद्यते सा तेषां - चार्वाकाणां मते निरर्था - निःप्रयोजना निःफलाऽतात्त्विकीत्यर्थः । हिर्यस्मात् धर्मः कामात्-विषयसुखसेवनान्न परः काम एव परमो धर्मः, तज्जनितमेव च परमं सुखमिति भावः । अथवा ये धर्मप्रभावादिह लोकेऽपीष्टानिष्टकार्ययोः सिद्ध्यसिद्धीः वदन्ति, तान्प्रति यज्ञार्वाका जल्पन्ति तद्दर्शयन्नाह- "साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां" इत्यादि । तपोजपहोमादिभिः साध्यस्य-प्रेप्सितकार्यस्य या वृत्तिः-सिद्धिर्या च तैरेव तपोजपादिभिरनिष्टस्य साध्यस्य विघ्नादेर्निवृत्तिः-असिद्धिरभाव इति यावत्ताभ्यां साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या जने प्रीतिर्जायते सा निरर्था । अर्थशब्दस्य हेत्वर्थस्यापि भावान्निर्हेतुका निर्मूला । तेषां मते हिर्यस्माद्धर्मः कामान्न पर इति प्राग्वत् ।।८६।।

व्याख्या का भावानुवाद :

साध्य-ध्यान दो प्रकार का है। उपादेय और हेय। धर्मध्यान और शुक्लध्यान उपादेय है तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान हेय है। अथवा साधनीय कार्य में तपसंयमादि उपादेय पुण्यकार्यो से प्रवृत्ति करने से तथा हेयरुप विषयसुखादि पापकृत्यो में से निवृत्ति होने से लोगो को जो जो आत्मिक सुख-मानसिक सुख प्राप्त होता है वह चार्वाकमत में निरर्थक है। निष्प्रयोजन-निष्फल और अतात्विक है। उनके मतानुसार कामभोग के सेवन से दूसरा श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं है और विषयसेवन से प्राप्त होता सुख ही श्रेष्ठ है।

वैसे ही जो लोग धर्म के अभाव से इस लोक में इष्टकार्य की सिद्धि और अनिष्टकार्य की असिद्धि कहते है, उन लोगो को प्रति चार्वाक कहते है कि... तप आदि के द्वारा इच्छित कार्य की जो सिद्धि तथा तप, जपादि के द्वारा अनिष्टरुप विघ्नो की निवृत्ति - असिद्धि होती है, वह साध्यवृत्ति और अनिष्ट निवृत्ति के द्वारा लोगो में जो प्रीति उत्पन्न होती है वह निरर्थक है। उनके मत में भोगसेवन से श्रेष्ठ धर्म नहीं है। ॥८६॥

उपसंहरन्नाह - चार्वाकमत का उपसंहार करते हुए कहते है कि -

(मू. श्लो.) लोकायतमतेऽप्येवं सङ्क्षेपोऽयं निवेदितः ।
अभिधेयतात्पर्यार्थः पर्यालोच्यः सुबुद्धिभिः ।।८७।।

श्लोकार्थ : इस अनुसार से लोकायत मत का भी संक्षेप बताया। बुद्धिमान पुरुषो के द्वारा प्रत्येक दर्शन के अभिधेय तात्पर्यार्थ को सोचना चाहिए। ॥८७॥

व्याख्या-एवं-अमुना प्रकारेण अपेः समुच्चयार्थत्वान्न केवलमन्यमतेषु सङ्क्षेप उक्तो लोकायतमतेऽप्ययमनन्तरोक्तः सङ्क्षेपो निवेदितः । ननु बौद्धादिमतेषु सर्वेष्वपि सङ्क्षेप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवात्र यद्युच्यत तर्हि विस्तरेण तत्परमार्थः कथमवभोत्स्यते ? इत्याशङ्क्याह-"अभिधेय" इत्यादि । अभिधेयस्य-सर्वदर्शनवाच्यस्यार्थस्य तात्पर्यार्थः-अशेषविशेषविशिष्टः परमार्थः परिसमन्तात्पौर्वापर्येणालोच्यः-स्वयं विमर्शनीयः । अथवा "लोचृङ् दर्शने" इति धातु-पाठादालोच्यस्तत्तत्तदीयशास्त्रेभ्योऽवलोकनीयः सुबुद्धिभिः-सुनिपुणमतिभिः सङ्क्षिप्त-रुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वादस्य सूत्रकरणस्येति । अथवा सर्वदर्शनसंमतानां सत्त्वानां परस्परं विरोधमाकर्ण्य । किं कर्तव्यता मूढानां प्राणिनां यत्कर्तव्योपदेशमाह "अभिधेय" इत्यादि अभिधेयं-सर्वदर्शनसंबन्धी प्रतिपाद्योऽर्थः तस्य यस्तात्पर्यार्थः-सत्यासत्यविभागेन व्यवस्थापितस्तत्त्वार्थः स पर्यालोच्यः। सम्यग्विचारणीयो न पुनर्यथोक्तमात्रो निर्विचारं ग्राह्यः । कैः ? सुबुद्धिभिः-सुष्ठु शोभना मार्गानुसारिणी पक्षपातरहिता बुद्धिः-मतिर्येषां ते सुबुद्धयः, तैर्न पुनः कदाग्रहग्रहिलैः । यदुक्तम्-"आग्रही बत निनीषति युक्तिं यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा । पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ।।१।।" अयमत्र भावार्थः-सर्वदर्शनानां परस्परं मतविरोधमाकर्ण्य मूढस्य प्राणिनः सर्वदर्शनस्पृहयालुतायां निजदर्शनैकपक्षपातितायां वा दुर्लभं स्वर्गापवर्गसाधकत्वम्, अतो मध्यस्थवृत्तितया विमर्शनीयः सत्यासत्यार्थविभागेन तात्त्विकोऽर्थः, विमृश्य च श्रेयस्करः पन्थाभ्युपगन्तव्यो यतितव्यं च तत्र कुशलमतिभिः ।।८७।।

इति श्री तपोगणगगनाङ्गणदिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरिपदपद्मोपजीविश्रीगुणरत्न-सूरिविरचितायां तर्करहस्यदीपिकायां षड्दर्शनसमुच्चयटीकायां जैमिनीयचार्वाकीयमत-स्वरुपनिर्णयो नाम षष्ठोऽधिकारः ।। तत्समाप्तौ च समाप्तेयं तर्करहस्यदीपिकानाम्नी षड्दर्शनसमुच्चयवृत्तिः ।।

व्याख्या का भावानुवाद :

"**अपि**" समुच्चयार्थक है। इस अनुसार से केवल अन्य मत ही नहीं, लोकायतमत का भी संक्षेप कहा गया।

शंका : इस ग्रंथ में यदि बौद्धादि सर्वदर्शनो का संक्षेप ही कहा गया है, तो विस्तार से उस उस दर्शन के परमार्थ का बोध किस तरह से होगा ?

समाधान : यहाँ हमने केवल सर्वदर्शनो का संक्षेप से वर्णन किया है। परन्तु उस उस दर्शन के अभिधेय के तात्पर्यार्थ को=सभी विशेषो से विशिष्ट परमार्थ को पूर्वापर का विचार करके स्वयं सोच लेना।

"**लोचु**" धातु दर्शनार्थक है। इसलिए "**पर्यालोच्य**" का अर्थ यह है कि, उस उस दर्शन के उस उस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रो को निपुणबुद्धिवालो ने देखना चाहिए। यह सूत्रग्रंथ तो केवल संक्षिप्तरुचिवाले जीवो के अनुग्रह के लिए है।

अथवा सर्वदर्शनो के पदार्थो के परस्पर विरोध को सुनकर किंकर्तव्यमूढ बने हुए जीवो को जो करने योग्य है, वह उपदेश देते हुए ग्रंथकार श्री कहते है कि-सर्वदर्शन द्वारा प्रतिपादित पदार्थ के तात्पर्यार्थ को =सत्यासत्य के विभाग के द्वारा व्यवस्थापित तत्त्वार्थ को उन्हे सोचना चाहिए। तथा उन पदार्थो का अच्छी तरह से विचार करना चाहिए। केवल उन्होंने कहा, उस प्रकार से विचार किये बिना ग्रहण करने योग्य नहीं है। मार्गानुसारि पक्षपातरहित बुद्धिवालो के द्वारा कि जो दुराग्रहो से मुक्त है, उनके द्वारा सर्वदर्शन के वाच्यार्थ को मध्यस्थभाव से विचार करके सत्यासत्य का विवेक करना चाहिए। दुराग्रही मनुष्य मध्यस्थता से सोच नहीं सकता है। **जिससे कहा भी है** कि, दुराग्रही व्यक्ति जिस मत में अपनी बुद्धि स्थित हो गई हो वहाँ युक्तिओ को खिचने की इच्छा करता है और मध्यस्थचित्तवाला व्यक्ति जिसमें युक्ति होती है, वहाँ मति को स्थिर करता है। अर्थात् कदाग्रही व्यक्ति अपनी मान्यता की आग्रही मतिवाला होने से अपनी मान्यता अनुसार युक्तिओ को लडाया करता है। जब कि मध्यस्थ चित्तवाले व्यक्ति जिस पदार्थ में युक्ति स्थिर हो अर्थात् युक्ति से जो पदार्थ सिद्ध होता हो, वहाँ अपनी मति को स्थिर करता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि, सर्वदर्शनो के परस्परविरुद्ध मत को सुनकर किंकर्तव्यमूढ बने हुए जीव यदि सर्वदर्शनो को सच मानकर उनको मानने की इच्छा करे तो या अपने दर्शन का पक्षपात खडा रखकर उसको मानने की इच्छा रखे तो, उनके लिए स्वर्ग या मोक्ष दुर्लभ है। इसलिए मध्यस्थवृत्ति से सत्यासत्य के विभाग द्वारा तात्त्विकपदार्थ सोचना चाहिए। सत्यासत्य का विचार करके श्रेयस्कर मार्ग स्वीकृत करना चाहिए और उस मार्ग में कुशलबुद्धिवालो को प्रयत्न करना चाहिए। ॥८७॥

॥ इस अनुसार से तपागच्छरुप गगनमंडप में सूर्य जैसे तेजस्वी श्री देवसुंदरसूरीश्वरजी महाराजो के चरणसेवी श्री गुणरत्नसूरीश्वरजी महाराजा विरचित षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में जैमिनिदर्शन और चार्वाकमत के स्वरुप निर्णय नाम का छट्ठा अधिकार भावानुवाद सहित पूर्ण होता है। इस तरह से वह समाप्त होने से तर्करहस्य दीपिका नाम की षड्दर्शन समुच्चय ग्रंथ की टीका भी सानुवाद सानंद पूर्ण होती है ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट-१, जैनदर्शन का विशेषार्थ

जीव के चौदह प्रकार और उसका स्वरूप : १. अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, २. पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, ३. अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, ४. पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, ५. अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, ६. पर्याप्त द्वीन्द्रिय, ७. अपर्याप्त त्रीन्द्रिय, ८. पर्याप्त त्रीन्द्रिय, ९. अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, १०. पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, ११. अपर्याप्त असंज्ञीय पंचेन्द्रिय, १२. पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, १३. अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय, १४. पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रीय[1] ।

जो एकेन्द्रिय जीव के बहोत शरीर एकत्र होने पर भी दृष्टिगोचर न हो, उपरांत स्पर्श से भी जानने में न आये, वे **सूक्ष्म एकेन्द्रिय** जीव चौदह राजलोक में सर्वत्र व्याप्त रहे हुए हैं । लोकाकाश में ऐसी कोई जगह नहीं हैं कि, जहाँ सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव न हो । वे जीव शस्त्रादिक से भेदे-छेदे नहीं जाते, अग्नि से जल नहीं सकते । मनुष्यादिक के कुछ भी उपयोग में नहीं आते हैं, अदृश्य है, किसी इन्द्रिय से जाने नहीं जा सकते और सूक्ष्म नामकर्म के उदय से ही ऐसे प्रकार के सूक्ष्मत्व को प्राप्त हुए है । ये सूक्ष्म जीवो की हिंसा मन के संकल्प मात्र से हो सकती है, परन्तु वचन से अथवा काया से हिंसा नहीं हो सकती है । पुनः ये जीव भी किसी वस्तु को भेदने-छेदने में समर्थ नहीं है, ऐसे ये सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव हैं । वे सूक्ष्म पृथ्वी-अप्-तेउ-वायु और वनस्पति ऐसे पाँचों काय के हैं ।

तथा जो एकेन्द्रिय जीवों के बहोत शरीर एकत्र होने से चक्षुगोचर हो सकते हैं (देखे जा सकते हैं), ऐसे बादर नामकर्म के उदयवाले पृथ्वी-अप्-तेउ-वायु और वनस्पति ये पाँच प्रकार के **बादर एकेन्द्रियों** कहे जाते हैं, ये बादर एकेन्द्रियों में कोई कोई (वायु के जैसे) एक इन्द्रिय ग्राह्य हैं और कोई दो इन्द्रिय से, ऐसे यावत् कोई कोई बादर पाँचो इन्द्रियो से जाने जा सके ऐसे है । ये बादर एकेन्द्रिय मनुष्यादिक के उपयोग में आते हैं । चौदह राजलोक में सर्वत्र व्याप्त नहीं है । परन्तु कुछ खास नियत भाग में है, ये जीव शस्त्र से भेदे-छेदे जा सकते है । अग्नि से जल सकते है और काया से भी उन जीवों की हिंसा होती है । तथा ये जीव एक दूसरे को परस्पर मारते हैं, उपरांत एक ही प्रकार के एकेन्द्रिय स्वंय अपनी जाति से भी मारे जाते है । इसलिए जीव स्वकायशस्त्र, परकायशस्त्र और उभयकायशस्त्र के विषयवाले भी है ।

तथा शंख, कोडी, जौक, कैचुआ - कृमि, आदिक **द्वीन्द्रिय** जीव हैं, वे केवल बादर नामकर्म के उदयवाले ही हैं, इसलिए बादर होते हैं, परन्तु सूक्ष्म नहीं होते हैं । शास्त्र में कोई कोई स्थान पर द्विन्द्रियादि को भी सूक्ष्म के रूप में कहे हैं। वह केवल अपेक्षा अथवा विवक्षा मात्र से ही कहे हैं, परन्तु वास्तविक रूप से तो बादर ही हैं, इन जीवों को स्पर्शेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय ये दो इन्द्रियाँ होती हैं । इस प्रकार आगे कहे जाते त्रीन्द्रियादि जीव भी बादर ही जाने । तथा गधइयाँ-धान्यकीट-पिल्लू-खटमल-जूँ-कुंथुआ-चींटी-यीटा-बडी चींटी इत्यादि **त्रीन्द्रिय** जीव हैं । इन जीवों को स्पर्श - रसना और घ्राणेन्द्रिय ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं । तथा भ्रमर-विच्छु-काई-मकडी-झींगुर-टिइडी-खडमकडी इत्यादि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। इन जीवो को श्रोत्रेन्द्रिय के सिवा अन्य ४ (चार) इन्द्रियाँ होती है तथा माता-पिता के संयोग के बिना जल, मिट्टी आदिक सामग्री से अचानक (यकायक) उत्पन्न होनेवाले मेंढक-सर्प-मत्स्य इत्यादि तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य के मलमूत्रादि १४ अशुचि पदार्थों में उत्पन्न होनेवाले संमूर्च्छिम मनुष्य ये सर्व संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय कहे जाते है और ये संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय सर्व तथाप्रकार के विशिष्ट मनोविज्ञान (अर्थात् दीर्घ कालिकी[2] संज्ञा रूप मनोविज्ञान) रहित होने से **असंज्ञि पंचेन्द्रिय** कहे जाते है । तथा जो जीव माता-पिता के संयोग द्वारा गर्भाशय में उत्पन्न होते है, ऐसे मनुष्य और तिर्यंच पंचेन्द्रिय तथा कुंभी

1. एगिंदिय सुहुमियरा सन्नियरपणिंदिया य सबितिचउ । अपज्जत्ता पज्जत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा ।।४।। (नव.प्र.)
2. दीर्घकालिकी संज्ञा अर्थात् भूतकाल संबंधि और भविष्यकाल संबंधित दीर्घकाल की-पूर्वापर की विचार शक्ति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में उपपात[3] जन्म से पैदा होनेवाले नारकीय, उपरांत, उपपात शय्या में उपपात जन्म से पैदा होनेवाले देव ये सभी तथा प्रकार के विशिष्ट मनोविज्ञानवाले होने से (दीर्घकालिकी संज्ञावाले होने से) **संज्ञि-पंचेन्द्रिय** कहे जाते हैं ।

इस प्रकार एकेन्द्रिय के २ भेद, द्वीन्द्रिय का १ भेद, त्रीन्द्रिय का १ भेद, चतुरिन्द्रिय का १ भेद तथा पंचेन्द्रिय के २ भेद मिलकर ७ भेद हुए, ये सातो भेदवाले जीव अपर्याप्ता और पर्याप्ता ऐसे दो-दो प्रकार के है । जो जीव को जितनी पर्याप्ति आगे कही जायेगी उतनी पर्याप्ति पूर्ण किये बिना मृत्यु प्राप्त करे तो वह **अपर्याप्त** कहे जाते है और उतनी पर्याप्तियाँ पूर्ण करने के बाद मृत्यु को प्राप्त करे वह **पर्याप्त** कहे जाते है ।

यहाँ संक्षेप में इतना ही जाने कि - स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण किये बिना मरनेवाला जीव **लब्धिअपर्याप्त** कहे जाते हैं, और स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण करके मरनेवाला जीव **लब्धिपर्याप्त** कहा जाता हैं । वहाँ प्रत्येक अपर्याप्त (अर्थात् लब्धिअपर्याप्त) जीव पहली तीन पर्याप्तियाँ ही पूर्ण कर सकते हैं और चौथी, पांचवीं और छठ्ठीं ये तीनो पर्याप्तियाँ अधूरी ही रहती हैं, तथा पर्याप्त (अर्थात् लब्धिपर्याप्त) जीव तो स्वयोग्य चार, पाँच अथवा छः पर्याप्तियाँ पूर्ण करने के बाद ही मृत्यु को प्राप्त करता हैं । यहाँ पर्याप्ति-संबंधित विशेष स्वरूप आगे कहा जायेगा ।

1 जीव के लक्षण[4] **: (१) ज्ञान :** ज्ञान, वह मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-अवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान, ये पाँच ज्ञान सम्यग्दृष्टि जीव की अपेक्षा से कहे जाते हैं । क्योंकि सम्यग्दृष्टि का ही जो ज्ञान वह ज्ञान कहा जाता हैं और मिथ्यादृष्टि का ज्ञान वह अज्ञान कहा जाता है और वह मिथ्यादृष्टि संबंधित मति अज्ञान-श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान (अर्थात् अवधि संबंधित अज्ञान-विपरित ज्ञान) ये तीनो अज्ञान है । इस प्रकार ५+३=८ प्रकार के **ज्ञान** है । **ज्ञायते परिछिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञानम्** अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु प्रतीत हो, परिच्छेद हो उसे **ज्ञान** कहा जाता हैं। यहाँ वस्तु में सामान्य धर्म और विशेष धर्म ऐसे दो प्रकार के धर्म है । इन दो प्रकार के धर्म में से जिसके द्वारा विशेष धर्म का ज्ञान हो वह **ज्ञान, साकारोपयोग** या **विशेषोपयोग** कहा जाता हैं । यह अमुक है अथवा यह घट वा पट अमुक वर्ण का, अमुक स्थान का, अमुक कर्ता का इत्यादि विशेष धर्म अथवा विशेष आकारवाला जो बोध वह **साकारोपयोग** आदि ज्ञानोपयोग ही हैं (और सामान्य धर्म को जानने की शक्ति वह दर्शन कही जायेगी) । ये आठ में से कोई भी एक वा अधिक ज्ञान हीनाधिक प्रमाणवाला प्रत्येक जीव को होता ही हैं। परन्तु कोई जीव ज्ञान रहित होता ही नहीं है । उपरांत जीव से अतिरिक्त दूसरे कोई द्रव्य में ज्ञान गुण होता ही नहीं है, इसलिए जहाँ जहाँ ज्ञान वहाँ वहाँ जीव और जहाँ जहाँ जीव वहाँ वहाँ ज्ञान अवश्य होने के कारण से ज्ञान यह जीव का ही गुण हैं, इसलिए जीव का लक्षण ज्ञान कहा हैं । तथा संसारी जीव को वह ज्ञान, ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से हीनाधिक और क्षय से संपूर्ण प्रकट होता हैं ।

(२) दर्शन : चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार प्रकार के **दर्शन** हैं ।[5] ये चार प्रकार के दर्शन में से एक या अधिक दर्शन हीन वा अधिक प्रमाण में प्रत्येक जीव मात्र को होता है और यह दर्शनगुण भी ज्ञानगुण की तरह अवश्य जीव को ही होता है परन्तु अन्य को होता नहीं है, इसलिए परस्पर अविनाभावी संबंध होने से दर्शन गुण यह जीव का लक्षण है । वस्तु का सामान्य धर्म जानने की शक्ति वह **दर्शन** अथवा **निराकार उपयोग** अथवा **सामान्य उपयोग** कहा जाता हैं । क्योंकि यह घट अमुक वर्ण का, अमुक स्थान का इत्यादि आकारज्ञान नहीं, परन्तु केवल 'यह घट' है ऐसे सामान्य उपयोग होता है इसलिए यह दर्शनगुण **निराकार उपयोगरूप हैं** अथवा सामान्य उपयोगरूप है ।

---

3. सम्मूर्च्छन-गर्भज और उपपात ये तीन प्रकार का जन्म है । उसमें उपपात जन्म देव-नारक को होते हैं और बाकी के दो जन्म मनुष्य-तिर्यंच में होते हैं । 4. नाणं च दंसणं चेव चरितं च तवो तहा; वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं ।।५।। (नव.प्र.)
5. आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का विशेष स्वरूप कर्मग्रंथादि अन्य ग्रंथो से जाने ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दृश्यते वस्त्वनेन सामान्यरूपेणेति दर्शनम् । अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु सामान्य रुप से दिखाई दे वह दर्शन और वह दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से अथवा क्षय से होता हैं । **यहाँ छद्मस्थ को पहले दर्शनोपयोग अन्तर्मुहूर्त्त तक होता है और उसके बाद अन्तर्मुहूर्त ज्ञानोपयोग होता हैं ।** इस प्रकार दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त को अन्तर-अन्तर पे बारबार प्राप्त हुआ करते हैं और **केवली भगवन्त को प्रथम समय केवलज्ञान, दूसरे समय केवलदर्शन इस प्रकार एक-एक समय के अन्तर पर आदि अनंतकाल तक चालू रहता है, उसमें सिद्धत्व प्राप्ति के प्रथम समय में भी ज्ञानोपयोग ही प्राप्त होता हैं ।**

शंका—दर्शन अर्थात् सामान्य उपयोग और ज्ञान अर्थात् विशेष उपयोग, ये दोनों उपयोग जीव के लक्षण है, ऐसा कहकर पुनः उपयोग को भी जीव के लक्षण के तौर पे आगे अलग कहेंगे । तो इन तीनों में किस प्रकार की भिन्नता हैं ?

उत्तर—हे जिज्ञासु ! ज्ञान, दर्शन और उपयोग ये तीनो वास्तविक रुप से सर्वथा भिन्न नहीं हैं, क्योंकि जीव का मूल भी उपयोग हैं, परन्तु वह उपयोग जब वस्तु के विशेष धर्म ग्रहण में प्रवर्तित हो तब उसे **ज्ञान** कहा जाता है, और वस्तु के सामान्य धर्म ग्रहण में प्रवर्तित हो तब वही उपयोग **दर्शन** कहा जाता है । इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और उपयोग यद्यपि सर्वथा भिन्न नहीं हैं तो भी सर्वत्र ज्ञान का माहात्म्य अतिशय होने से ज्ञान की मुख्यता बताने के लिए जीव के विशेष उपयोग रूप ज्ञान को छः लक्षण में सब से पहले कहा और दर्शन वह प्राथमिक (सामान्य) उपयोग हैं, इसलिए उसे दूसरा लक्षण कहा हैं, जिससे सर्व सिद्धान्तों में और प्रसिद्धि में भी जीव के गुण ज्ञान-दर्शन आदि कहे जाते हैं । पुनः ज्ञानोपयोग उस ज्ञेय पदार्थ का संबंध होने पर भी तुरंत प्रथम समय में नहीं होता परन्तु प्रथम समय से ज्ञान मात्र वृद्धि पाते-पाते अन्तर्मुहूर्त काल में जो निश्चित अथवा विशिष्ट अवबोध होता हैं, वह **ज्ञान** हैं, और वह दूसरे अन्तर्मुहूर्त तक ही टिक सकता हैं, उसमें पहले अन्तर्मुहूर्त संबंधित जो अनिश्चित अथवा अविशिष्ट बोध वह **दर्शन** है । (वह श्री भगवतीजी का भावार्थ द्रव्यलोक प्रकाश में कहा हैं और वह छद्मस्थ के दर्शन-ज्ञान की अपेक्षा से ठीक संभवित होता हैं।)

(**ज्ञान**—वस्तु में रहे हुए विशेष धर्म को जानने की आत्मा में रही हुई शक्ति, वह **ज्ञान** । वस्तु में रहे हुए सामान्य धर्म को जानने की आत्मा में रही हुई शक्ति वह **दर्शन** और उन दोनों शक्तियों का व्यापार, इस्तेमाल वह **उपयोग** । ज्ञानशक्ति का उपयोग, वह **ज्ञानोपयोग** और दर्शनशक्ति का उपयोग, वह **दर्शनोपयोग** ।)

(३) चारित्र :- चारित्र सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय-यथाख्यात-देशविरति और अविरति ये सात प्रकार से हैं । यह चारित्र **भाव से** - हिंसादिक अशुभ परिणाम से निवृत्त (विरक्त) होने रूप है और द्रव्य से - व्यवहार से अशुभ क्रिया के निरोध (त्याग) रूप हैं, इन सात चारित्र में से कोई भी चारित्र हीन या अधिक प्रमाण में प्रत्येक जीवमात्र को होता ही हैं, और जीव से अतिरिक्त दूसरे किसी द्रव्य में वह नहीं होता है । इसलिए चारित्र वह जीव का लक्षण कहा हैं । **चरन्ति अनिन्दितमनेनेति चारित्रम्** जिसके द्वारा अनिन्दित (अर्थात् प्रशस्त-शुभ) आचरण हो उसे चरित्र अथवा चारित्र कहा जाता हैं । अथवा **अष्टविधकर्मचयरिक्तीकरणाद् वा चारित्रम्** आठ प्रकार के कर्म संचय को (कर्म के संग्रह को) खाली करनेवाला होने से **चारित्र** कहा जाता हैं अथवा **चर्यते गम्यते अनेन निर्वृत्ताविति चारित्रम्** जिसके द्वारा (जिसके आचरण द्वारा) मोक्ष में जा सके वह **चारित्र** कहा जाता हैं । वह चारित्र चारित्र मोहनीय के उपशम से तथा क्षयोपशम से हीनाधिक और क्षय से संपूर्ण होता हैं ।

(४) तप :- तप द्रव्य से और भाव से, बाह्य तप और अभ्यन्तर तप, वह ६-६ प्रकार से १२ प्रकार का तप आगे निर्जरा तत्त्व की गाथा में कहा जायेगा । अथवा सामान्य से इच्छा का रोध (इच्छा का त्याग अथवा इच्छा को रोकना) वह **निश्चय तप-भाव तप** हैं । इन तप के भेदो में से कोई भी भेदवाला तप प्रत्येक जीव मात्र को होता हैं और वह भी हीन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वा अधिक प्रमाण में होता ही हैं और वह जीव द्रव्य में ही होता हैं, परन्तु अन्य द्रव्य में नहीं, इसलिए तप यह भी जीव का लक्षण हैं । **तापयति अष्टप्रकारं कर्म इति तपः** आठ प्रकार के कर्म को जो तपायें (अर्थात् जलायें) उसे **तप** कहा जाता हैं। अथवा **ताप्यन्ते रसादिधातवः कर्माणि वा अनेनेति तपः**- (रस-अस्थि-मज्जा-मांस-रुधिर-मेद और शुक्र ये रसादि सात धातुओं को अथवा कर्मों को जिसके द्वारा तपाया जाये अर्थात् जलाया जाये, उसे तप कहा जाता हैं।) वह तप मोहनीय और वीर्यान्तराय ये दो कर्म के सहचारी क्षयोपशम से हीनाधिक और क्षय से संपूर्ण प्रकट होता है ।

तप-कर्मों से छूटने का, स्वस्वरूप की और बलपूर्वक जाने के लिए आत्मा का प्रयत्न ।

(५) वीर्य--वीर्य अर्थात् योग, उत्साह, बल, पराक्रम, शक्ति इत्यादि कहा जाता हैं । वह **करणवीर्य** और **लब्धिवीर्य** ऐसे दो प्रकार से है । मन-वचन-काया के आलंबन से प्रवर्त्तित वीर्य वह **करणवीर्य** और ज्ञान-दर्शनादिक के उपयोग में प्रवर्तित आत्मा का स्वाभाविक वीर्य वह **लब्धिवीर्य** कहा जाता हैं अथवा आत्मा में शक्ति रूप से रहा हुआ वीर्य वह **लब्धिवीर्य** और वीर्य की प्रवृत्ति में निमित्तभूत मन-वचन और काया रूप करण-साधन वह **करणवीर्य** । करणवीर्य सर्व संयोगी संसारी जीवों को होता है और लब्धिवीर्य तो वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से सर्व छद्मस्थ जीवो को हीन वा अधिक आदि असंख्य प्रकार का होता है और केवलि भगवंत को तथा सिद्ध परमात्मा को तो वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से संपूर्ण और एक समान अनन्त लब्धिवीर्य प्रकट हुआ होता हैं । यह वीर्य सर्वजीव द्रव्य में होता हैं । उपरांत जीवद्रव्य के सिवा अन्य कोई भी द्रव्य में नहीं हो सकता है, इसलिए वीर्यगुण यह जीव का लक्षण हैं । यहाँ **वि** अर्थात् विशेष से आत्मा को **ईरयति** अर्थात् तत् तत् क्रियाओं में प्रेरित-प्रवर्तित करे, उसे **वीर्य** कहा जाता है ।

शंका:--वीर्य अर्थात् शक्ति तो पुद्गल द्रव्य में भी हैं । क्योंकि परमाणु एक समय में लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक शीघ्रगतिवाला होकर पहुँच जाता है, तो वीर्य जीव का ही लक्षण क्यों है ?

उत्तर:- सामान्य से शक्ति धर्म तो सर्व द्रव्य में होता ही है और उसके बिना कोई भी द्रव्य अपनी-अपनी अर्थ क्रियामें प्रवर्तित नहीं हो सकता हैं । इसलिए ऐसे सामान्य शक्ति धर्म, वह यहाँ वीर्य कहा नहीं जाता हैं, परन्तु योग, उत्साह, पराक्रम इत्यादि पर्याय का अनुसरण करनेवाला जो वीर्य गुण और वह रूप आत्म शक्ति समजे, वह तो केवल आत्म द्रव्य में ही होती हैं, इसलिए वीर्य यह जीव का ही गुण हैं ।

(६) उपयोग:- वह पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन ऐसे १२ प्रकार का है, उसमें भी ज्ञान का साकार उपयोग और चार प्रकार के दर्शन का निराकार उपयोग होता है; इसलिए वह साकार-निराकार रूप १२ उपयोग में से यथासंभव उपयोग एक वा अधिक तथा हीन वा अधिक प्रमाण में जीव को अवश्य होता हैं । उपरांत जीव के सिवा अन्य द्रव्य में उपयोग गुण नहीं हो सकता, इसलिए उपयोग यह जीव का लक्षण हैं ।

सूक्ष्म एकेन्द्रियादि जीवो को ज्ञान आदि किस तरह से है? सूक्ष्म अपर्याप्त निगोद जीव को उत्पत्ति के प्रथम समय में भी मति, श्रुत ज्ञान का अनन्तवाँ भाग खुला होता हैं और वह प्रथम समय में एक पर्याय जितना ही श्रुतज्ञान नहि, परन्तु अनेक पर्याय जितना (अर्थात् पर्याय समास) श्रुतज्ञान होता हैं । इसलिए उसमें भी **ज्ञान** लक्षण हैं । यद्यपि वह अति अस्पष्ट हैं, तो भी मूर्च्छागत मनुष्यवत् अथवा निद्रागत मनुष्यवत् किंचित् ज्ञानमात्रा तो अवश्य होती हैं । इस प्रकार अनन्तवें भाग जितना और अस्पष्ट अचक्षुर्दर्शन होने से **दर्शन** लक्षण भी है और वह ज्ञान तथा दर्शन क्षयोपशम भाव के है । अब चारित्र का आवरण करनेवाला कर्म यद्यपि सर्वघाती हैं, तो भी अति चढे हुए महामेघ के समय भी दिन रात का विभाग समझ में आये ऐसी सूर्य की अल्प प्रभा हंमेशा खुली ही रहती है वैसे चारित्र गुण का घात करनेवाला कर्म यद्यपि सर्वघाती (सर्वथा घात करनेवाला) कहा हैं, तो भी चारित्र गुण की किंचित् मात्रा तो खुली ही होती हैं, ऐसे सिद्धांतों में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्पष्ट कहा हुआ हैं, इसलिए सूक्ष्म अपर्याप्त निगोद को प्रथम समय में अति अल्प **चारित्र** गुण होता हैं और वह **अविरति चारित्र** होता है । जैसे चारित्र वैसे **तप** गुण भी अल्प मात्रावाला होता है, तथा आकार ग्रहण आदि क्रियाओं में प्रवर्तित अति अल्पवीर्य भी होता है और वह असंख्यात भेद से हीनाधिक तरतमतावाला होता है । **उस कारण से ही कर्मप्रकृति इत्यादि ग्रंथों में** "सूक्ष्म अपर्याप्त निगोद जीव को भी वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से अपर्याप्त अवस्था तक निरंतर असंख्य गुण वृद्धिवाले योगस्थान प्रति समय प्राप्त है" **ऐसा कहा** है । उपरांत जो ज्ञान-दर्शन हैं, तो उसके व्यापाररूप **उपयोग** लक्षण अवश्य होता है । इस प्रकार जैसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त में ६ (छः) लक्षण कहे, उस तरह से चौदह जीव भेद में यथासंभव छः लक्षण स्वयं सोच ले ।

उपरांत सत्ता मात्र से तो सूक्ष्म अपर्याप्त निगोद जीव को भी अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त वीर्य, अनन्त उपयोग है, परन्तु कर्म के आवरण से वे ज्ञानादि गुण अल्प अथवा अधिक माने जाते हैं और कर्मावरण रहित जीव को संपूर्ण स्पष्ट होते हैं । इसलिए ज्ञानादि गुण सिद्ध परमात्मा में जैसे है वैसे ही सूक्ष्म निगोद जीव में भी होते है, परन्तु निगोद को सत्तागत हैं और सिद्ध को संपूर्ण प्रकट हुए हैं, वही अन्तर हैं ।

संसारी जीवो की छः पर्याप्तियाँ[6] **: पर्याप्ति**–अर्थात् **संसारी जीव को शरीरधारी के रूप में जीने की जीवन शक्ति वह पर्याप्ति ।** यद्यपि - कोई भी जाति का शरीर धारण करके जीने की आत्मा में शक्ति हैं । परन्तु वह शक्ति पुद्गल-परमाणुओं की मदद के बिना प्रकट नहीं होती है । अर्थात् यदि पुद्गल-परमाणुओं की मदद न हो, तो आत्मा की शरीर में जीने की शक्ति प्रकट नहीं होती है अर्थात् वही शरीरधारी के रुप में जी नहीं सकेगा । **इसलिए पुद्गल परमाणुओं के समूह के निमित्त से आत्मा में से प्रकट हुई और शरीरधारी रुप से जीने के लिए उपयोगी पुद्गलो को परिणमन करने का काम करनेवाली आत्मा की अमुक प्रकार की (शरीर धारण करके जीने की) जीवन शक्ति वह पर्याप्ति ।**

आहार के बिना शरीर बंधता नहीं है, शरीर धारण किये बिना जीव किसी भी तरह से संसारी रूप से जी नहीं सकेगा, शरीर धारण करने पर भी इन्द्रियों के बिना जी नहीं सकेगा । इसलिए इन्द्रियाँ बाँधनी पडेगी, श्वासोच्छवास के बिना शरीरधारी जी नहीं सकता । तथा ज्यादा शक्तिवाले जीव को बोलने की और सोचने की शक्ति की आवश्यकता पडती है, कि जिसके कारण वह बोल सकता हैं और सोच सकता हैं । इसलिए सभी संसारी जीवों की अपेक्षा से - **आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोश्वास, भाषा और मन ये छः पर्याप्तियाँ होती हैं** । ये छः से ज्यादा जीवन शक्ति संभवित ही नहीं हैं।

अपने योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण करे उस जीव का नाम **पर्याप्त जीव** और अपने योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण किये बिना मरे, वह **अपर्याप्त जीव** । अपर्याप्तत्व देनेवाला कर्म वह **अपर्याप्त नामकर्म** और पर्याप्तत्व देनेवाला कर्म वह **पर्याप्त नामकर्म** ।

पर्याप्ति की उपर बताये अनुसार व्याख्या समजने के बाद उसके कार्य-कारण, बाह्य-अभ्यन्तर निमित्त, द्रव्य, भाव इत्यादि अपेक्षा से अनेक प्रकार की व्याख्यायें शास्त्र में दी गई हैं । **अब छः पर्याप्तियों का स्वरूप देखेंगे ।**

१. आहार पर्याप्ति :- उत्पत्ति स्थान में रहे हुए आहार को जीव जो शक्ति द्वारा ग्रहण करे और ग्रहण करके खल रसको योग्य बनाये, वह **आहार पर्याप्ति ।** (यहाँ खल अर्थात् असार पुद्गल-मल-मूत्रादि और शरीरादि रचना में उपयोगी हो ऐसे पुद्गल वह रस हैं ।) यह पर्याप्ति प्रथम समय में ही समाप्त होती हैं ।

6. आहारसरीरिंदिय-पज्जत्ती आणपाणभासमणे । चउ पंच पंचछप्पिय, इगविगलाऽसन्निसन्नीणं ।।६।। (नव.प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२. शरीर पर्याप्ति :- रसके योग्य पुद्गलों को जो शक्ति द्वारा जीव शरीररूप से सात धातुरूप से रचना करे, वह शक्ति वह शरीर पर्याप्ति । (यहाँ शरीर, काय योग प्रवृत्ति में समर्थ हो तब तक की जो शरीर रचना । बाद में पर्याप्ति की (शक्ति की) समाप्ति होती है । और वह सामर्थ्य अन्तर्मुहूर्त तक शरीर योग्य पुद्गलों को प्राप्त करने से प्रकट होता हैं।)

३. इन्द्रिय पर्याप्ति :- रस रूप से अलग पडे हुए पुद्गलों मे से, उपरांत सात धातुमय शरीर रूप से रचे हुए पुद्गलों मे से भी इन्द्रिय योग्य पुद्गल ग्रहण करके इन्द्रियपन से परिणमन कराने की जो शक्ति, वह **इन्द्रिय पर्याप्ति** (शरीर पर्याप्ति समाप्त होने के बाद भी दूसरे अन्तर्मुहूर्त तक पाये हुए इन्द्रिय पुद्गलो से रची जाती अभ्यन्तर निर्वृत्ति इन्द्रिय जब विषयबोध करने में समर्थ होती है, तब यह इन्द्रिय पर्याप्ति की समाप्ति होती है ।)

४. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति :- जो शक्ति द्वारा श्वासोच्छ्वास योग्य वर्गणा के पुद्गल ग्रहण करके श्वासोच्छ्वास रूप में परिणमन कराके, उसका अवलंबन लेकर, विसर्जन करे, उस शक्ति का नाम श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति हैं । (इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद भी तीसरे अन्तर्मुहूर्त तक ग्रहण की हुई श्वासोच्छ्वास वर्गणा को श्वासोच्छ्वास रूप से परिणमन कराने में उपकारी पुद्गलो से जब जीव श्वासोच्छ्वास क्रिया में समर्थ होता है, तब इस पर्याप्ति की समाप्ति होती है ।)

५. भाषा पर्याप्ति :- जीव जो शक्ति के द्वारा भाषा योग्य पुद्गलो को ग्रहण करके भाषा रूप में परिणमन कराके, अवलंबन लेकर, विसर्जन करे, उस शक्ति का नाम **भाषा पर्याप्ति** । (श्वासो. पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद भी चौथे अन्तर्मुहूर्त तक ग्रहण किये हुए (भाषा पुद्गलो को भाषा रुप में परिणमन कराने में उपकारी) पुद्गलो से जीव जब वचनक्रिया में समर्थ होता हैं, तब इस पर्याप्ति की समाप्ति होती हैं ।)

६. मनःपर्याप्ति :- जब जो शक्ति के द्वारा मनः प्रायोग्य पुद्गलो को ग्रहण करके मन रूप में परिणमन कराके, अवलंबन लेकर, विसर्जन करे, उस शक्ति का नाम **मनःपर्याप्ति** । (भाषा पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद भी पाँचवें अन्तर्मु० तक ग्रहण किये हुए (मनोयोग्य पुद्गलो को मनरूप में परिणमन कराने में (समर्थ) पुद्गलो से जीव जब विषय चिंतन में समर्थ हो तब इस पर्याप्ति की समाप्ति हुई मानी जाती हैं ।)

देवादिक के पर्याप्तियों का क्रम :- इस प्रकार मनुष्य-तिर्यंच को आहार पर्याप्ति १ समय में और शेष पांच पर्याप्तियाँ क्रमशः अन्तर्मुहर्त-अन्तर्मुहूर्त काल में समाप्त होती है और देव-नारक संबंधि तथा उत्तरवैक्रिय और आहारक शरीर संबंधि पर्याप्तियों में - आहार पर्याप्ति प्रथम समय में शरीर पर्याप्ति उसके बाद अन्तर्मुहूर्त पर और शेष चार पर्याप्तियाँ क्रमशः एक एक समय के अन्तर पर समाप्त होती हैं । उपरांत, श्री भगवतीजी आदिक में तो देव को भाषा पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति की समकाल में समाप्ति होने की अपेक्षा से देव को पाँच पर्याप्ति कही हैं ।

पर्याप्तियाँ पुद्गल स्वरूप हैं :- श्री तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि, **"पर्याप्तियाँ पुद्गल रूप है, और वह कर्तारूप आत्मा का करण (साधन) विशेष हैं, कि जो करण विशेष द्वारा आत्मा को आहार ग्रहणादि सामर्थ्य उत्पन्न होता हैं और वह करण जो पुद्गलों के द्वारा रचा जाता है, उस आत्माने ग्रहण किये हुए पुद्गल कि जो तथा प्रकार की परिणतिवाले हैं, वही पर्याप्ति शब्द द्वारा कहे जाते हैं । (अर्थात् उस पुद्गलों का ही नाम पर्याप्ति हैं ।)"**

लब्धि अपर्याप्त इत्यादि ४ भेद :- पर्याप्तियाँ समाप्त होने के काल के विषय में जीव के भी पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो मुख्य भेद हैं । वहाँ जो जीव स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण करने के बाद मृत्यु को प्राप्त करे, वह जीव **पर्याप्त** कहा जाता हैं और निर्धनने किये हुए मनोरथो की तरह जो जीव स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण किये बिना मृत्यु प्राप्त करे, ऐसा जीव **अपर्याप्त** कहा जाता हैं । वे पर्याप्तपन प्राप्त होना वह पर्याप्त नामकर्म के उदय से होता हैं और अपर्याप्त नामकर्म के उदय से जीव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को अपर्याप्तत्व प्राप्त होता है । इस प्रकार जीव के पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो मुख्य भेद हैं । पुनः इन दो भेद के अवान्तर भेद भी हैं, वे सर्व भेद अलग करने से चार भेद होते हैं, वह इस प्रकार है –

१. लब्धि अपर्याप्त :- जो जीव स्वयोग्य[7] पर्याप्तियाँ पूर्ण न करे और मर जाये तो लब्धि अपर्याप्त कहा जाता हैं। पूर्व भव में बंधे हुए अपर्याप्त नामकर्म के उदय से जीव लब्धि अपर्याप्त होता है । **२. लब्धि पर्याप्त** : जो जीव (स्वमरण के पूर्व) स्वयोग्य सर्व पर्याप्तियाँ पूर्ण करता ही है, वह जीव लब्धि पर्याप्त कहा जाता है । पूर्व भव में बंधे हुए पर्याप्त नामकर्म के उदय से जीव यह भव में स्वयोग्य सर्व पर्याप्तियाँ पूर्ण कर सकता है । **३. करण अपर्याप्त** : उत्पत्ति स्थान पे समकाले स्वयोग्य सर्वपर्याप्तियाँ की रचना का प्रारंभ हुआ है, जब तक वे समाप्त न हो, तब तक जीव करण अपर्याप्त कहा जाता है । **४. करण पर्याप्त** : उत्पत्ति स्थान पे समकाले स्वयोग्य सर्व पर्याप्तिओं की रचना का जो प्रारंभ हुआ है, वह रचना समाप्त होने के बाद जीव करण पर्याप्त कहा जाता है ।

(पूर्व गाथा में) कहे जानेवाले जीव के (आयुष्य के सिवा) द्रव्य प्राण उत्पन्न होते हैं, इसलिए पर्याप्ति कारणरूप है और प्राण कार्यरूप हैं । कौन सी पर्याप्ति किस प्राण का कारण है, वह प्राण के वर्णन में आगे कहा जायेगा ।

किस जीव को कितनी पर्याप्ति ? :- एकेन्द्रिय जीव को प्रथम चार पर्याप्ति (अर्थात् आहार-शरीर-इन्द्रिय और उच्छ्वास); द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञि पंचेन्द्रिय जीव को प्रथम पाँच पर्याप्ति और संज्ञि पंचेन्द्रिय जीव को छः पर्याप्तियाँ होती हैं ।

संसारी जीव को जीने की जीवनक्रियायें :- पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल (अर्थात् योग), श्वासोच्छ्वास और आयुष्य ये दस प्राण हैं । (उसमें से) एकेन्द्रिय को, द्वीन्द्रिय को, त्रीन्द्रिय को, चतुरिन्द्रिय को, असंज्ञि पंचेन्द्रिय को और संज्ञिपंचेन्द्रिय को क्रमशः चार, छः, सात, आठ, नव और दस (प्राण) होते हैं ।[8]

१० प्राण :- **प्राणिति जीवति अनेनेति प्राणः**- जिसके द्वारा जीये, उसे **प्राण** कहा जाता है । अर्थात् यह जीव है, अथवा यह जीवित हैं, ऐसी प्रतीति जो बाह्य लक्षणो से हो उस बाह्य लक्षणो का नाम यहाँ **प्राण** (अर्थात् **द्रव्य प्राण**) कहा जाता है। ये १० प्राण जीव को ही होते है, और जीव द्रव्य से अतिरिक्त दूसरे द्रव्य में प्राण नहीं होते हैं, इसलिए ये १० द्रव्य प्राण वह जीव का लक्षण (बाह्य लक्षण) हैं ।

प्राण ये संसारी जीव का जीवन है । जीवन के बिना-प्राणो के बिना कोई भी संसारी जीव जी नहीं सकता । दस प्राण रूप जीवन क्रिया चलना यही संसारी जीव का जीवन हैं और पर्याप्तियाँ जीवन क्रिया चलाने की मददकार शक्ति प्रकट होने के साधन हैं ।

५. इन्द्रियप्राण :- स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोतेन्द्रिय ये ५ इन्द्रिय है, **इन्द्र** अर्थात् आत्मा, उसका जो लिङ्ग-चिह्न वह **इन्द्रिय** कहा जाता हैं । दिखाई देती त्वचा-चमडी वह स्पर्शेन्द्रिय नहीं है, परन्तु अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी पतली, शरीर के बाह्य तथा अभ्यन्तर भाग जितने (अथवा शरीर प्रमाण अन्दर से तथा बाहर से) विस्तारवाली, शरीर के बाह्य तथा अभ्यन्तर भाग में आच्छादित और चक्षु से अदृष्ट ऐसी शरीर के आकारवाली (अभ्यतर) **निर्वृत्तिरूप** एक ही भेदवाली **स्पर्शेन्द्रिय** हैं । तथा अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी पतली, अंगुल पृथक्त्व विस्तारवाली, चक्षु से अदृष्ट ऐसी, दिखाई देती (दृश्यमान) जिह्वा में आच्छादित और कुश (घास) उठाने की खुरपी जैसे

7. "स्वयोग्य" अर्थात् चालु गाथा में जो एकेन्द्रिय की ४, विकलेन्द्रिय की ५, असंज्ञि पंचेन्द्रिय की ५, तथा संज्ञि पंचेन्द्रिय की ६ पर्याप्तियाँ कही हैं, उस प्रकार एकेन्द्रिय को स्वयोग्य पर्याप्तियाँ ४, इत्यादि प्रकार से जानना । 8. पणिंदिअत्तिबलूसा-साउ दसपाण, चउ छ सग अट्ठ । इग-दु-ति-चउरिंदीणं, असन्नि-सन्नीण नव दस य ।।७।। (नव.प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आकारवाली ऐसी अभ्यन्तर निर्वृत्तिरूप **रसनेन्द्रिय** हैं । तथा अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी पतली, लंबी, चौडी, चक्षु से अदृष्ट ऐसी नासिका के अन्दर रही हुई पडघम के आकारवाली अभ्यन्तर निर्वृत्तिरूप **घ्राणेन्द्रिय** हैं । तथा घ्राणेन्द्रिय जैसे प्रमाणवाली, चक्षु से अदृष्ट ऐसे चक्षु की पुतली के तारे में रही हुई और चन्द्राकृतिवाली अभ्यन्तर निर्वृत्तिरूप **चक्षुरिन्द्रिय** हैं । तथा उतने ही प्रमाणवाली श्रोत्रेन्द्रिय भी हैं परन्तु वह कर्णपर्पटिका के (कर्णपटल के) छिद्र में रही हुई और कदंबपुष्प के आकारवाली हैं । **इस प्रकार विषयबोध ग्रहण करनेवाली ये पाँचों इन्द्रियों अभ्यन्तर रचना (आकार) वाली होने से अभ्यन्तर निर्वृत्ति कही जाती हैं और चक्षु से दिखाई देती (दृश्यमान) जिह्वादि ४ इन्द्रियाँ वह बाह्य रचना (आकार)वाली होने से बाह्य निर्वृत्ति इन्द्रिय कही जाती है, वह विषय बोध नहीं कर सकती ।**

३. बल प्राण (योग प्राण) :- मन, वचन और काया के निमित्त से प्रवर्तित जीव का व्यापार वह योग । इस योग का बल का अर्थ स्पष्ट हैं ।

२. उच्छ्वास प्राण :- जीव श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गल ग्रहण करके उनको श्वासोच्छ्वास रूप से परिणमन कराके, अवलंबन लेकर श्वासोच्छ्वास लेते - छोडते हुए जो श्वासोच्छ्वास चलता हैं, वह श्वासोच्छ्वास प्राण कहा जाता हैं । घ्राणेन्द्रियवाले जीवो को जो श्वासोच्छ्वास घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है और स्पष्ट दिखता हैं, वह **बाह्य उच्छ्वास** हैं परन्तु उसका ग्रहण प्रयत्न और श्वासोच्छ्वास का परिणमन तो सर्व आत्मप्रदेश में होता हैं, वह अभ्यन्तर उच्छ्वास हैं और वह स्थूल दृष्टि से उपलब्ध नहीं होता हैं । जो जीवो को नासिका नहीं है वे नासिका के बिना भी सर्व शरीर प्रदेश में श्वासोच्छ्वास के पुद्गल ग्रहण करके सर्व शरीर प्रदेश में श्वासोच्छ्वास रूप से परिणमन कराते है । और अवलंबन करके विसर्जन करते है । नासिका रहित जीवो को १ अभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास होता हैं । और वह अव्यक्त हैं तथा नासिकावाले जीव को तो दोनों प्रकार का श्वासोच्छ्वास होता हैं । यह श्वासोच्छ्वास चालू होता हैं, तब "जीव हैं, जीवित है" ऐसा प्रतीत होता हैं इसलिए उस जीव के बाह्य लक्षण रूप द्रव्य प्राण हैं ।

आयुष्यप्राण—आयुष्य कर्म के पुद्गल वह **द्रव्य आयुष्य** और उस पुद्गलो के द्वारा जीव जितने काल तक नियत (अमुक) भव में टिक सके, उतने काल का नाम **काल आयुष्य** है । जीव को जीने में ये आयुष्य कर्म के पुद्गल ही (आयुष्य का उदय ही) मूल-मुख्य कारणरूप है । आयुष्य के पुद्गल समाप्त होने पर आहारादि अनेक साधनो के द्वारा भी जीव जी नहीं सकता । **ये दो प्रकार के आयुष्य में जीव को द्रव्य आयुष्य तो अवश्यपूर्ण करना ही पडता है और काल आयुष्य तो पूर्ण करे अथवा न करे** । क्योंकि - वह द्रव्य आयुष्य यदि अनपवर्तनीय (अर्थात् किसी भी उपाय से द्रव्य आयुष्य शीघ्र क्षय न हो ऐसा) हो, तो संपूर्ण काल में मृत्यु को प्राप्त करे और यदि अपवर्तनीय (शस्त्रादिक के आघात इत्यादि से द्रव्य आयुष्य शीघ्र क्षय पाने के स्वभाववाला) हो, तो अपूर्ण काल में मृत्यु प्राप्त करे, परन्तु द्रव्यायुष्य तो संपूर्ण करके ही मृत्यु को प्राप्त करता है ।

किस जीव को कितने प्राण होते हैं ? - सर्व एकेन्द्रिय जीवो को स्पर्शेन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य ये ४ प्राण होते हैं । **द्वीन्द्रिय** जीवो को रसनेन्द्रिय तथा वचन बल अधिक होने से ६ प्राण होते हैं, त्रीन्द्रिय को घ्राणेन्द्रिय अधिक होने से ७ प्राण होते हैं । चतुरिन्द्रिय को चक्षुरिन्द्रिय अधिक होने से ८ प्राण, असंज्ञिपंचेन्द्रिय को श्रोत्रेन्द्रिय अधिक होने से ९ प्राण और संज्ञिपंचेन्द्रिय को मनः प्राण अधिक होने से १० प्राण होते हैं ।

अपर्याप्ता जीवो को (लब्धि अपर्याप्ता जीवो को) उत्कृष्ट से ७ प्राण होते हैं और जघन्य से ३ प्राण होते हैं । वहाँ अपर्याप्ता एकेन्द्रिय को ३ प्राण और अपर्याप्त पंचेन्द्रिय को ७ प्राण होते हैं। शेष जीवो को यथासंभव सोचे । क्योंकि -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपर्याप्तपन में श्वासोच्छ्वास, वचनबल और मनबल ये तीन प्राण नहीं होते इसलिए सम्मूर्च्छिम मनुष्य को भी ७ प्राण होते हैं, क्योंकि, सम्मूर्च्छिम मनुष्य तो निश्चय से अपर्याप्त ही होता है और किसी ग्रंथो में ७-८-९ प्राण कहे है, वह अपेक्षा भेद से संभवित है ।

अजीव के चौदह भेद : तीन तीन भेदोवाले धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, उपरांत काल और स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु (ये) चौदह प्रकार से अजीव (तत्त्व) हैं ।[9]

विशेषार्थ : यहाँ अजीव अर्थात् जीव रहित (=जड) ऐसे पांच पदार्थ जगत में विद्यमान हैं । उसमें १. धर्मास्तिकाय द्रव्य २. अधर्मास्तिकाय द्रव्य, ३. आकाशास्तिकाय द्रव्य, ४. काल द्रव्य और ५. पुद्गलास्तिकाय द्रव्य, ये पाँचो अजीव द्रव्य का किंचित् स्वरूप आगे नवतत्त्व की ९वीं गाथा के अर्थ में आयेगा । और यहाँ तो अजीव के केवल १४ भेद ही बताये हैं । वह इस प्रकार-

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये ३ द्रव्य के स्कंध, देश और प्रदेश ऐसे ३-३ भेद होने से ९ भेद होते हैं, उसमें काल का १ भेद गिनने से १० भेद होते हैं और स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु ये ४ भेद पुद्गल के मिलाने से पांच अजीव के १४ भेद होते है ।

यहाँ जो द्रव्य को, **अस्ति** अर्थात् प्रदेशो का **काय** अर्थात् समूह हो, वह **अस्तिकाय** कहा जाता हैं । काल तो केवल वर्तमान समयरूप १ प्रदेशवाला होने से, प्रदेश समूह के अभाव में काल को अस्तिकाय नहीं कहा जाता, इसलिए अस्तिकाय द्रव्य तो जीव सहित पाँच द्रव्य है, उस कारण से सिद्धान्त में पंचास्तिकाय शब्द प्रसिद्ध है। उपरांत जो द्रव्य, अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशो के समूहवाला हो, उसके ही स्कंध-देश-प्रदेशरूप तीन भेद पड सकते है और काल १ समय रूप होने से काल का १ ही भेद कहा हैं । अब स्कंध, देश और प्रदेश के अर्थ नीचे बताये अनुसार हैं ।

वस्तु का[10] संपूर्ण भाग वह स्कंध, उस स्कंध की अपेक्षा से न्यून सविभाज्य भाग वह देश और निर्विभाज्य[11] भाग कि जो एक अणु जितना ही सूक्ष्म हो । परन्तु यदि स्कंध के साथ प्रतिबद्ध हो तो प्रदेश (और वही सूक्ष्मनिर्विभाज्य भाग यदि स्कंध से अलग हो तो परमाणु) कहा जाता है । यहाँ स्कंध, देश और प्रदेश ये तीनो व्यपदेश (कथन) स्कंध में ही होते है, यदि देश और प्रदेश स्कंध से अलग हो तो देश-प्रदेश नहीं कह सकते । क्योंकि स्कंध से अलग हुआ देश पुनः स्कंध ही कहा जाता है और अपेक्षा से देश भी कहा जाता हैं, परन्तु विशेष से तो स्कंध ही कहा जाता हैं और स्कंध से अलग पडा हुआ प्रदेश परमाणु माना जाता हैं ।

(इस प्रकार धर्मास्तिकाय का स्कंध संपूर्ण २४ राजलोक प्रमाण हैं, देश उससे कुछ न्यून वह यावत् द्विप्रदेश पर्यन्त और एक-एक प्रदेशरूप वह प्रदेश । उस तरह से अधर्मास्तिकाय के स्कंध, देश और प्रदेश रूप तीन-तीन भेद अपने अपने स्कंध में हैं और परमाणु तो केवल पुद्गल द्रव्य का अलग ही होता हैं ।)

---

9. धम्माधम्मागासा, तियतिय-भेया तहेव अद्धा य । खंधा देस पएसा, परमाणु अजीव चउदसहा ।।८।। (नव.प्र.) 10. वस्तु का पूर्ण भाग अर्थात् संपूर्ण भागरूप स्कंध दो प्रकार से होता हैं । १. स्वाभाविक स्कंध और २. वैभाविक स्कंध । उसमें स्वाभाविक स्कंध वह जीव, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय का (में) हंमेशां होता हैं, क्योंकि उन पदार्थो के कभी भी विभाग नहीं पड सकते हैं और पुद्गल द्रव्य का (विकाररूप) वैभाविक स्कंध होता हैं, जैसे १ महाशिला वह पूर्ण स्कन्ध हैं और उसके चार खंड होने से प्रत्येक खंड को भी स्कंध कहा जा सकता हैं । ऐसे यावत् दो परमाणुओं के पिण्ड (द्विप्रदेशी) तक के प्रत्येक पिण्ड को (स्कंध को) भी स्कंध कहा जा सकता हैं । 11. निर्विभाज्य अर्थात् केवलि भगवान भी जो सूक्ष्म अंश के बाद में दो विभाग की कल्पना नहीं कर सकते, ऐसा अति जघन्य भाग और वह भाग परमाणु जितना अथवा परमाणु रूप ही होता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्नः- धर्मास्तिकायादि द्रव्य में परमाणु रूप चौथा भेद क्यों नहीं हैं ?

उत्तरः- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय इन चार द्रव्य के यथासंभव असंख्य और अनंत प्रदेशवाले स्कंध में से एक भी प्रदेश किसी भी काल में अलग नहीं पडा । अलग नहीं पडता है और पडेगा भी नहीं, ऐसे शाश्वत संबंधवाले चार स्कंध होने से ये चार द्रव्य में परमाणुरूप चौथा भेद नहीं है । परन्तु पुद्गल द्रव्य के तो अनन्त परमाणु जगत में अलग पडे हुए हैं और पडते हैं, इसलिए पुद्गल में परमाणु रूप चौथा भेद होता हैं ।

प्रश्नः- यदि इस प्रकार चार द्रव्यो के स्कंधो में से एक प्रदेश जितना विभाग भी अलग नहीं पड सकता हैं, तो केवल स्कंधरूप एक ही भेद कहना योग्य हैं, परन्तु स्कंध, देश और प्रदेशरूप तीन भेद किस तरह से होंगे ?

उत्तरः- ये चार स्कंधो में पुद्गल परमाणु जितने असंख्य और अनन्त सूक्ष्म अंशो का अस्तित्व समजने (उस अखंड पिंडो के क्षेत्रविभाग को बताने) के लिए ये ३ भेद अति उपयोगी हैं, देश-प्रदेश की कल्पना तो स्कंध में स्वाभाविक हैं, इसलिए शाश्वत संबंधवाले पिंड में ये ३ भेद ठीक तरह से समजे जा सकता हैं ।

प्रश्नः- प्रदेश बडा या परमाणु बडा ?

उत्तरः- प्रदेश और परमाणु दोनों एक समान कद के ही होते हैं । कोई भी छोटा-बडा नहीं है परन्तु स्कंध के साथ प्रतिबद्ध होने से प्रदेश कहा जाता हैं और अलग होने से परमाणु कहा जाता है, इतना ही अंतर है। छोटे से छोटा देश-प्रदेश, परम-छोटे से छोटा अणु-परमाणु ।

पाँच अजीव और उसके स्वभाव :[12] धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल ये पाँच अजीव है । चलने में - गति करने में सहाय देने के स्वभाववाला धर्मास्तिकाय है और स्थिर रहने में सहाय देने के स्वभाववाला अधर्मास्तिकाय हैं, पुद्गलो को तथा जीवो को अवकाश-जगह देने के स्वभाववाला आकाशास्तिकाय है । स्कंध-देश-प्रदेश और परमाणु ये चार प्रकार से ही पुद्गलो को जाने । जैसे मत्स्य को जल में तैरने की शक्ति अपनी हैं, तो भी तैरने की क्रिया में उपकारी कारण (अपेक्षा कारण) जल हैं अथवा चक्षु को देखने की शक्ति हैं, परन्तु प्रकाशरूप सहकारी कारण बिना नहीं देख सकता अथवा पक्षी को उडने की शक्ति अपनी हैं, तो भी हवाके बिना नहीं उड सकता वैसे जीव और पुद्गल में गति करने का स्वभाव हैं, परन्तु धर्मास्तिकाय द्रव्यरूप सहकारी कारण के बिना गति नहीं कर सकता, इसलिए जीव और पुद्गल को गति में सहाय करने के स्वभाववाला इस जगत में एक **धर्मास्तिकाय** नामका अरुपी पदार्थ १४ राजलोक जितना बडा हैं, असंख्य प्रदेश युक्त हैं और वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और शब्द रहित है।

तथा यात्रिक को - मुसाफिर को विश्राम करने में जैसे वृक्षादिक की छाया अपेक्षा कारण हैं, जल में तैरते मत्स्य को स्थिर रहने में अपेक्षा कारण जैसे द्वीप हैं, वैसे गति परिणाम से परिणत हुए जीवो को तथा पुद्गलो को स्थिर रहने में अपेक्षा कारणरूप अधर्मास्तिकाय नाम का एक अरूपी पदार्थ १४ राजलोक जितना बडा है, असंख्य प्रदेशी हैं और वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और शब्द रहित है ।

यहाँ स्थिर रहे हुए जीव-पुद्गल को गति करने में धर्मास्तिकाय की प्रेरणा (अर्थात् गतिमान न होता हो तो भी बलपूर्वक गतिमान करे ऐसा) नहीं है, उपरांत गति करते जीव पुद्गल को स्थिर करने में अधर्मास्तिकायकी प्रेरणा नहीं है, परन्तु जीव - पुद्गल जब जब अपने स्वभाव से गतिमान वा स्थितिमान हो तब तब ये दो द्रव्य केवल उपकारी कारण रूप से ही सहायक होते हैं ।

12. धम्माधम्मा पुग्गल, नह कालो पंच हुंति अज्जीवा, चलणसहावो धम्मो, थिरसंठाणो अहम्मो य ।।९।।
अवगाहो आगासं पुग्गलजीवाण, पुग्गला चउहा, खंधा देस पएसा, परमाणू चेव नायव्वा ।।१०।। (नव. प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भाषा, उच्छ्वास, मन इत्यादि पुद्गलो का ग्रहण, विसर्जन तथा काययोग आदि चलक्रियायें धर्मास्तिकाय के बिना नहीं होती है अर्थात् सर्व चलक्रियायें धर्मास्तिकाय का उपकार हैं और बैठने में, खडे रहने में, चित्त की स्थिरता में इत्यादि प्रत्येक स्थिर क्रियाओं में अधर्मास्तिकाय का उपकार हैं । तथा लोक और अलोक में भी सर्वत्र व्याप्त, वर्ण-गंध-रस-स्पर्श शब्द रहित, अरूपी, अनन्त प्रदेशी और कठिन गोले समान आकारवाला इस जगत में **आकाशास्तिकाय** नामका भी पदार्थ हैं, इस आकाश द्रव्य का गुण धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव और पुद्गलो को अवकाश-जगह देने का हैं । एक स्थान पे स्थिर रहनेवाले को और अन्य स्थान पर गमन करनेवाले को भी यह द्रव्य अवकाश देता है । इस द्रव्य के **लोकाकाश** और **अलोकाकाश** ऐसे दो भेद हैं, यहाँ जितने आकाश में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये दो द्रव्य व्याप्त हुए हो उतने आकाश का नाम **लोकाकाश** है । वह वैशाख संस्थान में संस्थित (अर्थात् कमर पे दो हाथ रखकर और दो पग फैला कर खडे हुए) पुरुषाकार समान हैं और शेष रहा हुआ आकाश वह **अलोकाकाश** खाली गोले समान आकारवाला हैं। अलोक में केवल एक आकाश द्रव्य ही है और लोकाकाश में सर्व द्रव्य हैं, लोकाकाश में धर्मा० और अधर्मा० होने से जीव और पुद्गल आसानी से गमनागमन करते है, परन्तु अलोक में तो इन्द्र समान समर्थ देव भी अपने हाथ पैर का एक अंश मात्र भी प्रवेश नहीं करा सकते हैं, उसका कारण यही कि धर्मा० अधर्मा० लोक के अग्रभाग में जाकर रुक जाते हैं। (उपरांत, धर्मास्ति० - अधर्मा० - लोकाकाश और १ जीव, चार के असंख्य असंख्य प्रदेश हैं, वे तुल्य संख्यावाले हैं, किसी में १ प्रदेश भी हीनाधिक नहीं हैं ।)

तथा प्रतिसमय पूरण (मिलना) - गलन (बिखर जाना) स्वभाववाला पदार्थ वह **पुद्गल** कहा जाता हैं । क्योंकि, यदि स्कंध[13] हो तो उसमें प्रतिसमय नये परमाणु आने से **पूरण** धर्मवाला और प्रति समय पूर्वबद्ध परमाणु बिखर जाने से **गलन** धर्मवाला हैं । कदाचित् कोई स्कंध में अमुक काल तक ऐसा न हो तो भी प्रति समय विवक्षित वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के २० भेद में से कोई भी एक नये भेद का पूरण होना और पूर्व भेद का बिखर जाना तो अवश्य होता ही है । इसलिए वह **पुद्गल** कहा जाता हैं । वह पुद्गल वास्तविक रूप से तो परमाणु रूप है, परन्तु उसके विकार रूप से संख्यप्रदेशी असंख्यप्रदेशी और अनन्तप्रदेशी स्कंध भी बनते है, इसलिए स्कंध विभाव धर्मवाले और परमाणु स्वाभाविक है, वे प्रत्येक भेदवाले अनन्त स्कंध प्रायः जगत में सदाकाल विद्यमान हैं और परमाणु भी अनन्त विद्यमान है ।

तथा **काल** वह वर्तमान एक समयरूप हैं और वह निश्चय से वर्तना लक्षणवाला हैं तथा व्यवहार से भूत-भविष्य रूप भेदवाला भी हैं । उसका विशेष स्वरूप आगे कहा जायेगा ।

६ द्रव्यो में द्रव्यादि ६ मार्गणा :- (१) **धर्मास्तिकाय द्रव्य,** द्रव्य से (संख्या से) १ हैं, क्षेत्र से समग्र लोकाकाश प्रमाण हैं, काल से अनादि अनन्त हैं, भाव से वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और शब्द रहित अरुपी हैं और गुण से गतिसहायक गुणवाला हैं और संस्थान से लोकाकृति तुल्य हैं । (२) इस प्रकार **अधर्मास्तिकाय द्रव्य** भी जानना, परन्तु गुण से स्थिति सहायक गुणवाला हैं । (३) **आकाशास्तिकाय :-** द्रव्य से १ हैं, क्षेत्र से लोकालोक प्रमाण है, काल से अनादि अनन्त हैं, भाव से वर्णादि रहित अरुपी हैं, गुण से अवकाशदान गुणवाला हैं और संस्थान से घन गोले जैसी आकृतिवाला हैं । (४) **पुद्गल** और **पुद्गलस्तिकाय** द्रव्य से अनन्त हैं, क्षेत्र से समग्र लोक प्रमाण हैं । काल से अनादि अनन्त हैं, भाव से वर्ण, गंध, रस स्पर्श और शब्द सहित रूपी हैं, गुण से पूरण-गलन स्वभाववाला (विविध परिणामोवाला) और संस्थान से परिमंडलादि[14] पाँच आकृतिवाला हैं। (५) **जीवास्तिकाय :** द्रव्य से अनन्त, क्षेत्र से समग्र लोक प्रमाण, काल से

13. **स्कन्दन्ते - शुष्यन्ति पुद्गलविघटनेन, धीयन्ते-पुद्गलचटनेनेति स्कन्धाः**- अर्थात् स्कन्ध शब्द में **स्कं** और **ध** ये दो अक्षर - पद हैं, उसमें **स्कं** अर्थात् **स्कन्दन्ते** अर्थात् पुद्गलो के बिखर जाने से सूख जाये और **ध** अर्थात् **धीयन्ते** अर्थात् पुद्गलो के मिलने से पुष्ट हो, वह स्कन्ध शब्द की निर्युक्ति है ।14. चूडी जैसा गोल, थाली जैसा गोल, तीन कोनेवाला, चार कोनेवाला लम्बा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनादि अनन्त, भाव से वर्णादि रहित - अरुपी, गुण से ज्ञान-दर्शनादि गुणयुक्त हैं और संस्थान से शरीरतुल्य विविध आकृतिरूप हैं । (६) **काल द्रव्य** : द्रव्य से अनन्त, क्षेत्र से २।। (ढाई) द्वीप प्रमाण, काल से अनादि अनन्त, भाव से वर्णादि रहित अरुपी और गुण से वर्तनादि पर्यायरूप हैं और संस्थान (सिद्धान्त में नहीं कहा हुआ होने से) नहीं हैं ।

पुद्गल के परिणाम[15] शब्द - अंधकार - उद्योत - प्रभा - छाया - आतप - वर्ण - गंध - रस और स्पर्श - ये पुद्गलो के ही लक्षण (परिणाम) हैं ।

शब्द : शब्द अर्थात् आवाज, ध्वनि, नाद । वह सचित्त, अचित्त और मिश्र ऐसे तीन प्रकार का हैं । जीव मुख द्वारा बोले वह **सचित्त शब्द,** पत्थर इत्यादि पदार्थ के परस्पर टकराने से हो वह **अचित्त शब्द** और जीव के प्रयत्न द्वारा बजते मृदंग आदि का **मिश्र शब्द,** शब्द की उत्पत्ति पुद्गल में से होती है और शब्द स्वयं भी पुद्गलरूप ही हैं । नैयायिक इत्यादि शब्द को आकाश से उत्पन्न हुआ और आकाश का गुण कहते हैं, परन्तु आकाश अरुपी है और शब्द रूपी है, इसलिए शब्द यह आकाश का नहीं परन्तु पुद्गल का गुण है । अथवा पुद्गल का (एक प्रकार का वह भी स्वरूप) लक्षण हैं । शब्द स्वयं ४ स्पर्शवाला है और उसकी उत्पत्ति आठ स्पर्शवाले पुद्गल स्कंध में से ही होती है, परन्तु चतुःस्पर्शी स्कंध मे से नही होती ।

अन्धकार : अंधकार यह भी पुद्गलरूप हैं, शास्त्र में अंधकार को घ्राणेन्द्रिय ग्राह्य कहा हैं, नैयायिक इत्यादि अंधकार को पदार्थ मानते नहीं है । केवल "तेज का अभाव यह अंधकार" ऐसे अभावरूप मानते है, परन्तु श्री सर्वज्ञ प्रभु तो अन्धकार भी पुद्गल स्कंध है ऐसा कहते है, वही सत्य है ।

उद्योत : शीत वस्तु का शीत प्रकाश, वह उद्योत कहा जाता है । सूर्य के सिवा दिखाई देते चन्द्रादि - ज्योतिषी के विमान का, जूगनू इत्यादि जीवो का तथा चन्द्रकान्तादि रत्नो का जो प्रकाश है, वह उद्योत नामकर्म के उदय से है । तथा वह उद्योत जिसमें से प्रकट होता है, वे पुद्गल स्कंध है और उद्योत स्वयं भी पुद्गल स्कंध है ।

प्रभा : चन्द्र, इत्यादि के प्रकाश में से तथा सूर्य के प्रकाश में से जो दूसरा किरण रहित उपप्रकाश पडता है, वह **प्रभा** पुद्गल स्कंध में से प्रकट हुई है और स्वयं भी पुद्गल स्कंधो का समूह हैं । यदि प्रभा न हो तो सूर्य इत्यादि के किरणो का प्रकाश जहाँ पडता हो वहाँ प्रकाश और उसके पास ही के स्थान में अमावस्या की मध्यरात्री समान अंधकार ही हो सके परन्तु उपप्रकाशरूप प्रभा होने से ऐसा नहीं बनता हैं । शास्त्र में चन्द्रादिक की कान्ति को भी प्रभा कही हैं ।

छाया : दर्पण में अथवा प्रकाश में पडता जो प्रतिबिंब वह छाया कहा जाता है । वह बादर परिणामी स्कंधो में से प्रति समय जल के फव्वारे की तरह निकलते आठ स्पर्शी पुद्गल स्कंधो का समुदाय ही प्रकाशादि निमित्त से तदाकार पिंडित हो जाता हैं, उसे छाया कहा जाता है और वह शब्दादिवत् पहले बताये अनुसार दोनों तरह से पुद्गल रूप हैं ।

आतप : शीत वस्तु का उष्ण प्रकाश वह आतप । ऐसा प्रकाश सूर्य के विमान में रहे हुए बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय जीवो के शरीर का होता है और सूर्यकान्तादि रत्न का होता है, क्योंकि सूर्य का विमान और सूर्यकान्त रत्न स्वयं शीत है, और अपना प्रकाश उष्ण है । परन्तु अग्नि का उष्ण प्रकाश वह आतप नहीं कहा जाता, क्योंकि अग्नि स्वयं उष्ण है । उपरांत चन्द्रादिक के उद्योत की तरह यह आतप स्वयं भी अनन्त पुद्गल स्कंधो का समुदाय प्रतिसमय सूर्य के विमान के साथ जो प्रतिबद्ध है, वह है, इसलिए दोनों प्रकार से पुद्गलरूप हैं ।

वर्ण-५ : श्वेतवर्ण, पीतवर्ण, रक्तवर्ण, नीलवर्ण और कृष्णवर्ण ये पाँच मूल वर्ण है । और नीला, गुलाबी, किरमजी आदि जो अनेक वर्ण भेद है, वह ये पाँच वर्ण में से किसी भी एक भेद की तारतम्यतावाले अथवा अनेक वर्णो के संयोग

15. सद्दंधयार उज्जोअ, पभा छायातवेहि अ (इय) । वन्न-गंध-रसा फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ।।२१।। (नव. प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से उत्पन्न हुए जाने । ये वर्ण परमाणु आदि प्रत्येक पुद्गल मात्र में ही होता हैं, इसलिए वर्ण यह पुद्गल का लक्षण हैं । एक परमाणु में १ वर्ण होता है और द्विप्रदेशी इत्यादि स्कंधो में २ से ५ वर्ण यथासंभव होते हैं ।

गन्ध-२ : सुरभिगन्ध और दुरभिगंध प्रसिद्ध है और वह पुद्गल द्रव्य में ही होती है । उपरांत १ परमाणु में १ गंध और द्विप्रदेशी आदि स्कंधो में दो गंध भी यथासंभव होती है ।

रस-५ : तिक्त (तीखा रस), कटु (कडुआ), कषाय (तूरा) आम्ल (खट्टा) और मधुर (मीठा), ये पाँच प्रकार के मूल रस है । यहाँ छट्ठा नमकीन (खारा) रस लोक में प्रसिद्ध है, परन्तु वह मधुर रस में अन्तर्गत जानना । ये रस प्रत्येक पुद्गल मात्र में होते है, इसलिए पुद्गल का लक्षण है । उपरांत १ परमाणु में १ रस और द्विप्रदेशी आदि स्कंधो में २ से ५ रस यथायोग्य होते हैं ।

स्पर्श-८ : शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, लघु, गुरु, मृदु और कर्कश ये आठ स्पर्श है । और वह प्रत्येक पुद्गल द्रव्य मात्र में होते है, इसलिए पुद्गल का लक्षण है । उपरांत एक परमाणु में शीत और स्निग्ध अथवा शीत-रुक्ष अथवा उष्ण-स्निग्ध, अथवा उष्ण और रूक्ष ऐसे चार प्रकार में से कोई भी एक प्रकार के दो स्पर्श होते हैं, सूक्ष्म परिणामी स्कंधो में शीत-उष्ण-स्निग्ध - रूक्ष ये चार स्पर्श होते है और बादर स्कंधो में आठों स्पर्श होते हैं ।

पुद्गल के स्वाभाविक और वैभाविक परिणाम : यहाँ शब्द - अंधकार - उद्योत - प्रभा - छाया - आतप ये बादर परिणामवाले होने से उपरांत बादर पुद्गल समूहरूप होने से उपरांत बादर परिणामी पुद्गल स्कंध में से उत्पन्न हुए होने से, और स्कंध उस पुद्गल का विकार-विभाव होने से, वे अन्धकारादि लक्षण **औपाधिक** (वैभाविक) **लक्षण** जाने, क्योंकि - ये छः लक्षण परमाणु में तथा सूक्ष्म स्कंधों में नहीं है, और वर्ण आदि ४ लक्षण तो परमाणु में तथा सूक्ष्म स्कंधों में भी होते है, इसलिए ये चार **स्वाभाविक परिणाम** जाने । उसमें भी लघु और गुरु तथा मृदु और कर्कश ये चार स्पर्श स्कंध में ही होने से औपाधिक - वैभाविक परिणाम हैं ।

कालका स्वरूप : समय, आवलि, मुहूर्त्त, दिवस, पक्ष, मास, वर्ष, पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्प्पिणी और अवसर्पिणी काल कहा है ।[16]

अति सूक्ष्म काल, कि जिसके केवलि भगवंत की ज्ञानशक्ति द्वारा भी दो भाग सोचे नहीं जा सकते - ऐसा निर्विभाज्य भाग रुप काल वह **समय** कहा जाता हैं । जैसे पुद्गल द्रव्य का सूक्ष्म विभाग परमाणु हैं, वैसे काल का अति सूक्ष्म विभाग समय हैं । आँख की एक झप की में भी असंख्य समय व्यतीत हो जाता हैं । अति जीर्ण वस्त्र त्वरा से फाडने से एक तंतु से दूसरे तंतु तक जो काल लगता हैं, (अथवा एक ही तंतु कटने से जो काल लगता हैं) वह भी असंख्य समय प्रमाण हैं। अथवा कमल के अति कोमल १०० पत्र को एक के उपर एक रखकर अति बलवान् मनुष्य भाले की तिक्ष्ण नोंक से पत्तो को बींधे, तो प्रत्येक पत्र बींधने में और उपर के प्रत्येक पत्र से नीचे के पत्र में भाले की नोंक पहुँचने में प्रत्येक समय असंख्य असंख्य समय काल लगता हैं । जिससे १०० कमल पत्र बींधने में ९९ बार असंख्य असंख्य समय व्यतीत होता हैं । ऐसे अति सूक्ष्म काल का नाम एक समय है, ऐसे असंख्य समयो की १ **आवलिका** होती हैं। ऐसी संख्याती (अर्थात् १६७७७२१६) से कुछ अधिक आवलिओं का १ **मुहूर्त,** मुहूर्त अर्थात् दो घडी । ३० मुहूर्त का १ **दिवस,** १५ दिवस का १ **पक्ष** । दो पक्ष का १ **मास** । १२ मास का एक **वर्ष,** असंख्यात वर्ष का १ **पल्योपम,** २० कोडाकोडि पल्योपम का १ **सागरोपम,** ऐसे १० कोडाकोडि[17] सागरोपम की १ **उत्सर्पिणी** और उतने ही काल की १ **अवसर्प्पिणी,** १ उत्सर्पिणी

16.समयावली मुहूत्ता, दीहा पक्खा य मास वरिसा य । भणिओ पलिया सागर, उस्सप्पिणिसप्पिणी कालो ।।३२।। (नव.प्र.) 17. क्रोड (करोड) को क्रोड से गुनने से कोडाकोडि होता हैं, ऐसा सर्वत्र जानना । जिससे यहाँ १० कोडाकोडी अर्थात् १०,०००००००,०००००००

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और १ अवसर्पिणी ये दो मिलकर १ **कालचक्र** २० कोडाकोडि सागरोपम प्रमाण का होता है । इस प्रकार काल के लक्षण अथवा भेद कहे । ये सर्व भेद व्यवहार काल के जाने । यहाँ उत्सर्पिणी वह चढता हुआ काल और अवसर्पिणी वह उत्तरता काल है । क्योंकि आयुष्य - बल - संघयण - शुभवर्ण - गंध - रस - स्पर्श इत्यादि अनेक शुभ भावो की उत्सर्पिणी में क्रमशः वृद्धि होती रहती है; और अवसर्पिणी में हानि होती जाती हैं ।[18]

कालका विशेष स्वरूप : व्यवहारकाल : व्यवहारकाल और निश्चयकाल ऐसे काल २ प्रकार का हैं, जो २।। द्वीप और २ समुद्र जितने ४५ लाख योजन विष्कंभ - विस्तारवाले मनुष्य क्षेत्र में चन्द्र और सूर्य आदि ज्योतिषीयाँ भ्रमण-गति करती हैं । वह भ्रमण करते सूर्यादिक की गति ऊपर से जो काल का प्रमाण बँधा हुआ हैं, वह **व्यवहारकाल** उपर कहे अनुसार समय आवलिका इत्यादि भेदवाला हैं । ज्योतिष्करंडक ग्रंथ में कहा है कि-

लोयाणमुज्जणीयं, जोइसचक्कं भणंति अरिहंता । सव्वे कालविसेसा, जस्स गइविसेसनिष्फन्ना ।।१।।

अर्थ : जिसकी गतिविशेष द्वारा सभी कालभेद उत्पन्न हुए हैं, उस ज्योतिश्चक्र को श्री अरिहंत भगवंतोने लोक स्वभाव से उत्पन्न हुई गतिवाला कहा है ।।१।। उस व्यवहार काल के विशेष भेद संक्षेप में इस प्रकार हैं -

(१) अविभाज्य सूक्ष्म काल = १ समय
(२) ९ समय = १ जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त
(३) असंख्य समय = १ आवलिका
(४) २५६ आवलिका = १ क्षुल्लकभव
(५) ४४४६ २४५८/३७७३ आवलिका अथवा साधिक १७।। क्षुल्लक भव = १ श्वासोच्छ्वास (प्राण)
(६) ७ प्राण (श्वासो०) = १ स्तोक
(७) ७ स्तोक - १ लव
(८) ३८।। लव = २ घडी
(९) ७७ लव अथवा २ घडी अथवा ६५५३६ क्षुल्लक भव = १ मुहूर्त
(१०) १ समयन्यून २ घडी = १ उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त ।
(११) ३० मुहूर्त्त = १ दिवस (अहोरात्र)
(१२) १५ दिवस = १ पक्ष
(१३) २ पक्ष = १ मास
(१४) ६ मास = १ उत्तरायण अथवा १ दक्षिणायन ।
(१५) २ अयन अथवा १२ मास = १ वर्ष ।
(१६) ५ वर्ष = १ युग ।
(१७) ८४ लाख वर्ष = १ पूर्वांग ।
(१८) ७०५६०००००००० = १ पूर्व ।
(१९) असंख्य वर्ष = १ पल्योपम ।
(२०) १० कोडाकोडि पल्योपम = १ सागरोपम ।
(२१) १० कोडाकोडि सागरोपम = १ उत्सर्पिणी अथवा १ अवसर्पिणी।
(२२) २० कोडाकोडि सागरोपम = १ कालचक्र ।
(२३) अनन्त पुद्गल परावर्तन = भूतकाल
(२४)इसलिए अनन्तगुणा पुद्गल परावर्तन = भविष्यकाल
(२५) १ समय = वर्तमानकाल
(२६) भूत, भविष्य और वर्तमानकाल = संपूर्ण व्यवहार काल

उपरांत यह व्यवहारकाल सिद्धान्त में स्निग्ध तथा रूक्ष ऐसे दो प्रकार से कहा हैं । उपरांत वह एक-एक जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेदवाला होने से छः प्रकार का होता है । रुक्षकाल में अग्नि आदि उत्पत्ति का अभाव होता हैं और स्निग्ध काल में अग्नि आदि की उत्पत्ति होती हैं । वह स्निग्धादि भेद का प्रयोजन हैं ।

निश्चय काल : द्रव्य के वर्तनादि पर्याय वह निश्चयकाल कहा जाता है, वह **वर्त्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व** और **अपरत्व** ऐसे ५ प्रकार का हैं । वहाँ सादिसान्त, सादिअनन्त, अनादि सान्त और अनादि अनन्त ये चार प्रकार की स्थिति में से कोई भी स्थिति में वर्तन करना, होना, रहना, विद्यमान होना; वह **वर्तनापर्याय ।**

18. यहाँ वर्णन किया हुआ कालका सर्व वर्णन व्यवहार काल का जाने । श्री चन्द्रप्रज्ञप्ति, श्री सूर्य प्रज्ञप्ति और श्री ज्योतिष्करंडक आदि शास्त्रो में विशेष से व्यवहारकाल का ही वर्णन बहोत विस्तारपूर्वक किया हुआ हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोग से (जीव प्रयत्न से) और विश्रसा से (स्वभाव से ही) द्रव्य में नये पुरानेपन की जो परिणति होना, वह **परिणामपर्याय** अथवा द्रव्य का और गुण का जो स्वभाव स्वत्व वह **परिणाम**, ऐसा तत्त्वार्थ भाष्य में कहा है । यह परिणाम पर्याय **सादि** और **अनादि** ऐसे दो प्रकार का हैं । उसमें से ४ द्रव्य के गतिसहायकादि स्वभाव अनादि अनन्त परिणामी हैं और पुद्गल का स्वभाव सादि सान्त परिणामी हैं । उपरांत अपवाद के रूप में जीव के जीवत्वादि परिणाम यद्यपि अनादि अनन्त हैं, परन्तु योग और उपयोग ये दो स्वभाव सादि सान्त परिणामी हैं, ऐसा श्री तत्त्वार्थ भाष्य में कहा हैं ।

द्रव्यो की भूतकाल में हुई, वर्तमानकाल में होती और भविष्यकाल में होनेवाली जो चेष्टा, वह **क्रिया पर्याय** हैं । ऐसा लोकप्रकाश में कहा हैं और श्री तत्त्वार्थभाष्य में कहा हैं कि प्रयोग से, विश्रसा से और मिश्रसा से द्रव्यो की जो गति (अर्थात् स्वप्रवृत्ति) वह प्रयोगादि तीन प्रकार का **क्रियापर्याय** हैं ।

जिसके आश्रय से द्रव्य में पूर्वभाव का व्यपदेश हो, वह **परत्व पर्याय** और पश्चात् भाव का व्यपदेश हो वह **अपरत्व पर्याय** कहा जाता हैं । वह परत्वापरत्व पर्याय प्रशंसाकृत, क्षेत्रकृत और कालकृत ऐसे तीन प्रकार से है । उसमें धर्म वह पर (श्रेष्ठ) और अधर्म वह अपर (हीन), ऐसे कथन वह **प्रशंसाकृत परत्वापरत्व,** दूर रहे हुए पदार्थ वह पर और पास में रहा हुआ पदार्थ वह अपर, वह कथन **क्षेत्रकृत् परत्वापरत्व** हैं; तथा १०० वर्षवाला वह पर (बडा) और १० वर्षवाला वह अपर (छोटा), वह कथन **कालकृत् परत्वापरत्व** कहा जाता हैं । वे तीन प्रकार के परत्वापरत्व में केवल कालकृत् परत्वापरत्व वही वर्त्तनादि पर्यायात्मक होने से काल द्रव्य में ग्रहण किया जाता हैं ।

इस प्रकार वर्तना इत्यादि पाँचो पर्याय निश्चयकाल कहा जाता हैं । वे वर्तना इत्यादि यद्यपि द्रव्य के पर्याय हैं, तो भी कोई अपेक्षा से पर्यायो को भी द्रव्य का उपचार होने से **कालद्रव्य** कहा जाता हैं ।

प्रश्न : यदि वर्तनादि पर्याय को द्रव्य कहो, तो अनवस्था दूषण आये, इसलिए काल को भिन्न द्रव्य न मानते हुए, वर्तनादि रूप काल जीवाजीव द्रव्यो का पर्याय ही माने और यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो आकाश की तरह काल को सर्वव्यापी मानना पडेगा, क्योंकि निश्चयकाल तो सर्व आकाशद्रव्य में भी हैं ।

उत्तर : ऐसा कहना वह प्रमाण वचन नहीं है, क्योंकि, सिद्धान्त में अस्तिकाय पाँच ही कहे हैं और छट्ठा कालद्रव्य भिन्न कहा हैं । बहोत प्रदेश हो तो अस्तिकाय कहा जाता है और काल तो बहोत प्रदेशवाला नहीं है, परन्तु वर्तमान से एक ही समय रूप है । उपरांत भूतकाल के समय व्यतीत होने से विद्यमान नहीं हैं । इसलिए द्रव्यो के वर्तनादि पर्याय को उपचार से कालद्रव्य कहे ।

प्रश्न : जो काल वर्तमान एक समयरूप हैं तो काल विनष्टधर्मी कहा जाता हैं (अर्थात् जिसका धर्म नाश होता रहता है ऐसा कहा जाता है) परन्तु काल विनष्टधर्मी नहीं हैं और इसलिए ही व्यतीत हुए और भविष्य के समयो को भी एकठा गिनकर समय, आवलि, मुहूर्त, वर्ष आदि प्ररूपणा हो सकती हैं । इसलिए काल बहु प्रदेशी है और बहु प्रदेशी होने से अस्तिकाय भी कहा जाता है और अस्तिकाय कहा जाये तो काल को पृथक् द्रव्य भी अनुपचार से कहा जाता है, उसमें कुछ विरुद्ध नही हैं ।

उत्तर : यह सत्य है । परन्तु ये तो बादर नय की अपेक्षा से काल स्थिर (अविनष्ट धर्मी) माना जाये और इस प्रकार पदार्थ भी त्रिकालवर्ती अंगीकार किया जाता हैं, तथा आवलिका, मुहूर्त, वर्ष इत्यादि प्ररूपणा होती हैं, परन्तु वे सर्व व्यवहारनय के आधार से हैं, वास्तविक नही हैं । वास्तविक रुप से सोचने से तो निश्चय नय से काल अप्रदेशी हैं, इसलिए काल अस्तिकाय नहीं हैं और इसलिए वास्तविक रूप से द्रव्य नहीं है, परन्तु **गुणाणमासओ दव्वं** - गुणो का जिस में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आश्रय हो उसे द्रव्य कहा जाता है (इस वचन के अनुसार **काल द्रव्य** कहा जाता हैं ।) इसलिए द्रव्य से वर्तनादि लक्षणवाला, क्षेत्र से सर्व क्षेत्रवर्ती, काल से अनादि अनन्त और भाव से वर्ण आदि रहित अरुपी तथा सूर्यादिक की गति द्वारा स्पष्ट पहचाना जाता और घटादिक कार्य द्वारा जैसे परमाणु का अनुमान होता हैं, वैसे मुहूर्तादि द्वारा समय का भी अनुमान किया जाता हैं, ऐसा कालद्रव्य, पाँच अस्तिकाय से भिन्न माने, यही श्री सर्वज्ञ वचन प्रमाण हैं ।

इस प्रकार व्यवहार काल निश्चय से वर्तमान १ समयरूप और व्यवहार से अनन्त समयरूप हैं । उपरांत, तत्त्वार्थ सूत्र में ५ द्रव्य स्वमत से कहकर छठ्ठा काल द्रव्य अन्य[19] आचार्यो के मतानुसार स्वीकार किया हैं। उपरांत काल के उपचार से द्रव्यत्व यह अस्तिकायत्व के अभाव में जानना[20], उपरांत व्यवहारकाल अजीव जाने और निश्चयकाल पाँचो द्रव्यो की वर्तनारूप होने से जीवाजीव जाने ।

छः द्रव्यो का विशेष विचार : परिणामीत्व, जीवत्व, रूपीत्व, सप्रदेशीत्व, एकत्व, क्षेत्रत्व, क्रियात्व, नित्यत्व, कारणत्व, कर्त्तात्व, सर्वव्यापीत्व और इतर में अप्रवेशीत्व ये सर्व छः द्रव्यो के बारे में अब सोचेंगे ।[21]

विशेषार्थ : एक क्रिया से अन्य क्रिया में अथवा एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाना उसे **परिणाम** कहा जाता हैं। इससे विपरित **अपरिणाम** कहा जाता हैं । वहाँ जीव और पुद्गल का परिणाम १०-१० प्रकार का हैं ।[22]

यहाँ जीव देवादित्व छोडकर मनुष्यादित्व और मनुष्यादित्व छोडकर देवादित्व प्राप्त करता है । इस प्रकार एक अवस्था छोडकर दूसरी अवस्था में जानेरूप जीव के १० परिणाम सोचे, उपरांत पुद्गल के भी १० परिणाम यथासंभव सोचे, इस प्रकार जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य **परिणामी** हैं और शेष ४ द्रव्य **अपरिणामी** हैं । तथा जीव द्रव्य स्वयं जीव हैं, और शेष पांच द्रव्य अजीव हैं । तथा छः द्रव्य में पुद्गल द्रव्य रुपी[23] (अर्थात् वर्ण, रस, गंध, स्पर्शवाला) और शेष पाँच द्रव्य अरुपी हैं ।[24] तथा छः द्रव्य में पाँच द्रव्य **सप्रदेशी** (अणु के समूहवाले) है और काल द्रव्य **अप्रदेशी** हैं (अणुओं के पिंडमय नहीं है।) छः द्रव्य में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये तीन द्रव्य एक-एक है और शेष तीन द्रव्य अनंत होने से **अनेक** हैं । छः द्रव्य में आकाशद्रव्य **क्षेत्र** है और शेष पाँच द्रव्य **क्षेत्री** है । यहाँ द्रव्य जिसमें रहा हुआ हो वह क्षेत्र और रहनेवाला द्रव्य क्षेत्री कहा जाता हैं । तथा छः द्रव्य में जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य

19. कालचेत्येके - कोई आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं । अध्याय ५, सूत्र ३८ 20. सर्वेषां द्रव्याणां वर्तनालक्षणो नवीनजीर्णकरणलक्षणः कालः पर्यायद्रव्यमिष्यते, तत्कालपर्यायेषु अनादिकालीनद्रव्योपचारमनुसृत्य कालद्रव्यमुच्यते, अत एव पर्यायेण द्रव्यभेदात् तस्य कालद्रव्यस्यानन्त्यम् (द्रव्यानुयोग तर्कणा, अध्याय-१०) इत्यादि अनेक पाठ में उपचारो से द्रव्य सिद्ध किया हैं, परन्तु अस्तिकायरूप वास्तविक द्रव्यत्व नहीं कहा है । 21. परिणामि जीव मुत्तं, सपएसा एग खित्त किरिया च । णिच्चं कारण कत्ता, सव्वगय इयर अप्पवेसे ।।१८।। 22. प्रत्येक परिणाम के उत्तर भेद के नाम तथा स्वरूप श्री पन्नवणाजी सूत्र में से जाने, वह संक्षेप में इस प्रकार से,

१० जीव परिणाम : १. गति परिणाम (देवआदि ४) २. इन्द्रियपरिणाम (स्पर्शनादि ५), ३. कषाय परिणाम (क्रोधादि ४), ४. लेश्या परिणाम (कृष्णादि ६), ५. योग परिणाम (मनोयोगादि ३), ६. उपयोग परिणाम (मत्यादि १२), ७. ज्ञान परिणाम (मत्यादि ८), ८. दर्शन परिणाम (चक्षुर्दर्शनादि-४), ९. चारित्र परिणाम (सामायिकादि ७), १०. वेद परिणाम (स्त्रीवेदादि ३) ।

१० पुद्गल परिणाम : १. बंध परिणाम (परस्पर संबंध होना वह, २ प्रकार से) २. गति परिणाम (स्थानान्तर होना वह, २ प्रकार से) ३, संस्थान परिणाम (आकार में व्यवस्थित रखना वह ५ प्रकार से) ४. भेद परिणाम (स्कंध से अलग पडना वह, ५ प्रकार से) ५. वर्ण परिणाम (वर्ण उपजना वह, ५ प्रकार से), ६. गंध परिणाम (गंध उपजना वह, २ प्रकार से) ७. रस परिणाम (रस उपजना वह, ५ प्रकार से) ८. स्पर्श परिणाम (स्पर्श उपजना वह ८ प्रकार से) ९. अगुरुलघु परिणाम (गुरुत्व आदि उपजना वह, ४ प्रकार से) १०. शब्द परिणाम (शब्द उपजना वह, २ प्रकार से) 23. **वर्ण, गंध, रस और स्पर्श ये चार का सामुदायिक नाम रूप है ।** इसलिए ये चार जिन में हो वह रूपी । 24. जीवतत्त्व में जीव रूपी कहा और यहाँ अरुपी में गिना उसका कारण वहाँ देहधारी जीव के १४ भेद की अपेक्षा से रुपी कहा हुआ है और यहाँ जीवद्रव्य के मूल स्वरूप के विषय में अरुपी कहा है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रियावंत है । और शेष चार द्रव्य **अक्रियावंत** हैं । यहाँ क्रिया वह गमन आगमन इत्यादि जाने । धर्मास्तिकायादि चारो द्रव्य सदाकाल स्थिर स्वभावी है इसलिए अक्रिय है । अपने-अपने स्वभाव की प्रवृत्तिरूप क्रिया में तो सभी द्रव्य सक्रिय माने जाते है, परन्तु वह सक्रियत्व यहाँ अंगीकार न करे । तथा छः द्रव्य में जीव और पुद्गल भिन्न भिन्न अवस्थायें प्राप्त करते होने से एक स्वरूप में रहते नहीं है, इसलिए ये दो द्रव्य **अनित्य** है और शेष चार द्रव्य सदाकाल अपने स्वरूप में स्थिर रहते होने से नित्य है, यद्यपि प्रत्येक द्रव्य उत्पत्ति, विनाश और ध्रुव ये तीन स्वभाव से युक्त होने से नित्यानित्य हैं, तो भी अपनी अपनी स्थूल अवस्थाओं के विषय में यहाँ नित्यत्व और अनित्यत्व सोचना हैं । तथा छः द्रव्य में धर्मास्तिकायादिक पाँच द्रव्य **कारण** हैं, और १ जीवद्रव्य **अकारण** हैं । यहाँ जो द्रव्य अन्य द्रव्य के कार्य में उपकारी-निमित्तभूत हो वह **कारण** और वह कारणद्रव्य जिस द्रव्य के कार्य में निमित्तभूत हुआ हो वह द्रव्य **अकारण** कहा जाता है । जैसे कुंभकार के कुंभकार्य में चक्र, दंड आदि द्रव्य कारण और कुंभकार स्वयं अकारण हैं, वैसे जीव के गति आदि कार्य में धर्मास्तिकाय इत्यादि और योग आदि कार्य में पुद्गल वह उपकारी कारण है । परन्तु धर्मास्तिकाय इत्यादि को जीव उपकारी नहीं है । इस प्रकार कारण-अकारण भावना विचार करे । तथा छः द्रव्य में जीव द्रव्य **कर्ता** और शेष पाँच द्रव्य **अकर्ता** हैं । यहाँ जो द्रव्य अन्य द्रव्य की क्रिया के प्रति अधिकारी (स्वामी) हो उसे **कर्ता** कहा जाता है, अथवा अन्य द्रव्यो का उपभोग करनेवाला द्रव्य **कर्ता** और उपभोग में आनेवाले द्रव्य वे **अकर्ता** कहे जाते हैं । तथा धर्म, कर्म, पुण्य, पाप आदि क्रिया करनेवाला वह कर्ता और धर्म, कर्म आदि नहीं करनेवाला वह अकर्ता ऐसा भी शास्त्र में कहा है। तथा छः द्रव्य में आकाशद्रव्य लोकालोक प्रमाण सर्व व्याप्त होने से **सर्वव्यापी** हैं और शेष पाँच द्रव्य लोकाकाश में ही होने से **देशव्यापी** हैं । तथा सर्व द्रव्य यद्यपि एक दूसरे में परस्पर प्रवेश करके एक ही स्थान में रहे हुए है, तो भी कोई द्रव्य अन्य द्रव्य रुप में नहीं होता है । अर्थात् धर्मास्तिकाय वह अधर्मास्तिकाय नहीं होता हैं, जीव वह पुद्गल स्वरूप नहीं होता है, इत्यादि प्रकार से सर्व द्रव्य अपने अपने स्वरूप में रहते हैं, परन्तु अन्य द्रव्य रूप में नहीं होते है । उस कारण से सभी द्रव्य **अप्रवेशी** है, परन्तु कोई द्रव्य **सप्रवेशी** नहीं है । यहाँ प्रवेश अर्थात् अन्य द्रव्य रुप से होना वह समझे ।

इस प्रकार छः द्रव्य का परिणामि आदि विशेष स्वरूप कहा ।

- **धर्मास्तिकाय,** यदि न हो तो जीव और पुद्गल गति नहीं कर सकते अथवा गति कर सके ऐसा माने तो, अलोक में भी गति कर सकेंगे, परन्तु अलोक में तो एक तिनके जितना भी नहीं जा सकता है । - **अधर्मास्तिकाय** न हो तो जीव और पुद्गल गति ही किया करे, स्थिर न रह सके और दोनों न हो तो लोक और अलोक की व्यवस्था न रहे, लोक की व्यवस्था तो कोई न कोई रुप में करनी तो पडेगी ही । - **आकाशास्तिकाय** न हो तो, अनन्त जीव और अनन्त परमाणु और उनके स्कंध अमुक स्थान में नहीं रह सकेंगे, एक तसु में एक लकडी रह सके और उतनी ही जगह में उतना सोना ज्यादा भारी होने पर भी वहाँ रह सकता है, वह आकाशास्तिकाय के कारण । - जीवास्तिकाय - न हो तो, जिस तरह से यह जगत् दिखता है, उस तरह से नहीं दिखाई देता । - **पुद्गलास्तिकाय** भी न हो तो जिस तरह से यह जगत् दिखाई देता है, उस तरह से नहीं दिखाई देता । - **काल** न हो तो, प्रत्येक काम एक साथ करने पडते, या नहीं कर सकते । तब कालद्रव्य क्रम करा देता हैं ।

(२) पुण्य तत्त्व : पुण्य - शुभ कर्मो का बंध । वे शुभ कर्म ४२ है, उसे **पुण्य तत्त्व** कहा जाता हैं और उसका उदय होने से शुभ कर्म रुप में पुण्य भुगता जाता हैं । पुण्य के कारण वे शुभ आश्रव कहे जाते हैं और वे भी पुण्य बंध के कारण होने से पुण्य कहे जाते है । **उसके नौ प्रकार नीचे बताये अनुसार हैं :-**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१. पात्र को अन्न देने से, २. पात्र को पानी देने से, ३. पात्र को स्थान देने से ४. पात्र को शयन देने से ५. पात्र को वस्त्र देने से ६. मन के शुभ संकल्परूप व्यापार से ७. वचन के शुभ व्यापार से ८. काया के शुभ व्यापार से ९. देव-गुरु को नमस्कार इत्यादि करने से

श्री तीर्थंकर भगवंत से लेकर मुनि महाराज तक के महात्मा पुरुष **सुपात्र,** धर्मी गृहस्थ **पात्र,** उपरांत अनुकम्पा करने योग्य अपाहिज आदि जीव भी **अनुकम्प्य पात्र** और शेष सर्व **अपात्र** माने, यह पुण्यतत्त्व मुख्यतः गृहस्थ को ही उपादेय है। इसलिए मोक्ष की आकांक्षा से पूर्वोक्त ९ प्रकार से दान आदिक मोक्ष को अनुकूल कार्य करे । स्वपर हितार्थ जिनेन्द्र शासन की प्रभावना करे, शक्ति हो तो शासनद्रोही को भी योग्य शिक्षा से निवारे, विवेकपूर्वक अनेक देवमंदिर बनवायें, अनेक जिनेन्द्र प्रतिमायें भरायें, श्री जिनेन्द्र प्रभु के चैत्य के निर्वाह अर्थ विवेकपूर्वक देवद्रव्य की वृद्धि करे, अनेक पौषधशालायें रचे, श्री जिनेन्द्र की महापूजा करे, स्वाभाविक रुप से दुःखी हुए साधर्मिक बंधुओं को तत्काल और परिणामतः धर्म पोषक हो उस प्रकार विवेकपूर्वक सहाय करके सम्यग् मार्ग में स्थिर रखना, इत्यादि प्रकार से यह जीव **पुण्यानुबन्धि पुण्य** उपार्जन करता है, वह पुण्यानुबन्धि पुण्य मोक्षमार्ग में मार्गदर्शक समान हैं । पंचाग्नि तपश्चर्या इत्यादि अज्ञान कष्ट से भी यद्यपि पुण्य उपार्जन होता हैं, परन्तु एक ही भव में सुख देनेवाले और परंपरा से संसार वृद्धि करानेवाले होने से तात्त्विक पुण्य नही हैं । अब इस नौ प्रकार के निमित्तो से बयालीस प्रकार से पुण्य बंधता है। वे प्रकार देखेंगे ।

पुण्य के ४२ प्रकार : (१) सुख का अनुभव करानेवाला कर्म **सातावेदनीयकर्म,** (२) उत्तम वंश कुल जाति में जन्म करानेवाला कर्म **उच्चगोत्रकर्म,** (३) मनुष्यपन के संजोग देनेवाला कर्म **मनुष्य गति नामकर्म,** (४) मनुष्यगति तरफ खिंच जानेवाला कर्म **मनुष्यानुपूर्वीनामकर्म,** (५) देवत्व के संजोग दिलानेवाला कर्म **देवगति नामकर्म,** (६) देवगति की ओर खींचनेवाला कर्म **देवानुपूर्वी नामकर्म,** (७) पाँच इन्द्रिय की जाति दिलानेवाला कर्म **पञ्चेन्द्रिय शरीर नामकर्म,** (८) औदारिक शरीर दिलानेवाला कर्म **औदारिक शरीर नामकर्म,** (९) वैक्रिय शरीर दिलानेवाला कर्म **वैक्रिय शरीर नामकर्म,** (१०) आहारक शरीर दिलानेवाला कर्म **आहारक शरीर नामकर्म,** (११) तैजस शरीर दिलानेवाला कर्म **तैजस शरीरनामकर्म,** (१२) कार्मण शरीर दिलानेवाला कर्म **कार्मण शरीरनामकर्म,** (१३) औदारिक शरीर में अंगोपाग दिलानेवाला **औदारिक अंगोपांग नामकर्म,** (१४) वैक्रिय शरीर में अंगोपांग दिलानेवाला **वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग नामकर्म,** (१५) आहारक शरीर में अंगोपांग दिलानेवाला **आहारक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म,** (१६) हड्डीयो का मजबूत से मजबूत शरीराकार दिलानेवाला कर्म **वज्रऋषभ नाराच संहनन नामकर्म,** (१७) शरीर का उत्तमोत्तम आकार दिलानेवाला **समचतुरस्र संस्थान नामकर्म** ।[25] (१८-२१) श्वेत, रक्त और पीत ये ३ शुभवर्ण हैं, सुरभिगंध वह शुभगंध हैं । आम्ल, मधुर और कषाय ३ शुभरस हैं, तथा लघु, मृदु, उष्ण और स्निग्ध ये ४ शुभ स्पर्श हैं, इसलिए जिनका शरीर, ये शुभवर्णादि युक्त हो वह पुण्य का उदय कहा जाता हैं तथा (२२) जीव को अपना शरीर लोहे के समान अति भारी और वायु समान अति लघु हलका नहीं लगता वह **अगुरुलघु,** तथा (२३) सामनेवाला पुरुष बलवान हो तो भी जिसकी आकृति देखकर निर्बल हो - क्षोभ पाये, ऐसा तेजस्वी वह **पराघात** के उदय से होता है (२४) जिससे सुखपूर्वक श्वासोच्छ्वास लिये जाये वह **श्वासोच्छ्वास** । (२५) स्वयं शीत फिर भी जिनका प्रकाश उष्ण हो वह सूर्यवत् **आतप,** (२६) स्वयं शीतल और जिनका प्रकाश भी शीतल वह चन्द्र प्रकाशवत् **उद्योत,** (२७) वृषभ (बैला), हंस तथा हस्ति (हाथी) आदिक की तरह सुन्दर धीमी-चाल हो वह **शुभविहायोगति** (२८) अपने शरीर के अवयव यथार्थ स्थान पर रचे जाये वह **निर्माण** (२९-३८) जिससे त्रस इत्यादि दश शुभभाव की प्राप्ति (जो आगे कही जायेगी)

25. सा उच्चगोअ मणुदुग, सुरदुग पंचिंदिजाइ पणदेहा, आइतितणूणुवंगा, आइमसंघयणसंठाणा ।।१५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो वह **त्रसदशक** तथा (३९) देवआयुष्य, (४०) मनुष्य आयुष्य और (४१) तिर्यंच आयुष्य की प्राप्ति ये ३ **शुभआयुष्य** और (४२) जिससे तीनो जगत् के पूज्य पदवीवाला केवलित्व प्राप्त हो वह **तीर्थंकरत्व** ये सर्व पुण्य तत्त्व के भेद हैं ।[26]

त्रस दशक : अब पहले बताये हुए त्रसदशक देखेंगे । (१) चल फिर सकने के योग्य शरीर की प्राप्ति हो वह **त्रस-पन** (२) इन्द्रियगोचर हो सके ऐसे स्थूल शरीर की प्राप्ति हो वह **बादर-पन** (३) स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण हो सके, वह **पर्याप्त-पन** (४) जिससे एक शरीर की प्राप्ति (एक जीव को) हो वह **प्रत्येक-पन** (५) हड्डी, दाँत इत्यादि अवयवो को स्थिरता-दृढता प्राप्त हो वह **स्थिर-पन,** (६) नाभि से उपर के अवयव शुभ प्राप्त हो वह **शुभ-पन,** (७) उपकार नहीं करने पर भी सर्व जनको प्रिय हो वह **सौभाग्य** (८) कोकिल समान मधुर स्वर प्राप्त हो वह **सुस्वर**, (९) युक्तिविकल (अयुक्त) वचनो का भी लोक आदरभाव करे वह **आदेय** और (१०) लोक में यश:कीर्ति हो वह **यश:**, ये सर्व दिलानेवाले - जिससे ये सर्व मिले, उसे त्रसनाम कर्म इत्यादि कर्म कहे जाते हैं । इस प्रकार त्रस आदि १० भेद पुण्यतत्त्व में है ।[27]

इस पुण्यतत्त्व में १ वेदनीय - १ गोत्रकर्म और ३ आयुष्य कर्म और ३७ नामकर्म के भेद हैं ।

अब यहाँ पहले प्रयोजित किये हुए आनुपूर्वी इत्यादि शब्दो के अर्थ देखेंगे ।

आनुपूर्वी - एक भव में से दूसरे भव में आनुपूर्वी अनुसार-आकाश प्रदेश की श्रेणी के क्रमानुसार - जब जीव जाता है, तब जो कर्म उदय में आता है, उसका नाम भी **आनुपूर्वी नामकर्म** कहा जाता हैं । जीव कोई बार सीधा दूसरे भव में जाता हैं, और कोई बार उसको आकाश प्रदेशो की श्रेणी में कोने (वक्रता) करने पडते हैं । वक्रता करते वक्त यह कर्म उदय में आता हैं और जो गति में उत्पन्न होनेवाला होता है, वहाँ पहुँचने तक उदय में रहते हैं ।

गति - मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक को लायक भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ वह मनुष्यादि गति कही जाती है । वह दिलानेवाला कर्म को उस उस गति नाम कर्म कहा जाता है ।

जाति - जगत् में रहे हुए प्रत्येक जीवो के बाह्य आकार और बाह्य सामग्री को सुधार पर वर्गीकरण करने से मुख्य पाँच वर्ग हो सकते हैं, उन वर्गो का नाम जाति हैं । वे एकेन्द्रियादि जाति है । उसमें से कोई भी जाति दिलानेवाला कर्म जातिनाम कर्म कहा जाता हैं ।

औदारिक - औदारिक वर्गणा का बना हुआ और मोक्ष में खास उपयोगी होने से उदार - अर्थात् औदारिक शरीर, हमारा तथा तिर्यंच का शरीर ऐसा माना जाता हैं । वह शरीर दिलानेवाला कर्म वह औदारिक शरीर नाम कर्म हैं ।

वैक्रिय - वैक्रिय वर्गणा का बना हुआ और विविध प्रकार की क्रिया में समर्थ ऐसा जो देव और नारको का शरीर, वह वैक्रिय शरीर । वह दिलानेवाला कर्म वह वैक्रिय शरीर नामकर्म ।

आहारक - आहारक वर्गणा का बना हुआ और चौदह पूर्वधरने शंका पूछने या तीर्थंकरादि की ऋद्धि देखने एक हाथ प्रमाण का, तत्काल पुद्गलो का आहरण करके बनाया हुआ, वह **आहारक शरीर** और वह दिलानेवाला कर्म वह आहारक शरीरनाम कर्म ।

तैजस् - तैजस् वर्गणा का बना हुआ और शरीर में गर्मी रखनेवाला, नजर से नहीं दिखाई देनेवाला प्रत्येक जीव के साथ अनादिकाल से जुडा हुआ शरीर वह तैजस शरीर और उसे दिलानेवाला कर्म वह तैजस् शरीर नामकर्म ।

---

26. वन्नचउक्कागुरुलहु, पराघाउस्सास आयुवुज्जोअं सुभखगईनिमिणतसदस, सुरनरतिरिआउ तित्थयरं ।।१६।। (नव.प्र.)

27. तस बायर पज्जत्तं, पत्तेअं थिरं सुभं च । सुभगं च सुस्सर आइज्ज जसं, तसाइदसगं इमं होइ ।।१७।। (नव.प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कार्मण - कार्मण वर्गणा का बना हुआ, वह आठ कर्मो के समूहरूप कार्मण शरीर माना जाता हैं और उसे दिलानेवाला कर्म वह - कार्मण शरीर नामकर्म कहा जाता हैं । कार्मण शरीर नामकर्म न हो तो, जीव को कार्मण वर्गणा ही नहीं मिल सकेगी और वह कार्मण शरीर ही आठ कर्मो की वर्गणा के रूप में बाँटा हुआ हैं ।

अंगोपांग-दो हाथ, दो पैर, मस्तक, पेट, पीठ, हृदय ये आठ अंग, ऊँगलीयाँ इत्यादि उपांग है और रेखायें इत्यादि अंगोपांग कहे जाते हैं । उसे दिलानेवाला कर्म वह अंगोपांग नामकर्म कहा जाता है । पहले तीन शरीर को अंगोपांग होते हैं । शेष सभी को नहीं होते है, इसलिए अंगोपांग कर्म तीन है ।

वज्रऋषभ नाराच संघयण - संहनन छः है । संहनन अर्थात् हड्डीयों का गट्ठा । वज्र - किला, ऋषभ-पट्टा, नाराच दोनो हाथ की ओर मर्कटबंध ।

दोनों हाथ से दोनों हाथ की कलाई को परस्पर पकडे तो मर्कटबंध कहा जाता हैं । उसके उपर लोहे का पट्टा लगायें और उसमें किला मारे, ऐसा करने से जैसी मजबूती हो ऐसा मजबूत हड्डीयों का गट्ठा, वज्र ऋषभ नाराच संहनन कहा जाता है । ऐसा मजबूत गट्ठा दिलानेवाला कर्म वज्र ऋषभ नाराच संहनन नामकर्म कहा जाता हैं ।

समचतुरस्र संस्थान - अर्थात् आकृति वह भी छः हैं । सम-समान, चतुः - चार, अस्र - कोने । जो आकृति में चार कोने समान हो, वह समचतुरस्र संस्थान । चार कोने - १. पद्मासन में बैठे हुए मनुष्य के बाये घूटने से दाया कन्धा । २. दांये घूटने से बायाँ कन्धा । ३. दो घूटने के बीच का अंतर और ४. आसन के मध्य से ललाट तक । इस संस्थान वाले शरीर से जगत में कोई भी ज्यादा सुंदर शरीर न हो उसके शरीर की अद्‌भुत सुंदरता होती हैं, उसे समचतुरस्र संस्थान कहा जाता है । उसे दिलानेवाला कर्म वह समचतुरस्र संस्थान कर्म । बाकी के पाँच पाँच संस्थान और संघयण पापतत्त्व में आयेंगे ।

(४) पापतत्त्व : जैसे पुण्य बाँधने के ९ प्रकार पहले कहे, वैसे यहाँ पाप बांधने के १८ प्रकार हैं, उसे १८ पापस्थानक कहे जाते हैं और वह प्राणातिपात (हिंसा), मृषावाद (असत्य), अदत्तादान (चोरी), मैथुन (स्त्रीसंग) और परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशून्य, रति-अरति, मायामृषावाद, परपरिवाद (निंदा) और मिथ्यात्व है। इस प्रकार १८ कारणो से ८२ प्रकार से बँधा हुआ पाप ८२ प्रकार से भुगता जाता हैं, वे ८२ प्रकार कर्म के भेदरूप हैं, वह इस प्रकार से है -

(१) पाँच इन्द्रिय और मन द्वारा नियत (अमुक) वस्तु का ज्ञान वह मतिज्ञान और उसको आच्छादन करनेवाला कर्म **मतिज्ञानावरणीय कर्म,** (२) शास्त्र को अनुसरण करता हुआ सद्‌ज्ञान वह श्रुतज्ञान और उसका आच्छादन करनेवाला **श्रुतज्ञानावरणीय कर्म,** (३) इन्द्रिय और मन के बिना आत्मा को रुपी पदार्थ का जो साक्षात् ज्ञान हो, वह अवधिज्ञान और उसे आच्छादन करनेवाला **अवधिज्ञानावरणीय कर्म,** (४) ढाई द्वीप में संज्ञि पंचेन्द्रिय के मनोगत भाव जानना वह मनःपर्यवज्ञान और उसे आच्छादन करनेवाला **मनःपर्यवज्ञानावरणीय कर्म** तथा (५) तीनो काल के सर्व पदार्थो के भाव एक समय में जाने जाये, वह केवलज्ञान और उसे आच्छादन करनेवाला कर्म **केवलज्ञानावरणीय कर्म,** ये पाँच कर्म के उदय से आत्मा के ज्ञानगुण का रोध (रुकावट) होता है, इसलिए ये पाँचो कर्म के बंध वह पाप के भेद हैं । (६) जिसके द्वारा देने योग्य वस्तु हो, दान का शुभ फल जानता हो और दान लेनेवाले सुपात्र की भी प्राप्ति हुई हो, फिर भी दान न दिया जा सके, वह **दानान्तराय कर्म,** तथा (७) दातार मिला हो, लेने योग्य वस्तु हो, विनय से याचना की हो फिर भी वस्तु की प्राप्ति जो कर्म से न हो वह **लाभान्तराय कर्म,** (८-९) जिससे भोग्य तथा उपभोग्य सामग्री विद्यमान हो तो भी भुगते न जा सके, वह **भोगान्तराय कर्म** तथा **उपभोगान्तराय कर्म,** यहाँ एकबार भुगतने योग्य आहारादि वह **भोग्य** और बार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बार भुगतने योग्य स्त्री आभूषण आदि **उपभोग्य** कहे जाते हैं तथा (१०) जिससे बल न हो और हो तो उपयोग में न आ सके वह **वीर्यान्तराय** कर्म, ये पाँचो पापकर्म के भेद है ।[28] (११) जिससे चक्षुर्दर्शन का (चक्षुः-इन्द्रिय की शक्ति का) आच्छादन हो वह **चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म** (१२) जिससे चक्षुः के सिवा शेष ४ इन्द्रिय तथा १ मन ये पाँच की शक्ति का आच्छादन हो, वह **अचक्षुर्दर्शनावरणीय,** (१३) जिससे अवधिदर्शन आच्छादन हो, वह **अवधिदर्शनावरणीय,** (१४) जिससे केवलदर्शन आच्छादन हो, वह **केवलदर्शनावरणीय,** (१५) जिससे सुख से जाग्रत हो जाये ऐसी अल्पनिद्रा वह **निद्रा,** (१६) दुःख से जाग्रत हो जाये ऐसी अधिक निद्रा वह **निद्रानिद्रा** (१७) बैठे बैठे और खडे खडे निंद आये वह **प्रचला,** (१८) चलते-चलते निद्रा आये वह **प्रचला-प्रचला** और (१९) जो निद्रा में जीव दिन में चिंतन किया हुआ कार्य करे ऐसी - प्रथम संघयणी को वासुदेव से अर्ध बलवाली और वर्तमान में सात आठ गुने बलवाली निद्रा वह **थीणद्धि**[29] **(स्त्यानर्द्धि)** निद्रा कही जाती है । ये ४ दर्शनावरण और ५ निद्रा मिलकर ९ भेद दर्शनावरणीय कर्म के हैं । (२०) जिससे नीच-कुल जाति वंश में उत्पन्न हुआ जाये वह **नीचगोत्र कर्म,** (२१) जिससे दुःख का अनुभव हो वह **अशातावेदनीय कर्म,** (२२) जिससे सर्वज्ञ भगवंतने कहे हुए मार्ग से विपरीत मार्ग की श्रद्धा हो, वह **मिथ्यात्व मोहनीय कर्म** । (२३-३२) जिससे स्थावर इत्यादि १० भेद की-भाव की प्राप्ति हो वह **स्थावर दशक** (३३-३५) जिससे **नरकगति,** नरक की **आनुपूर्वी** और **नरकआयुष्य** की प्राप्ति हो, वह **नरकत्रिक** (३६-६०) जिससे २५ कषाय की प्राप्ति हो वे २५ **कषायमोहनीय**[30] और (६१-६२) जिससे **तिर्यंचगति** तथा तिर्यंच की **आनुपूर्वी** प्राप्त हो वह[31] **तिर्यग्द्विक,** (६३) पृथ्वीकाय आदिक एकेन्द्रियत्व की प्राप्ति वह **एकेन्द्रिय जाति,** (६४) शंख आदि द्वीन्द्रियत्व की प्राप्ति वह **द्वीन्द्रिय जाति,** (६५) जुआँ, खटमल आदि त्रीन्द्रियत्व की प्राप्ति वह **त्रीन्द्रिय जाति,** (६६) तीतली, बिच्छू आदिक चतुरिन्द्रियत्व की प्राप्ति वह **चतुरिन्द्रिय जाति,** (६७) ऊँट तथा गर्दभ समान अशुभ चाल वह **अशुभ विहायोगति,** (६८) प्रतिजिह्वा, रसौली, दीर्घदन्त आदि अपने अवयव द्वारा ही स्वयं दुःख पाये अथवा जल में झंझापात, पर्वत के शिखर से पात और फाँसे आदिक से आपघात करना = होना उसे **उपघात** कहा जाता है । इत्यादि दिलानेवाले बँधे हुए वे सर्व कर्म पापतत्त्व समजे । (६९) जिससे (शरीर में) कृष्णवर्ण और नीलवर्ण प्राप्त हो यह **अशुभवर्ण नामकर्म** (७०) दुरभिगंध वह **अशुभगंध** (७१) तीखा और कडुआ रस वह **अशुभरस** (७२) गुरु-कर्कश-शीत तथा रुक्ष ये ४ **अशुभ स्पर्श** है और अशुभ वर्णादि चार पाप कर्मप्रकृतियाँ बंधने से अप्रशस्त वर्णचतुष्क उदय में आता हैं । (७३) तथा पहले संघयण के बिना ५ संघयण की प्राप्ति, वह इस प्रकार, जिसके हड्डीओं की संधियाँ (जोड) हो पास में मर्कटबन्धवाली हो और ऊपर हड्डी का पट्टा हो, परन्तु हड्डी किल न हो, ऐसा आकार वह **ऋषभनाराच** (७४) केवल दो मर्कटबंध हो और पट्टा, किल न हो वह **नाराच** (७५) एक ओर मर्कटबंध हो और किल भी न हो वह **अर्धनाराच** (७६) केवल किल हो वह **किलिका** और (७७) हड्डी के दो छोर केवल छूकर रहे हो वह **छेदस्पृष्ट** अथवा **सेवार्त्त** संघयण कहा जाता है । बंधे हुए ये पाँचो पापप्रकृति के उदय से प्राप्त होता हैं ।

---

28. नाणंतरायदसगं, नव बीए नीअसाय मिच्छत्तं । थावरदसनिरय तिगं, कसाय पणबीस तिरियदुगं ॥१८॥ (नव.प्र.) 29. इति द्रव्यलोक प्रकाशे, कर्मग्रंथ बालवबोध में २-३ गुना बल भी कहा हैं ।

30. (१) ४ अनंतानुबंधि - क्रोध - मान-माया-लोभ, (५) २ हास्य-रति
(२) ४ अप्रत्याख्यानीय क्रोध - मान-माया-लोभ, (६) २ शोक-अरति
(३) ४ प्रत्याख्यानीय क्रोध - मान-माया-लोभ, (७) २ भय - जुगुप्सा
(४) ४ संज्वलन क्रोध - मान-माया-लोभ, (८) ३ वेद, ये २५ कषाय का विशेष स्वरूप पहले कर्मग्रंथ से जाने ।

31. तिर्यंग की गति तथा आनुपूर्वी पाप में हैं और आयुष्य पुण्य में हैं, उसका कारण यह हैं कि - तिर्यंच को जीने की अभिलाषा होती है, परन्तु तिर्यंच को अपनी गति और आनुपूर्वी इष्ट नहीं हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा पहले संस्थान से अतिरिक्त ५ संस्थान इस प्रकार है - (७८) न्यग्रोध अर्थात् वटवृक्ष, उसकी तरह नाभि के उपर का भाग लक्षण युक्त और नीचे का भाग लक्षण रहित वह **न्यग्रोध संस्थान,** (७९) नाभि के नीचे का भाग लक्षणयुक्त और उपर का भाग लक्षण रहित वह **सादि संस्थान** (८०) हाथ-पैर-मस्तक और कटि (कमर) ये चार लक्षण रहित हो और उदर इत्यादि लक्षणयुक्त हो वह **वामन संस्थान** (८१) इससे विपरीत हो, वह **कुब्ज संस्थान** और (८२) सर्व अंग लक्षण रहित हो, वह **हुंडक संस्थान,** ये पाँचो संस्थान, बंधे हुए तत् तत् पापकर्म के उदय से प्राप्त होते हैं ।(32)

इस पापतत्त्व के ८२ भेद में ५ ज्ञानावरणीय ९ दर्शनावरणीय, १ वेदनीय, २६ मोहनीय, १ आयुष्य, १ गोत्र, ५ अन्तराय और ३४ नामकर्म के भेद हैं । उस पापतत्त्व के ८२ और पुण्यतत्त्व के ४२ भेद मिलकर १२४ कर्मभेद होते हैं, परन्तु वर्णचतुष्क दोनो तत्त्व में गिनने से १ वर्णचतुष्क के बाद शेष १२० कर्म का बंध इन दोनों तत्त्व में संग्रहित किया है। इसलिए बँधी हुई शुभ-अशुभ कर्म प्रकृति पुण्य-पापतत्त्व हैं ।

स्थावरदशक : पहले बताये हुए स्थावरदशक के नाम इस प्रकार हैं - जिससे चलने फिरने की शक्ति का अभाव अर्थात् एक स्थान पर स्थिर रहना प्राप्त हो वह **स्थावर,** जिससे इन्द्रिय के विषय में न आये ऐसा सूक्ष्मत्व प्राप्त हो वह **सूक्ष्म,** जिससे स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न हो वह **अपर्याप्त,** जिससे अनन्त जीवो के बीच एक ही शरीर प्राप्त हो वह **साधारण** अर्थात् निगोदपन प्राप्त हो । तथा जिससे भ्रू-जिह्वा आदि अस्थिर अवयवो की प्राप्ति हो, वह **अस्थिर,** जिससे नाभि की नीचे के अंग को अशुभता (दूसरे जीव के स्पर्श होने से रोष पाये ऐसी अशुभता) की प्राप्ति हो वह **अशुभ,** जिससे जीव को देखने से भी उद्वेग हो और उपकारी होने पर भी जिसका दर्शन अरुचिकर लगे वह **दौर्भाग्य,** कौअे जैसा अशुभ स्वर हो वह **दुःस्वर,** जिससे युक्तिवाले वचन का भी लोक अनादर करे वह **अनादेय** और अपकीर्ति की प्राप्ति वह **अपयश,** ये स्थावर आदि १० भेद, वे पापकर्म का बंध होने से होते है । ये १० भेद पूर्वोक्त त्रस आदि १० भेद के अर्थ से विपरित अर्थवाले जाने ।(33)

(५) आश्रवतत्त्व : जिस मार्ग से तालाब में पानी आता है, उस मार्ग को जैसे नाला कहते हैं, वैसे जिसके द्वारा कर्मो का आगमन आत्मा के विषय में (आत्मा में) हो उसे **आश्रव** कहा जाता हैं ।

उस आश्रव के नीचे बताये अनुसार ४२ प्रकार हैं । (१-५) पाँच इन्द्रियाँ - स्पर्शनेन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय ये पाँच इन्द्रियों के क्रमशः ८-५-२-५ और ३ मिलकर २३ विषय है । २३ विषय आत्मा को अनुकूलता हो ऐसे प्राप्त हो, तो उससे आत्मा सुख मानता हैं और प्रतिकूलता हो ऐसे प्राप्त हो, तो दुःख मानता हैं । उससे कर्म का आश्रव (=आगमन) होता है ।

(६-२१) कषाय - क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय अथवा अनंतानुबन्धि क्रोध आदि भेद द्वारा १६ कषाय में आत्मा अनादिकाल से प्रवृत्त हैं, इसलिए कर्म का आश्रव भी अनादिकाल से चालू रहा है । उसमें भी आत्मा जब देव, गुरु, धर्म के राग में वर्तन करता है और देव, गुरु धर्म का नाश करनेवाले के प्रति क्रोध आदि यथायोग्य द्वेषभाव में वर्तन करता है, तब प्रशस्त काषायी होने से शुभ कर्म का आश्रव करता है और स्त्री, परिवार आदि सांसारिक राग में और सांसारिक द्वेष में वर्तन करता हैं, तब अप्रशस्त कषाय होने से अशुभ कर्म का आश्रव करता हैं । यहाँ **कष** अर्थात् संसार का **आय** अर्थात् लाभ, जिससे हो, उसे **कषाय** कहा जाता हैं ।

32. इगविगतिचउआईओ, कुखगइ उवघाय हुंति पावस्स अपसत्थं वन्नचऊ, अपढमसंघयणसंठाणा ।।१९।।

33. थावर सुहुम अपज्जं साहारणमथिरमसुभदुभगाणि, दुस्सरणाइज्जजसं थावरदसगं विवज्जत्थं ।।२०।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(२२-२६) अव्रत : प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह ये पाँच का अनियम-अत्याग, ये पाँच **अव्रत** कहे जाते हैं । जिससे ये पाँच क्रियाओं में वर्तन न करता होने पर भी त्यागवृत्ति न होने से कर्म का आश्रव (कर्म का आगमन) अवश्य होता है ।

तथा मनोयोग, वचनयोग और काययोग ये ३ मूल योग और अन्य ग्रन्थों में कहे हुए (उसी ३ योग के प्रतिभेद रूप) १५ योग द्वारा कर्म का आश्रव होता हैं । क्योंकि आत्मा जहाँ तक योगप्रवृत्तिवाला हैं, वहाँ तक आत्मप्रदेश उबलते हुए पानी की तरह चलायमान होते हैं और चलायमान आत्मप्रदेश कर्मग्रहण अवश्य करते हैं । केवल नाभिस्थान पे रहे हुए आठ रूचक नाम के आत्मप्रदेश अचल होने से कर्मग्रहण नहीं करते हैं ।

तथा २५ क्रिया का स्वरूप तो आगे गाथाओ से ही कहा जायेगा ।[34] यहाँ आत्मा के शुभाशुभ परिणाम तथा योग से होता आत्मप्रदेशो का कंपनत्व वह भावाश्रव और उसके द्वारा जो आठ प्रकार के कर्मदलिक (कर्मप्रदेश) ग्रहण हो वह द्रव्याश्रव । इस तरह से भी २ निक्षेपा कहे हैं ।

(२७-४२) २५ क्रिया : १. आत्मा जिस व्यापार द्वारा शुभाशुभ कर्म का ग्रहण करे, वह व्यापार 'क्रिया' कहा जाता हैं । वहाँ काया को अजयणा से प्रवर्तित करना वह **कायिकी** क्रिया, वे भी सर्व अविरत जीव की सावद्य क्रिया **अनुपरत कायिकी** (चौथे गुणस्थानक तक) और अशुभ योगप्रवृत्ति वह **दुष्प्रयुक्त कायिकी क्रिया** कही जाती है । (वह छठ्ठें गुणस्थानक तक जाने ।)

२. जिसके द्वारा आत्मा नरक का अधिकारी हो, उसे **अधिकरण** कहा जाता हैं । अधिकरण अर्थात् खड्ग आदि उपघातक द्रव्य, ऐसे उपघाती द्रव्य तैयार करना वह **अधिकरणिकी क्रिया** दो प्रकार की है ? १. खड्गादिक के अंग-अवयव परस्पर जोडना वह **संयोजनाधिकरणिकी** और सर्वथा नये शस्त्रादि बनाना वह **निर्वर्तनाधिकरणिकी क्रिया** यहाँ अपना शरीर भी अधिकरण जानना (यह क्रिया बादर कषायोदयी जीव को होने से ९वें गुणस्थानक तक होती हैं ।)

३. जीव अथवा अजीव के उपर द्वेष बताना, वह **प्राद्वेषिकी** क्रिया दो प्रकार की है । वहाँ जीव के उपर द्वेष करने से **जीव प्राद्वेषिकी** और स्वयं को पीडा (दर्द) करानेवाले कंटक, पत्थर आदि के उपर द्वेष हो, वह **अजीव प्राद्वेषिकी** क्रिया है। (यह क्रिया क्रोध के उदयवाली है, इसलिए ९वें गुणस्थानक पर जहाँ तक क्रोधोदय होता हैं, तब तक होती है।)

४. स्वयं को अथवा पर को ताडना-तर्जना द्वारा संताप देना - वह **परितापनिकी** क्रिया दो प्रकार की (प्रज्ञा. में ३ प्रकार की) कही हैं, वहाँ स्त्री आदिक के वियोग में अपने हाथ से अपना सर कूटना, इत्यादि से **स्वहस्त पारितापनिकी** क्रिया और दूसरे के हाथ से ऐसा कराने से **परहस्त पारितापनिकी** क्रिया कही जाती है । (यह क्रिया भी बादर कषायोदय प्रत्ययिक होने से ९(नौवे) गुणस्थानक तक हैं ।)

५. प्राण का अतिपात अर्थात् वध करना वह **प्राणातिपातिकी** क्रिया, दो प्रकार की हैं, वह पारितापनिकीवत् **स्वहस्तिकी** और **परहस्तिकी** ऐसे दो प्रकार की जाने । यह क्रिया अविरत जीवो को होती है । (इसलिए पाँचवें गुणस्थानक तक होती हैं।) उपरांत यह क्रिया घात किया हुआ जीव मर जाये तो ही लगे, अन्यथा नहीं ।

६. आरंभ से उत्पन्न हुई वह **आरम्भिकी** क्रिया, दो प्रकार की हैं । वहाँ सजीव जीव के घात की प्रवृत्ति वह **जीव आरम्भिकी** और चित्रित कियें अथवा पत्थरादि में कुतर के बनाये निर्जीव जीव को (स्थापना जीव को) मारने की प्रवृत्ति वह **अजीव आरम्भिकी क्रिया** । इस क्रिया में मारा जाता जीव उद्देश से मारने की बुद्धि से नहीं मारा जाता हैं, परन्तु घर

34. इंदिय - कसाय - अव्वय, जोगा पंच चउ पंच तिन्नि कमा । किरियाओ पणवीसं, इमा उ ताओ अणुक्कमसो ।।२१।। (नव.प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इत्यादि बनाते हुए प्रसंग से मारे जाते हैं । यदि उद्देश से मारा जाये तो यह क्रिया प्राणातिपाति की हो जाती हैं । (यह क्रिया प्रमादवशात् होने से छठ्ठें गुणस्थानक तक हैं ।)

७. परिग्रह अर्थात् धन-धान्य आदिक का जो संग्रह अथवा समत्वभाव उससे उत्पन्न हुए **पारिग्रहिकी क्रिया,** वह दो प्रकार की हैं । वहाँ पशु, दास आदि सजीव के संग्रह से **जीवपारिग्रहिकी** और धन-धान्यादि अजीव के संग्रह से **अजीवपारिग्रहिकी** क्रिया कही जाती हैं । (यह क्रिया परिग्रहवाले को होने से पाँचवे गुणस्थानक तक हैं ।)

८. माया अर्थात् छल-प्रपंच उसके प्रत्यय से अर्थात् हेतु से उत्पन्न हुई वह **मायाप्रत्ययिकी** क्रिया दो प्रकार की हैं । वहाँ अपने हृदय में दुष्ट भाव होने पर भी शुद्धभाव बताना वह **आत्मभाववञ्चन माया प्रत्ययिकी** और मिथ्या साक्षी, गलत दस्तावेज आदि करना वह **परभाववञ्चन माया प्रत्ययिकी** क्रिया कही जाती है (यह क्रिया सातवें गुणस्थानक तक है ।)[35]

९. मिथ्यात्वदर्शन अर्थात् तत्त्व की जो विपरीत प्रतिपत्ति (श्रद्धा), उस निमित्त से होती जो क्रिया (अर्थात् विपरीत श्रद्धारूप जो क्रिया) वह **मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया** दो प्रकार से हैं । वहाँ कोई भी पदार्थ का स्वरूप सर्वज्ञने कहे हुए स्वरूप से न्यून वा अधिक माने वह **न्यूनातिरिक्त मिथ्यात्वदर्शन** । और सर्वथा न माने तो **तद्व्यतिरिक्त मिथ्या० क्रिया** कही जाती हैं (यह क्रिया सम्यक्त्व मोहनीय से अतिरिक्त यथायोग्य २ दर्शनमोहनीय के उदय से हैं । इसलिए तीसरे गुणस्थानक तक होती है ।)

१०. हेय वस्तु के प्रत्याख्यान (- त्याग के नियम) बिना जो क्रिया हो वह **अप्रत्याख्यानिकी क्रिया** दो प्रकार से हैं । वहाँ सजीव का प्रत्याख्यान न हो तो **सजीव अप्रत्याख्यानिकी** और अजीव का प्रत्याख्यान न हो तो **अजीव अप्रत्याख्यानिकी** क्रिया जानना । यहाँ जो पदार्थ किसी भी समय उपयोग में न आये, ऐसे पदार्थ का भी यदि प्रत्याख्यान न हो तो वह संबंधि कर्म का आश्रव अवश्य होता हैं और उस कारण से ही स्वयंभूरमण समुद्र के मत्स्यभक्षण का, उस समुद्र के जलपान का, पूर्वभव में छोडे हुए शरीरो से होती हिंसा का, पूर्वभव में छोडे हुए शस्त्रो से होती हिंसा का और पूर्वभव में संग्रह किये हुए परिग्रह के ममत्वभाव का कर्म आश्रव इस भव में भी जीव को होता हैं, इसलिए उपयोगवंत जीव एक समय भी अप्रत्याख्यानी न रहे और मृत्यु के समय अपने शरीर को, परिग्रह को और हिंसा के साधनों को छोड दे (त्याग करे।) **यहाँ विशेष जानना यह हैं कि, पूर्वभव के शरीरादिक से होती हिंसा का पापआश्रव जैसे इस भव में भी आता हैं, वैसे उन शरीरों से होती धर्मक्रिया का पुण्य आश्रव इस भव में नहीं आयेगा । उसका कारण जीव का अनादि स्वभाव पाप प्रवृत्तिवाला है, वही कारण है ।** (यह क्रिया अविरत जीवों को होने से चौथे[X] गुणस्थानक तक है ।

११. जीव अथवा अजीव को रागादिक से देखने से जो क्रिया लगे वह **दृष्टिकी क्रिया** भी **जीवदृष्टिकी** और **अजीवदृष्टिकी** ऐसे २ प्रकार से हैं । (यह क्रिया सकषायी चक्षुरिन्द्रियवंत को होने से त्रीन्द्रिय तक के जीवो को न हो और पंचेन्द्रिय को छठ्ठें अथवा १०वें गुणस्थानक तक होती हैं ।)

१२. जीव अथवा अजीव को रागादिक से स्पर्श करना वह **स्पृष्टिकी क्रिया** भी **जीव स्पृष्टीकी** और **अजीव स्पृष्टिकी** ऐसे दो प्रकार से हैं । अथवा यहाँ १२वीं **पृष्टिकी** अर्थात् **प्राश्निकी** क्रिया भी मानी जाती है । तो जीव अथवा

35. काइय अहिगरणिया, पाउसिया पारितावणी किरिया पाणाइवायारंभिय, परिग्गहिआ मायवत्ती अ ।।२२।। (नव.प्र.)

X यद्यपि पाँचवे गुणस्थानक पर भी पृथ्वीकायादि स्थावरो का अप्रत्याख्यान है तो भी सापेक्ष वृत्तियुक्त और अहिंसा परिणामवाला होने से उस दया का परिणाम प्रत्याख्यान समान कहा हैं, इसलिए पाँचवें गुणस्थानक पर अप्रत्याख्यान क्रिया की विवक्षा नहीं है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अजीव को रागादिक से पूछने से **जीव प्राश्निकी** तथा **अजीव प्राश्निकी** ऐसे दो प्रकार की कही हैं । (यह क्रिया प्रमादी अथवा सरागी जीव को होने से छठ्ठे अथवा १०वें गुणस्थानक तक हैं ।)

१३. अन्य जीव अथवा अजीव के आधार पर जो क्रिया हो वह **प्रातित्यकी** क्रिया दो प्रकार की है । वहाँ दूसरे के हस्ति, अश्व आदि ऋद्धि देखकर रागद्वेष हो वह **जीवप्रातित्यकी** और आभूषणादि ऋद्धि देखकर रागद्वेष हो वह **अजीवप्रातित्यकी** अथवा स्तंभादिक में मस्तक पटका ने से स्तंभादि अजीव के निमित्त से जो द्वेषादिक हो वह भी अजीव प्रातित्यकी क्रिया हैं । यह क्रिया पाँचवें गुणस्थानक तक कही हैं । यहाँ **प्रतीत्य** अर्थात् आश्रय से, ऐसा शब्दार्थ हैं ।

१४. समन्तात् अर्थात् चारो तरफ से **उपनिपात** अर्थात् लोक का आना अथवा त्रस जंतु का आना वह **सामंतोपनिपातिकी क्रिया,** वह भी जीव और अजीवभेद से दो प्रकार की हैं । श्रेष्ठ हस्ति अश्व आदिक लाने से अनेक लोग देखने को मिले और उनकी प्रशंसा सुनकर खुद प्रसन्न हो तथा खराबी कहे तो द्वेषी हो वह **जीवसामन्तोपनिपातिकी** और इस तरह से अजीव वस्तु संबंधी **अजीवसामन्तोप०** क्रिया होती है । नाटक, सिनेमा, खेल, तमाशा आदि कुतूहल दिखानेवाले को भी यह क्रिया होती है, तथा घी-तैलादिक के भाजन (पात्र) खुले रखने से उसमें चारो तरफ से उडते त्रस जीव आकर गिरते हैं । इसलिए वह भी **सामन्तोपनिपातिकी क्रिया** ऐसा दूसरा अर्थ होता हैं । (यह क्रिया आरंभादिक के अत्याग के कारण होने से पाँचवें गुणस्थानक तक हैं । तत्त्वार्थ वृत्ति में छठ्ठें गुणस्थानक तक भी कही हैं । वह उपर कहे हुए अर्थ से भिन्न अर्थ की अपेक्षा से हैं ।)

१५. अपने हाथ से शस्त्रादिक न बनाते हुए राजादिक की आज्ञा से दूसरे के पास शस्त्र आदि बनवाना इत्यादि रूप **मैं नैशस्त्रिकी क्रिया** कही जाती है । अथवा निसर्जन करना अर्थात् निकालना अथवा फेंकना अथवा त्याग करना वह **नैसृष्टिकी क्रिया** दो प्रकार से है । वहाँ यन्त्रादि द्वारा कुँअे में से पानी निकालकर कुँआ खाली करना वह **जीवनैसृष्टिकी** और धनुष्य में से तीर फेंकना वह **अजीव नैसृष्टिकी क्रिया,** अथवा मुनि के संबंध में सुपात्र शिष्य को निकाल देने से **जीवनैसृष्टिकी** और शुद्ध आहारादि को परठना (त्याग करना) **अजीवनैसृष्टि** की क्रिया जानना । (यह क्रिया पहले दो अर्थ अनुसार गृहस्थ को पाँचवें गुणस्थान तक कही है । परन्तु दूसरे अर्थ अनुसार छठ्ठें गुण० तक भी कही हैं ।)

१६. अपने हाथ से ही जीव का घात आदि करना वह **स्वाहस्तिकी** क्रिया दो प्रकार से है । वहाँ अपने हाथ द्वारा अथवा हाथ में रहे हुए कोई पदार्थ द्वारा अन्य जीव को मारे यह **जीवस्वाहस्तिकी** और अपने हाथ द्वारा अथवा हाथ में रहे हुए कोई भी पदार्थ द्वारा अजीव को मारे उसे **अजीवस्वाहस्तिकी क्रिया** कही जाती है । सेवक आदिक को करने योग्य काम मालिक क्रोधादि से स्वयं ही कर ले तो वह भी **स्वाहस्तिकी** क्रिया तत्त्वार्थ टीकामें कही हैं । (यह क्रिया पाँचवें गुणस्थानक तक हैं ।)[36]

१७. जीव और अजीव को आज्ञा करके उनके द्वारा कुछ मंगवाना वह **आज्ञापनिकी क्रिया** अथवा **आनयनिकी क्रिया,** जीव-अजीव भेद से दो प्रकार की हैं (और वह पाँचवें गुणस्थानक तक हैं ।)

१८. जीव अथवा अजीव को विदारने से (फाडने से - भेदने से) **वैदारणिकी क्रिया** अथवा वितारणा अर्थात् वंचना - छलना करना वह **वैतारणिकी क्रिया,** वह जीव-अजीव भेद से दो प्रकार की कही हैं, सद्गुणी को दुर्गुणी कहना, प्रपंची दुभाषियापन करना, जीव तथा अजीव के भी गुण-दोष कहना, कटुवचन कहना, कलंक लगाना, आघात लगे ऐसी खबर देना इत्यादि आश्रव इस क्रिया में अन्तर्गत होता है । (और यह क्रिया बादरकषायोदय प्रत्ययिक होने से नौवें गुणस्थानक तक हैं ।)

36.मिच्छादंसणवत्ती, अपच्चक्खाणी य दिट्ठि पुट्ठि य । पाडुच्चिय सामंतो - वणीअ नेसत्थि साहत्थी ।।२३।। (नव.प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१९. अनाभोग अर्थात् उपयोग रहितपन द्वारा होती क्रिया वह **अनाभोगिकी क्रिया** दो प्रकार की हैं । वहाँ उपयोग रहित और प्रमार्जनादि किये बिना वस्त्रपात्र इत्यादि लेना - रखना **अनायुक्तादान अनाभोगिकी** और उपयोग रहित प्रमार्जनादि करके लेने-रखने से **अनायुक्त प्रमार्जना अनाभोगिकी** क्रिया होती हैं (यह क्रिया ज्ञानावरणीय उदय प्रत्ययिक सकषायी जीव को हैं, इसलिए १०वें गुणस्थानक तक हैं ।

२०. अपने अथवा पर के हित की आकांक्षा-अपेक्षा रहित जो ईहलोक और परलोक विरुद्ध चोरी परदारागमन (=परस्त्रीगमन) आदि आचरण वह **अनवकांक्ष प्रत्ययिकी क्रिया** स्व और पर भेद से दो प्रकार की है । (यह क्रिया बादर कषायोदय प्रत्ययिक होने से नौवें गुणस्थानक तक हैं । यहाँ अन=रहित, अवकांक्षः=हित की अपेक्षा, प्रत्ययिका = निमित्तवाली, यह शब्दार्थ हैं ।)

२१. मन-वचन-काया के शुभाशुभ योग रूप क्रिया वह **प्रायोगिकी क्रिया** (यह क्रिया शुभाशुभ सावद्ययोगी को होने से पाँचवें गुणस्थानक तक हैं ।)

२२. यथायोग्य आठों कर्म की समुदाय रूप में ग्रहण क्रिया अथवा ऐसा इन्द्रियों का व्यापार अथवा लोकसमुदाय से साथ मिलकर की हुई क्रिया अथवा संयमी की असंयम प्रवृत्ति वह **सामुदानिकी** क्रिया अथवा **समादान क्रिया** अथवा **सामुदायिकी क्रिया** कहा जाता हैं । (वह १०वें अथवा पूर्व गुणस्थानक तक हैं ।) यहाँ समादान अर्थात् इन्द्रिय और सर्व (कर्म) का संग्रह, ऐसे दो मुख्य अर्थ हैं ।

२३. स्वयं प्रेम करना अथवा दूसरे को प्रेम आये ऐसे वचन बोलना, इत्यादि व्यापार वह **प्रेमिकी क्रिया** । (यह क्रिया माया तथा लोभ के उदयरूप होने से दसवें गुणस्थानक तक हैं ।)

२४. स्वयं द्वेष करना अथवा अन्य को द्वेष आये ऐसा करना वह **द्वैषिकी क्रिया** । (क्रोध और मान के उदयरूप होने से नौवें गुणस्थानक तक हैं ।)

२५. **इर्या** अर्थात् (गमन-आगमन आदि केवल) योग, वही एक **पथ** अर्थात् (कर्म आने का मार्ग, वह इर्यापथ और तत्संबंधी जो क्रिया वह **इर्यापथिकी क्रिया** अर्थात् कर्मबंध के मिथ्यात्व-अव्रत-कषाय और योग इन चार हेतु में से केवल योगरूप एक ही हेतु द्वारा बँधा जाता कर्म **इर्यापथिकी क्रिया** रुप मानी जाती हैं । (वह अकषायी जीव को होने से ११-१२-१३ वें गुणस्थानक पर होती हैं ।) इस क्रिया से एक सातावेदनीय कर्म २ समय की स्थितिवाला बंधता हैं, वह पहले समय बाँधे, दूसरे समय उदय में आये और तीसरे समय निर्जरा पाते है । यह कर्म अति श्रेष्ठ वर्ण, गंध, रस, स्पर्शवाला और अति रुक्ष होता हैं ।[37]

संवर का स्वरूप और उसके ५७ प्रकार : आत्मा में आते हुए कर्मों को रोकना उसे **संवर** कहा जाता हैं । **संवर के ५७ प्रकार हैं ।**[38] वह नीचे बताये अनुसार हैं । **(१) पाँच समिति (२) तीन गुप्ति ।** सम्यक् प्रकार के उपयोगपूर्वक जो प्रवृत्ति वह समिति और सम्यक् प्रकार से उपयोग पूर्वक निवृत्ति तथा प्रवृत्ति वह गुप्ति कही जाती हैं । वहाँ समिति के पाँच भेद तथा गुप्ति के तीन भेद इस अनुसार से हैं ।

पाँच समिति[39] **: (१) इर्या समिति :** इर्या अर्थात् मार्ग, उसमें उपयोगपूर्वक चलना, वह इर्या समिति । यहाँ मार्ग में युग मात्र (३।। हाथ) भूमि को दृष्टि से देखते हुए और सजीव भाग का त्याग करते हुए चलना वह इर्या समिति हैं ।

37.आणवणि विआरणिया, अणभोगा अणवकंखपच्चइया । अन्ना पओग समुदाण पिज्झ दोसेरियावहिया ।।२४।।

38.समिई गुत्ती परिसह, जइधम्मो भावना चरित्ताणि । पण ति दुवीस दस बार पंच भेएहिं सगवन्ना ।।२५।।

39.इरिया भासेसणादाणे, उच्चारे समिइसु अ । मणगुत्तिवयगुत्ती, कायगुत्ती तहेव य ।।२६।। (नव.प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(२) भाषा समिति : सम्यक् प्रकार से निरवद्य (निर्दोष) भाषा बोलना वह भाषा समिति । यहाँ सामायिक पौषधवाले श्रावक और सर्वविरतिवंत मुनि मुख पे मुँहपत्ति रखकर निरवद्य वचन बोले तो भाषा समिति जाने और यदि मुँहपत्ति के बिना निरवद्य वचन बोले तो भी भाषा असमिति जाने । **(३) एषणा समिति :** सिद्धान्त में कही हुई विधि के अनुसार ४२ दोषरहित आहार ग्रहण करना, वह एषणा समिति। मुख्यतः मुनि महाराज को और गौणता से यथायोग्य पौषधादि व्रतधारी श्रावक को होती हैं । **(४) आदान समिति :** वस्त्र, पात्र आदि उपकरणो को देखकर, प्रमार्जन करके लेना, रखना वह आदान समिति । उसका दूसरा नाम **आदानभंडमत्तनिक्खेवणा समिति** भी हैं । **(५) उत्सर्ग समिति :** बडी नीति, लघुनीति - अशुद्ध आहार, बचा हुआ आहार - निरुपयोगी हुए उपकरण इत्यादि का विधिपूर्वक त्याग करना (परठना) वह उत्सर्ग समिति । इसका दूसरा नाम **पारिष्ठापनिका समिति** भी हैं ।

तीन गुप्ति : (१) मनोगुप्ति : मन को सावद्य मार्ग के विचार में से रोकना (और सम्यक् विचार में प्रवर्त्तित करना।) वह मनोगुप्ति ३ प्रकार से हैं । वहाँ मन को आर्त्तध्यान-रौद्रध्यानरूपी दुर्ध्यान में से रोकना वह **१. अकुशल निवृत्ति** । धर्मध्यान, शुक्लध्यान में प्रवर्तित करना वह **२. कुशल प्रवृत्ति** और केवलि भगवंत को सर्वथा मनोयोग का निरोध - अभाव हो उस वक्त **३. योगनिरोध** रूप मनोगुप्ति होती हैं । **(२) वचनगुप्ति :** सावद्य वचन न बोलना (और निरवद्य वचन बोलना ।) वह वचनगुप्ति । उसके दो भेद हैं - शिरःकंपन इत्यादि का भी त्याग करके मौन रखे, वह मौनावलम्बिनी और वाचनादि के समय मुख पे मुँहपत्ति रखकर बोलना वह वाङ्नियमिनी वचनगुप्ति जाने ।

प्रश्न : भाषा समिति और वचनगुप्ति में क्या अंतर हैं ?

उत्तर : वचनगुप्ति सर्वथा वचननिरोध रूप और निरवद्य वचन बोलनेरूप दो प्रकार की हैं और भाषासमिति तो निरवद्य वचन बोलनेरूप एक ही प्रकार की हैं । इस प्रकार नवतत्त्व की अवचूरि में कहा हैं ।

(३) कायगुप्ति : काया को सावद्य मार्ग में से रोककर निरवद्य क्रिया में जोडना वह कायगुप्ति दो प्रकार की है । वहाँ उपसर्गादि प्रसंग में भी काया को चलायमान न करना तथा केवलि भगवंतने किये हुए काययोग का निरोध वह **चेष्टानिवृत्ति कायगुप्ति** और सिद्धान्त में कही हुई विधि के अनुसार गमन-आगमन आदि करना, वह **यथासूत्र चेष्टा नियमिनी कायगुप्ति हैं ।**

उस प्रकार पाँच समिति वह कुशल में (सन्मार्ग में) प्रवृत्तिरूप हैं और तीन गुप्ति वह कुशल में प्रवृत्ति और अकुशल से निवृत्तिरूप हैं । वे आठ "प्रवचन माता" मानी जाती है । क्योंकि उस आठ से संवर धर्मरूपी पुत्र उत्पन्न होता है और उस धर्मपुत्र का पालन पोषण होता है । ये आठ प्रवचन माता व्रतधारी श्रावक को सामायिक पोसह में और मुनि को हंमेशां होती हैं ।

२२ परिषह : परि - समस्त प्रकार से (कष्ट को) **सह**-सहन करना परन्तु धर्ममार्ग का त्याग न करना उसे **परिषह** कहा जाता हैं । **वे २२ परिषह में दर्शन (सम्यक्त्व) परिषह और प्रज्ञा परिषह ये दो परिषह धर्म का त्याग नहीं करने के लिए है और २० परिषह कर्म की निर्जरा करने के लिए हैं,** वे २२ परिषह क्रमशः इस प्रकार हैं - **१.** [40]**क्षुधा परिषह :** क्षुधा वेदनीय सर्व अशाता वेदनीय से अधिक हैं, इसलिए ऐसी क्षुधा को भी सहन करना । परन्तु अशुद्ध आहार ग्रहण न करना, उपरांत आर्त्तध्यान न करना, उसे **क्षुधा परिषह** का विजय किया कहा जाता हैं । **२. पिपासा परिषहः** पिपासा अर्थात् तृषा को भी सम्यक् प्रकार से सहन करना परन्तु सचित जल अथवा मिश्र जल न पीना, संपूर्ण ३ खौलवाला उष्ण जल आदि और वह भी सिद्धान्त में कही हुई विधि अनुसार निर्दोष प्राप्त हुआ हो तो ही लेना वह **तृषा-**

40.खुहा पिवासा सी उण्हं, दंसाचेलारइत्थिओ । चरिया निसीहीया सीज्जा, अक्कोस वह जायणा ।।२७।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिपासा-परिषह । ३. शीत परिषह : अतिशय ठंड पडने से अंगोपांग जकड जाति हो तो भी साधु को न हो ऐसे वस्त्र की इच्छा अथवा अग्नि में शेकने की इच्छा मात्र भी न करे, वह **शीत परिषह । ४. उष्ण परिषह :** गर्मी की ऋतु में गरम शीला अथवा रेत पर चलते हो अथवा धूप सख्त पडती हो तो उस समय भी मरणान्त कष्ट आये तो भी छत्र की छाया अथवा वस्त्र की छाया अथवा पंखे का वायु या स्नान-विलेपन आदिक की इच्छा मात्र भी न करे, वह **उष्ण परिषह। ५. दंश परिषह :** वर्षा काल में डाँस-मच्छर-जूँआ-खटमल इत्यादि क्षुद्र जंतु बहोत उत्पन्न होते हैं, वे जंतु-बाण के प्रहार जैसे दंश मारे (काटे) तो भी वहाँ से खिसककर अन्य स्थान पर जाने की इच्छा न करे, उनको धूम्र आदि प्रयोग से बाहर न निकाले और उन जीवो के उपर द्वेष का भी विचार न करे, परन्तु अपनी धर्म की दृढता बढाने में निमित्तभूत माने, उसे **दंश परिषह** जीता, कहा जाता हैं । **६. अचेल परिषह :** वस्त्र सर्वथा न मिले अथवा जीर्णप्रायः मिले, तो भी दीनता का विचार न करे, उपरांत उत्तम बहु मूल्यवान वस्त्र न चाहे, परन्तु अल्प मूल्यवाला जीर्ण वस्त्र धारण करे, वह **अचेल परिषह।** यहाँ अचेल अर्थात् वस्त्र का सर्वथा अभाव अथवा जीर्ण वस्त्र ऐसे दो अर्थ हैं। जीर्ण वस्त्र धारण करना, वह भी परिग्रह हैं, ऐसा कहनेवाला असत्यवादी हैं, क्योंकि संयम के निर्वाह के लिए ही जीर्णप्रायः वस्त्र ममत्व रहित धारण करने से परिग्रह नहीं कहा जाता, यही श्री जिनेन्द्रवचन का रहस्य है । **७. अरति परिषह :** अरति अर्थात् उद्वेगभाव । साधु को संयम में विचरते समय जब अरति के कारण बने, तब सिद्धांत में कहे हुए धर्मस्थान की भावना करे, परन्तु धर्म के प्रति उद्वेगभाव न करे, क्योंकि धर्मानुष्ठान वह इन्द्रियो के संतोष के लिए नहीं हैं, परन्तु इन्द्रियो के और आत्मा के दमन के लिए है, इसलिए उद्वेग न पाये, वह **अरति परिषह** का जय किया कहा जाता हैं । **८. स्त्री परिषह :** स्त्रीयो को संयम मार्ग में विघ्नकर्त्ता जानकर उनको सराग दृष्टि से न देखना और स्त्री स्वयं विषयार्थ निमंत्रणा करे तो भी स्त्री के आधीन न होना, वह **स्त्री परिषह** का विजय कहा जाता है, उसी तरह से साध्वी को पुरुष परिषह इसमें अंतर्गत समझना । **९. चर्या परिषह :** चर्या अर्थात् चलना, विहार करना अर्थात् मुनि एक स्थान पर अधिक काल न रहे परन्तु मासकल्प की मर्यादा अनुसार (८ शेषकाल के और १ वर्षाकाल के चार मास का इस तरह से) नवकल्पी विहार करे, परन्तु उसमें प्रमाद न करे, उसे चर्या परिषह का विजय कहा जाता हैं । **१०. नैषेधिकी परिषह :** शून्य गृह, स्मशान, सर्प बिल, सिंह गुफा इत्यादि स्थानो में रहना और वहाँ प्राप्त होते उपसर्गो से चलायमान न होना अथवा स्त्री, पशु, नपुंसक आदि रहित और संयम के निर्वाह योग्य स्थान में रहना, वह **नैषेधिकी परिषह** हैं । पाप अथवा गमनागमन का निषेध जिसमें है, वह **नैषेधि की** अर्थात् स्थान कहा जाता है । इसका दूसरा नाम **निषद्य परिषह** अथवा **स्थान परिषह** भी कहा जाता है । **११. शय्या परिषह :** ऊँची-नीची इत्यादि प्रतिकूल शय्या मिलने से उद्वेग न करे और अनुकूल शय्या मिलने से हर्ष न करे, वह शय्या परिषह । **१२. आक्रोश परिषह :** मुनि का कोई अज्ञानी मनुष्य तिरस्कार करे तो मुनि तिरस्कार करनेवाले के प्रति द्वेष न करे, परन्तु उनको उपकारी माने, वह **आक्रोश परिषह** जीता माना जाता है । **१३. वध परिषह :** साधु को कोई अज्ञानी पुरुष, दंड, चाबुक, आदिक से जोरदार प्रहार करे अथवा वध भी करे, तो भी स्कंधकसूरि के तेल की चक्की में पीसते ५०० शिष्यो की तरह वध करनेवाले के उपर द्वेष न करते हुए, उल्टा मोक्षमार्ग में महा उपकारी है, ऐसा माने और ऐसी भावना करे कि "कोई जीव मुझे (मेरे आत्मा को) मार नहीं सकता हैं, पुद्गलरूप शरीर को मारता है और वह शरीर तो मुझ से भिन्न है, शरीर ये मैं नहीं और मैं वह शरीर नहीं तथा मुजे यह पुरुष जो दुःख देता है, वह भी पूर्व (पहले) बाँधे हुए कर्म का उदय है, यदि ऐसा न हो, तो यह पुरुष, मुझे छोडकर दूसरे को क्यों नहीं मारता है ? यह मारनेवाला तो केवल निमित्तमात्र हैं, सच्चा कारण तो मेरे पूर्वभव के कर्म ही है ।" इत्यादि शुभ भावना करे तो **वधपरिषह** जीता, कहा जाता है । **१४. याचना परिषह :** साधु कोई भी वस्तु (तृण, मिट्टी इत्यादि भी) मांगे बिना ग्रहण न करे, ऐसा उनका धर्म है। इसलिए मैं राजा हुँ, धनाढ्य हुँ, तो मुज से दूसरे के पास कैसे माँगा जायेगा ? इत्यादि मान और लज्जा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

छोडकर घर घर जाकर भिक्षा माँगना, उसे **याचना परिषह** जीता, कहा जाता है । **१५. अलाभ परिषह :**[41] मान और लज्जा छोडकर घर घर भिक्षा माँगने पर भी वस्तु न मिले तो "लाभान्तराय कर्म का उदय है अथवा सहज तपवृद्धि होती है" ऐसा समझकर उद्वेग न करना, वह **अलाभ परिषह** । **१६. रोगपरिषह :** ज्वर (बुखार), अतिसार (दस्त) आदि रोग प्रगट होते जिनकल्पी आदि कल्पवाले मुनि उस रोग की चिकित्सा न कराये, परन्तु अपने कर्म के विपाक का चिंतन करे और स्थविरकल्पी (गच्छवासी) मुनि हो, वह आगम में कही हुई विधि अनुसार निरवद्य (निर्दोष) चिकित्सा करायें और उससे रोग शान्त हो अथवा न हो, तो भी हर्ष-उद्वेग न करे, परन्तु पूर्व कर्म का विपाक (उदय) चिंतन करे, उसे **रोग परिषह** जीता, माना जाता हैं । **१७. तृणस्पर्श परिषह :** गच्छ से निकले हुए जिनकल्पी आदि कल्पधारी मुनि को तृण का (दर्भ आदि घास का २।। (ढाई) हाथ प्रमाण) संथारा होता हैं, इसलिए उस तृण की नोंक शरीर में लगे तो भी वस्त्र की इच्छा न करे तथा गच्छवासी (स्थविरकल्पी) मुनि को भी वस्त्र का भी संथारा होता हैं, वह भी प्रतिकूल प्राप्त हुआ हो, तो दीनता धारण न करे, वह **तृणस्पर्श परिषह** हैं । **१८. मल परिषह :** साधु को शृंगार - विषय के कारणरूप जल स्नान नहीं होता, इसलिए पसीने इत्यादि से शरीर पर मैल बहोत लगा हो और दुर्गंध आती हो, तो भी शरीर की दुर्गंधि टालने के लिए जल से स्नान करने का चिंतवन भी न करें, उसे **मल परिषह** जीता, माना जाता हैं । **१९. सत्कार परिषह :** साधु अपना बहोत मान सत्कार लोक में होता देखकर मन में हर्ष न पाये और सत्कार न होने से उद्वेग न करे, उसे **सत्कार परिषह** जीता, कहा जाता हैं। **२०. प्रज्ञा परिषह :** स्वयं बहुश्रुत (अधिक ज्ञानी) होने से अनेक लोगो को प्रश्नो के उत्तर देकर संतुष्ट करे और अनेक लोग उस बहुश्रुत की बुद्धि की प्रशंसा करे, उससे वह बहुश्रुत अपनी बुद्धि का गर्व धारण करके हर्ष न करे, परन्तु ऐसा जाने कि "पहले मुज से भी अनंतगुण बुद्धिवाले ज्ञानी हुए हैं, मैं कोन मात्र हुँ ?" इत्यादि चिंतन करे, उसे **प्रज्ञा परिषह** जीता, कहा जाता हैं । **२१. अज्ञान परिषह :** साधु अपनी अल्पबुद्धि होने से आगम इत्यादि के तत्त्व न जाने, तो अपनी अज्ञानता का संयम में उद्वेग उपजे ऐसा खेद न करे, "मैं ऐसी उग्र तपश्चर्यादि संयमवाला हुँ ।" तो भी आगमतत्त्व जानता नहीं हुँ, बहुश्रुतपन प्राप्त नहीं होता है ।" इत्यादि खेद-उद्वेग धारण न करते हुए मतिज्ञानावरणीय का उदय सोचकर संयम भाव में लीन हो, उसे **अज्ञान परिषह** जीता, माना गया हैं । **२२. सम्यक्त्व परिषह :** अनेक कष्ट और उपसर्ग प्राप्त होने पर भी सर्वज्ञ भाषित धर्म की श्रद्धा से चलायमान न होना, शास्त्रो के सूक्ष्म अर्थ न समझ में आये तो व्यामोह न करना, परदर्शन में चमत्कार देखकर मोहित न होना, इत्यादि **सम्यक्त्व परिषह** कहा जाता हैं ।

दस यतिधर्म :[42] **(१) खंति (क्षान्ति) :** अर्थात् क्रोध का अभाव, वह पहला क्षमा धर्म, वह पाँच प्रकार से हैं, वहाँ किसीने अपना नुकसान किया होने पर भी **"वह किसी समय पर उपकारी हैं"** ऐसा जानकर सहनशीलता रखना वह **उपकार क्षमा** ।" **यदि मैं क्रोध करूँगा, तो यह मेरा नुकसान करेगा** "ऐसा सोचकर क्षमा करना वह **अपकार क्षमा**", **"यदि क्रोध करूँगा तो कर्मबंध होगा"** ऐसा सोचकर क्षमा रखना वह **विपाक क्षमा** ।" **"शास्त्र में क्षमा रखना कहा है, इसलिए क्षमा रखे"** वह **वचन क्षमा** (अथवा **प्रवचन क्षमा**) और **"आत्मा का धर्म क्षमा ही है"** ऐसा सोचकर क्षमा रखना वह **धर्म क्षमा** - ये पाँचो क्षमा यथायोग्य आचरणीय है, परन्तु क्रोध करना युक्त नहीं है । उसमें सर्वोत्कृष्ट क्षमा धर्मक्षमा हैं । **(२) मार्दव :** नम्रता, निरभिमानत्व, **(३) आर्जव :** सरलता - निष्कपटत्व, **(४) मुक्ति:** निर्लोभीत्व, **(५) तप :** इच्छा का रोध करना वह तप, **यहाँ संवर तत्त्व में कहा, आगे निर्जरा तत्त्व में भी कहा जायेगा, इसलिए तप से संवर और निर्जरा दोनों होती हैं, ऐसा जानना । क्योंकि सम्यक् निर्जरा में संवर धर्म**

41.अलाभ रोग तणफासा, मल सक्कार परीसहा । पन्ना अन्नाण सम्मत्तं, इअ बावीस परीसहा ।।२८।। (नव.प्र.)

42.खंती मद्दव अज्जव, मुत्ती तव संजमे अ बोधव्वे । सच्चं सोअं आकिंचणं च बंभं जइधम्मो ।।२९।। (नव.प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी अंतर्गत होता ही हैं । (६) संयम : स = सम्यक् प्रकार के **यम** = ५ महाव्रत अथवा ५ अणुव्रत उसे **संयम धर्म** कहा जाता हैं, यहाँ मुनि का संयम धर्म ५ महाव्रत, ५ इन्द्रिय निग्रह, ४ कषाय का जय और (मन-वचन-काया के अशुभ व्यापार रूप) ३ दंड की निवृत्ति ऐसे १७ प्रकार का हैं । **(७) सत्य :** सत्य, हितकारी, प्रमाणानुसार, प्रिय, धर्म की प्रेरणा देनेवाले वाक्य बोलना । **(८) शौचः** पवित्रता, मन, वचन, काया और आत्मा की पवित्रता, मुनि बाह्य उपाधि रहित होने से मन से पवित्र होते हैं, वचन से समिति - गुप्ति का पालन करने के लिए सत्यवचन बोलनेवाले होने से पवित्र होते है । तपस्वि होने से उनके शारीरिक मैल जल जाने से उनकी काया पवित्र होती हैं । अथवा मल-मूत्रादि अशुचियाँ की यथायोग्य शुद्धि करनेवाले होते हैं और रागद्वेष के त्याग का उनका लक्ष्य होने से आत्मा को भी पवित्र करते होते हैं, इस प्रकार द्रव्य से और भाव से पवित्रता, वह शौच। **(९) आकिञ्चन्य :** (**किञ्चन** - कुछ भी , **अ**-नहि अर्थात्) कुछ भी परिग्रह न रखना वह **अकिंचन धर्म,** उसी तरह ममत्व भी न रखना वह **अकिंचन धर्म** हैं । (यहाँ तद्धित के नियम से "अ" का "आ" हुआ हैं ।) **(१०) ब्रह्मचर्य :** मन वचन काया से वैक्रियशरीरी (-दैवी) के साथ तथा औदारिक शरीरी (= मानुषी और तिर्यंचिणी) के साथ मैथुन का (करना-कराना और अनुमोदना करना ये ३ करण से) त्याग, वह (३ X २ X ३) = १८ प्रकार का ब्रह्मचर्य जानना । अथवा गुरुकुलवास - अर्थात् गुरु की आज्ञा में और साधु समुदाय में रहकर, उसके नियमो का अनुसरण करके ज्ञान और आचार शीखे, उसे भी ब्रह्मचर्य कहा जाता हैं । यह १० प्रकार का यतिधर्म कहा ।

- बारह भावना[43] **: (१) अनित्य भावना :** "लक्ष्मी, कुटुम्ब, यौवन, शरीर, दृश्य पदार्थ ये सब बिजली के समान चपल - विनाशवंत है, आज हैं और कल नहीं हैं ।" इत्यादि प्रकार से वस्तुओं की अस्थिरता का चिंतवन करना वह । **(२) अशरण-भावना :** "दुःख और मृत्यु के समय कोई किसी का शरण नहीं है" इत्यादि चिंतन करना वह। **(३) संसार-भावना :** "चार गतिरूप इस संसार में निरंतर भ्रमण करना ही पडता है । जो अनेक दुःखो से भरा हुआ हैं, संसार में माता स्त्री होती है और स्त्री माता होती हैं, पिता पुत्र होता है, पुत्र मरकर पिता होता हैं, इसलिए नाटक के दृश्य समान विलक्षण यह संसार सर्वथा त्याग करने योग्य है" इत्यादि चिंतन करना वह संसार-भावना । **(४) एकत्व-भावनाः** "यह जीव अकेला आया हैं, अकेला जानेवाला है और सुख-दुःखादि भी अकेला ही भुगतता हैं, कोई सहायकारी नहीं होता हैं ।" इत्यादि चिंतन करना वह । **(५) अन्यत्व-भावना :** "धन-कुटुंब परिवार, वे सर्व अन्य हैं, परन्तु वह रुप मैं नहीं हुँ, मैं आत्मा हुँ, मैं शरीर नही हुँ, परन्तु वह मुझ से अन्य हैं ।" इत्यादि चिंतन करना वह । **(६) अशुचित्व-भावनाः** "यह शरीर रस-रुधिर-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा और शुक्र - ये अशुचिमय सात धातु का बना हुआ हैं । पुरुष के शरीर में ९ द्वार - २ चक्षु, २ कान, २ नाक, १ मुख, १ गुदा, १ लिंग से हंमेशा अशुचि बहा करती हैं और स्त्री के (२ स्तन और योनि में दो द्वार) १२ द्वार से हंमेशा अशुचि बहा करती हैं । उपरांत जिसके संग से अत्तर, तेल आदि सुगंधि पदार्थ भी दुर्गंधरूप बनते हैं, मिष्ट आहार भी अशुचिरूप होता हैं, ऐसे इस शरीर की उपर से दिखाई देती सुंदर आकृति को उल्टी करके देखे, तो महा त्रास हो ऐसी अति बिभत्स होती हैं ।" इत्यादि चिंतन करना वह । **(७) आश्रव भावना :** कर्म को आने के ४२ मार्ग पहले कहे हैं, "उसके द्वारा कर्म निरंतर आते ही रहते हैं और आत्मा को नीचे उतारते ही जाते हैं । ऐसा ही चलता रहे, तो आत्मा का उद्धार कब होगा ?" इत्यादि चिंतन करना वह। **(८) संवर-भावना :** समिति, गुप्ति, परिषह, यतिधर्म, भावना और चारित्र, उन सभी के ५७ भेदो के स्वरूप का चिंतन करे और वह संवर-तत्त्व कर्मो को रोकने का अच्छा साधन हैं । वह न हो तो जीव का उद्धार ही न होता, इसलिए अमुक कर्म रोकने के लिए अमुक अमुक

43.पढममणिच्चमसरणं, संसारो एगया य अन्नत्तं । असुइत्तं आसव संवरो य तह णिज्जरा नवमी ।।३०।। 44. लोगसहावो बोही, - दुल्लहा धम्मस्स साहगा अरिहा । एआओ भावणाओ भावेअव्वा पयत्तेणं ।।३१।। (नव.प्र.) 45. वस्तु के स्वभाव की परावृत्ति वह पर्याय । अथवा परावृत्ति पानेवाला वस्तुधर्म वह पर्याय । 46. वही की वही एक ही स्थिति रूप ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संवर का आचरण करूँ तो ठीक "इत्यादि चिंतन करना वह । **(९) निर्जरा-भावना :** "आगे कहे जानेवाले निर्जरा तत्त्व के १२ तप के भेदो के स्वरूप का चिंतन करे और अनादिकाल के गाढ कर्मो का नाश निर्ज्जरा के बिना हो सके ऐसा नही हैं । इसलिए यथाशक्ति उसका आश्रय लूंगा तो ही किसी न किसी समय मेरे आत्मा का निस्तार होगा, इसलिए यथाशक्ति निर्ज्जरा का सेवन करूँ तो ठीक ?" इत्यादि चिंतन करे । **(१०) लोकस्वभाव भावना :**[44] कमर के उपर दो हाथ रखकर, दोनों पैर फैलाकर खडे हुए पुरुष की आकृति समान यह षड्द्रव्यात्मक लोक हैं । उसमें पहले कहे हुए छः द्रव्य भरे हुए हैं । अथवा वे छः द्रव्य रूप ही लोक हैं । **प्रत्येक द्रव्यो में अनन्तपर्याय[45] हैं । द्रव्य स्वयं स्थिर हैं और पर्यायो की उत्पत्ति और नाश हुआ ही करता हैं अर्थात् प्रत्येक द्रव्यो में प्रत्येक समय उत्पत्ति, नाश और स्थिरता-ध्रौव्य[46] ये तीन धर्म होते ही हैं** । जिस समय पर अमुक कोई भी एक पर्याय उत्पन्न होता हैं, वही समय पर अमुक कोई भी एक पर्याय नाश होता ही हे और द्रव्य तो तीनो काल में ध्रुव-स्थिर है ही। इस प्रकार छः द्रव्यो के परस्पर के संबंध से एक प्रकार की विचित्र ऊथलपुथलो से भरपूर इस लोक का - जगत् का अद्भूत और अकलित स्वरूप सोचते - सोचते भी सचमुच तन्मय हो जाने से आत्मा रागद्वेष से मुक्त हो जाता हैं, इसलिए उसका अद्भूत समय स्वरूप स्याद्वाद दृष्टि से सोचे और उल्टे मोडे हुए सैकडे तलवेवाले समतल गमले के आकार का **अधोलोक** हैं, थाली के आकार का **तिर्च्छालोक** हैं और मृदंग के आकार का **उर्ध्वलोक** हैं । वह लोक द्रव्य से शाश्वत हैं और पर्याय से अशाश्वत हैं ।" ऐसा चिंतन करना वह । **(११) बोधिदुर्लभ-भावना :** "अनादि काल से संसार में चक्रवत् भ्रमण करते जीवो को सम्यक्त्वादि ३ रत्न की प्राप्ति महादुर्लभ हैं ? अनन्त बार चक्रवर्तिपन आदि महापदवीयाँ प्राप्त हुई, परन्तु सम्यक्त्वादि प्राप्त न हुआ । उपरांत अकाम निर्जरा द्वारा क्रमशः मनुष्यत्व, निरोगीत्व, आर्यक्षेत्र और धर्म श्रवणादि सामग्रीयाँ प्राप्त हुई, तो भी सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति न हुई, इसलिए सम्यक्त्व धर्म की प्राप्ति अति दुर्लभ हैं" इत्यादि चिंतन करना वह बोधि-दुर्लभ भावना । **(१२) धर्मसाधक अर्हत् आदि दुर्लभ :** धर्म के साधक - उत्पादक उपदेशक ऐसे अरिहंत आदिक की प्राप्ति महादुर्लभ हैं, कहा है कि **तित्थयर गणहरो केवली व पत्तेयबुद्ध पुव्वधरो पंचविहायारधरो, दुल्लभो आयरियओऽवि** ।।१।। **अर्थ :** तीर्थंकर गणधर - केवलि - प्रत्येक बुद्ध - पूर्वधर और पाँच प्रकार के आचार को धारण करनेवाले आचार्य भी इस लोक में प्राप्त होना महादुर्लभ है ।।१।। इत्यादि चिंतवन करना वह अर्हत् दुर्लभ भावना अथवा धर्मभावना कही जाती है।

तथा पाँच महाव्रत की प्रत्येक की पाँच पाँच मिलकर २५ भावनायें[47] भी इन १२ भावनाओं में अंतर्गत होती है। तथा ये १२ भावनाओं में[48] मैत्री-प्रमोद-कारुण्य और माध्यस्थ ये चार भावना मिलाने से १६ भावना भी होती है। उसका विचार अन्य ग्रंथो से जाने ।

पाँच चारित्र :[49] **(१) सामायिक चारित्र : सम** अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र का **आय** अर्थात् लाभ वह **समाय** और व्याकरण के नियम से (तद्धित का **'इक'** प्रत्यय लगने से) **सामायिक** शब्द होता हैं । अनादिकाल की आत्मा की विषम स्थिति में से सम स्थिति में लाने का साधन वह **सामायिक चारित्र** । यह उसकी मुख्य व्याख्या हैं । सावद्य योगो का त्याग और निरवद्य योगो का - संवर - निर्जरा का सेवन = आत्म जागृति, वे समस्थिति के साधन है, उसके **इत्वर कथिक** और **यावत् कथिक** दो भेद हैं । भरतादि १० क्षेत्र में पहले और अंतिम जिनेश्वर के शासन में प्रथम लघु दीक्षा दी जाती

47. २५ भावनाओं का स्वरूप योगशास्त्रवृत्ति आदिक ग्रंथो से जाने ।। 48. सर्व जीव मित्र समान हैं, वह **मैत्री भावना,** पर जीव को सुखी देखकर प्रसन्न होना यह **प्रमोद भावना,** दुःखी जीवों के प्रति अनुकंपा करुणा लाना वह **कारुण्य भावना** और पापी, अधर्मी जीवो के प्रति खेद न करना और खुश भी न होना, वह **माध्यस्थ भावना।** 49. सामाइअत्थ पढमं, छेओवट्ठावणं भवे बीअं । परिहार विसुद्धीअं, सुहुमं तह संपरायं च ।।३२।। (नव.प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं, वह तथा श्रावक का शिक्षाव्रत नाम का सामायिक व्रत, पौषध, प्रतिक्रमण इत्यादि **इत्वर कथिक सामायिक चारित्र** और मध्य के २२ तीर्थंकर के शासन में तथा महाविदेह में सर्वदा प्रथम लघु दीक्षा और पुनः बडी दीक्षा ऐसा नहीं हैं । प्रथम से ही निरतिचार चारित्र का पालन (=बडी दीक्षा) होती हैं, इसलिए उसे **यावत्कथिक सामायिक चारित्र** (अर्थात् यावज्जीव तक का सामायिक चारित्र) कहा जाता हैं । **वे दो चारित्र में इत्वरिक सामायिक चारित्र सातिचार और उत्कृष्ट ६ मास का है और यावत्कथिक वह निरतिचार (अल्प अतिचार) तथा यावज्जीव तक का माना जाता है** । इस सामायिक चारित्र का लाभ हुए बिना शेष ४ चारित्रों का लाभ नहीं होता, इसलिए सर्व प्रथम सामायिक चारित्र कहा हैं । अथवा आगे कहे जानेवाले चारो चारित्र वस्तुतः सामायिक चारित्र के ही विशेष भेद रूप हैं । तो भी यहाँ प्राथमिक विशुद्धि को ही सामायिक चारित्र नाम दिया हुआ हैं ।

(२) छेदोपस्थापनीय चारित्र : पूर्व चारित्र पर्याय का (चारित्र काल का) छेद करके, पुनः महाव्रतो का उपस्थापन = आरोपण करना वह **छेदोपस्थापन चारित्र** । **वह दो प्रकार से है** । १. मुनिने मूलगुण का (महाव्रत का) घात किया हो तो पूर्व में (पहले) पालन किये हुए दीक्षा पर्याय का छेद करके, पुनः चारित्र उच्चरण करना, वह छेदप्रायश्चितवाला **'सातिचार छेदोपस्थानिक'** और लघु दीक्षावाले मुनि को 'छज्जीवनिकाय अध्ययन पढने के बाद उत्कृष्ट से ६ मास बाद बडी दीक्षा देना वह अथवा तो एक तीर्थंकर के मुनि को दूसरे तीर्थंकर के शासन में प्रवेश करना हो तब भी मुनि को पुनः चारित्र का उच्चरण करना पडता है, जैसे श्री पार्श्वनाथ प्रभु के मुनि चार महाव्रत का शासन छोडकर श्री महावीर का पाँच महाव्रतवाला शासन अंगीकार करे, वह तीर्थसंक्रान्तिरूप, ऐसे दो प्रकार से **निरतिचार छेदोपस्थानीय** चारित्र जाने । यह छेदोपस्थापनीय चारित्र भरतादि १० क्षेत्र में पहले और अंतिम जिनेश्वर के शासन में होते हैं । परन्तु मध्य के २२ तीर्थंकर के शासन में और महाविदेह में सर्वथा यह छेदोपस्थापनीय चारित्र नहीं होता हैं ।

(३) परिहार विशुद्धि चारित्र : परिहार अर्थात् त्याग । अर्थात् गच्छ के त्यागवाला जो तप विशेष और उससे होती चारित्र की **विशुद्धि** - विशेष शुद्धि, उसे **परिहार विशुद्धि चारित्र** कहा जाता है, वह इस प्रकार से है-

स्थविरकल्पी मुनिओं के गच्छ में से गुरु की आज्ञा पाकर ९ साधु गच्छ से बाहर निकलकर, केवलि भगवान के पास जाकर अथवा श्री गणधरादि के पास अथवा पहले परिहार कल्प अंगीकार किया हो ऐसे साधु के पास जाकर, परिहार कल्प अंगीकार करे, उसमें चार साधु **परिहारक** हो अर्थात् ६ मास तप करे, दूसरे चार साधु उन चार तपस्वी की वैयावच्च करनेवाले हो और एक साधु वाचनाचार्य गुरु हो, उन परिहारक चार मुनि का ६ मास के बाद तप जब पूर्ण हो, तब वैयावच्च करनेवाले चार मुनि ६ मास तप करे, पूर्ण हुई तपस्यावाले चार मुनि वैयावच्च करनेवाले हो, इस प्रकार दूसरे छ मास का तप पूर्ण होने पर पुनः वाचनाचार्य स्वयं ६ मास का तप करे और जघन्य से १ तथा उत्कृष्ट ७ साधु वैयावच्च करनेवाले हो और १ वाचनाचार्य हो इस प्रकार १८ मास **परिहार कल्प** का तप पूर्ण होता है ।[50]

50. **परिहार कल्प के तपविधि इत्यादि - ग्रीष्मकाल में** जघन्य चौथ भक्त (१ उपवास), मध्यम षष्टभक्त (२ उपवास) और उत्कृष्ट अष्टमभक्त (३ उपवास), **शिशिरकाल में** जघन्य षष्ट भक्त, मध्यम अष्टम भक्त और उत्कृष्ट दशमभक्त (४ उपवास), तथा **वर्षाकाल में** जघन्य अष्टमभक्त, मध्यम दशमभक्त और उत्कृष्ट द्वादशभक्त (५ उपवास) इस प्रकार चार परिहारी साधुओं की तपश्चर्या जाने और अनुपरिहारी तथा वाचनाचार्य तो तप प्रवेश के अतिरिक्त काल में सर्वदा आचाम्ल (आयंबिल) करते हैं और तपः प्रवेश समय पूर्वोक्त तपश्चर्या करते हैं । यह परिहार कल्प १८ मास में समाप्त होने के बाद वे मुनि पुनः वही परिहार कल्प आरंभ करे अथवा जिन कल्पी हो (अर्थात् जिनेन्द्र भगवंत का अनुसरण करती उत्सर्ग मार्ग की उत्कृष्ट क्रियावाला कल्प वह जिनकल्प अंगीकार करे) अथवा स्थविर कल्प में (अपवाद मार्ग की सामाचारीवाले गच्छ में) प्रवेश करे । यह कल्प अंगीकार करनेवाले प्रथम संघयणी, पूर्वधर लब्धिवाले, ऐसे नपुंसकवेदी अथवा पुरुषवेदी (परन्तु स्त्रीवेदी नहीं ऐसे) मुनि होते हैं । ये मुनि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(४) सूक्ष्म संपराय चारित्र : सूक्ष्म अर्थात्[51] किट्टिरूप (चूर्णरूप) हुआ जो अति जघन्य **संपराय** अर्थात् लोभ कषाय, उसके क्षयरूप जो चारित्र वह **सूक्ष्म संपराय चारित्र** कहा जाता है । क्रोध, मान और माया ये तीन कषाय क्षय होने के बाद अर्थात् २८ मोहनीय में से सं. लोभ के बिना २७ मोहनीय क्षय होने के बाद और संज्वलन लोभ में भी बादर संज्वलन लोभ का उदय विनाश पाने के बाद जब केवल एक सूक्ष्म लोभ का ही उदय होता है, तब १०वें सूक्ष्म संपराय गुणस्थानक में रहते जीव को **सूक्ष्मसंपराय चारित्र** कहा जाता है । इस चारित्र के दो भेद हैं, उसमें (१) उपशमश्रेणी से गिरते जीव को ११वें गुणस्थानक पर पतित दशा का अध्यवसाय होने से **संक्लिश्यमान सूक्ष्मसंपराय चारित्र** और (२) उपशम श्रेणी में चढते हुए तथा क्षपक श्रेणी से चढते जीव को १०वे गुणस्थानक पर विशुद्ध दशा के अध्यवसाय होने से **विशुध्यमान सूक्ष्मसंपराय चारित्र** होता है ।

(५) यथाख्यात चारित्र :[52] जैनशास्त्र में जैसे प्रकार का चारित्र कहा हैं, ऐसा अथवा सर्व जीवलोक में प्रसिद्ध (तुरंत मोक्ष देनेवाला होने से मोक्ष के मुख्य कारण के रूप में प्रसिद्ध) चारित्र हैं, उसे **यथाख्यात चारित्र** कहा जाता है। जिसका आचरण करके सुविहित मुनि भगवंतो मोक्ष की ओर जाते हैं ।

निर्जरा तत्त्व[53] **और उसके प्रकार :** आत्मा के उपर से कर्मो का अलग होना, उसे **निर्जरा** कही जाती है। बारह प्रकार के तप से कर्मो की निर्जरा होती है । इसलिए बारह प्रकार के तप को ही यहाँ निर्जरा कही हैं । तप के १२ भेद से निर्जरा के भी बारह भेद है । निर्जरा के द्रव्य और भाव ऐसे दो प्रकार भी है । कर्मपुद्गलो को आत्मप्रदेशो में से दूर करना (अलग करना) वह **द्रव्य निर्जरा** और जिससे उन कर्मपुद्गलो का नाश हो, ऐसे आत्मा के तपश्चर्यादिवाले शुद्ध परिणाम वह **भाव निर्जरा** । निर्जरा के **सकाम** और **अकाम** ऐसे दो भेद भी पडते हैं । कर्मनाश की इच्छापूर्वक परिषहादि कष्ट सहन करने से जो निर्जरा हो वह **सकाम निर्जरा** कही जाती हैं और कर्मनाश की इच्छा के बिना आये हुए कष्टो को सहन करने से जो निर्जरा हो उसे **अकाम निर्जरा** कही जाती है । उसके बारह प्रकार अब देखेंगे ।

छः प्रकार का बाह्य तप :[54] **(१) अनशन तप, अन्** अर्थात् नहीं **अशन** अर्थात् आहार अर्थात् - सिद्धान्त विधि से आहार का त्याग करना, वह [55]**अनशन तप** कहा जाता है, परन्तु व्रत प्रत्याख्यान की अपेक्षा रहित भूखे रहने मात्र से अनशन तप नहीं होता हैं, उसे तो लंघन मात्र कहा जाता हैं । **(२) ऊनौदरिका तप - ऊन** अर्थात् न्यून **औदारिका** - उदरपूर्ति करना वह । यहाँ उपकरण की न्यूनता करे और क्षुधा से न्यून आहार करना वह **द्रव्य ऊनौदरिका** तथा राग

आँख में पडा हुआ तृण भी बाहर न निकाले अपवाद मार्ग का आरंभ न करे, तीसरे प्रहर में भिक्षाटन करे, भिक्षा सिवा के समय में कायोत्सर्ग में रहे, किसी को दीक्षा न दे, परन्तु उपदेश दे, नये सिद्धान्त न पढे, परन्तु प्रथम के पढे हुए का स्मरण करे, इत्यादि विशेष सामाचारी ग्रन्थान्तर में से जाने । इस चारित्र की विशुद्धि प्रथम के दो चारित्र की विशुद्धि से अधिक जाने और पूर्वोक्त दो चारित्र के अध्यवसायो से उपर इस चारित्र के अध्यवसाय (आत्मा के विशुद्ध परिणाम) असंख्य लोक के प्रदेश प्रमाण भिन्न तथा क्रमशः अधिक अधिक विशुद्ध जाने । 51.किट्टी करने का विधि ग्रन्थान्तर से जानना । 52. तत्तो अ अहक्खायं, खायं सव्वंमि जीवलोगंमि । जं चरिऊण सुविहिया, वच्चंति अयरामरं ठाणं ।।३३।। (नव.प्र.) 53.बारसविहं तबो णिज्जरा य ।।३४-पूर्वार्ध।। (नव.प्र.) 54. अणसणमूणोअरिया, वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होई ।।३५।। (नव.प्र.) 55. उसके दो भेद हैं । १ यावज्जीव और २. इत्वरिक । वहाँ पादपोपगम और भक्त प्रत्याख्यान ये दो अनशन मरण पर्यंत संलेखनापूर्वक किया जाता हैं, उसके भी निहारिम और अनिहारिम ऐसे दो दो भेद हैं, वहाँ अनशन अंगीकार करने के बाद शरीर को नियतस्थान से बाहर निकालना वह निहारिम और उसी स्थानक पर रहना वह अनिहारिम । ये चारो भेद यावज्जीव अनशन के हैं और इत्वरिक अनशन सर्व से और देश से ऐसे दो प्रकार से हैं । वहाँ चारो प्रकार के आहार के त्यागवाला (चउविहार) उपवास-छट्ठ - अट्ठम आदि सर्व से कहा जाता है और नमुक्कारसहियं पोरिसी आदि देश से कहा जाता हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इत्यादि अल्प करना वह **भाव ऊनोदरिका** । इस तप में पुरुष का आहार ३२ कवल और स्त्री का आहार २८ कवल अनुसार गिनकर यथायोग्य पुरुष की ऊनोदरिका ९-१२-१६-२४ और ३१ कवल भक्षण से पाँच प्रकार की है और स्त्री की ऊनोदरिका ४-८-१२-२०-२७ कवल भक्षण द्वारा पाँच प्रकार की है । **(३) वृत्तिसंक्षेप** : द्रव्यादिक चार भेद से मनोवृत्ति का संक्षेप अर्थात् द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से भिक्षा इत्यादि के अभिग्रह धारण करना वह । अर्थात् द्रव्य से - अमुक वस्तु का, क्षेत्र से - अमुक स्थान का, काल से - अमुक काल में और भाव से रागद्वेष रहित होकर जो (मनोवृत्तियाँ पीछे हटानेरूप) वृत्ति संक्षेप, वह, द्रव्यादिक से ४ प्रकार का कहा जाता है । **(४) रसत्याग तप** : रस अर्थात् दूध - दहीं - घी - तेल - गुड और तली हुई वस्तु, ये ६ **लघुविगइ** तथा मदिरा - मांस - मक्खन और मधु (शहद) ये चार **महाविगइ,** वहाँ महाविगय का सर्वथा त्याग और लघुविगय का द्रव्यादि चार भेद से यथायोग्य त्याग करना, उसे **रसत्याग** कहा जाता हैं । **(५) कायक्लेश तप** : वीरासन आदि आसनो से (बैठने की विधियों से) बैठना, कायोत्सर्ग करना और केश का लोच करना इत्यादि कायक्लेश तप हैं । **(६) संलीनता तप** : संलीनता अर्थात् संवरण करना, संकुचाना, वहाँ अशुभ मार्ग में प्रवर्तित होती इन्द्रियो का संवरन करना, अर्थात् पीछे हटाना वह **इन्द्रिय संलीनता,** कषायो को रोकना वह **कषाय संलीनता,** अशुभ योग से निवर्तन करना वह **योग संलीनता** और स्त्री, पशु, नपुंसक के संसर्गवाले स्थान का त्याग करके अच्छे स्थान में रहना उसे **विविक्तचर्या संलीनता** कहा जाता हैं । ऐसे ४ (चार) प्रकार का संलीनता तप जाने ।

इस प्रकार छः प्रकार का बाह्य तप हैं, कि जो तप लोक भी देखकर उसे तपस्वी कहते हैं और बाह्य दिखावेवाला है। तथा शरीर को तपाता है, इसलिए ये छः प्रकार का तप बाह्य तप कहा जाता हैं ।

छः अभ्यंतर तप[56] : प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग ये छः प्रकार का अभ्यंतर तप हैं ।

विशेषार्थ : अब ६ प्रकार का अभ्यन्तर तप कहते हैं । जो तप लोग बाह्यदृष्टि से जान नहीं सकते हैं, जिस तप से लोग तप करनेवाले को तपस्वी नहीं कहते है, जिससे बाह्य शरीर तपता नहीं है, परन्तु अभ्यन्तर आत्मा को और मन को तपाता है और विशेषतः जो तप अंतरंग प्रवृत्तिवाला होता है, ऐसे प्रायश्चित्त आदिक को **अभ्यन्तर तप** कहा हैं । उसका स्वरूप इस प्रकार से है -

1 **१० प्रकार का प्रायश्चित तप** : हो गये हुए अपराध की शुद्धि करना वह प्रायश्चित्त तप के १० भेद इस प्रकार से है - **(१) आलोचना प्रायश्चित्त** - किये हुए पाप का गुरु आदि समक्ष प्रकाश करना वह । **(२) प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त** - हो गया हुआ पाप पुनः नहीं करने के लिए मिच्छामि दुक्कडं (मेरा पाप मिथ्या हो ऐसा) कह देना वह । **(३) मिश्र प्रायश्चित्त** - किया हुआ पाप गुरु समक्ष कहना और मिथ्या दुष्कृत भी देना वह । **(४) विवेक प्रायश्चित्त** - अकल्पनीय अन्नपान विधिपूर्वक त्याग करना वह । **(५) कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त** - काया का व्यापार बन्ध रखकर ध्यान करना वह। **(६) तप - प्रायश्चित्त** - किये हुए पाप के दंडरूप नीवी प्रमुख तप करना वह । **(७) छेद प्रायश्चित्त** - महाव्रत का घात होने से अमुक प्रमाण का दीक्षा काल छेदना - कम करना वह । **(८) मूल प्रायश्चित्त** - महा अपराध होने से मूल से पुनः चारित्र देना वह। **(९) अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त** - किये हुए अपराध का प्रायश्चित्त न करे तब तक महाव्रत का उच्चरण न करना वह । **(१०) पारांञ्चित प्रायश्चित्त** - साध्वी का शील भंग करने से अथवा राजा की रानी इत्यादि के साथ अनाचार सेवन हो जाने से अथवा ऐसे दूसरे शासन के महा उपघातक पाप के दंड के लिए १२ वर्ष गच्छ से बाहर

56.पायच्छित्तं विणओ, वैयावच्चं तहेव सज्झाओ, झाणं उस्सग्गोऽवि अ, अब्भिंतरओ तवो होइ ।।३६।। (नव.प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निकलकर वेष का त्याग करके, महा शासन प्रभावना करने के बाद पुनः दीक्षा लेकर, गच्छ में आना वह ! यहाँ **प्रायः** अर्थात् विशेष से, **चित्त** की विशुद्धि करे, वह प्रायश्चित्त ऐसा शब्दार्थ जानना ।

● **७ प्रकार का विनय :** गुणवंत की भक्ति - बहुमान करना अथवा आशातना न करनी उसे **विनय** कहा जाता हैं, वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र, मन-वचन-काया और उपचार ऐसे ७ प्रकार का हैं अथवा मन आदि ३ योग रहित ४ प्रकार का भी है।

वहाँ ७ प्रकार का विनय इस प्रकार से है - **(१) ज्ञान विनय** - ज्ञान तथा ज्ञानी की बाह्य सेवा करना वह **भक्ति,** अंतरंग प्रीति करना वह **बहुमान,** ज्ञान द्वारा देखे हुए पदार्थों के स्वरूप की भावना करना वह **भावनाविषय,** विधिपूर्वक ज्ञान ग्रहण करना वह **विधिग्रहण** और ज्ञान का अभ्यास करना वह **अभ्यास विनय** ऐसे पांच प्रकार से **ज्ञानविनय** हैं। **(२) दर्शन विनय** - देव गुरु की उचित किया संभालनी वह **शुश्रुषा विनय** और आशातना न करना वह **अनाशातना विनय** ऐसे २ प्रकार का दर्शन विनय हैं । **पुनः शुश्रुषा विनय १० प्रकार का हैं** । वह इस प्रकार से है - स्तवना - वंदना करना वह **सत्कार,** आसन से खडे हो जाना वह **अभ्युत्थान,** वस्त्रादि देना वह **सन्मान,** बैठने के लिए आसन लाकर "बैठिए" कहना वह **आसन परिग्रहण,** आसन व्यवस्थित रखना वह **आसन प्रदान,** वंदना करना वह **कृतिकर्म,** दो हाथ जोडना वह **अञ्जलिग्रहण,** आये तब सामने जाना वह **सन्मुखगमन,** जाये तब छोडने जाना वह **पश्चाद्गमन** और बैठे हो तब वैयावच्च करना वह **पर्युपासना,** ये १० प्रकार से शुश्रूषा विनय जाने । **तथा अनाशातना विनय के ४५ भेद हैं** । वह इस प्रकार से है - तीर्थंकर - धर्म - आचार्य - उपाध्याय - स्थविर - कुल - गण - संघ - सांभोगिक (एक मंडली में गोचरी वाले) तथा समनोज्ञ साधर्मिक (समान सामाचारीवाले) ये १० तथा ५ ज्ञान, ये १५की आशातना का त्याग, उपरांत इन १५ का भक्ति-बहुमान और इन १५ की वर्णसंज्वलना (गुण प्रशंसा) इस प्रकार से ४५ भेद से दूसरा अनाशातना दर्शन विनय जानना। **(३) चारित्र विनय** - पाँच चारित्र की सद्दहणा (श्रद्धा), (काया द्वारा) स्पर्शना - आदर - पालन और प्ररूपणा, वह पाँच प्रकार का चारित्र विनय जानना ! **(४-५-६) योग विनय** - दर्शन तथा दर्शनी का मन-वचन-काया के द्वारा अशुभ न करना और शुभ में प्रवृत्ति करना, वह ३ प्रकार का योग विनय हैं । (यह ३ प्रकार का योग विनय-उपचार विनय में अन्तर्गत मानने से मूल विनय ४ प्रकार का होता है ।) **(७) उपचार विनय** - यह विनय ७ प्रकार का हैं । १. गुर्वादिके पास रहना, २. गुर्वादिक की इच्छा का अनुसरण करना, ३. गुर्वादिक का आहार लाना इत्यादि से प्रत्युपकार करना, ४. आहारादि देना ५. औषधादिक से परिचर्या करना, ६. अवसर के उचित आचरण करना और ७. गुर्वादिक के कार्य में तत्पर रहना ।

१. ज्ञान, दीक्षापर्याय ओर वय स अधिक, २. व्याधिग्रस्त साधु, ३. नवदीक्षित शिष्य, ४. एक मंडली में गोचरी के व्यवहारवाले, ५. चन्द्रकुल, नागेन्द्रकुल इत्यादि, ६. आचार्य का समुदाय और ७. सर्व साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका ।

१० प्रकार से वैयावृत्य : (१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) तपस्वी, (४) स्थविर, (५) ग्लान, (६) शैक्ष, (७) साधर्मिक, (८) कुल (९) गण (१०) संघ - ये १० का यथायोग्य आहार वस्त्र, वसति, औषध, पात्र, आज्ञापालन इत्यादि से भक्ति - बहुमान करना - वह १० प्रकार से वैयावृत्त्य कहा जाता है ।

५ प्रकार से स्वाध्याय : पढना, पढाना वह **वाचना,** संदेह पूछना वह **पृच्छना,** पढा हुआ अर्थ याद करना वह **परावर्तना,** धारण किये हुए अर्थ के स्वरूप का विचार करना वह **अनुप्रेक्षा** और धर्मोपदेश देना वह धर्मकथा ये पाँच प्रकार का स्वाध्याय जानना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

● **ध्यान - शुभ ध्यान - २ प्रकार से :** ध्यान अर्थात् योग की एकाग्रता अथवा योगनिरोध ऐसे दो अर्थ हैं । वहाँ ४ प्रकार का धर्मध्यान और ४ प्रकार का शुक्लध्यान है । वह यहाँ अभ्यन्तर तपरूप निर्जरातत्त्व में माना जाता हैं और ४ प्रकार का आर्तध्यान तथा ४ प्रकार का रौद्रध्यान संसारवृद्धि करनेवाला होने से यहाँ निर्जरातत्त्व में नहीं गिने जायेंगे । उस धर्म तथा शुक्ल ध्यान के ४-४ भेद हैं ।

आर्त्तध्यान के चार प्रकार - चार प्रकार का आर्त्तध्यान इस प्रकार से है - स्वजनादि इष्ट वस्तु का वियोग होने से, जो चिन्ता शोक आदि हो वह **इष्टवियोग आर्त्तध्यान,** अनिष्ट वस्तु के संयोग से "उस वस्तु का वियोग कब होगा ?" ऐसी चिंता करना वह **अनिष्ट संयोग आर्त्तध्यान,** शरीर में रोग होने से जो चिंता हो, वह **चिंता आर्त्तध्यान** और भविष्य के सुख की चिंता करना और की हुई तपश्चर्या का निदान = भौतिक रिद्धि-सिद्धि की प्रार्थना करना वह **अग्रशोच आर्त्तध्यान** ।

रौद्रध्यान के चार प्रकार : प्राणीओं की हिंसा का चिंतन करना, वह **हिंसानुबंधि**, असत्य बोलने का चिंतवन वह **मृषानुबन्धि,** चोरी करने का चिंतवन वह **स्तेयानुबन्धि** और परिग्रह के रक्षण के लिए अनेक चिंता करना, वह **संरक्षणानुबन्धि रौद्रध्यान** है।

- **धर्मध्यान के चार प्रकार :** "श्री जिनेश्वर की आज्ञा-वचन सत्य है" ऐसी श्रद्धापूर्वक चिंतवन करना, वह **आज्ञाविचय,** "राग आदिक आश्रव इस संसार में अपायभूत-कष्टरूप है" ऐसा चिंतवन करना, वह **अपायविचय,** "सुख, दुःख वह पूर्व कर्म का विपाक (फल) है" ऐसा चिंतन करना वह **विपाकविचय** और षड्द्रव्यात्मक लोक का स्वरूप सोचना वह **संस्थान विचय धर्मध्यान,** इस प्रकार से ४ भेद हैं ।

- **शुक्लध्यान के चार प्रकार** - इस ध्यान का प्रथम भेद **पृथक्त्व वितर्क सविचार हैं** । **पृथक्त्व** अर्थात् भिन्नता, वह जो द्रव्य, गुण अथवा पर्याय का ध्यान चालू हो उसी द्रव्यगुणपर्याय में स्थिर न रहते हुए, वह ध्यान अन्य द्रव्य, गुण, पर्याय में चला जाता है। इसलिए पृथक्त्व तथा श्रुतज्ञानी को ही यह ध्यान (विशेषतः पूर्वधर लब्धिवंत को होने से) पूर्वगत श्रुत के उपयोगवाला होता है इसलिए - **वितर्कः श्रुतम्** इति वचनात् **वितर्क** और एक योग से दूसरे योग में, एक अर्थ से, दूसरे अर्थ में और एक शब्द से दूसरे शब्द में अथवा शब्द से अर्थ में और अर्थ से शब्द में, इस ध्यान का **विचार** अर्थात् संचार हो, इसलिए **(विचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रांति** : इति वचनात्) **सविचार,** इसलिए **पृथक्त्ववितर्कसविचार** कहा जाता है । (यह ध्यान श्रेणिवंत को ८ में से १२ वे गुणस्थानक तक होता हैं ।)

तथा पूर्वोक्त पहले भेद से विपरित लक्षणवाला वायु रहित दीपकवत् निश्चल एक ही द्रव्यादिक के चिंतनवाला होने से **अपृथक्त्व** अर्थात् एकत्वपन, परन्तु यह ध्यान भी पूर्वधर को श्रुतानुसारी चिंतनवाला होने से **वितर्क** सहित और अर्थ व्यंजन और योग की पहले कहे अनुसार संक्रान्ति - संचरण न होने से **अविचारवाला** है । इसलिए यह दूसरा शुक्लध्यान **एकत्व (अपृथक्त्व) वितर्क अविचार** कहा जाता हैं । इस ध्यान के अंत में केवलज्ञान होता हैं ।

तथा - तेरहवें गुणस्थान के अंत में मन-वचन-योग रुंधने-रोकने के बाद काययोग रुंधते समय सूक्ष्म काययोगी केवली को **सूक्ष्मक्रियाअनिवृत्ति** नामका तीसरा शुक्लध्यान हैं अर्थात् इस ध्यान में सूक्ष्म काययोग रूप क्रिया होती है। और यह ध्यान पीछे मोड़नेवाला (रखनेवाला) नहीं होने से, उसका **सूक्ष्मक्रियाअनिवृत्ति नाम हैं** ।

तथा **शैलेशी** अवस्था में (१४वें गुणस्थान पर अयोगी को) सूक्ष्मकाय क्रिया का भी विनाश होता है और वहाँ से पुनः गिरना भी नहीं है, इसलिए उस अवस्था में **व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती** नामका चौथा शुक्लध्यान होता है । यह चौथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शुक्लध्यान पूर्वप्रयोग से होता है, जैसे दंड के द्वारा चक्र घुमाकर दंड निकाल लेने के बाद भी चक्र फिरता ही रहता है, वैसे यह ध्यान भी जानना ।

शुक्ल ध्यान के चार भेद में पहले दो शुक्लध्यान छद्मस्थ को और अंतिम दो ध्यान केवलि भगवंत को होता हैं । तथा पहले तीन ध्यान सयोगी को और अंतिम १ ध्यान अयोगी को होता है । तथा इन चारों ध्यान का प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण का होता हैं, **छाद्मस्थिक ध्यान योग की एकाग्रतारूप हैं और कैवलिक ध्यान योगनिरोधरूप हैं।**

उपवास, एकासन, आयंबिल, ऊनोदरी, विगयत्याग, कायक्लेश इत्यादि अनेक प्रकार की बाह्य तपश्चर्या को "यह तो बाह्य तप हैं, ऐसी तपश्चर्या तो जानवर भी करते हैं ।" इत्यादि वचन से बाह्य तपश्चर्यारूप निर्ज्जरा धर्म का अनादर न करना। क्योंकि बाह्य अनेक महा लब्धियों की उत्पत्ति भी बाह्य तपश्चर्या के बिना केवल अभ्यन्तर तप से होती नहीं है। अभ्यंतर तप करने में शूर ऐसे छद्मस्थ अरिहंत भगवंत भी चारित्र लेने के बाद छद्मस्थ अवस्था पर्यन्त घोर तपश्चर्यायें करते है । तब ही निर्ज्जरा धर्म प्रकट होने से सर्वज्ञत्व प्राप्त होता हैं । इसलिए बाह्य तपश्चर्या आत्मा का सच्चा कसौटी धर्म है इतना ही नहि परन्तु बाह्य तपश्चर्या यही अभ्यन्तर तपश्चर्या का लिंग (स्पष्ट निशानी) हैं । आत्मा यदी आत्म धर्म सन्मुख हुआ हो तो बाह्य तपश्चर्या अवश्य प्राप्त होती है । उपरांत बाह्य तप और अभ्यन्तर तप दोनों परस्परोत्पादक हैं, इसलिए बाह्य तप के परिणाम से अभ्यन्तर तप प्रकट होता है और अभ्यन्तर तप से बाह्यतप तो अवश्य प्रकट होगा ही, इसलिए उपवास आदि बाह्यतप भी मांगलिक हैं, सर्वसिद्धिदायक हैं और परंपरा से मुक्तिदायक भी हैं, ऐसा जानकर, हे जिज्ञासु ! आप परम पवित्र ऐसे बाह्य तप का भी अति हर्ष से आदर करे और बाह्य तप का अवर्णवाद न बोले ।

१ २ प्रकार से कायोत्सर्ग : काय अर्थात् काया इत्यादि के व्यापार का उत्सर्ग अर्थात् त्याग, वह कायोत्सर्ग अथवा (सामान्य शब्द से) उत्सर्ग कहा जाता हैं । उस उत्सर्ग के **द्रव्योत्सर्ग** और **भावोत्सर्ग** ये दो भेद हैं । वहाँ द्रव्योत्सर्ग ४ प्रकार का और भावोत्सर्ग ३ प्रकार का हैं, वह इस प्रकार से है -

४ द्रव्योत्सर्ग - गण-गच्छ का त्याग करके जिनकल्प आदि कल्प अंगीकार करना, वह **गणोत्सर्ग** । (पादपोपगम आदि भेदवाले) अनशनादिक व्रत लेकर काया का त्याग करना, वह **कायोत्सर्ग** । कल्प विशेष की सामाचारी अनुसार उपधि का त्याग, वह **उपाधि उत्सर्ग** और अधिक अथवा अशुद्ध आहार का त्याग करना, वह **अशुद्धभक्तपानोत्सर्ग** ।

३ भावोत्सर्ग - कषाय का त्याग, वह **कषायोत्सर्ग** । भव के कारणरूप मिथ्यात्वादि बंध हेतु का त्याग करना, वह **भवोत्सर्ग,** ज्ञानावरण आदि कर्म का त्याग वह **कर्मोत्सर्ग** ।

इस प्रकार से ६ प्रकार का अभ्यन्तर तप परम निर्ज्जरा का कारण हैं, उसका स्वरूप कहा, उसके साथ निर्ज्जरातत्व भी समाप्त हुआ ।

८. बन्ध तत्त्व : दूध और पानी की तरह आत्मा और कर्म का एकरूप होना उसे बंध कहा जाता हैं । उसके ४ प्रकार हैं ।[57] (१) प्रकृतिबंध, (२) स्थितिबंध, (३) अनुभाग (रस) बंध और (४) प्रदेश बंध - इन चारों बंध का स्वरूप नीचे बतायें अनुसार से हैं । (यहाँ मोदक के दृष्टान्त से प्रकृतिबन्ध आदि चार प्रकार के बंध तत्त्व का स्वरूप कहा जाता है, वह इस अनुसार से है -)

(१) प्रकृतिबन्ध : आत्मा के साथ बंधी हुई कार्मण वगणा वह कर्म, कार्मण वर्गणा और आत्मा का संबंध वह बंध। किसी भी प्रकार का स्वभाव निश्चित होने से ही बंध होता है । इसलिए वह प्रकृतिबंध । जैसे मोदक में सूँठ का मोदक वायु

57.बंधो चउविगप्पो अ ! पयइ - ठिइ - अनुभाग - पएसभेएहिं नायव्वो ।।३४।। (नव.प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का हरण करता है, जीरे आदिक का मोदक पित्त का हरण करता है और कफापहारी द्रव्य का मोदक कफ हरता है, वैसे कोई कर्म ज्ञान-गुण का आवरण करता है, कोई कर्म दर्शनगुण का आवरण करता है, इत्यादि तरह से बंधकाल में एक समय में अलग-अलग स्वभाव नियत होना वह प्रकृतिबन्ध कहा जाता हैं । यहाँ प्रकृति अर्थात् स्वभाव, ऐसा अर्थ हैं ।

(२) स्थितिबन्ध : जिस समय कर्म बंधता है, उसी समय कोई भी कर्म बंधने से "यह कर्म इतने काल तक आत्म प्रदेशों के साथ रहेगा" ऐसा समय निश्चित होना वह स्थिति बंध कहा जाता हैं । जैसे कोई मोदक १ महीने तक रहता है, कोई मोदक १५ दिन तक रहता है और उसके बाद वह बिगड जाता है, वैसे कोई कर्म उत्कृष्ट से ७० कोडाकोडी सागरोपम तक और कोई कर्म ५० कोडाकोडी सागरोपम तक जीव के साथ स्वस्वरूप में रहता है, उसके बाद उस कर्म के स्वरूप का विनाश होता है, वह स्थितिबंध ।

(३) अनुभाग बंध : जिस समय जो कर्म बंधता है, उस कर्म का फल जीव को आह्लादकारक शुभ या दुःखदायी - अशुभ प्राप्त होगा ? वह शुभाशुभता भी उसी समय नियत होती है, वैसे ही वह कर्म जब शुभाशुभरूप से उदय में आये, तब तीव्र, मंद या मंदतर उदय में आयेगा ? वह तीव्रमंदता भी उसी समय नियत होती है, इसलिए शुभाशुभता और तीव्रमंदता का जो नियतत्व बंध के समय होना वह अनुभाग बंध अथवा रसबंध कहा जाता है । जैसे कोई मोदक अल्प या अति मधुर हो, अथवा अल्प या अति कटुआ हो, वैसे कर्म में भी कोई कर्म शुभ हो और कोई कर्म अशुभ हो, उसमें भी कोई कर्म तीव्र अनुभव दे, कोई कर्म मंद अनुभव दे ऐसा बंधता है । वैसे ही कर्म के उदय-फल के विषय में तीव्रमंदता का विचार करे ।

(४) प्रदेश बंध : जैसे मोदको में कोई मोदक ०। शेर कनिक का (आटे का), कोई मोदक उससे ज्यादा कणिक का होता है, वैसे बंध के समय कोई कर्म के ज्यादा प्रदेश और कोई कर्म के अल्प प्रदेश बंधते है । परन्तु प्रत्येक कर्म के प्रदेशो की समान संख्या नहीं बंधती हैं, वह इस अनुसार से - आयुष्य के सब से अल्प, नाम-गोत्र के उससे विशेष, परन्तु परस्पर तुल्य, ज्ञान-दर्शन-अन्तराय के उससे भी विशेष और परस्पर तुल्य । मोहनीय के उससे भी विशेष और वेदनीय के सब से विशेष प्रदेश बंधते है, उसे प्रदेशबंध जानना ।

- कर्म के स्वभाव[59] : पूर्व में कर्मबन्ध के चार प्रकार का स्वरूप देखा, अब कर्म के स्वभाव बताते हैं

(१) ज्ञानावरणीय : यह कर्म का स्वभाव जीव के ज्ञानगुण को ढकने का है और वह ज्ञानावरणीय कर्म चक्षु की पट्टी के समान है अर्थात् चक्षु (आँख) पर पट्टी बाँधने से जैसे कोई वस्तु देखी-जानी नहीं जा सकती वैसे ज्ञानावरणीय कर्मरूप पट्टी से ज्ञानरूप चक्षु द्वारा कुछ जाना नहीं जा सकता है । इस कर्म से जीव का अनन्त ज्ञानगुण आच्छादित होता हैं । **(२) दर्शनावरणीय :** यह कर्म का स्वभाव जीव के दर्शनगुण को ढक देता है । जैसे द्वारपाल द्वारा रोके गये मनुष्यो को राजा नही देख सकता, वैसे जीवरूपी राजा दर्शनावरण कर्म के उदय से पदार्थ और विषय को नहीं देख सकता है । इस कर्म से जीव का अनन्त दर्शनगुण आच्छादित होता है । **(३) वेदनीय कर्म का** स्वभाव जीव को सुख दुःख देने का है । जैसे शहद (मधु) द्वारा लेपायमान तलवार को चाटने से प्रथम मीठापन लगता है, परन्तु जुबान कटने से बाद में दुःख भुगतना पडता है, वैसे यहाँ शाता वेदनीय का अनुभव करने के परिणाम स्वरूप अतिशय अशातावेदनीय का भी अनुभव करना पडता हैं । यह कर्म जीव के अव्याबाध - अनन्त सुख गुण को रोकता हैं । **(४) मोहनीय कर्म :** का स्वभाव जीव के सम्यक्त्व गुण तथा अनन्त चारित्र गुण को रोकने का हैं, यह मोहनीय कर्म मदिरा के समान हैं, जैसे मदिरा पीने से जीव बेहोश होता हैं, हित-अहित जानता नहीं है, वैसे मोहनीय के उदय से भी जीव धर्म-अधर्म कुछ भी जान नहीं

59.पडपडिहारऽसिमज्ज हडचित्तकुलालभंडगारीणं जह एएसिं भावा, कम्माणऽवि जाण तह भावा ।।३८।। (नव.प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकता, शुरु नहीं कर सकता और पालन नहीं कर सकता । इस कर्म से दर्शन और अनंत चारित्रगुण रुक जाते हैं । **(५) आयुष्य कर्म का** स्वभाव जीव को कुछ खास गति में कुछ खास काल तक रोककर रखने का हैं, इसलिए यह कर्म जंजीर के समान है। जैसे जंजीर में पडा हुआ मनुष्य राजाने नियत की हुई मुदत तक केदखाने में से बाहर नहीं निकल सकता, वैसे तत् तत् गति संबंधित आयुष्य कर्म के उदय से जीव तत् तत् गति में से निकल नहीं सकता हैं । इस कर्म से जीव का अक्षयस्थिति गुण रुक जाता है । **(६) नामकर्म** का स्वभाव चित्रकार के समान है । निपुण चित्रकार जैसे अनेक रंगो से अंग-उपांग युक्त देव, मनुष्य आदि के अनेक रूपो का चित्र बनाता हैं, वैसे चित्रकार के समान नामकर्म भी अनेक वर्णवाले अंग-उपांग युक्त देव, मनुष्य आदि अनेक रुप बनाता हैं । इस कर्म का स्वभाव जीव के अरुपी गुण को रोकने का हैं । **(७) गोत्रकर्म :** कुम्भकार के समान है । जैसे कुम्हार कुंभ स्थापना इत्यादि के लिए उत्तम घडे बनाये, तो मांगलिक के रुप में पूजे जाते है और मदिरादिक के घडे बनाये तो निंदनीय होते है। वैसे जीव भी उच्च गोत्र में जन्म ले तो पूजनीक और नीच गोत्र में जन्म ले तो निंदनीक होता है । इस कर्म का स्वभाव जीव के अगुरुलघु गुण को रोकने का हैं । **(८) अन्तराय कर्म :** खजानची के समान हैं । जैसे राजा दान देने के स्वभाववाला (दाता) हो परन्तु राज्य की तिजौरी का व्यवहार करनेवाला खजानची यदि प्रतिकूल हो तो कुछ कुछ खास प्रकार का राज्य को घाटा है, इत्यादि बारबार समजाने से राजा अपनी इच्छा अनुसार दान नहीं दे सकता, वैसे जीव का स्वभाव तो अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य लब्धिवाला है, परन्तु इस अन्तराय कर्म के उदय से जीव के वे अनंत दानादि स्वभाव सार्थक-प्रकट नहीं हो सकते हैं । **कर्म की आठ प्रकृतियाँ और इसकी उतरप्रकृतियाँ का तथा जैनदर्शन के कर्मविषयक तत्त्व का विशेष प्रतिपादन "जैनदर्शन का कर्मवाद" चेप्टर में आगे आयेगा ।**

९. मोक्षतत्त्व और उसका स्वरूप :[60]

१. मोक्ष अथवा सिद्ध सत् विद्यमान हैं या नहीं ? उसके संबंधी प्ररूपणा - प्रतिपादन करना, वह **सत्पद प्ररूपणा** और जो हैं, तो गति आदि १४ मार्गणा में से कौन-कौन सी मार्गणा में वह मोक्षपद हैं, उसके संबंधी प्ररूपणा करना वह भी **सत्पद प्ररूपणाद्वार** । २. सिद्ध के जीव कितने हैं ? उसकी संख्या संबंधी विचार करना वह **द्रव्य प्रमाणद्वार** । ३. सिद्ध के जीवो का कितने क्षेत्र में अवगाहन हैं, रहते हैं, वह निश्चित करना, वह **क्षेत्रद्वार** । ४. सिद्ध के जीव कितने आकाश प्रदेश को तथा सिद्ध को स्पर्श करते हैं ? अर्थात् **क्षेत्र से** और **परस्पर** ऐसे दो प्रकार से कितनी स्पर्शना हैं ? उसका विचार कहना वह २ प्रकार का **स्पर्शना द्वार** हैं । ५. सिद्धत्व कितने काल तक रहता हैं ? उसका विचार करना यह **कालद्वार**। ६. सिद्ध को अंतर हैं या नहीं ? अर्थात् सिद्ध कोई वक्त संसारी होकर पुनः सिद्ध हो, ऐसा बनता है या नहि ? उसके संबंधित विचार करना वह **कालअन्तर द्वार** । तथा परस्पर अन्तर हैं या नहीं, वह **परस्पर अन्तर द्वार** ये दो प्रकार का अन्तर द्वार हैं । ७. सिद्ध के जीव संसारी जीवो से कितने भाग में हैं, यह सोचना वह **भागद्वार** । ८. उपशम आदि ५ भाव में सिद्ध कौन-से भाव से माने जाते हैं ? वह सोचना वह **भावद्वार** । ९. सिद्ध के १५ भेद में से कौन से भेदवाले सिद्ध होने से एक दूसरे से कितने कम ज्यादा हैं ? उसके संबंधि विचार करना वह **अल्पबहुत्व द्वार** ।

जैन शास्त्रो में पदार्थो की विचारणा के लिए जिज्ञासुओं की शंकाओ के जवाब के रूप में भिन्न भिन्न मार्ग बताये होते हैं। उसे **अनुयोग** कहते हैं । ऐसे अनुयोग बहोत प्रकार के होते हैं । उसमें से यहाँ बताये हुए ९ अनुयोग विशेष प्रचार में हैं और सामान्य रुप से प्रत्येक पदार्थों का उस अनुयोगों से विचार चलाया जा सकता हैं । नवतत्त्व की विचारणा के समय खास करके मोक्षतत्त्व का स्वरूप ये नौ अनुयोगो द्वारा समजाया है । इसलिए उसे उसके भेद कहे हैं । वस्तुतः ये ९ वें तत्त्व के ही ९ भेद नही है । प्रत्येक को लागू पडते हैं । अब क्रमशः उपर बताये हुए द्वारो की विचारणा करेंगे ।

60. संतपय-परूवणया, दव्वप्रमाणं च खित्त फुसणा य । कालो अ अंतरं भाग भावे अप्पाबहुं चेव ।।४३।। (नव.प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१) सत्पद प्ररूपणा :

संतं सुद्धपयत्ता, विज्जंतं खकुसुमव्व न असंतं । मुक्खत्ति पयं तस्स उ, परुवणा मग्गणाईहिं ।।४४।।

गाथार्थ : "मोक्ष" सत् है - शुद्ध पद होने से विद्यमान हैं । आकाश के फूल की तरह अविद्यमान नहीं है - "मोक्ष" इस प्रकार का पद है और मार्गणा द्वारा उसकी विचारणा होती हैं ।

न्यायशास्त्र में किसी भी वस्तु सिद्ध कर देने के लिए पाँच अवयववाले वाक्य का प्रयोग होता है, वह इस प्रकार से है-

प्रतिज्ञा - मोक्ष, सत् है । **हेतु** - शुद्ध = अकेले पद के अर्थरूप होने से विद्यमान है ।

उदाहरण - जो जो एक पद हो, उसके अर्थ होते ही है । जैसे कि, घोडा, गाय, इत्यादि, एक-एक पद हैं, इसलिए उसके पदार्थ भी है । उपरांत जो जो शुद्ध - अकेले पद नहीं है, परन्तु जुडे हुए पद है । उसके अर्थ हो या न भी हो, राजपुत्र यह अशुद्ध पद हैं, फिर भी उसका अर्थ है और आकाश का फूल, उसका अर्थ नहीं है । ऐसा यह असत् नही हैं, ऐसी विरुद्ध घटनावाला उदाहरण गाथा में दिया हैं । **उपनय** - "मोक्ष" यह शुद्ध पद है । इसलिए उसका अर्थ है । **निगमन** - उस मोक्ष पद के अर्थरूप जो पदार्थ वही मोक्ष । यहाँ उपनय और निगमन एक साथ संक्षिप्त में कहे हैं । इस तरह से मोक्ष का अस्तित्व सिद्ध हो जाने के बाद मार्गणा इत्यादि से उसकी विचारणा करने से उसके स्वरूप की विस्तार से साबितीयाँ (प्रमाण) मिलती है और द्रव्य प्रमाण इत्यादि भी अस्तित्व सिद्ध हो तब ही सोचे जा सकते हैं ।

प्रश्न : यहाँ डित्थ, कपित्थ इत्यादि कल्पित एक - एक पदवाले भी पदार्थ नहीं है, वेसे एक पदवाला मोक्ष भी नहीं है, ऐसा मानने में क्या विरुद्ध हैं ?

उत्तर : जिस शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति हो सके उसे पद कहा जाता है । परन्तु अर्थ शून्य शब्द को पद नहीं कहा जाता है और सिद्ध अथवा मोक्ष ये शब्द तो अर्थ और व्युत्पत्ति युक्त है, इसलिए पद कहे जाते हैं, परन्तु डित्थ, कपित्थ इत्यादि शब्द अर्थ शून्य है । इसलिए पद नहीं कहे जाते है । इसलिए वे पदोवाली वस्तु भी नहीं है । परन्तु सिद्ध, मोक्ष ये तो पद है और इसलिए उसकी वस्तु भी हैं ।

1 मूल मार्गणायें[61]और उसके ६२ भेदो का संक्षिप्त अर्थ :-

मार्गणा अर्थात् शोधन, जैन शास्त्र में किसी भी पदार्थ का विस्तार से विचार समझने के लिए अर्थात् उस पदार्थ का गहन तत्त्व - रहस्य स्वरूप खोजने के लिए इन १४ स्थानो पर घटना की जाती है । वह भी एक प्रकार के अनुयोग ही है ।

१. गतिमार्गणा ४ - भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक इन चार प्रकार में से किसी भी देवत्व की परिस्थिति वह **(१) देवगति,** मनुष्यत्व प्राप्त होना वह **(२) मनुष्य गति,** पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पशु, पक्षी, मत्स्य आदिक योनियों में उत्पन्न होना वह **(३) तिर्यंच गति** और रत्नप्रभादि सात पृथ्वीओं में नारकी रुप से उत्पन्न होना वह **(४) नरकगति** ।

२. जाति मार्गणा ५ - स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय - इन पाँच इन्द्रियों मे से क्रमशः १-२-३-४-५ इन्द्रियवाले जीव, वह एकेन्द्रिय जाति, द्विन्द्रिय जाति इत्यादि यावत् - पंचेन्द्रिय जाति कही जाती हैं ।

३. काय मार्गणा ६ - पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पतिरूप काया - शरीर और चल फिर सके ऐसी काया शरीर धारण करे वे जीव अनुक्रम से पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय ।

४. योग मार्गणा ३ - विचार समय प्रवर्तित होता आत्मा का स्फुरण **वह मनोयोग** । वचनोच्चार के समय प्रवर्तित होता आत्मा का स्फूरण वह **वचनयोग,** काया की स्थूल-सूक्ष्म चेष्टा से प्रवर्तित होता आत्मा का स्फुरण वह काययोग।

61.गई इंदिए अ काए, जोए वेए कसाय नाणे अ, संजम दंसण लेसा, भव सम्मे सन्नि आहारे ।।४५।। (नव.प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५. वेद मार्गणा ३ - स्त्रीजाति को होता पुरुष संग का अभिलाष वह **स्त्रीवेद,** पुरुष जाति को होता स्त्रीसंग का अभिलाष वह **पुरुषवेद** और तीसरी जाति को होता स्त्री तथा पुरुष इन दोनों के संग का अभिलाष वह **नपुंसकवेद** ।

६. कषाय मार्गणा ४ - खेद, ईर्ष्या, गुस्से की वृत्ति वह **क्रोध,** गर्व की वृत्ति वह **मान,** छल, कपट की वृत्ति वह **माया** और इच्छा, तृष्णा, ममता की वृत्ति वह **लोभ** । ये चारो वृत्तियाँ ऐसी है कि वे प्रकट हो तब अवश्य नये कर्म बंधते ही है। कर्मबंध का बहोत आधार उसके उपर है । इसलिए उसे **कषाय** कहा जाता है ।

७. ज्ञान मार्गणा ८ - मन और इन्द्रियों के पदार्थ के साथ के संबंध से जो (अर्थ संज्ञा रहित हो तो भी) यथार्थ ज्ञान हो वह **(१) मतिज्ञान** तथा मन और इन्द्रियों के संबंध से श्रुत के अनुसार (शास्त्रानुसारी) अर्थ की संज्ञावाला जो यथार्थज्ञान हो वह **(२) श्रुतज्ञान,** अमुक मर्यादा तक का रुपी पदार्थ का (पुद्गल द्रव्य का) जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहाय बिना आत्मसाक्षात् - प्रत्यक्ष हो वह **(३) अवधिज्ञान,** २।। (ढाई) द्वीप में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणीयों के मनोगत विचार जाना जा सके, ऐसा ज्ञान वह **(४) मनः पर्यवज्ञान** है । यह मनःपर्यवज्ञान में आत्मा को इन्द्रिय तथा मन की आवश्यकता नहीं होती हैं । इसलिए वह भी आत्मसाक्षात् ज्ञान हैं तथा सर्व पदार्थ का संपूर्ण ज्ञान वह **(५) केवलज्ञान** यह ज्ञान भी मन और इन्द्रियों के बिना आत्मसाक्षात् होता हैं ।

ये ५ प्रकार के ज्ञान हैं और ३ प्रकार के अज्ञान, वह भी ज्ञान के भेद में माना जाता हैं, इसलिए ८ ज्ञान कहे जाते हैं। अज्ञान में अ - उल्टा विपरीत अथवा हीन कक्षा का **ज्ञान** वह **अज्ञान** कहा जाता हैं । परन्तु (अ अर्थात् अभाव ऐसे अर्थ से) ज्ञान का अभाव वह अज्ञान ऐसा नहीं, यह ज्ञान मिथ्यात्व युक्त होने से अज्ञान कहा जाता हैं, इसलिए मिथ्यादृष्टिओं का ज्ञान वह अज्ञान और सम्यग्दृष्टिओं का ज्ञान वह ज्ञान कहा जाता हैं ।

प्रश्न : सम्यग्दृष्टि की तरह मिथ्यादृष्टि भी "घट को घट", "पट को पट" इत्यादि वस्तु के विद्यमान धर्म कहते हैं, परन्तु "घट को पट" तथा "पट को घट" ऐसे विपरीत समजते और कहते भी नहीं है, तो भी एक को ज्ञान कहना और दूसरे को अज्ञान कहना यह पक्षपात क्यों ?

उत्तर : उसमें पक्षपात नहीं हैं । परन्तु सत्य वस्तुस्थिति हैं । घडा जैसे एक दृष्टि से घडा है । वैसे दूसरी दृष्टि से उसके दूसरे अनेक स्वरूप हैं । मिथ्यादृष्टिवाले के ध्यान में ये दूसरे अनेक स्वरूप नहीं होते हैं और सम्यग्दृष्टि जिस समय घडे को घडा कहते हैं । उस समय उसके दूसरे स्वरूप उसके ख्याल में होते हैं और मिथ्यादृष्टि घडे को घडा ही कहते हैं - उसका अर्थ यह हैं कि दूसरे स्वरूपो का उसका अज्ञान हैं । इसलिए घडे को जैसा हैं, ऐसा वह जानता नहीं हैं। इसी कारण से व्यवहार में बहोत सच्ची वस्तु को मिथ्या और मिथ्या को सच्ची मानने लगते हैं । जिससे अनर्थ परंपरा बढती हैं, दृष्टि अर्थात् खयाल - उद्देश । मिथ्या ख्याल या उद्देशवाला मनुष्य वह मिथ्यादृष्टि, यह भेद सहज समज में आ जाये ऐसा हैं ।

मिथ्यादृष्टि के मति, श्रुत और अवधिज्ञान; **मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान** और **विभङ्गज्ञान** कहा जाता हैं ? **वि =** विरुद्ध, **भङ्ग =** बोध जिस में है, वह विभङ्गज्ञान ।

८. संयम मार्गणा ७ - संवरतत्त्व के पाँच चारित्र के अर्थ में कही हुई हैं, वहाँ से जानना । सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म संपराय, यथाख्यात, देशविरति और अविरति ।

९. दर्शन मार्गणा ८ - चक्षु से होता सामान्य धर्म का बोध वह **(१) चक्षुर्दर्शन,** चक्षु के सिवा ४ इन्द्रियाँ और मन इन पाँच से होता सामान्य धर्म का बोध वह **(२) अचक्षुर्दर्शन,** अवधिज्ञानी को रूपी पदार्थ जानने में होता सामान्य धर्म का बोध वह **(३) अवधिदर्शन** और केवलज्ञानी को सर्व पदार्थ के सर्व भाव जानने में होता सामान्य धर्म का बोध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह **(४) केवलदर्शन,** यहाँ सामान्य धर्म के उपयोग का कारण वह **दर्शन** और विशेष धर्म के उपयोग का कारण वह **ज्ञान** ।

१०. लेश्या मार्गणा ६ : लेश्या - आत्मा का परिणाम है । उसकी अल्पता-तीव्रता तथा शुभाशुभपन से सामान्यतः छ प्रकार होते हैं। परिणाम वह **भाव लेश्या** और उसमें निमित्तभूत कृष्णादि पुद्गल वह **द्रव्य लेश्या** ।

यहाँ द्रव्य लेश्या पुद्गल स्वरूप होने से शुभ वर्ण, शुभ गंध, शुभ रस और शुभ स्पर्शवाली हो वह **शुभलेश्या** और अशुभवर्णादि युक्त हो वह **अशुभलेश्या** है ।

तथा पुद्गल स्वरूप द्रव्यलेश्या यद्यपि वर्ण, गंध, रस और स्पर्श ये चारो गुण युक्त हैं । तो भी शास्त्र में वर्ण की मुख्यता से वर्ण भेद से लेश्या के भी ६ भेद कहे है, वह इस अनुसार से कृष्णवर्ण युक्त पुद्गलमय **(१) कृष्णलेश्या** नील (हरे) वर्ण के पुद्गलवाली **(२) नील लेश्या,** हरा और लाल ये दो वर्ण की मिश्रतावाली अथवा कबूतर के समान वर्णवाली **(३) कापोतलेश्या,** लाल वर्णयुक्त पुद्गलवाली **(४) तेजोलेश्या,** पीले वर्णवाली **(५) पीतलेश्या** और श्वेत वर्णवाली **शुक्ललेश्या** । ये छः लेश्याओं मे से पहली ३ अशुभ परिणामवाली होने से अशुभ, बाकी की ३ शुभ परिणामवाली होने से शुभलेश्या हैं तथा क्रमशः छः लेश्यायें अधिक अधिक विशुद्ध परिणामवाली हैं, इन ६ लेश्याओं के ६ प्रकार के परिणाम के विषय में शास्त्र में जम्बूफल (जामुन) खानेवाले ६ मुसाफिरो (पथिको) का दृष्टान्त कहा है । वह इस प्रकार से -

जंबूफल भक्षक ६ मुसाफिरों का दृष्टान्त : किसी नगर की ओर जाते अरण्य में आ गये भूखे हुए ६ मुसाफिरोने पके हुए जामुन से झुका हुआ एक महान् जामुन वृक्ष देखकर वे परस्पर जामुन खाने का विचार करने लगे । उसमें से पहलेने कहा कि, "इस पूरे वृक्ष को ही मूल में से उखाडकर नीचे गीरा दे (ये **कृष्णलेश्या** का परिणामी)", दूसरेने कहा "बडी बडी शाखाये तोडकर नीचे गिरा दे (ये **नीललेश्या** का परिणामी)" तीसरेंने कहा, "छोटी छोटी शाखायें नीचे गिरा दे (ये **कापोतलेश्या** का परिणामी), चौथेने कहा, "जामुन के गुच्छे तोडकर नीचे गिरा दे, (ये **तेजोलेश्या** का परिणामी)" पाँचवेंने कहा कि, 'गुच्छो में से पके हुए जामुन ही चूँट चूँट कर नीचे डाले (ये **पद्मलेश्या** का परिणामी)' और छट्ठेंने कहा कि, "जामुन खाकर क्षुधा मिटाना यही हमारा उद्देश हैं, तो ये नीचे भूमि के ऊपर स्वतः गिरे हुए जामुन ही बिनकर खाये, कि जिससे वृक्ष छेदन का पाप करने की आवश्यकता भी न रहे" (ये **शुक्ललेश्या** के परिणामवाला जानना ।) इस प्रकार से क्रमशः विशुद्ध-विशुद्ध लेश्या परिणाम इस दृष्टान्त के अनुसार से सोचे । यहाँ छः चोरो का भी दृष्टान्त सोचे ।

११. भव्य मार्गणा - २ - जगत में कुछ जीव देव-गुरु-धर्म की सामग्री मिलने से कर्मरहित होकर मोक्षपद पा सके ऐसी योग्यतावाले हैं, वे सभी भव्य कहे जाते हैं और कोई कोई मूँग के कौगरु जितने और जैसे अल्प जीव ऐसे भी है, कि जो देव-गुरु-धर्म की संपूर्ण सामग्री मिलने पर भी कर्मरहित होकर मोक्षपद नहीं पा सकते हैं, ऐसे सभी जीव **अभव्य**[62] कहे जाते हैं । यह भव्यत्व तथा अभव्यत्व जीव का अनादि स्वभाव हैं । परन्तु सामग्री के बल से नया स्वभाव उत्पन्न नहीं होता हैं । तथा अभव्य जीव तो आटे में नमक जितने अल्प ही है और भव्य जीव उससे अनन्त गुने

62. अभव्य जीव मोक्षपद नहीं पाते, इतना ही नही, परन्तु नीचे लिखे हुए उत्तम भाव भी नहीं पाते ।

इन्द्रत्व, अनुत्तर देवत्व, चक्रवर्तित्व, वासुदेवत्व, प्रतिवासुदेवत्व, बलदेवत्व, नारदत्व, केवलि हस्त से दीक्षा, गणधर हस्त से दीक्षा, संवत्सरी दान, शासन, अधिष्ठायक देव-देवीत्व, लोकान्तिक देवत्व, युगलिक देवो का अधिपतित्व, त्रायस्त्रिंशत् देवत्व, परमाधामीत्व, युगलिक मनुष्यत्व, पूर्वधर लब्धि, आहारक लब्धि, पुलाक लब्धि, संभिन्न श्रोतोलब्धि, चारण लब्धि, मधुसर्पि लब्धि, क्षीरासव लब्धि, अक्षीण महानसी लब्धि, जिनेन्द्र प्रतिमा को उपयोगी पृथ्वीकायादित्व, चक्रवर्ति के १४ रत्नत्व, सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शुक्ल पक्षीत्व, जिनेन्द्र का मातृ - पितृत्व, युगप्रधानत्व इत्यादि । (इति अभव्यकुलके।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अधिक हैं। पुनः भव्य जीवो में भी बहोत ऐसे जीव है कि, जो किसी काल में त्रसपन पानेवाले ही नहीं है, परन्तु सूक्ष्म एकेन्द्रिय में ही अनादि अनन्तकाल तक जन्म मरण किया करेंगे, जिससे मोक्षपद नहीं पानेवाले हैं, परन्तु स्वभाव से (योग्यता से) तो वे भव्य ही हैं, कहा हैं कि,

अत्थि अणंता जीवा, जेहिं न पत्तो तसाइ परिणामो, उववज्जंति चयंति अ, पुणोवि तत्थेव तत्थेव ।।१।।

अर्थ : ऐसे अनन्तान्त जीव है कि जिन्होंने त्रसादि (द्वीन्द्रियादि) परिणाम प्राप्त नहीं किया और पुनः पुनः (बारबार) वही के वही (सूक्ष्म एकेन्द्रियत्व में ही) जन्म लेते है और मृत्यु प्राप्त करते है ।।१।।

१२. सम्यक्त्व मार्गणा - ६ : उपशम, क्षायिक, क्षायोपशमिक, मिश्र, सास्वादन और **मिथ्यात्व** - इन छः भावो का इस मार्गणा में अन्तर्भाव होता हैं ।

(१) उपशम सम्यक्त्व - अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया और लोभ तथा सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय ये तीन दर्शन मोहनीय । ये सात कर्मप्रकृतियों की अंतर्मुहूर्त तक बिलकुल उपशान्ति होने से जो सम्यग्भाव प्रकट होता है, उस समय ये सात कर्म आत्मा के साथ होते हैं, परन्तु दबे हुए अग्नि की तरह शांत पडे हुए होने से अपनी असर नहीं बता सकते है । यह सम्यक्त्व एक भव में २ बार और पूरे संसार चक्र में ५ बार प्राप्त हो सकता हैं । अंतर्मूहुर्त्त से ज्यादा समय यह सम्यक्त्व नहीं टिकता और ज्यादातर निरतिचार होता हैं । **(२) क्षायिक सम्यक्त्व** - उपर कही हुई सातों कर्म प्रकृतियों का बिलकुल क्षय होने से यह सम्यक्त्व प्रकट होता है । उसका काल सादि अनंत है, यह सम्यक्त्व निरतिचार होता हैं । **(३) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व** - उपर कही हुई सात प्रकृति में से छः की उपशांति हो और केवल सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उदय होकर क्षय होता है, इसलिए उसका नाम क्षय और उपशम युक्त सम्यक्त्व कहा है, उसका ज्यादा से ज्यादा समय ६६ सागरोपम काल हैं । इस सम्यक्त्व को शंका-आकांक्षा इत्यादि अतिचारो का इतने तक संभव है । **(४) मिश्र सम्यक्त्व** - उपर कही हुई सात में से केवल मिश्र मोहनीय कर्म की प्रकृति उदय में हो, बाकी की उपशान्त हो, उस समय जो सम्यग् मिथ्यारूप भाव केवल अंतर्मूहुर्त तक हो, वह मिश्र सम्यक्त्व, इसलिए जैन धर्म के उपर न राग - न द्वेष ऐसी स्थिति होती है । **(५) सास्वादन सम्यक्त्व** - उपर बताये अनुसार अंतर्मूहुर्त के समयवाले उपशम सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व तक पहुँचने से पहले एक समय से लेकर ६ आवलिका तक सम्यक्त्व के यत्किंचित् - कुछ स्वादरूप यह सम्यक्त्व होता है, बाद में तुरंत ही मिथ्यात्व पाता ही है, जैसे क्षीर का भोजन करके किसी भी प्रकार के उत्क्लेश से वमन हो जाये, फिर भी उसको क्षीर का जैसे कुछ स्वाद आता है, इस प्रकार **स** = सहित, **आस्वाद** = स्वाद । स्वाद सहित वह सास्वादन। **(६) मिथ्यात्व** - अनंतानुबंधीय कषाय और मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से जो मिथ्यात्व प्रकट होता है, वह मिथ्यात्व है ।

सम्यक्त्व मार्गणा में सम्यक्त्व शब्द सम्यग् और मिथ्या इन दोनों भाव का उपलक्षण से संग्रह करनेवाला हैं । जैसे भव्य, संज्ञि, आहारी नाम फिर भी अभव्य, असंज्ञि-अणाहारी इत्यादि का संग्रह होता हैं । ऐसा बहोत मार्गणाओं में समजना ।

१३. संज्ञि मार्गणा २ - मनः पर्याप्ति से अथवा दीर्घकालिकी संज्ञा से विशिष्ट मनोविज्ञानवाले जीव वह संज्ञि और विशिष्ट मनोविज्ञान रहित वह असंज्ञि ।

१४. आहारी मार्गणा २ - भवधारणीय शरीर के लायक ओज[63] आहार, लोम[64] आहार और कवलाहार[65] ये तीन प्रकार में से यथासंभव आहारवाले वह १ **आहारी** और ये तीनों आहार रहित, वह अनाहारी ।

63. अपर्याप्त अवस्था में तैजस् कार्मण शरीर द्वारा ग्रहण किया जाता आहार वह **ओजआहार** । 64. शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद त्वचा - शरीर द्वारा ग्रहण किया जाता आहार वह **लोमआहार** । 65. कौल (कवल) से मुख द्वारा लिया जाता आहार वह **कवल आहार** ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मार्गणाओं में मोक्ष की प्ररूपणा : मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रसकाय, भव्य, संज्ञि, यथाख्यात चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व, अनाहार, केवलदर्शन और केवल ज्ञान में मोक्ष हैं और शेष में नहीं हैं ।[66]

पूर्वोक्त १० से[67] शेष रही हुइ कषाय - वेद - योग और लेश्या, इन चार मार्गणा में मोक्ष होता ही नहीं है । क्योंकि अकषायी, अवेदी, अयोगी और अलेशी अवस्थावाले जीव को ही मोक्ष होता हैं अर्थात् ४ मूल और ५२ उत्तर भेदो में मोक्ष की मार्गणा करने से विचारणा नहीं होती है अर्थात् मूल तथा उत्तर दस मार्गणा में ही मोक्ष की मार्गणा होती हैं ।

यहाँ सार यह है कि - मोक्ष में जाने की संसारी जीव की अंतिम (१४ वें गुणस्थान की शैलेशी) अवस्था में जो जो मार्गणा विद्यमान हो उस उस मार्गणा में मोक्ष हैं, ऐसा कहा जाता है और शेष मार्गणाओं में मोक्ष का अभाव माना जाता है तथा संज्ञित्व और भव्यत्व यद्यपि अयोगी गुणस्थान पर अपेक्षा भेद से शास्त्र में कहा नहीं है तो भी यहाँ संज्ञिपन और भव्यत्व अपेक्षापूर्वक ग्रहण किया है, ऐसा जानना ।

(२-३) द्रव्य प्रमाण और क्षेत्र अनुयोग द्वार : सिद्धो के द्रव्य प्रमाण द्वार में - अनन्त जीव द्रव्य हैं; लोक के असंख्यात वें भाग में एक और सर्व सिद्ध होते हैं ।[68]

सिद्ध के जीव अनन्त है, क्योंकि जघन्य से १ समय के अन्तर पर और उत्कृष्ट से छः मास के अन्तर पर अवश्य कोइ जीव मोक्ष में जाये, ऐसा नियम है, उपरांत एक समय में जघन्य १ तथा उत्कृष्ट से १०८ जीव मोक्ष में जाये, यह भी नियम है और इस प्रकार से अनन्तकाल व्यतीत हो गया हैं । इसलिए सिद्ध जीव अनन्त है । (अन्यदर्शनी जो सदाकाल ईश्वर एक ही हैं, ऐसा कहते हैं, वह इस दूसरे द्वार की प्ररूपणा से असत्य हैं, ऐसा जानना ।)

तथा क्षेत्र द्वार सोचने से - सिद्ध के जीव लोक के असंख्यातवें भाग जितने क्षेत्र में रहे हैं, क्योंकि एक सिद्ध की अवगाहना जघन्य से १ हाथ ८ अंगुल हो और उत्कृष्ट से १ कौस (२।। किलोमीटर) का छठ्ठा भाग अर्थात् ३३३ धनुष ३२ अंगुल अर्थात् १३३३ हाथ और ८ अंगुल इतनी ऊँची अवगाहना होती हैं और इस क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग जितना ही है, इसलिए एक-एक सिद्ध भी लोक के असंख्यातवें भाग में रहे हुए है । तथा सर्व सिद्ध के आश्रयी विचार करे, तो ४५ लाख योजनवाली सिद्धशिला पृथ्वी के उपर एक योजन के अन्त में ४५ लाख योजन तिर्यक् (तिर्च्छे) विस्तारवाले १/६ (एक षष्ठमांश) कोश उर्ध्व प्रमाण जितने आकाश क्षेत्र में सिद्ध जीव अलोक की आदि ओर लोक के अंत को स्पर्श करके रहे हुए हैं । ये सर्व क्षेत्र भी लोक के असंख्यातवें भाग जितना हैं, इसलिए सर्व सिद्ध भी लोक के असंख्यातवें भाग में रहे हैं, इस अनुसार दो तरह से क्षेत्रद्वार कहा । (अन्य दर्शनी जो कहते हैं कि ईश्वर एक ही है और वह भी इस सचराचर (त्रस स्थावर तथा जड चेतनमय) जगत में सर्वस्थान में व्याप्त है, वह इस तीसरे द्वार की प्ररूपणा से असत्य है, ऐसा जानना ।)

(४-५-६) स्पर्शना, काल और अन्तर अनुयोग द्वार : स्पर्शना अधिक हैं, एक सिद्ध की अपेक्षा से सादि अनंतकाल हैं । गिरने का (पुनः संसार में आने का) अभाव होने से सिद्धो में अंतर नहीं हैं ।[69]

66.नरगइ पणिद तस भव, सन्नि अहक्खाय खइअसम्मत्ते । मुक्खोऽणाहार केवलदंसणनाणे, न सेसेसु ।।४६।। (नव.प्र.) 67. श्री अभयदेव सूरि रचित नवतत्त्व भाष्य में १४ मार्गणा में मोक्षपद की प्ररूपणा अलग रूप से कही है, वह इस प्रकार से -

तत्थ य सिद्धा पंचमगइए, नाणे य दंसणे सम्मे । संतित्ति सेसएसु, पएसु सिद्धे निसेहिज्जा ।।११२।।

वहाँ सिद्ध पंचम गति में (सिद्धि गति में) तथा केवलज्ञान, केवल दर्शन और क्षायिक सम्यक्त्व इन चार मार्गणा में सत् - विद्यमान हैं और इसलिए शेष १० मूल मार्गणाओं में और ५८ उत्तर मार्गणा में सिद्धपन का निषेध जानना । यह सत्पद् प्ररूपणा भी अपेक्षा भेद से यथार्थ हैं, क्योंकि यहाँ सिद्धत्व अवस्था के आधार पर मार्गणाओं की प्ररूपणा इस प्रकार ही संभवित हैं ।

68.दव्वपमाणे सिद्धाणं जीवदव्वाणि हुंतिऽणंताणि । लोगस्स असंखिज्जे, भागे इक्को य सव्वे वि ।।४७।। (नव.प्र.)

69.फुसणा अहिया कालो, इग सिद्ध पडुच्च साइओणंतो पडिवायाभावाओ, सिद्धाणं अंतरं नत्थि ।।४८।। (नव.प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैसे एक परमाणु जो एक आकाशप्रदेश में समा रहा है उसे १ आकाश प्रदेश की अवगाहना कही जाती हैं और उस परमाणु को चारो दिशा से ४ तथा ऊर्ध्व और अधः एक-एक आकाश प्रदेश मिलकर स्पर्श किये हुए ६ प्रदेश और पूर्वोक्त अवगाहना का १ मिलकर ७ आकाशप्रदेश की **स्पर्शना** कही जाती हैं । वैसे प्रत्येक सिद्ध को अवगाहना क्षेत्र से स्पर्शना क्षेत्र अधिक होता है । वह केवल सिद्ध को ही नहीं परन्तु परमाणु आदि प्रत्येक द्रव्य मात्र की स्पर्शना अधिक ही होती हैं। यह **क्षेत्र स्पर्शना** (आकाश प्रदेश अपेक्षा से स्पर्शना) कही, अब सिद्ध को सिद्ध की परस्पर स्पर्शना भी अधिक हैं, यह इस प्रकार से-

एक विवक्षित सिद्ध जो आकाशप्रदेशों में अवगाहन करके रहा हुआ है, वह प्रत्येक आकाशप्रदेश में एक-एक प्रदेश की हानि वृद्धि से अनन्त अनन्त दूसरे सिद्ध जीव भी उस सिद्ध के आत्मप्रदेश हिनाधिक स्पर्श करके अवगाहन किये हैं, उसे **विषमावगाही सिद्ध** कहा जाता है । तदुपरांत उस सिद्ध की अवगाहना में वह और उतने ही आकाश प्रदेशो में संपूर्ण अन्युनातिरिक्त रुप से (हीनाधिकता रहित) दूसरे अनन्त सिद्ध जीव (उस सिद्ध को) संपूर्ण स्पर्श करके (प्रवेश करके) अवगाहन किये हैं । वह तुल्य अवगाहनावाले सिद्ध **समावगाही** कहे जाते हैं । उस विवक्षित सिद्ध को समावगाही सिद्ध की स्पर्शना अनन्त गुणी हैं और विषमावगाही सिद्धो की स्पर्शना उससे भी असंख्यात गुणी हैं, क्योंकि अवगाहना प्रदेश असंख्यात है । इस प्रकार से **परस्पर स्पर्शना** अधिक (अर्थात् अनन्त गुण) है । इस तरह से दोनों प्रकार की **स्पर्शना** अधिक कही ।

अब कालद्वार - एक सिद्ध आश्रयी सोचने से वह जीव अथवा सिद्ध अमुक समय पर मोक्ष में गये हुए हैं । इसलिए सादि (आदि सहित) और सिद्धपन का अंत नहीं हैं, इसलिए अनन्त । इस प्रकार से एक जीव आश्रयी **सादि अनन्त** काल जाने, तथा सर्व सिद्ध आश्रयी सोचने से पहला कौन सिद्ध हुआ उसकी आदि नहीं हैं, तदुपरांत जगत में सिद्ध का अभाव कब होगा, वह भी नहीं है। इसलिए सर्व सिद्ध आश्रयी **अनादि अनन्त** काल जाने ।

तथा सिद्ध को गिरने का अभाव हैं अर्थात् पुनः संसार में आना नहीं हैं, इसलिए (पहला सिद्धत्व उसके बाद बीच में संसारीत्व, उसके बाद पुनः सिद्धत्व इस प्रकार के संसार के) अंतरवाला सिद्धत्व नहीं होता हैं । यहाँ बीच में दूसरा भाव पाना वह **अंतर** कहा जाता है, ऐसा अन्तर **काल अन्तर** सिद्ध को नही हैं अथवा जहाँ एक सिद्ध रहा हुआ है, वही पूर्वोक्त रुप से समावगाहना से तथा विषमावगाहना से स्पर्शना द्वार में कहे अनुसार अनन्त अनन्त सिद्ध रहे हुए हैं, इसलिए सिद्धो को एक-दूसरे के बीच अंतर (खाली जगह) नहीं है । इस प्रकार से क्षेत्र आश्रयी परस्पर अंतर **(क्षेत्र अंतर)** भी नहीं है। यह **अन्तर द्वार** कहा । (नवतत्त्व भाष्य की वृत्ति में सिद्ध जीवो के आत्म प्रदेश घन होने से अन्तर - छिद्र नहीं हैं, ऐसा कहा है ।)

यहाँ अन्य दर्शनकार कहते हैं कि - ईश्वर अपने भक्त का उद्धार करने के लिए पापीओं का शासन करने के लिए अनेक बार अवतार धारण करते हैं, वह इस द्वार से सर्वथा असत्य और अज्ञानमूलक हैं, ऐसा जानना ।

(७-८) भाग और भाव अनुयोग द्वार : वे (सिद्ध) सर्व जीवो के अनन्तवें भाग में है । उनका ज्ञान और दर्शन क्षायिक भाव से है और जीवत्व पारिणामिक भाव से है ।[70] सिद्ध जीव यद्यपि अभव्य से अनन्त गुण हैं, तो भी सर्व संसारी जीवो के अनन्तवें भाग जितने ही है, इतना ही नहीं, परन्तु निगोद के जो असंख्य गोले और एक-एक गोले में असंख्य निगोद और एक-एक निगोद में जो अनन्त अनन्त जीव है, ऐसी एक ही निगोद के भी अनंतवें भाग जितने तीनों काल के सर्व सिद्ध है । कहा हैं कि -

70.सव्वजियाणमणंते भागे ते तेसिं दंसणं नाणं । खइए भावे, परिणामिए अ पुण होइ जीवत्तं ।।४९।। (नव.प्र.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जइआइ होइ पुच्छा जिणाण मग्गंमि, उत्तरं तइआ । इक्कस्स निगोयस्स, अणंतभागो य सिद्धिगओ ।।१।।

अर्थ : जिनेश्वर के मार्ग में - शासन में जब जब जिनेश्वर को प्रश्न करे तब तब यही उत्तर होता है कि - एक निगोद का भी अनंतवां भाग ही मोक्ष में गया है ।

१. औपशमिक भाव : खाक (भस्म) में ढके हुए अग्नि के समान कर्म की (मोहनीय कर्म की) उपशान्त (अनुदय अवस्था) वह उपशम और उससे उत्पन्न हुआ आत्मपरिणाम वह औपशमिक भाव । **२. क्षायिक भाव :** जल से बुझ गये अग्नि के समान कर्म का सर्वथा क्षय होना वह क्षय और उससे उत्पन्न हुआ आत्मपरिणाम वह क्षायिक भाव । **३. क्षायोपशमिक भाव :** उदय में प्राप्त होते कर्म का क्षय तथा उदय में नहीं प्राप्त हुए (होते) कर्मों का उदय के अभावरूप उपशम वह क्षयोपशम और उससे उत्पन्न हुआ आत्मपरिणाम वह क्षायोपशमिक भाव । **४. औदयिक भाव :** कर्म का उदय वह उदय और कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ गति, लेश्या, कषाय आदि जीव परिणाम (जीव की अवस्थायें) वह औदयिक भाव । **५. पारिणामिक भाव :** वस्तु का अनादि स्वभाव (अकृत्रिम स्वभाव अथवा स्वाभाविक स्वरूप) वह पारिणामिक भाव ।

इन ५ भाव में औपशमिक भाव केवल मोहनीय कर्म का ही होता है, क्षायिक भाव आठों कर्म का होता है, क्षयोपशम भाव ज्ञाना० दर्शना० मोह० अन्त०, ये ४ घाती कर्मों का होता है, औदायिक भाव आठों कर्म का (तथा जीव रचित औदारिकादि पुद्गल स्कंधो का भी) होता है और पारिणामिक भाव सर्व द्रव्य का होता है । अब पाँच भावो के प्रकार देखेगें।

(१) औपशमिक भाव : उसके दो भेद हैं । १. सम्यक्त्व और २. चारित्र । **(२) क्षायिक भाव :** उसके नौ भेद हैं । १. दान लब्धि, २. लाभ लब्धि, ३. भोग लब्धि, ४. उपभोग लब्धि, ५. वीर्य लब्धि, ६. केवलज्ञान, ७. केवलदर्शन, ८. सम्यक्त्व, ९. चारित्र । **(३) क्षायोपशमिक भाव :** उसके अठारह भेद हैं - १. मतिज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. मनःपर्यवज्ञान, ५. मति-अज्ञान, ६. श्रुतअज्ञान, ७. विभङ्गज्ञान, ८. चक्षुर्दर्शन, ९. अचक्षुर्दर्शन, १०. अवधिदर्शन, ११-१५. दानादि लब्धि ५, १६. सम्यक्त्व, १७. चारित्र, १८. देशविरति **(४) औदयिक भाव :** उसके २१ भेद हैं (१-४) चार गति, (५-८) चार कषाय, (९-१०-११) ३ लिंग, (१२) मिथ्यात्व, (१३) असंयम, (१४) संसारित्व, (१५-२१) ६ लेश्या, **(५) पारिणामिक भाव :** उसके तीन भेद हैं (१) जीवत्व, (२) भव्यत्व और (३) अभव्यत्व ।

अल्प-बहुत्व अनुयोग : नपुंसक लिंग में सिद्ध थोडे हैं, स्त्री लिंग में सिद्ध और पुरुष लिंग में सिद्ध क्रमशः संख्यात गुण हैं ।[71] नपुंसक लिंगवाले जीव एक समय में उत्कृष्ट १० मोक्ष में जाते हैं, इसलिए नपुंसक सिद्ध अल्प, स्त्रीयाँ एक समय में उत्कृष्ट से २० मोक्ष में जाती है, इसलिए द्विगुण होने से स्त्रीलिंग सिद्ध संख्यात गुण कहे हैं और पुरुष एक समय में १०८ मोक्ष में जाते हैं इसलिए स्त्री से भी पुरुष सिद्ध संख्यात गुण जाने । (द्विगुण से न्यून वह विशेषाधिक और द्विगुण, त्रिगुण इत्यादि उसे संख्यात गुण कहा जाता हैं ।) नपुंसकादि को मोक्ष कहा वह नपुंसकादि वेद आश्रयी नहीं परन्तु नपुंसकादि लिंग आश्रयी मोक्ष जाने, क्योंकि सवेदी को मोक्ष नही हैं ।

तथा यहाँ १०[72] प्रकार के जन्म नपुंसको को चारित्र का ही अभाव होने से मोक्ष में नहीं जा सकते हैं, परन्तु जन्म लेने के बाद कृत्रिम रूप से हुए ६ प्रकार के नपुंसको को चारित्र का लाभ होने से मोक्ष में जाते हैं । इसलिए नपुंसक सिद्ध वह कृत्रिम नपुंसक की अपेक्षा से जाने । इस प्रकार से वेद की अपेक्षा से भी वेद रहित लिंग भेद से **अल्प बहुत्व द्वार** कहा। परन्तु जिनसिद्धादि भेद में अल्प-बहुत्व इस प्रकार से -

---

71. थोवा नपुंससिद्धा, थीनर सिद्धा कमेण संखगुणा, इअ मुक्खतत्तमेअं, नवतत्ता लेसओ भणिया ।।५०।। (नव.प्र.)

72. १० प्रकार के जन्म नपुंसको का स्वरूप श्रीधर्मबिंदु वृत्ति आदिक ग्रंथो से जानना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध के शेष भेद का[73] अल्प बहुत्व :

१. जिन सिद्ध अल्प और अजिन सिद्ध उससे असंख्यगुने । २. अतीर्थ सिद्ध अल्प और तीर्थ सिद्ध उससे असंख्यगुने। ३. गृहस्थ लिंग सिद्ध अल्प, उससे अन्य लिंग सिद्ध (अ) संख्यात गुने और उससे स्वलिंग सिद्ध (अ) संख्यातगुने। ४. स्वयं बुद्ध सिद्ध अल्प इस से प्रत्येक बुद्ध सिद्ध संख्यात गुने इससे बुद्ध बोधित सिद्ध संख्यातगुने । ५. अनेक सिद्ध अल्प और एक सिद्ध उससे (अ) संख्यातगुने ।

1 नवतत्त्व को जानने का प्रयोजन :

जीवादि नव पदार्थो को जो जाने उसे सम्यक्त्व प्राप्त होता हैं, बोध के बिना भी भाव से श्रद्धा रखनेवाले को भी सम्यक्त्व होता हैं ।[74]

जीव-अजीव आदि नव तत्त्वो का स्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम द्वारा समज में आता हैं और वह समजनेवाले आत्मा को सत्यासत्य का विवेक होता है, धर्म-अधर्म, हित-अहित (नवतत्त्व का ज्ञाता) जानता है, इसलिए उसे सर्वज्ञ भाषित वचन ही सत्य लगते है और ऐसा होने से निश्चय सम्यक्त्व (यथार्थ वस्तुतत्त्व की श्रद्धा) प्रकट होती हैं, परन्तु यदि ज्ञानावरणीय का ऐसा तीव्र क्षयोपशम न हो और जीव अजीव आदि तत्त्वो का ज्ञान न हो तो भी **"जं जिणेहिं पन्नतं तमेव सच्चं"** - श्री जिनेश्वरने जो कहा है वही सत्य - ऐसे अति दृढ संस्कारवाले जीव को भी (नवतत्त्व का ज्ञान न होने पर भी) सम्यक्त्व अवश्य होता हैं ।

सम्यक्त्व हैं या नहि उसका सर्वथा निश्चय प्राय: असर्वज्ञ जीव नहीं जान सकते, परन्तु सम्यक्त्व के जो ६७ लक्षण[75] कहे है, उस लक्षणो के अनुसार से अनुमान द्वारा जीव स्थूल दृष्टि से (अर्थात् व्यवहार मात्र से) अपने आत्मा में तदुपरांत अन्य जीव में व्यवहार सम्यक्त्व का सद्भाव या अभाव अनुमान से सोच सके अथवा जान सके ।

1 सम्यक्त्व मिलने से होनेवाला लाभ :

अंतोमुहुत्तमित्तंपि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं । तेसिं अवड्ढपुग्गल - परियट्टो चेव संसारो ।।५३।।

- जो जीवो ने अन्तमुहूर्त्त मात्र ही सम्यक्त्व को स्पर्श किया हो, उन जीवो का संसार मात्र अर्ध पुद्गल परावर्त्त जितना ही बाकी रहता हैं ।

विशेषार्थ : ९ समय का जघन्य अन्तमुहूर्त तथा दो घडी में १ समय न्यून काल वह उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त और १०-११ इत्यादि समयो से यावत् उत्कृष्ट अन्त मु. से अभ्यन्तर के मध्य के सर्व काल भेद (उतने भेदवाले - असंख्यात) मध्यम अन्तर्मुहूर्त्त हैं, यहाँ मध्यम अन्तर्मुहूर्त असंख्य समय का ग्रहण करना । ऐसे (मध्यम) अन्त मु० मात्र जितने काल भी सम्यक्त्व का लाभ हुआ हो तो अनेक महा आशातना आदिक पाप के कारण से कथंचित् ०।। (अर्ध) पुद्गल परावर्त जितना अनन्तकाल भटके तो भी पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करके चारित्र लेकर जीव मोक्ष में जा सकता हैं । (पुद्गल परावर्त्त का स्वरूप आगे ५४वीं गाथा के अर्थ में कहा जायेगा ।) यहाँ सम्यक्त्व प्राप्त करने से जो ग्रन्थि भेद होता है, वह ग्रन्थि भेद एक बार होने के बाद पुनः ऐसी ग्रन्थि (निबिड राग द्वेष रूप ग्रन्थि) जीव को प्राप्त नहीं होती हैं अर्थात् ऐसी तीव्र रागद्वेष रुप परिणाम आत्मा को पुनः प्राप्त नहीं होता हैं । इसलिए उस ग्रंथिभेद के प्रभाव से अर्ध अर्ध पुद्गल परावर्त्त से भी अवश्य मोक्ष होता हैं । पुनः यदि ऐसी अनेक महा आशातनायें आदिक न करे तो कोई जीव उसी भव में अथवा तीसरे, सांतवे और आठवें भव में भी मोक्ष प्राप्त करता हैं अथवा आशातनाओं की परंपरा का अनुसरण करके उससे

73.सिद्ध के अल्पबहुत्व का विषय बहोत विस्तारवाला हैं और अनेक प्रकार का हैं । वह विस्तृत रूप में शास्त्रान्तर से ज्ञातव्य हैं।

74. जीवाइनवपयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं, भावेण सद्दहंतो, अयाणमाणेऽवि सम्मत्तं ।।६२।। (नव.प्र.) 75. सम्यक्त्व के ६७ लक्षण - सम्यक्त्व सप्तति आदि ग्रंथो से जानना ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अधिक संख्यात भव में भी मोक्ष पाता है । यहाँ गाथा में **अपार्ध** शब्द कहा वह **अप** अर्थात् व्यतीत हुआ है प्रथम अर्ध भाग जिसका ऐसा अंतिम **अर्ध** भाग वह **अपार्ध** अथवा **अप** अर्थात् किंचित् न्यून ऐसा **अर्ध** पुद्गल परावर्त्त वह **अपार्ध** पुद्गल परावर्त्त ऐसे दो अर्थ है । उपरांत द्रव्यादि चार प्रकार के पुद्गलपरावर्त्त में से यहाँ सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त्त का अर्ध भाग जाने, परन्तु द्रव्यादि तीन का नहीं ।

पुद्गल परावर्त्तन क्या है ?

उस्सप्पिणी अणंता, पुग्गल परियट्टओ मुणेयव्वो । तेऽणंताऽतीअद्धा, अणागयद्धा अणंतगुणा ।।५४।।

अनन्त उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी का १ पुद्गल परावर्त काल जानना । ऐसे अनन्त पुद्गल परावर्त्त का अतीतकाल और उससे अनन्तगुना अनागतकाल हैं ।।५४।। (नव.प्र.)

विशेषार्थ : सुगम हैं, तो भी इस स्थान पर अति उपयोगी होने से पुद्गल परावर्त्त का संक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है।

यहाँ[76] आठ प्रकार के पुद्गल परावर्त्त हैं, परन्तु सम्यक्त्व के संबंध में जो ०।। (अर्ध) पुद्गल परावर्त्त संसार बाकी रहना कहा है वह सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त्त है । उसका किंचित् स्वरूप इस प्रकार से हैं ।

सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त्त का स्वरूप :- वर्तमान समय में कोई जीव लोकाकाश के अमुक नियत आकाश प्रदेश में रहकर मृत्यु को प्राप्त हुआ । पुनः कुछ काल बीतने के बाद वह जीव स्वाभाविक रुप से उस नियत आकाश प्रदेश की पंक्ति में रहे हुए साथ के आकाशप्रदेश में मृत्यु हुई, उसके बाद पुनः कुछ काल में वही जीव उसी पंक्ति मे नियत आकाश प्रदेश की साथ के तीसरे आकाश प्रदेश में मृत्यु को प्राप्त हुआ । इस प्रकार से बारबार मृत्यु पाने द्वारा उस असंख्य आकाशप्रदेश की संपूर्ण (जहाँ से गिनती की शुरुआत की है, वहाँ से आगे की संपूर्ण) श्रेणी-पंक्ति पूर्ण करे, उसके बाद उस पंक्ति के साथ में रही हुई दूसरी, तिसरी यावत् आकाश के उस प्रतर में रही हुई साथ में रही हुई साथ की असंख्या श्रेणियाँ पहली पंक्ति की तरह मरण द्वारा अनुक्रम से पूर्ण करे, उसके बाद दूसरे आकाश प्रतर की असंख्य श्रेणीयाँ मरण द्वारा पूर्ण करे और उस प्रकार यावत् लोकाकाश के असंख्य प्रतर क्रमशः पूर्ण करे और लोकाकाश का एक प्रदेश भी मरण द्वारा (अपूर्ण) बाकी न रहे, उसी तरह से विवक्षित एक जीव के मरण द्वारा संपूर्ण लोकाकाश क्रमशः पूर्ण करने में जितना काल (जो अनन्त काल) लगे, उस अनन्त काल का नाम १ **सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त** कहा जाता है । ऐसे अनन्त पुद्गल परावर्त्त एक जीवने व्यतीत किये है और भविष्य में करेंगे परन्तु यदि अन्त मुं० काल मात्र भी जीव को सम्यक्त्व प्राप्त हो तो उत्कृष्ट से (सू० क्षे० पुद्गल परा० रुप) उस एक अनन्त काल में से अर्ध अनन्तकाल ही बाकी रहे कि जो काल व्यतीत हुए कालरूप महा समुद्र के एक बिंदु जितना भी नहीं है और यदि सम्यक्त्व न पाये तो भविष्य में उस जीव को इस संसार में उससे भी ज्यादा अनन्त सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त्त भटकना है ही ।

76. पुद्गल परावर्त्त द्रव्य से - क्षेत्र से - काल से और भाव से ऐसे ४ प्रकार से हैं । वह भी प्रत्येक सूक्ष्म और बादर भेद से दो-दो प्रकार के होने से ८ प्रकार का पुद्गल परावर्त है, उसमें से यहाँ सम्यक्त्व के संबंध में जो ०।। पुद्गल परावर्त्त संसार बाकी रहना कहा है, वह सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त्त जानना । यहाँ पुद्गल अर्थात् चौदह राज लोक में रहे हुए सर्व पुद्गलो को एक जीव औदारिकादि कोई भी वर्गणा रूप से (आहार बिना) ग्रहण करे उसमें जितना काल लगे वह **द्रव्य पुद्गल परावर्त,** लोकाकाश के प्रदेशो को एक जीव मरण द्वारा स्पर्श कर करके जितना काल लगे उतने काल का नाम **क्षेत्र पुद्गल परावर्त,** उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी के समयो को एक जीव बारबार मरण द्वारा स्पर्श कर करके उसमें जितना काल हो वह **काल पुद्गल परावर्त्त** और रस बंध के अध्यवसाय एक जीव पूर्वोक्त रुप से मरण द्वारा स्पर्श कर करके छोडे उसमें जो काल लगे वह **भाव पुद्गल परावर्त्त** कहा जाता हैं । उसमें किसी भी अनुक्रम के बिना पुद्गलादिक को जैसे तैसे स्पर्श कर-करके रखने से (पूर्ण करने से) चार **बादर पुद्गल परावर्त्त** होता हैं और क्रमशः स्पर्श करके छोडने से चार **सूक्ष्म पुद्गल परावर्त्त** होते हैं । **चारो पुद्गल परावर्त्त में अनन्त-अनन्त कालचक्र व्यतीत होते हैं ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तदुपरांत, भविष्यकाल यह भूतकाल जितना ही तुल्य नहीं है परन्तु अनन्त गुण हैं, इसलिए ही मूल गाथा में कहा है कि भूतकाल में अनन्त पुद्गल परावर्त्त व्यतीत हुए है और भविष्यकाल में उससे भी अनन्तगुना सूक्ष्म क्षेत्र पु० परा० व्यतीत होनेवाले हैं अर्थात् उस व्यतीत हुए अनन्त सू० क्षे० पु० परा० से भी अनन्त गुण सू० क्षे० पु० परा० जितना भविष्यकाल है ।

सिद्ध के १५ भेद[77] जिनसिद्ध - अजिन सिद्ध - तीर्थ सिद्ध - अतीर्थ सिद्ध - गृहस्थ सिद्ध - अन्यलिंग सिद्ध - स्वलिंग सिद्ध - स्त्री सिद्ध - पुरुष सिद्ध-नपुंसक सिद्ध - प्रत्येकबुद्ध सिद्ध - स्वयंबुद्ध सिद्ध - बुद्ध बोधित सिद्ध - एक सिद्ध और अनेक सिद्ध - ये सिद्ध के १५ भेद है । यह कहे गये १५ प्रकार के सिद्ध यद्यपि सर्वथा भिन्न भिन्न नहीं है परन्तु एक दूसरे में अन्तर्गत है, तो भी विशेष बोध के लिए १५ भेद अलग अलग कहे है । वहाँ प्रथम इन १५ भेद का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार से हैं - **(१) जिनसिद्ध** - तीर्थंकर पदवी प्राप्त करके मोक्ष में जाये वह अर्थात् तीर्थंकर भगवंत जिनसिद्ध कहे जाते हैं । **(२) अजिनसिद्ध** - तीर्थंकर पदवी प्राप्त किये बिना सामान्य केवलि होकर मोक्ष में जाये वह। **(३) तीर्थसिद्ध** - श्री तीर्थंकर भगवंत स्वयं को केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद तुरंत देशना समय में मिली हुई पहली जो परिषद में गणधर की तथा साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना करते है, वह श्री गणधर तथा चतुर्विध संघ तीर्थ कह जाता है, उस तीर्थ की स्थापना होने के बाद जो जीव मोक्ष में जाये, उसे तीर्थ सिद्ध कहा जाता हैं । **(४) अतीर्थ सिद्ध** - पूर्व (पहले) कहे अनुसार तीर्थ की स्थापना होने से पहले मोक्ष में जाये वह । **(५) गृहस्थलिंग सिद्ध** - गृहस्थ के वेश में ही मोक्ष में जाये वह । **(६) अन्यलिंग सिद्ध** - अन्य दर्शनीओं के साधुवेश में अर्थात् तापस परिव्राजक आदि वेष मे रहने पर भी मोक्ष में जाये वह अन्य लिंग सिद्ध । **(७) स्वलिंग सिद्ध** - श्री जिनेश्वर भगवंतने जो साधु वेश कहा है उसे स्वलिंग कहा जाता है, ऐसे साधु वेष में मोक्ष में जाये वह स्वलिंग सिद्ध । **(८) स्त्रीलिंग**[78]**सिद्ध** - स्त्री मोक्ष में जाये वह **(९) पुरुषलिंग सिद्ध** - पुरुष मोक्ष में जाये वह । **(१०) नपुंसकलिंग सिद्ध**[79] - कृत्रिम नपुंसक मोक्ष में जाये वह । यहाँ जन्म नपुंसक को चारित्र की प्राप्ति न होने से मोक्ष भी नहीं होता हैं । **(११) प्रत्येकबुद्ध सिद्ध** - संध्या के बदलते हुए क्षणिक रंग आदि निमित्त से वैराग्य पाकर मोक्ष में जाये वह । **(१२) स्वयंबुद्ध सिद्ध** - संध्या रंग आदि निमित्त बिना तथा गुरु आदिक के उपदेश बिना (जाति स्मरणादिक से भी) अपने आप वैराग्य पाकर मोक्ष में जाये वह । **(१३) बुद्धबोधित सिद्ध** - **बुद्ध** - गुरु के, बोधित-उपदेश से बोध (वैराग्य) पाकर मोक्ष में जाये वह । **(१४) एकसिद्ध** - एक समय में १ मोक्ष में जाये वह। **(१५) अनेकसिद्ध** - एक समय में अनेक मोक्ष में जाये वह । यहाँ जघन्य से १ समय में १ जीव मोक्ष में जाये और उत्कृष्ट से १ समय में १०८ जीव मोक्ष में जाते हैं ।

इस प्रकार संक्षिप्त में जीवादि नवतत्त्व का वर्णन समाप्त होता है ।

77.जिण अजिण तित्थऽतित्था, गिहि अन्न सलिंग थी नर नपुंसा, पत्तेय सयंबुद्धा, बुद्धबोहिय इक्कणिक्का य ।।५५।।

78.स्तन आदि लिंगयुक्त वह **लिंगस्त्री** पुरुष के संग की अभिलाषावाली हो वह **वेदस्त्री**, वहाँ वेदस्त्री को मोक्ष न हो, उसी प्रकार दाढी मूछ आदि लिंगवाला - **लिंगपुरूष** और स्त्रीसंग की इच्छावाला **वेदपुरुष** है । उसी तरह से स्त्री के और पुरुष के चिह्न की विषमतावाला **लिंग नपुंसक** और स्त्री तथा पुरुष उभय की इच्छावाला **वेद नपुंसक** है । वहाँ वेद पुरुष और वेद नपुंसक को मोक्ष नहीं है और लिंग पुरुष तथा लिंग नपुंसक को मोक्ष है । 79. कृत्रिम नपुंसक के ६ भेद इस प्रकार से - **(१) वर्धितक** - इन्द्रिय के छेदवाले हीजडे इत्यादि **(२) चिप्पित** - जन्म के समय ही मर्दन से गलाये गये वृषणवाले, **(३) मंत्रोपहत** - मंत्रप्रयोग से पुरुषत्व का नाश हुआ हो ऐसे, **(४) औषधोपहत** - औषधिप्रयोग से नष्ट हुए पुरुषत्ववाले, **(५) ऋषिशप्त** - ऋषि के शाप से नष्ट हुए पुरुषत्ववाले और **(६) देवशप्त** - देव के शाप से नष्ट हुए पुरुषत्ववाले । इस प्रकार के नपुंसक वेद की मंदतावाले होने से चारित्र आराधन करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट-२ (स्याद्वाद)

स्याद्वाद जैनदर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है । जगत के पदार्थो का स्वरुप समजाने के लिए प्रत्येक दर्शन ने प्रयत्न किया है । जैनदर्शन ने स्याद्वाद के सिद्धांत के आधार से वस्तु को अनंतधर्मात्मक बताई है । भिन्न-भिन्न अपेक्षा से वस्तु में स्वपर्याय रुप से और परपर्याय रुप से अनंतधर्म रहते है । **जैनधर्म वस्तु में किसी भी धर्म का एकान्त से सद्भाव और किसी भी धर्म का एकान्त से निषेध बताता नहीं है । तदुपरांत; सत्त्व-असत्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, अभिलाप्यत्व-अनभिलाप्यत्व आदि परस्पर विरुद्ध धर्मो को भी एक वस्तु में अपेक्षा भेद से स्वीकृत करता है।** जैसे वस्तु में अस्तित्व धर्म रहता है, वैसे वस्तु में अपेक्षा से नास्तित्व धर्म भी रहता है । **सापेक्षवाद, अनेकांतवाद और विभज्यवाद, ये सभी स्याद्वाद का ही नाम है ।**

एक **पिता में** स्वपुत्र की अपेक्षा से **पितृत्व धर्म,** स्वभार्या को अपेक्षा से **पतित्व धर्म,** जाति की अपेक्षा से **मनुष्यत्व धर्म,** लिंग की अपेक्षा से **पुरुषत्व धर्म,** बहन की अपेक्षा से **भातृत्व धर्म,** व्यवसाय की अपेक्षा से **प्रोफेसरत्व धर्म,** स्वपितृ की अपेक्षा से **पुत्रत्व धर्म,** स्व सेवक की अपेक्षा से **स्वामित्व धर्म,** स्वदामाद की अपेक्षा से **ससुरत्व धर्म,** स्वभाभी की अपेक्षा से **देवरत्व धर्म** इत्यादि अनेक धर्म रहते है, वह हम प्रत्यक्ष से देख सकते है । **वही ही प्रत्यक्ष से स्याद्वाद सिद्धांत का समर्थन करता है ।**

इस तरह सम्यक् अपेक्षाओं के स्पष्टीकरण द्वारा वस्तुगत अनेक वास्तविक धर्मो के प्रतिपादन का ही दूसरा नाम **स्याद्वाद** है । जब तर्क, युक्ति और प्रमाणों को सहाय से समुचित अपेक्षा को लक्ष में रखकर वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है, तब उनमें किसी भी प्रकार से विरोध का अवकाश रहता नहीं है । **इसलिए वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझने के लिए स्याद्वाद सिद्धान्त अवश्य आदरणीय है ।**

अनुमान प्रयोग से भी स्याद्वाद सिद्धांत युक्तियुक्त है, वह अब देखेंगे -

वस्तु अनन्तधर्मकं प्रमेयत्वात् (प्रमाणविषयत्वात्) - वस्तु अनंतधर्मात्मक है । क्योंकि वह प्रमेय (प्रमाण का विषय) है ।

(अनंत=त्रिकालविषयक अपरमिति सहभावी और क्रमभावी स्व-पर पर्याय जिस में होते है, वह **अनंतधर्मात्मक** कहा जाता है । जगत के सभी पदार्थ अनंतधर्मात्मक होते है ।) जो अनंतधर्मात्मक नहीं है, वह प्रमेय भी नहीं है, जैसे कि आकाशकुसम, यह व्यतिरेक व्याप्ति से ही वस्तु की अनंतधर्मात्मकता सिद्ध होती है । यहाँ साधर्म्य दृष्टांतो - अन्वय दृष्टांतो का पक्ष की कुक्षी में ही समावेश होता होने से अन्वयव्याप्ति का अयोग है ।

यहाँ उल्लेखनीय है कि, जैनदर्शन में अन्यथा अनुपपत्ति=अविनाभाव रुप एक ही हेतु का लक्षण है तथा पक्ष में साध्य और साधन के अविनाभाव को ग्रहण करनेवाली अंतर्व्याप्ति के बल से ही हेतु साध्य को सिद्ध करता है । इसलिए उक्त अनुमान में दृष्टांत आदि का कोई प्रयोजन नहीं है । तदुपरांत, प्रमेयत्व हेतु में असिद्धि, विरुद्ध, अनेकान्तिक आदि किसी दोषो का अवकाश भी नहीं है । क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणो के द्वारा सभी सचेतन-अचेतन वस्तु अनंतधर्मात्मक प्रतीत होती है । **प्रस्तुत ग्रंथ में श्लोक-५५ की टीका में अनंतधर्मात्मकता का और उस संबंधी विषयों का विस्तार से प्रतिपादन किया है। इसलिए यहाँ पर पुनरावर्तन नहीं करते ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट-३, जैनदर्शन में नयवाद

[1]**सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्राणि मोक्षमार्गः ।**

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र; इन तीनों के सुभग मिलने से मोक्षमार्ग की प्राप्ती होती हैं और दीर्घकालपर्यन्त इस [2]रत्नत्रयी की साधना करते-करते सर्वकर्म का क्षय होता है और अंत में आत्मा की मुक्ति होती हैं । श्री वीतराग परमात्माने प्ररूपित किये हुए जीवादि नौ तत्त्वो के उपर की सम्यक् श्रद्धा को (सम्यक् रुचि को) **सम्यग्दर्शन** कहा जाता है । उस जीवादि नौ तत्त्वो के यथार्थ बोध को **सम्यग्ज्ञान** कहा जाता है और सर्व सावद्ययोगो के - पाप व्यापारो के त्याग को **सम्यक् चारित्र** कहा जाता है । [3]संक्षिप्त में, सम्यग्दर्शन तत्त्वरूचि स्वरूप है । सम्यग्ज्ञान तत्त्वावबोध स्वरूप है और सम्यक्चारित्र तत्त्वपरिणति स्वरूप हैं ।

रत्नत्रयी की प्राप्ति, शुद्धि और वृद्धि में सम्यग्दर्शन की भूमिका अतीव महत्त्वपूर्ण हैं । सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र सम्यग् (तात्त्विक) नहीं बन सकते हैं । सम्यग्दर्शन के अभाव में प्राप्त होता ज्ञान आत्महितकर बनने के बजाय आत्मा में असत् तत्त्वो का बल बढानेवाला बनता है और सम्यग्दर्शन की गैरमौजूदगी में प्राप्त हुआ चारित्र आत्मशुद्धि का कारण नहीं बनता हैं । **सम्यग्दर्शन** अर्थात् जगत का **यथार्थदर्शन,** जगत के पदार्थो का वास्तविक दर्शन हुए बिना हेय-उपादेय पदार्थो का तात्त्विक निर्णय नहीं हो सकता हैं । उसके बिना हेय की निवृत्ति और उपादेय की प्रवृत्ति तात्त्विक दृष्टि से संभव नहीं होती है । तात्त्विक निवृत्ति और प्रवृत्ति के बिना आत्मा में अड्डा जमायें बैठे हुए अनादि के कुसंस्कार और पापकर्म नष्ट नहीं हो सकते हैं और उसके बिना रत्नत्रयी की साधना नहीं हो सकती हैं ।

सम्यग्दर्शन नींव का गुण हैं । उसके आने से आत्मा के छोटे-बडे सभी ज्ञानादि गुणों तात्त्विक बन जाते हैं और रागादि दोष अपना सामर्थ्य खो देते हैं । सम्यग्दर्शन का वास्तविक स्वरूप तत्त्वरूचि हैं । आत्मा के लिए जो तारक तत्त्व हैं, उसका सेवन करने की आतुरता और जो मारक तत्त्व है, उसको जीवन में से तिलांजली देने की इच्छा को तत्त्वरुचि कहा जाता हैं । जब तत्त्वो का यथार्थ बोध हो और तत्त्व के विषय में एक भी भ्रान्ति रह न जाये, तब सच्ची तत्त्वरूचि कही जाती हैं । तत्त्वार्थ सूत्रकार महर्षिने तत्त्वो का यथार्थ बोध करने का मार्ग बताते हुए बताया हैं कि,

प्रमाणनयैरधिगमः ।। (तत्त्वार्थाधिगम सूत्र १-६) । - प्रमाण और नय : ये दो मार्ग से तत्त्वो का अधिगम-बोध होता हैं ।

जिस ज्ञान द्वारा वस्तु तत्त्व को जाना जा सकता हैं, उसे **प्रमाण** कहा जाता हैं । [4]प्रमाण सकल वस्तु का ग्राहक हैं।[5] अर्थात् प्रमाण द्वारा अनंतधर्मात्मक वस्तुतत्त्व का बोध होता हैं । प्रमाण का विषय अनंतधर्मात्मक वस्तु (पदार्थ) हैं ।[6] **प्रमाण द्वारा जो अनंत धर्मात्मक वस्तु ग्रहण होती हैं, उस अनंतधर्मात्मक वस्तु के एक अंश को ग्रहण करनेवाला (ग्राहक) नय हैं ।**[7]

---

1. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र १-१ (२) जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन आदि तीन को "रत्नत्रयी" संज्ञा दी हैं । 2. रूचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु, सम्यक् श्रद्धानमुच्यते । जायते तन्निसर्गेण, गुरोरधिगमेन ।। 3. यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा । योऽवबोधस्तमत्राहुः, सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः ।।१।। सर्वसावद्ययोगनां, त्यागश्चारित्रमिष्यते कीर्तितं तदहिंसादि-व्रतभेदेन पञ्चधा ।। (**योगशास्त्र**-१/१६-१७-१८) 4. प्रमीयते - परिच्छेद्यते वस्तुतत्त्वं यज्ज्ञानेन तत्प्रमाणम् ।। (**नयचक्रकलापपद्धतिः**)। 5. सकलवस्तुग्राहकं प्रमाणम् ।। (**नयचक्रकलापपद्धतिः**) । 6. अनन्तधर्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्विह ।। (**षड्दर्शन समुच्चय-५५**) 7. प्रमाणेन वस्तुसङ्गृहीतार्थैकांशो नयः ।। (**नयचक्रकलापपद्धतिः**) ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नय का सामान्य लक्षण, नय के भेद-प्रभेद और उसका स्वरूप तथा नय में सप्तभंगी का योजन आदि विषयो को अब क्रमशः सोचेंगे । जैनदर्शन के स्याद्वाद को समझने के लिए नय समझना आवश्यक हैं । अनंत धर्मात्माक वस्तु के स्वरूप को सर्वांगीण रुप से समझने के लिए वस्तु के एक-एक धर्म को अपेक्षा भेद से समझना भी आवश्यक हैं और वस्तु के एक-एक धर्म को भिन्न-भिन्न अपेक्षा से समझने का मार्ग अर्थात् नयवाद हैं ।

● **नय का सामान्य लक्षण :** नय का सामान्य लक्षण बताते हुए नयरहस्य प्रकरण में कहा है कि,

"प्रकृतवस्त्वंशग्राही तदितरांशाप्रतिक्षेपी अध्यवसायविशेषो नयः ।"

- प्रकृत वस्तु के एक अंश (धर्म) को ग्रहण करनेवाला और उस वस्तु के इतर अंशो का (धर्मो का) प्रतिक्षेप (अपलाप) नहीं करनेवाले अध्यवसाय - विशेष को नय कहा जाता हैं । जैनतर्क भाषा में भी नय की (पहले बताई ऐसी) व्याख्या की हैं - **"प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकदेशग्राहिणस्तदितरांशाप्रतिक्षेपिणोऽध्यवसायविशेषो नयः ।।"**

[8]**प्रमाण जैसे ज्ञान हैं, वैसे नय भी ज्ञान हैं** । दोनों में अन्तर इतना ही है कि प्रमाण वस्तु के सभी धर्मो का ग्राहक है और नय तत् तत् वस्तु के अपने को (स्वयं को) अभिप्रेत एक निश्चित प्रकार के धर्म का ग्राहक हैं ।

नयप्रदीप ग्रंथ में प्रमाण और नय के विषयो को बताते हुए कहा है कि, सामान्य - विशेषादि नाना (अनेक) स्वभावात्मक घटादि वस्तु प्रमाण का विषय हैं । जब वह घटादि वस्तुओं के अनेक स्वभावों में से विवक्षित एक स्वभाव नय का विषय हैं ।[9] सारांश में, अनंतधर्मात्मक वस्तुग्राही प्रमाण है और प्रमाण द्वारा संगृहीत अनंतधर्मात्मक वस्तु का एक अंश नय का विषय हैं । ज्ञाता के अभिप्राय विशेष को भी **नय** कहा जाता हैं ।[10]

अनुयोग द्वार सूत्र की टीका में नय का स्वरूप बताते हुए कहा है कि, **"सर्वत्रानन्तधर्माध्यासिते वस्तुनि एकांशग्राहको बोधो नयः ।"** - सर्वत्र अनंतधर्मात्मक वस्तु में एक अंश का ग्राहक बोध नय कहा जाता हैं ।

प्रमाणनयतत्त्वालोक के सातवें परिच्छद में कहा है कि - **"नीयते येन श्रुताख्याप्रमाणविषयीकृतस्यार्थ-स्यांशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ।।७/१।।"**

शाब्दबोध में प्रतिभासित होती अनंत अंशात्मक वस्तु में से इतर अंशो की उदासीनतापूर्वक वस्तु का एक अंश जो अभिप्राय विशेष से मालूम हो, उस वक्ता के अभिप्राय विशेष को नय कहा जाता हैं । अर्थात् प्रत्येक पदार्थ में अनंतधर्म रहे हुए हैं। उसमें से अभीष्ट अंशो को (धर्मो को) ग्रहण करनेवाला और उसके अतिरिक्त दूसरे धर्मो के प्रति उदासीन रहनेवाला अर्थात् उस धर्मो का अपलाप नहीं करनेवाला, जो ज्ञाता का अध्यवसाय विशेष वह नय कहा जाता हैं ।

साराश में वक्ता के तात्पर्यानुसार वस्तु के तत् तत् स्वरूप को समजने के साधन विशेष को **नय** कहा जाता हैं । **"अनेकांत व्यवस्था" प्रकरण में नय की व्याख्या करते हुए कहा हा कि,** जिसके द्वारा प्रतिनियत धर्म का ग्रह हो, उसको **नय** कहा जाता हैं । न्याय विशारद - न्यायाचार्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजाने नयोपदेश ग्रंथ में **"नय"** के स्वरूप की स्पष्टता करते हुए बताया हे कि,

सत्त्वासत्त्वाद्युपेतार्थेष्वपेक्षावचनं नयः । न विवेचयितुं शक्यं विनापेक्षं हि मिश्रितम् ।।२।।

सत्त्वासत्त्व - नित्यानित्य - भेदाभेदादयो, ये तैरुपेता येऽर्था जीवपुद्गलादयस्तेषु अपेक्षावचनं प्रतिनियत-

8. नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्त्यैकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति - प्राप्नोतीति **नयः** ।। 9. प्रमाणेन संगृहीतार्थैकांशो नयः ।। 10. ज्ञातुरभिप्रायः नयः । **(नयप्रदीप)**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्मप्रकारकापेक्षाख्याशाब्दबोधजनकं वचनं नयवाक्यमित्यर्थः । इदं वचनरुपस्य नयस्य लक्षणं हि - निश्चितं मिश्रितं - नानाधर्मैं करंबितं वस्तु अपेक्षां विना विवेचयितुं न शक्यम् ।।२।।

सत्त्व - असत्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, भेद-अभेद आदि जो धर्म हैं, उस धर्मो से युक्त जीव-पुद्गल आदि द्रव्यो के बारे में जो अपेक्षावचन अर्थात् (उस अनंतधर्मात्मक वस्तु का) प्रतिनियत धर्म जिसमें प्रकार हैं, ऐसे अपेक्षा नामके शाब्दबोध के जनक वाक्य को **नयवाक्य** कहा जाता हैं । अर्थात् अपेक्षाज्ञान में अनंतधर्मात्मक वस्तु का प्रतिनियत धर्म प्रकार बनता है और **ऐसे प्रतिनियत धर्म प्रकारक अपेक्षाज्ञान के जनक वचन को नयवाक्य कहा जाता हैं ।**

यह अपेक्षा वचन वह नय का निश्चित लक्षण हैं । अनेक धर्मो से युक्त वस्तु को अपेक्षा के बिना विवेचित नहीं की जा सकती । एक - वस्तु में भिन्न-भिन्न अपेक्षा से रहे हुए अनेक धर्म कि जो वस्तु के स्वपर्याय या परपर्यायरूप में उसमें रहे हुए होते हैं, वे अनंताधर्मो में से एक धर्म को किसी अपेक्षा विशेष से जो अपेक्षा वचन द्वारा निर्वचन किया जाये, उस अपेक्षा वचन को **नयवाक्य** कहा जाता हैं । इसलिए ही नयोपदेश ग्रंथ में आगे बताया हैं कि, **तेन सापेक्षभावेषु प्रतीत्यवचनं नयः ।**

प्रमाणनयतत्त्वालोक के नयपरिच्छेद में नय के विषय में ज्यादा स्पष्ट करते हुए बताया हैं कि - **"वस्त्वंशे प्रवर्तमानो नयः स्वार्थैकदेशव्यवसायलक्षणो न प्रमाणं नापि मिथ्याज्ञानमिति ।।७-१।।"**

- वस्तु के एक प्रतिनियत अंश में प्रवर्तित नय स्वयं को इच्छित ऐसे (वस्तु के) एक देश के ज्ञान स्वरूप है और वह प्रमाण नहीं हैं । (क्योंकि प्रमाण तो वस्तु के समस्त अंशो का ग्राहक है और) वह नय मिथ्याज्ञान भी नहीं हैं । (क्योंकि नय वस्तु में रहे हुए प्रतिनियत धर्म का अवगाहन कराता है और उस वस्तु के स्व को अनभिप्रेत ऐसे अन्य धर्मो का अपलाप नहीं करता हैं । स्वयं को इष्ट अंश = धर्म को मुख्यता से पुरस्कृत करता है और अन्य नयो के इष्ट धर्मो को गौणरूप से स्वीकृत रखता हैं ।)

नयवाक्य का लक्षण : नयवाक्य का लक्षण बताते हुए **"नयप्रकाशस्तव"** ग्रंथ में बताया हैं कि, **नयवाक्य-लक्षणं तु अपरधर्मग्रहोपेक्षकत्वे सत्येकधर्मग्राहिवाक्यं नयवाक्यम्** । - वस्तु के अपर (अन्य) धर्मो को ग्रहण करने में उपेक्षा करने के साथ (स्वयं को अभिप्रेत वस्तु के) एक धर्म को ग्रहण करनेवाले वाक्य को **नयवाक्य** कहा जाता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि, नयवाक्य वस्तु के स्वयं को इच्छित नहीं है, ऐसे धर्मो को ग्रहण करने में उपेक्षा करता है अर्थात् स्व को अनभिप्रेत धर्मो के ग्रहण में उदासीन बना रहता हैं । परन्तु वह अन्य धर्मो की पूर्ण उपेक्षा - अपलाप नहीं करता है, यह बात याद रखें । यदि अन्य धर्मो का अपलाप करके (अपेक्षा भेद से रहे हुए उस धर्मो का एकांत से निषेध फरमाकर अपलाप करके) स्वयं को इच्छित अंशो को ही बताये तो वह नयवाक्य नहीं है, पर दुर्नयवाक्य हैं ।

प्रश्न : नय वाक्य का आकार किस प्रकार का होता हैं ?

उत्तर : नय वाक्य का आकार इस अनुसार से हैं - **"स्यादस्ति घटः ।"** यहाँ याद रखना कि, इस नयवाक्य का आकार "स्यात्" पद से लांछित होने पर भी किसी प्रकार से (अपेक्षा से) घट में "अस्तित्व" मात्र को सिद्ध करता हैं और अस्तित्व के समानाधिकरण उससे (अस्तित्व से) अतिरिक्त अनंता भी धर्मो की उपेक्षा ही होती हैं अर्थात् एक घट वस्तु में "अस्तित्व" धर्म रहा हुआ हैं । उसी घट में **"अस्तित्व"** से अतिरिक्त दूसरे नित्यत्वादि अनंता धर्म रहे हुए हैं, जो 'अस्तित्व' के समानाधिकरण धर्म हैं, उस अनंता धर्मो की उपेक्षा करके मात्र घट में "अस्तित्व" धर्म को सिद्ध करने के लिए जो वाक्यप्रयोग हो, उसको **नयवाक्य** कहा जाता हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न : नयवाक्य प्रमाणभूत है या अप्रमाणभूत हैं ?

उत्तर : नयवाक्य प्रमाण भी नहीं है और अप्रमाण भी नहीं हैं । परन्तु प्रमाण का एक देश हैं । क्योंकि, नयवाक्य के द्वारा प्रमाण द्वारा स्वीकृत अनंता धर्मो में से एक ही "अस्तित्व" इत्यादि धर्म का ग्रह होता हैं - स्वीकार होता हैं । इसलिए नयवाक्य प्रमाण का एक देश हैं ।

प्रमाणवाक्य एक साथ सकल धर्मो का ग्रह करता है, इसलिए नयवाक्य प्रमाण भी नहीं हैं और नयवाक्य प्रमाण द्वारा स्वीकृत अनंता धर्मो में से कोई भी धर्मो का अपलाप किये बिना स्वयं की अपेक्षा अनुसार के इच्छित अंश (धर्म) का ग्रह करता हैं, इसलिए अप्रमाणभूत भी नहीं हैं ।

प्रश्न : दुर्नय वाक्य भी एक धर्म का ग्रह करता है और नय वाक्य भी एक धर्म का ग्रह करता है, तो फिर नयवाक्य को दुर्नय वाक्य क्यों नहीं कहा जाये ?

उत्तर : दुर्नय वाक्य और (सु) नय वाक्य में अन्तर है । दुर्नय वाक्य वस्तु के शेष धर्मो का अपलाप करके एक धर्म का ग्राहक बनता हैं । जब कि, नयवाक्य शेष धर्मो का अपलाप किये बिना अपेक्षा भेद से उस धर्मो को गौणरूप से स्वीकृत रखकर अपने अभिप्रेत धर्म को पुरस्कृत करता हैं । इसलिए सर्वधर्मो के पुरस्कर्ता प्रमाण वाक्य के अंतर्गत नय वाक्य आ सकता है । सारांश में नय वाक्य प्रमाण वाक्य के अंतर्निष्ठ हैं, जब कि, दुर्नय वाक्य प्रमाण वाक्य के बहिर्भूत हैं । सुनय वाक्यो का समुदाय ही प्रमाण वाक्य का विषय है । दुर्नय वाक्य प्रमाण वाक्य के विषयभूत समुदाय में नहीं आ सकता हैं । इसलिए वह प्रमाण वाक्य के बहिर्भूत हैं।

प्रश्न : प्रमाण वाक्य का आकार किस प्रकार का होता हैं ?

उत्तर : प्रमाण वाक्य का आकार **'स्यादस्त्येव घटः'** इत्याकारक है । यहाँ **"स्यादेव"** पद से लांछित होने से उसकी प्रमाणता हैं । उसमें स्वरूपादि द्वारा घट में 'अस्तित्व' धर्म का **'स्यात्'** पद द्वारा प्रतिपादन किया जाता हैं। परन्तु पररुपादि द्वारा नहीं । 'एव' पद द्वारा 'अस्तित्व' से विरुद्ध नास्तित्वादि धर्मो का व्यवच्छेद प्रतिपादित किया हैं । **यहाँ उल्लेखनीय हैं कि** प्रमाण वाक्य में अस्तित्व, सत्त्वादि धर्मो के प्रतिपादन के साथ ही नास्तित्व - असत्त्वादि का भी निषेधमुखेन प्रतिपादन हो ही जाता हैं । जब कि नय वाक्य में वस्तु के एक मात्र "अस्तित्व" आदि धर्म की मुख्यता से विधान होता हैं । प्रमाण वाक्य में स्वरूप से अस्तित्व और पररुप से नास्तित्व, इन दोंनो का **"स्यादस्त्येव घटः ।"** इत्याकारक विधान द्वारा एक साथ (युगपत्) ही विधान हो जाता है । नय वाक्य में 'स्यादस्ति घटः ।' इत्याकारक विधान द्वारा केवल "अस्तित्व" धर्म का ही प्रतिपादन होता हैं । इस तरह प्रमाण वाक्य और नय वाक्य के बीच अन्तर हैं ।

प्रश्न : प्रमाण वाक्य का आकार "अस्त्येव घटः" ऐसा हो तो भी पहले बताये अनुसार का बोध हो जाता है, तो फिर "स्याद्" पद को अधिक क्यों रखा हैं ?

उत्तर : प्रमाण वाक्य में "स्यात्" पद अधिक नहीं हैं, परन्तु आवश्यक ही है । क्योंकि यदि वह रखा न जाये तो दुर्नय वाक्य में प्रमाण वाक्य का लक्षण चला जाने से अतिव्याप्ति आती हैं । दुर्नय वाक्य का आकार 'अस्त्येव घटः' ही है । दुर्नय वाक्य वस्तु के स्वाभिप्रेत अंश-धर्म से अतिरिक्त अंशो का अपलाप करता हैं । इसलिए **प्रमाण वाक्य** : स्यादस्त्येव घटः । **नय वाक्य** : स्यादस्ति घटः । **दुर्नय वाक्य** : अस्त्येव घटः । इस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार तीनों वाक्यों के बीच का विवेक है । **प्रमाण वाक्य से वस्तु का समग्रतया बोध होता हैं । नय वाक्य से वस्तु का सापेक्षिक एक धर्म का बोध होता हैं । दुर्नय वाक्य से वस्तु का एकांतिक एक धर्म का बोध होता हैं, जो मिथ्या हैं । प्रमाण वाक्य, नय वाक्य से गर्भित होता हैं ।**[11] **और दुर्नय वाक्य से दूरीकृत होता हैं ।** (अर्थात् नय वाक्यों के समूहरूप ही प्रमाण वाक्य होता हैं और प्रमाण वाक्य दुर्नय वाक्य से दूरीकृत होता हैं - प्रमाण वाक्य में दुर्नय वाक्यो की कोई भूमिका नहीं होती हैं ।)

विशेष में... **प्रमाण वाक्य सकलदेशात्मक हैं, नय वाक्य विकलदेशात्मक हैं ।** दुर्नय वाक्य न तो सकल देशात्मक है, न तो विकलदेशात्मक हैं । परन्तु सर्वथा हेय होने से बहिस्कृत ही हैं ।

v सकलादेश : सकलादेश कब हो, वह बताते हुए **नयप्रकाशस्तव** में कहा है कि,

"एकस्मिन्नैव हि घटादिवस्तुनि, कालादिभिरष्टभिः कृत्वाऽभेदवृत्त्या प्रमाणप्रतिपन्ना अनन्ता अपि धर्मा यौगपद्येन यदाऽभिधीयते तदा सकलादेशो भवति । एक ही घटादि वस्तु में कालादि आठ द्वारा अभेदवृत्ति से प्रमाण वाक्य द्वारा प्रतिपन्न (ग्राह्य) अनंता धर्म भी जब एकसाथ कहे जाते हैं, तब सकलादेश होता हैं ।

सकलादेश साधक आठ अंग बताते हुए कहा है कि... "के पुनः कालादयः ? कालः, आत्मरूपम्, अर्थः सम्बन्धः, उपकारः, गुणिदेशः, संसर्गः, शब्दः इति । -

(१) काल, (२) आत्म स्वरूप (वस्तु का पर्याय), (३) अर्थ (आधार), (४) संबंध (अविष्वग् भाव), (५) उपकार (वस्तु की प्रवृत्ति), (६) गुणीदेश (वस्तु का क्षेत्र), (७) संसर्ग और (८) शब्द (वस्तु का वाचक) । अब कालादि के विधान द्वारा अभेदवृत्ति से किस प्रकार से प्रमाण प्रतिपन्न अनंता धर्मो का युगपत् विधान (कथन) होता है, वह देखेंगे ।

(१) कालेन अभेदवृत्तिः - सब से पहले यह **प्रश्न होता है कि,** अभेदवृत्ति से एक ही वस्तु में युगपत् विरुद्ध धर्म का ग्रह किस तरह से हो सकता हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए **नयप्रकाशस्तव ग्रंथ** में बताया है कि, **"स्यादस्त्येव घटः"** इस स्थान पे घट में जिस काल में अस्तित्व धर्म हैं, उसी काल में उसी घट में ही बाकी के नास्तित्वादि धर्म भी हैं । इसलिए कालेन अभेदवृत्ति हैं अर्थात् एक ही काल में एक ही घट में अस्तित्व - नास्तित्व धर्म साथ रहते हैं । एककालेन उन दोनों के बीच अभेद हैं अर्थात् एककालावच्छेदेन अस्तित्व और उससे विरुद्ध नास्तित्वादि धर्मो के बीच (एक ही घट वस्तु में साथ रहे हुए होने से) अभेद हैं और इसलिए ही कालेन अभेदवृत्ति से वे सभी धर्मो का एकसाथ कथन होता हैं ।

यहाँ दूसरा एक प्रश्न उपस्थित होता है कि, अस्तित्व के साथ जिसका विरोध नहीं है, ऐसे अविरुद्ध द्रव्यत्वादि धर्मो की एकत्र (घट वस्तु में) कालेन अभेदवृत्ति हो सकती है, परन्तु सर्वथा विरुद्ध ऐसे नास्तित्वादि धर्मो की एक ही घट वस्तु में कालेन अभेदवृत्ति किस तरह से संभवित हैं ? - **इस प्रश्न का समाधान देते हुए बताते है कि,** जिस काल में अस्तित्व धर्म का निरूपण किया जाता है, उसी काल में घट में नास्तित्व धर्म भी विद्यमान हैं अर्थात् **"स्यादस्त्येव घटः"** ऐसा विधान किया जाता हैं, तब अस्तित्व के समानाधिकरण अनंता धर्मो का (घटत्वादि अनंता धर्मो का) प्रतिपादन किया जाता हैं। क्योंकि, घटत्वादि अनंता धर्मो से विशिष्ट ही घट की सत्ता का योग है । अन्यथा (उस काल में घटत्वादि अनंता धर्मो से विशिष्ट घट का प्रतिपादन किया हुआ माना न जाये तो) घट के असत्त्व की आपत्ति आकार खडी रहे । इसलिए अस्तित्व के समानाधिकरण अनंता धर्मो का भी उसी काल में प्रतिपादन होता ही है, इसलिए कालेन अभेदवृत्ति हैं ।

11. प्रमाणवाक्यं नयवाक्यगर्भितं निर्दूषणं दुर्नयवाक्यदूरितम् । स्यादेवयुक्तं जिनराजशासने सतां चमत्कारकरं भवेन्न किम् ? ।।२।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(२) आत्मरुपेण अभेदवृत्ति : आत्मरूप अर्थात् वस्तु का पर्याय । वस्तु के पर्याय से अभेदवृत्ति । वस्तु के पर्याय द्वारा अभेदवृत्ति से अनंताधर्मो का युगपत् कथन होता हैं । जैसे "अस्तित्व" घट का पर्याय हैं, वैसे उससे अतिरिक्त अन्य भी धर्म घट के ही पर्याय हैं । इसलिए अस्तित्व की अन्य धर्मो के साथ अभेदवृत्ति हैं ।

(३) अर्थाभेदवृत्ति : अर्थ यानी आधार । जैसे घट वस्तु "अस्तित्व" धर्म का आधार हैं, वैसे उससे अतिरिक्त अन्य धर्मो का भी घट आधार हैं । इसलिए अर्थाभेदवृत्ति हैं ।

(४) संबंधाभेदवृत्ति : अविष्वग् (अपृथग्) भाव को संबंध कहा जाता हैं । जैसे घट में अस्तित्व का अविष्वग् भाव हैं, वैसे उसके सिवा अन्यधर्मो का भी घट में संबंध हैं ही । इसलिए संबंधाभेदवृत्ति हैं ।

(५) उपकाराभेदवृत्ति : जो घट में लोकप्रवृत्ति स्वरूप उपकार अस्तित्वेन किया जाता है, वही उपकार अन्य धर्मो के द्वारा भी होता है । क्योंकि, सकल धर्म से विशिष्ट घट में ही लोकप्रवृत्ति होती है । इसलिए उपकाराभेदवृत्ति है ।

(६) गुणीदेशाभेदवृत्ति : गुणी घट, उसका देश = क्षेत्र भूतलादि, उस भूतलादि का आश्रय करके जैसे घट में 'अस्तित्व' धर्म का सद्भाव है । वैसे अन्य धर्मो का भी सद्भाव है, इसलिए गुणीदेशाभेदवृत्ति है।

(७) संसर्गाभेदवृत्ति : भेद प्राधान्य होने पर भी संबंध हो उसे संसर्ग कहा जाता हे । इसलिए जो घट में अस्तित्व का संसर्ग है, उसी घट में अन्य धर्मो का भी संसर्ग है ही । इसलिए संसर्गाभेदवृत्ति । **यहाँ याद रखना कि,** संबंध और संसर्ग में अन्तर (भेद) हैं । संसर्ग में भेद प्राधान्य से होता है और अभेद गौणरूप में होता हैं । संबंध में अभेद प्राधान्य से होता है और भेद गौणरूप से होता है ।

(८) शब्दाभेदवृत्ति : अस्तित्व धर्मात्मक घट का वाचक जो शब्द है, वही शब्द अन्य धर्मात्मक घट का भी है । इसलिए शब्दाभेदवृत्ति ।

इस तरह से सकलादेश का स्वरूप देखा । पहले जो प्रमाण वाक्य देखा था, उसका वह अपर पर्याय ही हैं।

विकलादेश : विकालादेश का स्वरूप सकलादेश से विपरित है । **नय वाक्य विकालादेश है** । क्योंकि एक वस्तु में रहे हुए नय वाक्य से प्रतिपन्न 'अस्तित्व' आदि एक धर्म का कालादि आठ द्वारा भेदवृत्ति से विधान जब किया जाता हैं, तब विकलादेश होता हैं ।

प्रमाण वाक्य में कालादि आठ द्वारा अभेदवृत्ति से अनंता धर्मो का एकसाथ विधान किया जाता हैं । जब कि, नय वाक्य में कालादि आठो करके भेदवृत्ति से विवक्षित एक धर्म का ही विधान किया जाता है । इसलिए प्रमाण वाक्य सकलादेशात्मक है और नयवाक्य विकलादेशात्मक है ।

दुर्नय वाक्य तो सकलादेशात्मक भी नहीं है या विकलादेशात्मक भी नहीं है । परन्तु वह सर्वथा हेय होने से बहिष्कृत ही है। क्योंकि उससे वस्तु का सच्चा बोध ही नहीं होता हैं ।

v नय का विशेष स्वरूप : तत्त्वार्थ सूत्रकार महर्षि ने **स्वोपज्ञ भाष्य** में नय का सामान्य लक्षण भिन्न - भिन्न पर्यायो के द्वारा बताया हैं । उसका अवगाहन करने से नय विषयक बोध ज्यादा स्पष्ट बनेगा । महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजा ने **नयरहस्य प्रकरण** में न्याय की शैली में उस पर्यायो के अर्थ किये है । उससे विशेषतः नय का विषय परिस्फुट होगा । इसलिए यहाँ उस नय के पर्यायवाची शब्दो को अर्थ सहित सोचेंगे ।

"नयाः, प्रापकाः, साधकाः, निर्वर्तकाः, निर्भासकाः, उपलम्भकाः, व्यञ्जकाः, इत्यनर्थान्तरम् इति" (तत्त्वार्थ भाष्य १-३५) - प्रत्येक पर्यायो का स्वरूप नयरहस्य ग्रंथ के माध्यम से सोचेगें ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१) प्रापकत्वं - प्रमाण प्रतिपन्न - प्रतियोगिप्रतियोगिमद् - भावापन्ननानाधर्मैकतरमात्रप्रकारकत्वम् ।

प्रमाण द्वारा प्रतिपन्न (सुनिश्चित) और प्रतियोगि - प्रतियोगिमद्-भावापन्न (अर्थात् विरोधी - विरोधिमद् भाव से युक्त) जो (वस्तु के) अनेक धर्म है, उसमें से कोई एक धर्म मात्र प्रकारक ज्ञान को **"नय"** कहा जाता हैं ।

कहने का आशय यह है कि, प्रमाण से प्रतिपन्न वस्तु अनंतधर्मात्मक हैं । उस अनंत धर्मात्मक वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षा से रहे हुए होते हैं । जैसे कि, घट वस्तु में अपेक्षा से नित्यत्व और अपेक्षा से अनित्यत्व ऐसे परस्पर विरुद्ध धर्म रहते हैं । नित्यत्व का विरोधी धर्म अनित्यत्व है और अनित्यत्व का विरोधी धर्म नित्यत्व हैं । इसलिए नित्यत्व जब विरोधी है तब अनित्यत्व विरोधिमद् (विरोध्य) है और अनित्यत्व जब विरोधी है, तब नित्यत्व विरोध्य हैं । इसलिए उन दोनों धर्मो से युक्त वस्तु विरोधि - विरोधिमद्भाव से युक्त हैं ।

इसलिए प्रमाण से प्रतिपन्न और विरोधी - विरोधिमद् भाव से युक्त अनंताधर्मात्मक वस्तु का कोई एक धर्म (नित्यत्व या अनित्यत्व अथवा अस्तित्व या नास्तित्व इत्यादि कोई एक धर्म) जो अध्यवसाय विशेष में प्रकार बनता हैं, उस अध्यवसाय विशेष को नय कहा जाता हैं ।

नय ज्ञान में वस्तु विशेष्य बनती हैं और वस्तु का एक धर्म प्रकार बनता है । इसलिए **"कथंचित् अस्तित्ववान् घटः"** ऐसा जो ज्ञान होता है, वह नय ज्ञान है और उसका आकार (पहले बताये अनुसार) **"स्यादस्ति घटः"** हैं । सारांश में **एक धर्म प्रकारक ज्ञान विशेष को ही नय कहा जाता हैं** । (स्यात् = कथंचित्)

(२) साधकत्वं तथाविधप्रतिपत्तिजनकत्वम् ।

साधक अर्थात् वैसे प्रकार के (पहले बताया उस प्रकार के) ज्ञान का जनक (अध्यवसाय विशेष) को नय कहा जाता है। **प्रमाण से प्रतिपन्न ऐसी अनंतधर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म के ज्ञान के जनक अध्यवसाय विशेष को नय कहा जाता हैं** । जैसि कि, एक घटादि वस्तु में भिन्न भिन्न अपेक्षा से नित्यत्व-अनित्यत्व, अस्तित्व-नास्तित्व, सत्त्व-असत्त्व, एकत्व-अनेकत्व आदि अनंता धर्म रहते हैं, उसमें से किसी एक विवक्षित धर्म के ज्ञान के जनक अध्यवसाय विशेष को नय कहा जाता हैं ।

(३) निर्वर्तकत्वं अनिवर्तमाननिश्चितस्वाभिप्रायकत्वम् ।

अपने जो अभिप्राय से अध्यवसाय विशेष उत्पन्न होता है, उस निश्चित अभिप्राय की निवृत्ति जहाँ नहीं होती हैं, ऐसे अध्यवसाय विशेष को नय कहा जाता है । जैसे कि, अपने 'द्रव्य' के अभिप्राय से जो "नित्यो घटः", ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होता है, उस द्रव्य के अभिप्राय की निवृत्ति "नित्यो घटः" ऐसे अध्यवसाय में नहीं होती है, इसलिए उस अध्यवसाय विशेष को **नय** कहा जाता है । कहने का आशय यह है कि, 'द्रव्य' की अपेक्षा से घट नित्य है, ऐसा वक्ता का अभिप्राय "नित्यो घटः" ऐसे अध्यवसायरूप में निवृत्त नहीं होता हैं । परन्तु ऐसे अभिप्राय का निर्वाह होता है, इसलिए ऐसे अध्यवसाय विशेष को नय कहा जाता है।

(४) निर्भासकत्वं शृङ्गग्राहिकया वस्त्वंशज्ञापकत्वम् ।

"शृंगग्राहिका" न्याय से वस्तु के एक अंश के ज्ञापक को निर्भासक कहा जाता है - यह भी नय का एक लक्षण हैं।

"शृंगग्राहिका" न्याय इस प्रकार हैं - अनेक ग्वाले अपनी अपनी गाय को लेकर एक खुले मेदान में छोड देते हैं। सामान्यतः वे गाये समान लगती होती हैं । इसलिए सामान्य लोगो को कौन-सी गाय किस ग्वाले की है उसका अंदाज नहीं आता है, परन्तु ग्वाले को तो अपनी गायकी विशेषता मालूम होती हैं । इसलिए गोष्ठ (गाय के गोठा) की ओर वापस आते वक्त वह ग्वाला अपनी गाय की सिंग पकडकर गोष्ठ की दिशा में ले जाता हैं - यह शृंगग्राहिका न्याय हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी तरह से एक वस्तु में अनंता धर्म रहे हुए होते हैं, उस अनेक धर्मो - अंशोवाली वस्तु के किसी अंश विशेष का ज्ञान जिसके द्वारा हो उसे निर्भासक - नय कहा जाता है । जैसे ग्वाला अपनी गाय को अपने गोष्ठ की दिशा में मोड़ता है, वैसे वक्ता वस्तुगत अपने इच्छित अंश को पकडकर जो अध्यवसाय विशेष से वस्तु का ज्ञान करता है, उस वक्ता के अध्यवसाय विशेष को **नय** कहा जाता हैं ।

(५) उपलम्भकत्वं प्रतिविशिष्टक्षयोपशमापेक्षसूक्ष्मार्थावगाहित्वम् ।

प्रतिविशिष्ट क्षयोपशम की अपेक्षा से सूक्ष्मार्थ अवगाही ज्ञान को उपलंभक कहा जाता है और यह भी नय का लक्षण है । इतर इतर धर्मो के क्षयोपशम की व्यावृत्ति करने द्वारा वस्तु के कोई एक निश्चित धर्म में प्रवर्तित क्षयोपशम विशेष को **प्रतिविशिष्ट क्षयोपशम** कहा जाता है है । ऐसे प्रतिविशिष्ट क्षयोपशम के आश्रय में वस्तु के सूक्ष्म अर्थ (अंश) का ग्रहण जिस ज्ञान से होता है उसको उपलंभक अर्थात् नय कहा जाता हैं । जैसे कि, वस्तु के इतर धर्म विषयक क्षयोपशम को बाजू पर रखकर एक निश्चित "नित्यत्व" आदि धर्म में प्रवर्तित क्षयोपशम विशेष से वस्तु के सूक्ष्म अंश का ज्ञान जिससे होता है, उसको नय कहा जाता हैं ।

(६) व्यञ्जकत्वं प्राधान्येन स्वविषयव्यवस्थापकत्वम् ।

प्रधानता से "स्व" विषय के व्यवस्थापक को व्यंजक कहा जाता है और उसको ही नय भी कहा जाता हैं

जो अपने अभिप्राय विशेष से वस्तु के किसी एक निश्चित स्वरूप को स्पष्ट करे, उसे व्यंजक अर्थात् नय कहा जाता हैं । वस्तु अनंतधर्मात्मक है, उसमें से प्रधानतया (प्रधानरूप से) किसी एक धर्म (अस्तित्व आदि धर्म) का व्यवस्थापन करे उसे व्यंजक = नय कहा जाता हैं । प्रस्तुत नय वस्तु के अन्य धर्मो का निषेध नहीं करता है, परन्तु अपने को अभिप्रेत अंश का प्रधानतया व्यवस्थापन करता है और अन्य धर्मो का गौणरूप से व्यवस्थापन करता हैं ।

विशेष में, प्रमाण नयतत्त्वालोक (७. ५३) में कहा है कि नय वाक्य और प्रमाण वाक्य स्व-स्व विषय में प्रवृत्ति काल में विधि और निषेध की कल्पना द्वारा सप्तभंगी का अनुसरण करते है । इस विषय की विशेष विचारणा "जैनदर्शन में सप्त भंगी" प्रकरण में करेंगे । **उपरांत, याद रखना कि, जैनदर्शन में कुछ भी (सूत्र या उसका अर्थ) नयविहीन नहीं होता है, नययुक्त ही होता है ।**[12]

नय का सामान्य स्वरूप देखा । अवसर प्राप्त नयाभासका स्वरूप देखेंगे । वह बताते हुए प्रमाणनयतत्त्वालोक में कहा है कि, **"स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी पुनर्नयाभासः ।।७-२।।** जो अभिप्राय विशेष अपने इच्छित अंश को पुरस्कृत करे और वस्तु के इतर अंशो का अपलाप करे, उसको नयाभास **(दुर्नय)** कहा जाता हैं । नित्यत्वादि धर्मो का एकांत से विधान करनेवाला अभिप्राय विशेष दुर्नय कहा जाता हैं । जैसे कि, "आत्मा नित्य ही है, अनित्य हैं ही नहीं" अथवा "आत्मा अनित्य ही है, नित्य है ही नहीं ।" ऐसे एकांत से दूषित बने हुए अभिप्राय विशेष को[13] (ज्ञानां श को) नयाभास = दुर्नय कहा जाता हैं । नयाभासों का विशेष स्वरुप आगे बताया जायगा ।

v नय के मुख्य भेद : नय के भेद - प्रकार को बताते हुए **प्रमाणनयतत्त्वालोक** में बताते है कि,

'स व्यास-समासाभ्यां द्विप्रकारः ।।७-३।।'

12. नत्थि नएहिं विहूणं सुत्तं अत्थो अ जिणमए किंचि । आसज्ज उ सोयारं नए नयविसारओ बूया ।।विशेषावश्यकभाष्य-२७७।।
13. नयास्तु पदार्थज्ञाने ज्ञानांशा, तत्रानन्तधर्मात्मके वस्तुन्येकधर्मोन्नयनं ज्ञानं नयः इतरांशप्रतिक्षेपाभिमुखं ज्ञानं दुर्नयः ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यासतोऽनेक विकल्पः ।।७-४।। समासस्तु द्विभेदो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च ।।७-५।।

- वह नय विस्तार और संक्षेप से दो प्रकार का हैं । विस्तार से उस नय के अनेक विकल्प - प्रकार हैं, क्योंकि, वस्तु अनंतअंशात्मक है और एक अंश विषयक वक्ता के अभिप्राय विशेष को नय कहा जाता हैं, वह आगे बताया ही है । इसलिए अनन्तांशात्मक वस्तु में एक एक अंश के पर्यवसायी जितने भी वक्ता के अभिप्राय विशेष है, उतने नय है । इसलिए विस्तार से सोचे तो नय अनेक प्रकार के है, इसलिए ही कहा है कि,

"जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवादा । जावइया नयवादा तावइया चेव हुंति परसमया ।। (विशेषावश्यक भाष्य-४५१) जितने भी (वस्तु का बोध करनेवाले) वचन मार्ग है, उतने ही नयवाद (नय) है और जितने नय है, उतने ही परसमय (परदर्शन) हैं ।

संक्षेप से सोचे तो नय के दो प्रकार हैं । (१) द्रव्यार्थिक नय और (२) पर्यायार्थिक नय । (विस्तार से नयो के सभी प्रकार कहने के लिए संभव नहीं है । इसलिए संक्षेप से दो नय और उसके आन्तर्भेदो की विचारणा करेंगे ।

- द्रव्य किसे कहा जाता है ? और द्रव्य के प्रकार कितने हैं ? - पर्याय किसे कहा जाता हैं ? और पर्याय के कितने है ? - द्रव्यार्थिक नय के भेद कितने हैं और पर्यायार्थिक नय के प्रकार कितने है ? - इस विषय की अब विचारणा करेंगे।

● **द्रव्यार्थिक नय का लक्षण :**

द्रव्यार्थमात्रग्राही नयो द्रव्यार्थिकः (नयरहस्य) - जो नय मात्र द्रव्य को ही ग्रहण करता है - बताता है उसे **द्रव्यार्थिक नय** कहा जाता है । यह नय द्रव्य को ही तात्त्विक रूप से स्वीकार करता हैं । क्योंकि उसके मतानुसार उत्पाद और विनाश अतात्त्विक है । क्योंकि, वे दोनो क्रमशः आविर्भाव और तिरोभाव ही है ।

● **पर्यायार्थिक नय का लक्षण :** पर्यायमात्रग्राही पर्यायार्थिकः- पर्याय मात्र को ग्रहण करनेवाले नय को पर्यायार्थिक नय कहा जाता हैं । यह नय उत्पाद और विनाश स्वरूप पर्याय मात्र को ही स्वीकार करने में तत्पर हैं । उपरांत वह द्रव्य को सजातीय द्रव्य से अतिरिक्त मानता नहीं हैं ।

यहाँ उल्लेखनीय है कि, पहले बताये अनुसार दोनों नय स्वयं को अनिच्छित अंश का प्रतिक्षेप करते हो वैसे स्पष्ट दिखाई देते है । इसलिए वे नय, दुर्नय की कक्षा में आ जायेंगें, ऐसी किसी को शंका हो सकती है, परन्तु ऐसी शंका उचित नहीं है, क्योंकि तत् तत् नय स्वाभिप्रेत अंश की प्रधानता[14] बताने तक ही इतर अंश का प्रतिक्षेप करते हैं । परन्तु इतरांश का पूर्ण अपलाप नहीं करते हैं । गौण रूप में तो इतर अंश भी उनको मान्य ही होता है । अब क्रमशः पूर्वोक्त प्रश्नो के समाधान के बारे में सोचेंगे ।

द्रव्यार्थिक नय का ज्ञान करने में द्रव्य के स्वरूप का ज्ञान भी आवश्यक हैं । इसलिए यहाँ द्रव्य का स्वरूप सोचेंगे । द्रव्य का लक्षण बताते हुए 'सप्तभंगी-नयप्रदीप' प्रकरण में कहा है कि,

"अथ द्रव्यलक्षणमाह-सत् द्रव्यलक्षणम्, सीदति-स्वकीयान् गुण-पर्यायान् व्याप्नोतीति सत्, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तम् (सत्), अर्थक्रियाकारि च सत्;" "यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् । यच्च नार्थक्रियाकारि तदेव परतोऽप्यसत् ।" इति। निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्या स्वभाव-विभावपर्यायान् द्रवति, द्रोष्यति, अदुद्रुवदिति द्रव्यम् । गुणपर्यायवद् द्रव्यं वा। गुणाश्रयो द्रव्यं वा ।

14. न चैवं इतरांशप्रतिक्षेपित्वात् दुर्नयत्वं, तत्प्रतिक्षेपस्य प्राधान्यमात्र एवोपयोगात् ।। (नयरहस्य)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ : 'सत्' द्रव्य का लक्षण हैं । स्वकीय गुण-पर्यायो को जो प्राप्त करते हैं, उसे **'सत्'** कहा जाता हैं । अर्थात् जो गुण-पर्याय से युक्त है उसे **द्रव्य** कहा जाता हैं । (सहभावी धर्मो को **गुण** कहा जाता है और क्रमभावी धर्मो को **पर्याय** कहा जाता है । द्रव्य को धर्मी कहा जाता हैं ।) उत्पाद, नाश और स्थिरता - ये तीन से युक्त हो उसे **'सत्'** कहा जाता है और वही द्रव्य हैं । (इस विषय की विस्तृत चर्चा प्रस्तुत ग्रंथ की जैनदर्शन की श्लोक-५७ की टीका में की ही हैं ।) **उत्पादादि तीन का स्वरूप समजाते हुए[15] 'नय प्रकाशस्तव' ग्रंथ में कहा हैं कि,** "वस्तु पहले जो पर्यायरूप में न हो, उस पर्यायरूप में लाभ होना उसे **"उत्पाद"** कहा जाता है । जो पर्यायरूप में हो, उस पर्याय की सत्ता का विरह होना उसे **"नाश"** कहा जाता है और द्रव्यरूप से प्रत्येक पर्याय में अनुवर्तन होना उसे **"स्थिति"** कहा जाता हैं । जैसे कि, मिट्टी की अवस्था में पृथुबुध्नोदरादि आकार रुप में घट असत् था अर्थात् मिट्टी की अवस्था में तादृश आकाररुप पर्याय नहीं था, उस (नूतन) पर्याय का लाभ होना उसे **उत्पाद** कहा जाता हैं । उस अवस्था में घट में उत्पत्तिमत्त्व आता हैं । तादृश आकाररूप पर्याय का विरह होना उसे **"नाश"** कहा जाता हैं । उस अवस्था में घट में नाशवत्त्व आता है और उन दोनों अवस्था में द्रव्यरूप से घट का अनुवर्तन होना उसे **"स्थिति"** कहा जाता हैं । इसलिए घट में स्थितिमत्त्व आता हैं । इस तरह से जगत के सभी पदार्थ उत्पादादि त्रयात्मक ही है अर्थात् **उत्पादादि त्रयात्मक वस्तु को द्रव्य कहा जाता हैं।** उपरांत द्रव्य रूप से सभी वस्तुओं की स्थिति ही होती है और पर्याय रूप से सभी वस्तुओं की उत्पत्ति और विनाश होता हैं ।

द्रव्य का अन्य लक्षण करते हुए बताते हैं कि - जो अर्थक्रियाकारि हो उसे **'सत्'** कहा जाता हैं । प्रत्येक वस्तु की अपनी एक विशिष्ट क्रिया होती है कि जिस क्रिया से उस वस्तु की पहचान होती हैं । उस विशिष्ट क्रिया को **"अर्थक्रिया"** कहा जाता हैं और अर्थक्रिया से युक्त जो हो, उसे सत् अर्थात् द्रव्य कहा जाता है । जैसे कि, "जलधारण" क्रिया घट की एक विशिष्ट क्रिया है । उस क्रिया के द्वारा ही घट की पहचान होती हैं । इसलिए घट अर्थक्रिया से युक्त द्रव्य हैं ।

द्रव्य का अन्य लक्षण करते हुए कहते है कि... अपने अपने प्रदेशो के समूह द्वारा अखंडवृत्ति से - अविच्छिन्न रूप से स्वाभाविक और वैभाविक पर्यायो को जो पाता है, भविष्य में जो पायेगा और भूतकाल में जो पाता था, उसे द्रव्य कहा जाता है । तदुपरांत, गुण-पर्याय से युक्त वस्तु को द्रव्य कहा जाता है अथवा गुणो के आश्रय को भी द्रव्य कहा जाता हैं ।

पूर्वोक्त स्वरूपवाले द्रव्य के छः प्रकार है । (१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) पुद्गल, (५) जीव, (६) काल : यह छः द्रव्यो के स्वरूप जैनदर्शन के निरुपण में पहले बताया ही है और परिशिष्ट में दिये गये विशेषार्थ में विस्तार से बताया है। यह जगत षड्द्रव्यात्मक है ।

प्रश्न : द्रव्य के स्वाभाविक और वैभाविक पर्याय क्या है ? और द्रव्य के स्वाभाविक और वैभाविक पर्याय कौन से है?

उत्तर : जिसका जो स्वभाव है, उस स्वभाव का उस स्वरूप से ही प्रतिक्षण परिणमन होता है, उस स्वभाव को **"स्वभावपर्याय"** कहा जाता है अर्थात् वस्तु का स्थिर स्वभाव कि जो प्रतिक्षण उस स्वरूप में ही परिणमन पाये, परन्तु कभी भी अन्यथा स्वरूप में परिणमित नहीं होता है, उसे **"स्वभावपर्याय"** कहा जाता हैं । जो पूर्व स्वभाव के

15. तत्र असत आत्मलाभः उत्पत्तिः, सतः सत्ताविरहो नाशः, द्रव्यतयानुवर्तनं स्थितिः । तत्र घटस्य मृत्पिण्डाद्यवस्थायां पृथुबुध्नोदराद्याकारत्वेनासतस्तत्स्वरूपात्मलाभादुत्पत्तिमत्त्वम्, अथ तत्त्वेन सतस्तदभिन्नस्तदाकारविरहान्नाशवत्त्वम्, तथाऽनुवृत्ताकारनिबन्धनरूपद्रव्यतयाऽनुवर्तनात्स्थितिमत्त्वम् । एवं सकलार्थानामप्येतत्त्रयात्मकत्वमेव ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्यागपूर्वक अन्य स्वभाव में परिणमन पाता हैं, उस स्वभाव को **"विभावपर्याय"** कहा जाता हैं ।[16] जैसे कि, मोक्षावस्था में जीव का "अगुरुलघु" पर्याय और ज्योतिष्क विमानादि का "घंटाकार" पर्याय, स्थिर स्वभाव होने से वह **'स्वभाव पर्याय'** कहा जाता है । जब कि, संसारी अवस्था में जीव का "गुरुलघु" पर्याय या "मनुष्यत्वादि" पर्याय अन्य अन्य पर्यायो में परिणमन होता होने से **'विभाव पर्याय'** कहा जाता है ।

विशेष में... सप्तभंगी - नयप्रदीप ग्रंथ में बताया हैं कि, गुण के विकारो को पर्याय कहे जाते हैं । वे स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार के हैं । "अगुरुलघु" पर्याय स्वभाव पर्याय है । उसके षड्वृद्धि - हानि स्वरूप बारह प्रकार हैं। वह इस प्रकार हैं - (१) अनंतभागवृद्धि, (२) असंख्यातभागवृद्धि, (३) संख्यातभागवृद्धि, (४) संख्यातगुणवृद्धि, (५) असंख्यातगुणवृद्धि, (६) अनंतगुणवृद्धि, (यह छः वृद्धि है ।) (७) अनंतभागहानि, (८) असंख्यातभागहानि, (९) संख्यातभागहानि, (१०) सांख्यातगुणहानि, (११) असंख्यातगुणहानि, (१२) अनंतगुणहानि।

वैभाविक पर्याय चार है । मनुष्यत्वादि चार पर्याय वैभाविक हैं । (इस जीव के बारे में जाने ।) पुद्गल के वैभाविक पर्याय द्वयणुकादि है । (इस विषय में विशेष पेटाभेद आदि की अन्य बाते अन्य ग्रंथो से जान लेना ।) अनादि अनंत द्रव्य में स्वपर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न होता है और नाश प्राप्त करता है । जैसे पानी के अंदर सतत तरंग उठते हैं, वैसे अनादि अनंत द्रव्य में प्रतिक्षण पर्याय उत्पन्न होते है और नष्ट होते हैं । अब जीवादि द्रव्य के अंदर जो सामान्य और विशेष स्वभाव है वह देखेंगे ।

सामान्य स्वभाव : (१) अस्ति स्वभाव, (२) नास्ति स्वभाव, (३) नित्य स्वभाव, (४) अनित्य स्वभाव, (५) एक स्वभाव, (६) अनेक स्वभाव, (७) भेद स्वभाव, (८) अभेद स्वभाव, (९) भव्य स्वभाव, (१०) अभव्य स्वभाव और (११) परम स्वभाव : **इस प्रकार जीवादि द्रव्यो में ग्यारह सामान्य स्वभाव हैं ।**

विशेष स्वभाव : (१) चेतन स्वभाव, (२) अचेतन स्वभाव, (३) मूर्त स्वभाव, (४) अमूर्त स्वभाव, (५) एक प्रदेश स्वभाव, (६) अनेक प्रदेश स्वभाव, (७) विभाव स्वभाव, (८) शुद्ध स्वभाव, (९) अशुद्ध स्वभाव, (१०) उपचरित स्वभाव : **इस प्रकार द्रव्यो में दस विशेष स्वभाव हैं ।**

विशेष में, द्रव्य के अंदर दस सामान्य गुण और सोलह विशेष गुण होते हैं, वह इस प्रकार हैं ।

दस सामान्य गुण : (१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व, (३) द्रव्यत्व, (४) प्रमेयत्व, (५) अगुरुलघुत्व, (६) प्रदेशत्व, (७) चेतनत्व, (८) अचेतनत्व, (९) मूर्तत्व, (१०) अमूर्तत्व ।

इस प्रकार द्रव्यो के दस सामान्य गुण हैं । पहले बताये हुए प्रत्येक द्रव्य में ये दसमें से आठ सामान्य गुण होते हैं। (क्योंकि, चेतनत्व - अचेतनत्व और मूर्तत्व-अमूर्तत्व ये दो की जोडी में से एक-एक की कमी होने से प्रत्येक द्रव्य में आठ गुण होते हैं । जैसे कि, जीव में चेतनत्व हैं, अचेतनत्व नहीं है और बाकी के पाँच में अचेतनत्व है, चेतनत्व नहीं हैं । उसी तरह से मूर्तत्व - अमूर्तत्व के विषय में जाने ।)

सोलह विशेष गुण : (१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) सुख, (४) वीर्य, (५) स्पर्श, (६) रस, (७) गंध, (८) वर्ण, (९) गतिहेतुत्व, (१०) स्थितिहेतुत्व, (११) अवगाहनहेतुत्व, (१२) वर्तनाहेतुत्व, (१३) चेतनत्व, (१४) अचेतनत्व, (१५) मूर्तत्व, (१६) अमूर्तत्व : **इस प्रकार द्रव्य के १६ विशेषगुण हैं ।**

16. स्वभाव-विभावौ पर्यायौ प्रदर्श्येते - तत्रागुरुलघुद्रव्यविकारः स्वभावपर्यायः, तद्विपरीतः स्वभावादन्यथाभवनं विभावः । तत्रागुरुलघुद्रव्यं स्थिरं सिद्धिक्षेत्रम् । **यदुक्तं समवायाङ्गवृत्तौ** - "गुरुलघुद्रव्यं यत् तिर्यग्गामि वाय्वादि, अगुरुलघु यत् स्थिरं सिद्धिक्षेत्रं घण्टाकार-व्यवस्थितज्योतिष्कविमानादीनि" इति ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

- **जीव में** ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व : **यह छः विशेष गुण हैं । पुद्गल में** स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, अचेतनत्व और मूर्तत्व, **यह छः विशेष गुण हैं । धर्मास्तिकाय में** गतिहेतुत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व : **ये तीन विशेषगुण हैं । अधर्मास्तिकाय में** स्थितिहेतुत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व, **ये तीन विशेषगुण हैं । आकाशास्तिकाय में** अवगाहनहेतुत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व, **ये तीन विशेषगुण हैं । काल में** वर्तनाहेतुत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व, **ये तीन विशेषगुण हैं ।**

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, चेतनत्व-अचेतनत्व, मूर्तत्व-अमूर्तत्व : ये चार गुण स्वजाति की अपेक्षा से **सामान्य गुण** है और विजातीय की अपेक्षा से विशेषगुण है । अर्थात् प्रत्येक जीवो में चेतनत्व होता हैं । इसलिए स्वजाति की अपेक्षा से चेतनत्व सामान्य गुण हैं । जीव के सिवा अन्य पाँच द्रव्यो में चेतनत्व नहीं है । इसलिए चेतनत्व जीव को बाकी के पाँच द्रव्यो से (विजातीय से) व्यावृत्त करता होने से विशेष गुण है । इसी तरह से अचेतनत्व आदि तीन में सोच लेना ।

पहले बताये सामान्य - विशेष स्वभावो में से जीव और पुद्गल में वे सभी स्वभाव संगत होते हैं । धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-आकाशास्तिकाय : ये तीन द्रव्यों में चेतन, मूर्त, विभाव, अशुद्ध और एकप्रदेश, ये पाँच को छोडकर सोलह स्वभाव संगत होते है । ये सोलह स्वभावो में से एक "बहुप्रदेश" स्वभाव को बाद करके बाकी के पन्द्रह स्वभाव काल में संगत होते हैं ।[17]

इस तरह से द्रव्य और उसके गुण-पर्याय के बार में विचारणा की । उसके बारे में विशेष चर्चा जैनदर्शन के द्रव्यानुयोग के ग्रंथो में विस्तार से दिखाई देती हैं । विशेष जिज्ञासु तत् तत् ग्रंथो से जान ले । सामान्य दिशासूचन हो गया । अब हम मूल बात पे आयेंगे ।

जिस नय का विषय "द्रव्य" हो अथवा जो अभिप्राय विशेष में "द्रव्य" को प्रधान बनाया जाये, उसे द्रव्यार्थिक नय कहा जाता हैं और जिस नय का विषय "पर्याय" हो अथवा जो अभिप्राय विशेष में 'पर्याय' को प्रधान बनाया जाये, उसे पर्यायार्थिक नय कहा जाता हैं ।

- द्रव्यार्थिक नय के प्रकार :-

इस विषय में ग्रंथकार महर्षिओ के भिन्न भिन्न अभिप्राय है । द्रव्यार्थिक नय के प्रकार बताते हुए नय रहस्य ग्रंथ में बताया हैं कि - **आद्यस्य चत्वारो भेदाः - नैगमः संग्रहो व्यवहार ऋजुसूत्रश्चेति जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण प्रभृतयः। ऋजुसूत्रो यदि द्रव्यं नाभ्युपेयात् तदा "उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्ते एगं दव्वावस्सयं, पुहुत्तं नेच्छइत्ति" (अनु. १४) इति सूत्रं विरुध्येत।**

"ऋजुसूत्रवर्जास्त्रय एव द्रव्यार्थिकभेदाः" इति तु वादिनः सिद्धसेनस्य मतम् । अतीतानागत-परकीयभेद-पृथक्त्वपरित्यागात्-ऋजुसूत्रेण स्वकार्य-साधकत्वेन स्वकीय-वर्तमान वस्तुन-एवोपगमात् नास्य तुल्यांश - ध्रुवांश - लक्षणद्रव्याभ्युपगमः। उक्त सूत्रं तु अनुपयोगांशमादाय वर्तमानावश्यकपर्याये द्रव्योपचारात् समाधेयम्।

(विशेषावश्यक भाष्य आदि ग्रंथो के रचयिता) श्री जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणी इत्यादि पू. आचार्य भगवंत प्रथम द्रव्यार्थिक नय के चार प्रकार बताते हैं । (१) नैगम, (२) संग्रह, (३) व्यवहार और (४) ऋजुसूत्र । उनके मतानुसार यदि ऋजुसूत्र नय 'द्रव्य' की प्रधानता से वस्तु का ज्ञान कराता न हो, तो "उज्जुसुअस्स xxxxxx..." इस अनुयोगद्वारसूत्र के साथ विरोध आता हैं । इसलिए ऋजुसूत्र नय का विषय 'द्रव्य' होने से वह द्रव्यार्थिक नय हैं ।

17. एकविंशति भावाः स्युः जीवपुद्गलयोर्मताः । धर्मादीनां षोडश स्युः काले पञ्चदश स्मृताः ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(श्री सम्मतितर्क आदि ग्रंथो के रचयिता) श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी के मतानुसार ऋजुसत्र को छोडकर नैगमादि तीन नय ही द्रव्यार्थिक नय है । उनके मतानुसार ऋजुसूत्र नय पर्यायार्थिक नय हैं । क्योंकि ऋजुसूत्र नय का विषय वर्तमान कालीन और स्वकीय वस्तु है, परन्तु अनागत, अतीत, परकीय वस्तु नहीं है अर्थात् ऋजुसूत्र नय से वर्तमानकालीन - स्वकीय वस्तु का बोध होता हैं । परन्तु उससे तुल्य अंश और ध्रुव अंश स्वरूप द्रव्य का बोध होता नहीं हैं । अर्थात् अतीत, अनागत और वर्तमान इन तीनों काल में विद्यमान ऐसे द्रव्य का बोध ऋजुसूत्र नय से नहीं होता है । परन्तु वर्तमानकालीन वस्तु का (वर्तमानकालीन पर्याय का) बोध होता हैं । इसलिए वह "पर्याय" को विषय बनाता होने से पर्यायार्थिक नय हैं ।

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, मिट्टी अवस्था में, पृथुबुध्नोदरादि आकारयुक्त घट अवस्था में और नष्ट हुए घट की अवस्था (भग्नावस्थापन्न कपाल) में "यह मिट्टी है" ऐसे प्रकार का तुल्य-ध्रुवांश युक्त द्रव्य का बोध होता है । त्रिकालविषयक द्रव्य का बोध तो नैगम नय से होता हैं । परन्तु ऋजुसूत्र नय से तो वर्तमानकालीन घट का ही बोध होता हैं । अर्थात् वर्तमान पर्याय को आश्रय में रखकर ही वस्तु का बोध होता हैं । इसलिए वह पर्यायार्थिक नय हैं ।

पहले ऋजुसूत्र नय को पर्यायार्थिक नय मानने में जिस अनुयोगद्वार ग्रंथ के सूत्र के साथ जो विरोध बताया था, उसका समाधान इस तरह से किया जा सकता है - **"अनुपयोगो द्रव्यम्"** यह उक्ति अनुसार वर्तमानकालीन आवश्यक क्रिया जो उपयोग रहित होती हो तो उसे द्रव्य क्रिया कहा जाता हैं । इसलिए उस अनुपयोग अंश को आश्रय में रखकर वर्तमान आवश्यक पर्याय में द्रव्य का उपचार किया गया हैं । इस प्रकार अनुयोग द्वार के इस सूत्र के साथ आनेवाला विरोध को टाला जा सकता हैं ।

- पर्यायार्थिक नय के प्रकार :- पर्यायार्थिकस्य त्रयो भेदा : "शब्दः समभिरूढ एवम्भूतश्चेति" सम्प्रदायः । ऋजुसूत्राद्याश्चत्वार इति तु वादी सिद्धसेनः। तदेवं सप्तोत्तरभेदाः ।

शब्द, समभिरुढ और एवंभूत : ये तीन पर्यायार्थिक नय के भेद हैं - ऐसा संप्रदाय हैं । परन्तु ऋजुसूत्र सहित शब्दादि चार पर्यायार्थिक नय के भेद है । इसलिए नय के कुल मिला के सात उत्तरभेद हैं ।

(उत्पाद और विनाश को जो प्राप्त करता हैं, उसे पर्याय कहा जाता हैं । अनादि-अनंत द्रव्य में स्वपर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न होता है और नष्ट होता हैं । पहले हानि-वृद्धि रूप और नर-नारकादि पर्याय बताये थे । पुनः पर्याय के दो प्रकार हैं। (१) सहभावी पर्याय और (२) क्रमभावी पर्याय । सहभावी पर्याय को गुण कहा जाता हैं । ज्ञानादि गुण आत्मा के सहभावी पर्याय हैं । सुख-दुःख, हर्ष शोक आदि आत्मा के क्रमभावी पर्याय हैं । पर्याय को जो नय प्रधान बनाये, उसे पर्यायार्थिक नय कहा जाता हैं । इस पर्यायार्थिक नय के अपेक्षा भेद से तीन और चार प्रकार पहले बताया है ।)

नय के सात भेद : इस तरह से नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक : ये दो मुख्य भेद हैं और (पहले बताये अनुसार) नय के उत्तर भेद सात हैं : **(१) नैगम, (२) संग्रह, (३) व्यवहार, (४) ऋजुसूत्र, (५) शब्द, (६) समभिरुढ और (७) एवंभूत । अब क्रमशः सातो नय का स्वरूप सोंचेगे ।**

(१) नैगमनय : नैगमनय का स्वरूप समझाते हुए पू. महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजाने जैनतर्कभाषा में कहा है कि, - **सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्यवसायो नैगमः यथा पर्याययोर्द्रव्ययोः पर्यायद्रव्ययोश्च मुख्यामुख्यरुपतया विवक्षणपरः।**[18] - वस्तु के सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्मो का प्रतिपादन करने में तत्पर अध्यवसाय विशेष को

18. **धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्म-धर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद् विवक्षणं स नैकगमो नैगमः ।।७।। धर्मयोः**-पर्याययोः, **धर्मिणोः**-द्रव्ययोः, **धर्मधर्मिणोः**-द्रव्यपर्याययोश्च प्रधान-गौणभावेन विवक्षणं स **नैगमः** । नैके गमाः-बोधमार्गा यस्यासौ नैगम इति ।।७।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नैगमनय कहा जाता हैं । जैसे कि, दो पर्याय, दो द्रव्य तथा पर्याय और द्रव्य को मुख्य या अमुख्य (गौण) स्वरूप से विवक्षा करने में तत्पर अध्यवसाय विशेष नैगमनय होता हैं । जैनतर्क भाषा में उदाहरण देकर विस्तार से इस विषय को स्पष्ट किया हैं । वह इस अनुसार हैं -

अत्र सच्चैतन्यमात्मनीति पर्याययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणम् ।[19] अत्र चैतन्याख्यस्य व्यञ्जनपर्यायस्य, विशेष्यत्वेन मुख्यत्वात्, सत्त्वाख्यस्य तु विशेषणत्वेनामुख्यत्वात् ।

अर्थ : यहाँ पर **'आत्मा में चैतन्य सत् है'** इस रूप से पर्यायों में मुख्य और अमुख्य रूप से प्रतिपादन हैं । यहाँ पर चैतन्य नामक व्यंजन पर्याय विशेष्य होने से मुख्य है, सत्त्व नामक पर्याय विशेषण होने से अमुख्य है अर्थात् गौण है।

कहने का मतलब यह है कि, चैतन्य को सत् कहने पर चैतन्य विशेष्यरूप से प्रतीत होता है और सत्त्व विशेषण रूप से प्रतीत होता है । चैतन्य का आत्मा के साथ भेद और अभेद है । सत्त्व जिस प्रकार आत्मा में है, इस प्रकार आत्मा से अभिन्न चैतन्य में भी है । चैतन्य और सत्त्व दोनों धर्म हैं, उनमें न कोई मुख्य है और न कोई गौण । विशेष्य और विशेषण रूप से कहने के कारण चैतन्य मुख्य रूप से प्रतीत होता है और सत्त्व विशेषण रूप से ।

चैतन्य और सत्त्व दोनों व्यञ्जनपर्याय हैं । यह दो पर्यायों का मुख्य और गौण-मात्र से प्रतिपादन करनेवाला नैगम है। यहाँ पर सत्त्वरूप व्यञ्जन पर्याय **तिर्यक् सामान्य** है। भिन्न भिन्न व्यक्तिओं में समान परिणाम को **तिर्यक् सामान्य** कहते हैं। रत्नाकरावतारिका में श्री रत्नप्रभसूरिजी म. कहते हैं - **तिर्यक् सामान्यं तु प्रतिव्यक्तिसदृशपरिणामलक्षणं व्यंजनपर्याय एव।** (रत्नाकरावतारिका, परिच्छेद-७, सूत्र-५, पृष्ठ-७, भाग तीसरा) व्यञ्जनपर्याय एवं अर्थपर्याय का स्वरूप बताते हुए कहते है कि,

प्रवृत्तिनिवृत्तिनिबंधनार्थक्रियाकारित्वोपलक्षितो व्यञ्जनपर्यायः । भूतभविष्यत्वसंस्पर्शरहितं वर्तमानकालावच्छिन्नं वस्तुस्वरूपं चार्थपर्यायः । (जैनतर्कभाषा)

अर्थ : प्रवृत्ति और निवृत्ति में कारणभूत अर्थक्रियाकारित्व से उपलक्षित पर्याय **व्यंजनपर्याय** है । भूत और भाविपन के स्पर्श से रहित वर्तमान काल में होनेवाला वस्तु का स्वरूप **अर्थपर्याय** हैं ।

कहने का आशय यह है कि, वस्तुओं में अनेक प्रकार के धर्म हैं, उन धर्मो के कारण अर्थ भिन्न भिन्न कार्यों को करते हैं । अग्नि में उष्ण स्पर्श है इसलिये उसके द्वारा दाहरूप कार्य उत्पन्न होता है । दाहरूप अर्थक्रिया को उत्पन्न करनेवाला अग्नि का उष्ण परिणाम व्यंजनपर्याय है । अल्प और महा परिणाम में अग्नि के अर्थपर्याय प्रतिक्षण भिन्न होते रहते हैं, परन्तु उष्ण पर्याय स्थिर रहता है । उष्ण परिणाम के कारण अग्नि दाहरूप अर्थक्रिया का जनक है । इस स्वरूप को जानकर लोगों की अग्नि के विषय में प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है । जीव का चैतन्य भी वृक्ष आदि के विषय में ज्ञान उत्पन्न करता है। अर्थ को प्रकाशित करना ज्ञान की अर्थक्रिया है । सुख-दुःख आदि पर्याय भिन्न होते रहते हैं । परन्तु चैतन्य सभी पर्यायों में स्थिर अनुगत रहता है । ज्ञान के द्वारा वस्तु का प्रकाशन होने पर लोग प्रवृत्ति करते हैं अथवा निवृत्त होते हैं । जब सुख होता है तब दुःख नहीं रहता । जब दुःख होता है तब सुख नहीं रहता । परन्तु ज्ञान सुख-दुःख दोनों के काल में रहता है इस अनुगामी स्वरूप के कारण चैतन्य **व्यंजन-पर्याय** है । अर्थ, अर्थक्रिया को सदा उत्पन्न नहीं करता । परन्तु अर्थक्रिया को उत्पन्न करने वाला पर्याय स्थिर रहता है । जलाने के लिये किसी वस्तु का सम्बन्ध न हो तो अग्नि दाह नहीं

19. **सच्चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः ।।७-८।।** प्रधानोपसर्जनभावेन विवक्षणमिहोत्तरत्र च सूत्रद्वये योजनीयम् । सत्त्वविशिष्टं चैतन्यं - **'सच्चैतन्यमात्मनि वर्तते'** इति वाक्ये चैतन्याख्यधर्मस्य प्राधान्येन विवक्षा, तस्य विशेष्यत्वात्, सत्त्वाख्यधर्मस्य तु गौणत्वेन, तस्य चैतन्यविशेषणत्वादिति धर्मद्वयविषयको **नैगमस्य प्रथमो भेदः ।।८।।** (प्र.न.तत्त्वा.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न करता । परन्तु उस काल में भी दाह का उत्पादक उष्ण पर्याय अग्नि में रहता है इसलिए इस प्रकार का स्थिर पर्याय अर्थक्रियाकारित्व से उपलक्षित होता है, उस काल में भी दाह के उत्पन्न करने की योग्यता अग्नि में रहती है, वृक्ष आदि अर्थ के साथ सम्बन्ध न होने पर ज्ञान भी प्रकाशन नहीं करता, परन्तु उस काल में भी स्थिर ज्ञान अर्थ के प्रकाशन की योग्यता से युक्त रहता है । अर्थ प्रकाशन की योग्यता और अनेक सुख आदि अर्थ पर्यायों में स्थिरता के कारण चैतन्य व्यंजन पर्याय है । सत्त्व भी अन्य पर्यायों में स्थिर रहता है, इसलिए यहाँ पर व्यंजन पर्याय कहा गया है । इन में सत्त्व विशेषण है और चैतन्य विशेष्य है इसलिए यहाँ पर नैगमनय है ।

जो पर्याय धर्मी में अतीत और अनागत काल में नहीं है किन्तु वर्तमान काल में है वह अर्थपर्याय है, यह पर्याय प्रतिक्षण भिन्न होनेवाली वस्तु के स्वरूप में रहता है ।

अब इस विषय में विशेष स्पष्टता करते हुए **जैनतर्क भाषा** में कहते हैं कि,

वस्तु पर्यायवद् द्रव्यमिति द्रव्ययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणम्[20], पर्यायवद् द्रव्याख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेन प्राधान्यात्, वस्त्वाख्यस्य विशेषणत्वेन गौणत्वात् ।

अर्थ : पर्यायवाला द्रव्य वस्तु है, इस रूप से दो द्रव्यों का मुख्य और अमुख्य रूप से प्रतिपादन होता है । पर्यायवाला द्रव्य नामक धर्मी विशेष्य होने के कारण प्रधान है । वस्तु नामक धर्मी विशेषण होने से गौण है । वस्तु विशेषण है । वह भी द्रव्य है, पर्याय से विशिष्ट द्रव्य भी द्रव्य है । जब पर्यायों के साथ द्रव्य को विशेष्य रूप से कहते हैं तब वह मुख्य हो जाता है । वस्तु विशेषण रूप से कहा गया है इसलिए वह गौण हो जाता है । जब 'वस्तु कौन सी है ? जो पर्यायों से विशिष्ट द्रव्य है' इस रूप से विवक्षा होती है तो वस्तु विशेष्य होने के कारण प्रधान हो जाती है और पर्याय से विशिष्ट द्रव्य गौण हो जाता है । यह नैगम दो धर्मियों के विषय में है ।

क्षणमेकं सुखी विषयासक्त जीव इति पर्यायद्रव्ययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणम्[21], अत्र विषयासक्तजीवाख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेन मुख्यत्वात्, सुखलक्षणस्य तु धर्मस्य तद्विशेषणत्वेनामुख्यत्वात् ।

अर्थ : विषय में आसक्त जीव एक क्षण सुखी होता है, इस रीति से पर्याय और द्रव्य को मुख्य और अमुख्य रूप से विवक्षा होती है । यहाँ विषय में आसक्त जीव नामक धर्मी विशेष्य होने के कारण मुख्य है । सुख रूप धर्म उसका विशेषण होने के कारण अमुख्य है । यहाँ पर जीव द्रव्य है और सुख पर्याय है इसलिए यहाँ पर धर्म और धर्मी को लेकर नैगम है । विशेष्य होने के कारण धर्मी जीव मुख्य है और सुख नामक धर्म विशेषण होने के कारण मुख्य नहीं है ।

यहाँ पर एक शंका उपस्थित होती है कि, नैगमनय द्रव्य और पर्याय दोनों का प्रकाशक होने से वह 'प्रमाण' की कोटी में आ जायेगा । उसको नय कैसे कह सकेंगे । - यह शंका का समाधान देते हुए जैनतर्क भाषा में बताया है कि,

न चैवं द्रव्यपर्यायोभयावगाहित्वेन नैगमस्य प्रामाण्यप्रसङ्गः, प्राधान्येन तदुभयावगाहिन एव ज्ञानस्य प्रमाणत्वात् ।

अर्थ : द्रव्य और पर्याय दोनों का प्रकाशक होने से नैगम प्रमाण हो जाना चाहिए । इस प्रकार की शंका उत्पन्न होती

---

20. **वस्तु पर्यायवद् द्रव्यमिति धर्मिणोः ।।७-९।।** अत्र **'पर्यायवद् द्रव्यं वस्तु च'** इति धर्मिद्वयम् । **'पर्यायवद् द्रव्यं वस्तु वर्तते'** इति विवक्षायां पर्यायवद् द्रव्याख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेनोपात्तत्वात् प्राधान्यम्, वस्त्वाख्यस्य तु धर्मिणो **विशेषणत्वेन** गौणत्वम् । अथवा किं वस्तु ? पर्यायवद् द्रव्यमिति विवक्षायां वस्त्वाख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वात् प्राधान्यं, पर्यायवद् द्रव्याख्यस्य तु धर्मिणो विशेषणत्वेन गौणत्वमिति धर्मिद्वयविषयको नैगमस्य द्वितीयो भेदः ।।९।। 21. **क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति धर्म-धर्मिणोः।।१०।।** अत्र विषयाऽऽसक्तजीवस्य प्राधान्यं, विशेष्यत्वेनोपात्तत्वात्, सुखरूपस्य धर्मस्य तु अप्राधान्यं, विशेषणत्वेन निर्दिष्टत्वाद् इति धर्मधर्मिद्वयाऽऽलम्बनोऽयं **नैगमस्य तृतीयो भेदः** ।।१०।। **(प्र.न.तत्त्वा.)**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। **इसका उत्तर यह है कि,** प्रधान रूप से जो द्रव्य और पर्याय को प्रकाशित करता है वही ज्ञान प्रमाण होता हैं । (परन्तु गौण-मुख्य भाव से उभय को प्रकाशित करता हुआ नैगम नय 'प्रमाण' की कोटी में आता नहीं है ।)

कहने का मतलब यह है कि, सामान्य और विशेष का, द्रव्य और पर्याय का, नित्यत्व और अनित्यत्व आदि का प्रतिपादन नैगम गौण-मुख्य भाव से करता है । जहाँ पर नैगम सामान्य का प्रधान भाव से और विशेष का गौण भाव से प्रतिपादन करता है वहाँ पर नैगम का और संग्रह का विषय समान हो जाता है । जहाँ पर विशेष का प्रधान रूप से और सामान्य का गौण रूप से प्रकाशन होता है वहाँ पर व्यवहार और नैगम का विषय समान हो जाता है । **यहाँ ध्यान में रखना चाहिए कि,** जब नैगम सामान्य अथवा विशेष का प्रतिपादन करता है तब सामान्य के अनुगामी स्वरूप का और विशेष के केवल व्यक्ति में रहनेवाले स्वरूप का प्रकाशन नहीं करता । वह मुख्य रूप से सामान्य और विशेष के गौण-मुख्य भाव का आश्रय लेकर प्रकाशन करता है । सामान्य रूप अथवा विशेष रूप वस्तु होती है, केवल इतने से संग्रह अथवा व्यवहार के साथ विषय समान होता है । जब नैगम 'जीव में चैतन्य सत् है' इस प्रकार सत्त्व और चैतन्य इन दो पर्यायों का मुख्य और गौण भाव से प्रतिपादन करता है तब सत्त्व के अनुगामी होने पर भी उसके अनुगामी स्वरूप का प्रतिपादन नहीं करता । किन्तु चैतन्य के साथ सत्त्व का केवल सम्बन्ध प्रकट करता है । इसलिए सत्त्वरूप तिर्यक् सामान्य का प्रतिपादन होने पर भी नैगम का संग्रह से स्पष्ट भेद है । जब नैगम 'विषय में आसक्त जीव क्षण भरके लिए सुखी होता है' इस प्रकार प्रतिपादन करता है तब सुखरूप धर्मात्मक पर्याय का प्रतिपादन करने पर भी सुख के व्यक्तिमय विशेष रूप का निरूपण नहीं करता । सुख एक पर्याय विशेष है । इस तत्त्व की ओर नैगम का ध्यान नहीं है वह केवल सुख को विशेषण रूप से और जीव को विशेष्य रूप से प्रतिपादन करने में ध्यान देता है । सुख एक पर्याय रूप व्यक्ति विशेष है, इतने से व्यवहार और नैगम का विषय सर्वथा समान नहीं हो जाता ।

सुख रूप धर्म से विशिष्ट धर्मी जीव का प्रतिपादक होने के कारण यह नैगम द्रव्य और पर्याय दोनों का प्रकाशक है। परन्तु धर्मी का मुख्य रूप से और सुखात्मक धर्म का गौण रूप से प्रकाशक है, इसलिए प्रमाण से भिन्न है । द्रव्य और पर्याय दोनों का प्रधान भाव से प्रकाशन हो तो ज्ञान प्रमाण होता है ।

नैगमनय में अनेक धर्मो का प्रतिपादन होता है । कोई भी वस्तु सामान्य - विशेष उभय धर्मात्मक ही होती हैं । सामान्य धर्म और विशेष धर्म दोनों का ग्राहक अध्यवसाय विशेष **नैगमनय** हैं । नैगमनय जब वस्तु के मुख्यतः सामान्य धर्म का प्रतिपादन करता है, तब गौण रूप में विशेष धर्मो को स्वीकृत रखता है और जब मुख्यरूप में विशेष धर्म का प्रतिपादन करता है, तब गौणरूप में सामान्य धर्मो को स्वीकृत रखता हैं । मुख्य - गौण भाव नियत नहीं होते हैं । वक्ता की इच्छानुसार कभी द्रव्य और कभी पर्याय मुख्य और गौण हो जाते हैं ।

पू. पूर्वाचार्योने "नैगम" पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है । **नैक गमो नैगमः**[22] । जिसमें कहने के मार्ग एक नहीं, परन्तु अनेक हैं, उसे नैगमनय कहा जाता हैं । **पू. महोपाध्यायश्रीजीने नयरहस्य में इसी बात को बताते हुए कहा हैं कि**[23] निगम अर्थात् लोक अथवा संकल्प । उसमें से जिसकी उत्पत्ति हो उसे नैगम नय कहा जाता है । अर्थात् लोक प्रसिद्ध अर्थ को स्वीकार करनेवाला नय वह नैगमनय है और लोकप्रसिद्धि सामान्य - विशेष उभय के उद्गम से संवहित होती है अर्थात् लोक में जो व्यवहार होता है वह सामान्य धर्म और विशेष धर्म, इस तरह उभय धर्मो को प्रधान बनाकर

22."णेगेहिं माणेहिं मिणइत्ति ये नेगमस्स य निरुत्ति ।" (अनुयोगद्वार सूत्र-१३२) 23. निगमेषु भवोऽध्यवसायविशेषो नैगमः । तद्भवत्वं च लोकप्रसिद्धार्थोपगन्तृत्वम् । लोकप्रसिद्धिश्च सामान्यविशेषाद्युभयोपगमनेन निर्वहति । (नयरहस्य) नैकमानमेयविषयोऽध्यवसायो नैगम इत्येतदर्थः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होता है। कोई बार विशेष धर्म मुख्य होता है और कोई बार सामान्य धर्म मुख्य होता हैं । **अथवा** जिस नय के वस्तु के जानने के एक नहीं, परन्तु अनेक मार्ग हैं, उस नय को नैगम नय कहा जाता है । उपरांत नैगमनय अतीतकालीन, वर्तमानकालीन, भविष्यकालीन, उपयोगी और निरुपयोगी ऐसी तमाम अवस्थाओं में रही हुई वस्तु को वस्तु के रूप में स्वीकार करता है ।

नैगमनय की मान्यता... श्री विनयविजयोपाध्यायविरचित **नयकर्णिका** में नैगमनय की मान्यता बताते हुए कहा है कि, **"नैगमो मन्यते वस्तु तदेतदुभयात्मकं । निर्विशेषं न सामान्यं विशेषोऽपि न तद्विना ।।५।।"** नैगमनय मानता है कि, वस्तु सामान्य - विशेष उभयात्मक होती हैं । विशेष के बिना सामान्य की सत्ता नहीं होती हैं और सामान्य के बिना विशेष की भी सत्ता नहीं होती हैं ।

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, सभी पदार्थ सामान्य - विशेष उभय स्वरूप होते हैं । वस्तुओं में रही हुई जाति आदि सामान्य हैं और वस्तुओं का भेद करनेवाले विशेष हैं । सौ घट में एक्यबुद्धि सामान्य धर्म (घटत्व) से होती हैं । अर्थात् घट में रहे हुए घटत्व धर्म से सौ घट में एकत्व की बुद्धि होती हैं । सौ घट अलग-अलग व्यक्तिओं के हैं, तत् तत् अलग-अलग व्यक्ति उस उस घट में रहे हुए विशेष से (विशेष धर्म से) अपने-अपने घट को अलग करके पहचान लेती है । इस तरह से सर्व वस्तु सामान्य - विशेष उभयात्मक[24] होती हैं । कभी भी सामान्य विशेषरहित और विशेष सामान्यरहित नहीं होता हैं । नैगमनय उभयात्मक वस्तु को ग्रहण करता हैं ।

इसी बात को ज्यादा स्पष्ट करते हुए नयोपदेश ग्रंथ में कहा है कि, सर्व पदार्थ सामान्य - विशेष उभयात्मक हे और लोक प्रसिद्ध सामान्य - विशेषोभयात्मक पदार्थ का ग्राहक नैगमनय हैं । लोगों का व्यवहार सामान्य - विशेष उभय स्वरूप वस्तु से होता हैं। इसलिए लोक प्रसिद्ध अर्थ को स्वीकार करनेवाला नय नैगमनय कहा जाता हैं । सामान्य या विशेष दोनों में से एक की भी कमी की जाये तो लोक व्यवहार दुर्घट बन जाता हैं ।[25] क्योंकि, सामान्य विशेष के बिना नहीं रह सकता हैं और विशेष सामान्य के बिना नहीं रह सकता हैं ।

नैगमनय को समजने के लिए शास्त्र में[26] प्रस्थकादि तीन उदाहरण दिये हैं । वे उदाहरण पर विचार करने से नैगमनय का स्वरूप एकदम स्पष्ट हो जायेगा ।

- नैगमनय के उदाहरण : प्रथम उदाहरण - प्रस्थक का :-

प्रस्थक (धान्य-मापने का एक (लकडीका) माप विशेष) बनाने का इरादा रखनेवाला बढ़ई उसके लिए लकडी लेने के लिए जंगल में जाता हो, तब मार्ग में उसे कोई पूछे कि, 'आप कहाँ जा रहे हो ?' उस वक्त बढ़ई जवाब देता हैं कि, 'प्रस्थक लेने जाता हुँ ।' जंगल में पहुँचकर प्रस्थक प्रायोग्य लकडी काटता हो, तब कोई पूछे कि, 'आप क्या काटते हो?' उसके जवाब में बढ़ई कहता है कि, प्रस्थक काटता हुँ । लकडी लेकर घर की ओर वापस फिरते समय कोई पूछे कि, 'क्या लेकर आते हो ?' तो उसके उत्तर में वह कहता है कि, 'प्रस्थक लेकर आया हुँ ।' घर आकर लिकडी में से प्रस्थक का आकार बनाते हुए कोई पूछे कि, 'क्या बनाते हो,' तो वह उत्तर देता हे कि, 'प्रस्थक बनाता हुँ ।' इस तरह से भिन्न भिन्न स्थान पे पूछे गये प्रश्नो के जो उत्तर बढ़ई ने दिये हैं, वे सभी उत्तर नैगमनय की अपेक्षा से यथार्थ है । **क्योंकि,**

---

24. अर्था: सर्वेऽपि च सामान्यविशेषोभयात्मकाः । सामान्यं तत्र जात्यादि विशेषाच्च विभेदकाः ।।३।। ऐक्यबुद्धिर्घटशते भवेत्सामान्यधर्मतः विशेषाच्च निजं निजं लक्षयन्ति घटं जनाः ।।४।। 25. तत्प्रसिद्धिश्च सामान्यविशेषाद्युभयाश्रया । तदन्यतरसंन्यासे व्यवहारो हि दुर्घटः ।।२१।। 26. एवं प्रस्थकाद्युदाहरणेष्वपि सिद्धान्तसिद्धेषु भावनीयम् । (अनेकान्त व्यवस्था)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नैगमनय उपचार करके कथन करनेवाला नय हैं । भावि में जो प्रस्थक बननेवाला है, उसका आरोप उसके पूर्वकालीन भिन्न-भिन्न कारणो में किया गया हैं । लकडी लेने जाते हुए, लकडी काटते हुए, लेकर आते हुए, छिलकर आकार बनाते हुए आदि तमाम पूर्व अवस्थाओं में उपचार करके प्रस्थक का विधान नेगमनय से किया गया हैं। **यहाँ विशेष की प्रधानता हैं।**

- दूसरा उदाहरण - घर का :

कोई पूछे कि, 'आप कहाँ रहते हो ?' तो वह उत्तर देता है कि, 'लोक में रहता हुँ ।' लोक में भी कहाँ रहते हो ? तो कहते है कि, "मध्यलोक में" मध्यलोक में भी कहाँ रहते हो ? तो वह कहता है, 'जंबुद्वीप में ।' उसमें भी कहाँ रहते हो ? तो वह कहता है कि, 'भरतखंड में ।' उसमें भी कहाँ रहते हो ? तो वह कहता है कि, 'मध्यखंड में ।' उसमें भी कहाँ रहते हो ? तो वह कहता है कि, 'हिन्दुस्तान के गुजरात राज्य के अहमदाबाद शहेर में पालडी विस्तार में अमुक नंबर के बंगले में रहता हुँ और अंत में प्रश्नो का उपसंहार करते हुए कहता है कि, मेरा आत्मा जितने प्रदेशों में रहा हुआ है, उतने प्रदेशो में मैं रहता हुँ... ये सर्व प्रकार - उत्तर नैगमनय की अपेक्षा से यथार्थ है । **यहाँ पूर्व-पूर्व उत्तर वाक्य, उत्तर - उत्तर वाक्यों की अपेक्षा से सामान्य धर्म का आश्रय करते हैं ।**

- तीसरा उदाहरण - गाँव का :

कोई मुसाफिर सफर करते हुए काशी की ओर जाते हो, वहाँ वे काशी की सीमा में प्रवेश करे तब उसमें से कोई पूछे कि, 'हम कहाँ आ गये ?' तो जानकार कहता है कि 'हम काशी आ गये ।' थोडा आगे चले और काशी की बाहर के बाग-बगीचे में प्रवेश करे तब कोई पूछे कि, 'हम कहां आ गये ?' तो भी काशी में आये ऐसा जानकार कहेगा । इसी तरह से गाँव के किले के पास, चौराह में, महुल्ले में, गली में, कोई निश्चित घर में, पूछा जाये तो, 'काशी में आये' का ही जवाब मिलता हैं । इस प्रकार उपर बताये सर्व स्थान पे काशी, काशी ऐसा जो व्यवहार होता है, वह नैगमनय की अपेक्षा से हैं। **जगत के तमाम व्यवहारो में नैगमनय की प्रधानता हैं ।**

अनेकांत व्यवस्था[27] ग्रंथ में एक महत्त्व का खुलासा किया है कि, इस नैगमनय में विशेषो से अन्य (भिन्न) ही सामान्य हैं । क्योंकि, सामान्य अनुगतबुद्धि का कारण हैं । उसी तरह से विशेष भी सामान्य से भिन्न ही हैं । क्योंकि, विशेष व्यावृत्तिबुद्धि का कारण हैं । उसी तरह से आश्रय (वस्तु रूप आश्रय) से भी सामान्य भिन्न ही है । अन्यथा - आश्रय से सामान्य को भिन्न माना न जाये तो व्यक्ति की तरह साधारणता की अनुपपत्ति हो जायेगी ।

- नैगमनय के प्रकार :- नैगमनय सामान्य और विशेष का अवलंबन लेकर प्रवर्त्तित होता होने से उसके दो प्रकार तत्त्वार्थ सूत्र के भाष्य में बताये हैं । (१) सामान्यग्राही नैगमनय और (२) विशेषग्राही नैगमनय ।[28] सामान्यग्राही यानी समग्रग्राही और विशेषग्राही यानी देशग्राही नैगमनय ।

---

27. अस्मिन्नये विशेषेभ्योऽन्यदेव सामान्यम्, अनुवृत्तिबुद्धिहेतुत्वात् । सामान्याच्चान्ये एव विशेषाः, व्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वात् । एवमाश्रयादपि भिन्नमेव सामान्यं, अन्यथा व्यक्तिवत् साधारण्यानुपपत्तेः ।। 28. स च सामान्यविशेषावलम्बीत्येतद्दर्शयति - देशो विशेषः समग्रं सामान्यं अयं हि सामान्यग्राही जातिमेव पदार्थमाह-विशेषग्राही द्विकत्रिकादिकं, तथा च विचित्रप्रकारं नैगमनयमाश्रित्यानुस्मर्यते ।। "एकं द्विकं त्रिकं चाथ चतुष्कं पञ्चकं तथा । नामार्थ इति सर्वेऽपि पक्षाः शास्त्रे निरुपिताः ।।१।।" निगमेषु येऽभिहिताः शब्दास्तेषामर्थः शब्दार्थपरिज्ञानं च देशसमग्रग्राही नैगमः । (तत्त्वा. सू. ३५ (भाष्य)] स सामान्यविशेषावलम्बीत्येतद् दर्शयति- देशसमग्रग्राहीति (श्रीसिद्धसेनीयटीका)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजा कृत तत्त्वार्थ - भाष्य की टीका में ज्यादा स्पष्टता करते हुए कहा हैं कि,

नैगमनय सामान्य और विशेष का अवलंबन करके प्रवर्त्तित होता हैं । इसलिए एक सामान्यग्राही नैगमनय हैं और दूसरा विशेषग्राही नैगमनय हैं । घट में रही हुई घटत्व जाति को वस्तुरूप में स्वीकार करे वह सामान्यग्राही नैगमनय है । "घट" शब्द से वाच्य एक घटत्व जाति हैं, परन्तु कोई वस्तु (व्यक्ति - जातिमान्) नहीं हैं इस प्रकार एक सामान्य धर्म का जो स्वीकार करते है, वे सामान्यग्राही नैगमनय का अनुसरण करनेवाले हैं । (जो पद की शक्ति को जाति में मानते हैं, परन्तु व्यक्ति में नहीं मानते हैं, उनके मतानुसार यह अध्यवसाय विशेष हैं । इसके विषय में विशेष विचारणा तत्त्वार्थभाष्यकी[29] टीका में देख लें । सामान्य बोधवाले ये पदार्थ समझने में कठिन न पडे, इसलिए केवल उस चर्चाओं को नीचे टिप्पणी-२९ में दी गई है । व्युत्पत्तिवाद पर्यन्त नव्यन्याय के अभ्यासु को ही उस पंक्तिओं के भाव स्पष्ट होंगे और उससे विषय ज्यादा स्पष्ट बनेंगा ।)

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, यहाँ एक सामान्य धर्म को स्वीकार करनेवाले अध्यवसाय विशेष को सामान्यग्राही नैगमनय कहा हैं, वैसे एक धर्म से जाति ही लेना, ऐसा एकांतिक नियम नहीं हैं । वह एक धर्म; जाति, अखंडोपाधि, अन्यापोह या बुद्धिविशेष ऐसा कोई एक सामान्य धर्म ग्रहण करना हैं ।[30]

विशेषग्राही नैगम नय के प्रकार : विशेषग्राही नय द्विक, त्रिक, चतुष्क और पंचकरूप हैं । तत्त्वार्थ-भाष्य-टीका के आधार पर उस प्रकारो का स्वरूप अब सोचेंगे । - **(१) द्विकरूप विशेषग्राही नैगमनय[31] :** घट में रही हुई घटत्व जाति को और घटरूप व्यक्ति को वस्तुरूप में स्वीकार करे वह द्विकरूप विशेषग्राही नैगमनय हैं । "घट" पद की शक्ति घटत्व जाति और "घट" व्यक्ति दोनों में जो स्वीकार करते हैं, वे जाति और व्यक्ति उभय को वस्तु के रूप में स्वीकार करते हैं, उनकी यह मान्यता द्विकरूप विशेषग्राही नैगमनय की हैं । **(२) त्रिकरूप विशेषग्राही नैगमनय :** घटत्व जाति, घटरूप व्यक्ति और घट शब्द के लिंग को वस्तुरूप में स्वीकार करनेवाले अध्यवसाय विशेष को त्रिकरूप विशेषग्राही नैगमनय कहा जाता हैं। "घट" पद की शक्ति घटत्व, घट व्यक्ति और लिंग - ये तीन में स्वीकार करनेवालो की मान्यता इस नय की हैं अर्थात् घटपद के वाच्य के रूप में घटत्व, घट और लिंग तीनो को गीनकर उन तीनों को वस्तु के रूप में स्वीकार करनेवाले दर्शन का अभिप्राय विशेष इस नय का हैं । **(३) चतुष्करूप विशेषग्राही नैगमनय :** संख्यादि सहित पहले बताये त्रिक को ग्रहण करनेवाला चतुष्करूप विशेषग्राही नैगमनय हैं । घटत्व जाति, घट व्यक्ति, घट शब्द का लिंग और घट की संख्या : ये चार को 'घट' पद से ग्रहण करनेवाले का अध्यवसाय विशेष चतुष्क विशेषग्राही नैगमनय हैं । **(४) पंचकरूप विशेषग्राही नैगमनय :** कारक सहित पहले बताये चतुष्क को ग्रहण करनेवाला पंचकरूप विशेषग्राही नैगमनय हैं ।

पूर्वोक्त श्लोक में (कि जो टिप्पणी-२८ मे बताया है उसमें) पाँच विकल्प बताये हैं । तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में पहले बताये हुए पंचक उपरांत 'शब्द' को बढाकर षट्करूप विशेषग्राही नैगमनय का प्रकार बताया हैं अर्थात् जाति, व्यक्ति,

---

29. एकं जातिनामार्थः, लाघवेन तस्या एव वाच्यत्वौचित्यात्, अनेकव्यक्तीनां वाच्यत्वे गौरवात् । न च व्यक्तीनामपि प्रत्येकत्वाद्विनिगमनाविरहः, एवं ह्येकस्यामेव व्यक्तौ शक्त्यभ्युपगमे व्यक्त्यन्तरे लक्षणायां स्वसमवेताश्रयत्वं संसर्ग इति गौरवम्, जात्या तु सहाश्रयत्वमेव संसर्ग इति लाघवम्, किं च गोः स्वरूपेण न गौरित्यादिन्यायाद्विशिष्टस्य वाच्यत्वमाश्रयणीयं नागृहीतविशेषण-न्यायाज्जातिरेव वाच्येति युक्तम्, व्यक्तिबोधस्तु लक्षणया, एवं हि विभक्त्यर्थान्वयोऽप्युपपत्स्यत इति दिग् । 30. एकमित्यनिर्धारितनिर्देशेन तज्जातिर्वास्तु अखण्डोपाधिर्वाऽन्यापोहो वा बुद्धिविशेषो वेत्यत्र नाग्रह इति ध्वन्यते । 31. द्विकमिति जातिव्यक्ती इत्यर्थः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिंग, संख्या, कारक और शब्द : इन छः में 'घट' पद की शक्ति को माननेवाला अध्यवसाय विशेष को षट्करूप विशेषग्राही नैगमनय कहते हैं । इस नय की मान्यता के अनुसार शब्द से भी ज्ञान संभवित हैं। इसलिए जाति आदि की तरह उसमें भी पद की शक्ति हैं । यहाँ जैसे घट को लेकर एक, दो, तीन आदि विकल्प बताये, वैसे जगत के सर्व पदार्थो के पूर्वरीति से विकल्प बताकर नैगमनय के भेदो को समझा जा सकता है । अब अन्य ग्रंथो के आधार पर भिन्न-भिन्न अपेक्षा से नैगमनय के तीन प्रकार बताते हैं ।

- नैगमनय के तीन प्रकार :- श्री देवसेनगणिकृत नयचक्रालाप पद्धति ग्रंथ में नैगमनय के तीन प्रकार बताये हैं-

नैगमस्त्रेधा - भूतभाविवर्तमानकालभेदात् । अतीते वर्तमानारोपणं यत्र स भूतनैगमः । यथा अद्य दीपमालिकायां अमावास्यायां महावीरो मोक्षं गतः । भाविकाले वर्तमानारोपणं यत्र स भाविनैगमः । यथा अर्हन् सिद्ध एव। कर्तुमारब्धं इषन्निष्पन्नं अनिष्पन्नं वा वस्तु निष्पन्नवत् कथ्यते यत्र स वर्तमाननैगमः । यथा - ओदनं पच्यते।

नैगमनय के तीन प्रकार हैं - (१) जहाँ अतीत में वर्तमानकाल का आरोप किया जाता है, वह **भूतनैगम नय** हैं । जैसे कि, आज दीपावली - अमावस्या के दिन प्रभु महावीर मोक्ष में गये थे । (प्रभु महावीर तो २५०० से अधिक वर्ष पहले मोक्ष में गये थे । प्रभु के अतीतकालीन निर्वाणगमन का आरोप आज के दिन (वर्तमान) में करना, उसे भूतनैगम नय कहा जाता हैं । यहाँ अतीत में वर्तमान का उपचार किया गया हैं ।)

(२) भाविकाल में वर्तमान का आरोप करना, उसे **भाविनैगम नय** कहा जाता हैं । जैसे कि अरिहंत सिद्ध ही है । अरिहंत (चार अघाती कर्म का नाश करके) भविष्य में सिद्ध होनेवाले हैं, वर्तमान में वह सिद्ध नहीं है । फिर भी वर्तमान में अरिहंत को सिद्ध कहना वह भाविनैगमनय की अपेक्षा से हैं ।

(३) करने के लिए आरंभ हुए वस्तु कुछ (थोडी) निष्पन्न हो गई हो अथवा अनिष्पन्न हो, तो भी वहाँ पर वस्तु निष्पन्न हो गई है, उस तरह से कहा जाये, वह **वर्तमान नैगमनय** कहा जाता हैं । जैसे कि, चावल पका हुए ही न हो, कि कुछ अंश में पका हुए हो, तब **"ओदनं पच्चते"** ऐसा प्रयोग हो, वह वर्तमान नैगमनय की अपेक्षा से हैं ।

- अन्य तरह से तीन प्रकार :

स नैगमस्त्रिप्रकारः आरोपांशसंकल्पभेदात् । तत्र चतुःप्रकारः आरोपः द्रव्यारोप-कालारोप-कारणाद्यारोपभेदात्। तत्र गुणे द्रव्यारोपः पञ्चास्तिकायवर्तनागुणस्य कालस्य द्रव्यकथनं एतद् गुणे द्रव्यारोपः ।।१।। ज्ञानमेवात्मा अत्र द्रव्ये गुणारोपः ।।२।। वर्तमानकाले च अतीतकालारोपः अद्यैव दीपोत्सवे वीरनिर्वाणं, वर्तमानकाले अनागतकालारोपः अद्यैव पद्मनाभनिर्वाणं, कारणे कार्यारोपः बाह्यक्रियायाः धर्मत्वं धर्मकारणस्य धर्मत्वेन कथनम् । सङ्कल्पो द्विविधः - स्वपरिणामरूपः कार्यान्तरपरिणामश्च । अंशोऽपि द्विविधः -भिन्नोऽभिन्नश्चेत्यादि । (नयचक्रसार)

- नैयमनय के तीन प्रकार हैं : (१) आरोप, (२) अंश और (३) संकल्प **(अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म का अन्य स्थान पे आरोपण करना उसे आरोप कहा जाता हैं।)** ऐसा आरोप नैगमनय से संभव होता हैं । आरोपित वस्तु को भी वस्तु के रूप में स्वीकार करने का काम नैगमनय करता हैं ।

(१) आरोप : आरोप के चार प्रकार हैं : (१) द्रव्यारोप, (२) गुणारोप, (३) कालारोप (४) कारणादि आरोप ।

जिसमें गुण में द्रव्य का आरोप किया जाये उसे **द्रव्यारोप** कहा जाता हैं। जैसे कि, धर्मास्तिकाय आदि पंचास्तिकाय के **"वर्तना"** गुण को काल द्रव्य कहना, वह गुण में द्रव्य का आरोप करके किया गया यह कथन हैं ।...(१)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य में गुण का आरोप किया जाये उसे गुणारोप कहा जाता है । जैसे कि, "ज्ञानमय आत्मा" यहाँ आत्मद्रव्य में ज्ञानगुण का आरोप करके किया गया यह कथन हैं ।...(२) **वर्तमानकाल में अतीतकाल का आरोप करना या वर्तमानकाल में अनागतकाल का आरोप करना उसे कालारोप कहा जाता हैं । - अद्य दीपोत्सवे वीरनिर्वाणम्** - आज दीपोत्सव के दिन वीर परमात्मा का निर्वाण है - यहाँ वर्तमानकाल में अतीतकाल का आरोप किया गया हैं । वीरनिर्वाण अतीतकाल में हुआ हैं । उसका आरोप वर्तमानकालीन दीपोत्सव में किया गया हैं । **- अद्येव पद्मनाभनिर्वाणमा** - आज दीपोत्सव के दिन ही पद्मनाभ जिन का निर्वाण हैं । यहाँ वर्तमानकाल में अनागतकाल का आरोप किया गया हैं । पद्मनाभ प्रभु का निर्वाण भविष्य में (अनागत काल में) होनेवाला हैं । उसका आरोप वर्तमानकाल में किया गया हैं । (३) **कारण में कार्य का आरोप किया जाये वह कार्यारोप कहा जाता हैं और कार्य में कारण का आरोप किया जाये वह कारणारोप हैं ।** ये दोनो आरोप भी नैगमनय से संभव होते हैं । बाह्य क्रिया को धर्म कहना, उसमें कारण में कार्य का आरोप किया गया हैं । बाह्य क्रिया धर्म का कारण हैं । धर्म के कारण को धर्म के रूप में कथन करना वह कारण में कार्यारोप हैं । (४)

(२) संकल्प : संकल्प यानी कोई भी काम करने का दृढ निर्धार । संकल्पपूर्ति के लिए जो क्रिया हो वह स्वपरिणामरूप हैं और वह अंतिम क्रिया तक पहुँचने के लिए जो अवान्तर क्रियायें हो, वह कार्यान्तर परिणाम हैं । संकल्प को सिद्ध करने के लिए अन्य जो कोई कार्य किया जाये उसे भी संकल्प का ही कार्य कहा जाता हैं । प्रस्थक बनाने से पहले लकडी लाने आदि के सभी कार्य भी संकल्प के ही कार्य कहे जाते हैं । पहले उदाहरण में देखे अनुसार बढ़ई को पूछे हुए प्रश्न और उत्तर संकल्परूप नैगम की दृष्टि से सच्चे हैं । इस नय की मान्यता के अनुसार जब से संकल्प किया तब से वह संकल्प पूर्ण न हो तब तक उसके आनुषंगिक सभी क्रियायें संकल्प की ही कही जाती हैं ।

(३) अंश : अंश का पूर्ण में उपचार किया जाये वह अंश नैगम नय की दृष्टि से शक्य बनता है । जैसे कि, कपडे का एक भाग (अंश) कट जाने पर भी 'कपडा कट गया' ऐसा जो व्यवहार होता है, वह **अंश नैगमनय** की दृष्टि से होता है।

उसके दो भेद हैं । (१) भिन्न और (२) अभिन्न । वस्तु का जो अंश, कि जो वस्तु से भिन्न हैं, उसे आश्रय में रखकर अंश का पूर्ण में उपचार किया जाये वह **भिन्न अंश नैगमनय** है और वस्तु का जो अंश, कि जो वस्तु से अभिन्न हैं, उसे आश्रय में रखकर अंश का पूर्ण में उपचार किया जाये, वह **अभिन्न अंश नैगमनय** कहा जाता है ।

"उपचार" भी नैगमनय का ही प्रकार हैं । मुख्य का अभाव होने पर भी प्रयोजन से उपचार प्रवर्तित होता हैं । वह उपचार भी संबंधाविनाभाव, संश्लेषसंबंध, परिणामपरिणामिसंबंध, श्रद्धा-श्रद्धेय संबंध, ज्ञानज्ञेय संबंध, चारित्र-चर्या संबंध इत्यादि स्वरूप हैं ।[32] **जगत में जितने भी औपचारिक व्यवहार प्रवर्त्तित हैं, वे सभी इस नय के आधार पर प्रवर्त्तित हैं।**

नैगमनय को अभिमत चारनिक्षेप : नैगमनय के लक्षण और प्रकार का निरूपण करने के बाद "नैगमनय" के अभिमत कितने निक्षेप हैं ? इस का उदाहरण सहित विवरण नयरहस्य ग्रंथ के आधार से किया जाता हैं ।

अस्य च चत्वारोऽपि निक्षेपा अभिमता नाम, स्थापना, द्रव्यं, भावश्चेति । घट इत्यभिधानमपि घट एव, "अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया" इति वचनात्, वाच्यवाचकयोरत्यन्तभेदे प्रतिनियतपदशक्त्यनुपपत्तेश्च ।

32.मुख्याभावे सति प्रयोजननिमित्ते चोपचारः प्रवर्तते । सोऽपि सम्बन्धाविनाभावः, संश्लेषः सम्बन्धः, परिणामपरिणामिसम्बन्धः, श्रद्धाश्रद्धेय सम्बन्धः, ज्ञानज्ञेय सम्बन्धः, चारित्रचर्या सम्बन्धश्चेत्यादि । **(नयचक्रालापपद्धतिः)**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

घटाकारोऽपि घट एव, तुल्यपरिणामत्वात्, अन्यथा तत्त्वायोगात्, मुख्यार्थमात्राऽभावादेव तत्प्रतिकृतित्वोपपत्तेः। मृत्पिण्डादिर्द्रव्यघटोऽपि घट एवान्यथा परिणामपरिणामिभावानुपपत्तेः । भावघटपदं चासंदिग्धवृत्तिकमेव ।।

- किसी भी शब्द के व्याकरणादि अनुसार सम्भावित जितने भी अर्थ होते हैं, उन को निक्षेप कहा जाता हैं । उन अर्थों का ज्ञान कराने के लिए उन के लक्षण और विभाजन के द्वारा प्रतिपादन भी निक्षेप पदार्थ हैं, जिस का पर्याय शब्द न्यास भी है। निक्षेप के कम से कम चार भेद हैं-नाम, द्रव्य, स्थापना और भाव । किसी वस्तु के नामकरण को नामनिक्षेप कहा जाता है। शास्त्रकारने संज्ञाकर्म शब्द से भी नामनिक्षेप का लक्षण बताया है । नामकरण और संज्ञाकर्म इन में शब्द से ही भेद है, अर्थ तो एक ही, दोनों शब्दों से बोधित होता है, क्योंकि संज्ञा और नाम ये दोनों शब्द पर्यायवाचक हैं और कर्मशब्द यहाँ क्रियावाचक होने से कर्म और करण इन दोनों शब्दों से एक ही अर्थ बोधित होता है । **नामनिक्षेप में, जिस वस्तु का कुछ नाम रखा जाय उस नामवाचक शब्द के अवयवार्थों का उस शब्द से बोध होना आवश्यक नहीं होता है ।** जैसे-किसी व्यक्ति का 'इन्द्र' ऐसा नाम रख दिया जाय तो, वह नाम से इन्द्र कहा जायेगा, परन्तु उस में इन्द्रशब्दावयव "इन्द्" धातु से प्रतीयमान पारमैश्वर्य उस व्यक्ति में न भासे तो भी वह इन्द्र तो कहा जाता हैं । नैगमनय इस तरह के नामनिक्षेप को भी मानता है । तथा, काष्ठनिर्मित या पाषणादि निर्मित मूर्ति में अथवा चित्र में किसी देवता विशेष का अनुसंधान करने पर उस में इन्द्र आदि की स्थापना का व्यवहार होता है । इस तरह किसी भी वस्तु के आकार में उस वस्तु के स्थापन को **स्थापना निक्षेप** कहते हैं । भावि में उत्पन्न होनेवाले या नष्ट हो गये हुए कार्य विशेष के उपादान कारण को **द्रव्यनिक्षेप** कहते हैं । **गुण पर्याय सहित वस्तु के असाधारण स्वरूप का जो प्रदर्शन, उसको भावनिक्षेप कहते हैं ।** ये निक्षेप सभी पदार्थों के ज्ञान में उपयुक्त होते हैं क्योंकि इन के बिना वस्तु स्वरूप का प्रतिविशिष्ट रूप से ज्ञान नहीं हो पाता है । "नैगमनय" इन चारों निक्षेपों को कैसे मानता है, इस को उदाहरण द्वारा श्री महोपाध्यायजी स्पष्ट करते हैं ।

(घट इत्यभिधान) जलाहरण साधनभूत पात्र विशेष का "घट" ऐसा नाम किया जाता है । यह "घट" ऐसा अभिधान भी घट ही कहलाता है । यहाँ घट-शब्द को 'घट' नाम से पुकारना यही **नाम निक्षेप** है । घट शब्द से वाच्य जैसे-घटरूप अर्थ होता है, वैसे घट शब्द का वाच्य घट शब्द भी होता है । घटात्मक अर्थ और घट शब्द इन दोनों में भेद रहने पर भी घट शब्द वाच्यत्वरूप से कथञ्चित् अभेद ही रहता है । इस वस्तु को प्रमाणित करने के लिए शास्त्र वचन का प्रदर्शन किया है कि (अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेयाः) अर्थ यानी घटादि वस्तु, अभिधान यानी घट शब्द और प्रत्यय यानी घट इत्याकारक बुद्धि, इन तीनों का नामधेय अर्थात् संज्ञा तुल्य अर्थात् एक ही है । यदि घट अर्थ का बोध किसी को करना हो तो घट शब्द का प्रयोग करना जैसे आवश्यक होता है वैसे ही घट शब्द का और 'घटः' इत्याकारक बुद्धि का बोध किसी को कराना हो तो भी घट शब्द का ही प्रयोग करना पडता है, इसलिए वाच्य घट, वाच्य शब्द तथा घट शब्द से होनेवाली बुद्धि, इन तीनों का नाम घट ही होता है । वाच्य और वाचक में कथञ्चित् तादात्म्य (अभेद) यहाँ अभीष्ट है । यदि घटरूप वाच्य और घटशब्दस्वरूप वाचक इन दोनों में अत्यन्त भेद माना जाय तो घटरूप अर्थ में जो नियमतः घटपद की शक्ति मानी जाती है, वह नहीं सिद्ध होगी । कारण, घट शब्दापेक्षया घटरूप अर्थ में जैसे अत्यन्त भेद रहता है, वैसे पटादिरूप अर्थ में भी रहता है, तब घट शब्द की शक्ति पटादिरूप अर्थ में भी हो सकती है । इसलिए घट शब्द और घटरूप अर्थ इन दोनों में कथञ्चिद् अभेद मानना आवश्यक है ।

किसी चित्र आदि में जो घटाकार का प्रदर्शन किया जाय उसे **स्थापना घट** कहा जाता हैं क्योंकि आकार की दृष्टि से देखा जाय तो वह घटाकार और वास्तविक घट इन दोनों में तुल्य परिणाम होता है । यदि चित्रादिगत घटाकार को घटस्वरूप न माने तो उस घटाकार को केवल आकार ही कहना होगा किंतु उस को 'यह घटाकार है' ऐसा नहीं कह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकेंगे, यानी घटाकारता ही अयुक्त हो जाने का प्रसंग आयेगा । यदि यह शङ्का हो कि स्थापना घट को भी यदि घट ही मानेंगे तो वास्तविक घट की अपेक्षा स्थापना घट में क्या विशेषता होगी ? - तो इस का समाधान यह है कि स्थापना घट मुख्य घट की प्रतिकृति है, मुख्य घट से जो जलाहरणादि अर्थ क्रिया होती है वह स्थापना घट से नहीं हो सकती । इसलिए चित्रादि में मुख्य अर्थ का अभाव है, यही स्थापना घट और मुख्य घट में विशेषता है ।

घट के उपादान कारण मृत-पिण्डादि को **द्रव्यघट** या घट का **द्रव्य निक्षेप** कहते हैं । यदि मृत पिण्डादिरूप द्रव्य को घट न माना जाय तो घट मृतपिण्ड का परिणाम है और मृत पिण्ड घट का परिणामी है, इस तरह का परिणाम-परिणामी भाव, घट और मृतपिण्ड इन दोनों में नहीं होगा । इसलिए द्रव्यघट को भी घट मानना चाहिए और इन दोनों में कथञ्चिद् अभेद भी मानना चाहिए । अत्यन्त भेद मानने पर दोनों का परिणाम-परिणामी भाव ही नहीं बनेगा । **जलाहरण साधनीभूत कम्बूग्रीवादिमान् घट को भावघट कहते हैं, इसी को भावनिक्षेप भी कहते हैं** । कारण, इस में घट के गुण और पर्याय विद्यमान रहते हैं । यह सभी को मान्य है, इसलिए भावघट में घट पद की वृत्ति यानी शक्ति नामक संबंध होने में किसी को भी संदेह नहीं है । भाव निक्षेप को भी नैगमनय मानता है । **इस तरह चारों निक्षेप नैगमनय को मान्य है** । और इसके साथे नैगमनय का वर्णन भी पूर्ण होता है ।

(१) संग्रहनय : संग्रहनय का स्वरूप समजाते हुए और उसके प्रकार बताते हुए जैनतर्कभाषा में कहा हैं कि,

सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संगहः - स द्वेधा, परोऽअपरश्च ।[33]

- 'सामान्य' मात्र को ग्रहण करनेवाले अभिप्राय को **संग्रह नय** कहा जाता है । वह संग्रहनय दो प्रकार के हैं । (१) परसंग्रह नय और (२) अपरसंग्रह नय ।

प्रत्येक पदार्थ सामान्यात्मक और विशेषात्मक है । संग्रहनय वस्तु के सामान्य धर्म को ग्रहण करता है । **यहाँ याद रखना कि,** जब सामान्य का ज्ञान होता हैं, तब विशेषो का भी ज्ञान होता हैं । परन्तु विशेषरूप से ज्ञान नहीं होता हैं । उस काल में विशेष भी सामान्यरूप से प्रतीत होता हैं । संग्रहनय सामान्य प्रतिपादन परक **"यह सत् है"** इस तरह से सामान्य को ही स्वीकार करता हैं, परन्तु विशेष को नहीं ।[34] **नय रहस्य ग्रंथ में ज्यादा स्पष्टता करते हुए कहा हैं कि,** नैगमादि नय द्वारा स्वीकृत अर्थ को संग्रह करने में (अर्थात् उस पदार्थो के सामान्य धर्म को पुरस्कृत करके एक में संग्रह करने में) तत्पर अध्यवसाय विशेष को **संग्रहनय** कहा जाता हैं ।[35] सामान्यरूपतया सर्व वस्तुओं का संग्रह करे उसे संग्रहनय कहा जाता हैं ।[36] इस प्रकार अनेकांत-व्यवस्था में महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजा ने बताया हैं ।

संग्रहनय के वचन में "सत्ता" नाम के महासामान्य भाव से युक्त पदार्थ का संग्रह हुआ होता हैं । संग्रहनय ने सभी विषयो को सामान्य में अन्तर्भाव करके सामान्य का ही स्वीकार किया हुआ होता हैं ।[37] कहने का आशय यह है कि, सभी विशेषो का विरोध (निषेध) किये बिना उन सभी विशेषो का सामान्य में अन्तर्भाव करके सत्तात्वेन सर्व पदार्थो को एक मानना वह संग्रहनय की दृष्टि हैं ।[38]

---

33. सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः ।। अयमुभयविकल्पः परोऽपरश्च ।।१३-१४।। **(प्रमाणनयतत्त्वालोक)** 34. एतदुक्तं भवति सामान्यप्रतिपादनपरः खल्वयं सदित्युक्ते सामान्यमेव प्रतिपद्यते, न विशेषम् । **(अनुयोगद्वार सूत्र**-श्री हारीभद्रीय विवृत्ति) 35. नैगमाद्युपगतार्थसङ्ग्रहप्रवणोऽध्यवसायविशेषः संग्रहः । **(नयरहस्य)** 36. संग्रहणं = सामान्यरुपतया सर्ववस्तूनामाक्रोडनं संग्रहः । संगृह्णाति सामान्यरूपतया वा सर्वमिति वा संग्रहः । 37. सङ्गृहीतः - सत्ताख्यमहासामान्यभावमापन्नोऽर्थो यस्य तत्तथा संग्रहवचनम् । अन्तःक्रोडीकृतसर्वविशेषस्य सामान्यस्यैव तेनाभ्युपगमात्। **(अनेकान्त - व्यवस्था)** 38. स्वजात्यविरोधेनैकत्व-मुपनीयार्थानाक्रान्तभेदात् समस्तसंग्रहणात् सङ्ग्रहः । **(नयप्रकाशस्तव)** । सामान्यवस्तुसत्तासङ्ग्राहकः संग्रहः **(नयचक्रसार)**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

- संग्रहनय की मान्यता :- संग्रहनय की मान्यता बताते हुए श्री नयकर्णिका में पू. श्री विनयविजय महाराजजी कहते हैं कि-

संग्रहो मन्यते वस्तु सामान्यात्मकमेव हि । सामान्यव्यतिरिक्तोऽस्ति न विशेषः खपुष्पवत् ।।६।।

- संग्रहनय मानता है कि, वस्तु सामान्य स्वरूप ही हैं । सामान्य से अतिरिक्त विशेष ही नहीं है । जैसे आकाश कुसुम असत् है, वैसे सामान्य से अतिरिक्त विशेष भी असत् हैं । यहाँ याद रखना कि, विशेषो का सामान्य में अन्तर्भाव करके सामान्य को प्रधानता देकर यह कथन किया गया हैं ।

संग्रहनय की इस दृष्टि को ज्यादा स्पष्ट करते हुए अनुयोगद्वार सूत्र - श्री हारीभद्रीयविवृत्ति में कहा गया है कि-

यदि विशेष सामान्य से अतिरिक्त हो, तो हम को हमारे प्रश्न का जवाब दो कि, क्या विशेष सामान्य से अर्थान्तरभूत (अलग अर्थ स्वरूप) है ? या अनर्थान्तरभूत है ? (अलग अर्थ स्वरूप नहीं हैं ?)[39]

यदि विशेष अर्थान्तरभूत हैं, तो सामान्य से अर्थान्तर होने से (सामान्य के बिना) उसका अस्तित्व ही न हो । इसलिए वह (विशेष) (सामान्य के बिना) ही नहीं हैं और यदि विशेष अनर्थान्तरभूत हैं, तब तो वह सामान्य ही हैं । उससे अतिरिक्त नहीं है । इसलिए सामान्य से अतिरिक्त विशेष नहीं हैं ।

- संग्रहनय के प्रकार :- (१) परसंग्रहनय : इस नय का स्वरूप बताते हुए जैनतर्कभाषा में कहा हैं कि-

तत्राशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानं शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परः संग्रहः । यथा-विश्वमेकं सदविशेषादिति ।[40]

उसमें सभी विशेषो में उदासीनता को धारण करनेवाला और मात्र शुद्ध द्रव्य 'सत्' को स्वीकार करनेवाला परसंग्रह नय कहा जाता है । जैसे कि, "विश्व एक है, क्योंकि सत् रूप से भेद (विशेष) नहीं है ।" **विश्वमेकं सदविशेषात् ।** - विश्व एक स्वरूप हैं । क्योंकि 'सत्' इत्याकारक ज्ञान-नाम द्वारा अविशेष (सामान्य) रुप से मालूम होता हैं । - इस अनुमान द्वारा सकल विशेषों में उदासीनता को अवलंबित करता, "सत्ता" अद्वैत को स्वीकार करता अभिप्राय विशेष परसंग्रह नय हैं ।

पूर्वोक्त अनुमान में "सदविशेष" इस लिंग से अनुमित (एक सत्ताकत्वेन) एकत्व सभी पदार्थो का संग्रह करता है । अर्थात् सभी पदार्थो में रही हुई 'यह सत् हैं, यह सत् हैं' ऐसे ज्ञान में कारणभूत सत्ता, उस 'सत्ता' धर्म को प्रधान बनाकर सभी पदार्थो को एक में संग्रहीत करता हैं, वह संग्रहनय हैं ।

कहने का आशय यह हैं कि, जीव, अजीव आदि जीतने चेतन और अचेतन पदार्थ हैं । वे सभी "सत्ता" रूप साधारण धर्म की अपेक्षा से एक हैं । जीव आदि जो भी विशेष हैं, उसमें किसी का भी स्वभाव असत् नहीं हैं । सभी पदार्थ

---

39. तथा च मन्यते - विशेषाः सामान्यतोऽर्थान्तरभूताः स्युः ? अनर्थान्तरभूता वा ? यद्यर्थान्तरभूताः न सन्ति सामान्यादर्थान्तरत्वात्, खपुष्पवत् । अथानर्थान्तरभूताः, सामान्य मात्रं तदव्यतिरिक्तत्वात्, स्वरूपवत् ।

40. अशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः **परसंग्रहः** ।।७-१५।। विश्वमेकं सदविशेषादिति यथा ।।७-१६।। विश्वं-जगत्, एकम्-एकरसं, सदविशेषात् - 'सत्' - इत्याकारक ज्ञानाभिधानाभ्यामविशेषरूपेण ज्ञायमानत्वात् अनेनानुमानेन सकलविशेषेष्वौदासीन्यमवलम्बमानः सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणोऽभिप्रायविशेषः परसंग्रहः ।। **(प्र.न. तत्त्वा.)** ।। अस्मिन्नुक्ते हि सदिति ज्ञानाभिधानानुवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताकत्वेनैकत्वेनैकत्वमशेषार्थानां संगृह्यते ।। **(नयामृतम्-पृ-७७)**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'सत्' रूप से प्रतीत होता हैं । पदार्थो में परस्पर भेद हैं, परन्तु कोई भी पदार्थ असत् नहीं हैं । सत् और असत् का विरोध हैं। जीव आदि में से यदि कोई पदार्थ असत् हो, तो वह सत् रूप से प्रतीत नहीं होना चाहिए । सत् होने से वह असत् नहीं हो सकता । द्रव्यादि कोई भी पदार्थ हो, परन्तु कोई भी पदार्थ सत्त्व के बिना अपने भिन्न स्वरूप में वह नहीं रह सकते हैं। इसलिए समस्त विशेषो में सत्त्व अनुगत हैं । इसलिए ही द्रव्य हैं । तदुपरांत जब तक 'सत्' रुप का ज्ञान न हो, तब तक कोई भी विशेष का ज्ञान नहीं होता हैं । तदुपरांत, 'सत्त्व' का भेदो के साथ विरोध नहीं हैं । जीवादि पदार्थ परस्पर भिन्न होने पर भी समानतया 'सत्' प्रतीत होते हैं । पूर्वोक्त अनुमान में पर्याय और गुण के बिना प्रतीत होता होने से सत्त्व सामान्य शुद्ध हैं । इसलिए ही सम्मतितर्क की टीका में संग्रहनय की व्याख्या करते हुए कहा है कि, **शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य संग्रहः**।

इस नय की मान्यता को स्पष्ट करते हुए अनेकांत व्यवस्था में कहा हैं कि,[41] सत्ता (सभी पदार्थो में रहा हुआ सत्त्व) सर्व पदार्थो में रहता है । इसलिए अव्यभिचारी तत्त्व हैं । जो सभी के लिए अव्यभिचारिरुप हैं - वही पारमार्थिक रुप हैं अर्थात् 'सत्ता' सभी पदार्थों में अव्यभिचरित रूप से वृत्ति हैं । इसलिए पारमार्थिक रुप हैं । (जो रुप एक स्थान पे वृत्ति हो और अन्य स्थान पे अवृत्ति हो, वह रूप व्यभिचारी हैं।) जो व्यभिचारी हो वह प्रबुद्ध (उजागर बनी हुए) वासनाविशेष के साथ उपस्थिति होने पर भी) अपारमार्थिक है अर्थात् पदार्थ में रहे हुए 'सत्त्व' रूप के साथ वासना विशेष से चाहे जितने दूसरे रूप उपस्थित होते हो, तो भी वह सत्त्व की तरह अव्यभिचरित नहीं है अर्थात् 'सत्त्व' जिस तरह से अबाधितरुप से सभी पदार्थो में वृत्ति हैं उसी तरह से 'सत्त्व' के साथ उपस्थित हुए दूसरे रुप (धर्म) सर्व पदार्थों में वृत्ति नहीं है । इसलिए सर्व पदार्थो में वृत्ति 'सत्त्व' अव्यभिचारी है और इसलिए पारमार्थिक है । उसके सिवा अन्य रुप अपारमार्थिक हैं । इसलिए परसंग्रह नय की मान्यता अनुसार **'सत्ता'** एक ही पारमार्थिक तत्त्व हैं और "सत्ता" के अपेक्षा से सर्व पदार्थ एक हैं, यह परसंग्रहनय की दृष्टि हैं ।

(२) अपरसंग्रहनय :- अपरसंग्रहनय का स्वरूप बताते हुए जैनतर्कभाषा में कहा हैं कि

द्रव्यत्वादीन्यवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसंग्रहः ।।[42]

द्रव्यत्व आदि अवान्तर (अपर) सामान्यो का स्वीकार करनेवाला और उसके भेदों में (विशेषों में) 'गजनिमिलिका' न्याय से उपेक्षा करनेवाला अभिप्राय **अपर संग्रहनय** हैं ।

अपर संग्रहनय की अपेक्षा से जीव आदि छः पदार्थो में द्रव्यत्व सामान्यतः व्याप्त हैं । इसलिए जीव आदि छः पदार्थ एक द्रव्यरूप हैं । उसी तरह से चेतन और अचेतन द्रव्यो के पर्यायो में पर्यायत्व नाम का अपर सामान्य हैं, उस कारण से सर्व पर्याय एक हैं ।

अपर संग्रहनय का उदाहरण देते हुए प्रमाणनयतत्त्वालोक में कहा हैं कि - **धर्माधर्माऽऽकाश-काल-पुद्गल - जीवद्रव्यणामैक्यं द्रव्यत्वाभेदादित्यादिर्यथा ।।७-२०।।** अर्थ (पूर्ववत्) स्पष्ट हैं ।

"यह द्रव्य है, यह द्रव्य है" इत्याकारक ज्ञान-नाम स्वरूप लिंग से अनुमित द्रव्यत्व धर्मास्तिकायादि छः द्रव्यो में विद्यमान हैं। इसलिए द्रव्यत्वेन छः पदार्थ एक हैं, ऐसा कथन अपर संग्रहनय का हैं ।

---

41. सत्तायाः सर्वपदार्थाव्यभिचारात् । यदेव च सर्वाव्यभिचाररूप तदेव पारमार्थिकं यच्च व्यभिचारं तत् प्रबुद्धवासानाविशेषनान्तरीयको पस्थितिकमप्यपारमार्थिकम् **(अनेकांतव्यवस्था)** 42. द्रव्यत्वादीनि अवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्-भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमाना पुनरपरसंग्रहः ।। **(प्र.न.तत्त्वालोक-७-१९)**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नयचक्रसार[43] ग्रंथ में संग्रहनय का स्वरूप और उसके दो भेद-प्रभेद बताते हुए कहा हैं कि -

"सर्व पदार्थों में रही हुई 'सत्ता' के ग्राहक अध्यवसाय-विशेष को संग्रहनय कहा जाता हैं । उस संग्रहनय के दो प्रकार हैं । (१) सामान्य संग्रह और (२) विशेष संग्रह । सामान्य संग्रह भी दो प्रकार का हैं । **(१) मूल से और (२) उत्तर से** । मूल से अस्तित्वादि आदि भेद से छः प्रकार का है और उत्तर से जाति और समुदाय भेदरूप है । (यहाँ पहले बताये हुए अस्तित्वादि धर्मो में से छः भेदो को लेकर जिस में अस्तित्वादि धर्म हो, उन द्रव्यो को एक बताना, वह इस प्रकार का उद्देश्य हैं । गोत्व जाति से सभी गायो को एक मानना, घटत्व जाति से सभी घटो को एक मानना, वनस्पतित्व जाति से सभी वनस्पति को एक मानना, वह उत्तरतः जातिरूप सामान्य संग्रह की दृष्टि हैं । आम के पेडोवाले वन में 'सहकार वन' और मनुष्यो के समुह में "मनुष्यवृंद" ऐसा जो व्यवहार होता हैं, वह **उत्तरतः समुदायरूप सामान्य संग्रहनय की दृष्टि हैं ।**

अथवा द्रव्यत्वेन सभी द्रव्यो को एक मानना वह सामान्यसंग्रह नय और छः द्रव्यो में से जीव, कि जो अनेक हैं, उन जीवो में रहे हुए जीवत्व अपेक्षा से सभी जीवो को एक मानना वह विशेष संग्रहनय हैं ।

सारांश में... सामान्य संग्रह नय की दृष्टि से तमाम द्रव्य एक हैं और विशेष संग्रहनय की दृष्टि से (जीव अन्य द्रव्यो से भिन्न है और फिर भी) तमाम जीव एक हैं।

सारांश में...संग्रहनय संग्रह करने में तत्पर होता हैं । जैसे कि, 'वनस्पति' कहने से उसमें; आम, नीम, बरगद, बबूल, गुलाब आदि तमाम वनस्पतियों का संग्रह होता हैं । संग्रहनय उस आम आदि सभी को 'वनस्पति' के रूप में ही मानता हैं ।

अनुयोगद्वार सूत्र और नयरहस्य में संग्रहनय के[44] दो प्रकार इस तरह से बताये हैं... सामान्य (सत्ता) के अभिमुख होकर वस्तु को ग्रहण करनेवाले वस्तु का प्रतिपादन करने की इच्छा रखनेवाले अभिप्राय को सामान्य परसंग्रह नय कहा जाता हैं और विवक्षित एक जाति के उपराग से वस्तु का प्रतिपादन करना चाहते अभिप्राय को विशेष (अपर) संग्रहनय कहा जाता है । इसी बात को **विशेषावश्यक भाष्य की गाथाओं के अनुसंधानपूर्वक नयचक्रसार में भी सुन्दर तरह से स्पष्ट की है ।[45] नयोपदेश ग्रंथ में भी इसके विषय में बहोत स्पष्टतायें की हैं ।** विस्तार भय

---

43. सामान्यवस्तुसत्तासंग्राहकः संग्रहः । स द्विविधः सामान्यसंग्रहो विशेषसंग्रहश्च । सामान्यसंग्रहो द्विविधः मूलत उत्तरतश्च । मूलतोऽस्तित्वान्यादिभेदतः षड्विधः, **उत्तरतो** जातिसमुदायभेदरूपः । **जातितः** गवि गोत्वं, घटे घटत्वं, वनस्पतौ वनस्पतित्वम् । **समुदायतो** सहकारात्मके वने सहकारवनं, मनुष्यसमूहे मनुष्यवृंदं इत्यादि समुदायरूपः । अथवा द्रव्यमिति सामान्य संग्रहः । जीव इति विशेषसंग्रहः । 44. 'संगहिय - पिंडियत्थं संगहवयणं समासओ विंति' इति सूत्रम् (अनु. १५२) अत्र संगृहीतं सामान्याभिमुखग्रहणगृहीतं, पिण्डितं च विवक्षितैकजात्युपरागेन, प्रतिपिपादयिषितभित्यर्थः । संगृहीतं महासामान्यं, पिण्डितं तु सामान्यविशेषं इति वार्थः ।। 45. सामान्यवस्तुसत्तासङ्ग्राहकः सङ्ग्रहः । **स द्विविधः** सामान्यसङ्ग्रहो विशेषसङ्ग्रहश्च । **सामान्यसङ्ग्रहो द्विविधः** मूलत उत्तरतश्च। **मूलतोऽस्तित्वादिभेदतः षड्विधः, उत्तरतो** जातिसमुदायभेदरूपः । **जातितः** गवि गोत्वं, घटे घटत्वं, वनस्पतौ वनस्पतित्वं। **समुदायतो** सहकारात्मके वने सहकारवनं, मनुष्यसमूहे मनुष्यवृंदं, इत्यादि समुदायरूपः । अथवा द्रव्यमिति सामान्यसङ्ग्रहः, जीव इति विशेषसङ्ग्रहः । तथा विशेषावश्यके - **"संगहणं संगिण्हइ संगिज्झंते व तेण जं भेया । तो संगहोत्ति संगहियपिंडियत्थं वओ जस्स" ।। (विशे. २२०३)** संग्रहणं सामान्यरूपतया सर्ववस्तुनामाक्रोडनं **सङ्ग्रहः** । अथवा सामान्यरूपतया सर्वं गृह्णातीति **सङ्ग्रहः** । अथवा सर्वेऽपि भेदाः सामान्यरूपतया सङ्गृह्यन्ते अनेनेति **सङ्ग्रहः** । अथवा सङ्गृहीतं पिण्डितं तदेवार्थोऽभिधेयं यस्य तत् सङ्गृहीतपिण्डितार्थं एवंभूतं वचो यस्य सङ्ग्रहस्येति । तत्र सङ्गृहीतपिण्डितं तत् किमुच्यते इत्याह - **संगहीयमागहीयं संपिंडियमेगजाइमाणीयं । संगहीयमणुगमो वा वइरेगो पिंडियं भणियं ।। (विशे. २२०४)** सामान्याभिमुख्येन ग्रहणं **संगृहीतसङ्ग्रह**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से केवल उसके मूल पाठ टिप्पणी में संकलित किये हैं ।[46] इस प्रकार संग्रहनय, संग्रह करने में तत्पर एक अध्यवसाय विशेष है । **संग्रहनय के भी चार निक्षेपा माने गये हैं।**[47]

(३) व्यवहारनय :- व्यवहारनय का स्वरूप समजाते हुए जैनतर्कभाषा में कहा हैं कि-

"संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः । यथा यत् सत् तद् द्रव्यं पर्यायो वा । यद् द्रव्यं तज्जीवादिषड्विधम् । यः पर्यायः स द्विविधः क्रमभावी सहभावी चेत्यादि ।[48]"

संग्रहनय द्वारा विषय किये गये (प्रकाशित) पदार्थों का विधिपूर्वक विभाग जो अभिप्राय द्वारा किया गया हैं, उस अभिप्राय विशेष को **व्यवहारनय** कहा जाता हैं । **जो पदार्थ भिन्न होने पर भी साधारण धर्म द्वारा एक प्रतीत होता हैं, उस पदार्थो को उसके विशेष धर्म द्वारा विभाग करना वह व्यवहार हैं । जैसे कि,** जो सत् है, वह द्रव्यरूप अथवा पर्यायरूप होता है । जो द्रव्य हैं, वह जीवादि छः प्रकार का हैं और जो पर्याय हैं, वह दो प्रकार का हैं - क्रमभावी और सहभावी इत्यादि ।

कहने का मतलब यह है कि, पहले बताये अनुसार अपर संग्रह अनेक प्रकार का हैं और पर संग्रह एक प्रकार का हैं। दोनों संग्रहो से जिसका ज्ञान होता है, उसका भेद व्यवहार करता है । समस्त पदार्थो को परसंग्रहनय 'सत्' रूप से एक करते हैं और व्यवहार नय उसका विभाग करता हैं । अपरसंग्रहनय समस्त द्रव्यो का द्रव्यरूप से संग्रह करता है और व्यवहार नय उस द्रव्यो को जीव, पुद्गल आदि रूप से विभाग करता हैं । उसी प्रकार से पर्यायरूप से समस्त पर्यायो का संग्रह संग्रहनय करता है और व्यवहार नय उसका क्रमभावी और सहभावी रूप से भेद करता हैं । उसके बाद भी विभाग होता हैं ।[49] जीव दो प्रकार का है - मुक्त और संसारी । पुद्गल दो प्रकार का हैं - अणु और स्कंध । क्रमभावी पर्याय भी क्रियारूप और अक्रियारूप हैं ।

- व्यवहारनय की मान्यता :-

व्यवहारनय मात्र **'विशेष'** को ही प्रधानता देता है और विशेष का उपयोग करके प्रत्येक पदार्थो को अलग कर देता हैं। **संग्रहनय 'सामान्य'** धर्म का उपयोग करके सभी को एक दूसरे में समाता है । व्यवहारनय 'विशेष' धर्म का उपयोग करके सभी को (प्रत्येक पदार्थो को) अलग करके समजाता हैं । व्यवहारनय की मान्यता स्पष्ट करते हुए नयकर्णिका में कहा हैं कि- **विशेषात्मकमेवार्थं व्यवहारश्च मन्यते । विशेषभिन्नं सामान्यमसत्खरविषाणवत् ।।८।।** - व्यवहारनय

उच्यते, पिण्डितं त्वकेजातिमानीतमभिधीयते **पिण्डितसङ्ग्रहः** । अथ सर्वव्यक्तिष्वनुगतस्य सामान्यस्य प्रतिपादन**मनुगमसङ्ग्रहोऽभिधीयते। व्यतिरेकस्तु** तदितरधर्मनिषेधाद् ग्राह्यधर्मसङ्ग्रहकारकं **व्यतिरेकसङ्ग्रहो** भण्यते यथा जीवो जीवः इति निषेधे जीवसङ्ग्रह एव जीवाः । अतः १ सङ्ग्रह २ पिण्डितार्थ ३ अनुगम ४ व्यतिरेकभेदाच्चतुर्विधः । अथवा स्वसत्ताख्यं महासामान्यं संगृह्णाति इतरस्तु गोत्वादिकमवान्तरसामान्यं पिण्डितार्थमभिधीयते महासत्तारूपं अवान्तरसत्तारूपं **"एगं निच्चं निरवयवमक्रियं सव्वगं च सामन्नं"** (विशे. २२०६) एतद् महासामान्यं गवि गोत्वादिकमवान्तरसामान्यमिति संग्रहः । 46. **सङ्ग्रहः सङ्गृहीतस्य पिण्डितस्य च निश्चयः। सङ्गृहीतं परा जातिः पिण्डितं त्वपरा स्मृता ।।२२।। एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-षड्भेदा जीवगोचराः । भेदाभ्यामस्य सामान्य-विशेषाभ्यामुदीरिताः ।।२३।। उपचारा विशेषाश्च, नैगम-व्यवहारयोः । इष्टा ह्यनेन नेष्यन्ते, शुद्धार्थपक्षपातिना ।।२४।।** 47. अस्यापि चत्वारो निक्षेपा अभिमता **(नयरहस्य)** 48. संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स **व्यवहार** ।।७-२३।। यथा - यत् सत् तद् द्रव्यं पर्यायो वेत्यादिः ।।७-२४।। **(प्रमाणनयतत्त्वालोकः)** 49. आदि शब्दादपरसंग्रहसंगृहीतार्थगोचरव्यवहारोदाहरणम्, यद् द्रव्यं तज्जीवादिषड्विधम् । **यः पर्यायः स द्विविधः** क्रमभावी सहभावी चेति। एवं यो जीवः स मुक्तः संसारी च । यः क्रमभावी पर्यायः स क्रियारुपोऽक्रियारुपश्चेति ।। **(प्रमाणनयतत्त्वालोक-वृत्ति)** ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषात्मक पदार्थ को ही मानता हैं । (क्योंकि जगत का व्यवहार विशेष से ही होता हैं ।) व्यवहारनय विशेष भिन्न सामान्य को खरविषाण की भांति असत् मानता हैं ।

"वनस्पति को ग्रहण करो" ऐसा कहने से कोई भी व्यक्ति वनस्पति सामान्य को ग्रहण नहीं करता हैं । परन्तु आम आदि विशेष वनस्पति को (वनस्पति विशेष को) ही ग्रहण करता हैं । इसलिए आम आदि वनस्पति विशेष के बिना जगत का व्यवहार चलता नहीं है । इसलिए वह वनस्पति विशेष आम्रादि के बिना **'सामान्य'** निरर्थक हैं । इस जगत में चलते (लोक प्रयोजनभूत) कोई भी व्रणपिंडी, पादलेपादि व्यवहारो में विशेषो से ही कार्य सिद्ध होता हैं अर्थात् विशेष ही उपयोग में लिया जाता हैं । उसके लिए सामान्य में कोई प्रवृत्ति नहीं करता हैं ।[50]

व्यवहारनय विशेष को प्रधान बनाकर सामान्य को गौण बनाता हैं, उसमें उन्होंने जो युक्तियाँ दी है, वह अनुयोगद्वार सूत्र-१३७ की विवृत्ति से और विशेषावश्यक भाष्य २२२०-२२२१ से जान लेना । सारांश में व्यवहारनय की मान्यता अनुसार विशेषो से ही जगत का सभी व्यवहार चलता होने से वही परमार्थभूत हैं और सामान्य व्यवहारोपयोगी न होने से अपारमार्थिक हैं । तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के भाष्य में व्यवहारनय के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए बताया हैं कि, **"लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः ।।**[51]

- लौकिक समान, उपचारप्राय और विस्तृत अर्थवाला व्यवहारनय हैं । लौकिक सम अर्थात् लौकिक जो पुरुष हैं, उनके समान व्यवहारनय हैं । यानी कि, जैसे लोक में वर्त्तित पुरुष घटादि विशेषो के द्वारा ही व्यवहार करते हैं, वैसे व्यवहारनय भी विशेष से व्यवहार करता हैं । तदुपरांत, जैसे लोक में पाँच वर्ण से युक्त भी भ्रमर को कृष्ण वर्णवाला अंगीकार करते हैं अर्थात् विशेष को प्रधान बनाकर जैसे भ्रमर को कृष्ण वर्णवाला स्वीकार करते हैं, वैसे व्यवहारनय भी विशेष को प्रधान बनाकर वस्तु को ग्रहण करनेवाला हैं । **उपरांत, व्यवहारनय उपचार प्रायः हैं । अन्यत्र प्रसिद्ध अर्थ का अन्य स्थान पर आरोप करना उसे उपचार कहा जाता हैं।** जैसे कि, मटके में रहा हुआ पानी ज़रता हो (बहता हो) तो मटका ज़रता है **तथा** पर्वत के उपर के तृणादि जलते हो, तो पर्वत जलता है, ऐसे प्रकार का उपचार होता हैं, ऐसे उपचार की भाषा बोलनेवाला व्यवहार नय हैं । **व्यवहारनय विस्तृत अर्थवाला हैं** अर्थात् (अनेक विशेष ज्ञेय होने से) अनेक विशेष ऐसे ज्ञेय अर्थो को ग्रहण करने के अध्यवसाय वाला व्यवहारनय हैं । महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजा ने अनेकांत व्यवस्था और नयोपदेश में भी पूर्वोक्त बातो की स्पष्टता की है।[52] व्यवहारनय के भी चार निक्षेपा होते हैं ।[53]

50. वनस्पतिं गृहाणेति प्रोक्ते गृह्णाति कोऽपि किम् । विना विशेषान्नाम्रादींस्तन्निरर्थकमेव तत् ।। व्रणपिण्डीपादलेपादिके लोकप्रयोजने । उपयोगो विशेषैः स्यात्सामान्ये न हि कर्हिचित् ।। 51. लौकिकेत्यादि । लोके-मनुष्यादिभावे विदिताः लौकिकाः-पुरुषास्तैः समः-तुल्यः, यथा लौकिका विशेषैरेव घटादिभिर्व्यवहरन्ति तथाऽयमपीत्यतस्तत्समः, उपचारप्रायः इति । **उपचारो नामान्यत्र सिद्धस्यार्थस्यान्यत्राध्यारोपो यः यथा** कुण्डिका स्रवति, पन्था गच्छति, उदके कुण्डिकास्थे स्रवति, कुण्डिका स्रवतीत्युच्यते, पुरुषे च गच्छति पन्था गच्छतीति । एवमुपचारप्राय उपचारबहुल इत्यर्थः। विस्तृतो-विस्तीर्णोऽनेकोऽर्थो ज्ञेयो यस्य स विस्तृतार्थः अध्यवसायविशेषो व्यवहार इति निगद्यते (**तत्त्वार्थाधिगम सूत्र**-श्री सिद्धसेनगणि टीका) **व्यवहारं लक्षयति** - लौकिकेत्यादि । लोके मनुष्यलोकादौ विदिता सत्या लौकिका ये पुरुषास्तैः समस्तत्तुल्यः यथा लौकिका विशेषैरेव घटादिभिर्व्यवहरन्ति तथाऽयमपीत्यतस्तत्समः । **उपचारो नामाऽन्यत्रसिद्धस्यार्थस्यान्यत्रारोपः**, यथा कुण्डिकास्थे उदके स्रवति कुण्डिका स्रवतीति, पुरुषे च गच्छति पन्था गच्छति, गिरितृणादौ दह्यमाने गिरिर्दह्यते इत्यादौ तत्प्रायस्तद्बहुलः । विस्तृतो विस्तीर्णोऽनेकेषां विशेषाणां ज्ञेयत्वादर्थो विषयो यस्य स तथा, विस्तीर्णोऽनेकेषां एतादृशोऽध्यवसायविशेषो व्यवहार इति निगद्यते (**तत्त्वार्थाधिगमसूत्र-महोपाध्यायश्रीजी रचित** टीका) लौकिकेति। विशेषप्रतिपादनपरमेतत् । यथा हि लोको निश्चयतः पञ्चवर्णेऽपि भ्रमरे कृष्णवर्णत्वमङ्गीकरोति तथायमपीति । लौकिकसम इति । कुण्डिका स्रवति, पन्थाः गच्छतीत्यादौ बाहुल्येन गौणप्रयोगाद् उपचारप्रायः विशेषप्रधानत्वाच्च विस्तृतार्था इति। (**नयरहस्यप्रकरणम्**)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, नैगम-संग्रह और व्यवहार : इन तीन नयो में नैगमनय सामान्य और विशेष उभय को ग्रहण करता है, इसलिए सम्मतितर्क ग्रंथ में सामान्यग्राही नैगमनय का संग्रहनय में और विशेषग्राही नैगम का व्यवहारनय में अन्तर्भाव किया है । संग्रहनय मात्र सामान्य को और व्यवहारनय मात्र विशेष को स्वीकार करता हैं । संग्रह और व्यवहारनय परस्पर सापेक्ष हैं । जब एक विधान में संग्रह की दृष्टि से संकोच करते जाये तब वह संग्रहनय की विचारधारा हैं । "इस जंगल में प्राणी बसते हैं" यह विधान विचारणा के स्तर में आये तब 'प्राणी' मात्र की दृष्टि से संग्रह को प्रधान बनाया जाये तब वह संग्रहनय का विचार बनता है और भिन्न-भिन्न प्राणीयों की दृष्टि से सोचने से विशेष की प्रधानता के योग से व्यवहारनय का विचार बनता हैं ।

श्री तत्त्वार्थ-भाष्य में व्यवहारनय के अभिप्राय की स्पष्टता करते हुए बताया हैं कि,

समुदायव्यक्त्याकृतिसत्तासंज्ञादिनिश्चयापेक्षम् । लोकोपचारनियतं व्यवहारं विस्तृतं विद्यात् ।।३।।

समुदाय, व्यक्ति, आकृति, सत्ता, संज्ञा आदि के निश्चय की अपेक्षा रखनेवाला, लोकोपचार से नियत और विस्तृत व्यवहारनय जानना । तत्त्वार्थ - भाष्य की महोपाध्याय श्री यशोविजयजी म. विरचित[54] टीका में... पूर्वोक्त श्लोक के प्रतिपद की व्याख्या करते हुए कहा है कि, **समुदाय** अर्थात् संघात । जैसे प्रासाद के व्यवहार विषयक ईंट, लकडी आदि का समुदाय, **व्यक्ति** अर्थात् अवयव के संयोग विशेष से जन्य अवयवी, **आकृति** अर्थात् अवयवो का आकार, जैसे कि, घटादि या मनुष्यादि की आकृति । **सत्ता** अर्थात् सभी में रहे हुए महासामान्यरुप सत्ता । **संज्ञादि** अर्थात् नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । यह समुदाय आदि का निश्चित जो निश्चय विशेष हैं, उसकी अपेक्षा रखनेवाला व्यवहारनय हैं । अर्थात् सर्व के विशेषो की अपेक्षा रखनेवाला व्यवहारनय हैं । इस व्यवहारनय के मतानुसार **(नानिश्चितसामान्यरुपाः समुदायादयो व्यवहारक्षमाः)** अनिश्चित सामान्यरूप समुदायादि व्यवहार चलाने में समर्थ नहीं है । व्यवहार तो निश्चित विशेषो से ही चलता लोक में दिखाई देता हैं ।

उपरांत व्यवहारनय लोक में जो उपचार चलता हैं, उसमें नियत हैं । अर्थात्, पर्वत के उपर के तृणादि जलते होने पर भी "पर्वत जलता है ।" **ऐसा लोग जो उपचार करते हैं, उस लोकोपचार को भी मान्य रखनेवाला (सत्य माननेवाला) व्यवहारनय हैं** । विशेषावश्यक ग्रंथ के आधार से व्यवहारनय का स्वरूप और उसके भेद नयचक्रसारग्रंथ में विस्तार से बताया है, विस्तारभय से यहाँ संगृहीत किया नहीं हैं ।[55]

---

52. विशेषतोऽवहियते - निराक्रियते सामान्यमनेनेति वा व्यवहारः । अयमुपचार-बहुलो लोकव्यवहारपरः । दच्चइ विणिच्छियत्थं ववहारो सव्वसव्वेसु **(विशेषा.२१८३)** इति सूत्रम् । व्यवहारः सर्वद्रव्येषु विचार्य विशेषानेव व्यवस्थापयतीति एतदर्थः । इत्थं ह्यसौ विचारयति ननु 'सदि'ति यदुच्यते तद् घट-पटादि-विशेषेभ्यः किमन्यन्नाम ? वार्तामात्रप्रसिद्धं सामान्यमनुपलम्भान्नास्त्येव । **(अनेकान्तव्यवस्था) उपचारेण बहुलो विस्तृतार्थश्च लौकिकः । यो बोधो व्यवहाराख्यो नयोऽयं लक्षितो बुधैः ।।२५।। दह्यते गिरिरध्वासौ याति स्रवति कुंभिका । इत्यादिरुपचारोऽस्मिन् बाहुल्येनोपलभ्यते ।।२६।। विस्तृतार्थो विशेषस्य प्राधान्यादेष लौकिकः । पंचवर्णादिधूंगादौ श्यामत्वादिविनिश्चयात् ।।२७।। पंचवर्णाभिलापेऽपि श्रुतव्युत्पत्तिशालिनाम् । न तद्बोधे विषयताऽपरांशे व्यावहारिकी ।।२८।।** 53. अस्यापि चत्वारो निक्षेपा अभिमता **(नयरहस्य)** 54. समुदायेत्यादि । समुदायः सङ्घातः प्रासादव्यवहारविषयकाष्ठेष्टकादीनामिव, व्यक्तिरवयवसंयोगविशेषजन्योऽवयवी, आकृतिः संस्थानमवयवानां, सत्ता महासामान्यम्, संज्ञादयो नामस्थापनाद्रव्यभावाः, एषां निश्चिताश्च ये निश्चया विशेषास्तानपेक्षतेऽभ्युपैति यः स तथा । एतस्य हि मते **नानिश्चितसामान्यरूपाः समुदायादयो व्यवहारक्षमाः, निश्चितविशेषव्यतिरिक्तानां तेषामभावात्, नहि समुदायादयस्त्रैलोक्यादिरूपाः समुदाय्यादिव्यतिरिक्ता अनुभूयन्ते, विशेषस्यैव स्वप्रत्यक्षत्वात्,** अभाव इव भावेऽपि सामान्यस्य कल्पितत्वेन तुच्छत्वात्, तादृशमपि च तद्विज्ञानिकसम्बन्धेन सामान्यप्रत्यासत्तिघटकं स्वीक्रियते इति न व्याप्तिज्ञानादौ यावद्व्यक्ति-भानानुपपत्तिः । 55. संग्रहगृहीतवस्तुनोः भेदान्तरेण विभजनं व्यवहरणं प्रवर्त्तनं वा **व्यवहारः । स द्विविधः** शुद्धोऽशुद्धश्च । **शुद्धो द्विविधः** वस्तुगत- व्यवहारः धर्मास्तिकायादिद्रव्याणां स्वस्वचलनसहकारादिजीवस्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपरांत व्यवहारनय विस्तृत हैं । अर्थात् उपचरित, अनुपचरित अर्थ का आश्रय करता होने से विस्तृत है । अर्थात् कुछ स्थान पर उपचार से व्यवहार प्रवर्तित हैं । जैसे कि धर्म के कारणभूत ऐसी क्रियाओं में धर्म का व्यवहार होता हैं और कुछ स्थान पर अनुपचित व्यवहार प्रवर्तित हैं । जैसे कि घटको ही व्यवहारघट कहते हैं । इसलिए व्यवहारनय उपचरित-अनुपचरित तमाम अर्थ का आश्रय करता होने से विस्तृत हैं ।

(४) ऋजुसूत्र नय :- अब ऋजुसूत्रनय का स्वरूप बताते हुए जैनतर्क भाषा में कहा हैं कि,

ऋजु वर्तमानक्षणस्थायिपर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूचयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः । यथा सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्ति। अत्र हि क्षणस्थायिसुखाख्यं पर्यायमात्रं प्राधान्येन प्रदर्श्यते, तधिकरणभूतं पुनरात्मद्रव्यं गौणतया नार्प्यत इति। [56]

- ऋजु अर्थात् वर्तमान क्षण में स्थिर रहनेवाले पर्याय मात्र को प्रधानता से प्रकाशित करनेवाला अभिप्राय विशेष ऋजुसूत्रनय हैं । वस्तु के पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं । जब एक पर्याय वर्तमान होता हैं, तब पूर्वकाल का पर्याय अतीत और उत्तरकाल का पर्याय अनागत होता है । ऋजुसूत्रनय प्रधानता से वर्तमान पर्याय का बोध करता हैं और अतीत और अनागत पर्यायो की उपेक्षा करता है । उसी तरह से तीनों काल में रहनेवाले द्रव्य की भी उपेक्षा करता हैं । **उदाहरण देकर समजाते हैं कि,** "इस काल में सुखपर्याय हैं" - यहाँ एकक्षण में रहनेवाले सुख नाम के पर्याय मात्र को प्रधानता से प्रकाशित किया हैं । परन्तु उस पर्याय के अधिकरण आत्मद्रव्य को विवक्षा गौण होने के कारण नहीं की हैं। यद्यपि सुख-दुःखादि पर्याय आत्मद्रव्य को छोडकर कभी नहीं होते हैं। फिर भी जब पर्याय की प्रधानता से विवक्षा की जाती हैं और द्रव्य की गौणरूप में विवक्षा की जाती है, तब "अब (इस काल में) सुखविवर्त - सुखपर्याय हैं ।" ऐसा प्रयोग होता हैं । (यहाँ जैसे सुखपर्याय की विवक्षा की, वैसे दुःखपर्याय की विवक्षा भी स्वयं सोच लेना।) **सारांश में, ऋजुसूत्रनय अतीत-अनागतकालीन और परकीय वस्तु की उपेक्षा करके वर्तमानकालीन और स्वकीय पर्याय की प्रधानता से विवक्षा करनेवाला अध्यवसाय विशेष हैं ।**

ऋजुसूत्रनय की मान्यता : (इस नय के बारे में विशेष बातें उसकी मान्यता को बताते भिन्न-भिन्न ग्रंथ में जो खुलासे किये हैं, उससे स्पष्ट होगा । अब वही देखेंगे ।) - **समर्थ शास्त्रकार शिरोमणी पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी**

लोकालोकादिज्ञानादिरूपः स्वसम्पूर्णपरमात्मभावसाधनरूपो गुणसाधकावस्थारूपः गुणश्रेण्यारोहादिसाधनशुद्धव्यवहारः । **अशुद्धोऽपि द्विविधः** सद्भूतासद्भूतभेदात्। **सद्भूतव्यवहारो** ज्ञानादिगुणः परस्परं भिन्नः, **असद्भूतव्यवहारः** कषायात्मादि मनुष्योऽहं देवोऽहं । **सोऽपि द्विविधः** संश्लेषितासंश्लेषितशुद्धव्यवहारः शरीरं मम अहं शरीरी। असंश्लेषितासद्भूतव्यवहारः पुत्रकलत्रादि मम । तौ च उपचरितानुपचरितव्यवहारभेदात् द्विविधौ । **तथा च विशेषावश्यके - "ववहरणं ववहरए स तेण ववहीरए व सामत्रं । ववहारपरो व जओ विसेसओ तेण ववहारो ।।"** (विशे. २२१२) व्यवहरणं व्यवहारः व्यवहरति स इति वा **व्यवहारः**, विशेषतो व्यवह्रियते निराक्रियते सामान्यं तेनेति **व्यवहारः**, लोको व्यवहारपरो वा विशेषतो यस्मात्तेन **व्यवहारः** । न व्यवहारास्व(रस्य)स्वधर्मप्रवर्तितेन ऋते सामान्यमिति स्वगुणप्रवृत्तिरूपव्यवहारस्यैव वस्तुत्वं, तमन्तरेण तद्भावात् (?) । **स द्विविधः** विभजनप्रवृत्तिभेदात् । **प्रवृत्तिव्यवहारस्त्रिविधः** वस्तुप्रवृत्तिः साधनप्रवृत्तिः लोकप्रवृत्तिश्च । **साधनप्रवृत्तिश्च त्रिधाः** लोकोत्तर-लौकिक-कुप्रावचनिकभेदात् इति व्यवहारनयः श्री विशेषावश्यके ।। **"उज्जुं रुजुं सुयं णाणमुज्जुसुयमस्स सोऽयमुज्जुसुओ। सुत्तयइ वा जमुज्जुं वत्थुं तेणुज्जुसुत्तोत्ति ।।"** (विशे. २२२२) (नयचक्रसार)

56. **ऋजु-वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयत्रभिप्राय ऋजुसूत्रः** ।।७-२८।। यथा-सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्तीत्यादिः ।।७-२९।। ऋजु-अतीतानागतकालक्षणलक्षणकौटिल्यवैकल्यात् सरलम् । **अयं भावः**-योऽभिप्रायविशेषो वर्तमानक्षणस्थितपर्यायानेव प्राधान्येन दर्शयति तत्र विद्यमानद्रव्यं गौणत्वान्न मन्यते स **ऋजुसूत्रः** ।।२८।। यद्यपि सुख-दुःखादयः पर्याया आत्मद्रव्यं विहाय कदापि न भवन्ति, तथापि पर्यायस्य यदा प्राधान्येन विवक्षा क्रियते द्रव्यस्य च गौणत्वेन तदा भवत्येवं प्रयोगः **"सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्ति"** इति, एवं दुःखपर्यायोऽधुना वर्तते इत्यादिकमूहनीयम् ।।२९।। (प्र.न.तत्त्वा.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महाराजा श्री अनुयोगद्वारसूत्र की विवृत्ति में ऋजुसूत्रनय की [57]मान्यता बताते हुए कहते हैं कि... यह ऋजुसूत्रनय वर्तमान (वर्तमान-क्षणस्थायी) स्वलिंग-वचन-नामादि से भिन्न भी वस्तु को 'एक वस्तु' के रूप में स्वीकार करता हैं । ऋजुसूत्र के मतानुसार अतीतकाल और अनागतकाल भाव (वस्तुरूप) नहीं हैं । क्योंकि अतीतकाल नष्ट हुआ है, इसलिए वह अभी विद्यमान नहीं है और भविष्यकाल उत्पन्न नहीं हुआ है, इसलिए वह भी इस समय विद्यमान नहीं है । तदुपरांत परकीय वस्तु भी वस्तुरूप नहीं है । क्योंकि वह निष्फल हैं । अर्थात् परकीय वस्तु से स्व को कोई भी प्रकार का फल नहीं मिलता हैं । दूसरे के धन से अपने जीवन व्यवहार नहीं चलते है । इसलिए परकीय धन स्व के लिए निष्फल है । इसलिए वर्तमानकालीन और स्वकीय वस्तु ही वस्तु हैं, ऐसी ऋजुसूत्र नय की मान्यता है । यह बात नयचक्रसार में भी स्पष्टता करके दी गई है ।[58]

तदुपरांत ऋजुसूत्रनय मानता है कि, लिंगादि के भेद से भी वस्तु अपना स्वरूप छोडती नहीं है । **'तटस्तटी तटम्'** इस प्रयोग में लिंग भेद होने पर भी वस्तु तो एक ही रहती है । वस्तु अपना स्वरूप छोडती नहीं हैं । **'आपो जलम्'** इस प्रकार में वचन भेद होने पर भी 'पानी' नाम की वस्तु तो वही की वही रहती है । वस्तु स्व का स्वरूप छोडती नहीं हैं ।

उसी तरह से ऋजुसूत्रनय नामादि चारो निक्षेपाओं का स्वीकार करता हैं । चार निक्षेपा से आक्रांत वस्तु को भी एक ही वस्तु के रूप में ऋजुसूत्रनय स्वीकार करता हैं । (क्योंकि ऋजुसूत्रनय अतीतकालावच्छिन्न और अनागतकालावच्छिन्न वस्तु के व्यवच्छेदपरक हैं ।)

ऋजुसूत्रनय की मान्यता बताते हुए[59] नयकर्णिका में बताया हैं कि - ऋजुसूत्रनय अतीत या अनागतकालीन वस्तु को वस्तु के रुप में स्वीकार नहीं करता हैं। परन्तु मात्र वर्तमानकालीन और निज (स्वकीय) वस्तु को ही वस्तु के रुप में स्वीकार करता हैं । जैसे, आकाशकुसुम असत् होने से उससे कोई कार्य सिद्धि नहीं होता हैं, वैसे अनागतकालीन, अतीतकालीन और परकीय वस्तु से भी कोई कार्य की सिद्धि होती न होने से वह वस्तुरूप नहीं हैं ।

[60]नय रहस्य में ऋजुसूत्रनय की मान्यता को स्पष्ट करते हुए खुलासा किया हैं कि... यदि व्यवहार नय, 'सामान्य' व्यवहार का अंग न होने से उसे स्वीकार नहीं करता हैं, तो फिर जो वस्तु परकीय हैं, अनागतकालीन है और

---

57. अयं हि नयः वर्तमानं स्वलिङ्ग - वचन - नामादिभिन्नमप्येकं वस्तु प्रतिपद्यते, शेषवस्त्विति । तथाहि - अतीतमेष्यं (ष्यद् ?) वा न भावः, विनष्टऽनुत्पन्नत्वादद्दश्यत्वत्वात्, खपुष्पवत्, तथा परकीयमप्यवस्तु, निष्फलत्वात्, खपुष्पवत्; तस्मात् वर्तमानं स्वं वस्तु। तच्च न लिङ्गादिभिन्नमपि स्वरूपमुज्झति - लिङ्गभिन्नं तटस्तटी तटमिति वचनभिन्नमापो जलम्, नामादिभिन्नं नाम - स्थापना - द्रव्य - भावा इति ।। **(अनुयोग द्वार-विवृत्ति) 58. उज्जुंति** । ऋजु श्रुतं सुज्ञानं बोधरूपं, ततश्च ऋजु अवक्रं श्रुतगस्य सोऽयमृजुश्रुतं। वा अथवा, ऋजु अवक्रं वस्तु सूत्रयतीति ऋजुसूत्र इति । **कथं पुनरेतदभ्युपगतस्य वस्तुनोऽवक्रत्वमित्याह - पच्चुप्पन्नं संपयमुप्पन्नं जं च जस्स पत्तेयं । तं रुजु तदेव तस्सत्थि उवकम्मन्नंति जमसंतं ।। (विशे. २२२३)** यत्सांप्रतमुत्पन्नं वर्तमानकालीनं वस्तु, यच्च यस्य प्रत्येकमात्मीयं तदेतदुभयस्वरूपं वस्तु प्रत्युत्पन्नमुच्यते तदेवासौ नयः ऋजुः प्रतिपद्यते तदेव च वर्तमानकालीनं वस्तु तस्यर्जुसूत्रस्यास्ति, अन्यत्र शेषातीतानागतं परकीयं च यद्यस्मात् असदविद्यमानं ततो असत्त्वादेव तद्वक्रमिच्छत्यसाविति । **अत एव उक्तं निर्युक्तिकृता - "पच्चुप्पन्नगाही उजुसुयनयविही मुणेयव्वोत्ति" (आ.नि. ५७)** यतः कालत्रये वर्तमानमंतरेण वस्तुत्वं उक्तं च यतः अतीतं (नष्टं) अनागतं भविष्यति न सांप्रतं तदवस्तु इति वर्तमानस्यैव वस्तुत्वमिति । अतीतस्य कारणता अनागतस्य कार्यता जन्यजनकभावेन प्रवर्तते अतः ऋजुसूत्रं वर्तमानग्राहकं। तद् वर्तमानं नामादिचतुःप्रकारं ग्राह्यम् ।। **(नयचक्रसार) 59.** ऋजुसूत्रनयो वस्तु नातीतं नाप्यनागतम् । मन्यते केवलं किन्तु वर्तमानं तथा निजम् ।।११।। अतीतेनानागतेन परकीयेन वस्तुना न कार्यसिद्धिरित्येतदसद्गगनपद्मवत् ।।१२।। (नयकर्णिका) **60.** व्यवहारो हि सामान्यं व्यवहारऽनङ्गत्वान्न सहते, कथं तर्हि अर्थीमति परकीयं अतीतमनागतं चार्थाभिधानमपि तथाविधार्थबाचकं ज्ञानमपि च तथाविधार्थविषयमविचार्य सहेत ? इत्यरयाभिमानः **(नयरहस्य)**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अतीतकालीन है, उससे भी किसी भी प्रकार का व्यवहार (वर्तमान में) नहीं होता है, तो फिर उसे क्यों वस्तु के रूप में स्वीकार करते हो ? इसलिए जो वस्तु का वर्तमान के व्यवहार में उपयोग नहीं हो सकता हैं, ऐसी अनागत-अतीत-परकीय वस्तु को वस्तुरूप में नहीं माननी चाहिए, ऐसा ऋजुसूत्र नय का मत हैं । इसी बात को ज्यादा स्पष्ट करके[61] अनेकांत व्यवस्था और नयोपदेशग्रंथ में बताया हैं ।

प्रश्न : पर्याय द्रव्य के बिना नहीं हो सकता हैं, फिर भी ऋजुसूत्र नय द्रव्य की उपेक्षा करके पर्याय की प्रधानता से विधान करता हैं, उसमें स्पष्ट रूप में व्यवहार का भंग होता हो, ऐसा नहीं लगता ?

उत्तर : किसी प्रकार से एक को प्रधान बनाकर अन्य को गौण करने में लोक व्यवहार का किसी प्रकार से लोप होता नहीं हैं। नय की प्रवृत्ति ही इस तरह से चलती हैं । लोक व्यवहार तो सकल नय के समुह से साध्य हैं । **इसी बात का खुलासा करते हुए[62] नयप्रकाशस्तव में कहा है कि, "ऋजुसूत्र नय की पेशकश में पर्याय के अधिकरण भूत द्रव्य विद्यमान होने पर भी उसे गौण किया है । अनागत और अतीत क्रमशः अनुत्पन्न और विनष्ट होने से (वर्तमान में उसका) संभव नहीं हैं और फिर भी इस प्रकार से मानने से लोकव्यवहार के लोप का प्रसंग भी नहीं आता हैं । क्योंकि ऋजुसूत्र नय वर्तमानकालीन और स्वकीय विषयमात्र की प्ररूपणा में तत्पर अभिप्राय विशेष है और लोक व्यवहार तो सकलनय के समूह से साध्य हैं ।"**

विशेष में **ऋजुसूत्रनय** के मतानुसार वर्तमान में ज्ञान के उपयोग में वर्तित जीव ही **ज्ञानी** है; दर्शन के उपयोग में वर्तित जीव **दर्शनी** है । कषाय में उपयुक्त जीव ही **कषायी** है और समताभाव में उपयुक्त जीव ही **सामायिकी** है । ज्ञान हो किन्तु उसके उपयोग में न हो तो ऋजुसूत्रनय उसे ज्ञानी नहीं मानेगा । सामायिक क्रिया करता हो, परन्तु समताभाव में उपयुक्त नहीं हो तो ऋजुसूत्रनय उसे सामायिकी नहीं मानता ।

1 **प्रश्न : ऋजुसूत्रनय द्रव्यार्थिक है या पर्यायार्थिक नय है ?**

ऋजुसूत्रनय का अंतर्भाव कोई पू.आचार्य भगवंत द्रव्यार्थिक नय में करते हैं और कोई पू. आचार्य भगवंत उसका अन्तर्भाव पर्यायार्थिक नय में करते हैं, तो दोनों पक्ष की मान्यता को किस तरह से संगत करेंगे ?

उत्तर : नैगम, संग्रह और व्यवहार : ये तीन नय द्रव्यार्थिक हैं और शब्द - समभिरूढ और एवंभूत : ये तीन नय पर्यायार्थिक हैं । इस विषय में कोई मतभेद नहीं हैं । जो मतभेद हैं, वह मात्र ऋजुसूत्र नय के विषय में हैं । उस मतभेद को दूर करके दोनों के अभिप्रायो का सुंदर समन्वय न्यायाचार्य - न्यायविशारद पू. उपाध्यायजी महाराजा ने द्रव्य-गुण-पर्याय के रास में कर दिया है और वह भी गुर्जरभाषा में हैं । हम उसके आधार पर पहेले के प्रश्न का उत्तर विस्तार से सोचेंगे। **रास की आठवी ढाल में कहा हैं कि,**

---

61. ऋजुत्वं चैतदभ्युपगतवस्तुनोऽवर्तमानपरकीयनिषेधेन प्रत्युत्पन्नत्वम् । अतीतमनागतं परकीयं च वस्त्वेतन्मते वक्रं, प्रयोजनाकर्तृत्वेन परधनवत् तस्यासत्त्वात्, स्वार्थक्रियाकारित्वस्यैव स्वसत्तालक्षणत्वात् । अत एव व्यवहारनयवादिनं प्रति अथमेव पर्यनुयुङ्क्ते 'यदि व्यवहारानुपयोगादनुपलभ्यान्न सङ्ग्रहनयसम्मतं सामान्यं त्वं नाभ्युपगच्छसि, तदा तत एव हेतुद्वयात् गतमेष्यत् परकीयं च वस्तु नाभ्युपगमः । न हि तैः कश्चिद् व्यवहारः क्रियते उपलब्धिविषयीभूयते वा । वासनाविशेषजनितो व्यवहारस्तु सामान्येऽप्यतिप्रसज्यत इति यत् स्वकीयं साम्प्रतकालीनं च तद्वस्तु **(अनेकांतव्यवस्था)** । 62. द्रव्यस्य सतोऽप्यनर्पणात्, अतीतानागतयोश्च विनष्टानुत्पन्नत्वेन असम्भवात् । न चैवं लोकव्यवहारविलोपप्रसङ्गः, नयस्यास्यैवं विषयमात्रप्ररुपणात्, लोकव्यवहारस्तु सकलनयसमूहसाध्य इति ।। **(नयप्रकाशस्तव)** ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पज्जवनय तिअ अंतिमा रे; प्रथम द्रव्यनय चार । जिनभद्रादिक भासिआ रे, महाभाष्य सुविचार रे ।।८-१२।।

सिद्धसेन मुख हम कहई रे, प्रथम द्रव्यनय तीन । तस ऋजुसूत्र न संभवइं रे, द्रव्यावश्यक लीन रे ।।८-१३।।

- श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणजी आदि महापुरुषो ने विशेष्यावश्यक भाष्य आदि ग्रंथो में पिछले तीन नयो तो पर्यायार्थिक नय और प्रथम के चार नयो को द्रव्यार्थिक नय के रुप में बताये हैं । श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी प्रमुख कुछ पू. आचार्य भगवंतो ने सम्मतितर्क इत्यादि ग्रंथ में प्रथम तीन - नयो को द्रव्यार्थिक नय कहे हैं और ऋजुसूत्रनय द्रव्यावश्यक को मानने के संभववाला नहीं हैं। ग्रंथकारश्री इस विषय की विशेष स्पष्टतायें स्वोपज्ञ टबें में करते हैं, उससे मंतव्यभेद स्पष्ट हो जायेगा ।

कहने का आशय यह है कि, द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय, ये दोनों नय नैगमादि सात नयो के अंदर, किस किस नयो में समाता हैं । उस बात के ऊपर श्वेतांबर आम्नाय में दो आचार्यो के अलग-अलग मत है । उन दोनों मतो की प्रक्रिया अब समजाते हैं ।[63]

नयो का विशेष वर्णन करने में श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणजी और श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी के नाम सुप्रसिद्ध हैं। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणाजीने विशेषावश्यक महाभाष्य तथा विशेषणवती आदि महाग्रंथ बनाये हैं और वे **'सिद्धान्तवादी'** के रुप में जैनशासन में प्रसिद्ध हैं । श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजीने **'सम्मति प्रकरण'** और **न्यायावतार** आदि महाग्रंथ बनाये हैं और वे **'तर्कवादी'** के रूप में जैनशासन में प्रसिद्ध हैं । उसके बाद श्री मल्लवादीजी, श्री हरिभद्रसूरिजी, श्री वादिदेवसूरिजी और कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्यजी आदि अनेक महात्मा शास्त्र विशारद और शास्त्र रचयिता हुए हैं । द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिकनय ये सात नयो में से किस किस नयो में कौन-कौन सा नय अंतर्भाव पाये, इस बात में उपरोक्त मुख्य दोनों आचार्यो के विचार अलग अलग हैं । **वहाँ प्रथम श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणजी के विचार बताते हुए ग्रंथकारश्री कहते हैं कि -**

अंतिम जो नयो के ३ (तीन) भेद हैं कि जिसके नाम शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय है, वे तीनो नय पर्यायार्थिक नय कहलाते है और प्रथम जो चार नय है कि जिसके नाम नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र है, वे चारो नय द्रव्यार्थिक नय हैं अर्थात् द्रव्यार्थिक नय इन चारो नयो में समा जाता हैं । इस प्रकार श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणजी इत्यादि सिद्धान्तवादी आचार्य कहते है । यह बात उन्होंने अपने विशेषावश्यक भाष्य ग्रंथ में की है ।

तर्कवादी आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी तथा श्री मल्लवादी इत्यादि प्रथम के जो ३ नय है १. नैगम, २. संग्रह, ३. व्यवहार, ये ३ नयो को ही द्रव्यनय कहते हैं और १. ऋजुसूत्र, २. शब्दनय, ३. समभिरुढनय और ४. एवंभूतनय ये चार नय पर्यायार्थिक नय है, ऐसा कहते हैं।[64] सारांश कि, प्रथम के तीन नय दोनों आचार्य के मतानुसार द्रव्यार्थिक नय में समाते है और पिछले तीन नय दोनों आचार्य के मतानुसार पर्यायार्थिकनय में समाते है । इस बात में दोनों आचार्यो को विवाद नहीं है, एकमत है । केवल बीच के ऋजुसूत्र नय के बारे में ही विचारभेद हैं ।

---

63. नयमध्ये द्रव्यार्थिक - पर्यायार्थिक भेल्यानी आचार्यमत प्रक्रिया देखाऽइं छइं - अंतिमा कहतां-छेहला जे ३ भेद शब्द, समभिरुढ, एवंभूतरूप ते पर्यायनय कहिइं, प्रथम ४ नय नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र लक्षण, ते द्रव्यार्थिकनय कहिइं । इम जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण प्रमुख सिद्धान्तवादी आचार्य कहइं छइं । महाभाष्य कहतां विशेषावश्यक, ते मध्ये निर्धारइं छइं ।।८-१२।। (द्रव्य-गुण-पर्याय रास)

64. हिवइ, सिद्धसेनदिवाकर मल्लवादी प्रमुख तर्कवादी आचार्य इम कहइं छइं, जे प्रथम ३ नय-१ नैगम-२ संग्रह-३, व्यवहार लक्षण ते द्रव्यनय कहिइं । ऋजुसूत्र १ शब्द २ समभिरुढ ३. एवम्भूत ४, ए ४ नय पर्यायार्थिक कहिइ । (द्रव्य-गुण-पर्याय रास)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धान्तवादी आचार्य ऋजुसूत्र नय को द्रव्यार्थिक नय में गिनते हैं और तर्कवादी आचार्य ऋजुसूत्र नय को पर्यायार्थिक नय में गिनते हैं । इतना ही विचारभेद हैं । परन्तु सभी आचार्य इस द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय को सात नयो में समा तो लेते ही है । उन दोनों को सात से अलग नय के रुप मे गिनते नहीं हैं । इसलिए **दिगंबराचार्य श्री देवसेन आचार्य की ९ (नौं) नय करने की पद्धति शास्त्र - प्रणालिका के अनुसार नहीं हैं और इस बात को श्री महोपाध्यायजी ने विस्तार से बताई है ।**

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की मान्यता :

"द्रव्यार्थिक मते सर्वे, पर्यायाः खलु कल्पिताः । तेष्वन्वयि च सद् द्रव्यं, कुण्डलादिषु हैमवत् ।।१।।

पर्यायार्थमते - "द्रव्यं, पर्यायेभ्योऽस्ति नो पृथक् । यत्तैरर्थक्रिया द्वारा, नित्यं कुत्रोपयुज्यते ।।२।। इति ।

'द्रव्यार्थपर्यायार्थनयलक्षणात् अतीतानागतपर्यायप्रतिक्षेपी ऋजुसूत्रः शुद्धमर्थपर्यायं मन्यमानः कथं द्रव्यार्थिकः स्यात् ? इत्येतेषामाशयः ।"

अर्थ : द्रव्यार्थिक नय के मतानुसार - "सभी पर्याय सचमुच कल्पित है और सभी पर्यायो में अन्वयिद्रव्य ही सच्चा तत्त्व हैं।" जैसे कुंडल आदि पर्यायों में सुवर्ण ही सच्चा तत्त्व है । ऐसा यहाँ जानना ।।१।। **पर्यायार्थिक नय के मतानुसार** - "पर्यायो से द्रव्य यह कोई अलग वस्तु ही नहीं है ।" क्योंकि उस पर्यायो के द्वारा ही अर्थक्रिया दिखाई देती है । परन्तु नित्य ऐसा द्रव्य कही भी उपयोग में नहीं आता हैं ।

ये दोनों श्लोक द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय के स्वरूप को समजानेवाले है । सभी वस्तुयें द्रव्यात्मक भी है और पर्यायार्थिक भी हैं ही । द्रव्य के बिना कभी भी अकेले पर्याय नहीं होते हैं और पर्यायो के बिना अकेला द्रव्य कभी नहीं होता हैं । जैनशासन में ज्ञानी भगवंत कहते है कि - **"छः द्रव्य परिणामी नित्य है"** और प्रत्यक्ष में भी ऐसा अनुभव में आता है । जैसे कि, "दूध-दहीं-मक्खन-घी-लड्डु" इत्यादि पर्याय बदलते जाते है । फिर भी उसमें पुद्गल द्रव्य अन्वयि भी हैं ही । देव-नरक-तिर्यंच और मनुष्य अवस्थायें बदलती हैं । फिर भी उसमें जीवद्रव्य नित्यरूप में वर्तित होता ही हैं। ऐसा सर्वत्र जानना । जब द्रव्यार्थिकनयवाली दृष्टि होती हैं, तब पर्याय कल्पित लगते है और द्रव्य ही दिखता हैं । जैसे कि, सोने के पुराने गहने तोडकर नये नये बनाते सोने के मालिक को हर्ष-शोक नहीं होते है क्योंकि उसे इस गहनों में सोना ही दिखता हैं और मेरा सोना मेरे घर में ही रहता हैं अर्थात् कुंडल - कडा - केयूर - कटिबंध बनाने पर भी मात्र सोना देखनेवाले को सुवर्ण द्रव्य ही प्रधानतया दिखता है। यद्यपि पर्याय भी दिखता है परन्तु उसकी वह गौणता करता हैं । **उसी तरह से पर्यायार्थिकनय की दृष्टि जब होती है तब पर्याय ही दिखते हैं। द्रव्य गौण हो जाता है ।** जैसे कि, कुंडल-कडा-केयूर-कटिबंध ये सभी अलंकारो में सुवर्ण द्रव्य वही का वही होने पर भी कान में पहनना हो तो कुंडल ही काम आता हैं । हाथ में पहनना हो तो कडा ही काम आता है। इस प्रकार पर्याय द्वारा ही तत् तत् अर्थक्रिया होती हैं इसलिए तत् तत् पर्याय ही यथार्थ सत्य दिखता हैं । द्रव्य भी अवश्य दिखता है । परन्तु उसके ओर की दृष्टि गौण हो जाती है । **इस तरह से जगत के सभी पदार्थ द्रव्य और पर्यायमय हैं । मात्र दृष्टि की प्रधानता से ही एक मुख्य दिखाई देता है और दूसरा भाग गौण दिखाई हेता है ।**

नैगम - संग्रह - व्यवहार ये प्रथम के तीन नय सभी पदार्थों में द्रव्य को ही ज्यादा देखते हैं । पर्यायो की ओर वे नय दृष्टिपात नहीं करते है । इसलिए उन नयो को द्रव्य ही सत्य दिखाई देता है । पर्याय कल्पित लगते हैं । पर्याय बुद्धि से आरोपित मात्र है, ऐसा ये तीन नय मानते हैं । कुंडलाकार या कडेका आकार यह तो मात्र सुवर्णकार के द्वारा किया हुआ कल्पित आकार मात्र ही हैं। वह आज हो कल न भी हो । वास्तविक तो वह सुवर्ण द्रव्य ही हैं । इस प्रकार ये नय सोचते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। इसलिए ये तीन नय द्रव्यार्थिक कहे जाते हैं । इसी तरह से शब्दादि पीछे के तीन नय पर्यायो को ही विशेष से देखते हैं । अलंकार यथास्थान पर पहने जाते हैं । अलंकारो से शरीर शोभायमान किया जाता हैं । सुवर्ण की लगडीयाँ नहीं पहनी जाती। ये शरीर को शोभायमान नहीं कर सकती । इसलिए पर्याय यही तत्त्व हैं । इस प्रकार शब्दादि तीन नय पर्याय को ज्यादा महत्त्व देते हैं । इसलिए वे पीछे के तीन नय पर्यायार्थिक कहे जाते हैं । इस मान्यता में आचार्यो को कोई विवाद नही हैं।

विवाद बीच के (एक) ऋजुसूत्रनय के विषय में है । ऋजुसूत्रनय वर्तमानकाल को मानता हैं । **वर्तमान काल दो प्रकार का हैं । १. क्षणिक वर्तमान काल और २. कुछ दीर्घ वर्तमान काल** । ये दोनों प्रकार के वर्तमान काल में तत् तत् समय में होनेवाला पर्याय भी है और तत् तत् पर्याय के आधारभूत द्रव्य भी है । **सिद्धान्तवादी आचार्य इस ऋजुसूत्रनय को द्रव्यार्थिक नय में इसलिए ले जाते हैं कि,** "यह नय तत् तत् समय में होते पर्याय के आधारभूत द्रव्यांश को ज्यादा मानता हैं" ऐसा सिद्धान्तवादी आचार्यो का कहना हैं । जब कि, **तर्कवादी आचार्य इस ऋजुसूत्रनय को पर्यायार्थिक में इसलिए ले जाते हैं कि,** "यह नय तत् तत् समय में प्रकट होते पर्यायांश को ज्यादा मानता हैं " इसलिए तर्कवादी आचार्य इस ऋजुसूत्रनय को पर्यायार्थिक नय में ले जाते हैं । जिससे दोनों आचार्यो के अभिप्राय अलग पडते हैं ।

द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से द्रव्य ही सत्य हैं, पर्याय कल्पित हैं और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से पर्याय ही सत्य हैं, पर्यायो से भिन्न ऐसा द्रव्य हैं ही नहीं और पर्यायो से ही अर्थक्रिया होती हैं । नित्य ऐसा द्रव्य कहीं भी उपयोग में नहीं आता हैं । इस अनुसार से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय का लक्षण उपर अनुसार होने से तार्किक पू. आचार्यो का कहना हैं कि, भूतकाल और भाविकाल के पर्यायो का प्रतिक्षेप (विरोध) करनेवाला (अर्थात् नहीं माननेवाला) ऐसा यह ऋजुसूत्रनय, शुद्ध ऐसे अर्थपर्याय को (क्षणमात्रवर्ती शब्दो से अवाच्य ऐसे क्षणिक वर्तमान पर्याय को) माननेवाला यह नय हैं । इसलिए वह द्रव्यार्थिकनय क्यों बने ? ऐसा यह तर्कवादी आचार्यो का आशय हैं । तर्कवादी आचार्यो का कहना ऐसे प्रकार का है कि, ऋजुसूत्रनय वर्तमानकालग्राही हैं और वर्तमानकाल में तो पर्याय की ही प्रधानता होती हैं । द्रव्यांश की प्रधानता नहीं होती हैं । क्योंकि यदि द्रव्यांश ले तो वह त्रिकालवर्ती होने से भूत-भावि भी आ जाये और यह नय भूत-भावि तो स्वीकार करता नहीं है । **इसलिए वर्तमानकालवर्ती अर्थपर्याय को ही यह ऋजुसूत्रनय स्वीकार करता हैं । तो उसका द्रव्यार्थिकनय में अन्तर्भाव किस तरह किया जा सकता हैं ?**

अनुयोग द्वार सूत्र का विरोध और उसका परिहार :

वे तर्कवादी आचार्यो के मतानुसार ऋजुसूत्रनय वर्तमानकालग्राही होने से, शुद्ध ऐसे अर्थपर्याय को माननेवाला होने से, पर्यायार्थिकनय में उसका अन्तर्भाव होता हैं । उसके लिए "द्रव्यावश्यक में लीन संभवित नहीं है" अर्थात् नामावश्यक स्थापनावश्यक, द्रव्यावश्यक और भावावश्यक ये चार प्रकार के आवश्यको में भावावश्यक ही होता हैं । द्रव्यावश्यक क्यों हो ? अर्थात् द्रव्यावश्यक न हो, ऐसा वे मानते हैं । क्योंकि वर्तमानावस्था को भाव कहा जाता हैं और भावनिक्षेपा की अगली-पिछली (भूत-भावि) अवस्था को द्रव्य कहा जाता हैं । जो यह नय नहीं मानता हैं । इसलिए यह ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से भावनिक्षेपा ही स्वीकृत होने से "द्रव्यावश्यक की लीनता (मान्यता) संभवित नहीं हैं । ऐसे प्रकार का तर्कवादी आचार्यो का अभिप्राय हैं ।"[65] परन्तु अनुयोगद्वार सूत्र में ऋजुसूत्रनय द्रव्यावश्यक को भी मान्य रखता है ऐसा कहा है। उस पाठ के साथ इन तर्कवादीओं को उपरोक्त मान्यता स्वीकार करने से विरोध आता है । अनुयोगद्वार सूत्र का पाठ इस

65.ते आचार्य नइं मतइं ऋजुसूत्रनय द्रव्यावश्यकनइं विषइं लीन न संभवइ तथा च - "उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्ते एगं दव्वावस्सयं, पहुत्तं णेच्छइ" इति अनुयोगद्वारसूत्रविरोधः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार हैं - **"ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से अनुपयोगी एक वक्ता हो, तो वह एक द्रव्यावश्यक कहा जाता हैं । भिन्न-भिन्न अनेक द्रव्यावश्यक यह नय चाहता नहीं हैं"** इस पंक्ति का अर्थ ऐसा होता है कि अनेक द्रव्यावश्यक नहीं है परन्तु एक वक्ता हो और वह अनुपयोगी हो तो उसे एक **द्रव्यावश्यक** कहा जाता हैं । (परन्तु यदि उपयोगपूर्वक वक्ता कथन करता हो, तो भावावश्यक कहा जाता हैं ।) ऐसा ऋजुसूत्रनय मानता हैं । ऐसे प्रकार के अनुयोगद्वार सूत्र के पाठ के साथ ये तर्कवादी आचार्यो का अभिप्राय विरोध पाता हैं । क्योंकि तर्कवादी आचार्यो के अभिप्राय अनुसार ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिक में अंतर्गत होने से द्रव्यावश्यक को न माने और अनुयोगद्वार के इस पाठ में द्रव्यावश्यक को मानता हैं ऐसा कहा हैं । जिससे उनको पाठ का विरोध आता हैं ।

तर्कवादी आचार्यो के अभिप्राय से अनुयोग द्वार सूत्र का उपरोक्त पाठ संगत नहीं होता हैं । यही बात ग्रंथकारश्री टबे में ज्यादा स्पष्ट करते हैं कि - [66] **तीन प्रकार के द्रव्यांश होते हैं** । उन तीन में से एक भी द्रव्यांश को यह ऋजुसूत्रनय उनके अभिप्राय से स्वीकार नहीं करता हैं । **वह इस प्रकार - १. वर्तमान काल के पर्याय के आधारभूत ऐसा जो द्रव्यांश है वह । २. कालक्रमानुसार क्रमशः पूर्वापर रूप से होते ऐसे परिणामो में (पर्यायो में) वर्तित साधारण ऐसा ऊर्ध्वता-सामान्यरुप जो द्रव्यांश हैं वह, तथा ३. भिन्न-भिन्न व्यक्तिओं में (अनेक प्रकार के घडे में) सादृश्य के अस्तित्व स्वरूप से (यह भी घट, यह भी घट, यह भी घट इत्यादि स्वरूप में) वर्तित जो तिर्यक्सामान्य रुप द्रव्यांश है वह** । ये तीनो प्रकार के द्रव्यांशो में से एक भी द्रव्यांश को पर्यायार्थिक नय स्वीकार नहीं करता हैं । इसलिए यदि ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिक है ऐसा कहे तो यह ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिक होने से उपरोक्त त्रिविध में से एक भी द्रव्यांश को न माननेवाला होगा, इसलिए **द्रव्यावश्यक** को माननेवाला कैसे होगा ? अर्थात् द्रव्यावश्यक में लीनता इस नय से किस तरह से संभव है ? अर्थात् संभवित नहीं है । उसको भावनिक्षेपा ही मान्य रहता हैं । द्रव्य निक्षेपा मान्य नहीं रहता हैं । इसलिए अनुयोगद्वार का सूत्रपाठ ये तर्कवादी आचार्यो के अभिप्राय से कैसे संगत होगा ? अर्थात् नहीं संगत होगा । इसलिए सूत्रपाठ न मिलने का उनको विरोध दोष आयेगा । ऐसा कहकर टबाकार ऐसा कहना चाहते है कि, ऋजुसूत्रनय को यदि द्रव्यार्थिक में न गिने तो अनुयोगद्वार सूत्र का यह पाठ संगत नहीं होता हैं ।

परन्तु जो सिद्धान्तवादी आचार्य है । उनको अनुयोगद्वार के इस पाठ का विरोध नहीं आता है । क्योंकि वे ऋजुसूत्रनय को वर्तमानग्राही होने पर भी द्रव्यार्थिकनय में अंतर्भाव करते हैं । **इसलिए ऋजुसूत्रनय दो प्रकार का है । १. सूक्ष्म और २. स्थूल** । वहाँ वर्तमानकालग्राही ऐसे भी ऋजुसूत्रनय को, १. प्रति समय के क्षणिकद्रव्यवादी=प्रतिक्षण प्रतिक्षण में पलटते हुए ऐसे क्षणिक पर्यायवाले **द्रव्यांश** को कहनेवाला **सूक्ष्मऋजुसूत्र नय** है और तत् तत् वर्तमान पर्यायापन्नद्रव्यवादी=तत् तत् (दीर्घ) वर्तमानकाल के पर्याय को पाये हुए ऐसे **द्रव्यांश को** कहनेवाला **स्थूल ऋजुसूत्र नय हैं** । ऐसा कहने से द्रव्यांश को माननेवाला ऋजुसूत्र नय होने से "द्रव्यावश्यक में लीन" मानने में कोई विरोध नहीं आता है । इस प्रकार सिद्धान्तवादी आचार्य कहते हैं । **वर्तमान समयवर्ती द्रव्य में द्रव्यांश और पर्यायांश दोनों हैं । वहाँ यह नय द्रव्यांश को प्रधानता से ग्रहण करनेवाला हैं। ऋजुसूत्रनय चाहे क्षणिक वर्तमानकाल अथवा कुछ दीर्घकाल रुप वर्तमानकाल माने । परन्तु ऐसे दोनों प्रकार के वर्तमानकाल में रहे हुए द्रव्यांश की प्रधानता यह नय स्वीकार करता हैं । इसलिए आवश्यक उपर के चार निक्षेपा में द्रव्य निक्षेपा को भी स्वीकार करता है । ऐसा सिद्धान्तवादी आचार्य कहते हैं ।**

66. वर्तमानपर्यायाधारांशः द्रव्यांशः पूर्वापरपरिणामसाधारण ऊर्ध्वतासामान्यः द्रव्यांशः, सादृश्यास्तित्वरुपतिर्यक्सामान्यः द्रव्यांशः, एहमां एकइं पर्यायनय न मानइ - तो ऋजसूत्र पर्यायनय कहतां, ए सूत्र किम मिलइ, ते माटइं - "क्षणिकद्रव्यवादी सूक्ष्म ऋजुसूत्र, तत्तद् - वर्तमानपर्यायापन्नद्रव्यवादी स्थूल ऋजुसूत्रनय कहवो" इमे सिद्धान्तवादी कहइ छइ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न : सिद्धान्तवादी आचार्यो के मतानुसार तो उपरोक्त अर्थ अनुसार द्रव्यांशग्राही वर्तमानकाल को माननेवाला ऋजुसूत्रनय होने से अनुयोग द्वार सूत्र का पाठ संगत हुआ । परन्तु तर्कवादी आचार्यो के मतानुसार इस पाठ का जो विरोध आता है, उसका परिहार कैसे करोंगे ।

उत्तर : महोपाध्यायजी श्री यशोविजयजी म. उस विरोध का परिहार करते हुए बताते हैं कि -

"अनुपयोगद्रव्यांशमेव सूत्रपरिभाषितमादायोक्तसूत्रं तार्किकमतेनोपपादनीयम्, इत्यस्मदेकशीलितः पन्थाः"

जैन शास्त्रो में "द्रव्यांश" शब्द के अनेक अर्थ कहे हैं । यहाँ टबे में तथा विवेचन में द्रव्यांश शब्द के उपर जो तीन अर्थ पहले बताये । १. वर्तमानकाल के पर्याय को धारण करनेवाला ऐसा द्रव्यांश २. उर्ध्वता सामान्यरूप ऐसा द्रव्यांश और तिर्यक् सामान्यरूप ऐसा द्रव्यांश, इन तीनो में से कोई भी अर्थवाला द्रव्यांश यहाँ तार्किको के मतानुसार नहीं होता हैं। इसलिए तार्किको के मतानुसार अनुयोगद्वार सूत्र का पाठ संगत करने के लिए **"द्रव्यांश"** शब्द का चौथा अर्थ करे ।

"उपयोग बिनाकी जो क्रिया" उसे भी द्रव्य कहा जाता हैं । ये अर्थवाला द्रव्यांश शब्द अनुयोगद्वार के सूत्रपाठ में हैं। इस प्रकार लेकर उपरोक्त सूत्र तार्किको के मतानुसार संगत करे । सारांश कि, तार्किको के मतानुसार प्रतिक्षण का पर्याय या कुछ दीर्घवर्तमानकाल का पर्याय ही ऋजुसूत्रनय के मतानुसार लेना हैं । परन्तु उस पर्यायकाल में उपयोगदशा न होने से **अनुपयोगो द्रव्यम्** - इस न्याय के अनुसार उस पर्याय को ही अनुपयोग दशारूप में "द्रव्य" रूप समजना । जिससे यहाँ द्रव्य का अर्थ पदार्थ अथवा छः द्रव्यो में से एक द्रव्य ऐसा अर्थ न करते हुए, पर्याय ही लेना और वही पर्याय उपयोगशून्य होने से द्रव्यात्मक हैं । इस प्रकार धर्म संबंधित जो जो आवश्यक क्रिया करे परन्तु वह क्रिया उपयोग की शून्यता से है । ऐसे प्रकार का आशय सूत्र में कहा हुआ है । ऐसा समजकर उपर का सूत्र तार्किक आचार्यो के मतानुसार संगत करना चाहिए, इस प्रकार हमारे द्वारा विचार में आया हुआ एक मार्ग हैं ।

ऋजुसूत्र नय के प्रकार :

सूक्ष्मऋजुसूत्रो यथा - एकसमयावस्थायीपर्यायः । स्थूलऋजुसूत्रो यथा मनुष्यादिपर्यायाः तदायुःप्रमाणं तिष्ठति ।[67]

ऋजुसूत्रनय के दो प्रकार हैं । (१) सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय और (२) स्थूल ऋजुसूत्रनय । **सूक्ष्मऋजुसूत्रनय एक समय रहनेवाले पर्याय को स्वीकार करता है ।** अर्थात् प्रत्येक पदार्थ के प्रतिसमय जो जो पर्याय होते है उस समय मात्र ही रहनेवाले होने से और समय यह अत्यंत सूक्ष्म वर्तमानकाल होने से वही पर्याय सत् है । कोई भी पर्याय एक समय से ज्यादा रहता नहीं है । दूसरे ही समय वह पर्याय असत् बनते है - **इस तरह से सूक्ष्मऋजुसूत्र नय मानता है ।**

परन्तु जो स्थूलऋजुसूत्र नय है, वह मनुष्यादि कुछ दीर्घवर्तमानकालवर्ती पर्याय को मानता है । यह नय भी वर्तमान काल को ही मानता हैं । परन्तु दीर्घवर्तमानकालवर्ती पर्याय को वर्तमानरुप होने से मान्य रखता हैं ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि, स्थूलऋजुसूत्रनय और व्यवहारनय के लक्षण में मिश्रण हो जायेगा, क्योंकि दोनों के विषय समान ही हैं । तो इसका उत्तर यह हैं कि, दोनों के विषय समान नहीं है । **क्योंकि, स्थूलऋजुसूत्रनय दीर्घ ऐसे भी वर्तमानकाल को ही मान्य रखता हैं, परन्तु भूत-भावि पर्याय को नहीं । जब कि, व्यवहारनय त्रिकालवर्ती पर्याय को मानता हैं । निकट के भूत-भावि को भी मान्य रखता हैं । इस तरह दोनों में भेद हैं ।**

---

67. नयप्रकाशस्तव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(५) शब्दनय : अब शब्दनय का स्वरूप देखेंगे ।

- शब्दनय[68] का स्वरूप और उसके उदाहरण देते हुए जैनतर्कभाषा में बताया हैं कि,

कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः । काल-कारक-लिंग-संख्या-पुरुष-उपसर्गाः कालादयः। तत्र बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यत्रातीतादिकालभेदन सुमेरोर्भेदप्रतिपत्तिः, करोति क्रियते कुम्भः इत्यादौ कारकभेदेन, तटस्तटी तटमित्यादौ लिङ्गभेदेन, दाराः कलत्रमित्यादौ संख्याभेदेन, यास्यसि त्वम्, यास्यति भवानित्यादौ पुरुषभेदेन, सन्तिष्ठते अवतिष्ठते इत्यादावुपसर्गभेदेन ।

अर्थ : - काल आदि के भेद से शब्द के अर्थ में भेद का स्वीकार करनेवाला शब्दनय हैं । काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग ये कालादि हैं । **"सुमेरु था, है और होगा"** - यहाँ अतीतादि काल के भेद से सुमेरु के भेद का ज्ञान होता है । **"कुंभकार घट को बनाता है, कुंभकार द्वारा घट बनाया जाता है"** यहाँ कारक के भेद से अर्थ के भेद का ज्ञान होता हैं । **"तटः तटी तटम्"** इस स्थान पे लिंग के भेद से अर्थ के भेद का ज्ञान होता हैं । **"दाराः कलत्रम्"** इस स्थान पे संख्या के भेद से अर्थ के भेद का ज्ञान होता हैं । **"यास्यसि त्वम्"** (=आप जायेंगे) और "यास्यति भवान्" (=आप जायेंगे) इस स्थान पे पुरुष के भेद से अर्थ के भेद का ज्ञान होता हैं । **"अवतिष्ठते सन्तिष्ठते"** यहाँ उपसर्गो के भेद से अर्थ के ज्ञान में भेद होता हैं ।

कहने का आशय यह है कि, जब किसी वस्तु का अतीतकाल के साथ संबंध प्रकाशित होता हैं, तब अर्थ का ज्ञान जिस रूप से होता है, उसकी अपेक्षा से वर्तमानकाल में होनेवाले ज्ञान का स्वरूप भिन्न होता है । **ज्ञान के स्वरूप में भेद होने के कारण अर्थ का भी भेद आवश्यक हैं । ज्ञान के भेद के कारण पदार्थो का भेद निश्चित होता हैं ।** "घट और पट, पृथ्वी और पानी, सूर्य और चंद्र भिन्न है" इस तत्त्व का निश्चय ज्ञान के भेद पर आश्रित हैं । यदि ये सभी पदार्थो का ज्ञान एक स्वरूप में हो, तो पदार्थो के स्वरूप का भेद निश्चित नहीं हो सकेगा । शब्द जब काल के भेद से पदार्थ को प्रकट करता हैं, तब भी ज्ञान का स्वरूप भिन्न होता हैं, इसलिए काल के भेद से पदार्थ में भी भेद मानना चाहिए, ऐसा शब्दनय का अभिप्राय हैं । उसी तरह से जब "घडे को बनाता हैं" - इस प्रकार से कहते है, तब घट का कर्ता प्रधानरूप से प्रतीत होता हैं। उससे विरुद्ध जब "घट बनाया जा रहा है"- इस प्रकार कहते हैं, तब घट प्रधान रुप से प्रतीत होता है और कर्ता अप्रधानरूप से प्रतीत होता है । प्रधान और अप्रधान रुपो का भेद आवश्यक है । इस तरह से यहाँ भी कारक के भेद से अर्थ में भेद मानना चाहिए - ऐसा शब्दनय का मत हैं । **तदुपरांत, स्त्री, पुरुष और नपुंसक का भेद प्राणीओं में स्पष्ट हैं ।** जब कोई एक अर्थ को स्त्रीलिंग, पुल्लिंग अथवा नपुंसकलिंग शब्द से कहा जाता है, तब अर्थ एक आकार का प्रतीत होने पर भी भिन्न स्वरूप में प्रतीत होता है । इसलिए वहाँ भी प्रतीति के अनुसार पदार्थो का भेद स्वीकार करना चाहिए - ऐसा शब्दनय का अभिगम हैं । **उपसर्गो के भेद से अनेक बार परस्पर विरोधी अर्थो का ज्ञान होता है ।** **"गच्छति"** कहने से "जाता है" ऐसा अर्थ प्रतीत होता है और **"आगच्छति"** कहने से "आता है" ऐसा अर्थ प्रतीत होता है । दोनों अर्थ भिन्न है । इसलिए उपसर्ग के भदे से पदार्थो का भेद स्वीकार करना चाहिए, ऐसी शब्दनय की मान्यता हैं ।

---

68. **कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः ।।७-३२।। यथा-बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादिः ।।७-३३।।**
कालादिभेदेन-काल-कारक-लिङ्ग-संख्या-पुरुषोपसर्गभेदेन, **ध्वनेः**-शब्दस्य अर्थभेदं प्रतिपद्यमानोऽभिप्रायविशेषः शब्दनयः ।।३२।। यद्यपि सुमेरोर्द्रव्यरूपतयाऽभिन्नत्वात् पर्यायरूपतया च भिन्नत्वाद् भिन्नाभिन्नत्वं वर्तते, तथाऽपि शब्दनयो विद्यमानमपि कनकाचलस्य द्रव्यरूपतयाऽभेदमुपेक्ष्य केवलं भूत-वर्तमान-भविष्यल्लक्षणकालत्रयभेदाद् भेदमेवावलम्बते । आदिपदेन **'करोति क्रियते कुम्भः'** इति **कारकभेदे** । 'तटस्तटी तटम्' इति **लिङ्गभेदे** । 'दाराः कलत्रम्' इति **संख्याभेदे** । 'एहि मन्ये रथेन यास्यति, नहि यास्यसि, यातस्ते पिता' इति **पुरुषभेदे** । 'सन्तिष्ठते, उपतिष्ठते' इत्युपसर्गभेदेऽप्यर्थस्य भिन्नत्वं स्वीकरोति ।।३३।। **(प्र.न.तत्त्वा.)**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ उल्लेखनीय[69] हैं कि, ऋजुसूत्रनय जैसे वर्तमानकालीन पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न करता हैं, वैसे शब्दनय भी वर्तमानकालीन पदार्थ का ही ज्ञान उत्पन्न करता है । फिर भी दोनों के बीच भेद है । क्योंकि, शब्दनय लिंग-वचन-संख्यादि के भेद से अर्थ का भेद स्वीकार करता हैं और लिंग-वचनादि का भेद होने पर भी अर्थ में भेद नहीं है, ऐसी ऋजुसूत्रनय की मान्यता हैं । "तटस्तटी तटम्" इस प्रयोग में शब्दनय लिंग के भेद से अर्थ का भेद मानता हैं और ऋजुसूत्रनय लिंग का भेद होने पर भी अर्थ का अभेद मानते हैं । इस तरह से शब्दनय और ऋजुसूत्रनय के बीच मान्यताभेद हैं ।

शब्दनय को "साम्प्रत"भी कहा जाता है । 'सम्प्रति' वर्तमानकाल का वाचक हैं । शब्द वर्तमानकाल में जिस स्वरूप से अर्थ का प्रतिपादन करता है, उस अर्थ का रूप है । शब्द के अनुसार अर्थ का स्वरूप साम्प्रत हैं ।

पूर्वोक्त बात को ज्यादा स्पष्ट करते हुए नयरहस्य में बताया है कि, शब्दनय के अवान्तर भेद[70] तत्त्वार्थ सूत्र आदि ग्रंथो में बताये गये हैं । (१) साम्प्रत, (२) समभिरूढ और (३) एवंभूत । इस संदर्भ में ही प्रथम "साम्प्रत" को शब्दनय का अभिधान पहले किया था । **साम्प्रतनय का लक्षण बताते हुए नयरहस्य में कहा है कि (नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव : ये चारो को नामादि पद से ग्रहण करते हैं ।)** उस प्रतिविशिष्ट पर्यायरूप जो नाम, स्थापना द्रव्य और भावरूप घटादि वस्तु हैं, उसमें संज्ञा-संज्ञी संबंध के ग्रहणकाल में अभिधान रूप से (अर्थात् घट शब्द नाम-घट का वाचक हैं, स्थापना घट का वाचक हैं, द्रव्यघट का वाचक और भावघट का वाचक हैं, इस रूप से) जिस की प्रसिद्धि पूर्वनयों में हो गई हैं, ऐसे शब्द अर्थात् नाम से होनेवाला जो अर्थप्रत्यय = अध्यवसाय विशेष हैं, उसे ही **सांप्रतनय** कहा जाता हैं ।[71] **सांप्रतनय को शब्द के वाच्य के रुप में भावमात्र ही इच्छित हैं । क्योंकि भाव से ही सर्व अभिलषित कार्यो की सिद्धि होती हैं ।**

कहने का आशय यह हैं कि, नाम का वर्तमान पर्याय, स्थापना-द्रव्य और भाव का जो वर्तमान पर्याय हैं, वे सभी प्रत्येक रुप में विशिष्ट हैं अर्थात् एक दूसरे से भिन्न है । इस प्रकार नामादि में भी जिसका संकेत गृहीत हैं अर्थात् "उसके वाचक ये शब्द है" इस तरह से जो शब्द के वाच्य-वाचक भावरूप संकेत का ज्ञान संज्ञा-संज्ञी संबंध के काल में हो गया हैं, उस शब्द के भावमात्र की बोधकता में पर्यवसान जिस अध्यवसाय विशेष से होता है, वह अध्यवसाय विशेष ही **साम्प्रत नय** कहा जाता हैं । **सारांश में** - पूर्वोक्त लक्षण से यह भाव निकलता हैं कि, वर्तमान नामादि में शब्द के संकेत का ज्ञान चाहे हो, तो भी सांप्रतनय की दृष्टि से वह शब्द केवल वर्तमान भाव का ही बोधक होता हैं । परन्तु वर्तमान नाम, वर्तमान स्थापना और वर्तमान द्रव्य का बोधक नहीं होता है । क्योंकि नामादि में जो संकेतग्रह पूर्व में (पहले) हुआ हैं, उसमें अप्रामाण्यबुद्धि का जनक सांप्रतनय होता हैं ।

इसलिए यह बात भी फलित होती हैं कि, शब्दनय केवल भावनिक्षेपा का ही स्वीकार करता हैं ।[72] जैसे कि, शब्दनय "जिन" शब्द से जिन्हों ने रागद्वेष को जीते हैं, भूमि पर विचरण कर रहे हैं, ऐसे सर्वज्ञ - सर्वदर्शी भाव जिन

69. ऋजुसूत्राद् विशेषः पुनरस्येत्थं भावनीयः- यदुत संस्थानादिविशेषात्मा भावघट एव परमार्थसत् तदितरेषां तत्तुल्यपरिणत्यभावेनाघटत्वात्। अथवा लिङ्ग - वचन - सङ्ख्यादिभेदेनार्थभेदाभ्युपगमाद् ऋजुसूत्रादस्य विशेषः । **(नयरहस्य)** 70. शब्दस्त्रिभेदः - साम्प्रतः समभिरूढ एवम्भूत इति । यथार्थाभिधानं शब्दः, नामादिषु प्रसिद्धपूर्वाच्छब्दादर्थे प्रत्ययः साम्प्रतः । XXXX तेष्वेव साम्प्रतेषु नामादीनामन्यतमग्राहिषु प्रसिद्धपूर्वकेषु घटेषु संप्रत्ययः साम्प्रतः शब्दः । **(तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य)** 71. "तत्रापि (नामादिषु) प्रसिद्धपूर्वात् - शब्दात् - अर्थप्रत्ययः साम्प्रतः" इति **साम्प्रतलक्षणम्** । प्रतिविशिष्टवर्तमानपर्यायापन्नेषु नामादिष्वपि गृहीतसंकेतस्य शब्दस्य भावमात्रबोधकत्वपर्यवसायीति तदर्थः तथात्वं च भावातिरिक्तविषयांश उक्तसङ्केतस्याऽप्रामाण्यग्राहकतया निर्वहति । 72. जो शब्द की जिस अर्थ को बताने की शक्ति हो उसी अर्थ को वह शब्द बोधित करता हैं - बताता हैं । यह शब्दनय का स्वरूप हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को समजाते हैं । परन्तु (जो भविष्य में जिन होनेवाले हैं, उसे **द्रव्यजिन** कहा जाता हैं, प्रतिमा या चित्र पट में जिस जिन की स्थापना की हैं, उसे **स्थापना जिन** कहा जाता हैं और कोई वस्तु का "जिन" ऐसा नाम दिया हो उसे **नामजिन** कहा जाता हैं ।) "जिन" शब्द द्रव्यजिन, स्थापना जिन या नामजिन को बताता नहीं हैं ।

शब्दनय की मात्र भावनिक्षेपा की स्वीकृति को दृढ करते हुए अनेकांत व्यवस्था में (विशेषावश्यक भाष्य की साक्षी देकर) कहा है कि, **नामादयो न कुंभा तक्कज्जाकरणओ पडाइव्व । पच्चक्खविरोहाओ तल्लिंगाभावओ वा वि ।। विशे.भा. २२२९।।** - नामघट, द्रव्यघट या स्थापना घट नहीं हैं । (विद्यमान नहीं हैं) क्योंकि घट का जो जलाहरणादि कार्य है वह नामादि घट नहीं करते हैं । जैसे पट जलाहरणादि कार्य करता देखने को मिलता न होने से उसका "घट" शब्द से व्यपदेश नहीं होता हैं । वैसे नामादि घट भी वह विवक्षित कार्य करते न होने से घट ही नहीं है । तदुपरांत नामादि घट को घट के रुप में मानने से प्रत्यक्ष से विरोध भी आता हैं और जलाहरणादि लिंग भी नहीं दिखाई देता हैं । अर्थात् नामघट, स्थापना घट और द्रव्यघट प्र ८ से अघट रुप से दिखाई देता हैं, फिर भी उसको घटरूप में व्यपदेश करना वह प्रत्यक्ष विरोध हैं । **तथा** घट का जो जलाहरणादि लिंग हैं, वह लिंग भी नामघटादि में देखने को नहीं मिलता हैं । इसलिए अनुमान से भी विरोध आता हैं । इसलिए वे नामादि घट 'घट' ऐसे व्यपदेश के भाजन किस तरह से हो सकते हैं ?[73]

प्रश्न : "घट" पद से नामादि घट की उपस्थिति अस्खलित रूप से होती दिखाई देती हैं । इसलिए नामादि घट में "घट" पद की शक्ति है । इसलिए 'घट' पद से केवल भावघट ही ग्रहण हो और नामादि घट ग्रहण न हो, ऐसा क्यों ?

उत्तर : अंतरंग प्रत्यासत्ति से 'घट' पद की शक्ति भावघट में ही स्वीकार की गई है । नामादि घट में नहीं। इसलिए घटपद से भावघट का ही स्वीकार करना चाहिए ऐसा शब्दनय का अभिप्राय हैं ।[74]

सारांश में, शब्दनय को जैसे प्रकार का ध्वनि (शब्द-प्रयोग) हो वैसे प्रकार का ही अर्थ इस शब्द से इष्ट है । अन्यलिंगादि से युक्त शब्दप्रयोग से अन्यलिंगादि से युक्त अर्थ की प्रतीति शब्दनय मानता नहीं हैं ।[75]

(६) समभिरुढ नय : इस नय का स्वरूप बताते हुए जैनतर्कभाषा में कहा हैं कि,

पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरुढः ।[76] **शब्दनयो हि पर्यायभेदेऽप्यर्थाभेदमभिप्रैति,**

शब्द के अर्थ का शक्तिग्रह आठ प्रकार से होता हैं । न्यायसिद्धांत मुक्तावली में शक्तिग्रह के आठ प्रकार बताते हुए कहा है कि, **शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च । वाक्यस्य शेषाद् विवृत्तेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ।।** शब्द के अर्थ का शक्तिग्रह (१) व्याकरण, (२) उपमान, (३) कोश, (४) आप्तवाक्य, (५) व्यवहार, (६) वाक्यशेष, (७) विवृत्ति (टीका) और (८) प्रसिद्धपदसन्निधान : वे आठ प्रकार से होता हैं । 73. नाम-स्थापना-द्रव्यरुपाः कुम्भा न भवन्ति, जलाहरणादितत्कार्याकरणात्, पटादिवत्, तथा प्रत्यक्षविरोधात् तल्लिङ्गादर्शनाच्च ।। **(अनेकांतव्यवस्था)** 74. घटपदाप्रामादि घटोपस्थितेरस्खलिततया दर्शनात् तत्र तत्पदशक्तेरव्याहतत्वात् स्वारसिकघटपदलक्षणो व्यपदेशस्तु न विरुध्यते इति चेत् ? न, अन्तरङ्गप्रत्यासत्या भावघट एव घटपदशक्तेरभ्युपगमात्, नामादिषु तत्पदप्रयोगस्यास्वारसिकत्वादिति दिग् **(अनेकांतव्यवस्था)** 75. यादृशो ध्वनिस्तादृश एवार्थोऽस्येष्ट इति । अन्यलिङ्गवृत्तेस्तु शब्दस्य नान्यलिङ्गवाच्यमिच्छत्यसौ । नाप्यन्यवचनवृत्तेः शब्दस्य अन्यवचनवाच्यं वस्त्वभिधेयमिच्छत्यसौ इति भावः (अने.व्य.) 76. **समभिरूढः ।।७-३६।। इन्दनादिन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इत्यादिषु यथा ।।७-३७।। (प्र.न.तत्त्वा.) पर्यायशब्देषु**-इन्द्र-पुरन्दरादिशब्देषु, **निरुक्तिभेदेन**-निर्वचनभेदेन, भिन्नमर्थं **समभिरोहन्**-अभ्युपगच्छन् **समभिरुढः**।।३६।। **अयमर्थः**-यद्यपि इन्द्र-शक्रादयः शब्दा इन्द्रत्व-शक्रत्वादिपर्यायविशिष्टस्यार्थस्य वाचकाः, न केवलं पर्यायस्य, तथापि **समभिरूढनयवादि गौणत्वाद् द्रव्यवाचकत्वमुपेक्ष्य प्रधानत्वात् पर्यायवाचकत्वमेवाङ्गीकुर्वन् 'इन्द्रादयः शब्दाः प्रतिपर्यायबोधकत्वाद्, भिन्नभिन्नार्थवाचकाः' इति मन्यते । शब्दनयो हि नानापर्यायभेदेऽप्यर्थाभेदमेवाभिप्रैति, समभिरूढस्तु पर्यायभेदे अर्थभेदं प्रतिपद्यते इति विशेषः।।३७।।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समभिरुढस्तु पर्यायभेदे भिन्नानर्थानभिमन्यते । अभेदं त्वर्थगतं पर्यायशब्दानुपेक्षत इति, यथा इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पुर्दारणात्पुरन्दर इत्यादि ।

अर्थ : पर्यायवाची शब्दो में निरुक्ति (व्युत्पत्ति) के भेद से शब्दो के अर्थ में भेद माननेवाला अभिप्राय समभिरुढ नय हैं। शब्दनय पर्यायो के भेद में भी अर्थ का अभेद मानता है । परन्तु समभिरुढ नय पर्यायो के भेद में अर्थ का भी भेद मानता हैं और अर्थ में जो पर्यायो का अभेद हैं, उसकी उपेक्षा करता हैं, जेसे कि इन्दन के कारण इन्द्र, शक्ति के कारण शक्र और नगर के विदारण करने के कारण पुरन्दर ।

कहने का आशय यह है कि, शब्दो के भेद से अर्थ का भेद प्राप्त होता हैं । वृक्ष और मनुष्य भिन्न शब्द हैं । उन दोनों के अर्थ भी भिन्न हैं । जो शब्दो के पर्याय कहे जाते हैं, वह भी भिन्न भिन्न शब्द है । शक्र, इन्द्र, पुरन्दर आदि शब्द भिन्न हैं, इसलिए उसका अर्थ भी भिन्न होना चाहिए । **यहाँ ध्यान रखने जैसी एक बात यह है कि,** जहाँ शब्द भिन्न होता हैं, वहाँ अर्थ का भेद होता हैं, इतना कहकर समभिरूढ नय अर्थो में भेद होने पर वाचक शब्दो के भेद को अनिवार्य कहता नहीं है । जहाँ अर्थ भेद होता है, वहाँ अवश्य वाचक शब्दो का भेद है, ऐसा समभिरूढ का अभिप्राय नहीं है । कोई शब्द ऐसे प्रकार का होता है कि, जिसके अर्थ अनेक होते है । जैसे कि 'गो' शब्द एक है, परन्तु उसके अर्थ गाय, वाणी, भूमि, किरण आदि अनेक है। उसी तरह से 'हरि' शब्द के भी अनेक अर्थ है । अनेकार्थक शब्दो में अर्थ का भेद तो हैं, परन्तु वाचक शब्द का भेद नहीं है । **इसलिए समभिरूढ नय शब्द भेद होने पर अर्थ का भेद आवश्यक समजता हैं । जहाँ शब्दभेद है, वहाँ अर्थभेद हैं, यह नियम समभिरुढ नय के अनुसार से है ।**

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, अर्थ के भेद को केवल शब्द का भेद प्रकाशित करता हैं, ऐसा नहीं है । लक्षण और स्वरूप का भेद भी अर्थ के भेद को प्रकट करता हैं । किसी स्थान पे अर्थ का भेद शब्द के भेद से प्रतीत होता है और कोई स्थान पे लक्षण या स्वरूप के भेद से अर्थ का भेद प्रतीत होता हैं । घट और पट शब्द भिन्न है । इसलिए इस स्थान पर शब्द भेद के कारण अर्थ में भेद प्रतीत होता हैं । जिस स्थान पे "गो" शब्द गाय-भूमि आदि अनेक अर्थो को कहता है, उस स्थान पर स्वरूप का भेद या लक्षण का भेद अर्थ के भेद को प्रकट करता हे । प्रस्तुत में शक्र, इन्द्र, पुरन्दर आदि शब्द भिन्न हैं, इसलिए उस शब्दो के अर्थ भी भिन्न होने चाहिए ऐसा समभिरूढ नय का अभिप्राय है।

शब्दनय की मान्यता और समभिरुढ नय की मान्यता को स्पष्ट करते हुए नयकर्णिका ग्रंथ में कहा है कि -

अर्थं शब्दनयोऽनेकैः पर्यायैरेकमेव च । मन्यते कुंभकलशघटाद्येकार्थवाचकाः ।।१४।।

ब्रूते समभिरुढोऽर्थं भिन्नं पर्यायभेदतः। भिन्नार्थाः कुंभकलशघटा घटपटादिवत् ।।१५।।

यदि पर्यायभेदेऽपि न भेदो वस्तुनो भवेत् । भिन्नपर्यायोर्न स्यात् स कुंभपटयोरपि ।।१६।।

अर्थ : शब्दनय अनेक पर्यायो का भी एक अर्थ मानता है अर्थात् शब्दनय पर्यायवाची शब्दो का भेद होने पर भी उन सब का अर्थ तो एक (अभेद) ही मानता है । उनके मतानुसार कुंभ, कलश, घट आदि शब्द एकार्थवाचक ही है । जब कि, समभिरुढ नय पर्याय के भदे से अर्थ को भिन्न मानता है, जैसे घट और पट, शब्द भिन्न होने से, उसके अर्थ भिन्न है, वैसे कुंभ, कलश, घट आदि शब्द भिन्न होने से उसके अर्थ भिन्न है । (उनके मतानुसार) यदि पर्यायवाची शब्दो के भेद में भी अर्थ (वस्तु का) भेद न हो, तो भिन्न-भिन्न पर्यायवाले, कुंभ और पट के बीच भी भेद नहीं रहेगा - दोनों अभिन्न हो जायेंगे ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री विशेषावश्यक भाष्य में[77] ज्यादा स्पष्टता करते हुए कहा हैं कि, जो जो घटादि स्वरूप संज्ञा को कहते हैं, उस उस संज्ञा को कुट-कुंभादि संज्ञान्तरार्थ से विमुख रहकर (अर्थात् कुट-कुंभ आदि शब्द के वाच्यार्थ निरपेक्ष) अनुसरण करनेवाला जो अभिप्राय है, वह समभिरुढ नय कहा जाता है । समभिरुढ नय तत् तत् घटादि शब्द के वाच्यार्थ के रुप में घटादि अर्थो को ही विषय करता हैं। परन्तु घटादि शब्द के वाच्यार्थ के रुप में घटादि से अतिरिक्त अर्थो को विषय नहीं करता हैं । इसलिए वह प्रत्येक शब्द के वाच्यार्थ को भिन्न-भिन्न मानता है । इस कारण से अनेक अर्थ समभिरुढ के विषय बनते हैं. । जो घट शब्द का वाच्यार्थ है, उसे कुंभ-कुट आदि पर्यायवाची शब्द का वाच्य समभिरुढ नय मानता नहीं हैं।

नय रहस्य[78] ग्रंथ में इस नय के स्वरूप की स्पष्टता करते हुए बताया है कि - घट-पटादि अर्थो का तथा घट शब्दवाच्य विशिष्ट-चेष्टायुक्त अर्थ, कुत्सित पूरणरूप कुंभ शब्दवाच्य अर्थ और कौटिल्य विशिष्ट कुट शब्द वाच्य अर्थो का संक्रमण न हो, इस तरह से गवेषण करने में तत्पर जो रहता है, इस अभिप्राय विशेष को समभिरुढ नय कहा जाता हैं ।

"घटादिरूप जो संज्ञा का उच्चारण होता हैं, वह संज्ञा के उपर जो सम्यग् आरोहरण करे" वह **"समभिरुढ"** शब्द का अर्थ है ऐसा अर्थ अनुयोगद्वार सूत्र-१५२ में किया है । **कहने का आशय यह है कि,** जो शब्द उच्चरित होता हैं, वह शब्द उसके व्युत्पत्ति अर्थ में ही प्रमाणरूप होता है । इसके मत में व्युत्पत्ति निमित्त ही प्रवृत्ति निमित्त माना जाता हैं । इसलिए घट शब्द से वाच्य जो अर्थ, वह कुट-कुंभ आदि शब्दो से वाच्य नहीं होता हैं ।

तत्त्वार्थ सूत्र में भी कहा है कि, **"सत्सु अर्थेषु असंक्रमः समभिरुढः"** वर्तमानपर्यायापन्न घटादि रुप अर्थो में घटादि शब्दो का अपना अर्थ छोडकर अन्य अर्थो में संक्रम - गमन नहीं होता हैं । जैसे कि, घट शब्द का संकेत विद्यमान (घटन) चेष्टात्मक घटरूप स्वार्थ को छोडकर कुट-कुंभ आदि अर्थ का अभिधान नहीं करता हैं । क्योंकि कुट-कुंभादि अर्थ घट शब्द का अभिधेय नहीं हैं । यदि कुट-कुंभादि अर्थ भी घट शब्द का अभिधेय बन जाये तो सर्वसंकरादि दोष उपस्थित हो जायेगा । इसलिए एक शब्द के अभिधेय अर्थ उससे अन्य शब्द का अभिधेय नहीं होता है। **समभिरुढ नय भी शब्दनय की तरह भावनिक्षेपा को ही स्वीकार करता हैं ।**[79] अब एवंभूतनय का स्वरूप देखेंगे।

(७) एवंभूतनय :- इस नय का स्वरूप बताते हुए जैनतर्क भाषा में बताया है कि -

शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवम्भूतः । यथेन्दनमनुभवन्निन्द्रः ।[80]

अर्थ : शब्दो की प्रवृत्ति में क्रिया निमित्त हैं । इस क्रिया से युक्त अर्थ को ही वाच्यरुप से स्वीकार करनेवाला एवंभूत नय हैं । जैसे कि, जैसे इन्दन क्रिया (आज्ञा देना आदि द्वारा जो ऐश्वर्य) का अनुभव करता इन्द्र हैं ।

77. जं जं सण्णं भासइ तं तं चिय समभिरोहए जम्हा । सण्णंतरत्थविमुहो तओ णओ समभिरूढो त्ति ।। विशेषा. २२३६।। यां यां सज्ञां 'घटः' इत्यादिरुपां भाषते तां तामेव यस्मात् संज्ञान्तरार्थाभिमुखः कुटकुम्भादिशब्दवाच्यार्थनिरपेक्षः समभिरोहति - तत्तद्वाच्यार्थविषयत्वेन प्रमाणीकरोति ततः - तस्मादर्थसमभिरोहणात् समभिरुढो नयः । यो घटशब्दवाच्योऽर्थस्तं कुटकुम्भादिपर्यायशब्दवाच्यं नेच्छत्यसावित्यर्थः। **(अनेकांतव्यवस्था)** 78. असङ्क्रमगवेषणपरोऽध्यवसाय विशेषः समभिरुढः । असङ्क्रमेति । तत्त्वं च यद्यपि न संज्ञाभेदेनार्थभेदाभ्युपगन्तृत्वं घटपटादिसंज्ञाभेदेन नैगमादिभिरपि अर्थभेदाभ्युपगमात्, तथापि संज्ञाभेदनियतार्थभेदाभ्युपगन्तृत्वं तत् । एवम्भूतान्यत्वविशेषणाच्च न तत्रातिव्याप्तिः । **(नयरहस्य)** 79. अस्यापि - उपदर्शतितत्त्वो भावनिक्षेप एवाभिमतः ।। 80. शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाऽऽविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवंभूतः ।।७-४०।। यथेन्दनमनुभवन्निन्द्रः, शकनक्रियापरिणतः शक्रः, पूर्दारणप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यते ।।७-४१।। शब्दानाम्-इन्द्रादिशब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तीभूतक्रिया-ऽऽविष्टमर्थ-इन्द्रादिशब्दप्रवृत्तौ निमित्तीभूता या इन्दनादिक्रिया तद्विशिष्टमर्थं यो वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छति, क्रियाऽनाविष्टं तु उपेक्षते स एवंभूतः । अयं हि इन्दनादिक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाले इन्द्रादिशब्दवाच्यमभिमन्यते । समभिरूढस्तु इन्दनादिक्रियायां विद्यमानायामविद्यमानायां च इन्द्रादिशब्दवाच्यत्वमभिप्रैति इत्यनयोर्भेदः ।।४०।। **(प्र.न.तत्त्वा.)**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहने का आशय यह है कि, व्युत्पत्ति द्वारा जो क्रिया प्रतीत होती है, उसके कारण अर्थों में शब्दो का प्रयोग होता हैं। जो क्रिया निमित्त है वह यदि न हो तो अर्थ शब्द का वाच्य नहीं बनता हैं । **यानी कि जिन शब्दो का हम जो अर्थ में उपयोग करते है उस अर्थ को वह पदार्थ उस समय यथार्थ अनुभव करता हो तो ही उसके लिए वह शब्द उपयोग करे, ऐसी मान्यता एवंभूत नय की हैं ।** जैसे कि, इन्द्र शब्द का प्रयोग इन्दन अर्थ में होता है । वह इन्दन (ऐश्वर्य का अनुभव) को वह इन्द्र उस समय यथार्थ अनुभव करता हो तो ही इन्द्र के लिए वह शब्द उपयोग में लिया जा सके, ऐसी एवंभूत नय की मान्यता है । जब वह ऐश्वर्य का अनुभव नहीं करता हैं, तब वास्तव में इन्द्र शब्द का प्रयोग उसके लिए होना नहीं चाहिए - ऐसी एवंभूत की मान्यता हैं ।

एवंभूत नय की मान्यता[81] **हैं कि,** स्त्री के मस्तक के उपर आरुढ जल से भरा हुआ "घट" ही घट हैं । परन्तु कुम्हार की भट्ठी में रहा हुआ घट या अपने घर के कोने में पडा रहा हुआ घट, वास्तव में घट नहीं है । क्योंकि, उसकी अपनी जलाहरण क्रिया उस समय विद्यमान नहीं हैं । एवंभूत नय की मान्यता को स्पष्ट करते हुए नयकर्णिका ग्रंथ में कहा है कि-

एकपर्यायाभिधेयमपि वस्तु च मन्यते । कार्यं स्वकीयं कुर्वाणमेवंभूतनयो ध्रुवम् ।।१७।।
यदि कार्यमकुर्वाणोऽपीष्यते तत्तया स चेत् । तदा पटेऽपि न घटव्यपदेशः किमिष्यते ।।१८।।

अर्थ : एक पर्यायवाची शब्द के अभिधेयभूत वस्तु (भी स्वकीय कार्य जलाहरणादि) करती हैं, तब ही उसे वस्तु के रुप में एवंभूत नय स्वीकार करता है । (यदी वह वस्तु अपनी क्रिया न करती हो, तो उसे वस्तु के रुप में एवंभूत नय स्वीकार नहीं करता है।)

उपरांत जो कोई भी वस्तु कार्य करती न हो, तब भी उसे वस्तु के रूप में स्वीकार करनी हो, तो फिर पट में भी घट का व्यपदेश क्यों न किया जा सके ? क्योंकि जैसे पट (जलाहरणादि) कार्य नहीं करता हैं । उसी तरह से कोने में पडा रहा हुआ घट भी जलाहरणादि क्रिया नहीं करता हैं । इसलिए यदि क्रिया न करते हुए घट का भी घट के रूप में व्यपदेश होता है, तो क्रिया रहित पट का भी घट के रूप में व्यपदेश होना चाहिए ? वह क्यों न हो ! **इसलिए यह फलित होता है कि, एवंभूत नय के मत में क्रियायुक्त वस्तु ही "वस्तु" के रुप में हैं । क्रियारहित वस्तु, 'वस्तु' के रूप में नहीं हैं ।** नयरहस्य ग्रंथ में एवंभूत नय का स्वरूप बताते हुए कहा है कि -

व्यञ्जनार्थविशेषान्वेषणपरोऽध्यवसायविशेषः एवम्भूतः ।[82]

- **व्यंजन =** घटादि वाचक शब्द और **अर्थ =** घटपद से वाच्य ऐसी घटनक्रियाविशिष्ट वस्तु, यह व्यंजन - अर्थ विशेष की अन्वेषणा में तत्पर अध्यवसाय विशेष **एवंभूत नय** हैं ।

कहने का आशय यह है कि, "व्यंजन में अर्थकृत विशेष" और "अर्थ में व्यंजन कृत विशेष" - इन दोनों की अपेक्षा जो अध्यवसाय विशेष में हो, उस अध्यवसाय विशेष को एवंभूतनय कहा जाता हैं ।

---

81. पदार्थव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाकालव्यापकपदार्थसत्ताभ्युपगमपर एवम्भूतः । **आह च भाष्यकारः**-एवं जह सद्दत्थो संतो भूओ तह तयत्रहाभूओ । तेणेवंभूयनओ सद्दत्थपरो विसेसेणं ।।२२५१।। अयं हि योषिन्मस्तकारुढं जलाहरणादिक्रियानिमित्तं घटमानमेव घटं मन्यते, न तु स्वगृहकोणादिव्यवस्थितमचेष्टनादित्येवं विशेषतः शब्दार्थतत्परोऽयमिति भावः । **(नयरहस्य)** 82. वंजण-अत्थ-तदुभयं एवंभूओ विसेसइ । (अनुयोगद्वार-१५२ निर्युक्ति-२१८५) व्यञ्जनार्थयोरेवंभूत इति । (तत्त्वार्थभाष्यम्)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिस घट में घटन (जलाहरणादि) किया प्रवर्तित्त हो ऐसे घटरूप वस्तु का वाचक घटपट हैं और घटनरूप क्रियावाली घट वस्तु घटपद से वाच्य हैं । (परन्तु घटरूप वस्तु घटन क्रियावाली नहीं है, तब घटरूप वस्तु घट पद से वाच्य नहीं है।) इस तरह से परस्पर वाच्य - वाचक भाव का जो संबंध हैं, वही अन्योन्य अपेक्षा हैं और ऐसे अर्थ को ग्रहण करनेवाला अध्यवसाय विशेष ही एंवभूत नय हैं । **सारांश में,** कुम्हार द्वारा निर्माण हुआ घट पानी लाने की क्रिया या पानी को धारण करने की क्रिया करता न हो, तब वह घटपद से वाच्य नहीं है । परन्तु ऐसे प्रकार की क्रिया करता हो, तब ही वह घटपद का वाच्य है, ऐसा एंवभूतनय का अभिप्राय है । **एवंभूतनय भी मात्र भावनिक्षेपा का ही स्वीकार करता हैं । यहाँ अब एवंम्भूतनय और समभिरूढ नय की मान्यता में जो भेद है, वह मान्यताभेद को जैनतर्कभाषा ग्रंथ के माध्यम से बताते है -**

समभिरूढनयोहीन्दनादि क्रियायां सत्यामसत्यां च वासवादेरर्थस्येन्द्रादिव्यपदेशमभिप्रैति, क्रियोपलक्षित-सामान्यस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, पशुविशेषस्य गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत्, तथारूढेः सद्भावात्। एवम्भूतः पुनरिन्दनादिक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाले इन्द्रादिव्यपदेशभाजमभिमन्यते ।

अर्थ : इन्दन आदि क्रिया विद्यमान हो अथवा अविद्यमान, समभिरूढ नय के अनुसार वासव आदि अर्थ इन्द्र आदि शब्द का वाच्य हैं, कारण; क्रिया से उपलक्षित सामान्य शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त है । जाने की क्रिया विद्यमान हो अथवा न हो, विशेष प्रकार का पशु गौ कहा जाता है, इसी प्रकार की रूढि है । परन्तु एवंभूत नय इन्दन आदि क्रिया में परिणत अर्थ को उस क्रिया के काल में इन्द्र आदि शब्दों से वाच्य मानता है ।

कहने का मतलब यह है कि - समभिरूढ नय के अनुसार **व्युत्पत्ति के द्वारा जो क्रिया प्रतीत होती है वह व्युत्पत्ति की निमित्त है । परन्तु व्युत्पत्ति का निमित्त सदा प्रवृत्ति का निमित्त नहीं हो सकता** । किसी काल में क्रिया शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त हो सकती है, परन्तु सदा प्रवृत्ति का निमित्त नहीं बन सकती । जब क्रिया न हो तब प्रवृत्ति-निमित्त क्रिया से भिन्न हो जाता है । गौ जब न चल रही हो तब गोत्व जाति के कारण गो शब्द का प्रयोग गाय में होता है । गोत्व जाति जब तक गाय का शरीर है तब तक उसमें रहती है । गाय बैठी हो अथवा सो रही हो तो चलने की क्रिया के न होने पर भी गोत्व जाति का ज्ञान होता है । उस काल में गमन क्रिया उपलक्षण होती है । **जो वस्तु उपलक्षण रूप में होती है वह एक बार प्रतीत होकर पीछे अविद्यमान होने पर भी अर्थ का ज्ञान करा देती है[82-1]।** 'काक जिस पर बैठा है वह देवदत्त का घर है' इस प्रकार जब कहते हैं तब देवदत्त के घर के लिए काक उपलक्षण होता है । देखनेवाला घर पर काक को देखता है परन्तु घर के पास पहुँचते पहुँचते काक उड जाता है । उड जाने पर भी देवदत्त के घर को अन्य घरों से भिन्न रूप में प्रतीत करा देता है। गो शब्द से जो गमन क्रिया प्रतीत होती है वह भी उपलक्षण है । जब वह नहीं रहती तब गमन क्रिया से गोत्व जाति उपलक्षित होकर प्रतीत होती है, इस प्रकार का उपलक्षित सामान्य गो शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त है । रूढि इस विषय में प्रमाण है । यदि क्रिया से उपलक्षित सामान्य शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त न हो तो गो शब्द की गाय में रूढि नहीं हो सकती। रूढि के कारण लोग सोती अथवा बैठी गाय को भी गौ कहते हैं ।

एवंभूत नय व्युत्पत्ति के और प्रवृत्ति के निमित्त को भिन्न नहीं मानता । उसके अनुसार केवल क्रिया शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त है । जब स्वर्ग का अधिपति शासन आदि करता है तब ऐश्वर्य से विशिष्ट होने के कारण एवंभूत नय के अनुसार इन्द्र शब्द का वाच्य है । जब असुरों के नगर का विदारण करता है, तब वह इन्द्र शब्द से नहीं कहा जा सकता । तब उसको पुरंदर शब्द से कहना चाहिए ।

82-1. अविद्यमानत्वे सति ज्ञापकत्वम् उपलक्षणत्वम् **(व्युत्पत्तिवाद)** ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवंभूतनय की मान्यता को स्पष्ट करते हुए जैनतर्क भाषा में बताते है कि,

न हि कश्चिदक्रियाशब्दोऽस्यास्ति । गौरश्व इत्यादि जातिशब्दाभिमतानामपि क्रिया शब्दत्वात् गच्छतीति गौः, आशुगामित्वादश्व इति । शुक्लो, नील इति गुणशब्दाभिमता अपि क्रिया शब्दा एव-शुचीभवनाच्छुक्लो, नीलनात् नील इति । देवदत्तो यज्ञदत्त इति यदृच्छाशब्दाभिमता अपि क्रिया शब्दा एव, देव एनं देयात् यज्ञ एनं देयादिति। संयोगिद्रव्य शब्दा: समवाय (यि) द्रव्य शब्दाश्चाभिमता: क्रिया शब्दा एव, दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी, विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यस्तिक्रियाप्रधानत्वात् । पञ्चतयी तु शब्दानां व्यवहारमात्रात्, न तु निश्चयादित्ययं नयः स्वीकुरुते ।

अर्थ : एवंभूत नय के अनुसार कोई भी शब्द अक्रिया शब्द नहीं है । गो अश्व इत्यादि शब्द जाति-वाचक माने-जाते हैं पर वे भी क्रिया शब्द हैं । जो गमन करती है वह गौ है और जो जल्दी जाता है वह अश्व है । शुक्ल नील आदि शब्द गुण शब्द कहे जाते हैं पर वे भी क्रिया शब्द हैं । शुचि होने से शुक्ल और नीलन करने से नील कहा जाता है । देवदत्त यज्ञदत्त आदि शब्द यदृच्छा शब्द कहे जाते हैं पर वे भी क्रिया शब्द हैं । देव इसको देवे इस प्रकार की इच्छा जिसके लिए की जाय वह देवदत्त है, यज्ञ इसको देवे इस प्रकार की इच्छा जिसके लिये की जाय वह यज्ञदत्त है । संयोगिद्रव्य शब्द और समवायिद्रव्य शब्द जो माने जाते हैं, वे भी क्रिया शब्द हैं । दण्ड इसका है इसलिए दण्डी, विषाण इसका है इसलिए विषाणी इस रीति से इन में भी होने की क्रिया प्रधान है । शब्दों के पांच प्रकार केवल व्यवहार से हैं, निश्चय से नहीं, इस वस्तु को यह नय स्वीकार करता है ।

कहने का मतलब यह है कि, पांच प्रकार के शब्द माने जाते हैं । जाति शब्द, गुण शब्द, क्रिया शब्द, यदृच्छा शब्द और द्रव्य शब्द । इन सभी शब्दों में कोई न कोई क्रिया अवश्य प्रतीत होती है । जिनको क्रिया शब्द कहा जाता है उनमें क्रिया अति स्पष्ट रूप से प्रतीत होती हे और अन्य शब्दों में क्रिया का भान अस्पष्ट रूप से होता है । गो आदि शब्दों को जाति शब्द कहा जाता है पर वहां भी व्युत्पत्ति के अनुसार गमन आदि क्रिया का सम्बन्ध प्रतीत होता है । शुक्ल आदि रूप गुण हैं इसलिए शुक्ल आदि शब्दों को गुण का वाचक होने से गुण शब्द कहा जाता है । जो शुचि हो रहा है कि वह शुक्ल है इस व्युत्पत्ति के अनुसार निर्मल होना एक क्रिया है जिसके साथ संबंध होने से रूप शुक्ल कहा जाता है । गति आदि क्रियाओं के समान होना क्रिया, चलन रूप नहीं है परन्तु क्रिया है । होना एक प्रकार का परिणाम है और परिणाम क्रिया है । जितने भी अर्थ हैं-परिणामी हैं । जीव पुद्गल आदि जितने भी चेतन-अचेतन द्रव्य हैं सब पर्यायों से युक्त हैं । पर्याय क्षणिक हैं, प्रथम क्षण में जो पर्याय है वह दूसरे क्षण में नहीं है । चलन रूप अथवा अचलन रूप परिणाम समस्त द्रव्यों में होता है । गुण द्रव्यों से भिन्न और अभिन्न हैं इसलिए अभेद की अपेक्षा से वे भी परिणामी है । निर्मल होने के कारण रूप शुक्ल कहा जाता है । निर्मल होना भी परिणाम है, इस प्रकार की परिणाम रूप क्रिया के साथ संबंध होने से गुण शब्द भी क्रिया शब्द है । जब तक निर्मल हो रहा है तब तक शुक्ल कहा जा सकता है । जब निर्मल भाव नहीं रहेगा तब शुक्ल रूप का स्वरूप भी नहीं रहेगा । उस काल में शुक्ल शब्द का प्रयोग उचित नहीं है ।

देवदत्त आदि शब्दों को कुछ लोग यदृच्छा शब्द कहते हैं । वहाँ भी व्युत्पत्ति के अनुसार देवों के द्वारा दान क्रिया का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में प्रतीत होता है । जिनको द्रव्य शब्द कहा जाता है वे भी संयोगी द्रव्य को अथवा समवायी द्रव्य को कहते हैं । संयोग गुण है परन्तु जब संयोग होता है तभी संयोगी द्रव्य शब्द का प्रयोग किया जाता है । दंड का संयोग होना भी क्रिया है । जब तक दंड का संयोग है तभी तक दंडी कहा जाता है, इसलिए यह भी क्रिया शब्द है ।

जब लोग शब्दों को पांच प्रकार का कहते हैं, तब व्युत्पत्ति के द्वारा प्रतीत होनेवाली क्रिया को गौण मानकर और जाति गुण आदि को प्रधान मानकर व्यवहार करते हैं । निश्चय नय के अनुसार विचार करने पर सभी शब्दों में क्रिया विद्यमान है । इस रीति से एवंभूत नय सभी शब्दों को क्रिया शब्द कहता है । इस प्रकार सात नयों का निरुपण पूर्ण होता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थनय-शब्दनय : अब सात नयो का अर्थनय और शब्दनय में विभागीकरण करते हुए जैनतर्क भाषा में कहा है कि,

एतेष्वाद्याश्चत्वारः प्राधान्येनार्थगोचरत्वादर्थनयाः अन्त्यास्तु त्रयः प्राधान्येन शब्दगोचरत्वाच्छब्दनयाः ।[83]

अर्थ : इन सात नयों में आदि के चार प्रधानरूप से अर्थ के विषय में हैं इसलिए **अर्थनय** हैं और अंतिम तीन मुख्य रूप से शब्द के विषय में हैं इसलिए **शब्दनय** हैं ।

कहने का मतलब यह है कि, नय श्रुत प्रमाण के भेद हैं । अर्थों में अनेक प्रकार के धर्म हैं । द्रव्य आदि की अपेक्षा से किसी धर्म को मुख्य रूप से और किसी को गौण रूप से नय प्रतिपादित करते हैं । कोई नय, विशेष के होने पर भी केवल सामान्य का प्रतिपादन करते हैं और कोई केवल विशेष का । अपेक्षा के भेद से शब्दों द्वारा निरूपण नयों का मुख्य कार्य है । इस कारण सातों नय शब्द के साथ सम्बन्ध रखते हैं । उनके द्वारा जो ज्ञान होता है वह शब्द से उत्पन्न होता है। **वृक्ष में फूल हैं । जिस प्रकार वृक्ष की सत्ता है इसी प्रकार फूलों की भी है। फूल ही नहीं; शाखा, पत्र, मूल आदि की भी समान सत्ता है पर जब हम गौण और मुख्य भाव से कहते हैं तब नैगम नय हो जाता है । इस प्रकार से वक्ता के कहने की इच्छा नैगम नय का मूल है ।**

अर्थ सामान्य रूप भी है और विशेषरूप भी । जब भेद की उपेक्षा करके अभिन्न स्वरूप से कहने की इच्छा होती है, तब संग्रह नय प्रकट होता है । जब सामान्य रूप की उपेक्षा करके भेद के प्रकट करने की इच्छा होती है तब व्यवहार नय का उदय होता है । जब तीनों कालों के साथ सम्बन्ध होने पर भी वर्तमान काल की अपेक्षा से किसी धर्म का निरूपण हो, तो ऋजुसूत्र नय हो जाता है । इस प्रकार नैगम से लेकर ऋजुसूत्र तक के नय भी जिस ज्ञान को उत्पन्न करते हैं वह शब्द से उत्पन्न होता है ।

शब्द पर आश्रित होने पर भी धर्म और धर्मी, सामान्य और विशेष अथवा वर्तमान काल रूप अर्थ के साथ सम्बन्ध होने के कारण नैगम आदि चार को अर्थ नय कहा जाता है, शब्द आदि तीन नय शब्दों के कारण भेद न होने पर भी अर्थों में भेद मानने लगते हैं । फल का तीन कालों के साथ सम्बन्ध है, काल के भेद से फल के स्वरूप में कोई स्पष्ट भेद नहीं प्रतीत होता, परन्तु शब्द नय वर्तमान काल के वाचक शब्द के साथ सम्बन्ध होने के कारण अतीत काल के सम्बन्धी फल से भेद मानता है । यह भेद वस्तु के स्वरूप के कारण नहीं किन्तु शब्द के कारण प्रतीत होता है इसलिए शब्दनय को अर्थात् सांप्रतनय को शब्द नय कहा जाता है ।

समभिरूढ नय भी पर्याय शब्द के भेद से अर्थ में भेद मानता है, वास्तव में जो अभेद है उसकी उपेक्षा करता है । जब शासन के द्वारा ऐश्वर्य का प्रकाशन करे तब इन्द्र कहना चाहिए, शक्र अथवा पुरंदर नहीं । समभिरूढ नय का यह अभिप्राय वाच्य-वाचक भाव के साथ सम्बन्ध रखता है । अर्थ के पारमार्थिक स्वरूप के साथ इसका सम्बन्ध नहीं है । एवंभूत भी जब गाय चल रही हो तभी उसको गो शब्द से वाच्य समझता है । जब गाय बैठी हो और सो रही हो तब गो शब्द को उसका वाचक नहीं मानता । इस प्रकार वाच्य-वाचक भाव के साथ एवंभूत का भी सम्बन्ध है - अतः यह भी शब्द नय कहा जाता है । नैगम आदि का वाच्य-वाचक भाव के साथ सम्बन्ध नहीं है, इसलिए वे अर्थ नय कहे जाते हैं । शब्द के द्वारा वस्तु के स्वरूप को प्रकट करने पर ही आश्रित होने के कारण शब्दो के साथ सम्बन्ध तो अर्थ नयों का भी कम नहीं है। वे भी जिस ज्ञान को उत्पन्न करते हैं वह भी शब्द से उत्पन्न होनेवाला है ।

83. एतेषु चत्वारः प्रथमे, अर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थनयाः ।।७-४४।। शेषास्तु त्रयः शब्दवाच्यार्थगोचरतया शब्दनयाः ।।७-४५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्पित-अनर्पित नय : अब नय के अर्पित और अनर्पित ऐसे दो भेद बताते है ।

तथा विशेषग्राहिणोऽर्पितनयाः सामान्यग्राहिणश्चानर्पित नयाः । तत्रानर्पितनयमते तुल्यमेवरूपं सर्वेषां सिद्धानां भगवताम् । अर्पितनयमते त्वेकद्वित्र्यादिसमयसिद्धाः स्वसमानसमयसिद्धैरैव तुल्या ।। (जैनतर्कभाषाः)

अर्थ : इसी प्रकार विशेष का ग्रहण करनेवाले अर्पित नय कहे जाते हैं और सामान्य के ग्रहण करनेवाले नय अनर्पित नय कहे जाते हैं । अनर्पित नय के मत में सभी सिद्ध भगवानों का एक समान रूप है । अर्पित नय के मत में तो एक समय सिद्ध, द्विसमय सिद्ध और त्रिसमय सिद्ध अपने समान समय के सिद्धों के ही तुल्य हैं ।

कहने का आशय यह है कि, अनर्पित नय केवल साधारण धर्म का ग्रहण करता है । इसलिए उसके अनुसार सभी सिद्धों का सामान्य रूप है । सिद्धों में परस्पर भेद होने पर भी सिद्धत्व साधारण धर्म है, उसके कारण समस्त सिद्ध समान हैं । विशेष के प्रकाशक अर्पित नय के अनुसार जितने एक समय सिद्ध हैं वे सब परस्पर समान हैं । उनमें एकसमयसिद्धत्व सामान्य धर्म है । यह सामान्य धर्म द्विसमय सिद्ध अथवा त्रिसमय सिद्ध आदि सिद्धों में नहीं है इसलिए विशेष है । इसके कारण एक समय सिद्धों की ही परस्पर समानता है । इसी प्रकार द्विसमय सिद्धों की द्विसमयसिद्धत्व रूप सामान्य धर्म के कारण परस्पर समानता है और त्रिसमय सिद्ध आदि के साथ समानता नहीं है । अन्य सिद्धों में भी इसी प्रकार की समानता समझ लेनी चाहिए ।

व्यवहारनय-निश्चयनय : अब नय के व्यवहार और निश्चय ऐसे दो प्रकार बताते हैं -

तथा लोकप्रसिद्धार्थानुवादपरो व्यवहारनयः, यथा पञ्चस्वपि वर्णेषु भ्रमरे सत्सु श्यामो भ्रमर इति व्यपदेशः। तात्त्विकार्थाभ्युपगमपरस्तु निश्चयः, स पुनर्मन्यते पञ्चवर्णो भ्रमरः, बादरस्कन्धत्वेन तच्छरीरस्य पञ्चवर्णपुद्गलैर्निष्पन्नत्वात् शुक्लादीनां च न्यग्भूतत्वेनानुपलक्षणात् । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : इसी प्रकार **लोक में जो अर्थ प्रसिद्ध है उसके कहने में तत्पर नय व्यवहार नय कहा जाता है,** जिस प्रकार भ्रमर में पांचों वर्णो के होने पर भी 'भ्रमर श्याम हैं' इस प्रकार का व्यवहार होता है । **तात्विक अर्थ को स्वीकार करने में तत्पर निश्चय नय होता है** । वह भ्रमर में पांचों वर्णों को स्वीकार करता है । बादर स्कंध होने के कारण उसका शरीर पांच वर्णो के पुद्गलों से उत्पन्न हुआ है, शुक्ल आदि वर्ण न्यून होने से देखने में नहीं आते ।

कहने का फलितार्थ यह है कि, लोक में जिस प्रकार व्यवहार होता है उसको लेकर व्यवहार नय वस्तु का प्रतिपादन करता है । भ्रमर को लोग श्याम कहते हैं, इसलिए व्यवहार नय भी उसको श्याम कहता है, परन्तु भ्रमर का शरीर स्थूल है इसलिए पुद्गलों से उत्पन्न है । पुद्गल में पांचों वर्ण हैं इसलिए भ्रमर के शरीर में भी पांचों वर्ण हैं । श्याम वर्ण के द्वारा अन्य वर्णो का अभिभव हो गया है इसलिए वे विद्यमान होने पर भी नहीं दिखाई देते । आकाश में नक्षत्र होते हैं पर दिन में सूर्य के प्रकाश से दब जाने के कारण नहीं दिखाई देते । दिन में नक्षत्रों के समान भ्रमर के शरीर में शुक्ल आदि वर्ण विद्यमान हैं। निश्चय नय युक्ति के द्वारा भ्रमर के शरीर को पांच वर्णों से युक्त समझता है । दूसरी दृष्टि से व्यवहार-निश्चय नय का स्वरूप बताते हैं

अथवा एकनयमतार्थग्राही व्यवहारः, सर्व नयमतार्थग्राही च निश्चयः । न चैवं निश्चयस्य प्रमाणत्वेन नयत्वव्याघातः, सर्वनयमतस्यापि स्वार्थस्य तेन प्राधान्याभ्युपगमात् । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : अथवा एक नय के अभिमत अर्थ को जो ग्रहण करता है वह व्यवहार नय है । समस्त नयों के द्वारा अभिमत अर्थ को जो स्वीकार करता है वह निश्चय नय है । इसके कारण निश्चय प्रमाण नहीं हो जाता और उसका नयभाव दूर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होता । निश्चय नय को जो अर्थ स्वीकृत है उसको वह प्रधान रूप से मानता है । समस्त नय जिस अर्थ को मानते हैं यदि वह उसको अभिमत नहीं, तो वह उसका प्रतिपादन नहीं करता । निश्चय अपने मत के अनुसार अर्थ को प्रधान समझता है । सब नय जो कुछ कहते हैं उसकी उपेक्षा भी निश्चय कर सकता है । अतः वह प्रमाण नहीं है ।

ज्ञाननय-क्रियानय : अब नय के ज्ञाननय-क्रियानय ऐसे दो प्रकार का प्रतिपादन करते है -

तथा ज्ञानमात्रप्राधान्याभ्युपगमपरा ज्ञाननयाः । क्रियामात्रप्राधान्याभ्युपगमपराश्च क्रियानयाः । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : इसी प्रकार ज्ञान की ही प्रधानता को स्वीकार करनेवाले नय **ज्ञाननय** कहे जाते हैं । जो केवल क्रिया को प्रधान मानते हैं वे **क्रियानय** कहे जाते हैं ।

अब आध्यात्मिक दृष्टिकोण से दोंनो नय की मान्यता बताते हैं -

तत्रर्जुसूत्रादयश्चत्वारो नयाश्चारित्रलक्षणायाः क्रियाया एव प्राधान्यमभ्युपगच्छन्ति, तस्या एव मोक्षं प्रत्यव्यवहितकारणत्वात् ।[84](जैनतर्कभाषा)

अर्थ : इसमें ऋजुसूत्र आदि चार नय चारित्ररूप क्रिया को ही प्रधान मानते हैं । क्योंकि, चारित्र रूप क्रिया ही मोक्ष का व्यवधान से रहित कारण है ।

कहने आशय यह है कि, जिस कारण के अनन्तर कार्य की उत्पत्ति हो उसको कार्य का कारण मानना चाहिए । जो कारण परम्परा सम्बन्ध से कार्य को उत्पन्न करते हैं वे प्रधान रूप से कारण नहीं हैं । क्षायिक परिपूर्ण ज्ञान और क्षायिक दर्शन के प्राप्त होने पर भी उसी क्षण में मोक्ष नहीं होता । सर्वसंवररूप चारित्र के मिलने पर ही मोक्ष होता है, इसलिए चारित्ररूप क्रिया को मोक्ष का कारण मानना चाहिए । यह मत ऋजुसूत्र आदि चार नयों का है । ज्ञान और दर्शन के बिना सर्वसंवररूप चारित्र की प्राप्ति नहीं होती । परन्तु इतने से उनको मोक्ष का कारण नहीं माना जा सकता, वे दोनों तो सर्वसंवर के कारण हैं। यदि उनको मोक्ष का कारण कहा जाय तो ज्ञान और दर्शन के अनन्तर ही मोक्ष हो जाना चाहिए। यदि सर्वसंवररूप चारित्र की प्राप्ति में सहायक होने से ज्ञान और दर्शन को चारित्र के समान ही कारण कहा जाय तो कोई भी अर्थ ऐसा नहीं रहेगा कि जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र का कारण न हो । ज्ञान की उत्पत्ति में विषय कारण है । संयमी के ज्ञान का विषय समस्त संसार है इसलिए संसार के समस्त अर्थों को ज्ञान का कारण मानना पडेगा । जीव और अजीव

84.क्रियानयः क्रियां ब्रूते ज्ञानं ज्ञाननयः पुनः । मोक्षस्य कारणं तत्र भूयस्यो युक्तयोर्द्वयोः ।।१२८।। विज्ञप्तिः फलदा पुंसां न क्रिया फलदा मता । मिथ्याज्ञानात्प्रवृत्तस्य फलसंवाददर्शनात् ।।१२९।। क्रियैव फलदा पुंसां न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ।।१३०।। ज्ञानमेव शिवस्याध्वा मिथ्यासंस्कारनाशनात् । क्रियामात्रं त्वभव्यानामपि नो दुर्लभं भवेत् ।।१३१।। तंडुलस्य यथा वर्म यथा ताम्रस्य कालिका । नश्यति क्रियया मुत्र पुरुषस्य तथा मलः ।।१३२।। बठरश्च तपस्वी च शूरश्चाप्यकृतव्रणः । मद्यपा स्त्री सती चेति राजन्न श्रद्दधाम्यहम् ।।१३३।। ज्ञानवान् शीलहीनश्च त्यागवान् धनसंग्रही । गुणवान् भाग्यहीनश्च राजन्न श्रद्दधाम्यहम् ।।१३४।। इति युक्तिवशात्प्राहुरुभयोस्तुल्यकक्षताम् । मंत्रेऽप्याह्वानं देवादेः क्रियायुग्ज्ञानमिष्टकृत् ।।१३५।। ज्ञानं तुर्ये गुणस्थाने क्षायोपशमिकं भवेत् । अपेक्षते फले षष्ठगुणस्थानजसंयमम् ।।१३६।। प्रायः संभवतः सर्वगतिषु ज्ञानदर्शने । तत्प्रमादो न कर्तव्यो ज्ञाने चारित्रवर्जिते ।।१३७।। क्षायिकं केवलज्ञानमपि मुक्तिं ददाति न । तावन्नाविर्भवेद्यावच्छैलेश्यां शुद्धसंयमः ।।१३८।। व्यवहारे तपोज्ञानसंयमा मुक्तिहेतवः । एकः शब्दर्जुसूत्रेषु संयमो मोक्षकारणम् ।।१३९।। संग्रहस्तु नयः प्राह जीवो मुक्तः सदा शिवः । अनवाप्तिभ्रमात्कंठस्वर्णन्यायात् क्रिया पुनः ।।१४०।। अनन्तमर्जितं ज्ञानं त्यक्ताश्चानन्तविभ्रमाः । न चित्रं कलयाप्यात्मा हीनोऽभूदधिकोऽपि वा ।।१४१।। धावन्तोऽपि नयाः सर्वो स्युर्भावे कृतविश्रमाः । चारित्रगुणलीनः स्यादिति सर्वनयाश्रितः ।।१४२।। **(नयोपदेश)**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का स्वरूप सम्यग् दर्शन का विषय है इसलिए वह भी सम्यग् दर्शन का कारण हो जायगा, प्रवृत्ति और निवृत्ति भी अर्थों में होती है इसलिए समस्त अर्थों को संयमी की प्रवृत्ति और निवृत्ति में भी कारण मानना पडेगा । इतना ही नहीं, परंपरा से उपकारक होने के कारण यदि ज्ञान और दर्शन को मोक्ष का कारण कहा जाय तो शरीर, माता, पिता, वस्त्र, भोजन, औषध आदि को भी मोक्ष का कारण मानना होगा । इस दशा में ज्ञान, दर्शन और चारित्र को ही मोक्ष का कारण नहीं कहा जा सकेगा । ज्ञान आदि तीन मोक्ष के लिए अत्यन्त निकटवर्ती कारण हैं इसलिए वे मोक्ष का उपाय कहे जाते हैं। देह आदि परंपरा से उनकी उत्पत्ति में सहायक हैं इसलिए उनको मोक्ष का उपाय न कहा जाय, तो चारित्र को ही मोक्ष का कारण कहना चाहिए । चारित्र के अनन्तर विना व्यवधान से मोक्ष होता है । **नैगमादि तीन नयों का अभिप्राय बताते हुए कहते है कि,**

नैगमसंग्रहव्यवहारास्तु यद्यपि चारित्रश्रुतसम्यक्त्वानां त्रयाणामपि मोक्षकारणत्वमिच्छन्ति, तथापि व्यस्तानामेव, नतु समस्तानाम्, एतन्मते ज्ञानादित्रयादेव मोक्ष इत्यनियमात्, अन्यथा नयत्वहानिप्रसङ्गात्तु, समुदयवादस्य स्थितपक्षत्वादिति द्रष्टव्यम् । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : नैगम, संग्रह और व्यवहार यद्यपि चारित्र, श्रुतज्ञान और सम्यक्त्व, इन तीनों को मोक्ष का कारण मानते हैं, तो भी प्रत्येक को अलग अलग कारण कहते हैं, मिलित रूप में तीनों को कारण नहीं कहते । इन नयों के अनुसार ज्ञान आदि तीन से ही मोक्ष है, इस प्रकार का कोई नियम नहीं है । यदि ये तीनों को मोक्ष का कारण मान ले तो इन में नयभाव ही नहीं रहेगा । **मिलितरूप में ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों मोक्ष के कारण हैं - यह सिद्धांतपक्ष है ।**

कहने का मतलब यह है कि, कुछ लोग भिन्न नयों के अनुसार तप आदि कर्मों को मोक्ष का कारण मानते हैं और कुछ लोग ज्ञान को। इनमें से जो लोग यम नियम आदि कर्मों को मोक्ष का कारण मानते हैं उनका कहना है कि - कर्म क्षणिक होते हैं । जिस काल में फल उत्पन्न होता है तब तक वे नहीं रहते । क्षणिक होने पर भी वे फल के उपादान कारण में इस प्रकार का संस्कार उत्पन्न करते हैं जो चिरकाल तक रह सकता है और नियत काल में फल उत्पन्न करता है, जो बीज बोता है उसको फल चिरकाल के बीत जाने पर मिलता है । किसान खेत में पानी देता है, सूर्य की धूप का उचित परिणाम में खेत के साथ सम्बन्ध हो इसका प्रबन्ध करता है । पवन का भी खेत के साथ सम्बन्ध होता रहता है । यदि जल तेज और पवन आदि की क्रिया न हो तो खेत में बीज अंकुर को उत्पन्न नहीं कर सकता । जल आदि के कर्म शीघ्र नष्ट हो जाते है परन्तु वे भूमि में पडे बीज के अन्दर संस्कार को उत्पन्न करते है । वह संस्कार बीज में स्थिर हो जाता है और किसी काल में अंकुर को उत्पन्न करता है । यदि संस्कार की उत्पत्ति न हो तो जल आदि की क्रियाओं के नष्ट होने के कारण चिरकाल के पीछे अंकुर न उत्पन्न हो सके । जल आदि के कर्मों के समान यम नियम आदि कर्म भी क्षणिक हैं । कोई भी कर्म हो, भूतों में हो वा आत्मा में, क्षणिक ही होता है । यम आदि कर्म भी स्वयं नष्ट होकर आत्मा में फल को उत्पन्न करते हैं । आत्मा, शरीर, वाणी और मन से अच्छे बुरे कर्म करता है । कर्म अपने स्वभाव के अनुसार संस्कार उत्पन्न करके कभी शीघ्र और कभी देर से सुख-दुःख रूप फल देते हैं । अनेक जन्मों में सुख-दुःख रूप फल को देनेवाले दान आदि कर्म जिस प्रकार धर्म और अधर्म नामक संस्कार को उत्पन्न करके फल देते हैं इसी प्रकार यम नियम आदि मोक्ष को उत्पन्न करने के लिए आत्मा में अदृष्ट संस्कार को उत्पन्न करते हैं । आत्मा का तत्त्वज्ञान आत्मा के विषय में मिथ्याज्ञान को दूर करके मोक्ष को प्रकट करता हैं । इस प्रकार यम आदि कर्म अदृष्ट को उत्पन्न करके और तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान का नाश करके मोक्ष का कारण हैं । दोनों समान रूप से प्रधान कारण हैं । **श्री भास्कराचार्य आदि इस मत के माननेवाले हैं ।**

जो लोग ज्ञान को मोक्ष का प्रधान कारण मानते हैं वे कहते हैं - आत्मा के विषय में मिथ्याज्ञान संसार का मूल कारण है । उसका नाश तत्त्वज्ञान से हो सकता है । धर्म मिथ्याज्ञान के विनाश में असमर्थ है । जो कर्म दुःखरूप फल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देते हैं वे तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिबंधक हैं । मोक्ष का अभिलाषी पुरुष यम आदि कर्मो के द्वारा तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक पापों को दूर करता है । इस प्रकार कर्म तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में साक्षात् कारण नहीं है किन्तु परंपरा सम्बन्ध से कारण है, अतः तत्त्वज्ञान मोक्ष का प्रधान कारण है और कर्म गौण कारण है । प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक का अभाव सहकारी कारण हे । जो कारण प्रतिबन्धक को दूर करते हैं वे प्रतिबन्धक की निवृत्ति में मुख्य रूप से कारण होते हैं । प्रतिबन्धकों के नष्ट होने पर जो कार्य उत्पन्न होता है उसमें वे कारण नहीं होते । प्रतिबन्धक पाप के नष्ट होने पर तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है और फिर आत्मा मोक्ष को प्राप्त करता है, इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का मुख्य कारण है, कर्म नहीं । **श्री उदयनाचार्य आदि नैयायिको का यह मत है ।**

जैन मत के अनुसार ज्ञान और कर्म मोक्ष के प्रति समान रूप से कारण हैं, गौण-मुख्य भाव से नहीं । दुःख के साधन का नाश मोक्ष है । दुःख के प्रधान साधन कर्म हैं जब तक कर्म का नाश नहीं होता तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। क्षायिक केवलज्ञान और यथाख्यात चारित्र आदि कर्म (क्रिया) मोक्ष के कारण हैं । तत्त्वज्ञान केवल मिथ्याज्ञान के नाश में कारण नहीं है किन्तु सकल कर्मों के नाश में अथवा समस्त कर्मो के नाश के साथ समनियत भाव से रहनेवाले क्षायिक सुख में कारण है, अतः कर्म और ज्ञान दोनों प्रधानरूप से कारण हैं । प्रतिबन्धक पापों की निवृत्ति में कर्मो को कारण मानकर यदि उनको गौण कहा जाय तो तत्त्वज्ञान को भी गौण कहना पडेगा । जिनको केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है वे भी जब तक भवोपग्राही चार कर्मों को नष्ट नहीं कर लेते तब तक उस क्षण मुक्ति को नहीं प्राप्त करते । मुक्ति के प्रतिबन्धक कर्मों को तत्त्वज्ञान भी नष्ट करता है । आगम, केवली के ज्ञान सहित वीर्य को कर्म के नाश में कारण कहते हैं इसलिए तत्त्वज्ञान भी कर्म नाश में कारण है । इस दशा में कर्मों की निवृत्ति करनेवाला तत्त्वज्ञान गौण कारण हो जायेगा और कर्म मोक्ष का प्रधान कारण हो जायेगा । आगम कहता है, वेदनीय कर्म को अत्यन्त अधिक जानकर और आयुकर्म को थोडा जानकर कर्म का प्रतिलेखन करने के लिए केवली समुद्घात करते हैं । ज्ञान और संयम से युक्त तप मोक्ष का कारण है । यह तप जब बारबार किया जाता है तब क्रिया से शून्य निवृत्ति रहित ध्यान होता है यह ध्यान मोक्ष का साक्षात् कारण है इस ध्यान से भवोपग्राही कर्म नष्ट होते हैं । इस ध्यान में केवलज्ञान ही नहीं है कर्म भी है । चारित्र के साथ होने पर जिस प्रकार सम्यग् ज्ञान का सम्यक्त्व होता है इसी प्रकार ज्ञान के साथ होने पर चारित्र का सम्यक्त्व होता है । इस विषय में पंगु और अन्ध का दृष्टांत प्रसिद्ध है । पंगु ज्ञान वाला है और जहाँ जाना है वहाँ पहुँचाने वाले मार्ग को देखता भी है परन्तु चल नहीं सकता इसलिए वह अकेला नहीं पहुँच सकता । अन्धा पुरुष चल सकता है परन्तु मार्ग को न देखने के कारण विवक्षित स्थान पर नहीं पहुँच सकता । दोनों मिलकर परस्पर की सहायता से नियत स्थान पर पहुँच सकते हैं। ज्ञान और क्रिया भी दोनों मिलकर मोक्ष के कारण हैं । जब तक शैलेशी दशा में शुद्ध संयम नहीं प्रकट होता तब तक क्षायिक केवलज्ञान मोक्ष को नहीं दे सकता । अतः ज्ञान और कर्म दोनों मोक्ष के प्रधान कारण हैं, यह सिद्धान्तपक्ष है । नैगम आदि नय शुद्धज्ञान की अथवा शुद्धक्रिया की प्रधानता मानते हैं, ज्ञान आदि तीनों की नहीं, यह सिद्धान्त से नयों का भेद है । इस विषय में अधिक स्पष्टतायें "नयोपदेश" ग्रंथ से जान लेना ।

नयों के न्यूनाधिक विषयों का विचार :-

कः पुनरत्र बहुविषयो नयः को वाऽल्पविषयः, इति चेत् (जैनतर्कभाषा)

अर्थ-इन नयों में किस नय का विषय अधिक है और किस का न्यून है ?।

पूर्वोक्त प्रश्न का संक्षिप्त में उत्तर देते हुए प्रमाणनयतत्त्वालोक में कहा है कि,

पूर्वः पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः परः परस्तु परिमितविषयः ।।७-४६।। (प्र.न.तत्त्वा.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ : पूर्व पूर्व के नय के विषय प्रचुर है, उत्तर-उत्तर के नय के विषय परिमित है ।

अब क्रमशः नयों के विषय की अधिकता-अल्पता का विवेचन किया जाता है -

सन्मात्रगोचरात्संग्रहात्तावत्रैगमो बहुविषयो भावाभावभूमिकत्वात् ।[85] (जैनतर्कभाषा)

अर्थ : संग्रह नय का विषय केवल सत् है और नैगम का विषय भाव और अभाव दोनों हैं । इसलिए नैगम, संग्रह की अपेक्षा अधिक विषयवाला है ।

कहने का मतलब यह है कि, *अनेक धर्मों का गौण-मुख्य भाव से प्रतिपादन करनेवाला अभिप्राय नैगम है ।* इस लक्षण के अनुसार नैगम के जितने उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं उन सब में केवल भावात्मक अर्थों का निरूपण है । किसी अभाव का प्रतिपादन नहीं है ।

नैगम का इससे भिन्न अन्य लक्षण इस प्रकार है । **'अनिष्पन्नार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः'** (स्याद्वाद रत्नाकर परि. ७, सूत्र-१०) ।

जो अर्थ विद्यमान नहीं है उसके संकल्प को प्रकाशित करनेवाला अभिप्राय नैगम है । कुल्हाडा लेकर कोई पुरुष जा रहा हो और अन्य कोई उसको पूछे - 'किस लिए आप जा रहे हैं ?' तो वह उत्तर में कहता है - 'मैं प्रस्थक के लिए जा रहा हुँ ।' यहाँ पर प्रस्थक विद्यमान नहीं है, जानेवाला कुल्हाडे से लकडी को काटकर प्रस्थक की रचना करेगा इसलिए प्रस्थक शब्द का प्रयोग करता है । **संकल्प के विषय विद्यमान और अविद्यमान दोनों प्रकार के अर्थ हो सकते हैं ।** यहाँ पर प्रस्थक अविद्यमान है और संकल्प का विषय है इसलिए यहाँ पर नैगम नय है । **संग्रह नय जीव अजीव आदि जिन अर्थों का संग्रह करता है, वे सब भावात्मक होते हैं । इस प्रकार संग्रह का विषय केवल भाव है और नैगम के विषय-भाव और अभाव दोनों हैं, अतः नैगम का विषय संग्रह से अधिक है । इस वस्तु का निरूपण श्री वादिदेवसूरिजीने स्याद्वादरत्नाकर में दिया है ।** अब संग्रह और व्यवहार नय के विषय के बारे में बताते है -

सद्विशेषप्रकाशकाद्-व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद्बहुविषयः ।[86] (जैनतर्कभाषा)

अर्थ : सत् वस्तु के भेदों का प्रकाशक व्यवहार नय है और संग्रह समस्त सत् वस्तुओं के समूह का प्रकाशक है, इसलिए संग्रह का विषय व्यवहार से बहुत है ।

कहने का आशय यह है कि, व्यवहार नय जब किसी भाव के अवान्तर भेदों को प्रकाशित करता है तो नियत जाति के ही भेदों को प्रकाशित करता है । संग्रह नय किसी विशेष जाति के अर्थों को नहीं प्रकाशित करता किन्तु व्यापक सामान्य धर्म के अनुसार अधिक अर्थों का संग्रह करता है । पृथ्वीत्व सामान्य धर्म से ईंट, पत्थर, घट आदि का ज्ञान संग्रह नय के अनुसार है । यदि पाषाणत्व धर्म को लेकर समस्त पाषाणों का प्रतिपादन किया जाय तो पाषाणत्व के द्वारा घट आदि का संग्रह नहीं हो सकता । पृथिवीत्व के द्वारा ईंट पत्थर, घट आदि समस्त भेदों का प्रतिपादन है इसलिए उसका विषय अधिक है और वह संग्रह नय है । पाषाणत्व के द्वारा केवल पत्थरों को लिया जा सकता है, घट आदि को नहीं, इसलिए उसका विषय अल्प है और वह व्यवहार नय है । अब व्यवहार नय से ऋजुसूत्र नय के विषय अल्प है, वह बताते है,

---

85. नैगम एव संग्रहात्पूर्व इत्याहुः- **सन्मात्रगोचरात् संग्रहाद् नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः ।।७-४७।।**
संग्रहनयो हि सन्मात्रविषयत्वाद् भावावगाह्येव, नैगमस्तु भावाभावविषयत्वादुभयावगाहीति बहुविषयः ।।४७।।

86. **संग्रहाद् व्यवहारो बहुविषय इति विपर्ययमपास्यन्ति - सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद् बहुविषयः ।।७-४८।।** व्यवहारो हि कतिपयान् सत्त्वविशिष्टान् पदार्थान् प्रकाशयतीत्यल्पविषयः, संग्रहस्तु समस्तं सद्विशिष्टं वस्तु प्रकाशयतीति भूमविषयः।।४८।। (प्र.न.तत्त्वा.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमानविषयावलम्बिन ऋजुसूत्रात्कालत्रितयवर्त्यर्थजातावलम्बी व्यवहारो बहुविषयः ।[87] (जैनतर्कभाषा)

अर्थ : ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान काल के विषय का ग्रहण करता है और व्यवहार तीन काल के अर्थों का प्रतिपादन करता है, इसलिए व्यवहार का विषय ऋजुसूत्र से अधिक है ।

कहने का मतलब यह है कि, लोगों का व्यवहार किसी एक काल को लेकर नहीं चल सकता । भूतकाल में जिन अर्थों के द्वारा सुख दुःख का अनुभव हो चुका है उन अर्थों को वर्तमान काल में देखकर अनुमान होता है कि, ये अर्थ पहले जिस प्रकार से सुख दुःख उत्पन्न करते थे इसी प्रकार अब भी और आगामी काल में भी सुखादि उत्पन्न कर सकते हैं । यह समझकर लोग सर्व प्रकार का व्यवहार करते हैं । यदि भूतकाल के साथ अर्थ का सम्बन्ध किसी प्रकार से भी न माना जाय तो कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता । केवल वर्तमानकाल में अर्थ की सत्ता मानी जाय तो भोजन से तृप्ति होगी और पानी पीने से प्यास दूर होगी इतना निश्चय भी नहीं हो सकता । भूतकाल में भोजन आदि के द्वारा तृप्ति का अनुभव करने के कारण लोग भूख-प्यास के होने पर भोजन आदि को लेते हैं । आगामी काल में इन वस्तुओं से सुख की प्राप्ति और दुःख दूर हो सकेगा यह समझ कर वर्तमान में धन-वस्त्र आदि का संचय किया जाता है । इस प्रकार व्यवहार का तीन कालों के अर्थों के साथ सम्बन्ध है ।

दूसरी ओर ऋजुसूत्र वर्तमानकाल में अर्थ का जो स्वरूप है उसका प्रधान रूप से आश्रय लेता है । अर्थ के भूत और भावी स्वरूप की उपेक्षा करता है । देश और काल के भेद से अर्थ कभी सुख और कभी दुःख के उत्पादक बन जाते हैं। भूतकाल की अवस्था को प्रधान रूप से ध्यान में लाया जाय तो मनुष्य सुख चाहता हुआ भी आपत्ति में गिर जायेगा। विशेष प्रकार के काल में ऋजुसूत्र नय के अनुसार वर्तमान का विचार मुख्य रूप से करना पडता है । व्यवहार और ऋजुसूत्र का विरोध तब नहीं रहता जब भिन्न अपेक्षाओं का विचार किया जाता है । **तीन कालों के अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से व्यवहार का विषय बहुत है और केवल वर्तमान के साथ प्रधानरूप से सम्बन्ध होने के कारण ऋजुसूत्र का विषय अल्प है ।** अब शब्दनय से ऋजुसूत्र नय के विषय बहुत है, वह स्पष्ट करते है -

कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदेशकाच्छब्दात्तद्विपरीतवेदक ऋजुसूत्रो बहुविषयः ।[88] (जैनतर्कभाषा)

अर्थ : काल आदि के भेद से पदार्थ को भिन्न माननेवाले शब्द नय की अपेक्षा से ऋजुसूत्र नय वस्तु के उस स्वरूप को प्रकाशित करता है जो शब्द नय का प्रतिकूल है इसलिए बहुत विषय वाला है ।

कहने का फलितार्थ यह है कि, ऋजुसूत्र वर्तमान काल के अर्थ का प्रधान रूप से निरूपण करता है परन्तु भूत और भावी काल के साथ सम्बन्ध की उपेक्षा करता है । वह काल के भेद से अर्थ को भिन्न नहीं मानता। इसके विपरीत शब्द नय, काल और कारक आदि के भेद से अर्थ में भेद मानता है । एक ही वृक्ष अतीतकाल के साथ जब सम्बन्ध रखता है तब वह भिन्न है और जब वह वर्तमान में है तब वह वृक्ष वही नहीं है जो भूतकाल में था। काल ही नहीं कारक आदि के भेद से भी शब्दनय अर्थ को भिन्न मानता है इसलिए शब्द नय का विषय अल्प है और तीन काल के साथ रहेनवाले अर्थों का प्रकाशक होने के कारण ऋजुसूत्र का विषय बहुत है । इस विषय की अधिक स्पष्टतायें करते हुए बताते है कि,

---

87. **व्यवहारात् ऋजुसूत्रो बहुविषय इति विपर्यासं निरस्यन्ति-वर्तमानविषयादृजुसूत्राद् व्यवहारस्त्रिकालविषयावलम्बित्वादनल्पार्थः ।।७-४९।।**
ऋजुसूत्रो वर्तमानक्षणस्थायिनः पदार्थान् प्रकाशयतीत्यल्पविषयः, व्यवहारस्तु कालत्रयवर्तिपदार्थजातमवलम्बत इति बहुविषयः ।।४९।। (प्र.न.तत्त्वा.)

88. **ऋजुसूत्राच्छब्दो बहुविषय इत्याशङ्कामपसारयन्ति - कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दादृजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वाद् महार्थः ।।७-५०।।**
शब्दनयो हि कालादिभेदेन पदार्थभेदमङ्गीकरोतीत्यल्पविषयः, ऋजुसूत्रस्तु कालादिभेदेष्वभिन्नमर्थं प्रदर्शयतीत्यनल्पार्थः ।।५०।। (प्र.न.तत्त्वा.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न केवलं कालादिभेदेनैवर्जुसूत्रादल्पार्थता शब्दस्य, किन्तु भावघटस्यापि सद्भावासद्भावादिनाऽर्पितस्य स्याद् घटः स्यादघट इत्यादिभङ्गपरिकरितस्य तेनाभ्युपगमात् तस्यर्जुसूत्राद् विशेषिततरत्वोपदेशात् । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : काल आदि के भेद से अर्थ में भेद मानने के कारण ही शब्दनय, ऋजुसूत्रनय से अल्प विषयवाला नहीं है किन्तु सद्भाव और असद्भाव की विवक्षा से कथंचित् घट और कथंचित् अघट इत्यादि भङ्गों के साथ भाव घट को मानने के कारण भी अल्प विषय वाला है, इस रीति से शब्द नय ऋजुसूत्र की अपेक्षा अधिक विशिष्ट अर्थात् अधिक संकुचित अर्थ का प्रतिपादन करता है ।

कहने का फलितार्थ यह है कि, शब्द नय के अनुसार शब्द का अर्थ प्रधान है, इस कारण शब्द के द्वारा प्रतीत होनेवाला अर्थ जिस वस्तु में हो सके उसको शब्द नय वास्तव में सत्य मानता है । घट् धातु से घट नाम की उत्पत्ति है। घट् धातु का अर्थ चेष्टा है । जल का लाना आदि क्रिया यहाँ पर चेष्टा है । जिस के द्वारा जल लाया जा सकता है वह मिट्टी का बना घडा भाव घट है और वही शब्द नय के अनुसार सत्य है । नाम घट, स्थापना घट अथवा द्रव्य घट शब्दनय के अनुसार सत्य रूप से घट नहीं हैं । नाम आदि घटों से पानी नहीं लाया जा सकता । उन में घट शब्द का प्रयोग मुख्य नहीं है किन्तु गौण है।

इतना ही नहीं ऋजुसूत्र नय वर्तमान काल के जिस भाव घट को स्वीकार करता है उसको भी शब्द नय सात भंगों में से किसी एक भंग के द्वारा विशिष्टरूप में स्वीकार करता है । ऊंची ग्रीवा आदि स्वपर्यायों की अपेक्षा से जब सत् रूप में घट की विवक्षा होती है तब वह घट कहा जाता है । पट त्वचा को रक्षा करता है । इस पट पर्याय के द्वारा असत् रूप से विवक्षा के कारण घट अघट है । स्व और पर दोनों पर्यायों के साथ विवक्षा की जाय तो कोई शब्द घट को नहीं कह सकता, इसलिए अवक्तव्य हो जाता है । इसके अनन्तर इन तीनों भंगों के परस्पर सम्बन्ध से अन्य चार भंग भी बन जाते हैं । **जल लाने में सामर्थ्य रूप घट शब्द के मुख्य अर्थ को लेकर शब्द नय भाव घट में सात भंगों को स्वीकार करता है। परन्तु ऋजुसूत्र जल लाने आदि क्रिया के कारण भाव घट को सात भंगों के साथ नहीं मानता ।** ऋजुसूत्र का वर्तमान काल में घट का जो स्वरूप है उसी के साथ मुख्य रूप से सम्बन्ध है । शब्द के वाच्य अर्थ पर आश्रित सात भंगों के साथ जो स्वरूप है उसके विषय में ऋजुसूत्र का ध्यान नहीं है । इस रीति से शब्द नय का विषय बहुत संकुचित हो जाता है। ऋजुसूत्र के अनुसार जल लाने का सामर्थ्य न होने पर भी यदि घट के आकार की प्रतीति होती है तो घट शब्द का प्रयोग हो सकता है । इस दशा में ऋजुसूत्र के अनुसार जल का लाना आदि जो घट शब्द की वाच्य क्रिया है उसका आश्रय लेकर सात भंग नहीं हो सकते; अतः ऋजुसूत्र का विषय शब्द नय से बहुत अधिक है । अधिक स्पष्टता करते हुए कहते है कि,

यद्यपीदृशसम्पूर्णसप्तभङ्गपरिकरितं वस्तु स्याद्वादिन एव सङ्गिरन्ते, तथापि ऋजुसूत्रकृतैतदभ्युपगमापेक्षयाऽन्यतरभङ्गेन विशेषितप्रतिपत्तिरत्रादुष्टेत्यदोष इति वदन्ति । (जैनतर्कभाषा)

अर्थ : यद्यपि इस प्रकार सात भङ्गों से युक्त वस्तु को स्याद्वादी ही स्वीकार करते हैं तो भी ऋजुसूत्र के द्वारा इस वस्तु का जो स्वीकार किया जाता है उसकी अपेक्षा शब्द नय में किसी एक भङ्ग से विशिष्ट अर्थ की प्रतीति दोष से रहित है इसलिए इस विषय में कोई दोष नहीं है, इस प्रकार कहते हैं ।

कहने का आशय यह है कि, अर्थ के किसी एक धर्म का प्रतिपादन करना नय का मुख्य स्वरूप है । सातों भंगों के साथ प्रतिपादन करने पर अनेक धर्मों का निरूपण होने से शब्द नय स्याद्वाद हो जायेगा । स्याद्वाद प्रमाणरूप है। यदि शब्द नय सात भंगों से अर्थ का प्रतिपादन करे तो यह प्रमाण हो जाना चाहिए । नय का स्वरूप नहीं रहेना चाहिए । इस आशंका को दूर करने के लिए कहते हैं कि, यद्यपि स्याद्वादी सप्तभंगी को स्वीकार करते हैं और सप्तभंगी सात भंगों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के रूप में प्रमाण है **परन्तु सप्तभंगी का प्रमाणभाव नयभाव का विरोधी नहीं है । प्रत्येक भंग नयरूप है और सातों भंगों का समुदाय प्रमाणरूप है । समुदायी अर्थों का जो स्वरूप होता है वह उनके समुदायरूप में नष्ट नहीं होता** । वृक्षों का समुदाय वन कहा जाता है। वन रूप में होने पर भी प्रत्येक वृक्ष का वृक्षात्मक स्वरूप दूर नहीं होता। सप्तभंगी के रूप में प्रमाण होने पर भी एकएक भंग का नयभाव सर्वथा दूर नहीं होता । **वृक्ष और वन का स्वरूप जिस प्रकार परस्पर विरोधी नहीं है इसी प्रकार सप्तभंगीरूप स्याद्वाद नामक प्रमाण का नयों के साथ विरोध नहीं है** । शब्द नय के अनुसार शब्द के वाच्य अर्थ का आश्रय लेकर जो सप्तभंगी प्रकट होती है उसका कोई भी एक भंग जिस रूप में अर्थ का प्रतिपादन करता है वह रूप ऋजुसूत्र के अर्थ की अपेक्षा अधिक विशिष्ट होता है, इस तत्त्व में कोई दोष नहीं है । अब समभिरूढ से शब्दनय के विषय की अधिकता बताते हुए कहते है कि,

प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विषया (द्विपर्यया) न्यायित्वाद्बहुविषयः ।[89] **(जैनतर्कभाषा)**

अर्थ : पर्याय शब्दों के भेद से अर्थ में भेद माननेवाले समभिरूढ नय के द्वारा जो प्रतीत होता है उसके विपरीत विषय का प्रतिपादक होने के कारण शब्द समभिरूढ की अपेक्षा अधिक विषयवाला है ।

यहाँ कहने का आशय यह है कि, शब्द नय के अनुसार इन्द्र, शक्र और पुरन्दर आदि शब्द भिन्न भिन्न पर्याय हैं परन्तु इन्द्र एक अर्थ है । अनेक पर्याय शब्द, शब्द नय के विषय हैं । समभिरूढ के अनुसार इन्द्र को शक्र नहीं कह सकते और शक्र को पुरन्दर नहीं कह सकते । **शब्द नय के अनुसार एक इन्द्र के अनेक धर्मों का प्रतिपादन भिन्न पर्याय करते हैं । समभिरूढ के अनुसार कोई भी एक शब्द इन्द्र के अनेक धर्मों का प्रतिपादन नहीं करता** । प्रत्येक पर्याय एक एक धर्म को ही कहता है । इसलिए समभिरूढ का विषय न्यून है और शब्द का विषय अधिक है । अब एवंभूत से समभिरूढ की विषयाधिकता बताते हुए कहते है कि,

प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवम्भूतात्समभिरूढः तदन्यथार्थस्थापकत्वाद्बहुविषयः ।[90] **(जैनतर्कभाषा)**

अर्थ : क्रिया के भेद से अर्थ में भेद माननेवाले एवंभूत की अपेक्षा समभिरूढ का विषय अधिक है । वह एवंभूत के विरोधी अर्थ का प्रतिपादक है ।

कहने का मतलब यह है कि, जब गौ चल रही हो तभी एवंभूत नय के अनुसार गौ कही जा सकती है । **'जो जाती है वह गौ है'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार एवंभूत नय समझता है, गौ कहलाने के लिए गति का होना आवश्यक है । इस प्रकार चलती गौ ही गौ शब्द का वाच्य हो सकती है, बैठी अथवा सोई हुई नहीं । समभिरूढ नय के अनुसार जिस प्रकार चलती हुई गौ, गौ कही जाती है इसी प्रकार सोई वा बैठी गौ भी गौ शब्द का वाच्य है । इस रीति से समभिरूढ नय का विषय एवंभूत की अपेक्षा अधिक है । इसी प्रकार एवंभूत नय जब राजा छत्र चामर आदि की शोभा से युक्त होता है, तभी उसको राजा पद से कहने योग्य मानता है । छत्र आदि के द्वारा जब शोभा न हो रही हो तब वह राजा नहीं कहा जा सकता । परन्तु समभिरूढ नय छत्र आदि के साथ और छत्र आदि के बिना भी 'राज' पद का व्यवहार करता है । यहाँ भी समभिरूढ नय का अधिक विषय स्पष्ट है ।

---

89. **शब्दात्समभिरूढो महार्थ इत्यारेकां पराकुर्वन्ति - प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विपर्ययानुयायित्वात् प्रभूतविषयः ।।७-५१।।** पर्यायशब्दानां व्युत्पत्तिभेदेन भिन्नार्थतामभ्युपगच्छतीति समभिरूढोऽल्पविषयः, शब्दनयस्तु पर्यायशब्दानां व्युत्पत्तिभेदेनाप्यभिन्नार्थतामङ्गीकरोतीति बहुविषयः ।।५१।। **(प्र.न.तत्त्वा०)** 90. **समभिरूढादेवंभूतो बहुविषय इत्यप्याकूतं प्रतिक्षिपन्ति - प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवंभूतात् समभिरूढस्तदन्यार्थस्थापकत्वाद् महागोचरः ।।७-५२।। (प्र.न.तत्त्वा०)**
क्रियाभेदेनार्थभेदमभ्युपगच्छत एवंभूतात् क्रियाभेदेऽप्यर्थाऽभेदं प्रतिपादयन् समभिरूढोऽनल्पविषयः ।।५२।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नयवाक्य पर आश्रित सप्तभङ्गी : जैसे प्रमाणवाक्य विधि-प्रतिषेध द्वारा प्रवर्तमान सप्तभंगी का अनुसरण करता है, वैसे नयवाक्य भी सप्तभंगी का अनुसरण करता है, वह बताते है -

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्त्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुगच्छति, विकलादेशत्वात् परमेतद्वाक्यस्य प्रमाणवाक्याद्विशेष इति द्रष्टव्यम् ।[91] (जैनतर्कभाषा)

अर्थ : नयवाक्य भी अपने विषय में जब प्रवृत्त होता है तब विधि और निषेध के द्वारा सप्तभङ्गी को प्राप्त होता है। नयवाक्य विकलादेश है इसलिए प्रमाण वाक्य से इसका भेद है ।

कहने का आशय यह है कि, किसी भी नय के वाक्य को लेकर सप्तभङ्गी की प्रवृत्ति हो सकती है । इस विषय में दो प्रकार हैं । एक प्रकार के अनुसार एक भङ्ग एक नय के अनुसार प्रवृत्त होता है तो विरोधी नय के अनुसार अन्य भङ्ग प्रवृत्त होता है । इस अपेक्षा से विचार करने पर नैगम और संग्रह परस्पर विरोधी नय हैं । नैगम से यदि अस्ति का अर्थात् सत्त्व का प्रतिपादन होगा तो संग्रह से नास्ति अर्थात् असत्त्व का प्रतिपादन होगा । इसी प्रकार परस्पर विरोधी नैगम और व्यवहार अथवा नैगम और ऋजुसूत्र अथवा नैगम और शब्द अथवा नैगम और समभिरूढ अथवा नैगम और एवंभूत नय के आश्रय से सप्तभङ्गी प्रकट हो सकती है ।

इसी रीति से जो अनेक सप्तभङ्गीयाँ प्रकट होती हैं उन सब में एक अर्थ में विरोध के बिना विधि और निषेध की कल्पना प्रधानरूप से होती है । इस प्रकार प्रथम और द्वितीय भङ्गों के स्थिर होने पर अन्य भङ्ग भी खडे हो जाते हैं, इन में एक भङ्ग कथंचित् अवक्तव्य है । कुछ आचार्यो के अनुसार अवक्तव्य भङ्ग का सप्तभंगी में स्थान तृतीय है और कुछ आचार्यों के मत में चतुर्थ स्थान है । इस अवक्तव्य भङ्ग का प्रथम और द्वितीय भङ्गों के साथ क्रम से अथवा बिना क्रम के संयोग करने पर अन्य भङ्ग प्रकट होते हैं ।

इसका एक उदाहरण संग्रह और उसके विरोधी अन्य नयों के आश्रय से प्रकट होनेवाली सप्तभङ्गी में मिलता है । यदि संग्रह के अनुसार घट को किसी अपेक्षा से सत् ही कहा जाय तो अन्य नयों के आश्रय से प्रथम भङ्ग के निषेध करनेवाले द्वितीय भङ्ग का उदय होगा । संग्रह नय सत्त्व सामान्य को स्वीकार करता है । उसके अनुसार घट किसी अपेक्षा से सत् ही है । असत् अर्थ का ज्ञान नहीं होता । आकाश का पुष्प असत् है इसलिए उसका अनुभव नहीं होता । यदि घट असत् हो तो आकाश पुष्प के समान उसका ज्ञान नहीं होना चाहिए । व्यवहार नय का आश्रय लेकर इसका निषेध हो सकता है। व्यवहार नय के अनुसार कहा जायेगा, घट केवल सत् नहीं । द्रव्यत्व और घटत्व आदि रूप से भी ज्ञान होता है । इसी प्रकार ऋजुसूत्र नय का आश्रय लेकर निषेध की कल्पना होती है । वर्तमान स्वरूप से भिन्न स्वरूप के साथ घट नहीं प्रतीत होता । यदि अन्य रूपों के साथ प्रतीत हो तो घट में अनादि और अनंत सत्ता का अनुभव होना चाहिए । परन्तु घट में अनादि और अनन्त काल के पर्यायों में रहने वाली सत्ता का अनुभव नहीं होता । अतः ऋजुसूत्र नय के अनुसार घट कथंचित् सत् ही नहीं है । इसी प्रकार शब्द नय का आश्रय लेकर निषेध की कल्पना होती है । काल, कारक आदि के भेद से अर्थ भिन्न दिखाई देते हैं । वर्तमान में जो अर्थ है वही अतीत और अनागत में नहीं है । अतीत और अनागत की अपेक्षा से घट कथंचित् असत् भी है । यदि काल आदि के भेद से अर्थ में भेद न हो तो काल आदि का भेद ही नहीं सिद्ध हो सकेगा । समभिरूढ का आश्रय लेकर भी निषेध की कल्पना हो सकती है । घट सत् ही नहीं हो सकता । घट शब्द द्वारा जब कहा जाय तब घट है पर जब कलश अथवा कुंभ शब्द से कहा जाय तो घट नहीं है । घट और कुंभ में भेद है

91. **अथ यथा नयवाक्यं प्रवर्त्तते तथा प्रकाशयन्ति-नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्त्तमानं विधि-प्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुव्रजति ।।७-५३।।**
यथा प्रमाणवाक्यं विधि-प्रतिषेधाभ्यां प्रवर्तमानं सप्तभङ्गीमनुगच्छति, तथैव नयवाक्यमपि **स्वविषये**-स्वप्रतिपाद्ये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां-परस्परविभिन्नार्थनययुगमसमुत्थविधि-निषेधाभ्यां कृत्वा सप्तभङ्गीत्वमनुगच्छति ।।५३।। **(प्र.न.तत्त्वा०)**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदि पर्यायों के भेद से अर्थ में भेद न हो तो अर्थ का वाचक एक ही शब्द हो जाना चाहिए । इसलिए भिन्न पर्याय को लेकर घट कथंचित् असत् भी है । इसी प्रकार एवंभूत का आश्रय लेकर घट का निषेध हो सकता है । जिस काल में घट से जल लाया जा रहा है तभी घट है पर जब जल नहीं लाया जा रहा तब वह घट नहीं कहा जा सकता । अतः एवंभूत नय के अनुसार घट कथंचित् असत् भी है । इस रीति से संग्रह के द्वारा सत्त्व और व्यवहार आदि के द्वारा असत्त्व का प्रतिपादन होने के कारण घट रूप अर्थ में प्रथम और द्वितीय भङ्ग हो जाते हैं ।

इसके अनन्तर संग्रह व्यवहार अथवा संग्रह ऋजुसूत्र आदि दो नयों के आश्रय से क्रम के साथ सत्त्व और असत्त्व का प्रतिपादन करने पर तीसरा उभय भङ्ग होगा । यदि दो दो नयों का आश्रय लेकर बिना क्रम के सत्त्व और असत्त्व के प्रतिपादन की इच्छा हो तो चौथे अवक्तव्य भङ्ग का उदय होगा । विधि के प्रयोजक संग्रह नय का और निषेध के प्रयोजक नयों का आश्रय लेकर एक साथ सत्त्व और असत्त्व के निरूपण की इच्छा हो तो पांचवा 'अस्ति अवक्तव्य' भंग बन जायेगा। प्रतिषेध के प्रयोजक नय का आश्रय लेकर और साथ ही बिना क्रम के सत्त्व और असत्त्व के कहने की इच्छा हो तो छठ्ठा 'नास्ति अवक्तव्य' भङ्ग प्रकट होगा । क्रम और अक्रम की उभय नयों का आश्रय लेकर विवक्षा की जाय तो 'अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य' सातवाँ भङ्ग बन जायेगा । इस रीति से संग्रह से विधि और उत्तरवर्त्ती नयों से निषेध की कल्पना दो मूल भङ्गों को प्रकट करती है । अनन्तर दो मूल भङ्गो के द्वारा पाँच भंग प्रकट हो जाते हैं इस प्रकार सप्तभङ्गी के आश्रय नय हैं ।

दूसरा प्रकार आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरिजी का है । इसके अनुसार संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र अर्थनय हैं। इन तीन नयों में सप्तभंगी का उद्भव है । सामान्य के प्रकाशक संग्रह में प्रथम भङ्ग है, जिसका आकार है **'स्यात् अस्ति'**। दूसरा भंग है **'स्यात् नास्ति'** । यह विशेष के प्रकाशक व्यवहार का आश्रय लेता है । तृतीय **'स्यात् अवक्तव्य'** भङ्ग ऋजुसूत्र पर आश्रित है । **'स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति'** यह चतुर्थ भङ्ग संग्रह और व्यवहार के द्वारा प्रवृत्त होता है । **'स्यात् अस्ति स्यात् अवक्तव्य,'** यह पाँचवाँ भङ्ग संग्रह और ऋजुसूत्र से प्रकट होता है । **'स्यात् नास्ति स्यात् अवक्तव्य'** यह छठ्ठा भङ्ग व्यवहार और ऋजुसूत्र का आश्रय लेता है । **'स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य'** यह सातवाँ भङ्ग संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र का आश्रय लेता है ।

व्यंजन पर्याय अर्थात् साम्प्रत, समभिरूढ और एवंभूत नय के अनुसार सप्तभङ्गी का स्वरूप कुछ भिन्न हो जाता है। इन में से साम्प्रत का अन्य नाम शब्द भी है । इस शब्द अथवा साम्प्रत नय के द्वारा घट सभी पर्याय शब्दों से वाच्य है। इसलिए घट के वाचक जितने शब्द हैं उनके द्वारा वाच्य रूप से घट कथंचित् सत् है यह **प्रथम भङ्ग** प्रकट होता है । समभिरूढ और एवंभूत नय के अनुसार घट के वाचक जितने पर्याय शब्द हैं उनके द्वारा घट वाच्य नहीं है । अतः इस रूप में घट कथंचित् नहीं है इस प्रकार का **द्वितीय भङ्ग** प्रकट होता है । तृतीय भङ्ग स्यात् अवक्तव्य है, वह इन तीनों नयों का आश्रय लेकर प्रकट होता है । लिंग के भेद से अर्थ भिन्न हो जाता है, इसलिए घट किसी एक शब्द के द्वारा वाच्य नहीं है, अतः स्यात् अवक्तव्य है । पर्याय के भेद से अर्थ भिन्न है, इसलिए एक शब्द भिन्न अर्थ का वाचक नहीं, अतः समभिरूढ नय के अनुसार घट स्यात् अवक्तव्य है । क्रिया के भेद से अर्थ भिन्न हो जाता है, अतः एवंभूत नय के अनुसार घट स्यात् अवक्तव्य है । स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति एवं इन प्रथम और द्वितीय भङ्गों के संयोग से 'स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति' यह चतुर्थ भङ्ग प्रकट होता है ।

प्रथम द्वितीय और चतुर्थ भङ्गों के साथ स्यात् अवक्तव्य इस तृतीय भङ्ग का संयोग होने पर पंचम, षष्ठ और सप्तम भङ्ग प्रकट होते हैं । इनमें से प्रथम के साथ तृतीय अवक्तव्य भङ्ग का संयोग होने पर पाँचवाँ, द्वितीय भंङ्ग के साथ अवक्तव्य का संयोग होने पर छठ्ठा, चतुर्थ के साथ अवक्तव्य का संयोग होने पर सातवाँ भङ्ग प्रकट होता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्य अनेक रीतियों से भी नय के वाक्य सप्तभङ्गी को प्रकट करते हैं । नयों पर आश्रित सप्तभङ्गी के प्रसिद्ध होने पर प्रमाण सप्तभङ्गी से इसके भेद की जिज्ञासा होती है। **मति आदि ज्ञान ज्ञानात्मक होने पर स्वार्थ हैं । शब्दात्मक होने पर परार्थ हैं । मति आदि के प्रतिपादक शब्द के अनुसार भी सप्तभङ्गी इसी आकार की होती है** । आकार के समान होने पर एक के प्रमाण सप्तभङ्गी और अन्य के नय सप्तभङ्गी होने का कारण क्या है ? इस शंका के उत्तर में **श्री महोपाध्यायजी कहते हैं कि नय वाक्य पर आश्रित सप्तभङ्गी विकलादेश है और प्रमाण सप्तभङ्गी सकलादेश है इस कारण दोनों में भेद है । जब काल आदि के द्वारा अनेक धर्मों का अभेद करके वस्तु का प्रतिपादन होता है तो सकलादेश हो जाता है और जब काल आदि के द्वारा धर्मों में भेद का आश्रय लेकर वस्तु का निरूपण होता है तो विकलादेश होता है** । (इस विषय को आगे बताया ही है । इसलिए फिर से कहते नहीं है ।)

नयाभासों (दुर्नयों) का निरूपण : अनंतधर्मात्मक वस्तु का स्वाभिप्रेत एक अंश को बतानेवाला अभिप्राय विशेष को नय कहा जाता है, यह बात हमनें पूर्व में देखी है । अनंतधर्मात्मक वस्तु का स्वाभिप्रेत एक अंश को स्वीकारनेवाला और वस्तु के इतर अंशो का अपलाप करनेवाला अभिप्राय विशेष को **नयाभास (दुर्नय)** कहा जाता है । सभी एकान्त दर्शन नयाभास स्वरूप है । क्योंकि, वे अन्य की मान्यता को खंडित करते है । अब यहाँ नयाभास का स्वरूप और किस नयाभास से किस दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ, वह जैनतर्क भाषा ग्रंथ के आधार से देखेंगे -

अथ नयाभासा:[92] । तत्र द्रव्यमात्रगाही पर्यायप्रतिक्षेपी द्रव्यार्थिकाभास: । पर्यायमात्रग्राही द्रव्यप्रतिक्षेपी पर्यायार्थिकाभास:। (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : अब नयाभासों का आरंभ होता है । उनमें जो केवल द्रव्य का ग्रहण करता है और पर्याय का निषेध करता है, वह **द्रव्यार्थिकाभास** है । जो केवल पर्याय का ग्रहण करता है और द्रव्य का निषेध करता है, वह **पर्यायार्थिकाभास** है।

द्रव्य पर्यायों को व्याप्त करते हैं और पर्याय द्रव्यों को । जो वचन केवल सत्ता का प्रतिपादन करता है और द्रव्य, गुण आदि का निषेध करता है वह वचन द्रव्यार्थिकाभास है । विशेषों के बिना सामान्य की सत्ता नहीं होती, विशेषों में सामान्य प्रतीत होता है । इसी प्रकार पर्याय बिना सामान्य नहीं रह सकता । अनेक प्रकार के जितने पुष्प होते हैं उनमें पुष्प सामान्य है । जहाँ पुष्प सामान्य प्रतीत होगा, वहाँ विशेष पुष्प भी आवश्यक रूप से प्रतीत होगा। **विशेषों के बिना सामान्य और सामान्य के बिना विशेष आकाश पुष्प के समान असत् है । पर्यायों में अनुगत सामान्य द्रव्य है और अनुगम से रहित पर्याय विशेष है ।**

द्रव्यार्थिकाभास के तीन भेद हैं - नैगमाभास, संग्रहाभास और व्यवहाराभास । इन में से नैगमाभास का निरूपण करते बताया है कि,

नैगमाभास : धर्मिधर्मादीनामेकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाभास:[93], यथा नैयायिक-वैशेषिकदर्शनम् । (जैनतर्कभाषा)

---

92. **नयसामान्यलक्षणमुक्त्वा नयाभासस्य लक्षणं दर्शयितुमाहु:-स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी पुनर्नयाभास: ।।२।।**
योऽभिप्रायविशेष: स्वाभिप्रेतमंशमङ्गीकृत्य, इतरांशानपलपति स **नयाभास:** ।।७-२।। **(प्र.न.तत्त्वा.)**

93. **धर्मद्वयादीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाऽऽभास: ।।७-११।। यथा-आत्मनि सत्त्व-चैतन्यै परस्परमत्यन्तं पृथग्भूते इत्यादि: ।।७-१२।। (प्र.न.तत्त्वा.)** आदिपदेन धर्मिद्वय-धर्मधर्मिद्वययो: संग्रह: । तथा च द्वयोर्धर्मयो:, द्वयोर्धर्मिणो:, धर्म-धर्मिणोर्वा विषये ऐकान्तिकभेदाभिप्रायो य: स नैगमाऽऽभास इत्यर्थ: ।।७-११।। (प्र.न. तत्त्वा.) एवं 'पर्यायवद् द्रव्यं वस्तु च परस्परमत्यन्तं पृथग्भूते' सुखजीवयोश्च परस्परमात्यन्तिको भेद इत्याकारको योऽभिप्रायविशेष: स नैगमाऽऽभास इत्यर्थ: ।।७-१२।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ : धर्मी और धर्म आदि के भेद का एकान्त रूप से प्रतिपादन करनेवाला अभिप्राय **नैगमाभास** है । जिस प्रकार नैयायिक और वैशेषिक का दर्शन ।

आत्मा में सत्त्व और चैतन्य दो धर्म हैं । आत्मा के साथ इन दोनों का अभेद है । इसलिए इन दोनों धर्मों का भी परस्पर कथंचित् अभेद है । जो इन दोनों को सर्वथा भिन्न कहता है, वह प्रमाण से विरुद्ध होने के कारण नैगमाभास है। न्याय और विशेषिक के अनुसार धर्म और धर्मी आदि में अत्यंत भेद है । उनके अनुसार अवयव और अवयवी का, गुण और गुणी का, क्रिया और क्रियावत् का, जाति और व्यक्ति का अत्यंत भेद है । परन्तु यह मत प्रमाणों से विरुद्ध है । गौ और अश्व में जिस प्रकार भेद है, इस प्रकार घट और कपाल आदि अवयव और अवयवी में, घट गुणी और उसके रूप आदि गुण में, भेद का अनुभव नहीं होता । इन सब में परस्पर भेद और अभेद है ।

संग्रहाभास : सत्ताऽद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणः संग्रहाभासः[94], यथाऽखिलान्यद्वैतवादिदर्शनानि सांख्यदर्शनं च । (जैनतर्कभाषा)

अर्थ : केवल सत्ता को स्वीकार करने वाला और समस्त विशेषों का निषेध करनेवाला **संग्रहाभास** है । जिस प्रकार समस्त अद्वैतवादी दर्शन और सांख्य दर्शन ।

केवल सत्त्व है, विशेषों की सत्ता वास्तव में नहीं है, इस प्रकार का मत जो मानते हैं, वे अद्वैतवादी हैं । अद्वैतवादी अनेक प्रकार के हैं । ये सब एकान्तरूप से सामान्य धर्म का प्रतिपादन करते हैं, अतः मिथ्या हैं । वृक्ष सूर्य चन्द्र आदि में, रूप रस आदि में और अन्य अर्थों में सत्ता प्रतीत होती है, परन्तु वह बिना विशेष के नहीं प्रतीत होती । दोनों की प्रतीति समान है । अतः एकान्त रूप से सत्त्व को स्वीकार करके विशेषों का निषेध करना अयुक्त है । **सत्य अर्थ भी एकान्त का आश्रय लेकर जब प्रमाणों से सिद्ध अन्य अर्थों का निषेध करता है तो वह मिथ्या हो जाता है ।** अद्वैतवादी भी किसी एक वस्तु को लेकर उससे भिन्न अर्थों को मिथ्या कहने लगते हैं ।

सत्ता के अद्वैत के समान कुछ लोग ज्ञान के अद्वैत को और कुछ लोग ब्रह्म के अद्वैत को और कुछ लोग शब्द के अद्वैत को मानते हैं । इन में ज्ञान के अद्वैत को माननेवाले विज्ञानवादी बौद्ध हैं । इन लोगों के अनुसार जब भी अर्थों का ज्ञान होता है तब ज्ञान अवश्य विद्यमान होता है । ज्ञान के बिना किसी भी अर्थ का प्रकाशन नहीं होता । ज्ञान दो प्रकार का है, एक सत्य ज्ञान जिसके द्वारा प्रकाशित अर्थ प्राप्त हो सकते हैं । पुस्तक को देखकर पुस्तक का ज्ञान होता है । उसको लेकर पढा जा सकता है । यह ज्ञान सत्य ज्ञान है, पुस्तक और पुस्तक का ज्ञान दोनों सत्य हैं । प्रकाश के समान ज्ञान अर्थों का प्रकाशक है । प्रकाश और उसके द्वारा प्रकाशित अर्थ जिस प्रकार सत्य हैं इसी प्रकार ज्ञान के द्वारा प्रकाशित अर्थ और ज्ञान सत्य हैं, कभी कभी अर्थ के न होने पर भी ज्ञान हो जाता है । शुक्ति होती है और ज्ञान रजत का होता है, इस ज्ञान के अनन्तर रजत की प्राप्ति नहीं होती । इसलिए यह मिथ्या ज्ञान है । इस प्रकार के मिथ्याज्ञानों को लेकर विज्ञानवादियों ने समस्त ज्ञानों को मिथ्या मान लिया । उन्हों ने कहा, जिस प्रकार रजत न होने पर भी प्रतीत होता है इसी प्रकार पुस्तक, सूर्य, चन्द्र, भूमि आदि समस्त अर्थ भी न होते हुए प्रतीत होते हैं इसलिए ज्ञान केवल सत्य है और अर्थ मिथ्या है । प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण ज्ञानाद्वैत अयुक्त है ।

---

94. **एतदाभासमाहुः-सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान् निराचक्षाणस्तदाभासः ।।७-१७।। यथा-सत्तैव तत्त्वं, ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात्।।७-१८।। द्रव्यत्वादिकं प्रतिजानानस्तद्विशेषान् निह्नुवानस्तदाभासः ।।७-२१।। यथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वं, ततोऽर्थान्तरभूतानां द्रव्याणामनुपलब्धेरित्यादिः।।७-२२।।** द्रव्यत्वादिसामान्यमङ्गीकृत्य तद्विशेषान् धर्माधर्मादीन् प्रतिक्षिपन्नभिप्राय-विशेषस्तदाभासः-अपरसंग्रहाऽऽभास इत्यर्थः ।।२१।। ततः-दव्यत्वसकाशात्, अर्थान्तरभूतानां-धर्माधर्माऽऽकाशादीनाम् ।।२२।। (प्र.न.तत्त्वा.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्माद्वैत समस्त अर्थों को ब्रह्म रूप स्वीकार करता है । ब्रह्म का अर्थ है आत्मा । समस्त अर्थों को आत्मा जानता है और जानकर व्यवहार करता है । व्यवहार का मूल आत्मा है । आत्मा बाह्य अर्थों को जानता है इसलिए बाह्य अर्थ विद्यमान सिद्ध होते हैं । जिसका कभी ज्ञान नहीं है उसकी सत्ता नहीं है । आकाश पुष्प आदि का कभी ज्ञान नहीं होता है। इसलिए वे असत् हैं । आत्मा जानता है, इस लिए बाह्य अर्थ की सत्ता सिद्ध होती है, इसलिए ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं, ब्रह्म रूप आत्मा ही सत्य है, बाह्य अर्थ सत्य नहीं है। स्वप्न में आत्मा न होने पर भी बाह्य अर्थों को देखता है और व्यवहार करता है । स्वप्न का समस्त व्यवहार मिथ्या है, फिर भी जब तक स्वप्न रहता है तब तक वह व्यवहार सत्य प्रतीत होता है । स्वप्न को मिथ्या देखकर ब्रह्माद्वैतवादियों ने जागने की दशा के संसार को भी मिथ्या मान लिया, इस प्रकार ब्रह्माद्वैत एकान्त का आश्रय लेता है । प्रमाणों से स्वप्न का और जागने की दशा का भेद सिद्ध है । एकान्तरूप से समस्त अर्थों को स्वप्न के समान मिथ्या कहने के कारण ब्रह्माद्वैत भी संग्रहाभास है ।

शब्दाद्वैत इन दोनों से भिन्न अद्वैतवाद है । जो भी ज्ञान होता है उसके साथ शब्द का संबंध होता ही है । बिना शब्द के शुद्ध ज्ञान का अनुभव कभी नहीं होता । कोई भी अर्थ हो उसका वाचक शब्द अवश्य होता है । शब्द के बोलने पर अर्थ की प्रतीति होती है । यदि अर्थ न हो तो भी शब्द को सुनकर अर्थ विद्यमान प्रतीत होने लगता है । **शब्द के इस सामर्थ्य को लेकर शब्दाद्वैतवादी शब्द को अनादि अनन्त ब्रह्म मान लेते हैं और कहते हैं केवल शब्द सत्य है।** वही अनेक प्रकार के अर्थों के रूप में प्रतीत हो रहा है । अर्थ सत्य नहीं है । कुछ दशाओं में शब्द अर्थ को न होने पर भी बतला देता है इस कारण समस्त अर्थों को एकान्त रूप से मिथ्या मान लेने के कारण शब्दाद्वैतवाद भी संग्रहाभास है। **प्रमाणों के द्वारा ज्ञान अथवा ब्रह्म अथवा शब्द जिस प्रकार सिद्ध होते हैं, इस प्रकार अन्य जड चेतन भी सिद्ध होते हैं, केवल एक को लेकर उसी में सब का संग्रह करना युक्त नहीं है ।**

अद्वैतवाद जिस प्रकार संग्रहाभास है इस प्रकार सांख्यों का प्रकृतिवाद भी संग्रहाभास है । सांख्य लोग किसी एक तत्त्व को नहीं मानते । उनके अनुसार मूलभूत तत्त्व दो हैं, प्रकृति और पुरुष । प्रकृति जड है और पुरुष चेतन । समस्त संसार प्रकृति रूप है, पृथिवी जल आदि जितने भी बाह्य अर्थ हैं, वे सर्व प्रकृति के परिणाम हैं । प्रकृति कारण है, कार्य उससे अभिन्न है । कार्य कारणों में विद्यमान है और उसका कारण के साथ अभेद है । **यहाँ पर एकान्तवाद का आश्रय लेकर सांख्य कारण में कार्य का सर्वथा सत्त्व और कारण के साथ कार्य का सर्वथा अभेद मान लेते हैं । सर्वथा अभेद मान लेने के कारण समस्त जड अर्थ को प्रकृति रूप कहते हैं, इस प्रकार का सत्कार्यवाद प्रमाणों के विरुद्ध है ।** एकान्तरूप से कारण में यदि कार्य हो तो सर्वथा कारण के साथ अभेद होने से कार्य की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए । जो अर्थ सब प्रकार से विद्यमान है उसकी उत्पत्ति नहीं होती । कारणभूत अर्थ विद्यमान है वह अपने काल में उत्पन्न नहीं होती । यदि कारण के काल में कार्य भी सर्वथा विद्यमान हो तो उसकी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये । यदि विद्यमान होने पर भी उत्पत्ति हो तो सदा कार्य उत्पन्न होता रहना चाहिए । एक बार जब पट उत्पन्न हो, तो उसके अनन्तर सदा पट उत्पन्न होता रहना चाहिए।

सर्वथा कारण में कार्य के विद्यमान होने से कारण में कोई व्यापार भी नहीं होना चाहिए । कार्य को उत्पन्न करने के लिए कारण का व्यापार होता है । कार्य के उत्पन्न हो जाने पर कारण का व्यापार नहीं रहता । जब पट उत्पन्न हो जाता है तब पट को उत्पन्न करने के लिए तन्तुओं में व्यापार नहीं रहता । एकान्त रूप से कारण में कार्य के विद्यमान होने पर और अभेद होने पर कार्य उत्पत्ति से पहले विद्यमान है, इसलिए कारणों में कोई व्यापार नहीं रहना चाहिए । इस आक्षेप को दूर करने के लिए सत्कार्यवादी कहने लगता है - कारण में कार्य सर्वथा विद्यमान है, पर अव्यक्त रूप से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विद्यमान है। अभिव्यक्ति के लिए कारण का व्यापार होता है, परन्तु यहाँ पर भी दो विकल्प उठते हैं । अभिव्यक्ति रूप अर्थ नित्य अथवा कार्य होना चाहिए । यदि अभिव्यक्ति नित्य है तो सर्वथा विद्यमान है । इसलिए कारण का व्यापार नहीं होना चाहिए। यदि अभिव्यक्ति अनित्य है, तो उसकी उत्पत्ति माननी होगी । उत्पत्ति मानने पर अभिव्यक्ति रूप कार्य उत्पन्न होने से पहले विद्यमान हो तो अभिव्यक्त रूप में कार्य के विद्यमान होने से व्यापार नहीं होना चाहिए । स्वयं अभिव्यक्ति विद्यमान है, इसलिए उसके लिए भी कारण का व्यापार नहीं होना चाहिये । इस दोष से बचने के लिए यदि अभिव्यक्ति रूप कार्य को उत्पत्ति से पहले असत् कहा जाय, तो कार्य कारण में सर्वथा विद्यमान है, इस मत का त्याग करना पडेगा । फिर कार्य की अभिव्यक्ति पहले अविद्यमान होकर यदि उत्पन्न हो सकती है तो कार्य को भी पहले अविद्यमान होकर उत्पन्न होने में कोई रुकावट नहीं हो सकती ।

अब यदि इन दोषों को हटाने के लिए कहा जाय, उत्पन्न होने से पहले कारणों में जो कार्य विद्यमान होते हैं उन पर आवरण रहता है । आवरण को हटाने के लिए कारणों का व्यापार होता है, तो यह भी युक्त नहीं है । **सांख्य मत के अनुसार असत् की उत्पत्ति जिस प्रकार नहीं होती, इस प्रकार सत् का विनाश भी नहीं होता । आवरण विद्यमान है इसलिए उसका नाश नहीं होना चाहिए ।** इसके अतिरिक्त जहाँ आवरण के कारण कोई अर्थ नहीं प्रतीत होता, वहाँ पर आवरण अवश्य प्रतीत होता है । अन्धेरे में पट नहीं दिखाई देता । अन्धकार पट को ढांक देता है और स्वयं दिखाई देता है । कारण में विद्यमान कार्य को ढांकनेवाले किसी अर्थ का ज्ञान नहीं होता, इसलिए आच्छादक की कल्पना अयुक्त है । कार्य की उत्पत्ति से पहले कारण दिखाई देता है, यदि उसको ही कार्य का आच्छादक कहा जाय तो युक्त नहीं है । कारण-उत्पादक है वह कार्य का आच्छादक नहीं हो सकता । उत्पत्ति के अनन्तर विद्यमान पट को तन्तु रूप कारण जिस प्रकार नहीं ढकते, इस प्रकार उत्पत्ति से पहले भी विद्यमान पट को नहीं ढक सकते । **एकान्त का आश्रय लेने पर अर्थ का सत्य स्वरूप प्रकट नहीं होता । प्रमाण कारण के साथ कार्य के सर्वथा अभेद को नहीं किन्तु अनेकान्त रूप से अभेद को प्रसिद्ध करते हैं । एक अपेक्षा से कार्य का कारण के साथ अभेद है और अन्य अपेक्षा से भेद है ।** जो तन्तु पहले पट के बिना दिखाई देते हैं, वही तन्तुवाय के व्यापार से पट रूप में हो जाते हैं । पट के साथ भी तन्तुओं का रूप दिखाई देता रहता है । तन्तुओं के बिना पट का स्वरूप कभी प्रतीत नहीं होता। कारणभूत तन्तु, बिना पट के भी प्रतीत होते हैं। इस लिए कारण का कार्य के साथ अनेकान्त रूप से भेद और अभेद हैं। **समस्त जड अर्थों का कारण पुद्गल है । पुद्गलों के साथ पर्यायों का भेदाभेद है । अतः जड कार्यों के साथ सत्कार्यवाद के अनुसार प्रकृति का सर्वथा अभेद संग्रहाभास है।**

व्यवहाराभास :

अपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागाभिप्रायो व्यवहाराभासः[95] यथा चार्वाकदर्शनम्, चार्वाको हि प्रमाणप्रतिपन्नं जीवद्रव्यपर्यायादिप्रविभागं कल्पनारोपितत्वेनापह्नुतेऽविचारितरमणीयं भूतचतुष्टयप्रविभागमात्रं तु स्थूललोकव्यवहारानुयायितया समर्थयत इति ।

अर्थ : द्रव्य और पर्याय के असत्य विभाग को प्रकट करनेवाला अभिप्राय **व्यवहाराभास है,** जिस प्रकार चार्वाक

95.एतदाभासं वर्णयन्ति- यः पुनरपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः ।।७-२५।। यथा चार्वाकदर्शनम् ।।७-२६।। योऽभिप्रायविशेषो द्रव्य-पर्यायविभागम**पपारमार्थिकं**-काल्पनिकं मन्यते स **व्यवहाराऽऽभासः** ।।२५।। **चार्वाको** हि वस्तुनो द्रव्य-पर्यायात्मकत्वं नाङ्गीकरोति, किन्तु आपाततः प्रतीयमानं भूतचतुष्टयात्मकं घट-पटादिरूपं पदार्थजातं पारमार्थिकं मन्यते, तदतिरिक्तं द्रव्यपर्यायविभागं काल्पनिकमिति । तस्मात् चार्वाकदर्शनं **व्यवहाराऽऽभास**मिति भावः ।।२६।। **(प्र.न.तत्त्वा.)**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन। चार्वाक प्रमाण के द्वारा सिद्ध जीव द्रव्य और पर्याय आदि के विभाग को काल्पनिक कहकर नहीं मानता है और लोगों के स्थूल व्यवहार का अनुगामी होने के कारण चार भूतों के विभाग मात्र को स्वीकार करता है, यह विभाग विचार के बिना सुन्दर प्रतीत होता है ।

लोगों का व्यवहार प्रायः बाह्य इन्द्रियों के द्वारा चलता है । जिस अर्थ का इन्द्रियों के द्वारा अनुभव नहीं होता उसकी सत्ता को सामान्य लोग नहीं मानते । सामान्य लोग ही नहीं, परीक्षक लोग भी इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान न होने पर स्थूल अर्थों का अभाव मानते हैं । इस प्रकार का व्यवहार यथार्थ है । एकान्त रूप से स्थूल अर्थों के प्रत्यक्ष का आश्रय लेकर चार्वाक जब इन्द्रियों से अगम्य अर्थ का निषेध करने लगता है तब व्यवहाराभास हो जाता है । **अर्थ दो प्रकार के हैं, इन्द्रियगम्य और इन्द्रियों से अगम्य । जिन अर्थों का संवेदन इन्द्रियों द्वारा नहीं होता उनको यदि न स्वीकार किया जाय तो स्थूल प्रत्यक्ष अर्थों का आधार नहीं रह सकता ।** वृक्ष-लता, फूल, फल, ईंट-पत्थर आदि जितने अर्थ हैं, इन सब के अवयवों का जब विभाग होता है तब छोटे-मोटे खंड दिखाई देते हैं । इन में से ईंट और पट आदि को बनाना हो तो मिट्टी के पिंडों के संयोग से इंटों को और तन्तुओं के संयोग से पट को बनाया जाता है । अवयवों के संयोग से अवयवी द्रव्य उत्पन्न होते हैं और अवयवों के विभाग से नष्ट होते हैं । यह नियम स्थूल द्रव्यों के जन्म और नाश को देखकर सिद्ध होता है । इस नियम के अनुसार द्रव्यों के स्थूल अवयवों के खंड होते चल जायेंगे । खंड करते करते वह अवस्था आ जायेगी जब अत्यन्त सूक्ष्म खंड दिखाई तो देगा पर उसके खंड न किये जा सकेंगे, इस आदिम स्थूल के अवयव नहीं किये जा सकते हैं तो भी नियम के अनुसार उसके अवयव होने चाहिए । आदिम स्थूल अवयव के सूक्ष्म उत्पादक अवयव मानने होंगे । यदि ये सूक्ष्म अवयव न हों तो आदिम स्थूल का जन्म बिना अवयवों के मानना पडेगा । परन्तु सूक्ष्म अवयवों के बिना स्थूल द्रव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती । शून्य किसी अर्थ को भी नहीं उत्पन्न करता । इस प्रकार स्थूल अर्थों के आधार को आंख आदि इन्द्रियाँ नहीं जानती तो भी मानना पडता है । सूक्ष्म द्रव्य ही नहीं, इनके रूप स्पर्श आदि गुणों को भी इन्द्रियाँ नहीं जान सकती । यदि आदिम दशा के अवयव रूप रस आदि गुणों से रहित हों, तो स्थूल अवयवों में रूप रस आदि का जन्म न हो सकेगा । इन्द्रियों के द्वारा जिनका अनुभव प्रत्यक्ष रूप से न हो सके उनकी सत्ता स्थूल अर्थों के लिए भी अपरिहार्य है । इस तत्त्व की उपेक्षा करके चार्वाक पृथ्वी आदि चार स्थूल द्रव्यों को तो स्वीकार कर लेता है पर जिनका अनुभव इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता उनका अनुमान से सिद्ध होने पर भी निषेध करने लगता है ।

स्थूल शरीर प्रत्यक्ष है उसी को स्वीकार करता है । शरीर से भिन्न चेतन द्रव्य को नहीं मानता । उसका यह मत अनुमान से विरुद्ध है । स्थूल द्रव्यों के गुणों का संवेदन उस नियम को प्रकट करता है जिसके द्वारा ज्ञान-सुख आदि गुण शरीर के नहीं सिद्ध होते । स्थूल द्रव्यों में सूक्ष्म द्रव्य प्रवेश कर जाते हैं, उस दशा में स्थूल द्रव्य का स्वाभाविक गुण नहीं प्रतीत होता और अन्दर प्रविष्ट होनेवाले द्रव्य का गुण स्थूल द्रव्य में प्रतीत होने लगता है । पानी शीतल द्रव्य है और तेज उष्ण द्रव्य है । जब तेज के अवयव पानी के अन्दर चले जाते हैं तब पानी के शीत स्पर्श का अनुभव नहीं होता, उस दशा में पानी का स्पर्श उष्ण प्रतीत होने लगता है । वास्तव में उष्ण स्पर्श तेज का है पर जल के गुणरूप में प्रतीत होता है । शरीर भी भौतिक है, रूप-गन्ध आदि उसके गुण हैं जिनका अनुभव इन्द्रियों द्वारा होता रहता है । शरीर के समान जो अर्थ पृथ्वी जल आदि से उत्पन्न होते हैं उनमें ज्ञान, इच्छा, सुख आदि के होने का प्रमाण नहीं मिलता, इस दशा में अनुमान होता है, शरीर में ज्ञान सुख आदि जिन गुणों का संवेदन होता है, वे गुण वास्तव में शरीर के नहीं हैं । शरीर के अन्दर प्रवेश करनेवाला कोई सूक्ष्म द्रव्य है जिसके गुण ज्ञान सुख आदि है पर शरीर के गुण होकर प्रतीत होते हैं । यदि ज्ञान सुख आदि शरीर के गुण स्वाभाविक होते तो जब तक शरीर है तब तक अवश्य रहते । प्राणों के निकल जाने पर रूप गन्ध आदि गुण शरीर में दिखाई देते हैं और ज्ञान सुख आदि का अनुभव नहीं होता । तेज के निकल जाने पर पानी शीतल हो जाता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, शरीर भी किसी अन्य द्रव्य के निकल जाने पर चेतना और सुख आदि से शून्य हो जाता है । शरीर के अन्दर प्रवेश करनेवाला और बाहर जानेवाला द्रव्य आत्मा है, ज्ञान सुख आदि उसके गुण हैं । परीक्षकों के प्रमाणों पर आश्रित होने पर भी आत्मा आदि के व्यवहार को चार्वाक अयुक्त मानता है इसलिए उसका मत व्यवहाराभास है ।

ऋजुसूत्राभास : वर्तमानपर्यायाभ्युपगन्ता सर्वथा द्रव्यापलापी ऋजुसूत्राभासः [96] यथा तथागतं मतम् ।

अर्थ : वर्तमान काल के पर्याय को स्वीकार करनेवाला और द्रव्य का सर्वथा निषेध करनेवाला अभिप्राय **ऋजुसूत्राभास** है, जिस प्रकार बौद्ध मत ।

अर्थों का सम्बन्ध तीन कालों के साथ अनुभव से सिद्ध है । जिस अर्थ का ज्ञान अभी होता है वह वर्तमान काल के पीछे भी प्रतीत होता है । ज्ञाता समझता है, पहले देखा था इसलिए यह अर्थ भूतकाल में था । अब देख रहा हूँ इसलिए वर्तमानकाल में भी है । इसके अनन्तर भी दिखाई देता है इसलिए भावीकाल के साथ भी इसका सम्बन्ध है । अतः कालों के भिन्न होने पर भी अर्थ एक है । जब अर्थ नष्ट हो जाता है तब नहीं दिखाई देता । **जो अर्थ नहीं दिखाई देता उसका भी कोई अंश रहता हैं । कोई भी भावात्मक अर्थ किसी भी दशा में सर्वथा शून्य नहीं हो जाता ।** पहले मिट्टी का पिंड होता है पीछे ईंटे उत्पन्न होती है । ईंटों से भवन उत्पन्न होता है । ईंट का जब प्रत्यक्ष होता है तब ईंट मिट्टी के साथ प्रतीत होती है । जब भवन दिखाई देता है तब भवन के साथ भी मिट्टी दिखाई देती है । जब केवल मिट्टी होती है तब न ईंट होती है और न भवन । भवन का यदि नाश हो जाय तो भी मिट्टी का प्रत्यक्ष भस्म के रूप में होता है । ईंट-भवन और भस्म का प्रत्यक्ष सदा नहीं होगा, किन्तु मिट्टी का प्रत्यक्ष इन सब अवस्थाओं में होता है। **जिसका प्रत्यक्ष सब अवस्थाओं में है वह अनुगत है और अनुगत रूप से न रहनेवाले पर्यायों से भिन्न भी है । पर्याय इस अनुगत अर्थ के बिना नहीं प्रतीत होते इसलिए पर्याय अनुगत अर्थ से अभिन्न भी हैं । इस प्रकार द्रव्य और पर्याय दोनों का ज्ञान होता है । पर्यायों को उत्पन्न और नष्ट होने पर भी अनुगतद्रव्य रूप अर्थ की स्थिति रहती है । अनुगत रूप से रहने के कारण द्रव्य अक्षणिक है और पर्यायों के साथ अभेद के होने के कारण क्षणिक है। इस प्रकार द्रव्य क्षणिक भी है और अक्षणिक भी ।**

इसी प्रकार पानी में जब वर्षा की बूंदों के कारण बूद-बूद उत्पन्न होते हैं तब पहला बुद-बुद नष्ट होता है और दूसरा बुद-बुद उत्पन्न होता है । जब तक वर्षा वेग से होती रहती है तब तक बुद-बुद उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं । जब वर्षा बन्द हो जाती है तब बुद-बुद की उत्पत्ति नहीं होती, केवल पानी रह जाता है । पहले पानी रहता है, जब बुद-बुद होते हैं तब भी पानी रहता है और जब बुद-बुद नष्ट हो जाते हैं तब भी पानी रहता है । बुद-बुद पर्याय हैं और पानी द्रव्य है, इस प्रकार के पर्याय द्रव्य के आकार से कभी अल्प अंश में और कभी अधिक अंश में भिन्न होते है । आकार में भेद होने पर भी द्रव्य के साथ उनका अभेद रहता है । **पर्याय कभी द्रव्य से सर्वथा शून्य नहीं हो सकते । द्रव्य का सूक्ष्म पर्याय स्थूल पर्यायों के समान न दिखाई देने पर भी द्रव्य में होता रहता है । इस प्रकार के पर्याय इन्द्रियों से अगम्य भी होते हैं । इन सूक्ष्म पर्यायों के बिना द्रव्य कभी नहीं रहता, इसलिए वस्तु का स्वभाव द्रव्यात्मक और पर्यायात्मक है ।**

---

96. **ऋजुसूत्राभासं ब्रुवते - सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः ।।७-३०।। यथा-तथागतमतम् ।।७-३१।।** यः पर्यायानेव स्वीकृत्य सर्वथा द्रव्यमपलपति सोऽभिप्रायविशेष ऋजुसूत्राऽऽभास इत्यर्थः ।।३०।। तथागतमतम्-बौद्धमतम् । बौद्धो हि प्रतिक्षणविनश्वरान् पर्यायानेव पारमार्थिकत्वेनाभ्युपगच्छति, प्रत्यभिज्ञादिप्रमाणसिद्धं त्रिकालस्थायि तदाधारभूतं द्रव्यं तु तिरस्कुरुते इत्येतन्मतमृजुसूत्राभासत्वेनोपन्यस्तम् ।।३१।। **(प्र.न.तत्त्वा.)**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध, द्रव्य और पर्याय के प्रमाण सिद्ध होने पर भी पर्यायों को मान लेता है और अनुगामी द्रव्य का निषेध करता है। **उसका कहना है कि, कोई अर्थ अनुगामी नहीं है । यदि तीन कालों में द्रव्य की स्थिति हो, तो जब किसी अर्थ का प्रत्यक्ष होता है तब नाश के काल तक रहनेवाला वस्तु का जो स्वरूप है वह देखते ही स्पष्ट रूप से एक क्षण में प्रतीत हो जाना चाहिए। परन्तु जिस क्षण में देखते हैं उस क्षण में अर्थ का वही स्वरूप प्रत्यक्ष होता है जो उस क्षण में विद्यमान होता है। अतीत क्षणों में जो अर्थ के जो स्वरूप थे और अनागत क्षणों में जो स्वरूप होंगे उन सब का प्रत्यक्ष नहीं होता । एक क्षण में जन्म से लेकर नाश तक के पर्यायों का और उन पर्यायों में रहनेवाले अनुगामी द्रव्य का प्रत्यक्ष जिस प्रकार असंभव है इस प्रकार अनेक क्षणों में भी क्रम से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । ज्ञान पर्यायों का प्रकाशक है । ज्ञान स्वयं क्षणिक है वह अपनी उत्पत्ति से पूर्व काल के और अपने विनाश के अनन्तर होनेवाले पर्यायों को प्रकाशित नहीं कर सकता । पर्यायों का अनुभव न होने पर उनके साथ अभेद से रहनेवाले द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ।**

परन्तु यह कथन युक्त नहीं है । ज्ञान भी सर्वथा क्षणिक नहीं है । ज्ञान का पर्याय नष्ट होता है, वह सर्वथा नष्ट नहीं होता, उसका कुछ भाग रह जाता है । ज्ञान के उत्पाद और विनाशवाले पर्यायों में ज्ञानात्मक द्रव्य स्थिर रहता है, यही स्थिर ज्ञान आत्मा है और वह अर्थों के उत्पाद और नाश के समान अनुगत रूप को भी स्थिर रूप में प्रत्यक्ष कर सकता है । तीन काल के पर्यायों का अभेद होने पर भी जब द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है तब सभी का प्रत्यक्ष नहीं होता । इसका कारण इन्द्रियों का सामर्थ्य है । जो वर्तमान काल में है उसीका ज्ञान इन्द्रियों से हो सकता है । इन्द्रियों का स्वभाव इसी प्रकार का है, जिन पर्यायों को इन्द्रिय नहीं जान सकते उनके साथ द्रव्य का अभेद यदि प्रत्यक्ष न हो, तो वह अविद्यमान नहीं सिद्ध हो सकता । नेत्र से रूप का दर्शन होता है । जब फूल का रूप दिखाई देता है । तब स्पर्श और गन्ध को होने पर भी नेत्र नहीं जान सकते । इतने से फूल में जब रूप है तब स्पर्श और गन्ध का अभाव नहीं सिद्ध होता । **यदि अनुगामी द्रव्य न हो तो प्रथम पर्याय के नष्ट होने पर अन्य पर्याय नहीं उत्पन्न होना चाहिए । उपादान बीज के न होने पर अंकुर पर्याय नहीं उत्पन्न होता । पर्याय का अभेद द्रव्य के प्रत्यक्ष का साधन नहीं है । प्रत्यक्ष के साधन इन्द्रिय हैं और ये अपने स्वभाव के अनुसार अर्थ का प्रत्यक्ष करते हैं । स्मरण और प्रत्यभिज्ञान की सहायता से आत्मा भूत और भावी पर्यायों को और उनसे अभिन्न द्रव्यों को जान लेता है ।**

यहाँ ध्यान रखना कि, **द्रव्य का अनुगामी अक्षणिक स्वरूप काल की अपेक्षा से प्रतीत होता है । काल इस स्वरूप को उत्पन्न नहीं करता** । अर्थ, बौद्ध मत के अनुसार क्षणिक है, पर वर्तमानकाल अर्थ में क्षणिकता को उत्पन्न नहीं करता । यदि काल वर्तमान अर्थ में क्षणिकता को उत्पन्न करता हो, तो वर्तमानकाल की क्षणिकता को उत्पन्न करने के लिए किसी अन्य काल को कारण मानना पड़ेगा । इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी । इससे बचने के लिए अर्थ के यथार्थ स्वभाव का आश्रय लेना होगा । जिस प्रकार अर्थ स्वभाव से जिस क्षण में उत्पन्न होता है, वह क्षण पूर्ण और उत्तर भाव से रहित होती है । क्षण के साथ संबंध होने से अर्थ क्षणिक कहा जाता है, इसी प्रकार अनेक क्षणों के साथ अर्थ का संबंध है, इसके कारण अर्थ अक्षणिक कहा जाता है । तीनों काल अक्षणिकता को उत्पन्न नहीं करते ।

अर्थों में अनुगम से युक्त द्रव्य और अनुगम से रहित पर्याय का अनुभव होने पर भी एकान्तवाद का आश्रय लेकर बौद्ध क्षणिक पर्यायों के ज्ञान को सत्य मानता है और जो एक अनुगत द्रव्य प्रतीत होता है उसके ज्ञान को भ्रम कहता है। दीप की ज्वाला जलती हुई चिरकाल तक एक प्रतीत होती है, परन्तु एक ज्वाला चिरकाल तक स्थिर नहीं रह सकती। जब तक तेल और बत्ती रहती है तब तक ज्वाला जलती है । तेल का नाश क्षण-क्षण में प्रत्यक्ष होता है, इससे ज्वाला का जन्म प्रतिक्षण सिद्ध होता है । जो ज्वाला प्रथम क्षण में उत्पन्न हुई उसके समान अन्य ज्वाला दूसरे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षण में उत्पन्न हुई, निरंतर समान ज्वालाओं के उत्पन्न होने के कारण वही एक ज्वाला जल रही है, जो पहले जलती थी, इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाता है, ज्वाला से भिन्न कोई अनुगामी द्रव्य नहीं है । इसलिए क्षणिक पर्याय केवल है ।

परन्तु बौद्धमत की यह मान्यता युक्त नहीं है । जितनी ज्वालाएँ उत्पन्न होती हैं, उन सब में प्रकाशात्मक उष्ण तेज अनुगत रूप से प्रतीत होता है । ज्वाला की एकता भ्रान्त है, पर तेज का अनुगत एक स्वरूप भ्रम से नहीं प्रतीत हो रहा है । यदि प्रथम क्षण में ज्वाला के पर्याय के साथ तेज द्रव्य भी नष्ट हो जाय तो दूसरे ही क्षण में ज्वाला का नाश हो जाना चाहिए । अतः अनुगत तेज द्रव्य का प्रत्यक्ष एक ज्वाला के प्रत्यक्ष काल में भी सत्य है । जहाँ पर पट, पत्थर, लोहा आदि का स्थिर रूप में अनुभव होता है, वहाँ भी ज्वाला के दृष्टांत को लेकर केवल क्षणिक पर्यायों को मानना और स्थिर द्रव्य का निषेध करना अयुक्त है । एकान्त रुप से क्षणिक पर्यायों को स्वीकार करने से बौद्ध मत ऋजुसूत्राभास है ।

शब्दाभास : कालादिभेदेनार्थभेदमेवाभ्युपगच्छन् शब्दाभासः[97], यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति, भिन्नकालशब्दत्वात्तादृक् सिद्धान्यशब्दवदिति ।

अर्थ : काल आदि के भेद से अर्थ के भेद को ही माननेवाला और अभेद का निषेध करनेवाला **शब्दाभास** है। जैसे सुमेरु था, है, होगा इत्यादि शब्द भिन्न अर्थ को ही कहते हैं, भिन्न काल के वाचक शब्द होने से इस प्रकार के सिद्ध अन्य शब्दों के समान ।

एक अर्थ का तीन कालों के साथ संबंध रहता है, इसलिए काल का भेद होने पर भी अर्थ का सर्वथा भेद नहीं होता। **जिस पर्याय का एक क्षण के साथ सम्बन्ध है, उसी पर्याय का अन्य क्षणों के साथ सम्बन्ध नहीं रह सकता। द्रव्य अनेक क्षणों के साथ भी सम्बन्ध रख सकता है । वह काल के भिन्न होने पर भी अभिन्न रहता है । इसी प्रकार वस्तु का स्वरूप काल के भेद में भी भिन्न और अभिन्न रहता है ।** इस तत्त्व की अपेक्षा करके शब्दनय कहने लगता है, पूर्व काल में जो सुमेरु था, वह ही अब नहीं है । अब जो सुमेरु है, वह भूतकाल के सुमेरु से सर्वथा भिन्न है। जब कोई कहता है 'देवदत्त गया, यज्ञदत्त पढता है, विष्णुमित्र भोजन करेगा' तब देवदत्त आदि अर्थ भिन्न होते हैं । भूतकाल की गमन क्रिया के साथ देवदत्त का सम्बन्ध है, वर्तमान काल की पठन क्रिया के साथ यज्ञदत्त का सम्बन्ध है, भावी काल की भोजन क्रिया के साथ विष्णुमित्र का सम्बन्ध है । यहाँ पर भिन्न कालों के साथ सम्बन्ध होने पर देवदत्त आदि अर्थों में भेद है । सुमेरु का भी जब भिन्न काल के साथ सम्बन्ध हो तो भेद मानना चाहिए । इस प्रकार एकान्तवाद का आश्रय लेकर शब्दनय काल भेद से जहाँ अर्थ एक है, वहाँ भी भेद मानने लगता है । देवदत्त आदि अर्थ भिन्न थे और उनका भिन्न काल की क्रियाओं के साथ सम्बन्ध था इस वस्तु की ओर उपेक्षा कर देता है । **काल ही नहीं, कारक और लिङ्ग आदि का भेद होने पर भी शब्द नय जब एकान्त रूप से अर्थ के भेद को केवल मानने लगता है, तब शब्दाभास हो जाता है ।**

---

97. **एतदाभासं ब्रुवते—तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः ।।७-३४।। यथा-बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति, भिन्नकालशब्दत्वात्, तादृक्सिद्धान्यशब्दवदित्यादिः ।।७-३५।। तद्भेदेन**-कालादिभेदेन, **तस्य-ध्वनेः, तमेव**-अर्थभेदमेव, समर्थयमानस्तदाभासः **शब्दनयाऽऽभास** इत्यर्थः । **अयं भावः**-योऽभिप्रायः कालादिभेदेन शब्दस्यार्थभेदमेव समर्थयते, द्रव्यरूपतयाऽभेदं पुनः सर्वथा तिरस्करोति स शब्दनयाऽऽभासः ।।३४।। अत्रानुमाने बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति इति **पक्षः** । "भिन्नकालशब्दत्वात्" इति **हेतुः** । "तादृक्सिद्धान्यशब्दवद्" इति **दृष्टान्तः** । अनेनानुमानेन कालादिभेदेनार्थमेव स्वीकुर्वन् त्रिष्वपि कालेषु विद्यमानमप्यभिन्नं द्रव्यं सर्वथा तिरस्कुर्वन्नभिप्रायविशेषः शब्दनयाऽऽभासः ।।३५।। **(प्र.न.तत्त्वा.)**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समभिरूढाभास : पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणः समभिरूढाभासः[98], यथा इन्द्रः शक्रः पुरन्दरः इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव भिन्नशब्दत्वात् करिकुरंगशब्दवदिति ।

अर्थ : पर्याय शब्दों में अर्थ के भेद को ही स्वीकार करनेवाला **समभिरूढाभास** होता है । जैसे इन्द्र, शक्र पुरन्दर इत्यादि शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न ही हैं, भिन्न शब्द होने से, करी-कुरङ्ग शब्द के समान ।

करी शब्द का अर्थ हाथी और कुरंग शब्द का अर्थ हरिण है । इसी प्रकार अनेक शब्द हैं, जिनके अर्थ भिन्न हैं । शब्द के भेद से अर्थ के भेद को देखकर जब नियम बना लिया जाता है कि 'जहाँ शब्दों का भेद है वहाँ अर्थों का भेद है।' तब वस्तु का स्वरूप अयुक्त हो जाता है । **इस प्रकार के अनेक शब्द हैं जो एक अर्थ के वाचक होते हैं । एक अर्थ में अनेक धर्म रहते हैं, उनमें से किसी एक धर्म का प्रकाशन एक शब्द करता है, तो दूसरा शब्द उसी एक अर्थ के अन्य धर्म का प्रतिपादन करता है । एक धर्मी का प्रतिपादन करनेवाले अनेक शब्द हो सकते हैं । वस्तु के इस स्वरूप का जब एकान्तवाद के द्वारा निषेध किया जाता है, तब समभिरूढ नयाभास होता है । पर्याय शब्द अर्थ के भिन्न धर्मों को कहते हैं, भिन्न धर्मियों को नहीं ।**

एवंभूताभास : क्रियानाविष्टवस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपन्नेवंभूताभासः[99], यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात् पटवदिति ।

अर्थ : क्रिया से रहित वस्तु शब्द के द्वारा वाच्य नहीं है, इस प्रकार कहनेवाला एवंभूताभास होता है । जैसे विशिष्ट चेष्टा से शून्य घट नामक वस्तु घट शब्द का वाच्य नहीं है, घट शब्द की प्रवृत्तिनिमित्तक्रिया से शून्य होने के कारण, जैसे पट अर्थ के समान ।

क्रिया का आश्रय लेकर शब्द अर्थों के वाचक होते हैं । जो पाक करता है उसको पाचक कहते हैं । लोहार पाक नहीं करता इसलिए पाचक शब्द का वाच्य अर्थ लुहार नहीं है । इस वस्तु का अत्यंत आश्रय लेकर जब कहा जाता हो, किसी को पाचक तभी कहना चाहिये जब वह पका रहा हो । जब कहीं जा रहा हो अथवा बैठा हो वा सो रहा हो तब उसके लिये पाचक शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए । इस प्रकार का अभिप्राय एवंभूताभास है । **शब्दों की प्रवृत्ति में निमित्त सदा क्रिया नहीं होती । जाति आदि शब्दों के प्रवृत्ति निमित्त होते हैं ।** जल लाना आदि क्रिया के कारण घट को घट शब्द से कहा जाता है । परन्तु घट शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त घटत्व जाति है । जब घट एक स्थान पर स्थिर हो, उसके द्वारा पानी न लाया जा रहा हो, तब भी उसमें घटत्व जाति रहती है । इसलिए उसको घट शब्द से कहा जा सकता है । जहाँ पर क्रिया के कारण शब्द की प्रवृत्ति होती है, वहाँ पर भी क्रिया का सदा होना आवश्यक नहीं होता । यदि उचित समय पर पाक करता है, तो चलते वा सोते भी पाचक कहा जा सकता है । पाचक होने के लिये क्रिया को एकान्तरूप से कारण माननेवाला अभिप्राय एवंभूत नयाभास हो जाता है ।

---

98. **एतदाभासमाभाषन्ते-पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः ।।७-३८।। यथा-इन्द्रः, शक्रः, पुरन्दरः इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव, भिन्नशब्दत्वात्, करिकुरङ्ग-तुरङ्गशब्दवदित्यादिः ।।७-३९।।** यः पर्यायशब्दानामभिधेयनानात्वमेवाभिप्रैति एकार्थाभिधेयत्वं पुनरमुष्य सर्वथा तिरस्कुरुते स तदाभासः **समभिरुढाऽऽभासः** ।।३८।। (प्र.न.तत्त्वा.) 99. **एवंभूताभासमाचक्षते-क्रियाऽनाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदाभासः ।।४२।। यथा-विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात्, पटवदित्यादिः ।।४३।।** यः शब्दानां क्रियाऽऽविष्टमेवार्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छति क्रियानाविष्टं तु सर्वथा निराकरोति स **एवम्भूतनयाऽऽभासः** ।।४२।। **अयमस्याशयः**-चेष्टार्थकाद् घटधातोर्निष्पन्नत्वाद् घटशब्दस्य चेष्टाविरहितो घटरूपोऽर्थो वाच्यो न भवितुमर्हति, घटशब्दप्रवृत्तौ निमित्तभूता या चेष्टाऽऽख्या क्रिया तच्छून्यत्वात्, पटवत् । यथा-पटो घटीयचेष्टाशून्यत्वाद् घटशब्दवाच्यो न भवति, तथैव चेष्टाशून्यो घटोऽपि घटपदवाच्यो न भवति ।।४३।। (प्र.न.तत्त्वा.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थादि आभास :

अर्थाभिधायी शब्दप्रतिक्षेपी अर्थनयाभासः । **शब्दाभिधाय्यर्थप्रतिक्षेपी** शब्दनयाभासः। **अर्पितमभिदधानोऽनर्पितं प्रतिक्षिपन्नर्पितनयाभासः । अनर्पितमभिदधदर्पितं प्रतिक्षिपन्ननर्पिताभासः । लोकव्यवहारमभ्युपगम्य तत्त्वप्रतिक्षेपी** व्यवहाराभासः। **तत्त्वमभ्युपगम्य व्यवहारप्रतिक्षेपी निश्चयाभासः । ज्ञानमभ्युपगम्य-क्रियाप्रतिक्षेपी** ज्ञाननयाभासः । **क्रियामभ्युपगम्य ज्ञानप्रतिक्षेपी** क्रियानयाभास **इति** ।

अर्थ : अर्थ का अभिधान करनेवाला और शब्द का निषेध करनेवाला अभिप्राय **अर्थनयाभास** है ।

शब्द का अभिधान करनेवाला और अर्थ का निषेध करनेवाला **शब्दनयाभास** है ।

अर्पित अर्थात् विशेष को स्वीकार करनेवाला और अनर्पित अर्थात् सामान्य का निषेध करनेवाला **अर्पित-नयाभास** है।

अनर्पित का स्वीकार करनेवाला और अर्पित का निषेध करनेवाला **अनर्पितनयाभास** है ।

लोक व्यवहार को स्वीकार करके तत्त्व का निषेध करनेवाला **व्यवहाराभास** है ।

तत्त्व को स्वीकार करके व्यवहार का निषेध करनेवाला **निश्चयाभास** है । ज्ञान को स्वीकार करके क्रिया का निषेध करनेवाला **ज्ञाननयाभास** है ।

क्रिया को स्वीकार करके ज्ञान का निषेध करनेवाला **क्रियानयाभास** है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट-४ सप्तभंगी

सप्तभंगी का स्वरूप : जैनदर्शन के अनेकान्त सिद्धांत के स्तंभरुप सप्तभंङ्गी के स्वरूप का अब निरूपण करते है-

सर्वत्रायं ध्वनिर्विधि-प्रतिषेधाभ्यां स्वार्थमभिदधानः सप्तभङ्गीमनुगच्छति ।।४-१३।। (प्रमाणनय तत्त्वालोक)

अयं ध्वनिः-शब्दः, सर्वत्र विधिमुखेन निषेधमुखेन च, स्वार्थः-नित्यानित्याद्यनेकान्तात्मकं वस्तु, अभिदधानः-प्रतिपादयन्, सप्तभङ्गी-स्यादस्तीत्यादिवक्ष्यमाणप्रकारं सप्तधा प्रयोगमनुगच्छति ।।१३।।

यह शब्द सर्वत्र विधि और निषेध की प्रधानता से स्वार्थ का (नित्यानित्यादि अनंतधर्मात्मक वस्तु का) प्रतिपादन करते वक्त **"स्यादस्ति, स्यान्नास्ति..."** इत्यादि आगे बतायेंगे, वे सप्तभंगी का = सात प्रकार के प्रयोग का अनुसरण करता है।

अब सप्तभंगी का स्वरूप स्पष्ट करते हुए **जैनतर्क भाषा** में कहा है कि,

केयं सप्तभङ्गीति चेदुच्यते-एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गी ।[1]

अर्थ : सप्तभङ्गी क्या है ? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर यह है - किसी भी एक वस्तु में एक एक धर्म के विषय में

---

1. **अथ सप्तभङ्गीमेव स्वरूपतो निरूपयन्ति- एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधि-निषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गी ।।४-१४।। (प्रमाणनयतत्त्वालोक)**

एकत्र-जीवाजीवादौ वस्तुनि, **एकैकधर्मपर्यनुयोगवशात्**-एकैकसत्त्वादिधर्मप्रश्नवशात्, **अविरोधेन**-प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण, **व्यस्तयोः**-पृथग्भूतयोः, **समस्तयोः**-समुदितयोश्च विधि-निषेधयोः **कल्पनया**-पर्यालोचनया कृत्वा, **स्यात्काराङ्कितः**-स्याच्छब्दलाञ्छितः, **सप्तधा**-सप्तप्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गी ज्ञातव्या ।

इदमत्राऽऽकूतम्-जीवाजीवात्मकं सर्वं हि वस्तुजातमनन्तधर्मात्मकमिति सिद्धान्तः । तत्रैकैकधर्ममवलम्ब्य सप्तविधप्रश्नवशात् सप्तधावाक्यं प्रवर्तते । उद्देश्य-विधेयात्मकं हि वाक्यं भवति, एवं च कस्मिंश्चिद् वस्तुनि कमपि धर्ममवलम्ब्योद्देश्य-विधेयात्मकं सप्तधैव वचनविन्यासः प्रवर्तते, नाधिकं नाऽपि न्यूनं, तथाहि-घटे अस्तित्वधर्ममवलम्ब्य **'स्यादस्त्येव घटः' 'स्यान्नास्त्येव घटः' 'स्यादस्ति नास्ति च घटः' 'स्यादवक्तव्य एव घटः' 'स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घटः' 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घटः' 'स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च घटः'** इति सप्तभङ्गाः प्रवर्तन्ते ।

प्रश्नानां सप्तविधत्वं च प्रश्नकर्तुः सप्तविधजिज्ञासोदयात् । जिज्ञासायाः सप्तविधत्वं सप्तविधसंशयसमुद्भवात् । सन्देहस्यापि सप्तविधत्वं संदेहविषयीभूतधर्माणां कथञ्चिदस्तित्वादीनां सप्तविधत्वात् । तथाहि-कथञ्चिदस्तित्वं, कथञ्चिन्नास्तित्वं, कथञ्चित्क्रमार्पितोभयत्वं, कथञ्चिदवक्तव्यत्वं, कथञ्चिदस्तित्वविशिष्टावक्तव्यत्वं, कथञ्चिन्नास्तित्वविशिष्टावक्तव्यत्वं, कथञ्चित्क्रमार्पितोभयविशिष्टावक्तव्यत्वमिति। एवं च वस्तुषु प्रतिपर्यायमवलम्ब्य सप्तविधसंशयविषयीभूतधर्माणां विद्यमानत्वाद् घटः स्यादस्ति न वा ? इति कथञ्चित्सत्त्वसर्वथासत्त्वरूप-विरुद्धकोटिद्वयात्मकः संशयः समाविर्भवति, संशयेन च घटे वास्तविकसत्त्वनिर्णयार्थं जिज्ञासोत्पद्यते, ततो घटः किं स्यादस्त्येव ? इति प्रश्नः प्रवर्तते तादृशप्रश्नवशात् प्रतिपादयितुः प्रतिपिपादयिषा जायते, ततः प्रतिपादयति, तथा च प्रश्नानां सप्तधैव प्रवर्तमानत्वादुत्तरस्यापि सप्तविधत्वमेव प्रपन्नं भवति ।

इयं सप्तभङ्गी प्रमाणसप्तभङ्गी-नयसप्तभङ्गीभेदेन द्विविधा। तत्र प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा प्रमाणसप्तभङ्गी । प्रतिभङ्गं विकलाऽऽदेशस्वभावा **च नयसप्तभङ्गी** । एकधर्मबोधनमुखेन अभेदवृत्त्या अभेदोपचाराद् वा तदात्मकाशेषधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वं **सकलादेशत्वम्**। कुत्राऽभेदवृत्त्या प्रतिपादयति ? कुत्र चाभेदोपचारेण ? इति चेत्, उच्यते-**द्रव्यार्थनयाङ्गीकारपक्षे** सर्वपर्यायाणां द्रव्यात्मकत्वात् 'स्यादस्त्येव घटः' इति वाक्यमस्तित्वलक्षणैकधर्मप्रतिपादनद्वारा तदात्मकाशेषधर्मात्मकं वस्तु अभेदवृत्त्या प्रतिपादयति । पर्यायार्थनयस्वीकारपक्षे तु सर्वपर्यायाणां परस्परभिन्नत्त्वाद् एकस्य शब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने सामर्थ्याऽभावादभेदोपचारेणानन्तधर्मात्मकं वस्तु प्रतिपादयति। **अभेदवृत्तेरभेदोपचारस्याऽनाश्रयणे एकधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकं वाक्यं विकलादेश इति ।।१४।।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न करने के कारण बिना विरोध से अलग अलग और मिलित विधि और निषेध की कल्पना के द्वारा **'स्यात्'** शब्द से युक्त सात प्रकार का शब्द प्रयोग **सप्तभङ्गी** कहलाता है ।

कहने का मतलब यह है कि, जीव अजीव आदि जितने अर्थ हैं उन सब में सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, आदि धर्मों में प्रश्न करने के कारण विधि और निषेध के द्वारा सात प्रकार का वचन **सप्तभङ्गी** है । प्रत्येक धर्म का अपने अभावात्मक धर्म के साथ स्वाभाविक विरोध है । अपेक्षा के भेद से परस्पर विरोधी धर्मों के विरोध को दूर करके धर्मी अर्थ अनेक धर्मों से युक्त प्रकाशित किया जाता है। कभी विधि की कल्पना की जाती है और कभी निषेध की । एक अपेक्षा से विधि होती है और अन्य अपेक्षा से निषेध । निरपेक्ष भाव से जो विरोधी हैं उनका विरोध अपेक्षा के कारण दूर हो जाता है । **एक धर्मी में एक काल में विरोधी धर्मों का प्रतिपादन सप्तभङ्गी के लिए अत्यन्त आवश्यक है । जिन धर्मों का परस्पर विरोध नहीं है उन धर्मों का धर्मी में एक साथ प्रतिपादन सप्तभङ्गी नहीं हैं, एक फल में रूप रस गन्ध और स्पर्श आदि एक काल में प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं । रूप आदि का परस्पर विरोध नहीं हैं, वे परस्पर मिलकर रहते हैं, इसलिए उनका एक धर्मी में निरूपण सप्तभङ्गी नहीं है । धर्म का अपने अभाव के साथ विरोध होता है।** धर्म भावात्मक है और अभाव उसका निषेधात्मक है । भाव और अभाव स्वाभाविक रूप से परस्पर विरोधी हैं । जहाँ भाव है वहाँ अभाव नहीं और जहाँ अभाव है वहाँ भाव नहीं। भाव और अभाव रूप विरोधी धर्मों का अपेक्षा के द्वारा एक धर्मी में एक काल में निरूपण हो, तो सप्तभङ्गी हो जाती है। कोई भी धर्म हो उसका अपने अभाव के साथ विरोध है, इस विरोध को सप्तभङ्गी दूर करती है । किसी भी धर्म के विषय में सप्तभङ्गी होती है तो भाव के साथ अभाव के विरोध को दूर करती ही है । जब सत्त्व और असत्त्व का एक धर्मी में प्रतिपादन होता है तथा भाव और अभाव का विरोध दूर नहीं होता किन्तु जब भेद और अभेद का, नित्यत्व और अनित्यत्व आदि का एक धर्मी में प्रतिपादन होता है तभी भाव और अभाव का विरोध दूर हो जाता है । असत्त्व जिस प्रकार सत्त्व का अभाव है, इस प्रकार अभेद भेद का अभाव है, नित्यत्व का अभाव अनित्यत्व है । भाव और अभावरूप से विधि और निषेध का प्रतिपादन सप्तभङ्गी का प्राण होता है।

एक धर्मी में एक धर्म का विधान हो और उससे भिन्न किसी अन्य धर्म का निषेध हो, तो सप्तभङ्गी नहीं होती । अग्नि में रूप है और रस नहीं इस प्रकार कहा जाय तो सप्तभङ्गी नहीं प्रकट हो सकती । अग्नि में रूप के सत्त्व के साथ रस के असत्त्व का विरोध नहीं है । विरोध से रहित अनेक धर्मों का एक धर्मी में प्रतिपादन करने पर जिस प्रकार सप्तभङ्गी नहीं होती, इस प्रकार एक धर्मी में विरोध से रहित एक धर्म के सत्त्व और अन्य धर्म के असत्त्व का प्रतिपादन हो तो भी सप्तभङ्गी नहीं हो सकती । विरोधी धर्मों में विरोध के अभाव का निरूपण हो, तो सप्तभङ्गी होती है । वचन के जिन प्रकारों से अर्थ भिन्न हो जाते हैं वे भङ्ग कहे जाते हैं । सात भङ्गों के समूह को सप्तभङ्गी कहते हैं। सात भङ्ग की उत्पत्ति का रहस्य बताते हुए कहते है कि,

इयं च सप्तभङ्गी वस्तुनि प्रतिपर्यायं सप्तविधधर्माणां सम्भवात् सप्तविधसंशयोत्थापितसप्तविधजिज्ञासा-मूलसप्तविधप्रश्नानुरोधादुपपद्यते ।[2] (जैनतर्कभाषा)

अर्थ : एक वस्तु के प्रत्येक पर्याय में सात प्रकार के ही धर्म हो सकते हैं । इस कारण सात प्रकार के संदेह और इसी

2. प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव सम्भवात् ।।४-३९।। तेषामपि सप्तत्वं सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात् ।।४-४०।। तस्यापि सप्तविधत्वं सप्तधैव तत्सन्देहसमुत्पादात् ।।४-४१।। तस्यापि सप्तप्रकारकत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेः ।।४-४२।। (प्र.न.तत्त्वा.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कारण संदेह से उत्पन्न सात प्रकार की जिज्ञासा और उनके कारण सात प्रकार के प्रश्न होते हैं, इन प्रश्नों के कारण प्रत्येक पर्याय में सात भङ्ग उत्पन्न होते हैं ।

कहने का आशय यह है कि, मुख्यरूप से सत्त्व और असत्त्व धर्म का आश्रय लेकर सप्तभङ्गी उठती है । क्रम से और क्रम के विना इन्हीं दो धर्मों का विधान और निषेध करने के कारण सातभङ्ग हो जाते हैं । एक धर्म का आश्रय लेकर इन सात प्रकार के धर्मों से अतिरिक्त धर्म नहीं हो सकते, इसलिए उनके विषय में संशय-जिज्ञासा और प्रश्न ही नहीं हो सकते, इसलिए सप्तभङ्गी के समान अष्टभङ्गी आदि सम्भव नहीं है । प्रत्येक भङ्ग में स्यात् और एवकार का प्रयोग होता है । **घट के सत्त्व धर्म को लेकर सात भङ्ग इस प्रकार होंगे-स्यादस्त्येव घटः १. स्यान्नास्त्येव घटः २. स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव च घटः ३. स्यादवक्तव्य एव घटः ४. स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्य एव च घटः ५. स्यान्नास्त्येव स्याददक्तव्य एव च घटः ६. स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव च घटः ।**

प्रथम भंग : अब प्रथमभंग का स्वरूप एवं उदाहरण बताते हुए जैनतर्क भाषा में कहा है कि,

तत्र स्यादस्त्येव सर्वमिति प्राधान्येन विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः ।[3]

अर्थ : 'स्यात्' सब पदार्थ हैं ही, इस प्रकार प्रधान रूप से विधि की विवक्षा करने पर प्रथम भङ्ग होता है ।

कहने का सार यह है कि, सब अर्थों को धर्मी बनाकर और एक सत्त्व धर्म का आश्रय लेकर भङ्गों का प्रकाशन

---

3. **अथास्यां प्रथमभङ्गोल्लेखं तावद् दर्शयन्ति- तद्यथा-स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः ।।४-१५।। (प्र.न.तत्त्वा.)**

अत्र स्यात्पदमनेकान्तबोधकम्, 'अस्त्येव सर्वं कुम्भादि', इत्युक्ते स्वरूपेणास्तित्वमिव पररूपेणाप्यस्तित्वं प्राप्नोति, तद्व्यावृत्त्यर्थं स्यात्पदं, तेन च **स्यात्**-कथञ्चित्स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैरेव कुम्भोऽस्ति, न परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैरित्यर्थो लभ्यते । तथाहि-कुम्भो **द्रव्यतः** पार्थिवत्वेनास्ति नाऽऽबादित्वेन, **देशतः** पाटलिपुत्रत्वेनास्ति न कान्यकुब्जत्वेन, **कालतः** वासन्तिकत्वेनास्ति न शैशिरत्वेन, **भावतः** श्यामत्वेनास्ति न रक्तत्वेन । **'स्यादस्त्येव सर्वम्'** इत्यत्र स्वरूपादिभिरस्तित्वमिव स्वरूपादिभिरेव नास्तित्वमपि स्यात् तद्व्यावृत्त्यर्थमेवकारग्रहणं, तेन चायमर्थो लभ्यते-यत् स्वरूपादिभिरस्त्येव सर्वं वस्तु न तु नास्त्यपि, पररूपादिभिर्नास्तित्वं तु इष्टमेव ।

एवकारस्त्रिधा-अयोगव्यवच्छेकः, अन्ययोगव्यवच्छेदकः, अत्यन्तायोगव्यवच्छेदकश्च । तत्र **विशेषणसंगतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदकः। अयोगव्यवच्छेदकत्वं** नाम-**उद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाऽत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं,** यथा 'शङ्खः पाण्डुर एव' इत्यत्रोद्देश्यतावच्छेदकं शङ्खत्वं, तत्समानाधिकरणात्यन्ताभावो न तावत्पाण्डुरत्वात्यन्ताभावोऽपि तु पीतत्वाद्यत्यन्ताभावः, तत्प्रतियोगित्वं पीतत्वादौ, अप्रतियोगित्वं पाण्डुरत्वे वर्तत इति लक्षणसमन्वयः । **विशेष्यसंगतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः, अन्ययोगव्यवच्छेदकत्वं** च **विशेष्यभिन्नतादात्म्यादिव्यवच्छेदः,** यथा-'पार्थ एव धनुर्धरः, अत्र पार्थान्यतादात्म्याभावो धनुर्धरे एवकारेण बोध्यते । **क्रिया संगतैवकारश्चात्यन्तायोगव्यवच्छेदकः। अत्यन्ताऽयोगव्यवच्छेदकत्वं** नाम-**उद्देश्यतावच्छेदकव्यापकाभावाप्रतियोगित्वं,** यथा-'नीलं सरोजं भवत्येव' इत्यत्र उद्देश्यतावच्छेदकं सरोजत्वं तद्व्यापकोऽत्यन्ताभावो नहि नीलाऽभेदाऽभावोऽपि तु पटाऽभेदाऽभावः, तत्प्रतियोगित्वं पटाऽभेदे, अप्रतियोगित्वं नीलाऽभेदे वर्तत इति लक्षणसमन्वयः ।

ननु 'स्यादस्त्येव सर्वम्' इत्यादौ एवकारस्य क्रियासंगतत्वादत्यन्तायोगव्यवच्छेदेन भवितव्यं, तथा सति विवक्षिताऽर्थासिद्धिः स्यात्, कस्मिंश्चिद् घटे अस्तित्वस्याभावेऽपि 'स्यादस्त्येव घटः' इत्याकारकप्रयोगसम्भवात्, यथा कस्मिंश्चित् सरोजे नीलत्वाऽभावेऽपि 'नीलं सरोजं भवत्येव' इत्याकारकप्रयोग इति चेत्, **न**, राद्धान्तेऽत्रायोगव्यवच्छेदकस्यैवकारस्य स्वीकृतत्वात्, क्रियासंगतैवकारोऽपि क्वचिदयोग-व्यवच्छेदबोधको भवति, यथा-'ज्ञानमर्थं गृह्णात्येव' इत्यत्र ज्ञानत्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वस्य अर्थग्राहकत्वे बोधः। एवं 'स्यादस्त्येव घटः' इत्यादिष्वपि अयोगव्यवच्छेदक एव एवकारो बोद्धव्यः ।

यद्यपि राद्धान्ते सत्त्वमिवाऽसत्त्वमपि घटस्य स्वरूपमेव, तथापि 'स्यादस्त्येव घटः' इत्यत्र सत्त्वस्य प्राधान्येन भानम्, असत्त्वस्य चाप्राधान्येन । एवं द्वितीयभङ्गे नास्तित्वस्य प्राधान्येन अस्तित्वस्य चाप्राधान्येन भानम् । एवमन्यभङ्गेष्वपि ज्ञातव्यम् ।।१५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किया जाय तो घट आदि सभी धर्मियों में सत्त्व आदि के प्रकाशक भङ्गो के प्रयोगों का ज्ञान सरलता से हो सकता है । इस कारण सब को धर्मी बनाकर प्रथम भङ्ग का निरूपण किया । अब उदाहरण देते है -

उदा.-स्यात् कथञ्चित् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयेत्यर्थः ।

अर्थ : स्यात् का अर्थ है कथञ्चित् । अपने (स्व) द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा से, यह अर्थ है ।

कहने आशय यह है कि, स्यात् अनेकान्त का प्रकाशक अव्यय है । यह 'तिङन्त' पद नहीं है किन्तु तिङन्त के समान है और अपेक्षा का बोध कराता है । **अपेक्षा के द्वारा जब सत्त्व धर्म का प्रतिपादन होता है तब प्रथम भङ्ग होता है । अपेक्षा एक प्रकार का मानस ज्ञान है ।** भावों के कुछ धर्म परस्पर अपेक्षा नहीं रखते और कुछ धर्म परस्पर अपेक्षा रखते हैं । रूप रस आदि परस्पर सापेक्ष नहीं हैं । सत्त्व और असत्त्व आदि अपेक्षा से प्रतीत होते हैं, इसलिए अपेक्षा के द्वारा इनका प्रतिपादन भङ्गरूप हो जाता है । प्रथम भंग के स्वरूप की अधिक स्पष्टता करते हुए कहते है कि,

अस्ति हि घटादिकं द्रव्यतः पार्थिवादित्वेन, न जलादित्वेन । क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकादित्वेन, न कान्यकुब्जादित्वेन। कालतः शैशिरादित्वेन, न वासन्तिकादित्वेन । भावतः श्यामादित्वेन, न रक्तादित्वेनेति ।

अर्थ : घट आदि द्रव्य की अपेक्षा से पार्थिव आदि स्वरूप के द्वारा है, जल आदि रूप से नहीं है । क्षेत्र की अपेक्षा से पाटलिपुत्र में है, कान्यकुब्ज में नहीं है । काल की अपेक्षा से शिशिर ऋतु में है, वसन्तऋतु में नहीं है । भाव की अपेक्षा से श्याम आदि रूप में है, रक्त आदि रूप में नहीं है ।

कहने का फलितार्थ यह है कि, प्रत्येक द्रव्य का कोई उपादान कारण होता है और वह किसी देश में और किसी काल में होता है । जब द्रव्य प्रतीत होता है तब अपने गुणों और पर्यायों के साथ प्रतीत होता है । गुण और पर्याय के साथ अर्थ का प्रतीत होनेवाला स्वरूप 'भाव' है । जब भी कोई अर्थ प्रतीत होता है तब उपादान कारण देश काल और अपने गुणों और पर्यायों के साथ प्रतीत होता है । मिट्टी का घडा जब दिखाई देता है तब उपादान कारण मिट्टी भी दिखाई देती है । वह किसी न किसी देश में और किसी न किसी काल में प्रतीत होता है । कोई गुण और पर्याय भी उसका दृष्टि गोचर होता है । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के बिना किसी अर्थ का स्वरूप विचार में भी नहीं लाया जा सकता । अर्थ के साथ अपरिहार्यरूप से रहनेवाले द्रव्य, क्षेत्र आदि अर्थ के अपने होते हैं । जो द्रव्य क्षेत्र आदि स्व नहीं हैं अर्थात् अपने नहीं है उनकी अपेक्षा से अर्थ सत् नहीं होता । घट जब है तब अपने उपादान पृथिवी के साथ रहेता है, पृथ्वी के बिना घट नहीं रह सकता । जल घट का उपादान कारण नहीं है इसलिए जलरूप से घट सत् नहीं हैं। जब घट किसी एक स्थान में रहता है तब अन्य स्थान में वह नहीं रहता । अन्य स्थान की अपेक्षा से वह असत् है । जब घट वर्तमान काल में प्रतीत होता है तब अनागत अथवा अतीत काल में प्रतीत नहीं होता । वर्तमान काल की अपेक्षा से घट सत् होता हुआ भी अतीत और अनागत में असत् है । इसी प्रकार दिखाई देने के समय पर यदि घट श्याम हो तो श्याम स्वरूप से ही सत् है । पीत अथवा रक्त रूप से सत् नहीं है । उस काल में श्याम रूप के साथ ही घट का अभेद है । उपादान पृथिवी के साथ और श्याम आदि गुणों के साथ घट का भेदाभेद है । देश और काल के साथ भेदाभेद तो नहीं है किंतु संयोग सम्बन्ध है । उपादान और गुणों के समान देश और काल के साथ भेदाभेद न होने पर भी अवश्यभावी संयोग सम्बन्ध है । इन नियत संबंधियों के साथ ही अर्थ प्रतीत होता है इसलिए इन की अपेक्षा से सत् है । जो द्रव्य क्षेत्र आदि पर हैं, उनके साथ प्रतीति नहीं होती इसलिए उनकी अपेक्षा से असत् है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय भंग : अब द्वितीय भंग का स्वरूप बताते है -

एवं स्यान्नास्त्येव सर्वमिति प्राधान्येन निषेधकल्पनया द्वितीयः ।[4]

अर्थ : इसी प्रकार किसी अपेक्षा से 'सब पदार्थ नहीं है', इस रीति से निषेध की प्रधानरूप से विवक्षा के द्वारा दूसरा भङ्ग होता है ।

कहने का सार यह है कि, प्रथम भङ्ग में सत्त्वरूप धर्म की प्रधानरूप से विवक्षा है, इस कारण असत्त्व का ज्ञान गौण रूप से होता है। सर्वथा असत्त्व की अप्रतीति नहीं होती । **प्रत्येक भङ्ग एक एक नियत धर्म को प्रधानरूप से प्रकट करता है । अभावात्मक विरोधी धर्मों की प्रतीति अप्रधानरूप से होती है । सप्तभङ्गी श्रुत-प्रमाण का अवान्तर भेद है । एक एक भङ्ग नयरूप वाक्य है । विरोधी धर्म का सर्वथा निषेध न करके किसी धर्म का निरूपण करना नय के स्वरूप के लिए आवश्यक है ।** यदि पहला भङ्ग असत्त्व का सर्वथा निषेध करे तो वह नय वाक्य ही नहीं रहेगा । इसी प्रकार यदि दूसरा भङ्ग सत्त्व का सर्वथा निषेध करे तो वह भी नय न होकर दुर्नय हो जायेगा । इस दशा में नयों का समूहरूप सप्तभङ्गी भी अप्रमाण हो जायेगी । सत्त्व और असत्त्व सापेक्ष भाव हैं । अपेक्षा युक्त अर्थों में अपेक्षा से ही प्रतिपादन होना चाहिए । सत्त्व और असत्त्व, रूप-रस स्पर्श-आदि के समान सर्वथा परस्पर निरपेक्ष नहीं है । स्वद्रव्य और परद्रव्य आदि की अपेक्षा से किसी भी अर्थ का सत्त्व और असत्त्व अनुभव सिद्ध है । शब्द जब द्रव्य आदि की अपेक्षा के बिना अर्थ के सत्त्व और असत्त्व का प्रकाशन करता है तब वह नयवाक्य नहीं होता । तब उसमें लौकिक प्रामाण्य रहता है । **सप्तभङ्गीरूप प्रामाण्य के लिए अथवा प्रथम द्वितीय आदि भङ्गरूप नय के लिए शब्द से उत्पन्न ज्ञान का अपेक्षात्मक होना आवश्यक है ।**

स्व-द्रव्य क्षेत्र आदि के साथ अर्थ का साक्षात् सम्बन्ध है । इसलिए उनके कारण एक अर्थ का सत्त्व है, पर जो द्रव्य क्षेत्र आदि भिन्न वस्तु के साथ सम्बन्ध रखते हैं, वे भी सत् वस्तु के सम्बन्धी हैं । **अपेक्षा के कारण होनेवाला सम्बन्ध दो प्रकार से होता है, सत्त्व के द्वारा और असत्त्व के द्वारा ।** जो द्रव्य आदि स्व है उनके साथ सत्त्व के द्वारा संबंध है और जो द्रव्य आदि पर हैं उनके साथ असत्त्व के द्वारा सम्बन्ध है और घट अवस्था में पिंड आकार का पर्याय नहीं होता, इसलिए उसके साथ असत्त्व के द्वारा सम्बन्ध है । जो द्रव्य क्षेत्र आदि घट के स्वरूप में प्रतीत नहीं होते, वे ही पर कहे जाते हैं और इसलिए उनके साथ असत्त्व के द्वारा सम्बन्ध होता है । इसलिए सत्त्व के द्वारा जिसके साथ सम्बन्ध है वही मात्र सम्बन्धी नहीं होता। जिनके साथ असत्त्वरूप से सम्बन्ध है वे भी सम्बन्धी होते हैं । यदि वे पर होने के कारण सर्वथा सम्बन्ध से रहित हों तो सामान्य रूप से उनकी सत्ता कहीं भी नहीं होनी चाहिये । परन्तु पर द्रव्य आदि का स्व-स्वरूप से अभाव प्रत्यक्ष और युक्ति के विरुद्ध है । जब लोग कहते है कि, दरिद्र के पास धन नहीं है तब असत्त्वरूप से धन का सम्बन्ध दरिद्र के साथ होता है, सत्त्वरूप से सम्बन्ध न होने के कारण असत्त्वरूप से जो सम्बन्ध है उसका निषेध नहीं हो सकता ।

कुछ लोग कहते हैं कि, असत्त्व अभावरूप है और अभाव तुच्छरूप है । तुच्छ का स्वभाव शून्यता है । शून्य की कोई शक्ति नहीं होती, इसलिये उसमें सम्बन्ध करने की शक्ति भी नहीं होती । इस दशा में तुच्छ के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, **यह उनका कथन भी युक्त नहीं है ।** भिन्न भिन्न रूप से न होने को असत्त्व कहते हैं और असत्त्व वस्तु का धर्म है, इसलिए एकान्तरूप से वह तुच्छरूप नहीं है । असत्त्व भी वस्तु है, इसलिए उसके साथ सत् वस्तु का सम्बन्ध

4. **अथ द्वितीयभङ्गोल्लेखं ख्यापयन्ति- स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः ।।१६।।**
'परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैः कथञ्चिन्नास्त्येव कुम्भादिः' इति निषेधकल्पनया द्वितीयो भङ्गः ।।४-१६।। (प्र.न.तत्त्वा.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो सकता है। **अब जो लोग वस्तु के असत्‌रूप होने पर आक्षेप करते हैं** - यदि पर द्रव्य आदि एक अर्थ में नहीं है तो असत्त्व के साथ अर्थ का सम्बन्ध हो सकता है पर जिनका असत्त्व है उन द्रव्य आदि के साथ तो सम्बन्ध नहीं हो सकता। घट का यदि पट के अभाव के साथ सम्बन्ध हो तो पट के साथ सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता । **वे भी युक्त नहीं कहते** । क्योंकि, पर द्रव्य आदि को अपेक्षा से जब घट का असत्त्व कहा जाता है तब पर द्रव्य आदि की अपेक्षा आवश्यक होती है, इसलिये पर द्रव्य आदि भी सत् अर्थ के लिये उपयोगी हो जाते हैं । इस प्रकार की विवक्षा में पट आदि भी सत् घट का सम्बन्धी हो जाता है । पट की अपेक्षा से घट पटरूप से असत् कहा जाता है । **इसके अतिरिक्त,** जब तक पर द्रव्य-क्षेत्रादि का ज्ञान न हो, तब तक स्व-द्रव्य क्षेत्र आदि का स्व-रूप में ज्ञान नहीं हो सकता । **पर की अपेक्षा से स्व का व्यवहार होता है, स्व के व्यवहार में कारण होने से पर द्रव्य आदि भी अर्थ के सम्बन्धी हैं** ।

वस्तु केवल सत्‌रूप नहीं है, असत्‌रूप भी है । प्रत्येक वस्तु का स्वरूप नियत है । नियत स्वरूप का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक एक अर्थ भिन्न अर्थों के अभाव के रूप में प्रतीत न हो । जब तक घट, पट आदि के रूप में असत् न प्रतीत हो तब तक घट का यथार्थ रूप से ज्ञान नहीं हो सकता । इसलिये पट आदि के रूप में असत्त्व भी घट का धर्म है । धर्म के साथ धर्मी का भेदाभेद है, इसलिये घट असत् स्वरूप भी है । मुख्य रूप से किसी भी अर्थ का असत्त्व पर द्रव्य आदि की अपेक्षा से प्रतीत होता है । इसलिये दूसरा भङ्ग इसी रीति से असत्त्व का प्रतिपादन करता है। **यहाँ पर कई लोग आक्षेप करते हैं कि.** असत्त्व अभावरूप है, अभाव प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा करता है । घट का ज्ञान न हो तो घट के अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता, परन्तु भाव का ज्ञान प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता। घट को घटाभाव के ज्ञान की अपेक्षा नहीं है । जब घट के साथ नेत्र का सम्बन्ध होता है, तभी घट का स्वरूप प्रकट हो जाता है, घटाभाव के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती । **इन लोगों का आक्षेप युक्त नहीं है** । अर्थ का ज्ञान दोनों प्रकार से होता है - अपेक्षा से और अपेक्षा के बिना । **अभाव का ज्ञान प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा करता है परन्तु जब अभाव का ज्ञान प्रमेय रूप से होता है तब प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती** । घट हो अथवा पट, वृक्ष हो वा लता हो, कोई भी हो, सभी अर्थ प्रमेय हैं प्रमेय रूप से ज्ञान का विषय होने के लिये वृक्ष लता की वा लता वृक्ष की अपेक्षा नहीं करती। प्रमेयत्व सब वस्तुओं का सामान्य धर्म है । भावों के समान अभाव भी ज्ञान के विषय हैं - अतः प्रमेय हैं । प्रमेय रूप से वृक्ष आदि भाव जिस प्रकार किसी प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं करते, इसी प्रकार अभाव भी प्रमेयरूप से किसी प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं करते । **अभाव अभावरूप से प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा करते हैं।** भाव भी अपने अभाव के अभावरूप है, इस रूप में भाव भी अपने अभाव की अपेक्षा करते हैं । घट घटाभाव का अभाव है, इसलिये घटाभाव के ज्ञान की अपेक्षा करता है ।

यह तो हुई स्वाभावाभाव रूप में अर्थात् अपने अभाव के अभाव के रूप में प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा, भाव रूप में भी सत्त्व रूप के लिए स्वद्रव्य क्षेत्र आदि की अपेक्षा अनुभव सिद्ध है । बिना द्रव्य आदि के किसी भी अर्थ का स्वरूप प्रतीत नहीं होता, इसलिये प्रथम भङ्ग सत्त्व को और द्वितीय भङ्ग असत्त्व को अपेक्षा से प्रकट करता है । इस दशा में सत्त्व असत्त्व का और असत्त्व सत्त्व का सर्वथा विरोधी नहीं रहता ।

असत्त्व धर्म की तात्त्विकता:

वस्तु का असत्त्व धर्म भी सत्त्व धर्म की तरह तात्त्विक है, यह बताने के लिए युक्ति सह कहते है कि,

न चासत्त्वं काल्पनिकम्, सत्त्ववत् तस्य स्वातन्त्र्येणानुभवात्, अन्यथा विपक्षासत्त्वस्य तात्त्विकस्याभावेन हेतोस्त्रैरूप्यव्याघातप्रसङ्गात् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ : यदि कहो असत्त्व कल्पना से प्रतीत होता है तो यह युक्त नहीं, सत्त्व के समान असत्त्व का भी स्वतन्त्ररूप से अनुभव होता है, यदि असत्त्व केवल कल्पना द्वारा सिद्ध हो, तो सत्य रूप से विपक्ष में असत्त्व के न होने के कारण हेतु के तीन रूपों के नष्ट होने की आपत्ति होगी ।

कहने का आशय यह है कि, बौद्ध लोग कहते हैं कि, - सत्त्व धर्म वस्तु का सत्य है, असत्त्व सत्य नहीं है, किन्तु कल्पना के द्वारा प्रतीत होता है । काल्पनिक धर्म वस्तु का स्वरूप नहीं हो सकता । मरुस्थल में कल्पना के द्वारा जल प्रतीत होता है । वास्तव में मरुभूमि के साथ जल का सम्बन्ध नहीं होता । असत्त्व भी कल्पना से प्रतीत होता है, इसलिये वास्तव में वस्तु असत् नहीं हो सकती । **यह कथन युक्त नहीं है** । बिना किसी बाधा के जिस प्रकार सत्त्व का अनुभव होता है, इस प्रकार असत्त्व का भी अनुभव होता है। यदि कल्पना के ही कारण असत्त्व की प्रतीति हो, तो प्रत्येक अर्थ अन्य अर्थों के रूप मे प्रतीत होना चाहिए। पर देश-काल आदि के द्वारा घट का असत्त्व यदि वास्तव न हो, तो घट अन्य देश में और अन्य काल में भी प्रतीत होना चाहिये। वह जिस प्रकार पार्थिवरूप में प्रतीत होता है इस प्रकार जलीय रूप में अथवा अग्नि आदि के रूप में भी प्रतीत होना चाहिये । एक अर्थ को समस्त वस्तुओं के रूप में हो जाना चाहिये । मरुस्थल में दूर से ग्रीष्म ऋतु में जल दिखाई देता है परन्तु पास जाने पर जल नहीं मिलता और उसको पीकर प्यास नहीं दूर होती । इस बाधक ज्ञान के कारण मरुस्थल में जल का ज्ञान कल्पना से उत्पन्न सिद्ध होता है परन्तु पर द्रव्य, देश, काल आदि के रूप में असत्रूप के ज्ञान को बाधित करनेवाला कोई ज्ञान नहीं है इसलिए वस्तु का असत्रूप कल्पना से सिद्ध नहीं है । असत्रूप के सत्य नहीं काल्पनिक होने में आपत्ति है, इसलिये असत्रूप भी सत्य है । **इस पर बौद्ध कहते हैं** - पर द्रव्य, क्षेत्र आदि के रूप में जो असत्त्व प्रतीत होता है वह स्व द्रव्य आदि की अपेक्षा से प्रतीत होनेवाले सत्त्व से भिन्न नहीं है, सत्त्व ही पर की अपेक्षा असत्त्वरूप में प्रतीत हो रहा है, इसलिये यदि पर रूप से असत्त्व सत्य न हो तो भी घट आदि अर्थ पट वृक्ष आदि के रूप में प्रतीत नहीं होगा । असत्त्व यदि सत्य होता तो उसके न होने पर घट आदि के वृक्ष आदि रूप में प्रतीत होने की आपत्ति दी जा सकती थी । परन्तु पर रूप से असत्त्व स्वरूप से सत्त्व की अपेक्षा भिन्न नहीं है । **यह भी युक्त नहीं है।** इस रूप से यदि स्वरूप का सत्त्व पर रूप से असत्त्व हो तो सत्त्व का अपना रूप न होने से पर रूप से असत्त्व ही प्रधान हो जायेगा । इस दशा में घट आदि अर्थ सर्वथा असत् रूप हो जाना चाहिये । इस दशा में स्वरूप से सत्त्व का अपना अलग स्वरूप नहीं है वह पर रूप से असत्त्व में समा गया है इसलिये अर्थ को असत् हो जाना चाहिये । यदि आप पर रूप से असत्त्व को प्रधानता न देकर स्वरूप से स्वसत्त्व में ही पर रूप से असत्त्व का समावेश करें तो पर रूप से असत्त्व के न होने के कारण प्रत्येक अर्थ अन्य सब अर्थों के रूप में हो जाना चाहिये । **यदि आप कहें,** कोई भी पदार्थ अपने कारणों के द्वारा नियत रूप से उत्पन्न होता है । उसका नियत स्वरूप पर रूप से असत्त्व की अपेक्षा नहीं करता, **तो भी आपका कथन युक्त नहीं है** । जब तक पर रूप से वस्तु असत् न हो तब तक कारणों के द्वारा उसकी नियत रूप से उत्पत्ति नहीं हो सकती। सत् और असत् रूप से वस्तु की प्रतीति के बिना वस्तु के अपने स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता । असत् रूप में ज्ञान को मिथ्या भी नहीं कह सकते । सत् रूप में ज्ञान जिस प्रकार प्रतीत होता है इसी प्रकार असत् रूप में भी। इस अवस्था में सत् रूप को सत्य और असत् रूप को मिथ्या नहीं कहा जा सकता - अतः स्व सत्त्व ही पर रूप से असत्त्व नहीं है । स्व द्रव्य आदि की अपेक्षा से सत्त्व का ज्ञान और पर द्रव्य आदि की अपेक्षा से असत्त्व का ज्ञान होता है । यह कारणों का भेद भी स्वरूप से सत्त्व और पर रूप से असत्त्व को भिन्न सिद्ध करता है और एकान्त रूप से अभेद का निषेध करता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदि असत्त्व कल्पना से सिद्ध हो तो बौद्ध निर्दोष हेतु के जिन तीन रूपों को स्वीकार करते हैं वे भी उपपन्न नहीं होंगे। बौद्धों के अनुसार हेतु के लिए पक्ष में सत्त्व, सपक्ष में सत्त्व और विपक्ष में असत्त्व ये तीन रूप होने चाहिये । यदि असत्त्व कल्पना मूलक हो, तो विपक्ष में असत्त्व भी काल्पनिक हो जायेगा । उस दशा में हेतु का निर्दोष स्वरूप न रह सकेगा। अतः सत्त्व और असत्त्व वस्तु के दोनों धर्म तात्त्विक हैं ।

तृतीय भंग : अब तृतीय भंग का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि -

स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति प्राधान्येन क्रमिकविधिनिषेधकल्पनया तृतीयः ।[5]

अर्थ : किसी अपेक्षा से प्रत्येक अर्थ सत् है और किसी अपेक्षा से असत् है, इस प्रकार प्रधानरूप से क्रम के साथ विधि और निषेध के निरूपण द्वारा **तृतीय भङ्ग** होता है ।

यहाँ आशय यह है कि, क्रम के साथ विधि और निषेध इन दोनों की विवक्षा हो, तो तृतीय भंग होता है । प्रथम भङ्ग के द्वारा स्व-द्रव्य आदि की अपेक्षा से केवल सत्त्व का प्रधानरूप से निरूपण होता है । द्वितीय भङ्ग के द्वारा पर द्रव्य आदि की अपेक्षा से असत्त्व का प्रधानरूप में निरूपण होता है । सत्त्व और असत्त्व दोनों का क्रम के साथ प्रधानरूप से निरूपण तृतीय भङ्ग में होता है । प्रथम भङ्ग अथवा द्वितीय भङ्ग दोनों का प्रधानरूप से निरूपण नहीं करता, यही तृतीय भङ्ग का प्रथम और द्वितीय भङ्ग से भेद है ।

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी म. अन्य रीति से भी प्रथम और द्वितीय भङ्ग से तृतीय भङ्ग के भेद को प्रकट करते हैं। प्रथम भङ्ग से विधि का मुख्यरूप से भान होता है । द्वितीय भङ्ग से निषेध का बोध मुख्य रूप से होता है । प्रथम भङ्ग के अनन्तर द्वितीय भङ्ग है इसलिये विधि और निषेध का क्रम से ज्ञान दोनों भङ्ग कर देते हैं । तृतीय भङ्ग भी क्रम के साथ विधि और निषेध के ज्ञान को उत्पन्न करता है । इसलिये तृतीय भङ्ग का प्रथम और द्वितीय भङ्ग से कोई भेद नहीं है, इस आशंका का निराकरण करने के लिए वे कहते हैं कि तृतीय भङ्ग से जो बोध होता है वह **'एकत्र द्वयम्'** इस रीति से होता है । **एक विशेष्य में दो अर्थों का प्रकाररूप से जो ज्ञान होता है वह 'एक में दो' नाम से कहा जाता है ।** 'चैत्र दण्डी है और कुंडली है' यह वाक्य इसका उदाहरण है । चैत्र दण्डवाला है और कुण्डलवाला है यह ज्ञान इस वाक्य से उत्पन्न होता है । इस ज्ञान में चैत्र विशेष्य है दण्ड और कुण्डल प्रकार हैं। **इसी प्रकार तृतीय भङ्ग में एक ही ज्ञान है, जिसमें विधि भी प्रकार है और निषेध भी प्रकार है । एक वस्तु विशेष्य है ।** प्रथम भङ्ग के अनन्तर जब द्वितीय भङ्ग से बोध होता है, तब क्रम से विधि और निषेध का ज्ञान-तो होता है, परन्तु वह ज्ञान एक नहीं होता । वे दो ज्ञान होते हैं, जो क्रम से होते हैं । तृतीय भङ्ग के द्वारा होनेवाला ज्ञान एक ही है, उस एक ज्ञान में विधि भी प्रकार है और निषेध भी प्रकार है । प्रथम और द्वितीय भङ्ग से उत्पन्न होनेवाले दो ज्ञानों की अपेक्षा एक विलक्षण ज्ञान को उत्पन्न करने के कारण तृतीय भङ्ग भिन्न है।

यहाँ ध्यान रहे कि - तृतीय भङ्ग से उत्पन्न ज्ञान में जो विधि और निषेध प्रतीत होते हैं, उनमें परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव नहीं है । यदि इन दोनों में विशेषण-विशेष्य भाव हो तो विशेषण गौण हो जायेगा और विशेष्य मुख्य हो जायेगा । क्रम से दोनों की प्रधानता इष्ट है वह नहीं रहेगी । इसलिए तृतीय भङ्ग एक ही अर्थ को विधि और निषेध से विलक्षण रूप में प्रकाशित करता है । **इस बोध में विधि और निषेध दोनों समान रूप से प्रकार हैं और घट आदि अर्थ विशेष्य हैं ।**

5. **अथ तृतीय भङ्गमुल्लेखतो व्यक्तीकुर्वन्ति- स्यादस्त्येव नास्त्येवेति क्रमतो विधि-निषेधकल्पनया तृतीयः ।।४-१७।।**
यदा वस्तुगतास्तित्व-नास्तित्वधर्मौ क्रमेण विवक्षितौ तदा 'स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव' इति तृतीयो भङ्गः ।।१७।। (प्र.न.तत्त्वा.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ भङ्ग : अब चतुर्थ विकल्प का स्वरूप बताते हुए कहते है कि,

स्यादवक्तव्यमेवेति युगपत्प्राधान्येन विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः, एकेन पदेन युगपदुभयोर्वक्तुमशक्यत्वात्।[6]

अर्थ : किसी अपेक्षा से सब पदार्थ अवक्तव्य ही हैं । इस प्रकार एक काल में प्रधानरूप से विधि और निषेध की विवक्षा के कारण चतुर्थ भङ्ग होता है । एक पद एक काल में विधि और निषेध का कथन नहीं कर सकता, इसलिये अर्थ अपेक्षा से अवक्तव्य है ।

यहाँ कहने का मतलब यह है कि, असत्त्व को गौण करके मुख्य रूप से सत्त्व का प्रतिपादन करना हो तो प्रथम भङ्ग होता है । इसके विपरीतरूप में सत्त्व को गौणरूप से और असत्त्व को मुख्यरूप से कहना हो, तो द्वितीय भङ्ग होता है । सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्मों का मुख्यरूप से निरूपण करना हो तो कोई भी वचन इसके लिये समर्थ नहीं है, अतः अर्थ अवाच्य है। **अर्थ में किसी धर्म का निरूपण एक काल में मुख्य अथवा गौणरूप से हो सकता है । दोनों परस्पर विरोधी धर्मों को मुख्यरूप से वा गौणरूप से नहीं कहा जा सकता । दोनों धर्म एक अर्थ में एक काल में गौण अथवा मुख्य नहीं हो सकते। अर्थ में इस प्रकार का स्वरूप असंभव है, इसलिये उसका वाचक पद भी नहीं है । वाचक से रहित होने के कारण अर्थ अवक्तव्य हैं।**

अवक्तव्य भङ्ग का निरूपण अनेक प्रकार से हो सकता है । अर्थ में स्वरूप की अपेक्षा से एकान्त सत्त्व ही नहीं है और पर-रूप की अपेक्षा से एकान्त असत्त्व ही नहीं है । केवल सत्त्व अथवा असत्त्व को मानकर किसी शब्द से अर्थ का कथन नहीं हो सकता, अतः अर्थ अवाच्य है । केवल सत्त्व अथवा केवल असत्त्व सर्वथा अविद्यमान है इसलिये उसका कोई वाचक नहीं हो सकता ।

यदि अर्थ सब प्रकार से सत् ही हो, तो उसकी किसी अन्य अर्थ से व्यावृत्ति नहीं हो सकेगी । वह महासामान्य सत्ता के समान सब स्थानों पर रहेगा, इसलिये विशेषरूप में प्रतीत न हो सकेगा । यदि घट सर्वथा सत् हो, तो सभी स्थानों पर सत्‌रूप में ही प्रतीत होना चाहिये । घटरूप में उसकी प्रतीति नहीं होनी चाहिये । घट जब प्रतीत होता है - तब वृक्ष आदि अर्थों से भिन्न आकार में ही प्रतीत होता है, इसलिये घट-घटरूप से ही सत् है । इसी प्रकार यदि घट आदि अर्थ असत्‌रूप हो, तो वृक्ष आदि के रूप से जिस प्रकार अविद्यमान है इस प्रकार अपने रूप से भी अविद्यमान होने के कारण शशशृंग के समान तुच्छ हो जाना चाहिये, एकान्त रूप से केवल सत्त्वात्मक और असत्त्वात्मक रूप में घट आदि अवाच्य है। **यह अवक्तव्य का पहला प्रकार है ।**

अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से जब अर्थों का भेद किया जाता है, तब जिस रूप में विवक्षा चाहते हैं और जिस रूप में विवक्षा नहीं चाहते हैं - उन दो रूपों से प्रथम और द्वितीय भङ्ग होते हैं । इन दोनों प्रकारों से यदि एक काल में कहने की इच्छा हो, तो अर्थ किसी भी शब्द से नहीं कहा जा सकता । इसलिये अवाच्य है । जिस रूप से विवक्षा नहीं है उस रूप से भी यदि घट हो, तो नियत नाम और स्थापना आदि का व्यवहार नहीं होना चाहिये । इसी प्रकार जिस रूप से कहना चाहते है उस रूप से भी यदि घट न हो तो घट का व्यवहार ही नहीं होना चाहिये । इन दोनों पक्षों में से यदि केवल एक पक्ष को स्वीकार किया जाय तो अर्थ का स्वरूप नहीं रहता, इसलिये अवाच्य हो जाता है - **यह अवक्तव्य का दूसरा प्रकार है।**

---

6. **इदानीं चतुर्थभङ्गोल्लेखमाविर्भावयन्ति– स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधि-निषेधकल्पनया चतुर्थः ।।४-१८।।**
यदा अस्तित्व-नास्तित्वधर्मौ युगपत्प्रधानभावेन विवक्षितौ, तदा तादृशयुगपद्धर्मद्वयबोधकशब्दाभावादवक्तव्यमेवेति चतुर्थो भङ्गः ।।१८।। (प्र.न.तत्त्वा.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथवा नाम आदि का जो प्रकार नियत है उसमें जो आकार आदि है उसके रूप से घट है । नाम आदि में जो आकार आदि नहीं है उसके द्वारा वह घट नहीं है । इन दोनों प्रकारों से एक काल में कहने की शक्ति किसी पद में नहीं है - अतः अवक्तव्य है । जो आकार आदि विद्यमान है उसके कारण जिस प्रकार घट है इस प्रकार यदि अविद्यमान आकार से भी घट हो, तो एक ही घट समस्त घटों के रूप में हो जाना चाहिये । यदि विद्यमान आकार से भी घट न हो, तो घट का अर्थी मनुष्य, वृक्ष में जिस प्रकार प्रवृत्ति नहीं करता इस प्रकार घट में भी प्रवृत्ति न करे । इन दोनों में से कोई भी एकान्त प्रमाणों से सिद्ध नहीं है - इसलिये अवक्तव्य का यह तीसरा प्रकार है । अन्य अनेक प्रकार भी अवक्तव्य के हो सकते हैं । अर्थ के अवक्तव्य होने में दो कारण है - जो मुख्य हैं । दो प्रकारों से वस्तु एक काल में एकान्तरूप से सम्बन्ध नहीं रखती। एकान्त रूप में यह वस्तु का अत्यन्त अभाव अवक्तव्य होने का एक कारण है । विरोधी दो धर्मों को प्रधान अथवा अप्रधान रूप से कहने में पद असमर्थ है यह दूसरा कारण है । **अब विरोधपरिहारपूर्वक पूर्वोक्त बात को स्पष्ट करते हुए बताते है कि,**

शतृशानशौ सदित्यादौ साङ्केतिकपदेनापि क्रमेणार्थद्वयबोधनात् । अन्यतरत्वादिना कथञ्चिदुभयबोधनेऽपि प्रातिस्विकरूपेणैकपदादुभयबोधस्य ब्रह्मणापि दुरुपपादत्वात् ।

अर्थ : शतृ और शानश् सत् है इत्यादि स्थल में साङ्केतिक पद से भी क्रम के साथ दोनों अर्थों का बोध होता है । अन्यतरत्व आदि के द्वारा किसी प्रकार दोनों का ज्ञान हो जाय तो भी प्रत्येक में होनेवाले नियतरूप से दोनों का ज्ञान ब्रह्मा भी नहीं करा सकता ।

कहने का आशय यह है कि, 'प्रतिस्वं भवति' इस व्युत्पत्ति के द्वारा प्रातिस्विक पद का अर्थ है - प्रत्येक में रहनेवाला असाधारण स्वरूप। विरोधी दो अर्थों को एक काल में प्रधानता अथवा अप्रधानता के साथ कहने में कोई भी पद समर्थ नहीं है । **इस हेतु पर आक्षेप करते हैं कि,** संकेत के द्वारा पद अर्थ का बोध कराता है । जिस प्रकार अविरोधी अर्थ में सङ्केत किया जा सकता है इसी प्रकार विरोधी अर्थ में भी संकेत हो सकता है । संकेत होने पर विधि और निषेध दोनों का ज्ञान एक पद करा सकता है । व्याकरण में शतृ और शानश् दो विरोधी प्रत्यय हैं । इन दोनों के लिए 'सत्' पद का संकेत है, सत् पद से दोनों का ज्ञान एक साथ होता है । 'सत्' पद के समान कोई सांकेतिक पद विधि और निषेध का ज्ञान करा सकता है ।

इस आक्षेप के उत्तर में कहते हैं कि संकेत कराने से पद दो अर्थों का बोध करा सकता है । परन्तु क्रम के साथ, एक काल में नहीं । जिस भी पद का विधि और निषेध दोनों के लिये संकेत किया जायेगा वह क्रम से ही ज्ञान करा सकेगा, एक काल में नहीं।

इस पर फिर शंका की जाती है - विरोधी अर्थों में विरोधी धर्म रहते हैं, इन धर्मों के द्वारा बोध दोनों अर्थों का एक पद से हो, तो क्रम अवश्य होता है । घट में घटत्व है उसका विरोधी पटत्व पट में है । यदि कोई भी पद संकेत के कारण घटत्व और पटत्व धर्मों के द्वारा बोध करावे तो क्रम से ही करा सकता है । विरोधी धर्मों का ज्ञान क्रम से ही हो सकता है । शतृ और शानश् भी दो विरोधी प्रत्यय हैं । शतृपन और शानशपन दो विरोधी धर्म हैं । 'सत्' पद इन दो धर्मों के द्वारा ज्ञान कराता है, इसलिये ज्ञान क्रम से होता है । सत्त्व और असत्त्व भी दो विरोधी धर्म हैं । घटत्व और पटत्व के स्वरूप से सत्त्व और असत्त्व का स्वरूप भिन्न है परन्तु विरोध की दृष्टि से भेद नहीं है । घटत्व और पटत्व के धर्मी भिन्न हैं। किसी एक धर्मी में घटत्व और पटत्व नहीं रहते । परन्तु सत्त्व और असत्त्व यहाँ पर भिन्न धर्मियों में नहीं है, एक ही धर्मी में हैं । एक धर्मी में होने पर भी उनका स्वभाव परस्पर विरोधी है । एक घट में रूप रस गन्ध आदि धर्म हैं । भिन्न धर्मियों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में रहनेवाले घटत्व पटत्व के समान उनमें विरोध नहीं है । परन्तु असाधारण धर्म के कारण उनमें भी विरोध है । रूपत्व और रसत्व आदि धर्मों के कारण रूप रस आदि धर्म भी परस्पर विरोधी हैं । रूपत्व केवल रूप में है और रसत्व केवल रस में है । रूपत्व के द्वारा रूप का और रसत्व के द्वारा रस का जब ज्ञान होगा तब एक घट अथवा फल आदि धर्मी में रहने पर भी रूप और रस का ज्ञान क्रम से होता है । सत्त्व और असत्त्व रूप रस आदि के समान घट और फल आदि धर्मियों में एक साथ रहते हैं । परन्तु रूपत्व जिस प्रकार रसत्व से भिन्न है इस प्रकार घट आदि एक अर्थ में रहनेवाले सत्त्व और असत्त्व भी सत्त्व भाव और असत्त्व भाव से भिन्न हैं । सत्त्व भाव केवल सत्त्व में और असत्त्वभाव केवल असत्त्व में है इसलिये एक धर्मी में रहने पर भी सत्त्व और असत्त्व का जब अपने अपने सत्त्व भाव और असत्त्वभाव-रूप असाधारण स्वरूप से ज्ञान होगा, तब क्रम से ही होगा । परन्तु जब भिन्न विरोधी धर्मों में समान रूप से रहनेवाले किसी एक सामान्य धर्म के द्वारा ज्ञान होगा तो एक साथ भी हो सकेगा । रूप, रस आदि गुणों में गुणत्व एक सामान्य धर्म है । गुणत्व रूप से रूप रस आदि समस्त गुणों का एक साथ ज्ञान हो सकता है । गुण पद गुणत्वरूप से रूप आदि समस्त गुणों का एक काल में प्रतिपादन कर सकता है ।

सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्मों में सत्त्व और असत्त्व का अन्यतरत्व सामान्य धर्म है । दोनों में से एक को अन्यतर कहते हैं । अन्यतरत्व दोनों में है । इसी प्रकार ज्ञेयत्व वाच्यत्व आदि साधारण धर्म भी सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्मों में हैं । इन धर्मों के द्वारा भी साङ्केतिक पद सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्मों का ज्ञान करा सकता है और वह ज्ञान एक काल में हो सकता है । इस प्रकार एक पद से वाच्य होने के कारण घट आदि अर्थ किसी अपेक्षा से अवक्तव्य नहीं हो सकता।

इसका उत्तर यह है कि - अन्यतरत्व ज्ञेयत्व आदि रूप से एक काल में सत्त्व और असत्त्व का बोध हो सकता है, पर असाधारण रूप से कोई भी पद दोनों धर्मों का बोध नहीं करा सकता । सत्त्व का असाधारण धर्म सत्त्वभाव है और असत्त्व का असाधारण धर्म असत्त्वभाव है । इन दोनों असाधारण धर्मों के साथ दोनों का बोध एक काल में एक पद के द्वारा नहीं हो सकता । गुण पद जब रूप रस आदि का गुणत्व रूप से ज्ञान कराता है तब रूपत्व रसत्व आदि असाधारण रूपों से नहीं कराता । घट आदि को जब कथंचित् अवक्तव्य कहा जाता है तब असाधारण स्वरूप के साथ प्रधान वा अप्रधानरूप में सत्त्व और असत्त्व का कथन नहीं हो सकता यह भाव होता है, अतः इस अपेक्षा से घट आदि अर्थ अवक्तव्य है ।

कुछ लोग सत् और असत् शब्द के समास द्वारा दोनों धर्मों का एक काल में कथन कहते हैं । उनका वचन भी युक्त नहीं है । समास से युक्त वचन भी इस प्रकार के दोनों धर्मों का प्रधानरूप से अथवा गौणरूप से निरूपण नहीं कर सकता। **समासों में बहुव्रीहि समास है, जिस में अन्य पद का अर्थ प्रधान होता है** वह भी इस विषय में समर्थ नहीं हो सकता। यहाँ पर दोनों धर्मों की प्रधानभाव से विवक्षा है । **अव्ययीभाव में पूर्वपद के अर्थ की प्रधानता होती है,** अतः वह भी दोनों धर्मों का प्रधानरूप से प्रतिपादन नहीं कर सकता । **द्वन्द्व समास में यद्यपि दोनों पद प्रधान होते है,** तो भी यहाँ पर द्रव्य का बोधक द्वन्द्व उपयोगी नहीं है । यहाँ पर दो द्रव्यों का नहीं किन्तु दो धर्मों का प्रतिपादन है । जो द्वन्द्व गुणों का बोधक होता है, वह भी द्रव्य में रहनेवाले गुणों का प्रकाशन करता है । वह दो प्रधान धर्मों का प्रतिपादन नहीं कर सकता । **तत्पुरुष समास उत्तर पद के अर्थ का प्रधानरूप से प्रकाशन करता है,** इसलिये वह भी दो धर्मों के प्रधानरूप से प्रतिपादन में असमर्थ है। **द्विगु समास में पूर्वपद संख्यावाची होता है** इसलिये उसका यहाँ अवसर नहीं है । **कर्मधारय समास गुणी द्रव्य को कहता है,** इसलिये दो धर्म प्रधानरूप से उसके विषय नहीं हो सकते ।

जो समास का अर्थ है वही वाक्य का अर्थ होता है । समास के असमर्थ होने के कारण वाक्य भी दो प्रधान धर्मों का असाधारण स्वरूप के साथ प्रतिपादन नहीं कर सकता, अतः इस अपेक्षा से अर्थ अवक्तव्य है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सत् और असत् शब्द का प्रयोग समास में अथवा वाक्य में क्रम से ही हो सकता है । इस दशा में यदि सत् शब्द सत्त्व और असत्त्व को एक काल में कहे तो अपने वाच्य अर्थ सत्त्व के समान असत्त्व को भी सत्‌रूप में प्रकाशित करेगा । यदि असत् शब्द सत्त्व और असत्त्व को एक काल में कहे तो अपने वाच्य अर्थ असत्त्व के समान सत्त्व को भी असत्त्व रूप में प्रकाशित करेगा । वस्तुतः सत् असत् का और असत् सत् का वाचक नहीं होता, अतः एक शब्द एक काल में परस्पर विरोधी भाव और अभाव का वाचक नहीं हो सकता । अब बाकी के तीन भंग का स्वरूप बताते है-

● पंचम, षष्ठ एवं सप्तम भंग का स्वरूप :

स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः ।[7] **स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च** षष्ठः[8] । **स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च** सप्तम **इति**[9] ।

अर्थ : सब पदार्थ किसी अपेक्षा से हैं और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य हैं, इस प्रकार विधि की विवक्षा से और एक साथ विधि और निषेध की विवक्षा से **पांचवाँ भङ्ग** होता है । किसी अपेक्षा से सब पदार्थ नहीं हैं और कथञ्चित् अवक्तव्य हैं, इस प्रकार निषेध की तथा एक काल में विधि-निषेध की विवक्षा से **छट्ठा भङ्ग** होता है । किसी अपेक्षा से सब पदार्थ है, किसी अपेक्षा से नहीं है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य है, इस प्रकार क्रम से विधि-निषेध की और एक साथ विधि-निषेध की विवक्षा से **सातवाँ भङ्ग** होता है ।

यहाँ पर कहने का आशय यह है कि, अपेक्षा से अर्थ के सत्त्व और असत्त्व का निरूपण करनेवाले प्रथम और द्वितीय भङ्ग मूलभूत हैं । भाव और अभावरूप दो धर्मो की प्रतीति प्रधानरूप से कोई शब्द नहीं करा सकता इसलिये अवक्तव्य भङ्ग प्रकट होता है। एक काल में दो धर्मो की प्रधानरूप से कहने की इच्छा अवक्तव्य भङ्ग के प्रकट होने में कारण है । आद्य दो भङ्गो के साथ अवक्तव्य भङ्ग का विविध रीति से संयोग करने पर अन्य भङ्ग बन जाते हैं । इनमें अवक्तव्य भङ्ग को कुछ लोग तृतीय स्थान देते हैं तथा विधि और निषेध का क्रम से प्रतिपादन करनेवाले भङ्ग को चतुर्थ स्थान देते हैं । जब एक धर्मी में चतुर्थ भङ्ग के द्वारा प्रतिपादित होनेवाले अवक्तव्यत्व को प्रथम भङ्ग के द्वारा प्रतिपाद्य सत्त्व के साथ कहना चाहते हैं तब पञ्चम भङ्ग प्रवृत्त होता है । स्व द्रव्य आदि की अपेक्षा से सत्त्व का अलग निरूपण करना चाहते हैं इसके साथ ही स्वद्रव्य आदि की अपेक्षा से सत्त्व को और पर-द्रव्य आदि की अपेक्षा से असत्त्व को प्रधानरूप में एक साथ कहना चाहते हैं - तब पञ्चम भङ्ग होता है । **कथञ्चित् सत्त्व और कथञ्चित् अवक्तव्यत्व इन दो धर्मों को प्रकाररूप से और घट आदि एक धर्मी को विशेष्यरूप से प्रकाशित करना पञ्चम भङ्ग का असाधारण स्वरूप है । "स्यात् अस्ति एव स्यात् अवक्तव्यमेव"** यह पञ्चम भङ्ग का आकार है ।

---

7. **अथ पञ्चमभङ्गोल्लेखमुपदर्शयन्ति - स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः ।।४-१९।।** स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षयाऽस्तित्वे सति अस्तित्व-नास्तित्वाभ्यां यौगपद्येन वक्तुमशक्यं सर्वं वस्तु, इति स्यादस्तित्व-विशिष्टस्यादवक्तव्यमेवेति **पञ्चमो भङ्गः** ।।१९।। (प्र.न.तत्त्वा)
8. **अथ षष्ठभङ्गोल्लेखं प्रकटयन्ति- स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया, युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः ।।४-२०।।** परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया नास्तित्वे सति अस्तित्व-नास्तित्वाभ्यां-यौगपद्येन वक्तुमशक्यं सर्वं वस्तु, इति स्यान्नास्तित्वविशिष्टस्यादवक्तव्यमेवेति **षष्ठो भङ्गः** ।। (प्र.न.तत्त्वा.)
9. **स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधि-निषेधकल्पनया, युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तम इति ।।४-२१।।** क्रमतः स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षयाऽस्तित्वे सति परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया नास्तित्वे च सति यौगपद्येनास्तित्व-नास्तित्वाभ्यां वक्तुमशक्यं सर्वं वस्तु, इति **सप्तमो भङ्गः** ।।२१।। (प्र.न.तत्त्वा.)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय भङ्ग में असत्त्व का और चतुर्थ में अवक्तव्य का प्रतिपादन है । दोनों को मिलाने से छठा भङ्ग प्रकट होता है। छट्ठें भङ्ग से जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब किसी अपेक्षा से असत्त्व और किसी अपेक्षा से अवक्तव्यत्व प्रकाररूप में प्रतीत होता हैं । घट आदि धर्मी विशेष्यरूप से प्रतीत होता है, इस प्रकार के ज्ञान को उत्पन्न करना छट्ठें भङ्ग का लक्षण है।

तीसरे भङ्ग में क्रम से सत्त्व और असत्त्व धर्मों का प्रकाशन होता है । चतुर्थ भङ्ग के द्वारा अवक्तव्यत्व का प्रकाशन होता है । जब किसी अपेक्षा से सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म क्रम से प्रतीत होता हैं और अपेक्षा से अवक्तव्यत्व भी प्रतीत होता है तब सप्तम भङ्ग होता है । **सप्तम भङ्ग में क्रम से सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म प्रकार रूप से प्रतीत होते हैं । इसके कारण पञ्चम और छट्ठें भङ्ग से सप्तम भङ्ग का भेद है । पञ्चम भङ्ग में अपेक्षा से केवल सत्त्व और छट्ठें भङ्ग में केवल असत्त्व प्रकाररूप से प्रतीत होता है । सप्तम भङ्ग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसमें अपेक्षा के द्वारा सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म प्रकार रूप से प्रतीत होते हैं ।**

● एकान्त सप्तभंगी स्याद्वाद की समर्थक नहीं है :

यहाँ उल्लेखनीय है कि, पूर्वनिर्दिष्ट सप्तभंगी में एकान्त विकल्प करने से वे असम्यक् बन जाते है । इसलिए एकान्त विकल्प से सर्जित सप्तभंगी स्याद्वावाद की समर्थक बन सकती नहीं है । यह बात को स्पष्ट करते हुए प्रमाणनयतत्त्वालोक ग्रंथ में सूत्र द्वारा क्रमशः बताते है कि,

विधिप्रधान एव ध्वनिरिति न साधु ।।४-१२।। ('शब्दः प्राधान्येन विधिमेवमभिधत्ते न निषेधम्' इति कथनं न युक्तमित्यर्थः ।।२२।।)

शब्द प्रधानता से विधि ही बताता है, निषेध को नहीं, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि,

निषेधस्य तस्मादप्रतिपत्तिप्रसक्तेः ।।४-२३।। (शब्दो यदि एकान्ते विधिबोधक एव भवेत् तर्हि तस्माद् निषेधस्य ज्ञानं कदापि न स्यात्, निषेधज्ञानं तु अनुभवसिद्धं, तस्मान्न विधिबोधक एव शब्दः किन्तु निषेधबोधकोऽपीति भावः ।।२३।।)

यदि शब्द एकान्त से विधिबोधक ही होगा, तो उससे निषेध का ज्ञान कदापि नहीं होगा । लेकिन निषेध ज्ञान तो अनुभवसिद्ध है । इस लिए शब्द मात्र विधिबोधक नहीं है, परन्तु निषेधबोधक भी है ही । अब आगे शंका का समाधान करते हुए बताते है कि,

अप्राधान्येनैव ध्वनिस्तमभिधत्त इत्यप्यसारम् ।।४-२४।। (ननु भवतु शब्दो निषेधबोधकोऽपि तथाऽपि अप्रधानभावेनैव तमभिधत्ते इति चेत्, तदप्यसारम् ।।२४।।)

शंका : शब्द चाहे निषेध बोधक भी हो, लेकिन शब्द अप्रधानता से निषेध का कथन करता है ।

समाधान : तुम्हारी यह बात असार है । क्योंकि,

क्वचित् कदाचित् कथञ्चित् प्राधान्येनाप्रतिपन्नस्य तस्याप्राधान्यानुपपत्तेः ।।४-२५।। (निषेधस्य कुत्रचित् प्राधान्येन भानाभावेऽन्यत्राप्राधान्येन भानं न भवितुमर्हति तस्मात् शब्दः कुत्रचित् प्राधान्येनापि निषेधमभिधत्ते इत्यङ्गीकरणीयम् ।।२५।।)

(तुम्हारी बात असत्य हैं क्योंकि) यदि निषेध का किसी स्थल पे प्रधानता से भाव नहीं होता है, तो अन्य स्थल पे इसका अप्रधानता से भान होने के लिए शक्य नहीं बनेगा । इसलिए शब्द किसी स्थल पे प्रधानता से निषेध का कथन करता है, ऐसा स्वीकारना चाहिए ।

इस प्रकार प्रथम भंग की एकान्त प्ररूपणा का खंडन करके अब द्वितीय भंग का एकान्त निदर्शन दूषित करते है-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निषेधप्रधान एव शब्द इत्यपि प्रागुक्तन्यायादपास्तम् ।।४-२६।। (शब्दो यदि प्रधानभावेन निषेधमेवाभिदध्यात् तर्हि विधिबोधको न स्यात्, अप्रधानभावेन विधि बोधयतीति चेत्, कुत्रचित् प्रधान-भावेन बोधकत्वमन्तराऽन्यत्राप्रधानभावेन बोधकत्वासम्भवात्, तस्माद् निषेधप्रधान एव शब्दः इति एकान्तोऽपि न समीचीन इति भावः ।।२६।।)

यदि शब्द प्रधानता से निषेध का ही कथन करेगा, तो वह विधिबोधक नहीं होगा । "शब्द अप्रधान भाव से विधि का बोध करता है" ऐसा कहोंगे, तो वह योग्य नहीं है । क्योंकि, किसी स्थल पे प्रधानभाव से बोधक होने बिना अन्य स्थल पे अप्रधानभाव से बोधक बनना संभवित नहीं है । इसलिए 'शब्द निषेधप्रधान ही है' ऐसा एकान्त भी समीचीन नहीं है ।

अब तृतीय भंग के एकान्त का खंडन करते हुए कहते हैं कि,

क्रमादुभयप्रधान एवायमित्यपि न साधीयः ।।४-२७।। (**अयं** शब्दः 'स्यादस्त्येव घटः स्यान्नास्त्येव घटः' इत्याकारकं क्रमार्पितोभयमेवाभिधत्ते इत्यपि न साधु ।।२७।।)

यह शब्द "स्यादस्त्येव घटः स्यान्नास्त्येव घटः" इत्याकारक क्रम से विधि-निषेध उभय प्रधान ही है, ऐसा कथन भी समीचीन नहीं है । इस बात अब दृढ करते है -

अस्य विधि-निषेधान्यतरप्रधानत्वानुभवस्याप्यबाध्यमानत्वात् ।।४-२८।। (**अस्य**-शब्दस्य विधिप्राधान्येन निषेधप्राधान्येन च स्वातन्त्र्येणानुभूयमानत्वात्, 'क्रमादुभयप्रधान एवायम्' इति तृतीयभङ्गैकान्तोऽपि न कान्तः ।।२८।।)

शब्द विधि की प्रधानता से और निषेध की प्रधानता से स्वतंत्रतया अनुभव में आता है । इसलिए "शब्द क्रम से उभय प्रधान ही है" ऐसा तृतीय एकान्त भंग भी सुंदर नहीं है । **अब चतुर्थ भंग के एकान्त का खंडन करते हुए कहते है कि,**

युगपद्विधि-निषेधात्मनोऽर्थस्यावाचक एवासाविति वचो न चतुरस्रम् ।।४-२९।। (**असौ** शब्दो विधिरूपमर्थं निषेधरूपमर्थं च युगपत्प्राधान्येन प्रतिपादयितुं न समर्थ इत्यर्थकः 'स्यादवक्तव्यमेव' इति चतुर्थभङ्गैकान्तोऽपि न रमणीयः ।।२९।।)

यह शब्द विधिरूप अर्थ और निषेधरूप अर्थ को युगपत् प्रधानता से प्रतिपादन करने में समर्थ नहीं है, इत्याकारक अर्थ को बतानेवाला स्यादवक्तव्यमेव यह एकांत चतुर्थ भंग भी सुंदर नहीं है । एकांत चतुर्थ भंग रमणीय किस कारण से नहीं है, वह बताते है -

तस्याऽवक्तव्यशब्देनाप्यवाच्यत्वप्रसङ्गात् ।।४-३०।। (**अयमर्थः**-चतुर्थभङ्गैकान्ते हि शब्दस्याऽवक्तव्य-शब्देनाऽप्यवाच्यत्वं स्यात्, तस्माच्चतुर्थभङ्गैकान्तोऽपि न युक्तः ।।३०।।)

एकांत चतुर्थ भंग में शब्द का अव्यक्तव्य शब्द के द्वारा भी अवाच्य हो जाता है । इसलिए एकांत चतुर्थ भग रमणीय नहीं है । **अब पंचमभंग के एकान्त का खंडन करते हुए कहते है कि -**

विध्यात्मनोऽर्थस्य वाचकः सन्नुभयात्मनो युगपदवाचक एव स इत्येकान्तोऽपि न कान्तः ।।४-३१।। निषेधात्मनः सह द्वयात्मनश्चार्थस्य वाचकत्वावाचकत्वाभ्यामपि शब्दस्य प्रतीयमानत्वात् ।।४-३२।। ('स्यादस्ति चावक्तव्यश्चेतिभङ्गस्वरूप एव शब्दः' इत्येकान्तोऽपि न युक्त इति ।।३१।।)

'स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च' इति षष्ठभङ्गे निषेधात्मनोऽर्थस्य वाचकत्वेन सह युगपत् प्रधानभावेन विधि-निषेधात्मनोऽर्थ-स्यावाचकश्च शब्दः प्रतीयते तस्मात् पञ्चमभङ्गैकान्तोऽपि न समीचीनः ।।३२।।

"**शब्द स्यादस्ति चावक्तव्यः** इत्याकारक भंग स्वरूप ही है ।" ऐसा एकान्त भी योग्य नहीं है । क्योंकि,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च" इस प्रकार का षष्ठ भंग में निषेध स्वरूप अर्थ के वाचक के साथ और युगपत् प्रधानभाव से विधि-निषेध-स्वरूप अर्थ का अवाचक शब्द प्रतीत होता है । इसलिए एकान्त पंचम भंग भी रमणीय नहीं है ।

अब षष्ठभंग के एकान्त का खंडन करते है -

निषेधात्मनोऽर्थस्य वाचक सम्रुभयात्मनो युगपद- वाचक एवायमित्यप्यवधारणं न रमणीयम् ।।४-३३।। इतरथाऽपि संवेदनात् ।।४-३४।। ('कथञ्चिन्नास्तित्वविशिष्टकथञ्चिदवक्तव्यस्वभावस्य वस्तुन एव वाचकः शब्दः' इति षष्ठभङ्गैकान्तोऽपि न रमणीय इत्यर्थः ।।३३।। प्रथमभङ्गादिषु विध्यादिप्राधान्येनापि शब्दस्य प्रतीयमानत्वात् षष्ठभङ्गैकान्तोऽपि न समीचीन इति भावः ।।३४।।)

"शब्द कथंचित् नास्तित्व विशिष्ट कथंचित् अवक्तव्य स्वभाववाली वस्तु का ही वाचक है ।" - ऐसा एकान्त षष्ठभंग भी रमणीय नहीं है । क्योंकि शब्द प्रथम आदि भंग में विधि आदि की प्रधानता से प्रतीत होता है । इसलिए एकान्त षष्ठ भंग भी योग्य नहीं है । **अब सप्तमभंग के एकान्त का खंडन करते है -**

क्रमाक्रमाभ्यामुभयस्वभावस्य भावस्य वाचकश्चावाचकश्च ध्वनिर्नान्यथेत्यपि मिथ्या ।।४-३५।। विधिमात्रादिप्रधानतयापि तस्य प्रसिद्धेः ।।४-३६।। ('क्रमार्पितोभयत्वविशिष्टावक्तव्यस्वभावस्य वस्तुन एव वाचकः शब्दः' इत्यपि मिथ्या ।।३५।।) 'स्यादस्त्येव घटः' 'स्यान्नास्त्येव घटः' इति विध्यादिप्राधान्येनापि शब्दस्य प्रतीयमानत्वात् सप्तभङ्गैकान्तोऽपि न युक्त इत्यर्थः ।।३६।।)

"शब्द क्रमार्पितउभयत्वविशिष्ट-अवक्तव्य स्वभाववाली वस्तु का ही वाचक है ।" एसा एकान्त सप्तम भंग भी मिथ्या है ।

• सप्तभंगो का सकलादेश एवं विकलादेश स्वभावः

अब सप्तभङ्गो के सकलादेश और विकलादेश स्वभावों का निरूपण करते है-

सेयं सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च ।[10]

अर्थ : यह सप्तभङ्गी प्रत्येक भङ्ग में सकलादेश स्वभाववाली और विकलादेश स्वभाववाली है । अब दोनों का स्वरूप बताते है -

10. इयं सप्तभङ्गी किं सकलादेशस्वरूपा, विकलादेशस्वरूपा वेत्यारेकां पराकुर्वन्ति- **इयं सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं [1]सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च ।।४-४३।। अथ सकलादेशं लक्षयन्ति - प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्ति-प्राधान्यादभेदोपचाराद् वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः ।।४-४४।।**

यौगपद्येनानन्तधर्मात्मकं वस्तु प्रतिपादयति **सकलादेशः** । **अयमर्थः**-सकलादेशत्वेन विवक्षितं **'स्यादस्त्येव घटः'** इदं वाक्यं न केवलमस्तित्वधर्मविशिष्टं घटं बोधयति किन्तु अनन्तधर्मात्मकं घटं प्रकाशयति । **ननु** कथमस्तित्वधर्मविशिष्टवस्तुबोधकमिदं वाक्यमनन्तधर्मात्मकवस्तुबोधकम् ? इति चेत्, **उच्यते**-सर्वधर्माणामस्तित्वात्मकत्वाद् एक धर्मविशिष्टवस्तुप्रतिपादनद्वारा इदं वाक्यं अनन्तधर्मात्मकं वस्तु प्रतिपादयति । **ननु** सर्वधर्माणामस्तित्वात्मकत्वेन न सम्भवति, परस्परभिन्नत्वात् सर्वधर्माणामिति चेत्, **न** कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद् वा अस्तित्वाख्यस्य धर्मस्यानन्तधर्मात्मकत्वोपपत्तेः, तथाहि-यदा कालादिभिरष्टाभिः कृत्या अभेदवृत्तेः-धर्म-धर्मिणोरभेदस्य प्राधान्यमङ्गीक्रियते तदा कालादिभिः समस्तधर्माणां तादात्म्येनावस्थितत्वात् 'स्यादस्त्येव घटः' इति वाक्यमेकधर्मविशिष्टवस्तुप्रतिपादनमुखेन यौगपद्येनानन्तधर्मात्मकं वस्तु प्रतिपादयति। के पुनः कालादयः ? इति चेत्, उच्यते- **कालः, आत्मरूपम्, अर्थः, सम्बन्धः, उपकारः, गुणिदेशः, संसर्गः, शब्दश्चैत्यष्टौ** ।

तत्र 'स्यादस्त्येव घटः' इत्यत्र घटादौ यत्कालावच्छेदेनास्तित्वं वर्तते तत्कालावच्छेदेन शेषा अनन्तधर्मा अपि तत्र वर्तन्ते इति **कालेनाऽभेदवृत्तिः** । यदेवास्तित्वस्य घटगुणत्वमात्मरूपं-स्वरूपं तदेवान्यसर्वगुणानामिति **आत्मरूपेणाभेदवृत्तिः** । य एव च घटद्रव्यरूपोऽर्थोऽस्तित्वस्याऽऽधारः स एवान्यपर्यायाणामपीत्यर्थेनाऽभेदवृत्तिः । य एव चाविनाभावः कथञ्चित्तादात्म्यस्वरूपोऽस्तित्वस्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्र प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः। **नयविषयीकृतस्य वस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्याद् भेदोपचाराद्वा क्रमेणाभिधायकवाक्यं** विकलादेशः।

अर्थ : प्रमाण से सिद्ध अनन्त धर्मोवाली वस्तु का काल आदि के द्वारा अभेद की प्रधानता से अथवा अभेद के उपचार से एक काल में प्रतिपादन करनेवाला वचन **सकलादेश** कहा जाता है । नय के विषयभूत वस्तु के धर्म का भेदवृत्ति की प्रधानता से अथवा भेद के उपचार से क्रम के साथ प्रतिपादक वाक्य **विकलादेश** कहा जाता है ।

यहाँ पर कहने का मतलब यह है कि, प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म है उन सब का एक में जो प्रतिपादन करे वह वचन **सकलादेश** है । साधारण रूप से एक शब्द एक धर्म का प्रतिपादन करता है । यदि एक एक धर्म के लिये एक एक शब्द का प्रयोग किया जाय तो अनन्त धर्मों के लिये अनन्त शब्दों को प्रयोग करना पडेगा । परन्तु यह हो नहीं सकता, इसलिये एक धर्म का अन्य धर्मों के साथ अभेद मान लिया जाता है । **मुख्यरूप से एक धर्म एक शब्द का वाच्य है। पर अभेद हो जाने से अन्य धर्म भी वाच्य हो जाते हैं । इस प्रकार एक शब्द अनन्त धर्मों का प्रतिपादक हो जाता है। इस प्रकार अनन्त धर्मों का प्रतिपादक होने पर प्रत्येक भङ्ग सकलादेश हो जाता है । सकलादेश को प्रमाण वाक्य कहते हैं । वाच्य एक धर्म साथ अन्य धर्मो का अभेद न मानकर जब एक धर्म का प्रतिपादन होता है, तब प्रत्येक भङ्ग विकलादेश कहा जाता है । वस्तु के एकअंश का प्रतिपादक होने के कारण उसको नय वाक्य कहते हैं।** काल आदि के द्वारा किसी एक धर्म का अन्य धर्मों के साथ अभेद दो प्रकार से किया जाता है, प्रधानभाव से और उपचार से । इस प्रधानभाव और उपचार का स्वरूप महोपाध्याय **श्री यशोविजयजी ने शास्त्रवार्तासमुच्चय की व्याख्या स्याद्वादकल्पलता** में इस प्रकार बताया है–

१-अभेदवृत्तिप्राधान्यम्-द्रव्यार्थिकनयगृहीतसत्ताद्यभिन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुशक्तिकस्य सदादिपदस्य कालाद्यभेदविशेषप्रतिसंधानेन पर्यायार्थिकनयपर्यालोचनप्रादुर्भवच्छक्यार्थबाधप्रतिरोधः । अभेदोपचारश्च-पर्यायार्थिकनयगृहीतान्यापोहपर्यवसितसत्तादिमात्रशक्तिकस्य तात्पर्यानुपपत्त्या सदादिपदस्योक्तार्थे लक्षणा ।

इसके अनुसार द्रव्यार्थिक नय से जब सत्ता आदि किसी एक धर्म का ज्ञान होता है । तब उससे अभिन्न अनन्तधर्मात्मक वस्तु में सत् आदि पद की शक्ति होती है । काल आदि के द्वारा अभेद मानने के कारण सत् आदि पद से अन्य धर्म भी वाच्य प्रतीत होते हैं । इस दशा में पर्यायार्थिक नय के विचार से अन्य धर्मों की प्रतीतिरूप शक्य अर्थ में जो रुकावट

सम्बन्धः स एवानन्तधर्माणामपीति **सम्बन्धेनाऽभेदवृत्तिः** । य एव चोपकारोऽस्तित्वस्य स्वानुरक्तत्वकरणं-स्ववैशिष्ट्यसम्पादनं-स्वप्रकारकधर्मिविशेष्यकज्ञानजनकत्वपर्यवसन्नं, (अस्तित्वस्य स्वानुरक्तत्वकरणं हि अस्तित्वप्रकारकपटविशेष्यकज्ञानजनकत्वम्) स एवोपकारोऽनन्तधर्माणामपीति **उपकारेणाभेदवृत्तिः** । य एव गुणिनः सम्बन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य स एवान्यधर्माणामपीति **गुणिदेशेनाऽभेदवृत्तिः** । य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः स एवाऽपरधर्माणामपीति **संसर्गेणाभेदवृत्तिः** । ननु सम्बन्ध-संसर्गयोः को विशेषः ? इति चेद् **उच्यते**-द्रव्य-पर्याययोः कथञ्चिद् भिन्नाभिन्नत्वापरपर्याय-कथञ्चित्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः संसर्गश्च, तत्र यदा अभेदस्य प्राधान्यं भेदस्य च गौणत्वं विवक्ष्यते तदा **सम्बन्धः** । यदा तु भेदस्य प्राधान्यमभेदस्य च गौणत्वं विवक्ष्यते तदा **संसर्ग** इत्युच्यते । य एवास्तीतिशब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एव अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनो वाचक इति **शब्देनाभेदवृत्तिः**। एवं कालादिभिरष्टविधाभेदवृत्तिः पर्यायार्थिकनयस्य गुणभावे द्रव्यार्थिकनयप्राधान्यादुपपद्यते । द्रव्यार्थिकनयगुणभावे पर्यायार्थिकनयप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवतीति कालादिभिर्भिन्नानामपि गुणानामभेदोपचारः क्रियते इति । एवं कालादिभिरभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा यौगपद्येनानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रतिपादकं वाक्यं **सकलादेश** इत्युच्यते ।।४४।।

अधुना नयवाक्यस्वभावत्वेन नयविचारावसरलक्षणीयस्वरूपमपि विकलादेशं सकलादेशस्वरूपनिरूपणप्रसङ्गेनात्रैव लक्षयन्ति-तद्विपरीतस्तु विकलादेशः ।।४-४५।। नयविषयीकृतस्य वस्तुधर्मस्य यदा कालादिभिर्भेदविवक्षा क्रियते तदा एकस्य शब्दस्यानेकार्थप्रतिपादने सामर्थ्याभावाद् भेदवृत्त्या भेदोपचारेण वा क्रमेण यदभिधायकं वाक्यं स **विकलादेश** इत्यर्थः ।।४५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आती है उसका दूर करना अभेद वृत्ति की प्रधानता है । पर्यायार्थिक नय के द्वारा सत् आदि पद की शक्ति केवल सत्ता आदि में प्रतीत होती है और उसका पर्यवसान अन्यापोह में होता है । इस दशा में 'सत्' पद जो असत् नहीं है उनका ज्ञान कराता है । केवल सत्त्व आदि धर्म में प्रतिपादन की शक्ति है इस प्रकार प्रतीत होने पर सत् आदि पद की सत्ता से भिन्न अन्य धर्मों में लक्षणा की जाती है । इस विवेचना के अनुसार अनन्त धर्मरूप शक्य अर्थों के ज्ञान में रुकावट को दूर करना अभेद वृत्ति की प्रधानता है । तात्पर्य उपपन्न नहीं होता - इस कारण अन्य अनन्त धर्मों में सत् आदि पद की लक्षणा उपचार है । **अभेद की प्रधानता में शक्य रूप में सत् आदि पद अनन्त धर्मों को प्रतिपादित करते हैं । उपचार की दशा में उन्हीं अनन्त धर्मों में सत् आदि पद लक्षणा के द्वारा ज्ञान उत्पन्न करते हैं ।**

जब वस्तु का धर्म नय के द्वारा प्रकाशित होता है । तब भेद के प्रधान होने से अथवा भेद का उपचार होने से क्रम से निरूपण होता है । **क्रम से धर्म का प्रतिपादक वचन विकलादेश कहा जाता है ।**

यहाँ पर पू. महोपाध्यायजीने पू. आचार्यदेवसूरिजी के अनुसार प्रत्येक भङ्ग का सकलादेश और विकलदेश के रूप में निरूपण किया है । अन्य आचार्य पहले तीन भङ्गों को सकलादेश-रूप और पिछले चार भङ्गों को विकलादेश मानते हैं ।[11] तत्त्वार्थ सूत्र के भाष्य में व्याख्याकार श्री सिद्धसेन गणि-स्यादस्ति, स्याद् नास्ति और स्याद् अवक्तव्यः इन तीन भङ्गों को सकलादेश कहते हैं और अन्य भङ्गों को विकलादेश कहते हैं ।

क्रम और युगपत् का विवेचन :

ननु कः क्रमः किं वा यौगपद्यम् ! उच्यते-यदास्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्भेदविवक्षा तदैकशब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात् क्रमः । यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देनैकधर्म-प्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्यानेकाशेषरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद्यौगपद्यम् । (जैनतर्कभाषा ।)

अर्थ : क्रम क्या है और यौगपद्य क्या है ? जब काल आदि के द्वारा अस्तित्व आदि धर्मों के भेद की विवक्षा की जाती है तब एक शब्द की अनेक अर्थों के प्रकाशित करने में शक्ति नहीं होती है, इसलिये क्रम होता है । जब उन्हीं धर्मों का काल आदि के द्वारा अभिन्न स्वरूप कहा जाता है तब एक ही शब्द एक धर्म का प्रकाशन करके एक धर्म के स्वरूप को प्राप्त करनेवाले अन्य समस्त धर्मात्मक अर्थों का प्रतिपादन करता है, इस रूप से अनन्तधर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन होने से यौगपद्य कहा जाता है ।

कहने का मतलब यह है कि, घट आदि में सत्त्व आदि अनेक धर्म हैं, वे परस्पर भिन्न हैं । जब उनके भेद को प्रधानरूप से प्रकाशित करने की इच्छा हो, तब क्रम से ही प्रतिपादन हो सकता है । 'अस्ति' पद जब सत्त्व का प्रतिपादन करता है - तब नास्ति पद असत्त्व का प्रतिपादन करता है । केवल अस्ति पद असत्त्व आदि अनेक धर्मों का प्रकाशन नहीं कर सकता । जब एक धर्म का अन्य धर्मों के साथ अभेद मान लिया जाता है तब कोई एक अस्ति अथवा नास्ति पद समस्त धर्मों को एक काल में कहने लगता है ।

1 सकलादेश एवं विकलादेश साधक कालादि आठ का निरूपण : **अब कालादि आठ का नाम बताते है-**

के पुनः कालादयः ! । उच्यते-कालआत्मरूपमर्थः सम्बन्ध उपकारः गुणिदेशः संसर्गः शब्द इत्यष्टौ (जैन तर्कभाषा)

11. स्याद्वादो हि धर्मसमाश्रयः स्वसिद्ध-सत्ताकस्य च धर्मिणः सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वाद्यनेकविरुद्धाविरुद्धधर्मकदम्बकाभ्युपगमे सति सप्तभङ्गी सम्भवः, तत्र सङ्ग्रहव्यवहाराभिप्रायात् त्रयः **सकलादेशाः**, चत्वारस्तु **विकलादेशाः** समवसेयाः ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतनयाभिप्रायेण।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ : जिज्ञासा-काल आदि कौन हैं ? उत्तर (१) काल, (२) आत्मरूप, (३) अर्थ, (४) सम्बन्ध, (५) उपकार, (६) गुणिदेश, (७) संसर्ग और (८) शब्द, ये आठ हैं ।

(१) अब प्रथम प्रकार का निरुपण करते है - तत्र स्याज्जीवादिवस्त्वस्त्येवेत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाभेदवृत्तिः । अर्थ : किसी अपेक्षा से जीव आदि वस्तु है ही, यहाँ जिस काल में जीव आदि में अस्तित्व है उसी काल में उन वस्तुओं में शेष अनन्त धर्म भी हैं, यह काल से अभेदवृत्ति है । **कहने का मतलब यह है कि,** अर्थ का धर्म के साथ भेद भी है और अभेद भी । घट आदि अर्थ जिस काल में हैं, उस काल में उनके सत्त्व आदि धर्म भी हैं । काल के साथ जिस प्रकार घट का सम्बन्ध है, इस प्रकार घट के धर्मों का भी सम्बन्ध है । एक काल में सम्बन्ध होने से समस्त धर्म काल की अपेक्षा से अभिन्न हैं । इस रीति से विचार करने पर जिस काल में घट में सत्त्व है उसी काल में पर-द्रव्य आदि की अपेक्षा से असत्त्व भी है । एक काल में होने के कारण सत्त्व और असत्त्व का अभेद है । जिस प्रकार सत्त्व का काल के कारण असत्त्व के साथ अभेद है, इस प्रकार शेष धर्मों के साथ भी अभेद है। **(२) द्वितीय प्रकार का निरूपण - यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यानन्तगुणानामपीत्यात्मरूपेणाभेदवृत्तिः । अर्थ :** जीव आदि का अथवा घट आदि का गुण होना जिस प्रकार अस्तित्व का आत्मरूप है, इस प्रकार अनन्त गुणों का भी यही आत्मरूप है । इस रीति से आत्मरूप के द्वारा अभेद वृत्ति है । **(३) तृतीय प्रकार का निरूपण - य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः । अर्थ :** जो द्रव्य-रूप अर्थ अस्तित्व का आधार है, वही अन्य धर्मो का भी आधार है, इस कारण अर्थ के द्वारा अभेदवृत्ति है । **(४) चतुर्थ प्रकार का निरूपण - य एव चाविष्वग्भावः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य स एवान्येषामिति सम्बन्धेनाभेदवृत्तिः । अर्थ :** अस्तित्व का जीव आदि के साथ जो अविष्वग्भाव नामक सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध अन्य धर्मो का भी है। इस रीति से सम्बन्ध के द्वारा अभेदवृत्ति है । **(५) पंचम प्रकार का निरूपण - य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणं स एवान्यैरपीत्युपकारेणाभेदवृत्तिः । अर्थ :** अस्तित्व जिस उपकार को करता है, वही उपकार अन्य धर्म भी करते है । वह उपकार से अभेदवृत्ति है । यहाँ पर उपकार का अर्थ है अपने रंग में रंगना । अस्तित्व के कारण वस्तु सत् प्रतीत होती है । प्रमेयत्व के कारण प्रमेय प्रतीत होती है । वाच्यत्व के कारण वाच्य प्रतीत होती है । लाल रंग वस्त्र को लाल और पीला रंग वस्त्र को पीला करता है, अस्तित्व आदि धर्म भी अर्थ को अपने सम्बन्ध से अपने स्वरूप के साथ प्रकाशित करते है । धर्मो को अपने स्वरूप के साथ प्रकाशित करना धर्मो का उपकार है । **(६) षष्ठ प्रकार का निरूपण - य एव गुणिनः सम्बन्धोदेशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य स एवान्येषामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः । अर्थ :** अस्तित्व धर्म गुणी अर्थ के जिस क्षेत्ररूप देश में रहता है, वही देश अन्य धर्मो का भी है - यह गुणी के देश के द्वारा अभेदवृत्ति है । **(७) सप्तम प्रकार का निरूपण - य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः स एवान्येषामिति संसर्गेणाभेदवृत्तिः । अर्थ :** अस्तित्व का जीव आदि के साथ एक वस्तुरूप से जो संसर्ग है वही, अन्य धर्मोका भी है, यह संसर्ग से अभेदवृत्ति है । सम्बन्ध और संसर्ग के बीच जो भेद है, वह बताते है - **गुणीभूतभेदादभेदप्रधानात् सम्बन्धाद्विपर्ययेण संसर्गस्य भेदः । अर्थ :** जिसमें भेद गौण है और अभेद प्रधान है - इस प्रधान के सम्बन्ध से विपरीत स्वरूपवाला होने के कारण संसर्ग का भेद है । **कहने का आशय यह है कि,** पहले अविष्वग्भाव नामक सम्बन्ध का वर्णन हुआ है वही संसर्ग है। इन दोनों में भेद का कोई लक्षण नहीं प्रतीत होता । इस शंका के उत्तर में कहा है - सम्बन्ध और संसर्ग में अभेद है । परन्तु भेद भी है, सम्बन्ध में भेद गौण होता है और अभेद प्रधान होता है, इसका उलटा रूप संसर्ग में है, संसर्ग में अभेद गौण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और भेद प्रधान होता है । **(८) अष्टम प्रकार का निरूपण - स एव चास्तीति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एवाशेषानन्तधर्मात्मकस्यापीति शब्देनाभेदवृत्तिः । अर्थ :** जो अस्ति शब्द अस्तित्व धर्मात्मक अर्थात् अस्तित्व स्वरूप वस्तु का वाचक है, वही अन्य अनन्तधर्मों के स्वरूप में प्रतीत होनेवाली वस्तु का वाचक है, यह शब्द से अभेद वृत्ति है ।

● **प्रत्येक प्रकार में अधिक स्पष्टता करने के लिए बताते है कि -**

पर्यायार्थिकनयगुणभावेन द्रव्यार्थिकप्राधान्यादुपपद्यते ।

अर्थ : पर्यायार्थिक नय के गौण होने से और द्रव्यार्थिक नय के प्रधान होने से यह अभेद होता है ।

कहने का आशय यह है कि, द्रव्य पर्यायों में अनुगत रहता है । पृथ्वी द्रव्य है - वह इंट-पत्थर-घट आदि में अनुगत होने से अभिन्न है। इंट, पत्थर आदि का आकार आदि भिन्न रहता हैं । पृथ्वीरूप से ये सब अभिन्न हैं, इसी प्रकार द्रव्यों में जो अनके धर्म रहते हैं, वे द्रव्य की अपेक्षा से अभिन्न हैं । द्रव्य का स्वरूप जब मुख्य रहता है, तब काल आदि के कारण समस्त धर्मों का अभेद प्रतीत होता है । इस दशा में पर्याय गौण होते हैं, इसलिये धर्मो का भेद मुख्यरूप से नहीं प्रतीत होता ।

द्रव्यार्थिक-गुणभावेन पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवति ।

अर्थ : द्रव्यार्थिकनय के गौण होने पर और पर्यायार्थिकनय के प्रधान होने पर गुणों की अभेदवृत्ति नहीं हो सकती।

कहने का सार यह है कि, काल आदि के द्वारा एक धर्म के साथ अन्य अशेष धर्मों का भेद प्रतीत होता है, फिर भी अभेद का उपचार करके एक शब्द एक काल में अनन्तधर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन करता है - अतः प्रत्येक भङ्ग सकलादेश हो जाता है। काल आदि इस दशा में अभेद का प्रतिपादन जिन कारणों से नहीं करते उनका निरूपण करने के लिए कहते हैं -

(१) समकालमेकत्र नानागुणानामसम्भवात्, सम्भवे वा तदाश्रयस्य भेदप्रसङ्गात् । अर्थ : (१) एक काल में एक धर्मी में अनेक गुण नहीं हो सकते । यदि हो सके तो उनके आश्रय अर्थ में भी भेद हो जाना चाहिये । **यहाँ तात्पर्यार्थ यह है कि,** पर्यायों को प्रधान मानकर गुणी का विचार किया जाय तो जिस काल में एक अर्थ में सत्त्व है उसी काल में असत्त्व नहीं रह सकता । एक काल में सत्त्व और असत्त्व दोनों रहें तो उनके आश्रय भिन्न हो जाने चाहिये। गोत्व और अश्वत्व दो भिन्न धर्म हैं । दोनों के आश्रय गौ और अश्व भिन्न हैं । एक काल में रहने के कारण गोत्व और अश्वत्व का अभेद नहीं होता । **(२) नानागुणानां सम्बन्धिन आत्मस्वरूपस्य च भिन्नत्वात्, अन्यथा तेषां भेदविरोधात्, अर्थ :** (२) अनेक गुणों का सम्बन्धी आत्मरूप भी भिन्न होता है यदि भिन्न न हो, तो गुणों में भेद नहीं हो सकता । **अर्थात्** पुष्प आदि गुणी अर्थों में रूप रस आदि गुणों का स्वरूप परस्पर भिन्न होता है । यदि स्वरूप भिन्न न हो तो रूप आदि में भेद नहीं होना चाहिये । रूप आदि के समान सत्त्व और असत्त्व आदि धर्म भी अपने अपने स्वरूप से भिन्न हैं। यदि इनका स्वरूप भिन्न न हो, तो सत्त्व असत्त्वरूप से और असत्त्व सत्त्वरूप से प्रतीत होना चाहिये । **(३) स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वात्, अन्यथा नानागुणाश्रयत्वविरोधात् । अर्थ :** (३) गुणों का आश्रय अर्थ भी भिन्न भिन्न है, यदि भिन्न न हो तो वह नाना गुणों का आश्रय नहीं हो सकता। **(४) सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनात्, नानासम्बन्धिभिरेकत्रैकसम्बन्धाघटनात् । अर्थ :** (४) सम्बंधियों के भेद से सम्बन्ध का भेद भी देखा जाता है । अनेक सम्बन्धी एक स्थान में एक सम्बन्ध की रचना नहीं कर सकते । **अर्थात्** प्रतियोगी और अनुयोगी के भेद से सम्बन्ध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का भेद देखा जाता है । भूतल और घट का जो संयोग है उससे पर्वत और अग्नि का संयोग भिन्न है । यदि भूतल और घट का जो संयोग है वही पर्वत और अग्नि का संयोग हो, तो जब घट और भूतल का संयोग उत्पन्न हो तभी पर्वत और अग्नि का संयोग भी उत्पन्न हो जाय और जब घट भूतल का संयोग नष्ट हो तभी पर्वत और अग्नि का संयोग भी नष्ट हो जाय । संयोग के समान घट आदि धर्मी का सत्त्व आदि धर्मों के साथ एक सम्बन्ध नहीं है । घट अनुयोगी है सत्त्व आदि धर्म प्रतियोगी हैं, इसलिये प्रत्येक प्रतियोगी के साथ सम्बन्ध भी भिन्न है । **(५) तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात्, अनेकैरुपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्यैकस्य विरोधात्। अर्थ :** (५) धर्मों के द्वारा किया जानेवाला उपकार भी नियत स्वरूप में होने के कारण अनेक होता है । अनेक उपकारियों से किया जानेवाला उपकार एक नहीं हो सकता । **अर्थात्** धर्मी को अपने रंग में रंगना धर्मों का उपकार है । इस प्रकार का उपकार धर्मों के द्वारा एक नहीं हो सकता। दंड के कारण पुरुष दंडी कहलाता है । कुंडल उस स्वरूप को नहीं बना सकता जो दण्ड से बनता है दण्ड और कुंडल के समान सत्त्व और असत्त्व आदि धर्म भी धर्मी के स्वरूप को एक प्रकार का नहीं बनाते । सत्त्व जिस स्वरूप से अर्थ को व्याप्त करता है, असत्त्व उससे भिन्न स्वरूप के द्वारा व्याप्त करता है, अतः पर्यायनय में उपकार से अभेद वृत्ति नहीं हो सकती । **(६) गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं भेदात्, तदभेदं भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाभेदप्रसङ्गात् । अर्थ :** (६) प्रत्येक गुण का गुणिदेश भिन्न भिन्न होता है, यदि उसका अभेद हो तो भिन्न भिन्न पदार्थों के गुणों के गुणिदेश को भी अभिन्न मानना पडेगा । **अर्थात्** यदि घट के सत्ता आदि गुणों का भेद होने पर भी गुणिदेश एक ही हो, तो वृक्ष आदि के सत्त्व आदि गुणों का भी वही एक देश हो जाना चाहिए । **(७) संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गिभेदात्, तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात् । अर्थ :** (७) संसर्गी के भेद से संसर्ग में भी भेद होता है । संसर्ग में भेद न हो, तो संसर्गियों में भी भेद नहीं हो सकता। **अर्थात्** वृक्ष, जल आदि संसर्गियों के भेद से संसर्ग में भेद देखा जाता है । इसलिए एक धर्मी में अनेक धर्मों का संसर्ग भी भिन्न है । यदि संसर्ग में भेद न हो तो धर्मों में भी भेद नहीं रहना चाहिये । **(८) शब्दस्य प्रतिविषयं नानात्वात्, सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेरिति कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः क्रियते । अर्थ :** (८) विषय के भेद से शब्द भी भिन्न हो जाता है, यदि सब गुण शब्द के वाच्य हों, तो समस्त अर्थ एक शब्द के वाच्य हो जाँय । इस प्रकार काल आदि के द्वारा भिन्न स्वरूप वाले धर्मों में अभेद का उपचार किया जाता है । **अर्थात्** वृक्ष शब्द, वृक्ष रूप अर्थ का वाचक है । नक्षत्र शब्द नक्षत्र रूप अर्थ का वाचक है । अन्य शब्द भी भिन्न अर्थों के वाचक हैं । इसलिए सब धर्म एक शब्द के वाच्य नहीं हो सकते । यदि स्वरूप के भिन्न होने पर भी सब धर्मों का वाचक एक शब्द हो, तो वृक्ष नक्षत्र आदि सब अर्थों का भी वाचक एक शब्द हो जाना चाहिये । इस रीति से काल आदि के द्वारा भिन्न स्वरूपवाले धर्मों में अभेद का उपचार किया जाता है ।

पर्यायार्थिक नय से काल आदि जब अभेद का प्रतिपादन नहीं कर सकते, तब भिन्न धर्मों में भेद होने पर भी अभेद का व्यवहार किया जाता है ।

एवं भेदवृत्तितदुपचारावपि वाच्याविति ।

अर्थ : इसी प्रकार भेदवृत्ति और भेद के उपचार का भी प्रतिपादन कर लेना चाहिये । **अर्थात्** विकलादेश में काल आदि के द्वारा भेद का प्रधानरूप से प्रतिपादन होता है अथवा भेद का उपचार होता है। जब पर्यायनय प्रधान होता है, तब द्रव्यार्थ नय के द्वारा भेद प्रधान नहीं हो सकता, इसलिये भेद का उपचार किया जाता है । जब पर्यायनय के अनुसार गुण आदि अभेद को असंभव कर देते हैं - तब भेद मुख्य हो जाता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सप्तभंगी में विशेष : (काशीस्थित न्यायदर्शन के प्रकांड पंडित प्रवरो के द्वारा न्यायाचार्य - न्यायविशारद उपाधि से विभूषित पू. महोपाध्याय **श्री यशोविजयजी** महाराजा द्वारा विरचित **'द्रव्य-गुण पर्याय रास'** में सप्तभंगी का विस्तृत स्वरूप बताया हैं, इसमें से आवश्यक अंशो को लेकर यहाँ प्रस्तुत करते है -

सप्तभंगी का उद्‌भव :

क्षेत्र-काल भावादिक योगइं, थाइं भंगनी कोडी रे । संखेवइं ए ठामि कहिइं, सप्तभंगनी जोडी रे ।।४-९।।[12]

गाथार्थ : क्षेत्र-काल और भावादिक की अपेक्षा से भांगो की कोडी होती हैं (करोडों भांगे होते है।) फिर भी संक्षेप से इस स्थान में सात भांगे की जोडी (सप्तभंगी) कही जाती हैं ।।४-९।।

कहने का मतलब यह है कि, भेदाभेद और उसकी अर्पणा-अनर्पणा आदि समजने-समजाने के लिए द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव समजना अत्यंत आवश्यक हैं । ये सभी विवक्षाओं को समझकर जो "भेदाभेद" समजा जाये तो, यह भेदाभेद आदि समजना कठीन होने पर भी सरल हो जाता हैं और वह समजा हुआ विषय कदापि खिसकता नहीं हैं ।

स्वद्रव्यादि - परद्रव्यादि की विवक्षा - इस संसार में चेतन और अचेतन ऐसे मुख्यतः दो पदार्थ हैं । अचेतन पदार्थ के धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्‌गलास्तिकाय और काल ऐसे पांच आंतर विभाग है । जिससे कुल मिलाकर षड्‌द्रव्यात्मक यह लोक है। ये छः में चैतन्य गुणवाला द्रव्य एक ही हैं और वह जीव हैं । शेष पांचों द्रव्य चैतन्य गुण से रहित हैं । ये छः द्रव्य परस्पर ऐसे जुडे हुए है कि उसमें से १ द्रव्य को समुचित जानना हो तो बाकी के द्रव्यो को भी जानने पडते है । प्रत्यके द्रव्यो को अपनी अपेक्षा से **"स्व"** कहा जाता हैं और परद्रव्य की अपेक्षा से **"पर"** कहा जाता हैं । जैसे कि, "मिट्टी द्रव्य का बना हुआ घट, मिट्टी की अपेक्षा से **"स्वद्रव्य"** हैं और सुवर्णादि अन्य द्रव्य उस मिट्टी के घट के लिए **"परद्रव्य"** हैं । उसी तरह से जो द्रव्य जो आकाश क्षेत्र में व्याप करके रहा जाता हैं, वह आकाश क्षेत्र उस द्रव्य के लिए **"स्वक्षेत्र"** कहा जाता है और बाकी का आकाश क्षेत्र उस विवक्षित द्रव्य के लिए **"परक्षेत्र"** कहा जाता हैं । तथा जो द्रव्य जिस काल में विद्यमान हैं, वह काल उस द्रव्य के लिए **"स्वकाल"** कहा जाता हैं और जो द्रव्य जिस काल में अविद्यमान है, वह द्रव्य के लिए वह काल **"परकाल"** कहा जाता हैं । उसी तरह से जो द्रव्य जिस स्वरूप में वर्तित होता हैं, वह उसका **"स्वभाव"** कहा जाता हैं और जो द्रव्य जिस स्वरूप से वर्तित नहीं होता हैं, वह स्वरूप उस द्रव्य के लिए **"परभाव"** कहा जाता हैं।

सर्व पदार्थों का स्वद्रव्य - क्षेत्र - काल - भावादिक रूप से भी विचार किया जाता है और परद्रव्य - क्षेत्र - काल - भावादिक रूप से भी विचार किया जाता हैं । कोई भी एक वस्तु को स्वद्रव्यादि से जब सोचा जाता हैं, तब वह अस्ति स्वरूप से (होने रुप) भासित होता हैं और उसी वस्तु को परद्रव्यादि से जब सोचा जाता है, तब वह **नास्ति** स्वरूप से

12. टबा-द्रव्यादिक विशेषणइं भंग थाइं, तिम-क्षेत्रादिक विशेषणइं पणि अनेक भंग थाई । तथा द्रव्यघटः स्व करी विवक्षिइं, तिवारइं क्षेत्रादिक घट पर थाइ, इम प्रत्येकइं - सप्तभंगी पणि कोडीगमइं नीपजइं, तथापि लोक प्रसिद्ध जे कंबु - ग्रीवादि पर्यायोपेतघट छइ, तेहनइं ज - सत्रेवडीनइं स्वरूपइं - अस्तित्व, पररुपइं - नास्तित्व इम लेइ सप्तभंगी देखाडिइं, तथाहि :

१. स्वद्रव्य क्षेत्र - काल - भावापेक्षाइं घट छइ ज । २. परद्रव्य - क्षेत्र - काल - भावापेक्षाइं नथी ज । ३. एक वारइं - उभय विवक्षाइं अवक्तव्य ज, २ पर्याय एक शब्द इ मुख्यरुपइ न कहवाइ ज । ४. एक अंश स्वरूपइ, एक अंश पररुपइ, तिवारइं "छइं नइं नथी" ५. एक अंश स्वरुपइ, एक अंश-युगपत्-उभयरुपइं विवक्षीइं, ति वारइ - "छइ, अनइं अवाच्यः" ६. एक अंश पररुपइं, एक अंश युगपत् उभयरुपइं विवक्षीइं ति वारइं - "नथी नइं अवाच्य" ७. एक अंश स्वरुपइं, एक (अंश) पररुपइं, एक (अंश) युगपत् विवक्षीइ। तिवारइ "छइ, नथी, नइं अवाच्यः"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(न होने रूप) भी भासित होता है । जैसे कि, **"अहमदाबाद में वसंतऋतु में बनाया हुआ मिट्टी का पका हुआ छोटा एक लालघट हैं ।"** इस घट को स्वद्रव्य से सोचे कि क्या यह मिट्टी का घट है ? तो उत्तर में "हा" ही कहनी पडे और क्या यह सोने का या चांदी का घट हैं ? तो "ना" ही कहनी पडे । क्योंकि वह घट मिट्टी का है, परन्तु सोने का या चांदी का नहीं है । यह स्वद्रव्य से **अस्तित्व** और परद्रव्य से **नास्तित्व** हुआ। उसी तरह से क्या यह अहमदाबाद का घट है ? तो "हा" ही कहनी पडे और क्या यह घट सुरत का है ? तो "ना" ही कहनी पडे, यह स्वक्षेत्र से **अस्ति स्वरूप** और परक्षेत्र से **नास्ति स्वरूप** हुआ । उसी तरह से वसंतऋतु की बनावट का हैं और शिशिरादि अन्य ऋतुओं में बनाया हुआ नहीं है । यह स्वकाल और परकाल आश्रयी अस्ति-नास्ति हुआ। तथा क्या यह घट पक्व है ? या अपक्व हैं ? लाल है या काला है ? छोटा हैं या बडा है ? पक्व में, रक्त में और छोटे घट में "हा" कहा जाता है वह स्वभाव से **अस्ति** हैं और अपक्व में, श्याम में तथा बडे घट के प्रश्न में "ना" कहा जाता हैं, वह परभाव से **नास्ति** हैं । **इस तरह से संसारवर्ती सर्व भी सचेतन-अचेतन पदार्थ स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल और स्वभाव को आश्रयी "अस्ति स्वरूप" (होने रूप) है और परद्रव्य - परक्षेत्र - परकाल और परभाव को आश्रयी "नास्ति स्वरूप" (न होने रूप) हैं । जगद्वर्ती पदार्थो का यह स्वयं सिद्ध सहज स्वरूप है और वह पारिणामिक भाव से वर्तित होता है । इस तरह से सर्व पदार्थ स्वद्रव्यादि से अस्ति है और परद्रव्यादि से नास्ति है । उसके संयोगिक भाव से ७ भांगे होते हैं । जिसको जैन शास्त्रो में सप्तभंगी कहा जाता हैं । वहाँ प्रथम स्वद्रव्य और परद्रव्य की अपेक्षा से जो "सप्तभंगी" होती हैं, वह समजाई जाती हैं ।**

1 **द्रव्यादिक विशेषणइ भंग थाइ** - विवक्षा किये हुए इस मिट्टी के घडे को मिट्टी द्रव्य से सोचे तो अस्ति है । परन्तु मिट्टी का बना हुआ यह घट कहीं सोने का, चांदी का, तांबा का बना हुआ नहीं है, ऐसे दूसरी सभी जाति का बना हुआ यह घट नहीं हैं । इसलिए सोने-चांदी के घट का अभाव सूचित करने और केवल मिट्टी द्रव्य का ही बना हुआ यह घट है, ऐसा बताने के लिए उसके आगे **"स्यात्"** लिखा (बोला) जाता हैं । क्योंकि **"स्यात्"** यानी "कुछ खास विवक्षित द्रव्यादिक की अपेक्षा से ही" अर्थात् मिट्टी द्रव्य को आश्रयी ही यह घट अस्ति हैं ।

अब मिट्टी का तो वह घट हैं ही, जैसे सोने-चांदी आदि अन्य धातु के रुप में यह घट नास्ति है, वैसे मिट्टी द्रव्य के आश्रयी कोई नास्ति न समज ले । परन्तु मिट्टी द्रव्य की अपेक्षा से तो अस्ति शब्द के पीछे **"एवकार"** शब्द रखा जाता है। इस तरह से स्वद्रव्य के आश्रय से वह घट **"स्यादस्त्येव"** अपने द्रव्य के आश्रय से तो यह घट है ही । ऐसा यह प्रथम भांगा बनता हैं ।

जब उसी घट को सोने-चाँदी आदि परद्रव्य से सोचते है । तब उसका 'नास्ति' स्वरूप प्रधान रूप से दिखाई देता हैं । मिट्टी द्रव्य के आश्रय से जो अस्ति स्वरूप था, वह स्वरूप अवश्य अंदर है ही, परन्तु नास्ति की विवक्षा के काल में वह गाया नहीं जाय, बोला नहीं जाता । गौण होता है और नास्ति स्वरूप प्रधान होता है फिर भी एकान्त नास्तित्व नहीं है। इस प्रकार समजाना हैं । इसलिए मिट्टी द्रव्य के आश्रय से अस्तित्व भी गौणभाव से अंदर रहा हुआ हैं । वह समझाने के लिए नास्ति शब्द के आगे **"स्यात्"** पद जोडा जाता हैं अर्थात् जो नास्ति स्वरूप हैं, वह भी परद्रव्यादि की ही केवल अपेक्षा से हैं । इसलिए कथंचिद् हैं, एकान्तिक नहीं है तथा सोने-चांदी के आश्रय से जो नास्तित्व हैं, वह शंकाशील और वैकल्पिक न हो जाये, इसके लिए पीछे **एवकार** रखकर **स्यान्नास्त्येव** - यह घट कथंचिद् नास्ति ही हैं । यह दूसरा भांगा हुआ। प्रथम भांगे में **अस्ति** प्रधान और **नास्ति** गौण हैं । जब कि दूसरे भांगे में **नास्ति** प्रधान और **अस्ति** गौण हैं । वास्तविक रुप से तो ये दोनो ही भांगे समझने अनिवार्य है । अतीव आवश्यक है । क्योंकि बाकी के सभी भांगे इस दो भांगे के परस्पर जुडने से ही होनेवाले हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वद्रव्यादि से जो अस्तित्व हैं और परद्रव्यादि से जो नास्तित्व हैं । उन दोनों को एक साथ एक ही शब्द से कहने जाये तो कोई ऐसा पारिभाषिक शब्द नहीं है कि, जो एक शब्द से दोनों स्वरूप साथ में कहे जा सके, इसलिए युगपत् रूप से उभयनय को आश्रयी वस्तु **"स्यादवक्तव्य एव"** । यह तीसरा भांगा होता हैं ।

"मिट्टी की अपेक्षा से अस्ति और सोने-चांदी की अपेक्षा से नास्ति" यह घट का एक स्वरूप समजाया। उपरांत लाल मिट्टी का बना हुआ हैं, पीली मिट्टी का बना हुआ नहीं है, कोमल मिट्टी का बना हुआ हैं, परन्तु कर्कश मिट्टी का बना हुआ नहीं है तथा पुद्गल द्रव्य का बना हुआ हैं, जीवद्रव्य का बना हुआ नहीं हैं । इस प्रकार इस घट में अकेले द्रव्य के आश्रय से भी अनंता अस्ति-नास्ति स्वरूप रहे हुए हैं । इन स्वरुपो को शास्त्रो में **"अंश"** शब्द से समझाया जाता हैं । अब यहाँ आगे-आगे जब जब **"अंश"** शब्द उपयोग में लिया जाये, तब तब "स्वरूप" अर्थ करे । परन्तु भाग (हिस्सा) टुकडे या देश ऐसा अर्थ न करे । संस्कृत वाक्यो में ये सात भांगे समजाते हुए महापुरुषोने "अंश" शब्द का बारबार प्रयोग किया हैं । जैसे कि इसी घट का एक अंश (स्वरूप) प्रथम स्वद्रव्य से सोचे और उसी घट का दूसरा अंश (दूसरा स्वरूप) परद्रव्य से सोचे ऐसे क्रमशः दोनों नयो से दोनों स्वरूप (अंश) सोचे तो यही घट **"स्यादस्ति, स्यान्नास्ति"** । यह चौथा भांगा होता है । इस भांगो में और इसके बाद के भांगे में "घट का एक अंश अस्तिरुप से और घट का दूसरा एक अंश नास्तिरूप से" ऐसे लिखा हुआ वाक्य आये तब अंश शब्द सुनकर घट का एक भाग अस्तिरूप से हैं और घट का दूसरा एक भाग नास्ति रुप से हैं, ऐसा अर्थ समज में आ जाता हैं और इसलिए भ्रम हो जाता है । परन्तु घडे के ऐसे दो अंशों (भागों) में क्रमशः अस्ति-नास्ति स्वरूप दिखता नहीं है और हैं भी नहीं परन्तु संपूर्ण घडे में अस्ति-नास्ति स्वरूप व्याप्त हैं और वैसा दिखता है। इसलिए यहाँ **"अंश"** शब्द का अर्थ 'स्वरूप' करे । स्वद्रव्य से अस्ति और परद्रव्य से नास्ति क्रमशः सोचे तब यह चौथा भांगा **"स्यादस्ति नास्ति एव"** ऐसा होता हैं ।

उसके बाद पहला और चौथा भांगा साथ करने से पांचवाँ **"स्यादस्ति अवक्तव्य एव"** भांगा, दूसरा और चौथा साथ करने से **"स्यान्नास्ति अवक्तव्य एव"** नाम का छठ्ठा भांगा, तीसरा और चौथा साथ करने से **"स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य एव"** नाम का सातवाँ भांगा होता है । जैन दर्शन में इन सात भांगो को **"सप्तभंगी"** कहा जाता हैं । इस अनुसार से उसी घट में पुद्गलद्रव्य रुप से अस्ति और जीव द्रव्य रूप से नास्ति, रुपी द्रव्यरूप से अस्ति और अरुपी द्रव्यरुप से नास्ति इत्यादि प्रकार से विचारणा करने से स्वद्रव्य और परद्रव्य मात्र के ही आश्रय से अस्तित्व-नास्तित्व भी अनेक प्रकार का होने से अनेक सप्तभंगीयाँ स्वद्रव्य-परद्रव्य के आश्रय से होती हैं ।

1 **तिम क्षेत्रादिक विशेषणइं पणि अनेक भंग थाई : जैसे स्वद्रव्य और परद्रव्य के आश्रय से अनेक सप्तभंगी हुई । उसी तरह से स्वक्षेत्र-परक्षेत्र के आश्रय से स्वकाल-परकाल के आश्रय से, स्वभाव-परभाव के आश्रय से भी अनेक सप्तभंगीयाँ स्वरूप भांगे होते हैं ।** जैसे कि, यही मिट्टी का घट अहमदाबाद में निष्पन्न होने रूप अस्ति स्वरूप हैं। परन्तु सुरत आदि अन्य शहरो में बनने रुप से नास्ति स्वरूप हैं । अहमदाबाद के भी कुछ खास गलीवाले क्षेत्र के आश्रय से अस्ति स्वरूप हैं, शेष गलीयों के आश्रय से नास्ति स्वरूप हैं । वसंतऋतु में बनने रूप से अस्ति स्वरूप हैं। शिशिरादि अन्य ऋतुओं में बनने रुप से नास्ति स्वरूप हैं । पके हुए लाल रंग का घट सोचे तो अस्तिरूप हैं और अपक्वरुप से तथा श्यामरुपादि भाव से नास्ति स्वरूप हैं । इस तरह से क्षेत्रादिक (क्षेत्र-काल-भाव) विशेषणो के आश्रय से बहोत ही सप्तभंगीयाँ होने स्वरूप अनेक भांगे होते हैं ।

तथा द्रव्यघट स्व करी विवक्षिइं, ति वारइं क्षेत्रादिक पर थाइ इम प्रत्येकइं सप्तभंगी पणि कोडीगमइ नीपजइ।

तथा जैसे द्रव्य-द्रव्य में स्व-पर का भेद किया गया और उसके आश्रय से अस्ति-नास्ति स्वरूप जाना । उसी तरह से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जब केवल द्रव्य की प्रधानता करे और क्षेत्रादि की गौणता सोची तब अर्थात् **"द्रव्यघटने" स्व** शब्द से प्रधानता से बताने की इच्छा हो तब, **क्षेत्रादिक** आश्रय से जो-जो घट हैं । वे सभी पर होते हैं और ऐसा होने से उसके आश्रय से भी प्रत्येक में सप्तभंगीयाँ होती हैं । इस तरह से भी करोडो प्रमाण में सप्तभंगीयाँ होती है, जैसे कि, पानी भरने के लिए "मिट्टी द्रव्य का बना हुआ घट चाहिए" यहाँ द्रव्यघट मात्र की प्रधानता करके बाद में वह घट अहमदाबाद का हो या सुरत का हो, वसंतऋतु का हो या शिशिर ऋतु का हो, पक्व हो या अपक्व हो इत्यादि भावो की अविवक्षा (गौणता) सोचे तब उसकी भी अलग-अलग सप्तभंगी होती हैं ।

सारांश यह है कि, पहले द्रव्य-द्रव्य में ही स्व-पर का भेद किया था, कि मिट्टी द्रव्यरूप से घट अस्ति हैं और दूसरे द्रव्य के बने हुए रुप से नास्ति हैं और अब यहाँ द्रव्य मात्र को स्व के रूप में विवक्षा करके तथा क्षेत्र-काल-भाव आदि की पर के रुप में विवक्षा की । इसलिए उसकी भी स्व-पर रुप से सप्तभंगी होगी, इस प्रकार विवक्षा वश से अनंती सप्तभंगी होती हैं।

तथापि लोक प्रसिद्ध जे कम्बूग्रीवादि पर्यायोपेत घट छइ, तेहनइ ज-स्वत्रेवडीनइं, स्वरुपइं अस्तित्व, पररुपइं नास्तित्व इम लेइ सप्तभंगी देखाडिइं तथाहि -

उपर समझायें अनुसार अनेक प्रकार की अनेक सप्तभंगीयाँ होती होने पर भी लोको में प्रसिद्ध जो कंबूग्रीवादि आकारवाले (नीचे से चौडे और उपर से गले तक सिकुडे और उसके उपर गले युक्त आकारवाले) अर्थात् ऐसे प्रकार के पर्याय से युक्त पदार्थ को घट कहा जाता हैं और उस पदार्थ को ही "स्व" शब्द से तिगुना करे - यानी स्वशब्द से विवक्षा करे (तिगुना करे अर्थात् समजे, विवक्षा करे, विवेक करे) तब उस स्वरूप से अस्ति और पररुप से नास्ति धर्मवाला यह घट हुआ और इस प्रकार, विरोधी दो धर्म विवक्षा भेद से सिद्ध होने से दो भांगे बनने से उसके संचारण से क्रमशः **सप्तभंगी** होती है । **इस प्रकार अनंती सप्तभंगीयाँ होती हैं । परन्तु अनंतभंगी नहीं होती है । क्योंकि सभी वस्तुएं विवक्षा भेद से विरोधी दिखते दो धर्मो का समन्वयात्मक स्वरूपवाली हैं । इसलिए विरोधी दिखते दो धर्मो का समन्वय करने स्वरूप से प्रथम दो भांगे होते हैं । उसके बाद परस्पर के मिलन से शेष पांच भांगे बनते हैं । जैसे यह अस्ति-नास्ति की सप्तभंगी की। उसी तरह से नित्य-अनित्य की, भिन्न-अभिन्न की, सामान्य-विशेष की ऐसे अनेक सप्तभंगीयाँ होती है ।** परंतु कोई भी विरोधी दो धर्म के उपर से अनंत भांगे न होते होने से अनंतभंगी नहीं होती है । वहाँ उदाहरण के रुप में एक "अस्ति नास्ति की सप्तभंगी" ग्रंथकारश्री दिखाते है । **वह इस अनुसारसे -**

(१) स्वद्रव्य-क्षेत्र काल भावापेक्षाइं घट छइ ज । - संसारवर्ती सभी वस्तुयें स्वद्रव्य आश्रयी, स्वक्षेत्र आश्रयी, स्वकाल आश्रयी और स्वभाव आश्रयी "अस्ति" स्वरूप ही हैं । जैसे कि, मिट्टी का विवक्षित ऐसा "घट" मिट्टी द्रव्य को आश्रयी, अहमदाबाद में निपजनेपन को आश्रयी, वसंत ऋतु में जन्म पानेपन को आश्रयी और पक्वता तथा रक्तता गुण को आश्रयी "है ही ।" ऐसे प्रश्नो के उत्तर में "यह घट हैं ही" ऐसा ही कहना पडेगा । क्योंकि घडे में वैसा स्वरूप वास्तविक रुप से वर्तित होता है । यह **"स्यादस्ति एव"** नाम का **प्रथम भांगा** होता है । **(२) परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षाइं नथी ज** । - वही सभी वस्तुओं में परद्रव्य-परक्षेत्र-परकाल और परभाव को आश्रयी "नास्ति" स्वरूप भी है ही । जैसे कि, मिट्टी का विवक्षित वही घट सोने-चाँदी-ताम्र आदि अन्य द्रव्य आश्रयी, सुरत आदि अन्यक्षेत्र आश्रयी, शिशिरादि अन्य ऋतु आश्रयी और अपक्व तथा श्यामत्वादि गुणो की आश्रयी "नहीं हैं" और जब कोई ऐसे प्रश्न करे कि क्या यह घट सुरत का तथा शिशिर ऋतु का है ? तो ऐसे प्रश्नो के उत्तर में "यह घट ऐसा है ही नहीं" ऐसा ही उत्तर देना पडता है। क्योंकि घडे में ऐसे द्रव्यादि को आश्रयी अस्ति स्वरूप प्रवर्तित नहीं होता है । यह **स्यान्नास्ति एव** नामका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा भांगा होता है । **(३) एकवारंइ - उभय विवक्षाइं अवक्तव्य ज. ? पर्याय एक शब्द इ मुख्यरुपइ न कहवाइ ज** । - कोई भी पदार्थ में स्वद्रव्यादि से अस्ति स्वरूप और परद्रव्यादि से नास्ति स्वरूप साथ ही रहा हुआ हैं । तथापि एक ही बार में (एक साथ) दोनों नयो की साथ में विवक्षा प्रधानरूप से करके कहना हो तो वह स्वरूप न कहा जाये ऐसा हैं। क्योंकि दोनों (अस्ति-नास्ति) पर्याय एक ही शब्द द्वारा प्रधानरूप से नहीं कहे जा सकते है । (या तो क्रमशः प्रधानरूप से कह सकते हैं, या तो एक साथ एक प्रधानरूप से और दूसरा स्वरूप गौण रुप से कह सकते हैं।) इसलिए **स्यादवाच्य** नामका यह **तीसरा भांगा** होता हैं । **(४) एक अंश स्वरूपइ एक अंश पररुपइं, विवक्षीइं "छइ नइं नथी"** । - किसी भी पदार्थ में पहला एक स्वरूप जो स्वद्रव्यादि से अस्ति आत्मक स्वरूप है उसकी प्रधानरूप से विचारणा करे और बाद में दूसरा एक स्वरूप जो परद्रव्यादि से नास्ति आत्मक है वह सोचे, इस प्रकार दोनों स्वरूप क्रमशः सोचे तब यही विवक्षित पदार्थ का स्वरूप "है और नहीं है" अर्थात् क्रमशः "अस्ति-नास्ति" स्वरूप हैं । यह **चौथा भांगा** हैं। अर्थात् यह **"स्यादस्ति स्यान्नास्ति"** नामका चौथा भांगा होता है । **(५) एक अंश स्वरूपइ, एक अंश युगपत् उभयरुपइ विवक्षीइ, तिवारइं "छइ अनइ अवाच्य"** । - उसी तरह से उस पदार्थ में प्रथम एक स्वरूप जो स्वद्रव्यादि से अस्ति (स्वरूप) हैं । यह सोचे (विवक्षा करे) और उसके बाद दूसरा स्वरूप स्वद्रव्यादि से और परद्रव्यादि से इस प्रकार उभयनय से युगपत् रूप से (एक साथ) सोचे तो वही पदार्थ "हैं और अवाच्य" बनता है यह **"अस्ति अवाच्य"** नाम का पाँचवाँ भांगा होता है । **(६) एक अंश पररुपइ, एकअंश युगपत् - उभयरूपइ विवक्षीइ, तिवारइं "नथी नइं अवाच्य"** । - इस प्रकार से पदार्थ का परद्रव्यादि से जो नास्तिआत्मक स्वरूप है, वह प्रथम सोचकर उसके बाद दोनों नयो की एक साथ युगपत् रुप से यदि विचारणा की जाये तो वह वस्तु **"नास्ति अवाच्य"** हैं अर्थात् "नहीं है और अवक्तव्यरूप है" यह **छठ्ठा भांगा** जानना । **(७) एक अंश स्वरूपइं, एक (अंश) पररुपइं, एक (अंश) युगपत्-उभय रुपइ विवक्षीइ, तिवारइ, "छइ, नथी, नइं अवाच्य"** ।।४-९।। - पदार्थ का स्वद्रव्यादि से जो अस्तिआत्मक स्वरूप है । वह एक स्वरूप प्रथम सोचे, उसके बाद पर द्रव्यादि से जो नास्तिआत्मक स्वरूप है, वह सोचेगे और उसके बाद एकसाथ दोनों नयो से अवाच्य आत्मक जो स्वरूप है, वह सोचे तब वह वस्तु "हैं, नहीं हैं और अवाच्य" बनता है अर्थात् **"अस्ति नास्ति अवाच्य"** होता हैं । यह सांतवाँ भांगा है ।

यहाँ जो सात भांगे समजावे वहाँ कोई कोई ग्रंथो में तीसरे चौथे भांगे उल्टे क्रम से भी आते है । अर्थात् तीसरे के स्थान पर चौथा और चौथे की जगह तीसरा भांगा भी दिखाई देता है । अर्थ से सब समान ही है । पूज्य महोपाध्यायजी महाराजश्री के यह रास में ही यह चौथी ढाल में ही टबे में जो सात भांगे लिखे है, उससे अतिरिक्त तीसरे-चौथे की तबदिलीवाले सात भांगे अब बाद की मूल गाथा में भेदाभेद में आते हैं ।

इस गाथा के टबे में आया हुआ क्रम	बाद की गाथा में आनेवाले क्रम
१. स्यादस्त्येव	१. स्याद्भिन्नमेव
२. स्यान्नास्त्येव	२. स्याद्अभिन्नमेव
३. स्यादवक्तव्यमेव	३. स्याद्भिन्नाभिन्नमेव
४. स्यादस्तिनास्त्येव	४. स्याद्अवक्तव्यमेव
५. स्यादस्तिअवक्तव्यमेव	५. स्याद्भिन्नमव्यक्तव्यमेव
६. स्याद्नास्त्यवक्तव्यमेव	६. स्याद्अभिन्नमवक्तव्यमेव
७. स्यादस्ति, नास्ति अवक्तव्यमेव	७. स्याद्भिन्नाभिन्नम् अवक्तव्यमेव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ये भांगे याद रखने के लिए पहले बताया हुआ क्रम ज्यादा सरल रहता हैं । क्योंकि उसमें प्रथम के तीन भांगे एकसंयोगी बाद के ३ भांगे दो संयोगी और अंतिम एक त्रिसंयोगी भांगा होता हैं।

इस प्रकार से किसी भी पदार्थ में एक अपेक्षा से जो स्वरूप होता हैं वहाँ दूसरी अपेक्षा से (रुपान्तर से) उससे विरुद्ध दिखाई देता स्वरूप भी होता ही हैं । तो भेदाभेद को एक साथ अपेक्षा भेद से रहने में विरोध की बात कैसे की जाये ? सर्वत्र भेदाभेद, अस्ति-नास्ति, नित्यानित्य अपेक्षा भेद से व्याप करके रहता हैं । **इसलिए भेदाभेद ही व्याप्यवृत्ति है । केवल अकेला भेद व्याप्यवृत्ति नहीं हैं । इसलिए नैयायिक की केवल अकेले भेद को ही व्याप्यवृत्ति मानने की बात यथार्थ नहीं हैं ।।४-९।।**

पर्यायारथ भिन्न वस्तु छइ, द्रव्यारथइं अभिन्नो रे, क्रमइं उभय नय जो अर्पीजइ, तो भिन्न नइं अभिन्नो रे ।।४-१०।।

गाथार्थ : पर्यायार्थिक नय की अर्पणा से सर्व वस्तु **भिन्न** हैं । **द्रव्यार्थिक नय** की अर्पणा से सर्व वस्तु **अभिन्न** है। क्रमशः दोनों नयो की अर्पणा करने से सर्व वस्तु **कथंचिद् भिन्न** और **कथंचिद् अभिन्न** हैं ।।४-१०।।[13]

भिन्नाभिन्नत्व की विवक्षा : अर्थात् इवइ ए सप्तभंगी भेदाभेदमां जोडीइ छइ - उपर की गाथा में अस्ति-नास्ति के जैसी सप्तभंगी समजाई, उसी तरह से भिन्न और अभिन्न की सप्तभंगी होती हैं । स्वद्रव्य-स्वक्षेत्रादि की अर्पणा करने से अस्तिता और परद्रव्य-परक्षेत्रादि की अर्पणा करने से नास्तिता जैसे लगती है । उसी तरह से पर्यायार्थिक नय की अर्पणा करने से भेद और द्रव्यार्थिक नय की अर्पणा करने से अभेद भी है । वह अब समजाते हैं :-

(१) पर्यायार्थिक नय की जब अर्पणा (प्रधानता) करे तब द्रव्य से गुण-पर्याय और गुण-पर्यायो से द्रव्य कुछ भिन्न लगता हैं । जैसे कि, गुण-पर्यायो का आधार हो वह द्रव्य और द्रव्य में आधेय रूप में जो हो, उसे गुण-पर्याय कहा जाता है । तथा जो "सहभावी" धर्म हो वह **गुण** और "क्रमभावी" धर्म हो वह **पर्याय** कहा जाता है । इस तरह से लक्षणो से (संख्या से-संज्ञा से-आधाराधेय भाव से और इन्द्रियग्राह्यता आदि से) द्रव्य से गुणपर्यायो का भेद है । तथा सहभावित्व और क्रमभावित्व लक्षण से गुणो और पर्यायो का भी कथंचित् भेद हैं । **यह प्रथम भांगा हैं ।**

(२) द्रव्यार्थिक नय की जब अर्पणा (प्रधानता) करे तब द्रव्य से गुण-पर्याय और गुण-पर्यायो से द्रव्य अभिन्न हे । **जे माटि** - क्योंकि गुण और पर्याय ये कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है, कि जो द्रव्य से भिन्न है । परन्तु द्रव्य के ही आविर्भाव (प्रकटीकरण स्वभाव) और तिरोभाव (अप्रकटीकरण स्वभाव) मात्र ही है । सर्प की उत्फणा और विफणा ये अवस्था मात्र ही हैं और वे अवस्थायें सर्पद्रव्य से भिन्न नहीं है । वैसे सर्व द्रव्यो में अवस्था, यह अवस्थावान् से भिन्न संभवित नहीं है, परन्तु अभिन्न हैं । **यह दूसरा भांगा जाने ।**

(३) अनुक्रमइ जो नय द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक अर्पीइ, तो कथंचित् भिन्न कथंचित् अभिन्न कहिइ (३) ।।४-१०।। क्रमशः यदि ये दोनों नयो की अर्थात् पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक नय की अर्पणा (प्रधानता) करे तो यही वस्तु कथंचित् भिन्न भी हैं और कथंचिद् अभिन्न भी हैं ही । घटद्रव्य और घट का रक्तादिवर्ण और घटाकारता, ये तीनों वस्तु का आधाराधेयादि लक्षणो से प्रथम विचार करे तो भिन्न लगेगा और बाद में एकक्षेत्र व्यापी आदि भावो से सोचेंगे तो घटद्रव्य स्वयं ही श्याम-रक्तादि भाव से परिणाम पाता हैं । मिट्टी द्रव्य स्वयं ही घटाकार में परिणाम पाता हैं । इस कारण से मृद् द्रव्य, श्याम रक्तादि गुण और घटाकारता पर्याय एकक्षेत्र व्यापी है ऐसा लगेगा इसलिए अभिन्न भी है । यहाँ टबे के मूल

13.टबो : हवइ ए सप्तभंगी भेदाभेद में जोडीइ छइ - पर्यायार्थ नय से सर्व वस्तु - द्रव्य - गुण-पर्याय, लक्षणइं कथंचिद् भिन्न ज छइं १. द्रव्यार्थ नय से कथंचिद् अभिन्न ज छइं, जे माटिं गुणपर्याय द्रव्यना ज आविर्भाव तिरोभाव छइं २. अनुक्रमइ जो २ नय द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक अर्पीइ, तो कथंचिद् भिन्न कथंचिद् अभिन्न कहिइं ३. ।।४-१०।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाठ में प्रथम द्रव्यार्थिक नय का और बाद में पर्यायार्थिक नय का जो उल्लेख किया है और भिन्नाभिन्न समजाने से प्रथम भिन्न का और बाद में अभिन्न का जो उल्लेख किया है, वह क्रमशः न होने से भूल हो, ऐसा लगेगा । परन्तु उसमें भूल हैं ऐसा न समजना । बोलने की प्रसिद्धि के कारण ऐसा उल्लेख किया हुआ है । जब जब ये दो नयो के नाम बोलने होते हैं तब तब द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक इस क्रम से बोलने में जुबानपे जैसे चढे हुए है ऐसे पर्यायार्थिक-द्रव्यार्थिक बोलने से जुबानपे नहीं चढे हुए हैं तथा भेदाभेद में जब जब बोलना होता है तब तब लोक प्रसिद्ध ऐसा भिन्नाभिन्न शब्द जैसे जुबान पे चढा हुआ हैं, वैसा अभिन्नभिन्न जुबान पे नहीं चढा हुआ हैं । इसलिए बोलने की पद्धति मात्र के कारण ऐसा लिखा हुआ हैं, परन्तु भूल है, ऐसा न समझना । **यह तीसरा भांगा जाने ।**

(४) जो एकदा उभयनय गहिइं, तो अवाच्य ते लहिइं रे । एकइं शब्दइं एक ही वारइं, दोइ अर्थ नवि कंहिइं रे ।।४-११।।[14] - एक ही काल में दोनों नय यदि ग्रहण करे तो सर्व वस्तुयें "अवाच्य" ही जाने । क्योंकि एक ही शब्द से एक ही काल में दोनों अर्थ नहीं कहे जा सकते है ।।४-१२।। **सारांश यह है कि,** अगली गाथा में भेदाभेद की सप्तभंगी के प्रथम तीन भांगे समजाये । अब इस गाथा में मात्र अकेला "अवक्तव्य" नामका चौथा भांगा समजाते हैं । यहाँ **अवक्तव्य** नामका यह भांगा चौथे नंबर से कहा हैं । अगली गाथा के टबे में अस्ति-नास्ति के सप्तभंगी के प्रसंग में तीसरे क्रम से कहा हैं । यहाँ विवक्षा भेद ही जानना ।

(४) जो एकबार २ नयना अर्थ विवक्षिइ, तो ते अवाच्य कहिइं, जे माटिं एक शब्दइं एक वारइं - २ अर्थ न कहिया जाइ ४ । - जब एक साथ दोनों नयो के अर्थ प्रधानरूप से सोचे, तब वह पदार्थ अवाच्य बन जाता है, क्योंकि, एक ही शब्द से एक ही काल में परस्पर विरोधी दिखाई देते दो अर्थ नहीं कहे जा सकते हैं । (यद्यपि एक गौण और एक प्रधान ऐसा कहा जा सकता है । परन्तु दोनों अर्थ प्रधानरूप से नहीं कहे जाते हैं ।) इसलिए सर्व वस्तु **अवाच्य** भी कही जाती है। तथा दोनों नयो की एक साथ प्रधानता करने से वस्तु जो "अवाच्य" बनती हैं, वह भी "स्याद्" अर्थात् "कथंचिद्" ही अवाच्य बनती है, सर्वथा अवाच्य नहीं बनती है । क्योंकि यह वस्तु दोनों नयो की प्रधानता के काल में "अवाच्य" हैं। ऐसा तो बोला जाता ही है अर्थात् "अवाच्य" शब्द से तो वाच्य बनती ही हैं । सर्वथा यदि अवाच्य होती तो अवाच्य शब्द से भी वाच्य न होती । इसलिए यह चौथा "अवाच्य" भांगा भी **'स्यादवाच्य'** ही समजना ।

कुछ संकेतित शब्द दो अर्थ को कहते हो, ऐसा दिखता हैं, जैसे कि, "पुष्पदंत अर्थात् चंद्र और सूर्य" "दंपती अर्थात् पति और पत्नी" "पितरौ अर्थात् माँ और बाप" ऐसे कोई कोई शब्द दो अर्थो को एकसाथ एक ही बारी में कहते हों ऐसा दिखता हैं, इस विषय में ग्रंथकारश्री खुलासा करते हैं कि-[15] सांकेतिक शब्द भी दो के जोडेरूप सांकेतिक ऐसे एक ही (कपलरूप) अर्थ को कहते है । परन्तु दोनों स्वरूपो को स्पष्टरूप से - स्वतंत्ररूप से नहीं कह सकते । पुष्पदंतादिक कुछ शब्द जो चंद्र-सूर्य ऐसे दो अर्थ साथ कहते है, वह 'एकोक्ति से' कहते हैं, ऐसा जानना परन्तु "भिन्नोक्ति से" दो अर्थ यह शब्द नहीं कह सकते हैं । **एकोक्ति अर्थात् जोडेरूप अर्थ कहना ।** चंद्र और सूर्य ऐसा दो वस्तु नहीं है । परन्तु चन्द्र-

14. टबो - जो एकवार २ नयना अर्थ विवक्षिइं, तो जे अवाच्य लहिइं, जे माटिं - एक शब्दइं एक वारइं - २ अर्थ न कहीया जाए । "संकेतित शब्द पणि एक ज संकेतित रुप (अर्थ) कहइं पणि २ रुप (अर्थ) स्पष्ट न कही शकइ" पुष्पदंतादिक शब्द पणि एकोक्ति चंद्र सूर्य कहइ, पण भिन्नोक्ति न कही शकइ । अनइ २ नयना अर्थ मुख्यपणइं तो भिन्नोक्ति ज कहवा घटइ । इत्यादिक युक्ति शास्त्रान्तरथी जाणवी ।।४-११।।

15. "संकेतित शब्द पणि एक ज संकेतित रुप (अर्थ) कहइ, पणि २ रुप (अर्थ) स्पष्ट न कही शकइ" पुष्पदंतादिक शब्द पणि एकोक्ति चंद्र-सूर्य-कहइं, पणि भिन्नोक्तिं न कही शकइ अनइं २ नयना अर्थ मुख्यपणइ तो भिन्नोक्तिं ज कहवा घटइ, इत्यादिक युक्ति, शास्त्रान्तरथी जाणवी ४ (४-१२)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सूर्य का युगल (जोडा) ऐसा अर्थ समजाते हैं । **भिन्नोक्ति अर्थात् दोनों वस्तु स्वतंत्र रुप से भिन्न भिन्न कहना ।** युगल की प्रधानता नहीं । परन्तु व्यक्ति की प्रधानता वह भिन्नोक्ति कही जाती हैं । **द्वन्द्व समास में जो समाहारद्वन्द्व समास है । वह एकोक्तिरूप हैं और इतरेतर द्वन्द्व समास है वह भिन्नोक्तिरूप हैं ।** यहाँ पुष्पदंतादिक शब्दो में दोनों अर्थ अवश्य कहे जाते हैं, परन्तु एकोक्ति द्वारा कहा जाता हैं। परन्तु भिन्नोक्ति द्वारा नहीं कहे जाते और दोनों नयो के अर्थ मुख्यतः ही (अर्थात् स्वतंत्ररूप से प्रधानता से तो) भिन्नोक्ति द्वारा ही कहा जा सकता है। इत्यादि अनेक युक्तियाँ अन्य शास्त्रो से जाने । यह चौथा भांगा समजाया ।

(५) पर्यायारथ कल्पन, उत्तर-उभय विवक्षा संधि रे । भिन्न अवाच्य वस्तु ते कहीइं स्यात्कारनइं बंधि रे ।।४-१२।।

गाथार्थ : प्रथम पर्यायार्थिकनय की कल्पना करके उसके बाद दोनों नय के साथ विवक्षा जोडे तो प्रत्येक वस्तु **"भिन्न और अवाच्य है"** और वह भी **"स्यात्"** शब्द से बंधी हुई हैं ।।४-१२।।[16]

कहने का आशय यह है कि, भिन्नाभिन्न के उपर सप्तभंगी के चार भांगे समजाकर अब पाँचवां भांगा इस बारहवीं गाथा में समजाते है। पहले पर्यायार्थिकनय की कल्पना करके उसके बाद एक ही काल में दोनों नयो की एकसाथ प्रधानता करे तब सर्व वस्तु कथंचिद् भिन्न और अवक्तव्य हैं ऐसा कहा जाता हैं । क्योंकि प्रथम पर्यायार्थिक नय से प्रधानरूप से भेद लगता है। उसके बाद दोनों नयो की एकसाथ (युगपत् रुप से) विचारणा करने से उभय स्वरूप को प्रधानरूप से कहनेवाला कोई शब्द न होने से वह वस्तु कथंचिद् अवक्तव्य भी बनती ही हैं । इस अनुसार यह पाँचवां भांगा जानना ।।५२।।

(६-७) द्रव्यारथ नइं उभय ग्रहियाथी, अभिन्न तेह अवाच्यो रे । क्रम युगपत् नय उभय ग्रहियाथी, भिन्न अभिन्न अवाच्यो रे।।४-१३।।[17] द्रव्यार्थिक नय और उभयनयो की युगपत् रुप से विवक्षा करने से वही पदार्थ अभिन्न

16.**टबो** - प्रथम पर्यायार्थ कल्पना, पछइ एकदा उभय-नयार्पणा करिइं, तिवारइं भिन्न अवक्तव्य कथंचिद् इम कहइ-५ (८-१२।।

17.**टबो** - प्रथम द्रव्यार्थकल्पना, पछइ-एकदा उभयनयार्पणा करिइं, ति वारइं कथंचित् अभिन्न अवक्तव्य इम कहिइं, ६ अनुक्रमइं २ नयनी प्रथम अर्पणा, पछइ २ नयनी एकवार अर्पणा करिइं, ति वारइं कथंचित् भिन्न अभिन्न अवक्तव्य इम कहिइं (७) ए भेदाभेद पर्यायमांहि सप्तभंगी जोडी, इम सर्वत्र जोडवी । **शिष्य पूछइ छइ** - "जिहाँ २ ज नयना विषयनी विचारणा होइ, तिहां एक एक गौण मुख्यभावइं सप्तभंगी थाओ । पणि-जिहां प्रदेश प्रस्थकादि विचारइं सात छ पांच प्रमुख नयना भिन्न भिन्न विचार होइ, तिहां अधिक भंग थाइ, तिवारइं सप्तभंगीनो नियम किम रहइ ?" **गुरु कहइ छइ** - "तिहां पणि एक नयार्थनो मुख्यपणइं विधि, बीजा सर्वनो निषेध, इम लेइ प्रत्येकि अनेक सप्तभंगी कीजइ" अम्हे तो इम जाणुं छुं **"सकलनयार्थ - प्रतिपादकतात्पर्यादधिकरणवाक्यं प्रमाणवाक्यम्"** ए लक्षण लेइनइं, तेहवे ठामे स्यात्कारलांछित सकलनयार्थ - समुहालंबन एक भंगइ पणि निषेध नथी । जे माटिं - व्यंजनपर्यायनइं ठामि-२ भंगइं पणि अर्थसिद्धि सम्मतिनइं विषइ देखाडी छइ । तथा च तद्गाथा - **एवं सत्तविअप्पो, वएणपहों होइ अत्थपज्जाए । वंजणपज्जाए पुण, सविअप्पो णिव्विअप्पो य ।।प्रथमकाण्ड-४१।।** एहनो अर्थ - एवं पूर्वोक्त प्रकारइं । सप्त विकल्प-सप्त प्रकार वचनपथ, सप्तभंगीरुप वचनमार्ग ते अर्थपर्याय, अस्तित्व-नास्तित्वादिकनइं विषइ होइ, व्यंजन पर्याय जे घटकुंभादिशब्दवाच्यता । तेहनइं विषइं-सविकल्प-विधिरूप, निर्विकल्प ए २ ज भांगा होइ, पणि अवक्तव्यादि भंग न होइ, जे माटिं अवक्तव्य शब्दविषय कहिइं तो विरोध थाइ । अथवा सविकल्प शब्द-समभिरुढ नयमतइं, अनइं निर्विकल्प एवंभूतनयमतइं, इम २ भंग जाणवा । अर्थनय प्रथम ४ तो व्यंजनपर्याय मानइ नहीं । ते माटइं - ते नयनी इहां प्रवृत्ति नथी । अधिकु अनेकान्त व्यवस्थाथी जाणवुं । तदेवमेकत्र विषये प्रतिस्वमनेकनयप्रतिपत्तिस्थले स्यात्कारलाञ्छिततावन्नयार्थप्रकारकसमूहालम्बनबोधजनक एक एव भङ्ग एष्टव्यः व्यञ्जनपर्यायस्थले भङ्गद्वयवद् । यदि च सर्वत्र सप्तभङ्गीनियम एव आश्वास : तदा चालनीयन्यायेन तावन्नयार्थनिषेधबोधको द्वितीयोऽपि भङ्ग : तन्मूलकाश्चान्येऽपि तावत्कोटिका : पंच भङ्गाश्च कल्पनीया : इत्थमेव निराकाङ्क्ष-सकलभङ्गनिर्वाहाद् इति युक्तं पश्यामः । ए विचार स्याद्वाद पंडितइं सूक्ष्म बुद्धि चितमांहि धारवो ।।४-१३।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और अवाच्य होता है। तथा क्रमशः दोनों नयो की अर्पणा करने के बाद युगपत् रुप से दोनों नयो की अर्पणा करने से वस्तु भिन्न, अभिन्न और अवाच्य बनती है ।।४-१३।।

कहने का आशय यह है कि, उपरोक्त १०-११-१२ गाथा में भेदाभेद की सप्तभंगी के प्रथम के ५ भांगे समजाकर अब इस गाथा में छठ्ठा, सांतवाँ भांगा समझाते हैं (६) प्रथम अकेले द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता की कल्पना करे और उसके बाद एक ही काल में एकसाथ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे उभय नय की अर्पणा (प्रधानता) करे तब सभी वस्तुयें **"कथंचिद् अभिन्न और कथंचिद् अवक्तव्य"** ऐसे प्रकार की है यह छठ्ठा भांगा जानना । (७) तथा क्रमशः प्रथम पर्यायार्थिक नय की और बाद में द्रव्यार्थिक नय की ऐसे क्रमशः दोनों नयो की अर्पणा (प्रधानता) करके उसके बाद दोनों नयो की एकसाथ युगपत् रुप से अर्पणा करे तब सभी वस्तुयें **"कथंचिद् भिन्न कथंचिद् अभिन्न और कथंचिद् अवक्तव्य"** ऐसे प्रकार की होती है । **यह सांतवाँ भांगा जानना ।**

वस्तु में रहे हुए "भेदाभेद" नाम के पर्यायो में जिस तरह से यह सप्तभंगी समजाई, उसी तरह से वह सप्तभंगी सर्वत्र निकाले । **सारांश कि, कोई भी वस्तु में परस्पर विरोधी दिखते दो धर्म भी विवक्षा के वश से समन्वयात्मक रुप से साथ रहते ही हैं । दो धर्म विवक्षा भेद से साथ रहते होने से प्रथम के दो भांगे होते है और उसके बाद संचारण से शेष पांच भांगे होते है । इस प्रकार सर्वत्र सप्तभंगी की योजना जान ले ।**

कोई शिष्य प्रश्न करता है कि - जब जब द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय ऐसे दो ही नय के विषयो की विचारणा करनी हो तब तो वहाँ क्रमशः पहले नय की मुख्यता और दूसरे नय की गौणता करने से पहला भांगा और दूसरे नय की मुख्यता और पहले नय की गौणता करने से दूसरा भांगा, ऐसे मूल २ भांगे हो सकते हैं और उसके बाद एक दूसरे के संचारण से कुल मिलाकर २ + ५ = ७ भांगे = सप्तभंगी अच्छी तरह से होती है । उसमें तो सप्तभंगी हो यह बात उचित ही है । परन्तु जब शास्त्रो में बताये हुए "प्रदेश और प्रस्थक" आदि के दृष्टान्तो की विचारणा करने द्वारा नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इस प्रकार ७ नयो की अथवा नैगमनय का संग्रह और व्यवहार नय में अन्तर्भाव करने से छः नयो की अथवा समभिरूढ और एवंभूत नय का शब्दनय में अन्तर्भाव करने से नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्दनय ऐसे पांच नयो की विचारणा की जाती है । तब सात-छः पांच नयो में से क्रमशः एक नय को मुख्य करने से और क्रमशः दूसरे नयो को गौण करने से प्रथम के मूल दो भांगे की जगह ही बहोत भांगे हो जाते हैं और उसके बाद संचारण करने से तो अगणित ऐसे अधिक भांगे होंगे । उस समय "सप्तभंगी का" (सात ही भांगे हो) ऐसा नियम किस तरह से संगत होगा, इस तरह से कोई शिष्य गुरुजी के सामने प्रश्न करता हैं -

दो नय ले तो (१) द्रव्या मुख्य, पर्या. गौण, (२) पर्या. मुख्य, द्रव्या, गौण,

सात नय ले तो (१) नैगम मुख्य संग्रह गौण, (२) नैगम मुख्य व्यवहार गौण, (३) नैगम मुख्य ऋजुसूत्र गौण, (४) नैगम मुख्य शब्द गौण, (५) नैगम मुख्य समभिरुढ गौण (६) नैगम मुख्य एवंभूत गौण

नैगमनय के साथ शेष छः नय गौणता से जोडने से उपर बताये अनुसार ६ भांगे जैसे हुए, वैसे संग्रह के साथ शेष ६ नय जोडने से ६ भांगे होंगे । इस तरह से व्यवहारादि एक एक नय के साथ छः छः जोडने से ७ X ६ = ४२ भांगे होंगे। इसलिए मूल २ भांगे के बदले ४२ भांगे होने से और उन सब का संचारण करने से अनेक भांगे हो, इसलिए सप्तभंगी का नियम कैसे रहेगा ?

इस अनुसार से दो भांगे के बदले ४२ भांगे यदि हो तो उसके परस्पर जुडने से तो बहोत अधिक भांगे होते हैं । तो तब सात ही भांगे हो, ऐसा सप्तभंगी का नियम कैसे रहेगा ? ऐसे प्रकार का शिष्य का गुरु के प्रति प्रश्न हैं। **दो ही नय**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सोचे तब तो सप्तभंगी का नियम संभलेगा । परन्तु सात नय की विचारणा के काल में अनेक अधिक भंग होंगे । तो सप्तभंगी का नियम कैसे कहते हो ? इसी तरह से छः नय और पांच नय स्वीकार करोंगे तब भी अनेक भांगे होंगे । तो वहाँ भी सप्तभंगी का नियम कैसे रहेगा ?

गुरु कहइ छइ - **"तिहाँ पणि एक नयार्थनो मुख्यपणइं विधि, बीजा सर्वनो निषेध, इम लेइ प्रत्ये कि अनेक सप्तभंगी कीजइं ।" - गुरुजी उपरोक्त प्रश्न का शिष्य को उत्तर देते हुए बताते हैं कि,** वहाँ भी (अर्थात् नैगमादि सात छः पाँच नय जब समजे तब भी) **कोई भी एक नय की प्रधान रूप से अर्पणा करके विधान समजे और बाकी के छः नयो की (शेष नयो की) एक साथ गौण विवक्षा करके वहाँ शेष सर्व का निषेध जानना ।** ऐसा करने से सर्व स्थान पर मूल तो दो ही भांगे होंगे । उसके बाद संचारण से प्रत्येक दो भांगे में भिन्न भिन्न अनेक सप्तभंगीयाँ होगी। परन्तु बहुभंगीयाँ नहीं होगी । **जैसे कि -**

सातमें से कोई भी एक नय से विधान करे, तब वह एक नय मुख्य और शेष सर्व नय वहाँ गौण जाने । (यह प्रथम भंग) और सात नय में से जिस नय से निषेध बताना हो वहाँ वह निषेध वाचक नय मुख्य शेष नय गौण, (यह दूसरा भंग) इन दो के संचारण से सप्तभंगी ही होगी । परन्तु बहुभंगी नहीं होती हैं तथा विधि-निषेध में सात नयो में से जैसे-जैसे नयो की विवक्षा बदलेंगे वैसे वैसे मूल दो भांगे भिन्न भिन्न अनेक होने से उसके द्वारा होती सप्तभंगीयाँ अनेक होंगी ।

इस अनुसार से सर्वत्र मूल दो ही भांगे होने से और उसके सात ही भांगे होने से सप्तभंगी ही होती है। परन्तु अनेकभंगीयां नहीं होती है । फिर भी सप्तभंगीयाँ अवश्य अनके होती हैं । इस विषय में पूज्य उपाध्यायजी श्री यशोविजयजी महाराजश्री अपने क्षयोपशमानुसार अपने शास्त्रो के पठन-पाठन से और गुरुगम से जो समजाया है इस बात को स्पष्ट करते हुए अपना अभिप्राय बताते हैं कि-

श्री महोपाध्यायजी का मत पूज्यपाद महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजश्री स्वयं ही अपना अभिप्राय बताते हुए कहते हैं कि - हम तो ऐसे जानते हैं कि - सातो नयो से और सप्तभंगी से वस्तु का परिपूर्ण स्वरूप सोचा जा सकता हैं। जाना जा सकता हैं । परन्तु वचन व्यवहार करने में तो एक काल में कोई भी एक नय से अथवा सप्तभंगी के कोई भी एक भांगे से ही वस्तु का स्वरूप बोला जा सकता हैं और दूसरे को समजाया जा सकता हैं । यह वचन व्यवहार करने में जो कोई एक नय या सप्तभंगी का जो कोई एक भांगा बोला जाये, उसके साथ **"सकल नयो के अर्थ को प्रतिपादन करने के तात्पर्यवाले "स्यात्" शब्द के अधिकरणवाला वह वाक्य यदि करे तो वह प्रमाणभूत वाक्य रचना मानी जाती है।"** इस लक्षण को ध्यान में लेकर वैसे वैसे स्थान पर सर्व नयो को अर्थ के समूह रूप से आलंबन स्वरूप ऐसे कोई भी एक भांगे में भी **"स्यात्"** शब्द होने के कारण विवक्षित एक नयवाले वाक्य में भी गौणरूप से इतर सर्व नयो का अन्तर्भाव हो ही जाता है । कोई भी इतर नयो का निषेध नहीं रहता है । **सारांश कि - वचनोच्चार में चाहे कोई एक नय या कोई एक भांगा बोला जाता हो, परन्तु सर्व नयो के अर्थो के समूह के आलंबन भूत ऐसा "स्यात्" शब्द आगे जुडा हुआ होने से, वह विवक्षित एक नयवाले वचनोच्चारण में भी इतर सर्वनयो का अर्थ संमीलित हैं । एकान्त वाक्य नहीं है।** परन्तु अनेकनयो की सापेक्षतावाला वाक्य हैं । इसलिए उसको प्रमाण वाक्य माना जाता है । उस कारण से "स्यात्" शब्द से लाञ्छित सभी वाक्य उच्चारण में एक नयवाले होने पर भी गर्भित रुप से सर्वनयो की सापेक्षतावाले हैं । इसलिए प्रमाणवाक्य हैं । **क्योंकि, घट-पट आदि सर्व पदार्थ मात्र में दो प्रकार के पर्याय होते है । १. अर्थपर्याय, और २. व्यंजन पर्याय । वहाँ घट-पट आदि पदार्थ मात्र में अस्तित्व, नास्तित्व, अवक्तव्य इत्यादि जो जो पर्याय स्वरूप से वर्तित होता हैं ।** (उसमें कुछ पर्याय वचन द्वारा बोल के समजाये जा सके ऐसे भी होते हैं और कुछ वचन द्वारा बोले न जा सके ऐसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी होते है ।) वे सर्व पर्याय पदार्थो के स्वरूपात्मक होने से **"अर्थपर्याय"** कहा जाता हैं । जैसे कि पदार्थो का प्रत्येक क्षण में जो जो स्वरूप बदलता हैं, तत् तत् स्वरूप वचनो से अगोचर होने पर भी पदार्थ में स्वरूप तो हैं ही । प्रतिक्षण सर्व द्रव्यो का स्वरूप बदलता होने से भिन्न भिन्न है । परन्तु तत्तत्समयवर्ती वह भिन्नता शब्दो से अगोचर हैं इसलिए वे सभी अर्थपर्याय हैं और जो जो पर्याय कुछ अंश से दीर्घकालवर्ती हैं और उसके ही कारण वचनो से बोले जा सके वैसे है, वे **व्यंजनपर्याय** कहे जाते हैं । जैसे कि मनुष्यजीवन की बाल्य, युवा और वृद्धावस्था । तथा घट-पटादि पदार्थो की श्यामावस्था और रक्तावस्था उस वचनो से गोचर हैं, दीर्घकालवर्ती पर्याय हैं । इसलिए वह व्यंजन पर्याय कहा जाता हैं और प्रतिक्षण पुरणगलन द्वारा होता घट-पट का नया नया स्वरूप, जीवद्रव्य में प्रतिसमय क्षायोपशमिक भाव से और औदयिक भाव से होती परावृत्ति तथा पुद्गलद्रव्य में प्रतिक्षण होते वर्ण-गंध-रस और स्पर्शादि की हानि-वृद्धि रूप जो पर्याय हैं वह पदार्थ में निश्चित वर्तित हैं । बुद्धि से समझ में भी आते हैं, परन्तु वचन से नहीं बोले जा सकते वे **अर्थपर्याय हैं।**

अर्थपर्यायों में सप्तभंगी के सात भांगे संभवित हैं । परन्तु व्यंजन पर्याय में पहले और दूसरे ऐसे दो भांगे से भी पदार्थ की सिद्धि सम्मति प्रकरण नाम के ग्रंथ में बताई हैं । **"स्यादस्ति"** और **"स्यान्नास्ति"** ये दो ही भांगे (तथा ये दो लिखने से **"स्यादस्तिनास्ति"** नामका गाथा के क्रमानुसार तीसरा भांगा भी समझ लेना) इस प्रकार दो भांगे से वस्तु का संपूर्ण स्वरूप समझा जा सकता हैं और समझाया जा सकता हैं । क्योंकि बाकी के सभी भांगो में **"अवक्तव्य"** शब्द आता हैं। अब जो भांगा **"अवक्तव्य"** हो वहाँ वचनोच्चार किस तरह से संभवित हैं ? और "वचनोच्चार" यदि संभवित हो तो वह **"अवक्तव्य"** कैसे कहा जायेगा ? इसलिए सम्मति प्रकरण में पूज्यपाद **श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी** महाराजश्री **अर्थपर्याय में सप्तविकल्प और व्यंजन पर्याय में दो विकल्प बताते हैं** । उस ग्रंथ की गाथा इस अनुसारसे हैं-

एवं सत्तविअप्पो, वएण-पहो होइ अत्थपज्जाए । वंजणपज्जाए पुण, सविअप्पो निव्विअप्पो य।। प्रथमकाण्ड-गाथा४१।। अर्थ : इस अनुसार से **अर्थपर्याय** में **सात** विकल्पोवाला वचनमार्ग होता है । परन्तु **व्यंजनपर्याय** में केवल **सविकल्प** और **निर्विकल्प** ऐसे दो ही भांगे होते हैं । **सम्मत्ति प्रकरण की गाथा का अर्थ टबें में इस अनुसार से हैं**[18] - **(सम्मति प्रकरण की) इस गाथा का अर्थ इस अनुसार से हैं कि** - **एवं** पहले समजाये अनुसार, **सत्तविअप्पो** = सप्त विकल्प अर्थात् सात प्रकारवाला **वएणपहो** = वचनपथ - सप्तभंगी स्वरूप वचनमार्ग - अलग अलग तरह से बोले जाते सात प्रकार के जो भांगे हैं, वह भांगे, **होइ अत्थपज्जाए** = अर्थपर्याय के विषय में होते हैं । अर्थात् अर्थपर्याय के बारे में **"स्यादस्ति, स्यान्नास्ति"** इत्यादि स्वरूपवाले सात प्रकार के सात भांगे होते हैं ।

वंजणपज्जाए पुण - परन्तु जो व्यंजन पर्याय हैं, जैसे कि, "यह घट है" "यह कुंभ है" इत्यादि घट, कुंभ इत्यादि शब्दोच्चार द्वारा बोलने स्वरूप, जो जो जीभ से उच्चारण करने स्वरूप कुछ दीर्घकालवर्ती व्यंजन पर्याय है, उसके विषय में तो **सविअप्पो** = सविकल्प और **निव्विअप्पो य** = निर्विकल्प स्वरूप दो ही भांगे होते है । सविकल्प अर्थात् विधानात्मक और निर्विकल्प यानी निषेधात्मक ऐसे दो ही भांगे होते है । **"स्यादस्ति, स्यान्नास्ति"** इत्यादि कोई भी सप्तभंगी के प्रथम दो भांगे कि जो विधि-निषेधरूप है, वे दो ही भांगे होते हैं और इससे अतिरिक्त दो के संयोगवाला एक तीसरा भांगा ज्यादा होता हैं ।) परन्तु अवक्तव्यादि पदवाले शेष भांगे संभवित नहीं है । **जे माटिं** = क्योंकि शेष भांगे में "अवक्तव्य" = न कहा जा सके यह पद आता हैं और व्यंजनपर्याय अर्थात् शब्दोच्चारण द्वारा बोला जा सके वह । अब जो **"अवक्तव्य"** हो, उसे शब्दविषयक (बोले जा सके वैसे) कहे तो परस्पर विरोध होता है। जो अवक्तव्य हो वह

18.टबो - एहनो अर्थ - एवं पूर्वोक्त प्रकारइं सप्तविकल्प सप्तप्रकार वचनपथ - सप्तभंगीरूप वचनमार्ग, ते अर्थपर्यायं, अस्तित्व - नास्तित्वादिकनइं विषइं होइ, व्यंजनपर्यांय जे घटकुंभादिशब्दवाच्यता, तेइनइं विषइं सविकल्प-विधिरुप, निर्विकल्प - निषेधरूप, ए र ज भांगा होइ, पणि अव्यक्तव्यादि भंग न होइ, ते माटिं - अव्यक्तव्य शब्दविषय कहिइं तो विरोध थाइ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्दविषयक न हो और जो शब्दविषयक हो वह अवक्तव्य न बने इसलिए अवक्तव्य पदवाले ५ (अथवा ४) भांगे व्यंजनपर्याय में संभवित नहीं है। परन्तु अर्थपर्याय में वे सातो भांगे संभवित है ।

अथवा जो जो व्यंजनपर्याय है अर्थात् शब्दोच्चारण रुप पर्याय है । वे व्यंजनपर्याय शब्दनय और समभिरूढ नय के मतानुसार सविकल्प और एवंभूतनय के मतानुसार निर्विकल्प होते हैं । **सारांश कि, कुल मिलाकर सात नय है। उसमें से पीछे के शब्दादि तीन नयो के मत से व्यंजनपर्याय होते है । क्योंकि प्रथम के चार नय तो अर्थनय है । वे चारो अर्थनय तो पदार्थ में रहे हुए पदार्थ के स्वरूपात्मक "अर्थपर्यायो" को प्रधानरूप से स्वीकार करते हैं । व्यंजनपर्याय शब्दोच्चारण स्वरूप होने से उसकी ओर ज्यादा भार नहीं देते है ।** शब्द बोलने मात्र से लिंगादि द्वारा या व्युत्पत्ति द्वारा या क्रिया परिणति द्वारा अर्थ का ही भेद करना वह पीछे के तीन नय का ही काम है । बोले जाते शब्द के उपर ज्यादा जोर देने का काम पीछले तीन नयो का है । प्रथम के चार नय बोले जाते शब्दो के उपर लक्ष्य नहीं देनेवाले हैं । इसलिए अर्थपर्याय सातो नय से संभवित हैं । परन्तु व्यंजनपर्याय पीछे के तीन नय से संभवित हैं । उस कारण से व्यंजनपर्यायो के विषय में वे प्रथम के चार नयो की प्रवृत्ति संभवित नहीं हैं। फिर भी यह बात बहोत सूक्ष्मता से जाननी हो तो पूज्य महोपाध्यायजी श्री यशोविजयजी महाराजश्री के ही बनाये हुए **"अनेकान्त व्यवस्था"** नाम के ग्रंथ में से जान लेना । यह ग्रंथ भी श्री महोपध्यायजी का ही बनाया है और वहाँ यह विषय ज्यादा सूक्ष्मता से समजाया हैं अर्थात् यहाँ वह विषय की ज्यादा चर्चा न करते हुए वहाँ से देख लेने का सुझाव दिया है ।

इस अनुसार से कोई एक विषय के उपर अपने-अपने प्रत्येक स्वरूपो में जहाँ अनेक नयो के अभिप्राय अनुसार विवाद हो, तब ऐसे स्थान पे वह विवाद टालने के लिए "स्यात्कार" पद से लाञ्छित **"तावन्नयार्थ" =** उतने शेष रहे हुए सभी नयो के अर्थ का **प्रकारकसमूहालंबन** - प्रकारवाले सातो नयो के अर्थ के समूह के आलंबनवाला बोध करानेवाला ऐसा एक ही भाँगा चाहने जैसा हैं । जैसे कि, **"यह कथंचिद् घट हैं"** इस वाक्य में घट के अस्तित्व को बतानेवाला एक भांगा किया, परन्तु उसके आगे "कथंचिद्" अर्थात् "स्यात्" शब्द से **स्यात्कार** शब्द से लाञ्छित होने से मिट्टी का हैं परन्तु सुवर्णादि का नहीं है, अहमदाबाद का हैं परन्तु सुरत आदि अन्य क्षेत्रो का नहीं हैं, वसंतऋतु का बना हुआ हैं परन्तु शिशिरादि अन्य ऋतु का बनाया हुआ नहीं है, रक्तादि भाववाला हैं परन्तु श्यामादि भाववाला नहीं हैं। इस प्रकार, सातो नयो के अर्थ-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादि की विवक्षा से घट का सम्पूर्ण स्वरूप कुछ विधिरूप और कुछ निषेधरूप, इस प्रकार सर्व स्वरूप यह एक भांगे में भी "कथंचिद्" शब्द से आ ही जाता हैं ।

अथवा व्यंजन पर्याय में जैसे दो भांगे में वस्तु का संपूर्ण स्वरूप समजा जाता हैं । वैसे यहाँ एक भागे में भी एक नय का स्वरूप प्रधानता से और शेष नयो का स्वरूप "कथंचित्" शब्द से गौणता से आ जाता होने से एक भांगा ही चाहने जैसा हैं । क्योंकि एक भांगे में भी विवक्षित वस्तु का एक स्वरूप प्रधानता से और शेष स्वरूप गौणता से भी अवश्य समाया हुआ ही है अर्थात् व्यंजनपर्याय में जैसे दो भांगो से वस्तु का क्रमशः प्रधान-गौण भाव से संपूर्ण स्वरूप बताया जाता है । वैसे यहाँ **स्यात्कार** शब्द से लाञ्छित एक भांगे में भी एक नय का स्वरूप प्रधानता से और शेष सर्व नयो का स्वरूप गौणता से, इस प्रकार एक भांगा भी वस्तु के पूर्ण स्वरूप को और सर्व नयगम्य स्वरूप को समजानेवाला हैं । इसलिए एक भांगे से भी चले, फिर भी यदि "सर्व स्थान पे सप्तभंगी ही होनी चाहिए" ऐसा आग्रह हो तो भी स्याद्वादी को कुछ भी नुकसान नहीं है । क्योंकि, जैसे एक भांगा विवक्षित स्वरूप की प्रधानता और शेष स्वरूप की गौणता सूचक किया हैं, कि जिसमें वस्तु का सम्पूर्ण स्वरूप समाया हुआ है, उसकी तरह[19] चालनीय न्याय द्वारा

19. चालनीय न्याय अर्थात् चालते समय जैसे चलनी को एक ओर से ऊंची करे तब वहाँ से दाने न गीरे परन्तु दूसरी ओर के नीचे के हिस्से से गिरे और वह हिस्सा ऊंचा करे तब वहाँ से दाने न गिरे, परन्तु पहले हिस्से से दाने नीचे गिरे, उसी तरह से जैसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तावन्नयार्थनिषेधबोधक - उतने ही शेष नयो के जो जो अर्थ प्रथम भांगे में निषेधरूप से गौणता से लाये थे, उतने नयो के तत् तत् अर्थो के निषेध की प्रधानता सूचक दूसरा भांगा भी कर लेना । जैसे कि, "यह कथंचिद् घट हैं" यह प्रथम भांगे में ही जो-जो द्रव्य क्षेत्र काल और भाव से घट नही हैं, वह भी कथंचिद् शब्द द्वारा गौणता से आ ही गया हैं । तथापि उस निषेधात्मक स्वरूप को प्रधानता से जानना हो तो वह जानने के लिए "यह घट कथंचिद् नास्ति भी हैं ही" ऐसा दूसरा भांगा भी कर लेना । प्रथम भांगो में जैसे वस्तु का संपूर्ण स्वरूप है वैसे दूसरे भांगे में भी वस्तु का संपूर्ण स्वरूप है ही । केवल प्रधानता भिन्न-भिन्न की है । इस अनुसार से मूल से दो भांगे हुए अर्थात् वे दो ही भांगे हैं, मूल में ऐसे दूसरे भी एक-दूसरे के संचारण से वैसी ही तरह से बाकी के पाँच भांगे भी सोच ले । ऐसा करने से कोई भी स्वरूप समजने में "सप्तभंगी" का जो आग्रह है, वह भी संतुष्ट होगा और कोई दोष नहीं आयेगा, इस तरह से एक भांगे से भी **स्याद्कार** लांछित होने से वस्तु का पूर्णरूप समझ में आता हैं तथा सात भांगे द्वारा भी **स्याद्कार** के कारण वस्तु का पूर्ण स्वरूप समज में आता है, ऐसा करने से अब कोई भी आकांक्षा (वस्तु स्वरूप जानने की तमन्ना अधुरी नहीं रहती है, इसलिए आकांक्षा) रहित रूप से सर्व भांगो का निर्वाह हो ही जाता हैं । यही मार्ग युक्तियुक्त हैं । ऐसा हम को समझ में आता है। (इस प्रकार पू. यशोविजयजी म.श्री बताते हैं ।) ये विचार अतिशय सूक्ष्म हैं, गंभीर है । सूक्ष्मबुद्धि से ही ग्राह्य है । इसलिए "स्याद्वाद" के विषय में पंडित हुए पुरुषो को सूक्ष्मबुद्धि द्वारा मन में ये विषय और उसके संबंधित स्याद्वाद युक्त विचारो की धारणा करे । निर्धारपूर्वक मन में ठसाये । यही सच्चा आत्म कल्याण का मार्ग हैं ।

जैन भाव की सार्थकता :

सप्तभंग ए दृढ अभ्यासी, जे परमारथ देखइं रे । जस कीरति जगि वाधइं तेहनी, जइन भाव तस लेखइं रे ।।४-१८।।

गाथार्थ : इस सप्तभंगी का दृढ (ठोस) अभ्यास करके जो जो विद्वान पुरुष परमार्थ को (पदार्थो के यथार्थ स्वरूप को) जानते है उनकी यशोगाथा और कीर्ति इस जगत में वृद्धि पाती है और उनका ही जैनभाव सार्थक होता है । (सफलता पाता है ।) (४-१८)[20]

कहने का सार यह है कि, फलितार्थ बाहइ छइ - इस ढालो का **फलितार्थ (सारांश) बताते हैं कि** - यह सप्तभंगी, सात नय, निश्चयनय, व्यवहारनय, त्रिपदी ये सभी पारमार्थिक रुप से जानने योग्य है । **वही जैनदर्शन का सार है । ये समज में आये तो ही विश्व का यथार्थ स्वरूप समज में आये और विश्व का यथार्थ स्वरूप समझ में**

नैगमनय मुख्य करे तब शेष-संग्रहादि छः गौण, यह प्रथम भांगा तथा संग्रह मुख्य शेष गौण, व्यवहार मुख्य शेष गौण, ऋजुसूत्र मुख्य शेष गौण, शब्द मुख्य शेष गौण, समभिरूढ मुख्य शेष गौण और एवंभूत मुख्य शेष गौण इस प्रकार छः प्रकार से पहला भांगा हो और उससे दूसरी और करने से यानी कि शेष मुख्य नैगम गौण, शेष मुख्य संग्रह गौण इत्यादि तरह से करने से दूसरा भंग । इस प्रकार मूलभूत र ही भांगे हो, शेष भागे संचारणा करने से सात ही भांगे होंगे, अधिक भांगे नहीं होते । चालनी न्यायका अर्थ "लौककन्यायांजली" नाम के ग्रंथ में हो ऐसा लगता है । वह ग्रंथ मिल नही सका । चालनी में जैसे नीकलने के रास्ते बहोत हैं । वैसे यहाँ पहला-दूसरा भांगा बहोत ही प्रकार से करे परन्तु बहोत भागे न करे ।

20. टबो - फलितार्थ कहइ छइ - ए कहिया जे सप्तभंग ते दृढ अभ्यास सकलादेश विकलादेश, नयसप्तभंग प्रमाणसप्तभंग इत्यादि भेइदं घणो अभ्यास करी, जे परमार्थ देखइ, जीवाजीवादि परमार्थ रहस्य समजइ, तेहनी यशकीर्ति वाधइ । "जे माटइं स्याद्वादपरिज्ञानइं ज जैननइं तर्कवाद का यश छइ । अनइं जैनभाव पणि तेहनो ज लेखइ । जे माटिं निश्चयथी सम्यक्त्व स्याद्वाद परिज्ञाने ज छइ।" उक्तं च सम्मतौ -

चरणकरणप्पहाणा, ससमयपरसमयमुक्कवावारा । चरणकरणस्स सारं, निच्छयशुद्धं ण याणंति ।।३-६७।। (स.प्र.)

ए चोथइ ढालइ भेदाभेद देखाइयो, अनइं सप्तभंगीनुं स्थापन करिउं ।।४-१४।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आये तो ही मिथ्याज्ञान नष्ट होता है। सम्यक्त्वादि गुणस्थानको की प्राप्ति होती है । उसके लिए यह सप्तभंगी आदि भावो का दृढ (मजबूत-ठोस) अभ्यास करना आवश्यक हैं ।

इसी बात को ग्रंथकारश्री स्वयं ही करते है - उपर समजाये हुए जो सातभांगे (सप्तभंगी) है, उसका जो जो विद्वान पुरुष दृढ अभ्यास करते हैं और **उसके अनुसंधान में आते सकलादेश, विकलादेश, नयसप्तभंग, प्रमाणसप्तभंग, त्रिपदी, भेदाभेद, नित्यानित्य, सामान्य-विशेष, अस्ति-नास्ति इत्यादि प्रकारो से बहोत विस्तार करनेपूर्वक जो परमार्थ रुप से (जैसा है वैसा यथार्थ) जगत के स्वरूप को जानते हैं।** जीव - अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि नौ तत्त्वो और छः द्रव्यो का परमार्थ स्वरूप (पदार्थो का जैसा स्वरूप है वैसा स्वरूप) उसका रहस्य = सार जो जो महापुरुष समजते है, इससे वे महात्मा यथार्थ ज्ञानी होते है और यथार्थज्ञानी होने से जहाँ जाये वहाँ वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझाने द्वारा यथार्थवादी होते है । उनकी वाणी कही किसी के भी साथ टकराती नहीं है । बाधा नहीं पाती है । उनके वचनो को कोई तोड़ नहीं सकता है । कोई भी वादी उनका पराभव नहीं कर सकता है । क्योंकि यह वाणी वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की है । समजानेवाले पुरुष तो उसके प्रचारक-प्रसारक एक प्रकार के दलाल है । मालिक नहीं है । मालिक वीतराग सर्वज्ञ प्रभु होने से संपूर्ण सत्य है । इसलिए यह जाननेवाले का सर्वत्र विजय होता है । यह वाणी निर्दोष और यथार्थ होने से उसे समझनेवाले का और उसके प्रचारक का यश और कीर्ति सदाकाल दशो दिशा में वृद्धि पाती है । एक दिशा में फैले उसे कीर्ति कहा जाता है और सर्व दिशा में फैले उसे यश कहा जाता है । अथवा पराक्रम जन्य प्रशंसा वह यश और त्याग तप आदि शेष गुणो से जन्य जो प्रशंसा उसे कीर्ति कहा जाता है । सच्चा समजनेवाले और सच्चा समजानेवाले का बिना कहे और बिना चाहे यश और कीर्ति स्वतः ही बढते हैं ।

सप्तभंगी और सातनयो के दृढ अभ्यासी का ही यश और कीर्ति क्यों बढे ? उसका कारण समजाते हुए कहते है कि - जिस कारण से स्याद्वाद शैली का (अनेकान्तमय संसार की स्वयंभू व्यवस्था का) परिज्ञान जो आत्मायें प्राप्त करता है, वही आत्मा जैनत्व को प्राप्त तर्कशास्त्रों में पारगामी और यशस्वी सिद्ध होता हैं । चाहे जैसी एकान्तवादी की पैनी मजबूत दलीलो का भी स्याद्वादी आत्मा तोडकर चूरचूर कर सकते है और राजसभा में यथार्थ वाद करने द्वारा स्वरूप समझाकर स्याद्वाद का विजय डंका बजा सकते है और इस तरह से जिनेश्वर परमात्मा की परम शुद्ध वाणी रूप जैनशासन की प्रभावना करने द्वारा उसी आत्मा का "जैनभाव" (जैनत्व की प्राप्ति) भी सफल होता है । सार्थक लगता है। क्योंकि निश्चयदृष्टि से "सम्यक्त्व की" प्राप्ति स्याद्वादशैली के विशाल ज्ञान द्वारा ही होती है ।

स्याद्वाद अभ्यास की आवश्यकता : परम पूज्य सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी महाराज श्री सम्मति प्रकरण में बताते हैं कि- **चरणकरणप्पहाणा, ससमयपरसमयमुक्कवावारा । चरणकरणस्स सारं, निच्छयशुद्धं ण याणंति ।।३-६७।।४-१८।।**

चरण सित्तरी और करण सित्तरी के आचार काया द्वारा पालने में प्रधानतम ऐसे आत्मा भी यदि स्वसमय । (जैनीय आगम शास्त्रो में) और परसमय (अन्य दर्शनीय शास्त्रो में) जो जो भावो का वर्णन किया है, उन सभी को जानने का व्यापार (व्यवसाय) जिन्हों ने छोड दिया है । बारीकाई से शास्त्रज्ञान पाने का प्रयास जो करते नहीं है, वे अपने द्वारा पाली जाती चरण सित्तरी और करणसित्तरी के शुभ आचारो के सारभूत निश्चयशुद्ध मर्म को जानते नहीं हे - पाते नहीं है । इसलिए स्याद्वाद शैली का परिज्ञान अवश्य पाना ही चाहिए ।

('सप्तभंगी विशेष' नामक चेप्टर में सुश्रावक धीरुभाई पंडितजी द्वारा अनुवादित पुस्तक में से साभार कुछ पदार्थों का संकलन किया है ।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट-५ ।। जैनदर्शन में निक्षेप योजन ।।

पदार्थ के स्वरूप को जानने के लिए अनेक मार्ग है । प्रमाण, नय और सप्तभंगी की तरह 'निक्षेप' भी वस्तु को जानने का एक मार्गविशेष है । जैनदर्शन की वह एक अनुठी शैली है । अब यहाँ जैनतर्क भाषा और अनुयोग द्वार सूत्र ग्रंथ के आधार से निक्षेप की व्याख्या और उसके प्रकार का वर्णन किया जाता है -

निक्षेप का सामान्य स्वरूप :

अथ निःक्षेपा निरूप्यन्ते । प्रकरणादिवशेनाप्रतिपत्या(त्त्या)दिव्यवच्छेदकयथास्थान-विनियोगाय-शब्दार्थ-रचना-विशेषा निःक्षेपाः[1] ।(जैनतर्कभाषा)

अर्थ : अब निक्षेपों का निरूपण किया जाता है । प्रकरण आदि के द्वारा अप्रतिपत्ति आदि का निराकरण करके उचित स्थान में विनियोग करने के लिए शब्द के वाच्य अर्थ के विषय में रचना विशेष **निक्षेप** कहे जाते हैं ।

कहेन का मतबल यह है कि, नयों के समान निक्षेपों का श्रुत प्रमाण के साथ संबंध विशेष रूप से है। श्रुत और नय के द्वारा किसी अपेक्षा से अर्थ के प्रति जब इच्छा होती है, तब अर्थ वाच्य हो जाते हैं । **वाच्य अर्थों के वाचकों का भेद से प्रतिपादन निक्षेपों का स्वरूप है ।** शब्द को सुनकर अर्थ का ज्ञान श्रोताओं को एक रूप से नहीं होता । जो श्रोता व्युत्पन्न नहीं होता वह अवसर पर पद के उस अर्थ को नहीं जानता, जिसमें वक्ता का अभिप्राय होता है । किसी श्रोता को पदों के अर्थ का सामान्य रूप से ज्ञान होता हैं पर विशेष रूप से अर्थ को जानने की शक्ति नहीं होती । शब्द के अनेक अर्थ हैं उनमें से किस अर्थ को लेना चाहिए इस विषय में उसको संदेह हो जाता है । कभी कभी इस प्रकार के श्रोता को भ्रम हो जाता है । जिस अर्थ में अभिप्राय हो उसको न लेकर अन्य अर्थ को वहाँ पर वह समझ लेता है । उत्पन्न होनेवाले संदेह, भ्रम और अज्ञान का निराकरण हो जाय इसके लिए निक्षेपों की रचना की जाती है । **निक्षेपों को जानकर प्रकरण आदि के द्वारा श्रोता अभिप्रेत अर्थ को ग्रहण कर लेता है और अन्य अर्थ का त्याग कर देता है । प्रकरण आदि के समझने में निक्षेप सहायता करते हैं । पारमार्थिक अर्थ को निक्षेप की सहायता से श्रोता जानकर उसका उचित स्थान में विनियोग कर सकता है ।**

जिस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं उसका विशेष अर्थ प्रकरण की सहायता से प्रतीत होता है, इसका प्रसिद्ध उदाहरण **'सैन्धव'** शब्द है । सैन्धव शब्द के दो अर्थ हैं और वे दोनों मुख्य हैं । एक अर्थ है अश्व, दूसरा अर्थ है लवण । यदि वक्ता कहे **'सैन्धवं आनय'** अर्थात् सैन्धव को लाओ तो श्रोता सुनकर सन्देह करने लगता है, मुझे घोडा लाने के लिए कहा गया है वा लवण लाने के लिए । इसके अनन्तर यदि श्रोता समझता है, इस समय भोजन का अवसर है बाहर जाने का नहीं, तो वह प्रकरण के अनुसार लवण अर्थ का स्वीकार कर के लवण ले आता है । यदि निक्षेपों के द्वारा सैन्धव शब्द के चार प्रकार के वाच्य अर्थों को प्रकट कर दिया जाय तो प्रकरण के समझने में सरलता होती है । इस अवसर पर जिस को सैन्धव पद के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपों का ज्ञान हो गया है, वह भोजन का अवसर है वा बाहर जाने का, इस वस्तु को शीघ्र जान लेता है । निक्षेप के अनुसार जिसने जान लिया है, सैन्धव शब्द का यहाँ पर भाव निक्षेप अश्व है अथवा लवण है, उसको अश्व वाच्य है अथवा लवण, इस प्रकार का संदेह नहीं होता ।

---

1. एवं निक्षेपणं निक्षेपः, निक्षिप्यते वा अनेनास्मिन्नस्मादिति वा निक्षेपः न्यासः स्थापनेति पर्यायाः । (अनु.सू. हारिभद्रीयवृत्ति) एवं निक्षेपणं शास्त्रादेर्नाम-स्थापनादिभेदैर्न्यसनं व्यवस्थापनं निक्षेपः, निक्षिप्यते नामादिभेदैर्व्यवस्थाप्यन्ते अनेनास्मिन्नस्मादिति वा निक्षेपः, वाच्यार्थविवक्षा तथैव । (अनु.सू. हेमचन्द्रीयवृत्ति) ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो नाम ही नहीं, स्थापना सैन्धव को और द्रव्य सैन्धव को जानता है, उसको उसी भाव सैन्धव का ज्ञान होता है, जो स्थापना और द्रव्य के प्रतिकूल नहीं होता । अश्व के आकार को स्थापना सैन्धव और अश्व के शरीर को जो द्रव्य सैन्धव समझता है, वह चेतन अश्व को भाव सैन्धव समझेगा । लवण उसके लिए भाव सैन्धव नहीं हो सकता, एक ही अर्थ के विषय में नाम आदि चार निक्षेप किये जाते हैं । स्थापना और द्रव्य निक्षेप अश्व के विषय में हो और भाव निक्षेप लवण के विषय में हो, यह नहीं हो सकता । स्थापना और द्रव्य निक्षेप के द्वारा जिसने सैन्धव को अश्व प्राणी के रूप में जाना है, वह अश्व को ही भाव निक्षेप के रूप में मानेगा । वह जब सुनेगा 'सैन्धव लाओ' तो स्थापना-द्रव्य और भाव निक्षेप के अनुसार अश्व को समझ लेगा । प्रकरण के ज्ञान की अपेक्षा नहीं करनी पडेगी । यदि करनी भी पडेगी तो प्रकरण का ज्ञान निक्षेपों के अनुसार शीघ्र हो जायेगा । जिस में अभिप्राय है, उस अर्थ को समझ लेने से योग्य विनियोग हो सकेगा । वक्ता अश्व को लेकर अपने कार्य की सिद्धि कर सकेगा । इस रीति से निक्षेप वाच्य अर्थ के निश्चय में कारण बनते हैं । अब निक्षेप कब फलवान बनता है, वह बताते है -

निक्षेप का फलवत्त्व : मङ्गलादि पदार्थनिःक्षेपान्नाममङ्गलादिविनियोगोपपत्तेश्च निःक्षेपाणां फलवत्त्वम्, तदुक्तम्-"अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निःक्षेपः फलवान्" ( ) इति । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : मङ्गल आदि पदार्थो के निक्षेप से नाम मङ्गल आदि का विनियोग होने के कारण निक्षेप फलवान् है । अन्यत्र कहा है कि - **"जिस का प्रकरण नहीं है, उस अर्थ को हटाने से और जिस अर्थ का प्रकरण है, उसका निरूपण करने से निक्षेप फल वाला है ।"**

कहने का मतलब यह है कि, मंगल के विषय में निक्षेपों के द्वारा नाम मङ्गल आदि का उचित विनियोग निक्षेपों के फल को प्रकाशित करने के लिए उदाहरण है । **नाम आदि निक्षेपों के भेद से मङ्गल चार प्रकार का है** - नाम मङ्गल, स्थापना मङ्गल, द्रव्य मङ्गल और भाव मङ्गल । **जो वस्तु मङ्गल स्वरूप नहीं है पर उसका मङ्गल नाम रख दिया है वह वस्तु नाम मङ्गल कही जाती है । जिन वर्णों का उच्चारण करके मङ्गल पद बोला जाता है अथवा जिन वर्णों को लिखकर मङ्गल पद लिखा जाता है उन वर्णो का समूह भी नाम मङ्गल है । स्वस्तिक आदि का चित्र लोक में मंगल रूप माना जाता है । वह स्थापना मङ्गल है** । जिसको किसी काल में मंगल शब्द के वाच्य अर्थ का ज्ञान था और उस ज्ञान से उत्पन्न संस्कार उसके आत्मा में पीछे भी हैं, वह उत्तरवर्त्ती काल में मंगल ज्ञान के संस्कार से युक्त होता है और मंगल ज्ञान से यदि रहित होता है तो **द्रव्य मंगल** कहा जाता है । इस प्रकार के ज्ञाता का जीव से रहित शरीर भी **द्रव्य मंगल** कहा जाता है । सुवर्ण, रत्न, दहीं, अक्षत आदि भी द्रव्य मंगल हैं । **जिसको मङ्गल शब्द के वाच्य अर्थ का वर्तमान काल में ज्ञान है वह आत्मा भाव मङ्गल है । जिनेन्द्र आदि का नमस्कार भी भाव मङ्गल है** । जो मंगल के इन चार निक्षेपों को जानता है उसको मङ्गल शब्द के वाच्य अर्थ के विषय में संदेह अथवा भ्रम नहीं उत्पन्न होता । वह प्रकरण के अनुसार जिस में अभिप्राय है, उस अर्थ को जान लेता है और अर्थ का उचित विनियोग करता है ।

निक्षेप के चार प्रकार : ते च सामान्यतश्चतुर्धा-नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् ।[2] (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : और वे सामान्य रूप से चार प्रकार के हैं, नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव भेद से ।

नाम निक्षेप का स्वरूप : तत्र प्रकृतार्थनिरपेक्षो नामार्थान्यतरपरिणतिर्नामनिःक्षेपः । यथा सङ्केतितमात्रेणा-

2. नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ।। त.सू. १/५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न्यार्थस्थितेनेन्द्रादिशब्देन वाच्यस्य गोपालदारकस्य शक्रादिपर्यायशब्दानभिधेया परिणतिरियमेव वा यथान्यत्रावर्तमानेन यदृच्छाप्रवृत्तेन डित्थडवित्थादि शब्देन वाच्या । (जैनतर्कभाषा)

अर्थ : इनमें, प्रकृत अर्थ की अपेक्षा से रहित नाम अथवा अर्थ की परिणति **नाम निक्षेप** है । जैसे अन्य अर्थ में स्थित इन्द्र आदि शब्द के द्वारा केवल सङ्केत से वाच्य गोपाल पुत्र की परिणति, जो शक्र आदि पर्याय शब्दों से नहीं कही जा सकती। अथवा यही अर्थ की परिणति केवल इच्छा के कारण प्रयुक्त किसी भी अन्य अर्थ के अवाचक 'डित्थ-डवित्थ' आदि शब्द से वाच्य हो तो नाम निक्षेप है ।

कहने आशय यह है कि, इन्द्र शब्द का मुख्य अर्थ स्वर्ग का अधिपति इन्द्र है, उसकी अपेक्षा के बिना गोपाल के पुत्र में जब इन्द्र पद का सङ्केत कर दिया जाता हैं, तो इन्द्र नाम गोपाल पुत्र का बोध कराता है । इस दशा में गोपाल के पुत्र का परिणाम इन्द्र शब्द का वाच्य है । इन्द्र के जो अन्य पर्याय है उनसे गोपाल पुत्र को नहीं कहा जा सकता । इस दशा में नाम निःक्षेप स्वर्गाधिपति का वाचक नहीं होकर गोपाल के पुत्र का वाचक बन जाता है ।

नाम निःक्षेप के लिए मुख्यरूप से अन्य अर्थ का वाचक होना आवश्यक नहीं है । जब कोई डित्थ अथवा डवित्थ शब्द से किसी को पुकारने लगता है तो उसका वही नाम ही हो जाता है । डित्थ और डवित्थ किसी अन्य वस्तु के नाम नहीं है । **वस्तु के जो गुण हैं, उनकी अपेक्षा के बिना अर्थ में संकेत करना नाम निःक्षेप के लिए आवश्यक है। इन्द्र शब्द का जब गोपाल के पुत्र में संकेत करते हैं, तब इन्द्र शब्द से स्वर्गाधिपति के जिस प्रसिद्ध ऐश्वर्य गुण की प्रतीति होती है उसकी अपेक्षा नहीं की जाती है ।** जब किसी अर्थ में डित्थ आदि शब्दों का संकेत किया जाता है, तब भी वाच्य अर्थ के गुणों की अपेक्षा नहीं की जाती । इन्द्र शब्द द्वारा ऐश्वर्य रूप गुण वाच्य है और डित्थ आदि पद का वाच्य कोई भी गुण नहीं है । इतना भेद होने पर भी गुणों की अपेक्षा के बिना केवल संकेत की अपेक्षा दोनों प्रकार के नाम निःक्षेपों में है । इस प्रकार की अपेक्षा नाम निःक्षेप का असाधारण स्वरूप है । **अब इस विषय में ज्यादा स्पष्टतायें करते हुए कहते हैं कि,**

तत्त्वतोऽर्थनिष्ठा उपचारतः शब्दनिष्ठा च । मेर्वादिनामापेक्षया यावद्द्रव्यभाविनी, देवदत्तादिनामापेक्षया चायावद्द्रव्यभाविनी, (जैनतर्कभाषा)

अर्थ : वास्तव में यह परिणति अर्थनिष्ठ है और उपचार से शब्दनिष्ठ है । मेरु आदि नामों की अपेक्षा से यह परिणति यावद् द्रव्य भाविनी है, देवदत्त आदि नामों की अपेक्षा से यह अयावद्द्रव्यभाविनी है ।

सारांश यह है कि, नाम वा अर्थ के परिणाम को नाम निःक्षेप कहा गया है, परन्तु परिणाम अर्थ में स्पष्ट है नाम में नहीं, तो भी उपचार से शब्द में कहा गया है । शब्द वाचक है और अर्थ वाच्य है, इस कारण शब्द में अर्थ का अभेद मान लिया गया है और अर्थ के परिणाम को शब्द में कहा गया है । **नाम निःक्षेप दो प्रकार का है । एक वह है, जो जब तक वाच्य द्रव्य स्थिर रहता है तब तक स्वयं भी रहता है । मेरु, द्वीप और समुद्र आदि नाम इसी प्रकार के हैं । जब तक मेरु आदि अर्थ रहते हैं तब तक ये नाम भी रहते हैं । अन्य नाम भिन्न प्रकार के हैं, देवदत्त आदि नाम इस प्रकार के हैं, जो देवदत्त आदि अर्थों के रहने पर भी बदल जाते हैं । वस्तु के रहने पर भी नामों का परिवर्तन देखा जाता है ।** अब अन्य प्रकार से नामनिक्षेप का स्वरूप बताते है -

यथा वा पुस्तकपत्रचित्रादिलिखिता वस्त्वभिधानभूतेन्द्रादिवर्णावली । (जैनतर्कभाषा)

अर्थ : अथवा पुस्तक, पत्र और चित्र आदि में लिखित वस्तु की अभिधान स्वरूप इन्द्र आदि वर्णों की पंक्ति भी नाम है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहने का सार यह है कि, जब इन्द्र पद से स्वर्ग के अधिपति का और ऐश्वर्य से रहित भृत्य आदि का बोध होता है तब वाचक और वाच्य का भेद स्पष्ट रहता है । कभी कभी इन्द्र पद का प्रयोग उन वर्णों के समुदाय में भी किया जाता है । जिनके समुदाय को इन्द्र कहा जाता है । 'इन् द्र् अ' इनका क्रम से समुदाय इन्द्र पद रूप है इसको भी इन्द्र कहा जाता है । इन्द्र का उच्चारण करो, इस प्रकार जब कहते हैं, तब इन्द्र शब्द का वाच्य इन्द्र इतना वर्णों का समुदाय होता है । यह भी नाम निःक्षेप है । इस प्रकार के नाम निःक्षेप में वाच्य और वाचक का स्पष्ट भेद नहीं प्रतीत होता । यहाँ भी मुख्य अर्थ की उपेक्षा करके संकेत के कारण इन्द्र पद वर्णों के समुदाय का वाचक है ।

स्थापना निक्षेप का स्वरूप : यत्तु वस्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण स्थाप्यते चित्रादौ तादृशाकारम्, अक्षादौ च निराकारम्, चित्राद्यपेक्षयेत्वरं नन्दीश्वरचैत्यप्रतिमाद्यपेक्षया च यावत्कथिकं स स्थापना निःक्षेपः, यथा जिनप्रतिमा स्थापनाजिनः, यथा चेन्द्रप्रतिमा स्थापनेन्द्रः । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : जो वस्तु उस अर्थ से रहित हो और उसके अभिप्राय से स्थापित हो वह स्थापना निःक्षेप है । चित्र आदि में वह उस वस्तु के समान आकारवाला होता है और अक्ष आदि में आकार रहित होता है । चित्र आदि की अपेक्षा से वह अल्पकाल तक स्थिर रहनेवाला **(इत्वरकालिक)** होता है और नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यों की प्रतिमा की अपेक्षा से **यावत्कथिक** होता है। **जैसे जिन प्रतिमा स्थापना जिन है और इन्द्र की प्रतिमा स्थापना इन्द्र है ।**

कहने का सार यह है कि, दो अर्थों में भेद होने पर एक में जो अन्य के अभेद का आरोप किया जाता है वह स्थापना है । मन के द्वारा भेद में अभेद का आरोप होता है । यह अभेद का आरोप स्थापना का मूलभूत तत्त्व है । अभेद का आरोप कहीं पर समान आकार को लेकर किया जाता है और कहीं पर आकार के समान न होने पर भी किया जाता है । गौ अथवा अश्व के आकार को काष्ट में, पत्थर में वा पत्र में देखकर कहा जाता है 'यह गौ है, यह अश्व है ।' देखने वाला काष्ट आदि के और गौ आदि के भेद को जानता है, पर आकार के समान होने से चेतन गौ आदि का अचेतन काष्ठ आदि में आरोप करता है । एक अचेतन में भिन्न अचेतन का भी आरोप किया जाता है । वृक्ष पर्वत आदि के चित्र को वृक्ष और पर्वत समझकर व्यवहार चलता है, इस प्रकार के व्यवहार का मूल स्थापना है । **इस प्रकार की स्थापना सद्भाव स्थापना कही जाती है। आकार में समानता न होने पर जब भिन्न आकार के अर्थ में अभेद मान लिया जाता है तब असद्भाव स्थापना होती है। अक्ष आदि में जब जिनेन्द्रदेव आदि की स्थापना होती है तब असद्भाव स्थापना होती है ।** जिनेन्द्र देव और अक्षों में आकार का साम्य किसी अंश में नहीं है । आकार समान नहीं है, इसलिए अक्ष में देव की स्थापना को निराकार कहा है, अक्ष सर्वथा आकार शून्य नहीं है । यहाँ पर निराकार शब्द का आकार पद, समान आकार के लिए प्रयुक्त हुआ है ।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि, स्थापना के लिए समान अथवा असमान आकार का होना आवश्यक नहीं है । किसी प्रकार का आकार न होने पर भी वस्तु में आकार का आरोप कर लिया जाता है । अकार इकार आदि वर्णों का कोई छोटा-बडा आकार न चक्षु से दिखाई देता है और न त्वचा से छुआ जा सकता है । फिर भी अकार आदि के आकारों की कल्पना अनेक प्रकार के स्वरूपों में की जाती है और उसके द्वारा व्यवहार चलता है । वर्णों की भिन्न भिन्न लिपियाँ अभेद के आरोप से उत्पन्न हुई हैं । पत्र पर स्याही से एक आकार को लिखते हैं और उसको अकार अथवा इकार कहते हैं । लिखा हुआ आकार चक्षु से देखा जाता है पर उच्चारण से उत्पन्न होनेवाला शब्द चक्षु के द्वारा प्रतीत होने वाले आकार से शून्य है। निराकार वर्ण का कल्पित आकार में अभेद मान लिया जाता है । यह अभेद का आरोप नेत्र के द्वारा देखने योग्य आकार से शून्य वर्ण की रेखाओं में आरोप किया गया है, इसलिए निराकार कहा जा सकता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चित्र और अक्ष आदि में जो स्थापना की जाती है, वह जब तक चित्र आदि रहते हैं तभी तक रहती है । चित्र आदि के लुप्त होने पर यह स्थापना नहीं रहती । नन्दीश्वर के चैत्यों की प्रतिमा में जो स्थापना है वह शाश्वत प्रतिमाओं होने के कारण चिर काल तक रहती है। जब तक प्रतिमाओं की कथा चलती है तब तक स्थापना स्थिर है इसलिए यावत्कथिक कही जाती है ।

द्रव्य निक्षेप का स्वरूप : भूतस्य भाविनो वा भावस्य कारणं यत्रिक्षिप्यते स द्रव्यनिःक्षेपः[3] यथाऽनुभूतेन्द्र-पर्यायोऽनुभविष्यमाणेन्द्रपर्यायो वा इन्द्रः, अनुभूतघृताधारत्वपर्यायेऽनुभविष्यमाणघृतपर्याये च घृतघटव्य-पदेशवत्तत्रेन्द्रशब्दव्यपदेशोपपत्तेः। (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : भूत भाव का अथवा भावी भाव का जो कारण निक्षिप्त किया जाता है वह द्रव्य निक्षेप है, जैसे जो भूतकाल में इन्द्र पर्याय का अनुभव कर चुका है अथवा जो भावी काल में इन्द्र पर्याय का अनुभव करेगा वह इन्द्र है । जिस घट में घृत भूतकाल में रक्खा गया था अथवा भावीकाल में जिस में घृत रक्खा जायेगा, उसमें जिस प्रकार घृतघट का व्यवहार होता है, इस प्रकार उस पूर्वोक्त मनुष्य में इन्द्र शब्द का व्यवहार हो सकता है ।

सारांश यह है कि, जिस में कभी घी को रक्खा गया था अथवा जिस में घी रक्खा जायेगा उस घट को वर्तमान काल में घृत के साथ संबंध न होने पर भी लोग घृत का घट कह देते हैं । घृत का आधार होना पर्याय है, यह पर्याय घट के बिना नहीं हो सकता, इस लिए घट इस पर्याय का कारण है । कारण होने से यहाँ पर घट द्रव्य कहा गया है । कारण होने पर भी उसका व्यवहार पर्याय के द्वारा होता है । संयोग संबंध से घट में घी रहता है । आधार होने के कारण घृतघट कहा जाता है । घृत घट कहलाने में घृत का आधार होना निमित्त है । जो मनुष्य अभी मनुष्य है, वह यदि कभी अर्थात् पूर्व भव में इन्द्र बन चुका हो अथवा आगामी काल में अर्थात् आगामी भव में इन्द्र बन जानेवाला हो, तो उसको इस रीति से इन्द्र कहा जा सकता है ।

यहाँ ध्यान रखना कि, पर्याय अनेक प्रकार के होते हैं । मिट्टी के पिंड का घट के आकार में परिणाम पर्याय है । इस परिणाम का कारण होने से मिट्टी **द्रव्य घट** है । मिट्टी घट का कारण होने से द्रव्य घट है और घट घृत का आधार होने से घृतघट है । इन दोनों द्रव्य निक्षेपों में कारण का कारणभाव समान नहीं है । घृत को धारण करने में घट निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं । घट घृत के संयोगरूप में परिणत नहीं होता, निमित्त का कार्य रुप में परिणाम नहीं हो सकता । मिट्टी द्रव्य घट है, परन्तु वह घट का परिणामी कारण है, निमित्त कारण नहीं । मिट्टी घटरूप को धारण कर लेती है । **द्रव्य निक्षेप के लिए अर्थ को कारण होना चाहिए, परिणामी कारण हो अथवा निमित्त कारण हो, वह द्रव्य निक्षेप के रूप में हो सकता है ।** द्रव्य निक्षेप का भिन्न-दृष्टिकोण से स्वरूप बताते हुए कहते है कि,

क्वचिदप्राधान्येऽपि द्रव्यनिक्षेपः प्रवर्तते यथाऽङ्गारमर्दको द्रव्याचार्यः, आचार्यगुणरहितत्वात् अप्रधानाचार्य इत्यर्थः । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : कहीं अप्रधानता में भी द्रव्य निक्षेप प्रवृत्त होता है, जिस प्रकार अंगारमर्दक द्रव्याचार्य कहा गया है । आचार्य के गुणों से रहित होने के कारण अप्रधान आचार्य है, यह द्रव्य पद का यहाँ पर अभिप्राय है ।

अंगारमर्दक की कथा इस प्रकार है– गर्जनक नाम के नगर में एक बार आचार्य श्री विजयसेनसूरि नामक आचार्य आये। उन्हों ने एक दिन अपने शिष्यों से कहा, आज एक आचार्य आयेगा पर वह भव्य नहीं हैं। उनके कहते कहते रुद्रदेव

3. भूतस्य भाविनो वा, भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद्द्रव्यं तत्त्वज्ञैः, सचेतनाचेतनं कथितम् ।। (अनु.सू. १२, वृत्ति)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नाम के आचार्य अपने साधुओं के परिवार के साथ वहाँ पहुँचे। उसकी परीक्षा के लिए साधुओं ने प्रश्रवण भूमि में अंगारे डाल दिये । जब अतिथि साधु बाहर निकले और पैरों से आघात होने के कारण "किस-किस" शब्द हुआ तो वे मिथ्या दुष्कृत कहकर लौटे गये । उन्हों ने वहाँ पर दिन में देखने की इच्छा से चिन्हकर दिए पर आचार्य रुद्रदेव कोयलों को मसलकर ध्वनि उत्पन्न करता हुआ चला गया और कहता गया प्रमाणों से यहाँ जीव नहीं सिद्ध होते तो भी जिनेन्द्रों ने जन्तुओं का निर्देश किया है । यह सब सुनकर आचार्य श्री विजयसेनसूरि ने रुद्रदेव के शिष्यों से कहा - यह अभव्य है, आप इसको छोड दो । आचार्य रुद्रदेव ही अंगारमर्दक नाम से प्रसिद्ध हुआ । भाव चारित्र से रहित होने के कारण वह मोक्ष को न प्राप्त कर सका और संसार में ही रहा । **अब अन्य दृष्टिकोण से 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग बताते है ।**

क्वचिदनुपयोगेऽपि, यथाऽनाभोगेनेहपरलोकाद्यशंसालक्षणेनाविधिना च भक्त्यापि क्रियमाणा जिनपूजादि क्रिया द्रव्यक्रियैव, अनुपयुक्तक्रियायाः साक्षान्मोक्षाङ्गत्वाभावात् । भक्त्याऽविधिनापि क्रियमाणा सा पारम्पर्येण मोक्षाङ्गत्वापेक्षया द्रव्यतामश्नुते, भक्तिगुणेनाविधिदोषस्य निरनुबन्धीकृतत्वादित्याचार्याः । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : कहीं पर उपयोग के अभाव में भी द्रव्य शब्द का प्रयोग होता है । जैसे उचित ध्यान के बिना और इहलोक परलोक आदि की इच्छारूप विरुद्ध विधि से भक्ति के साथ भी की जाती हुई जिनपूजा आदि क्रिया **द्रव्य क्रिया** है । उपयोग रहित क्रिया साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं हैं। भक्ति के साथ विधि के विरुद्ध की जाती हुई वह जिनपूजा आदि क्रिया परम्परा से मोक्ष का साधन होने के कारण द्रव्य हो जाती है । आचार्य कहते हैं - भक्तिरूप गुण विरुद्ध विधि के दोष को अनुबन्ध से रहित कर देता है ।

कहने का आशय यह है कि, कर्म से फल को प्राप्त करने के लिये कर्म करने की विधि का ज्ञान और एकाग्र चित्त आवश्यक कारण है। जो विधि को नहीं जानता वह प्रतिकूल रीति से भी कार्य करने लगता है । उस दशा में जो फल प्राप्त करना चाहते हैं, उस फल की प्राप्ति नहीं होती । इतना ही नहीं अनिष्ट फल प्राप्त हो जाता है । आयुर्वेद के शास्त्रों में - तीव्र रोगों के नाश के लिए पारे की भस्म का प्रयोग बहुत उत्तम कहा गया है । चिकित्सा के ग्रन्थ कहते हैं, पारा स्वयं मर जाता है परन्तु रोगी को जीवित कर देता है । जो मनुष्य पारे की भस्म को उचित रीति से नहीं बनाता उसके पारे का परिपाक उचित परिणाम में नहीं होता । पूर्णरूप में अपक्व पारे की भस्म यदि रोगी खा ले तो रोग का नाश तो दूर रहा प्राणों का संकट हो जायेगा। अज्ञान के कारण प्रतिकूल क्रिया तो है पर अनिष्ट, दुःख फल देती है इसलिए प्रधान रूप से क्रिया कहने योग्य नहीं है। अयोग्य क्रिया अप्रधान क्रिया है । अप्रधान का पारिभाषिक नाम द्रव्य है । इस प्रकार की क्रिया द्रव्य क्रिया कही जाती है।

विधि के ज्ञान के समान फल प्राप्त करने के लिए काम करने में चित्त की एकाग्रता भी आवश्यक है । क्रिया के करने में ध्यान न देकर अन्य विषय में ध्यान देने से भी अनिष्ट फल प्राप्त हो जाता है, अथवा जिस उत्कृष्ट फल के प्राप्त करने की इच्छा होती है वह न मिलकर न्यून कोटि का फल मिलता है । एक मनुष्य चलकर किसी नियत स्थान पर नियत समय पर पहुँचना चाहता है । यदि चलते-चलते किसी अन्य विषय में ध्यान चला जाय तो पथिक जहाँ नहीं जाना चाहता वहाँ पहुँच जायेगा । यदि अनुकूल दिशा में भी रहेगा तो नियत समय पर वांछित स्थान को न प्राप्तकर सकेगा । एक ग्राम वा नगर से अन्य ग्राम वा नगर में जाने के लिए आजकल मोटर और रेल का उपयोग होता है। यदि यात्री चित्त के एकाग्र न होने से मोटर अथवा रेल के प्राप्ति स्थान पर जब पहुँचना चाहिए तब न पहुँच कर विलम्ब से पहुँचे तो गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए पहली मोटर या रेल नहीं मिलेगी । कुछ समय के अनन्तर अन्य मोटर या रेल का आश्रय लेना पडेगा। इस कारण फल तो मिलेगा पर विलम्ब हो जायेगा । यदि पथिक ने किसी एक दिशा में दूर तक दो चार स्थानों में जाना हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और वह नियत समय पर वाहनों के प्राप्ति स्थान पर न पहुँचे तो उसको इस प्रकार का भी वाहन मिल सकता है जो उसके वांछित दूसरे अथवा तीसरे स्थान तक तो जाता हो पर वांछित चौथे स्थान तक न जाता हो । इस प्रकार की दशा में यात्री को दूसरे अथवा तीसरे स्थान तक रहना पडेगा । यह सब चित्त के एकाग्र न होने का फल है । एकाग्र चित्त के बिना की हुई इस प्रकार की क्रिया भी अप्रधान क्रिया है और वह द्रव्य क्रिया कही जाती है ।

लौकिक क्रिया के समान शास्त्र में विहित क्रिया भी विधि के ज्ञान और एकाग्र चित्त के होने पर फल देती है। शास्त्र में सम्यक् चारित्र को मोक्ष का कारण कहा गया है । यदि कोई, लोगों को वंचित करने के लिए चारित्र का पालन करता हो तो उसको मोक्ष नहीं मिलेगा किन्तु अनेक जन्मों में दुःख मिलेगा । वंचना के साथ किया हुआ चारित्र मुख्य रूप से चारित्र नहीं है, अप्रधान चारित्र है और इस कारण द्रव्य चारित्र है ।

अधिकार न होने के कारण भी क्रिया अप्रधान हो जाती है और उचित फल नहीं उत्पन्न करती । वह पथिक जो मार्ग को जानता है और पहुँचने के स्थान के लिए एकाग्र चित्त भी है, वह यदि रोगी हो और दूर तक चलने में असमर्थ हो तो कुछ दूर तक चलकर रह जायेगा और वांछित स्थान पर न पहुँच सकेगा । रोगी पथिक दूर तक की यात्रा का अधिकारी नहीं है । उसको यात्रा अप्रधान क्रिया रूप है इसलिए वांछित स्थान तक पहुँचाने में असमर्थ है । रोगी यात्री के समान अभव्य और दूरभव्य जी यदि एकाग्र चित्त से पूजा करे तो भी अधिकारी न होने से इष्ट फल को नहीं प्राप्त कर सकता। तीर्थंकर आदि की पूजा के देखने से सामायिक का ज्ञान प्राप्त होने के कारण उसकी पूजा में प्रवृत्ति हो सकती है पर इष्ट फल नहीं मिल सकता ।

जिसका चित्त एकाग्र नहीं है, जो संसार के अन्य विषयों का चिन्तन कर रहा है उसकी पूजा भी द्रव्य क्रिया है । वह मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है । जिनेन्द्र के राग-द्वेष आदि से रहित स्वरूप का एकाग्र चित्त के द्वारा चिंतन न हो तो साधक के राग-द्वेष आदि दोष क्षीण नहीं होते, इस कारण उसको मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता ।

जो एकाग्र चित्त से भक्ति के साथ पूजा करता है पर विधि के साथ नहीं करता अथवा पुत्र ऐश्वर्य आदि की कामना से करता है उसकी पूजा भी द्रव्य पूजा है । विधि के बिना पूजा यदि भक्ति के साथ भी की जाय तो वह राग आदि के नाश में प्रधान रूप से साधन नहीं रहती । परंपरा के द्वारा मोक्ष का साधन होने के कारण वह अप्रधान द्रव्य रूप हो जाता है। लौकिक फल का अभिलाषी भक्त पुत्र आदि फल प्राप्त कर के संसार में रह जायेगा । उसको मोक्ष न मिलेगा । **यदि वह राग आदि के क्षय के लिए भक्ति करे तो विधि के अनुसार न होने पर भी पूजा परंपरा से मोक्ष का कारण हो सकती है। विधि के विरोध का जो दोष है वह भक्ति के कारण निरंतर अनिष्ट फल की उत्पत्ति में असमर्थ हो जाता है** । आचार्यों के इस अभिप्राय के अनुसार विधि रहित और भक्ति सहित पूजा भी द्रव्य पूजा है ।

● **भावनिक्षेप का स्वरूप : विवक्षितक्रियानुभूतिविशिष्टं स्वतत्त्वं यन्निक्षिप्यते स भावनिःक्षेपः, यथा इन्दनक्रियापरिणतो भावेन्द्र इति। (जैनतर्क भाषा)**

अर्थ : वक्ता जिस क्रिया की विवक्षा करता है, उसकी अनुभूति से युक्त जो स्वतत्त्व निक्षिप्त किया जाता हैं, वह भाव निक्षेप है । जैसे इन्दन आदि क्रिया में परिणत होनेवाला भावेन्द्र है ।

जो भवन को प्राप्त होता है वह 'भाव' है । किसी पर्याय के रूप में परिणत होना 'भवन' है । जो पर्याय अनुभव में आ रहा है उससे युक्त वस्तु का स्वरूप जब प्रतिपादित किया जाता है तब 'भावनिक्षेप' होता है। जो इन्दन करता है वह इन्द्र है - इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो जीव स्वर्ग लोक में शासन करता है वह भावेन्द्र हैं । **वस्तु का जो असाधारण स्वरूप है, वह उसका 'स्वतत्त्व' है । असाधारण स्वरूप से परिणाम प्राप्त अर्थ 'भाव'**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है । मृत् पिंड का घट के आकार में परिणाम हो तो उसको घट कहा जाता है । मध्य में गोल हो, ग्रीवा का भाग संकुचित और गोल हो और ऊपर की ओर हो तो घट के रूप में परिणाम होने के कारण घट व्यवहार होता है । इस प्रकार के आकार में परिणत मृत् पिंडरूप अर्थ भावघट है । अर्थ का वर्तमान काल में जो पर्याय है वह भाव है । यह इस प्रकार फलित होता है ।

नामादि निक्षेपो का परस्पर भेद :

शंका : ननु भाववर्जितानां नामादीनां कः प्रतिविशेषस्त्रिष्वपि वृत्त्यविशेषात् १, तथाहि-नाम तावन्नामवति पदार्थे स्थापनायां द्रव्ये चाविशेषेण वर्तते भावार्थशून्यत्वं स्थापनारूपमपि त्रिष्वपि समानम्, त्रिष्वपि भावस्याभावात्। द्रव्यमपि नामस्थापनाद्रव्येषु वर्तते एव, द्रव्यस्येव नामस्थापनाकरणात् द्रव्यस्य द्रव्ये सुतरां वृत्तेश्चेति विरुद्ध-धर्माध्यासाभावान्नैषां भेदो युक्त इति चेत्, (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : शंका करते हैं - भाव को छोडकर नाम आदि का परस्पर क्या भेद है ? तीनों में वृत्ति का अर्थात् स्थिति का कोई भेद नहीं है । इस में हेतु यह है । नाम नामवान् पदार्थ में, स्थापना में और द्रव्य में समान रूप से रहता है । स्थापना का स्वरूप भाव अर्थ से रहित होना है, वह भी तीनों में समान है - कारण तीनों में भाव का अभाव है । द्रव्य भी नाम, स्थापना और द्रव्य में विद्यमान है । द्रव्य का ही नाम रखा जाता है और द्रव्य की ही स्थापना की जाती है, द्रव्य की द्रव्य में वृत्ति बिना क्लेश से होती ही है, विरोधी धर्मो का सम्बन्ध न होने से इनका भेद युक्त नहीं है ।

शंकाकार का अभिप्राय यह है कि, अर्थ का वर्तमान काल में जो पर्याय है वह भाव का असाधारण स्वरूप है । यह नाम, स्थापना अथवा द्रव्य में नहीं है परन्तु नाम आदि परस्पर में पाये जाते हैं । इन तीनों का जो असाधारण धर्म है वह परस्पर विरोधी नहीं है । जिन के धर्म परस्पर विरोधी होते हैं, वे अर्थ भिन्न होते हैं । शीत स्पर्श और उष्ण स्पर्श परस्पर विरोधी हैं । शीत स्पर्श जल का और उष्ण स्पर्श तेज का धर्म है इस कारण जल और तेज भिन्न हैं । यदि नाम आदि परस्पर विरोधी होते तो इनमें आधार-आधेयभाव नहीं होना चाहिए, परन्तु यह इनमें है । जिस अर्थ का कोई भी नाम है, उसमें नाम की सत्ता है। जो स्वर्ग का अधिपति नहीं है, केवल नाम से इन्द्र है वह इन्द्र नाम से कहा जाता है । जिस में इन्द्र की स्थापना की गई हो उसको भी लोग इन्द्र कहते हैं । जो किसी काल में अर्थात् आगामी भव में इन्द्र होनेवाला हो उसको भी इन्द्र कहा जाता है। जो अभी युवराज है, कुछ काल के पीछे राजा बननेवाला है, उसको पहले से ही राजा कहने लगते हैं । यदि नाम का स्वरूप, स्थापना और द्रव्य का विरोधी होता तो स्थापना और द्रव्य के साथ नाम का संबंध न होता । भावेन्द्र में भी यद्यपि नाम का संबंध विद्यमान है, परन्तु भावेन्द्र का जो वर्तमान पर्याय है वह नाम, स्थापना और द्रव्य में नहीं है । स्वर्ग पर शासन भावेन्द्र का असाधारण स्वरूप है । वह नाम, स्थापना और द्रव्य इन्द्रों में नहीं पाया जाता, इसलिए भावेन्द्र का नामेंद्र आदि से भेद है । जिस पर्याय के कारण द्रव्य भाव होता है, वह पर्याय नाम, स्थापना और द्रव्य में नहीं है । इसलिए भाव और नाम आदि का भेद है । नाम का स्वरूप जिस प्रकार नाम में है, इस प्रकार स्थापना और द्रव्य में भी है इसलिए इसमें भेद नहीं हो सकता ।

भाव स्वरूप अर्थ से रहित होना यह स्थापना का असाधारण स्वरूप है, यह भी नाम आदि तीनों में है । अन्य कोई इस प्रकार का धर्म नहीं है, जो स्थापना में हो, पर नाम और द्रव्य में न हो ।

द्रव्य भी जहाँ नाम, स्थापना और द्रव्य है वहाँ विद्यमान रहता है । द्रव्य हो तो उसका नाम धरा जा सकता है । स्थापना भी द्रव्य की होती है । जो द्रव्य है वह द्रव्य है ही, वहाँ द्रव्य के होने में कोई संदेह नहीं हो सकता । मृत् पिंड को घट द्रव्य कहा जाता है । वह द्रव्य रूप से विद्यमान है । जो द्रव्य है उसमें द्रव्य को अविद्यमान नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार का कोई स्वरूप इन तीनों में नहीं है, जो इन में से एक में हो और अन्य में न हो ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान : न, अनेन रूपेण विरुद्धधर्माध्यासाभावेऽपि रूपान्तरेण विरुद्धधर्माध्यासात्तद्भेदोपपत्तेः । तथाहि - नामद्रव्याभ्यां स्थापना तावदाकाराभिप्रायबुद्धिक्रिया, फलदर्शनाद् भिद्यते, यथाहि स्थापनेन्द्रे लोचन सहस्त्राद्याकारः, स्थापनाकर्तुश्च सद्भूतेन्द्राभिप्रायो द्रष्टुश्च तदाकारदर्शनादिन्द्रबुद्धिः, भक्तिपरिणतबुद्धीनां नमस्करणादि क्रिया, तत्फलं च पुत्रोत्पत्त्यादिकं संवीक्ष्यते, न तथा नामेन्द्रे द्रव्येन्द्रे चेति ताभ्यां तस्य भेदः । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : **समाधान : आपका कथन युक्त नहीं,** इस रूप से विरुद्ध धर्मों का संबंध न होने पर भी अन्य रूप के द्वारा विरोधी धर्मों के साथ संबंध होने के कारण उनमें भेद हो सकता है । **वह इस प्रकार** - स्थापना तो आकार, अभिप्राय, बुद्धि, क्रिया और फल के दिखाई देने के कारण नाम और द्रव्य से भिन्न है । स्थापना इन्द्र में जिस प्रकार हजार नेत्र आदि आकार और स्थापना करनेवाले का सत्य इन्द्र का अभिप्राय और द्रष्टा को उस आकार के देखने से इन्द्र की बुद्धि उत्पन्न होती है और भक्ति में परिणत बुद्धिवाले लोग नमस्कार आदि क्रिया करते हैं और उसका फल पुत्र जन्म आदि देखा जाता है, इस प्रकार नामेन्द्र और द्रव्येन्द्र में नहीं है, इसलिए उन दोनों से उसका भेद है ।

कहने का मतलब यह है कि, जिन अर्थों में परस्पर विरोधी धर्म रहते हैं उनमें यदि कोई समान धर्म भी रहते हैं तो उनके कारण विरोधी पदार्थों का भेद दूर नहीं होता । लोह भारी है और तेज भार से रहित है, लोह उष्ण नहीं है परन्तु तेज उष्ण है, इस प्रकार दोनों भिन्न हैं । जब अग्नि लोह में प्रविष्ट हो जाता है तो अग्नि के समान लोह भी दाह उत्पन्न करता है । दाह को उत्पन्न करना दोनों का समान धर्म है, फिर भी लोह और अग्नि एक नहीं हो जाते । दोनों में भेद रहता है । इसी प्रकार अग्नि के संयोग से जल भी जलाने लगता है परन्तु जल और तेज भिन्न रहते हैं । लोह और जल के साथ जिस प्रकार तेज का संबंध है इस प्रकार नाम का नामवान् पदार्थ, स्थापना और द्रव्य के साथ संबंध होता है, परन्तु इस संबंध के कारण नाम आदि एक नहीं हो जाते । इनके स्वरूप और इनके कार्य भिन्न हैं । जहाँ इन्द्र की स्थापना होती है उस काष्ठ में वा पत्थर में सहस्र नेत्र और हाथ आदि का आकार देखा जाता है । जो स्थापना करता है उसका अभिप्राय सत्य इन्द्र में होता है। स्थापना को देखकर इन्द्र का ज्ञान होता है, इन्द्र समझकर लोग प्रतिमा को प्रणाम करते हैं, भक्ति करनेवालों को उसके द्वारा धन पुत्र आदि का लाभ भी होता है । यह सब जो केवल नाम से इन्द्र हैं उसके द्वारा नहीं होता । इसी प्रकार जो कभी इन्द्र रह चुका है अथवा किसी आगामी काल में इन्द्र बनेगा, उसके द्वारा भी ये फल नहीं प्राप्त होते । इन्द्र का आकार भी द्रव्य इन्द्र में नहीं होता । इसलिए उसको देखकर इन्द्र की बुद्धि उत्पन्न नही होती, इसलिए नाम और द्रव्य से स्थापना का भेद है ।

केवल संबंध के कारण अथवा समान कार्य के कारण विलक्षण अर्थ भेद से रहित नहीं हो सकते । जब अश्व पर पुरुष बैठता है तब दोनों का संयोग होता है । पर इतने से दोनों का भेद दूर नहीं हो जाता । रथ में घोडा जुतकर मनुष्य को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है । कभी कभी मनुष्य भी रथ में जुतकर किसी किसी मनुष्य को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है । परन्तु इस कारण घोडे और मनुष्य का भेद दूर नहीं हो जाता । **नाम-स्थापना और द्रव्य की जातियाँ भिन्न हैं, उनका भेद केवल संबंध होने से दूर नहीं हो सकता ।** जो नाम से इन्द्र है और जो द्रव्य इन्द्र है, वे दोनों इन्द्र के विषय में ज्ञान उत्पन्न करते हैं, पर इस समानता में भी भेद है । द्रव्य इन्द्र को देखकर बुद्धि होती है, यह कभी इन्द्र बनेगा परन्तु नाम इन्द्र को देखकर इस प्रकार की बुद्धि नहीं होती । इस बात को अधिक स्पष्ट करते हुए बताते है कि,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यमपि भावपरिणामिकारणत्वान्नामस्थापनाभ्यां भिद्यते, यथा ह्यनुपयुक्तो वक्ता द्रव्यम्, उपयुक्तत्वकाले उपयोगलक्षणस्य भावस्य कारणं भवति, यथा वा साधुजीवो द्रव्येन्द्रः सद्भावेन्द्ररूपायाः परिणतेः, न तथा नामस्थापनेन्द्राविति । नामापि स्थापनाद्रव्याभ्यामुक्तवैधर्म्यादेव भिद्यते इति । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : भाव का परिणामी कारण होने से द्रव्य, नाम और स्थापना से भिन्न है । जैसे उपयोग रहित वक्ता द्रव्य है, जब वह उपयोगवाला होता है तब उपयोग स्वरूप भाव का कारण होता है । अथवा जिस प्रकार भावेन्द्र रूप परिणाम का कारण होने से साधु का जीव द्रव्येन्द्र होता है । नाम-इन्द्र और स्थापना इन्द्र इस प्रकार भाव इन्द्र के परिणामी कारण नहीं बनते । जो विलक्षण धर्म पहले कहा है, उसके कारण ही स्थापना और द्रव्य से नाम भी भिन्न है ।

कहने का आशय यह है कि, वर्तमान काल में जो पर्याय है, उनके साथ संबद्ध परिणामी कारण 'भाव' कहा जाता है । भाव रूप में परिणत होने से परिणामी कारण को कार्यभाव का द्रव्य कहा जाता है। मिट्टी का पिंड भाव घट के रूप में परिणत होता है, इसलिए उसको द्रव्य घट कहते हैं । नाम घट का अथवा स्थापना घट का परिणाम भाव घट के रूप में नहीं हो सकता, इस कारण द्रव्य, नाम और स्थापना से भिन्न है । इसी प्रकार साधुजीव का किसी काल में अर्थात् आगामी भव में भावेन्द्र के रूप में परिणाम हो सकता है, पर नाम-इन्द्र का और स्थापना-इन्द्र का भाव इन्द्र के रूप में परिणाम नहीं होता । इसी अभिप्राय के अनुसार वक्ता पुरुष को द्रव्य कहा जाता है । वक्ता का उपयोग किसी विषय में कभी होता है और कभी नहीं होता है। उपयोग आत्मा का धर्म है, जब किसी एक विषय में उपयोग नहीं रहता तब अपेक्षा से आत्मा को उपयोग रहित कहा जाता है । कुछ काल के अनन्तर आत्मा विशेष विषय के उपयोग रूप में परिणत हो जाता है । इस उपयोग का कारण होने से उपयोग रहित आत्मा द्रव्य कहा जाता है । स्थापना और द्रव्य के जो विलक्षण धर्म दिखाये हैं- वे नाम में नहीं है, इस कारण नाम का स्थापना और द्रव्य से भेद है । अब नामादि में किसी रुप से अभेद और किसी रुप से भेद को बताते हुए कहते है कि,

दुग्धतक्रादीनां श्वेतत्वादिनाऽभेदेऽपि माधुर्यादिना भेदवन्नामादीनां केनचिद्रूपेणाभेदेऽपि रूपान्तरेण भेद इति स्थितम् । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : दूध और तक्र आदि में श्वेत वर्ण आदि के द्वारा अभेद होने पर भी माधुर्य आदि के कारण जिस प्रकार भेद होता है, इस प्रकार नाम आदि में भी किसी रूप से अभेद है और अन्य रूप से भेद है - यह सिद्ध हुआ ।

कहने का मतलब यह है कि, जो धर्म वस्तुओं को भिन्न करते हैं, उनकी उपेक्षा कर के समान धर्म के बल पर यदि वस्तुओं में अभेद माना जाय तो प्रमाणों से सिद्ध वस्तुओं का भेद भी नहीं रह सकेगा । गौ, घोडा, ईंट, पत्थर, नदी आदि अर्थ आंख से दिखाई देते हैं । दृश्यत्व इन सब का साधारण धर्म है, इसके द्वारा यदि इन सब को अभिन्न माना जाय तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के साथ विरोध होगा । चेतन और अचेतन का भेद अनुभव सिद्ध है, वह भी नहीं रह सकेगा । एक परिणामी द्रव्य के अनेक परिणाम होते हैं । उनमें द्रव्य की दृष्टि से अभेद होने पर भी पर्याय की अपेक्षा से भेद रहता है। तक्र दूध का परिणाम है, अतः द्रव्य की अपेक्षा से तक्र और दूध में भेद नहीं है, किन्तु पर्याय की अपेक्षा से इन दानों में भेद है । तक्र दूध नहीं है और दूध तक्र नहीं है । दूध का रस मधुर है और तक्र का रस आम्ल है । नाम आदि का भी, संबंध आदि की अपेक्षा से अभेद समझा जा सकता है, पर उनके जो स्वरूप भिन्न हैं उनके कारण उनमें भेद है ।

शंका : ननु भाव एव वस्तु किं तदर्थशून्यैर्नामादिभिरिति चेत् । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : शंका-भाव केवल वस्तु हैं, भाव के अर्थ से शून्य नाम आदि के द्वारा क्या लाभ है ?

कहने का सार यह है कि, कारणभूत द्रव्य जब किसी पर्याय से युक्त होता है तब उसके द्वारा कार्य किया जा सकता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है । भावरूप अर्थ से जो कार्य सिद्ध होता है, वह नाम, स्थापना अथवा द्रव्य से नहीं सिद्ध होता । मिट्टी का जब घट रूप में परिणाम होता है तभी पानी लाया जा सकता है । घट का नाम अथवा घट का चित्र अथवा घट का कारण मृत्पिंड पानी लाने का साधन नहीं बन सकता । इसलिए घट शब्द का वास्तव में वाच्य अर्थ मिट्टी का परिणाम स्वरूप भाव घट ही है, नाम आदि को घट शब्द का वाच्य मानने से कोई लाभ नहीं है । पानी का लाना आदि विशेष कार्य घट का है, वही यदि किसी अर्थ से नहीं सिद्ध होता तो उसको घट नाम से कहना उचित नहीं है । नाम केवल नाम है, वह नाम के द्वारा वाच्य वस्तु के समान स्वयं वस्तु नहीं हो सकता ।

समाधान : न, नामादीनामपि वस्तुपर्यायत्वेन सामान्यतो भावत्वानतिक्रमात्, अविशिष्टे इन्द्रे वस्तुन्युच्चरिते नामादि भेदचतुष्टयपरामर्शनात् प्रकरणादिनैव विशेषपर्यवसानात् । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : समाधान-नाम आदि भी वस्तु के पर्याय हैं, इसलिए सामान्य रूप से उनमें भी भावपन है । सामान्य रूप से इन्द्र शब्द का उच्चारण करने पर नाम आदि चार भेदों का ज्ञान होता है, प्रकरण आदि के द्वारा विशेष का ज्ञान अंत में हो जाता है ।

सारांश यह है कि, केवल पर्याय ही कार्य को सिद्ध नहीं करता । नाम आदि से भी कार्य सिद्ध होते हैं । घट पर्याय पानी लाने का साधन है और घट का नाम अन्य को घट के विषय में ज्ञान कराने का साधन है । बिना नाम के घट के विषय में लाने का, ले जाने का अथवा रखने आदि का व्यवहार नहीं हो सकता । **व्यवहार शब्द के अधीन है, शब्दरूप न होने के कारण भाव घट वाक्य के द्वारा व्यवहार का साधन नहीं हो सकता ।** स्थापना भी आकार का अनुभव कराती है । आकार का अनुभव कराना भी एक कार्य है । इस कारण स्थापना भी भाव है । कारण, द्रव्य को देखकर उससे उत्पन्न होनेवाले कार्यों का ज्ञान होता है । भावी कार्य के विषय में ज्ञान उत्पन्न करना यह भी एक कार्य है । सभी भाव एक प्रकार के कार्य को नहीं उत्पन्न करते । भाव घट के समान नाम घट आदि भी अपने अपने कार्यों के उत्पन्न करनेवाले है, इसलिए वे भी वस्तुरूप है । सामान्य रूप से किसी भी शब्द को सुनकर नाम आदि चारों का ज्ञान होता है। किस अवसर पर किसको लेना है, यह निर्णय प्रकरण आदि के द्वारा होता है । भाव जिस प्रकार वस्तु का पर्याय है, नाम आदि भी इस प्रकार वस्तु के पर्याय है ।

अब नामादि तीन की उपयोगिता बताते हुए कहते है कि,

भावाङ्गत्वेनैव वा नामादीनामुपयोगः, जिननामजिनस्थापनापरिनिर्वृतमुनिदेहदर्शनाद्भावोल्लासानुभवात् । केवलं नामादित्रयं भावोल्लासेऽनैकान्तिकमनात्यन्तिकं च कारणमिति ऐकान्तिकात्यन्तिकस्य भावस्याभ्यर्हितत्वमनुमन्यन्ते प्रवचनवृद्धाः । एतच्च भिन्नवस्तुगतनामाद्यपेक्षयोक्तम् । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : अथवा भाव का साधन होने के कारण नाम आदि का उपयोग है, "जिन" के नाम से, "जिन" की स्थापना से और जो मुनि निर्वाण को प्राप्त हो गया है उसके देह के देखने से भाव में उल्लास का अनुभव होता है, इसलिए नाम आदि भाव के साधन हैं । नाम आदि तीनों भाव के उल्लास में एकान्त रूप से और आत्यन्तिक रूप से कारण नहीं है, केवल इस कारण प्रवचन के वृद्ध आचार्य भाव को उत्कृष्ट मानते हैं । यह समाधान भिन्न वस्तुओं में रहनेवाले नाम आदि की अपेक्षा से कहा है ।

कहने का मतलब यह है कि, सामान्य पुरुष में भी "जिन" नाम का संकेत होता है इस नाम को सुनकर भी श्रोता के मन में भाव जिन का स्मरण हो जाता है और अत्यन्त भक्ति प्रकट हो जाती है । इसी प्रकार जिसके आकार से राग-द्वेष आदि का अभाव प्रकट होता है इस प्रकार की जिन प्रतिमा को देखकर भी भाव का उल्लास अनुभव से सिद्ध है । जिन प्रतिमा को देखकर "कब मेरे राग-द्वेष आदि शान्त होंगे और में इसके समान हो जाऊँगा" इस प्रकार की इच्छा हो जाती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं । सम्यक् चारित्र के द्वारा जो मोक्ष को प्राप्त हुआ है, उस मुनि के प्राणहीन शरीर को देखकर भी भक्तिभाव उत्पन्न होता है । **इस रीति से भाव की अभिव्यक्ति के साधन होने से नाम आदि तीनों वस्तुरूप हैं** । नाम आदि सभी भाव के साधन हैं, पर भाव जिनेन्द्र को देखकर भक्ति का जितना उत्कर्ष प्रकट होता है उतना जिनेन्द्र का नाम सुनने पर अथवा जिनप्रतिमा के देखने पर नहीं होता । इसके अतिरिक्ति नाम आदि भाव के उल्लास में कभी कारण बनते हैं और कभी नहीं बनते । भाव जिनेन्द्र भक्ति के अत्यंत उल्लास में नियत कारण है, इसलिए प्राचीन आचार्य नाम आदि की अपेक्षा भाव का उत्कर्ष अधिक मानते हैं । नामादि तीन का भाव के साथ अविनाभाव बताते हुए कहते है कि,

अभिन्नवस्तुगतानां तु नामादीनां भावाविनाभूतत्वादेव वस्तुत्वम्, सर्वस्य वस्तुनः स्वाभिधानस्य नामरूपत्वात्, स्वाकारस्य स्थापनारूपत्वात् कारणतायाश्च द्रव्यरूपत्वात्, कार्यापन्नस्य च स्वस्य भावरूपत्वात् । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : अभिन्न वस्तु में रहनेवाले नाम आदि तो भाव के साथ अविनाभाव होने से ही वस्तु रूप हैं । समस्त वस्तुओं का अपना अभिधान **नाम** रूप है, अपना आकार **स्थापना** स्वरूप है, वस्तु में रहनेवाला कारणभाव, **द्रव्य** स्वरूप है। कार्य रूप में परिणत अपना स्वरूप **'भाव'** है ।

कहने का आशय यह है कि, भाव को वस्तुरूप मान लेने पर परिणामी कारण रूप द्रव्य के विषय में वस्तु होने की शंका नहीं रह सकती। भाव के साथ द्रव्य एक वस्तु में है । मृत्पिंड घट के रूप में परिणत होता है, इसलिए यदि भाव घट वस्तु है, तो मृत्पिड रूप द्रव्यघट भी अवश्य वस्तु है। जो परिणामी कारण नहीं हैं, उनमें भी नाम और स्थापना हो सकती है, इसलिए नाम और स्थापना के वस्तुरूप होने में शंका का अवसर है । दरिद्र बालक नामेन्द्र है, काष्ठ अथवा पत्थर की प्रतिमा स्थापना इन्द्र है, इन दोनों का स्वर्ग के अधिपति भाव इन्द्र से बहुत भेद है, इसलिए उनके वस्तु रूप होने में शंका हो सकती है । पर जब एक वस्तु में नाम और स्थापना हों तब भाव के समान अथवा द्रव्य के समान वस्तु स्वरूप होने में शंका नहीं हो सकती। **एक वस्तु का वाचक पद नाम है, उसकी आकृति स्थापना है उत्तर काल में प्रकट होनेवाले पर्यायों का उत्पन्न करनेवाला स्वरूप द्रव्य है । कार्य रूप से अभिव्यक्त स्वरूप भाव है ।**

उदाहरण के लिए घट को लीजिए । घट अर्थ का वाचक घट पद नाम है । घट का आकार स्थापना है, उत्तरवर्ती पयायों के उत्पन्न करने की शक्ति द्रव्य घट है, घट रूप से अभिव्यक्ति भाव घट है, यहाँ पर भाव स्वरूप घट जिस प्रकार वस्तुरूप है, इस प्रकार भावी क्षणों में होनेवाले पर्यायों की उत्पादक शक्ति घट से भिन्न अभिन्न होने के कारण वस्तुरूप है । यह शक्ति वर्तमान घट में प्रतीत हो रही है - इसलिए वस्तु है, आकार भी घट में प्रतीत हो रहा है उसका भी घट के साथ अभेद है - अतः वह भी वस्तुरूप है, वर्णात्मक घट पद भी घट अर्थ के साथ प्रतीत होता है - अतः वह भी वस्तु है । घट अर्थ जिस प्रकार घट कहा जाता है । इस प्रकार घट पद भी घट कहा जाता है । घट लाया जा सकता है और ले जाया जा सकता है, घट पद बोला जा सकता है, लाने और ले जाने के समान बोला जाना भी व्यवहार है । भाव घट के समान घट पद भी व्यवहार का विषय है - इसलिए वस्तु है । **अब 'नाम' की वस्तुरुपता को स्पष्ट करते हुए युक्तिपूर्वक बताते है**

यदि च घटनाम घटधर्मो न भवेत्तदा ततस्तत्संप्रत्ययो न स्यात् तस्य स्वापृथग्भूतसम्बन्धनिमित्तकत्वादिति सर्वं नामात्मकमेष्टव्यम् । (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : और यदि घटनाम घट का धर्म न हो तो घट नाम से घट की प्रतीति नहीं होनी चाहिए । घट पद से घटरूप अर्थ के ज्ञान का निमित्त सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध स्व से अर्थात् घट रूप वाच्य अर्थ और घट पद रूप वाचक से पृथक् नहीं है, इसलिए समस्त वस्तु नामात्मक माननी चाहिए ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहने का सार यह है कि, वस्तु का नाम वस्तु के ज्ञान में निमित्त कारण है । घट के रूप आदि गुण घट के ज्ञान में कारण हैं। घट के रूप आदि पट के धर्म नहीं है इसलिए उनके द्वारा पट का ज्ञान नहीं होता । घट के ज्ञान में कारण होने से घटनाम भी रूप आदि के समान घट का धर्म है । धर्म और धर्मी का अभेद भी होता है इसलिए घट और घटनाम का अभेद भी मानना चाहिए । समस्त वस्तुओं का ज्ञान उनके वाचक पदों से होता है इसलिए समस्त वस्तुओं को नामात्मक समझना चाहिए । घट वस्तु है इस लिए उससे अलग न रहनेवाला घटनाम भी वस्तु है । जब नाम-स्थापना और द्रव्य भिन्न भिन्न वस्तुओं में होते हैं, तब उनका स्वरूप भाव का साधन होता है इस अपेक्षा से नाम आदि का वस्तु रूप में प्रतिपादन इस रीति से किया है । अब 'आकार' की वस्तुरूपता में युक्ति बताते है -

साकारं च सर्वं मति-शब्द-घटादीनामाकारवत्त्वात्, नीलाकारसंस्थानविशेषादीनामाकाराणामनुभवसिद्धत्वात्।

अर्थ : समस्त पदार्थ आकार से युक्त हैं, बुद्धि-शब्द और घट आदि अर्थ आकारवाले हैं, नील आदि और आकृति विशेष आदि आकार अनुभव से सिद्ध हैं ।

कहने का आशय यह है कि बुद्धि जब विषय को प्रकाशित करती है, तब विषय का जो आकार होता है, उस आकार में स्वयं भी हो जाती है । सूर्य आदि का प्रकाश जब वृक्ष आदि को प्रकाशित करता है तब वृक्ष के आकार में हो जाता है । बुद्धि भी सूर्य आदि के प्रकाश के समान वृक्ष आदि की प्रकाशक है । वह भी वृक्ष आदि के आकार को धारण करती है । ज्ञाता को जिस प्रकार बाह्य वृक्ष आदि में आकार प्रतीत होता है । इसी प्रकार ज्ञान में भी वृक्ष आदि का आकार प्रतीत होता है । यह ज्ञान वृक्ष का है और मेघ आदि का नहीं है, यह व्यवस्था भी बिना आकार के नहीं हो सकती । यदि वृक्ष के ज्ञान में वृक्ष का आकार प्रतीत न हो, तो यह ज्ञान वृक्ष का है, मेघ आदि का नहीं - इस प्रकार की व्यवस्था नहीं हो सकती । आकार विषय की व्यवस्था का नियामक है । बाह्य घट आदि वस्तु का आकार प्रत्यक्ष से सिद्ध है । शब्द पुद्गल का परिणाम है । इसलिए वह भी आकार से युक्त है । आकार से युक्त वर्ण जब क्रम से रहते हैं तब उनका आकार विशेष नाम से कहा जाता है । पहले **घ्** पीछे **अ** फिर - **ट्** उसके अनन्तर **अ** का उच्चारण जब क्रम के साथ होता है, तो 'घट' पद का एक आकार प्रकट होता है । पट आदि शब्दों का आकार घट पद के आकार से भिन्न है । वाच्य अर्थो के समान वाचक शब्दों का भी आकार है । अर्थों का आकार बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय है और पदों का आकार श्रोत्र का विषय है इतना भेद है, वस्तु और आकार में अत्यन्त भेद नहीं है - इसलिए वृक्ष आदि के समान आकार भी वस्तुरूप है।

अब सर्व पदार्थ द्रव्यात्मक है, इस बात को स्पष्ट करते है -

द्रव्यात्मकं च सर्वं उत्फणविफणकुंडलिताकारसमन्वितसर्पवत् विकाररहितस्याविर्भावतिरोभावमात्रपरिणामस्य द्रव्यस्यैव सर्वत्र सर्वदानुभवात् ।

अर्थ : सब पदार्थ द्रव्यात्मक है, ऊँची फणावाले और फणा से रहित और कुंडली आकार से युक्त सर्प के समान विकार से रहित आविर्भाव और तिरोभावरूप केवल परिणाम से युक्त द्रव्य का ही समस्त देश और काल में अनुभव होता है ।

कहने का आशय यह है कि, अर्थों में विकार प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं । कुछ विकारों का आकार बहुत भिन्न होता है । जहाँ आकार बहुत अधिक भिन्न होता है, वहाँ विकार स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है । मिट्टी का पिंड जब घट बन जाता है तब पिंड का जो आकार है उससे घट के आकार का भेद देखते ही प्रतीत हो जाता हैं । दूध जब दही के रूप में परिणत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होता है तब दूध और दही का आकार में कुछ भेद होता है, पर उतना नहीं जितना मिट्टी के पिंड और घट का होता है । दूध की गोलाई जितनी होती हे उतनी दही की भी होती है । दूध के समान दही भी वर्ण में श्वेत होता है । पर दूध द्रव रहता है और दही जमकर घन हो जाता है इतना भेद प्रकट होता है । इस प्रकार के विकारों में एकबार विकार उत्पन्न होने पर फिर विकार से रहित दशा का आकार स्पष्ट नहीं दिखाई देता । दहीं बन जाने पर फिर दूध का आकार नहीं बनता ।

बीज और अंकुर में कारण और कार्य के आकारों में जो भेद है, वह दूध दही आदि की अपेक्षा से भी अत्यन्त अधिक है। वट वृक्ष के बीज का आकार अत्यंत छोटा है । उसको एक चींटी (कीडी) भी उठाकर इधर से उधर दूर तक ले जा सकती है । जब वह वृक्ष बडा होकर शाखा प्रशाखाओं के साथ फैल जाता है तब उसको हाथी भी नहीं उखाड सकते । शाखाओं के लम्बे और ऊँचे आकार के साथ बीज के अत्यन्त लघु आकार का भेद रहता हैं परन्तु एक अनुगत आकार सदा रहता है यह अनुगत रूप द्रव्य का है । जब द्रव्य कभी विकार में भिन्न आकार को धारण कर के फिर मूल आकार में दिखाई देता है तो द्रव्य का अनुगत स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । सर्प जब फण ऊँचा कर के खडा होता है उससे फण रहित दशा का आकार भिन्न होता है । जब वही सर्प कुंडल के समान गोल हो जाता है तब जो आकार है वह फण के नीचे और ऊँचे होने की दशा से भिन्न होता है । इन समस्त दशाओं में सर्प का अनुगत आकार स्पष्ट प्रतीत होता है । एक ही सर्प कभी फण ऊँचा करता है और कभी नीचा । वही सर्प कभी गोल हो जाता है और कभी लम्बा । एक ही सर्प के भिन्न भिन्न आकार मूल रूप के साथ बार बार दिखाई देते हैं, इसलिए अनुगत और जो अनुगत नहीं है इस प्रकार के दोनों रूप प्रत्यक्ष होते हैं । अनुगत रूप द्रव्य है ।

अनुगामी अर्थ में भिन्न आकार के पर्यायों को प्रकट करने की जो शक्ति है वह भी द्रव्य कही जाती है । कारणभूत द्रव्य प्रत्यक्ष है और उसकी पर्यायों के उत्पन्न करने की शक्ति प्रत्यक्ष नहीं है, उसका पर्यायों से अनुमान होता है । जब पर्याय समान आकार के होते हैं तब उनका अनेक दशाओं में प्रत्यक्ष कठिन हो जाता है । जब अर्थ अन्य अर्थ के रूप में परिणत नहीं होता किन्तु परिणाम को प्राप्त करता है तब पर्यायों के आधार का भेद कुछ दशाओं में प्रत्यक्ष नहीं होता। आजकल यन्त्रों के द्वारा पैसा आदि जो उत्पन्न होते हैं उनका आकार अत्यन्त समान होता है । यदि उनको भिन्न स्थान में रक्खा हुआ न देखा जाय तो यह पैसा भिन्न है और दूसरा भिन्न है यह नहीं प्रतीत होता । एक ही स्थान पर एक पैसे को हटाकर उसके स्थान पर दूसरा पैसा रख दिया जाय तो केवल देखने से पहले और दूसरे पैसे का भेद स्पष्ट नहीं दिखाई देता। जब तक स्थान पर एक द्रव्य में समान आकार के पर्याय निरंतर उत्पन्न होते रहते हैं, भिन्न आकार के अर्थ के रूप में परिणाम नहीं होता, तब भ्रम हो जाता हैं । एक द्रव्य स्थिर रूप प्रतीत होने लगता है । पर्यायों के उत्पत्ति और नाश नहीं दिखाई देते ।

जब दीप प्रकाश करता है तब उसकी ज्वाला प्रति क्षण उत्पन्न होती और नष्ट होती रहती है । तेज अनुगत रूप में स्थिर रहता है । देखनेवाले को 'तेज' द्रव्य घण्टों तक एक स्थिर प्रतीत होता है । प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होनेवाली ज्वालाओं का भेद स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई देता । यह ज्वाला पहले क्षण की है, यह दूसरे क्षण की हैं, इस रूप से ज्वालाओं का भेद नहीं दिखाई देता । यहाँ पर अनुमान के द्वारा ज्वालाओं का भेद प्रतीत होता है । जब तक तेल रहता है तब तक दीप जलता रहता है । निरंतर तेल के न्यून होते रहने से अनुमान होता है । प्रथम क्षण के तेल से प्रथम ज्वाला उत्पन्न हुई थी दूसरे क्षणों के तेल से अन्य ज्वालायें उत्पन्न होती हैं ।

इस दीप के दृष्टांत से सिद्ध है जब एक द्रव्यरूप अधिकरण में समान आकार के पर्याय उत्पन्न होते हैं तब पर्यायों का भेद नहीं प्रतीत होता किन्तु केवल अनुगामी द्रव्य प्रतीत होता है । दीप के समान समस्त अर्थ पुद्गल के परिणाम हैं । जब उनमें अन्य हेतुओं से भिन्न आकार को धारण करनेवाले परिणाम नहीं उत्पन्न होते तब भी समान आकार के परिणाम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न होते रहते हैं । इन समान आकार के प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाले पर्यायों के उत्पन्न करने की शक्ति अनुगामी द्रव्य में रहती है । यह शक्ति प्रत्येक द्रव्य में है । शक्ति और शक्तिमान का अभेद है, इसलिए शक्ति भी द्रव्य कही जाती है । यह शक्ति रूप द्रव्य प्रत्येक वस्तु में है । एक स्थान पर पडा हुआ घट अथवा लोह भी प्रतिक्षण नये नये पर्यायों को उत्पन्न करता है । एक ही घट जिस प्रकार नामरूप और स्थापना रूप है, इस प्रकार शक्तिरूप होने से द्रव्यरूप भी है । अतः द्रव्य के वस्तु होने में शंका नहीं हो सकती । अब सर्व वस्तु की भावात्मकता और समस्त जगत को नामादि चतुष्ट्यात्मक बताते हुए कहते है कि,

भावात्मकं च सर्वं परापरकार्यक्षणसन्तानात्मकस्यैव तस्यानुभवादिति चतुष्ट्यात्मकं जगदिति नामादिनयसमुदयवादः। (जैनतर्क भाषा)

अर्थ : समस्त वस्तु भावात्मक है अर्थात् पर्यायरूप है । प्रत्येक क्षण में होनेवाले पर - अपर कार्यों की परम्परा के रूप में अर्थ का अनुभव होता है, इस कारण समस्त जगत नाम-स्थापना-द्रव्य और भाव इन चारों के स्वरूप में है । यह नाम आदि नयों का समुदयवाद है ।

कहने का आशय यह है कि, जब भी अर्थ का अनुभव होता है तब किसी एक पर्याय के रूप में होता है । प्रत्येक अर्थ में नाम, आकार, द्रव्य और पर्याय है । प्रत्येक अर्थ में केवल नाम, केवल आकार, केवल द्रव्य अथवा केवल पर्याय, कहीं भी नहीं है । घट को जब देखते हैं तब आकार, अनुगामी द्रव्य और भाव एक काल में दिखाई देते हैं, द्रव्य पर्यायों के बिना और पर्याय द्रव्य के बिना जिस प्रकार नहीं प्रतीत होते । इस प्रकार द्रव्य और पर्याय आकार के बिना भी नहीं प्रतीत होते। नाम की प्रतीति तब स्पष्ट रूप से होती है जब नाम का उच्चारण किया जाता है । उच्चारण न होने पर भी वस्तु को देखकर नाम का स्मरण अवश्य होता है । चक्षु से स्थापना द्रव्य और भाव का प्रत्यक्ष जिस प्रकार होता है, इस प्रकार नाम का प्रत्यक्ष यद्यपि नहीं होता तो भी नाम का स्मरण अवश्य होता है । किसी भी इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष हो, नाम का संबंध अवश्य रहता है । अर्थ से सर्वथा दूर रहकर नाम का अनुभव नहीं होता । अर्थ और ज्ञान जिस शब्द के द्वारा कहे जाने हैं, उसी शब्द से नाम भी कहा जाता है । अर्थ को घट कहते है, उसके ज्ञान को घट का ज्ञान कहते हैं । नाम को भी घट कहते हैं । इस प्रकार सब का आकार समान है । **समस्त अर्थ नाम आदि के रूप में हैं - इसलिए नाम, स्थापना, द्रव्य भी भाव के समान वस्तु हैं, यह नाम आदि का समुदायवाद है ।** नाम आदि चार निक्षेप हैं इनके माननेवाले नयों का निक्षेप के वाचक शब्दों द्वारा प्रतिपादन कर के नामनय आदि का प्रयोग किया गया है, नामको माननेवाला नय नामनय, स्थापना को माननेवाला स्थापनानय कहा गया है । द्रव्यनय और भावनय शब्द का प्रयोग भी इसी रीति से हैं । **जो भी वस्तु है । वह सब नाम आदि चारों के रूप में है । आकाश के पुष्प आदि जो सर्वथा असत् हैं उनमें नाम आदि चारों का स्वरूप नहीं प्रतीत होता, अतः समस्त वस्तु नाम आदि चार पर्यायों से युक्त है ।**

निक्षेपों की नयों के साथ योजना :

अथ नामादिनिक्षेपा नयैः सह योज्यन्ते । तत्र नामादित्रयं द्रव्यास्तिकनयस्यैवाभिमतम्, पर्यायास्तिकनयस्य च भाव एव। आद्यस्य भेदौ संग्रहव्यवहारौ, नैगमस्य यथाक्रमं सामान्यग्राहिणो विशेषग्राहिणश्च अनयोरेवान्तर्भावात्। ऋजुसूत्रादयश्च चत्वारो द्वितीयस्य भेदा इत्याचार्यसिद्धसेनमतानुसारेणाभिहितं । जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण पूज्यपादैः - 'नामाइतियं दव्वट्ठियस्य भावो अ पज्जवणयस्स । संगहववहारा पढमगस्स सेसो उ इयरस्स ।।७५।।' **इत्यादिना विशेषावश्यके ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ : अब नाम आदि निक्षेपों की नयो के साथ योजना की जाती है । द्रव्यास्तिक नय, चार निक्षेपों में से नाम स्थापना और द्रव्य निक्षेप इन तीनों को स्वीकार करता है । पर्यायास्तिक नय केवल भाव को स्वीकार करता हैं । प्रथम द्रव्यास्तिक के दो भेद हैं - संग्रह और व्यवहार । सामान्यग्राही नैगम का क्रम से संग्रहनय में और विशेषग्राही नैगम का व्यवहार नय में अन्तर्भाव होता है । ऋजुसूत्र आदि चार द्वितीय पर्यायास्तिक के भेद हैं, यह वस्तु पू. आचार्य सिद्धसेनदिवाकरसूरिजी के मत के अनुसार है। पूज्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणजीने विशेषावश्यक में कही है-विशेषावश्यक की गाथा इस प्रकार है - "द्रव्यार्थिक नय को नाम आदि तीन अभिमत हैं और पर्यायास्तिक को केवल भाव अभिमत है । संग्रह और व्यवहार द्रव्यार्थिक के भेद हैं और शेष पर्यायार्थिक के भेद हैं ।"

कहने का सार यह है कि, स्वयं स्थिर रहकर अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों में जो जाता है - वह द्रव्य है। 'द्रवति इति द्रव्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पर्यायों में अनुगत और स्थिर द्रव्य की प्रतीति होती है । इस द्रव्य को जो प्रधान रूप से स्वीकार करता है वह नय द्रव्यास्तिक । संग्रह और व्यवहार नय द्रव्यास्तिक के मत का आश्रय करते हैं। **संग्रह सामान्य धर्म के द्वारा सब का संग्रह करता है । संग्रह नय के अनुसार सभी पदार्थ सत् स्वरूप हैं । सत् रूप से समस्त चेतन और अचेतन अर्थों की प्रतीति होती है । इन पदार्थों में परस्पर जो भेद है, वह अन्य की अपेक्षा से प्रतीत होता है, अतः वह मुख्य नहीं हैं । सत् स्वरूप की प्रतीति में अन्य की अपेक्षा नहीं हैं, अतः वह मुख्य हैं** । सत् स्वरूप की अपेक्षा से सब एक हैं । अनुगामी स्वरूप द्रव्य का असाधारण तत्त्व है, अनुगामी सत्ता के कारण सब को संग्रह कर के सत् रूप से चेतन और अचेतन को एक कहनेवाला संग्रह सत्ता के रूप में द्रव्य का प्रतिपादक है, इसलिए वह द्रव्यास्तिक का भेद कहा जाता है ।

व्यवहार नय भेद का प्रतिपादन करता है । वह जिन भेदों का प्रतिपादन करता है, उनमें भी द्रव्य का स्वरूप स्थिर रहता है । पर्याय का आश्रय व्यवहार करता है । पर्याय द्रव्यो से सर्वथा भिन्न नहीं हैं । व्यवहार नय के अनुसार सत् रूप वस्तु के भेद हैं द्रव्य आदि । द्रव्य के भेद हैं जीव आदि । जीव अपने गुण और पर्यायों में अनुगत है । पुद्गल अपने गुण और पर्यायों में अनुगामी रूप से विद्यमान है । चेतन अचेतन द्रव्यों को स्वीकार करने के कारण व्यवहार नय भी द्रव्यार्थिक का भेद है । संग्रह और व्यवहार दोनों द्रव्य का आश्रय लेते हैं । **संग्रह सत् रूप द्रव्य का आश्रय लेकर भिन्न अर्थों में प्रधान रूप से अभेद का प्रतिपादन करता है । व्यवहार द्रव्यों के भेद का निरूपण करता है - यह दोनों का भेद है ।**

नैगम भी एक नय है पर वह पू.आ.श्री. सिद्धसेन दिवाकरसूरीजी के मत के अनुसार संग्रह और व्यवहार से भिन्न नहीं है । नैगम दो प्रकार का है - एक सामान्य का बोधक है और दूसरा विशेष का । जो सामान्य का प्रतिपादक नैगम है उसका संग्रह में और जो विशेष का प्रतिपादक है उसका व्यवहार में अन्तर्भाव हो जाता है । **नैगम नय गौण-मुख्य भाव से गुण और गुणी के भेद और अभेद का निरूपण करता है । गुणों का आश्रय द्रव्य है, उसका प्रधान और अप्रधान भाव से निरूपण गुणों के बिना नहीं हो सकता, अतः वह भी द्रव्यार्थिक का भेद है ।**

ऋजुसूत्र वर्तमान काल में रहनेवाली वस्तु का निरूपण करता है, अतीत और अनागत पर्यायों से अलग कर के निरूपण करने के कारण उसमें अनुगामी स्वरूप की प्रधानता नहीं है, अतः उसको पू.आ.श्री. सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी पर्याय नय का भेद स्वीकार करते हैं । इस मत को मानकर पूज्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण महाराजने विशेषावश्यक में ऋजुसूत्र को पर्यायास्तिक के भेद-रूप में कहा है । द्रव्य जिस प्रकार वर्तमान पर्याय के साथ रहता है इस प्रकार अतीत और अनागत पर्यायों के साथ भी रहता है । केवल वर्तमान पर्याय के साथ मुख्यरूप से संबंध होने के कारण ऋजुसूत्र का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुगामी द्रव्य के साथ नहीं, किन्तु अननुगामी पर्याय के साथ संबंध है-यह वादी पू.आ.श्री. सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी के अनुगामियों का अभिप्राय है । इस मत के अनुसार नाम, स्थापना, द्रव्य, इन तीन निक्षेपों का संबंध द्रव्यास्तिक के साथ है, पर्यायास्तिक के साथ नहीं । पर्यायास्तिक नय का संबंध केवल भाव निक्षेप के साथ है । **अब इस विषय में पू.आ.श्री.जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणजी का मत प्रस्तुत करते है,**

स्वमते तु नमस्कारनिक्षेपविचारस्थले "भावं चियसद्दणया सेसा इच्छन्ति सव्वणिक्खेवे" (२८४७) **इति वचसा त्रयोऽपि शब्दनयाः शुद्धत्वाद्भावमेवेच्छन्ति ऋजुसूत्रादयस्तु चत्वारश्चतुरोऽपि निक्षेपानिच्छन्ति अविशुद्धत्वादित्युक्तम्।**

अर्थ : अपने मत में तो जहाँ पर नमस्कार के निक्षेप का विचार किया है, वहाँ शब्द नय भाव निक्षेप को ही मानते हैं और शेष नय सब निक्षेपों को मानते हैं । इस वचन के द्वारा शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये तीनों नय केवल भाव को और ऋजुसूत्र आदि चार नय अशुद्ध होने से चारों निक्षेपों को स्वीकार करते हैं - यह कहा है ।

कहने का सार यह है कि, किसी पद के द्वारा व्युत्पत्ति के बल से जो अर्थ प्रतीत होता है, उसके वाचक शब्द के विषय में सांप्रत, समभिरूढ और एवंभूत ये तीनों शब्दनय प्रधानरूप से विचार करते हैं । **घटन क्रिया में समर्थ घट ही घट है, इस वस्तु के साथ शब्द नयों का संबंध है । जल का लाना घटन किया है, जल का लाना एक पर्याय है, वह अनुगामी द्रव्य नहीं है, इस पर्याय विशेष के साथ मुख्यरूप से संबंध रखने के कारण शब्द-नय भाव-बोधक कहे जाते हैं।** जल लाने में समर्थ घट भाव-घट है, वह जिस प्रकार नामघट अथवा स्थापनाघट नहीं है, इसी प्रकार द्रव्य घट भी नहीं है । भाव घट का कारण है मृत्पिंड । उसके साथ शब्दनयों का संबंध नहीं है । मिट्टी के पिंड से पानी नहीं लाया जा सकता । अपने आकार में जब घट बन जाता है तभी पानी लाया जा सकता है । **शब्दनयों के अनुसार द्रव्य घट को घट नहीं कहा जा सकता ।**

शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचक भाव के साथ ऋजुसूत्र का संबंध नहीं है, वह वर्तमान काल के साथ संबंध रखनेवाले अर्थ को स्वीकार करता है । वर्तमान काल का पर्याय अतीत और अनागत में नहीं है-इसलिए द्रव्य के अनुगामी स्वरूप के साथ यद्यपि ऋजुसूत्र का सीधा संबंध नहीं है परन्तु गौण रूप से सम्बन्ध अवश्य है । **ऋजुसूत्र नय वर्तमान पर्याय के आधारभूत द्रव्य की एकता का निषेध नहीं करता । भाव-घट बिना द्रव्य के प्रतिष्ठित नहीं हो सकता । भाव घट में भी उत्तरवर्ती क्षणों में घट के उत्पन्न करने की शक्ति है** । इस अपेक्षा से वह भी द्रव्य घट है । इस स्वरूप के द्रव्य घट का निषेध ऋजुसूत्र नहीं कर सकता । अतः विशेषावश्यक के कर्ता अपने मत में ऋजुसूत्र को भी नैगम आदि के समान द्रव्यार्थिक का भेद मानते हैं और ऋजुसूत्र के अनुसार द्रव्य निक्षेप को भी स्वीकार करते हैं । **अब ऋजुसूत्र नय नाम और भाव निक्षेप को ही मानता है और द्रव्य निक्षेप को नहीं, इस मान्यता का खंडन करते है,**

ऋजुसूत्रो नामभावनिक्षेपावेवेच्छतीत्यन्ये, तत्र(तन्न); ऋजुसूत्रेण द्रव्याभ्युपगमस्य सूत्राभिहितत्वात्, पृथक्त्वाभ्युपगमस्य परं निषेधात् । तथा च सूत्रम्-"उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्ते आगमओ एगं दव्वावस्सयं, पुहत्तं नेच्छइ त्ति"। **(अनुयो. सू. १४)**

अर्थ : ऋजुसूत्र नाम और भाव इन दो निक्षेपों को ही मानता है इस प्रकार कुछ लोग कहते हैं । यह मत युक्त नहीं है, क्योंकि ऋजुसूत्र द्रव्य को मानता है यह सूत्र में प्रतिपादित है । यह नय पृथक्त्व अर्थात् अनेकता को स्वीकार करता है, इसी वस्तु का निषेध है । **सूत्र (सूत्र का अर्थ) इस प्रकार है** - "ऋजुसूत्र नय के मत से एक उपयोग रहित पुरुष आगमतः एक द्रव्यावश्यक है, यह नय अनेकता को नहीं मानता ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहने का आशय यह है कि, आगम में द्रव्य निक्षेप के दो प्रकार के भेद प्रतिपादित हैं । एक आगम से द्रव्य है और दूसरा नोआगम से द्रव्य है। **पदार्थ के ज्ञान को आगम कहते हैं, पदार्थज्ञान का अभाव, नो-आगम कहा जाता है।** जो घट शब्द का उच्चारण करता है परन्तु घट के विषय में उपयोग से अर्थात् घट विषयक अवधान से शून्य है, वह पुरुष आगम से द्रव्य घट है। **नो आगम से द्रव्यघट तीन प्रकार का है** - ज्ञाता का शरीर, भावी शरीर और इन दोनों से भिन्न मिट्टी रूप घट । घट का कारण होने से जिस प्रकार मिट्टी का पिंड द्रव्य घट है, इसी प्रकार घट के विषय से ज्ञान रहित पुरुष भी पीछे घट विषय का ज्ञाता हो जाता है, इसलिए उपयोग रहित पुरुष आगम से द्रव्य घट है । घट के ज्ञाता का शरीर शिला पर पडा हुआ पूर्वकाल में ज्ञानयुक्त आत्मा के साथ संबद्ध था, इसलिए इस काल में ज्ञाता का शरीर द्रव्य घट कहा जाता है । जिस शरीर के द्वारा अभी घट को नहीं जानता है किन्तु अन्य काल में इसी शरीर से जानेगा वह भावी शरीररूप द्रव्य घट है। द्रव्य निक्षेप के इन भेदों में अतीत और भावी शरीर को अथवा भावी कार्य के कारण को द्रव्य कहा गया है । **अनुयोग द्वार सूत्र में ऋजुसूत्र के अनुसार आवश्यक के विषय में उपयोग रहित पुरुष को द्रव्य आवश्यक कहा है । अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार ऋजुसूत्र नय के मत में द्रव्य आवश्यक एक है, वह अनेक द्रव्य आवश्यकों को नहीं मानता ।** जो लोग ऋजुसूत्र के अनुसार द्रव्य निक्षेप को नहीं स्वीकार करते उनका अनुयोग द्वार के इस सूत्र के साथ विरोध है ।

कार्यरूप भाव को ऋजुसूत्र स्वीकार करता हैं, इस विषय में सब का मत एक है । कार्य घट में भी जो वर्तमान पर्याय है वह उत्तर क्षण के पर्यायों के उत्पन्न करने में कारण है । कारण होने से भाव घट भी द्रव्य घट है । ऋजुसूत्र वर्तमान काल के साथ संबद्ध भाव का प्रतिपादन मुख्यरूप से करता है, जो भाव घट वर्तमान है उसमें उत्तर क्षण के घट को उत्पन्न करने की योग्यता है । यह योग्यता कारणता रूप है और इस लिए द्रव्यरूप है । भाव का कार्य स्वरूप ही वर्तमान काल में नहीं है, किन्तु योग्यतारूप कारणता भी वर्तमान काल में है । **इसलिए ऋजुसूत्र नय के अनुसार द्रव्य का निक्षेप उचित है। ऋजुसूत्र और द्रव्यनिक्षेप के परस्पर संबंध का प्रतिपादन करनेवालो का यह अभिप्राय है** । अब ऋजुसूत्र नय को स्थापना निक्षेप भी मान्य है, यह बात को युक्तिपूर्वक बताते है -

कथं चायं पिण्डावस्थायां सुवर्णादिद्रव्यमनाकारं भविष्यत्कुण्डलादि - पर्यायलक्षणभावहेतुत्वेनाभ्युपगच्छन् विशिष्टेन्द्राद्यभिलापहेतुभूतां साकारामिन्द्रादिस्थापनां नेच्छेत् ?, न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति ।

अर्थ : यह ऋजुसूत्र नय पिण्ड अवस्था में आकार से रहित सुवर्ण आदि द्रव्य को भावी कुण्डल आदि पर्यायरूप भाव का कारण होने से स्वीकार करता है, तो इन्द्र पद के उच्चारण में कारण और आकार से युक्त इन्द्र आदि की स्थापना क्यों नहीं मानेगा ? जो अनुभव से युक्त है, वह अयुक्त नहीं होता ।

कहने का मतलब यह है कि, ऋजुसूत्र के मत में द्रव्य निक्षेप के सिद्ध हो जाने पर स्थापना का स्वीकार भी आवश्यक हो जाता है। पिण्ड अवस्था में सुवर्ण कुण्डल आदि पर्यायों के आकार से रहित होता है । कुण्डल पर्यायरूप भाव का कारण होने से सुवर्ण के पिण्ड को यदि ऋजुसूत्र द्रव्य कुण्डल आदि के रूप में मान सकता है, तो स्थापना के मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । सुवर्ण का पिण्ड देखकर उसके लिए कुण्डल आदि शब्द का प्रयोग नहीं होता । परन्तु इन्द्र की प्रतिमा को देखकर इन्द्र शब्द का प्रयोग होता है । सुवर्ण के पिंड में कुण्डल आदि का आकार नहीं है परन्तु प्रतिमा में इन्द्र का आकार है। भाव इन्द्र का जिस प्रकार वर्तमान काल के साथ सम्बन्ध है इस प्रकार स्थापना इन्द्र का भी अर्थात् इन्द्र की प्रतिमा का भी वर्तमान काल के साथ सम्बन्ध है । यह वस्तु प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है, अतः ऋजुसूत्र के मत में स्थापना का मानना युक्त है । अब इस विषय में अन्य युक्ति बताकर अधिक स्पष्टतायें करते हैं -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किञ्च, इन्द्रादिसंज्ञामात्रं तदर्थरहितमिन्द्रादिशब्दवाच्यं वा नामेच्छन् अयं भावकारणत्वाविशेषात् कुतो नाम द्रव्यस्थापने नेच्छत्?। प्रत्युत सुतरां तदभ्युपगमो न्याय्यः । इन्द्रमूर्तिलक्षणद्रव्य-विशिष्टतदाकाररूप-स्थापनयोरिन्द्रपर्यायरूपे भावे तादात्म्यसंबन्धेनावस्थितत्वात्तत्र वाच्य-वाचकभावसम्बन्धेन संबद्धान्नाम्नोऽपेक्षया सन्निहिततरकारणत्वात् ।

अर्थ : उपरांत, भी, यह ऋजुसूत्र केवल इन्द्र आदि संज्ञा रूप नाम को अथवा इन्द्र आदि के अर्थ से रहित इन्द्र आदि शब्द के द्वारा वाच्य वस्तु रूप नाम को मानता है, तो भाव का कारण होने में कोई भेद न होने से द्रव्य और स्थापना को क्यों नहीं मानेगा ? उलटा उसका मानना अधिक उचित है । इन्द्र मूर्तिरूप द्रव्य और इन्द्र का विशिष्ट आकार रूप स्थापना ये दोनों इन्द्र पर्याय रूप भाव में तादात्म्य संबंध से रहते हैं, पर नाम वाच्य-वाचक संबंध से रहता है, इसलिए नाम की अपेक्षा द्रव्य और स्थापना भाव के अधिक निकट कारण हैं ।

कहने का आशय यह है कि, ऋजुसूत्र नाम को स्वीकार करता है यह आप भी मानते हैं । नाम दो प्रकार का हो सकता हैं, केवल इन्द्र आदि संज्ञा रूप अथवा इन्द्र के मुख्य अर्थ से रहित पर इन्द्र शब्द से वाच्य गोपाल का बालक आदि वस्तुरूप है । ये दोनों प्रकार के नाम भाव के कारण हैं इस लिए इनको ऋजुसूत्र स्वीकार करता है । नाम निक्षेप के मानने का कारण द्रव्य और स्थापना में भी विद्यमान है, इतना ही नहीं, नाम की अपेक्षा द्रव्य और स्थापना इन्द्र पर्याय रूप भाव में अधिक निकटवर्ती हेतु हैं । इन्द्र की मूर्ति द्रव्य है और उसका विशिष्ट आकार स्थापना है । ये दोनों इन्द्र पर्याय रूप भाव में अभेद से विद्यमान हैं । इन्द्र की मूर्ति और उसका विशिष्ट आकार दोनों भाव इन्द्र से अलग होकर नहीं दिखाई देते, परन्तु नाम भावइन्द्र से अलग होकर प्रतीत होता है । **नाम का भाव के साथ सम्बन्ध वाच्य-वाचक भावरूप है । द्रव्य और आकार के समान नाम सर्वथा भाव के स्वरूप में नहीं प्रतीत होता, इसलिए नाम की अपेक्षा अधिक निकट होने से ऋजुसूत्र द्रव्य और स्थापना को स्वीकार करता हैं ।**

संग्रह और व्यवहारनय स्थापना नहीं मानते - इस मत का खंडन करते हुए बताते है कि,

अन्य मत : संग्रहव्यवहारौ स्थापनावर्जांस्त्रीनिक्षेपानिच्छत इति केचित्;

अर्थ : संग्रह और व्यवहार स्थापना को छोडकर अन्य तीन निक्षेपों को स्वीकार करते हैं - यह कुछ लोगों का मत हैं;

कहने का सार यह है कि, संग्रह के अनुसार स्थापना को न माननेवाले नाम निक्षेप के द्वारा स्थापना का संग्रह कर लेते हैं । **उनका अभिप्राय इस प्रकार है-** भिन्न अर्थों को साधारण धर्म के द्वारा संग्रह एक कर देता है । नाम निक्षेप का स्वरूप इस प्रकार का है - जिसके द्वारा स्थापना भी नाम नक्षेप के अन्दर चली जाती है । एक नाम वर्ण रूप है और दूसरा नाम इन्द्र पद के संकेत का विषयरूप है । जिस प्रकार स्वर्ग के अधिपति भावइन्द्र से भिन्न होने पर भी संकेत के कारण इन्द्रपद गोपाल के बालक का भी बोधक हो जाता है, इस प्रकार संकेत के कारण स्थापना इन्द्र का भी बोधक हो जाता है। इन्द्र नाम से प्रतीत होने के कारण स्थापना भी नाम के अन्तर्गत है । यद्यपि इन्द्र द्वारा भाव इन्द्र का भी ज्ञान होता है, परन्तु इस कारण भाव और नाम का ऐक्य नहीं हो सकता । भाव इन्द्र का बोध इन्द्र पद मुख्यवृत्ति से कराता है । स्वर्ग का अधिपति ऐश्वर्य से युक्त है, इस लिए उसमें इन्द्र पद का संकेत अर्थ के अनुसार है, परन्तु गोपाल के बालक में इन्द्र पद का संकेत अर्थ के अनुसार नहीं है । गोपाल का बालक स्वर्ग पर शासन नहीं करता, इस लिए वह वस्तुतः इन्द्र नहीं है। माता-पिता के द्वारा संकेत कर देने के कारण वह इन्द्र कहा जाता है, अतः नाम के द्वारा भाव का संग्रह नहीं हो सकता। **अर्थ के बिना केवल संकेत से इन्द्र पद जिस प्रकार गोपाल के बालक का बोध कराता है, इस प्रकार स्वर्ग पर**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शासनरूप अर्थ के बिना इन्द्र प्रतिमा का बोध भी इन्द्र पद कराता है, इस लिए नाम में स्थापना का अन्तर्भाव हो सकता है ।

व्यवहार नय के मत में स्थापना निक्षेप नहीं है, इस मत के माननेवाले भी लोक में प्रचलित व्यवहार का आश्रय प्रधानरूप से लेते हैं । लोग मुख्यरूप से संकेत के द्वारा गोपाल के बालक आदि को, स्वर्ग के अधिपति भाव इन्द्र को और जो जीव अन्य भव में इन्द्र पद को प्राप्त करेगा उसको इन्द्र कहते हैं। इसलिए व्यवहार नय के अनुसार नाम, द्रव्य और भाव ये तीन निक्षेप हैं, स्थापना नहीं है ।

अन्यमत का खंडन : तन्नानवद्यं यतः संग्रहिकोऽसंग्रहिकोऽनर्पितभेदः परिपूर्णो वा नैगमस्तावत् स्थापनामिच्छतीत्यवश्यमभ्युपेयम्, सङ्ग्रह-व्यवहारयोरन्यत्र द्रव्यार्थिके स्थापनाभ्युपगमावर्जनात् ।

अर्थ : यह कथन निर्दोष नहीं है, क्योंकि संग्रहिक, असंग्रहिक अथवा भेद की विविक्षा न करनेवाला परिपूर्ण नैगम स्थापना को मानता है - यह अवश्य मानना होगा । संग्रह और व्यवहार से भिन्न द्रव्यार्थिक में स्थापना का त्याग नहीं है, इससे यह तत्त्व सिद्ध होता है ।

कहने का आशय यह है कि, संग्रह और व्यवहार में स्थापना के त्याग का प्रतिपादन करनेवाला वादी जिन हेतुओं को कहता है, वे हेतु संग्रह और व्यवहार का विरोध नहीं प्रकट करते । वे हेतु नाम में स्थापना का अन्तर्भाव करते हैं और इस कारण वादी स्थापना के त्याग को स्वीकार करता है । विचार कर देखा जाय तो अन्तर्भाव मानने पर स्थापना का स्वीकार आवश्यक हो जाता है । संग्रह और व्यवहार जब नाम को स्वीकार करते हैं, तो नाम के अन्तर्गत स्थापना को स्वीकार करते हैं - यह मानना होगा । नाम से स्थापना का स्वरूप भिन्न हो और उसका संग्रह और व्यवहार के साथ संबंध न हो सकता हो, तब स्थापना का त्याग कहा जा सकता है ।

जिन हेतुओं से नाम में स्थापना का अन्तर्भाव कहा है, वे युक्त नहीं हैं । इन्द्र पद केवल संकेत के बल से ऐश्वर्य हीन गोपाल बालक रूप नाम इन्द्र का वाचक है परन्तु इन्द्र की प्रतिमा में इस पद का प्रयोग संकेत के कारण नहीं होता । इन्द्र पद का प्रयोग गोपाल बालक के लिए जिस प्रकार होता है, इस प्रकार इस प्रतिमा के लिए भी होता है, इतने से यदि नाम और स्थापना से अभेद माना जाय तो नाम के द्वारा द्रव्य का भी अन्तर्भाव मानना चाहिए । द्रव्य इन्द्र में भी इन्द्र पद का प्रयोग होता है । यदि आप भाव के साथ संबंध का भेद होने से नाम और द्रव्य का भेद स्वीकार करें तो नाम और स्थापना में भी भेद मानना होगा । द्रव्य परिणामी कारण है, द्रव्य भावरूप में परिणत होता है । नाम का परिणाम भावरूप में नहीं होता, इन्द्र नाम स्वर्गाधिपति इन्द्र के रूप में नहीं हो जाता । इन्द्र नाम केवल संकेत के बल से गोपाल के बालक का प्रतिपादन करता है । इस कारण नाम और द्रव्य का भेद हो तो नाम और स्थापना का भी भेद अपरिहार्य हो जाता है। स्थापना के साथ नाम का संबंध केवल संकेत के कारण नहीं है । ऐश्वर्यरूप अर्थ के साथ संबंध होने से इन्द्र पद का संकेत भाव इन्द्र में जिस प्रकार होता है, इस प्रकार इन्द्र प्रतिमारूप स्थापना में नहीं होता । प्रतिमा स्वर्ग पर शासन नहीं करती, स्थापना में इन्द्र पद का प्रयोग मुख्य रूप से नहीं है । सादृश्य के कारण स्थापना में इन्द्र पद का प्रयोग होता है । **सादृश्य रूप संबंध भी सद्भाव स्थापना में होता है । असद्भाव स्थापना में तो सादृश्य भी प्रयोजक नहीं होता । वहाँ केवल अभिप्राय प्रयोजक होता है । नाम निक्षेप में अभिप्राय प्रयोजक नहीं होता - इस लिए नाम के द्वारा स्थापना का अर्न्तभाव युक्त नहीं है । नाम आदि चारों का भिन्न स्वरूप के साथ संबंध संग्रह और व्यवहार में स्वीकार करना चाहिए ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसके अतिरिक्त यह वादी संग्रह और व्यवहार से भिन्न द्रव्यार्थिक में स्थापना का स्वीकार मानता है। संग्रह और व्यवहार से भिन्न नैगम नय द्रव्यार्थिक है, इस विषय में मतो का भेद नहीं है । अब इस वादी को नैगम में स्थापना का स्वीकार मानना होगा । नैगम के तीन भेद किये जाते हैं । एक संग्रहिक है, दूसरा असंग्रहिक है, तीसरा परिपूर्ण नैगम है। इन तीनों नैगमों में स्थापना को मान लेने पर संग्रह और व्यवहार में भी स्थापना का निक्षेप आवश्यक हो जाता है । अब नैगम के तीन भेद स्वीकारने से संग्रह और व्यवहार में भी स्थापना निक्षेप का स्वीकार आवश्यक होगा, वह क्रमशः युक्ति पुरस्सर बताते है -

तत्राद्यपक्षे संग्रहे स्थापनाभ्युपगमप्रसङ्गः, संग्रहनयमतस्य संग्रहिकनैगममताविशेषात् । द्वितीये व्यवहारे तदभ्युपगमप्रसङ्गः, तन्मतस्य व्यवहारमतादविशेषात् ।

अर्थ : इनमें से पहला पक्ष हो तो संग्रह में स्थापना को स्वीकार करना पडेगा, क्योंकि संग्रह नय के मत में और संग्रहिक नैगम के मत में कोई भेद नहीं है । दूसरा पक्ष हो तो व्यवहार में स्थापना को स्वीकार करना पडेगा, क्योंकि, असंग्रहिक नैगम और व्यवहार के मत में भेद नहीं है ।

कहने का आशय यह है कि, संग्रहिक नैगम संग्रह के मत को मानता है । संग्रह जिस प्रकार सामान्य को स्वीकार करता है, इस प्रकार संग्रहिक नैगम भी सामान्य को स्वीकार करता है । यदि संग्रह के मत का माननेवाला नैगम स्थापना को मानता है, तो संग्रह को भी समान मत होने से स्थापना को मानना पडेगा । यदि आप असंग्रहिक नैगम के मत में स्थापना को स्वीकार करते हैं, तो व्यवहार नय में स्थापना को मानना पडेगा । असंग्रहिक नैगम व्यवहार नय के मत को मानता है । व्यवहारनय जिस प्रकार विशेष को स्वीकार करता है । इस प्रकार असंग्रहिक नैगम भी विशेष को स्वीकार करता है । यदि असंग्रहिक नैगम स्थापना को माने, तो समान मत होने से व्यवहार में भी स्थापना आवश्यक हो जाती है । **तीसरा विकल्प के विषय में खुलासा करते है,**

तृतीये च निरपेक्षयोः संग्रहव्यवहारयोः स्थापनाभ्युपगमोपपत्तावपि समुदितयोः संपूर्णनैगमरूपत्वात्तदभ्युपगमस्य दुर्निवारत्वम् अविभागस्थान्नैगमात्प्रत्येकं तदेकैकभागग्रहणात् ।

अर्थ : तीसरे पक्ष को माना जाय तो निरपेक्ष संग्रह और व्यवहार में स्थापना का अस्वीकार हो सकता है, पर परस्परं मिले हुए संग्रह और व्यवहार संपूर्ण नैगम के स्वरूप में हो जाते हैं, इसलिए उनको स्थापना स्वीकार करना पडेगा । विभाग रहित नैगम नय के एक एक भाग को संग्रह और व्यवहार स्वीकार करते हैं ।

आशय यह है कि, परिपूर्ण नैगम संग्रह और व्यवहार से विलक्षण है, इसलिए यदि वह स्थापना को स्वीकार करे तो संग्रह और व्यवहार के अनुसार स्थापना अनिवार्य नहीं होती, पर परस्पर मिलकर संग्रह और व्यवहार संपूर्ण नैगम के समान हो जाते हैं । इस दशा में संपूर्ण नैगम के एक एक भाग को लेनेवाले संग्रह और व्यवहार के लिए भी स्थापना आवश्यक हो जाती है । **अब इस विषय में अधिक स्पष्टता करते है -**

किञ्च, संग्रहव्यवहारयोर्नैगमान्तर्भावात्स्थापनाभ्युपगमलक्षणं तन्मतमपि तत्रान्तर्भूतमेव, उभयधर्मलक्षणस्य विषयस्य प्रत्येकमप्रवेशेऽपि स्थापनालक्षणस्यैकधर्मस्य प्रवेशस्य सूपपादत्वात्, स्थापना सामान्यतद्विशेषाभ्युपगममात्रेणैव संग्रहव्यवहारयोर्भेदोपपत्तेरिति यथागमं भावनीयम् ।

अर्थ : उपरांत, संग्रह और व्यवहार में नैगम का अन्तर्भाव है, इसलिए स्थापना का स्वीकार रूप जो नैगम का मत है, वह भी उन दोनों के अन्तर्गत है । उभय धर्मरूप अर्थात् सामान्य-विशेष रूप विषय किसी एक में नहीं प्रविष्ट होता पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थापना रूप एक धर्म के प्रवेश का उपपादन सरलता से हो सकता है । स्थापना सामान्य और स्थापना विशेष मान लेने से संग्रह और व्यवहार का भेद संगत हो सकता है, इस रीति से आगम के अनुसार विचार करना चाहिए ।

कहने का मतलब यह है कि, नैगम दो प्रकार का है । एक केवल सामान्य का प्रतिपादन करता है और दूसरा केवल विशेष का । सामान्यवादी नैगम का संग्रह में और विशेषवादी नैगम का व्यवहार में अन्तर्भाव है, इस कारण स्थापना का स्वीकार रूप जो नैगम का मत है, वह भी संग्रह और व्यवहार का सिद्ध हो जाता है । परिपूर्ण नैगम का विषय सामान्य भी है और विशेष भी, इन दोनों का प्रवेश अकेले संग्रह और अकेले व्यवहार में नहीं हो सकता, परन्तु स्थापनारूप धर्म का प्रवेश दोनों में हो सकता है । सामान्य और विशेषरूप दोनों स्थापनाओं का स्वीकार परिपूर्ण नैगम में है । संग्रह केवल सामान्य को और विशेष को केवल व्यवहार स्वीकार करता है । इसलिए दोनों को अकेला संग्रह और अकेला व्यवहार यद्यपि स्वीकार नहीं कर सकता, पर स्थापना के स्वीकार रूप धर्म को दोनों स्वीकार कर सकते हैं । सामान्य स्थापना जिस प्रकार स्थापना है, इस प्रकार विशेष स्थापना भी स्थापना है, इसलिए स्थापना का स्वीकार नैगम के समान संग्रह और व्यवहार में भी समान रूप से है ।

यदि आप कहें कि, यदि दोनों स्थापना को स्वीकार करते हैं, तो इस विषय में संग्रह और व्यवहार का भेद नहीं रहेगा । **तो यह शंका युक्त नहीं है,** सामान्य स्थापना को स्वीकार करना संग्रह का और विशेष स्थापना को स्वीकार करना व्यवहार का असाधारण धर्म है, अतः दोनों का भेद भी है।

जीव के विषय में निक्षेप :

एतैश्च नामादिनिक्षेपैर्जीवादयः पदार्था निक्षेप्याः ।

अर्थ : इन नाम आदि निक्षेपों के द्वारा जीव आदि पदार्थों का निक्षेप करना चाहिए ।

तत्र यद्यपि यस्य जीवास्याजीवस्य वा जीव इति नाम क्रियते स नामजीवः, देवतादिप्रतिमा च स्थापनाजीवः, औपशमिकादिभावशाली भावजीव इति जीवविषयं निक्षेप त्रयं सम्भवति, न तु द्रव्यनिक्षेपः ।

अर्थ : जिस जीव अथवा अजीव का 'जीव' यह नाम कर दिया जाता है वह नाम जीव है । देवता आदि की प्रतिमा स्थापना जीव है, औपशमिक आदि भावों से जो युक्त है वह भाव जीव है, **इस प्रकार जीव के विषय में तीन निक्षेप हो सकते है, पर द्रव्य निक्षेप नहीं हो सकता ।**

कहने का आशय यह है कि, चेतन अथवा अचेतन अर्थ को जीव नाम दिया जाय तो वह नाम जीव है। मनुष्य आदि जीवों के भेद हैं, वे सब सामान्य रूप से जीव हैं। वे सब जीव जीवन से युक्त हैं । इनका जब जीव नाम है तब वह वाच्य अर्थ से युक्त होता है । जब अचेतन काष्ठ आदि का जीव नाम धर दिया जाता है तब वह जीवन रूप वाच्य अर्थ से रहित होता है, इस दशा में यह नाम ही जीव है । जब किसी अचेतन वस्तु का जीव नाम रख दिया जाता है तब वह अचेतन, **नाम जीव** कही जाती है । जिस प्रकार स्वर्ग के अधिपति इन्द्र से भिन्न गोपाल का बालक नाम से इन्द्र कहा जाता है, इस प्रकार जीव से भिन्न अचेतन अर्थ नाम से जीव कहा जाता है । **देवता, मनुष्य आदि की प्रतिमा का स्थापन जीव बुद्धि से किया जाय तो वह प्रतिमा 'स्थापना जीव' कहा जाता है ।** देवता और मनुष्य शरीरधारी हैं, इस दशा में शरीर का जो आकार है वह आकार आकाररहित जीव का भी मान लिया जाता है । इन्द्र की प्रतिमा इन्द्र की बुद्धि से बनाई जाती है और वह स्थापना इन्द्र कहलाती है । इस प्रकार जीव की कोई प्रतिमा बनाई जाय और उसमें जीव बुद्धि का स्थापन किया जाय तो वह प्रतिमा, देवता की हो वा मनुष्य आदि की, स्थापना जीव है । **औपशमिक आदि भावों से युक्त जीव भावजीव है ।** जीव ज्ञान स्वरूप है, कर्म पुद्गलों के उपशम आदि के कारण ज्ञान के परिणाम भिन्न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार के हो जाते हैं । ये समस्त परिणाम सदा जीव में नहीं होते परंतु कोई न कोई परिणाम अवश्य रहता है । **चैतन्य आत्मा का असाधारण स्वरूप है उससे रहित आत्मा कभी नहीं होता । अग्नि जिस प्रकार उष्णता से रहित नहीं होता इस प्रकार जीव कभी चैतन्य से रहित नहीं होता ।** कर्म के कारण ज्ञान के परिणाम अनेक प्रकार के होते रहते हैं, इन परिणामों से युक्त जीव भावजीव है । इस प्रकार जीव के विषय में नाम स्थापना और भाव ये तीन निक्षेप हो सकते हैं-परन्तु द्रव्य निक्षेप नहीं हो सकता। **जीव के विषय में द्रव्य निक्षेप के निषेध का रहस्य बताते हुए आगे बताते है कि,**

अयं हि तदा सम्भवेत्, यद्यजीवः सन्नायत्यां जीवोऽभविष्यत्, यथाऽदेवः सन्नायत्यां देवो भविष्यत् (न्) द्रव्यदेव इति। न चैतदिष्टं सिद्धान्ते, यतो जीवत्वमनादिनिधनः पारिणामिको भाव इष्यत इति ।

अर्थ : यह तब हो सकता था, यदि अजीव होता हुआ कोई अर्थ भावी काल में जीव हो जाता । जिस प्रकार जो देव नहीं है वह देव होने वाला हो तो द्रव्यदेव कहा जाता है परन्तु यह सिद्धान्त में इष्ट नहीं है, क्योंकि, जीवत्व आदि और अन्त से रहित पारिणामिक भाव माना जाता है ।

कहने का सार यह है कि, वर्तमान काल में जो पर्याय है उसका कारण स्वरूप अर्थ, **द्रव्य** कहा जाता है । घट वर्तमान काल का परिणाम है । मृत्पिंड इसका कारण है, वह घट के रूप में नहीं है - इसलिए द्रव्य घट कहा जाता है । यदि कोई जीवभिन्न अर्थ अन्य काल में जीव रूप से परिणाम को प्राप्त हो सके, तो कारण होने से उसको द्रव्य जीव कहा जा सकता है । परन्तु जीव न उत्पन्न होता है न नष्ट होता है । जो अर्थ जीव से भिन्न चेतनाशून्य है वह कभी जीव स्वरूप को नहीं प्राप्त करता। जो अभी मनुष्य है परन्तु पीछे कभी देवरूप में होगा वह मनुष्य होता हुआ भी द्रव्य देव है । परन्तु अजीव और जीव का परस्पर कार्य-कारण मात्र नहीं है, इसलिए कोई भी अर्थ द्रव्य जीव नहीं हो सकता । **अब इस विषय में अन्य मत को उपस्थित करके उसका खंडन करते हुए आगे बताते है कि,**

तथापि गुणपर्यायवियुक्तत्वेन बुद्ध्या कल्पितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो द्रव्यजीवः, शून्योऽयं भङ्ग इति यावत्, सतां गुणपर्यायाणां बुद्ध्यापनयस्य कर्तुमशक्यत्वात् न खलु ज्ञानायत्तार्थपरिणतिः किन्तु अर्थो यथा यथा विपरिणमते तथा तथा ज्ञानं प्रादुरस्तीति । [- यहाँ पर "सतां गुणपर्यायाणां" से पहले "शून्योऽयं भंग इति यावत्" इतना पाठ नहीं होना चाहिए किन्तु "द्रव्यजीवः" इसके अनन्तर "इति केचित् तत्र" इतना पाठ होना चाहिए । "तथा तथा ज्ञानं प्रादुरस्तीति" इसके अनन्तर "शून्योऽयं भंग इति यावत्" इतना पाठ होना चाहिए। इस प्रकार पाठ को मानने पर अर्थ इस प्रकार होगा-]

अर्थ : तो भी गुण और पर्याय से रहित रूप में बुद्धि के द्वारा कल्पित किआ हुआ अनादि पारिणामिक भाव से युक्त द्रव्य जीव है । **यह मत युक्त नहीं,** जो गुण और पर्याय विद्यमान हैं उनको कल्पना से नहीं हटाया जा सकता । पदार्थ का परिणाम ज्ञान के अधीन नहीं है, किन्तु अर्थ जिस जिस रूप से परिणाम को प्राप्त करता है, उस उस रूप से ज्ञान प्रकट होता है ।

कहने का सार यह है कि, द्रव्य का गुण और पर्यायों के साथ जो सम्बन्ध है, वह किसी काल में दूर नहीं होता परन्तु उसकी कल्पना की जा सकती है । वस्तु का जो स्वरूप है उसके विरुद्ध अर्थ सत्य रूप में नहीं हो सकता परन्तु कल्पना के द्वारा न्यून और अधिक परिणाम में वह विरुद्ध किया जा सकता है । एक मनुष्य जब तक मनुष्य है तब तक उसके शरीर पर सिंह का सिर नहीं है, परन्तु सिंह के सिरवाले मनुष्य की कल्पना हो सकती है । इसी प्रकार मनुष्य के शरीर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में पंख नहीं होते परन्तु कल्पना के द्वारा उसमें पंख लगाये जा सकते हैं । इसी प्रकार द्रव्य यद्यपि किसी काल में गुण और पर्यायों से रहित नहीं होता तो भी द्रव्य के इस प्रकार के स्वरूप की कल्पना की जा सकती है, जिसमें गुण और पर्याय न हों । इस प्रकार का गुण और पर्याय से रहित जीव पीछे के काल में गुण और पर्याय से युक्त हो सकता है । इस प्रकार के कल्पित जीव को गुण और पर्याय से विशिष्ट जीव का कारण होने से द्रव्य जीव कहा जा सकता है । कुछ लोग इस प्रकार जीव के विषय में भी द्रव्य निक्षेप का प्रतिपादन करते हैं ।

परन्तु यह युक्त नहीं है । जो वस्तु विद्यमान है उसके विरुद्ध कल्पना हो सकती है, परन्तु कल्पना के अनुसार अर्थ का परिणाम नहीं होता । मनुष्य के शरीर में कल्पना से सिंह का सिर लगा देने पर भी वास्तव में सिर का सम्बन्ध नहीं होता और न ही मनुष्य के शरीर पर पँख हो जाते हैं । इसी प्रकार अनादि पारिणामिक चैतन्य से युक्त जीव किसी भी समय में गुण और पर्यायों से रहित नहीं हो सकता । अतः इस प्रकार का कल्पित जीव, भाव जीव की अपेक्षा से द्रव्य जीव नहीं हो सकता । **इस लिये जीव के विषय में द्रव्य निक्षेप नहीं है ।**

यहाँ उल्लेखनीय है कि, यहाँ पर तर्क भाषा के मुद्रित पाठ में इतना (पूर्वोक्त फेरफार किया जाय तो श्री महोपाध्यायजी ने तत्त्वार्थ सूत्र के न्यास प्रतिपादक भाष्य की जिस प्रकार व्याख्या की है, उसके साथ पूर्ण संमति हो जाती है।

'जीव के विषय द्रव्यजीव को अस्वीकृत करने में नामादि चार निक्षेपों की व्यापकता का भंग हो जायेगा' - ऐसी शंका का समाधान देते हुए अब कहते है कि,

न चैवं नामादिचतुष्टयस्य व्यापिता भङ्गः यतः प्रायः सर्वपदार्थेष्वन्येषु तत् सम्भवति । यद्यत्रैकस्मिन्न सम्भवति नैतावता भवत्यव्यापितेति वृद्धाः ।

अर्थ : इस प्रकार होने से नाम आदि चार निक्षेपों की व्यापकता का भङ्ग हो जाता है, यह नहीं मान लेना चाहिए। क्योंकि, प्रायः अन्य समस्त पदार्थों में वे हो सकते है, यदि यहाँ एक में नहीं होते तो इतने से उनकी व्यापकता दूर नहीं होती, यह वृद्ध लोगों का कहना है ।

विशेषार्थ : अनुयोग द्वार सूत्र में कहा है कि, - जो भी अर्थ हो उसमें चारों निक्षेपों का सम्बन्ध करना चाहिए - **"जत्थ य जं जाणिज्जा न निक्खेवे णिरवसेसं । जत्थ वि य न जाणिज्जा चउक्कयं णिक्खिवं तत्थ ।।"** (अनुयोग द्वार सू. १) इति। इस वचन से निक्षेप वस्तु मात्र के व्यापक प्रतीत होते हैं । यदि जीव में द्रव्य का निक्षेप न हो सके तो व्यापकता का भङ्ग हो जाता है । इसके उत्तर में कहते हैं कि, अधिक पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने से यहाँ पर व्यापकता कही गई है । कुछ एक अर्थों में यदि किसी निक्षेप का संबंध न हो तो इतने से व्यापकता का भङ्ग नहीं हो जाता । तत्त्वार्थ सूत्र के भाष्य की टीका में इस वस्तु का प्रतिपादन है । (तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, स्वोपज्ञभाष्यटीकालङ्कृत, प्रथम अध्याय, सूत्र ५) अब जीव के द्रव्यनिक्षेप की मान्यता में अन्य मत प्रस्तुत करते है -

जीवशब्दार्थज्ञस्तत्रानुपयुक्तो द्रव्यजीव इत्यप्याहुः ।

अर्थ : जो जीव शब्द के अर्थ को जानता है किन्तु जीव के विषय में किसी काल में उपयोग से शून्य है, वह पुरुष उस काल में द्रव्य जीव है, यह भी कुछ लोग कहते हैं ।

कहने का सार यह है कि, जो लोग निक्षेपों की व्यापकता को सिद्ध करना चाहते हैं, उनमें से कुछ लोग शास्त्र की परिभाषा का आश्रय लेकर जीव के विषय में द्रव्य निक्षेप का निरूपण करते हैं । "अनुपयोगो द्रव्यम्" इस प्राचीन परिभाषा के अनुसार उपयोग के अभाव को द्रव्य कहते हैं । इसलिए जीव शब्द के अर्थ का ज्ञान होने पर भी जब जीव के विषय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में उपयोग नहीं है, तब पुरुष द्रव्यजीव कहा जा सकता है । इस विषय में श्री महोपाध्यायजी इस उत्तर को बहुत युक्त नहीं समझते । **निक्षेप के प्रकरण में मुख्य रूप से द्रव्य वह होता है, जो भाव का कारण हो पर स्वयं भाव रूप न हो** । द्रव्य का यह मुख्य स्वरूप जीव में नहीं हो सकता ।

अपरे तु वदन्ति - अहमेव मनुष्यजीवो (द्रव्यजीवो)ऽभिधातव्यः उत्तरं देवजीवमप्रादुर्भूतमाश्रित्य अहं हि तस्योत्पित्सार्देव जीवस्य कारणं भवामि यतश्चाहमेव तेन देवजीवभावेन भविष्यामि, अतोहमधुना द्रव्यजीव इति। एतत्कथितं तैर्भवतिपूर्वः पूर्वो जीवः परस्य परस्योत्पित्सोः कारणमिति । अस्मिंश्च पक्षे सिद्ध एव भावजीवो भवति नान्य इति एतदपि नानवद्यमिति तत्त्वार्थटीकाकृतः ।

अर्थ : अन्य लोग कहते हैं कि - जो अभी उत्पन्न नहीं हुआ इस प्रकार के उत्तर काल में होनेवाले देव जीव की अपेक्षा से 'मैं मनुष्य जीव ही द्रव्य जीव हुँ इस प्रकार कहना चाहिए । क्योंकि, इस उत्पन्न होनेवाले देव जीव का मैं कारण हुँ । मैं ही उस देव जीव के स्वरूप में होऊँगा, इसलिये मैं अब द्रव्य जीव हुँ । उनके कहने का अभिप्राय इस प्रकार है - पूर्व पूर्व काल का जीव उत्पन्न होनेवाले पर पर काल के जीव का कारण है । इस पक्ष में सिद्ध ही भाव जीव हो सकता है, अन्य नहीं, इस कारण यह मत भी दोष रहित नहीं है, यह तत्त्वार्थ की टीका के कर्ता कहते हैं ।

कहने का आशय यह है कि, जो लोग कारण को द्रव्य मानकर जीव के विषय में द्रव्य निक्षेप का प्रतिपादन करते हैं, उनके मत का निरूपण और उसमें दोष का प्रतिपादन श्री महोपाध्यायजी ने तत्त्वार्थ के टीकाकार के अनुसार किया है।

जो अभी मनुष्य है, पर कालान्तर में देव रूप से स्वर्ग में उत्पन्न होगा, वह देव जीव का कारण है । मृत्पिंड जिस प्रकार घट रूप में परिणत होता है इस प्रकार मनुष्य का जीव देव जीव का कारण है । इस रीति से कुछ लोग उत्पत्ति और विनाश से रहित जीव के भी उत्पादक जीव का प्रतिपादन करते हैं । कार्य की अपेक्षा कारण पूर्व काल में होता है । देव जीव उत्तर काल का है, मनुष्य जीव पूर्व काल का है, इसलिए इन दोनों जीवों में कार्य-कारण भाव हो सकता है, यह कुछ लोगों का द्रव्य जीव के विषय में मत हैं । **तत्त्वार्थ के टीकाकार कहते हैं कि,** यदि इस मत को मानकर द्रव्य जीव का उपपादन किया जाय तो मनुष्य आदि सभी जीव द्रव्य जीव हो जायेंगे । एक भव का जीव उत्तर काल के भव के जीव का कारण होता है, इस अपेक्षा के अनुसार समस्त जीव द्रव्य जीव हो जायेंगे, कोई भावजीव नहीं रहेगा । **कार्य दशा में अर्थ भाव है और कारण दशा में द्रव्य है । एक ही काल में एक ही अर्थ कार्यरूप और कारणरूप नहीं हो सकता, इस मत को मान लेने पर केवल एक सिद्ध ही भाव जीव हो सकेगा** । सिद्ध हो जाने के अनंतर जीव अन्य भव में उत्पन्न नहीं होता, इसलिए वह भाव रूप में ही रहेगा । जितने भी संसारी जीव हैं, वे सब इस मत के अनुसार द्रव्य हो जायेंगे, कोई भी भाव जीव न हो सकेगा । वास्तव में संसार के सभी जीव भावजीव हैं, अतः इस रीति से द्रव्य जीव का स्वरूप उचित नहीं है ।

अब श्री महोपाध्यायजी अपनी मान्यता को बताते हुए कहते है कि,

इदं पुनरिहावधेयं-इत्थं संसारिजीवे द्रव्यत्वेऽपि भावत्वाविरोधः, एकवस्तुगतानां नामादीनां भावाविनाभूतत्वप्रतिपादनात्। तदाह भाष्यकारः-"अहवावत्थूभिहाणं नामं ठवणा य जो तयागारो कारणया से दव्वं, कज्जावन्नं तयं भावो ।।१।।" (६०) इति ।

अर्थ : यहाँ यह ध्यान देने योग्य है - इस प्रकार संसारी जीव के द्रव्य होने पर भी भावत्व का विरोध नहीं होगा। एक वस्तु में रहनेवाले नाम आदि का भाव के साथ अविनाभाव है, इस वस्तु का प्रतिपादन शास्त्र में है । **भाष्यकार कहते**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं कि,- अथवा वस्तु का अभिधान नाम है, उसका आकार स्थापना है, भावपर्याय के प्रति कारणता द्रव्य है और कार्य दशा में वह वस्तु भाव है ।

सारांश यह है कि, तत्त्वार्थ के टीकाकार कहते हैं कि, यदि मनुष्य जीव को देव जीव का कारण होने से द्रव्य जीव कहा जाय तो वह द्रव्य जीव ही रहेगा, वह भाव जीव न हो सकेगा, इस प्रकार संसारी जीव में भाव का निक्षेप व्यापक नहीं रहेगा । जो सिद्ध जीव भाव जीव होगा वह द्रव्य जीव न हो सकेगा । इस प्रकार निक्षेप अव्यापक रहेगा । **श्री महोपाध्यायजी कहते हैं कि** - टीकाकारश्रीने द्रव्य जीव का प्रतिपादन करनेवाले इस मत में जिस रीति से निक्षेप की अव्यापकता का निरूपण किया है वह उचित नहीं है । जो संसारी जीव अन्य भव के जीव का कारण होने से द्रव्य है, वह भाव भी हो सकता है। **एक अर्थ, कारण होने से द्रव्य और कार्य दशा में होने से भाव कहा जाय तो इसमें कोई बाधक नहीं है । जो जीव संसारी है वह अनादि पारिणामिक जीवभाव से युक्त है इसलिए भाव जीव है, देव जीव का कारण है इसलिए द्रव्य भी है ।** विशेषावश्यक के भाष्यकार एक अर्थ में द्रव्य और भाव का प्रतिपादन करते हैं ।

केवलमविशिष्टजीवापेक्षया द्रव्यजीवत्वव्यवहार एव न स्यात्, मनुष्यादेर्देवत्वादिविशिष्टजीवं प्रत्येव हेतुत्वादिति।

अर्थ : इस प्रकार मानने पर केवल सामान्य जीव की अपेक्षा से द्रव्य जीव का व्यवहार न हो सकेगा । मनुष्य आदि देवभाव से विशिष्ट जीव के प्रति ही कारण है ।

श्री महोपाध्यायजी स्वयं उक्त मत में दोष का प्रतिपादन इस रीति से कहते हैं, - **जो मनुष्य देव जीव का कारण हैं उसको द्रव्य देव कहा जा सकता है, पर द्रव्य जीव नहीं कहा जा सकता । घट का कारण होने से मृत्पिंड को द्रव्य घट कहते हैं । द्रव्य पृथिवी नहीं कहते ।** जो मनुष्य जीव है वह स्वयं अजीव होकर जीव का कारण नहीं हैं इसलिए सामान्य जीव की अपेक्षा द्रव्य जीव नहीं कहा जा सकता । मनुष्य और देव में कार्य-कारणभाव होने से सामान्य जीव की अपेक्षा किसी अर्थ में कार्यकारण भाव नहीं सिद्ध होता । अतः सामान्य जीव की अपेक्षा से जीव के विषय में द्रव्य निक्षेप नहीं हो सकता ।

इस कारण जो निक्षेप में अव्यापकता है, उसको मानना चाहिए । जीव क्या, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय भी इस प्रकार के अर्थ है कि, जिन में द्रव्य निक्षेप नहीं हो सकता । यदि कोई इस प्रकार का अर्थ हो, जो स्वयं धर्मास्तिकाय के रूप में न हो और धर्मास्तिकाय का कारण हो, तो वह द्रव्य धर्मास्तिकाय कहा जा सकता है । परन्तु इस प्रकार का अर्थ नहीं है, अतः धर्मास्तिकाय में द्रव्य निक्षेप नहीं हो सकता । अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में भी इसी प्रकार द्रव्य निक्षेप नहीं हो सकता । **कुछ अर्थों में किसी निक्षेप के न होने पर भी प्रायः सब अर्थों में चारों निक्षेप हो सकते हैं, इसलिए इसको व्यापक कहा गया हैं ।**

(यह 'निक्षेपयोजन' चेप्टर जैनतर्क भाषा की पं. श्री ईश्वरचन्द्र शर्मा कृत हिन्दी विवेचना को सामने रखकर तैयार किया गया है ।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट-६

(मीमांसा दर्शन का विशेषार्थ-प्रमाणम्)

मानमेयविभागेन वस्तूनां द्विविधा स्थितिः । अतस्तदुभयं ब्रूमः श्रीमत्कौमारिलाध्वना ।।१।।

विश्व के समस्त पदार्थों को 'प्रमाण' और 'प्रमेय' - इन दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, अतः यहाँ हम (नारायण भट्ट) श्री कुमारिल भट्ट के मतानुसार प्रमाण और प्रमेय का निरूपण करेंगे ।।१।।

प्रमाकरणमेवात्र प्रमाणं तर्कपक्षवत् । प्रमा चाज्ञाततत्त्वार्थज्ञानमेवात्र भिद्यते ।।२।।

न्याय-मत के समान ही भाट्टमत में भी प्रमाण का लक्षण है - **'प्रमाकरणम्'** । किन्तु प्रमा का लक्षण यहाँ न्याय-मत से भिन्न है, क्योंकि नैयायिक प्रमा का लक्षण करते हैं - **'यत्र यदस्ति, तत्र तस्यानुभवः प्रमा, तद्वति तत्प्रकारकानुभवो वा'** (त. चिं. पृ. ४३४-४३६) । किन्तु कुमारिल भट्ट अज्ञाततत्त्वार्थ विषयक ज्ञान को प्रमा कहते हैं - **"सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा"** (श्लो.वा.पृ. २११) ।

'अज्ञात' या 'अनुपलब्ध' पद के द्वारा स्मृति और अनुवादरूप अप्रमा ज्ञानों की व्यावृत्ति की गई है । **तार्किकादि अनुवाद को अप्रमा नहीं मानते, क्योंकि उनके मतानुसार तद्वद्विशेष्यक तत्प्रकारक ज्ञान होने के कारण अनुवाद भी प्रमा ही होता है** किन्तु हमारा (भाट्ट का) कहना हैं कि प्रमा ज्ञान विषय वस्तु का परिच्छेद (निश्चय) कराता है, तदर्थी प्रमाता को उधर प्रवृत्त करता है और प्रमेयार्थ की प्राप्ति कराता है, जैसा कि महर्षि वात्स्यायन कहते हैं - **"प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्"** (न्या.भा.पृ. १) । अनुवाद यह कुछ भी नहीं करता है अर्थात् वह न तो अज्ञात वस्तु का प्रकाश करता है, न पुरुष को प्रवृत्त करता है और न प्रमेय की प्राप्ति कराता है, अतः अनुवाद का प्रमाकोटि से सर्वथा बहिष्कार ही कर देना चाहिए ।

आचार्य श्री धर्मोत्तर ने भी ऐसा ही निर्णय दिया है - **"अनधिगतविषयं प्रमाणम् । येनैव ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थः,. तेनैव प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः, तत्रैव चार्थे किमन्येन ज्ञानेनाधिकं कार्यम् ? अतोऽधिगतविषयमप्रमाणम्"** (ध.प्र.पृ. १९) । अनुवाद का पूर्ववर्ती (पुरोवादरूप) प्रमा ज्ञान जो कार्य करता है, उससे अधिक अनुवाद कुछ भी नहीं कर सकता, प्रकाशित पदार्थ का पुनः प्रकाश अपेक्षित भी नहीं होता कि, अनुवाद की प्रवृत्ति सार्थक हो जाती, **श्री कुमारिल भट्ट** कहते हैं - **प्रमितस्य प्रमाणे हि नापेक्षा जायते पुनः । तादूप्येण परिच्छिन्ने प्रमाणं निष्फलं परम् ।। (श्लो.वा.पृ. ३६३)** श्री **पार्थसारथि मिश्र** ने भी प्रमा का लक्षण किया है - **"कारणदोषबाधज्ञानरहितमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम्"** (शा.दी.पृ. ४५) । यहाँ सर्वत्र 'प्रमाण' शब्द से 'प्रमा' ज्ञान ही विवक्षित है ।

शङ्का : अज्ञात विषयक ज्ञान को प्रमा मानने पर 'घटोऽयम्', 'घटोऽयम्' - इस प्रकार के धारावाहिक प्रमा ज्ञानों में द्वितीयादि ज्ञान व्यक्तियों को अप्रमा मानना होगा, क्योंकि वे अज्ञात विषयक ज्ञान न होकर ज्ञातविषयक ही ज्ञान हैं ।

समाधान : यद्यपि धारावाहिक ज्ञानों के 'अयम्-अयम्' - इत्यादि आकार समान हैं, तथापि 'अयम्' शब्द से उल्लिख्यमान प्रत्येक क्षण की विषय वस्तु भिन्न-भिन्न होती है । प्रथम ज्ञान का विषय प्रथमक्षणावच्छिन्न घट ही हैं, द्वितीयक्षणावच्छिन्न घट नहीं, अतः द्वितीय ज्ञान प्रथम ज्ञान के द्वारा अगृहीत द्वितीयक्षणावच्छिन्न घट को विषय करने के कारण प्रमा हो जाता है । [श्री **पार्थसारथि मिश्र** भी कहते हैं - **"धारावाहिकेष्वप्युत्तरोत्तरेषां कालान्तरसम्बन्धस्यागृहीतस्य ग्रहणाद् युक्तं प्रामाण्यम्"** (शा.दी.पृ. ४५) । मीमांसकगण सूक्ष्म एवं नीरूप काल-खण्ड (क्षण) का भी प्रत्यक्ष मानते हैं, **सिद्धान्तचन्द्रिकाकार** कहते हैं - **"नास्माकं वैशेषिकादिवदप्रत्यक्षः कालः, किन्तु प्रत्यक्ष एव "अस्मिन् क्षणे**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मयोपलब्ध" इत्यनुभवात् । अरूपस्याप्याकाशवत् प्रत्यक्षत्वं भविष्यति, न हि रूपिप्रत्यक्षमित्यस्माकं प्रत्यक्षलक्षणं किन्तु संविदेव परोक्षापरोक्षनिर्भासा जायमाना 'इदं प्रत्यक्षम्', 'इदमप्रत्यक्षम् - इति विभजते' (सि.च.पृ. ४५-४६) । अर्थात् ज्ञानगत परोक्षत्वापरोक्षत्व का नियामक विषय नहीं माना जाता, अपि तु ज्ञान ही विषयगत परोक्षत्वापरोक्षत्व का व्यवस्थापक होता है और प्रत्यक्षत्वादि को ज्ञान का अपना स्वभाव माना जाता है] ।

शङ्का : काल का स्वतः भेद नहीं, अपितु औपाधिक भेद माना जाता है, अतः यह यहाँ जिज्ञासा होती है कि धारावाहिक ज्ञानों के विषयीभूत क्षणभेदों की नियामिका उपाधि क्या है ?

समाधान : प्रथम ज्ञान से जनित विषयगत प्राकट्य या ज्ञातता रूप धर्म द्वितीय ज्ञान-पर्यन्त एवं द्वितीयादि ज्ञानों से जनित ज्ञातत्व धर्म तृतीयादि ज्ञानों के होने तक अवस्थित रहते हैं, उन्हीं प्रत्यक्षभूत प्राकट्यरूप उपाधियों से अवच्छिन्न काल-खण्ड (क्षण) धारावाहिक ज्ञानों के द्वारा गृहीत होते हैं । 'प्राकट्यरूप धर्म सूक्ष्म होते हैं, अतः उनसे अवच्छिन्न काल-खण्ड (क्षण) भी सूक्ष्म होने के कारण धारावाहिक ज्ञानों के द्वारा गृहीत क्योंकर होंगे ?' - ऐसा सन्देह करना उचित नहीं, क्योंकि प्राकट्यात्मक धर्मों एवं उनसे अवच्छिन्न काल-खण्डों को यदि सूक्ष्म माना जाता है, तब अनेक क्षणों में 'अयम्', 'अयम्', - इस प्रकार अनेक क्षणों से विशिष्ट घट में अनेककालवर्तित्व का भान न होकर यौगपद्य या ऐककालिकत्व का वैसे ही अभिमान होना चाहिए, जैसे कमल-दल की सैकड़ों तहों का सुई के द्वारा भेदन करने पर सूक्ष्म काल-भेद का भान न होकर भेदन में यौगपद्य का अभिमान होता है - **'कमलदलशतं सूच्या युगपद्विद्धम्'** । किन्तु इसके विपरीत धारावाहिक ज्ञान-स्थल पर घटादि के ग्रहण में यौगपद्य का भान न होकर क्रमिकत्व का भान होता है, अतः न तो प्राकट्यरूप धर्म सूक्ष्म होते हैं और न उनसे अवच्छिन्न काल-खण्ड । **(१) प्राकट्यरूप धर्म और (२) काल की प्रत्यक्षता - इन दोनों की सिद्धि आगे चलकर की जायगी, अतः इनके अभाव का सन्देह नहीं करना चाहिए।**

'प्रमा चाज्ञाततत्त्वार्थज्ञानम्' - इस लक्षण में 'तत्त्व' पद के द्वारा भ्रम और संशयादि अप्रमा ज्ञानों की निवृत्ति की जाती है, क्योंकि 'तत्त्व' शब्द का अर्थ 'यथार्थ' है और भ्रमादि यथार्थ नहीं होते, अपि तु शुक्तिरूप अर्थ के विपरीत रजतरूप अर्थ के प्रकाशक होते हैं । **(भ्रमस्थल पर भाट्टगण विपरीत या अन्यथाख्याति मानते हैं - यह आगे कहा जायेगा)** ।

प्रभाकर-मतानुयायी आचार्यों का जो कहना है कि, उक्त लक्षण में अयथार्थ ज्ञान का व्यावर्त्तक 'तत्त्व' पद व्यर्थ है, क्योंकि 'अयथार्थ ज्ञान' नाम की वस्तु ही लोक में प्रसिद्ध नहीं है। 'इदं रजतम्' - इत्यादि स्थलों पर उनका मत है कि 'इदम्' - इस प्रकार उस शुक्ति-दल का प्रत्यक्ष होता है, जिसके नीलपृष्ठत्वादि विशेष भाग का भान नहीं होता और 'रजतम्' - इस प्रकार रजतमात्र का स्मरण ज्ञान होता है । वहाँ न तो शुक्ति एवं रजत का भेद गृहीत होता है और न उनके प्रत्यक्ष एवं स्मरणरूप ज्ञानों का । फलतः रजतार्थी व्यक्ति की वहाँ केवल प्रवृत्ति हो जाती है, शुक्ति का रजतत्वेन भान नहीं होता (प्रत्यक्ष ज्ञान केवल शुक्ति सामान्य और स्मरणात्मक ज्ञान केवल रजत का ही भासक होता है, इन दोनों ज्ञानों में से कोई भी ज्ञान शुक्तिरूप इदमर्थ का रजतरूपेण भासक नहीं माना जाता, अतः भ्रम नहीं कहलाता, क्योंकि शुक्त्यादि अन्य पदार्थों का रजतत्वादि अन्य प्रकार से भासक विशिष्ट ज्ञान ही भ्रम कहलाता है) ।

प्राभाकर गणों का वह कहना सङ्गत नहीं, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान अपने विषयीभूत पदार्थ में प्रवर्तक होता है, रजत-ज्ञान भी इदमर्थरूप शुक्ति की ओर रजतार्थी का तभी प्रवर्तक हो सकता है, जब कि शुक्ति को विषय करले, अन्यथा उसके द्वारा शुक्ति-खण्ड में रजताभिलाषी व्यक्ति की प्रवृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती । दूसरी बात यह भी है कि जब तक शुक्ति और रजत की अभेद-प्रतीति न हो, तब तक 'इदमेव रजतम्' - इस प्रकार का सामानाधिकरण्य-निर्देश नहीं हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकता, अतः विवश होकर यह मानना पड़ेगा कि 'इदं रजतम्' - यह एक ही विशिष्टात्मक ज्ञान है, जो कि एक ही पदार्थ का इदं और रजतम् - दोनों रूपों में निर्देश करता है, अतः वह भ्रम ज्ञान कहलाता है, उसकी व्यावृत्ति करने के लिए उक्त लक्षण में 'तत्त्व' पद सार्थक है ।

अज्ञाततत्त्वावगाही प्रमा ज्ञान के करण होने के कारण इन्द्रियादि को प्रमाण माना जाता है [प्रमाण और फल (प्रमा) का स्वरूप दिखाते हुए श्री कुमारिल भट्ट ने प्रासङ्गिक रूप में कहा है -

"यद्वेन्द्रियं प्रमाणं तस्य वा अर्थेन सङ्गतिः । मनसो वेन्द्रियैर्योग आत्मना सर्व एव वा ।।
तदा ज्ञानं फलं तत्र व्यापाराच्च प्रमाणता । व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम् ।।' (श्लो०वा०पृ० १५२)

अर्थात् प्रत्यक्ष-स्थल पर जब आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का पदार्थ से सन्निकर्ष स्थापित होता है, तभी घटादि पदार्थों का ज्ञान होता है, अतः जब इन्द्रिय को या प्रत्येक सन्निकर्ष अथवा तीनों सन्निकर्षों को सामूहिकरूपेण प्रमाण माना जाता है, तब ज्ञान को प्रमा कहा जाता है, क्योंकि 'प्रमाण' शब्द **'प्रमाकरणं प्रमाणम्'** - इस व्युत्पत्ति से प्रमा के करण का बोधक है, इन्द्रियादि को अपने सन्निकर्षादि व्यापाररूप असाधारणता के कारण प्रमा का करण माना जाता है, जैसे कि श्री उम्बेक भट्ट ने कहा है - **"प्रमाणशब्दः करणवाची, 'साधकतमं करणम्' तमेवार्थश्चातिशयः"** (ता.टी.पृ. १३५) । वार्तिककार कहते हैं - **प्रकृष्टसाधनत्वाद्ध प्रत्यासत्तेः स एव नः । करणं तेन नान्यत्र कारके स्यात् प्रमाणता ।। (श्लो०वा०पृ० १५५)**

'प्रमाकरणम् प्रमाणम्-इस व्युत्पत्ति में 'प्रमा' शब्द लक्षणा वृत्ति के द्वारा प्रमा के कार्यभूत प्राकट्य (ज्ञातता) का भी बोधक है, अतः प्राकट्यरूप प्रमा के करणीभूत प्रमा ज्ञान को प्रमाण भी कह दिया जाता है, इतने मात्र से हम (भाट्टगण) फल प्रमाणवादी कह दिये जाते हैं । (बौद्ध प्रमाणफलवादी कहे जाते हैं, क्योंकि वे प्रमाणभूतज्ञान को ही फल (प्रमारूप) मानते हैं । उनका कहना है कि कुठारादि करणभूत पदार्थों के आश्रयीभूत पदार्थों पर ही द्वैधीभावरूप फल उत्पन्न हुआ करता है, अतः ज्ञानस्थल पर भी प्रमाण और फल की विषयैकता तभी निभ सकती है, जब कि ज्ञान को ही प्रमाण और फल माना जाय, अतः **सौत्रान्तिक का सिद्धान्त है** कि, बाह्य विषय के द्वारा ज्ञान में आहित विषयाकार प्रमाण, ज्ञान का अपना आकार प्रमा और बाह्य विषय प्रमेय होता है । **योगाचार बाह्य विषय नहीं मानते,** अतः उनके मत में अनादि वासना परिकल्पित ज्ञानगत विषयाकार प्रमेय, ज्ञान का स्वाकार प्रमाण तथा स्वसंवित्ति फल है । इनका खण्डन करते हुए वार्तिककार ने कहा है - **"विषयैकत्वमिच्छंस्तु यः प्रमाणं फलं वदेत् । साध्यसाधनयोर्भेदो लौकिकस्तेन बाधितः ।।" (श्लो०वा०पृ. १५७)** इसका स्पष्टीकरण आगे भी किया जायेगा] ।

तार्किकगण प्रमा के करण को प्रमाण, यथार्थानुभव को प्रमा तथा स्मृति-भिन्न ज्ञान को अनुभव कहा करते हैं । इनका प्रमा-लक्षण (यथार्थानुभवः) अनुवाद में अतिव्याप्त होता है, क्योंकि अनुवाद गृहीत-ग्राही होने के कारण अप्रमा सिद्ध किया जा चुका है और तार्किकों के उक्त प्रमा-लक्षण में अनुवाद-व्यावर्तक कोई पद नहीं है । प्राभाकरगण जो कहते हैं कि, अनुभूति प्रमाण है और स्मृति-भिन्न ज्ञान अनुभूति माना जाता है - **"प्रमाणमनुभूतिः सा स्मृतेरन्या स्मृतिः पुनः । पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते ।।" (प्र०पं०पृ० १०४)**

वह (प्रभाकर-सम्मत) प्रमा का लक्षण भी भ्रम ज्ञान में अतिव्याप्त है, क्योंकि वह भी स्मृति से भिन्न ज्ञान है और उसकी भी सिद्धि की जा चुकी है । दूसरी बात यह भी है कि **प्रभाकर-मतानुसार प्रत्येक ज्ञान आत्मा, विषय और ज्ञान- इस त्रिपुटी का प्रकाशक एवं आत्मविषयकत्वेन प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है, किन्तु आत्मविषयक स्मृति ज्ञान में स्मृतिभिन्नत्व रूप प्रमाणत्व की अव्याप्ति भी है ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बौद्धों के मत में जो अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण तथा अर्थक्रियासामर्थ्य को अविसंवादित्व कहा जाता है - **"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः । अविसंवादनम्" (प्र० वा० पृ० ३-४) ।।"** वह भी उचित नहीं, क्योंकि अतीत और भाविविषयक अनुमान अपने अविद्यमान विषयों में प्रवृत्तिरूप अर्थक्रिया का जनक न हो सकने के कारण अविसंवादी और प्रमाण क्योंकर माना जायेगा ? स्मृति ज्ञान अप्रमा है, तथापि कुछ स्थलों पर अर्थक्रियाकारी होता है, अतः उसमें उक्त प्रमा लक्षण अतिव्याप्त भी है । फलतः अन्यान्य मतों का निराकरण हो जाने पर हमारा अज्ञाततत्वार्थ-ज्ञान प्रमा और उसका करण प्रमाण सिद्ध हो जाता है ।

तस्मादज्ञाततत्त्वार्थज्ञानसाधनमेव नः । प्रमाणमिति निर्णीतं तद्विशेषानथ ब्रुवे ।।४।।

अब प्रमाण के भेद बताते हुए कहते है कि,

प्रत्यक्षमनुमानं च शब्दं चोपमितिस्तथा । अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि मादृशाम् ।।५।।

अर्थ : हम भाट्टगण छः प्रमाण मानते है - (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द, (४) उपमान, (५) अर्थापत्ति तथा (६) अनुपलब्धि या अभाव ।

अन्य दर्शन कितने प्रमाण मानते है, वह बताते हुए कहते हैं कि,

चार्वाकास्तावदेकं द्वितयमपि पुनर्बौद्धवैशेषिकौ द्वौ भासर्वज्ञश्च सांख्यस्त्रितयमुदयनाद्याश्चतुष्कं वदन्ति ।

प्राहुः प्राभाकराः पञ्चकमपि च वयं तेऽपि वेदान्तविज्ञाः षट्कं पौराणिकास्त्वष्टकमभिदधिरे संभवैतिह्ययोगात् ।।६।।

चार्वाकगण एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं, बौद्ध और वैशेषिक (प्रत्यक्ष और अनुमान) दो, नैयायिक प्रवर भासर्वज्ञ और सांख्य तीन (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द), श्री उदयनाचार्यादि तार्किक (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) चार, प्रभाकर (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति) पाँच, हम (भाट्ट) और वेदान्तिगण (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि) छः तथा पौराणिकाचार्य (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य नाम के) आठ प्रमाण मानते हैं ।।६।।

अब प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण बताते है-

चक्षुर्नाम कनीनिकान्तरगतं तेजोऽथ जिह्वाग्रगस्तोयांशो रसनं क्षितेरवयवो घ्राणं च घोणोदरे ।

सर्वाङ्गप्रसृताश्च मारुतलवास्त्वङ्नाम कर्णोदरव्योमैव श्रवणं मनस्तु विभु तद्देहे च कार्यावहम् ।।७।।

प्रत्यक्ष - इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जनित प्रमा ज्ञान को **प्रत्यक्ष प्रमा** और उसके करण को **प्रत्यक्ष प्रमाण** कहा जाता है । इन्द्रिय का लक्षण श्री पार्थसारथि मिश्र ने किया है - **"यत्सम्प्रयुक्तेऽर्थे विशदावभासं ज्ञानं जनयति, तदिन्द्रियम्"** (शा.दी.पृ. ३६) । भाट्टगण (१) चक्षु, (२) रसन, (३) घ्राण, (४) स्पर्शन, (५) श्रोत्र और (६) मन, छः इन्द्रियाँ मानते हैं ।

नेत्रगत काली पुतली के अन्दर रहनेवाले तेज को चक्षु, जिह्वा के अग्र भाग में विद्यमान जलांश को रसना, नासान्तर्वर्ती पार्थिव अंश को घ्राण, पूरे शरीर में व्याप्त वायवीय भाग को त्वक्, कर्ण-कुहरस्थ आकाश को श्रोत्र इन्द्रिय कहते हैं । पार्थसारथि मिश्र ने शास्त्रदीपिका (पृ. ३६) में कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न दिग्भाग को श्रोत्र कहा है । मन विभु (विश्व-व्याप्त) होने पर भी तत्तद्देहावच्छेदेन कार्यकारी माना जाता है । मनोविभुत्व का निराकरण न्यायकुसुमाञ्जलि के तृतीयस्तबक में किया गया है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कोई भी कार्य अपने कारण के बिना उत्पन्न नहीं होता, अतः रूपविषयक ज्ञानात्मक कार्य के द्वारा सामान्यतः चक्षुः इन्द्रिय की सिद्धि हो जाने पर लोक में दीपादि तैजस पदार्थ ही रूपविषयक ज्ञान के जनक होते देखे जाते हैं, अतः उस चक्षु में तैजसत्व की सहज कल्पना हो जाती है । उसी प्रकार रस ज्ञान की उपपत्ति के लिए जलीय रसना इन्द्रिय की कल्पना की जाती है, क्योंकि सूखे पदार्थों का रस तब तक नहीं आता, जब तक उन्हें पानी से गीला कर न चबाया जाय, फलतः जल में ही रस-व्यञ्जकत्व निर्णीत होता है । चन्दन-खण्ड पर निम्बत्वक् (नीम वृक्ष की छाल) का लेप कर देने पर चन्दन की गन्ध अभिव्यक्त हो जाती है, चन्दन-त्वक् पार्थिव है, अतः गन्ध-ग्रहणार्थ कल्प्यमान घ्राण इन्द्रिय को पार्थिव मानना पडता है । शरीर से लगे जल-कणों का शीत स्पर्श पंखे की हवा से उजागर हो जाता है, अतः स्पर्शोपलम्भक त्वक् इन्द्रिय वायवीय सिद्ध होती है । शब्द-ग्राहकत्वेन कल्प्यमान श्रोत्र को पार्थिवादि न मान सकने के कारण परिशेषतः आकाशरूप मानना पडता है, क्योंकि प्रत्येक भूत द्रव्य किसी एक ही ज्ञानेन्द्रिय का आरम्भक होता है, उससे अन्य ज्ञानेन्द्रिय का नहीं, तेज, पृथिवी, जल और वायु - ये चारों भूत अपने-अपने नियत चक्षु, घ्राण, रसन और त्वक् के जनक होते हैं, श्रोत्र के आरम्भक नहीं हो सकते, परिशेषतः आकाश को ही श्रोत्र मानना पडता है । **तार्किक गण जो शब्द को आकाश का गुण मान कर श्रोत्र में आकाशात्मत्व सिद्ध करते हैं । उनका वह साधन प्रकार युक्त नहीं, क्योंकि शब्द में गुणत्व ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि शब्द की गतिशीलता उसे द्रव्य सिद्ध करती है ।**

सुखादि के अपरोक्ष-साधनत्वेन मन की कल्पना की जाती है । उसमें विभुत्व की सिद्धि आगे की जायगी । वह व्यापक होने पर भी शरीरावच्छिन्न होकर इन्द्रिय कहलाता है, अतः शरीर के अन्दर ही अपना कार्य करता है । चक्षुरादि इन्द्रियों के अधीन होकर मन रूपादि के ग्रहण में भी प्रवृत्त हो जाता है । इतना ही नहीं लिङ्गादि की सहायता से अनुमानादि ज्ञानों का उत्पादन भी करता है ।

चक्षु और श्रोत्र–इन दो इन्द्रियों की प्राप्यकारिता में विवाद है, अतः उन दोनों में बाह्येन्द्रियत्वरूप हेतु के द्वारा त्वगिन्द्रिय के समान प्राप्यकारित्व का अनुमान कर लेना चाहिए ।।७।। (प्राप्यकारित्व का अर्थ होता है - अपने विषय से जुडकर इन्द्रियों की विषय-ग्राहकता । विषय और इन्द्रिय का जोड-मेल दो प्रकार से होता है–(१) विषय-देश पर इन्द्रिय पहुँचे या (२) इन्द्रिय देश पर विषय पहुँचे । चक्षु तैजस होने के कारण स्वयं विषय-देश पर वैसे ही पहुँच जाता है, जैसे दीप-प्रभा घटादि पर फैल जाती है । श्रोत्र को नैयायिक गतिशील नहीं मानते, अतः जो शब्द श्रोत्र देश से जा टकराता है, उसका ही वह ग्रहण करता है । **इन्द्रियों को बौद्धगण अप्राप्यकारी और नैयायिकादि प्राप्यकारी मानते हैं** । न्याय के सूत्र, भाष्य और वार्तिकादि में विशदरूप से इसका वर्णन किया है और प्रमाणवार्तिकादि में बौद्ध-मत विस्तार से वर्णित है) । चक्षु विषय देश पर जाता तो है ही इसकी एक ओर विशेषता यह है कि अपने उद्गम-स्थल से जैसे-जैसे दूर जाता है, वैसे-वैसे फैलता जाता है, यहाँ तक कि दूर से समूचे विशाल पर्वत का ग्रहण कर लेता है, समीप से नहीं, अतः यह वैसे ही पृथ्वग्र माना जाता है, जैसे तेजोद्रव्य का अपना स्वभाव है कि उसकी किरणें आगे-आगे सभी दिशाओं में फैलती जाती है । पलक खुलते ही चक्षु अत्यन्त दूरस्थ गुरु, शुक्र और शनैश्चरादि ग्रहों का भी तुरन्त ग्रहण कर लेता है, अतः यह भी मानना पडेगा कि ग्रह-व्यापी बाह्य तेज के साथ चाक्षुष तेज शीघ्र अपना तादात्म्य स्थापित कर दूरस्थ ग्रहादि का तत्काल भासक हो जाता है । **'बाह्य तेज तो विश्व-व्याप्त है, अतः उससे चाक्षुष तेज का एकीभाव मान लेने पर समस्त विश्व का दर्शन होना चाहिए, फिर तो केरल प्रान्त से ही हरिद्वारस्थ गङ्गा का दर्शन क्यों नहीं होता ?'–इस प्रश्न का उत्तर यह है कि चाक्षुष तेज बाह्य तेज के उसी भाग से तादात्म्य स्थापित कर सकता है, जो कि विषय-ग्रहण के नियामक अदृष्ट से प्रभावित होता है ।** तार्किक गण जो कहत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं कि चक्षु अत्यन्त वेगवान् होने के कारण दूरस्थ ग्रहों का तुरन्त दर्शन कर लेता है, वह युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि अनन्त योजन दूर शनैश्चरादि को चक्षु अपने वेगमात्र से झट देख लेगा–यह सम्भव नहीं । कथित चक्षुरादि इन्द्रियों के रूपादि गुण अनुद्भूत होते हैं, अतः इन्द्रियों का प्रत्यक्ष नहीं होता ।

इन्द्रियों की सिद्धि हो गई, अब उनका विषय के साथ सन्निकर्ष विचारणीय है । सन्निकर्ष केवल दो प्रकार का होता है- (१) संयोग और (२) संयुक्त-तादात्म्य । पृथिवी, जल और तेज का चक्षु और त्वक् इन्द्रियों के द्वारा उनके संयोग सन्निकर्ष से; वायु का त्वक्संयोग से; दिशा, आकाश और अन्धकार का नेत्र-संयोग से; शब्द द्रव्य का श्रोत्र-संयोग से; आत्मा का मनः-संयोग से ग्रहण होता है । यद्यपि आत्मा और मन–दोनों विभु द्रव्य हैं और विभु द्रव्यों का अप्राप्त-प्राप्तरूप संयोग सम्भव नहीं, तथापि अप्राप्तप्राप्तिरूपता जन्य संयोग का लक्षण है, आत्मा और मन का जन्य संयोग नहीं अजन्य संयोग माना जाता है । काल का तो सभी इन्द्रियों के द्वारा संयोग सन्निकर्ष से ग्रहण होता है, क्योंकि **'युगपद्ग्रहणम्', 'विलम्बेन ग्रहणम्'**- इत्यादि प्रतीतियों में कालविषयकत्व और इन्द्रिय-जन्यत्व की सिद्धि आगे की जायेगी और उक्त प्रतीतियाँ सभी इन्द्रियों से उत्पन्न होती है । जब चक्षुरादि से संयुक्त पूर्वोक्त पृथिव्यादि में तादात्म्येन अवस्थित जाति, गुण और कर्मादि का ग्रहण होता है, तब संयुक्त-तादात्म्य सन्निकर्ष माना जाता है, जैसा कि कहा गया है - **रूपादिनां तृ संयुक्तद्रव्यतादात्म्यमेव नः । प्रतीतिकारणं तस्मान्न सम्बन्धान्तरस्पृहा ।।**

जब संयुक्त-तादात्म्य सम्बन्ध से ही रूपादि का ग्रहण सम्पन्न हो जाता है, तब उसके लिए समवायादि सम्बन्धान्तर की कल्पना व्यर्थ है । जब गुण, कर्मादिगत सत्ता, रूपत्वादि धर्मों का ग्रहण होता है, तब सत्तादि का द्रव्य के साथ परम्परया तादात्म्य सम्भव हो जाता है, अतः वहाँ भी संयुक्त-तादात्म्य ही सन्निकर्ष माना जाता है । अथवा जैसे तार्किकगण रूपत्वादि का ग्रहण करने के लिए 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष मानते हैं, वैसे ही 'संयुक्ततदात्मतादात्म्य' नाम का तृतीय सन्निकर्ष मान लेने में हमारी क्या हानि है ? जाति गुण और कर्म का अपने आश्रय के साथ तादात्म्य ही सम्बन्ध होता है--यह आगे सिद्ध किया जायेगा, अतः इन्द्रियों के अपने विषय के साथ दो या तीन ही सम्बन्ध होते हैं ।

तार्किकगण तादात्म्य के पद पर समवाय सम्बन्ध को अभिषिक्त कर सन्निकर्षों की अन्यथा व्यवस्था किया करते हैं। उनके मतानुसार (१) संयोग, (२) संयुक्त समवाय, (३) संयुक्तसमवेतसमवाय, (४) समवाय, (५) समवेतसमवाय और (६) विशेषणविशेष्यभाव, **छः सन्निकर्ष होते** हैं । उनमें चक्षुरादि के द्वारा संयोग सम्बन्ध से द्रव्य का, चक्षुरादि से संयुक्त द्रव्य में रहनेवाले गुणादि का संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से, संयुक्त द्रव्य में समवेत गुणादिगत गुणत्वादि का ग्रहण संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध से होता है । शब्द आकाश का गुण है, अतः आकाशात्मक श्रोत्र के द्वारा समवाय समवाय सन्निकर्ष से तथा श्रोत्र-समवेत शब्द में वर्तमान शब्दत्वादि का ग्रहण समवेतसमवाय से होता है । संयोग और समवाय भावरूप पदार्थों के सम्बन्ध होते हैं, अभाव में संभावित नहीं, अतः अभाव का ग्रहण संयुक्त-विशेषणता या संयुक्त-विशेष्यता सन्निकर्ष से होता है ('घटाभाववद् भूतलम्'-ऐसी प्रतीति में अभाव विशेषण है, अतः उसके साथ चक्षुरादि का संयुक्त भूतलादि-निरूपित विशेषणता तथा 'भूतले घटाभावः'–ऐसी प्रतीति में अभाव विशेष्य है, अतः उसके साथ संयुक्त भूतल-निरूपित विशेष्यता सम्बन्ध होता है) । उसी प्रकार समवाय के साथ संयोग या समवाय सन्निकर्ष नहीं बन सकता, क्योंकि संयोग सम्बन्ध द्रव्य के साथ ही होता है और समवाय द्रव्य नहीं । समवाय के साथ समवाय सन्निकर्ष मानने पर अनवस्था होती है, अतः समवाय के साथ भी विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष वैसे ही माना जाता है, जैसे अभाव के साथ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्राद्यं त्रिविधं तावन्नाममात्रेण भिद्यते । समवायादयस्त्वन्ये सन्निकर्षा निराश्रयाः ।।८।।

तार्किकों के इन कथित छः सम्बन्धों में प्रथम के तीन (संयोग, संयुक्तसमवाय और संयुक्तसमवेतसमवाय) सम्बन्धों का भाट्टाभिमत तीन (संयोग और संयुक्ततादात्म्य और संयुक्ततदात्मतादात्म्य) सम्बन्धों से कोई भेद नहीं, केवल संज्ञाएँ भिन्न हैं । शेष समवायादि तीन सन्निकर्ष निराधार हैं, क्योंकि शब्द को हम (भाट्ट) श्रोत्र का गुण नहीं मानते, अतः शब्द के साथ न तो समवाय सन्निकर्ष माना जा सकता है और न उसमें रहनेवाले शब्दत्वादि के साथ समवेत समवाय सन्निकर्ष । अभाव का प्रत्यक्ष (इन्द्रियों से ग्रहण) नहीं माना जाता और समवाय तो खपुष्प के समान ही है, अतः विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष के मानने का कोई सार्थक्य और औचित्य नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि चक्षु-संयुक्त भूतलादि के साथ अभाव और समवाय का विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष सम्भव नहीं, क्योंकि 'दण्डी पुरुषः'- इत्यादि स्थलों पर संयोगादि सम्बन्धान्तरपूर्वक ही विशेषणविशेष्यभाव देखा जाता है, किन्तु अभाव और समवाय के साथ कोई सम्बन्धान्तर नहीं माना जाता ।

प्राभाकरगण जो यह कहते हैं कि, संयोग, संयुक्तसमवाय और समवाय-ये तीन ही सन्निकर्ष हैं, जैसा कि श्री शालिकनाथ ने कहा है-**"त्रिविध एव सन्निकर्षः प्रत्यक्षहेतुः-(१) संयोगः, (२) संयुक्तसमवायः, (३) समवायश्चेति" (प्र० पं० पृ० १३४)** (९) प्राभाकर के मत में रूपत्वादि धर्म नहीं माने जाते, अतः 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष मानने की कोई आवश्यकता नहीं । इसी प्रकार शब्दत्व धर्म भी नहीं माना जाता, अतः समवेतसमवाय मानने की क्या आवश्यकता ? अभाव अधिकरण से अतिरिक्त नहीं माना जाता और समवाय का प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः विशेषण विशेष्यभाव सन्निकर्ष भी मानना व्यर्थ है । **प्राभाकर के उस मत का निराकरण तो तार्किको ने ही रूपत्वादि की सिद्धि के माध्यम से कर डाला है, अतः हमने जो सन्निकर्ष कहे हैं, वे ही न्याय-सङ्गत हैं । इन्द्रिय-सन्निकर्ष-जन्य ज्ञान द्विविध होता है-(१) निर्विकल्पक और (२) सविकल्पक** । उनमें इन्द्रिय सन्निकर्ष के अनन्तर ही जो द्रव्यादि के स्वरूप मात्र को विषय करनेवाला शब्द-सम्बन्ध रहित बालमूकादि साधारण ज्ञान के समान सम्मुग्धाकार ज्ञान उत्पन्न होता है, वह विशिष्ट कल्पनाओं से रहित होने के कारण निर्विकल्पक कहलाता है । (जैसा कि वार्तिककार ने कहा है- **अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् न विशेषो न सामान्यं तदानीमनुभूयते । तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावसीयते ।। (श्लो० वा० पृ० १६९)**

श्री धर्मकीर्ति ने भी निर्विकल्पक का लगभग यही स्वरूप बताया है - **"अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना, तया रहितम्" (न्या०बिं०पृ० ४७)** । अर्थात् दूर से एक वस्तु को देख कर सर्व-प्रथम ज्ञान होता है - **'अस्ति किञ्चिदेतत्।'** उसके पश्चात् जैसे-जैसे वह वस्तु समीप आती जाती है, वैसे-वैसे उसके पर पाँच कल्पनाएँ बनती जाती हैं- (१) नाम-कल्पना (२) जाति-कल्पना, (३) गुण-कल्पना, (४) क्रिया-कल्पना और (५) द्रव्य-कल्पना । इन कल्पनाओं से रहित सम्मुग्धाकार प्रथम ज्ञान को **निर्विकल्पक** कहा जाता है) । निर्विकल्पक ज्ञान के अनन्तर जो संज्ञादि-स्मरणपूर्वक जात्यादि से विशिष्ट वस्तु को विषय करनेवाला ज्ञान उत्पन्न होता है, वह **सविकल्पक** कहलाता है-(१) कपिला नामास्याः, (२) इयं गौः, (३) पीतवर्णेयम्, (४) आगच्छतीयम्, (५) सास्नादिमतीयम् ।

वैयाकरणों का जो कहना है कि, निर्विकल्पक नाम का कोई ज्ञान होता ही नहीं, **भर्तृहरिने स्पष्ट कहा है - न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ।। (वाक्य० १/१२३-२४)**

प्रकाशक के बिना कोई वस्तु प्रकाश में नहीं आ सकती, अर्थगत शब्दोपरक्तता सहज-सिद्ध अनादि है, वही अर्थ की प्रकाशिका मानी जाती है, उसके बिना वाच्य वस्तु का प्रकाश हो ही नहीं सकता ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह वैयाकरण-मत अयुक्त है, क्योंकि यदि शब्दानुवेध के बिना पहले शुद्धवस्तु का भान नहीं होता, तब शब्द-स्मरण कैसे होगा ? क्योंकि वस्तु को देख कर ही उसके वाचक शब्द का स्मरण होता है ।

बौद्धों का जो कहना है कि, निर्विकल्पक वस्तु का ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है और सविकल्पक-ज्ञान न तो प्रमाण होता है और न प्रत्यक्ष । **(श्री धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण किया है - "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" (न्या०बिं०पृ० ४०) किन्तु आचार्य दिङ्नाग ने** वहाँ 'अभ्रान्त' पद नहीं जोडा था, उनका आशय था कि सविकल्पक ज्ञान भ्रमात्मक होता है, अतः निर्विकल्पक कह देने मात्र से अभ्रान्तत्व का लाभ हो जाता है । **श्री दिङ्नाग के गुरुवर आचार्य वसुबन्धु ने** विकल्प को वितथ ही माना है-**"वितथविकल्पाभ्यासवासनानिद्रया प्रसुप्तो लोकः"** (वि०मा०पृ० ६३) । **यद्यपि अनुमान ज्ञान भी जाति विकल्प को विषय करने के कारण भ्रम ज्ञान ही है, तथापि व्यवहारतः अविसंवादी होने के कारण प्रमाण माना जाता है,** श्री कमलशील ने स्पष्ट कहा है कि,-**"यत्र तु पारम्पर्येण वस्तुप्रतिबन्धः, तवार्थाविसंवादो भ्रान्तत्वेऽपि"** (त०सं०पृ० ३३८)

बौद्धों का वह कहना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि लोक में 'दण्डी पुरुषः'-इत्यादि सविकल्प ज्ञानों को प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है, अतः उसका निषेध करने पर लोक-विरोध होता है, (जैसा कि श्री कुमारिल भट्टने कहा है- **ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया । बुद्ध्याऽवसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ।। (श्लो० वा० पृ० १७२)**

अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान के अनन्तर नाम, जात्यादि विकल्पों से युक्त वस्तु जिस सविकल्पक बुद्धि के द्वारा निश्चित होती है, वह सविकल्पक बुद्धि भी लोक में प्रत्यक्ष प्रमाण मानी जाती है) । **दूसरी बात यह भी है कि,** सविकल्पक ज्ञान के अनन्तर ही अर्थक्रिया (प्रवृत्ति की सफलता) देखी जाती है, अतः अर्थक्रियाकारित्वरूप प्रमाणत्व उसमें अटल है।

शङ्का : सविकल्पक ज्ञान में अर्थक्रियाकारित्व स्वाभाविक नहीं माना जाता, अपि तु दैवात् आ जाता है, क्योंकि वह विषय से बहुत दूर नहीं होता, जैसा कि आचार्य धर्मकीर्ति ने कहा है कि- **"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः । मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ।।" (प्र० वा० ३/५७)** एक व्यक्ति मणि की प्रभा को मणि समझकर मणि उठाने दौडा और दूसरा व्यक्ति प्रदीप की प्रभा को मणि समझकर दौडा । यद्यपि वे दोनों भ्रान्त हैं, उनके मिथ्या ज्ञानों में कोई अन्तर नहीं, तथापि उनमें से पहले की प्रवृत्ति सफल हो जाती है कि मणि-प्रभा के समीप ही मणि मिल जाती है किन्तु दूसरे का प्रयत्न अत्यन्त निष्फल जाता है । वस्तुतः यह सविकल्पक ज्ञान अवस्तुभूत नाम, जात्यादि को विषय करने के कारण मिथ्या ही होता है ।

समाधान : यदि सविकल्पक ज्ञान मिथ्या है, **तब बौद्ध-सम्मत अनुमान प्रमाण भी अप्रमाण हो जायगा,** क्योंकि वह अवस्तुभूत वह्नित्व सामान्य को ही विषय करता है । **नाम, जात्यादि पदार्थों को जो खपुष्पादि के समान अवस्तु माना जाता है, वह भी संगत नहीं, क्योंकि उनमें वस्तुत्व सिद्ध किया जायगा, अतः सविकल्पक ज्ञान प्रमाण ही है ।**

शङ्का : फिर भी सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह साक्षात् इन्द्रिय से जन्य नहीं, अपि तु इन्द्रिय-जन्य निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा जनित होता है । इसी प्रकार के परम्परया अक्ष-जन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानने पर अनुमानादि ज्ञानों को भी प्रत्यक्ष ही मानना होगा ।

समाधान : सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति-पर्यन्त इन्द्रिय का व्यापार निवृत्त नहीं होता, अपितु बना रहता है, अतः सविकल्पक ज्ञान भी निर्विकल्प के समान ही साक्षात् इन्द्रिय-जन्य माना जाता है, जैसा कि आचार्यों ने कहा है-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"ताश्चेन्द्रियानुसारेण जायन्ते पञ्च कल्पनाः । यदि त्वालोच्य सम्मील्य नेत्रे कश्चिद्विकल्पयेत् । प्रत्यक्षं नैव मन्यन्ते तल्लौकिकपरीक्षकाः ।।

नाम, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य (अवयवी) नाम की पाँच कल्पनाएँ इन्द्रियों के अनुसार ही उत्पन्न होती हैं । यदि आलोचनारूप निर्विकल्पात्मक ज्ञान के अनन्तर नेत्रों को बन्द करके (नेत्र-व्यापार समाप्त करके) कोई व्यक्ति सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न करता, तब अवश्य ही उसे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं माना जा सकता था, किन्तु ऐसा न तो लौकिक (शिक्षार्थी) पुरुष स्वीकार करते हैं और न परीक्षक (शिक्षक) व्यक्ति, अतः सव्यापार इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण सविकल्पक भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही है । दूसरी बात यह भी है कि यदि परम्परया इन्द्रिय-जन्य होने के कारण सविकल्पक को प्रत्यक्षपदास्पद माना जाता है, तब अनुमान में भी 'प्रत्यक्ष' शब्द की वाच्यत्वापत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि 'प्रत्यक्ष' पद केवल (अक्षमक्षं प्रति वर्तते–इस व्युत्पत्ति के अनुसार) यौगिक नहीं माना जाता, अपि तु जैसे पङ्कजादि पद ('पङ्काज्जातः'-इस व्युत्पत्ति के आधार पर पङ्कोत्पन्न कुमुदिनी आदि वस्तु मात्र को न कह कर पङ्कजात कमल में रूढ होकर) योगरूढ माना जाता है, **वैसे ही प्रत्यक्ष शब्द इन्द्रिय-जन्य निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान में रूढ होकर योगरूढ है, अनुमान का वाचक कथमपि नहीं हो सकता ।**

आचार्य प्रभाकर का जो कहना है कि, पङ्कजादि शब्द कमलादि में रूढ नहीं, अपितु यौगिक मात्र हैं, क्योंकि अवयवार्थ के द्वारा ही उनकी कमलादि में प्रवृत्ति होती है, कुमुदिनी आदि की उनमें वाचकता न होने का कारण यह है कि उनमें 'पङ्कज' पद का कहीं प्रयोग नहीं होता । उसी प्रकार 'प्रत्यक्ष' शब्द भी योगरूढ न होकर केवल अवयव-शक्ति के द्वारा ऐन्द्रियक सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञान मात्र का बोधक होता है ।

श्री प्रभाकर का वह कहना असंगत है, क्योंकि यदि केवल अवयवार्थ को लेकर 'पङ्कज' शब्द कमल का बोधक माना जाता है, तब कुमुदादि में भी अवयवार्थत्व (पङ्कज-जन्यत्व) विद्यमान होने के कारण कुमुदादि का भी वह बोधक क्यों नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में रूढि को भी 'पङ्कज' पदप्रवृत्ति की सामग्री मानना होगा । योगार्थ का भी परित्याग नहीं किया जा सकता, अतः योग और रूढि–दोनों शक्तियों के द्वारा 'पङ्कज' पद के समान ही 'प्रत्यक्ष' पद की प्रवृत्ति सिद्ध होती है, जैसा कि वार्तिककार कहते हैं - **"निर्विकल्पकबोधेऽपि नाक्षं केवलकारणम् । तत्पारम्पर्यजाते वा रूढिः स्यात् पङ्कजादिवत् ।।" (श्लो० वा० पृ० १७५)** फलतः उक्त निर्विकल्पक और सविकल्पकरूप प्रत्यक्षों में ही 'प्रत्यक्ष' पद की वाच्यता सिद्ध होती है, परम्परया अक्ष-जन्य अनुमानादि में नहीं ।

सविकल्पक के द्वारा (१) द्रव्य, (२) जाति, (३) गुण, (४) कर्म और (५) नाम- इन पाँच विकल्पों का प्रत्यक्ष होता है, जैसे-(१) 'यह बंशीधर है', (२) 'यह गोप जाति का है', (३) 'यह श्याम वर्ण का है', (४) 'यह रसिया गा रहा है' तथा (५) 'यह गोविन्दनामा है ।'

कतिपय विद्वानों का जो कहना है कि, प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष छट्ठा विकल्प है । **उनका वह कहना युक्ति-संगत नहीं,** क्योंकि वह नाम-कल्पना के अन्तर्गत आ जाता है, क्योंकि संज्ञा शब्द के द्वारा स्मारित पिण्ड में 'यह वही है' – इस प्रकार पूर्वरूप-विशिष्टतया पदार्थ की कल्पना को ही नाम-कल्पना कहा जाता है, अतः 'गोविन्दोऽयम्' - इसका यही अर्थ होता है कि जिस लावण्यमय विग्रह को हमने गोविन्दपद-वाच्यत्वेन निश्चित किया था, 'यह वही है' । जब नामास्पदता (शब्द-वाच्यता) को माध्यम न बनाकर पूर्व-दृष्ट विग्रह की सम्मुखस्थ विग्रह से एकता की अनुभूति होती है, तब 'स एवायम्' - इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा नाम-कल्पना के रूपान्तर में स्पष्ट हो जाती है । वार्तिककार कहते हैं -

"तत्र शब्दार्थसम्बन्धं प्रमातुः स्मरतोऽपि या । बुद्धिः पूर्वगृहीतार्थसन्धानादुपजायते ।।" (श्लो० वा० पृ० २०२)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह प्रत्यभिज्ञा एक विशिष्ट ज्ञान के रूप में संस्कार-सहित इन्द्रिय के द्वारा उत्पादित होती है । उसका विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है कि वहाँ 'सः' और 'अयम्' – ये दो भान उत्पन्न होते हैं, उनमें 'सः' - इस प्रकार के भान की जनिका शक्ति संस्कार-प्रसूत और 'अयम्' - इस प्रकार के भान की उत्पादिका शक्ति इन्द्रिय की देन होती है ।

(**श्री पार्थसारथि मिश्र** ने भी प्रत्यभिज्ञा को नाम-कल्पना का ही एक प्रकार माना है - **"डित्थशब्देन तद्वाच्यं पूर्वावगतं डित्थमुपस्थाप्य तदात्मना पुरःस्थितोऽर्थो विकल्प्यते–डित्थोऽयमिति । किमुक्तं भवति ? योऽसावस्माकं डित्थः सोऽयं पुरःस्थितो नान्य इति । सेयं व्यक्तिप्रत्यभिज्ञैव पञ्चमीकल्पना, सा च शब्दविदां नामरूपितैव भवतीति नामकल्पनेति व्यवह्रियते"** (शा.दी.पृ. ४२) ।

(जैसे न्यायसूत्रकार ने **"प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्"** (न्या.सू. २।१।१६) इस सूत्र में इन्द्रियादि का प्रमाण-प्रमा-भाव विवक्षाधीन अनियत माना है, वैसे ही) प्रत्यक्ष ज्ञान की करणता इन्द्रिय, सन्निकर्ष या विशेषण-ज्ञानादि में मानी जा सकती है, (जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है – **"यद्वेन्द्रियं प्रमाणं स्यात् तस्य वाऽर्थेन सङ्गतिः । प्रमाणफलते बुद्धयो विशेषणविशेष्ययोः । हानादिबुद्धिफलता प्रमाणं चेद्विशेष्यधीः ।।" (श्लो० वा० पृ० १५२-५६)** अर्थात् इन्द्रिय या सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर विशेषण का निर्विकल्पक ज्ञान प्रमा, विशेषण-ज्ञान को प्रमाण मानने पर विशेष्य-ज्ञान प्रमा और विशेष्य-ज्ञान को प्रमाण मानने पर हानादि (हान, उपादान और उपेक्षा) के ज्ञान को प्रमा कहा जाता है) । इस प्रकार इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है–यह सिद्ध हो गया ।

श्री प्रभाकर का जो कहना है–साक्षात्प्रतीति को प्रत्यक्ष कहते हैं, उस प्रतीति में प्रमेय, प्रमाता और प्रमा–इस त्रिपुटी का भान होता है । (श्री शालिकनाथ मिश्र ने कहा है – **साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षं मेयमातृप्रमासु सा । मेयेष्विन्द्रिययोगोत्था द्रव्यजातिगुणेषु सा ।। (प्र० पं० पृ० १०४)** अर्थात् साक्षात्कारवती प्रतीति का नाम प्रत्यक्ष है, वह प्रमेय, प्रमाता (आत्मा) और प्रमा (स्वयं अपने स्वरूप) को विषय करती है । द्रव्य, जाति और गुणरूप प्रमेयांश में वह इन्द्रिय के संयोग, संयुक्तसमवाय और समवाय–इन तीन सन्निकर्षों से जनित होती है) ।

श्री प्रभाकर के उस प्रत्यक्ष-लक्षण में जिज्ञासा होती है कि, साक्षात् प्रतीति क्या है ? यदि कहा जाय कि, जिस प्रतीति में विषय वस्तु का स्वरूपेण भान होता है, वह साक्षात्प्रतीति है, जैसे 'अयं घटः'–इत्यादि प्रतीतियों में घटादि का स्वरूपेण ही भान होता है, अतः इन्हें साक्षात्प्रतीति कहते हैं और अनुमित्यादि-प्रतीतियों में वह्न्यादि का स्वरूपेण नहीं, अपि तु धूम-सम्बन्धित्वादिरूपेण भान होता है, अतः इन्हें साक्षात्प्रतीति नहीं कहा जाता ।' **तो ऐसा नहीं कह सकते,** क्योंकि तब तो सविकल्पक प्रत्यक्ष को भी साक्षात्प्रतीति नहीं कह सकेंगे, क्योंकि उसमें भी नामादि विकल्प-सम्बन्धित्वेन ही घटादि पदार्थों का भान होता है, स्वरूपेण नहीं । यदि कहा जाय कि सविकल्प में पर-सम्बन्धित्वेन विषय का भान होने पर भी स्वरूपतः भी भान होता है, तब उसी प्रकार अनुमित्यादि में भी साक्षात्त्व का आपादन किया जा सकता है । **सभी ज्ञानों में जो आत्मा (प्रमाता) और स्वरूप (प्रमा) का भान कहा जाता है, उसका भी निराकरण आगे किया जायेगा ।**

बौद्धों का जो कहना है कि, "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" (न्या०बिं०पृ० ४०) । **'कल्पनापोढ'** पद के द्वारा सविकल्पक ज्ञान का निरास किया जाता है और **'अभ्रान्त'** पद के द्वारा तैमिरिकादिके केश ग्रन्थ्याद्याकार निर्विकल्पक भ्रम की निवृत्ति की जाती है ।

वह बौद्धों का कथन भी उचित नहीं, क्योंकि सविकल्पक को प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध किया जा चूका है, अतः उसमें उनका प्रत्यक्ष-लक्षण अव्याप्त है । (**श्री चिदानन्द पण्डित** ने भी यही दोष दिया है – **"नापि कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्, सविकल्पस्याप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्"** (नीति० पृ० ५६) ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तार्किक गणों का जो कहना है कि, योगी एवं ईश्वर का अतीतानागतादिविषयक ज्ञान इन्द्रिय-सन्निकर्ष-जन्य न होने पर भी प्रत्यक्ष होता है, अतः उसका संग्रह करने के लिए '**अपरोक्षप्रमा-व्याप्तं प्रत्यक्षम्**' ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण करना चाहिए (श्री गङ्गेशोपाध्याय ने कहा है कि,- **"प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम् । निर्विकल्पके ईश्वरयोगिप्रत्यक्षे च प्रत्यक्षत्वं धर्मिग्राहकमानसिद्धम्"** (न्या०त०चि०पृ० ५७१) ।

वह तार्किकों का कहना अयुक्त है, क्योंकि प्रत्यक्ष नियमतः वर्तमान विषय का ही ग्राहक होता है, अतीतानागत का नहीं, (जैसा कि वार्तिककारने कहा है कि, - **सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना"** (श्लो०वा०पृ० १६०) **चिदानन्द पण्डित** ने इसे ही दुहराया है - **"प्रत्यक्षस्यासूक्ष्माव्यवहितविद्यमानार्थत्वव्याप्तेः"** (नीति० पृ० १३६) । परिशेषतः भाट्टसम्मत प्रत्यक्ष-लक्षण ही यथार्थ है ।

इन्द्रियव्यतिरिक्तानि द्रव्याण्येषां च जातयः । प्रायश्च गुणकर्माणि प्रत्यक्षाणीति वक्ष्यते ।।९।।

प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय होते हैं - 'इन्द्रिय-भिन्न द्रव्य, द्रव्यगत जातियाँ, गुण और कर्म ।' चिदानन्द पण्डित ने भी कहा है - **मानमिन्द्रिययोगोत्थमिह प्रत्यक्षमुच्यते । द्रव्यं जातिर्गुणः कर्म विषयश्चतुर्विधः ।। (नीति पृ० ५७)**

अनुमानम्–व्याप्यदर्शनादसन्निकृष्टार्थज्ञानमनुमानम् । व्याप्य-दर्शन-जनित असन्निकृष्टार्थ विषयक ज्ञान को **अनुमान** कहा जाता है, जैसे–पर्वत में धूमवत्त्व के दर्शन से जनित अग्निमत्त्व का ज्ञान । यहाँ धूम में अग्नि की व्याप्यता क्या है? **जो पदार्थ जिसके बिना नहीं रहता, वह उसका व्याप्य कहा जाता है,** धूम अग्नि को छोडकर नहीं रहता, अतः धूम में अग्नि की व्याप्यता मानी जाती है । **जो जिसके बिना भी रह जाता है, उसको उसका व्यापक कहा जाता है,** अग्नि धूम के बिना भी निर्धूम अङ्गारों में रह जाती है, अतः अग्नि को धूम का व्यापक माना जाता है, व्याप्य नहीं। **यहाँ धूम में ही अग्नि की व्याप्ति रहती है, अग्नि में धूम की नहीं, अतः इस व्याप्ति को विषम व्याप्ति कहते हैं । जो व्याप्ति परस्पर दो पदार्थों में रहती है,** उसे समव्याप्ति कहा जाता है, जैसे–कृतकत्व और अनित्यत्व में, क्योंकि सभी घटादि कृतक (जन्य) पदार्थों में अनित्यत्व और सभी अनित्य पदार्थों में कृतकत्व रहता है । वार्तिककार ने उभयविध व्याप्ति (श्लो०वा०पृ० ३४८ में) दिखाई है - **यो यस्य देशकालाभ्यां समो न्यूनतोऽपि वा भवेत् । स व्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाप्याधिकोऽपि वा ।।**

व्याप्ति का लक्षण क्या है ? स्वाभाविक सम्बन्ध को **व्याप्ति** और उपाधि-रहित सम्बन्ध को **स्वाभाविक** कहा जाता है । **चिदानन्द पण्डित** ने भी कहा है - **"साध्येन साधनस्य निरुपाधिकोऽन्वयः"** (नीति पृ० १३७) । साध्य के साक्षात् प्रयोजक हेत्वन्तर को **उपाधि** कहते हैं । जहाँ पर वैसा उपाधिरूप हेत्वन्तर होता है, वहाँ उसमें वस्तुतः रहनेवाले व्याप्तिरूप साध्य-सम्बन्ध का आरोप करके वादी ने जिस हेतु का प्रयोग साध्य की सिद्धि के लिए किया है, वह साध्य का साधक (सोपाधिक होने के कारण) नहीं होता, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है-

अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः । तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणा ।।

निषिद्धत्वेन हिंसानामधर्मत्वं प्रयुज्यते । तदभावे न तत्सिद्धिर्हिंसात्वादप्रयोजकात् ।। (श्लो० वा० पृ० ३५१-५२)

अर्थात् ऐसे हेतु जो पर-प्रयुक्त (उपाधि-प्रयुक्त या औपाधिक) व्याप्ति के आश्रय (सोपाधिक) होते हैं, ऐसे हेतु भले ही पक्ष में दृष्ट हों, साध्य के साधक नहीं होते, जैसे कि, किसी अवैदिक या साङ्ख्याचार्य के द्वारा प्रयोग किया गया– '**अग्नीषोमीयहिंसा, अधर्मः, हिंसात्वाद्, बाह्यहिंसावत्** ।' इस अनुमान में '**निषिद्धत्व**' उपाधि है, क्योंकि 'निषिद्धत्व' धर्म ही वह हेत्वन्तर है, जो कि अधर्मत्व का साक्षात् प्रयोजक होता है, बाह्य हिंसा में भी वही अधर्मत्व का साधक होता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, क्योंकि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' - इत्यादि निषेध वाक्यों के द्वारा बाह्य हिंसा निषिद्ध होती है, अतः 'निषिद्धत्व' में रहनेवाली अधर्मत्व-व्याप्ति को लेकर प्रयुक्त हिंसात्व हेतु अग्नीषोमीय-हिंसा में अधर्मत्व का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें निषिद्धत्व नहीं, अपितु "अग्नीषोमीय पशुमालभेत" - इस विधि वाक्य के द्वारा विहितत्व रहता है ।

उपाधि का लक्षण चिदानन्द पण्डित ने किया है - **"सर्वत्र साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तत्वम्"** (नीति पृ. १३९) । **'निषिद्धत्व'** धर्म साधनभूत हिंसात्व का अव्यापक है, क्योंकि यत्र-यत्र हिंसात्वम्, तत्र-तत्र निषिद्धत्वम्' इस प्रकार की व्यापकता अग्नीषोमीय-हिंसा में न रहने के कारण) निषिद्धत्व में नहीं रहती और साध्यभूत अधर्मत्व की समव्याप्ति निषिद्धत्व में रहती है, अतः निषिद्धत्व में उक्त उपाधि का लक्षण घट जाता है । 'पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्त्वात्' - इस सद्धेतु में तत्सामाग्रीकत्व, महानसत्व और पर्वतान्यत्व धर्म उपाधि न बन जायें इस लिए उक्त उपाधि-लक्षण में 'साधनाव्यापकत्व', 'साध्यव्यापकत्व' और व्याप्तिगत 'समत्व' ये तीन विशेषण लगाए गए हैं । यदि 'साध्यसमव्याप्त उपाधिः' - इतना ही लक्षण किया जाता, तब अग्नि-साधक धूम हेतु में **'अग्निसामग्रीकत्व'** धर्म उपाधि हो जाता, क्योंकि यत्र यत्र अग्निमत्त्वम्, तत्र तत्र अग्निसामग्रीयुक्तत्वम् । यत्र यत्र अग्निसामग्रीवत्त्वम् तत्र तत्र अग्निमत्त्वम् इस प्रकार का साध्यसमव्याप्तत्व घट जाता है) । उसकी निवृत्ति के लिए साधनाव्यापकत्व कहा है । साधनाव्यापकत्व अग्निसामग्रीकत्व में नहीं है, क्योंकि जहाँ-जहाँ धूम रहता है, वहाँ-वहाँ अवश्य ही अग्नि और अग्नि की सामग्री रहती है, अतः उसमें धूम की व्यापकता ही है, अव्यापकता नहीं । यदि 'साधनाव्यापक उपाधिः' इतना ही कहते तब उसी हेतु में **'महानसत्व'** धर्म उपाधि हो जाता, क्योंकि धूम के रहने पर सर्वत्र महानसत्व रहता ही है - ऐसा नहीं, अतः वह साधन का अव्यापक है । उसकी व्यावृत्ति के लिए साध्य-व्यापकत्व कहना आवश्यक है, महानसत्व में अग्निरूप साध्य का व्यापकत्व नहीं रहता, क्योंकि मठादि में अग्नि का सद्भाव होने पर भी महानसत्व का अभाव होता है । यदि 'साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापक उपाधिः'– इतना ही कहते, तब **'पर्वत-भिन्नत्व'** धर्म युक्त हेतु में उपाधि हो जाता, क्योंकि पर्वत-भिन्नत्व के न रहने पर भी पर्वत में धूम देखा जाता है, अतः वह साधन का अव्यापक है और अग्निरूप साध्य का व्यापक भी, क्योंकि पर्वत में तो अग्नि का सन्देह ही है, निश्चय नहीं, अग्नि का जहाँ-जहाँ महानसादि में निश्चय है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र पर्वत-भिन्नत्व है । पर्वत-भिन्नत्व की निवृत्ति के लिए केवल साध्य-व्यापकत्व न कह कर साध्य-समव्यापकत्व कहा गया है । **समव्यापकत्व का अर्थ होता है – 'व्यापकत्वे सति व्याप्यत्व ।'** पर्वत-भिन्नत्व में अग्नि का व्यापकत्व रहने पर भी 'यत्र-तत्र पर्वत-भिन्नत्वम्, तत्र-तत्र अग्निमत्त्वम्' - इस प्रकार पर्वत-भिन्नत्व में अग्नि की व्याप्यता या अग्नि में पर्वत-भिन्नत्व की व्यापकता नहीं रहती, क्योंकि पर्वत से भिन्न सर्वत्र जलाशयादि में (अग्नि का सद्भाव नहीं है।)

अथवा उक्त उपाधि-लक्षण-घटक पदों का प्रयोजन अन्य स्थल पर तार्किक रक्षा (पृ० ६६-६७) के अनुसार इस प्रकार दिखना चाहिए - यदि साध्य के समव्याप्त धर्म को ही उपाधि माना जाय, तब 'शब्दोऽनित्यः, जन्यत्वाद्, घटवत्' यहाँ पर **'सकर्तृकत्व'** धर्म उपाधि बन जाता, क्योंकि अनित्यत्व और सकर्तृकत्व की समव्याप्ति लोक-प्रसिद्ध है, अतः सकर्तृकत्व की व्यावृति करने के लिए कहा–'साधनाव्यापकः' । 'सकर्तृकत्व' धर्म साधनभूत जन्यत्व का भी व्यापक ही है, अव्यापक नहीं, फलतः साधन का व्यापक होने के कारण उक्त स्थल पर 'सकर्तृकत्व' उपाधि नहीं बन सकता । 'साधनाव्यापक उपाधिः'–इतना ही कहने पर वहीं पर **'सावयवत्व'** और **'घटत्वादि'** धर्म उपाधि हो जाते, क्योंकि 'जन्यत्व' धर्म तो गुण और कर्मादि में भी रहता है, किन्तु वहाँ न सावयवत्व रहता है और न घटत्वादि, अतः सावयवत्वादि में साधनाव्यापकत्व निश्चित है । उनकी निवृत्ति करने के लिए साध्य-व्यापकत्व का भी उपाधि के लक्षण में समावेश करना होगा । सावयवत्व और घटत्वादि में साध्यभूत अनित्यत्व की व्यापकता नहीं रहती, क्योंकि गुण और क्रियादि में अनित्यत्व के रहने पर भी सावयवत्वादि नहीं रहते । तथापि शब्देतरत्व अनित्यत्व का व्यापक होने से उपाधि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बन सकता है, अतः उसका निरास करने के लिए 'सम' शब्द रखा गया है । शब्देतरत्व धर्म साध्यरूप अनित्यत्व का समव्याप्त नहीं, क्योंकि अनित्यत्वेन निश्चित सभी शब्देतर घटादि पदार्थों में अनित्यत्व के रहने पर भी सभी शब्देतर आत्मादि में अनित्यत्व नहीं रहता, 'शब्दोऽनित्यः, कृतकत्वात्'-यह अनुमान केवल तार्किकों की रीति पर व्याप्ति और उपाधि-लक्षण का पद-कृत्य दिखाने के लिए रख दिया गया है, मीमांसा-सिद्धान्त के अनुगुण नहीं, प्रत्युत विरुद्ध है, क्योंकि मीमांसक 'शब्द' को नित्य मानते हैं और उक्त अनुमान के द्वारा शब्द में अनित्यत्व सिद्ध किया जाता है ।

शङ्का : जैसे वह्नि में धूम-व्यापकत्व का सन्देह निवृत्त करने के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है - 'यदि वह्न्यभावेऽपि धूमः स्यात्, तदा वह्निजन्यो न स्यात् ।' वैसे पर्वतेतरत्व में साध्य-व्यापकत्व का सन्देह दूर करने के लिए 'पर्वतेतरत्वाभावेऽपि यद्यग्निः स्यात्, तदाऽयं दोषः स्यात्'-इस प्रकार का कोई तर्क दिखाया नहीं जा सकता, अतः पर्वतेतरत्व में अग्निरूप साध्य की व्यापकता का निश्चय न हो सकने के कारण उपाधित्व क्योंकर निश्चित होगा ? (श्रीनिवासाचार्य ने न्यायपरिशुद्धि की व्याख्या में कहा है कि – **"पक्षेतरत्वादेरनुग्राहकतर्काभावादेव साध्यव्यापकत्वं ग्रहीतुं न शक्यते"** (पृ. १०६) । **श्री वर्धमानोपाध्याय** ने भी समव्यापकत्व-घटित लक्षण का निराकरण करते हुए कहा है कि - **"नापि साध्यसमव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधित्वम्, विषमव्याप्तस्यानुपाधित्वप्रसङ्गात्"** (किर. पृ. ५६५) । अत एव **श्री उदयनाचार्य** ने समत्वाघटित ही लक्षण किया है – **"कः पुनरुपाधिः ? साध्यप्रयोजकं निमित्तान्तरम् । किं वाऽस्य लक्षणम् ? साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकत्वम्" (आत्म. पृ. ४०३)**

समाधान–अनुग्राहक तर्क के न होने पर भी पक्षेतरत्व में साध्यव्यापकत्व की आपात प्रतीति को लेकर अतिप्रसङ्ग और समत्व-घटित व्यापकता को लेकर अनायास उस अतिप्रसङ्ग की निवृत्ति देख कर **चिदानन्द पंडित** (नीति० पृ० १३०), **श्री वेङ्कटनाथ** (न्या.परि.पृ. १०) तथा **श्री वरदराज** (ता. २० पृ. ६६) आदि विद्वानों ने समव्यापकत्व-घटित लक्षण ही अपनाया है ।

समव्याप्तिमतामेव सर्वथापि ह्युपाधिता । इति विस्पष्टतार्थं च समशब्दो न दूषणम् ।।१०।।

साध्य के समव्यापक धर्म ही प्रायः उपाधि होते है - इस तथ्य का स्पष्टीकरण करने के लिए 'सम' शब्द का प्रयोग किया गया है, अतः यह कोई गम्भीर दोष नहीं है।।१०।।

उपाधि दो प्रकार की होती है–(१) निश्चित ओर (२) शङ्कित । जिस उपाधि के कथित दोनों विशेषण निश्चित होते हैं, वह **निश्चित उपाधि** होती है, जैसे पूर्वोक्त **'निषिद्धत्व'** उपाधि और जहाँ उक्त दोनों विशेषण या उनमें से कोई अन्यतर सन्दिग्ध हो, उसे **शङ्कित उपाधि** कहते है, जैसे श्री वरदराज कहते हैं - **"मैत्रीगर्भत्वेन सप्तमगर्भस्य श्यामत्वे साध्ये शाकाद्याहारपरिणतिः । पक्षभूते हि सप्तमगर्भे श्यामत्वोपाधेः शाकाद्याहारपरिणामस्याभावानिश्चयात् साध्यव्यापकत्वं सन्दिग्धम्" (ता. २० पृ. ८०)** । अर्थात् मैत्री नाम की स्त्री के आठ पुत्र हैं, उनमें सात श्याम वर्ण के और आठवाँ गौर वर्ण का है, उस आठवें को पक्ष बनाकर कोई श्यामत्व सिद्ध करना चाहता है – **"गर्भस्थो मैत्रीतनयः श्यामः, मैत्रीतनयत्वात् पूर्वतनतनयसप्तकवत्"** - यहाँ **'शाकपाक-जन्यत्व'** उपाधि है, मैत्री पत्नीवाला शाक बहुत खाती थी, अतः शाकाहार के रस-परिपाक से प्रभावित सात पुत्र श्याम वर्ण के हो गये और आठवें का गर्भ-वास होने पर शाकाहार नहीं हुआ, अतः वह गौर हो गया । यहाँ साधन के आधारभूत अष्टम पुत्र में **'शाक-पाक-जन्यत्व'** सन्दिग्ध होने के कारण उपाधि में साधनाव्यापकत्व भी सन्दिग्ध रह जाता है, अतः यह उपाधि सन्दिग्ध कहलाती है ।।११।।

तस्मादुपाधिमिच्छद्भिः पक्षभूमिमनाप्नुवन् । सपक्षान् व्याप्नुवन् धर्मो मृग्यतामिति सङ्ग्रहः ।।११।।

कहीं-कहीं अनुमान में प्रयुक्त साधन का विशेषरूप ही प्रयोजक (साध्य-साधक) होता है, जैसे 'अयं द्विजो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वेदज्ञो भविष्यति, द्विजत्वात्' - यहाँ पर केवल **'द्विजत्व'** धर्म साध्य का साधक नहीं होता, अपितु बुद्ध्यादियुक्तद्विजत्व, यही धर्म यहाँ उपाधि है, **अतः किसी प्रयोग में यदि उपाधि दिखानी हो तो ऐसा धर्म खोजना चाहिए, जो पक्ष में न रहता हो (साधन का व्यभिचारी या अव्यापक हो) और सभी सपक्षों में रहता (साध्य का व्यापक) हो।**

कथित उपाधि धूमगत अग्नि-सम्बन्ध (व्याप्ति) में नहीं है, अतः यह सम्बन्ध स्वाभाविक है । इस प्रकार के स्वाभाविक सम्बन्ध का ग्रहण कैसे होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि प्रथमतः महानस (रसोई घर) आदि स्थानों में बार-बार धूम का अग्नि के साथ सहचार देख कर क्रमशः महानसत्व, गृहत्व और ग्रामत्वादि में शङ्कित उपाधिता का व्यभिचारादर्शन के द्वारा एवं अन्यान्य उपाधियों का योग्यानुपलब्धि के माध्यम से निराकरण हो जाता है । **इस प्रकार भूयः सहचार-दर्शन और उपाध्याभाव-ग्रहण से जनित संस्कारो का सहयोग लेकर चक्षुरादि इन्द्रियाँ अग्नि और धूम के उक्त स्वाभाविक सम्बन्ध का ज्ञान उत्पन्न करती हैं** । श्री चिदानन्द पण्डित ने भी ऐसा ही कहा है-**शङ्कितोपाध्यभावावगमे सति यस्य येन यादृशः सम्बन्धो दृष्टान्तधर्मिषु दृष्टः, तस्य तेन सह तादृशं सम्बन्धं भूयोदर्शनजनितसंस्कारसहकृतमक्षमेव निरुपाधिकत्वेन निश्चिनोति"** (नीति पृ० १३८)। वार्तिककार भी कहते हैं- - **"भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिः सामान्यधर्मयोः। ज्ञायते भेदहानेन क्वचिच्चापि विशेषयोः ।।" (श्लो० वा० पृ० ३५०) प्राभाकर गण जो** कहते हैं कि, धूम का अग्नि के साथ सम्बन्ध-ग्रहण सकृत् (एकवार के) दर्शन से ही हो जाता है। उपाधि-शङ्का का निरास करने के लिए भूयोदर्शन अपेक्षित होता हैं, श्री शालिकनाथ मिश्र कहते है-**"कथमनौपाधिकत्वावगमः ? प्रयत्नेनान्विष्यमाणे औपाधिकत्वानवगमात्। तच्चैतद् भूयोदर्शनायत्तमिति मन्वाना आचार्या भूयोदर्शनमादृतवन्तः"** (प्र० पं० पृ० २०५)

उक्त प्राभाकर मत युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि अनुमान के अङ्गभूत सम्बन्ध को ही **व्याप्ति** कहा जाता है, निरुपाधिकत्व-विशिष्ट सम्बन्ध को ही अनुमान का अङ्ग माना जाता है, सामान्य सम्बन्ध को नहीं । **निरुपाधिकत्व का निश्चय भूयोदर्शन से होता है - ऐसा प्राभाकर गणों ने भी कहा है,** अतः भूयोदर्शन के द्वारा ही निरुपाधिक सम्बन्धरूप व्याप्ति का निश्चय होता है । (चिदानन्द पण्डित ने भी प्राभाकर मत का निराकरण करते हुए कहा है - **"एतेन सकृद्दर्शनगम्यत्वं व्याप्तेरपास्तम्, प्रथमदर्शने शङ्कितोपाध्यनवगमेन निरुपाधिकान्वयानवगतेः"** (नीति० पृ० १३८) ।

शङ्का : भूयोदर्शनमात्र से निरुपाधिकत्व का अवधारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि भूयोदर्शन तो मैत्री-पुत्रत्व और श्यामत्व के सहचार में भी हैं, किन्तु वह व्याप्ति नहीं कहलाता ।

समाधान : उक्त शङ्का के समाधान में श्री चिदानन्द पण्डित ने कहा है-**"न केवलं भूयोदर्शनैस्तादृशमवधारणं सिध्यतीति प्रमाणोत्पत्त्यनुगुणस्तर्कोऽपि तत्र सहकारी"** (नीति० पृ० १३७) । अर्थात् केवल भूयोदर्शन से निरुपाधिक सम्बन्ध का निश्चय नहीं होता, अतः उसके समुचित प्रमापक की उत्पत्ति के लिए अनुग्राहक (मैत्री-तनयत्व और श्यामत्व की औपाधिक व्याप्ति निवृत्त्यर्थ) **तर्क** की अपेक्षा होती है ।

कः पुनस्तर्कः ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि किसी प्रमाण के द्वारा साध्यमान पदार्थ में अन्यथात्व शङ्का की निवृत्ति के लिए अन्यथात्व-पक्ष में दोष-प्रसक्ति का नाम **तर्क** है, अतः एव तार्किकों ने तर्क का लक्षण किया है -

तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गः स्यादनिष्टं द्विविधं मतम् । प्रामाणिकपरित्यागस्तथेतरपरिग्रहः ।। (ता० र० पृ० १८५)

(अर्थात् अनिष्ट-प्रसङ्ग को तर्क कहते हैं, अनिष्ट दो प्रकार का होता है-(१) प्रामाणिक पदार्थ का परित्याग और (२) अप्रामाणिक अर्थ का ग्रहण । जैसे 'विमतमुदकं पिपासाशामकम्, विशिष्टोदकत्वात्, मत्पीतोदकवत्'-इस अनुमान में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साध्यानङ्गीकारवादी के लिए प्रयुक्त **'यद्युदकं पीतं पिपासां न शमयेत्, तर्हि पिपासुना न पीयेत'** - इस तर्क में प्रामाणिक (प्रत्यक्ष-सिद्ध) पान का निषेध होने से प्रामाणिक अर्थ का परित्याग होता है और 'विमतमुदकं परस्यान्तर्दाहकं न भवति'-इस प्रयोग में साध्य न मानने पर प्रयुक्त 'यद्युदकं पीतं परकीयमन्तरधक्ष्यत्, तदा मामपि दहेत्'-इस तर्क में उदकगत अप्रामाणिक (अत्यन्ताप्रसिद्ध) अन्तर्दाहकत्व को स्वीकार करना पडता है) ।

सोपाधिकत्व की आशङ्का का निवर्तक होने के कारण उक्त तर्क को **बाधक** भी कहा जाता है, आचार्य उदयन कहते हैं-**"किं बाधकम् ? अन्वयव्यतिरेकविषयभूयोदर्शनसाहाय्यकमाचरन्ननूत्तरस्तर्कः"** (आत्म० पृ० ४०५) । **'यद्यत्राग्निर्न स्यात्, तर्हि धूमोऽपि न स्यात्'** । इस तर्क के पाँच अङ्ग माने जाते हैं, जैसा कि श्री वरदराज ने कहा है-

व्याप्तिस्तर्काप्रतिहतिरवसानं विपर्यये । अनिष्टाननुकूलत्वे इति तर्काङ्गपञ्चकम् ।। (ता० र० पृ० १८७)

(१) व्याप्ति, (२) तर्काप्रतिहति, (३) विपर्यय में पर्यवसान, (४) अनिष्टत्व और (५) अननुकूलत्व ।

(१) व्याप्ति : यद्यत्राग्निर्न स्यात्, तर्हि धूमोऽपि न स्यात्' - यहाँ पर साध्य के विपरीत साध्याभाव का आरोप करके जो लिङ्गाभावरूप अनिष्ट का प्रसञ्जन किया जाता है, वहाँ साध्याभावरूप प्रसञ्जक (लिङ्ग) और लिङ्गाभावरूप प्रसञ्जनीय (साध्य) की व्याप्ति अनिवार्य है, अन्यथा उनका साध्य-साधनभाव नहीं हो सकेगा । **(२) तर्काप्रतिहति :** प्रतितर्क के द्वारा अप्रतिघात । विपरीत तर्क के द्वारा बाधित तर्क सत्तर्क नहीं, अपितु तर्काभास होता है, अतः तर्क या तर्क के द्वारा साधित साग्नित्वादि अर्थ का प्रतितर्क से बाध न होना आवश्यक है । **(३) विपर्ययपर्यवसान :** 'यद्यत्राग्निर्न स्यात्, तर्हि धूमोऽपि न स्यात्' - इस तर्क का पर्यवसान साधनाभाव के विपर्यय में ही होता है - यस्मान्नात्र धूमाभावः, तस्माद् धूमस्य सत्त्वम्, तस्मान्नात्राग्न्यभावः । **(४) अनिष्टत्व :** प्रसञ्जनीय धूमाभाव को पर्वत में मानना कभी इष्ट नहीं होता, अतः प्रसञ्जनीय का अनिष्ट होना आवश्यक है । **(५) अननुकूलत्व :** प्रतिवादी के अभिमत अर्थ का साधक न होने के कारण वादी के अनुकूल होते हुए भी तर्क प्रतिवादी के अननुकूल ही होता है । कथित पाँच अङ्गों में से प्रत्येक का अभाव होने पर पाँच प्रकार का ही तर्काभास हो जाता है, जैसा कि तार्किकरक्षाकार ने कहा है - **"अङ्गान्यतमवैकल्ये तर्काभासता भवेत्"** (ता. र० पृ० १८८) जैसे कि, (१) उक्त व्याप्ति का अभाव होने पर **'यद्यग्निमत्त्वं न स्यात्, तर्हि पर्वतत्वमपि न स्यात्'**-यहाँ अग्निमत्त्वाभाव रूप प्रसञ्जक और पर्वतत्वाभावरूप प्रसञ्जनीय की कोई व्याप्ति (यत्र यत्र अग्निमत्त्वाभावः, तत्र तत्र पर्वतत्वाभाव) सम्भव नहीं है क्योंकि सभी पर्वतों में तो अग्नि होती नही, जिस पर्वत में अग्नि नहीं, वहाँ भी पर्वतत्व ही रहता है, पर्वतत्वाभाव नहीं । (२) 'यदीयं मेघोन्नतिर्वृष्टिमती न स्यात्, तर्हि निविडापि न स्यात्'-**यह तर्क** 'यदीयं वृष्टिमती स्यात्, तर्हि वातोद्रेकवती न स्यात्'-**इस प्रतितर्क** से बाधित होने के कारण तर्काभास है, क्योंकि वह सघन (गहरी) घटा भी नहीं बरसती, जो वायु के घोडे पर सवार होकर भागती जा रही हो, अतः उसमें वृष्टिमत्त्व-साधक तर्क तर्काभास ही है । (३) मीमांसक के प्रति प्रयुक्त 'शब्दोऽनित्यः, कृतकत्वात्'-इस अनुमान की पुष्टि में प्रदर्शित 'यदि शब्दोऽनित्यो न स्यात्, तदा कृतकोऽपि न स्यात्' - ऐसे तर्क का पर्यवसान विपर्यय में नहीं किया जा सकता, क्योंकि मीमांसक के मतानुसार शब्द में कृतकत्व नहीं, नित्यत्व माना जाता है । (४) मीमांसक को शब्द में कृतकत्वाभाव इष्ट ही है, अनिष्ट नहीं । (५) प्रसञ्जनीय पदार्थ में प्रतिवादी की अननुकूलता न होने पर तर्काभास का स्वरूप इस प्रकार है - - 'क्रिया आनुमेया, क्रियात्वाद्, आदित्यक्रियावत्-इस प्रयोग में 'अन्यथा क्रियैव न सिध्येत्'-ऐसा तर्क तर्काभास है, क्योंकि क्रिया का प्रत्यक्ष माननेवाले वादी को भी वैसा कहना अनुकूल ही है - **'प्रत्यक्षा क्रिया अन्यथा क्रियैव न सिध्येत्।'**

स्वेनैव स्वस्य सिद्धिर्या तदात्माश्रयदूषणम् । अनेनान्यस्ततश्चायमित्यन्योन्याश्रयं भवेत् ।।१२।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनेनान्यस्तताश्चान्यस्ततोऽसाविति चक्रकम् । अतीतास्पृष्टमन्यान्यग्रहणं त्वनवस्थितिः ।।१३।।

गौरवं लाघवं चेति तर्कौ सार्वत्रिकावुभौ । गौरवं कल्पनाधिक्यं लाघवं त्वल्पकल्पना ।।१४।।

दोषप्रसङ्गरूपत्वं गौरवस्यैव विद्यते । साध्ये गुणकथाद्वारा लाघवस्य प्रसङ्गता ।।१५।।

साध्याभावानुवादेन दोषः साध्ये गुणोऽपि वा । यत्रानुकूलतर्कोऽसौ साध्यसिद्धावनुग्रहात् ।।१६।।

साध्यस्यैवानुवादेन यदनिष्टप्रसञ्जनम् । स तर्कः प्रतिकूलः स्यात् साध्यसिद्धिनिरोधनात् ।।१७।।

अथवोपाधिशङ्कैव तर्केनिष्कास्यते स्फुटम् । उपाधिर्मानयोग्यो वा तदयोग्योऽथवा भवेत् ।।१८।।

अयोग्यश्चेन्न शङ्क्येत योग्यश्चेत् किं न दृश्यते । अनुमानादिगम्यश्चेल्लिङ्गादिः किं न दृश्यते ।।१९।। इत्यादि शङ्काव्याघातपर्यन्तमेवं सर्वानुमास्वपि । तर्कजालं प्रयोक्तव्यमत्यल्पं चेदमुच्यते ।।२०।।

यतः प्रत्यक्षशाब्दादिप्रमाणान्यखिलान्यपि । तर्कं विना न जीवन्ति प्रत्यक्षे तावदीक्षताम् ।।२१।।

एवं सर्वत्र तर्कौघैरर्थाभासनिरासतः । वाक्यार्थस्थापनी सर्वा मीमांसा तर्करूपिणी ।।२२।।

तस्मात्सर्वप्रमाणानां तर्कोऽनुग्राहकः स्थितः । साध्ये विपर्ययाशङ्काविच्छेदस्तदनुग्रहः ।।२३।।

अस्याविज्ञाततत्त्वोऽर्थः सन्दिग्धो विषयो मतः । हेतुरारोपितं लिङ्गं फलं तत्त्वार्थनिर्णयः ।।२४।।

तदेवं तत्त्वसिध्यर्थम् अन्यथानिष्टवर्णने । प्रसरत्यसदारोप तत्साधनपरम्परा ।।२५।।

तत्रचारोपवादेऽपि सिद्धान्तत्वभ्रमः क्वचित् । वेदश्चेदीश्वराधीनस्तर्हीशोऽपि न सिध्यति ।।२६।।

इत्युक्तावीश्वराभावः सिद्धान्त इति मन्वते । असंभाव्यस्य चारोपादसंतोषः क्वचिद्भवेत् ।।२७।।

अपकर्षाप्रतिष्ठश्चेत्परमाणुस्तथा सति । अनन्तावयवारम्भान्मेरुसर्षपयोर्द्वयोः । स्यात्तूल्यपरिमाणत्वमित्याद्युक्तिर्यथा भवेत् ।।२८।।

तत्र चास्य प्रमाणस्य तर्कोऽयं तस्य सिद्धये । अन्यदुक्तमिति व्यक्तं विविञ्चन्नैव मुह्यति ।।२९।।

तस्मात्तर्कप्रकारोऽयं प्रसङ्गप्रापितोऽपि सन् । अत्यन्तमुपकारीति विस्तरात्प्रस्तुतो मया ।।३०।।

भूयो दर्शनतः शक्या दृश्योपाधिनिराक्रिया । अदृश्योपाधिशङ्का तर्कैरेव निरस्यते ।।३१।।

व्याप्तिर्नियमः प्रतिबन्धोऽव्यभिचारस्तथाविनाभावः । व्याप्यं पुनर्नियम्यं गमकं लिङ्गं च साधनं हेतुः ।

इत्युभयोः पर्याया इति तस्य तु दर्शनं त्रिविधम् ।।३२।।

आत्मतत्त्वविवेककार ने जो कहा है–"**स च आत्माश्रयेतरेतराश्रयचक्रकानवस्थानिष्टप्रसङ्गभेदेन पञ्चविधः**" (आ०वि०पृ० ४०४) और इसी का जो अनुवाद तार्किकरक्षाकार ने किया है–"**आत्माश्रयादिभेदेन तर्कः पञ्चविधः स्मृतः**" (ता. र० पृ० १८६)। **वह कहना युक्त नहीं,** क्योंकि आत्माश्रयादि चारों दोष अनिष्ट प्रसङ्गरूप हैं और अनिष्ट-प्रसङ्ग तर्क का स्वरूप ही है । (श्री मणिकण्ठ मिश्र ने भी ऐसा ही माना है –"**तदयमात्माश्रयान्योऽन्याश्रयचक्रकानवस्थानिष्टप्रसङ्गभेदेन पञ्चविध इति केचित् । तत्र आत्माश्रयादीनामप्यनिष्टप्रसङ्गान्तर्भूतत्वात्, तथा हि– 'स्वस्याव्यवहितस्वापेक्षणमात्माश्रयः'** (न्या०र०पृ० २७) इत्यादि । अन्योऽन्याश्रयादि के वे ही स्वरूप यहाँ भी दिखाए गये हैं) । किसी पदार्थ की उसी से सिद्धि (उत्पत्ति, स्थिति और ज्ञप्ति) मानने पर आत्माश्रय होता है, उसका उद्भावन इस प्रकार होता है–"**यद्ययं घटः एतद्घटजन्यः स्यात्, तदा एतद्घटाद्यकालवृत्तिर्न स्यात्**" अथवा '**यद्ययं घट**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एतद्घटजनकः स्यात्, तदा एतद्घटनियतपूर्ववर्ती स्यात्' । दो पदार्थों की परस्पराश्रित सिद्धि को अन्योऽन्याश्रय कहा जाता है, जैसा कि महाभाष्यकार कहते हैं –**"सतामादैचां संज्ञया भवितव्यम्, संज्ञया चादैचो भाव्यन्ते–तदितरेतराश्रयं भवति, इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते, तद्यथा नौर्नावि बद्धा नेतरेतरत्राणाय भवति" (म०भा०पृ० ६६)** ।।१२।। एक पदार्थ की सिद्धि दूसरे से, दूसरे की सिद्धि तीसरे से और तीसरे की सिद्धि प्रथम पदार्थ से मानने पर चक्रक दोष प्रसक्त होता है, तीसरे पदार्थ की सिद्धि प्रथम से न मानकर चतुर्थ से, चतुर्थादि की पञ्चमादि से मानी जाय, तब अनवस्था दोष होता है ।।१३।। गौरव और लाघव नाम के दोनों तर्कप्रकार सार्वत्रिक होते हैं । कल्पनाधिक्य को गौरव तथा अल्प कल्पना को लाघव कहते हैं ।।१४।। (जो मणिकण्ठ मिश्र ने कहा है –**"कल्पनागौरवं न तर्केऽन्तर्भवति एवं कल्पनालाघवमपि, वैपरीत्यमेव तु दूषणम्"** अर्थात् गौरव दोष होने पर भी तर्क का प्रकार नहीं और लाघव गुण हैं, दोष नहीं, इसके विपरीत अलाघव ही दोष होता है, वह अनिष्ट है, उसका प्रसञ्जन अनिष्ट-प्रसञ्जनरूप तर्क हो सकता है, लाघव नहीं । (न्या०२०पृ० ३६) । वह कहना उचित नहीं, क्योंकि) यद्यपि दोष-प्रसङ्गरूपता सीधे-सीधे गौरव दोष में ही होती है, तथापि साधनीय पदार्थ में निहित लाघवरूप गुण में भी अनिष्ट-प्रसङ्गता का उद्भावन हो सकता है–**'यदि अयं लघुमार्गो नानुस्त्रियेत, तदा साध्यं न सिध्येत्'** । अथवा साध्यगत गुण साध्याभाव का दोष होता है, अतः अनिष्ट-प्रसङ्गता का आपादन किया जा सकता है । वस्तुतः आनर्थक्यापत्ति होने पर लाघव भी दोष हो जाता है, जैसा कि न्यायसुधाकार का कहना है–**"अत्राप्युपात्ते लघूपाये गुरुरूपाश्रयणानुपपत्तिमाशङ्क्य आनर्थक्यापरिहारायोपात्तेऽपि लघौ गुरोराश्रयणम्"** (न्या०सु०पृ० ५०-५१) । जहाँ पर कथित अनुकूल तर्क का प्रदर्शन होता है, वहाँ उसका फल साध्य-सिद्धि का अनुग्रह (पोषण) होता है और जहाँ पर साधनीय अर्थ का अनुवाद करके अनिष्ट-प्रसञ्जन का विधान किया जाय, वह तर्क प्रतिकूल होता है, क्योंकि उससे साध्य-सिद्धि का अनुग्रह नहीं, प्रत्युत निरोध होता है ।।१५-१७।।

उक्त तर्क व्याप्ति-ग्रहण या अनुमानोत्थान के समय साध्य और साधन की व्यभिचार-शङ्का को निरस्त कर व्याप्ति का अवदात स्वरूप निखारता हुआ अनुमान का अनुग्राहक होता है ।

शङ्का : 'यद्यत्राग्निर्न स्यात्, तर्हि धूमोऽपि न स्यात्'–इस प्रकार के तर्क से व्यभिचार-शङ्का निवृत्त नहीं होती, क्योंकि 'अग्न्यभावेऽपि धूमः किं न स्यात्' –इस प्रकार की व्यभिचारशङ्का फिर भी हो जाती है ।

समाधान : तर्क के द्वारा व्यभिचार-शङ्का एक बार निवृत्त होकर फिर भी हो जाती है । अत एव तार्किकों ने कहा है कि, तब तक तर्क प्रयोग करते रहना चाहिए, जब तक प्रतिवादी के सामने कोई व्याघात उपस्थित नहीं होता । (श्री उदयनाचार्य ने कहा है - **"व्याघातावधिराशङ्का"** (न्या० कु० ३/७) । अर्थात् व्यभिचार-शङ्काओं की प्रवृत्ति तब तक हो सकती है, जब तक प्रतिवादी पर प्रवृत्त्याद्यनुपपत्तिरूप बाध अवतीर्ण नहीं होता । तर्क-प्रयोक्ता के द्वारा यद्यग्न्यभावेऽपि धूमः स्यात्, तर्हि कारणं विनापि कार्यं जायेत"–ऐसा प्रयोग करने पर प्रतिवादी यदि शङ्का करता है कि 'कारणं विनापि कार्यं कि न जायेत ?' तब इस शङ्का की निवृत्ति करने के लिए वादी व्याघात-तर्क प्रस्तुत करता है–'यदि कारणं विनाऽपि कार्यं स्यात्, तर्हि शब्दप्रयोगं विनापि अर्थबोधः स्यात्, शब्दोच्चारणे तव प्रवृत्तिर्न स्यात्'–इस व्याघात को सुनकर प्रतिवादी की शङ्काओं का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है) । किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि, "यद्यग्न्यभावेऽपि धूमः स्यात्, तदा कारणं विनापि कार्यजननमङ्गीकृतं स्यात्"–इस प्रकार का तर्क-प्रयोग हो जाने पर 'तदपि किं न स्यात्'–ऐसी शङ्का लौकिक व्यवहार में अङ्कुरित नहीं होती ।

शङ्का : उक्त तर्क का प्रयोग कर देने पर भी 'अग्नि में धूम की कारणता का निर्णय कैसे होगा ?' ऐसी आशङ्का बनी ही रहती है, अतः न तो अग्न्यनुमान का उदय हो सकता है और न तर्क में उस की अनुग्राहकता सिद्ध होती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान : 'यद्यग्निः कारणं न स्यात्, तर्हि धूमस्य कारणान्तरानुपलम्भेन अकरणत्वमेव प्रसजेत'-ऐसे तर्क का प्रयोग हो जाने पर सभी समस्याएँ सुलझ जाती हैं । **सशक्त तर्क के द्वारा व्यभिचार-शङ्का के सर्वथा निवृत्त हो जाने पर उपाध्यन्तर की शङ्का का नाम तक नहीं लिया जा सकता । अतः चार्वाक का 'दृश्य उपाधि की शङ्का के निवृत्त हो जाने पर अदृश्य उपाधि की शङ्का दूर नहीं हो सकती'-ऐसा दुर्वाद भी निरस्त हो जाता है ।** तर्कों के द्वारा उपाधि की शङ्का बिल्कुल मिटा दी जाती है, उपाधि चाहे प्रमाण-योग्य हो या प्रमाणायोग्य । उपाधि यदि अयोग्य है, तब उस की शङ्का ही नहीं उठ सकती और उपाधि यदि योग्य है, तब वह दृश्य ही होगी । यदि दृश्य नहीं, अनुमेय है, तब उस के लिङ्ग का भान होना चाहिए । (उपाधि-विधूनन के पश्चात् कोई भी शङ्का नहीं हो सकती... ऐसा तार्किकरक्षाकार ने भी (ता० र० पृ० १९८ पर) बडे ऊहापोह से कहा है ।

तर्क सभी प्रमाणों के अनुग्राहक होते हैं, अतः जो यह कहा जाता है कि 'सभी अनुमानों में तर्कप्रकर का प्रयोग तब तक करते रहना चाहिए, जब तक व्याघात दोष न लग जाय ।' वह कहना सङ्गत नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष और शब्दादि सभी प्रमाण तर्क की सहायता के बिना जीवित नहीं रह सकते । जैसे कि प्रत्यक्ष प्रमाण में तर्क इस प्रकार है-'अयं घटः'--यह प्रत्यक्ष प्रमाण बौद्ध-कथित परमाणु-पुञ्ज-विषयकत्व के निवर्तक तर्क से अनुगृहीत होकर ही घटरूप अवयवी को सिद्ध कर सकता है । वहाँ पर 'यदि उक्तप्रत्यक्षं परमाणुपुञ्जविषयकं स्यात्, तर्हि एकत्वेन महत्त्वेन च विषयावभासो न स्यात्'-ऐसा तर्क विवक्षित है । उसी प्रकार 'अयं गौः'-यह प्रत्यक्ष 'यद्यत्यन्तभिन्न विषयकं स्यात्, तर्हि इदंगोत्वे इति प्रतीतिः स्यात्'-इस प्रकार के तर्क की सहायता से ही अभेद का भी ग्राहक होता है । (बौद्धगण अवयव-समूह से अतिरिक्त अवयवी नहीं मानते, जैसा कि श्री प्रज्ञाकर कहते हैं-**"अवयवसमाहारमात्रमवयवी नापरस्तस्मान्नान्येऽवयवाः"** (प्र.वा.पृ. ५५४) । तार्किकादि उनके मत का निराकरण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा अनेक अवयवों से भिन्न एक अवयवी सिद्ध किया करते हैं) ।

शब्द प्रमाण का भी 'अध्ययनविधिरेव यदि स्वर्गफलकः स्यात्, तर्हि दृष्टार्थत्वे सम्भवति अदृष्टग्रहणाद् गौरवं स्यात्'-इस तर्क की सहायता से उक्त विधि वाक्य में अर्थ-ज्ञानरूप फल की बोधकता सिद्ध करता है । (श्री पार्थसारथि मिश्रने भी अध्ययन-विधि की अर्थज्ञानार्थता में वैसा ही तर्क प्रस्तुत किया है-**"शब्दश्चेदध्यापनौपयिकतया विदध्यात् नार्थज्ञानार्थता सिध्येत्"** (शा.दी.पृ. १०) । **'यदि अर्थज्ञानफलकः स्यात् तर्हि विधिवैयर्थ्यं स्यात्'**-इस प्रकार के प्रतिकूल तर्क का निराकरण आचार्यों ने किया है, जैसे- **"उपनीयं तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ।।" (मनु० २/१४०)** (जो ब्राह्मण अपने शिष्य का उपनयन संस्कार करके उसे कल्प (यज्ञप्रक्रिया के बोधक ग्रन्थ) और रहस्य (उपनिषत्) ग्रन्थों के सहित वेद का सविधि अध्यापन करता है, उस ब्राह्मण को आचार्य कहते हैं) । 'उक्तं स्मृतिवाक्यं यदि अध्यापनविधिः स्यात्, तर्हि यो द्विजः तमाचार्यं प्रचक्षते इत्यंशेनैकवाक्यता न स्यात्' - इस तर्क की सहायता से शब्द प्रमाण उक्त स्मृति वाक्य में आचार्यलक्षण-बोधकत्व सिद्ध करता है । (पार्थसारथि मिश्र ने उक्त प्रतिकूल तर्क का परिहार इस प्रकार किया है - **"दृष्टप्रयोजनाभावे ह्यदृष्टं परिकल्प्यते । दृष्टमेव त्विह ज्ञानं विधेश्च नियमार्थता ।। तत्सिद्धं नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं विधेर्भवेत् । तेन दृष्टार्थतालाभादर्थज्ञानार्थता स्थिता ।। (न्या० र० मा० पृ० २०-२१)** उसी प्रकार "अक्ताः शर्करा उपदधाति" (तै०ब्रा० ३/१२/५) यहाँ पर 'यदि घृतेनाञ्जनं न स्यात्, तर्हि "तेजो वै घृतम्"' (तै०ब्रा० ३/१२/५) इति वाक्यशेषो विरुध्येत'-इस तर्क के द्वारा यह निश्चित हो जाता है कि, उक्त (अक्ताः शर्करा उपदधाति) वाक्य का तात्पर्य घृताञ्जन में है । (कतिपय चयन यागों में सुवर्ण की ईंटों से आहवनीयादि अग्नियों के लिए स्थण्डिल (चबूतरा) बनाया जाता है, सुवर्ण के दुर्लभ होने पर छोटे कंकडों को चिकना कर चुनना विहित है-"अक्ताः शर्करा उपदधाति ।" यहाँ सन्देह का निवर्तक सूत्र है-"सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(जै०सू० १/४/२३) । अर्थात् "अक्ताः शर्करा उपदधाति" -इस विधि वाक्य के शेष भाग में आज्य (घृत) की स्तुति की गई है, अतः उसके आधार पर आज्य या घृत से स्निग्ध कर कंकडों का चयन करना चाहिए । सिद्धान्त सूत्र के द्वारा एक तर्क ही प्रस्तुत किया गया है, जिसका स्वरूप ऊपर दिखाया जा चुका है)। **इस प्रकार मीमांसा के प्रायः सभी अधिकरणों में तर्कों के द्वारा अर्थाभास का निरास कर वैदिक वाक्यों के वास्तविक अर्थ का निरूपण किया जाता है, अतः सम्पूर्ण मीमांसा शास्त्र तर्करूप ही होता है।**

मनु स्मृति में भी कहा है कि,- **"आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना । यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।। (मनु० १२/१०६)**

जो व्यक्ति वेदशास्त्राविरोधी मीमांसादिरूप तर्कों के द्वारा श्रुतियों और स्मृतियों का विचार करता है, वही धर्म का रहस्य जान सकता है, अन्य व्यक्ति नहीं । इसी प्रकार उपमान, अर्थापति और अनुपलब्धि प्रमाणों के सहायक तर्कों की भी कल्पना कर लेनी चाहिए । **अतः यह सिद्ध हो गया कि तर्क सभी प्रमाणों का अनुग्राहक होता है, उसी की सहायता से साधनीयार्थ की विपर्ययाशङ्का निवृत्त होती है। तर्क के विषयादि का निर्धारण तार्किकरक्षा (पृ० १००) में इस प्रकार किया गया है कि, इसका अज्ञात और सन्दिग्ध पदार्थ विषय, आरोपित (प्रसञ्जक) हेतु और तत्त्वार्थ-निर्णय फल माना जाता है।** अतः तत्त्वार्थ की सिद्धि करने तथा अन्यथा मानने पर अनिष्ट-प्रसक्ति करने के लिए असदारोप (धूमाभावादि असत् पदार्थों का आरोप) तथा उसके साधनीभूत (वह्न्यभावरूप) प्रसञ्जक का प्रयोग करना आवश्यक है । आरोपात्मक तर्कों के प्रयोग में कहीं-कहीं सिद्धान्त-गत भ्रम भी हो जाता है, जैसे कि अपौरुषेय वेद-वादी मीमांसक के 'वेदश्चेदीश्वराधीनः स्यात्, तर्हि ईश्वरोऽपि न सिध्येत्'-ऐसा तर्क-प्रयोग करने पर कुछ लोगों को भ्रम हो जाता है कि मीमांसा-सिद्धान्त में ईश्वर का अभाव है । इसी प्रकार कहीं असम्भाव्य पदार्थ का आरोप करने पर असन्तोष भी हो जाता है, जैसे ऐसा कहना - यदि 'परमाणु में अवयवों के अपकर्ष की विश्रान्ति न मानकर अनन्त अवयव-परम्परा मानी जाती है, तब समान रूपेण अनन्तावयवों से आरब्ध होने के कारण महान् सुमेरु पर्वत और सर्षप (सरसों के नन्हें से दाने) का समान परिमाण होना चाहिए' । कथित सिद्धान्तगत भ्रमादि की निवृत्ति के लिए यह भी स्पष्ट कर देना चाहिए कि केवल अपौरुषेयत्वादि-साधक शब्दादि प्रमाण के समर्थन में उक्त तर्क प्रस्तुत किया गया है, वह कोई सिद्धान्त-स्थापन नहीं किया गया । यद्यपि यहाँ तर्क का मुख्य प्रकरण नहीं, तर्क केवल प्रसङ्गतः प्राप्त है, तथापि महत्त्वपूर्ण एवं अत्यन्त उपकारी होने के कारण तर्क विस्तृतरूप में प्रस्तुत किया गया है ।।३०।।

इस प्रकार तर्क की सहायता से भूयोदर्शन के द्वारा निरुपाधिक सम्बन्ध का निश्चय किया जाता है । उसमें भूयोदर्शन से केवल दृश्य उपाधि का निराकरण होता है, अदृश्य उपाधि की शङ्का तो तर्क के द्वारा ही निरस्त होती है । अतः व्याप्ति सिद्ध हो जाती है ।

बौद्ध गण जो कहते हैं कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति इन दो सम्बन्धों के द्वारा ही साध्य और साधन की व्याप्ति सिद्ध होती है । जैसे - वृक्षत्व के साथ शिंशपात्व की व्याप्ति **'तादात्म्य'** और अग्नि के साथ धूम की व्याप्ति **'तदुत्पत्ति'** से निश्चत होती है । (श्री धर्मकीर्ति ने कहा है -**"स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य वस्तुतः तादात्म्यात् तदुत्पत्तेश्च" (न्या०बिं० पृ० ११३)** । 'अयं वृक्षः, शिंशपात्वात्'-यहाँ पर शीशम में वृक्षत्व की सिद्धि इस लिए हो जाती है कि शिंशपा भी एक वृक्ष-विशेष है, **सामान्य और विशेष में तादात्म्य या अभेद होता है, वस्तुतः दोनों में अभेद होने पर भी कल्पनारूढ भेद को लेकर, उनमें साध्य-साधनभाव माना जाता है** । 'अयमग्निमान् धूमवत्त्वात्' - यहाँ पर धूम से अग्नि की सिद्धि इसलिए होती है कि धूम अग्नि से उत्पन्न होता है, कार्य के द्वारा कारण की सिद्धि लोक-प्रसिद्ध है) ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह बौद्धों का कथन उचित नहीं, क्योंकि कृष्ण-जन्माष्टमी को रात में रोहिणी (२७ नक्षत्रों में चौथे) नक्षत्र के दर्शन की अभिलाषा के लिए कोई व्यक्ति आकाश में पूर्व क्षितिज पर आँखें लगाए खडा है । कृत्तिका (तीसरे नक्षत्र) का उदय होते ही अनुमान कर लेता है कि रोहिणी आसन्न है-'अयमाकाशभागः रोहिण्यासत्तिमान् कृत्तिकोदयवत्त्वात् ।' इस प्रकार कृत्तिकोदय और रोहिणी की आसत्ति में जो व्याप्ति है, वह न तो तादात्म्य से प्रयुक्त होती है और न तदुत्पत्ति से । उसमें कथित बौद्ध-लक्षण अव्याप्त हो जाता है । **परिशेषतः निरुपाधिकत्व के निश्चय से ही व्याप्ति की सिद्धि होती है। 'व्याप्ति', 'नियम', 'प्रतिबन्ध', 'अव्यभिचार', और 'अविनाभाव'-ये व्याप्ति के पर्याय हैं । 'व्याप्य', 'नियम्य', 'गमक', 'लिङ्ग', 'साधन' और 'हेतु'-ये लिङ्ग के पर्याय हैं** । लिङ्ग का दर्शन तीन बार होता है-पहला व्याप्ति-ग्रहण के समय लिङ्ग-दर्शन, जैसे-महानसादि में धूम-दर्शन, दूसरा पक्ष में लिङ्गदर्शन, जैसे पर्वत में धूमदर्शन, तीसरा स्मर्यमाण व्याप्ति विशिष्ट लिङ्गदर्शन जैसे व्याप्ति-स्मरण के अनन्तर तादृशो धूमोऽत्रास्ति'। यहीं तृतीय लिङ्ग-दर्शन व्याप्य-दर्शन अभिमत है, क्योंकि उसी के अनन्तर वह्नि की अनुमिति उत्पन्न होती है ।

भाष्यकार ने जो कहा है -"एकदेशदर्शनाद् एकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः" (शा०भा०पृ० ३६) । वहाँ पर 'असन्निकृष्ट' पद से क्या विवक्षित है ? इस प्रश्न का उत्तर है-'अज्ञात और अबाधित अर्थ', जैसा कि वार्तिककार ने कहा है-

असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम् । तादूप्येण परिच्छित्तिः तद्विपर्यतोऽपि वा ।। (श्लो० वा० पृ० ३६२)

(अर्थात् भाष्यस्थ 'असन्निकृष्ट' पद के द्वारा साध्य या साध्याभाव के निश्चय की व्यावृत्ति की जाती है) । क्योंकि यदि पर्वत में पहले से ही अग्न्यादि का निश्चय हैं, तब उसकी अनुमिति अनुवाद मात्र होकर रह जाती है, प्रमा नहीं कहला सकती और अग्न्यभाव का निश्चय होने पर अग्नि बाधित हो जाती है, अतः बाधितार्थविषयक होने के कारण वह्न्यनुमिति प्रमा नहीं हो सकती, अतः सत्त्वेन या असत्त्वेन उभयतः वह्नि-निश्चय की निवृत्ति करने के लिए अनधिगताबाधितार्थक 'असन्निकृष्ट' पद रखा गया है ।

शङ्का : चार्वाकों का जो कहना है कि, पर्वत में अग्निविशेष (पर्वतीय अग्नि) अनुमित्सित है, किन्तु उसके साथ महानसादि में धूम का सहचार निश्चित नहीं, क्योंकि वहाँ अग्नि सामान्य में ही धूम सामान्य की व्याप्ति गृहीत होती है। यदि अग्नि सामान्य को ही अनुमेय माना जाता है, तब उसका तो व्याप्ति-ग्रहण के समय ही निश्चय होने के कारण सिद्ध-साधन दोष हो जाता है, अतः 'असन्निकृष्ट' पद भी अयुक्त है, जैसे कि कहा गया है- **विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता । अनुमाभङ्गपङ्केऽस्मिन् निमग्ना वादिदन्तिनः ।।** (अर्थात् विशेष (पर्वतीय) अग्नि में धूम का अनुगम व्याप्ति-ग्रह नहीं है और सामान्य अग्नि की पहले से ही सिद्धि होने के कारण सिद्ध-साधनता दोष होता है, अतः इस अनुमान-भङ्गरूप कीचड में अनुमानवादी दिग्गज फँस कर रह गये हैं।)

समाधान : चार्वाकों का उक्त आक्षेप संगत नहीं, क्योंकि केवल 'वह्नित्व' और 'धूमत्व' जातियों का ही व्याप्तिग्रह नहीं होता, वैसा मानने पर 'वह्नित्वं धूमत्वेन सम्बद्धम्' ऐसा व्याप्ति-ग्रह होना चाहिए । वैसा व्याप्ति-ग्रह मानने पर धूमत्व को भी वह्नित्व जाति का सम्बन्धी होने से वह्नि मानना पडेगा । **अतः विशेष पदार्थों के द्वारा ही सामान्य पदार्थों की व्याप्ति सिद्ध होती है,** चिदानन्द पण्डित भी ऐसा ही कहते हैं - **"सामान्ययोर्विशेषोपधानेनैव व्याप्तेः"** (नीति० पृ० १३९) । अग्न्यादि में पर्वतीयत्वादि विशेषताओं का अनुगम सम्भव नहीं, अतः पर्वतीयत्वादि धर्मों से अनालिङ्गित (अविशेषित) वह्नि और धूम की व्याप्ति माननी होगी । फलतः पर्वतवृत्तितया दृष्ट धूम पर्वतीयत्वादि विशेषणानाक्रान्त वह्नि का ही पर्वत में अनुमापक होता है । यद्यपि पर्वतीयत्वादि धर्म-रहित अग्नि सामान्य का ग्रहण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याप्ति-ग्रहण काल में ही हो जाता है और वही अनुमेय भी है, तथापि 'इदानीं पर्वतेऽग्निरस्ति'-इस प्रकार देश और काल विशेष का भी अनुमान अभीष्ट होता है, वह पहले ज्ञात न होने के कारण सिद्ध-साध्यता दोष को कोई अवकाश नहीं मिलता । श्री पार्थसारथि मिश्र ने भी कहा है - **अवगतस्यापि सामान्यस्य देशान्तरकालान्तरसम्बन्धस्यागृहीतस्य ग्रहणादुपपन्नं प्रमेयत्वम्"** (शा.दी.पृ. ६३)।

व्याप्तिश्च पक्षधर्मत्वमनुमाङ्गं द्वयं विदुः । व्याप्त्या ह्युक्तप्रकारेण वह्निसामान्यवेदनम् ।।३३।।

धूमस्य शैलनिष्ठत्वरूपा या पक्षधर्मता । तया पर्वतसंबन्धो वह्नेरप्यवगम्यते ।।३४।।

अग्नेर्भावस्य भूयस्त्वात्तदभावोऽल्पतां व्रजेत् । धूमभावस्य चाल्पत्वात्तदभावो महत्तरः ।।३५।।

तं च कौमारिलाः प्रायो नेच्छन्ति व्यतिरेकिणम् । तत्स्थाने चाभिषिञ्चन्ति पञ्चमीं प्रमितिं पुनः ।।३६।।

व्याप्ति और पक्षधर्मता-दोनों ही अनुमान के अङ्ग माने जाते हैं, व्याप्ति के द्वारा उक्त रीति से वह्नि सामान्य का ज्ञान होता है । धूम में जो पर्वतवृत्तिता है, उसे ही पक्षधर्मता कहा जाता है, उसके द्वारा वह्नि में पर्वत का सम्बन्ध गृहीत होता है।

आचार्य प्रभाकर का जो कहना है कि - व्याप्ति-ग्रहण के समय ही धूमवान् देश में वह्निमत्त्व भी गृहीत हो जाता है, अतः पर्वत में धूमवत्त्वरूप अगृहीत अर्थ को विषय करने के कारण अनुमिति को प्रमा कहा जाता है (शालिकनाथ मिश्रने कहा है - **"नन्वेवं सम्बन्धनियमावसायसमय एव यावद्धूमादिभावितया अग्न्यादिसम्बन्धस्यावगमाद्, धूमादिसत्तानिश्चयादधिकं निश्चेतव्यं नावशिष्यते इत्यनुमानं न प्रमाणं स्यात् । सत्यं स्यादेतद् यद्यनधिगतार्थगन्तृत्वं भवेत् प्रमाण लक्षणम्"** (प्र.पं.पृ. २०५) ।

वह प्राभाकर मत संगत नहीं, क्योंकि उनका जो यह कहना है कि, पर्वत में धूमवत्त्व तो पहले ज्ञात नहीं था, अभी ही ज्ञात हुआ है । यदि धूमवत्त्व का ज्ञान पहले नहीं हुआ, तब धूमवत्त्वावच्छेदेन वह्निमत्त्व का ज्ञान पहले कैसे होगा, अतः धूमवान् देश में वह्निमत्त्व का ज्ञान पहले से है और धूमवत्त्व पहले से गृहीत न होकर अनुमिति के द्वारा गृहीत होता है-ऐसा कहना नितान्त व्याहत है । (चिदानन्द पण्डित ने इसी तथ्य का कुछ विशदरूप में स्पष्टीकरण किया है-**"ये पुनरनुमानस्य गृहीतग्राहित्वमाचक्षाणा धूमवतो वह्निमत्त्वस्य प्रागेव प्राप्तत्वाद् धूमवत्त्वमेव प्रमाणापेक्षमित्याहुः, तेषां सकलदेशकालव्यापितया धूमवत्त्वं प्रागप्राप्तम् ? प्राप्तं वा ? प्राप्तं चेत्, प्राप्तत्वादेव वह्निमत्त्ववत् तदपि न प्रमाणमपेक्षते। अथ न प्राप्तम्, तर्हि धूमवत्त्वप्राप्तिनिबन्धना वह्निमत्त्व प्राप्तिरपि नासीदिति कुतो गृहीत-ग्राहित्वम् ?"** (नीति. पृ. १४०) ।

इस प्रकार वह्न्यादि असन्निकृष्ट पदार्थों के ज्ञान में अनुमानत्व (अनुमितित्व) सिद्ध हो गया । अनुमिति के कारण को अनुमान कहा जाता है । पूर्वोक्त प्राकट्यरूप अनुमिति का करण होने से ज्ञान अनुमान और वह्न्यादिविषयक ज्ञानरूप अनुमिति का करण होने के कारण धूमादि को अनुमान कहा जाता है ।

प्रदर्शित अनुमान के तीन भेद होते हैं-(१) अन्वयव्यतिरेकी, (२) केवलान्वयी, (३) केवलव्यतिरेकी । **इस भेद का कारण यह है कि व्याप्ति दो प्रकार की होती है**-(१) अन्वय व्याप्ति और (२) व्यतिरेक व्याप्ति । साधन का सद्भाव होने पर साध्य का सद्भाव **अन्वय व्याप्ति** और साध्य का अभाव होने पर साधन का अभाव **व्यतिरेक व्याप्ति** कहलाता है। व्यतिरेको (अभावों) का व्याप्य-व्यापकभाव अन्वय से विपरीत होता है, जैसे वह्नि व्यापक और धूम व्याप्य होता है किन्तु वह्न्यभाव व्याप्य और धूमाभाव व्यापक हो जाता है । इसका कारण यह है कि अधिक देश में रहनेवाले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को व्यापक और अल्पदेश में रहनेवाले को व्याप्य कहते हैं । अग्निरूप भाव पदार्थ धूम की अपेक्षा अयःपिण्डादि अधिक देश में रहने के कारण व्यापक और उसका अभाव अल्प देश में रहता है, अतः व्याप्य हो जाता है । धूमरूप भाव पदार्थ वह्नि की अपेक्षा अल्प देश में रहने के कारण व्याप्य और उसका अभाव अधिक देश में रह जाने के कारण व्यापक हो जाता है ।।३५।।

इस प्रकार का वैपरीत्य वार्तिककार ने भी दिखाया है - **"व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते । तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते ।।" (श्लो.वा.पृ. ३८५)**

(१) जिस अनुमान में उभयविध व्याप्ति सुलभ होती है, उसे **अन्वय-व्यतिरेकी** कहते हैं, जैसे-धूम से अग्नि का अनुमान । धूम का अग्नि के साथ अन्वय महानसादि में और अग्नि का अभाव होने पर धूम का अभाव महाह्रदादि में देखा जाता है । (२) जिस अनुमान में केवल अन्वय व्याप्ति होती है, वह **केवलान्वयी** है, जैसे **"ज्ञानं ज्ञानान्तरप्रकाश्यम्, वस्तुत्वाद्, घटवत्"**- इत्यादि । यहाँ पर ज्ञान-प्रकाश्यत्व का अभाव होने पर कहीं पर भी वस्तुत्वाभाव नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि सभी पदार्थ ज्ञान-प्रकाश्य होते हैं, अतः यहाँ व्यतिरेकव्याप्ति का अभाव है । (३) जिस अनुमान में व्यतिरेक व्याप्ति ही होती हैं, उसे **केवल व्यतिरेकी** कहते हैं, जैसे-**सर्वं ज्ञानं स्वप्रकाशम्, ज्ञानत्वात्** । यहाँ पर केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही है-'यस्य स्वप्रकाशत्वं नास्ति, तस्य ज्ञानत्वमपि नास्ति, यथा घटस्य ।' यहाँ पर 'यस्य स्वप्रकाशत्वम्, तस्य ज्ञानत्वम्'-इस प्रकार की अन्वय व्याप्ति कहीं भी नहीं दिखाई जा सकती । इस प्रकार का व्यतिरेकी हेतु अवीत हेतु भी कहा जाता है । **उनमें व्यतिरेकी अनुमान को भाट्टगण नहीं मानते, उसके स्थान पर अर्थापत्ति नाम के पञ्चम प्रमाण को अभिषिक्त करते हैं ।**

क्वचित्प्रसिद्धमन्यत्र साध्यते ह्यनुमानतः । स्वप्रकाशत्वधर्मो हि सिद्धो नान्यत्र कुत्रचित् ।।३७।।
तेन तत्साधने पक्षो ह्यप्रसिद्धविशेषणः । एवं च दुष्टपक्षोऽयं व्यतिरेकी निवार्यताम् ।।३८।।
यच्चानुकूलतर्के सत्यप्रसिद्धविशेषणः । न दोष इति भाषन्ते तार्किकास्तदसङ्गतम् ।।३९।।
तर्को हि नाप्रसिद्धार्थं क्वचित्साधयितुं क्षमः । अतोऽप्रसिद्धतादोषस्तर्के सत्यपि दुस्त्यजः ।।४०।।
अत एव चिदानन्दः केवलव्यतिरेकिणम् । नैव साक्षान्निराचक्रे नापि साक्षादुपाददे ।।४१।।
तस्मात्सामान्यतः सिद्धिहीनाश्चेद्व्यतिरेकिणः । सर्वथा वारणीया इत्येतत्तावद्व्यवस्थितम् ।।४२।।
इह च स्वप्रकाशत्वे नास्ति सामान्यतोऽनुमा । वस्तुत्वादेर्हि धर्मस्य नात्यन्तं नास्तिता क्वचित् ।।४३।।
पक्षमात्रस्थितं सिध्येत्पक्षमात्रस्थहेतुना । अन्यत्र स्थितमाक्रष्टुं तद्गतस्यैव पाटवम् ।।४४।।
दृष्टैकव्यक्तिविषयं दृष्टमिष्टं हि मादृशाम् । कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यनुमितिर्यथा ।।४५।।
एवं सामान्यतो व्याप्तिदृष्ट्या यत्रानुमीयते । तद्धि सामान्यतो दृष्टं यथा वह्न्यनुमादिकम् ।।४६।।

यह एक साधारण नियम है कि, कहीं प्रसिद्ध साध्य की अनुमान के द्वारा अन्यत्र सिद्धि की जाती है । 'ज्ञानं स्वप्रकाशम्'-यहाँ पर 'स्वप्रकाशत्व' धर्म अन्यत्र कहीं भी प्रसिद्ध नहीं, अतः स्वप्रकाशत्व की सिद्धि करने पर पक्ष में 'अप्रसिद्धविशेषणता' दोष है, अत एव दुष्टपक्षक व्यतिरेकी अनुमान उपेक्षणीय है । यह जो तार्किक लोग कहा करते हैं कि अनुकूल तर्क के रहने पर अप्रसिद्ध विशेषणता दोष नहीं माना जाता, जैसा कि श्री गङ्गेशोपाध्याय ने कहा है - **"अत एव यावदेवानुकूलतर्को नावतरति, तावदेव दशाविशेषेऽसाधारण्यं दोष इत्युक्तम्" केवल व्यतिरेकी पृ० १४२८)।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि तर्क भी अत्यन्ताप्रसिद्ध अर्थ को सिद्ध कर देने में कभी सक्षम नहीं होता, अतः अनुकूल तर्क के रहने पर भी व्यतिरेकी अनुमान के साध्याप्रसिद्धि या अप्रसिद्ध विशेषणता दोष का परिहार नहीं किया जा सकता।

शङ्का : जैसे केवलान्वयी प्रकरण में **श्री गङ्गेशोपाध्याय ने अभिधेयत्वादि केवलान्वयी धर्मों के अभाव की प्रसिद्धि में** सन्देह उठाया है–**"अभिधेयत्वं कुतोऽपि व्यावृत्तम्, धर्मत्वाद्, गोत्ववत्"** (केवलान्वयी पृ० १३४७), वैसे ही **श्री चित्सुखाचार्य ने वेद्यत्वाभावात्मक स्वप्रकाशत्व की प्रसिद्धि–"वेद्यत्वं किञ्चित्रिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वात्, शौक्ल्यवत्"**–इस सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा करते हुए कहा है – **सामान्यतोऽनुमानेन प्रसिद्धोऽपि विशेषणे । कथय कथं पक्षोऽयमप्रसिद्धविशेषणः ।। (त० प्र० पृ० २१)** अर्थात् **'अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा, अनुभूतित्वाद्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा घटः'**–इस अनुमान में अप्रसिद्धि विशेषणतारूप पक्ष-दोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उक्त सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा साध्य की सामान्यतः प्रसिद्धि हो जाती है और प्रसिद्ध-स्थल की विशेषतः जिज्ञासा होने पर अनुभूति में स्वप्रकाशत्व-साधक उक्त केवल व्यतिरेकी अनुमान का प्रयोग किया जाता है ।

सामाधान : कथित सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा खपुष्पादि अत्यन्त अयोग्य और अप्रसिद्ध पदार्थों की सिद्धि नहीं की जा सकती, अपितु योग्य वस्तु की ही सिद्धि सम्भावित है, अत एव चिदानन्द पण्डितादि विद्वानों ने अपने (नीतितत्त्वविभाव) ग्रन्थ में केवल व्यतिरेकी का न तो साक्षात् निराकरण किया है और न उसे स्वीकार किया है, इसलिए ऐसी व्यवस्था करनी उचित है कि जिन केवलव्यतिरेकी अनुमानों की साध्य-प्रसिद्धि कथमपि नहीं की जा सकती, वे अवश्य निराकरणीय हैं, जैसे कि **'अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा, वस्तुत्वात्'** ऐसे अनुमानों में वस्तुत्वादि धर्मों का नास्तित्व (अभाव) कहीं भी प्रसिद्ध नहीं किया जा सकता, अतः ज्ञान में स्वप्रकाशत्व सिद्ध नहीं हो सकता ।

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान के हेतु में पाँच रूप (धर्म) होते हैं– (१) पक्षवृत्तित्व, (२) सपक्षवृत्तित्व, (३) विपक्षावृत्तित्व, (४) अबाधितविषयत्व और (५) असत्प्रतिपक्षत्व । (श्री वरदराज भी कहते हैं–**"रूपाणि च पक्षधर्मत्वम्, सपक्षसत्त्वम्, विपक्षाद् व्यावृत्तिः, अबाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिपक्षत्वम्"** (ता. र० पृ० १७८) । अग्न्यादि साध्य की अनुमित्सा जहाँ होती है, ऐसे पर्वतादि धर्मी पक्ष कहलाते हैं, उनकी धूमादि हेतुओं में आधेयता या वृत्तिता ही **पक्षवृत्तित्व** है । साध्य की सत्ता जहाँ निश्चित होती है, ऐसे महानसादि सपक्ष कहे जाते हैं, उनमें हेतु की वर्तमानता ही **सपक्षवृत्तित्व** है । साध्याभाव जहाँ निश्चित होता है, ऐसे महाह्रदादि विपक्ष कहे जानेवाले पदार्थों में हेतु की अवर्तमानता **विपक्षावृत्तित्व** है । जिस हेतु का साध्यरूप विषय अबाधित होता है, उसमें **अबाधितविषयकत्व** रहता है। हेतु-सम्बन्धी साध्य के विपरीत अर्थ के साधक हेतु को प्रतिहेतु या सत्प्रतिपक्ष कहते हैं, उसका अभाव ही **असत्प्रतिपक्षत्व** है । (तार्किकरक्षाकार (ता० र० पृ० ७६) ने भी पक्षादि के ऐसे ही लक्षण किए हैं– **पक्षः साध्यान्वितो धर्मी, साध्यजातीयधर्मवान् । सपक्षोऽथ विपक्षस्तु साध्यधर्मनिवृत्तिमान् ।।** केवलान्वयी में विपक्षावृत्तित्व धर्म नहीं रहता, क्योंकि उसका कोई विपक्ष नहीं होता, अतः उसमें चार ही रूप रहते हैं । केवलव्यतिरेकी में सपक्षवृत्तित्व नहीं रहता, क्योंकि उसका कोई सपक्ष नहीं होता । यदि सपक्ष के होने पर भी हेतु उसमें न रह कर केवल पक्ष में रहता है, तब वह सद्धेतु न होकर 'असाधारण' नाम का हेत्वाभास हो जायगा, जैसे–'पृथिवी नित्या, गन्धवत्त्वात्' । यहाँ पर नित्यत्वेनाभिमत आकाशादिरूप सपक्ष के रहने पर भी गन्धवत्त्व हेतु उसमें नहीं रहता, अतः 'असति सपक्षे पक्षमात्रवृत्तिः केवलव्यतिरेकी'--ऐसा लक्षण तार्किकगण किया करते हैं (श्री वरदराज कहते हैं–**"सपक्षे सति चाभासः स्यादसाधारणस्त्वसौ। सपक्षे सति तत्रावर्तमानः पक्षमात्रवर्ती हेतुरसाधारणानैकान्तिको नाभासः स्यात्, यथा भूर्नित्या गन्धवत्त्वादिति। अत्र हि गगनादिषु सपक्षेषु सत्स्वपि तत्रावर्तमानं पक्षभूतभूमिमात्रवर्ति गन्धवत्त्वमाभासो भवति, अविद्यमानसपक्षः केवलव्यतिरेकीत्युक्तमेवेति भावः"** (ता. र. पृ. ९८) ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पक्षमात्रवृत्ति हेतु के द्वारा साध्य की पक्षमात्र में स्थिति सिद्ध होती है, जब कि अन्यत्र स्थित पदार्थ को पक्ष में सिद्ध करना हेतु की योग्यता मानी जाती है । फलतः सपक्ष में सत्त्व न होने के कारण केवल व्यतिरेकी भी शेष चार रूपों से युक्त होता है । अतः अनुमान के केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी नाम के तीन या केवलान्वयी और अन्वयव्यतिरेकी नाम के दो भेद सिद्ध हो गये ।

वही अनुमान प्रकारान्तर से दो प्रकार का होता है–(१) दृष्टम्, (२) सामान्यतो दृष्टम् । इनमें दृष्टैकव्यक्ति विषयक अनुमान को हमलोग **दृष्ट** कहते हैं, जैसे कि कृत्तिका नक्षत्र के उदय को देखकर रोहिणी नक्षत्र की आसत्ति अनुमित होती है। (श्री चिदानन्द पण्डित भी कहते हैं-**"तत्तु द्विविधम्–दृष्टं सामान्यतो दृष्टं चेति । तत्र दृष्टैकविषयं दृष्टम्, यथा स्वरेण पुत्रानुमानम्"** (नीति. पृ. १४०) । अर्थात् हेतु विशेष से साध्यविशेष की सिद्धि जिस अनुमान में की जाती है, उसे दृष्ट या विशेषतो दृष्ट कहा जाता है, जैसे पुत्र का स्वर वह विशेष हेतु है, जो कि अन्य पुरुष में नहीं होता या कृतिका का उदय ही वह विशेष हेतु है, जिसके पश्चात् रोहिणी का उदय होता है ।) जहाँ पर सामान्य हेतु के द्वारा सामान्य साध्य की सिद्धि होती है, उसे **सामान्यतो दृष्ट** कहते हैं, जैसे धूम सामान्य से अग्नि सामान्य की अनुमिति ।।४६।।

व्याप्त्येकशरणं तावदनुमानमिति स्थितम् । तद्व्याप्तिदर्शितान्मार्गाज्ज्वलितं क्षमते कुतः ।।४७।।

ततश्च व्याप्तिविज्ञाने यादृशं वस्तु विद्यते । तादृगेवानुमातव्यं यथोष्णो भास्वरोऽनलः ।।४८।।

न चातीन्द्रियवस्तूनां प्राग्दृष्टाकारयोगिता । दृश्यत्वं तेजसां दृष्टं चक्षुषस्तदसंभवात् ।।४९।।

अत एवं हि सर्वत्राप्यत्यन्तादृष्टसाधने । विशेषबाधकं नाम दोषं घोषयितास्महे ।।५०।।

तस्मादूपादिसंदर्शनान्यथानुपपत्तितः । चक्षुराद्याः प्रसाध्यन्ते न तेष्वनुमितिर्मता ।।५१।।

तार्किकगण जो प्रत्यक्ष-योग्य अग्न्यादिविषयक अनुमान को दृष्ट और चक्षुरादि अतीन्द्रिय पदार्थ विषयक अनुमान को सामान्यतो दृष्ट कहते हैं, जैसा कि भाष्यकार ने अनुवादरूप में कहा है - **तत्तु द्विविधं प्रत्यक्षतो दृष्ट सम्बन्धं सामान्यतोदृष्ट सम्बन्धं च । प्रत्यक्षतो दृष्ट सम्बन्धं यथा धूमाकृतिदर्शनाद् अग्न्याकृतिविज्ञानम् । सामान्यतो दृष्ट सम्बन्धं यथा देवदत्तस्य गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यादित्यगतिस्मरणम्"** (शा.भा.पृ. ३६-३७)

तार्किकों का वह कहना अयुक्त है, क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थों का अनुमान नहीं किया जा सकता, **चक्षुरादि पदार्थों की सिद्धि अर्थापत्ति से ही होती है, अनुमान से नहीं, क्योंकि अनुमान का एक मात्र सहारा है**–व्याप्ति, व्याप्ति के विषय में कहा जा चुका है कि व्याप्य और व्यापक पदार्थों का सामान्यतः या विशेषतः भूयोदर्शन से व्याप्ति साध्य होती है, जैसा कि वार्तिककार ने (श्लो. वा. पृ. ३५० पर) कहा है- **भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिः सामान्यधर्मयोः । ज्ञायते भेदहानेन क्वचिच्चापि विशेषयोः ।। कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यासत्तिक्लृप्तिवत्** । अतीन्द्रिय पदार्थों का तो कभी भी दर्शन नहीं होता, अतः अनुमान अपने ही ऐन्द्रियक स्थल पर अटल है, अतीन्द्रिय स्थल पर उसके चलने की क्षमता नहीं । अतः व्याप्ति-ज्ञान में जैसी वस्तु अवभासित होती है, वैसी ही अनुमान से गृहीत हो सकती है, जैसे-अग्नि उष्ण और भास्वर (प्रकाशक) है । अग्न्यादि प्रत्यक्ष-दृष्ट पदार्थों का भूयोदर्शन और आकारानुगम-योगिता जैसी होती, वैसी चक्षुरादि अतीन्द्रिय पदार्थों में सम्भव नहीं । अत एव सर्वत्रादृष्ट साधन में विशेषबाधक नाम का दोष घोषित किया जाता है । अतः रूपादिविषयक ज्ञान की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति के द्वारा चक्षुरादि की सिद्धि होती है, किसी हेतु के द्वारा उनकी अनुमिति नहीं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदा पुनः स एवार्थः परवाक्येन बोध्यते । तदा परार्थमित्याहुस्तयोरेतावती भिदा ।।५२।।

प्रतिज्ञया निगमनं हेतुनोपनयस्तथा । गतार्थ इति कः कुर्यात्पञ्चावयवधोषणम् ।।५३।।

तस्मात् त्र्यवयवं ब्रूमः पौनरुक्त्यासहा वयम् । उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम् ।।५४।।

तदेवं पौनरुक्त्येन तथाध्याहारदोषतः । तर्कबौद्धमते हित्वा वयं त्र्यवयवे स्थिताः ।।५५।।

अथ प्रतिज्ञाहेत्वोश्च दृष्टान्तस्य च दूषणम् । क्रमेण कथ्यतेऽस्माभिर्यद्वेद्यं वादिनां पुरः ।।५६।।

यावज्जीवमहं मौनीत्युक्तो हि स्वोक्तिबाधनम् । नेन्दुश्चन्द्रगिरा वाच्य इति लोकविरुद्धता ।।५७।।

शब्दादेः प्रागनित्यत्वमुक्तं येनैव तेन तु । नित्यत्वे पुनरुक्ते स्यात्पूर्वसंजल्पबाधनम् ।।५८।।

हेतोर्व्याप्तिमतः पक्षसंबन्धित्वेन वेदनम् । सिद्धिरित्युच्यते हेतुसंपूर्तिस्तावतैव हि ।।५९।।

तेषामेकतमांशस्याप्यभावे स्यादसिद्धता । हेतोर्व्याप्तेश्च पक्षस्य संबन्धस्य ग्रहस्य च ।।६०।।

स च बाधक इत्येवं वार्तिके व्यपदिश्यते । द्विधा चासौ स्वरूपस्य विशेषस्य च बाधनात् ।।६१।।

अशरीरित्वबाधे च कर्तृमत्तापि बाध्यते । प्रत्यक्षात्सशरीरत्वविशेषे बाधिते सति ।।६२।।

अशरीरित्वमादाय स्थास्यामीति कृतोद्यमा । कर्तृमत्ता हि तस्यापि बाधे नश्येन्निराश्रया ।।६३।।

इत्थं साध्यनिरोधित्वादेष दूषणमेव नः । तमीदृशमजानद्भ्यस्तार्किकेभ्योऽयमञ्जलिः ।।६४।।

कथित अनुमान दो प्रकार का कहा जाता है–(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान । जहाँ पर कोई व्यक्ति स्वयं धूमादि को देख कर व्याप्त्यादि का स्मरण करता है और अग्न्यादि का अनुमान करता है, उस अनुमान को **स्वार्थानुमान** कहते है और जब उसी पदार्थ का बोध प्रतिज्ञादि वाक्यों की सहायता से दूसरे को कराता है, तब उसको **परार्थानुमान** कहते हैं–यह उक्त दोनों अनुमानों का अन्तर है ।।५२।। (श्री पार्थसारथि मिश्र भी कहते हैं–**"यस्तु प्रतिपन्नमर्थं परमनुमानेन प्रतिपिपादयिषति, तेन साधनं प्रयोक्तव्यम्, येन वाक्येन यस्यानुमानबुद्धिरुत्पद्यते, तत्साधनमित्युच्यते"** (शा.दी.पृ. ६४) आचार्य धर्मकीर्ति ने भी वैसा ही कहा है, किन्तु उनके व्याख्याकार श्री धर्मोत्तर का वक्तव्य नितान्त स्पष्ट है–**"परार्थानुमानं शब्दात्मकम्, स्वार्थानुमानं तु ज्ञानात्मकम् । स्वस्मायिदं स्वार्थम्– येन स्वयं प्रतिपद्यते, तत्स्वार्थम्, येन परं प्रतिपादयति, तत् परार्थम्"** (धर्मोत्तर० पृ० ८८) । जिस धूम-दर्शन के द्वारा स्वयं पुरुष पर्वत में अग्नि का ज्ञान करता है, वह धूम-दर्शन **स्वार्थानुमान** और जिन प्रतिज्ञादि वाक्यों की सहायता से दूसरे पुरुष को पर्वत में अग्नि का बोध कराया जाता है, उन खण्ड वाक्यों या उनके संकलित कलेवर (महावाक्य) को **परार्थानुमान** कहा जाता है) । **परार्थानुमानभूत महावाक्य के अवयवभूत खण्ड वाक्यों की संख्या में विवाद है,** जैसा कि पार्थसारथि मिश्र (शा० दी० पृ० ६४ पर) कहते हैं– **तच्च पञ्चतयं केचिद् द्वयमन्ये वयं त्रयम् । उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम् ।।**

तार्किकगण जो पाँच अवयव मानते हैं-(१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) उपनय और (५) निगमन । जैसे-(१) अयं पर्वतोऽग्निमान्, (२) धूमवत्त्वात्, (३) यो यो धूमवान्, स सोऽग्निमान्, यथा महानसः, (४) धूमवांश्चायम्, (५) तस्मादग्निमान् । यहाँ पर दूसरे व्यक्ति को बोध कराने के लिए प्रयुक्त पक्षवचन को **प्रतिज्ञा** कहते हैं, जैसे- पर्वतोऽग्निमान् । साधनत्वावेदक लिङ्ग-वचन को **हेतु** कहा जाता है, जैसे धूमवत्त्वात् । व्याप्ति-प्रदर्शनपूर्वक दृष्टान्ताभिधान को **उदाहरण** कहते हैं, जैसे-यो यो धूमवान्, स सोऽग्निमान्, यथा महानसः । निश्चितव्याप्तिक हेतु का पक्ष में प्रदर्शन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपनय कहलाता है, जैसे-धूमवांश्चायम् । सहेतुक पक्ष का पुनवर्चन **निगमन** कहा जाता है, जैसे-तस्मादग्निमान् । **तार्किकों का वह कहना उचित नहीं है,** क्योंकि प्रतिज्ञा के द्वारा निगमन और हेतु के द्वारा उपनय गतार्थ हो जाता है, अतः पाँच अवयवों की घोषणा सम्भव नहीं । अतः हम (भाट्टगण) पुनरुक्ति को सहन न कर तीन ही अवयव मानते हैं--प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय और निगमन । (महर्षि अक्षपाद ने पाँच अवयव माने हैं-**"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः"** (न्या०सू०१/१/३२) । न्यायभाष्यकार ने **दश अवयववाद** की भी चर्चा की है-**"दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते**-(१) जिज्ञासा, (२) संशय, (३) शक्यप्राप्ति, (४) प्रयोजन, (५) संशयव्युदास" (न्या०भा०१/१/३) इनके साथ प्रतिज्ञादि को मिला देने पर **दस अवयव** हो जाते हैं । युक्तिदीपिकाकार ने दस अवयवों की सुन्दर व्यवस्था की है-**"तस्य पुनरवयवाः जिज्ञासासंशयप्रयोजनशक्यप्राप्तिसंशयव्युदासाश्च व्याख्याङ्गम्, प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपसंहारनिगमनानि परप्रतिपादनाङ्गम्"** (युक्ति० १/२/६) । वैशेषिक भाष्यकार भी पञ्चावयववादी हैं-**"प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः"** (प्र० भा० पृ० ११४) किन्तु क्रान्तिकारी वैशेषिकप्रवर श्री वादिवागीश्वर ने उनमें पुनरुक्ति देखकर केवल दो अवयवों की स्थापना की है-**"वयं तत्र ब्रुध्यामहे, साधनानुपयुक्तवचनस्याधिकत्वात्। प्रतिवादिना हि साधनजिज्ञासा कृता-'किं प्रमाणमिति' । तत्र यावदङ्गविशिष्टं साधनम्, तावद् वक्तव्यम् । अङ्गे च द्वे एव-व्याप्तिपक्षधर्मत्वे, न हि ततोऽधिकं प्रवृत्त्यङ्गम्" (म० म० पृ० ८५)।**

बौद्ध ग्रन्थकार जो कहते हैं कि --यो धूमवान् सोऽग्निमान्, यथा महानसः, धूमवांश्चायम्-इन केवल दो अवयवों के प्रयोग मात्र से 'तस्मादग्निमान्'-यह अनुमिति पर्यवसित हो जाती है, अतः उदाहरण और उपनय नाम के दो अवयव ही पर्याप्त हैं (आचार्य दिङ्नाग ने कहा है-**"पक्षहेतुदृष्टान्तवचनै हिं प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते"** (न्या० प्र० पृ० १) । इस पर श्री पार्श्वदेव ने स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है-**सौगतमते तु न पञ्चावयवमपीष्यते किन्तु तन्मते हेतुपुरःसर एव प्रयोगः क्रियते, ततो हेतुदृष्टान्तयोरेव साधनावयवत्वं न पक्षस्य । न साधनावयवत्वादस्य लक्षणमुच्ये किन्तु शिष्यस्य सम्यक्त्वलक्षणपरिज्ञानार्थम्" (न्या० प्र० बृ० पं० पृ० ४२) ।**

बौद्धों का वह कथन भी अधूरा है, क्योंकि प्रतिज्ञा या निगमन के बिना पक्ष में साध्य का ज्ञान कैसे होगा ? उसका अध्याहार करना होगा, अतः इस अध्याहार-प्रसङ्ग दोष के कारण बौद्ध-मत भी ग्राह्य नहीं हो सकता ।

निष्कर्ष यह है कि, पञ्चावयववाद में पुनरुक्ति और केवल दो अवयवों को मानने में साध्य का अध्याहार-प्रसङ्ग दोष होता है, अतः तार्किक और बौद्ध-इन दोनों के मतों का त्याग करके हम (भाट्टगण) तीन अवयव मानते हैं-(१) उदाहरण-पर्यन्त या (२) उदाहरणादि । उनमें (१) उदाहरण-पर्यन्त हैं-'पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्त्वाद्, यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा-महानसः' । (२) उदाहरणादि इस प्रकार हैं-'यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा-महानसः, धूमवांश्चायम्, तस्मादग्निमान् ।' **अब प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त के दोष क्रमशः कहे जाते हैं, जिनका ज्ञान वादिगणों के लिए आवश्यक है ।**

(१) प्रतिज्ञाभास- दूसरे व्यक्ति को बोध कराने के लिए प्रयुक्त पक्षवचन को **प्रतिज्ञा** कहा गया है । जिज्ञासित धर्म-विशिष्ट धर्मी को **पक्ष** कहते हैं, अतः धर्मी में साध्य या साध्याभाव का पहले से निश्चय होने पर अथवा साध्य के अन्यत्र अप्रसिद्ध होने पर न तो साध्य जिज्ञासित होता है और न उससे विशिष्ट धर्मी को पक्ष कह सकते हैं, **इस प्रकार सिद्ध विशेषणक, बाधित विशेषणक और अप्रसिद्ध विशेषणक पक्ष पक्षाभास कहे जाते हैं और उनके बोधक प्रतिज्ञा**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वाक्यों को प्रतिज्ञाभास कहते हैं । जैसे **'वह्निरुष्णः'**-यह सिद्धविशेषणक, **'वह्निरनुष्णः'**-यह बाधितविशेषणक और **'क्षित्यादिकं सर्वज्ञकर्तृकम्'**-यह अप्रसिद्ध विशेषणक है, क्योंकि किसी भी घटादि कार्य में सर्वज्ञकर्तृकत्व प्रसिद्ध नहीं, वार्तिककार का (श्लो० वा० पृ० ८१ पर) स्पष्ट उद्घोष है- **सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः । निराकरणवच्छक्या न चासीदिति कल्पना** । साध्य का बाध प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों से होता है, अतः बाधक के भेद से बाधित विषयकत्व के अवान्तर छः भेद हो जाते हैं, जैसे प्रत्यक्षबाध कहा जा चुका है-'वह्निरनुष्णः' । **एक अनुमान से जब दूसरा अनुमान प्रबल हो जाता है, तब अनुमान से दूसरे साध्य का बाध होता है,** जैसे- 'मनोऽनिन्द्रियम् अभूतात्मकत्वाद्, दिगादिवत्' - इस अनुमान का साध्य उस अनुमान के द्वारा बाधित होता है, जो कि इन्द्रियत्व हेतु के द्वारा मन की सिद्धि करता है । **इसी प्रकार शीघ्रगामी अनुमानों के द्वारा सर्वत्र मन्थरगामी अनुमानों का बाध होता है** ।

शब्द प्रमाण से भी बाध होता है, जैसे कि **'यागादयः स्वर्गसाधनं न भवन्ति, क्रियात्वाद्, गमनवत्'**-यहाँ पर "स्वर्गकामो यजेत"-इत्यादि वाक्यों के द्वारा यागादि में स्वर्ग-साधनता का बोध कराया जाता है, अतः स्वर्ग-साधनत्वाभावरूप साध्य का शब्द प्रमाण से बाध हो जाता है । अथवा जैसे **'नरास्थि, स्पृश्यम्, प्राण्यङ्गत्वात्, शङ्खवत्'**-यहाँ पर **"नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति"** (मनु० ५।७) इत्यादि आगमों के द्वारा नर-कपाल में अशुचित्व बोधित होता है, अतः यह आगम उक्त शुचित्वानुमान का बाधक है ।

'गौर्गवयसदृशो न भवति, प्राणित्वात्, पुरुषवत्'-इत्यादि स्थलों पर **उपमान प्रमाण से बाध होता है,** क्योंकि वह गौ में गवय-सादृश्य का साधक माना जाता है । **'देवदत्तो बहिर्नास्ति, तत्रादृश्यमानत्वात्'** - यहाँ **अर्थापत्ति** से बहिर्नास्तित्वरूप साध्य का बाध होता है । **'वायुः रूपवान्, द्रव्यत्वात्, पृथिवीवत्'** - यहाँ पर **अनुपलब्धि प्रमाण** के द्वारा वायुगत रूपवत्ता का बाध होता है । कथित दोषों से अतिरिक्त प्रतिज्ञा के अन्य दोष भी हैं, जैसे-**'यावज्जीवमहं मौनी'**-यहाँ **स्व-वचन-विरोध** और **'इन्दुः चन्द्रपदप्रतिपाद्यो न भवति'**-यहाँ **परलोकविरोध** है । जिस व्यक्ति ने पहले शब्द में अनित्यत्व कहा है, वही व्यक्ति यदि अब शब्द में नित्यत्व कहता है, तब **पूर्व वचन का विरोध होता है** (**'आचार्य दिङ्नाग ने सब मिला कर पक्षाभास के नौ भेद किये हैं**-(१) प्रत्यक्षविरुद्धः, (२) अनुमानविरुद्धः, (३) आगमविरुद्धः, (४) लोकविरुद्धः, (५) स्ववचनविरुद्धः, (६) अप्रसिद्धविशेषणः, (७) अप्रसिद्धविशेष्यः, (८) अप्रसिद्धोभयः, (९) प्रसिद्धसम्बन्धश्च" (न्या० प्र० पृ० २) । **चिदानन्द पण्डित ने केवल इतना ही कहा है**- "सिद्धविशेषणः, बाधितविशेषणः, अप्रसिद्धविशेषणः पक्षाभासा एवेति तदावेदकं वचनमपि प्रतिज्ञाभास एव" (नीति०पृ० ४१) । वार्तिककार ने तो विस्तारपूर्वक प्रतिज्ञाभासों का निरूपण (श्लो० वा० पृ० ३६५ से) किया है- **अग्राह्यता तु शब्दादेः प्रत्यक्षेण विरुध्यते । तेषामश्रावणत्वादि विरुद्धमनुमानतः ।। नहि श्रावणता नाम प्रत्यक्षेणावगम्यते। साऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां गम्यते बधिरादिषु ।। त्रिधा शब्दविरोधः स्यात् प्रतिज्ञादिविभागतः । प्रतिज्ञापूर्वसङ्कल्प--सर्वलोकप्रसिद्धितः ।। इत्यादि ।।**

(२) हेत्वाभास-- चिदानन्द पण्डित के अनुसार ही व्याप्त साधन धर्म को हेतु कहा जाता है, उसके (१) असिद्ध, (२) विरुद्ध, (३) अनैकान्तिक और (४) असाधारण नाम के चार हेत्वाभास होते हैं । उनका क्रमशः निरूपण किया जाता है-

(१) असिद्ध-हेतु की सिद्धि (क्षमता) का अभाव असिद्धि कहलाता है, **व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष-वृत्तित्वेन ज्ञान ही सिद्धि पदार्थ है, क्योंकि उक्त तीनों (व्याप्ति, पक्षधर्मता और ज्ञानरूप) धर्मों के होने पर हेतु की सम्पूर्ति मानी जाती है । उन अंशों में से किसी एक अंश का भी अभाव होने पर असिद्धि दोष होता है,** अतः व्याप्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के अभाव में हेतु को **व्याप्यत्वासिद्ध,** पक्षधर्मता के न होने पर **सम्बन्धासिद्ध** और ज्ञान के न होने पर **स्वरूपासिद्ध** कहलाता है । **स्वरूपासिद्ध का अर्थ है**-अत्यन्त अप्रसिद्ध, जैसे-**'बुद्धो मोहरहितः, सर्वज्ञत्वात्'**-यहाँ सर्वज्ञत्व हेतु हमारे मतानुसार अत्यन्त अज्ञात और अप्रसिद्ध है । इसी के दो भेद होते हैं-(१) विशेषणासिद्ध और (२) विशेष्यासिद्ध। **(१) 'बुद्धो धर्मोपदेष्टा, सर्वज्ञत्वे सति शरीरित्वात्'**-यहाँ पर हेतु का सर्वज्ञत्वरूप विशेषण असिद्ध है और **(२) 'बुद्धो धर्मोपदेष्टा, शरीरित्वे सति सर्वज्ञत्वात्'**-यहाँ पर हेतु का विशेष्य (सर्वज्ञत्व) अंश असिद्ध है ।

व्याप्ति का अभाव होने पर **व्याप्यत्वासिद्धि** होती है, जैसे-**'क्रतुहिंसा अधर्मः, हिंसात्वात्**-यहाँ हेतु में सोपाधिकत्व होने के कारण व्याप्यत्वासिद्धि है । पक्ष का न होना ही हेतु की **आश्रयासिद्धि** है, जैसे-**'गगनकुसुमं सुरभि, कुसुमत्वात्, चम्पकवत्'**-यहाँ पर गगनकुसुमरूप पक्ष का अत्यन्त अभाव है ।

जिस हेतु में पक्ष का सम्बन्ध या वृत्तित्व न हो, उसे **सम्बन्धासिद्ध** कहते हैं, जैसे-**शब्दोऽनित्यः, चाक्षुषत्वात्** । यहाँ चाक्षुषत्व का शब्दरूप पक्ष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है अतः यह **सम्बन्धासिद्ध** है । जिस हेतु का पक्ष के एक भाग से सम्बन्ध नहीं होता, उसे **भागासिद्ध** कहा जाता है । इस भागासिद्ध को ही पूरे पक्ष में व्याप्त न होने के कारण शास्त्रदीपिकादि (पृ० ६५) में **व्याप्यत्वासिद्ध** कहा गया है, जैसे-**वेदाः पौरुषेयाः, उपाख्यानात्मकत्वात्** । यहाँ पर वेद का कुछ भाग ही कथात्मक है, सभी वेद नहीं । जहाँ पर विशिष्टात्मक हेतु के विशेषण भाग का पक्ष के साथ सम्बन्ध नहीं होता, उस हेतु को **विशेषणासिद्ध** कहते हैं, जैसे-**'गगनम् अनित्यम्, जन्यत्वे सति द्रव्यत्वात्'**-यहाँ जन्यत्वरूप विशेषण भाग का गगन से सम्बन्ध नहीं, क्योंकि गगन नित्य होता है, जन्य नहीं । जिस हेतु के विशेष्य अंश का पक्ष से सम्बन्ध नहीं, उसे **विशेष्यासिद्ध** कहा करते हैं, जैसे-**'गगनम् अनित्यम्, द्रव्यत्वे सति जन्यत्वात्'**-यहाँ विशेष्यभूत जन्यत्व पक्ष में नहीं रहता । जिस हेतु के विशेषण का कोई व्यावर्त्य नहीं होता, उसे **व्यर्थ विशेषणासिद्ध** कहा जाता है, जैसे-**'घटोऽनित्यः, द्रव्यत्वे सति कृतकत्वात्'**-यहाँ पर द्रव्यत्वरूप विशेषण का कोई व्यावर्त्य या प्रयोजन न होने के कारण वैयर्थ्य निश्चित है । इसी प्रकार **'घटोऽनित्यः, कृतकत्वे सति द्रव्यत्वात्'**-यहाँ हेतु **व्यर्थ विशेष्यासिद्ध** है, क्योंकि उसका विशेष्यभूत द्रव्यत्व भाग निरर्थक है । जब ऐसे हेतु का प्रयोग किया जाता है, जो पक्ष-सम्बन्धी न होकर अन्य-सम्बन्धी होता है, तब उसे **व्यधिकरणासिद्ध** कहा जाता है, जैसे-**'घटोऽनित्यः, तद्गुणस्य कृतकत्वात्'**-यहाँ कृतकत्वरूप हेतु घट में न रह कर उसके गुण में रहता है, अतः व्यधिकरणासिद्ध है । जिस हेतु का पक्ष से व्यतिरेक (भेद) नहीं होता, उसे **व्यतिरेकासिद्ध** कहते हैं, जैसे-**'गगनम् अनित्यम् गगनत्वात्'**-यहाँ पर गगनरूप पक्ष से व्यतिरिक्त गगनत्वरूप हेतु नहीं, अतः वह व्यतिरेकासिद्ध कहा जाता है । जिस हेतु के रूपादि का ज्ञान नहीं होता, उसे **अज्ञानासिद्ध** या **सन्दिग्धासिद्ध** कहते हैं । जैसे-**'देवदत्तो बहुधनो भविष्यति, तद्धेतुभूतादृष्टशालित्वात्'**-यहाँ कथित अदृष्ट के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं, अतः इसमें अज्ञातत्व है । इसी प्रकार **'पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वात्'**-इतना ही प्रयोग करने पर व्याप्ति का उपदर्शन न होने के कारण हेतु को **व्याप्यत्वासिद्ध** कहते हैं । इसी प्रकार अज्ञातासिद्धि के विशेष प्रकार सन्दिग्ध विशेषणासिद्धादि की कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिए ।

तार्किकगण अपने स्वरूपासिद्ध का लक्षण करते हैं-'पक्षे हेतुस्वरूपाभावः', फलतः हम जिसे सम्बन्धासिद्ध कहते हैं, वही उनका स्वरूपासिद्ध ठहरता है, जो कि संगत नहीं, क्योंकि स्वरूपासिद्ध वह हेतु है, जिसका लोक में स्वरूप ही सिद्ध या प्रसिद्ध न हो, जैसे सर्वज्ञत्वादि हेतु और 'शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात्'-यहाँ चाक्षुषत्व हेतु स्वरूपतः अप्रसिद्ध नहीं, रूपादि में प्रसिद्ध है, अतः शब्दरूप पक्ष के साथ उसका सम्बन्ध न होने के कारण उसे सम्बन्धासिद्ध ही कहा जा सकता है, स्वरूपासिद्ध नहीं, अतः सम्बन्धासिद्ध से स्वरूपासिद्ध का महान् अन्तर होने के कारण दोनों को एक नहीं माना जा सकता ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कथित असिद्ध भेद जब किसी एक वादी की दृष्टि में ही असिद्ध होते हैं, तब उन्हें **अन्यतरासिद्ध** कहते हैं, जैसे-**'बुद्धो मोहरहितः, सर्वज्ञत्वात्'**-यह केवल मीमांसक की दृष्टि में असिद्ध हैं । दोनों वादियों की दृष्टि में असिद्ध होने पर **उभयासिद्ध** कहे जाते हैं, जैसे-**'शशो हिंस्रः, विषाणित्वात्' (श्री दिङ्नाग ने असिद्ध के चार भेद दिखाए हैं-** - (१) उभयासिद्धः, (२) अन्यतरासिद्धः, (३) सन्दिग्धासिद्धः, (४) आश्रयासिद्धः, (न्या० प्र० पृ० ३) । श्री पार्थसारथि मिश्र ने पाँच प्रकार की असिद्धि बताई है-(१) स्वरूपासिद्धि, (२) सम्बन्धासिद्धि, (३) व्यतिरेकासिद्धि, (४) आश्रयासिद्धि (५) व्याप्त्यसिद्धि (शा० दी० पृ० ६५) । **श्री चिदानन्द पण्डित भी पाँच ही भेद मानते है**-(१) स्वरूपासिद्धः (२) आश्रयासिद्धः, (२) सम्बन्धासिद्धः, (४) व्यतिरेकासिद्धः, (५) भागासिद्धः (नीति० पृ० १४१) । इन्हों ने पार्थसारथि मिश्र के समान भागासिद्ध को व्याप्यत्वासिद्ध नहीं माना है) ।

(१३) विरुद्ध-विरुद्ध को ही वार्तिककार ने **बाधक** कहा है, **वह दो प्रकार का होता है**-साध्यस्वरूपबाधः, साध्यविशेषबाधः। (चिदानन्द पण्डित ने भी कहा है-बाधको द्विविधः-(१) साध्यस्वरूपबाधकः, (२) तद्विशेषबाधकः" (नीति० पृ० १४१) । जो हेतु साध्य से व्याप्त न होकर साध्याभाव से व्याप्त होता है, उसे **साध्यस्वरूपविरुद्ध** कहते हैं, जैसे-**शब्दोऽनित्यः, कृतकत्वात्**-यहाँ नित्यत्व के विपर्ययभूत अनित्यत्व से व्याप्त होने के कारण कृतकत्व हेतु नित्यत्व का विरोधी होने के कारण उसका बाधक होता है । साध्यविशेष-विपरीत विशेष से व्याप्त हेतु को **विशेष विरुद्धः** कहा जाता है, जैसे-**क्षित्यादिकं सकर्तृकम्, कार्यत्वाद् घटवत्**-यहाँ साध्यभूत क्षित्यादि के कर्त्ता की एक विशेषता है-अशरीरित्व, उसके साथ 'कार्यत्व' हेतु की व्याप्ति गृहीत नहीं है, अपितु उसके विपरीत शरीरित्वाभाव विशेषण से युक्त कर्तृत्व की व्याप्यता कार्यत्व में घटादिस्थल पर गृहीत होती है, अतः वह अशरीरित्व का बाधक है । अशरीरित्व का बाध होने पर अशरीरित्व-विशिष्ट कर्तृत्व का भी बाध हो जाता है । **नैयायिक लोग जो यह कहा करते हैं कि,** 'क्षित्यादि में शरीरी कर्त्ता का प्रत्यक्षतः बाध देखकर अशरीरित्व-विशिष्ट कर्त्ता की सिद्धि पर्यवसित होती है ।' **यह उनका कहना युक्ति-युक्त नहीं है,** क्योंकि क्षित्यादि का कोई अशरीरी कर्त्ता भी उपलब्ध नहीं होता, अतः यहाँ सकर्तृकत्वरूप हेतु साध्य का विरोधी ही ठहरता है, इस दोष को न जाननेवाले तार्किकों को केवल नमस्कार है । **इस पर विशेष विचार श्री चिदानन्द पण्डित ने नीतितत्त्वाविर्भाव के ईश्वरवाद में किया है ।**

सत्यं किंत्वन्वयस्यैव स्वस्थानादतिलङ्घनम् । व्यभिचारतया ख्यातं क्लिष्टस्त्वदुदितः क्रमः ।।६५।।
तेन साधारणस्यैव व्यभिचारित्वमीरितम् । हेत्वाभासान्तरत्वेन चासाधारण ईरितः ।।६६।।
यद्वा त्वदुक्तमार्गेण तस्यापि व्यभिचारतः । अनैकान्तिकतैवास्तु नास्माकं काचन क्षतिः ।।६७।।
तस्मात्त्रेधा चतुर्धा वा हेत्वाभासा व्यवस्थिताः । पञ्चधा तार्किकाः प्राहुः षोढान्ये तदसङ्गतम् ।।६८।।
एवं परोदितैरेव पक्षहेतुनिदर्शनैः । विरुद्धसाधनेऽस्माकं विरुद्धाव्यभिचारिता ।।६९।।
सर्वसत्प्रतिपक्षाणां विरुद्धाव्यभिचारिताम् । कदाचिदूचुराचार्या न त्वमुष्यैव केवलम् ।।७०।।
चिदानन्देन तु व्यक्तमयमेव तथोच्यते । यथा तथास्तु नामैतन्नाभासान्तरमत्र नः ।।७१।।
शब्दसादृश्यमेवात्र विद्यतेऽर्थस्तु भिद्यते । तस्माद्विरुद्धधर्माभ्यां व्याप्तिर्नैकस्य संभवेत् ।।७२।।
कथं तर्हि भवान् ब्रूते विरुद्धाव्यभिचारिणम् । सत्यं न साध्यते तत्र साक्षात्साध्यविपर्ययः ।।७३।।
सकर्तृकत्वं वदतामिष्टा हीश्वरकर्तृता । सैवात्र वार्यतेऽस्माभिस्तेनार्थात्प्रतिकूलता ।।७४।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सव्यभिचार हेतु को अनैकान्तिक कहते हैं, सव्यभिचारिता का अर्थ है-विपक्ष में रहना । इसको **'साधारण'** नाम से भी अभिहित किया जाता है । इसका उदाहरण है-**'शब्दोऽनित्यः, प्रमेयत्वात्'** । यहाँ प्रयुक्त प्रमेयत्व हेतु आकाशादि नित्य पदार्थों में भी रहने के कारण अनैकान्तिक है । जिस हेतु में विपक्षवृत्तित्व निश्चित न होकर सन्दिग्ध होता है, उसे **सन्दिग्धानैकान्तिक** कहते हैं, जैसे-**'सर्वे भावा क्षणिकाः सत्त्वात्'**-यहाँ पर अक्षणिक पदार्थों में भी सत्त्व का बाध न होने के कारण हेतु में विपक्षवृत्तित्व सन्दिग्ध है, अतः यह सन्दिग्धानैकान्तिक है ।

सपक्ष के रहने पर भी जो हेतु पक्षमात्रवृत्ति होता है, उसे **असाधारण** कहा जा चुका है, जैसे-**पृथिवी नित्या, गन्धवत्त्वात्** । वरदराजादि (तार्किक) विद्वान् असाधारण हेतु को भी जो अनैकान्तिक मानते हुए कहते हैं कि जैसे जिस हेतु का अन्वय (भाव) अपने क्षेत्र (सपक्ष) का अतिक्रमण कर विपक्ष में रह जाता है, ऐसा 'प्रमेयत्व' हेतु व्यभिचारी होता है, वैसे ही हेतु का व्यतिरेक (अभाव) जब अपने विपक्षरूप क्षेत्र का अतिक्रमण कर सभी सपक्षों में रह जाता है, तब वह **व्यभिचारी** होता है, गन्धवत्त्व हेतु ऐसा ही है (द्रष्टव्य ता. र पृ. २१७) ।

वह तार्किकों का कहना पूर्णतया संगत नहीं, क्योंकि हेतु के अन्वय (भाव) का अपनी सपक्षभूत सीमा का उल्लङ्घन ही लोक में **व्यभिचार** कहा जाता है, और आप (तार्किकों) की ऊहा कुछ क्लिष्ट कल्पना भी है, अतः साधारण हेतु को ही हमने व्यभिचारी मान कर असाधारण को पृथक् हेत्वाभास कहा है । अथवा आपकी कल्पना के अनुसार असाधारण को भी सव्यभिचार मान लिया जाय, उससे हमारी कोई क्षति भी नहीं । फलतः चार या पाँच ही हेत्वाभास स्थिर होते हैं । तार्किकगण जो पाँच या छः हेत्वाभास मानते हैं, वह संगत नहीं ।।६५-६८।।

तार्किकगण पाँच हेत्वाभास कहते हैं-(१) असिद्ध, (२) विरुद्ध, (३) अनैकान्तिक, (४) प्रकरणसम और (५) कालात्ययापदिष्ट । कुछ लोग अप्रयोजक को छठा हेत्वाभास मानते हैं । (श्री वरदराज ने अप्रयोजक के विषय में (ता. र. पृ. २३१ पर) कहा है- **पञ्चैव कथमाभासा विद्यते ह्यप्रयोजकः । इति पर्यनुयोगोऽयं तार्किकस्य न युज्यते ।। यस्यानुकूलस्तर्कोऽस्ति स एव स्यात्प्रयोजकः । तदभावेऽन्यथासिद्धस्तस्याः स हि निवारकः ।।**

आचार्य भासर्वज्ञ अनध्यवसित को साथ लेकर छः हेत्वाभास गिनाते हैं-"असिद्धविरुद्धानैकान्तिकानध्यवसितकालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः" **(न्या.भू.पृ. ३०८)** । इन में प्रकरणसम उस हेतु को कहते हैं, जिसका प्रतिहेतु (साध्याभाव-साधक) विद्यमान हो । **प्रकरणसम को ही सत्प्रतिपक्ष भी कहते हैं** । इसका उदाहरण है-**'वायुः अप्रत्यक्षः, अरूपवत्त्वात् मनोवत् ।' वायुः प्रत्यक्षः, स्पर्शवत्त्वाद्, घटवत् ।'** इस प्रकरणसम को पृथक् हेत्वाभास मानना व्यर्थ है, क्योंकि मीमांसकाभिमत तीन या चार हेत्वाभासों में वह अन्तर्भुक्त हो जाता है । **वस्तुतः समान बलवाले दो विरुद्ध हेतु एकत्र हो ही नहीं सकते, यदि माने जाते हैं, तब उन दो सदनुमानों के द्वारा प्रसाधित पदार्थ विरुद्ध दो आकारों का मानना होगा । यदि उन दोनों साधनों में प्रबल-दुर्बलभाव है, तब दुर्बल के बाधित हो जाने पर 'बाधितविशेषणत्व' नाम का पक्ष-दोष ही ठहरता है,** उसे पृथक् हेत्वाभास मानने की क्या आवश्यकता ? (चिदानन्द पण्डित ने भी ऐसा ही कहा है-**"प्रकरणसमत्वं तु दूषणान्तरं न सम्भवति, प्रबलदुर्बलयोर्विरोधे दुर्बलस्य प्रबलापहृतविषयत्वाद् बाधितविशेषणत्वस्य प्राप्तेः, तुल्यबलयोस्तु विरोधस्यैवानुपपत्तेः"** (नीति० पृ० १४२) ।

शङ्का-जब एकत्र-प्रयुक्त दो विरोधी हेतुओं में कोई विशेषता (न्यूनाधिकभाव) का भान नहीं होता, तब उनमें आभिमानिक तुल्यबलता सम्भावित है । (श्री वरदराज कहते हैं-**"वास्तवतुल्यबलत्वाभावेऽपि अगृह्यमाणविशेषत्वेनाभिमानसिद्धसाम्येन प्रतिप्रमाणेन प्रतिरोधो विवक्षितः"** (ता० र० पृ. २२१) ।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान--तब भी सन्देहावस्थ बाधितविशेषणत्व नाम का पक्षदोष ही माना जा सकता है, सन्देह मात्र को लेकर उसे विजातीय दोषान्तर नहीं मान सकते, अन्यथा सन्दिग्धासिद्धादि को भी अतिरिक्त दोष मानना पडेगा । अथवा 'संशयहेतुरनैकान्तिकः'-**ऐसा अनैकान्तिक का लक्षण माना जा सकता है** और संशय होता है-साधारण या असाधारण धर्म के दर्शन अथवा विप्रतिपत्ति वाक्य से, जैसे कि स्थाणु और पुरुष के ऊर्ध्वत्वरूप साधारण धर्म को देख कर संशय होता है-स्थाणुर्वा ? पुरुषो वा ? पृथिवीगत गन्धवत्त्वरूप असाधारण धर्म के ज्ञान से पृथिवी नित्या ? अनित्या वा ? ऐसा संशय होता है । वादिगणों के विप्रतिपत्ति ('शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्', शब्दो अनित्यः, कार्यत्वात्-इस प्रकार के विरुद्धार्थक) वाक्यों को सुनकर शब्दो नित्यो ? अनित्यो वा ? इस प्रकार का संशय हो जाता है । सत्प्रतिपक्ष-स्थल पर यही विप्रतिपत्तिहेतुक संशय प्राप्त होता है, अतः अनैकान्तिक में प्रकरणसम का अन्तर्भावकर देना चाहिए । (जैसा कि आचार्य दिङ्नाग कहते हैं-"**अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद्, घटवत् । नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति उभयोः संशयहेतुत्वाद् द्वावप्येतावेकोऽनैकान्तिकः समुदितावेव**" (न्या०प्र०पृ० ५) । पार्थसारथि मिश्र ने भी कहा है-"**अनैकान्तिकत्वं द्विविधम्-सव्यभिचारं सप्रतिसाधनं च । अप्रत्यक्षो वायुर्द्रव्यत्वे सत्यरूपत्वात् । प्रत्यक्षो वायुर्महत्त्वे सति स्पर्शवत्त्वादिति सप्रतिसाधनत्वादुभयमप्यनिर्णायकं संशयहेतुः, अगृह्यमाणबलाबलत्वादुभयोः**" (शा०दी०पृ० ६५) ।

कथित सत्प्रतिपक्ष के एक-एक हेतु से प्रतिकूल अर्थ की सिद्धि करने पर उसका नाम विरुद्धाव्यभिचारी पडता है, जो कि एक अवान्तर जाति है, जैसे-**क्षित्यादिकं सकर्तृकम्, कार्यत्वाद्, घटवत्**' तथा '**क्षित्यादिकम्, ईश्वरकर्तृकं न भवति, कार्यत्वाद्, घटवत्**'-यहाँ पर कार्यत्व हेतु घटादि में सकर्तृकत्व और ईश्वरकर्तृकत्वाभाव-इन दोनों से अव्यभिचरित है । सकर्तृकत्व के माध्यम से जो लोक ईश्वर की सिद्धि करते हैं, उनके लिए ईश्वरकर्तृकत्वाभाव विरुद्ध है, अतः 'कार्यत्व' हेतु विरुद्धाव्यभिचारी है । इस प्रकार तार्किकादि-प्रयुक्त पक्ष हेतु और दृष्टान्तों के द्वारा विरुद्धार्थ की सिद्धि विवक्षित होने पर हमारी विरुद्धाव्यभिचारिता अभिनीत हो जाती है । आचार्य कुमारिल भट्टने (श्लो०वा०पृ० ३७ : पर) सभी सत्प्रतिपक्षों को विरुद्धाव्यभिचारी कहा है- **यत्राप्रत्यक्षता वायोररूपत्वेन साध्यते । स्पर्शात् प्रत्यक्षता वाऽसौ विरुद्धाव्यभिचारिता।।**

श्री चिदानन्द पण्डित की तो विस्पष्ट घोषणा है कि "**प्रकरणसमत्वं तु दूषणान्तरं न सम्भवति**" (नीति० पृ० १४२) । अतः प्रकरणसम को किसी भी नाम से अभिहित किया जाय ? यह सर्वथा निश्चित है कि वह कोई पृथक् हेत्वाभास नहीं । **अतः यह सिद्ध हो गया कि 'बाधितविशेषणक' नाम के पक्षाभास या 'अनैकान्तिक' नाम के हेत्वाभास में सत्प्रतिपक्ष समा जाता है, दूषणान्तर नहीं है।**

श्री भासर्वज्ञाचार्य ने जो (न्या०भू०पृ० ३१० पर) "**स्वपक्षपरपक्षसिद्धावपि त्रिरूपो हेतुः प्रकरणसमः**" -ऐसा लक्षण करके कहीं से एक दुर्लभ उदाहरण खोज कर (न्या०भू०पृ० ३१९ पर) प्रस्तुत किया है-"**अनित्यः शब्दः, पक्षसपक्षयोरन्यरत्वात्' सपक्षवत् ।**" यहाँ पर 'शब्दो नित्यः, पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात्'-ऐसा भी कहा जा सकता है ।

वह अयुक्त है, क्योंकि अनित्यत्व को साध्य बनाने पर 'पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात्' का अर्थ होगा-'**शब्दघटयोरन्यतरत्वात्**' और नित्यत्व को साध्य बनाने पर 'पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात्' का अर्थ '**शब्दाकाशयोरन्यतरत्वात्**' होगा, अतः दोनों पक्षों में हेतु का समान त्रैरूप्य क्योंकर कहा जा सकेगा ? (तार्किकप्रवर श्री वरदराज अपने एकदेशी भूषणकार की प्रकरणसमता का निराकरण करते हुए कहते हैं-"**तदिदं तावदसम्भवि लक्षणम्, न ह्येकस्यैव हेतोरुभयत्रापि त्रैरूप्यं सम्भवति, नित्यत्वे साध्ये गगनं सपक्षः, इतरत्र तदेव विपक्षः । न त्वेक एव हेतुः सपक्षे तत्र वर्तते, विपक्षाच्च**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ततो व्यावर्तते चेति सम्भवति । पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादित्यत्राप्येकदा शब्दाकाशयोरन्यतरत्वादित्यर्थोऽन्यदा शब्दघटयोरन्यतरत्वादित्यर्थः, ततश्च शब्दमात्रमत्रैकं नार्थ इति न किञ्चिदेतत्" (ता० र० पृ० २२३) । अर्थात् शब्दगत नित्यत्व और अनित्यत्व-इन दोनों पक्षों में प्रयुक्त 'पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात्'-इस शब्द का ही साम्य है, अर्थ का नहीं, (क्योंकि दोनों साध्यों में सपक्ष एक ही नहीं, अपितु अनित्यत्व का सपक्ष घट और नित्यत्व का आकाश, अतः शब्दघटान्यतरत्व और शब्दाकाशान्यतरत्व-दोनों एक क्योंकर होंगे ? शब्दघटान्यतरत्व हेतु विपक्षभूत आकाश से व्यावृत्त है किन्तु शब्दाकाशान्यतरत्व आकाश में वृत्ति । इसी प्रकार शब्दाकाशान्यतरत्व अपने विपक्षभूत घट से व्यावृत्त और शब्दघटान्यतरत्व घट में वृत्ति, फलतः दोनों पक्षों में एक त्रैरुप्य सुलभ नहीं) । अतः नित्यत्व और अनित्यत्व रूप दो विरुद्ध धर्मों की व्याप्ति एक (पक्षसपक्षान्यतरत्व) हेतु में सम्भव नहीं है।

शङ्का--यदि प्रकरणसम हेत्वाभास में विरुद्धार्थ-साधकता नहीं है, तब आप मीमांसक भी विरुद्धाव्यभिचारी नाम का हेत्वाभास मानकर उसे विरुद्धार्थ का अव्यभिचारी (व्याप्य या साधक) कैसे माना करते हैं ?

समाधान--विरुद्धाव्यभिचारी में भी साक्षात् विरुद्धार्थ (साध्य का विपर्यय) सिद्ध नहीं किया जाता, अपितु अर्थात् विरुद्धार्थ की साधकता वैसे ही मानी जाती है, जैसे आप (नैयायिक) क्षित्यादि में सकर्तृकत्व इस उद्देश्य से सिद्ध करते हैं कि क्षित्यादि में ईश्वरकर्तृकत्व पर्यवसित हो जाय, अतः हम वही अर्थात् विरुद्धार्थता का निरास आप के कथित प्रकरणसम में कर रहे हैं कि उसे हमारी परिभाषा में विरुद्धाव्यभिचारी भी आप नहीं कह सकते, जैसा कि (न्या०भू०पृ० ३१९ पर) आपने कहा है । आप (भासर्वज्ञ) शब्दरूप पक्ष में जो नित्यत्व और अनित्यत्व-दो विरुद्ध धर्मों की सिद्धि एक ही 'पक्षसपक्षान्यतरत्व' हेतु के द्वारा कर रहे हैं, वह आपका उद्यम अनधिकृताधिकार और उपहासास्पद है ।

भवांस्त्वनित्यनित्यत्वे साक्षादेव विरोधिनी । एकेन साधयन्नद्य हास्यतामेव यास्यति ।।७५।।

ननु नो पक्षदोषानेवानुमन्यामहे वयम् । पक्षदृष्टान्तदोषाणां हेत्वाभासेषु योजनात् ।।७६।।

पक्षः खल्वाश्रयो हेतोर्न च निश्चितधर्मवान् । पक्षत्वं भजते तस्मादाश्रयासिद्धिरेव सा ।।७७।।

तथैव यदि दोषः स्यादप्रसिद्धविशेषणः । तदापि पक्षतानाशादाश्रयासिद्धिरुच्यताम् ।।७८।।

किं पक्षदोषैः कथितैरिदानीं दृष्टान्तदोषा अपि वक्ष्यमाणाः ।
अन्तर्गता एव हि हेतुदोषे न हेतुदोषादरोऽस्ति दोषः ।।७९।।

तदेवं सर्वदोषेषु हेत्वाभासप्रवेशिषु । निःसहायः कथं तिष्ठेत्स बाधितविशेषणः ।।८०।।

आभाससङ्करे तावत्पुरः स्फुरितदूषणम् । उद्भाव्यमिति सर्वेषां निर्विवादं हि वादिनाम् ।।८१।।

ततश्च पक्षवचने दोषः कोऽपि चकास्ति चेत् । पक्षस्यैव स वक्तव्यः किं न्यायं नानुमन्यसे ।।८२।।

पक्षदुष्टत्वमाश्रित्यैवोक्ता सिद्धविशेषणे । त्वयापि ह्याश्रयासिद्धिः किं पुरोभावि तत्र ते ।।८३।।

एवं साध्यस्याप्रसिद्धिस्तथा बाधितसाध्यता । पक्षोक्तावेव निर्भातीत्युचिता पक्षदोषता ।।८४।।

इत्थं दृष्टान्तदोषाश्च वक्ष्यमाणाः समर्थिताः । यो यत्र स्फुरितो दोषः स तस्यैवेति निर्णयात् ।।८५।।

नावदत्पक्षदोषादीनक्षपादमुनिः पुरा । तद्भक्तिमोहिता मा मा न्यायं त्यजत तार्किकाः ।।८६।।

साध्यसाधनयोर्व्याप्तिप्रतिपत्तिस्थलं हि यत् । तदुदाहरणं नाम दृष्टान्त इति चोच्यते ।।८७।।

अनुमानप्रपञ्चोऽयं बहुभिर्बहुधोदितः । चिदानन्दोक्तरीत्या तु मयैवमिह दर्शितः ।।८८।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह जो आप (तार्किकों) ने बाधितविषयक हेत्वाभास कालात्ययापदिष्ट नाम से प्रतिपादित किया है-**"प्रमाणबाधितविषयः कालातीतः । तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा-अनुष्णोऽग्निः, द्रव्यत्वात्"** (ता० र० पृ० २२८-२९) । उसको हमारे चिदानन्द पण्डित ने बाधितविशेषणक नाम का पक्षाभास कहा है-**"कालात्ययापदिष्टस्य बाधितविशेषणपर्यायत्वेन पक्षदूषणत्वात्"** (नीति० पृ० १४२) ।

शङ्का-हम (तार्किकगण) पक्षाभासादि को पृथक् दोष नहीं मानते, अपि तु पक्ष-दोष और दृष्टान्त-दोषों का अन्तर्भाव हेत्वाभासों में ही कर देते हैं । जैसे कि 'सिद्धविशेषणक' नाम का पक्षाभास 'आश्रयासिद्ध' नाम का हेत्वाभास है, क्योंकि पक्ष ही हेतु का आश्रय होता है और जहाँ पर साध्य का निश्चय हो उसे पक्ष नहीं माना जाता, सन्दिग्धसाध्यवान् ही पक्ष होता है । उसी प्रकार 'अप्रसिद्ध विशेषणक' नाम का पक्षाभास भी आश्रयासिद्ध ही है, क्योंकि जैसे 'काञ्चनमयपर्वतः' में विशेषणरूप पक्षतावच्छेदक धर्म का अभाव होने के कारण पक्षता नहीं मानी जाती । केवल पक्ष-दोष ही हेत्वाभास के अन्तर्भुक्त नहीं होते, वक्ष्यमाण दृष्टान्त-दोष भी हत्वाभासों में खप जाते हैं, अतः हेतुदोषों से भिन्न और कोई दोष ही नहीं । इस प्रकार हेत्वाभासों के उदर में ही सभी दोषों के प्रविष्ट हो जाने पर 'बाधितविशेषणक' नाम का पक्षदोष भी निःसहाय होकर कब तक बाहर खडा रह सकेगा ? अतः उसे भी हेत्वाभासता की परिधि में ले लेना चाहिए ।

समाधान-आभासों का सांकर्य उपस्थित होने पर प्रथमतः स्फुरित दोषों का ही पहले उद्भावन करना चाहिए-ऐसी ही सभी वादिगणों की मर्यादा है । हेतु का प्रयोग होने से पहले पक्ष-वचन का उच्चारण किया जाता है, अतः यदि पक्ष-वचन में कोई दोष प्रतीत होता है, तब उसकी उपेक्षा क्यों ? क्या आपने यह न्याय नहीं सुना है कि **"प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किं निबन्धनः"** (श्लो० वा० पृ० ६९) । सिद्धविशेषणक पक्ष में दुष्टत्व देखकर ही आपने आश्रयासिद्धि नाम का हेतु-दोष कहा है, ऐसा हेतु-दोषत्व क्या पक्ष-दोषत्व से भी पूर्वभावी है ? इसी प्रकार साध्य का अप्रसिद्धित्व और साध्य का बाध पक्ष-वचन के होने पर ही अवगत होते हैं, अतः उन्हें पक्ष-दोष ही मानना चाहिए । इस प्रकार वक्ष्यमाण दृष्टान्त-दोषों का भी पृथक् भाव समर्थित हो जाता है । **यह सार्वभौम न्याय है कि, जो दोष जिसमें स्फुरित होता है, वह उसी का दोष माना जाता है** । यदि अक्षपाद महर्षि ने पक्षादि के दोष नहीं कहे हैं, तब उनकी भक्ति के आवेश में आकर इस न्याय की तो उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । फलतः बाधित विशेषणकत्व पक्षाभास ही है, इसे पृथक् पाँचवाँ हेत्वाभास नहीं माना जा सकता । **जो लोग अनुकूल तर्क के अभाव में हेतु को अप्रयोजक नाम का पृथक् हेत्वाभास मानते हैं, वे भी व्याप्त्यसिद्ध को अप्रयोजक कह देते हैं । सभी अनुमानों में अनुकूल तर्कों के द्वारा व्यभिचार-शङ्का का निरास कर निरुपाधिकता की स्थापना करनी होती है,** अतः अनुकूल तर्क के न होने पर व्याप्तिरूप निरुपाधिक सम्बन्ध का निश्चय न हो सकने के कारण व्याप्त्यसिद्धि होती है । **ऐसे व्याप्त्यसिद्ध हेतु को 'उपाधिमान्', 'अन्यथासिद्ध', 'अप्रयोजक', 'परप्रयुक्तव्याप्त्युपजीवी', 'सन्दिग्धव्याप्तिक' आदि नामों से अभिहित किया करते हैं, किसी पृथक् हेत्वाभास को नहीं ।**

यह जो श्री भासर्वज्ञ ने (न्या०भू०पृ० ३०९ पर) कहा है-**'साध्यासाधकः पक्ष एव वर्तमानोऽनध्यवसितः, यथा--नित्या भूः, गन्धवत्त्वात् । सर्वं क्षणिकम्, सत्त्वात्-इत्यादि** । उनमें प्रथम उदाहरण असाधारण का ही है और 'सर्वं क्षणिकम्, सत्त्वात्'-यहाँ पर सभी पदार्थों को पक्ष बना लिया गया है-अतः उससे भिन्न न तो कोई सपक्ष है और न विपक्ष, अतः अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति का निश्चय न हो सकने के कारण व्याप्त्यसिद्धि ही है, अन्य हेत्वाभास नहीं । अतः हमने ऊपर जो हेत्वाभास की व्यवस्था की है, वही निर्दुष्ट है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) दृष्टान्ताभास :-

दृष्टान्त का स्वरूप चिदानन्द पण्डित ने (नीति० पृ० १४२-४३ पर) इस प्रकार दिखाया है–साध्य और साधन की व्याप्ति के निश्चयस्थल को उदाहरण, दृष्टान्त या निदर्शन कहा करते हैं । वह **साधर्म्य** और **वैधर्म्य** भेद से दो प्रकार का होता है । **साधन का साध्य के साथ अन्वय-प्रदर्शन साधर्म्य कहा गया है, जैसे कि 'यो धूमवान्, सोऽग्निमान्, यथा–महानसः ।' साध्याभाव का साधनाभाव के साथ अन्यव-प्रदर्शन वैधर्म्य है, जैसे–'योऽग्निमान्न भवति, नासौ धूमवान्, यथा जलम् ।'**

दृष्टान्ताभास का भी निरूपण चिदानन्द पण्डित के अनुसार ही इस प्रकार है कि, **साधर्म्योदाहरणाभास चार प्रकार का है–** (१) साध्यहीन, (२) साधनहीन, (३) उभयहीन और (४) आश्रय-हीन । जैसे **'ध्वनिः' नित्यः, अकारणत्वाद्, यदकारणम्, तन्नित्यम्'** -यहाँ पर (१) **'प्रागभाववत्'**–यह साध्यहीन, (२) **'ध्वंसवत्'**–यह साधनहीन, (३) **'घटवत्'**--यह उभय-हीन तथा (४) **'नरशृङ्गवत्'**–यह आश्रय-हीन है । नित्यत्व यहाँ अविनाशित्व ही विवक्षित है, कोटिद्वय-राहित्य नहीं।

वैधर्म्योदाहरणाभास भी (१) 'साध्याव्यावृत्त', (२) 'साधनाव्यावृत्त', (३) 'उभयाव्यावृत्त' और (४) 'आश्रय-हीन' भेद से **चार प्रकार** का होता है, जैसे **'यन्नित्यं न भवति, न तदकारणम्'–यहाँ पर** (१) **'ध्वंसवत्'**–यह साध्याव्यावृत्त, (२) **'प्रागभाववत्'**–यह 'साधनाव्यावृत्त' (३) **'गगनवत्'**–यह उभयाव्यावृत्त और (४) **'नरशृङ्गवत्'**--यह आश्रयहीन है ।

कथित उभयविध उदाहरणों में अव्याप्त्यभिधान और विपरीतव्याप्त्यभिधान–ये दो दोष होते हैं । 'अग्निमान् पर्वतः, धूमवत्त्वाद्, यथा महानसः'–इतना ही कहने पर **अव्याप्त्यभिधान** है, क्योंकि 'यो धूमवान्, सोऽग्निमान्'–इस प्रकार व्याप्ति का अभिधान नहीं किया गया । उसी प्रकार 'योऽग्निमान्न भवति, नासौ धूमवान्'–इस प्रकार व्याप्ति का अभिधान न कर 'यथा महाह्रदः'–इतना ही कहने पर **अव्याप्त्यभिधान** व्याप्त्यनभिधान है ।

जब कि, 'यो धूमवान्, सोऽग्मिान्'–इसके स्थान पर 'योऽग्निमान्, स धूमवान्'–ऐसा कहा जाता है, तब विपरीतव्याप्त्यभिधान है । उसी प्रकार 'योऽग्निमान्न, नासौ धूमवान्'–इसके स्थान पर 'यो धूमवान्न भवति, नासावग्निमान्'–ऐसा प्रयोग करने पर भी विपरीतव्याप्त्यभिधान होता है । यह अनुमान का प्रपञ्च अनेक विद्वानों ने विविध प्रकार से कहा है, किन्तु हम (नारायणभट्ट) ने श्री चिदानन्द पण्डित के द्वारा नीतितत्त्वाविर्भाव में कथित रीति से निरूपित किया है ।

अनुमानतः परस्तादुपमानं वर्णयन्ति तर्कविदः । वादिपरिग्रहभूम्ना वयं तु शाब्दं पुरस्कुर्मः ।।८९।।

तत्र तावत्पदैर्ज्ञातैः पदार्थस्मरणे कृते । असन्निकृष्टवाक्यार्थज्ञानं शाब्दमितीर्यते ।।९०।।

तेनात्र पदावगताः पुनः पदार्था मिथोऽन्वयं यान्ति । इत्येवमभिहितान्वयसिद्धान्तो दर्शितोऽस्मदादीनाम् ।।९१।।

(३) शब्द : अनुमान के अनन्तर उपमान का वर्णन तार्किक किया करते हैं किन्तु अधिक दार्शनिकों के द्वारा अपनाए गए क्रम के अनुसार हम (नारायण भट्ट) शब्द का पहले निरूपण करते हैं । ज्ञात पदों के द्वारा पदार्थों का स्मरण हो जाने पर जो असन्निकृष्टार्थ विषयक वाक्यार्थज्ञान होता है, उसे **शाब्द प्रमाण** कहते हैं । (भाष्यकारने कहा है-**"शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्"** (शा०भा०पृ० ३७) । चिदानन्द पण्डित ने वार्तिक के अनुसार उसी का आशय शाब्द सामान्य के लक्षण में बताया है-**"विज्ञातेभ्यः पदेभ्यः पदार्थस्मृतिमुखेनासन्निकृष्टेऽर्थे यत् ज्ञानम्, तच्छाब्दम्"** (नीति० पृ० १४४) । पदों के द्वारा पदार्थों का स्मरण और स्मारित पदार्थों के द्वारा जो वाक्यार्थ-ज्ञान होता है, उसे ही शाब्द

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाण कहते हैं) । **शाब्द ज्ञान सदैव व्युत्पत्ति के अधीन होता है, अतः व्युत्पत्ति का प्रकार आरम्भ में दिखाया जाता है**– वाक्यार्थानभिज्ञ व्युत्पित्सु बालक 'गामानय', 'पुत्रस्ते जातः'–इत्यादि वाक्यों को सुनने के अनन्तर जो व्युत्पन्न श्रोता की गवानयनादि की प्रवृत्ति या मुख-मण्डल पर उभरी हर्ष की रेखाओं को देखकर श्रोतृगत प्रवृत्त्यादि के द्वारा उनके जनक ज्ञान का अनुमान करता है–'अयं श्रोताउक्त शब्दोपस्थापितवाक्यार्थज्ञानवान्, तदनन्तरमेव प्रवर्तमानत्वात्।' बालक यह जानता है कि इस श्रोता की प्रवृत्ति गवानयनाद्यर्थ-ज्ञान के अनन्तर ही हो सकती है और वह अर्थज्ञान उक्त शब्दोच्चारण के अनन्तर ही उत्पन्न हुआ है, अतः वह बालक 'गामानय'–इत्यादि शब्दों में गवानयनाद्यर्थ-बोधकत्व निश्चित कर लेता है । उस समय तक सामूहिक अर्थ की बोधकता ही सामूहिक शब्द में स्थिर होती है, उसके अनन्तर 'गां बधान', 'अश्वमानय'–इत्यादि प्रयोगान्तरों में पदान्तरों के आवाप (ग्रहण) और उद्वाप (त्याग) को देखकर 'गो' शब्द सास्नादिमान् अर्थ का और 'आनय' शब्द आनयन क्रिया का वाचक है–इस प्रकार पदार्थ-विवेक से अवगत हो जाता है ।

पदों के द्वारा पदार्थ-बोधन शब्द-शक्ति से जनित होने के कारण शब्द का अभिधान व्यापार ही है–ऐसा पार्थसारथिमिश्रादि कहते हैं और **चिदानन्दादि का कहना है कि,** शब्द भी संस्कारोद्बोधन के द्वारा ही पदार्थ-बोध कराता है, **अतः पदार्थ-ज्ञान स्मरणात्मक ही होता है** । यद्यपि प्रत्येक पद का अपना एक नियत ही अर्थ होता है, तथापि आदि से लेकर सभी पदों का एक विशिष्टार्थ में तात्पर्य होता है, क्योंकि पदों से पदार्थ-ज्ञान हो जाने पर जो उसके अनन्तर ही एक विशिष्टार्थज्ञानरूप वाक्यार्थ-ज्ञान उत्पन्न होता है, वह क्या पदों के या पदार्थस्मृति के द्वारा उत्पादित होता है– **इस प्रकार की चिन्तना में यह निश्चित हो जाता है कि,** पद तो पदार्थ-बोधन में ही उपक्षीण हो जाते हैं और वाक्यार्थ-बोध से उनका व्यवधान भी है, अतः पदार्थ ही अपने संसर्गरूप वाक्यार्थ के बोधक सिद्ध होते हैं–**यही तार्किकादि भी मानते हैं** ।

हमारा (नारायणभट्ट का) कहना यह है कि, पदार्थ लक्षणा वृत्ति के द्वारा ही वाक्यार्थ का बोध कराते हैं, क्योंकि वाच्यार्थ की अन्यथानुपपत्ति से लक्षणा होती है–पदों के द्वारा स्मर्यमाण गवादि पदार्थ यदि परस्पर अन्वय के बिना ही सामान्यार्थ-पर्यवसाई माने जायँ, तब पदों की व्युत्पत्ति के समय अवधृत एक विशिष्टार्थ में तात्पर्य सम्भव नहीं रह जाता, अतः पदों के वाच्यार्थ की उपपत्ति तभी हो सकती है, जब कि उनका एक विशिष्टार्थ में पर्यवसान हो । अतः गौ और आनयन का परस्पर अन्वय इस प्रकार अवगत हो जाता है कि 'इयमानीयमानैव गौः, गोसम्बद्धमेवेदमानयनम् । फलतः वाक्यस्थ पदों के द्वारा अवगत पदार्थ परस्पर अन्वय का लाभ करते हैं–**इस प्रकार भाट्टाभिमत अभिहितान्वयवाद प्रदर्शित हो जाता है।।९०।।**'

सकलपदान्तरपूर्तावितरपदार्थैः समन्वितं स्वार्थम् । सर्वपदानि वदन्तीत्यन्येषामन्विताभिधानमतम् ।।९२।।'

अत्राकाङ्क्षा च योग्यत्वं सन्निधिश्चेति तत्त्रयम् । वाक्यार्थावगमे सर्वैः कारणत्वेन कल्प्यते ।।९३।।

गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्याकाङ्क्षारहितेष्विह । अन्वयादर्शनात् तावदाकाङ्क्षा परिगृह्यते ।।९४।।

अग्निना सिञ्चतीत्यादावयोग्यानामनन्वयात् । योग्यतापि परिग्राह्या सन्निधिस्त्वथ कथ्यते ।।९५।।

तस्मादन्वयसिद्धौ तात्पर्यं न स्वयं क्वचिद्धेतुः । सामग्र्यन्तरभावे नियमार्थं त्वर्थ्यते पुनस्तदपि ।।९६।।

एवं गत्यन्तराभावाद् गुरुणापि समाश्रितः । शाब्दानामेव संसर्ग इत्ययं नियमोऽधुना ।।९७।।

तेन द्वेधोपकारो नस्तत्रैकः पूर्वमीरितः । मानान्तरावबुद्धानां नान्वयः स्यादितीदृशः ।।९८।।

अन्योऽपि द्वारमित्यादावध्याहारे भविष्यति । शाब्दस्यैवान्वयार्हत्वाद् द्वारमाव्रियतामिति । शब्दाध्याहार एव स्यादित्येवं मादृशां मतम् ।।९९।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शङ्का–प्रभाकर-सम्मत जो अन्विताभिधान वाद है कि, सभी पद इतर पदार्थ से अन्वित स्वार्थ का अभिधान करते हैं, शुद्ध अर्थ का नहीं । 'गामानय'–इस प्रकार प्रथम वार श्रवण के द्वारा यही अवगत होता है कि 'गो' पद उसी गौ का बोधक है, जो आनीयमान है और 'आनय' पद उसी आनयन क्रिया का वाचक है जो कि गौ में हो रही है । अतः उसी के अनुसार पदों को ही अन्वय-विशिष्ट अर्थ का वाचक मानना न्यायोचित है, शुद्ध अर्थ का बोधक नहीं । कथित आवाप और उद्वाप के द्वारा जो पदार्थों का विविक्तावधारण होता है, वह अन्वय को छोडकर नहीं, अतः अन्वितार्थ में पदों की जो शक्ति गृहीत होती है, उसका त्याग कभी नहीं हो सकता । तब क्या पदों के द्वारा शुद्ध पदार्थों का बोध नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर है कि, पदों से शुद्धार्थ का बोध होता है । पद अपने पदार्थ का स्मरण कराते हैं, किन्तु उतने से ही विरत नहीं हो जाते, अपने स्मारित अर्थ का इतरार्थान्वय के साथ अभिधान करके ही विरत होते हैं, अतः अन्वितरूप वाक्यार्थ पदों का अभिधेय ही होता है, पदार्थों के द्वारा लक्षणीय नहीं, क्योंकि यदि पदार्थों के द्वारा वाक्यार्थ का बोध माना जाता है, तब प्रमाणान्तर से ज्ञात पदार्थों का भी वाक्यार्थ में अन्वय होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता ।

समाधान–वह प्रभाकर का मत गौरव दोष के कारण ही हेय है, क्योंकि हमारे (भाट्टाभिमत) अभिहितान्वयवाद में पदार्थ स्मृति-सिद्ध और वाक्यार्थ लक्षणा सिद्ध है, अतः वाक्य की वाक्यार्थ में शक्त्यन्तर मानने की कोई आवश्यकता नहीं और आपके मतानुसार शक्ति कल्पना में आरम्भ से ही गौरव प्रसक्त हो रहा है । दूसरी बात यह भी है कि पदगत शक्ति की अपेक्षा पदार्थगत शक्ति की कल्पना में लाघव है, क्योंकि एक ही गमनरूप अर्थ के 'गमनम्', 'चलनम्'–इत्यादि अनेक पद वाचक होते हैं, अतः पदार्थ को वाक्यार्थ का बोधक मानने में जो कार्य पदार्थगत एक लक्षणा शक्ति से चलता है, उसके लिए पदों को वाक्यार्थ-बोधक मानने में अनेक पदों में अनेक शक्तियाँ माननी होंगी–इससे अधिक ओर गौरव क्या होगा ? पदार्थ-शक्ति-पक्ष में गमनगत शक्ति से ही गमन के पर्यायार्थों का भी अन्वय-बोध हो जाता है, किन्तु पद-शक्तिपक्ष में गमनार्थक अनन्त पदों की अनन्त शक्तियाँ माननी पडेगी। **अन्विताभिधान-पक्ष में यह भी एक महान् दोष है कि,** जब एक वाक्य का घटक प्रत्येक पद इतरार्थान्वित स्वार्थ का बोधक है, तब वाक्य-घटक प्रत्येक पद से वाक्यार्थ-बोध होना चाहिए एवं प्रथम पद के श्रवण-काल में इतर पद श्रुत ही नहीं होते, इतरार्थान्वय की उपस्थिति ही नहीं होती, तब वह प्रथम पद किस अर्थ का बोधक होगा ?

यह जो आक्षेप किया गया है कि, पदार्थों में अन्वय-बोधकत्व मानने पर शब्देतर प्रमाणों से उपस्थित अर्थों का भी अन्वय प्रसक्त होता है । **वह कहना संगत नहीं,** क्योंकि आप (अन्विताभिधानवादी) के मतानुसार भी 'गां बधान'–ऐसा कहने पर प्रत्यक्षतः दृश्यमान रस्सा तोड़ा कर भागते हुए अश्व का शाब्दबोध में अन्वय क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न के उत्तर में विवश होकर आपको कहना होगा कि अश्व की शब्दतः उपस्थिति नहीं, अतः उसका शाब्द बोध में अन्वय नहीं होता । उसी प्रकार हम भी यही उत्तर दे देंगे कि शब्देतर प्रमाण से उपस्थित पदार्थ शब्दतः उपस्थित न होने के कारण वाक्यार्थ में अन्वित नहीं होता । वहाँ पर भी हमें (भाट्टगणों को) किसी अधिक वस्तु की कल्पना नहीं करनी पडती, अतः हमारा अन्वय-प्रकार ही लघुतर है ।

यहाँ पर आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि–इन तीनों को शाब्द बोध का कारण माना जाता है । 'गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती–इत्यादि निराकांक्ष पदों के द्वारा शाब्द बोध नहीं होता, अतः आकांक्षा को शाब्द बोध में कारण मानना आवश्यक है । उसी प्रकार **'अग्निना सिञ्चति'**–इत्यादि अयोग्य पदों के द्वारा भी अन्वय-बोध नहीं होता, अतः योग्यता भी ग्राह्य है । **सन्निधि के विषय में हमारा मत है कि,** पदार्थों में सन्निहितत्वेन बोधितत्व होना ही सन्निधि पदार्थ है, अतः पदार्थों में सन्निहितत्वाभाव और शब्द-बोधितत्वाभाव–इन दोनों अवस्थाओं में सन्निधि का अभाव माना जाता है । भिन्न-भिन्न कालों में उच्चारित 'गाम्' और 'आनय'–इन दो पदों में सन्निहितत्व न होने के कारण शाब्दबोध नहीं होता और 'गां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बधान'-यहाँ पर प्रत्यक्षतः दृश्यमान भागते हुए अश्व का शाब्द बोध में अन्वय न होने का कारण अश्व में शब्दबोधितत्व न होना है । **फलतः यह नियम सिद्ध हो जाता है कि,** शब्दोपस्थापित पदार्थों का ही अन्वय होता है । **आचार्य प्रभाकर तो बुद्धिकृत सन्निधिमात्र को ही सन्निधि मानते हैं, शाब्द सन्निधि को नहीं,** अतः वे भी 'गां बधान'-यहाँ पर प्रत्यक्षोपस्थापित अश्व का ही अन्वय निवारण में समर्थ नहीं हो सकते, अतः उन्हें भी विवश होकर 'शब्दोपस्थापित अर्थो का ही अन्वय होता है'-ऐसा नियम मानना ही पड़ेगा, यह कहा जा चुका है । 'अश्व में वाक्य का तात्पर्य न होने कारण ही उसका अनन्वय होता है, शब्दोपस्थापित्वाभाव के कारण नहीं'-ऐसा नही कह सकते, क्योंकि तब तो 'अग्निना सिञ्चति'-इत्यादि स्थलों पर भी तात्पर्याभाव-प्रयुक्त अनन्वय दिखाकर योग्यता को भी तिलाञ्जलि दी जा सकती है । अतः अन्वय-बोध में तात्पर्य कहीं भी साक्षात् हेतु नहीं होता, इतर सामग्री के होने पर नियमनार्थ तात्पर्य भी अपेक्षित होता है। **इस प्रकार अन्य उपाय न होने के कारण आचार्य प्रभाकर को भी यह नियम मानना पड़ता है कि शब्दोपस्थापित पदार्थों का ही अन्वयबोध होता है** । इसका लाभ हमें (भाट्ट गणों को) दो स्थलों पर मिलता है, उनमें एक स्थल की चर्चा हो चुकी है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरों से उपस्थापित अश्वादि पदार्थों का अन्वय-प्रसक्त नहीं होता और दूसरा स्थल है-'द्वारम्' इतना मात्र कह देने पर अर्थाध्याहार से काम नहीं चल सकता, अतः 'आव्रियताम्'-इस शब्द का अध्याहार आवश्यक हो जाता है, क्योंकि शब्दोपस्थापित पदार्थों में ही अन्वय की योग्यता आती है-यह हमारा सिद्धान्त अक्षुण्ण है।

गुरुस्त्वावरणार्थस्य तत्राध्याहारमिच्छति । बुद्धिसन्निधिमात्रेणाप्यन्वेतीति दुराशयः ।।१००।।

तत्र यद्यवलिप्तोऽयं गुरुर्नाद्यैव शिक्ष्यते । अर्थाध्याहृतिरेवेति तर्हि गर्जिष्यति ध्रुवम् ।।१०१।।

एवं व्यभिचारभये गलिते वाक्यार्थनिर्णये जाते । पुनरभिधत्ते शब्दोऽप्यनुवादतयेति तस्य सिद्धान्तः ।।१०२।।

व्यभिचारविशङ्कामप्यनादृत्येन्द्रियादिवत् । स्वमर्थमभिधातुं किं समर्था न पदावली ।।१०३।।

तात्पर्यमपि सुज्ञानं स्वतो ज्ञानानुमां विना । यथा वेदे यथा चान्येष्वनालोचितकर्तृषु ।।१०४।।

वक्तृज्ञानामुमानान्तं यदि च प्रतिपाल्यते । तर्हि तस्याप्यशक्यत्वाद्भग्नाशः किं करिष्यसि ।।१०५।।

आचार्य प्रभाकर का कहना है कि, वहाँ 'आव्रियताम्'-इस पद के अध्याहार की आवश्यकता नहीं, केवल आवरणरूप (बन्द करना) अर्थ का ही अध्याहार हो जाने से बौद्ध सन्निधि का लाभ हो जाता है । **विद्वानों से हमारा** (नारायण भट्ट का) **अनुरोध है कि,** प्रभाकर गुरु को ठीक से शिक्षा दे देनी चाहिए (उनके मत का निराकरण कर देना चाहिए) नहीं तो वह यही बोलता रहेगा कि अर्थाध्याहार ही वहाँ पर्याप्त है । इस प्रकार वाक्यार्थ-ज्ञान का क्रम कह दिया गया, असन्निकृष्टार्थविषयक वाक्यार्थ-ज्ञान शाब्द प्रमाण है-यह भी कहा गया, इसे ही आगम प्रमाण कहा जाता है । 'असन्निकृष्ट'-पद के द्वारा अनुवादक और बाधितार्थक वाक्यों का अप्रामाण्य सूचित किया गया ।

उक्त शब्द ज्ञान दो प्रकार का होता है--(१) पौरुषेय और (२) अपौरुषेय । उनमें आप्त-वचन पौरुषेय होने के कारण उससे जनित शाब्द ज्ञान को **पौरुषेय** और अपौरुषेय वेद-वचनों से उत्पादित शाब्द ज्ञान को **अपौरुषेय** कहा जाता है ।

प्रभाकर मत--आचार्य प्रभाकर का कहना है कि, वैदिक ही शाब्दप्रमाण होता है, पौरुषेय नहीं, क्योंकि पुरुष-वचन केवल वक्ता पुरुष के अभिप्राय का अनुमान मात्र कराते हैं, स्वयं वाक्यार्थ का बोध नहीं कराते । उसका कारण यह है कि, पुरुष-वचनों की बोधिका शक्ति व्यभिचार-शङ्का से आक्रान्त होने के कारण कुण्ठित हो जाती है । यद्यपि व्युत्पत्ति के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समय शब्द में बोधकता शक्ति सिद्ध होती है, तथापि अधिकतर पुरुष-वचन असत्य देखे जाते हैं, अतः व्यभिचार बहुल पौरुषेय वचनों की उस शक्ति में कुण्ठा का आ जाना स्वाभाविक होता है । वह अन्यथात्व (विपरीतार्थ-बोधकत्व) की आशङ्का तब तक निवृत्त नहीं होती, जब तक कि यह अनुमान नहीं कर लिया जाता कि **'अनेन वक्त्रा अमुमर्थमवबुध्य एव वाक्यं प्रयुक्तम् ।'** जिस शब्द की शक्ति कुण्ठित हो जाती है, वह अपना कार्य (वाक्यार्थ-बोधन) में उदास (अक्षम) हो जाता है । पुरुष -वचनों का तात्पर्य भी उसकी बुद्धि के अधीन होता है, वक्ता के ज्ञान की अनुमिति के बिना तात्पर्य का अनिश्चय रह जाने के कारण भी वाक्य उदास हो जाता है, अतः वक्ता के ज्ञान का अनुमान नितान्त आवश्यक है । **'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति'**-इस वाक्य को सुनकर श्रोता सभी पदार्थों का पृथक्-पृथक् स्मरण कर अनुमान करता है--**'एतानि पदानि, पदार्थसंसर्गमवबुध्यैव प्रयुक्तानि, आप्तप्रणीतत्वाद्, गामानयेति वाक्यवत् ।'** इस प्रकार वक्ता के पदार्थ-संसर्ग-ज्ञान की अनुमिति करने में थक-थकाकर श्रोता पदार्थ-संसर्गरूप वाक्यार्थ को बलपूर्वक प्राप्त करता है, अतः यह सिद्ध हो गया कि पौरुषेय वचनों में वाक्यार्थ अनुमेय ही होता है । व्यभिचार-शङ्का के निवृत्त हो जाने पर पौरुषेय शब्द भी उसी अर्थ का अनुवाद मात्र कर देता है-यह आचार्य प्रभाकर का सिद्धान्त है । (श्री शालिकनाथ मिश्र कहते हैं-**"लौकिकं वाक्यं नार्थे स्वयं निश्चयमुत्पादयति, लौकिकवचसामनृतभूयिष्ठत्वादर्थव्यभिचारस्य शङ्कितत्वात् । यो हि पुरुष एवमवधारितः-"नायमशक्तः न प्रमादी नायमविज्ञायान्वयमर्थानामन्वितार्थानि प्रयुक्ते इति, तद्वाक्यप्रयोगस्यान्वयज्ञानपूर्वकत्वादन्वयज्ञानं तावदनुमीयते, ज्ञानं हि ज्ञेयाविनाभावि ज्ञेयानुमाने भवत्येव लिङ्गम्। तद्वाक्यस्यानुवादकतैव, अत एव लौकिकं वचनं न शाब्दं प्रमाणम्"** (प्र० पं० पृ० २४४) ।

प्रभाकर-मत का निरास--व्यभिचार-शङ्का का निराकरण करके इन्द्रियादि के समान क्या शब्द अपने अभिधेयार्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकता ? वक्तृस्थ ज्ञान का अनुमान किए बिना स्वतः ही तात्पर्य भी जाना जा सकता है, क्योंकि वेद-वचन के समान ही लौकिक-वचन के कर्त्ता की आलोचना विशेष आवश्यक नहीं, लौकिक और वैदिक शब्दों में भी कोई मौलिक अन्तर नहीं माना जाता, अतः यदि वैदिक वचन स्वतः ही अन्वितार्थ का बोधन कराने की शक्ति रखते हैं, तब लौकिक वचनों में भी उसे मानना होगा, अन्यथा वैदिक वचनों से भी बोध क्यों होगा ? । आपके पूर्वोक्त आप्तप्रणीतत्वलिङ्गक अनुमान में अपेक्षित आप्तत्व का अर्थ भ्रान्त्यादि का अभाव ही है । आप्त पुरुष कभी भ्रान्त नहीं होता । भ्रान्ति की आशङ्का तो कहाँ नहीं हो सकती ? ऋषियों में भी जब भ्रान्ति की शङ्का हो सकती है, तब आधुनिक पुरुषों की बात ही क्या ? भ्रान्ति का देशतः कालतः या विषयतः निरूपण भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'इस वाक्यार्थ में भ्रम नहीं'-इस प्रकार वाक्यार्थज्ञानपूर्वक ही शङ्का हटाई जा सकती है, वाक्यार्थज्ञान के पूर्व आप्तत्व ही असिद्ध है, अतः आप्तत्वरूप हेत्वाभास के द्वारा उसके अन्वितार्थ-ज्ञान का अनुमान क्योंकर हो सकेगा ? इस प्रकार लौकिक शब्द में अनुमानत्ववादी प्रभाकर का निराकरण हो जाने पर सभी शब्दों में अनुमानत्ववादी वैशेषिकादि अपने-आप निरस्त हो जाते हैं ।

एवं लौकिकशब्दानामनुमानत्ववारणात् । सर्वशब्दानुमानत्ववादिनोऽपि हि खेदिताः ।।१०६।।

दुष्टवक्तृप्रणीतत्वदोषः शब्दे यदा भवेत् । तदा स्याद्व्यभिचारोऽपि पौरुषेयगिरां क्वचित् ।।१०७।।

अपौरुषेये वेदे तु पुरुषस्पर्शसंगतः। कलङ्को न विशङ्क्येत तत्कुतो व्यभिचारिता ।।१०८।।

वैशेषिक और बौद्ध द्विप्रमाणवादी कहे जाते हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों में से केवल प्रत्यक्ष और अनुमान-दो ही प्रमाण मानते हैं । वैशेषिकादि सभी शब्दों को प्रमाण न मान कर वाक्यार्थ को अनुमेय मानते हुए कहते हैं--**"शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः, समानविधित्वात् । यथा प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्धलिङ्गदर्शनप्रसिद्धचनुसरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानमेव शब्दादिभ्योऽपीति"** (प्र०भा०पृ १०७) ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वैशेषिकादि का भी निरास उसी प्रकार कर देना चाहिए, क्योंकि वे लोग भी 'निर्दोषवाक्यत्वादिरूप' लिङ्ग के द्वारा ही वाक्यार्थ का अनुमान किया करते हैं, निर्दोषत्व का अर्थ है–भ्रान्त्यादिराहित्य । उसका ज्ञान तभी हो सकेगा, जब कि पहले वाक्यार्थ का ज्ञान हो जाय, फलतः यहाँ पर भी पूर्वोक्त रीति से हेत्वसिद्धि ही है ।

लौकिक और वैदिक–दोनों प्रकार का शाब्द प्रमाण सिद्ध किया गया, उसमें लौकिक वचन जब दुष्ट या अनाप्त पुरुष के द्वारा प्रणीत होता है, तब वाक्यार्थ-बोध व्यभिचरित हो जाता है, किन्तु अपौरूषेय वेद-वचन के साथ पुरुष का किसी प्रकार भी संस्पर्श नहीं होता, अतः वहाँ कोई भी कलङ्क (दोष) सम्भावित नहीं, व्यभिचार-शङ्का तो हो ही कैसे सकती है? विधि, मन्त्र, अर्थवाद के भेद तथा उपदेश और अतिदेश के भेद से वैदिक वचन बहुविध हैं, जिनका निरूपण इस संक्षिप्त ग्रन्थ में नहीं किया जा सकता । (**समस्त साङ्गवेद विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद**–इन पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है । **विधि वाक्य चार प्रकार के होते हैं**–उत्पत्ति विधि, विनियोग विधि, अधिकार विधि और प्रयोग विधि। **योगादि क्रिया और उस के द्रव्य देवतात्मक स्वरूप के बोधक "यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति"** (तं०सं० २/६/३) इत्यादि वाक्यों को **उत्पत्ति विधि,** विहित कर्म के द्रव्यादि अङ्गो के विनियोजक "व्रीहिभिर्यजेत" (आप० श्रौ० ६/३१/१३) इत्यादि वाक्यों को **विनियोग विधि,** कर्म के फल और अधिकारी के बोधक "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"–इत्यादि वाक्यों को **अधिकार विधि** तथा साङ्ग कर्म के अनुष्ठान-क्रम का प्रतिपादन करनेवाले वाक्यों को **प्रयोग विधि** कहा जाता है । कर्म और कर्म-सम्बन्धी पदार्थों का स्मरणादि दिलाने वाले "इषे त्वा" (माध्य० सं० १/१) इत्यादि वाक्य **मन्त्र** कहे जाते हैं । **सभी मन्त्र चार प्रकार के होते हैं**–करण मन्त्र, क्रियमाणानुवादी मन्त्र, अनुमन्त्रण मन्त्र और जप मन्त्र । जिस मन्त्र का उच्चारण करने के अनन्तर कर्म किया जाता है, उसे **करण मन्त्र** कहते हैं, जैसे–याज्या, पुरोऽनुवाक्या आदि । कर्मानुष्ठान के साथ-साथ जो मन्त्र बोला जाता, वह **क्रियमाणानुवादी मन्त्र** है, जैसे "युवा सुवासा" (ऋ० सं० ३/१/३) इत्यादि । यजमान के द्वारा द्रव्यत्यागादि कर्म करने के अनन्तर बोले जानेवाले "एको मम एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि" (श०ब्रा० १/५/५/७) इत्यादि वाक्यों को **अनुमन्त्रण मन्त्र** कहा जाता है । कथित मन्त्रों से अतिरिक्त जिन मन्त्रों का यजमान जप करता है, वे **जप मन्त्र** हैं । अग्निहोत्रादि शब्द कर्म के नामधेय या संज्ञाएँ हैं । "नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्" (मनु० ४/३७) इत्यादि वाक्य **निषेध वाक्य** हैं । विहित कर्मों की प्रशंसा और निषिद्ध कर्मों की निन्दा करनेवाले वाक्य **अर्थवाद** कहे जाते हैं । किसी कर्म के प्रकरण में पठित वाक्यों को **उपदेश** और 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'–इत्यादि वाक्यों को **अतिदेश वाक्य** कहते हैं) ।

दृश्यमानार्थसादृश्यात् स्मर्यमाणार्थगोचरम् । असन्निकृष्टसादृश्यज्ञानं ह्युपमितिर्मता ।।१०९।।
नगरे खलु पूर्वं गां पश्यतोऽपि न भासते । तत्स्थं गवयसादृश्यं गवयस्यानिरीक्षणात् ।।११०।।
कदाचित्तु वनं प्राप्य गवयं वीक्षते यदा । तदा तद्गतगोसाम्यं प्रत्यक्षेणैव गृह्यताम् ।।१११।।
यत्पुनस्तावदेवास्य भाति दूरस्थिते गवि । गवयेनापि सादृश्यं तत्र किंनाम कारणम् ।।११२।।
न हि पूर्वगृहीतं तद्येन स्मर्येत सांप्रतम् । दूरस्थितत्वाच्चेदानीं प्रत्यक्षेण न गृह्यते ।।११३।।
स्पष्टं च भासते तस्मात्प्रमाणान्तरमर्थ्यते । तत्रोपमानमाचख्युः शाबराः शाङ्करा अपि ।।११४।।

(४) उपमान–वन में दृश्यमान गवयादि पदार्थों के सादृश्य से स्मर्यमाण असन्निकृष्ट गोष्ठस्थ गोगत सादृश्य का ज्ञान उपमिति या उपमान प्रमाण कहलाता है, जैसा कि भाष्यकार कहते हैं–**"उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति" (शा०भा०पृ० ३७)** । गवय में गोप्रतियोगिक सादृश्य (समानाकारता) को देखकर जो यह ज्ञान उत्पन्न होता है–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'एतत्सदृशी मदीया गौः ।' वही **उपमिति** होती है । नगरस्थ गौ में गवय का सादृश्य तब तक प्रतीत नहीं होता, जब तक गवय का दर्शन नहीं होता । कदाचित् जब वन की ओर पुरुष जाता है, गवय को देखता है, तब गवयगत गोप्रतियोगिक सादृश्य का प्रत्यक्ष करता है, उसके अनन्तर दूरस्थ गौ में गवय के सादृश्य की जो प्रतीति होती हैं, उसे स्मृतिरूप नहीं मान सकते, क्योंकि नगरस्थ गौ में उसका अनुभव ही नहीं हुआ था, स्मरण कैसे होगा ? प्रत्यक्ष से गोगत सादृश्य का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि उस सादृश्य का गोरूप धर्मी दूर है, इन्द्रिय-सन्निकृष्ट नहीं । अतः गोगत सादृश्य की प्रतीति को मीमांसक और अद्वैत वेदान्ती **उपमान** कहा करते हैं । गवयगत गोसादृश्य का दर्शन **करण (उपमान प्रमाण)** और गोगत गवय-सादृश्य का ज्ञान **फल (उपमिति) होता है** ।।१०९-११४।।

गवयस्थितसादृश्यदर्शनं करणं भवेत् । फलं गोगतसादृश्यज्ञानमित्यवगम्यताम् ।।११५।।

एतत्साधर्म्यवाक्यार्थादुपमानं समीरितम् । एवमेव हि वैधर्म्याद्धर्ममात्राच्च संभवेत् ।।११६।।

यथा तुरङ्ग इत्येष द्विशफो न गवादिवत्। इति वैधर्म्यवाक्यार्थं बुध्वा देशान्तरं गतः ।।११७।।

पशुमेकशफं इष्ट्वा तुरङ्ग इति बुध्यते । तथैव धर्ममात्रे च श्रुते संबन्धधीः क्वचित् ।।११८।।

दीर्घग्रीवः प्रलम्बोष्ठः कण्टकाशी क्रमेलकः । इति श्रुत्वा ततोऽन्यत्र विजानन्ति क्रमेलकम् ।।११९।।

एवं साधर्म्यवैधर्म्यधर्ममात्रविभेदतः । त्रेधातिदेशवाक्यार्थस्तस्मादुपमितिस्त्रिधा ।।१२०।।

तदिदं दुर्मतं हेयं यतः संबन्धधीरियम् । प्रत्यक्षानुगृहीतेन शाब्देनैवोपजन्यते ।।१२१।।

तेनाप्रदर्श्य वाच्यार्थं न शब्दः पर्यवस्यते । पूर्वं च गवयज्ञानान्न शक्यं तत्प्रदर्शनम् ।।१२२।।

उपमानपदं लोके सादृश्ये सति विश्रुतम् । वैधर्म्ये धर्ममात्रे च तत्प्रयोगः कथं हि वः ।।१२३।।

तथातिदेशशब्दोऽपि वाक्ये साधर्म्यबोधके । प्रसिद्धः सोऽपि चान्यत्र कथ्यमानो दुनोति माम् ।।१२४।।

तस्मादनितरशरणं गोगतसादृश्यबोधमेव वयम् । उपमानं गृह्णीमो मानत्रयवादिनोऽपि तेन जिताः ।।१२५।।

अत्र सादृश्यविषये गुरुणा कलहोऽस्ति नः । पदार्थान्तरमेवेदं सादृश्यं मन्यते गुरुः ।।१२६।।

वयं गुणादिसामान्यसमाहारं वदामहे । पदार्थावसरे किञ्चित्तत्प्रकारो वदिष्यते ।।१२७।।

तार्किक रक्षाकार जो उपमान को अनुमान का प्रकार मानते हैं, वे गोगत गवयसादृश्य के ज्ञान का अनुमान किया करते हैं–**यो यत्सादृश्यप्रतियोगी, तेनापि सदृशः, यथा करतलं करतलान्तरेण, गवयगतसादृश्यप्रतियोगी च गौः, तस्माद् गवयेनापि सदृशः'** (ता.र.पृ. ९३) ।

वह उनका प्रकार युक्ति युक्त नहीं, क्योंकि **'यो यद्गतसादृश्यप्रतियोगी, स तेनापि सदृशः'**–इस प्रकार की सामान्य व्याप्तिमात्र के द्वारा अनुमान की प्रवृत्ति मानने पर **'यः कश्चिदग्निरस्ति'**–इसके समान अनियतविशेषक **'यत्किञ्चित्सादृश्यमस्ति'**–इतना ही प्रतीत हो सकता है, अभीष्ट विस्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता, जैसा कि गोगवय-सादृश्य का प्रत्यक्ष । अतः नियत निश्चय न होने के कारण यह सामान्यतो दृष्ट अनुमान नहीं है, अनुमान न हो सकने के कारण प्रमाणन्तर मानना होगा ।'

शङ्का–जब गोगत गवय-सादृश्य की प्रतीति हो रही है, तभी अनुपस्थित पुरुष में गवय के वैधर्म्य की भी प्रतीति हो रही है, अतः यदि सादृश्य प्रतीति को प्रमाणान्तर की अपेक्षा है, तब वैधर्म्य-प्रतीति को भी प्रमाणान्तर की अपेक्षा क्यों न होगी ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान–पुरुषगत वैधर्म्य का स्वरूप है–गवयगत धर्म का अभाव, अतः अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा ही वैधर्म्य का ज्ञान हो जाता है, उसके लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं ।

नैयायिक मत–नैयायिक की उपमान के विषय में अन्य ही धारणा है कि, नगर में गये वनचर से कोई पूछता है–**'गवयो नाम कः ?'** उसका उत्तर वनवासी देता है–**'गोसदृशो गवयः ।'** उसे सुनकर श्रोता वन में जाता है, वहाँ गोसदृश पिण्ड को देखकर उसे यह प्रत्यभिज्ञा होती है कि **'अयमेव स गोसदृशः ।'** उसके अनन्तर **'अयमेव गवयपदवाच्यः'** – इस प्रकार का जो संज्ञा (गवय पद) और संज्ञी (गवय पिण्ड) के सम्बन्ध का ज्ञान होता है, वह संगति-ग्रहण **उपमिति** है और उसका कारणभूत वाक्यार्थ-प्रत्यभिज्ञान **उपमान** कहलाता है । यह संगति-ग्रहण अन्य किसी प्रमाण से नहीं हो सकता, क्योंकि पहले वाक्य-श्रवण के समय गवयरूप संज्ञी का दर्शन न होने के कारण उसके साथ किसी भी शब्द का सम्बन्ध गृहीत नहीं हो सकता और गवय पिण्ड का दर्शन हो जाने पर वनचरोच्चारित वाक्य नष्ट हो चुका होता है, अतः वह गवय का बोध नहीं करा सकता ।

शङ्का–गोसदृश पिण्ड के लिए 'गवय' शब्द का प्रयोग होता है–इतना तो वनचर के वाक्य से अवगत हो ही जाता है, गवय का दर्शन होने पर उसी का अनुमान किया जा सकता है–**'गवयशब्दोऽस्य वाचकः, (असति वृत्त्यन्तरे) लक्षणादीन् विनाऽत्र प्रयुज्यमानत्वाद्, यथा गवि गोशब्दः ।'**

समाधान–तत्र प्रयुज्यमानत्वमात्र ही वाक्य से अवगत हुआ था, लक्षणादि का अभाव तब तक नहीं जाना जा सकता, जब तक कि उक्त शब्द में वाचकत्व की सिद्धि नहीं हो जाती, अतः उक्त हेतु **'विशेषणासिद्ध'** नाम का हेत्वाभास है, उससे सम्बन्ध-ज्ञान सम्भव नहीं, परिशेषतः उपमान-साध्य ही संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध-ग्रहण स्थिर होता है ।

साधर्म्यार्थक वाक्यार्थ से जैसे उपमान होता है, उसी प्रकार वैधर्म्यार्थक वाक्यार्थ से भी संज्ञासंज्ञि-सम्बन्ध-ग्रहण होता है, जैसे कि **'गवादिवद् द्विशफः तुरङ्गो न भवति'**–इस वैधर्म्यार्थक वाक्य को सुनकर कोई व्यक्ति वन में जाता है, वहाँ अश्व को देखकर उसे प्रत्यभिज्ञा होती है कि **'अयमेव द्विशफवैधर्म्यभूतैकशफत्ववान्, तस्मादयमश्वः'** । साधर्म्योपमान और वैधर्म्योपमान के समान ही **तीसरा** एक **धर्ममात्रोपमान** भी है कि, उत्तर भारतवासी के द्वारा कथित **'दीर्घग्रीवः प्रलम्बोष्ठः कठोरतीक्ष्णकण्टकाशी पशुः क्रमेलकः'**–ऐसा वाक्य सुनकर कोई दाक्षिणात्य उत्तरापथ में आता है, यहाँ ऊँट को देखते ही उसे यह प्रत्यभिज्ञा हो जाती है कि **'असौ तादृशः पशुः, तस्मादयं क्रमेलकः'** ।।११५-११६।। श्री वरदराजने उपमान के ये तीनों भेद (ता. र. पृ. ८७ पर) दिखाए हैं–

अत्रातिदेशवाक्यार्थः त्रिविधः परिगृह्यते । साधर्म्यं धर्ममात्रं च वैधर्म्यं चेति भेदतः ।।

नैयायिक मत का निरास–उक्त नैयायिक मत समीचीन नहीं, क्योंकि श्री उदयनाचार्य ने जो संज्ञा-संज्ञि सम्बन्धबोध उपमान का फल कहा है–**"सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह । प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः।।"** (न्या.कु. ३/१०) । **वह संगत नहीं,** क्योंकि वह प्रत्यक्षानुगृहीत शब्द प्रमाण से ही उत्पन्न हो जाता है, उसके लिए प्रमाणान्तर की क्या आवश्यकता ? । को गवयः ? यह प्रश्न भी वाच्यार्थविषयक है और उसके (गोसदृशो गवयः) उत्तर वाक्य का भी तात्पर्य वाच्यार्थ-प्रदर्शन में ही निश्चित है । अतः जब तक गवयपद-वाच्यार्थ का दर्शन नहीं होता, तब तक उक्त (गोसदृशो गवयः) शब्द अपर्यवसित ही रहता है, क्योंकि गवयज्ञान से पहले उसका प्रदर्शन नहीं हो सकता । 'गोसदृशो गवयः'–यह वाक्य गवयदर्शन से पहले गवय का ज्ञान कराने में असमर्थ था और गवय-दर्शन के पश्चात् वही वाक्य गवय-दर्शी के स्मृति-पटल पर उभर कर प्रत्यक्षोपलब्ध गवय में अपना तात्पर्य प्रकट करता हुआ संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध का वैसे ही बोधक हो जाता है, जैसे 'नवकम्बलो वणिक्'–इस प्रकार का वाक्य सुनकर श्रोता उक्त वाक्य का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ तुरन्त नहीं समझ पाता, जब बाजार में जाता है और उस वणिक् (विक्रेता बनिया) के पास नौ कम्बल देखता है, तब उस वाक्य का अर्थ समझ पाता है कि उक्त वाक्य का तात्पर्य नूतन कम्बलों के बोध में नही, अपितु नवसंख्यक कम्बलों में तात्पर्य है, वैसे ही प्रकृत में भी प्रत्यक्ष-दृष्ट गवय में ही संगति-ग्रहण उक्त वाक्य से होता है । वह कार्य जब शब्द प्रमाण से ही चल जाता है, तब उसके लिए उपमानसंज्ञक एक नये प्रमाण की क्या आवश्यकता ?

दूसरी बात यह भी है कि, लोक-व्यवहार में उपमान शब्द का सादृश्य अर्थ ही प्रसिद्ध है, आपने जो वैधर्म्य और धर्ममात्र में भी उपमान का प्रयोग किया है, वह कैसे होगा ? । उसी प्रकार 'अतिदेश' शब्द भी साधर्म्य-बोधक वाक्य के लिए प्रयुक्त होता है, अतः वह भी वैधर्म्यादि के बोधक वाक्य का उपस्थापक क्योंकर होगा ? फलतः असन्निकृष्ट गोगत सादृश्य के बोध को ही हम उपमान कहते हैं, जो कि प्रत्यक्षादि इतर प्रमाणों से प्राप्त नहीं हो सकता। उपमान प्रमाण की स्थापना के द्वारा हमने केवल प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द–इन तीन प्रमाणों के माननेवाले सांख्यादि को भी जीत कर उन्हें इस चौथे प्रमाण (उपमान) को मानने के लिए बाध्य कर दिया । **'सादृश्य' पदार्थ के विषय में हमारा आचार्य प्रभाकर से पुराना विवाद चला आ रहा है, क्योंकि प्रभाकर गुरु 'सादृश्य' पदार्थ को एक पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं, किन्तु हमारा कहना है कि एक वस्तु के उस गुणादिक सामान्य-योग को सादृश्य कहते हैं, जो दूसरी वस्तु में भी रहता है । इसकी विशेष चर्चा प्रमेय-परिच्छेद में की जायगी ।**

श्री चिदानन्द पण्डित ने भी गुरु-मत का निराकरण करते हुए कहा है-"**अत्र केचिद् द्रव्यादिवैधर्म्यात् सादृश्यं तत्त्वान्तरमाहुः, तदयुक्तम्, गुणावयवसामान्यानामेवैकत्र प्रतीतानामन्यत्र सादृश्यबुद्धिविषयत्वात्**" (नीति. पृ. १५०) ।

अन्यथानुपपत्त्या यदुपपादककल्पनम् । तदर्थापत्तिरित्येवं लक्षणं भाष्यभाषितम् ।।१२८।।
साधारणप्रमाणानामसाधारणमानतः । विरोधादविरुद्धांशे धीरर्थापत्तिरिष्यते ।।१२९।।
यथा जीवनमानस्य गृहाभावप्रमाणतः । विरोधात्कारणीभूताद्बहिर्भावस्य कल्पनम् ।।१३०।।
अमुष्यास्त्वनुमानत्वमिच्छन्तस्तार्किका जगुः । न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे चाप्यसौ समः ।।१३१।।
ईदृशस्य विरोधस्य प्रसिद्धानुमितिष्वपि । संभवादनुमाजालमर्थापत्तिर्ग्रसिष्यते ।।१३२।।
तदिदं शिक्ष्यतेऽस्माभिर्विरोधोऽस्त्येव मानयोः । न प्रसिद्धानुमाभङ्गो बहिर्भावे च नानुमा ।।१३३।।
साधारणप्रमाणस्य त्वसाधारणमानतः । बाधेऽपि सावकाशत्वादप्रामाण्यं न जायते ।।१३४।।
ज्ञायमानेऽनुमानेन देवदत्तस्य जीवने । ज्ञातव्यो देशसंबन्धोऽप्यस्यावस्थितिहेतवे ।।१३५।।
तत्र देशत्वसामान्यमात्रं संबध्यते यदि । तर्हि देशत्वसंबन्धाद् देशः स्यात्पुरुषोऽप्यसौ ।।१३६।।
ततश्चानियतव्यक्तिदेशसामान्यसंश्रितम् । ज्ञायते जीवनं तस्य क्वचिज्जीवत्यसाविति ।।१३७।।
तस्माद् गृहे बहिर्वेति संदिग्धमपि कंचन । विशेषमवलम्ब्यैव प्रमितं खलु जीवनम् ।।१३८।।
तत्रैकस्य विशेषस्य बाधेऽन्यग्रहणात् पुरा । बाध्येतैव निरालंबा जीवनप्रमितिः पुरा ।।१३९।।
एवं बहिष्ट्वसिद्धेः प्राग्गृहाभावग्रहागताम् । प्रतिरोधदशां सूक्ष्मामजानन्तो वदन्ति ते ।।१४०।।
अदृष्टपर्वतः पूर्वं कथं तस्याग्निशालिताम् । अवगच्छेदिति ध्वस्तमनुमानेऽपि तन्मतम् ।।१४१।।
तस्योर्ध्वानुपलम्भेन बाधे चाधःप्रकल्पनम् । अर्थापत्तितयैवेष्टमिति कष्टं न किंचन ।।१४२।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(५) अर्थापत्ति–पीनत्वादि उपपाद्य पदार्थ की अन्यथानुपपत्ति के आधार पर जो उसके उपपादक (रात्रि-भोजन) की कल्पना की जाती है, उसे ही भाष्यादि में **अर्थापत्ति** प्रमाण कहा गया है–**"दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना"** (शा०भा०पृ० ३७) ।।२७।। यहाँ दृष्ट और श्रुत का तात्पर्य प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों से अवगत पदार्थ में है, जैसा कि, वार्तिककार (श्लो०वा०पृ० ३५० पर) कहते हैं– **प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत् । अदृष्टं कल्पयेदन्यं साऽर्थापत्तिरुदाहृता ।।**

(दो विरोधी प्रमाणों की विषय-व्यवस्था करने के लिए अर्थापत्ति स्वीकरणीय है–इस सिद्धान्त का निराकरण करते हुए जो श्री उदयनाचार्य (न्या०कु० ३/१९ में) कहते हैं– **अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः । न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ समः ।।**

अर्थात् 'अनियम्य (व्याप्ति-रहित पदार्थ) की अयुक्ति (अनुपपत्ति) नहीं होती । दो प्रमाणों का विरोध कभी नहीं हो सकता, यदि माना जाता है, तब प्रसिद्ध (सर्वमत-सिद्ध) अनुमान प्रमाण में भी अन्यथानुपपत्ति माननी होगी ।' इसी प्रकार श्री वरदराज ने भी जो कहा है–**"प्रमाणद्वयविरोध एवानुपपत्तिरिति चेत्, मैवं व्याहतं भाषिष्ठाः प्रमाणयोः सतो विरोध एवानुपपन्नः"** (ता० र० पृ० ९८) । उन विरोधोद्भावनों को ध्यान में रखकर कहा जाता है कि) **प्रमाण-द्वय-विरोध को विरोधियों ने असङ्गत ठहराया है, अतः अर्थापत्ति का लक्षण उन्हें ऐसा सिखाना चाहिए कि साधारण प्रमाणों का असाधारण प्रमाण से विरोध उपस्थित होने पर अविरुद्धांश में तात्पर्यावधारण अर्थापत्ति प्रमाण है ।** जैसे–जीवन-बोधक (ज्योतिषी के वाक्यरूप शब्द के आधार पर प्रवृत्त अनुमान) प्रमाण का गृहाभाव-बोधक अनुपलब्धि प्रमाण से विरोध होने पर करणीभूत विरोध के द्वारा अर्थापत्तिरूपबहिर्भाव की कल्पना की जाती है । अर्थात् गणितरूप आगम प्रमाण के आधार पर प्रवृत्त अनुमान प्रमाण के द्वारा जो सामान्यतः अवगत होता है कि 'देवगत्तो गृहे वा बहिर्वा क्वचिज्जीवति'। उसका 'गृहे नास्ति'–इस अनुपलब्धि से विरोध होने पर अविरोध-स्थापन करने के लिए ऐसी कल्पना की जाती है–'देवदत्तो बहिरस्ति ।' इस प्रकार प्रमाणद्वयविरोधरूप करण से अर्थापत्ति ज्ञान उत्पन्न होता है ।

शङ्का–कथित अर्थापत्ति का तार्किकगण जो अनुमान में अन्तर्भाव कर देते हैं । उनका कहना है कि, दो विरोधी प्रमाणों का सामञ्जस्य करने के लिए अर्थापत्ति का मानना सम्भव नहीं, क्योंकि **"न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ समः"** (न्या०कु० ३/१९) । अर्थात् एक ही विषय में प्रवृत्ति दो प्रमाणों का विरोध सम्भव नहीं, क्योंकि जैसे रजतविषयक 'इदं रजतम्' और 'नेदं रजतम्'–इन दोनों विरोधी ज्ञानों में एक अप्रमाण होता है, वैसे ही समान विषयक दो विरोधी ज्ञानों में से एक का अप्रमाण होना अनिवार्य है, दोनों प्रमाण नहीं हो सकते । कहीं पर जो दो प्रमाणों का विरोध देखा जाता है, वह सम्भावना मात्र है, क्योंकि गृहाभाव विषयक प्रमाण के द्वारा सन्दिग्ध गृह-सत्त्व का ही बाध होता है, बहिःसत्त्व का नहीं। और जीवितत्वविषयक प्रमाण का देश-सामान्यसम्बन्ध ही विषय होता है, गृह-सत्त्व नहीं, अतः उक्त दोनों प्रमाणों का कोई विरोध ही नहीं, फलतः विरोधकरणक अर्थापत्ति का प्रतिपादन नहीं हो सकता ।

यदि कथमपि उक्त दोनों प्रमाणों का विरोध माना जाता है, तब 'पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्'–इत्यादि प्रसिद्ध अनुमानों को भी अर्थापत्ति ही मानना पडेगा । क्योंकि, 'यत्र धूमस्तत्राग्निः'–इस प्रकार की व्याप्ति के ग्राहक प्रमाण के द्वारा पर्वत में भी अग्नि सिद्ध होती है अथवा दृश्यमान धूम अपने कारणीभूत अग्नि का आक्षेपक हो सकता है । इन दोनों मार्गों से अवगत अग्नि पर्वत के शिखर पर अनुपलब्धिबाधित है, अतः अधोदेश में अग्नि की कल्पना तो अर्थापत्ति ही है। अतः अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव मान कर देवदत्त की बहिर्देशसत्ता का अनुमान कर लेना चाहिए–"देवदत्तो बहिरस्ति, जीवित्वे सति गृहेऽसत्त्वात् । अतः अर्थापत्तिरूप पञ्चम प्रमाण मानना व्यर्थ है ।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान–तार्किकों की बुद्धि इस सूक्ष्म तत्त्व का ग्रहण नहीं कर पा रही है, उन्हें यह समझाना है कि, उक्त स्थल पर दो प्रमाणों का विरोध है, इससे प्रसिद्ध अनुमान भंग नहीं होता और देवदत्त के बहिःसत्त्व का अनुमान भी नहीं किया जा सकता ।

यह जो कहा गया कि दो विरुद्ध ज्ञानों में से एक नियमतः अप्रमाण होता है, वह नियम 'इदं रजतम्' और 'नेदं रजतम्'-के समान असाधारण प्रमाणों का विरोध होने पर ही लागू होता है । किन्तु असाधारण प्रमाण से बाधित होने पर भी साधारण प्रमाण में अप्रामाण्य प्रसक्त नहीं होता । (चिदानन्द पण्डित भी ऐसा ही कहते हैं–**'ननु प्रमाणं चेन्न विरोधः', विरुद्धश्चेन्न प्रमाणम् । तन्न, असाधारणविषयस्यासाधारणविषयेण विरोधादप्रामाण्यम् 'इदं रजतम्', 'नेदं रजतम्'-इतिवत् । साधारणविषयस्य तु प्रामाण्यं विरोधेऽपि विषयान्तरे व्यवस्थितम् । यथात्रैवोदाहरणे 'देवदत्तो गृहे वा बहिर्वा संस्थितः', 'गृहे नावस्थितः–इति प्रमाणद्वयम् । न च नानयोर्विरोधः, गृहे नावस्थितः, गृहे बहिर्वावस्थित इति विरुद्धविषयत्वात्। न चाप्रामाण्यम्, इदं रजतं नेदं रजतमितिवत् सर्वथा विषयापहाराभावात्।** (नीति० पृ० १५८) ।'

यह जो कहा गया कि, उक्त अर्थापत्ति-स्थल पर सन्दिग्ध देश-विशेष का ही बाध होता है, जीवनविषयक प्रमाण का नहीं, वह उचित नहीं, क्योंकि अनुमान के द्वारा देवदत्त के जीवित होने का ज्ञान हो जाने पर उसकी अवस्थिति का सामञ्जस्य करने के लिए देश-सामान्य का सम्बन्ध भी ज्ञातव्य होगा । देश-सामान्य का अर्थ यदि देशगत सामान्य (जाति) किया जाता है, तब देशगत देशत्वरूप सामान्य का देवदत्त के साथ सम्बन्ध हो जाने पर देवदत्त भी देश हो जायेगा। अतः देश सामान्य का अर्थ होगा अनियत देश, फलतः 'असौ क्वचिज्जीवति' - इस प्रकार अनियत देश का सम्बन्ध जीवित पुरुष के साथ अवगत होगा । देश सामान्य से गृहदेश और बहिर्देश–ये दो विशेष देश ही गृहीत होते हैं, अतः देवदत्तः गृहे बहिर्वा जीवति–इस प्रकार सन्दिग्ध देश उक्त दो देशों में से किसी एक विशेष देश का सम्बन्ध जीवन के साथ पर्यवसित होगा, उनमें गृहरूप एक विशेष देश का अनुपलब्धि से बाध हो जाने पर अन्य (बहिर्देश) का ग्रहण होने से पूर्व निराधार जीवन विषयक प्रमाण का अवश्य ही बाध होता है। इस प्रकार बहिर्देश सम्बन्ध से पूर्व गृहाभाव-ज्ञानगत सूक्ष्म प्रतिरोध दशा को न जान पाने के कारण तार्किक लोग कह देते हैं कि, उक्त स्थल पर सन्दिग्ध देश का ही बाध होता है, जीवन-प्रमाण का नहीं ।

यह जो कहा है कि, प्रसिद्धानुमान भी अर्थापत्ति ही हो जायगा, वह भी संगत नहीं, क्योंकि वहाँ पर्वत में अग्नि-प्रापक साधारण प्रमाण कौन है ? व्याप्ति ग्राहक प्रमाण को ही जो पर्वत में अग्नि-प्रापक कहा गया, उसके मूल में प्रभाकर-मत के संस्कार विद्यमान हैं, क्योंकि प्रभाकर का यह मत विगत पृ. ५८ पर दिखाया जा चुका है कि, **व्याप्ति-ग्रहण-काल में ही पर्वत के साथ भी अग्नि का सम्बन्ध अवगत हो जाता है, किन्तु जो व्यक्ति अभी महानस में ही व्याप्ति का ग्रहण कर रहा है, पर्वत तक पहुँचा ही नहीं, वह पर्वत में अग्निमत्ता का ज्ञान कैसे कर लेगा ?** अनुमान-निरूपण के अवसर पर उक्त प्रभाकर-मत का निराकरण किया जा चुका है ।

यह जो कहा गया कि पर्वत में दृश्यमान धूम अपने कारणीभूत अग्नि का आक्षेप कर सकता है, उसकी क्या आवश्यकता ? 'धूमोऽग्निमनुमापयति'–ऐसा ही कहना चाहिए, **अतः पर्वत में अग्नि का प्रापक अनुमान ही साधारण प्रमाण है, अनुमान का अर्थापत्ति में समावेश नहीं हो सकता ।** पर्वत के ऊर्ध्व (शिखर) भाग में अग्नि का बाध होने पर उसके निचले भाग में अग्नि की कल्पना को अर्थापत्ति ही माना जाता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तस्माद्यो विद्यमानस्य गृहाभावोऽवगम्यते । स हेतुः स बहिर्भावं नागृहीत्वा च गृह्यते ।।१४३।।

तार्किकध्वंसनोपायमेवंरुपमजानता। गुरुणा तु प्रलपितो जीवनस्यात्र संशयः ।।१४४।।

जीवनं किल विज्ञातं वेश्मवर्तितया पुरा । तस्माज्जीवनसन्देहो भवेद्वेश्मन्यदर्शनात् ।।१४५।।

सन्दिग्धं जीवनं त्वेतद्बहिर्भावस्य बोधकम् । अर्थापत्तेः प्रभावोऽयं यत्सन्दिग्धोऽपि बोधयेत् ।।१४६।।

एवं जीवनसन्देहे स्यात्सन्दिग्धविशेषणः । हेतुरित्यनुमानत्वनिरासः सुकरोऽत्र नः ।।१४७।।

जीवनं यदि सन्दिग्धं गृहाभावनिरीक्षणात् । तर्हि तन्निर्णयः कार्य आप्तवाक्यादिना पुनः ।।१४८।।

तत्प्रियाकण्ठसूत्रादिचिह्नसंदर्शनेन वा । न च तत्प्रार्थ्यते किंचित्तस्मान्नास्त्येव संशयः ।।१४९।।

किंच नास्ति बहिर्भावग्रहः सन्दिग्धजीवनात् । मृतत्वस्यापि शङ्कायां बहिरस्तीति धीः कथम् ।।१५०।।

यस्माज्जीवति वा नो वा तस्मात्तिष्ठत्यसौ बहिः । इति कल्पयितुं शक्तः कोऽपरो गुरुणा विना ।।१५१।।

अर्थापत्तिप्रभावेण सर्वं संभवतीति चेत् । हन्तैवं सर्ववस्तूनामदृष्ट्या नाशसंशये ।।१५२।।

अन्यत्रास्तीति निश्चित्य कृतार्थो क्रियतां मनः । तस्मात्सन्दिग्धता तावन्नैवार्थापत्तिकारणम् ।।१५३।।

यत्र त्वपरिपूर्णस्य वाक्यस्यान्वयसिद्धये । शब्दोऽध्याह्रियते तत्र श्रुतार्थापत्तिरिष्यते ।।१५४।।

देवदत्त की बहिर्देश में सत्ता सिद्ध करने के लिए जो अनुमान-प्रयोग किया गया–**'देवदत्तो बहिरस्ति, जीवितत्वे सति गृहेऽभावात् ।'** वह स्वरूपासिद्ध है, क्योंकि देशविशेष का बिना उल्लेख किए निर्विशेष जीवनमात्र का निरूपण ही नहीं किया जा सकता । बहिर्भाव का ग्रहण करने से पहले जीवन और गृहाभाव के समुच्चय (जीवितत्वे सति गृहाभाव) की प्रतीति नहीं हो सकती, अतः जीवन-विशिष्ट गृहाभावरूप लिङ्ग का ज्ञान न हो सकने के कारण प्रकृत हेतु स्वरूपासिद्ध नाम का हेत्वाभास है, जैसा कि बृहट्टीका में कहा गया है– **तस्माद् यो विद्यमानस्य गृहाभावोऽवगम्यते । स हेतुः स बहिर्भावं नागृहीत्वा च गृह्यते ।।**

('देवदत्तो बहिरस्ति, गृहाभावात्'–यहाँ पर गृहाभावरूप हेतु का ज्ञान तभी होगा, जब कि बहिर्भाव का ज्ञान हो जाय, अन्यथा यदि देवदत्त कहीं नहीं है, मर गया, तब अभाव मात्र कहा जायेगा, गृहाभाव नहीं) । **कथित युक्तियों से यह सिद्ध हो गया कि अर्थापत्ति एक पृथक् प्रमाण है ।**

तार्किक मत-निराकरण में प्राभाकर तर्क–तार्किक मत के निरास में प्रदर्शित रीति का ज्ञान न होने के कारण श्री प्रभाकर ने तार्किकोक्त अनुमान (देवदत्तो बहिर्देशसंयोगी, गृहाभावे सति विद्यमानत्वात्) का निराकरण करने के लिए कहा है कि, जीवन (विद्यमानत्वरूप) हेतु सन्दिग्ध है, क्योंकि देवदत्त अधिकतर गृह में ही रहता था किन्तु अब वहाँ नहीं दिखाई देता, अतः उसका जीवन सन्दिग्ध है । **सन्दिग्ध जीवन बहिर्भाव का अनुमापक नहीं हो सकता किन्तु उसका आक्षेपक हो सकता है, क्योंकि अर्थापत्ति का प्रभाव ही ऐसा है कि सन्दिग्ध पदार्थ भी उपपादक का कल्पक हो जाता है।** जीवन का सन्देह होने पर उक्त अनुमान का जीवितत्वे सति गृहाभावरूप हेतु सन्दिग्धविशेषणक हो जाता है, अतः अर्थापत्ति को अनुमान से गतार्थ नहीं किया जा सकता । (श्री शालिकनाथ मिश्र कहते हैं- **"नन्वेतद्गृहाभाव-दर्शनाज्जीवतो बहिर्भावकल्पनाऽनुमानमेव–देवदत्तो बहिर्देशसंयोगी, गृहाभावे सति विद्यमानत्वात्। अत्रोच्यते--न तावद् विद्यमानत्वं लिङ्गं भवति, स्वयं सन्देहास्पदीभूतत्वात् । देवदत्तस्य च विद्यमानता गृहसम्बद्धैवावगतेति तदभावप्रतीतौ बहिर्देशसम्बन्धे चानवगते सन्दिह्यते । यथा अनुमानस्य निश्चितं लिङ्गं जनकम्, तथाऽर्थापत्तेः सन्देहग्रस्तमिति नास्ति विरोधः** (प्र०पं० २७३-२७६)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राभाकर-तर्क का निरास—अर्थापत्ति की अनुमानता के निराकरण में प्रभाकर-प्रस्तुत तर्क अत्यन्त उपहासास्पद है, क्योंकि गृह में अभाव देखकर देवदत्त के जीवन में यदि सन्देह उपस्थित हो गया है, तब किसी विश्वास-पात्र पडोंसी से पूछ-जाँच कर निर्णय कर लीजिए अथवा देवदत्त की धर्मपत्नी के कण्ठ-सूत्र और हाथ में चूडी आदि जीवन-चिह्नों को देख लीजिए । यदि देवदत्त के मरणादि का कोई सूचक नहीं, तब उसके जीवन में सन्देह क्यों होगा ? दूसरी बात यह भी है कि, सन्दिग्ध जीव से बहिर्भाव की कल्पना (अर्थापत्ति) भी नहीं हो सकती, क्योंकि देवदत्त की मरणाशङ्का में 'देवदत्तो बहिरस्ति'-ऐसा ज्ञान कैसे होगा ? 'यस्माज्जीवति वा ? नो वा ? तस्माद् असौ बहिरस्ति'-ऐसी कल्पना प्रभाकर गुरु को छोड कर ओर कौन कर सकता है ? (श्री चिदानन्द पण्डित भी ऐसा ही कहते हैं-**यदि गृहाभावदर्शनेन जीवनं सन्दिग्धम्, तर्हि जीवनासाधारणधर्मान्तरदर्शनादेव बहिर्वृत्तितया जीवनं निश्चेतव्यम्, न च तदस्ति, अतः कथं सन्दिग्धाज्जीवनाद् बहिर्वृत्तित्वेन जीवननिश्चयः ? कथञ्च 'यस्माद् देवदत्तो जीवति वा ? न वा ? तस्माद् बहिरस्ति'-इति कल्पनीयम् ?** (नीति० पृ० १५६) । यदि कहा जाय कि अर्थापत्ति के प्रभाव से सन्दिग्ध जीवन भी बहिरस्तित्व का आक्षेपक हो जायगा, तब तो सभी पदार्थों का अदर्शन होने पर उनके नाश की जब शङ्का हो, तब उनके अन्यत्रास्तित्व का निश्चय कर आप अपना हृदय शीतल कर सकते हैं । फलतः यह सिद्ध हो गया कि सन्दिग्ध पदार्थ अर्थापत्ति का कारण नहीं हो सकता । अतः अर्थापत्ति की हमारे द्वारा प्रदर्शितविधा ही निरवद्य है ।

वह अर्थापत्ति दो प्रकार की होती है--(१) दृष्टार्थापत्ति और (२) श्रुतार्थापत्ति । उनमें से दृष्टार्थापत्ति ऊपर दिखाई जा चुकी है । जहाँ अधूरे वाक्य की अन्वयोपपत्ति के लिए अपेक्षित शब्द का अध्याहार किया जाता है, उसे **श्रुतार्थापत्ति** कहते हैं। जैसे-'द्वारं द्वारम्'-इस वाक्य में अन्वय-सिद्धि के लिए किसी शब्द से गम्य आवरणादिरूप दूसरा अर्थ उपस्थित होना चाहिए-यह एक साधारण प्रमाण है । वैसे श्रुत शब्द का अनुपलम्भरूप बाधक के द्वारा बाध हो जाने पर अश्रुत शब्द से गम्य आवरणादि अर्थ की कल्पना करनी होगी । उसमें भी केवल अर्थ की नहीं, वाचक शब्द के साथ ही उसकी कल्पना में तत्पर पुरुष 'शब्द से ही अर्थ का बोध होता है'-ऐसा समझ कर लाघवात् 'आव्रियताम्'-शब्दमात्र की कल्पना करता है, यह शब्द-कल्पना ही श्रुतार्थापत्ति है । (श्री चिदानन्द पण्डित ने भी कहा है-**"द्वारं द्वारमित्येकवाक्यार्थ प्रतिपत्त्यर्थमुच्चरितेन द्वारपदेन प्रतिपन्नस्य द्वारपदार्थस्य सान्वयप्रतिपादनाय योग्येनाकांक्षितेनावरणाद्यर्थान्तरेण श्रुतशब्दविषयेणाश्रुतशब्दविषयेण वा भवितव्यमिति साधारणप्रमाणस्य श्रुतशब्दविषयत्वेन तादृशार्थान्तराभावग्राहिणानुपलम्भेन सह विरोधादाकाङ्क्षितस्य योग्यस्यावरणाद्यर्थान्तरस्याश्रुतशब्दविषयत्वेन कल्पनं श्रुतार्थापत्तिः** (नीति० पृ० १६५-६६) ।"

प्रभाकर गुरु का जो कहना है कि, उक्त स्थल पर आवरणादि अर्थ की ही कल्पना की जाती है, शब्द की नहीं, अतः श्रुतार्थापत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं । वह उनका कहना उचित नहीं, क्योंकि शब्दोपस्थापित अर्थ का शाब्द अर्थ के साथ ही अन्वय होता है-यह ऊपर कहा जा चुका है (चिदानन्द पण्डित ने भी यही समाधान किया है-**"आवरणादिशब्दगम्येनावरणाद्यर्थेन विनाऽनुपपत्तेः, शाब्दस्य शाब्देनैवान्वयात्"** (नीति. पृ. १६६) ।

दूसरी बात यह भी है कि, यदि अधूरे वाक्य की पूर्ति के लिए केवल अर्थ की ही कल्पना की जाती है, तब "सौयं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस्कामः" (तै.सं. १/३/२) इस वाक्य से विहित सौर्य इष्टि में 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'-इस अतिदेश वाक्य से प्राप्त "अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि" (तै.सं. २/२/३६) इस मन्त्र में प्रकृत सूर्य देवता का अन्वय करने के लिये 'अग्नये' पद के स्थान पर 'सूर्याय' पद का ऊह जो (जै० सू० ९/३/१) में सिद्धान्तित है, वह असंगत हो जायगा, क्योंकि आपकी रीति से सूर्यरूप अर्थ का अध्याहार कर लेने मात्र से अन्वयार्थ सम्पन्न हो जाता है, शब्द-कल्पना की आवश्यकता क्या ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शङ्का–दर्शपूर्णमासरूप प्रकृति कर्म में अपेक्षित अग्न्यादि देवताओं की वाचक पदों के द्वारा ही उपस्थिति कराई जाती है, उसी के अनुरूप सौर्य इष्टिरूप विकृति कार्य में भी अपेक्षित सूर्य देवता की उपस्थिति कराने के लिए 'सूर्य' पद का अध्याहार आवश्यक है ।

समाधान–प्रकृति कर्म में जो-जो देखा गया है, उस समस्त कार्यकलाप का विकृति में अतिदेश नहीं होता, अपितु विकृति कर्म अपने प्रयोजन के लिए उपयोगी अङ्गो का ही लाभ करता है, देवता का पदबोधितत्व निष्प्रयोजन होने के कारण सौर्य इष्टि में प्राप्त नहीं होता । यदि प्रकृति के सभी पदार्थों का यथावत् अनुष्ठान विकृति में आवश्यक हो, तब दर्शपूर्णमासीय व्रीहि द्रव्य में "व्रीहीनवहन्ति" इस वाक्य से प्राप्त अवहनन भी विकृति के कृष्णल (सुवर्ण-कणों) में प्राप्त होगा, किन्तु वहाँ तुष-निवृत्तिरूप प्रयोजन न होने के कारण कृष्णलों में अवघात प्राप्त नहीं किया जाता है, वैसे ही सौर्य इष्टि में सूर्य देवता की उपस्थिति के लिये पदोपस्थापितत्व निष्प्रयोजन होने से प्रसक्त नहीं होता । फलतः श्रुतार्थापत्ति के द्वारा ही पदों का अध्याहार हो सकता है ।

अथोपलम्भयोग्यत्वे सत्यप्यनुपलम्भनम् । अभावाख्यं प्रमाणं स्यादभावस्यावबोधकम् ।।१५५।।

विषयं तदधीनांश्च सन्निकर्षादिकान् विना । उपलम्भस्य सामग्रीसम्पत्तिः खलु योग्यता ।।१५६।।

सा च ज्ञाततयाभावज्ञानस्य सहकारिणी । अज्ञातोऽनुपलम्भस्तु सत्तामात्रेण बोधकः ।।१५७।।

योग्यत्वावगमार्थं हि सूक्ष्मार्थाभाववेदने । सूक्ष्मबोधकनेत्रांशुसंपातार्थं प्रयत्यते ।।१५८।।

योग्यत्वस्य च सन्देहे विपर्यासेऽथवा सति । अभावेऽपि हि सन्देहो भ्रमो वास्त्येव तद्यथा ।।१५९।।

तमसि भ्रष्टमन्विष्यन् कराभ्यामङ्गुलीयकम् । सर्वोर्वीस्पर्शसन्देहादभावेऽप्येति संशयम् ।।१६०।।

तथैव सर्वतोऽस्पर्शे मत्वा सर्वाभिमर्शनम् । सत एवाङ्गुलीयस्याप्यभावं बुध्यते भ्रमात् ।।१६१।।

स्मृत्यभावं मनोग्राह्यमिच्छन्ति किल तार्किकः । तच्चायुक्तं वयं तावत् ज्ञानाप्रत्यक्षवादिनः ।।१६२।।

(६) अनुपलब्धि–अभावरूप अर्थ के बोधक अनुपलब्धि प्रमाण का लक्षण है–**'उपलम्भयोग्यत्वे सत्यनुपलम्भनम्।'** यह ज्ञानाभावरूप अनुपलम्भ अभाव-प्रमा का करण होने के कारण **अभाव प्रमाण** कहा जाता है । **यहाँ उपलम्भयोग्यता का अर्थ है**–विषय और विषयसन्निकर्षादि को छोडकर विषयोपलम्भ की सामग्री-सम्पत्ति । वह सामग्री-सम्पत्ति ज्ञात होकर अभाव-ज्ञान की सहायिका मानी जाती है और अज्ञात अनुपलम्भ सत्तामात्र से बोधक होता है । अर्थात् 'विषयभूत घट और घटाधीन इन्द्रिय-सन्निकर्षादि को छोडकर जो चक्षु का उन्मीलन, आलोक-संयोग और मनःप्रणिधानादि घटोपलम्भ की सामग्री है, वह सब विद्यमान है'–ऐसा ज्ञान हो जाने पर उस ज्ञान से युक्त घटानुपलम्भ घटाभाव का बोधक होता है--ऐसी ही व्यवस्था सर्वत्र समझ लेनी चाहिए । उक्त योग्यता का ज्ञान करने के लिए सूक्ष्म पदार्थों के अभाव का ज्ञान आवश्यक है, अतः सूक्ष्मार्थ-बोधक नेत्र-रश्मियों के संयोगार्थ प्रयत्न विशेष भी अपेक्षित होता है । **कथित योग्यता का सन्देह अथवा विपर्यय हो जाने पर अभाव के विषय में भी सन्देह या भ्रम (विपर्यय) हो जाता है,** जैसे कि, अँधेरे में खोई हुई अँगूठी के सभी भूतल पर हाथ फेर लेने पर भी योग्यता में सन्देह रह जाने के कारण अभाव का सन्देह हो जाता है और सभी भूतल का स्पर्श न होने पर भी सर्वाभिमर्शन का अभिमान हो जाने पर विद्यमान अँगूठी का भी भ्रमतः अभाव समझ लिया जाता है । अतः योग्यता का निश्चय अभावज्ञान में आवश्यक होता है । **अनुपलम्भ दो प्रकार का होता है–(१) प्रमाणाभाव और (२) स्मरणाभाव** । इन में प्रत्यक्ष प्रमाण के अभावरूप अनुपलम्भ से घटादि के अभाव का ज्ञान ऊपर कहा गया । उसी प्रकार अनुमान-गम्य पदार्थों के अभाव का ग्रहण करने के लिए योग्यानुमानादि को बोधक समझ लेना चाहिए, जैसे कि रूप-दर्शन-बोधक चेष्टालिङ्गक अनुमान की अनुत्पत्ति उलूक के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिन में रूप-दर्शनाभाव की बोधिका है-ऐसा मनोरथ मिश्र ने कहा है । इसी प्रकार अन्य प्रमाणों के विषय में कहा जा सकता है । स्मरणाभाव से ज्ञान का प्रकार यह है कि 'प्रातरिह मैत्रो नासीद्'-ऐसा सायं काल में ज्ञान होता है । वहाँ पर प्रातःकालीन मैत्र की सायं काल में दर्शन-योग्यता न रहने के कारण 'स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मरण को ही प्रातःकालीन मैत्राभाव का बोधक माना जाता है ।"

तार्किकगण जो अभाव को प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय मान कर अनुपलब्धि प्रमाण का विषय नहीं मानते, वह अयुक्त है, क्योंकि उन्हें भी सायंकाल में प्रातःकालीन अभाव का ज्ञान इन्द्रिय-जन्य सम्भव न होने के कारण अनुपलब्धि-जन्य ही मानना पडेगा । उसके स्मरणाभावरूप लिङ्ग के द्वारा प्रातःकालीन अभाव का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्मरणाभावरूप लिङ्ग का ज्ञान सम्भव नहीं । **यह जो तार्किकगण स्मृत्यभाव को मनोग्राह्य मानते हैं,** जैसा कि श्री वरदराज कहते हैं-**"स्मरणाभावश्च मानसप्रत्यक्षः"** (ता० र० पृ० १०) । **वह असंगत है,** क्योंकि हम (भाट्ट गण) ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं मानते, अतः ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता । प्रत्यक्षप्रतियोगिक अभाव का ही प्रत्यक्ष होता है, फलतः स्मृतिरूप ज्ञान का अभाव मन के द्वारा भी गृहीत नहीं हो सकता ।

मनःप्रत्यक्षगम्यत्वं ज्ञानानां वारयामहे । ततश्च तदभावोऽपि मनसा गृह्यते कथम् ।।१६३।।

पूर्वोक्तयोग्यतासिद्धावुपक्षीणमिहेन्द्रियम् । ग्राह्या चाभावबोधार्थं योग्यता तार्किकैरपि ।।१६४।।

घटो यदि भवेदत्र तर्हि दृश्येत भूमिवत् । इति तर्कात्मना तेऽपि योग्यतामेव गृह्णते ।।१६५।।

अस्ति चेदुपलभ्येतेत्यस्य कोऽर्थो विचार्यताम् । घटादन्योऽत्र सर्वोऽपि ज्ञानहेतुरभूदिति ।।१६६।।

संस्कारो हि स्मृतौ हेतुः स चाज्ञातोऽवबोधकः । अज्ञातकरणाप्येवं स्मृतिर्नाध्यक्षतां गता ।।१६७।।

न खल्विन्द्रियदोषः स्यादभावभ्रमकारणम् । योग्यताभ्रम एवात्र तन्कारणमितीरितम् ।।१६८।।

शङ्का-अभाव में प्रत्यक्ष-विषयता का अनुमान किया जाता है, जैसा कि श्री उदयनाचार्य (न्या० कु० ३/२० में) कहते है- **प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यादिन्द्रियस्यानुपक्षयात् । अज्ञातकरणत्वाच्च भावावेशाच्च चेतसः ।।** (घटादि की ग्राहक इन्द्रियाँ घटाभाव के ग्रहण में उपक्षीण नहीं होती, अतः घटाभावादि की प्रतिपत्ति (प्रमा) अपरोक्ष ही होती है । अज्ञातकरणक होने के कारण भी अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है, अनुपलब्धि-गम्य नहीं, क्योंकि मन की सहायता के बिना कोई ज्ञान नहीं होता और मन भावभूत इन्द्रियादि करणों का ही सहायक होता है, अभावभूत अनुपलब्धि करण का नहीं) । अभाव की प्रत्यक्षता सिद्ध करने के लिए अनुमान-प्रयोग ऐसा किया जा सकता है-**'अभावः प्रत्यक्षः, अपरोक्षप्रतीतत्वाद्, घटवत् ।'**

समाधान-उक्त अनुमान में स्वरूपासिद्धि दोष है, क्योंकि अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता, अभाव के अधिकरणीभूत भूतलादि का ही प्रत्यक्ष होता है, अत एव आप (तार्किकों) को भूतलवृत्ति अभाव में प्रत्यक्षता का भ्रम हो जाता है । 'इन्द्रियस्यानुपक्षयात्'-ऐसा कह कर श्री उदयनाचार्यने जो अनुमान-प्रयोग सूचित किया है-**'अभावज्ञानं प्रत्यक्षम्, अनुपक्षीणेन्द्रियजन्यत्वाद्, घटवत्** (श्री वरदराज ने भी कहा है-**"भूतले घटो नास्तीति प्रतीतिरिन्द्रियजन्या, अनन्यत्रोपक्षीणेन्द्रियव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाद्, रूपादिबुद्धिवत्"** (ता० र० पृ० १०२) । वह अनुमान भी विशेषासिद्ध है, क्योंकि पूर्वोक्त अनुपलब्धि प्रमाण में अपेक्षित योग्यता की सिद्धि में इन्द्रियाँ उपक्षीण हो जाती हैं (श्री चिदानन्द पण्डित भी यही दोष देते हैं-**"विषयतदधीनेतरकारणसाकल्यलक्षणयोग्यत्वायेन्द्रियस्यान्यथासिद्धत्वात्"** (नीति० पृ० १७४) । तार्किकगण भी अभाव का प्रत्यक्ष करने के लिए उक्त योग्यता की नित्यापेक्षणीयता स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनका 'अत्र घटो यदि भवेत्, तर्हि भूतलादिवद् दृश्येत'-इस प्रकार का प्रसञ्जन तर्क योग्यता के बिना सम्भव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं हो सकता । 'अस्ति चेदुपलभ्येत'–इस वाक्य का क्या तात्पर्य है ? इसकी गहराई में जाकर सोचा जाय, तब घट-भिन्न समस्त घटोपलम्भक सामग्री वहाँ सिद्ध होती है, वही योग्यता है ।

यह जो श्री वरदराज ने (ता० र० पृ० १०५ पर) 'अज्ञातकरणत्वात्' ऐसा कहकर अनुमान सूचित किया है-**अभावज्ञानं प्रत्यक्षम्, अज्ञातकरणकत्वाद्, घटादिवत्** (अर्थात् अनुमित्यादि ज्ञानों का धूमादिकरण ज्ञात होकर ही अनुमित्यादि को उत्पन्न करता है, किन्तु घटादि के प्रत्यक्ष ज्ञान का चक्षुरिन्द्रियरूप करण अज्ञात होकर ही ज्ञान का जनक माना जाता है, अतः प्रत्यक्ष ज्ञान को अज्ञातकरणक ज्ञान कहा जाता है) । उक्त अनुमान का अज्ञातकरणकत्वरूप हेतु स्मृतिज्ञान में अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है, क्योंकि स्मृति ज्ञान के संस्कार ही करण हैं और संस्कार अज्ञात रहकर ही स्मृति के जनक माने जाते हैं, अतः स्मृति ज्ञान में प्रत्यक्षत्वरूप साध्य के न होने पर भी अज्ञातकरणकत्वरूप हेतु रह जाता है । चिदानन्द पण्डित ने भी कहा है-**"स्मृतावनैकान्तिकत्वात्"** (नीति० पृ० १७५) ।

श्री उदयनाचार्य की "भावावेशाच्च चेतसः" –इस उक्ति का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए श्री वरदराज ने जो कहा है कि **"सर्वत्र बाह्यार्थेषु भावप्रमाणावष्टम्भेनैव मनसोऽपि ज्ञानहेतुत्वं दृष्टमित्यभावज्ञानेऽपि तथात्वमुपगम्यते इत्यनुपलब्धिसहकारित्वं नोपपद्यते"** (ता० र० पृ० १०५) । उसके द्वारा जो अनुमान सूचित किया गया है-**'अभावज्ञानं भावरूपकरणाविष्टमनोजन्यम्, ज्ञानत्वात्, ज्ञानान्तरवत्** ।' वह अनुमान भी अयुक्त है, क्योंकि इसका बाधक अनुमान इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-**'अभावज्ञानम् इन्द्रियेतरकरणकम्, अभावज्ञानत्वाद्, अनुमेयाभावज्ञानवत् ।'**

"इन्द्रियदोषेण दूष्यमाणमभावज्ञानं तदेवात्मनः करणीकरोति, कारणदोषादेव हि कार्यदोषाः प्रादुर्भवन्ति" (ता० र० पृ० १०६) इस प्रकार की वरदराज-प्रदर्शित व्याप्ति के आधार पर जो अनुमान सूचित होता है-**'अभावज्ञानम् इन्द्रियकरणकम्, इन्द्रियदोषेण दूष्यमाणत्वाद्, यथा चक्षुर्दोषेण दूष्यमाणरूपज्ञानम् चक्षुःकरणकम्'** । वह अनुमान भी असिद्ध है, क्योंकि इन्द्रिय-दोष अभाव भ्रम का कारण नहीं होता, अपि तु योग्यताभ्रम ही अभाव-भ्रम का कारण होता है । (असिद्धि का ही विमलीकरण करते हुए श्री चिदानन्द पण्डित ने कहा है-**"अभावज्ञानं प्रति योग्यत्वस्य ज्ञाततया हेतुत्वाद्, योग्यत्वभ्रमादेवाभावभ्रमः, नेन्द्रियदोषात् लिङ्गभ्रमादिव लैङ्गिकभ्रम इतीन्द्रियदोषानुविधायित्वस्यासिद्धत्वात्"** (नीति० पृ० १७६)।

'चक्षुरभावग्राहकम्, इन्द्रियत्वात्, मनोवत्'–इत्यादि जो अनुमान किए जाते हैं, वे सब विशेषविरुद्ध है, क्योंकि इन्द्रिय स्व-सम्बद्ध विषय का ही ग्राहक है किन्तु अभाव के साथ इन्द्रिय का कोई संयोगादि सम्बन्ध सम्भव नहीं, नैयायिक जो विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध माना करते हैं, वह भी संयोगादिसम्बन्धान्तरपूर्वक ही होता है । (चिदानन्द पण्डित ने वैसे सभी अनुमानों का प्रदर्शन और निरास इस प्रकार किया है-**यानि (१) चक्षुरभावग्राहकम्, इन्द्रियत्वात् मनोवत् । (२) अभावः स्वप्रतियोगिसर्वप्रमाणात्यन्तसजातीयग्राह्यः, अभावत्वाद्, अनुमेयाभाववत् । (३) सत्ता सामान्यसमवायातिरिक्ता अस्मत्प्रत्यक्षात् परावृत्ता, जातित्वाद्, गोत्वादिवद् - इत्यादीनि साधनानि, तानि बाह्येन्द्रियस्य संयोगादित्रिविधसन्निकर्षवत एव तज्ज्ञानहेतुत्वव्याप्तेरभावे च तदभावाद् विशेषरुद्धानि । किञ्च अभावः प्रत्यक्षो न भवति, अभावत्वाद्, अनुमेयाभाववत् ।' 'सत्ता अस्मत्प्रत्यक्षात्परावृत्ता, जातित्वाद्, गोत्ववद्'--इत्यादिना प्रथमस्य हेतोः सप्रतिसाधनत्वं द्वितीयतृतीययोर्विरुद्धाव्यभिचारित्वं च द्रष्टव्यम्"** (नीति० पृ० १७६)

केवल इतना ही नहीं, कथित प्रत्यक्षत्व-साधक प्रायः सभी हेतु **व्याप्त्यसिद्ध** भी हैं, क्योंकि वहाँ इन्द्रिय सम्बन्धादिरूप योग्यता ही उपाधि है, जो कि घटादि में प्रत्यक्षत्वरूप साध्य की व्यापक और अभावरूप पक्ष में साधन की अव्यापक है, क्योंकि अभाव के साथ इन्द्रिय का कोई सम्बन्ध नहीं बनता-यह कहा जा चुका है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपि चेन्द्रियसंबन्धयोग्यतैव हि वस्तुनः । प्रत्यक्षत्वं उपाधिः स्याद्व्याप्त्यसिद्धास्ततोऽखिलाः ।।१६९।।

प्रत्यक्षत्वे ह्यभावस्य स्थिते कश्चित् कथंचन । कष्टोऽपि संनिकर्षः स्यात्तदेवाद्यापि न स्थितम् ।।१७०।।

प्रतियोगिस्मृतिर्न स्यादादितो निर्विकल्पके । ततश्च सविकल्पेनैवाभावज्ञानमिच्छसि ।।१७१।।

अभावाख्यं तु वस्त्वेव नास्तीत्याह प्रभाकरः । तेन प्रमाणचिन्तामेवैनां परिहसत्यसौ ।।१७२।।

तमप्यपाकरिष्यामः पदार्थानां समर्थने । तदेवं निष्प्रतिद्वन्द्वा षट्प्रमाणी समर्थिता ।।१७३।।

शङ्का–अभाव के साथ इन्द्रिय का विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध है, जिसकी चर्चा पूर्व में आ चुकी हैं । फलतः उक्त उपाधि में साधन की भी व्यापकता ही सिद्ध होती है, अव्यापकता नहीं ।

समाधान–यदि अभाव में प्रत्यक्षत्व सिद्ध हो जाता, तब अवश्य किसी न किसी प्रकार अभाव के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध स्थापित करने का कष्ट भी सहन किया जा सकता था, किन्तु अभाव में प्रत्यक्षता अभी तक सिद्ध नहीं हो पाई। दूसरी बात यह भी है कि, अभाव और भूतल में विशेष्य-विशेषणभाव की असिद्धि भी है–**'अभावभूतले विशेषणविशेष्यभावरहिते, सम्बन्धान्तररहितत्वात्, मेरुविन्ध्यवत् ।'** (अर्थात् 'घटवद् भूतलम्'–यहाँ पर घट विशेषण और भूतल विशेष्य है, क्योंकि भूतल के साथ घट का संयोग सम्बन्ध है, उस संयोग का प्रतियोगीभूत घट विशेषण और अनुयोगीभूत भूतल विशेष्य है, किन्तु अभाव और भूतल में वैसा विशेषणता और विशेष्यता का नियामक कोई सम्बन्ध नहीं, अतः उनमें विशेषण-विशेष्यभाव की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती) असत् विशेषण-विशेष्यभाव को सन्निकर्ष नहीं बनाया जा सकता ।

एक बात ओर भी है कि, तार्किकगण अभाव का निर्विकल्पक बोध नहीं मानते, क्योंकि अभाव-ज्ञान में प्रतियोगी का स्मरण आवश्यक है, अभाव-ज्ञान को आरम्भ से ही निर्विकल्पक मानने पर प्रतियोगी का स्मरण नहीं होगा, जैसा कि श्री चिदानन्द पण्डित ने भी कहा है–**"अभावस्य प्रतियोगिव्यङ्ग्यत्वेन निर्विकल्पकानर्हत्वात्"** (नीति० पृ० १७९) । इस लिए भी अभाव में प्रत्यक्षता का अभाव सिद्ध होता है–**'अभावः प्रत्यक्षो न भवति निर्विकल्पकानर्हत्वाद्, अतीन्द्रियवस्तुतवत्। फलतः नैयायिकों की मान्यता का निरोध हो जाने पर यह निर्विरोध सिद्ध हो जाता है कि अनुपलब्धि प्रमाण का ही अभाव विषय है ।'**

आचार्य प्रभाकर कहते हैं कि, अभावसंज्ञक कोई पदार्थ होता ही नहीं, अतः अभाव का ग्रहण करने के लिए इस प्रमाण-चिन्ता का वे उपहास उडाते हैं, उनका भी अपाकरण प्रमेयं-निरूपण में किया जायेगा । यहाँ प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों का यह संक्षिप्त समर्थन प्रस्तुत किया गया ।

ये तु संभवमैतिह्यमिति मानान्तरं विदुः । तेऽनुमाने च शाब्दे च चोरवृत्तिमुपाश्रिताः ।।१७४।।

यत्सहस्रादिसङ्ख्यासु शतादेः सत्त्ववेदनम् । खार्यादिपरिमाणेषु प्रस्थादिग्रहणं च यत् ।।१७५।।

तत्संभव इति प्राहुरन्तर्भावो हि संभवः । तच्चानुमानिकं ज्ञानमिच्छन्ति स्वच्छचेतसः ।।१७६।।

एकस्य तावद् द्वित्वादौ समावेशनिरीक्षणात् । ज्ञायतेऽधिकसङ्ख्यायामल्पसङ्ख्यासमन्वयः ।।१७७।।

ततश्च व्याप्तिविज्ञानादल्पसङ्ख्याः शतादयः । सहस्रादिषु गम्येरन्नधिकत्वेन हेतुना ।।१७८।।

तथैव परिमाणेष्वप्यधिकादल्पवेदनम् । ऊह्यमित्यनुमानत्वसंभवात्संभवो हतः ।।१७९।।

प्रवादमात्रशरणं वाक्यमैतिह्यमुच्यते । वटे वटे वैश्रवणस्तिष्ठतीत्यादिकं यथा ।।१८०।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्प्रायो मूलराहित्यादप्रमाणतयेष्यते । नन्वेवं कृष्णरामादिकथापि हि कथं हि वः ।।१८१।।

मैवं स्मृतिवदाप्तोक्तिप्रसिद्ध्या मूलसंभवात् । मानान्तराविरोधाच्च शाब्दमेव हि तादृशम् ।।१८२।।

किंच कृष्णादिवृत्तान्तसाधुता साधु साधिता । न्यायनिर्णयकारेण पुरुषोत्कर्षसाधने ।।१८३।।

तस्मात्कुत्रचिदैतिह्यं सत्यं चेच्छाब्दमेव तत् । अतः षडेव मानानि मानयन्ति मनीषिणः ।।१८४।।

राम षड् युक्तयो लोके याभिः सर्वोऽनुदृश्यते । इति रामायणेऽप्युक्तं तस्मात् सर्वे सुमङ्गलम् ।।१८५।।

सम्भवादि प्रमाण का अन्तर्भाव–जो (१) सम्भव और (२) ऐतिह्य नाम के दो अन्य प्रमाण माने जाते हैं, वे क्रमशः अनुमान और शब्द में विलीन हो जाते हैं–(१) सहस्रादि महा संख्या में जो शतादि अवान्तर संख्या की सत्ता का अथवा खारी आदि महा परिमाणों में प्रस्थादि अवान्तर परिमाणों का जो ज्ञान होता है, उसे ही **सम्भव प्रमाण** कहा करते हैं (जिस व्यक्ति के पास एक हजार रुपये हैं, उसे अपने-आप ज्ञान हो जाता है कि सौ रुपये मेरे पास हैं, क्योंकि हजार की संख्या में शतादि का समावेश है । इसी प्रकार एक खारीभर अन्न जिसके पास है, उसे अपने आप यह बोध हो जाता है कि एक प्रस्थ अन्न मेरे पास है, क्योंकि–

पलं प्रकुञ्चकं मुष्टिः कुडवस्तच्चतुष्टयम् । चत्वारः कुडवाः प्रस्थः चतुःप्रस्थमथाढकम् ।।
अष्टाढको भवेद् द्रोणो द्रोणो द्विद्रोणः सूर्पमुच्यते । सार्धसूर्पो भवेत् खारी द्विद्रोणा गोण्युदाहृता ।।

इत्यादि कोश के अनुसार भार या वजन के विशेष परिमाण विभिन्न नामों से जो कभी प्रचलित थे, उनमें खारी परिमाण कई प्रस्थों का होता था, अतः खारी के ज्ञान से प्रस्थ का ज्ञान सुलभ है) । 'सम्भव' शब्द का अर्थ अन्तर्भाव होता है। **इस सम्भव-ज्ञान को प्रबुद्ध व्यक्ति आनुमानिक ही मानते हैं,** क्योंकि एक और एक मिलाकर दो होते हैं, अतः दो में एक का सम्भव या समावेश नैसर्गिक है, अतः अधिक संख्या के ज्ञान से न्यून संख्या का ज्ञान हो जाता है, फलतः सहस्रादि अधिक संख्या में व्याप्ति के बल पर शतादि संख्या का ज्ञान हो जाता है । श्री वरदराज ने भी कहा है–**"सम्भवो नाम सहस्रादेः शतादिविज्ञानम्, तदप्यविनाभावप्रतिसन्धानेन जायते इत्यनुमानमेव"** (ता० र० पृ० ११६) । इसी प्रकार परिमाणों में भी अधिक से अल्प का ज्ञान अनुमान से ही हो जाता है, अतः सम्भव प्रमाण को पृथक् मानना आवश्यक नहीं ।।१७८।।

(२) प्रवाद-परम्परा को ऐतिह्य प्रमाण कहा करते हैं ("अनन्तावसथेतिहभेषजाञ्ञ्यः" (पा० सू० ५/४/२३) इस पाणिनि सूत्र के द्वारा प्रवादार्थक 'इतिह'–इस निपात-समुदाय से स्वार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है–इतिहैवैतिह्यम् । जैसे **"वटे वटे वैश्रमणः चत्वरे चत्वरे शिवः"**–इत्यादि कर्मारम्भ माङ्गलिक पद्यों में प्रवाद-परम्परा वर्णित है, **उसमें जो निर्मूल और निराधार वाक्य हैं, वे प्रायः अप्रमाण ही माने जाते हैं** । राम और कृष्णादि की कथाएँ बद्धमूल होने के कारण स्मृति प्रमाण के अन्तर्गत हैं, उनका प्रमाणान्तर से किसी प्रकार का विरोध नहीं । न्यायनिर्णयकारों ने राम, कृष्णादि के वृत्तान्तों की प्रामाणिकता सिद्ध की है, अतः ऐसे ऐतिह्य कथानक सत्य होने पर भी शब्द प्रमाण के अन्तर्गत माने जाते हैं । **अतः छः प्रमाण ही मनीषिगण मानते हैं,** रामायण में भी कहा गया है–**"राम षड्युक्तयो लोके याभिः सर्वोऽनुदृश्यते"**। वार्तिककारने भी (श्लो० वा० पृ० ४६९) पर कहा है–

इह भवति शतादौ सम्भवाद्यासहस्रात् मतिरवियुतभावात् साऽनुमानादभिन्ना ।
जगति बहु न तथ्यं नित्यमैतिह्यमुक्तं भवति तु यदि सत्यं नागमाद् भद्यिते तत् ।।

इति प्रमाणखण्डः समाप्तः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ प्रमेय विभागः

कुमारिलवचोजालपयोधिशरदिन्दवे । शिष्यसन्तानसन्तानतरवे गुरुवे नमः ।।१।।

यत्कीर्तिर्न हि माति हन्त महति ब्रह्माण्डभाण्डोदरे यस्याज्ञां प्रणतैः शिरोभिरनिशं धत्ते नृपाणां गणः ।

सोऽयं नाटकतर्ककाव्यनिपुणः प्रज्ञातपातञ्जलो भक्तश्चक्रिणि मानवेदनृपतिर्जागर्ति पृथ्वीतटे ।।२।।

पृथ्वीवृत्रजिता नितान्तमहितेनैतेन संचोदितैरस्माभिः कृशशेमुषीविलसितैरभ्यासहीनैरपि ।

प्राङ् नारायणसूरिणा विरचितं सन्मानमेयोदयं मोहात् पूरयितुं कृता मतिरियं सन्तः प्रसीदन्तु नः ।।३।।

प्रमेयं बहुधा लोके प्राहुः प्राभाकरादयः । प्रमाणाभासविश्वासव्याकुलीभूतचेतसः ।।४।।

आचार्यमतपीयूषपारावारविहारिणः । वयं तावत् प्रमेयं तु द्रव्यजातिगुणक्रियाः । अभावश्चेति पञ्चैतान् पदार्थानाद्रियामहे ।।५।।

२-प्रमेय

कुमारिल के वचोनिचयरूपी पारावार में उत्ताल तरङ्गें उठा देनेवाले शरत्कालीन चन्द्ररूप, शिष्य-शाख-प्रशाख के महातरु गुरुवर को नमस्कार है ।।१।।

जिसकी विशाल कीर्ति ब्रह्माण्ड के उदर में नहीं समा रही है, जिसकी आज्ञा में हाथ बाँधे सदैव नृपगण खडे रहते हैं, वह नाटक, तर्क और काव्य में निपुण पातञ्जलशास्त्राभिज्ञ विष्णु-भक्त श्री मानवेद नामक सम्राट् भूमण्डल पर विराजमान है ।।२।। उसी महान् नृप की प्रेरणा से मैं पुरातन नारायण भट्ट के द्वारा प्रणीत इस अधूरे 'मानमेयोदय' ग्रन्थ को पूरा करने के लिए उद्यत हो गया हुँ । मेरा इस विषय का विशेष अभ्यास नहीं, बुद्धि भी थोडी है । फिर भी अधूरे ग्रन्थ की पूर्ति का मोह हो गया है, आशा है कि मेरे इस कार्य से सत्पुरुष प्रसन्न होंगे ।।३।।

लोक में प्रभाकरादि आचार्यों ने प्रमेयवर्ग का अनेक प्रकार से वर्णन किया है, मैं समझता हुँ कि, प्रभाकरादि कुछ प्रमाणाभासों पर विश्वास होने के कारण व्याकुलित होकर प्रमेयों और उनकी इयत्ता का निर्णय न कर सके किन्तु हम आचार्य कुमारिल भट्ट के मतरूपी अमृतमय महासागर में गोते लगानेवाले हैं, अतः हम (१) द्रव्य (२) जाति, (३) गुण, (४) क्रिया और (५) अभाव नाम के पाँच प्रमेयों को मान्यता देते हैं ।।४-५।। अब क्रमशः द्रव्यादि प्रमेयों का स्वरूप देखेंगे ।

(१) द्रव्य–द्रव्य-तत्त्ववेत्ता विद्वान् परिमाण और गुण की आधार वस्तु को **द्रव्य** कहा करते हैं । वैशेषिकगण द्रव्य का लक्षण करते हैं–**"गुणाश्रयो द्रव्यम्"** । जैसा कि महर्षि कणाद कहते हैं कि, –**"क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्"** (वै० सू० १/१/१५) । वैशेषिकों का उक्त (गुणवत्त्व) लक्षण गुणों में ही अतिव्याप्त है, क्योंकि **"चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा गुणाः कणभुजा स्वयम्"** –इस उक्ति के आधार पर चतुर्विंशति संख्या की आश्रयता गुणों में सिद्ध होती है, संख्या भी एक गुण है । समवाय पदार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होती, अतः समवायी (समवाय का आश्रय) भी कोई नहीं हो सकता, **'समवायिकरणं द्रव्यम्'**–यह काणाद लक्षण भी निरस्त हो जाता है । यह कहा जा चुका है कि, गुणों में भी संख्यावत्ता का व्यवहार प्रमाण-सिद्ध है, अतः संख्यारूप गुण की समवायिकारणता भी गुणों में अतिव्याप्त है।

शङ्का–द्रव्य का मीमांसकाभिमत परिमाणाधारत्व लक्षण भी प्रथमक्षणावच्छिन्न द्रव्य में अव्याप्त है, क्योंकि परिमाण भी गुण है और गुणों की द्रव्य के द्वितीय क्षण में उत्पत्ति मानी जाती हैं, प्रथम क्षणावच्छिन्न द्रव्य में कोई गुण नहीं रहता ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान–मीमांसा-सिद्धान्त में गुण और गुणी (द्रव्य) की समान काल में उत्पत्ति मानी जाती है । गुण और गुणी की उत्पादिका सामग्री एक ही होती है । समान सामग्री से समुत्पन्न पदार्थों का यदि अभेदापादन किया जाता है, तब हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि हम गुण और द्रव्य का तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं, अतः कोई अनिष्ट-प्रसङ्ग नहीं होता।

शङ्का–यदि गुण और गुणी की समान काल में उत्पत्ति मानी जाती है, तब उनमें परस्पर कार्य-कारणभाव न हो सकेगा, क्योंकि अन्यत्र कहीं भी समानकालीन दो पदार्थों का कार्य-कारणभाव नहीं देखा जाता ।

समाधान–गुणी (द्रव्य) और गुण दोनों समानकालीन हैं, फिर भी इनका उपादानोपादेयभाव अनुभूत है, अतः उसकी अनुपपत्ति नहीं हो सकती । द्रव्य और गुण की एक काल में उत्पत्ति का ज्ञान भ्रम है–ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसका कोई बाधक नहीं होता, अनुमानादि को उक्त प्रत्यक्षानुभूति का बाधक नहीं कह सकते, क्योंकि प्रबलतर प्रत्यक्ष के सामने उनका उत्थान ही नहीं हो सकता, अन्यथा अग्नि-शैत्यानुमिति भी हो जायगी, अतः द्रव्य परिमाण का आश्रय होता है–यह सिद्ध हो गया । अब द्रव्य के ग्यारह प्रकार बताते हैं ।

पृथिवी सलिलं तेजः पवमानस्तमस्तथा। व्योमकालदिगात्मानो मनः शब्द इति क्रमात् ।।६।।

एकादशविधं चैतत् कुमारिलमते मतम् । यथाशास्त्रं विधास्यामस्तत्स्वरूपनिरूपणम् ।।७।।

द्रव्य के भेद–(१) पृथिवी, (२) सलिल, (३) तेज, (४) वायु, (५) तमः, (६) आकाश, (७) काल, (८) दिक्, (९) आत्मा, (१०) मन और (११) शब्द । ग्यारह प्रकार का द्रव्य होता है, क्रमशः उनका स्वरूप बताया जा रहा है ।।६-७।।

(१) पृथिवी–'गन्धवती पृथिवी' यह पृथिवी का लक्षण है । वह पर्वत, वृक्षादि के भेद से नाना प्रकार की होती है । बाह्य भेदों के समान पृथिवी के आध्यात्मिक भेद हैं–शरीर और घ्राण इन्द्रिय । आत्मगत भोग के आयतन (अवच्छेदक) को शरीर कहते हैं । वह जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेद से चार प्रकार का होता है । **जरायु** (गर्भवेष्टनी) से मनुष्यादि का शरीर उत्पन्न होता है, पक्षी आदि का शरीर **अण्डज,** मशकादि का शरीर **स्वेदज** और वृक्षादि का शरीर भूमि का **उद्भेदन** करके उत्पन्न होता है ।

शङ्का–श्री प्रभाकर का मत है कि उद्भिज्ज शरीर नहीं होता, जैसा कि श्री शालिकनाथ कहते हैं–**"उद्भिज्जं तु शरीरं न भवत्येव, वृक्षादिकस्य इन्द्रियायतनत्वे मानाभावात्"** (प्र० पं० पृ० ३३०) ।

समाधान–शास्त्रों में वृक्षादि के शरीरों का भी वर्णन आया है– **गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः । श्मसाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रोपसेवितः ।। "नलकूबरमणिग्रीवावासतुर्यलार्जुनौ"** (भा.पु. १०/१०/२३) इत्यादि पुराण-वाक्य उद्भिज्ज शरीरों की प्रामाणिकता सिद्ध कर रहे हैं ।

शङ्का–उद्भिज्ज शरीरों के प्रतिपादक उक्त वचन निर्मूल है, जैसा कि श्री शालिकनाथ मिश्र ने कहा है–**"अस्याः स्मृतेर्निमूलतया मुख्यार्थत्वानुपपत्तेः । न च वेद एव मूलमवकल्पते, अकार्यार्थत्वाद्... यस्तु वेदे तथाभूतार्थ प्रयोगः, स गौणः, लाक्षणिको वा वर्णनीयः, अतस्त्रिविधमेव शरीरम्** (प्र० पं० पृ० ३३१) । आशय यह है वेद केवल कार्यभूत अर्थ में ही प्रमाण होता है, शरीरादि सिद्धार्थ के प्रतिपादन में मुख्य उसका तात्पर्य सम्भव नहीं ।

समाधान–उक्त कथन भी अयुक्त है, क्योंकि वेदों का कार्यभूत अर्थ में ही मुख्य तात्पर्य है–ऐसा नहीं, किन्तु सिद्ध अर्थ में भी तात्पर्य होता है, यह आगे कहा जायेगा । फलतः प्रासङ्गिक शरीरादि सिद्धार्थ में भी वेद का प्रामाण्य सम्भावित है, पुराणादि-वाक्य अपने मूलभूत श्रुतिवाक्यों के अनुमापक होते हैं–यह स्मृत्यधिकरण की निर्णीत सरणी है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह जो कहा गया कि शरीर इन्द्रियों का आयतन होता है, किन्तु वृक्षादि के शरीर इन्द्रियों के आयतन नहीं । अतः उन्हें शरीर नहीं मानना चाहिए । वह कहना अत्यन्त असंगत है, क्योंकि कतिपय कटहलादि वृक्षों के मूल में आमिषादि का योग हो जाने से, वे सुपुष्ट और हरे-भरे हो जाते हैं और उसके अभाव में सूख जाते हैं । इस प्रकार इतर शरीरों के समान ही वृद्धि-ह्रासादि देखकर वृक्षादि में सात्मत्व और दाह-छेदादि के द्वारा सुख-दुःखादि का होना सिद्ध हो जाता है । सुख-दुःखादि की अनुभूति इन्द्रियों के बिना नहीं हो सकती, अतः वहाँ इन्द्रियाँ भी सिद्ध होती हैं, अतः वृक्षादि शरीर निर्विवादरूप में इन्द्रियो के आयतन भी है ।

यह जो **"अचेतनेऽर्थबन्धनात्"** (जै०सू० १/२/३१) इस सूत्र में 'औषधे त्रायस्वैनम्'-इत्यादि मन्त्रो का उदाहरण प्रस्तुत कर शबरस्वामी ने उद्भिज्ज-वर्ग को अचेतन कह कर उनके शरीरवत्त्व की अघटितता ध्वनित की है -**"न चासावचेतना शक्याः प्रतिपादयितुम्"** (शा० भा० पृ० १४८) । यहाँ वृक्षादि शरीरावच्छिन्न चैतन्य के अपलाप में तात्पर्य नहीं, अपितु तमःप्रधान कलेवर में पूर्णतया चैतन्याभिव्यक्ति, सरभर नहीं होती, अतः एव उनमें अभिमुखीभाव का सामर्थ्य न होने के कारण उन्हें सम्बोधित करना सम्भव नहीं । वार्तिककार ने स्पष्ट कहा है कि **"सम्बोधनं कार्यनियोगाभिमुखीकरणार्थम् न चाचेतनस्याभिमुख्यं सम्भवति । न च पशुत्राणे प्रैषणप्रवृत्तिरुपपद्यते"** (तं०वा०पृ० १४८) । वहाँ ओषधी (वृक्षादि) में चैतन्याधिष्ठितत्व का निषेध न तो किया जाता है और न प्रकरणोपयोगी है, केवल आभिमुख्याभाव का प्रदर्शन किया गया है । वृक्षादि के प्ररोहण-अभिवर्धनादि को देखकर चेतनाधिष्ठितत्व की कल्पना स्वाभाविक है । (तार्किकों के द्वारा प्रतिपादित शरीर का चेष्टावत्त्व और इन्द्रियवत्त्व लक्षण वृक्षादि में स्फुट न होने के कारण ही अशरीरत्व का व्यवहार किया गया है, जैसा कि श्री शङ्करमिश्र कहते हैं-**"यद्यपि वृक्षादयोऽपि शरीरभेदा एव, भोगाधिष्ठानत्वात् । वृद्धिक्षतभग्नसरोहणे च भोगोपपादके स्फुटे एव, आगमोऽप्यस्ति-"नर्मदातीरसम्भूताः सरलार्जुनपादपाः । नर्मदातोयसंस्पर्शात् ते यान्ति परां गतिम् ।।" "श्मसाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रादिसेवितः"-इत्यादिश्च । तथापि चेष्टावत्त्वमिन्द्रियवत्त्वञ्च नोद्भिदां स्फुटतरमतो न शरीरव्यवहारः"** (उपस्कार० पृ० १२६)।

अथवा श्री वाचस्पति आदि के अनुसार वृक्षादि में अचेतनता मान लेने पर भी हमारी कोई क्षति नहीं, श्री प्रभाकर का जो कहना है कि, 'स्मृतिपुराणादि के वचन कार्यार्थक न होने के कारण प्रमाण नहीं'-इसका निराकरण ही हमारा विशेष उद्देश्य है, फलतः तीन या चार प्रकार का शरीर सिद्ध हो गया ।

(२) जल-स्वाभाविक द्रवत्व (तरलता) के आधार को जल कहा जाता है । वह सर (तालाब), सरित् (नदी), सागर और करक (ओला) इत्यादि भेद से अनेक विध है, वह रसना इन्द्रियरूप भी है ।

(३) तेज-उष्णस्पर्शवाले द्रव्य को तेज कहा जाता है, वह सूर्य, चन्द्र, अग्नि, नक्षत्र और सुवर्णादि स्वरूप एवं चक्षुरिन्द्रियरूप है । **तेज के रूप और स्पर्श-दोनों गुणों में प्रत्येक त्रिविध होता है-(१) उद्भूत, (२) अनुद्भूत और (३) अभिभूत** । उद्भूतरूप और उद्भूत स्पर्शवाला तेज पूर्णतया तपे हुए लोहपिण्डादि में पाया जाता है । अनुद्भूत रूप ओर अनुद्भूत स्पर्शवाला तेज नेत्रेन्द्रिय है । अभिभूतरूप और अभिभूत स्पर्शवाला तेज सुवर्ण है । सुवर्ण में तैजस रूप और स्पर्श का अभिभव सबल पार्थिव रूप और स्पर्श के द्वारा हो जाता है । रूप और स्पर्श में से एक-एक का अनुद्भव होने पर तेज के दो प्रकार हो जाते हैं । उद्भूत रूप एवं अनुद्भूत स्पर्शवाला तेज है-**प्रदीपप्रभामण्डल** । अनुद्भूतरूप और उद्भूत स्पर्शवाला तेज **गरम** जल में रहता है । **इसी प्रकार अभिभव होने पर भी तीन भेद हो जाते हैं**--सुवर्ण में रूप और स्पर्श-दोनों का अभिभव होता है, उपलभ्यमान स्पर्श तो सुवर्णगत पार्थिव अंश का ही होता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, अत एवं अनुष्णाशीत स्पर्श उपलब्ध होता है, इसी प्रकार सुवर्ण का अपने आप प्रकाश न होकर प्रकाशान्तर से ही प्रकाश होता है, अतः उसके रूप का अभिभव भी सिद्ध हो जाता है । चन्द्र की प्रभा में जल के स्पर्श से तेज का उष्ण स्पर्श अभिभूत हो जाता है।

(४) वायु–नीरूप और सस्पर्श द्रव्य वायु है । वह मन्दादिगतिक और निःश्वासादि स्वरूप है, वही त्वगिन्द्रियरूप भी है । इन्द्रियरूप भूत तत्त्व अर्थापत्ति-गम्य है–यह पहले ही समर्थित हो चुका है । अन्य भूत-वर्ग तो प्रत्यक्ष का विषय ही होता है । पृथिवी, जल और तेज की प्रत्यक्षता में कोई विवाद नहीं ।

वैशेषिक मत–वैशेषिको का कहना है कि, अनुभूयमान अनुष्णाशीत स्पर्श के द्वारा वायु का अनुमान किया जाता है, जैसा कि, महर्षि कणाद का सूत्र है–**'न दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिङ्गो वायुः'** (वै सू० २।१०) अर्थात् यह जो वायु के चलने पर अनुष्णाशीत (उष्णता और शीतता से रहित) स्पर्श त्वगिन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है, वह आकाशादि का नहीं हो सकता, क्योंकि वे स्पर्श गुण से रहित होते हैं एवं वह स्पर्श जल और तेज का भी नहीं हो सकता, क्योंकि जल में शीत और तेज में उष्ण स्पर्श होता है किन्तु वह स्पर्श न शीत होता है और न उष्ण, अनुष्णाशीत है । पृथिवी को भी उस स्पर्श गुण का आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि पृथिवी नेत्र-ग्राह्य है, किन्तु वायु के चलने पर आकाश में जो स्पर्श अनुभूत होता है, उसका आधार दिखता नहीं । परिशेषतः उस स्पर्श का आश्रय वायु सिद्ध हो जाता है ।

वैशेषिक मत निरास : वैशेषिकों का उक्त मत उनकी अनभिज्ञता का परिचायक है, क्योंकि जैसे प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के आधार पर आप एक आत्मा की सिद्धि करते है, वैसे ही शीतादि स्पर्शों का ग्रहण हो जाने पर 'शीतो वायुः', 'उष्णो वायुः', 'अनुष्णाशीतो वायुः' इस प्रकार सर्वत्र एक वायु द्रव्य की प्रत्यभिज्ञा होती है । 'कृष्णो घटः' 'पीतो घटः', 'श्वेतो घटः'–इत्यादि के समान ही उक्त सभी अनुभवों में अनुगत एक वायु द्रव्य की सर्वजनीन प्रत्यभिज्ञा होने पर आप (वैशेषिक) जो कहते हैं कि 'हमें स्पर्शमात्र की ही प्रत्यभिज्ञा होती है, उससे भिन्न किसी द्रव्य की नहीं ।' वह सर्वथा अनुभव-विरुद्ध है । श्री चिदानन्द भी ऐसा ही अनुभव दिखाते हैं, **'न च तत्र स्पर्शमात्रं प्रत्यभिज्ञाविषयः, परस्परविलक्षणतया स्पर्शानुसन्धानसमय एव वायुद्रव्यस्य प्रत्यक्षत्वात्'** (नीति० पृ० ६७) । वायु की प्रत्यक्षता में श्री चिदानन्द पण्डित ने ही (नीति० पृ० ६६ पर) अनुमान-प्रयोग किया है–**'वायुः प्रत्यक्षः महत्वानिन्द्रियत्वे सति स्पर्शवत्त्वाद्, भूतत्वाद् वा घटवत्** । (यहाँ पार्थिवादि परमाणुओं और त्वगादीन्द्रिय में व्यभिचार हटाने के लिए क्रमशः महत्त्ववत्त्व और अनिन्द्रियत्व विशेषण रखे गये हैं) । यह जो वायु की अप्रत्यक्षता सिद्ध करने के लिए अनुमान किया जाता है–**"वायुः अप्रत्यक्षः अनात्मत्वे सति नीरूपद्रव्यत्वाद्,** मनोवत् ।' वह दिक् और कालादि में अनैकान्तिक है, क्योंकि दिक्कालादि अरूपी द्रव्य हमारे (भाट्ट) मत में प्रत्यक्ष ही माने जाते है । (चिदानन्दपण्डित भी कहते हैं–**'यत्पुनरप्रत्यक्षो वायुः, आत्मव्यतिरिक्तत्वे सति नीरूपद्रव्यत्वान्मनोवदित्यादि, तद् दिक्कालादीनां प्रत्यक्षत्वसमर्थनेनानै-कान्तिकीकरणीयम्'** (नीति० पृ० ६७) ।

वैशेषिकगण परिशेषतः जो वायु की सिद्धि किया करते हैं, वह भी उचित नहीं, क्योंकि अप्रसिद्ध द्रव्य की कल्पना से प्रसिद्ध द्रव्य में ही गुणान्तर की कल्पना लघुतर मानी जाती है, कल्पना-लाघव को विशेष महत्त्व दिया गया है–**कल्पनालाघवं यत्र तं पक्षं रोचयामहे । कल्पनागौरवं यत्र ते पक्षं न सहामहे ।।** अतः त्वगिन्द्रिय के द्वारा वायु का प्रत्यक्ष होता है–यह सिद्ध हो गया ।

कलायकोमलच्छायं दर्शनीयं भृशं दृशाम् । तमः कृष्णं विजानीयादागमप्रतिपादितम् ।।८।।

गुणकर्मादिसद्भावादस्तीति प्रतिभासतः । प्रतियोग्यस्मृतेश्चैव भावरूपं ध्रुवं तमः ।।९।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नीलादिरूपयुक्तस्य स्पर्शत्वं च दृश्यते । स्पर्शाभावान्न रूपि स्यात् तम इत्यप्यपेशलम् ।।१०।।

स्पर्शयुक्तस्य सर्वत्र रूपवत्त्वं च दृश्यते । रूपाभावेन वायोरप्यस्पर्शत्वप्रसङ्गतः ।।११।।

जालरन्ध्रविसरद्रवितेजोजालभासुरपदार्थविशेषान् । अल्पकानिह पुनः परमाणून् कल्पयन्ति हि कुमारिलशिष्याः ।।१२।।

शरीरेण विना यत्र कर्ता कुत्रापि दृश्यते । विशेषणविरुद्धं तत् कर्तृत्वमशरीरिणः ।।१३।।

लोकस्यात्यन्तिको नाशो वैदिकानां न सम्मतः । महतां वेदमार्गाणां स्रोतोभङ्गप्रसङ्गतः ।।१४।।

(५) तम–स्पर्श-रहित रूपी द्रव्य को तमः या अन्धकारादि शब्दों से अभिहित किया जाता है । वह केवल नेत्र इन्द्रिय से गृहीत होता है, आलोकाभाव के द्वारा कृष्णरूप की अभिव्यक्ति होती है । कलाय (मटर के फूल की नीलिमा से समन्वित नितान्त कमनीय और नेत्रों को लुभानेवाले कृष्ण द्रव्य का आगमों ने 'तमः' नाम रखा है । अन्धतमसादिरूप भी वही है ।।८।।

तार्किकगण जो तम को आलोकाभाव रूप कहते हैं, वह संगत नहीं, क्योंकि अन्धकार में रूपादि गुण, चलनादि कर्म पाया जाता है, 'अस्ति'-इस प्रकार भावरूप में उसका प्रतिभास (भान) होता है, उसके ग्रहण में किसी प्रतियोगी वस्तु के स्मरण की अपेक्षा नहीं होती, अतः वह निश्चित रूप से भाव वस्तु है । (अभाव में न कोई गुण होता है और न कर्म, अस्तित्वेन प्रतीयमान न होकर 'नास्ति'-इन रूप में ही अभाव ज्ञान में नियमतः अपेक्षित होता है, किन्तु तम का स्वभाव ठीक उससे विपरीत है, अतः उसे भावरूप ही मानना होगा) ।।९।। **यह जो कहा जाता है कि,** नीलादि रूपों से युक्त द्रव्य में नियमतः स्पर्श देखा जाता है, अतः स्पर्श रूपादि का व्यापक है, अन्धकार में स्पर्शरूप व्यापक गुण के अभाव से नीलादिरूप व्याप्य पदार्थ की भी निवृत्ति माननी होगी । **वह कहना संगत नहीं,** क्योंकि सभी स्पर्शवान् पदार्थों में रूपवत्त्व नहीं देखा जाता, अन्यथा वायु में भी रूपाभाव के कारण स्पर्श का भी अभाव मानना पड़ेगा ।।१०-११।। वायु में भी यदि स्पर्शवत्ता की स्पष्ट प्रतीति होती है, तब अन्धकार में भी स्पष्ट रूपवत्ता का भान होता है, **फलतः न वायुगत स्पर्श का अपलाप किया जा सकता है और न अन्धकारगत रूप का।**

प्रभाकर गुरु का जो कहना है कि, आलोक का दर्शन न होने पर विषय-रहित केवल आत्मा का ही ज्ञान में भान होता है, सामान्यतः नील द्रव्य का स्मरण हो जाता है । स्मरणगत स्मरणत्व धर्म का प्रमोष हो जाता है । दोनों ज्ञानों का भेद-ग्रह न होने के कारण 'तमो नीलम्'-ऐसा व्यवहार मात्र होने लग जाता है, वस्तुतः न तो कोई अन्धकार तत्त्व होता है और न उसमें नीलिमा ।

गुरुवर का वह कहना अत्यन्त उपहासास्पद है, क्योंकि आत्मविषयक प्रत्यक्ष और नैल्यविषयक स्मरण–इन दोनों ज्ञानों का यदि स्वरूपतः और विषयतः भेद गृहीत नहीं होता, तब 'इदं नीलम्'–ऐसा व्यवहार न होकर 'अहं नीलः'–इस प्रकार का व्यवहार प्रसक्त होता है । (श्री चिदानन्द पण्डित ने भी गुरु-मत का स्पष्टीकरण करते हुए यही आपत्ति दी है- **"न च नीलं तमः इति बुद्धिर्भ्रमः, निरधिष्ठानभ्रमानुपपत्तेः । न च वेत्तृतया प्रकाशमानमात्मस्वरूपमन्यद्वा किञ्चिदधिष्ठानम्, आत्मोपलम्भस्य नैल्यस्मृत्या भेदाग्रहेऽहं नीलमिति व्यवहारप्रसङ्गात्"** (नीति० पृ० ८६) । फलतः 'नीलं तमश्चलति'–यह प्रमात्मक बोध है, क्योंकि किसी भी देश या काल में अबाधित प्रतीति को भ्रम नहीं माना जाता ।

शङ्का–अन्धकार का ग्रहण यदि चक्षु के द्वारा माना जाता है, तब चक्षु का उन्मीलन होने (खुलने) पर ही घटादि के समान अन्धकार का प्रत्यक्ष होना चाहिए, चक्षु के बन्द होने पर नहीं, किन्तु आँखे बन्द करने पर जो अन्दर अँधेरा दिखता है, नेत्र-हीन जन्मान्ध को भी जो 'नीलं तमः' -ऐसा भान होता है, वह कैसे होगा ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान–सनेत्र व्यक्ति जो आँखे बन्द करके अन्दर बन्द पलकों की छाया देखता है, उसमें ही तमो व्यवहार हो जाता है । अत्यन्त समीप से दिखने के कारण उस छाया में महत्त्व-व्यवहार भी हो जाता है–'महदेतत्तमः'। **बन्द नेत्र अपनी जिन पलकों की छाया को देखता है, उन पलकों को क्यों नहीं देखता ?** इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, **छाया या अन्धकार से अतिरिक्त पदार्थों के ग्रहण में चक्षु को आलोक की सहायता अपेक्षित होती है,** किन्तु पक्ष्मपटलों के बन्द होने पर आलोक की सहायता नहीं मिल पाती, अतः नेत्र पक्ष्म-पटल का ग्रहण नहीं करता और नेत्र खुलने पर पक्ष्म-पटल दृष्टि की सीध में नहीं रहते, अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं होता ।

जन्मान्ध व्यक्तियों को अन्धकार या छाया का ग्रहण नहीं होता । वे लोग जो **'तमसीव प्रविष्टोऽहम्'**–ऐसा व्यवहार करते हैं, वह तो दूसरे व्यक्ति के मुख से सुन-सुनाकर वैसे ही कर देते है, जैसे कि लोग कह दिया करते हैं कि 'अमृतमिव पीत तत् तोयम्' । आज तक स्वर्गस्थ अमृत का पान किसी ने नहीं किया, किन्तु प्रवाद-परम्परा के आधार पर प्रवृत्त इन व्यवहारो के समान ही अन्धों का उक्त व्यवहार भी है (श्री चिदानन्द पण्डित भी यह सब कुछ पहले ही कह चुके हैं– **"चक्षुष आलोकापेक्षत्वमालोकतमसोरन्यत्रैव । एवं च पटलपिहितलोचनस्य तत्तदावरणद्रव्यच्छायां चक्षुर्गृह्णातीति न नीलबुद्धेरनवक्लृप्तिः । तस्य चात्यन्तासन्नस्य ग्रहणान्महत्त्वभ्रमोऽप्युपपन्नः । चक्षुषः प्रसरद्रश्मित्वेन ग्राहकत्वमिति नियमस्तु गोलकबहिःष्ठवस्तुग्रहे एवेति । पक्ष्मणोरग्रहणन्तु पिधानवेलायामालोकाभावादन्यदाऽऽर्जवस्थित्यभावात् । अन्धानां पुनर्नीलबुद्धिरेवासिद्धा ।" 'तमसीव प्रविष्टोऽहम्'–इत्यादिवाक्यमदृष्टानामपि यथा वाक्यान्तरश्रवणपूर्वकम् 'अमृतमिव पाथः पीतम्'–इत्यादि, तथेति मन्तव्यम्"** (नीति० पृ० ८९-९०) ।

"तमः कृष्णं व्यक्तमस्थित" (ऋ० १०/१२७/७) यह श्रुति भी लोक-प्रसिद्ध नील अन्धकार का अनुवाद कर रही है। अतः अन्धकार के विषय में यह अनुमान पर्यवसित होता है–**'तमः द्रव्यान्तरम्, नीलात्मकत्वाद् ।' 'नीलोत्पलगत नीलिम गुण के समान अन्धकार भी पृथिवी का गुण है'**–ऐसा भी जो **मानरत्नावलीकारादि** कतिपय भट्टमतानुयायी आचार्यों ने कहा है, वह भी हमें मान्य है । अतः अन्धकार द्रव्य है अथवा गुण (चिदानन्द पण्डित भी कहते हैं–**"यद्वा पृथिव्या एव तत्र-तत्र सूक्ष्मरूपेणावस्थिताया विशिष्टालोकावगमोद्भूतकृष्णरूपं तमः । तदयं तात्पर्यार्थः–तमो द्रव्यगुणयोरेकां विधामनुभवति, न पुनर्विधान्तरम्"** (नीति० पृ० ९०) । अन्धकार को गुणरूप मानने पर भाट्टाभिमत द्रव्यों की संख्या दस ही रह जाती है, ग्यारह नहीं ।

पृथिवी, जल, तेज, वायु और अन्धकार–ये पाँच अवयवी द्रव्य हैं, इनके अवयव होते हैं–परमाणु । बौद्धगण जो अवयव से भिन्न अवयवी द्रव्य का, निषेध करते हैं, जैसा कि प्रमाणवार्तिक की व्याख्या में श्री प्रज्ञाकर कहते हैं– **"नान्योऽवयव्यवयवेभ्यः, तुलानतिविशेषाग्रहणात्"** (प्र० वा० पृ० ५५३) । वह बौद्धों का कहना असंगत है, क्योंकि **'महान् एको घटः'**–इत्यादि अबाधित प्रत्यक्ष प्रमाणों के बल पर अवयवों से भिन्न घटादि अवयवी सिद्ध होता है । (चिदानन्द पण्डित भी कहते हैं–**"अवयवी द्रव्यस्य महानेको घट इति प्रत्यक्षेण प्रतिभासनात्"** (नीति० पृ० ८३)। बौद्धों के प्रायः सभी आक्षेपों का परिहार करते हुए जयन्तभट्ट ने (न्या० मं० पृ० ५४९ पर) कहा है– **दृढेन चेत् प्रमाणेन बाधारहितात्मना । गृहीत एवावयवी किमेभिर्बालबल्गितैः ।।**

तार्किक मत–वैशेषिकगण हम लोगों के अनुमेय और योगियों के प्रत्यक्षभूत पृथिव्यादि के नितान्त सूक्ष्म निरवयव कणों को **परमाणु** कहा करते हैं । सृष्टि के आरम्भ में उन्हीं परमाणुओ से परमेश्वर द्व्यणुकादि महाब्रह्माण्ड-पर्यन्त विश्व की वैसे ही रचना करता है, जैसे कुलाल घटादि की । जैसे कोई कवि अपने काव्य की रचना करता है, वैसे ही ईश्वर सकल वेदों का निर्माण करता है और प्रलय काल में पृथिवी, जल, तेज और वायु–इन चार प्रकार के अवयवी द्रव्यों का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वैसे ही परमाणु-पर्यन्त विनाश कर डालता है, जैसे बालक कच्चे घडे को चूरचूर कर देता है । (आचार्य प्रशस्तपाद कहते हैं-**"सकलभुवनपतेर्महेश्वरस्य संजिहीर्षासमकालं पृथिव्युदकज्वलनपवनानामापरमाण्वन्तो विनाशः, ततः प्रविभक्ताः परमाणवोऽवतिष्ठन्ते । पुनः प्राणिनां भोगभूतये महेश्वरसिसृक्षानन्तरं पवनपरमाणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगेभ्यो द्व्यणुकादिप्रक्रमेण महान् वायुः समुत्पन्नो नभसि दोधूयमानस्तिष्ठति"** (प्र० भा० पृ० २२) ।

भाट्ट-मत–वातायन के झरोखे से अन्दर आ रही सूर्य-किरणों की प्रकाश-रेखा में उडते हुए जो नन्हें-नन्हें कण खुली आँखों से देखे जाते हैं, **उन्हें ही भाट्टगण परमाणु मानते हैं** । उनसे भिन्न सूक्ष्मतम अदृश्य परमाणुओं की कल्पना में न कोई प्रमाण है और न कोई लाभ ।

शङ्का–कथित सूर्य-रश्मियों में जो कण नेत्रों के द्वारा देखे जाते हैं, वे **त्रसरेणु** हैं, उनके आरम्भक सूक्ष्मतम कणों को **परमाणु** कहते हैं । **'वातायनगतः पदार्थोऽवयवी, मध्यममहत्त्वाद्, घटवत्'** इस अनुमान के द्वारा त्रसरेणुओं के आरम्भक सूक्ष्मतम अवयवों (परमाणुओं) की सिद्धि होती है । **त्रसरेणुओं में महत्त्व असिद्ध है–ऐसो आशङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि 'त्रसरेणवः महान्तः, दृश्यद्रव्यत्वाद्, घटादिवत्'**–इस अनुमान के द्वारा उनमें महत्त्व सिद्ध हो जाता है ।

समाधान–पदार्थों में महत्त्व और अल्पत्व आपेक्षिक होते हैं, यदि त्रसरेणु की अपेक्षा कोई न्यून कण प्रत्यक्ष-सिद्ध होते, तब त्रसरेणुओं में अवश्य महत्त्व माना जा सकता था, किन्तु वैसे कोई कण उपलब्ध नहीं होते, **अतः कथित अनुमान योग्यानुपलब्धि से बाधित होने के कारण अप्रमाण है** । यदि अवयवित्व और महत्त्व हेतुओं के द्वारा त्रसरेणु के अवयव सिद्ध किए जाते है, तब उन अवयवों की अवयव-परम्परा भी उन्हीं हेतुओं से सिद्ध होगी, क्योंकि घटादि अवयवी द्रव्य के आरम्भक कपालों और उनकी आरम्भक कपालिकाओं में अवयवित्व और महत्त्व-दोनों देखे जाते हैं, अतः **'त्रसरेण्वारम्भकाः सावयवाः, महदारम्भकत्वात् कपालवत् ।' 'त्रसरेण्वारम्भकारम्भकाः, सावयवाः, महदारम्भकारम्भकत्वात्, कपालिकावत्'**-इन अनुमानों के द्वारा अविश्रान्त अवयव-परम्परा के सिद्ध हो जाने पर मच्छर और हाथी का अनन्तावयवारब्धत्वरूप समान परिमाण सिद्ध हो जायगा, जो कि सर्वथा दृष्ट-विरुद्ध है, अतः हम (भाट्टगण) लोक-प्रसिद्ध परमाणुओं का ही आदर करते हैं । (श्री चिदानन्द पण्डित कहते हैं-**"तेषां महत्त्वात् तदतिरिक्तपरमाणुकल्पनमिति चेन्न, तेषां महत्त्वासिद्धेः । अन्यथा तदवयवानामपि तथैव महत्त्वसिद्धेरणु-परिमाणतरतमभावस्य न क्वचिदपि विश्रमः"** (नीति० पृ० ८७)।

योगी के योगज धर्म से जन्य प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा भी अतीन्द्रिय परमाणुओं की सिद्धि नहीं हो सकती, **'योगिप्रत्यक्षम् इन्द्रियसन्निकर्षजन्यम्, प्रत्यक्षत्वाद्, अस्मदादिप्रत्यक्षवत्' । योगीन्द्रियम् अतीन्द्रियविषयकं न भवति, इन्द्रियत्वाद्, अस्मदादीन्द्रियवत्'**-इत्यादि अनुमानों के द्वारा योगी के प्रत्यक्ष में अतीन्द्रिय पदार्थों के ग्रहण की क्षमता सिद्ध नहीं होती, वार्तिककार ने (श्लो० वा० पृ० ८० पर) स्पष्ट कहा है- **यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् । दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यात् न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ।।**

यदि वैशेषिक-सम्मत अतीन्द्रिय परमाणुओं को मान भी लिया जाय, तब भी हमारी कोई क्षति नहीं (श्री चिदानन्दपण्डित कहते हैं-**"यद्वा प्रमाणबलमाश्रित्य परमाणूनामतीन्द्रियत्वं द्व्यणुकादिक्रमेणारम्भकत्वमित्यादिसिद्धावपि नास्माकं किञ्चिदनिष्टम्"** (नीति० पृ० ८७) ।]

वैशेषकों का जो कहना है कि, जगत् ईश्वर की रचना है, **वह उचित नहीं,** क्योंकि वेद को छोडकर ईश्वर के सद्भाव में अन्य कोई प्रमाण नहीं और वेद को प्रमाण मानने में अन्योऽन्याश्रयादि दोष होते हैं, क्योंकि तार्किकगण वेदों में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ईश्वरकर्तृकत्वेन ही प्रामाण्य मानते हैं-**"तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्"** (वै० सू० १/१/३) । अतः वेद का प्रामाण्य सिद्ध होने पर ईश्वर का प्रामाण्य और ईश्वर का प्रामाण्य सिद्ध होने पर वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है ।

'क्षित्यादिकं सकर्तृकम्, कार्यत्वाद्, घटवत्'-इस अनुमान से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ यह जिज्ञासा होती है कि ईश्वर शरीरधारी है ? अथवा नहीं ? उसे शरीरी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसी व्यक्ति को भी उसके शरीर की उपलब्धि नहीं होती और तार्किकगण ईश्वर को शरीरी मानते भी नहीं । ईश्वर को अशरीरी मानने पर कर चरणादि के विना वह जगत् का निर्माण नहीं कर सकेगा । शरीर के विना कोई भी व्यक्ति किसी कार्य का निर्माण करते नहीं देखा गया, अतः अशरीरी ईश्वर में कर्तृत्व-साधक अनुमान विशेष विरुद्ध है, विशेष-विरोध भी अनुमान का दोष होता है-यह विगत पृ० ८० पर कहा जा चुका है ।।१३।। [श्री चिदानन्द पण्डित भी कहते हैं-**"अपि च विशेष-विरुद्धं कार्यत्वम्"**, (नीति० पृ० १८५) ।]

दूसरी बात यह भी है कि, घटादि कृत्रिम पदार्थ किसी शरीरी व्यक्ति के द्वारा बनाए गए हैं और क्षित्यादि प्राकृत पदार्थ अशरीरी ईश्वर के रचे हैं-ऐसा भेद-ज्ञान आप (तार्किकों) को कार्यगत जिस सन्निवेशविशेष (बनावट) को देखकर होता है, वह "सन्निवेशविशेषवत्ता" ही सकर्तृकत्व-साधक कार्यत्व हेतु में उपाधि होने के कारण अप्रयोजकता भी है । [अप्रयोजकता का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए चिदानन्द पण्डित ने कहा है-**"येन पर्वतादिभ्यो व्यावृत्तेन विशिष्ट-व्यवहारहेतुविशिष्टानुमानलिङ्गहेतुत्वेन वादिप्रतिवादिभ्यामवश्यमिष्टेन सन्निवेशविशेषयोगित्वलक्षणेन विशेषेण चैत्यादेः शरीरिकर्तृकत्वानुमानं तद्विशेषप्रयुक्तव्याप्त्युपजीवि कार्यत्वं न सकर्तृकत्वे प्रयोजकम्"** (नीति. पृ. १८४)।]

उक्त कार्यत्व हेतु प्रतिहेतुविरुद्ध भी है, प्रतिप्रयोग इस प्रकार है-**'आत्मत्वं क्षित्यादिकर्तृव्यक्तिसमवेतं न भवति, जातित्वाद्, गोत्ववत्'** । इसी प्रकार द्रव्यत्व और सत्त्व को भी पक्ष बनाकर प्रयोग किया जा सकता है । (श्री चिदानन्द भी कहते हैं-**"प्रतिहेतुविरुद्धं कार्यत्वम्** । तथा हि-**आत्मत्वं क्षित्यादिकर्तृव्यक्तिसमवेतं न भवति, जातित्वाद्, गोत्ववत्। एवं द्रव्यत्वसत्त्वेऽपि पक्षीकृत्य वक्तव्यम्"** (नीति० पृ० १९१) ।

इस प्रकार पर-मत का निरास हो जाने पर स्वकीय मत की स्थापना के लिए अनुमान-प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है-**क्षित्यादयः कर्तृशून्याः, शरीरिजन्यत्वाभावाद्, आत्मवत्** (नीति तत्त्वाविर्भाव पृ० १९० पर भी कहा है-**"दूषिते परोक्तानुमाने स्वपक्षसिद्ध्यर्थमनुमानमुच्यते-क्षित्यादिकमकर्तृकम्, शरीर्यजन्यात्वाद्, गगनवत्")** ।

शङ्का-क्षित्यादि का यदि कोई कर्त्ता नहीं माना जाता, तब क्षित्यादि में अनुभूयमान कार्यत्व कैसे उपपन्न होगा ? **प्रत्येक कार्य के तीन कारण होते हैं-(१) उपादान (समवायिकारण), (२) निमित्त कारण और (३) असमवायिकारण।** उनमें कार्य अपना स्वरूप-लाभ करने के लिये जिस पदार्थ का उपादान करता है, उसे उपादान कारण कहते हैं, जैसे तन्तु पट के उपादान कारण होते हैं । उपादान कारण में प्रत्यासन्न होकर जो कार्य का अनन्यथासिद्ध कारण हो, वह असमवायि-कारण कहा जाता है, जैसे कि तन्तु-संयोग पट के असमवायिकारण होते हैं । उक्त द्विविध कारणों से भिन्न कारण को निमित्त कारण कहते हैं, जैसे कि तन्तुवाय (जुलाहा) और वेम (करघे की वह लकडी, जिस पर बुन-बुन कर कपडा लिपटता जाता है) इत्यादि । अतः क्षित्यादि के भी तीनों कारणों के सिद्ध होने पर ही उसमें कार्यत्व सिद्ध होगा, अन्यथा नहीं ।

समाधान-हमारे (भाट्ट) मत में त्रिविध कारण की अपेक्षा नहीं मानी जाती, क्योंकि प्राकट्यरूप कार्य अपने अतीत और अनागत समवायी असमवायिकारण की अपेक्षा किए बिना केवल निमित्तकारणीभूत ज्ञान से उत्पन्न होता देखा जाता है । फलतः कारण मात्र के बिना कार्य की उत्पत्ति उत्पन्न नहीं होती, अतः कारणमात्र की कल्पना की जा सकती है, कर्त्तादि की व्यवस्था तो यथादर्शन ही मानी जाती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शङ्का–कार्य का यदि कोई कर्त्ता नहीं माना जाता, तब दण्डादि अचेतन कारण किसी चेतन कर्त्ता से अधिष्ठित न होकर कार्योत्पत्ति की अनुकूल दिशा में स्वयं व्यापृत्त क्योकर होंगे ? क्योंकि तन्तुवाय (जुलाहे) के बिना तन्तु, तुरी (करघे की वह लडकी, जिसमें बाने का सूत भरा जाता है) इत्यादि अचेतन उपकरण अपने-आप पट बनाने के लिए सक्रिय होते नहीं देखे जाते ।

समाधान–जैसे आप (तार्किकों) के मतानुसार ईश्वरीय शरीरव्यापार के बिना ही अचेतन उपकरण क्षित्यादि की रचना में लग जाते है, वैसे ही हमारे (भाट्ट) मत में भी तुरी वेमादि उपकरण-समूह पट बुनने में प्रवृत्त हो जायेगा ।

जगत् का कर्त्ता यदि कोई सर्वज्ञ सर्वहितैषी ईश्वर मान भी लिया जाता है, तब भी विभिन्न देशों में बिखरे पटादि कार्य के उपकरण कदाचित् और किसी ही देश में पटोत्पत्ति करने के लिए एकत्र क्यों होते हैं, सदा सर्वत्र क्यों नहीं ? व्यापकीभूत ईश्वर द्वेष-रहित है, अतः उस की इच्छा और प्रयत्न सार्वकालिक और सार्वदेशिक ही हैं, कादाचित्क और क्वाचित्क नहीं । जीवों के अपने अदृष्टों को यदि नियामक माना जाता है, तब उन्हीं के आधार पर अचेतन उपकरणों की प्रवृत्ति भी निभ जाती है, पृथक् तार्किकों का ईश्वर मानना व्यर्थ है (चिदानन्द पण्डित का भी स्पष्ट कहना है–**"अपि सिद्धेऽपि ईश्वरकर्त्तरि कथं भिन्नदेशकालानां कार्यानुगुणतया परस्परोपसर्पणम् ? ईश्वरेच्छाप्रयत्नाभ्यामिति चेत्, कथं ताभ्यामपि सकलदेशकालप्रवृत्ताभ्यां कदाचिदेव क्वचिदेवोपसर्पणनियमः ? कादाचित्कचेतनादृष्टपरिपाकादिति चेत्, तर्हि तत एवाङ्गीकरणीयात् कारणानां परस्परसन्निधानम्, कृतमीश्वरपरिकल्पनेन ?"** (नीति० पृ० १९०)।

वैदिक ईश्वर तो परम कारुणिक और सर्वथा हमारे अनुकूल है । तर्क-गम्य कर्तृभूत ईश्वर के समान ही जगत् संहर्त्ता ईश्वर का भी निराकरण हो जाने के कारण जगत् का आत्यन्तिक विनाश भी प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि जगत् का अत्यन्त विनाश वैदिक आचार्यों को सम्मत नहीं, अन्यथा महनीय, वेद-मार्ग का ही विनाश हो जायेगा ।।१४।।

ईश्वरो ननु लोकादौ वेदानपि विधास्यति । ततो न वेदमार्गाणां विच्छेदो दोषमावहेत् ।।१५।।

सोपाधिकं विरुद्धं च विशेषप्रतिहेतुभिः । वाक्यत्वं नैव वेदानां पौरुषेयत्वसाधकम् ।।१६।।

अत्र प्रामाण्यविषये वादिनो बहुधा जगुः । वदन्ति केचित् प्रामाण्यमप्रामाण्यामिति स्वतः ।।१७।।

उभयं परतः प्राहुरक्षपात्पक्षिलादयः। अप्रामाण्यं स्वतस्तत्र प्रामाण्यं परतो विदुः ।।१८।।

बौद्धा मीमांसकास्तत्र प्रामाण्यं तु स्वतो विदुः । अप्रामाण्यं तु परतस्तत्र चिन्ता विधीयते ।।१९।।

शङ्का–महाप्रलय मान लेने पर भी वैदिक मार्ग का विनाश प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि पुनः सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर वेदों का भी निर्माण कर देगा, अव्याहत वैदिक धारा अपने पूर्व रूप में प्रवाहित हो जायगी । वेदों में पुरुष-कृतित्व अनुमान-सिद्ध भी है–**'वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि, वाक्यत्वाद्, भारतादिवाक्यवत् ।'**

समाधान–'वाक्यत्व' हेतु वेदों में पौरुषेयत्व का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि वह (१) सोपाधिक है, (२) प्रतिहेतु-विरुद्ध या प्रति हेतुओं से आहत (सत्प्रतिपक्षित) भी है । (१) महाभारतादि लौकिक वाक्यावलि का प्रणयन करने से पहले महर्षि वेदव्यास ने उसकी प्रतिपाद्य विषय वस्तु को अपनी आंखों से भली प्रकार देखा था, अतः प्रत्यक्षादि-प्रमाणान्तरगृहीतार्थपूर्वकत्व ही महाभारत में वैयासिकत्वरूप पौरुषेयत्व का साधक होता है, केवल वाक्यत्व नहीं, फलतः "प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरगृहीतार्थपूर्वकत्व" ही उक्त वाक्यत्व हेतु की उपाधि है, (क्योंकि महाभारतादि लौकिक वाक्यों में वह पौरुषेयत्वात्मक साध्य का व्यापक तथा वेद रूप पक्ष में साधन का अव्यापक है । वेदार्थ का साक्षात्कार करनेवाला पुरुष

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुपलब्धि-बाधित है, अतः वेदों में प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरगृहीतार्थपूर्वकत्व का अभाव मानना स्वाभाविक है)। सोपाधिक हेतु अपने साध्य का साधक नहीं होता ।

शङ्का—प्रमाणान्तरगृहीतार्थपूर्वकत्व को यदि पौरुषेयत्व का प्रयोजक माना जाता है, तब अष्टका श्राद्धादि के विधायक मन्वादि स्मृति-वाक्य भी अपौरुषेय हो जायेंगे, क्योंकि वे भी प्रत्यक्षादीतरप्रमाणगृहीतार्थपूर्वक नहीं है, उनके प्रतिपाद्य श्राद्ध एवं मृत पितृगणों का प्रत्यक्षतः दर्शन सम्भव नहीं ।

समाधान—अष्टकादि-विधायक स्मार्त वाक्य भी अपने से इत्तर वेदवाक्यों के द्वारा विहित कर्म के ही प्रतिपादक है, वैदिक ऋषियों ने ही वेद के द्वारा अष्टकादि कर्मों का प्रथम ज्ञान प्राप्त कर अपने स्मृति ग्रन्थों में उपनिबद्ध कर दिया, अतः उन का भी मूल प्रमाण वेद ही है । (महर्षि जैमिनि ने अपने मीमांसा-दर्शन के स्मृत्यधिकरण (१/३/१) में विचार किया है कि '**अष्टकाः कर्तव्याः**' (आश्वल. गृ. सू.) इस स्मृति-वाक्य से विहित अष्टका श्राद्ध का मन्त्र ("यां जनः प्रतिनन्दन्ति रात्रि धेनुमिवायतीम् । संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु समुङ्गली ।। अष्टकार्य सुराधसे स्वाहा") वेद में है । सात पाक संस्थाओं में यह पहला कर्म है । मार्गशीर्ष, पौष, माघ और फाल्गुन मासों की कृष्णपक्षीय सप्तमी, अष्टमी और नवमी तिथियों में चार-चार अष्टका कर्म किए जाते हैं, सब मिलाकर बारह श्राद्ध हो जाते हैं । इन कर्मों के विधायक स्मृति वाक्यों की धर्म में प्रमाणता स्थापित करते हुए संशयादि का प्रदर्शन (न्यायमाला में) किया गया है- **अष्टकादिस्मृतेर्धर्मे न मात्वं मानताथवा । निर्मूलत्वान्न मानं सा वेदार्थोक्तौ निरर्थता ।। वैदिकैः स्मर्यमाणत्वात् सम्भाव्या वेदमूलता। विप्रकीर्णार्थसंक्षेपात् सार्थत्वादस्ति मान्ता ।।**]

माता-पिता के सम्बन्ध से उत्पन्न पाञ्चभौतिक शरीरवाले पुरुषों के वाक्यों में ही पुरुष-स्वातन्त्र्यात्मक पौरुषेयत्व माना जाता है, वेद-वाक्य वैसे नहीं, अतः वेद-वाक्यों में पौरुषेयत्व-साधक वाक्यत्व हेतु विशेषविरुद्ध है ।

इतना ही नहीं, उक्त वाक्यत्व हेतु प्रतिहेतु-विरुद्ध भी है, प्रति हेतुप्रयोग इस प्रकार है-**(१) विप्रतिपन्नः कालो न वेदशून्यः, कालत्वात् सम्प्रतिपन्नवत् । (२) विमतं वेदाध्ययनं परतन्त्राध्येतृकम्, वेदाध्ययनत्वात्, सम्प्रतिपन्नाध्ययनवत्। (३) आत्मत्व वेदकतृसमवेतं न भवति, जातित्वाद्, गोत्ववत्** । (वेद-वाक्यों में पौरुषेयत्व सिद्ध करनेवालों की तीन मान्यताएँ हो सकती हैं-(१) कोई अतीत काल ऐसा भी था, जब वेद नहीं थे, वेदों की प्रथम-प्रथम रचना हुई । (२) ऐसा भी कोई अतीत समय होगा, जब किसी ने अध्ययन किए बिना ही प्रथम बार अध्यापन आरम्भ किया । (३) आत्मा नाना है, इन में कोई न कोई वेद का कर्त्ता रहा होगा । इन तीनों का परम तात्पर्य पौरुषेयत्व साधन में ही है, अतः इन तीनों मान्यताओं का खण्डन क्रमशः ऊपर कथित तीनों अनुमानों में किया गया है, फलतः वे तीनों अनुमान प्रत्यनुमान और उनके तीनों हेतु प्रतिहेतु कहलाते हैं) ।

शङ्का—जैसे वैदिक वाक्यों में अपौरुषेयत्व सिद्ध किया जाता है, वैसे ही महाभारतादि के वाक्यों में भी अपौरुषेयत्व क्यों नहीं सिद्ध किया जा सकता ?

समाधान—महाभारतादि के कर्त्ता महर्षि व्यासादि का दृढ स्मरण उन में पौरुषेयत्व का निर्णय दे रहा है, अतः वहाँ अपौरुषेयत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि नैयायिकों ने स्पष्ट कह दिया है कि "**नानुपलब्धे न निर्णीते न्यायः प्रवर्तते**" (न्या.भा.पृ. ४) । अर्थात् जहाँ पर साध्य की सिद्धि या बाध नहीं, किन्तु साध्य का सन्देह होता है, वहाँ ही किसी हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि की जा सकती है । महाभारतादि वाक्यों में पौरुषेयत्व की सिद्धि दृढतर कर्तृस्मरण से हो चुकी है, तब वहाँ अपौरुषेयत्व बाधित होने के कारण सिद्ध नहीं किया जा सकता)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शङ्का–**"वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य निःसृताः", "ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्", "तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे"**-(ऋ. १०/६०/९) इत्यादि वैदिक वाक्यों से ही जब उन में पौरुषेयत्व (पुरुष-कृति-जन्यत्व) प्रतिपादित हो रहा है, तब वहाँ भी बाधित हो जाने के कारण अपौरुषेयत्व क्योंकर सिद्ध होगा ?

समाधान–उक्त वाक्य परस्पर विरुद्धार्थक एवं प्रमाणान्तर से बाधित भी हैं, अतः "आदित्यो यूपः'-इत्यादि वाक्यों के समान अर्थवाद मात्र माने जाते हैं । इसी प्रकार काठकादि शाखा-संज्ञाएँ भी कठादि महर्षियों को वेद का कर्त्ता सिद्ध नहीं करती, अपितु प्रवचन की असाधारणता के कारण कठादि का नाम वेद से जुड गया है, सूत्रकार का यही निर्णय है-**"आख्या प्रवचनात्"** (जै.सू. १/१/३०) । प्रवचन का अर्थ 'प्रकृष्ट अध्ययन' है । कठ-प्रोक्त शाखा के अध्येताओं को 'कठाः' कहा जाता है, क्योंकि **"कठचरकाल्लुक्"** (पा.सू.४/३/१०७) इस सूत्र से प्रोक्तार्थक प्रत्यय का लूक् हो जाता है। वहाँ **'तेषामाम्नायः काठकम्'**-इस अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय का विधान किया गया है, अतः वेद वाक्य के विषय में कठादि का स्वातन्त्र्य अवगत नहीं होता । वैदिक वाक्यों में पुरुषों का किसी प्रकार भी प्रवेश नहीं होता, अतः वेद में अप्रामाण्य की गन्ध तक नहीं आ सकती, क्योंकि शब्दों में अप्रामाण्यादि दोष पुरुष के सम्पर्क से ही आया करते हैं ।

शङ्का–शब्द में स्वतः कोई गुण भी नहीं होता, पुरुष के गुणों से ही शब्द में गुण आया करते हैं और वे ही शब्द में किसी प्रकार का दोष नहीं आने देते । पुरुष का सम्पर्क न मानने पर वैदिक शब्दों में गुणाधान न हो सकने के कारण अप्रामाण्य प्रसक्त क्यों नहीं होगा ?

समाधान–कथित आशङ्का तब की जा सकती थी, **जब कि हम (भाट्ट गण) ज्ञान में गुण-प्रयुक्त प्रामाण्य मानते** । हम लोग वैसा नहीं मानते, अतः शब्द के साथ पुरुष का सम्पर्क न होने पर गुणाभाव के समान दोषाभाव भी रहता है, उसी से प्रामाण्य की उपपत्ति हो जाती है, जैसा कि वार्तिककार कहते हैं-**"दोषाभावात् प्रमाणता"** (श्लो० वा० पृ० ६६) ।

भाट्टमत के अनुसार सभी प्रमाणों में प्रामाण्य स्वतः ही माना जाता है और अप्रामाण्य कारणगत दोषों के कारण से माना जाता है, जैसे कि चक्षुरादि में पित्तादि दोषों के रहने पर शङ्खादि में पीतत्व-भ्रम हो जाता है और उस दोष का अभाव होने मात्र से शंख के वास्तविक शुक्लिमगुण का अवधारण होता है । यहाँ पर प्रामाण्य के विषय में कुछ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है ।

ज्ञानगत प्रामाण्य (प्रमात्व) के विषय में वादिगणों के चार दृष्टिकोण हैं–(१) सांख्याचार्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य-दोनों को स्वतः ही सिद्ध करते है । (२) अक्षपाद और पक्षिल स्वामी (न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन मुनि) आदि तार्किक प्रामाण्य और अप्रमाण्य-दोनों को परतः (कारणगत गुण और दोष से प्रयुक्त) मानते हैं । (३) बौद्ध मतानुसार अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः होता है । (४) मीमांसकाचार्य कहते हैं कि, प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः मानना ही उचित है । यहाँ चारों पक्षों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जाता है ।।१७-१९।।

(१) सांख्याचार्यो का कहना है–सभी प्रमाणों में प्रामाण्य और अप्रामाण्य-दोनों स्वतः निहित होते हैं । कारणगत गुण और दोष के द्वारा उन्हीं की अभिव्यक्ति होती है, अत्यन्त असद् पदार्थ की कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती । अत्यन्त असत् की उत्पत्ति मानने पर आकाशपुष्पादि की भी उत्पत्ति होनी चाहिए । इसी लिए अपनी अभिव्यक्ति के पूर्व घटादि भाव पदार्थों को हम लोग (सांख्यानुयायी) मृत्तिका में सत् ही मानते हैं । फिर भी कारण-व्यापार अनर्थक नहीं होता, क्योंकि कारण में अव्यक्तरूप से विद्यमान कार्य की अभिव्यक्ति में उसका सार्थक्य हो जाता है । अतः जैसे कारक-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यापार से घटादि की अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही कारणगत गुण-दोषों के द्वारा प्रामाण्य और अप्रामाण्य की अभिव्यक्ति हो जाती है । इस प्रकार सत्कार्यवादी सांख्याचार्यों का मत वार्तिककार ने दिखाया है-**"स्वतोऽसतामसाध्यत्वात् केचिदाहुर्द्वयं स्वतः"** (श्लो० वा० पृ० ५४) ।

सांख्य मत की आलोचना-यदि असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती, तब घटादि की अभिव्यक्ति के विषय में जिज्ञासा होती है कि, वह कारक-व्यापार से पहले मृत्पिण्ड में है ? अथवा नहीं ? यदि है, तब कारक-व्यापार व्यर्थ है और यदि नहीं है, तब असत् अभिव्यक्ति की कारक-व्यापार से उत्पत्ति माननी होगी, असत् की उत्पत्ति का प्रतिषेध कैसे करेंगे ? अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य-दोनों को स्वतः नहीं मानना चाहिए । दूसरी बात यह भी है कि जल और अग्नि के समान अत्यन्त विरुद्ध प्रामाण्य और अप्रामाण्य का समावेश एक ही ज्ञान में नहीं हो सकता यही वार्तिककार कहते हैं--**"स्वतस्तावद् द्वयं नास्ति विरोधात्"** (श्लो० वा० पृ० ५५) ।

(२) तार्किक मत-कारणगत गुण से प्रामाण्य और दोष से अप्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति (ज्ञान) मानी जाती है। प्रामाण्य (प्रमात्व) की स्वतः उत्पत्ति का अर्थ है-**प्रमात्व के आधारभूत ज्ञान की उत्पादिका सामग्री से ही ज्ञानगत प्रमात्व या प्रामाण्य की उत्पत्ति ।** प्रमात्व की उत्पत्ति यदि केवल अपने आश्रयीभूत ज्ञान की उत्पादिका सामग्री से मानी जाय, तब अप्रमाणभूत ज्ञान में भी प्रामाण्य की उत्पत्ति माननी होगी, क्योंकि वहाँ भी ज्ञान सामान्य की उत्पादिका सामग्री विद्यमान है, अन्यथा अप्रमाणभूत ज्ञान भी उत्पन्न न हो सकेगा । उसी प्रकार अप्रामाण्य की उत्पत्ति भी यदि अपने आश्रयीभूत ज्ञान के उत्पादक कारणकलाप से मानी जाती है, तब प्रमाणभूत ज्ञान में भी अप्रामाण्य मानना होगा, **अतः प्रत्यक्षादि ज्ञानों के कारणीभूत इन्द्रियादि पदार्थों के गुणों से ज्ञानगत प्रामाण्य और उनके दोषों से अप्रामाण्य का उद्भव माना जाता है-इसे ही 'उत्पत्तौ परतस्त्वम्' कहते हैं ।**

इसी प्रकार प्रतिपत्ति (प्रमात्व के ज्ञान) में भी परतस्त्व ही मानना युक्ति-युक्त है, क्योंकि यदि आश्रयीभूत ज्ञान की ग्राहक सामग्री से ही ज्ञानगत प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञान हो जाता है, तब किसी को भी **'ममेदं ज्ञान प्रमा ? न वा ?'** इस प्रकार का संशय नहीं होना चाहिए, क्योंकि संशय-घटक दो कोटियों में से किसी एक का निश्चय हो जाने पर संशय नहीं हुआ करता, अन्यथा स्थाणुत्व-निश्चय हो जाने पर भी 'स्थाणुर्वा ? पुरुषो वा ?' ऐसा संशय होना चाहिए । तब प्रामाण्य का ज्ञान कैसे होता है ? इस प्रश्न का सीधा उत्तर है-अनुमान से । वह अनुमान-प्रकार है-**'ममेदमुत्पन्नं ज्ञानं प्रमाणम्, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, यनैवं तन्नैवं यथा-प्रमाणाभासः** । अतः प्रवृत्ति का साफल्य हो जाने के अनन्तर ही प्रामाण्य का अनुमान हुआ करता है । इसी प्रकार अप्रामाण्य ज्ञान के लिए भी अनुमान कर लेना चाहिए-**'इदं ज्ञानमप्रमाणम्, निष्फलप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा-प्रमाणज्ञानम्** । इस प्रकार प्रामाण्य और अप्रामाण्य--दोनों ही कारणगत गुण और दोष के आधार पर उत्पन्न एवं प्रवृत्ति के साफल्यासाफल्य से गृहीत होते हैं ।

तार्किक मत की आलोचना-यदि ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य अपनी उत्पत्ति में हेत्वन्तर की अपेक्षा किया करते हैं, तब हेत्वन्तर की उपस्थिति के पूर्व उत्पन्न ज्ञान को प्रमा या अप्रमा कुछ भी नहीं कह सकते, उसे फिर क्या कहेंगे ? ज्ञान की प्रमा और अप्रमा-दो ही विधाएँ होती हैं, दोनों के न कह सकने पर उसे 'ज्ञान' पद से भी नहीं कहा जा सकेगा, वार्तिककार ने भी यही प्रश्न उठाया है-**"किमात्मकं भवेत् तच्च स्वभावद्वयवर्जितम्"** (श्लो०वा०पृ० ५५) । उस ज्ञान को संशयात्मक मानने में अनुभव का विरोध होता है । दूसरी बात यह भी है कि, संशय ज्ञान भी अप्रमाण का ही एक भेद है, इसे परतस्त्ववादी स्वतः क्योंकर मान सकेगा ? यह जो प्रामाण्य के स्वतस्त्व-पक्ष में आपत्ति की गई कि प्रामाण्य को ज्ञान-हेतुमात्र के अधीन मानने पर शुक्ति-रजतादि प्रमाणाभास ज्ञानों में प्रामाण्य-प्रसङ्ग होता है । वह हमें (भाट्टगणों) को अभीष्ट ही है, क्योंकि वहाँ भी पुरोवर्तित्व, शुक्लत्व, भास्वरत्वादि अंशों में प्रामाण्य माना ही जाता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह जो श्री उदयनाचार्य ने प्रामाण्य के परतस्त्व में अनुमान-प्रयोग किया है-**"प्रमा ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना, कार्यत्वे सति तद्विशेषाद्, अप्रमावत्"** (न्या.कु. २/१) । वह अनुमान इसलिए निरस्त हो जाता है कि **'प्रमा गुणदोषाभावयोरन्यतराधीना न भवति, ज्ञानत्वाद्, अप्रमावत्'**-इस अनुमान के द्वारा बाधित हो जाता है । सविशेषण हेतु से उत्पन्न पूर्व अनुमान उस अनुमान से बाधित हो जाता है, जो कि विशेषण-रहित हेतु से उत्पन्न होता है, क्योंकि विशेषण-सापेक्ष हेतुक अनुमान की अपने कार्य-साधन में उतनी त्वरा नहीं हो सकती, जैसी कि विशेषण-निरपेक्षहेतुक अनुमान की होती है।

इसी प्रकार प्रामाण्य के ज्ञान में भी स्वतस्त्व मानना ही उचित है, क्योंकि **'तथाभूतोऽयमर्थः'**-इस प्रकार अर्थगत तथात्वावधारण से प्रामाण्य का और **'अतथाभूतोऽयमर्थः'**-इस प्रकार पदार्थगत अतथात्वावधारण से अप्रमात्व का ज्ञान होता है । **उनमें पदार्थ के तथात्व का निश्चय ज्ञानस्वरूप के अधीन होता है, अतः प्रामाण्य की स्वतः अवगति का होना नैसर्गिक है, किन्तु पदार्थ का अतथात्वावधारण कारणगत दोष के निश्चय पर निर्भर होता है या बाधक प्रत्यय पर, अतः अप्रामाण्यावगम परतः होता है,** क्योंकि अप्रमाण ज्ञान अतथाभूत अर्थ को तथाभूतरूप में प्रदर्शित करता है, जैसा कि विपर्यय का लक्षण वार्तिककारने कहा-**"को विपर्ययः ? अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः"** (न्या.वा.पृ. २४) । **यद्यपि तथाभूतार्थ-निश्चय को प्रामाण्य-निश्चय ही माना जाता है, तथापि अतथाभूत अर्थ में तथाभूतार्थ का निश्चय भ्रम होता है, बाधक प्रत्यय से उसमें भ्रमत्व पर्यवसित होता है ।**

यदि अर्थतथात्व-निश्चय भी भ्रमात्मक होता है, तब अर्थतथात्वावधारण के द्वारा प्रामाण्य-निश्चय क्योंकर होगा ? इस शङ्का का समाधान यह है कि, सदा तो ऐसा नहीं होता, कदाचित् बाष्प में धूम-भ्रम के हो जाने पर भी धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान सुकर होता है । **यह जो कहा जाता है कि,** 'तथाभूतोऽयमर्थः'-इस प्रकार का प्रामाण्यावधारण अर्थक्रिया-ज्ञानादिरूप परपदार्थ से होने के कारण परतः गृहीत होता है। **वह कहना उचित नहीं,** क्योंकि इस पक्ष में जिज्ञासा होती है कि, यह अर्थक्रिया-ज्ञानगत प्रामाण्य स्वतः ज्ञात होता है ? अथवा परतः गृहीत होता है ? परतः मानने पर अनवस्था होगी, क्योंकि एक अर्थक्रिया-ज्ञान को अपने प्रामाण्यावधारण में दूसरे और दूसरे को तीसरे की अपेक्षा होती जाती है । यदि अर्थक्रिया-ज्ञान में स्वतः ही प्रामाण्य का निश्चय माना जाता है, तब मूलभूत प्रथम ज्ञान ने क्या बिगाडा है कि उसके प्रामाण्य का अवधारण परतः पक्ष में फेंक दिया गया है ?

यह जो कहा जाता है कि, समर्थ प्रवृत्ति-जनकत्वरूप हेतु के द्वारा प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का अनुमान होता है । वह उचित नहीं, क्योंकि **'इदं ज्ञानं प्रमाणम्, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्'**-यह अनुमान स्वप्नगत कामिनीदर्शनरूप अप्रमाण ज्ञान में व्यभिचरित है, क्योंकि वह ज्ञान भी आलिङ्गनादिरूप समर्थ प्रवृत्ति का जनक होता है ।

यह जो कहा गया कि, 'ममेदमुत्पन्नं ज्ञानं प्रमाणम् ? अप्रमाणं वा ?'-इस प्रकार का सन्देह यह सिद्ध करता है कि ज्ञानगत प्रामाण्य का स्वतः अवधारण नहीं होता । **वह कहना भी सत्य नहीं,** क्योंकि सभी ज्ञानों में वैसा सन्देह नहीं देखा जाता । जहाँ कहीं किसी भ्रम को देखकर प्रकृत ज्ञान में **'तादृशमिदं ज्ञानम् ? उतान्यादृशम् ?'**-ऐसा संशय हो जाता है, वहाँ भी ज्ञान का स्वरूप प्रथमतः ही अपने विषयतथात्व (प्रामाण्य) का अवधारण करा देता है । **विषयगत दूरत्वादि, करणगत तिमिरादि और मनोगत व्यग्रत्वादि दोषों के अभाव का ज्ञान केवल अतथाभाव की शङ्का के निवारण में ही उपयोगी होता है, ज्ञानस्वरूपाधीन विषयतथात्वावधारण और विषयतथात्वावधारण के अधीन प्रामाण्यनिश्चय में नहीं ।** फलतः ज्ञानगत प्रामाण्य स्वतः गृहीत है, यहाँ 'स्व' शब्द का अर्थ स्वकीय है, अतः स्वाश्रयीभूत ज्ञान के अधीन विषयतथात्वावधारण से गृहीत स्वगत प्रामाण्य स्वतोगृहीत कहा जाता है, इस प्रकार प्रामाण्य-ज्ञप्ति में भी स्वतस्त्व सिद्ध हो गया ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री उदयनाचार्य ने जो अनुमान किया है कि **'प्रामाण्यं परतो ज्ञायते, अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वाद्, अप्रामाण्यवत्'** (न्या.कु. २/१) । वह भाट्टगणों के लिए सिद्ध-साधन है, क्योंकि वे भी विषयतथात्वावधारणरूप पर पदार्थ से ही प्रामाण्य का अवधारण मानते हैं । इन्हीं युक्तियों के द्वारा **'अप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यं परतः'**–यह बौद्ध-सिद्धान्त भी निरस्त हुआ समझ लेना चाहिए ।

स्वरूपाणि निरूप्यन्ते व्योमादीनामथ क्रमात् । नित्यानि चानवयवद्रव्याणि च विभूनि च ।।२०।।

व्योमकालदिशामादौ प्रत्यक्षत्वं समर्थ्यते । अनिष्टं भट्टपादोक्तिमाधुर्यानभिलाषिणाम् ।।२१।।

अक्षसम्बन्धहीनात्मस्वात्मप्रत्यक्षतार्थिनः । प्रत्यक्षशब्दव्युत्पत्तिः कथङ्कारं भवेद् गुरोः ।।२२।।

स च देहेन्द्रियज्ञानसुखेभ्यो व्यतिरिच्यते । नानाभूतो विभुर्नित्यो भोगस्वर्गापवर्गभाक् ।।२३।।

वाक्यार्थं हि गुरुः कार्यमखण्डं शङ्करोऽब्रवीत् । संसर्गापरपर्यायं विशिष्टं ब्रूमहे वयम् ।।२४।।

पृथिवी, जल, तेज, वायु और तमस्–ये पाँच अवयवी द्रव्य और इनके आरम्भक परमाणु द्रव्य सिद्ध हो गए । अब आकाशादि निरवयवी और विभु द्रव्यों का क्रमशः निरूपण किया जाता है ।।२०।।

आचार्य शङ्कर के अनुयायी वेदान्तिगण **"तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः"** (तै० उ० २/१/१) इस श्रुति के अनुरोध पर गगनादि में जो अनित्यत्व सिद्ध करते हैं, **वह युक्त नहीं,** क्योंकि **'विवादपदानि द्रव्याणि नित्यानि, निरवयवद्रव्यत्वाद्, आत्मवत्'**–इत्यादि अनुमानों का विरोध देखकर उक्त श्रुति का यथाश्रुतार्थ में प्रामाण्य नहीं माना जा सकता ।

(६-८) आकाश, काल और दिक्–मन को छोड कर आकाश, काल, दिक्, आत्मा और शब्द-ये पाँच द्रव्य प्रत्यक्ष माने जाते हैं । सर्व-प्रथम आकाश, काल और दिशा की उस प्रत्यक्षता का समर्थन किया जाता है, जो कि भट्टपादोक्तिगत माधुर्य के रसास्वादन से वञ्चित व्यक्तियों को अभीष्ट नहीं ।।२१।। **'दिक्कालाकाशाः, प्रत्यक्षाः अमनस्वे सति विभुत्वाद्, आत्मवत्'**–इस अनुमान के द्वारा दिक्, काल और आकाश की प्रत्यक्षता सिद्ध होती है । यदि इनका प्रत्यक्ष नहीं माना जाता, तब इनका स्वरूप ही सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष को छोडकर इनमें अन्य कोई भी प्रमाण नहीं । (श्री चिदानन्द पण्डित ने भी कहा है कि **"आकाशं प्रत्यक्षम्, अमनस्त्वे सति विभुत्वादात्मवत्** (नीति० पृ० ६७) । **न च कालो न प्रत्यक्षः, अमनस्त्वे सति विभुत्वाद्, आत्मवदिति प्रत्यक्षत्वसाधनात् । किं च यदि कालो न प्रत्यक्षः स्यात्, न स्यादेव तर्हि तत्सद्भावावेदकप्रमाणानुपपत्तेः"** (नीति० पृ० ४१) ।

शङ्का–आकाशादि में प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाण का अभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शब्द विशेष गुण है, कोई भी गुण अपने आश्रयीभूत द्रव्य के बिना नहीं रह सकता । शब्दरूप गुण का आश्रय अन्य कोई द्रव्य नहीं हो सकता, **अतः शब्दाश्रयत्वेन आकाश की सिद्धि हो जाती है । काल युगपदादि व्यवहारों और पूर्वापरादि प्रतीतियों के द्वारा अनुमेय है ।**

समाधान–शब्द गुण नहीं, अपितु स्वतन्त्र द्रव्य है–यह आगे कहा जायेगा, अतः शब्दगुणाश्रयत्वेन आकाश की सिद्धि नहीं की जा सकती । शब्द को गुण मान लेने पर भी दिशा या काल को ही उसका आश्रय माना जा सकता है, उनसे भिन्न आकाश की सिद्धि नहीं हो सकती । आकाशरूप अप्रसिद्ध द्रव्य की कल्पना से दिशादि प्रसिद्ध द्रव्यों को ही शब्द गुण का आश्रय मान लेने में लाघव है । **दूसरी बात यह भी है कि,** क्या बालक, क्या वृद्ध, सभी को आँख खोलते ही प्रत्यक्ष हो जाता है जिस आकाश का, उसे अप्रत्यक्ष माननेवाले प्राभाकरादि तो उनकी हथेली पर रखे आँबले को भी अप्रत्यक्ष कह सकते है, उनका क्या विश्वास ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

युगपदादि प्रतीतियों के द्वारा काल का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि **'युगपदागतौ देवदत्तयज्ञदत्तौ', 'चिरेणागतः पुत्रः'**– इत्यादि प्रतीतियाँ क्या काल को विषय कहती हैं ? या अन्य पदार्थ को ? अन्यविषयक मानने पर काल से भिन्न यौगपद्यादि लिङ्गो का काल के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्षतः निश्चय न होने के कारण यौगपद्याद्याश्रयत्वेन काल का परिशेषावधारण न हो सकेगा और यदि यौगपद्यादि लिङ्गों का काल के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्षतः गृहीत होता है, तब काल में प्रत्यक्षत्व प्रसक्त होता है ।

यौगपद्यादि-प्रतीतियों को यदि कालविषयक माना जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि, यौगपद्यापि-प्रतीति को प्रत्यक्ष माना जाता है ? अथवा लिङ्ग-जन्य ? लिङ्ग-जन्य नहीं मान सकते, क्योंकि यौगपद्यादि-प्रतीतियों को ही लिङ्ग माना जाता है, उनसे भिन्न नहीं, अतः उन्हीं प्रतीतियों की उत्पत्ति उन्हीं से मानने पर आत्माश्रयादि दोष होते हैं । यौगपद्यादि-प्रतीतियों को इन्द्रिय-जन्य मानने पर काल में प्रत्यक्षत्व ही प्राप्त होता है, क्योंकि यौगपद्यादि-प्रतीतियों को कालविषयक एवं प्रत्यक्ष माना जाता है, प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय को प्रत्यक्ष कहा करते हैं । फलतः 'प्रातःकालोऽयम्', 'सायंकालोऽयम्'--इत्यादि प्रतीतियाँ सूर्योदयादि दर्शन-सहकृत नेत्र से उत्पन्न होती हैं, अतः काल में प्रत्यक्षता पर्यवसित होती है । यह काल छः इन्द्रियों में से प्रत्येक के द्वारा गृहीत होता है–यह पहले कहा जा चुका है ।

इसी प्रकार पूर्वापरादि प्रतीतियाँ भी दिग्विषयक एवं नेत्र-जन्य हैं, अतः दिशाओं में भी प्रत्यक्षता सिद्ध होती है । प्रत्यक्ष-सिद्ध दिक् का यदि पूर्वापरादि-प्रत्ययरूप लिङ्ग के द्वारा अनुमान किया जाता है, तब प्रत्यक्ष-सिद्ध घटादि का भी उनके ज्ञानों से अनुमान ही प्रसक्त होगा । अतः आकाशादिगत अप्रत्यक्षता के साधक अनुमान आकाशादिगत प्रत्यक्षत्व-प्रतीति की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से बाधित हो जाने के कारण अप्रमाण हो जाते हैं । (श्री चिदानन्द पण्डित ने इसी विषय का प्रतिपादन मनोरम ढंग से किया है–**'यत्पुनः युगपगदादिप्रत्ययाः काले लिङ्गमिति । तत्र प्रष्टव्यम्–किममी कालविषयाः ? अन्यविषयाः वा कालविषया अपि किमक्षजन्याः ? लिङ्गजन्या वा ? न तावदक्षजन्याः कालविषयाश्च, कालस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । नापि कालविषया लिङ्गजन्याः, लिङ्गस्य युगपदादिप्रत्ययरूपत्वेनात्माश्रयात्। अथान्यविषया, कथं तर्हि कालसिद्धिः ? अनेन क्रमेण दिशोऽपि पूर्वापरादिप्रत्ययानुमेयत्वं निरसनीयम् । यत्तु स्पर्शवत्त्वे सति महत्त्वं बाह्यप्रत्यक्षत्वस्य व्यापकमिति, तन्निवृत्तौ बाह्यप्रत्यक्षत्वस्यापि निवृत्तिः । तथा दिक्कालावप्रत्यक्षौ विशेषगुणशून्यद्रव्यत्वात् मनोवद्-इत्यादि तदुक्तेन क्रमेण दिक्कालयोरप्रत्यक्षत्वे स्वरूपस्यैवासिद्धेः तत्स्वरूपसिद्ध्यन्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिबाधितविषयत्वादसाधनमेव'** (नीति० पृ० ४३-४४) ।]

आकाश एक एवं विभु होने पर भी घटादि उपाधियों के द्वारा घटाकाशादि अनेक परिच्छिन्न रूपों एवं कर्णशष्कुलिरूप उपाधि से उपहित होकर श्रोत्रेन्द्रिय के रूप में व्यवहृत होता है ।

काल भी एक एवं विभु द्रव्य है फिर भी उसमें औपाधिक क्षणादि भेदव्यवहार हो जाता है, जैसे कि पन्द्रह निमेष की एक काष्ठा, ३० काष्ठाओं का एक मुहूर्त, ३० मुहूर्तों का एक अहोरात्र, ३० अहोरात्र का एक मास, बारह मास का एक वर्ष है। इसी प्रकार युगादि के व्यवहार भी होते हैं । दिक् का भी पूर्व-परादि उपाधियों के आधार पर भेद-व्यवहार होता है।

(९) आत्मा–आत्मा चैतन्य का आश्रय होता है । आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय माना जाता है ।

प्राभाकर मत–श्री प्रभाकर का कहना है कि **'इदमहं जानामि'**–ऐसा व्यवहार तब तक नहीं बन सकता, जब तक आत्मा और ज्ञान का प्रकाश प्रत्येक ज्ञान में न माना जाय, अतः सभी ज्ञानों में स्वात्मा का कर्तृत्वेन और ज्ञान का ज्ञानत्वेन भान होता है । **आत्मा अहंप्रतीति का विषय एवं ज्ञान स्वयंप्रकाश होने के कारण प्रत्यक्ष होता है ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राभाकर-मत की आलोचना–उक्त प्राभाकर सिद्धान्त युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि ज्ञान की स्वयंप्रकाशता का निराकरण आगे किया जायेगा । आत्मा भी अहंप्रत्यय-गम्य नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वत्र अर्थ-ज्ञानों में 'अहं जानामि'-ऐसा व्यवहार नहीं देखा जाता । यह जो श्री शालिकनाथ ने कहा है कि **"अवश्यं च ज्ञातुरवभासो ज्ञेयावभासेषु अनुवर्ततेइत्यास्थेयम्, अन्यथा स्वपरवेद्ययोरनतिशयः"** (प्र.पं.पृ. १६८) । वह भी संगत नहीं, क्योंकि ज्ञान को आप स्वात्मसमवेत मानते हैं, इतने से ही स्वपर-वेदन में विशेषता आ जाती है । 'स्वात्मसमवेतत्व का ज्ञान भी व्यवहार का अङ्ग है' - ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि विषयप्रकाश में प्रकाशक का भी प्रकाश आवश्यक माना जाता है, तब सभी ऐन्द्रियक ज्ञानों में इन्द्रिय का ज्ञान भी आवश्यक हो जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः सभी ज्ञानों में ज्ञान का ज्ञान आवश्यक नहीं । दूसरी बात यह भी है कि अक्ष (इन्द्रिय) के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान को ही 'प्रत्यक्ष' शब्द से कहा जाता है, किन्तु गुरु-मतानुसार अक्ष-सम्बन्ध रहित ज्ञानादि के ज्ञान में 'प्रत्यक्ष' शब्द की योजना किस व्युत्पत्ति से करेंगे ? अतः जैसे दिगादि पदार्थों को पूर्वापरादि-प्रतीतियों के द्वारा आप अनुमेय कहते हैं, वैसे ही आत्मा को भी अहंप्रत्यय के द्वारा अनुमेय मानना चाहिये, न कि प्रत्यक्ष । **यह भी एक जिज्ञासा होती है कि,** स्वप्रकाश ज्ञान के आश्रयीभूत आत्मा को भी आप स्वप्रकाश मानते हैं ? या नहीं ? यदि नहीं मानते तब आत्मा के ज्ञान में वैसे ही कारणान्तर की अपेक्षा माननी पडेगी, जैसे कि ज्ञान से घट प्रकाशित है, अतः प्रकाश की अपेक्षा घट में मानी जाती है । आत्मा को स्वप्रकाश मानने पर अपसिद्धान्तापत्ति होती है । यहाँ प्रकाशरूप अग्न्यादि के आश्रयीभूत काष्ठादि में दह्यमान अंश अङ्गाररूप होने के कारण प्रकाशरूप अग्नि से अभिन्न होता है और उससे अतिरिक्त काष्ठ का (प्रकाशानाश्रय) अंश घटादि के समान समीप में फैले हुए प्रकाश से प्रकाशित होता है अतः प्रकाशाश्रयत्वेन किसी भी वस्तु का प्रकाश देखने में नहीं आता ।

शाङ्कर मत–अद्वैत वेदान्ती ज्ञान और ज्ञाता की एकता मानते हुए आत्मा की स्वयंप्रकाशता का समर्थन करते हैं । **"अयं पुरुषः स्वयं ज्योतिः"** (बृह० उ० २/३/६), **"आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति"** (बृह० उ० ४/३/६) इत्यादि वेदान्त-वाक्यों को आत्मा की स्वयंप्रकाशता में प्रमाण माना जाता है । श्री चित्सुखाचार्य का (चित्सु० १/३) में सिंहनाद है-**चिद्रूपत्वादेकात्मत्वात् स्वयंज्योतिरिति श्रुतेः । आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवारयितुं क्षमः ।।**

शाङ्कर मत की आलोचना–ज्ञान और ज्ञाता की एकरूपता का निराकरण तो इसी प्रकरण में किया जायगा । आत्मा की स्वप्रकाशता में प्रदर्शित **"स्वयं ज्योतिरसौ पुरुषः"** (बृह० उ० २/३/६) इत्यादि वेदान्त वाक्य स्वयं **"स मानसीन आत्मा जनानाम्"** (चित्सु० ११/१/२) इत्यादि मानस ज्ञान विषयत्व-प्रतिपादक श्रुतियों से विरुद्ध पड जाता हैं, अतः उदाहृत वेदान्त वाक्यों का आत्मा की स्वप्रकाशता में कदापि तात्पर्य नहीं हो सकता । **'आत्मा ज्ञानान्तराधीनप्रकाशः, व्यवहार्यत्वाद्, घटवत्'**-इस अनुमान से भी विरुद्ध स्वप्रकाशत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती । 'आत्मा व्यवहार्य नहीं' - ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आपको 'आत्मा व्यवहार्यो न भवति'-इस प्रकार के निषेध-व्यवहार की विषयता आत्मा में अवश्य माननी पडेगी, अन्यथा व्यवहार्यता का निषेध न हो सकने के कारण व्यवहार्यता अक्षुण्ण रह जाती है (श्री चिदानन्द भी यही कहते हैं-**'आत्मा ज्ञानान्तराधीनप्रकाशः, व्यवहार्यत्वाद्, घटवत् । न च व्यवहार्यत्वमसिद्धम् आत्मा व्यवहार्यो न भवतीत्यस्यैव व्यवहारस्य तद्गोचरत्वेन स्ववचनविरुद्धत्वात् । "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः", "आत्मैवास्य ज्योतिरित्यादिवचनात् स्वप्रकाशत्वमिति चेत्, न, पूर्वोक्तप्रमाणविरुद्धार्थत्वात् "स मानसीन आत्मा जनानाम्"–इति श्रुत्यन्तरविरुद्धत्वाच्च । तस्मादात्मा मानसप्रत्यक्षगम्यः"** (नीति० पृ० १३०-३१) ।

शङ्का–यदि आत्मा अपने ज्ञान का स्वयं आप विषय होता है, तब कर्तृत्व और कर्मत्व-दो विरुद्ध धर्म एक ही आत्मा में प्रसक्त होते हैं, किन्तु 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति'-इत्यादि सभी स्थलों पर देवदत्त में गमन क्रिया का कर्तृत्व एवं उससे भिन्न ग्रामादि में कर्मत्व होता है, अतः कर्तृत्व और कर्मत्व का एकत्र रहना विरुद्ध क्यों नहीं ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान–जैसे आप अद्वैत वेदान्ती के सम्मत **"आत्मा स्वयंज्योतिषा आत्मानं प्रकाशयति"**-इत्यादि व्यवहारों के आधार पर आत्मा में कर्तृत्व, करणत्व और कर्मत्व-तीनों विरुद्ध धर्मों का एकत्र समावेश माना जाता है, वैसे ही हमारे मत में कर्तृत्व और कर्मत्व का एकत्र समावेश क्यों नहीं हो सकता ? लौकिक और वैदिक प्रयोगों के आधार पर भी कर्तृत्व और कर्मत्व की एकत्र सिद्धि होती है, क्योंकि 'आत्मानं जानीहि'-ऐसा लौकिक जन प्रयोग करते हैं और "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः" (बृह० उ० २/४/५) इत्यादि वैदिक प्रयोग प्रसिद्ध हैं । जैसे देवदत्तगत गमन क्रिया से जनित प्राप्ति रूप फल की आश्रयतारूप कर्मता ग्रामादि में मानी जाती है, वैसे ही आत्मवृत्ति ज्ञान से जनित प्राकट्यरूप फल की आधारता आत्मस्वयं प्रकाशवादियों को भी माननी होगी, अन्यथा आत्मा का प्रकाश नहीं हो सकेगा, **अतः आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय होने के कारण प्रत्यक्ष माना जाता है ।**

वह आत्मा देह, इन्द्रिय, ज्ञान और सुखादि से भिन्न, शरीर-भेद से नाना, विभु, नित्य तथा स्वर्गापवर्गादि फलों का भोक्ता माना जाता है ।

चार्वाकगणों का जो कहना है कि 'स्थूलोऽहम्', 'कृशोऽहम्'-इत्यादि प्रतीतियाँ शरीरगत स्थौल्यादि को ही विषय करती है, अतः स्थौल्य, कार्श्यादि धर्मों का आधारभूत भौतिक शरीर ही आत्मा है । **उनका वह कहना अयुक्त है,** क्योंकि आत्मा के सुख-दुःखादिरूप विशेष गुण कभी भी शरीर के गुण नहीं माने जा सकते, **क्योंकि गुण यावद् द्रव्यभावी अर्थात् जब तक उनका आश्रयीभूत द्रव्य रहता है, तब तक उसमें विद्यमान रहते हैं, किन्तु मृत शरीर में सुख-दुःखादि का अनुभव नहीं होता, अतः वे शरीर के गुण क्योंकर होंगे ?** अतः सुख-दुःखादि का शरीर से भिन्न आश्रय मानना होगा । **फलतः सुख-दुःखादि का आश्रयीभूत आत्मा का सुखादि के अनाश्रयीभूत शरीर से भेद सिद्ध हो गया ।** 'स्थूलोऽहम्', 'कृशोऽहम्'-इत्यादि व्यवहार शरीर और आत्मा का घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण वैसे ही औपचारिक हो जाते हैं, जैसे अग्नि के सम्बन्ध से जल में उष्णता का व्यवहार । जो वस्तु जहाँ नहीं होती, वहाँ उसके व्यवहार को औपचारिक या भाक्त माना जाता है, शरीर में भी आत्मा का अभेद नहीं, भेद ही रहता है, क्योंकि 'मम शरीरम्'-इस प्रकार का भेद-व्यवहार सार्वजनीन है ।

इन्द्रियों को भी आत्मा नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन्द्रियों में बाह्य इन्द्रियाँ तो भौतिक ही होती है, पृथिव्यादि भूतों में आत्मा के चैतन्यादि गुण उपलब्ध नहीं होते, कारण के गुण ही कार्य में सजातीय गुणों के आरम्भक माने जाते हैं, अतः अचेतनात्मक भूतों के कार्यभूत बाह्य इन्द्रियों में चैतन्य या आत्मत्व कभी सिद्ध नहीं हो सकता । आन्तर इन्द्रिय केवल मन है, वह अपरोक्षभूत आत्मा में विद्यमान सुख-दुःखादि गुणों की अपरोक्षता का साधन है, **साधन या करण का कर्त्ता से नैसर्गिक भेद होता है ।**

योगचार-सम्मत विज्ञान को भी आत्मा नहीं कह सकते, क्योंकि विज्ञान क्षणिक होता है और **'योऽहं प्राक् दुःखमन्वभूवम् स एवेदानीं सुखमनुभवामि'**-इस प्रकार पूर्वापरकालीन आत्मा की एकत्व-प्रत्यभिज्ञा से आत्मा में क्षणिकत्व-विरोधी स्थिरत्व सिद्ध होता है । **आत्मा को सुखरूप भी नहीं माना जा सकता,** क्योंकि **'यस्य में पूर्वं सुखमासीत् तस्यैवेदानीं दुःखमनुवर्तते**-इस प्रकार पूर्वापरकालीन आत्मा की एकता का भान होने पर भी सुख की निर्वृत्ति का अनुसन्धान हो रहा है, अतः आत्मा को सुख रूप क्यों मान सकेंगे ?'

औपनिषद मत–वेदान्तिगण **"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"** (बृह० उ० ३/९/३४) **इत्यादि वेदान्त वाक्यों के बल पर आत्मा को विज्ञानानन्दरूप कहते हैं ।** 'विज्ञान क्षणिक है और आत्मा स्थिर, अतः आत्मा विज्ञानरूप क्योंकर होगा ? इस प्रकार का सन्देह इस औपनिषद मत में नहीं कर सकते, **क्योंकि इसमें विज्ञान को भी नित्य ही माना जाता**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, क्षणिक नहीं । नीलपीतादि विषय के भेद से ज्ञान में जो भेद प्रतीत होता है, वह औपाधिक है, स्वरूपतः ज्ञान एक और नित्य ही होता है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'-यहाँ तीनों पद जब एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, तब तीन पदों की क्या आवश्यकता ? **इस प्रश्न का उत्तर यह है कि,** 'विज्ञान' पद से अचेतन या जड और 'आनन्द' पद से दुःख की व्यावृत्ति की जाती है, नहीं तो आत्मा में जड और दुःखरूपता भी प्रसक्त हो जाती । व्यावर्त्य के भेद से व्यावर्तक पदों का सार्थक्य '**प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः**'-इत्यादि लक्षण वाक्यों में भी माना जाता है-'प्रकृष्ट' पद से खद्योतादि निकृष्ट प्रकाश और 'प्रकाश' पद से प्रकृष्ट ध्वान्त की व्यावृत्ति की जाती है, प्रकृष्ट और प्रकाश-दोनों पद एक ही अखण्ड चन्द्ररूप अर्थ का बोध कराते हैं, **क्योंकि कोई प्रश्न करता है-'अस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कतमश्चन्द्रः ?** इस प्रश्न वाक्य में कई पद हैं, तथापि पूरे प्रश्न का तात्पर्य एक चन्द्ररूप प्रातिपदिकार्थ में ही माना जाता है, अत एव उस प्रश्न के '**प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः**' -इस उत्तर वाक्य का भी तात्पर्य उसी चन्द्ररूप प्रातिपदिकार्थ में ही मानना होगा, अन्यथा प्रश्न और उत्तर का वैयधिकरण्य हो जायेगा । (पञ्चपादिकाचार्य ने भी कहा है-**"व्यक्तिविशेषः कश्चित् चन्द्रप्रातिपदिकाभिधेयः केनचित् पृष्टः-अस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्रो नाम? तस्य प्रतिवचनम्-प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति । तदेवं प्रतिवचनं भवति-यदि तथा चन्द्रपदेनोक्तम्, तथा आभ्यामपि पदाभ्यामुच्येत"** (पं० पा० पृ० ३२४) । अतः अविज्ञान और अनानन्द की व्यावृत्ति करने के लिए विज्ञान और आनन्द-ये दो पद रखे गये हैं । 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'-यहाँ प्रकृष्ट और प्रकाश-इन दोनों पदों का परस्पर एवं 'चन्द्र' पद के साथ अभिन्नार्थकत्व मानना होगा, अन्यथा चन्द्र प्रातिपदिकार्थविषयक प्रश्न के उत्तर में अन्यार्थ का कथन असङ्गत हो जायेगा, इसलिए विज्ञान और आनन्द-इन दोनों पदों का परस्पर एवं 'ब्रह्म' पद के साथ अभिन्नार्थकत्व अवश्य मानना होगा । अत एव हम (अद्वैत वेदान्ती) महावाक्यों का अखण्ड ही अर्थ मानते हैं, उसके अनुरूप प्रयोग भी किया जाता है-**विज्ञानादिपदमखण्डार्थबोधकम्, लक्षणवाक्यत्वात्, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इतिवत् ।**' इस प्रकार विज्ञान और आनन्द-इन दोनों पदों में एकार्थत्व, अपर्यायत्व और अवैयर्थ्य सिद्ध हो जाता है । (श्री चित्सुखाचार्य ने कहा है-**"व्यावृत्ति द्वारा पदानां स्वरूपमात्रपर्यवसायित्वाङ्गीकाराद् व्यावर्त्यभेदेनावैयर्थ्याच्च** "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" **इत्यादौ सत्यज्ञानानन्तशब्दा अनृतजडदुःखान्तवत्त्वानात्मत्व-भ्रान्तिनिवृत्तिपरा लक्ष्ये ब्रह्मणि पर्यवस्यन्ति"** (चित्सु० पृ० १९६) ।

औपनिषद मत की आलोचना-प्रभाकर गुरु वाक्यार्थ कार्यरूप और श्री शङ्कराचार्य अखण्डार्थ को ही वाक्यार्थ मानते हैं किन्तु हम (भाट्टानुयायी) संसर्गापरपर्याय विशिष्टार्थ को वाक्यार्थ कहते है । कार्य या नियोग की वाक्यार्थता का निरास-प्रकार गुणप्रकरण में कहा जायेगा । **यहाँ हमारा कहना है-'नाखण्डं वाक्यार्थः',** क्योंकि वाक्य-घटक सभी पदों का यदि एक अखण्ड ही वाक्यार्थ माना जाता है, तब एक ही पद के द्वारा ही वह एक अर्थ प्रतिपादित हो जाता है, इतर पदों का उच्चारण व्यर्थ है । **यह जो कहा गया है कि,** सभी पदों का व्यावर्त्य अर्थ भिन्न-भिन्न होने के कारण वैयर्थ्यापत्ति नहीं होती । **वह कहना संगत नहीं,** क्योंकि जब सभी पदों का एक ही अर्थ वाच्य माना जाता है, तब न तो भिन्न-भिन्न अर्थ होता है और न भिन्न-भिन्न व्यावर्त्य, जैसे कि 'हस्तः करः'-यहाँ पर एकार्थक दो पदों का भिन्न-भिन्न व्यावर्त्य नहीं होता ।

यह जो कहा गया कि, 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'-यह लक्षण-वाक्य अखण्डार्थ का बोधक है, वह भी सत्य नहीं, क्योंकि वह वाक्य संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध का प्रतिपादक होता है । ऐसा मानने पर प्रश्न और उत्तर वाक्य का वैरूप्य भी प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि प्रश्न का भी 'कस्यात्र चन्द्रसंज्ञा ?'-इस प्रकार संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध ही विषय होता है । दृश्यमान चन्द्ररूप प्रातिपदिकार्थ के विषय में न प्रश्न हो सकता है और न उत्तर । फलतः संज्ञासंज्ञि सम्बन्धरूप अज्ञात वस्तु के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय में प्रश्न और उत्तर हो सकते हैं । **प्रकर्ष-विशिष्ट चन्द्रोपलक्षित ही चन्द्र पदार्थ है**-ऐसा उत्तर सुस्थिर हो जाता है, **अतः 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'-इत्यादि वाक्य विज्ञानादि-विशिष्ट आत्मस्वरूप के ही समर्थक हैं, अखण्डार्थक नहीं** ।

विज्ञानम् आनन्द ब्रह्म-इन पदों का सामानाधिकरण्य 'मधुरो गुडः' के समान भेद-सहिष्णु अभेद को लेकर उत्पन्न हो जाता है । **दूसरी बात यह भी है कि, "स एको ब्रह्मण आनन्दः"** (तै० उ० २/८) एवं **"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्"** (तै० उ० २/४) इत्यादि श्रुतियाँ भी आनन्द और आत्मा के परस्पर भेद का प्रतिपादन करती हैं, अतः विज्ञान, आनन्द और आत्मा-तीनों परस्पर भिन्न पदार्थ हैं । विज्ञान की नित्यता का उपपादन कभी नहीं हो सकता, क्योंकि **'अवेदयन्नेवाहमियन्तं कालमस्वाप्सम्'**-इस प्रकार सुषुप्ति में विज्ञानाभाव का अनुसन्धान विज्ञान को अनित्य सिद्ध कर रहा है । **'सुखमहमस्वाप्सम्'**-इस प्रकार सुखानुभव का अनुसन्धान तो सुषुप्ति में अखिल दुःख की निवृत्ति का ही गमक है, अन्यथा कामिनी-सम्भोगादिरूप स्वल्प सुख का विलोप हो जाने से प्रबुद्ध व्यक्ति को दुःख की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जिसने ब्रह्मरूप निरतिशयानन्द का अनुभव कर लिया है, उसे एक क्षुद्रतम सुख का परिक्षय हो जाने से दुःखोद्भव नहीं हो सकता। अनुभूत सुख का यदि विस्मरण माना जाता है, तब 'सुखमहमस्वाप्सम्'-इस प्रकार सुखानुभव के अनुसन्धान से विज्ञान में नित्यता क्योंकर स्थापित होगी ? **फलतः आत्मा देह, इन्द्रिय, विज्ञान और सुख से भिन्न सिद्ध होता है** ।

'यह आत्मा सभी शरीरों में एक ही है'-ऐसा जो अद्वैतवेदान्ती मानते हैं, वह भी अनुपपन्न है, क्योंकि यदि सभी शरीरों में आत्मा एक ही है, तब उसके अदृष्ट से जनित सुख-दुःखादि समान रूप से सभी शरीरों में प्रतीत होंगे, किसी शरीर में सुख, किसी में दुःख-ऐसे वैषम्य का दर्शन नहीं होना चाहिए एवं सभी शरीरों के सुख-दुःखादि का अनुसन्धान सभी शरीरों में होना चाहिए । सभी को सभी शरीरों के सुख-दुःखादि का अनुसन्धान प्रत्येक शरीर में होता है--ऐसा नहीं मान सकते, अन्यथा जैसे एक शरीर के पैर में चुभा काँटा निकालने के लिए उसी शरीर का हाथ सक्रिय हो जाता है, वैसे ही दूसरे शरीरों के हाथों को भी उधर सहसा प्रवृत्त हो जाना चाहिए । **इन्द्रियों के भेद से अनुसन्धान नहीं हो पाता ऐसा नहीं कह सकते,** क्योंकि विभिन्न इन्द्रियों की अनुभूतियों का अनुसन्धान पाया जाता है-'योऽहमश्रौषम्' स एव पश्यामि ।' देह-भेद भी अनुसन्धान में बाधक नहीं होता, क्योंकि कतिपय 'जातिस्मर' कहे जानेवाले व्यक्ति अपने विभिन्न शरीरों की सत्य-सत्य घटनाएँ सुनाते हुए पाये जाते हैं । **जीव-भेद से अनुसन्धान का न होना उचित ही है,** क्योंकि जीव ही आत्मा कहलाता है, आत्मा से भिन्न कभी जीव नहीं होता । **'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'** (मुण्डको० ३/१/१) यह श्रुति भी न तो ब्रह्म से जीव का भेद कह सकती है और न ब्रह्म से जीव का अभेद, अन्यथा प्रथम पक्ष में अद्वैतवाद की हानि होगी और द्वितीय पक्ष में जीव-भेद सिद्ध नहीं होगा । काल्पनिक भेद भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उससे काल्पनिक व्यवस्था का ही निर्वाह हो सकता है, परमार्थिक व्यवस्था का नहीं । काल्पनिक पदार्थ से प्रामाणिक कार्य का सम्पादन मानने पर शुक्तिरजतादि से भी वास्तविक कटक, मुकुटादि आभूषणों का निर्माण होना चाहिए । **अतः "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वेता० ६/११), "एक एव च भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः"** (त्रि. ता. ५/१२) इत्यादि अद्वैतप्रतिपादक श्रौत और स्मार्त वाक्य प्रमाणान्तर से विरुद्ध होने के कारण अपने यथाश्रुतार्थ में वैसे ही प्रमाण नहीं माने जा सकते, जैसे कि एक हजार वर्षों में सम्पन्न होनेवाले सत्र कर्म के प्रतिपादक वाक्य अपने यथाश्रुतार्थ में प्रमाण नहीं माने जाते, क्योंकि हजार वर्ष तक कोई मनुष्य जीवित ही नहीं रह सकता कि उस सत्र का अनुष्ठान सम्पन्न करे, अत एवाचार्यों ने वहाँ 'सहस्र संवत्सर' का अर्थ 'सहस्र दिवस' किया है । **फलतः आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न सिद्ध होता है** ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा को विभु क्यों माना जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, प्राणियों को जो शिर और पैर में काँटा चुभने की पीडा का एक ही समय अनुभव होता है, वह आत्मा को अणु मानने पर उपपन्न नहीं हो सकता । आत्मा का मध्यम परिमाण मानने पर उतना ही परिमाण मानना होगा, जितना कि शरीर का परिमाण है, क्योंकि शरीर से अधिक परिमाण मानने पर शरीर में आत्मा समा न सकेगा और शरीर से न्यून परिमाण मानने पर पूरे शरीर में व्याप्त न हो सकेगा, तब शिर और पाद की वेदनाओं का युगपत् अनुसन्धान कैसे हो सकेगा ? शरीर के समान परिमाण मान लेने पर गजादि-शरीरों को लम्बा-चौडा आत्मा चींटी के छोटे से शरीर में कैसे प्रविष्ट होगा ? बडे शरीर के आत्मा को छोटा शरीर मिलता ही नहीं-ऐसा मानने पर श्रुतियों, स्मृतियों का विरोध होता है, क्योंकि धर्म शास्त्रों की व्यवस्था के अनुसार किसी भी शरीर का आत्मा छोटे या बडे किसी भी शरीर में जा सकता है, (अत एव जैनों ने आत्मा का मध्यम परिमाण मानते हुये प्रदीप के समान संकोच-विकासशील माना है-**"प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्"** (तत्त्वार्थ० ५/१६) । अत एव श्री पार्थसारथिमिश्रने कहा है-**"पुत्तिकाहस्तिदेहयोरतिसंकोचविस्तारकल्पनं नातीव हृदयमनुरञ्जयति"** (शा०दी०पृ० १२४) । श्री चिदानन्द पण्डित ने सामान्यतः मध्यम परिमाण पर दोष दिया है-**"मध्यमपरिमाणत्वे च कार्यत्वेन अनित्यताप्रसङ्गात्"** (नीति० पृ० २२२)। अतः आत्मा में विभुत्व ही शेष रहता है । **"तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्"** (श्वेता० ३/९) इत्यादि श्रुतियों से आत्मा में विभुत्व सिद्ध होता है । **"अविनाशी वा अरे आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा"** (बृह.उ. ४/५/१४) इत्यादि श्रुतियों तथा निरवयवद्रव्यत्व और विभुत्वादि हेतुओं के द्वारा आत्मा में नित्यत्व सिद्ध किया जा सकता है ।

स्वर्ग और अपवर्ग क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर जो देहात्मवादी चार्वाकगण देते हैं कि, **लौकिक सुख स्वर्ग, दुःख नरक तथा शरीर-पात मोक्ष है ।** वह देहादि से भिन्न आत्मा के सिद्ध कर देने पर अपने-आप निरस्त हो जाता है । स्वर्ग का स्वरूप आगे कहा जायेगा ।

सौगतगण जो नील-पीतादि विषयरूप उपाधि का विलय हो जाने पर उपाधि रहित विज्ञान सन्तति का स्वरूपेण अवस्थान मोक्ष मानते हैं । वह भी अयुक्त हैं, क्योंकि निर्विषयक विज्ञान-सन्तति का स्वयं अवस्थान सम्भव नहीं । क्षण-क्षण में निरन्तर उत्पत्ति-विनाश से ग्रस्त किसी भी ज्ञानक्षण को मोक्षरूप फल का अनुभव नहीं हो सकता, अननुभूत वस्तु में पुरुष की अभिलाषा न होने के कारण उक्त मोक्ष में पुरुषार्थता ही उपपन्न नहीं होती ।

तार्किकगण कहते हैं कि इकवीस दुःखों का उच्छेद ही मोक्ष पदार्थ है । न्यायवार्तिककार ने सभी इक्कीस दुःख गिनाए हैं । **"एकविंशतिप्रभेदभिन्नं पुनर्दुःखम्--शरीरं, षड् इन्द्रियाणि, षड् विषयाः, षड् बुद्धयः, सुखम्, दुःखं च"** (न्या० वा० पृ० २) । तार्किकों के इस मोक्ष में सुख का भी विनाश मान लिया गया है, **असुखरूप मोक्ष में भी पुरुषार्थत्व नहीं बनता, अतः यह भी पूर्ववत् उपेक्षणीय ही है । यदि कहा जाय कि,** मोक्ष में पुरुषार्थता का निष्पादन करने के लिए सुख या सुखरूपता मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि जैसे सुषुप्ति में दुःख का अभाव होने मात्र से पुरुषार्थता अनुभूत होती है, वैसे ही दुःखाभावरूप मोक्ष में पुरुषार्थता निभ जाती है । **तो वैसा नहीं कह सकते,** क्योंकि केवल दुःखाभाव का होना पुरुषार्थता के लिए पर्याप्त नहीं, सुख का भी होना आवश्यक है । अन्यथा सुषुप्ति से उठे पुरुष को दुःखाभाव का स्मरण होने के साथ-साथ सुषुप्ति में स्वप्न कामिनी-सम्भोग-जनित सुख के विलोप से जो महान् क्लेश होता है, वह नहीं होना चाहिए, क्योंकि दुःखाभावरूप परम पुरुषार्थ का सुषुप्ति में जब लाभ हो गया, तब एक स्वल्प सुखाभास के न होने का दुःख क्यों होगा ? **अतः स्वर्ग के समान अनुपम सुख-सम्पत्ति को लात मार कर मोक्ष की लालसा महापुरुषों में होती है, वह मोक्ष में केवल दुःखाभाव के कारण नहीं हो सकती, मोक्ष में सुख या सुखरूपता मानना परम आवश्यक है ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रभाकर गुरु का कहना है कि, ज्ञानादि सकल विशेष गुणों का विलय हो जाने पर आत्मा की जो स्वरूप में अवस्थिति है, वही मुक्ति है, जैसा कि श्री शालिकनाथ मिश्र कहते हैं-**"आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निःशेषधर्माधर्म-परिक्षयनिबन्धनो मोक्षः"** (प्र०पं०पृ० ३४१) । श्री प्रभाकर सम्मत इस मोक्ष में भी सुख का विलोप हो जाने के कारण पूर्ववत् अपुरुषार्थता ही पर्यवसित होती है ।

श्री जैनाचार्यों ने जो सतत ऊर्ध्व-गति को मोक्ष कहा है-**"तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छन्त्यालोकान्तात्"** (तत्त्वार्थ १०/५)। उसमें परम पुरुषार्थत्व सम्भव नहीं है।

सांख्याचार्यों का मत है-प्रकृति और पुरुष का विवेकज्ञान हो जाने पर आत्मा का स्वरूपावस्थान ही मोक्ष तत्त्व है--**"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"** (यो० सू० १/३) । इस मोक्ष तत्त्व में भी आनन्द का अभाव है, अतः पुरुषार्थता कैसे होगी ?

आचार्य शङ्कर का जो सिद्धान्त है कि प्रपञ्च का विलय ही मोक्ष तत्त्व है । प्रपञ्च-विलय आत्मस्वरूप और आत्मा आनन्दस्वरूप है, अतः पुरुषार्थता की उपपत्ति हो जाती है । **वह शाङ्कर सिद्धान्त भी संगत नहीं,** क्योंकि प्रपञ्च का अत्यन्त विलय कभी सम्भव नहीं । प्रपञ्च को मायामय मानकर ज्ञान के द्वारा जो प्रपञ्च के विलय का उपपादन किया जाता है, वह संगत नहीं, **क्योंकि प्रपञ्च मायामय नहीं, वास्तविक है-यह आगे कहा जायेगा । दूसरी बात यह भी है कि,** आत्मा का आनन्द गुण है, आत्मा आनन्दरूप नहीं । पुरुषों की अभिलाषा भी 'सुखं में स्यात्'-ऐसी ही होती है, 'सुखमहं स्याम्'-ऐसी नहीं, अतः आनन्दरूपता में पुरुषार्थता भी नहीं बनती ।

दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः । सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः ।।२५।।

निषिद्धकाम्यकर्मभ्यः सम्यग्व्यावृत्तचेतसः । नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तप्रध्वस्तदुष्कृतेः ।।२६।।

सुखदुःखानुभूतिभ्यां क्षीणप्रारब्धकर्मणः । युक्तस्य ब्रह्मचर्याद्यैरङ्गैः शमदमादिभिः ।।२७।।

कुर्वाणस्यात्ममीमांसां वेदान्तोक्तेन वर्त्मना । मुक्तिः सम्पद्यते सद्यो नित्यानन्दप्रकाशिनी ।।२८।।

तब मोक्ष क्या है और उसका साधन क्या ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर है कि, दुःख का आत्यन्तिक समुच्छेद हो जाने पर जो आत्मा में पहले से ही वर्तमान आनन्द की मन के द्वारा अनुभूति होती है, उसे ही मोक्ष पदार्थ भाट्टगण मानते हैं ।

शङ्का-मोक्षावस्था में अनुभूयमान आनन्द यदि पहले से ही आत्मा में वर्तमान रहता है, तब संसारावस्था में उसकी अनुभूति क्यों नहीं होती ?

समाधान-संसारावस्था में उस आनन्द के अनुभव का साधन नहीं होता । देहेन्द्रियादि के आत्यन्तिक ध्वसं से युक्त मन ही उस आनन्दानुभूति का साधन है, संसारावस्था में देहादि के आवरण से आवृत होने के कारण मन उस सुख को ग्रहण करने में सक्षम नहीं हो पाता । यदि संसारावस्था में वह आनन्द अनुभूत नहीं होता, तब उसके सद्भाव में क्या प्रमाण ? इस प्रश्न के उत्तर में यह श्रुति प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है-**"आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते"** (ब्रह्म का वास्तविक रूप या गुण सुख होता है, जिसकी अभिव्यक्ति मोक्ष में ही होती है ।)

शङ्का-"अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" (छां० ८/१२/१) यह श्रुति कहती है कि शरीर के न रहने पर न सुख की अनुभूति होती है और न दुःख की, अतः मोक्षावस्था में आनन्दानुभूति क्योंकर होगी ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान–संसारावस्था में वैषयिक सुख की अनुभूति होती है, अतः शरीर के न रहने पर वैषयिक सुखादि का स्पर्श या ग्रहण सम्भव नहीं–यही उक्त श्रुति का तात्पर्य है । यदि मोक्षावस्था में स्वरूप सुख का ग्रहण न माना जाय, तब मुक्ति में पुरुषार्थता नहीं बन सकेगी । नित्यसुखाभिव्यक्ति के लिए मोक्ष में मन की सत्ता भी मानी गई है–**"बाह्येन्द्रियाण्येव मुक्तस्य निवर्तन्ते मनस्तु तस्यामवस्थायामनुवर्तते"** (शा० दी० पृ० १२७) । अतः जिस व्यक्ति ने निषिद्ध और काम्य कर्मों को त्याग दिया है, नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित्त कर्मों के अनुष्ठान से जिसके पाप नष्ट हो गए हैं, प्रारब्ध कर्मों के फलोपभोग से जिसने प्रारब्ध कर्म समाप्त कर डाले हैं, जो ब्रह्मचर्य, शम, दमादि अङ्गों से युक्त है, ऐसा अधिकारी व्यक्ति वेदान्त-कथित मार्ग से आत्ममीमांसा (आत्मविचार) करता हुआ नित्यानन्द-प्रकाशिनी मुक्ति को अविलम्ब ही पा लेता है । (आत्मविचार में वेदान्त की आवश्यकता वार्तिककार ने भी (श्लो० वा० पृ० ७२८ पर) बताई है– **इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या । दृढत्वेमतद्विषयप्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ।।]**

(१०) मन–सुखादिविषयक अपरोक्ष के साधनीभूत इन्द्रिय के रूप में मन की सिद्धि की जाती है, **वह विभु परिमाणवाला स्पन्दनरहित माना जाता है ।** कुछ लोग जो मन को अणु एवं स्पन्दनशील कहते हैं, उनका कहना संगत नहीं, क्योंकि श्री चिदानन्द पण्डित ने मन की विभुता में अनुमान-प्रयोग प्रस्तुत किए हैं–**"मनो विभु स्पर्शानर्हद्रव्यत्वाद् अनारभ्यारम्भकद्रव्यत्वाद्वा, ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वाद्वा, आत्मवत्"** (नीति० पृ० ६१) । मन में विभुत्व सिद्ध हो जाने पर तार्किकादि-सम्मत मन की मूर्तरूपता (क्रियावत्ता) का निराकरण और आकाशादि के समान स्पन्दनाभाववत्त्व अपने आप पर्यवसित हो जाता है, उसे पृथक् सिद्ध करने की अपेक्षा नहीं ।

शङ्का–मनोगत विभुत्व-साधक उक्त अनुमान धर्मिग्राहक प्रमाणों से बाधित हैं । (श्री चिदानन्द पण्डित ने (नीति० पृ० ६१ पर) कहा है कि मनोरूपी धर्मी का ग्रहण तीन प्रकार से होता है–(१) **युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसोलिङ्गम्** (न्या० सू० १/१/१६) में कथित लक्षण के अनुसार अणुरूप मन की ही सिद्धि होती है, अन्यथा शरीर-व्यापी मन के द्वारा शिर से पैर तक की घटनाओं का युगपत् ज्ञान होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः विभुत्व-साधक अनुमान का धर्मी (पक्ष) जब अणु है, तब उसमें विभुत्व का अनुमान क्योंकर हो सकेगा ? (२) **आत्मगत ज्ञानादि विशेष गुणों के असमवायिकारणीभूत संयोग की आश्रयता अपने आश्रयीभूत जिस मन की सिद्धि करती है, वह एक संयोगी द्रव्य के रूप में ही माना जा सकता है ।** आत्मा के साथ संयोग किसी विभु या मध्यम परिमाण के द्रव्य का सम्भव नहीं, अन्यथा सुषुप्ति में ज्ञानादि की प्रसक्ति होगी, परिशेषतः अणु मन के संयोग को असमवायिकारण मानना होगा) । **(३) आत्मगत सुखादि के साक्षात्कार-जनकेन्द्रियत्वेन मन की सिद्धि होती है ।** विभु द्रव्य भी किसी-न किसी उपाधि से उपहित होकर ही इन्द्रिय होता है, जैसे आकाश कर्णशष्कुलीरूप उपाधि से उपहित होकर ही श्रोत्र इन्द्रिय माना जाता है, वैसे ही विभु मन की उपाधि माननी आवश्यक है । कर्णशष्कुली के समान यदि शरीर के किसी भाग को उपाधि माना जाय, तब उसका नाश होने पर मन का भी नाश हो जायगा, अतः शरीरावच्छेदेन ही मन को इन्द्रिय मानना होगा । सुखसाक्षात्कार भी विभु द्रव्य का विशेष गुण है, अतः इसकी भी असमवायिकारणता आत्मा और मन के संयोग सन्निकर्ष में मानी जा सकती है, अतः संयोगाश्रयत्वेन मन को अणु मानना अनिवार्य है, अन्यथा पादादि संलग्न कण्टकादि-जनित वेदना का शरीर-व्यापित्वेन अनुभव प्रसक्त होगा। **मन को अणु मानने पर परिच्छिन्न प्रतीतियों की उपपत्ति हो जाती है । फलतः अणु मन को विभुत्वानुमान का पक्ष कभी नहीं बनाया जा सकता ।**

समाधान–(आशङ्कित धर्मिग्राहक प्रमाणों के विरोध का परिहार करते हुए नीतितत्त्वाविर्भाविकार ने ही कहा है कि (१) युगपज्ज्ञानानुपपत्ति को मन का लिङ्ग नहीं मान सकते, क्योंकि जैसे विभु आकाश को श्रोत्र मान लेने पर भी शब्दों की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

युगपद्ग्रहण-प्रसक्ति उपाधि को लेकर हटाई जाती है, वैसे ही विभु मन की भी युगपज्ज्ञानानुपपत्ति का समर्थन उपाधि को लेकर किया जा सकता है तथा शतावधान व्यक्ति को एक काल में ही अनेक ज्ञान होते हैं, जिससे मन की विभुता ही सिद्ध होती है । **(२)** आत्मगत ज्ञानादि के विशेष गुणों के असमवायिकारणीभूत संयोग की आधारता को लेकर जो अणु मन की सिद्धि की जाती है, वह भी संगत नहीं, क्योंकि जब शरीरावच्छेदेन आत्मा में ज्ञानादि उत्पन्न होते हैं, तब शरीर और आत्मा के संयोग को ही ज्ञानादि का असमवायिकारण भी माना जा सकता है, अतः यह मार्ग भी धर्मिग्राहक नहीं माना जा सकता)। **(३)** यह जो कहा गया कि, आत्मगत सुखादि-साक्षात्कार-जनक इन्द्रिय के रूप में मन की सिद्धि और विभु में इन्द्रियत्व नहीं बन सकता, अतः अणु मन को कल्पना होती है, **वह कहना भी संगत नहीं,** क्योंकि इस प्रकार मनरूप धर्मी का ग्रहण हमें स्वीकृत हैं, किन्तु उसे अणु मानने की कोई आवश्यकता नहीं, विभु मन की उपाधि है-पूरा शरीर । पादादिगत वेदनाओं का जो यौगपद्यापादन किया गया, **वह उचित नहीं,** क्योंकि मन बाह्य इन्द्रियों के अनुसार ही कार्यकारी माना जाता है, अतः त्वगिन्द्रिय के एक भाग में कण्टकादि का स्पर्श सकल शरीर-व्यापी नहीं प्रतीत होता । मन को अणु मान लेने पर भी सकल शरीर में व्याप्त चन्दनादि से जनित सुख सभी भागों में जो युगपत् गृहीत होता है, वह नहीं हो सकेगा, इस प्रकार अणुत्व और विभुत्व दोनों पक्षों में गुण-दोष समान हैं, **फलतः मनोग्राहक प्रमाण परिमाण-निरपेक्ष केवल मन का ग्रहण करता है, विभु या अणु का नहीं, विभुत्व की सिद्धि प्रमाणान्तर से होती है, वह ऊपर कहा जा चुका है ।**

शङ्का–दो द्रव्यों का संयोग उनमें से अन्यतर द्रव्य या दानों द्रव्यों के कर्म (क्रिया) से उत्पन्न होता है, मन और आत्मा दोनों विभु हैं, उनमें क्रिया सम्भव नहीं, अतः उनका संयोग कैसे उत्पन्न होगा ?

समाधान–दोनों जब विभु हैं, तब एक-दूसरे से वियुक्त हो ही नहीं सकता, अतः उनका संयोग स्वभाव-सिद्ध है । 'दो विभु द्रव्यों का संयोग कर्म-जन्य होता है'-ऐसा हम नहीं मानते, क्योंकि वह संयोग जन्य ही नहीं होता, अजन्य होता है ।

शङ्का–दो विभु द्रव्यों का संयोग कहीं भी नहीं देखा जाता, अतः आत्मा और मनोरूप दोनों विभु द्रव्यों के सम्बन्ध का अनुमान विशेष विरुद्ध है (क्योंकि सम्बन्ध सामान्य के घटकीभूत संयोगरूप सम्बन्ध विशेष का बाध हो जाने के कारण सम्बन्ध सामान्य का अनुमान नहीं किया जा सकता) ।

समाधान–दिक् और आकाशादि विभु द्रव्यों का संयोग अनुभवसिद्ध है, क्योंकि 'पूर्वीय आकाश', 'पश्चिमीय आकाश'-इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर दिक् और आकाश का परस्पर सम्बन्ध मानना आवश्यक है । अनुमान-प्रयोग भी श्री पार्थसारथि मिश्र ने न्यायरत्नमाला (पृ० ६३ पर) प्रस्तुत किया है-**"विभुनी मिथः संयुक्ते, द्रव्यत्वे सति निरन्तरत्वाद्, घटाकाशवत्"** । उसी प्रकार ये प्रयोग भी हो सकते हैं-( ) **विभुनी द्रव्ये, परस्परसंयोगिनी, अनारभ्यारम्भकद्रव्यत्वे सति निरन्तरत्वाद्, घटवत्** (यहाँ मन विभु होने के कारण किसी आरभ्य द्रव्यान्तर का आरम्भक नहीं और घट अन्त्यावयवी होने के कारण द्रव्यान्तर का अनारम्भक है) । (२) **आकाशः कालसंयोगी, कालव्यतिरिक्तत्वे सति निरन्तरत्वाद्, घटवत्** । (यहाँ निरन्तरता और संयोग-दोनों पर्याय नहीं अपितु कालिक और दैशिक व्यवधान का न होना निरन्तरता और संयोग दो द्रव्यों का सम्बन्ध विशेष हैं, दोनों में एक अभावात्मक और दूसरा भावात्मक भी है) ।

शङ्का–सुखादि के अपरोक्षार्थ साधन द्रव्य के रूप में मन की कल्पना न कर प्रसिद्ध दिक् और आकाशादि में से किसी एक को ही साधन मान लेना ही लघु मार्ग है, द्रव्यान्तर की कल्पना में गौरव है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान–मन में करणता होने के कारण कर्त्ता का भेद सिद्ध हो जाता है । दिक् और आकाशादि प्रत्यक्ष है, उनके प्रत्यक्ष में भी मन करण है, अतः दिगादिरूप विषय से उसका भेद निश्चित है, **इस प्रकार दशम द्रव्य मन सिद्ध हो गया।**

श्रोत्रमात्रेन्द्रियग्राह्यः शब्दः शब्दत्वजातिमान् । द्रव्यं सर्वगतो नित्यः कुमारिलमते मतः ।।२९।।

वियद्गुणत्वं शब्दस्य केचिदूचुर्मनीषिणः । प्रत्यक्षादिविरोधात् तद्भट्टपादैरुपेक्षितम् ।।३०।।

वर्णात्मकानां शब्दानां सम्भूयैकार्थवाचिनाम् । समाहारं पदं प्राहुराचार्यमतकोविदाः ।।३१।।

उत्तीर्णवर्णं यत्किञ्चित् तत्त्वं स्फोटपदोदितम् । वर्णव्यङ्ग्यं पदं प्रोक्तं पतञ्जलिमतानुगैः ।।३२।।

अनित्यत्वे हि शब्दानां शशशृङ्गप्रहारवत् । शब्दात्मकानां वेदानां नित्यत्वं हास्यतां व्रजेत् ।।३३।।

अति संचिन्त्य वादोऽयं विस्तरेण प्रपञ्चितः । एकादशविधं द्रव्यं तस्मादस्मन्मते स्थितम् ।।३४।।

(११) शब्द–शब्द श्रोत्र मात्र-ग्राह्य और शब्दत्व जाति का आश्रय होता है । **भाट्ट मत में शब्द को सर्वगत (विभु) और नित्य द्रव्य माना जाता है** । शब्द की श्रोत्र-ग्राह्यता में किसी प्रकार का विवाद नहीं । 'शब्दत्व' नाम की जाति का जाति-निर्णय प्रकरण में वर्णन किया जायेगा ।

तार्किकादि शब्द को जो आकाश का गुण मानते हैं, वह प्रत्यक्षादि से विरुद्ध होने के कारण भट्टपाद के द्वारा उपेक्षित कर दिया गया है । गुण सब कहीं किसी-न किसी द्रव्य के आश्रित ही प्रतीत होता है, किन्तु शब्द निराश्रित ही प्रतीत होता है, अतः उसे गुण मानना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है । (१) **शब्दो द्रव्यम्, साक्षादक्षसम्बन्धसाक्षात्कार्यत्वाद्, घटवत्**। (२) **शब्दो द्रव्यम्, सत्त्वे सत्यनाश्रयत्वाद्, गगनवत्**–इत्यादि अनुमानों के द्वारा भी शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि कर गुणत्व का विरोध किया जाता है । शब्द में अनाश्रितत्व भी असिद्ध नहीं, क्योंकि साश्रयत्वेन उसकी प्रतीति ही नहीं होती । **'विमतं द्रव्यम् (आकाशादि) शब्दाश्रयो न भवति, द्रव्यत्वात्, पटादिवत्'**–इस अनुमान के द्वारा भी शब्द में अनाश्रितत्व सिद्ध हो जाता है ।

शङ्का–शब्दो द्रव्यं न भवति, श्रोत्रग्राह्यत्वात्, शब्दत्ववत्' इस अनुमान के द्वारा शब्द में द्रव्यत्वाभाव सिद्ध किया जाता है, अतः इस के विरुद्ध द्रव्यत्व क्योंकर सिद्ध हो सकेगा ?

समाधान–शब्दो गुणो न भवति, श्रोत्रग्राह्यत्वात्, शब्दत्ववत्–इस प्रकार शब्द में उसी द्रव्यत्वाभावसाधक हेतु और दृष्टान्त के आधार पर गुणत्वाभाव भी सिद्ध किया जाता है, अतः प्रमाणान्तर के द्वारा शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि होती है, जिसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है ।

'शब्दो विभुः, स्पर्शानर्हद्रव्यत्वाद्, अनारम्भकत्वे सत्यनवयवद्रव्यत्वाद्, आत्मवत्'–इस अनुमान के द्वारा शब्द में विभुत्व सिद्ध होता है । शब्द में द्रव्यत्व सिद्ध किया जा चुका है, अतः उक्त अनुमान में असिद्धि दोष नहीं । **एक ही गकार वर्ण सर्वत्र युगपत् गृहीत होता है, अतः शब्द में महत्त्व या विभुत्व निश्चित है** ।

तार्किकगण जो गकारादि की युगपत् उपलब्धि का व्यक्तिभेद से समर्थन करते हैं, अर्थात् देवदत्त के द्वारा श्रुत गकार व्यक्ति से भिन्न दूसरी गकार व्यक्ति यज्ञदत्त को सुनाई देती है, एक ही शब्द सर्वत्र सुनाई नहीं देता । **शब्द व्यक्तियों को तार्किक विनाशी मानते हैं । 'स एवायं गकारः'**–इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा जाति-निबन्धन हो जाती है, अर्थात जैसे **'तदेवेदमौषधम्'**–इसका अर्थ 'तज्जातीयमिदमौषधम्'–ऐसा होता है, वैसे ही **'स एवायं गकारः'** का अर्थ **'तज्जातीयोऽयं गकारः'**–यही होता है, अतः प्रत्यभिज्ञा के आधार पर शब्द व्यक्तियों का अभेद सिद्ध नहीं किया जा सकता ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तार्किकों का वह समर्थन युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि **जिस प्रत्यभिज्ञा का किसी सबल प्रमाण से विरोध होता है, उसी के द्वारा व्यक्तिगत एकत्व की सिद्धि न होकर जाति-निबन्धन व्यवहार माना जाता है, अन्यथा सर्वत्र जाति-निबन्धन प्रत्यभिज्ञा की कल्पना करने पर 'सोऽयं देवदत्तः'–इत्यादि स्थलों पर भी व्यक्तिगत एकत्व की सिद्धि न हो सकेगी ।** 'सोऽयं गकारः'–इस प्रत्यभिज्ञा का कोई बाधक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता, अतः इसके द्वारा शब्द की एकता सिद्ध होती है ।

शङ्का–'उत्पन्नो गकारो विनष्टो गकारः'–इत्यादि प्रतीतियों को उक्त प्रत्यभिज्ञा का बाधक माना जा सकता है । शब्द का ध्वंस जब प्रत्यक्ष हो रहा है, तब उसे नित्य नहीं माना जा सकता ।

समाधान–किसी भी अभाव का प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता, अतः ध्वंस विषयक प्रत्यक्ष को एकत्व-प्रत्यभिज्ञा का विरोधी नहीं कह सकते । अभाव का ज्ञान योग्यानुपलब्धि से होता है, वह भी बाधक नहीं हो सकती, क्योंकि शब्द के व्यञ्जकीभूत ध्वनि के विनाश का ज्ञान अनुपलम्भादि से होता है, शब्द के ध्वंस का नहीं । शब्द में उत्पाद-विनाश का व्यवहार वैसे ही हो जाता है, जैसे कि कुआँ खोदने पर कूपाकाश की उत्पत्ति और कुआँ भर देने पर कूपाकाश के नाश का व्यवहार होता है । व्यञ्जक उपाधि के सन्निधान से नित्यभूत व्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति और व्यञ्जक का असन्निधान होने से व्यङ्ग्य वस्तु की अनभिव्यक्ति से ही उसमें उत्पाद-विनाश का व्यवहार हो जाता है। **'शब्दो नित्यः, भावत्वे सति अकारणत्वाद्, व्योमवत्'**–इस अनुमान के द्वारा शब्द में नित्यता सिद्ध होती है (प्रागभावादि अकारणक अनादि पदार्थों में व्यभिचार हटाने के लिए भावत्व विशेषण लगाया है । घटादि पदार्थों की अनित्यता के प्रयोजक घटादिगत सकारणत्व और भावत्वादि धर्म हैं, शब्द में भावत्व होने पर भी सकारणत्व नहीं, अतः वह नित्य है) । **ताल्वादि-व्यापार शब्द के कारण हैं, अतः शब्द में अकारणत्व क्योंकर रह सकेगा ?** इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, **जैसे भू-खननादि व्यापार कन्द, मूल एवं जलादि का उत्पादक नहीं व्यञ्जक ही होता है, वैसे ही कण्ठ-ताल्वादि का व्यापार शब्द का केवल व्यञ्जक ही होता है, शब्द का कारण नहीं । 'ताल्वादिव्यापारः, शब्दकारणं न भवति, व्यापारत्वाद्, आकुञ्चनादि व्यापारवत्'**–इस अनुमान के द्वारा ताल्वादि के व्यापार में शब्द की अकारणता भी सिद्ध हो जाती है ।

शङ्का–'ताल्वादिव्यापारः शब्दस्य कारणं भवति, शब्दस्य तदनन्तरभावित्वाद्, यो यदनन्तरभावी, स तत्कारणकः, यथा कुलालव्यापारानन्तरभावी घटस्तत्कारणकः'–इस अनुमान के द्वारा ताल्वादि-व्यापार में शब्द की कारणता सिद्ध होती है, अतः शब्द में सकारणत्व ही है, अकारणकत्व नहीं ।

समाधान–मूल और जलादि में उक्त अनुमान व्यभिचरित है, क्योंकि खननादि व्यापार के अनन्तर उनकी उपलब्धि होने पर भी खननादि को जलादि का कारण या उत्पादक नहीं माना जाता । फलतः ताल्वादि व्यापार को शब्द का व्यञ्जक ही मानना होगा, जैसे की (नीति० पृ० ९८ में) श्री चिदानन्द पण्डित ने कहा है– **अकारणत्वे ताल्वादिव्यापारस्य व्यवस्थिते । तद्व्यङ्ग्योऽनन्तरं दृष्टः शब्दो मूलकादिवत् ।।**

शङ्का–ताल्वादि-व्यापार को शब्द का व्यञ्जक मानने पर अभिव्यक्त शब्द का सर्वत्र सभी व्यक्तियों को श्रवण होना चाहिए, क्योंकि शब्द विभु माना गया है ।

समाधान–ताल्वादि स्थानों पर जिह्वा के अभिघात से जो नादसंज्ञक वायवीय कम्पन उत्पन्न होता है, वही शब्द का व्यञ्जक माना जाता है, उसकी शक्ति और गति सीमित होने के कारण जिस श्रोत्र तक पहुँच होती है, वही श्रोत्र शब्द सुन सकता है, दूर तक सभी श्रोत्रों से उस ध्वनि का संयोग न हो सकने के कारण शब्द का सर्वत्र श्रवण नहीं हो सकता, जैसा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कि शबरस्वामी ने कहा है-**"अभिघातेन प्रेरिता वायवःस्तिमितानि वाय्वन्तराणि प्रतिबाधमानाः सर्वतोदिक्कान् संयोगविभागान् उत्पादयन्तो यावद्वेगमभिप्रतिष्ठन्ते, अनुपरतेष्वेव तेषु शब्द उपलभ्यते नोपरतेषु"** (शा०भा०पृ० ७९-८०) (अर्थात् कण्ठ, तालवादि भागों पर जिह्वा के आघात से प्रेरित वायवीय तरङ्गें कर्णशष्कुली में भरे हुए स्तब्ध वायु-मण्डल को फाड कर शब्द के व्यञ्जकीभूत नादाख्य वायवीय संयोग विभागों का सञ्चार करती है । उन तरङ्गो की जितनी दूर तक पहुँचने और जितने समय तक ठहरने की शक्ति होती है, उतनी दूर तक पहुँच कर उतने समय तक नादों के माध्यम से शब्द की अभिव्यञ्जना तब तक करती रहती हैं, जब तक नादावलि अवस्थित रहती है) ।

शङ्का--सभी गकार वर्ण एक ही प्रकार के सुनाई नहीं देते, अपितु उनमें से कोई तीव्र, कोई तीव्रतर, कोई मन्द और कोई मन्दतर होता है, एक ही गकार में तीव्रत्व-मन्दत्वादि विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते, अतः गकार नाना सिद्ध होते हैं, शब्द में एकत्व कभी सम्भव नहीं ।

समाधान--एक ही मुखरूप बिम्ब का मणि, दर्पण, कृपाणादि उपाधियों के भेद से भेद जैसे प्रतीति होने लगता है, वैसे ही शब्द की व्यञ्जकीभूत ध्वनियों (नादों) में तीव्रत्वादि धर्म होते हैं, अत एव ध्वनियाँ अनेक मानी जाती हैं, उन्हीं ध्वनि-धर्मों का शब्द में आरोप हो जाने के कारण भिन्नत्व प्रतीत होने लगता है, जैसा कि सूत्रकार ने कहा है-**"नादवृद्धिपरा"** (जै०सू० १/१/१) । भाष्यकार इसकी व्याख्या करते हैं-**"संयोगविभागा नैरन्तर्येण क्रियमाणा शब्दमभिव्यञ्जन्तो नादशब्दवाच्याः तेन नादेनैषा वृद्धिर्न शब्दस्य"** ।

शङ्का--गकारादि वर्णों में जो एकत्व की प्रत्यभिज्ञा होती कही जाती है-**'स एवायं गकारः'**, वह वैसे ही भ्रमात्मक है, जैसे कि **'सेयं दीपज्वाला'**-इत्यादि प्रत्यभिज्ञायें नाना ज्वालाओं में एकत्व का भान कराती हुई भ्रमात्मक होती है ।

समाधान--भ्रम ज्ञान का परिचय कराते हुए भाष्यकार कहते है-**"यस्य च दुष्टं करणम्, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनः प्रत्ययो नान्यः"** (शा० भा० पृ० २८) अर्थात् जहाँ इन्द्रियादि कारण-कलाप में कोई दोष हो अथवा जिस ज्ञान का किसी बाधक प्रमाण से बाध हो जाता है, उसी ज्ञान को भ्रम कहा जा सकता है, सभी ज्ञानों में भ्रान्तिमूलकत्व की कल्पना उपपन्न नहीं होती । दीप-ज्वाला के अवयवों को बिखरते देखकर ज्वालारूप अवयवी में नश्वरता का अनुमान हो जाता है एवं एक ही बत्ती में एक ज्वाला के बुझ जाने पर तुरन्त वह फिर जला दी जाती है किन्तु पुनरुद्दीपन क्रिया को न देखनेवाला व्यक्ति यही समझता है कि 'सैवेयं दीपज्वाला' । ऐसी प्रतीतियों को निश्चितरूप से सादृश्यमूलक कहा जा सकता है, किन्तु गकारादिगत एकत्व की प्रत्यभिज्ञा में कोई विषय-दोष या कारण-दोष नहीं पाया जाता और न कोई उसकी विनश्वरता का अनुमापक लिङ्ग ही देखा जाता है, अतः उसमें भ्रान्तिमूलकत्व की कल्पना निराधार है, इस प्रकार अनेक व्यक्तियों को युगपत् उपलभ्यमान गकार एक ही है ।

यह भी यहाँ विचारणीय है कि, शब्द के उत्पत्तिपक्ष में प्रथम शब्द की उत्पत्ति तालवादि-व्यापार से और द्वितीयादि उत्तरभावी शब्दों की उत्पत्ति पूर्व-पूर्व शब्द से माननी होगी । अन्तिम शब्द का नाश अपने पूर्ववर्ती कारणीभूत शब्द के नाश से और अन्तिम शब्द के पूर्वभावी शब्दों का नाश अपने अपने उत्तरभावी कार्यभूत शब्दों से होगा । वीचितरङ्ग या कदम्ब-गोलक के समान शब्द-सन्तान-क्रम से श्रोता के श्रोत्र-प्रदेश में उत्पन्न शब्द का समवाय सम्बन्ध से ग्रहण होना-इत्यादि अधिकतर लोक में न देखी जानेवाली अघटित कल्पनाएँ करनी पडती हैं, इन से बचने के लिए भी हम (भाट्टगण) शब्द-नित्यत्व-पक्ष का ही आदर करते हैं-**इस प्रकार शब्द में द्रव्यत्व, नित्यत्व, सर्वगतत्वादि धर्म सिद्ध हो जाते हैं ।**

(१) वाचक और (२) अवाचक भेद से शब्द दो प्रकार का होता है । उनमें भेरी-प्रहरण (ढोल पीटने) आदि से जनित ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त शब्द **अवाचक** और कण्ठ-तालवादि-व्यापार से जनित ध्वनि के द्वारा अभिव्यञ्जनीय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्णात्मक शब्द **वाचक** होते हैं । वर्णात्मक शब्दों का वह समुदाय भाट्ट मत में पद कहलाता है, जिसमें सभी शब्द मिल कर एक अर्थ का अभिधान करते हैं । **वर्णात्मक शब्द से भी भिन्न पदध्वनि के द्वारा अभिव्यञ्जनीय स्फोटात्मक शब्द पातञ्जल मत में पद कहा जाता है ।** वहाँ जिज्ञासा होती है कि, वर्णातिरिक्त शब्द तत्त्व में क्या प्रमाण है?

शङ्का–'एकं पदम्'–इस प्रकार का प्रत्यक्ष अनुभव लोक-प्रसिद्ध है, यह वर्णविषयक नहीं हो सकता, क्योंकि वर्ण अनेक होते हैं, उनमें एकत्व नहीं घटता, अतः वर्णों से अतिरिक्त पदरूप में स्फुटित होनेवाला पदस्फोट मानना आवश्यक है ।

समाधान–जैसे अनेक पदों से आरब्ध वाक्य एक वाक्यार्थ का बोधक होने के कारण एकत्वविषयिणी बुद्धि का विषय होता है, वैसे ही अनेक वर्ण मिलकर जब एकार्थपर्यवसायी होते हैं, तब उन्हें ही 'एकं पदम्' कह दिया जाता है। **वाक्य में भी वाक्यस्फोट-निबन्धन एकत्वबुद्धि होती है–ऐसा नहीं कह सकते,** क्योंकि वाक्य में भी एकार्थ-प्रतिपादकत्वेन ही एकत्व-व्यवहार निभ जाता है, वाक्यस्फोट मानने की कोई आवश्यकता नहीं । जहाँ तक दृष्ट या कल्पित पदार्थों से निर्वाह हो जाय, वहाँ तक अदृष्ट पदार्थों का कल्पना नहीं की जाती । **अतः पद और वाक्य में एकत्व का भान एकार्थबोधकत्वेन ही माना जाता है, वर्णों से अतिरिक्त किसी स्फोटादिरूप शब्द की कल्पना अनावश्यक है ।**

यह जो कहा जाता है कि, वर्ण-समूह को पद मानने पर 'कमल' पद के समान 'लमक' पद से भी उसी अर्थ का बोध होना चाहिए, क्योंकि क्रम-व्युत्क्रम का भेद होने पर वर्ण तो उतने ही दोनों पदों में हैं । **वह कहना संगत नहीं,** क्योंकि वर्णों को स्फोट का अभिव्यञ्जक मानने पर भी वही **शङ्का बनी रहती है कि,** 'कमल' के समान 'लमक' पद से भी उसी स्फोट की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती ? **अतः स्फोट नाम का कोई पदान्तर या द्रव्यान्तर मानने की आवश्यकता नहीं ।**

वर्ण-समूहात्मक पद का अपने पदार्थ के साथ जो बोध्य-बोधकभावरूप सम्बन्ध होता है, वह भी नित्य ही है । तार्किकगण जो कहा करते हैं कि, पद और पदार्थ का परस्पर साङ्केतिक सम्बन्ध है, सङ्केतयिता ईश्वर होता है । वह उनका कहना तार्किक-सम्मत ईश्वर का निराकरण हो जाने से ही **निरस्त हो जाता है ।**

गोत्वादि जाति ही गवादि पदों की अभिधेय होती है और 'गामानय'–इत्यादि वाक्यों में गोत्व के साथ आनयनादि क्रिया का अन्वय अनुपपन्न होने के कारण व्यक्ति में लक्षणा की जाती है । जाति की नित्यता का अग्रिम जाति-प्रकरण में ही वर्णन किया जायेगा और सम्बन्धी की अनित्यता के कारण सम्बन्ध की अनित्यता भी कही जायगी । शब्दों को अनित्य मानने पर शब्दात्मक वेदों की नित्यता वैसे ही उपहासास्पद हो जायगी, जैसे शशशृङ्ग का प्रहार। इस प्रकार इस द्रव्य-प्रकरण का विस्तार से वर्णन किया गया, अतः हमारे (भाट्ट) मत में ग्यारह प्रकार का द्रव्य स्थिर हो गया ।

जातिर्व्यक्तिगता नित्या प्रत्यक्षज्ञानगोचरा । भिन्नाभिन्ना च सा व्यक्तेः कुमारिलमते मता ।।३५।।

नायाति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत् । जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः ।।३६।।

(२) जाति–जाति अपनी व्यक्ति के आश्रित, नित्य एवं प्रत्यक्ष ज्ञान की विषय मानी जाती है, श्री कुमारिल भट्ट के मत में जाति व्यक्ति से भिन्नाभिन्न कही जाती है ।

बौद्ध-मत–बौद्धगण जाति पदार्थ को ही नहीं मानते और कहते हैं कि जाति सर्वगत होती है ? अथवा केवल व्यक्ति में ? यदि सर्वगत है, तब सर्वत्र उसकी उपलब्धि होनी चाहिए । व्यक्ति के आश्रित भी जाति को नहीं माना जा सकता,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि तत्कालोत्पन्न व्यक्ति के साथ अन्य व्यक्तियों में उपस्थित जाति का अन्वय नहीं हो सकता । व्यक्ति की उत्पत्ति के साथ-साथ तद्गत जाति भी उत्पन्न हो जाती है-ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि मीमांसकगण जाति को नित्य मानते हैं। व्यक्त्यन्तर से व्यक्त्यन्तर में जाति का आगमन भी सम्भव नहीं, क्योंकि मीमांसक ही जाति को निष्क्रिय मानते हैं एवं जात्यन्तर से जाति के निकल जाने पर वहाँ जाति की अनुपलब्धि प्रसक्त होगी । अंशतः जाति का आगमन और अंशत अवस्थान भी नहीं कह सकते, क्योंकि जाति को निरंश माना जाता है । यह भी जिज्ञासा होती है कि, व्यक्ति का विनाश हो जाने पर (१) क्या जाति भी व्यक्ति के साथ ही विनष्ट हो जाती है ? (२) या उसी देश में स्थित रहती है ? (३) अथवा व्यक्त्यन्तर में चली जाती है ? प्रथम (नाश) पक्ष उचित नहीं, क्योंकि जाति नित्य होती है । द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि उस देश में उपलब्ध न होने के कारण वहाँ उसका अवस्थान नहीं माना जा सकता । तृतीय (गमन) पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि निष्क्रिय होने के कारण जाति में गति नहीं बनती, किसी प्रकार व्यक्त्यन्तर में गमन मान लेने पर भी व्यक्त्यन्तर में दो जातियों की उपलब्धि होनी चाहिए, इन सभी आक्षेपों को ध्यान में रखकर ही बौद्धों ने (प्र.वा. १/१५ में) कहा है -**नायाति न च तत्रासीदस्ति पश्चात्र चांशवत् । जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः ।।**

बौद्ध-मत का निरास-यह जो प्रश्न किया गया कि जाति सर्वगत होती है ? अथवा केवल व्यक्तिगत ? **उसके उत्तर में हमारा कहना है कि,** हम दोनों पक्षों को मानते और उनका समन्वय कर लेते हैं कि सर्वगतत्व सिद्ध हो जाने से ही व्यक्तिगतत्व भी सिद्ध हो जाता है, उसके पृथक् सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं । **सर्वगत मानने पर सर्वत्रोपलब्धिप्रसङ्ग भी नहीं हो सकता,** क्योंकि व्यक्तियों को ही जाति का व्यञ्जक माना जाता है । अभिव्यञ्जक के बिना अभिव्यङ्ग्य का उपलम्भ कहीं नहीं होता । व्यक्तिगत मानने पर तत्कालोत्पन्न व्यक्ति में जाति का योग और व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर जाति का वियोग क्योंकर होगा ? **इस प्रश्न का उत्तर यह है कि,** व्यक्ति की उत्पादक और नाशक सामग्री से ही जाति का योग और वियोग सम्पन्न हो जाता है । **'अन्यत्र अवस्थित पदार्थ का अन्यत्र अन्वय गतिपूर्वक होता है'**-यह नियम पृथक्सिद्ध पदार्थों के विषय में ही लागू होता है, अयुतसिद्ध पदार्थों में नहीं, अतः तादात्म्य सम्बन्ध से सम्बद्ध जाति और व्यक्ति के समन्वय में गतिपूर्वकत्व का आपादन नहीं किया जा सकता । **पदार्थयोः तादात्म्यम्, गतिपूर्वकम् भवति, सम्बन्धत्वात्, संयोगवत्'**-इस प्रकार युतसिद्ध-सम्बन्धत्व और अयुतसिद्ध-सम्बन्धत्वादि विशेषताओं की उपेक्षा पर यत्किञ्चित् साधर्म्य को लेकर अनिष्ट का साधन या आपादन करने पर विश्व का ही साङ्कर्य हो जायगा ।

शाबलेयादि गोव्यक्तियों में अनुस्यूत और महिषादि से व्यावृत्त 'गौः'-इस प्रकार प्रत्यक्षप्रमाण-निष्पन्न एकाकारावभास एक ऐसा उत्कट प्रमाण है, जो कि जाति-वाद में विश्वास न रखनेवाले बौद्धों को भी जाति मानने के लिए बाध्य कर देता है। 'गौरयम्'-इस प्रकार के विधिमुख अनुभव को 'अयमगोभिन्नः'-इस प्रकार निषेध मुख प्रत्यय के रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, **अतः बौद्धों के अपोहवाद से जातिवाद की गतार्थता कथमपि सम्भव नहीं हो सकती ।** कुछ ध्यान देकर देखने पर 'अगोनिवृत्ति' शब्द दो निषेधों से युक्त होने के कारण गोत्वरूप अर्थ को ही कहता है, अतः अपोह या इतर-निवृत्ति आदि शब्दान्तरों के द्वारा जाति तत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है, जैसा कि वार्तिककार ने (श्लो० वा० पृ० ५६६ पर) कहा है- **अगोनिवृत्तिसामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम् । गोत्ववस्त्वेव तैरुक्तमगोऽपोहगिरा स्वयम् ।।**

जैसे वृक्ष-समूह में 'वनम्'-इस प्रकार की आरोपबुद्धि होती है, वैसे ही व्यक्तियों में जाति बुद्धि है-ऐसा कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि वृक्षों से अतिरिक्त वन पदार्थ का जैसे बाध होता है, वैसे व्यक्तियों से भिन्न जाति तत्त्व का बाध नहीं होता ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शङ्का–जाति व्यक्ति से अत्यन्त अभिन्न है ? अथवा भिन्न ? प्रथम पक्ष मानने पर व्यक्ति से भिन्न जाति सिद्ध न हो सकेगी । जाति को व्यक्ति से भिन्न भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'गो व्यक्ति ही गोत्व जाति की व्यञ्जिका होती है, अश्व व्यक्ति नहीं'–इस प्रकार का अन्तर समाप्त हो जायगा, क्योंकि जैसे गोत्व जाति से अत्यन्त भिन्न गो व्यक्ति है, वैसे ही अश्व व्यक्ति भी, अतः दोनों व्यक्तियों में गोत्व-व्यञ्जकत्व नहीं रहेगा या दोनों में रहेगा, गो व्यक्ति में गोत्व-व्यञ्जकत्व है, अश्व में नहीं–यह अन्तर तभी बन सकता है, जब कि गोत्व और गौ का अत्यन्त भेद न माना जाय ।

समाधान–भाट्टमतानुसार जाति और जातिमान् का भेदाभेद अर्थात् भेद और अभेद का समुच्चय माना जाता है, अतः भेद और अभेद-दोनों पक्षों में कथित दोष प्रसक्त नहीं होते । पयः-पावक के समान अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव के भेद और अभेद-दोनों का समुच्चय एकत्र क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है–**'दर्शनबलात्'** । अनुभव के बल पर जाति और व्यक्ति का भेदाभेद माना जाता है । 'अयं गौः' –यहाँ इदं शब्द से व्यक्ति और 'गो' शब्द से जाति अभिहित होती है। यहाँ यदि जाति और जातिमान्-दोनों अत्यन्त भिन्न माने जाते हैं, तब 'इदं गोत्वे'–ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, क्योंकि अत्यन्त भिन्न घट-पटादि में वैसी ही प्रतीति होती है । यदि दोनों अत्यन्त अभिन्न है, तब 'हस्तः करः'–इत्यादि के समान इदं और 'गोत्व' में पर्यायत्व प्रसक्त होगा और उसका फल यह होगा कि 'अयं गौः'–इस प्रकार सह प्रयोग न हो सकेगा, किन्तु इदं और 'गो' पद में अपर्यायत्व और सामानाधिकरण्य देखकर भाट्टगण जाति और जातिमान् का भेदाभेद-समुच्चय मानते हैं।

जाति और जातिमान् में समवाय सम्बन्ध होने के कारण उनके वाचक पदों का सामानाधिकरण्य उपपन्न हो जाता है–ऐसा जो प्रभाकर का मत है, उसका निराकरण समवाय के आगे होनेवाले निराकरण से ही हो जाता है ।

गुरु-मत–इस प्रकार जाति के सिद्ध हो जाने पर भी प्रभाकर गुरु का जो कहना है कि, **जाति का अवबोध सदैव पूर्वाकारावमर्श से नियत होता है,** जैसा कि शालिकनाथ (प० प० पृ० ६४ पर) कहते हैं– **जातिराश्रयतो भिन्ना प्रत्यक्षज्ञानगोचरः । पूर्वाकारावमर्शेन प्रभाकरगुरोर्मता** ।। अत एव सत्त्व, शब्दत्व, ब्राह्मणत्वादि को जाति नहीं माना जा सकता ।

गुरु-मत-निरास–सत्त्वादि में भी पूर्वाकारावमर्श करने के कारण जातित्व मानना चाहिए । **यह पूर्वाकारावमर्श क्या है ?** क्या पूर्वानुभूत सभी आकारों का अनुसन्धान ? अथवा पूर्वानुभूत कतिपय आकारों का भान ? **प्रथम पक्ष मानने पर** शाबलेया व्यक्ति को देखकर बाहुलेयी को देखनेवाला व्यक्ति शाबलेयीगत सभी आकारों का बाहुलेयी में अवमर्शन नहीं करता । यदि करे, तब दोनों व्यक्तियों का अत्यन्त अभेद हो जायगा । **द्वितीय** (एक व्यक्ति के अनुभूत कतिपय आकारों का अनुसन्धान) **पक्ष मानने पर** सत्त्व, शब्दत्व, ब्राह्मणत्वादि ने क्या बिगाडा है कि पूर्वानुभूत सत्त्वादि आकारों का अनुसन्धान होने पर भी सत्त्वादि को जाति नहीं माना जाता ? फलतः पृथिवी एवं जलादि द्रव्यों में गोत्वादि जातियों में, रूप-रसादि गुणों में, गमनादि कर्मों में, सत्-सत् ऐसा अनुभव और शब्द-प्रयोग देखकर द्रव्य, गुण, कर्म और जाति–इन चारों में सत्त्वनामक महासामान्य मानना नितान्त युक्ति-संगत है ।

तार्किकगण जो कहते हैं कि, सामान्य में सामान्यान्तर मानने पर अनवस्था होती है, अतः द्रव्य, गुण और कर्म–इन तीनों में ही सत्त्व या सत्ता जाति रहेती है, जाति में नहीं । **तार्किकों का वह कहना अयुक्त है,** क्योंकि यदि हम द्रव्यत्व में द्रव्यत्वान्तर या गोत्व में गोत्वान्तर मानते हैं, तब अवश्य अनवस्था होती है, किन्तु सत्त्व को चारों में मानने पर किसी प्रकार की अनवस्था नहीं होती । **दूसरी बात यह भी है कि,** सत्-सत्-ऐसा शब्द-प्रयोग और ज्ञान जब

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुस्यूतरूप में विद्यमान है, तब उनमें रहनेवाली सत्ता को क्यों न माने? इसी प्रकार शब्द के सुनाई देने पर तुरन्त ही 'शब्दोऽयम्'-इस प्रकार अनुगताकार बुद्धि से शब्दत्व की भी सिद्धि हो जाती है ।

शङ्का—जैसे 'पाचकोऽयम्', 'पाचकोऽयम्'-इस प्रकार एव पाक क्रिया रूप उपाधि को लेकर 'पाचक' शब्द का प्रयोग हो जाता है, वैसे ही सत्त्वादि में भी एक उपाधि-निबन्धन एक शब्द-प्रयोग क्यों नहीं ?।

समाधान—सत्त्वादि में वैसी कोई उपाधि अनुभव में नहीं आती, जिसे एक प्रयोग का नियामक माना जा सके । **यदि कहा जाय कि** सत्त्व के प्रयोग में प्रमाण-सम्बन्ध-योग्यत्व को उपाधि माना जा सकता है । **तो वैसा नहीं कह सकते,** क्योंकि प्रमाण-सम्बन्ध-योग्यत्व के अवगम से पूर्व ही सत्-सत् इस प्रकार का अनुगम देखा जाता है, अतः प्रमाण-सम्बन्ध-योग्यत्व को सत्त्व की उपाधि नहीं मान सकते, क्योंकि उपाधि के ज्ञान से पूर्व कभी भी औपाधिक व्यवहार नहीं देखा जाता । **यदि उपाधि के ज्ञान से पूर्व औपाधिक व्यवहार हो सकता है,** तब देवदत्तगत पाचकत्व के ज्ञान से पूर्व ही 'देवदत्तोऽयं पाचकः'-ऐसा व्यवहार होना चाहिए । इसी प्रकार शब्दत्व में श्रोत्रग्राह्यत्व उपाधि नहीं हो सकती । माता पिता में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग देखकर यदि पुत्र में 'ब्राह्मण' पद का प्रयोग किया जाय, तब पिता में प्रयुक्त 'देवदत्त' पद का पुत्रादि में भी प्रयोग होना चाहिए । अतः अनेक ब्राह्मणकुलों का वर्गीकरण 'ब्राह्मणत्व' जाति के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता, अतः 'ब्राह्मणत्व' जाति सिद्ध हो जाती है । ब्राह्मणत्व जाति प्रत्यक्ष भी है, क्योंकि जिस व्यक्ति के लिए यह सुन रखा है कि यह विशुद्ध ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न है, उस व्यक्ति को देखते ही उसमें ब्राह्मणत्व का साक्षात्कार हो जाता है । इसी प्रकार द्रव्यत्व, गुणत्व, रसत्वादि अन्यान्य जातियाँ भी सिद्ध हो जाती है, उनमें प्राभाकरकल्पित उपाधियों का निरास पूर्ववत् हो जाता है, **अतः जाति तत्त्व सिद्ध हो गया । अब गुण का निरुपण किया जाता है ।**

कर्मणो व्यतिरिक्तत्वे सत्यवान्तरजातिमान् । उपादानत्वनिर्मुक्तो गुणो गुणविदां मतः ।।३७।।

बुद्धिः स्वयंप्रकाशेति गुरुशङ्करयोर्मतम् । प्रत्यक्षेत्यक्षपादानां तन्निरासोऽभिधीयते ।।३८।।

प्रयत्नस्तु शरीरादौ हेतुः कर्मसमुद्भवे । एवमेते समुद्दिष्टाः संक्षेपादात्मनो गुणाः ।।३९।।

वेणुरन्ध्रप्रयुक्तं वा बद्धं वा बहुवत्सरम् । मुच्यमानं श्वलाङ्गूलं वक्रभावं न मुञ्चति ।।४०।।

शक्तित्वसामान्यवर्ती द्रव्यकर्मगुणाश्रयाम् । श्रुत्यर्थापत्तिविज्ञेयां शक्तिमाहुः कुमारिलाः ।।४१।।

यादृशादग्निसंयोगात् सर्वदा दाहदर्शनम् । तादृशादेव मन्त्रादिप्रयोगे तददर्शनात् ।।४२।।

अग्निसंयोगातिरिक्तं यत्किञ्चित् कारणान्तरम् । अस्ति दृश्यमदृश्यं वेत्येवं साधारणी प्रमा ।।४३।।

दृश्यादर्शनजाभावप्रमाणेन विहन्यते । तत्रानयोर्विरोधे सत्यविरोधाय कल्प्यते ।।४४।।

अदृश्यं कारणं किञ्चित् सा शक्तिरिति गीयते । गुणोक्तलक्षमसद्भावादस्याश्च गुणता मता ।।४५।।

(३) गुण—कर्म से जो भिन्न हो, अवान्तर जातिमान् हो और उपादानत्व-रहित हो, उसे **गुण** कहा करते हैं । गुण के चौवीस भेद होते हैं-(१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) संख्या, (६) परिमाण, (७) पृथक्त्व, (८) संयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) गुरुत्व, (१३) द्रवत्व, (१४) स्नेह, (१५) बुद्धि, (१६) सुख, (१७) दुःख, (१८) इच्छा, (१९) द्वेष, (२०) प्रयत्न, (२१) संस्कार, (२२) ध्वनि, (२३) प्राकट्य और (२४) शक्ति ।

(१) रुप—रूप केवल चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य, पृथिव्यादि त्रय एवं तम में वृत्ति विशेष गुण है । **वह पाँच प्रकार का होता है**— (१) शुक्ल, (२) कृष्ण, (३) पीत, (४) रक्त और (५) श्याम । इनके अवान्तर भेद अनन्त होते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(२) रस–रस केवल रसना इन्द्रिय का विषय है, पृथिवी और जल-दो में रहता है और विशेष गुण है । वह (१) मधुर, (२) तिक्त, (३) आम्ल, (४) कषाय, (५) कटु और (६) लवण भेद से छः प्रकार का होता है इनके भी अवान्तर भेद अनेक होते हैं । **(३) गन्ध**–गन्ध केवल घ्राण इन्द्रिय से गृहीत होती है, पृथिवी मात्र में रहती है, विशेष गुण है । इसके तीन भेद होते हैं-(१) सुगन्ध, (२) दुर्गन्ध, (३) साधारण गन्ध । जलादि में गन्ध अपनी नहीं होती, अपितु पृथिवी के सम्बन्ध से आती है । **(४) स्पर्श**–स्पर्श त्वगिन्द्रियमात्र से ग्राह्य पृथिवी, जल, तेज और वायु-इन चार द्रव्यों में रहता है, विशेष गुण है। शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत भेद से तीन प्रकार का स्पर्श होता है । **(५) संख्या**–एकत्वादि व्यवहार के हेतुभूत गुण को संख्या कहते हैं, सर्व द्रव्यों में रहने के कारण सामान्य गुण है, वह एक से लेकर परार्ध-पर्यन्त संज्ञाए धारण करती है- **एकं दश शतञ्चैव सहस्रमयुतं तथा । लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च ।। पुनः खर्बो निखर्वश्च शंखः पद्मश्च सागरः । अन्त्यं मध्यं परार्धं च दशवृद्ध्या यथाक्रमात् ।।** पूर्व-पूर्व संख्या को दस से गुणन करने पर उत्तरोत्तर संख्या का लाभ होता है ।

(६) परिमाण–परिमाण भी मान-व्यवहार का असाधारण कारण सर्व द्रव्यवृत्ति, सामान्य गुण है । अणु, महत्, ह्रस्व और दीर्घादि भेदों में विभक्त होता है । इनमें से अणुत्व परिमाण परमाणु में और महत् परिमाण गगनादि में तथा ह्रस्वत्वादि इतर द्रव्यों में रहते हैं । **(७) पृथक्त्व**—पृथक्त्व गुण भेद-व्यवहार का कारण सर्व द्रव्यगत सामान्य गुण है । **प्राभाकरगण जो कहते हैं कि,** कार्य द्रव्यों में पृथक्त्व नहीं रहता, जैसा कि अर्थदीपिका में कहा है- **पृथक्त्वं तु गुणो नित्यद्रव्येषु परमाणुषु । भवेद् व्यावर्तको धर्मः कार्यद्रव्येषु नेष्यते ।। वह कहना उचित नहीं,** क्योंकि नित्य द्रव्यों के समान ही कार्यभूत घटादि द्रव्यों में भी प्रतीयमान भेद के साधक पृथक्त्व गुण का होना आवश्यक है ।

शङ्का–प्रभाकर गुरु का जो यह कहना है कि, भेद वस्तु का स्वरूप ही होता है, कार्य द्रव्यों का स्वरूप प्रत्यक्ष-गम्य ही है, अतः कार्य द्रव्यों में स्वरूपात्मक भेद से अतिरिक्त पृथक्त्व गुण मानने की आवश्यकता ही नहीं । हाँ, जिन द्रव्यों का स्वलक्षण (स्वरूप) प्रत्यक्ष-सिद्ध नहीं, वहाँ पृथक्त्वरूप व्यावर्तक गुण का अनुमान करना न्याय-संगत है। आत्मा प्रत्यक्ष होने पर भी विभु है, अतः उसका भेद तब तक सिद्ध नहीं हो सकता, जब तक उसमें पृथक्त्व गुणरूप व्यावर्तक धर्म न माना जाय, अतः नित्य द्रव्यों में ही पृथक्त्व रहता है ।

समाधान–प्रभाकर गुरु का स्वरूपभेद-पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि यदि पदार्थों के स्वरूप को ही भेद माना जाता है, तब 'घटस्य भेदः'-यहाँ भेद में घट-सम्बन्धित्व और 'घटात् पटो भिन्नः'-यहाँ पर भेद में पट विशेषणत्व की प्रतीति निराधार हो जायेगी तथा 'घट' पद और 'भेद' पद में पर्याय-वाचित्व भी मानना पडेगा । (श्री चिदानन्द पण्डितने भी कहा है-**"स्वरूपभेदयोरैक्ये नीलं भिन्नं नीलस्य भेद इति वा विशेषणत्वेन सम्बन्धित्वेन च भेदस्यावभासो नीलभेदपदयोरपर्यायत्वावभासश्च विरुध्येयाताम्"** (नीति० पृ० १००) । अतः सभी द्रव्यों में पृथक्त्व गुण मानना चाहिए ।

औपनिषद-मत–अद्वैत वेदान्तियों का मत है कि, विश्व में कहीं भी भेद की सिद्धि नहीं होती, अतः भेद के प्रयोजकीभूत पृथक्त्व गुण को कहीं भी मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'स्तम्भात् कुम्भो भिन्नः'-यहाँ पर कुम्भ में स्तम्भ का भेद तभी अवगत होगा, जब कि स्तम्भ में कुम्भ का भेद ज्ञात हो जाय । इस प्रकार अन्योऽन्याश्रयादि दोषों के कारण भेद-प्रतीति का सम्पादन ही सम्भव नहीं । भेद-प्रतीति का आश्रय लेकर ही अनुमानादि प्रवृत्त होते हैं, उसके सिद्ध न होने पर अनुमानादि भी भेद के साधक नहीं हो सकते । **"नेह नानाऽस्ति किञ्चन"** (बृह० उ० ४/४/१९) इत्यादि श्रुतियाँ भी भेद का निराकरण करती हैं, अतः इनसे विरुद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाण न तो भेद सिद्ध कर सकते हैं और न पृथक्त्व गुण।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

औपनिषद-मत का निराकरण–अद्वैत वेदान्तियों का उक्त मत अयुक्त हैं, **क्योंकि किसी वस्तु का निषेध तभी हो सकता है, जब कि उसका ज्ञान हो ।** भेद का यदि अवगम नहीं हो सकता, तब उसका निराकरण भी कैसे होगा ? अतः स्तम्भ-कुम्भ, वादी-प्रतिवादी, पयः- पावकादि के परस्पर भेद का निरास नहीं हो सकता, क्योंकि घट से अत्यन्त अनभिज्ञ व्यक्ति 'इह भूतले घटो नास्ति'-इस प्रकार घट का निषेध कभी नहीं कर सकते । अतः बाध्य होकर **'स्तम्भः कुम्भो न भवति'** इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद की अवगति माननी होगी, तब अनुमान और आगमादि प्रमाणों के द्वारा भेद का निराकरण नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण इतर सभी प्रमाणों से प्रबल होता है और अनुमान, आगमादि उससे दुर्बल। (श्री चिदानन्द पण्डित ने (नीति० पृ० १०२-१०७ पर) **"किं स्तम्भकुम्भौ वादिप्रतिवादिनौ साध्यसाधने दूषणभूषणे चेत्यादीनां मिथो भेदः परमार्थरूपो विद्यते, न वा ?"** इत्यादि विकल्प-प्रणाली अपनाकर अद्वैतवाद का विस्तार से निरास किया है) । यह जो भेद की प्रतीति में अन्योऽन्याश्रय दोष दिया है, वह भी संगत नहीं, क्योंकि भेदविषयक सविकल्पक ज्ञान में ही भेद और भेद्य का ज्ञान अपेक्षित होता है, निर्विकल्पक ज्ञान में नहीं, अतः निर्विकल्पक के द्वारा पहले भेदादि का स्वरूपतः भान हो जाने के पश्चात् सविकल्पक ज्ञान में भेद्य-भेद-सापेक्ष भेद की प्रतीति हो जाती है । निर्विकल्पक में भी 'प्रत्यक्षत्व' हेतु के द्वारा तादृश नियमपूर्वकत्व का अनुमान करने पर निर्विकल्पक में भी निर्विकल्पकपूर्वकत्व का अनुमान होने लगेगा, (चिदानन्द पण्डित भी कहते हैं–**"कथं तर्हि भेद्यभेदावधिज्ञानजन्यस्य भेदज्ञानस्य समसमयत्वमिति चेत्, मैवम्, भेदविषयस्य निर्विकल्पस्य भेद्यभेदावधिज्ञानजन्यत्वनियमासिद्धेः । 'निर्विकल्पमपि तन्नियमयोगि, प्रत्यक्षत्वात्, सविकल्पकवदिति' चेन्न, तस्य सविकल्पत्वप्रयुक्तत्वात्"** (नीति० पृ० १०५) । अर्थात् उक्त अनुमान में **'सविकल्पप्रयुक्त्व'** धर्म सविकल्पक ज्ञान में साध्य का व्यापक और निर्विकल्पकरूप पक्ष में साधन का अव्यापक होने से **उपाधि** है, अतः प्रत्यक्षत्व हेतु सोपाधिक होने के कारण साध्य का साधक नहीं हो सकता । यद्यपि इस उपाधि का पर्यवसान **'पक्ष-भिन्नत्व'** में ही होता है, तथापि नारायण पण्डित-द्वारा प्रदर्शित **'निर्विकल्पस्यापि निर्विकान्तरपूर्वकत्वं स्यात्'**-इस अनवस्थापादक तर्क से युक्त होने के कारण उक्त उपाधि हेतु को अक्षम बनाने में समर्थ है) । **अतः निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा युगपत् अवभासित स्तम्भ, कुम्भ और भेदों का विशेषण-विशेष्यभाव सविकल्पक ज्ञान के द्वारा स्थापित किया जाता है और सप्रतियोगिकत्वेन भेद की प्रतीति उपपन्न हो जाती है, फलतः भेद की उपपत्ति के साथ-साथ पृथक्त्व की सिद्धि हो जाती है ।**

(८) संयोग–संयोग भी सर्वद्रव्यवर्त्ती सामान्य गुण माना जाता है । **वह दो प्रकार का होता है**–(१) नित्य संयोग और (२) अनित्य संयोग । नित्यभूत आकाश, कालादि का परस्पर संयोग नित्य होता है, जो कि मन की विभुता के प्रसङ्ग में ही कहा जा चुका है । अनित्य संयोग (१) अन्यतर-कर्म-जन्य, (२) उभय-कर्म-जन्य और (३) संयोग-जन्य-**इन भेदों से तीन प्रकार का होता है** । (१) स्थाणु और श्येन पक्षी का संयोग अन्यतर-कर्म-जन्य होता है, क्योंकि स्थाणु और श्येन–इन दोनों में से केवल एक श्येन पक्षी की क्रिया से ही वह संयोग उत्पन्न होता है । (२) जहाँ कहीं पहलवान के साथ कृष्ण का मल्ल-युद्ध होता है, वहाँ दोनों का **संयोग उभय के कर्म से जन्य** माना जाता है । हाथ और वृक्ष के संयोग के उत्पन्न शरीर और वृक्ष का संयोग **संयोगज संयोग** कहलाता है । **(९) विभाग**–विभाग केवल अविभु द्रव्यों में रहता है, अतः विशेष गुण है, वह भी (१) अन्यतर-कर्म-जन्य, (२) उभय कर्म-जन्य और (३) विभागज विभाग भेद से तीन प्रकार का होता है । **(१०, ११) परत्वापरत्व**–परत्व और अपरत्व भी केवल दिक् और काल में रहने के कारण विशेष गुण कहे जाते है। दूरस्थ वस्तु में प्रतीयमान परत्व और समीपस्थ पदार्थ में ज्ञायमान अपरत्व दिक्कृत (दैशिक) कहे जाते हैं, क्योंकि वे दोनों दिक्प्रयुक्त होते हैं । स्थविर (वृद्ध) शरीर में परत्व (ज्येष्ठत्व) और युवा शरीर में अपरत्व कालिक माना जाता है, क्योंकि यह परत्व और अपरत्व काल की देन हैं । **(१२) गुरुत्व**–पतन क्रिया का असमवायिकारणभूत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुरुत्व केवल पृथिवी और जल में रहनेवाला विशेष गुण होता है । **(१३) द्रवत्व**–द्रवत्व पृथिवी, जल और तेज तीन द्रव्यों में रहनेवाला विशेष गुण है। **वह दो प्रकार का होता है–** (१) स्वाभाविक या सांसिद्धिक और (२) नैमित्तिक । जलीय द्रवत्व (तरलता) स्वाभाविक और घृतादिरूप पृथिवी का द्रवत्व नैमित्तिक है । वह कहीं जल के संयोगरूप निमित्त और कहीं जतु (लाख) आदि में अग्नि संयोग रूप निमित्त से उत्पन्न होता है । सुवर्णादिरूप तैजस द्रव्य में भी अग्नि के संयोग से ही द्रवत्व उद्भूत होता है । **(१४) स्नेह**–स्नेह जल मात्र में रहनेवाला स्निग्धत्वादि व्यवहार का प्रयोजक विशेष गुण होता है । **(१५) बुद्ध्यादि षट्क**–बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न नाम के छः गुण आत्मा के विशेष गुण कहे जाते हैं । **उनमें बुद्धि को छोड़कर शेष सुखादि पाँच गुण मानस प्रत्यक्ष के विषय होते हैं । बुद्धि की कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण से की जाती है,** क्योंकि 'ज्ञातोऽयं घटः'–इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयीभूत ज्ञातत्व, प्रकाश, प्राकट्य इत्यादि नामों से प्रसिद्ध धर्म की अन्यथा (बुद्धि के विना) अनुपपत्ति होती है, उसकी उपपत्ति तभी हो सकती है, जब कि बुद्धि या ज्ञान की कल्पना की जाय । प्रभाकर गुरु और आचार्य शङ्कर के मत में बुद्धि (ज्ञान) स्वयं प्रकाशक है और नैयायिकों के मत में ज्ञान का प्रत्यक्ष माना जाता है, अतः इन तीनों का निराकरण किया जाता है ।

ज्ञान की स्वयंप्रकाशता–स्वप्रकाशतावादियों का अनुमान-प्रयोग है–**"ज्ञान स्वविषयकव्यवहारे सजातीय परानपेक्षम्, अव्यवधानेन विषये प्रकाशादिव्यवहारनिमित्तत्वात्, प्रदीपालोकवत्"** (पञ्च० वि० पृ० २४७) । विवकरणकार ने व्यवहार चार प्रकार का बताया है–**"व्यवहारः अभिज्ञा, अभिवदनम्, उपादानम्, अर्थक्रिया-इति चतुर्विधः"** (पञ्च० वि० पृ० ६२)। प्रकृत में अभिज्ञा और अर्थक्रिया विवक्षित हैं । जैसे प्रदीप स्वकीय ज्ञान या प्रकाशरूप व्यवहार में प्रदीपान्तर की अपेक्षा नहीं करता, वैसे ही ज्ञान भी अपने व्यवहार में ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं करता–यही ज्ञान की अपनी स्वप्रकाशता है ।

स्वयंप्रकाशता-निरास–उक्त अनुमान **अर्थान्तरानुमापक लिङ्गान्तरानुमेय लिङ्ग में व्यभिचरित है, क्योंकि वह पर-प्रकाश लिङ्ग अपने ज्ञानरूप व्यवहार में अपने सजातीय लिङ्गान्तर की अपेक्षा करता है ।** 'ज्ञान भी यदि ज्ञेय माना जाता है, तब वह घटादि के समान जड़ या अप्रकाशरूप हो जायेगा'–**ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते,** क्योंकि स्वप्रकाश-पक्ष में भी देवदत्तादिगत ज्ञान चेष्टादिलिङ्गकानुमान से ज्ञेय होता है, उस ज्ञेयभूत ज्ञान में जडत्वापत्ति समान ही है । अतः ज्ञान या अन्य किसी भी पदार्थ में ज्ञान-कर्मत्व मात्र जडत्व का प्रयोजक नहीं होता, **अपितु वस्तुनिष्ठ व्यवहारानुगुणत्व जिसके अधीन होता है, वह अजड और जिसके अधीन किसी का व्यवहारानुगुणत्व नहीं होता, वह जड़ है ।**

इस प्रकार ज्ञान की स्वप्रकाशता के विषय में परमत का निराकरण किया गया, अब स्वकीय (भाट्ट) पक्ष की स्थापना के लिए अनुमानप्रयोग किया जाता है–**(१) 'ज्ञानं स्वप्रकाशं न भवति, वस्तुत्वाद्, घटवत्' । (२) विवादास्पदव्यवहारः, स्वविषयकज्ञाननिबन्धनः, व्यवहारत्वात्, घटादि-व्यवहारवत् । (३) 'संवेदनव्यवहारः, संवेदनविषयकसंवेदनप्रयुक्तः', 'संवेदनव्यवहारत्वात्, परगतसंवेदनव्यवहारवत्'** (श्री चिदानन्द पण्डित ने उक्त तीन अनुमानों से पहले एक अनुमान ओर प्रस्तुत किया है–**"ज्ञानं स्वप्रतिबद्धव्यवहारे ज्ञानान्तरापेक्षम्, व्यवह्रियमाणत्वात्"** (नीति० पृ० १२७) । सब मिलाकर परप्रकाशता में चार अनुमान किए गए हैं । आचार्य भा सर्वज्ञ ने जो प्रयोग किया है–**"ज्ञानं स्वव्यतिरिक्तवेदनवेद्यम्, वेद्यत्वाद्, रूपादिवत्"** (न्या० भू० पृ० १३९) वैसे प्रयोगों में तो दृष्टान्तभूत रूपादि जड पदार्थ हैं, उनकी समता का अजडात्मक पक्ष में न होना अनुचित नहीं । कथित तृतीय अनुमान में परगत अनुभूति को जो दृष्टान्त बनाया गया, वह अवश्य स्वप्रकाशता पर एक प्रबल प्रहार है, क्योंकि परकीय ज्ञान में ज्ञेयत्व न मानने पर वादी-प्रतिवादी आदि के व्यवहारों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की उपपत्ति नहीं हो सकती, जैसा कि वेदान्तदेशिक कहते हैं-"**यदि परगतानुभूतिः नानुभूयते, कथं शब्दार्थसम्बन्धः ? परबुद्धिविशेषानुमाननेव हि सर्वत्र सिद्धे कार्ये वा व्युत्पत्तिः । एवं च व्युत्पत्तेरशक्यत्वात् चेष्टाशब्दयोः प्रमाणकोटिनिक्षेप एव न स्यात् । परस्पराभिप्रायानभिज्ञतया वादिनाः शुष्ककलह एव स्यात् । परस्पराशयपरिज्ञानादेव च सर्वो लौकिको व्यवहारः**" (श० दू० पृ० १०३) । श्री उदयनाचार्य भी कहते हैं-"**विवादाध्यासितवेदनं वेदनान्तरगोचरः, वेदनत्वात्, पुरुषान्तरवेदनवत् । अवेदने तद्व्यवहारादिविलोपप्रसङ्गः**" (किर० पृ० ५३९) । प्रत्येक व्यवहार में व्यवहर्त्तव्य का ज्ञान नियमतः अपेक्षित होता है, अतः परकीय ज्ञान का व्यवहार परकीय ज्ञान का ज्ञान न होने पर कथमपि सम्भव नहीं, अत एव शबरस्वामी ने कहा है-"**पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते, न तु पूर्वं ज्ञायते, भवति हि कदाचिदेतद् यज्ज्ञातोऽप्यर्थः सन्नज्ञात इत्युच्यते । न चार्थव्यपदेशमन्तरेण बुद्धे रूपोपलम्भनम्**" (शा०भा०पृ० ३४)] ।

तार्किक मत–तार्किकगण ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष मानते हुए कहते है-"**ज्ञानं प्रत्यक्षम्, क्षणिकात्मविशेरुगुणत्वात्, सुखादिवत्**" (आचार्य प्रशस्तपाद ने कहा है-"**बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नास्त्वन्तःकरणग्राह्याः**" । श्री गङ्गेशोपाध्याय भी उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं-**ज्ञानं मानसप्रत्यक्षम्, आत्मविशेषगुणत्वे सति क्षणमात्रस्थायित्वात् सुखवत्** (न्या० त० चि० पृ० ८४४) । न्यायलीलावतीकार भी कहते हैं-"**ज्ञायते च मानसप्रत्यक्षात्**" (न्या० ली० पृ० ८९१) ।

तार्किक-मत-निरास–ज्ञान की मानस प्रत्यक्षता में जो अनुमान किया गया, वह सुषुप्तिगत प्राण-संचार के निमित्तभूत जीवनयोनि प्रयत्न में व्यभिचरित है, क्योंकि वह अतीन्द्रिय माना जाता है, मानस प्रत्यक्षगम्य नहीं, फिर भी क्षणिकात्मविशेषगुणत्वरूप हेतु उसमें रहता है । ज्ञान की अप्रत्यक्षता में अनुमान प्रमाण भी है-'**विवादास्पदं ज्ञानम्, अप्रत्यक्षम्, ज्ञानत्वात्, परकीयज्ञानवत्** ।'

शङ्का–यदि ज्ञान को प्राकट्य (ज्ञातता) के द्वारा अनुमेय माना जाता है, तब ज्ञातता ज्ञात होकर ही ज्ञान की अनुमापिका हो सकेगी, प्राकट्यविषयक ज्ञान भी प्राकट्यान्तर से वेद्य होगा - इस प्रकार अनवस्था होती है ।

समाधान–ऐसी अनवस्था सभी मानते हैं, क्योंकि इससे मूलभूत वस्तु का नाश नहीं होता, **जैसा कि कहा गया है**-"**मूलक्षयकरीं प्राहुरनवस्थां हि दूषणीम्**" । (अर्थात् बीज-वृक्षादि स्थल पर भी उत्तरोत्तर वृक्षादि की सृष्टि पूर्व-पूर्व बीज से मानी ही जाती है, इससे मूल बीज का नाश नहीं होता, अतः ऐसी अनवस्था अनादि प्रपञ्च में कोई दोष नही मानी जाती)। उक्त अनवस्था से मूल-क्षय क्यों नहीं ? **इस प्रश्न का उत्तर यह है कि,** उत्पन्न ज्ञान की अवश्यवेदनीयता का कोई नियम नहीं होता । '**अविज्ञात ज्ञान विषय का प्रकाशक नहीं हो सकता**'– ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि, अज्ञात प्रकाशक यदि प्रकाश नहीं कर सकता, तब चक्षुरादि इन्द्रियों में भी प्रकाशकत्व न बन सकेगा । क्योंकि, अज्ञात इन्द्रियाँ ही विषय की प्रकाशक होती है । **हाँ, जब कभी ज्ञातता और इन्द्रियादि प्रकाशक पदार्थों की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, तब अर्थापत्ति के द्वारा उनकी सिद्धि हो ही जाती है ।**

बौद्धगण जो विज्ञान को साकार (घटाद्याकारवाला) मानते हैं, उसका निराकरण आगे चल कर किया जायेगा । प्रमाणपरिच्छेद में यह कहा जा चुका है कि, **बुद्धि चार प्रकार की होती है**-(१) अयथार्थ ज्ञान, (२) स्मरण, (३) अनुवाद और (४) यथार्थ ज्ञान ।

(१६) सुख–सुख तीन प्रकार का होता है-(१) ऐहिक, (२) स्वर्ग और (३) मोक्ष । (१) ऐहिक सुख तो इसी शरीर में स्रक् (पुष्प-हार), चन्दन और वनिता (कामिनी) आदि उपकरणों से जनित दुःख-मिश्रित होता है । (२) स्वर्ग सुख लोकान्तर-प्राप्य दुःखरहित विशुद्ध सुख को कहते हैं । वह दर्शपूर्णमास, अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम आदि कर्मों के अनुष्ठान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से जनित होता है । कर्मों के तर-तमभाव से स्वर्ग सुख भी तर-तमभाव-युक्त सातिशय माना जाता है । **उभयविध फल का नियामक धर्म ही होता है** । मोक्ष सुख का निरूपण पहले ही किया जा चुका है । **(१७) दुःख**–दुःख भी ऐहिक और आमुष्मिक (पारलौकिक) भेद से दो प्रकार का होता है । ज्वरादि रोगों से जनित दुःख को ऐहिक और रौरवादि नरक लोकों में प्राप्त होनेवाला दुःख आमुष्मिक कहा जाता है । **इन दोनों प्रकार के दुःखों की उत्पत्ति अधर्म से होती है । (१८) इच्छा**–'ममेदं स्यात्'-इस प्रकार की कामना को इच्छा कहते हैं । **(१९) द्वेष**–शत्रु को देख कर उत्पन्न होनेवाले द्रोह को द्वेष कहा जाता है। **(२०) प्रयत्न**–शारीरिकादि क्रिया का जनक कृतिरूप गुणविशेष प्रयत्न कहलाता है । इस प्रकार आत्मा के विशेष गुणों का संक्षिप्त परिचय कराया गया ।

(२१) संस्कार–संस्कारों के दो भेद होते हैं-(१) लौकिक और (२) वैदिक । **(१) लौकिक संस्कार तीन प्रकार का होता है**–(१) वेग, (२) भावना तथा (३) स्थितस्थापक । पृथिव्यादि पाँच द्रव्यों में क्रिया के जनक विशेष गुण की संज्ञा वेग है । भावनाख्य संस्कार आत्मगत पूर्वानुभव से उत्पन्न और उत्तर स्मृति का जनक होता है । स्थितस्थापक संस्कार स्पर्शगुणवाले द्रव्यों में रहनेवाला विशेष गुण है, जिस गुण के कारण ही कुत्ते की पूँछ अपना वक्रभाव (टेढापन) नहीं छोडती, चाहे उसे बाँस की सीधी नली में या किसी लकडी के साथ कई वर्ष तक बाँध कर रखा जाय । **(२) वैदिक संस्कार**–यूपादि में तक्षणादि, घृतादिगत उत्पवनादि, व्रीहिगत प्रोक्षण-अवहननादि क्रियाओं से उत्पन्न संस्कार **वैदिक संस्कार** है । वह द्वितीया विभक्तिरूप श्रुति से प्रमाणित होता है, जैसे-"यूपं तक्षति", "आज्यमुत्पुनाति", "व्रीहीन् प्रोक्षति", "व्रीहीनवहन्ति"-इत्यादि स्थलों पर द्वितीया श्रुति (विभक्ति) का यह अर्थ प्रतीत होता है कि, तक्षणादि क्रियाओं के द्वारा यूपादि का संस्कार करना चाहिए । वह संस्कार उपयुक्त और उपयोक्ष्यमाण द्रव्य में रहनेवाला विशेष गुण है, जैसा कि कहा गया है-**"भूतभाव्युपयोगं हि संस्कार्यं द्रव्यमिष्यते"** (तं०वा०पृ० ४११) । अर्थात् जिस द्रव्य का उपयोग हो चुका है, ऐसे उपयुक्त अथवा जिस द्रव्य का भविष्य में उपयोग होनेवाला है, ऐसे उपयोक्ष्यमाण द्रव्य का संस्कार किया जाता है । वह संस्कार शक्ति पदार्थ के अन्तर्गत है-ऐसा भी कुछ लोग कहते है, वह भी हमें सम्मत है। **(२२) ध्वनि**-ध्वनि वायु का वह गुण है, जो कि शब्द का व्यञ्जक माना जाता है, उसका निरूपण पहले ही किया जा चुका है । **(२३) प्राकट्य**–विषय का व्यवस्थापक सर्वद्रव्यवृत्ति सामान्य गुण का नाम प्राकट्य या ज्ञातता है । उसका संयुक्त-तादात्म्य सम्बन्ध से प्रत्यक्ष माना जाता है । ज्ञात घट चक्षुरादि से संयुक्त है, उसमें 'ज्ञातता' धर्म तादात्म्येन रहता है, अतः संयुक्ततादात्म्य सम्बन्ध से घटादिगत रूपादि के समान ही ज्ञातता का प्रत्यक्ष होता है । यद्यपि प्राकट्यरूप गुण द्रव्य के आश्रित ही होता है, तथापि तादात्म्येन द्रव्यवर्ती जाति, गुण और कर्म को भी परम्परया (स्वाश्रय तादात्म्य सम्बन्ध से) अपना आश्रय बनाता है । इतना ही नहीं, द्रव्यादिप्रतियोगिक अभाव में भी प्राकट्य स्वाश्रयप्रतियोगिकत्वादि सम्बन्ध से रह जाता है, फलतः द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव-इन सभी में प्राकट्याश्रयत्वरूप विषयत्व सुलभ हो जाता है, क्योंकि चिदानन्द पण्डित ने कहा है-**"यदवगतं ज्ञानं कल्पयति, तत् किमपि प्रकाशादिपदवेदनीयमर्थगतमर्थान्तरमभ्युपगमनीयम्। तच्च प्राकट्यमित्युच्यते, विषयत्वमर्थस्य तदाश्रयत्वमेव"** (नीति० पृ० १३४) ।

प्राभाकरगण जो विषयता का लक्षण करते हैं कि **"यस्यां संविदियोऽर्थो भासते, स तस्या विषयः"** (प्र०पं०पृ० ४८)। **वह अयुक्त है,** क्योंकि उनके मतानुसार पटादिविषयक ज्ञानों में आत्मा और स्वयं ज्ञान भी भासमान होता है, अतः उनमें पटादिविषयक ज्ञान की विषयता प्रसक्त होती है ।

यह प्राकट्य वस्तु क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है कि, सभी लौकिक और परीक्षक व्यक्तियों को 'घटः प्रकाशते', 'घटो भाति', 'प्रकटो घटः' इत्यादि अनुभूतियाँ समानरूप से होती हैं । इनका बाध नहीं होता, अतः इन्हें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भ्रमरूप भी नहीं कहा जा सकता । अबाधित ज्ञानों को भी भ्रमरूप मानने पर तो सभी प्रमा ज्ञान भ्रमात्मक हो जायँगे। **अतः 'घटः प्रकाशते'–इत्यादि व्यवहार ही अपना उपपादन करने कि लिए प्रकाश या प्राकट्य से विशिष्ट घटादि की कल्पना करते हैं । उसमें विशेषणीभूत प्रकाश पदार्थ ही प्राकट्य कहलाता है ।** (श्री चिदानन्द पण्डित भी कहते हैं–**"सन्ति तावद् घटः प्रकाशते, घटो भाति, घटप्रकाश इत्यादयो व्यवहारा लौकिकपरीक्षकाणाम् अतो दृढप्रतिपन्नतादृशव्यवहारमूलत्वेन प्रकाशविशिष्टोऽर्थः कल्पनीयः, स च विशेषणभूतः प्रकाशपदार्थः, प्राकट्यम्"** (नीति० पृ० १३२) । घटादिविषयक जन्य ज्ञान को ही प्रकाश पदार्थ क्यों नहीं मान लिया जाता ? **इस शङ्का का समाधान यह है कि,** घटादिविषयक ज्ञान आत्मा में रहता है, घटादि विषय पर नहीं, किन्तु **'प्रकाशितोऽयमर्थः'**–इस प्रकार का व्यवहार घटादि विषय पर रहनेवाले प्रकाश पदार्थ से ही उपपन्न हो सकता है, आत्मसमवेत ज्ञान से नहीं ।

शङ्का–यदि प्राकट्य के आश्रय को ही विषय माना जाता है, तब अतीत और अनागत पदार्थों में विषयता नहीं बन सकती, क्योंकि वे प्राकट्य के आश्रय नहीं होते । 'अतीत और अनागत पदार्थ किसी ज्ञान के विषय ही नहीं होते'–ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि नदी की बाढ़ से अतीत वृष्टिविषयक और काली घटा को उमड़ते देख के भावी वृष्टिविषयक जो अनुमान होते हैं, वे कैसे हो सकेंगे ?

समाधान–अतीत और अनागत विषयों पर भी ज्ञातता या प्राकट्य माना जाता है । 'जब अतीतादि द्रव्यरूप गुणी ही नहीं है, तब प्राकट्यरूप गुण की उत्पत्ति ही कैसे होगी ?' **इस प्रश्न का उत्तर है कि,** जैसे संख्यारूप गुणों की अतीतादि द्रव्य पर उत्पत्ति हो जाती है, वैसे ही प्राकट्य गुण भी उत्पन्न हो जायगा । 'अतीतादि पर संख्या की उत्पत्ति ही नहीं होता'--**ऐसा नहीं कह सकते,** क्योंकि 'मुनित्रयं नमस्कृत्य', 'तिस्र आहुतयो हुताः', 'षडपूपा भक्षिताः', 'दश मोदका कार्या'--इत्यादि व्यवहारों के द्वारा अतीतादि पर संख्या की उत्पत्ति माननी पडती है । यदि नहीं मानी जाती, तब उक्त व्यवहारों को भ्रममूलक मानना होगा, किन्तु वे भ्रममूलक नहीं माने जाते, अतः उनके अनुरोध पर जैसे अतीतादि पर संख्या की उत्पत्ति मानी जाती है, वैसे ही प्राकट्यरूप गुण की उत्पत्ति भी माननी आवश्यक है (श्री चिदानन्द पण्डित के भी वे ही प्रश्न और उत्तर हैं–**"कथं तर्हि भूतभविष्यतोः प्राकट्योत्पत्तिः ? संख्यावदेवेति ब्रूमः"** (नीति० पृ० १३५) । इसी प्रकार अभाव भी प्राकट्य का आश्रय बन जाता है, अतः प्राकट्यरूप गुण सिद्ध हो जाता है ।

(२४) शक्ति–श्री कुमारिल भट्ट द्रव्य, गुण और कर्म में रहनेवाली, शक्तित्व जाति से युक्त शक्ति को श्रुति और अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध करते हैं । **वह शक्ति लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार की होती है । लौकिक शक्ति अर्थापत्ति-गम्य होती है,** जैसे अग्न्यादि में दाहकत्व-शक्ति । **वैदिक शक्ति विधिवाक्यैकसमधिगम्य होती है,** जैसे यागादि में स्वर्गादि-साधकत्व-शक्ति । **दाहकत्वादि-शक्ति द्रव्यगत और स्वर्ग-नरकादि-साधकत्व-शक्ति शुभाशुभ कर्मगत मानी जाती है। "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः"** (तै० सं० २/१/१) इत्यादि वाक्यों के द्वारा श्वेतत्वादि गुण-विशिष्ट पशुरूप द्रव्य में भूति-साधनत्व प्रतिपादित है, अतः विशेषणीभूत श्वेतत्वादि गुणों में भी कोई अतिशय मानना पडता है, उसे ही गुणगत शक्ति कहते हैं । इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए ।

तार्किक-मत–तार्किकों का मत है कि, शक्ति तत्त्व कोई पृथक् पदार्थ नहीं, **अग्न्यादि में कोई दाहक शक्ति नहीं, अपितु अग्न्यादि का दाहकत्व स्वभाव ही है ।**

तार्किक-मत-निराकरण–वस्तु का स्वभाव यावद्वस्तुभावी होता है किन्तु अग्नि के रहने पर भी उसमें दाहकत्व नहीं रहता, यदि उसके साथ प्रतिबन्धक मणि-मन्त्रादि का सम्बन्ध हो जाता है, अतः अग्नि में दाहक शक्ति माननी आवश्यक है, जो कि प्रतिबन्धक मणि-मन्त्रादि के योग से नष्ट हो जाती है, अतः निर्विष सर्प के समान अग्नि शक्ति-हीन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो जाने के कारण दाहक नहीं रहती । **शक्ति को ही यदि 'स्वभाव' शब्द से निर्दिष्ट किया जाता है, तब 'शक्ति' और 'स्वभाव'–दोनों शब्द पर्यायवाची हो जाते हैं ।** यदि कहा जाय कि शक्ति से दाह नहीं होता, अपितु प्रतिबन्धकाभाव से होता है । **तो वैसा नहीं कह सकते,** क्योंकि प्रतिबन्धकाभाव एक अभाव पदार्थ है, अभाव पदार्थ किसी भी कार्य का कारक नहीं होता । **नित्य कर्मों के अनुष्ठानाभाव से जो प्रत्यवाय देखा जाता है, उसका भी कारण नित्य कर्मों का अभाव नहीं होता, अपितु नित्य कर्मों से नष्ट न होनेवाले दिन-दिन उपचित पाप-राशि ही प्रत्यवाय का कारण होती है,** जैसा कि कहा गया है– **स्वकाले यदकुर्वंस्तु करोत्यन्यदचेतनः । प्रत्यवायोऽस्य तेनैव नाभावेन स जन्यते ।।** (नित्य कर्म अपने नियत समय पर न करके अज्ञानपूर्वक जो पाप किए जाते हैं, उन्हीं से प्रत्यवाय होता है, नित्यकर्माभाव से नहीं)। यदि अभाव किसी कार्य का कारण नहीं होता, तब पुरुषत्व-व्याप्य करादिरूप विशेष दर्शन के अभाव को संशय का कारक क्यों माना जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि **"विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः"** (न्या० १/१/२३) इस सूत्र में **विशेष-दर्शनाभाव को संशय का कारक नहीं, ज्ञापक मात्र माना गया है।** कारक और ज्ञापक में महान् अन्तर होता है, फलतः शक्तितत्त्व पृथक् सिद्ध हो जाता है ।

प्राभाकरगण जो शक्तितत्त्व की पदार्थान्तरता और अनुमान-गम्यता सिद्ध करते हैं, वह युक्त नहीं, **क्योंकि गुणरूप से ही शक्ति की कल्पना में लाघव है, गुणों से भी भिन्न मानने पर अत्यन्त गौरव होगा ।** शक्ति को पृथक् पदार्थ तो भाट्टगण भी मानते हैं, अतः पदार्थान्तरता-स्थापन का निरास करने की आवश्यकता नहीं । हाँ, शक्ति की अनुमानगम्यता का निराकरण अनुमान-परीक्षा में कर दिया गया है, **क्योंकि वही लिङ्ग अनुमापक माना जाता है, जिसका सहचार-दर्शन प्रत्यक्षतः हो, शक्ति के विषय में वैसा लिङ्ग सम्भव नहीं, अतः अर्थापत्ति के द्वारा ही शक्ति की कल्पना की जा सकती है ।**

अर्थापत्ति प्रमाण से शक्ति का ग्रहण कैसे होता है ? **इस प्रश्न का उत्तर यह है कि,** जिस प्रकार के अग्नि-संयोग से सदैव दाह कार्य देखा जाता है, प्रतिबन्धक मन्त्रादि का योग हो जाने पर उसी प्रकार के ही अग्नि-संयोग से दाह कार्य नहीं होता, अतः अग्नि-संयोग से अतिरिक्त कोई दृश्य या अदृश्य कारण अवश्य कल्पनीय है किन्तु योग्यानुपलब्धि के द्वारा उस कारणान्तर का अभाव निश्चित है–इस प्रकार दो प्रमाणों के विरोध का परिहार करने के लिए यह व्यवस्था की जाती है कि, दृश्य कारण से अतिरिक्त कोई दाह का अदृश्य कारण अवश्य है, जिसे शक्ति कहा जाता है, उसमें गुण का कथित लक्षण घटने के कारण उसकी गुणों में गणना की जाती है । शक्ति तत्त्व सर्व द्रव्यों में रहने के कारण सामान्य गुण माना जाता है ।

शङ्का–शक्ति केवल द्रव्य में नहीं रहती, गुणादि में भी रहती है, अतः उसे गुण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गुण के आश्रय को द्रव्य कहते हैं और द्रव्याश्रितत्त्व गुणों में रहता है ।

समाधान–**'गुणाश्रयो द्रव्यम्'**–ऐसा द्रव्य का लक्षण हम नहीं मानते, क्योंकि महर्षि कणाद ने स्वयं अपने (वै०सु० १/१/२) सूत्र में **'गुणाः'**–ऐसे बहुवचन के प्रयोग से गुणों में बहुत्वादि संख्या की आश्रयता सूचित की है और भाष्यकार प्रशस्तपादाचार्य ने तो अपने भाष्य (प्र० भा० पृ० ३) में स्पष्ट कहा है–**"चतुर्विंशतिर्गुणाः"** । संख्या की गणना गुणों में की गई है, अतः गुणाश्रयत्व गुणों में भी जैसे माना गया है, वैसे ही शक्तिरूप गुण के गुणादि में रहने पर भी कोई दोष उपस्थित नहीं होता, हमारा गुण का **'अनुपादानत्वे सति कर्मभिन्नत्वे सति द्रव्याश्रितत्वम्'**–यह लक्षण शक्ति में घट जाता है, अतः शक्ति को गुण मानते हैं । इस प्रकार गुण सिद्ध हो गए ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तार्किकादि जो ध्वनि, प्राकट्य और शक्ति को गुण नहीं मानते, उनके स्थान पर शब्द, धर्म और अधर्म को गुण मानते हैं । ध्वनि, प्राकट्य और शक्ति में गुणत्व की सिद्धि हो जाने से वह तार्किक मत निरस्त हो जाता है। शब्द में तो द्रव्यत्व पहले ही स्थापित किया जा चुका है । **"धर्माधर्मौ आत्मविशेषगुणौ"** -यह तार्किकों का मत भी उपेक्षणीय ही है, क्योंकि आत्मा के विशेष गुणों में धर्माधर्म का लौकिक प्रयोग नहीं पाया जाता, किन्तु शब्दार्थ का निर्णय लौकिक प्रयोगों पर ही निर्भर रहता है, जैसा कि कहा गया है-**"लौकप्रयोगगम्या हि शब्दार्थाः सर्व एव नः ।"**

दूसरी बात यह भी है कि, धर्म को श्रेयःसाधन माना गया है, अग्निहोत्रादि क्रिया को जैसे "अग्निष्टोमं जुहुयात् स्वर्गकामः"-इत्यादि वाक्यों में स्वर्गरूप श्रेय का साधन कहा गया है, वैसे आत्मा के किसी विशेष गुणो को श्रेय का साधन नहीं कहा गया है, अतः आत्मा के विशेष गुण में धर्मता नहीं मानी जा सकती । इसलिए जैन और प्राभाकरादि के मतानुसार परमाणु और अपूर्वादि में 'धर्म' शब्द की वाच्यता निरस्त समझ लेनी चाहिए, जैसा कि वार्तिककारने (श्लो० वा० पृ० १०५ में) कहा है- **अन्तःकरणवृत्तौ का वासनायां च चेतसः । पुद्गलेषु च पुण्येषु नृगुणेऽपूर्वजन्मनि।। प्रयोगो धर्मशब्दस्य न दृष्टो न च साधनम् । पुरुषार्थस्य ते ज्ञातुं शक्यन्ते चोदनादिभिः ।।**

सांख्याचार्य योगादि के अनुष्ठान से उत्पन्न होनेवाली अन्तःकरण की वृत्ति को धर्म कहते हैं-**"श्रुतिस्मृतिविहितानां कर्मणामनुष्ठानाद् बुद्धयवस्थः सत्त्वावयव आशयभूतो धर्म इत्युच्यते"** (युक्ति० पृ० ११२) । बौद्धगण विज्ञानगत ज्ञानान्तर-जन्य वासना को धर्म मानते हैं । जैन गण असंख्येय अवयववाले द्रव्यों को धर्माधर्म कहते हैं-**"असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः"** (तत्त्व० सू० ५/७) वैशषिकाचार्य धर्माधर्म को आत्मा के विशेष गुण मानते हैं-**"धर्मः पुरुषगुणः"** (प्र०भा०पृ० १३८) । प्राभाकर अपूर्व के लिए **'धर्म'** शब्द का प्रयोग किया करते हैं । किन्तु 'धर्म' शब्द का प्रयोग पुद्गलादि में न देखा गया है और न उनमें विधि वाक्यों के द्वारा पुरुषार्थ-साधनता ही प्रतिपादित होती है । परिशेषतः यागादि क्रियाएँ ही धर्म हैं, जैसा कि भाष्यकार ने कहा है-**"यागादिरेव धर्मः"** (शा०भा०पृ० १८) ।

लोक में अत्यन्ताप्रसिद्ध कार्य या अपूर्व का अभिधान लिङ्गादि करते हैं-यह भी एक प्राभाकरगणों का दुराग्रह मात्र है। जब तक प्रमाणान्तर से संज्ञा-संज्ञी का सम्बन्ध अवधारित न हो, तब तक कहीं भी लिङ्गादि शब्दों का प्रयोग सम्भव नहीं। यदि लिङ्गादि से ही धर्म का बोध माना जाता है । तब अन्योऽन्याश्रय होता है, अतः लिङ्गादि में अपूर्वाभिधायकत्व सम्भव न होने के कारण अपूर्व में धर्म पद-वाच्यता उपपन्न नहीं ।

प्राभाकर मत-सभी शब्दों की कार्यरूप अर्थ में ही शक्ति होती है, क्योंकि बालकों की स्तनपानादि कर्तव्य अर्थों में ही "ममेदं कार्यम्"-इस प्रकार कार्यता के ज्ञान से स्वतन्त्र प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः 'गामानय'-इस प्रकार के प्रवर्तक वाक्य को सुनते ही कार्यार्थ में प्रवृत्त हुए व्युत्पन्न पुरुष को देख कर पार्श्वस्थ बालक यह कल्पना करता है कि **'नूनमेतस्माद्वाक्यादेवैतस्य कार्यबोधो जातः'** । उसके पश्चात् आवाप और उद्वाप की सहायता से लिङ्गादि पदों में इतरार्थान्वित कार्य की वाचकता निश्चित होती है । इस प्रकार लौकिक कार्य में लिङ्गादि का शक्ति ग्रह हो जाने पर "स्वर्गकामो यजेत"-इत्यादि वैदिक वाक्यों को सुनकर लिङ्गादि पदों की यागादि क्रिया से भिन्न अपूर्व या नियोग में संगति-ग्रहण होता है, क्योंकि यागादि क्रियाएँ क्षणभङ्गुर होने के कारण स्वर्ग-जनक नहीं हो सकती, अत एव तदर्थक लिङ्गादि का 'स्वर्गकाम' पद के साथ समभिव्याहार नहीं हो सकता । परिशेषतः क्रिया से भिन्न अपूर्वात्मक कार्य लिङ्गादि का मुख्य अर्थ और क्रियारूप कार्य में लक्षणया प्रयोग स्थिर होता है ।

प्राभाकर-मत-खण्डन-कार्यभूत अर्थ में ही शब्दों की व्युत्पत्ति होती है-**ऐसा नियम संगत नहीं,** क्योंकि जिस व्युत्पित्सु बालक ने किसी सेठ के बालक का जन्म देखा है और उसकी सूचना देनेवाले सन्देश-वाहक के साथ चल पडा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है । सेठ के पास पहुँचकर सन्देश-वाहक कहता है-"पुत्रस्ते जातः", उसे सुनते ही सेठ का मुख-मण्डल खिल उठता है, प्रसन्नता की आभा से व्याप्त हो जाता है, उसे देखते ही बालक को यह समझते देर नहीं लगती कि 'पुत्रोत्पत्तिप्रतिपादकं तद्वाक्यम्' । सामूहिक शक्ति ग्रह हो जाने के पश्चात् 'पुत्रस्ते सुखी'-इत्यादि वाक्यान्तरों को सुनकर आवाप-उद्वापादि की सहायता से प्रत्येक पुत्रादि पद का शक्तिग्रह हो जाता है । श्री चित्सुखाचार्य का संग्रह श्लोक है- **दृष्टचैत्रसुतोत्पत्ते-स्तत्पदाङ्कितवाससा । वार्ताहारेण यातस्य परिशेषविनिश्चितेः ।।(१/१५)**

यदि वहाँ एकमात्र पुत्रोत्पत्ति ही प्रसन्नतापादक नहीं, अपितु स्त्री का सुखपूर्वक प्रसवादि की अनेक सूचनाएँ पाकर भी श्रोता के मुख पर प्रसन्नता दौड सकती है, अतः एक मात्र पुत्रोत्पत्ति में ही 'पुत्रस्ते जातः'-इस वाक्य का शक्ति ग्रह नहीं हो सकता । तब 'गामानय'-इस प्रकार के प्रवर्तक-वाक्य में भी वाक्य-श्रवण-समनन्तर श्रोता का पहले गमन ही देखा जाता, अतः उसे छोडकर गवानयन में 'गामानय' शब्द का शक्तिग्रह क्योंकर होगा ? क्योंकि कार्य-बोध में प्रवर्तकत्व ही नहीं होता, अपितु कृति-साध्यता और इष्ट-साधन का ज्ञान ही पुरुष का प्रवर्तक माना जाता है । वह आप (प्राभाकर) को भी अनभीष्ट नहीं, क्योंकि **'दृष्टोपायताधिया ममेदं कार्यमिति बुद्ध्वा प्रवर्तते'**-यह आपने ही कहा है । अतः वाक्य इष्ट-साधनता का ही प्रतिपादन करता है, कार्यता का नहीं । इष्ट साधनता-ज्ञान से चिकीर्षा उत्पन्न होती है और चिकीर्षा का ही दूसरा नाम कार्यता-बोध है, अतः इष्ट-साधनता के ज्ञान से कार्यबोध उत्पन्न होता है-ऐसा ही मानना न्याय-संगत है, क्योंकि **"अनन्यलभ्यः शास्त्रार्थः"** -इस न्याय के आधार पर जब कार्यावबोध का लाभ इष्ट साधनता-ज्ञान से ही हो जाता है, तब उसमें वाक्य का तात्पर्य नहीं माना जा सकता (स्कन्दपुराण में शास्त्र का विग्रह प्रतिपादित है- **ऋग्यजुः सामाथर्वा च भारतं पाञ्चरात्रकम् । मूलरामायणं चैव शास्त्रमित्यभिधीयते ।। यच्चानुकूलमेतस्य तच्छास्त्रं प्रकीर्तितम् । अतोऽन्यः शास्त्रविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत् ।।**

बस इतना ही सच्चा शास्त्र है, इन्हीं में अनधिगतार्थ का प्रतिपादन है, इनसे भिन्न शास्त्र नहीं, अपितु अन्यतः प्राप्त अर्थ के अनुवादक या पिष्टपेषणमात्र हैं । इससे यह स्थिर हो जाता है कि अनन्यलभ्य अर्थ में ही शास्त्र का तात्पर्य होता है, चाहे वह कार्यार्थ हो, या सिद्धार्थ)] । दूसरी बात यह भी है कि आप (प्राभाकर) ने जो कार्य का लक्षण किया है-**"कृतिसाध्यं कृतिं प्रति प्रधानं कार्यम्"** (प्र० पं० पृ० ४२९) । वह भी स्वर्गादि फल में अतिव्याप्त होने के कारण उपेक्षणीय ही है, अतः लिङ्गादि में अपूर्वाभिधायकत्व उपपन्न न होने के कारण अपूर्व में धर्म शब्द-वाच्यत्व सम्भव नहीं।

यदि अपूर्वादि को धर्म नहीं कह सकते, तब कौन हैं वे धर्म और अधर्म, जिनमें लौकिक जन धर्म और अधर्म शब्द का प्रयोग करते हैं ? इसका उत्तर शबरस्वामीने बहुत पहले ही दे डाला है-**"यो हि यागमनुतिष्ठति तं धार्मिकं इति समाचक्षते, यश्च यस्य कर्त्ता, स तेन व्यपदिश्यते"** (शा० भा० पृ० १८) अर्थात् यागादि क्रियायों में ही लौकिक व्यक्ति 'धर्म' शब्द और याग के अनुष्ठाता पुरुष में 'धार्मिक' शब्द का प्रयोग किया करते हैं, इसी प्रकार 'अधर्म' शब्द का प्रयोग हिंसा, सुरापानादि क्रियाओं में करते हैं, अतः ये ही धर्म और अधर्म हैं, जैसा कि वार्तिककारने (श्लो० वा० पृ० १०४ पर) कहा है- **अन्यत् साध्यमदृष्ट्वैव योगादीननुतिष्ठताम् । धार्मिकत्वसमाख्यानं तद्योगादिति गम्यते ।।**

(यागादि से साध्य पुण्यादि संस्कारों को न देखकर लौकिक व्यक्ति यागादि क्रियाओं के कर्त्ता को धार्मिक कह देते हैं, अतः वह जो क्रिया करता है, उसे ही धर्म समझना चाहिए ।)

प्राभाकर मत—आचार्य शालिकनाथ का कहना है कि, यागादि के अनुष्ठाता पुरुष में जो धार्मिक शब्द का प्रयोग होता है, वह नियोगानुष्ठान के निमित्त से, क्योंकि यागादि के अनुष्ठाता अधिकारी व्यक्ति को ही धार्मिक कहते हैं, अनधिकारी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शूद्रादि को श्रौत याग का अनुष्ठान करते देख उसे कोई भी धार्मिक नहीं कहता, अतः नियोग या अधिकार का सदुपयोग ही धार्मिक शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त होता है, यागानुष्ठानमात्र नहीं ।

प्राभाकर मत-समीक्षा—आचार्य शालिकनाथ का उक्त कथन युक्त नहीं, **क्योंकि यागादि को श्रेयःसाधनत्वरूपेण ही धर्म माना जाता है ।** अनधिकारी व्यक्ति के द्वारा किया जानेवाला याग श्रेयःसाधन नहीं होता, अतः श्रेयःसाधनत्वेन रूपेण यागादि ही 'धर्म' पद के वाच्य होते हैं । केवल लोक में ही वैसे प्रयोग नहीं होते, अपितु वेद में भी कहा है–**"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माण्यासन्"** (तै० आ० प्र० ३ अनु० १३) अर्थात् देवगणों ने जो यज्ञ कर्म किए थे, वे ही धर्म थे। इस वेद-वचन में स्पष्टरूप से 'यज्ञ' शब्द के वाच्यार्थ को ही 'धर्म' शब्द से कहा गया है । 'धर्माणि' शब्द में जो पुंल्लिङ्ग के स्थान पर नपुंसक और बहुवचन का प्रयोग किया गया है, वह छान्दसत्व के कारण ही है ।

यागादि क्रियाओं को ही श्रुति श्रेयःसाधन कहती है, क्योंकि "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" –इत्यादि लिङ्, लोट् और तव्यादि प्रत्ययों से युक्त श्रुति वाक्यों में **दो भावनाएँ प्रतीत होती हैं–(१) शब्दभावना और (२) अर्थभावना।** उनमें अर्थभावना समस्त आख्यात प्रत्ययों के द्वारा समान रूपेण अभिहित होती है और शब्दभावना केवल लिङ्गादि विधि प्रत्ययों से ही प्रतिपादित होती है, जैसा कि वार्तिककार ने (त०वा०पृ० ३७८ पर) कहा है– **अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः । अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ।।**

इन में अर्थभावना के अभिधान की रीति यह है कि, "यजेत"–यहाँ लिङ् प्रत्यय का अर्थ है–भावयेत् । **इस भावना में किम् ? केन ? और कथम् ? तीन आकांक्षाएँ होती हैं ।** किं भावयेत् ? इस आकांक्षा को अधिकारी पुरुष के विशेषणरूप में श्रुत 'स्वर्ग' पद पूरा करता है–स्वर्गं भावयेत् । केन भावयेत् ? इस द्वितीय आकांक्षा की पूर्ति 'याग' शब्द से होती है–'यागेन स्वर्गं भावयेत्' । 'कथं भावयेत्'–इस तृतीय आकांक्षा को प्रधान याग के अङ्गों का विधान करनेवाले अङ्ग वाक्य पूरा किया करते हैं–'अग्नीनाधाय अन्वाधानप्रयाजादिभिरङ्गानि सम्पाद्य यागेन स्वर्गं भावयेत्' । 'घटं करोति'–इत्यादि वाक्यों से भी 'मृद्दण्डचक्रादिकमुपकरणं कृत्वा कृतिरूपव्यापारेण घटं भावयेत्'–ऐसा अर्थ सम्पन्न होता है, **इसी प्रकार सभी आख्यात प्रत्ययों में भावनार्थकत्व पर्यवसित होता है ।**

'शाब्दी भावना की पुरुष-प्रवृत्ति वैसे ही भाव्य होती है, जैसे अन्यत्र (आर्थी भावना का) भाव्य स्वर्ग होता है । उस शाब्दी भावना का जो लिङ्गादि के साथ वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध होता है, वह शाब्दी भावना का वैसे ही करण है, जैसे आर्थी भावना का करण यागादि धात्वर्थ होता है । आर्थी भावना में जैसे प्रयाजादि अङ्गोपाङ्गों के प्रतिपादक वाक्य इतिकर्त्तव्य होते हैं, वैसे ही शाब्दी भावना में अर्थवाद वाक्य, क्योंकि अर्थवाद वाक्य कर्म में पुरुष की रुचि उत्पन्न करते हुए लिङादि के सहायक माने जाते हैं'–यह शाब्दी भावना का स्वरूप सुचरित मिश्रादि के मतानुसार है, वे **'अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङ्गादयः'** (तं०वा०पृ० ३१८) इस वार्तिक के अनुगामी है ।

"श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते" (श्लो० वा० पृ० ४९) इत्यादि वार्तिक का अनुसरण करनेवाले चिदानन्दादि विद्वान् विधि प्रत्यय का अर्थ इष्ट-साधनता ही करते है । जैसा कि (नीति० पृ० २४ पर) कहा है – **प्रवृत्तिहेतुः सर्वेषां कर्तव्यत्वैकसंश्रया । इष्टाभ्युपायता सैव लिङ्गाद्यर्थो विधिर्मतः ।।** परितोष मिश्र तथा पार्थसारथि मिश्रादि उक्त दोनों मतों का सामञ्जस्य करते हुए ही विध्यर्थ मानते हैं, जैसा कि पार्थसारथि मिश्र ने कहा है–**"तस्मात् समीहितसाधनत्वेन भावना विधिना सामान्येन बोधिता"** (न्या० र० मा० पृ० ४८)।

वस्तुतः कथित दोनों ही लक्षण समानार्थक है, क्योंकि **'इदमनेन इत्थं कुर्यात्'**–यह भावना का समग्र विग्रह है, अतः साध्य और साधन का सम्बन्ध भी विध्यर्थभूत भावना के अन्तर्गत ही आ जाता है । सुचरित मिश्र ने काशिका व्याख्या में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहा है -"**न हि अनासादितस्वर्गयागादिसाध्यसाधनविशेषसम्बन्धो भावयेत् ।**" सभी प्रकार से यह निश्चित हो जाता है कि, यागादि से अतिरिक्त कोई भी श्रेयःसाधनीभूत धर्मतत्त्व लोक और वेद में विश्रुत नहीं । जैसे यागादि में श्रेयःसाधनता होने के कारण धर्मता मानी जाती है, वैसे ही हिंसादि क्रियाओं में नरक-पातादि की साधनता होने के कारण अधर्मता स्थिर होती है । याग और हिंसादि में साधनादिरूप से द्रव्य, कर्म और गुण का भी निवेश होने के कारण धर्म और अधर्म में अन्तर्भाव माना जाता है, जैसा कि वार्तिककार ने (श्लो० वा० पृ० १०४ पर) कहा है- **श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः । चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात्तेष्वेव धर्मता ।।**

(शबर स्वामीने कहा है- '**तस्मात् चोदनालक्षणः श्रेयस्करः**' । वहाँ पुरुष-प्रीतिरूप श्रेय का साधन होने के कारण द्रव्य, गुण और कर्म सभी धर्म की वाच्य कक्षा में आ जाते है) । जो यह कहा जाता है कि '**अपूर्वं कृत्वा स्वर्गं भावयेत्**'। वहाँ अपूर्व को कोई गुणान्तर या पदार्थान्तर नहीं माना जाता, अपितु शक्ति में ही उसका अन्तर्भाव कहा जा चुका है, वार्तिककार (श्लो० वा० पृ० १०७ पर) कहते हैं- **तस्मात् फले प्रवृत्तस्य यागादेः शक्तिमात्रकम् । उत्पत्तौ वापि पश्वादेरपूर्वं न ततः पृथक् ।।** (स्वर्गादिरूप फल के लिए प्रवृत्त यागादि की शक्ति विशेष अपूर्व होता है अथवा उत्पद्यमान पश्वादिरूप फल की यागादिगत सूक्ष्मावस्था को अपूर्व माना जा सकता है, सर्वथा अपूर्व कोई वस्त्वन्तर नहीं)। अतः कथित चौबीस ही गुण सिद्ध होते हैं ।

अविभुद्रव्यमात्रस्थं प्रत्यक्षं चलनात्मकम् । वियोगयोगयोर्मूलं कर्म कर्मविदो विदुः ।।४६।।

(४) कर्म--कर्म या क्रिया अविभु द्रव्यों में अवस्थित वह गति-विशेष है, जिससे संयोग और विभाग उत्पन्न होते हैं। **वह कर्म पाँच प्रकार का होता है**-(१) उत्क्षेपण, (२) अवक्षेपण, (३) आकुञ्चन, (४) प्रसारण और (५) गमन। कर्म चक्षुरादि का विषय होता है ।

प्राभाकरगण जो कर्म को नेत्र इन्द्रिय का विषय नहीं मानते, वह उचित नहीं, क्योंकि कर्म में भी घटादि के समान ही प्रत्यक्षता अनन्यथासिद्धरूप इन्द्रिय के अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होती है, जैसा कि श्री चिदानन्द पण्डित कहते हैं- "**कर्मणोऽपि प्रत्यक्षत्वमनन्यथासिद्धेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानात् समर्थनीयम्**" (नीति० पृ० ६८) ।

शङ्का--संयोग-विभागरूप गुणों के द्वारा कर्म का अनुमान किया जाता है, साधनीभूत संयोग और विभाग के दर्शन में ही इन्द्रियों का अन्वय-व्यतिरेक गतार्थ हो जाता है, अतः वह अन्यथा सिद्ध है, अनन्यथासिद्ध नहीं, जैसा कि भट्ट विष्णु ने अनुमान-प्रयोग प्रस्तुत किया है-**कर्म परोक्षम्, कर्मत्वाद्, आदित्यकर्मवत्** । इन्द्रियों का अन्वय-व्यतिरेक संयोगादिरूप लिङ्ग के दर्शन में ही उपक्षीण (चरितार्थ) हो जाता है ।

समाधान--कर्म में अप्रत्यक्षता तभी सिद्ध हो सकती है, जब कि अनन्यथासिद्ध इन्द्रिय के अन्वय-व्यतिरेक का अभाव हो, किन्तु उसका अभाव सिद्ध न होने के कारण अप्रत्यक्षत्व सिद्ध नहीं हो सकता, प्रत्यक्षत्व ही स्थिर होता है। संयोग और विभाग ही अन्यथासिद्ध हैं, उनमें अनन्यथासिद्धत्व असिद्ध है-ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि संयोग-विभाग-मात्र को नेत्र का विषय मानकर उनके द्वारा कर्म का अनुमान करने पर श्येन पक्षी के संयोग और विभाग के द्वारा स्थाणु में भी कर्म की कल्पना करनी पडेगी, जो कि सर्वथा अयुक्त है ।

शङ्का--जब देवदत्त का पूर्व देश के साथ विभाग होकर उत्तर देश के साथ संयोग होता है, तब उन संयोग और विभागों के द्वारा देवदत्त में कर्म का अनुमान होता है, प्रकृत में स्थाणु के विभाग और संयोग भिन्न-भिन्न देशों या वस्तुओं के साथ नहीं हुए, किन्तु एक ही श्येन पक्षी से संयोग और विभाग होते हैं, अतः स्थाणु में कर्म का अनुमान नहीं किया जा सकता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान–यदि भिन्न-भिन्न वस्तुओं का संयोग और विभाग कर्म का जनक माना जाता है, तब एक श्येन पक्षी का विभाग और दूसरे का संयोग हो जाने पर स्थाणु में कर्म का अनुमान होना चाहिये । एवं नदी-प्रवाह के मध्य में अवस्थित स्तम्भादि के साथ जल के विभिन्न अवयवों का संयोग-विभाग देखा जाता है, अतः उस स्तम्भ में कर्म का अनुमान क्यों नहीं होता ?

शङ्का–जिसमें अन्यत्र क्रिया की पहले कल्पना की जा चुकी है, ऐसे श्येन पक्षी के संयोग-विभाग से श्येन में ही कर्म की कल्पना जब कर ली गई, तब उसी के कर्म से स्थाणु में संयोग-विभाग उपपन्न हो जाते हैं, उससे पृथक् स्थाणु में कर्म-कल्पना की आवश्यकता नहीं रह जाती ।

समाधान–श्येन पक्षी में पहले भी कभी कर्म का निश्चय तब तक सम्भव नहीं होता, जब तक कर्म को प्रत्यक्ष का विषय न मान लिया जाय, क्योंकि उडते हुए पक्षी का जो आकाश के साथ संयोग और विभाग होता है, उसका भी आप (प्राभाकर) को प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि आप आकाश को प्रत्यक्ष का विषय नहीं मानते, तब उस संयोग-विभाग के द्वारा श्येन में कर्म की कल्पना नहीं की जा सकती । यदि आकाशगत तैजस अवयवों के साथ श्येन के संयोग और विभाग दृष्टिगोचर हो सकते हैं, तब उन्हीं के द्वारा तेजो धातु में कर्म की कल्पना प्रसक्त होती है । इस प्रकार क्रिया की सर्वत्र कल्पना हो जाने के कारण आप (प्राभाकर) के मत में कौन स्थावर (क्रिया-रहित) है और कौन जङ्गम (क्रियावान्) है--यह कहना भी सम्भव नहीं ।

दूसरी बात यह भी है कि, आप (प्राभाकर) अन्धकार को अत्यन्ताभावरूप मानते हैं, अतः संयोग और विभाग का दर्शन सम्भव नहीं, तब **'अन्धकारे खद्योतः पतति'**–ऐसी प्रतीति का कोई आधार नहीं रह जाता है । खद्योतगत तैजस अवयवों के साथ भी खद्योत के संयोग-विभाग का उपपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि खद्योत का स्वगत तैजस अवयवों के साथ कभी विभाग सम्भव नहीं ।

यदि कहा जाय कि, खद्योत कभी पूर्व, कभी दक्षिण, कभी पश्चिम और कभी उत्तर दिशा में चमकता है, नेत्र उसे घूम-घूम कर देखते हैं, उसी से खद्योत के संयोग-विभागों का अनुमान और उनसे कर्म का अनुमान हो जाता है । **तो वैसा नहीं कह सकते,** क्योंकि यदि विविध दिशाओं में न चमक कर वह नेत्र की सीध में बराबर उड रहा है, तब संयोग-विभाग का अनुमान कैसे होगा ? इस प्रक्रिया में भी पूर्वोक्त दोष से पीछा नहीं छूटता कि उन्हीं दैशिक संयोग विभागों के द्वारा दिशा में कर्म की कल्पना प्रसक्त होती हैं । **'दिगादि विभु हैं, उनमें कर्म की कल्पना क्योंकर होगी ?' इस प्रश्न के उत्तर में इतना कह देना पर्याप्त है कि अभी तक विभु पदार्थ अक्रिय हैं-यह ही सिद्ध नहीं हो सका है ।**

चलती हुई नौका में नीचे नेत्र करके नौका के अन्दर ध्यान रखने पर नौका में जो निष्क्रियता प्रतीत होती है, वह अतिसामीप्य दोष के कारण भ्रम है । दूरस्थ नौका में भी जो स्थिरता प्रतीत होती है, वह दूरत्व दोष निमित्तक भ्रम माना जाता है, क्योंकि अत्यन्त दूर होने के कारण नौका का पूरा परिमाण भी नहीं प्रतीत होता, अतः (१) विषयरूप अवयवी के साथ इन्द्रियरूप अवयवी का, (२) विषयावयव के साथ इन्द्रिय के अवयवों का, (३) विषयावयव के साथ इन्द्रियरूप अवयवी का एवं (४) विषयरूप अवयवी के साथ इन्द्रियावयवों का संयोग–इन चार प्रकार के संयोगों का अभाव ही उक्त स्थलों पर कर्म की अप्रतीति का कारण होता है, संयोग-विभाग का अदर्शन नहीं ।

दूसरी बात यह भी है कि, शबरस्वामी ने जो कहा है–**"देवदत्तस्य गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमवलोक्य आदित्येऽपि गतिस्मरणम्"** (शा.भा.पृ० ३७) यह भाष्य भी कुण्डलित (असङ्गत घोषित) कर देना होगा, क्योंकि जब दोनों में गति का अनुमान करना है, तब कौन दृष्टान्त बनेगा ? ऐसे भाष्य का पठन-पाठन उचित क्योंकर होगा, अतः कर्म की प्रत्यक्षता स्वीकार कर देवदत्त की गति का प्रत्यक्ष देख उसे दृष्टान्त बनाकर आदित्य में गति का अनुमान करना होगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सबसे बडी आपत्ति यह है कि, यदि कर्म का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता, तब कर्म ही सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि संयोग और विभाग को अपने असमवायिकारण मात्र की अपेक्षा होती है, वह असमवायिकारण कर्म न होकर प्रयत्नवदात्मसंयोग ही हो जायेगा, कर्म कल्पना की क्या आवश्यकता ?

शङ्का–संयोगरूप असमवायिकारण (१) स्वाश्रय या (२) स्वाश्रयसमवेत पदार्थ में ही कार्य का आरम्भक होता है, जैसे (१) तन्तुसंयोग रूप असमवायिकारण स्वाश्रयीभूत तन्तुओं में ही पट का और (२) प्रचित (फुलाई हुई) रुई के अवयवों का संयोगरूप असमवायिकारण स्वाश्रयसमवेत अवयवीरूप रुई-पिण्ड में महत्त्व परिमाण का आरम्भक माना जाता है । किन्तु प्रयत्नवदात्मसंयोग स्वाश्रय और स्वाश्रय-समवेत से भिन्न देश में संयोगरूप कार्य क्योंकर उत्पन्न कर सकेगा ? अतः कर्म ही संयोग का असमवायिकारण हो सकेगा और उस संयोगरूप कार्य से कारणीभूत कर्म का अनुमान किया जा सकेगा, फलतः कर्म को अप्रत्यक्ष मानने पर भी कर्म की सिद्धि हो जाती है, असिद्धि नहीं ।

समाधान–संयोग केवल स्वाश्रय या स्वाश्रय-समवेत में ही कार्य का जनक नहीं होता, अपितु अन्यत्र भी कार्य का उत्पादक होता है, जैसे अणु-द्वय का संयोग स्वाश्रय और स्वाश्रय-समवेत से भिन्न तृतीय अणु में भी अपने संयोगरूप कार्य का जनक होता है । फलतः प्रत्यक्ष प्रमाण से ही कर्म की सिद्धि होती है, कर्म का प्रत्यक्ष न मानने पर उसकी असिद्धि ही हो जायेगी ।

इत्थं भावपदार्थानां स्वरूपे सुनिरूपिते । अभावाख्यं पदार्थं च पञ्चम चिन्तयामहे ।।४७।।

प्रागभावादिभेदेन चतुर्धैव विभागवान् । षष्ठप्रमाणविज्ञेयः पदार्थोऽभाव उच्यते ।।४८।।

क्षीरे यो दध्यभावः स इह निगदितः प्रागभावः प्रवीणैः प्रध्वंसाभावमाहुर्दधनि तु पयसोऽभावमाचार्यपादाः।
अत्यन्ताभावसंज्ञो भवति हि पवनाद्येषु रूपाद्यभावश्चोन्योन्याभावमाशु स्फुटयति तु घटादौ पटत्वाद्यभावः ।।४९।।

अभावाख्यः पदार्थस्तु नास्तीत्याह प्रभाकरः । घटाद्यभावस्तत्पक्षे केवलं भूतलं मतम् ।।५०।।

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत् योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः ।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते ।।५१।।

(५) अभाव–भावरूप पदार्थों का स्वरूप निरूपित हो जाने पर अभावाख्य पञ्चम पदार्थ का विचार प्रस्तुत किया जा रहा है ।

शङ्का–अभी तक सभी भाव पदार्थों का निरूपण नहीं हुआ, कुछ अवशिष्ट रह गए हैं, जैसे कि प्राभाकरगण कहते हैं--(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) जाति, (५) शक्ति, (६) सादृश्य, (७) संख्या और (८) समवाय-ये प्रभाकर-सम्मत आठ पदार्थ हैं । वैशेषिक छः भाव पदार्थ मानते हैं-(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म इन तीनों में रहनेवाली (४) जाति, (५) विशेष और (६) समवाय । श्री वरदराजने तार्किकरक्षा (पृ० १३०) में कहा है– **द्रव्यं गुणस्तथा कर्म, जातिश्चैतत्त्रयाश्रया । विशेषः समवायश्च पदार्थाः षडिमे मताः ।।**

नैयायिक लोग सोलह पदार्थ मानते हैं-(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति और (१६) निग्रहस्थान । इनके तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है । जब इतने भाव पदार्थों का निरूपण अभी तक मानमेयोदय में नहीं किया गया, तब कैसे विगत श्लोक ४७ में कह दिया गया–"इत्थं भावपदार्थानां स्वरूपे निरूपिते" ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान–कथित चार भाव पदार्थों में ही सभी भावों का समावेश हो जाता है, जैसे कि प्रभाकर-कथित शक्ति और संख्या का गुणों में समावेश और निरूपण किया गया है । गोगत गवय का सादृश्य तो कोई पदार्थान्तर ही नहीं, जिसका पृथक् निरूपण अपेक्षित हो, क्योंकि गवयगत जो अधिकतर गुण, अवयव और जाति पदार्थ गौ में रहते हैं, उन्हीं से ही गौ में गवय के सादृश्य की प्रतीति हो जाती है, पृथक् सादृश्य तत्त्व मानने की क्या आवश्यकता ?

शङ्का–गवयगत कुछ गुण, अवयव और सामान्य का योग गौ में रह कर सादृश्य-प्रतीति का नियामक नहीं हो सकता, क्योंकि श्री भवनाथ ने कहा है, **"न तेषां योगः, असम्बन्धत्वात् । 'तद्वद्'–इति हि तद्धीः, न तु 'तद्'- इति 'सम्बन्ध' इति वा** (नयवि. पृ. १४७) । अर्थात् गवयगत कतिपय अवयवों का योग गौ में देखकर **'तत्'** या **'सम्बन्धः'**--ऐसी ही प्रतीति होनी चाहिये, **'तत्सदृशोऽयम्'**-ऐसी नहीं ।

समाधान–एक ही पदार्थ विभिन्न रूपों से निरूपित होकर विभिन्न प्रतीतियों का उत्पादक हो जाता है, जैसे एक ही देवदत्त जब 'देवदत्त' संज्ञा से उपलक्षित होता है, तब उसमें 'देवदत्तोऽयम्'–ऐसी प्रतीति होती है और जब वह 'यज्ञदत्त-जन्यत्व' धर्म से उपलक्षित होता है, तब उसमें 'यज्ञदत्तपुत्रोऽयम्'–ऐसा भान होने लगता है, वैसे ही जब गवयगत अवयवों को गौ में स्वरूपतः देखा जाता है, तब 'तदेवायम्'–ऐसी प्रतीति होती है और जब उन्हें गवयस्थत्वेन देखा जाता है, तब वे ही गौमें 'तत्सदृशोऽयम्'–इस प्रकार का व्यवहार उत्पन्न करने लगते हैं । (श्रीचिदानन्द पण्डित भी कहते हैं– **"गुणावयवसामान्यानामेवैकत्र प्रतीतानामन्यत्र सादृश्यबुद्धिविषयत्वात् । यथा देवदत्तो यज्ञदत्तजन्यत्वेनोपलक्ष्यमाणो यज्ञदत्तपुत्रबुद्धिविषयो भवति, स्वरूपेण तु निरूप्यमाणो देवदत्तबुद्धेरेव । तथा गुणावयवसामान्यानि गवयाश्रिता-कारेणोपलक्ष्यमाणानि गवि गवयसादृश्यबुद्धेर्विषयः, स्वरूपेणैव निरूप्यमाणानि तदित्यनुवृत्तबुद्धेरेव विषयः"** (नीति० पृ० १५०) ।

यदि सादृश्य को तत्त्वान्तर माना जाता है, तब 'गवयेन गौर्बहुसदृशः, वराहेण पुनरल्पसदृशः'–इत्यादि प्रतीतियों की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि आप (प्रभाकर) के मतानुसार सादृश्य पदार्थ में अल्पत्व और बहुत्व सम्भव नहीं । सादृश्यगत परिमाण-भेद माना नहीं जा सकता, क्योंकि द्रव्य से भिन्न अन्यत्र कहीं भी परिमाण नहीं रहता । 'सादृश्य में परिमाण भेद न होने पर भी उसके आश्रयीभूत द्रव्य के परिमाण-भेद को लेकर उक्त प्रतीतियों का निर्वाह हो जायगा'–ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि सादृश्य का एकमात्र गौ आश्रय है, उसमें परिमाण-भेद नहीं हो सकता । **हम (भाट्टगण) उक्त प्रतीतियों का सामञ्जस्य भली प्रकार कर सकते हैं, क्योंकि जहाँ गुण, अवयव और सामान्य अल्पसंख्यक हैं, वहाँ अल्प सादृश्य और जहाँ वे बहुसंख्यक हैं, वहाँ सादृश्य-बहुत्व हो जाता है । फलतः द्रव्यादि में ही सादृश्य का अन्तर्भाव समुचित है ।**

विशेष और समवाय का निराकरण-- विशेष और समवाय तो शशविषाण के समान ही हैं, क्योंकि उनकी सिद्धि में कोई प्रमाण ही नहीं ।

शङ्का–विशेष पदार्थ की सिद्धि में अनुमान प्रमाण है–**'समानजातीयाः समानगुणकार्याः परमाणवः मुक्तात्मानश्च, परस्परव्यावर्तकधर्मसमवायिनः, द्रव्यत्वाद्, घटवत्'** (श्री वरदराज ने अनुमान-प्रयोग किया है–**"समानजातीयाः समानगुणकाः परमाणवो मुक्तात्मानश्च परस्परव्यावर्तकधर्मसमवायिनः, द्रव्यत्वाद्, घटवत्"** (ता० र० पृ० १६०) यदी अनुमान ऊपर श्री नारायण पण्डित ने उद्धृत किया है, उसमें **'समानगुणकार्याः'**–ऐसा पाठ न्यायलीलावती का अनुसरण करते हुए रखा है। जाति और गुणों को लेकर अर्थान्तरता न हो, अतः 'समान जातीयत्व' और 'समानगुणत्व'–ये पक्ष-विशेषण रखे गये हैं। उक्त अनुमान से व्यावर्तक धर्म सिद्ध हो जाने पर मानमनोहरकार के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशेषानुमान से विशेष पदार्थ सिद्ध हो जाता है-**"विवादपदं गुणसामान्यातिरिक्तसमवायि, द्रव्यत्वाद्, घटवत्"** (मा० म० पृ० १२७) । गुण और जाति से भिन्न कर्म की घट में समवायिता को लेकर घट दृष्टान्त बनाया गया है, किन्तु मुक्त आत्मा और आकाशादि विभु पदार्थों में क्रिया सम्भव नहीं, अतः उससे भिन्न विशेष पदार्थ मानना आवश्यक है । इस अनुमान की आलोचना श्री चित्सुखाचार्य ने चित्सु० पृ० ३३० पर की है)।

समाधान--उक्त अनुमान पृथक्त्व गुण को लेकर अर्थान्तर हो जाता है । अर्थान्तर नाम का एक निग्रहस्थान है-**"प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्"** (न्या० सू० ५/२/७) । विशेष पदार्थ के साधक अनुमान से पृथक्त्व की अनभिमत सिद्धि पर्यवसित होती है, जो कि पृथक्त्ववादी के लिए सिद्ध-साधन मात्र है) । वैशेषिकाचार्यों ने जो कहा है-**"नित्यद्रव्यवर्ती व्यावृत्तिमात्रबुद्धिविषयो विशेषः"** (वै० भा० पृ० १६८) । वह भी पृथक्त्व से गतार्थ हो जाता है ।

समवाय में भी क्या (१) प्रत्यक्ष प्रमाण है ? अथवा (२) अनुमान ? तार्किक-सम्मत प्रत्यक्ष सम्भव नहीं होता, क्योंकि सूत्रकार ने कहा है-**"इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः"** (वै० सू० ७/२६) उसके अनुसार 'पटाश्रयं शौक्ल्यम्', 'इह पटे शौक्ल्यम्'-इत्यादि प्रतीतियाँ इन्द्रिय के अन्वय-व्यतिरेक से उत्पन्न होती हैं, **अतः समवाय प्रत्यक्ष है--ऐसा भी नहीं कहा जा सकता । क्योंकि जब कि समवाय ही विवादास्पद है, तब उक्त प्रतीतियों में समवाय विषयकत्व ही असिद्ध है । यदि कोई समवाय पदार्थ सिद्ध होता, तब अवश्य उक्त प्रतीतियाँ उसको विषय कर सकती थी।** समवाय का प्रत्यक्ष मानने पर इन्द्रिय के साथ उसका सन्निकर्ष क्या होगा ? विशेषण-विशेष्यभाव को सन्निकर्ष नहीं मान सकते, क्योंकि आगे पर ही उसका निराकरण किया जा चुका है । समवाय के साथ इन्द्रिय का अन्य कोई सम्बन्ध बन नहीं सकता ।

(२) समवाय के सद्भाव में प्रभाकर-सम्मत अनुमान प्रमाण भी सम्भव नहीं, क्योंकि श्री वरदराज-प्रयुक्त **"इह गवि गोत्वमिति प्रत्ययोऽधिकरणाधिकर्त्तव्यसम्बन्धनिबन्धनः, अबाधितेहप्रत्ययत्वाद्, इह कुण्डे बदराणीति प्रत्ययवत्"** (ता० र० पृ० १६२) यह अनुमान सङ्गत नहीं, क्योंकि 'इह भूतले घटो नास्ति' इस प्रतीति में व्यभिचरित है-(प्रभाकर-मतानुसार अभाव अपने अधिकरण से अतिरिक्त नहीं होता, अधिकरण के साथ उसका कोई सम्बन्ध भी नहीं, अतः 'इह घटो नास्ति'-इस प्रतीति में सम्बन्धनिबन्धनत्वरूप साध्य न होने पर भी प्रत्ययत्व रह जाता है) । **'विवादपदं विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धनिबन्धनम्, विशिष्टज्ञानत्वाद्, दण्डीतिज्ञानवत्'**-यह अनुमान भी 'विनष्टो घटः'-इस ज्ञान में व्यभिचरित है, क्योंकि इसमें विशिष्टज्ञानत्वरूप हेतु के रहने पर भी विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्ध-निमित्तत्व नहीं रहता।

यह जो श्री भवनाथ ने कहा है कि **"आगमसन्निधिहीनस्यापि उत्पन्नवस्तुपरतन्त्रतया भानादेव संयोगविलक्षणः कल्पितः समवायशब्दवाच्यः"** (नयवि० पृ० ९९)। ('इह भूतले घटः'-यहाँ पर जैसे घट पदार्थ का आगम (आप्ति) अथवा पहले से ही सन्निहित (विद्यमान) है, अतः उसका भूतल के साथ संयोग सम्बन्ध मान कर उक्त विशिष्ट ज्ञान का निर्वाह किया जाता है, वैसे 'इह घटे घटत्वम्'-ऐसी प्रतीति में घटत्व जाति न कहीं से आई है और न वहाँ पहले से सन्निहित थी, अतः घटत्व जाति का वैशिष्ट्य-बोध संयोग से विलक्षण जिस तत्कालोत्पद्यमान वस्तु पर निर्भर है, उसे 'समवाय' शब्द से अभिहित किया जाता है) ।

श्री भवनाथ के उक्त कथन में जिज्ञासा होती है कि, क्या उक्त जात्यादि का वैशिष्ट्य-भान समवाय से वैसे ही व्याप्त हैं, जैसे धूम अग्नि से ? अथवा उक्त भान समवाय के बिना वैसे ही अनुपपन्न है, जैसे पीनत्व रात्रि-भोजन के बिना ? उक्त भान और समवाय का अन्यत्र कहीं सहचार-दर्शन न होने के कारण व्याप्ति-ग्रहण सम्भव नहीं और उक्त भान समवाय के बिना अनुपपन्न भी नहीं, **क्योंकि भेदाभेदात्मक तादात्म्य सम्बन्ध से उसकी उपपत्ति हो जाती है ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समवाय के विषय में यह भी जिज्ञासा होती है कि, वह अपने जातिव्यक्त्यादि समवायी (सम्बन्धी) पदार्थों से अत्यन्त अभिन्न है ? अथवा नहीं ? अत्यन्त अभिन्न मानने पर समवायी जाति व्यक्त्यादि से भिन्न समवाय का सद्भाव नहीं माना जा सकता । यदि समवाय अपने सम्बन्धियों से भिन्न है, तब जिज्ञासा होती है कि उसका अपने सम्बन्धियों से सम्बन्ध है? या नहीं ? यदि सम्बन्ध है, तब वह भी समवायान्तर होगा और उसका भी अपने सम्बन्धियों से समवायान्तर-इस प्रकार अनवस्था होती है । समवाय का यदि अपने सम्बन्धियों से कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता, तब 'गवि गोत्वम्'-इस प्रकार की विशिष्ट बुद्धि न होकर 'गोगोत्वसमवायाः'-ऐसी समूहालम्बनात्मक बुद्धि होनी चाहिए । **अतः अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, जाति-जातिमान् और क्रिया-क्रियावान् का परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध मानना चाहिए, जिसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है ।**

न्यायसूत्रोक्त प्रमाणादि पदार्थ यद्यपि इन्हीं चार पदार्थों के अन्तर्गत ही हैं, तथापि कुछ विशेष प्रयोजन से पृथक् रखे गये हैं जैसा कि, श्री केशव मिश्र ने पदार्थषट्क प्रकरण में कहा है । **यद्यपि इन्द्रिय, इन्द्रियसन्निकर्ष, इन्द्रिय-जन्य ज्ञान और ज्ञान-जन्य प्राकट्यादिरूप प्रत्यक्षादि प्रमाण भी प्रमेय के अन्तर्गत ही आ जाते हैं ।** तथापि प्रमाणों के बिना प्रमेय पदार्थों की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः साध्य-साधनभाव की विशेषता दिखाने के लिए प्रमाण और प्रमेय का पृथक् निरूपण उचित ही है । **संशय और प्रयोजनादि का भी प्रमाण और प्रमेय में अन्तर्भाव अत्यन्त स्पष्ट है ।** फलतः सभी भाव पदार्थों का उक्त द्रव्य, जाति, गुण और क्रिया-इन चार पदार्थों में समावेश हो जाता है, उनमें जो अन्तर्भूत नहीं होते, वे पदार्थ ही नहीं माने जा सकते, अतः भाव पदार्थों के सुनिरूपित हो जाने पर अभाव पदार्थ का निरूपण अयुक्त नहीं ।

प्रागभावादि चार भागों में विभक्त, अनुपलब्धिरूप षष्ठ प्रमाण से वेद्य अभाव पदार्थ कहा जाता है। अभाव दो प्रकार का होता है **(१) संसर्गाभाव और (२) अन्योऽन्याभाव** । संसर्गाभाव के तीन भेद हैं-**(१) प्रागभाव, (२) ध्वंस और (३) अत्यन्ताभाव** । (१) दूध में जो दधि का अभाव है, उसे **प्रागभाव** कहते हैं । (२) दधि में दूध के अभाव को **ध्वंस** और (३) वायु आदि में रूपादि के अभाव को **अत्यन्ताभाव** कहा जाता है । 'घटः पटो न भवति'-इस प्रकार का जो घटादि में पटादि का अभाव है, वह **अन्योन्याभाव** कहलाता है । वार्तिककार ने भी (श्लो० वा० पृ० ४७३ पर) कहा है- **क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते । नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभाव इष्यते ।। गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योऽन्याभाव उच्यते । शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः ।। शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते ।**

प्राभाकर मत–प्रभाकर गुरु का कहना है कि 'अभाव' नाम का कोई तत्त्वान्तर होता ही नहीं, केवल भूतल को ही घटाभाव कहा जाता है, जब भूतल केवल न होकर घट से विशिष्ट होता है, तब वहाँ घटाभाव का व्यवहार नहीं होता, अतः अभाव भावान्तर मात्र है ।

प्राभाकर मत-निरास–'अघटं भूलतम्', 'इह भूतले घटो नास्ति'-इत्यादि विशिष्ट-व्यवहारों का मूल जो विशिष्ट भूतल होता है, **उसके विशेषणीभूत पदार्थ को अवश्य तत्त्वान्तर मानना होगा** । यदि केवल भूतल के ज्ञान से वैसा व्यवहार माना जाता है, **तब भूतल में घट के होने पर भी 'अघटं भूतलम्'–ऐसा व्यवहार होना चाहिए,** क्योंकि वहाँ भी उसी भूतल का भान हो रहा है। **यह जो कहा जाता है कि,** भूतल मात्र का ज्ञान ही उक्त व्यवहार का कारण होता है । वहाँ 'मात्र' शब्द का अर्थ यदि भूतल से भिन्न है, तब तत्त्वान्तर मानना पडता है और यदि 'मात्र' शब्द का अर्थ भूतल से अतिरिक्त कुछ भी नहीं, तब घट के रहने पर भी उक्त व्यवहार की आपत्ति पूर्ववत् बनी रहती है । **यदि**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एकाकी भूतल को उक्त व्यवहार का निमित्त कहा जाता है, तब भी 'एकाकी' शब्द का एकत्व संख्या-विशिष्ट अर्थ मानने पर घटवाले भूतल में उक्त व्यवहार प्रसक्त होता है । यदि **"एकादाकिनिच्चासहाये"** (पा० सू० ५/२/५२) इस सूत्र के अनुसार असहायार्थक 'एक' शब्द से स्वार्थ में 'आकिनिच्' प्रत्यय करके 'एकाकी' शब्द का असहाय या द्वितीय से असहकृत अर्थ किया जाता है, तब तत्त्वान्तरापत्ति का वही दोष बना रहता है, जिससे वचने के लिए उक्त पाणिनि सूत्र का सहारा लिया गया था–यह बात वैसी ही है जैसे कि कोई चुङ्गी कर बचाने की लिए चुङ्गी चौकी से कतराकर रात को घूमते-घूमते प्रभात में उसी घटकुट्टी (चुङ्गी-चौकी) पर पहुँच जाय । इन्हीं युक्तियों से केवलादि शब्दों की आलोचना की जा सकती है ।

श्री भवनाथ का मत–नयविवेककार श्री भवनाथ ने कहा है–**"यत्र यस्याभावधीः तत्र तत्संसृष्टधीर्नास्ति, स्वरूपधीस्त्वस्तीति द्वयी स्वरूपधीरास्थेया । तत्र या संसृष्टधीतोऽन्याविधा, सा तन्मात्रधीविधा, तद्धीवेद्यं च तन्मात्रमिति न मेयान्तरम्"** (नयवि० पृ० १६३-१६४) (अर्थात् जहाँ भूतलादि में घटादि के अभाव का भान होता है, वहाँ 'घटसंयुक्तं भूतलम्'–इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता 'भूतल का स्वरूप-ज्ञान तो होता है, अतः दो प्रकार की स्वरूप-धी माननी चाहिए–एक घट के रहने पर, दूसरी घट के न रहने पर । उनमें घट-काल से भिन्न काल की जो स्वरूप धी है, वह तन्मात्रधी है और वही अभाव-विशिष्ट-व्यवहार की नियामिका मानी जाती है, अतः अभाव नाम का प्रमेयान्तर व्यर्थ है) ।

भवनाथ-मत की ओलचना–भवनाथ पण्डित से यह प्रश्न करना चाहिए कि, **संसृष्टावस्थाक भूतल के स्वरूप-ज्ञान से भिन्न स्वरूप-ज्ञान का विषय क्या है ?** यह जो कहा 'तद्धीवेद्यं तन्मात्रम्'–यहाँ प्रयुक्त 'मात्र' शब्द का अर्थ यदि भूतल से अतिरिक्त है, तब उसमें तत्त्वान्तरतापत्ति और अतिरिक्त अर्थ न मानने पर घट के रहने पर भी भूतल में घटाभावव्यवहार प्रसक्त होता है । 'घट के रहने पर तो संसृष्ट स्वरूपधी ही है, उससे भिन्न स्वरूप धी नहीं'–ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ प्रयुक्त 'मात्र' शब्द का अतिरिक्त अर्थ न होने पर कथित दोनों स्वरूप-ज्ञानों की वहाँ प्रसक्ति होती है, अन्यथा 'मात्र' शब्द का अतिरिक्त अर्थ मानना होगा । **दूसरी बात यह भी है कि,** यह जो कहा गया है कि **'संसृष्टस्वरूपधीतोऽन्या स्वरूपधीः'**-यहाँ 'अन्य' शब्द का 'असंसृष्टत्व' अर्थ में बलात् पर्यवसान मानना होगा, तब वे ही पुराने दुर्धर्ष दोष दुरुद्धर हो जाते हैं, **अतः 'अभाव' नाम का अतिरिक्त पदार्थ मानना आवश्यक है, उसे मिलाकर सब पाँच ही पदार्थ सिद्ध होते हैं ।**

(१) शून्यवाद–कथित पाँच पदार्थों से अतिरिक्त एक शून्य तत्त्व के संस्थापक माध्यमिकाचार्य श्री नागार्जुन के जीते-जी यह नहीं कहा जा सकता है कि 'पञ्चैव पदार्थाः', क्योंकि शून्यवादी शून्य को भावाभाव से भिन्न ही मानता है, माध्यमिक कारिका (१५/१०) में कहा है- **अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम् । तस्मादस्तित्वनास्तित्वे-नाश्रीयेत विचक्षणः ।।**

शून्यवाद में ज्ञान और ज्ञेय-दोनों की स्वाभाविक सत्ता का निराकरण करते हुए कहा गया है-**'विमतं विज्ञानं शून्यविषयम्, विज्ञानत्वात्, स्वाप्नविज्ञानवत् ।'** ज्ञेय तत्त्व की निःस्वभावता के कारण ज्ञान तत्त्व भी निःस्वभाव हो जाता है–ज्ञेयाभावे 'ज्ञानस्याप्यभावात्' । इसी निःस्वभावता या शून्य का जगत् विवर्त माना जाता है [ब्रह्मविवर्तवाद में जैसे ब्रह्म के आधार पर जगत् मरुमरीचि के समान आरोपित मात्र होता है, वैसे ही शून्यविवर्त पद में । श्री आर्यदेव चतुःशतक (१३/२६) में कहते हैं- **अलातचक्रनिर्माणस्वप्नमायाम्बुचन्द्रकैः । धूमिकान्त प्रतिश्रुत्कामरीच्यभ्रैः समो भवः ।।** जैसे किसी लकडी के मुख को जलाकर घुमाने पर अग्नि का चक्रभ्रम (अलातचक्र) बन जाता है, योगी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपनी यौगिक शक्ति के द्वारा सिंह-व्याघ्रादि शरीरों का निर्माण कर लेता है, स्वप्न में बिना सामग्री के ही चलता-फिरता संसार दिखाई देता है, मायाकार (जादूगर) अपने जादू के बल पर विचित्र-विचित्र दृश्य बना कर दिखा देता है, जलगत चन्द्र का मिथ्या प्रतिबिम्ब देखा जाता है, शीत ऋतु में गाँव के चारों ओर धूमिका (धूमाभासिका) प्रतीत होती है, (पर्वतकन्दरा में) शब्द की प्रतिध्वनि गूँजती सुनाई देती है, मरुमरीचि में नदी का भ्रम हो जाता है, पर्वतशिखर से देखने पर दूरस्थ अभ्र-खण्डों का समूह एक सुन्दर नगर (गन्धर्वनगर) के रूप में दिखाई देता है । ठीक उसी प्रकार यह जीता-जागता जगत् भी एक विशाल विभ्रममात्र है ।]

(२) विज्ञानवाद—माध्यमिकाभिमत ज्ञानाभाववाद का निराकरण करते हुए योगाचारगण कहते हैं-'**अस्तु ज्ञेयाभावः, ज्ञानं तु न निराकर्तुं शक्यम्**' । स्वप्नादि-स्थलों पर भी ज्ञान का अभाव नहीं होता, विविध ज्ञानों की उत्पत्ति देखी जाती है। ज्ञेयाभाव के द्वारा जो ज्ञानाभाव की कल्पना की जाती है, वह अनुभव-विरुद्ध है । विज्ञान ही घटादि प्रपञ्च के रूप में विपरिणत होता है, अतः सब घटादि आकार विज्ञान के ही होते हैं, विज्ञान साकार है, (श्री वसुबन्धु विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि विंशिका के आरम्भ) में कहते हैं- **आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते । विज्ञानपरिणामोऽसौ परिणामः स च त्रिधा ।।** यह सब आत्मा (चेतन वर्ग) तथा धर्मरूप (घट-पटादि जड वर्ग) विविध जगत् विज्ञान का परिमाण और विज्ञान में ही कल्पित है, उससे अतिरिक्त नहीं । **विज्ञान तीन प्रकार का होता है**—(१) विपाक या आलय विज्ञान, (२) मनन या क्लिष्ट मन तथा (३) विषय-विज्ञप्ति (चाक्षुषादि छः प्रकार का ऐन्द्रियक ज्ञान) । **दूसरी बात यह भी है कि,** घटादि पदार्थ स्वयं प्रकाश ज्ञान से अभिन्न होते हैं-'**यत् प्रकाशते, तत् प्रकाशादभिन्नम्, यथा प्रदीपः, तस्माद्विज्ञानविवर्त जगत्** ।' (श्री धर्मकीर्ति ने प्र० वा० पृ० ३५३ पर कहा है- **प्रकाशमानस्तादात्म्यात् स्वरूपस्य प्रकाशकः । यथा प्रकाशोऽभिमतस्तथा धीरात्मवेदिनी ।।**)

(३) बाह्यार्थानुमेयवाद—सौत्रान्तिकगण कहते हैं कि योगाचाराभिमत साकार विज्ञान को मान लेने पर भी बाह्यार्थ का अपलाप नहीं हो सकता, **क्योंकि ज्ञान में स्वतः वैचित्र्य नहीं, बाह्य नील-पीतादि पदार्थ अपने विविध आकारों का समर्पण कर ज्ञान में चित्रता का आधान करते हैं । योगाचार का जो कहना है कि एकरूप विज्ञान ही नील पीतादि विविधाकारों में स्वतः ही परिणत होता है, वह तब तक सम्भव नहीं, जब तक बाह्य विषय न माना जाय** । अतः विज्ञान के आकारों में वैविध्य देख कर उस वैविध्य के आधायक बाह्य नील-पीतादि पदार्थों का अनुमान होता है । वे क्षणिक होते हैं। **यदि सभी पदार्थ अनुमेय है, तब विषयगत प्रत्यक्षत्व-अनुमेयत्व का विभाग क्योंकर होगा ?**' -इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, **जो विषय ज्ञान में साक्षात् आकार का समर्पक होता है, उस विषय में प्रत्यक्षत्व और जो परम्परया आकारार्पक होता है, उसमें अनुमेयत्व माना जाता है** ।

(४) बाह्यार्थप्रत्यक्षतावाद—वैभाषिकाचार्यों का कहना है कि, **बाह्य नील-पीतादि द्रव्य विज्ञान में अपने कैसे आकारों का समर्पण करता है ? दृष्ट आकारों का ? या अनुमित आकारों का ?** द्वितीय पक्ष सम्भव नहीं, **क्योंकि आकार-समर्पण से पहले अनुमान प्रवृत्त ही नहीं हो सकता** । यदि दृष्ट आकार का समर्पण माना जाय, **तब नीलादि पदार्थों में दृष्टत्व या प्रत्यक्षत्व पर्यवसित होता है, अनुमेयत्व नहीं** । नीलादि को दृष्ट न मानने पर दृष्टाकार-समर्पकत्व उनमें नहीं बन सकता, **क्योंकि विज्ञान से सम्बद्ध होकर ही नीलादि अपने आकारार्पण के हेतु हो सकेंगे, असम्बद्ध को हेतु मानने पर सभी पदार्थ सर्वत्र हेतु हो जायेंगे** । फलतः क्षणभङ्गुर नीलादि बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष मानना आवश्यक है । उक्त शून्यवादादि की चारों शाखाएँ बुद्ध की शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा से निकली हैं । उनके सिद्धान्तों का संक्षिप्त रूप-रेखा इस प्रकार है-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्, योगाचारमते तु सन्ति मतयः तासां विवर्तोऽखिलः । अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः, प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते ।।५१।।

उनमें पूर्व-पूर्व मत का निराकरण करते हुए उत्तरोत्तर वादी ने अपना मत प्रस्तुत किया है, **अतः हमारे लिए केवल वैभाषिक के क्षणिकत्व-पक्ष का ही निराकरण शेष रह जाता है ।** क्षणिकत्व के विषय में जिज्ञासा होती है कि क्षणिकत्व में प्रत्यक्ष प्रमाण है ? अथवा अनुमान ? बौद्धमत में दो ही प्रमाण माने गए हैं-**"द्विविधं सम्यग् ज्ञानम्–प्रत्यक्षमनुमानं च"** (न्या०बिं० १/२/३) । अतः तीसरे प्रमाण की शङ्का ही नहीं हो सकती । प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर क्षणिकत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, **क्योंकि 'स एवायं घटः'–इत्यादि प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा के द्वारा पूर्वोत्तर क्षण-वर्ती घटादि की एकता और स्थिरता ही सिद्ध होती है, क्षणिकता नहीं ।** 'सेयं दीप-ज्वाला के समान उक्त प्रत्यभिज्ञा सादृश्यमूलक एकत्व-भ्रममात्र है'-**ऐसा नहीं कह सकते,** क्योंकि प्रत्येक क्षण में न तो मृद्, दण्ड, चक्रादि-घटित समग्र सामग्री हो सकती है और न दीप-ज्वाला के समान घट की उत्पत्ति । **केवल विज्ञान से घटादि की उत्पत्ति मानने पर मृदादि का संग्रह अनावश्यक हो जाता है ।**

अनुमान प्रमाण के द्वारा क्षणिकत्व की सिद्धि जो की जाती है-**'सर्वे भावाः क्षणिकाः, सत्त्वाद्, विज्ञानवत्'** । (ज्ञानश्रीने भी कहा है-**"यत् सत् तत्क्षणिकं यथा जलधरः, सन्तस्तु भावा इमे"** (ज्ञानश्री पृ० १)। **वह अनुमान भी दृढतर प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा प्रमाण से बाधित है,** अतः जैसे वह्निगत शैत्य का अनुमान 'वह्निरुष्णः'-इस प्रत्यक्ष से बाधित अत एव अप्रमाण है, वैसे ही प्रकृत में क्षणिकत्व-साधक अनुमान भी अप्रमाण है । **विज्ञानरूप दृष्टान्त भी असिद्ध है, क्योंकि दो तीन क्षण तक ज्ञान को स्थायी माना जाता है । बौद्धों के अनात्मवाद, क्षणिकवाद और शून्यवाद बौद्धों में भी सदैव अव्यावहारिक ही माने गये हैं,** अत एव श्री जयन्त भट्ट ने (न्या० मं० पृ० ४६७ पर) उपहास किया है- **नास्त्यात्मा फलभोगभागमथ च स्वर्गाय चैत्यार्चनम्, संस्काराः क्षणिका युगस्थितिभृतश्चैते विहाराः कृताः । सर्वं शून्यमिदं वसूनि गुरवे देहीति चादिश्यते, बौद्धानां चरितं किमन्यदियती दम्भस्य भूमिः पराः ।।**

अद्वैत-मत–प्रायः बौद्धोक्त तर्क-प्रणाली को अपना कर ही अद्वैत वेदान्त के आचार्य प्रत्यक्षादि प्रमाण-सिद्ध पदार्थों में मिथ्यात्व सिद्ध किया करते हैं-**'प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्, स्वप्नप्रपञ्चवत् ।' "नेह नानास्ति किंचन"** (बृह० उ० ४/४/१९) इत्यादि वेदान्त-वाक्यों को भी मिथ्यात्व का साधक मानते हैं, अतः प्रत्यक्षादि-सिद्ध प्रपञ्च के मिथ्या हो जाने पर **"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"** (छां० ६/२) इत्यादि वेदान्त-वाक्यों का अपने अद्वैतरूप यथाश्रुत अर्थ में प्रामाण्य अबाधित ही रहता है ।

अद्वैत मत का निराकरण–अद्वैत वेदान्तियों द्वारा प्रपञ्च में सिषाधयिषित मिथ्यात्व क्या है ? क्या (१) अत्यन्तासत्त्व है ? अथवा सदसद्विलक्षणत्व ? या बाध्यत्व ? प्रथम (अत्यन्तासत्त्व) पक्ष उचित नहीं, क्योंकि नर-शृङ्गादिरूप अत्यन्त असत् पदार्थों की प्रतीति ही नहीं होती किन्तु घट-पटादि पदार्थ प्रतीयमान हैं, अतः इन्हें अत्यन्तासत् कदापि नहीं माना जा सकता । सदसद्विलक्षणत्वरूप मिथ्यात्व को साध्य बनाने पर पक्ष में अप्रसिद्धविशेषणत्व दोष आ जाता है, क्योंकि सदसद्विलक्षणत्वरूप साध्य या पक्ष का विशेषण प्रपञ्च में कहीं प्रसिद्ध ही नहीं ।

शङ्का–स्वप्न प्रपञ्च में सदसद्विलक्षणत्व प्रसिद्ध है, क्योंकि नरविषाणादि असत् पदार्थ की प्रतीति नहीं होती और आत्मा के समान सत् पदार्थ का बाध नहीं होता, स्वप्न प्रपञ्च का भान भी होता है और बाध भी, अतः वह निश्चितरूप से सदसद्विलक्षण है । प्रपञ्च में सत् और असत्-उभयरूपता का समुच्चय भी नहीं हो सकता, क्योंकि सत्त्व और असत्त्व अत्यन्त विरोधी धर्म है, उनका एकत्र समावेश कभी नहीं होगा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान–स्वप्न प्रपञ्च यदि सद्विलक्षण है, तब नर-शृङ्गादि के समान उसकी प्रतीति न हो सकेगी और यदि असद्विलक्षण है, तब चिदात्मा के समान उसका कभी बाध न हो सकेगा । इस प्रकार स्वप्न प्रपञ्च को सदसद्विलक्षण मानने पर भी ख्याति और बाध की उसमें अनुपपत्ति ही बनी रहती है, अतः यह जो कहा गया है कि **'ख्याति और बाध की अन्यथानुपपत्ति के कारण ही स्वप्न प्रपञ्च को सत् और असत्-उभय से विलक्षण माना जाता है'**, वह कहना नितान्त असंगत है । फलतः सदसद्विलक्षणत्व की अप्रसिद्धि के कारण उक्त प्रपञ्च-मिथ्यात्वसाधक अनुमान में 'अप्रसिद्ध-विशेषणता' दोष यथावत् विद्यमान है ।

कथित तृतीय विकल्प के अनुसार बाध्यत्व को भी मिथ्यात्व नहीं कह सकते, क्योंकि जाग्रत्प्रपञ्च का कोई बाधक प्रमाण उपलब्ध नहीं । **उक्त मिथ्यात्व-साधक अनुमान ही बाधक प्रमाण है**–ऐसा नहीं कह सकते, **क्योंकि उक्त अनुमान जाग्रत्प्रपञ्चविषयक प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा बाधित होने के कारण वह्निगत शैत्यानुमान के समान उत्थित ही नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि,** प्रपञ्च का प्रतिभास मिथ्या है, अतः उक्त अनुमान का बाध न हो सकने के कारण उत्थान सम्भव है। **तो ऐसा नहीं कह सकते,** क्योंकि प्रपञ्च-प्रतिभास के मिथ्या होने पर उक्त प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधक अनुमान का उत्थान और उक्त अनुमान का उत्थान हो जाने पर प्रपञ्चप्रतिभास में मिथ्यात्व–ऐसा अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है । इसी प्रकार अद्वैत श्रुतियों के उत्थान में भी अन्योन्याश्रय दोष दिखाया जा सकता है, अतः अद्वैत-श्रुतियों का भी अपने यथाश्रुतार्थ में प्रामाण्य सम्भव नहीं, उनसे प्रपञ्च-मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता । श्री चिदानन्द पण्डित ने (नीति० पृ० ११५ पर) स्पष्ट कहा है– **न प्रपञ्चो मिथ्येति जाड्यदृश्यत्वहेतुतः । स्वप्नप्रपञ्चवत् साध्यं मिथ्यात्वस्यानिरूपणाद् ।।** फलतः अबाधित प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा भाट्टाभिमत (१) द्रव्य, (२) जाति, (३) गुण, (४) कर्म और (५) अभाव–इन पाँच पदार्थों की सत्यता सिद्ध हो जाती है ।

(पूर्वमीमांसा दर्शन में श्रीकुमारिल के भाट्ट मत की तरह श्री प्रभाकर मिश्र का 'गुरुमत' प्रसिद्ध है । अब यहाँ गुरुसम्मत पदार्थो को पेश करते है ।)

गुरुसम्मतपदार्थाः

१-पदार्थाः - द्रव्यजातिगुणाः कर्म संख्यासादृश्यशक्तयः । समवाय इतीमेऽष्टौ पदार्था गुरुसम्मताः ।।१।।

(१) द्रव्यम्–तेषां लक्षणमुच्यते–तत्र सामान्यतो दृष्टमनुमानं लक्षणवचनस्यार्थः । पृथिव्यादिमनोऽन्तम्, गुणादिभ्यो भिद्यते, तेभ्यो व्यावृत्तधर्मकत्वाद्, यद् यतो व्यावृत्तधर्मकम्, तत् ततो भिद्यते, यथा शीताद् व्यावृतधर्मकमुष्णम् । **भूजलाग्निमरुद्व्योमकालदिक्चित्तचेतनाः । नव द्रव्याणि लक्ष्यन्ते स्वात्मजारम्भकत्वतः ।।२।।**

तमस्तु नास्त्येव, आलोकाभावरूपत्वात्

(२) गुणः-रूपरसगन्धस्पर्शशब्दपरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारबुद्धिसुख-दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्माः त्रयोविंशतिरेव गुणाः ।। **(३) कर्म**–कर्म एकमेव, उपाधितोऽनेकत्वम् । **(४) सामान्यम्**–सामान्यं द्विविधं परमपरं च, वृक्षत्वशिंशपात्वभेदात् । **(५) शक्तिः**–शक्तिरनेका, कार्यानुमेयत्वात् । **(६) संख्या**–गणितव्यवहारहेतुः एकत्वादिपरार्द्धपर्यन्ता संख्या । **(७) सादृश्यम्**–सादृश्यज्ञानविषयत्वं सादृश्यं बहुविधम्, तद्व्यञ्जकसाधर्म्यभिन्नत्वात् । **(८) समवायः**–समवायस्त्वनेक एवेति ।

२-द्रव्याणिः–द्रव्यलक्षणम्–संयोगाश्रयत्वम्, विभागश्रयत्वं वा, परिमाणाश्रयत्वं वा ।

(१) पृथिवी–भूलक्षणम्–पाकजस्पर्शाश्रयत्वम्, पाकजरूपाश्रयत्वं वा, पाकजरसाश्रयत्वं वा, गन्धाश्रयत्वं वा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

असाधारणधर्मत्वात् तेषाम् । रूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वनैमित्तिकद्रवत्वसंस्काराः त्रयोदश तस्या गुणाः । पाकजाश्च रूपरसाः पृथिव्यामेव, तत्सम्पर्काज्जलादौ तेषामुपलम्भः, तदपगमे तदनुपलम्भात् । **गन्धस्तु तस्या एव, स द्विविधः**-सुरभिरसुरभिश्च । पाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शः तस्या एव । रूपरसावनियतौ । सा च द्विविधा-नित्या अनित्या च । परमाणुलक्षणा कार्यलक्षणा च । **तत्र कार्यं त्रिविधम्**-शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् । तत्र मनस्त्वगिन्द्रियायतनं शरीरं भोगायतनं वा । **तच्च द्विविधम्**-योनिजमयोनिजं चेति । शुक्रशोणितसन्निपातो **योनिः**, तदुत्पन्नं **योनिजम्**। **तदपि द्विविधम्**-जरायुजमण्डजं च । **उद्भिज्जं तु नास्त्येव** । अयोनिजं तु क्षुद्रजन्तूनां शरीरं यातनाशरीरम् । **इन्द्रियं** तु गन्धव्यञ्जकं घ्राणम् । यच्च शरीरसंयुक्तमतीन्द्रियं साक्षात्प्रतीतिकारणम्, तदिन्द्रियमुच्यते । प्रतीयमानतया भोगसाधनं **विषयः** । स च द्व्यणुकादिक्रमेण आरब्धः त्रिविधो मृत्पाषाणस्थावरलक्षणः। **क्रमे कारणमुच्यते**-(१) 'त्रसरेणवो महान्तः, चाक्षुषद्रव्यत्वाद्, घटवत् ।' (२) 'ते च कार्याः, महत्वाद्, घटवत् ।' (३) 'ते च सावयवाः, कार्यत्वाद्, घटवत् ।' (४) 'त्रसरेण्ववयवा न महान्तः, आरम्भकद्रव्यत्वे सत्यप्रत्यक्षत्वात्, परमाणुवत् ।' (५) त्रसरेणवः कार्यद्रव्येणारब्धा, महत्त्वे सति कार्यत्वाद्, घटवत् ।' (६) त्रसरेण्वारम्भकं कार्यद्रव्यं सावयवम्, कार्यद्रव्यत्वाद् घटवत् । तदवयवाः परमाणव एव । (७) 'लोष्टादिष्ववयवेषु अणुत्वातिशयोऽवधिमान्, परिमाणातिशयत्वात्, महत्त्वातिशयवत् ।' (८) स च नित्यः, निरवयवत्वाद्, आकाशवत् । (९) स च निरवयवः, अल्पपरिमाणतारतम्यस्यावधित्वाद्, यत् सावयवं तदल्पपरिमाणतारतम्यं न भवति, यथा तन्त्वादयः' यद्वा (१०) 'स च निरवयवः, परिमाणतारतम्यस्य अवधित्वात्, महत्त्वपरिमाणावधिभूतवत्' । (११) 'परमाणोः संयोगः क्रियाजः, संयोगाजन्ये सति संयोगत्वात्, तन्तुतुरीसंयोगवत् ।' (१२) परमाणोराद्यं कर्म पुरुषविशेषगुणकारितम्, नोदनाभिघातसंस्काराजन्यत्वे सति कर्मत्वात्, पाणिकर्मवत् ।' (१३) परमाणूनामाद्यं कर्म सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नसंस्कारेभ्यो व्यतिरिक्तपुरुषविशेषगुणकारितम्, प्रयत्नादीनामभावे सति पुरुषगुणकारितत्वाद्, यदभावे यदुत्पद्यते, तत्ततो व्यतिरिक्तकारणम्, यथा तन्त्वाद्यभावे घटः तद्व्यतिरिक्तजन्यः' । (१४) 'तच्चादृष्टं स्वाश्रयसंयोगमपेक्ष्य आश्रयान्तरे कर्म आरभते, एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुत्वाद्, गुरुत्ववत् ।' परमाणूनामाद्यं कर्म अदृष्टवदात्मसंयोगादेव, ततश्च परस्परसंयोगः, स द्वितीयसंयोगस्याश्रयः, संयुक्ताभ्यां द्वाभ्यां **द्व्यणुकोत्पत्तिः**, द्व्यणुकत्रयेण त्र्यणुकोत्पत्तिः, न द्वाभ्याम्, महत्त्वानुपपत्तेः । त्रित्वनियमो लाघवात् । द्व्यणुकावयवस्य कार्यत्वे परिमाणतारतम्यानुपपत्तिः, अतस्तदवयवौ निरवयवाविति द्व्यणुकादिक्रमेण घटाद्युत्पत्तिः ।

(२) जलम्-स्नेहाश्रयं **जलम्** । रूपरससस्पर्शपरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्काराः **त्रयोदश तस्य गुणाः** । तस्य शौक्ल्यमेव रूपम्, माधुर्यमेव रसः, शैत्यमेव स्पर्शः, स्वाभाविकमेव द्रवत्वम्, अपाकजाश्च ते । **तद् द्विविधम्**-परमाणुकार्यभेदात् । **कार्यं द्विविधम्**-इन्द्रियं विषयं च । इन्द्रियं रसनम् । विषयश्चाब्धि हिमकरकादिः । करकायाः काठिन्यं दृढसंयोगात् । गन्धादेरुपलम्भोऽन्यसम्पर्कात् । गुरुत्वं जलभूम्योरेव, स्नेहोऽम्भस्येवेति ।

(३) तेज-भास्वररूपवत् **तेजः**, पररूपप्रकाशकं **भास्वरमुच्यते** । रूपस्पर्शपरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्काराः **दश तेजोगुणः** । तेजोऽपि अणुकार्यभेदाद् **द्विविधम्** । इन्द्रियरूपं कार्यं चक्षुः । **विषयश्चतुर्विधः**--भौमम्, दिव्यम्, औदर्यम् आकरजं च । भौमं काष्ठेन्धनप्रभवम्, ऊर्ध्वज्वलनस्वभावम् । दिव्यम् अविन्धनं चन्द्रसूर्यादि । अशितपीताहारपरिणत्यर्थम् औदर्यम् । आकरजं सुवर्णादि । तस्य शौक्ल्यं भास्वरं च रूपम् । पाकनिमित्तं द्रवत्वम् । स्पर्शश्चौष्ण्यमेव, चन्द्रचामीकरादौ त्वन्यसंसर्गादनुपलम्भः । गुरुत्वादेरन्यसंसर्गादुपलम्भ इति ।

(४) वायु-अपाकजत्वे सति अनुष्णाशीतस्पर्शवान् वायुः । तस्य स्पर्शपरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्कारा **अष्टौ गुणाः** । तस्य युगपच्छीतोष्णादिविरुद्धधर्मविशिष्टस्य उपलम्भान्नानात्वं प्रत्यक्षं सम्मूर्च्छनादनुमेयमपि, सम्मूर्च्छनं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुनः समानजवयोः वाय्वोः विरुद्धदिक्क्रिययोस्सन्निपातः, सोऽपि वाय्वोरूर्ध्वगमनादनुमीयते, तदपि तृणादीनामूर्ध्वगत्याऽनुमीयते, **प्रयोगस्तु**-'प्रतिहन्यमानाद् वायोः प्रतिहन्ता वायुरन्यः, तत्प्रतिहन्तृत्वाद्, देवदत्ताद् यज्ञदत्तवत् ।' 'प्रतिहन्यते चायं वायुः, अनूर्ध्वगमनशीलत्वे प्रयत्नाद्यसम्भवे सति ऊर्ध्वगमनत्वात् परस्पराभिहतनदीपयः पूरवत् ।' ऊर्ध्वगतिमानयम्, तृणादीनामूर्ध्वगत्यसमवायिकारणसंयोगाश्रयत्वात्, तथाविधज्वलनवत् ।' 'तृणाद्यूर्ध्वगमनं च स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्यसंयोगजम्, अनूर्ध्वगमनस्य प्रयत्नाद्यसम्भवे सत्यूर्ध्वगमनत्वात्, ज्वलनप्रवर्तिततूलाद्यूर्ध्वगमनवत् । **वायुरपि द्विविधः** अणुकार्यभेदात् । **कार्यं तु त्रिविधम्**-इन्द्रियम्, विषयः, प्राण इति । स्पर्शोपलम्भकं त्वग् इन्द्रियम् । केशनखयोः तदभावादशरीरता। विषयवस्तु शब्दकम्पनहेतुः तिर्यग्गमनस्वभावो मेघादिप्रेरणसमर्थः । प्राणोऽन्तःशरीरे रसमलधातूनां प्रेरणादिहेतुरेकः । **स पञ्चधा कार्यभेदात्** पञ्च प्राणादिसंज्ञां लभते । मुखनासिकाभ्यां निष्क्रमणप्रवेशनात् प्राण इत्यादि ।

(५) आकाशः-नभः शब्दगुणम् । 'शब्दो गुणः, स्पर्शान्यत्वे सति बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वाद्, रूपवत् ।' परिशेषान्नभ एव कारणम् । तस्य परिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागशब्दाः पञ्च गुणाः । **'आकाशो न प्रत्यक्षः, नीरूपत्वात्, मनोवत् ।'**

(६) कालः-चिरादिविशिष्टप्रत्ययलिङ्गः कालः । **(७) दिक्**-इतः प्राग्-इत्यादिविशिष्टप्रत्ययलिङ्गा दिक् । **परत्वमपरत्वं च कार्यमागन्तुहेतुजम् । विना दिक्कालयोर्योगमन्यथा नोपपद्यते ।।३।।**

'कालो न प्रत्यक्षः, नीरूपत्वात्, मनोवत् ।' अनुमानं तु अस्य सत्त्वे प्रमाणम्-(१) 'स्थविरादौ परत्वम्, तपनविप्रकर्षबुद्धिजन्यम्, तदनुविधायित्वात्, कुविन्दपटवत् ।' (२) 'तपनपरिस्पन्दाः स्थविरशरीरसम्बद्धाः, तदवच्छेदकत्वात्, पटावच्छेदकमहारजतरागवत्' । (३) 'तेषां तत्सम्बन्धः, तदाश्रयसंयुक्तद्रव्यद्वारकः, प्रकारान्तरासम्भवे सति सम्बन्धत्वात्, पटे महारजतरागसम्बन्धवत् ।' अन्यथा परत्वादिविशिष्टप्रत्ययानुपपत्तेः । तस्मात् तपनपरिस्पन्दानां स्थविरादिसम्बन्धद्वारभूतं द्रव्यं **कालः** । तपनसंयोगानां मूर्त्तसम्बन्धे द्वारभूतं द्रव्यं **दिक्** । स्थविरादौ परत्वादेः तपनादिक्रियाया असमवायिकारणत्वात्। अन्यत्र संयोगस्य असमवायिकारणत्वात् तेन तत्सिद्ध्यर्थं दिक्कालावाश्रयणीयौ । तौ च प्रत्यक्षौ विशेषगुणरहितनित्यद्रव्यत्वात्, मनोवत्' । तयोः परिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः चत्वारो गुणा इति ।

(८) आत्मा-बुद्ध्याद्याश्रयत्वम्, भोक्तृत्वम्, मितौ कर्तृत्वं वा आत्मनो लक्षणम् । तस्य परिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराः त्रयोदश गुणाः । आकाशादिचतुर्ण्णां परममहत्त्वं परिमाणम् अतः सर्वगतत्वाद् अमूर्तत्वम्, निरवयवत्वान्नित्यत्वं चास्त्येव सामान्यरहितत्वं च । **आत्मव्यक्तयस्त्वनन्ताः, अन्येषामेकत्वमेवेति ।**

(९) मनः-द्रव्यानारम्भकत्वे सत्यणुद्रव्यं भवेन्मनः । अथवा सुखादेरापरोक्ष्यस्य साधनं मन इन्द्रियम् ।।४।।

अयौगपद्यं तल्लिङ्गं ज्ञानानामक्षजन्मनाम् ।

'विवादाध्यासिता बुद्ध्यादयः, संयोगासमवायिकारणकाः नित्यद्रव्यगतानित्यविशेषगुणत्वात्, पार्थिवपरमाणुगतलौहित्यवत्'। गुणिनित्यत्वपक्षे बुद्ध्यादयो द्रव्यान्तरसंयोगाधीनसमवायाः नित्यद्रव्यगतानित्यसमवायविशेषणगुणत्वात् परमाणुलौहित्यवत्। **परिशेषात्तद् द्रव्यं मनः** । मनसोऽणुत्वमेव परिमाण परिशेषादसर्वगतत्वान्मूर्त्तत्वं च भवेत् तस्य । परिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्ववेगाश्चेति **सप्त मनसो गुणाः** । आश्रयानन्तत्वाद् अनन्तत्वम् । एकस्मिन्नेकमेव आत्मवत् । तत्तदवयवेषु सञ्चरणात् तत्तदवयववेदनादिव्यवहारः। आत्मनस्तु प्रत्यक्षत्वमेव सम्मतम्, अन्येषामनुमेयत्वमेव मनस इति ।

अत्र पृथिव्यादिवायुपर्यन्तानां प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् । द्रव्यलक्षणं स्वात्मनि कार्यारम्भकत्वमिति वा । सांसिद्धिकद्रवत्वमपाकजरसाश्रयत्वं वा जलस्य लक्षणम् । स्पर्शान्तराभिव्यञ्जकस्पर्शवान् वायुरिति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३-गुणाः-निरवयवो द्रव्येकसमवेतः प्रातिस्विकरूपेण नित्यद्रव्यवृत्तिः संयोगविभागयोरनपेक्षतया अहेतुर्गुण इति वा।

(१) रूपम्—बाह्येन्द्रियाणां मध्ये चक्षुर्मात्रं यद्ग्राहकम्, तद् रूपम् । यच्च रूपादन्यच्चाक्षुषं द्रव्यं गुणादिर्वा, तत् सर्वं द्विबाह्येन्द्रियग्राह्यम् । नित्यानित्यद्रव्येष्वेकमेव रूपं नित्यं च । समवायमपेक्ष्य कार्यत्वव्यवहारः । **(२) रसः**—रसनग्राह्यो रसः । **स च द्विविधः**-पाकजसमवायोऽपाकजसमवायश्च । तदपि रूपवन्नेयम् । रूपरसादेरेकत्वं शौक्ल्यमाधुर्यादेरनेकत्वेऽपि शब्दैकत्ववन्नेयम् । **(३) गन्धः**—घ्राणग्राह्यो गन्धः । **स द्विविधः**-सुरभिरसुरभिश्च । तस्यापि रूपवत्सर्वमुन्नेयम् । **(४) स्पर्शः**—बाह्येन्द्रियाणां मध्ये त्वङ्मात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः । **स च चतुर्विधः**-(१) पाकजानुष्णाशीतस्पर्शः, (२) शीतस्पर्शः, (३) उष्णस्पर्शः, (४) अनुष्णाशीतस्पर्श इति । रूपरसस्पर्शसमवायानां यथासम्भवं जलादिकार्यद्रव्यत्रय-समानकारणगुणसमवायपूर्वकत्वमेव, तदनुविधायित्वाद्, अन्यथातिप्रसङ्गात् । आश्रयनाशकारणादेव नाशः । जलादिषु परमाणुषु नित्यत्वमेव, संस्कारकत्वात् । पार्थिवपरमाणुषु तु अग्निसंयोगादेव उत्पत्तिविनाशौ । कार्यद्रव्ये तु समानकारण-गुणसमवायाद् अग्निसंयोगाद् वा उत्पत्तिः । आश्रयनाशकारणाद् अग्निसंयोगाद् वा नाशः । द्रव्योत्पत्तिविनाशसमकालीनौ च रूपादिसमवायोत्पत्तिविनाशौ कारणगुणसमवायाद् आश्रयनाशकारणजन्यौ उन्नेयौ । तौ च समवायभावाभावाभ्या-माश्रयोत्पत्तिनाशाभ्यां विनेवानुमितौ पाकजावुन्नेयौ, अतः पाकेन रूपादिरेवोत्पद्यते, न घटोत्पत्तिः, पूर्वघटप्रत्यभिज्ञानात् । **(५) शब्दः**—श्रोत्रग्राह्योऽम्बरगुणो नित्यो व्याप्यवृत्तिनित्यसमवायः । **स द्विविधः**-वर्णलक्षणोऽवर्णलक्षणश्च। अकारादिवर्णलक्षणः, शङ्खादिनिमित्तः अवर्णलक्षण इति । **(६) परिमाणम्**—मानव्यवहारहेतुर्गुणः **परिमाणम्** । **तच्चतुर्विधम्**-अणुत्वम्, महत्त्वम्, ह्रस्वत्वम्, दीर्घत्वं चेति । परस्परविरोधाद् एकत्र अणुत्वमहत्त्वयोरनिवेशः, तद्वद् ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोरन्यत्र । परमाणुद्व्यणुकयोरणुत्वमेव परिमाणम्, द्व्यणुके ह्रस्वत्वं च । त्र्यणुकेषु महत्त्वदीर्घत्वे । खादिचतुष्टये परमहत्त्वदीर्घत्वे । मनसस्त्वणुत्वमेव । अणुत्वह्रस्वत्वदीर्घत्व-परममहत्त्वानि नित्यानि, एकत्वं चास्ति तेषाम् । परमाणुषु खादिषु च समवायो नित्योऽनेकश्च । द्व्यणुकादिषु तु समवायोऽनित्यः। त्र्यणुकादिषु तु महत्त्वस्य नित्यत्वमनेकत्वं च । द्व्यणुकत्र्यणुकयोः समवायारम्भकमवयवगतद्वित्वबहुत्वमेव । क्वचिन्महत्त्वमपि, क्वचित् प्रचयमपि, क्वचित् सहेवेति यथासम्भवं वेदितव्यम् । समवायस्य च नाशः आश्रयनाशाद् वा समवायान्तराद्वेति । **(७) पृथक्त्वम्**—अपोद्धारव्यवहारहेतुर्गुणः पृथक्त्वम् । भेदादिशब्दसमानार्थत्वात् कार्यद्रव्येषु स्वरूपभेद एव पृथक्त्वम्। गुणादिष्विव तद्व्यवहारबुद्धिः, नित्येषु तु धर्म एव, अन्यथा व्यावृत्त्यसिद्धेः, स एव विशेष इत्युच्यते । तेन नित्यानि नित्यसमवायानि अनन्ताश्चेति । एकत्वे भेदासिद्धेः द्विपृथक्त्वादि नास्त्येव, कार्यद्रव्येषु भेदातिरिक्तपृथक्त्वानभ्युपगमादिति । **(८) संयोगः**—युतसिद्धयोः प्राप्तिः संयोगः । सम्बन्धिनोः परस्परविभागाश्रयत्वयोग्यता च युतसिद्धिरिति सामान्यलक्षणम्। नित्येषु तु सम्बन्धिनोर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वं विशेषलक्षणम् । अनित्येषु तु सम्बन्धिनोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वमिति। 'घटपटौ संयुक्तौ'-इत्यादिप्रत्ययश्च संयोगसद्भावे प्रमाणम् । स चैको नित्योऽनित्यसमवायश्च । स च समवाय आश्रयाश्रयिभेदात् क्रियाभेदाच्च भिद्यते । स च रूपादिवदेकद्रव्यनिष्ठः, नानेकद्रव्यनिष्ठः, प्रत्ययस्य संयुक्तविषयत्वात्। **स च त्रिविधः**-अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, संयोगजश्चेति, यथा-स्थाणुश्येनयोः, यथा-मल्लयोः, यथा-तुरीपटयोरिति । संयोगस्य च द्रव्यारम्भकत्वं चरमभाविद्रव्यापेक्षत्वम्, गुणकर्मणोः तत्सापेक्षत्वम्, तत्समवायस्य च तदेकार्थसमवेताद् विभागाद् वा आश्रयविनाशकाद् वा विनाश इति । **(९) विभागः**—संयोगघातकगुणो विभागः । घटपटौ च संयुज्यविभक्तावित्यादि प्रत्ययश्च विभागसद्भावे प्रमाणम् । **विभागश्च त्रिविधः**-अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, विभागजश्चेति । **विभागजस्तु द्विविधः**--कारणविभागजः, कारणाकारण-विभागजश्च। आद्यः वेणुदलविभागजः खदलविभागः । कारणाकारणविभागजश्च अङ्गुलीतरुविभागजनकेन कर्मणा अङ्गुलीतरुविभागः, तेन हस्ततरुविभाग इति । अङ्गुलीसमवेतस्य कर्मणः तत्राकारणत्वात् । विभागश्च सर्वत्रैकोऽनित्यः अनित्यसमवायश्च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रियाभेदादनेकश्च । **स द्विष्ठः** उत्तरसंयोगाद् आश्रयनाशाद् वा विनाशः । **(१०, ११) परत्वापरत्वे**—परापराभिधाननिमित्तं परत्वापरत्वमिति लक्षणम् । अस्मादिदं परम्, अस्मादिदमपरमिति अक्षजप्रत्ययो यथाक्रमं परत्वापरत्वसद्भावे प्रमाणम् । **ते च प्रत्येकं द्विविधे**—दिक्कृतत्वकालकृतत्वभेदेन । ते नित्ये एकत्वे च। समवायोत्पत्तिविनाशौ च समवायिकारणासमवायिकारणापेक्षाबुद्धिनाशात् पृथक् पृथक् क्वचित् द्वाभ्यां द्वाभ्यां क्वचित् सर्वेभ्यश्च इति सप्तधा विनाशः ।

(१२) गुरुत्वम्—गुरुत्वं जलभूम्योः पतनासमवायिकारणम् । उत्क्षिप्तस्य यदूर्ध्वदेशविभागपूर्वकमधोदेशसंयोगजनकं कर्म, तत् **पतनम्** । गुरुत्वं चातीन्द्रियम् । गुरुत्वं च संयोगप्रयत्नसंस्कारप्रतिबन्धेन पतनं जनयति । घोटारूढस्य संयोगात् पतनम्, प्रयत्नात् खचरस्य श्येनादेः, वेगात्तु शरादेः । येषां तोलनतारतम्याद् गुरुत्वतारतम्यधीः, तेषु प्रत्येकं गुरुत्वभेदः। येषु तु सा नास्ति तेष्वेकमेव गुरुत्वम् । पतनलिङ्गानुमानेन गुरुत्वग्रहणम्, 'पतनं गुणासमवायिकारणम्, कर्मत्वात् नमनवदिति वा । तद् रूपादिवन्नित्यम् । समवायस्तु नित्येषु नित्यः, अनित्येषु कारणगुरुत्वसमवायजन्यः आश्रयविनाशकैर्विनाश्यश्च। लघुत्वव्यवहारो गुरुत्वतारतम्यात्, न गुणत्वरूपेणेति ।' **(१३) द्रवत्वम्**—द्रवत्वं स्यन्दनकर्मासमवायिकारणम् । समदेशस्थितस्य यत् समदेशनिम्नदेशान्तरेषु क्षरणम्, तत् स्यन्दनम् । तच्च न प्रयत्ननोदनादिजन्यम्, तेन विनापि जायमानत्वात् । नापि प्रशिथिलावयवसंयोगजम्, तन्तुप्रचितावयवे द्वितूलादौ क्षरणानुत्पादात् । तेन द्रवत्वं नाम गुणान्तरं तदसमवायिकारणम् । **तद् द्विविधं** नैमित्तिकं सांसिद्धिकं च । तद्विशेषगुणः। अन्यत् साधारणम्। भेदोऽनुमेयः । समवायाभिप्रायेण द्वैविध्यं, तेनैकत्वं नित्यत्वं च तस्य अस्ति । समवायस्य नित्यत्वमन्यत्वं च अस्ति जले । अन्यत्राग्निसंयोगादुत्पत्तिः, तद्विनाशाच्च नाशः । अन्यत्र रसादिवत्। यत्तु हिमकरकादौ द्रवत्वानुपलम्भः तद्दिव्यतेजःसंयोगात् । वह्निसंयोगेन च लवणगतद्रवत्वप्रतिबन्धनात्। तेन घनीभूतावयवसंयोगात् करकादेः काठिन्यं, न स्वतः । **(१४) स्नेहः**—स्नेहः संग्रहमृजादिहेतुस्तदनुमेयः । संग्रहः परस्परमसंयुक्तानां सक्त्वादीनां पिण्डीभावप्राप्तिधारणाकर्षणहेतुः संयोगविशेषः । मृजा कायस्योद्वर्तनादिकृता विशुद्धिः । आदिशब्दान्मृदुत्वं च तेषां हेतुः तैरनुमीयते । नापि द्रवत्वमात्रकृतं तद्बीजं काचकाञ्चनादिरिति, द्रवीभूतैरपि सक्त्वादिसंग्रहानुत्पादात्। तेन स्नेहो नाम गुणान्तरम् । स च अपां विशेषगुणः। पार्थिवे तु तैलादावुपष्टम्भकजलगतस्यैव स्नेहस्य संयुक्तसमवायादुपलम्भः शैत्यवत् । स्नेहस्यापि गुरुत्ववदेकत्वाद्यून्नेयम्। **(१५) संस्कारः**—संस्कारस्त्रिविधः वेगो भावना अलौकिकश्च । वेगो नाम मूर्तद्रव्यपञ्चकवृत्तिः नोदनादिनिमित्त-विशेषमपेक्ष्याद्यकर्मज उत्तरकर्मानुमेयस्तद्धेतुः, नोदनकर्मसंयोगानां तदुत्पादकत्वासम्भवात्। तेनोत्तरकर्मासमवायिकारणतया यो गुणोऽनुमीयते, स वेगः। तच्च नोदनादिसहितमाद्यं कर्म जनयति, न केवलं, मन्दगतौ वेगासम्भवात् । नियतदिक्-क्रियासन्तानहेतुर्वेगः प्रायेण कर्मजः । क्वचित्कारणवेगजोऽपि, स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगविनाश्यश्च । स च समवायाभिप्रायः। येषु तु प्रत्येकं द्रुतविलम्बितत्वकृतो गतिकार्यभेदो लक्ष्यते, तेषु तु प्रतिद्रव्यं वेगभेदः, येषु तु न लक्ष्यते तेषु त्वेक एव वेगो नित्यश्च सामान्यवत् । **भावनाख्यस्तु** आत्मगुणोऽनुभवजन्योऽनुभूतेष्वर्थेषु स्मृतिप्रत्यभिज्ञानहेतुस्तदनुमेयः। स च सर्वात्मस्वेक एव लाघवात्। तेन जातिवन्नित्यत्वाद्यून्नेयम् । तस्य च ज्ञानव्यपदेशोऽस्ति। प्रतिभिन्नार्थस्मरणं संस्कारभेदोऽस्तु, न काचित् क्षतिः। वर्णोपलम्भजसंस्कारस्य भावनात्वे सत्यपि अर्थधीकार्याद् वैलक्षण्यमुन्नेयम्। **स्थितस्थापकस्तु नास्त्येव,** पूर्वावस्थाप्रापककर्मणः घनावयवसंयोगस्य कारणत्वसम्भवात्। तेन तदर्थं नानुमेयः संस्कार इति। अलौकिकस्तु शब्दैकगम्यसमवायोत्पत्तिविनाशहेतुका नानाकरणद्रव्यवृत्तिप्रोक्षणादिजन्यः संस्कारः तन्त्रभागे विविक्तः।

(१६) बुद्धिः—अर्थप्रतिबद्धव्यवहारानुकूलस्वभावः पुरुषस्य धर्मविशेषो बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं संविदिति व्यपदिश्यते। सा च यथार्था स्वप्रकाशा फलतोऽनुमेया विप्रतिपन्नबोधाय, सर्वात्मस्वभिन्ना, अहं बुध्ये अहं बुध्ये इत्यभिन्नाकारप्रत्ययात्। तत्समवायस्तु इन्द्रियादिहेतुभेदात् प्रत्यात्मप्रतिविषयं च भिद्यते । समवायापेक्षया तत्र व्यवस्थोपपत्तिः । तेनैका नित्या च। प्रत्यक्षादिव्यवहारश्च समवायकारणतः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१७) सुखम्–अनुग्राहकस्वभावं **सुखम्** । तद् ह्युत्पन्नमात्रं अनुकूलस्वभावतया स्वविषयमनुग्रहरूपमनुभवं कुर्वत् पुरुषमनुगृह्णाति इत्यनुग्राहकस्वभावम् । तच्च आत्ममनस्संयोगादुत्पद्यते । अतीतेषु स्मरणाद्, अनागतेषु सङ्कल्पाद् । दुःखाभावो न, वनितादिष्वधिकानुभवदर्शनादिति । **(१८) दुःखम्**–उपघातकस्वभावं **दुःखम्** । तद्धि उत्पन्नमात्रं प्रतिकूलस्वभावतया स्वविषयमनुभवं कुर्वत् पुरुषम् उपहन्तीत्युपघातकस्वभावम्। तच्चाधर्मसहितादात्ममनस्सन्निकर्षाच्च उत्पद्यते। अतीतेषु स्मृतिजमनागतेषु सङ्कल्पाद् । दुःखफलं दैन्यादि । सुखफलं विकासादि । **(१९) इच्छा**–स्वार्थं परार्थं वा अप्राप्तप्रार्थना **इच्छा** । अप्राप्तस्य वस्तुनः स्वं प्रति या प्रार्थना इदं मे भूयादिति, परार्थं वा या प्रार्थना अस्येदं भवत्विति, सा इच्छा । सापि आत्ममनस्संयोगादुत्पद्यते सुखाद्यपेक्षात् स्मृत्यपेक्षाद्वा। अनागते हि सुखहेतौ इच्छोत्पद्यते, अतीते स्मृत्यपेक्षात् । इच्छाफलानि तु प्रयत्नकृतिधर्माधर्माः। कामादयोऽपि इच्छाभेदा एव । **(२०) द्वेषः**–प्रज्वलनात्मको **द्वेषः** । यस्मिन् सति प्रज्वलितमिवात्मानां मन्यते स द्वेषः । स च आत्ममनस्संयोगाद् दुःखापेक्षात् तत्स्मृत्यपेक्षाद्वोत्पद्यते। तस्य फलं प्रयत्नधर्माधर्मस्मृतिरिति । क्रोधादिः द्वेषभेदः ।

(२१) प्रयत्नः–प्रयत्नः संरम्भ उत्साह इति पर्यायाः । **स द्विविधः**–जीवनपूर्वकः इच्छाद्वेषपूर्वकश्च । सदेहस्य आत्मनो विपच्यमानकर्माशयसहितस्य मनस्संयोगो जीवनम् । तत्पूर्वकप्रयत्नः सुप्तस्य प्राणापानक्रियासन्तानहेतुः। सुप्तस्य प्राणापानक्रिया हि प्रयत्नकार्या, प्राणापानक्रियात्वाद्, जाग्रतः प्राणापानक्रियावत् । तस्य धर्माधर्मापेक्षाद् आत्ममनस्संयोगादुत्पत्तिः। इच्छाद्वेषपूर्वकप्रयत्नस्तु हिताहितप्राप्तिपरिहारयोग्यक्रियाहेतुः गुरुणोऽपि शरीरस्य आपाततो धारणहेतुश्च । स च इच्छाद्वेषापेक्षादात्ममनस्संयोगादुत्पद्यते । **(२२) धर्मः**–विधायकवेदलक्षण आत्मगुणो **धर्मः** । कर्तुस्सुखाभ्युदयमोक्षहेतुः, श्रेयस्करे हि धर्मशब्दः प्रसिद्धः । **स च अपूर्वमेव,** तत्साधने लाक्षणिक इति शास्त्रभेदाद्भेदः । विशुद्धाभिसन्धिसापेक्षादात्ममनस्संयोगादुत्पत्तिः। अन्त्यफलज्ञानाद्विनाशः। **(२३) अधर्मः**–अधर्मोऽपि पुरुषगुणः प्रतिषेधलक्षणः कर्तुरभिहितप्रत्यवायहेतुः। तस्य प्रतिषिद्धकर्मानुष्ठानविहिताकरणप्रमाददुष्टाभिसन्धिसापेक्षाद् आत्ममनस्संयोगादुत्पत्तिरिति ।

४-कर्म :–विभागसंयोगयोः अनपेक्षकारणं कर्म । तत् संयोगविभागानुमेयम् । कार्यभेदादनन्तता, मूर्तद्रव्यैकसमवेतता, एकद्रव्यवृत्तिद्रव्यकर्मणोरनारम्भकता, स्वाश्रयसमवेतकार्यारम्भकता, आशुतरविनाशिता, गुरुत्वद्रवत्वसंयोगवेगप्रयत्नादृष्टकारणकता, स्वकार्यसंयोगविनाश्यता च, आशुतरविनाशिसमवायिता च, एतानि साधर्म्याणि । विभागपूर्वकस्संयोगः कार्यः। तस्मात्संयोगविभागानपेक्षहेतुत्वविधयैकमेव परिस्पन्दात्मकं कर्म । तद्विशेषा एव च उत्क्षेपणादय इति ।

५-सामान्यम्:–नित्यमेकं प्रातिस्विकरूपेण अनित्यद्रव्यैकसमवेतं सामान्यम् । परापरत्वभेदाद् द्वैविध्यं नित्यत्वमेकत्वं च । समवायस्तु अनित्य इति ।

६-संख्याः–एकत्वादिप्रत्ययव्यवहारस्य हेतुस्संख्या । तत्रैकत्वद्वित्वत्रित्वादयो व्यक्तयो जातिवत् सर्वत्रैकैका नित्याश्च, प्रतिभावं तासां भेदप्रमाणाभावात् । समवायास्तु प्रतिभावं भिन्नाः स्वीक्रियन्ते । तत्रैकत्वसमवाय एकाश्रयः । तद्धर्मिमात्राश्रय इति यावत् । स च नित्ये नित्यः, अनित्ये भावहेतुजः, आश्रयनाशकादेव नश्यति । द्वित्वसमवायस्तु अनेकाश्रयः। धर्म्यन्तरसहितधर्म्याश्रय इति यावन् । स तु सर्वत्र अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वादनित्यः । तन्नाशादाश्रयनाशकाद् वा विनश्यति । अपेक्षाबुद्धिर्नाम महासंख्यावगत्यपेक्षासहितं तदाश्रयगतैकत्वसामस्त्यज्ञानमिष्यते। द्वित्वोत्पादिकाया हि अपेक्षाबुद्धेरेकान्तरसहितमेकत्वं विषयः । त्रित्वोत्पादिकायास्तु त्रिसहितमेकत्वं विषयः एव सर्वत्र।

एषा चात्र दर्शनप्रक्रिया-इन्द्रियसन्निकर्षः, ततः एकत्वज्ञानं, ततोऽपेक्षाज्ञानं, ततो द्वित्वोत्पादः, ततो द्वित्वज्ञानं, ततो द्वित्वविशिष्टद्रव्यज्ञानम्, ततस्संस्कार इत्युत्पादक्रमः । विनाशप्रक्रमस्तु, अपेक्षाबुद्धितो द्वित्वोत्पत्तिसमकालं एकत्वबुद्धेर्विनाशः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वित्वबुद्धितो द्रव्यबुद्धिसमकालमपेक्षाबुद्धेर्विनाशः, द्रव्यबुद्धितो द्वित्वबुद्धेर्विनाशः संस्कारस्योत्पादः अपेक्षाबुद्धिविनाशाच्च द्वित्वनाश इत्येकः कालः, संस्काराद् द्रव्यबुद्धेर्विनाश इति । तत्र च प्रमाणं संस्कारे द्वित्वविशिष्टद्रव्यस्मरणम्, द्रव्यज्ञानेऽनुव्यवसायः, द्वित्वज्ञाने तद्विशिष्टद्रव्यज्ञानं, द्वित्वे तज्ज्ञानम् अपेक्षाबुद्धौ तत्कार्यमेकत्वज्ञाने अपेक्षाबुद्धिः, इन्द्रियसन्निकर्षे च एकत्वज्ञानमिति विवेक्तव्यम् । यदा च द्वित्वबुद्धिसमकालमेव द्रव्यनाशः, तदा तत्कालमाश्रयनाशादेव द्वित्वनाश इति । गुणव्यतिरिक्तत्वं गुणकर्मणोः समवायात् । प्रत्यक्षद्रव्येषु प्रत्यक्षा, गुणादिषु च अनुमेया । संख्या न गुणः, गुणकर्मणोराश्रितत्वाच्छक्तिवत्।

६-शक्तिः—सर्वभावनां कार्यानुमेया शक्तिः ।

अकारकदशातोऽग्निः कारकत्वदशासु हि । प्राप्तातिशयसम्बन्धः कारकत्वाद् यथा पुमान् ।।

७—सादृश्यम्—सादृश्यज्ञानात् सदृशविषयधीरुपमा, तद्विषयत्वं सादृश्यम् ।।

८—समवायः—अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां विशेषणविशेष्यभावधीहेतुः यः सम्बन्धः, स समवायः । सोऽनुमेय एव। **प्रयोगस्तु,** समवायोऽनुमेय इन्द्रियसम्बन्धरहितत्वात्, कर्मवत् । संयोगव्यतिरिक्तत्वे अवयवावयव्यादयः परस्परमसम्बन्ध-संयोगरहिता तद्व्यापकरहितत्वाद्, यदित्थं तत्तथा यथा धूमव्यापकाग्निरहितो महाह्रदो धूमरहित इति । समवायश्चानेकः । समवायिनोरेकस्योभयोर्वा अनित्यत्वे अनित्यः नित्ययोर्नित्यः ।

इति गुरुसम्मतपदार्थाः समाप्ताः ।।

(श्री नारायणह्रयीप्रणीतः "मानमेयोदयः" में से साभार स्वीकृत)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट-७ (साक्षीपाठः)

(E-1) "ईर्य्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ।"-**तत्त्वार्थसू० ९।५** । "सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः"-**तत्त्वार्थसू० ९।४** ।

(E-2) "मनोवचनकायानां कृतकारितानुमतैः नव कोटयः ।"

(E-3) तुलना-"उक्तं च-गोपुच्छिकः श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः । निष्पिच्छश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः । ते जैनाभासा आहारदानादिकेऽपि योग्या न भवन्ति कथं मोक्षस्य योग्या भवन्ति । गोपुच्छिकानां मतं, यथा, उक्तं च-इत्थीणं पुण दिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियतं । कक्कसकेसग्गहणं छट्ठं च गुणव्वदं नाम ॥ श्वेतवाससः सर्वत्र भोजनं गृह्णन्ति प्रासुकं-मांसभक्षिणां गृहे दोषो नास्तीति वर्णलोपः कृतः । तन्मध्ये श्वेताम्बराभासा उत्पन्नास्ते त्वतीव पापिष्ठाः देवपूजादिकं किल पापकर्मेदमिति कथयन्ति, मण्डलवत्सर्वत्र भाण्डप्रक्षालनोदकं पिबन्ति इत्यादि बहुदोषवन्तः द्राविडाः सावद्यं प्रासुकं च न मन्यन्ते उद्भभोजनं निराकुर्वन्ति । यापनीयास्तु वेसरा इवोभयं मन्यन्ते, रत्नत्रयं पूजयन्ति, कल्पं च वाचयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं, केवलिजिनानां, कवलाहारं. परशासने सग्रन्थानां मोक्षं च कथयन्ति । निष्पिच्छीका मयूरपिच्छादिकं न मन्यते ।" षट्प्रा० टी०-दर्शनप्रा० पृ० ११ ।

(E-4) "कागा मेज्झा छद्दी रोहण रुहिरं च अस्सुवादं च । जण्हूहिट्ठामरिसं जण्हूवरि वदिक्कमो चेव ॥ नाभिअधोणिग्गमणं पच्चक्खियसेवणा य जंतुवहो । कागादिपिंडहरणं पाणीदो पिंडपडणं च ॥ पाणीए जंतुवहो मंसादीदंसणे य उवसग्गो । पादंतरम्मि जीवो संपादोभायणाणं च ॥ उच्चारं पस्सवणं अभोजगिहपवेसणं तहा पडणं । उववेसणं सदंसः । भूमिसंस्पर्शः निष्ठीवनं ॥ उदरक्किमिणिग्गमणं अदत्तगहणं पहारगामडाहो । पादेण किंचि गहणं करेण वा जं च भूमीए ॥"-**मूलाचा० पिण्ड० गा० ७६-८०** ।

(E-5) "णहरोमजंतुअट्ठी - कणकुंडयपूयिचम्मरुहिरमांसाणि । बीयफलकन्दमूला छिण्णाणि मला चउद्दसा होंति ॥"-**मूलाचा० पिण्ड० गा० ६५** ।

(E-6) "चोत्तीसं बुद्धाइसेसा पणत्ता तं जहा अवट्ठियकेसमंसुरोमनहे १ निरामया निरुवलेपा गायलट्ठी २ गोक्खीरपुंडुरे मंससोणिए ३ पउमुप्पलगंधिए उस्सासनिस्सासे ४ पच्छन्ने आहारनीहारे अदिस्से मंसचक्खुणा ५ आगासगयं चक्कं ६ आगासगयं छतं ७ आगासगयाओ सेयवरचामराओ ८ आगासफालियामयं सपायपीढं सीहासणं ९ आगसगओ कुरुभीसहस्सपरिमं याभिरामो इंदज्झओ पुरओ गच्छइ १० जत्थ जत्थ वि य णं अरहंता भगवंता चिट्ठंति वा निसीयंति वा तत्थ तत्थ वि य णं तक्खणादेव सच्छन्नपत्तपुप्फपल्लवसमाउलो सच्छत्तो सज्झओ संघटो सपभागो असोगवरपायवे अभिसंजायइ ११ ईसिं पिट्ठओ मउ ट्ठाणम्मि तेयमंडलं अभिसंजायइ अंधकारे वि य णं दस दिसाओ पभासेइ १२ बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे १३ अहोसिरा कंटया जायंति १४ उऊविवरीया सुहफासा भवंति १५ जुत्तफुसि एणं मेहेण य निहयरयरेणू पकिज्जइ १७ जलथलयभासुरपभूतेणं विंटट्ठावियदसद्धवन्नणंकुसुमेणं जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुप्फोवयारे किज्जइ १८ अमणुन्नाणं सद्दफरिसरसरूवगंधाणं अवकरिसो भवइ मणुन्नाणं सद्दफरिसरूवरसगंधाणं पाउब्भाओ भवइ १९ उभओ पासि च णं अरहंताणं भगवंताणं दुवे जक्खा करुगतुरियथंभियभुया चामरुक्खेवणं करंति २० पव्वाहरओ वि य णं हिययगमणीयो जोयणनीहारो सरो २१ भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ २२ सा विय णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुपयचउप्पयमियपसुपक्खिसरीसिवाणं अप्पप्पणो हियसिवसुह दाए भासताए परिणमइ २३ पुव्वबद्धवेरा वि य णं देवासुरनागसुवणजक्खरक्खसकिंनरकिंपुरिसगंधव्वमहोरगा अरहओ पायमूले पसंतचितमाणसा धम्मं निसामंति २४ अन्नतित्थियपावयणिया वि य समागया वदंति २५ आगया समाणा अरहओ पायमूले निप्पडिवयणा हवंति २६ जओ जओ वि य णं अरहंतो भगवंतो विहरंति तओ तओ वि य णं जोयणपणवीसाएणं ईति न भवइ २७ मारी न भवइ २८ सचक्कं न भवइ २९ परचक्कं न भवइ ३० अइवुट्ठी न भवइ ३१ अणावुट्ठी न भवइ ३२ दुब्भिक्खं न भवइ ३३ पुव्वुपन्ना वि य णं उप्पाइया बाहीखिप्पा मेव उपसमंति ३४।" **सम० ३५।**

(E-7) "कः दुःखं प्राप्नुयात् तस्य च सुखैः विस्मयो भवेत्। कश्च न लभेत् मोक्षं रागद्वेषौ यदि न भवेताम्"

(E-8) "महाभूतचतुष्टयमुपलब्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वात्... सावयवत्वात्."-**प्रशस्त० कन्द० पृ० ५४। प्रश० व्यो० पृ० ३०१। वैशे० उप० पृ० ६२।** "शरीरानपेक्षोत्पत्तिकं बुद्धिमत्पूर्वकम् कारणत्वात्... द्रव्येषु सावयवत्वेन तद्गुणेषु कार्यगुणत्वेन कर्मसु कर्मत्वेनैव तदनुमानात्।" प्रशस्त० किरणा० पृ० ९७। न्यायली० पृ० २०। **न्यायमुक्ता० दिन० पृ० २३**। "विवादाध्यासिताः तनु-तरुमहीधरादयः उपादानाभिज्ञकर्तृका उत्पत्तिमत्त्वात् अचेतनोपादनत्वाद्वा... यथा प्रासादादि। न चैषामुत्पत्तिमत्त्वमसिद्धम् सावयवत्वेन वा महत्वे सति क्रियावत्वेन वा वस्त्रादिवत्तत्सिद्धेः।" **न्यायवा० ता० टी० ५९८। न्यायमं० पृ० १९४।** "कार्याप्रयोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः। वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यः विश्वविदव्ययः ॥१॥" **न्यायकुसु० पञ्चमस्त०। वत्त्वे का भ० २।**

(E-9) "बोधाधारे अधिष्ठातरि साध्ये न साध्यविकल्पत्वं नापि विरुद्धत्वम्। न चात्र बोधाधारकारणत्वकार्यत्वयोः सामान्यव्याप्तेर्व्याघातः शक्यसाधनः विशेषेण तु व्याप्तिविरहादसाधनत्वे धूमस्याप्यसाधनत्वप्रसङ्गः।"-प्रश० व्योम० पृ० ३०२। "किंच व्याप्त्यनुसारेण कल्प्यमानः प्रसिद्ध्यति। कुलालतुल्यः कर्तेति स्याद्विशेषविरुद्धता॥ व्यापारवानसर्वज्ञः शरीरी क्लेशसंकुलः। घटस्य यादृशः कर्ता तादृगेव भवेद् भुवः॥ विशेषसाध्यतायां च साध्यशून्यं निदर्शनम्। कर्तृसामान्यसिद्धौ तु विशेषावगतिः कुतः॥" (पृ० १७५) "यदपि विशेषविरुद्धत्वमस्य प्रतिपादितं तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, विशेषविरुद्धस्य हेत्वाभासस्याभावात्, अभ्युपगमे वा सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्।"-**न्यायमं० प्रमाण० पृ० १८२। प्रशस्त० कन्द० पृ० ५५।**

(E-10) "यथा च कुलालः सकलकलशादिकार्यकलापोत्पत्तिसंविधानप्रयोजनाद्यभिज्ञौ भवस्तस्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कार्यचक्रस्य कर्ता तथेयतस्त्रैलोक्यस्य निरवधिप्राणिसुखदुःखसाधनस्य सृष्टिसंहारसंविधानं संप्रयोजनं बहुशाखं जानन्नेव स्रष्टा भवितुमर्हति महेश्वरस्तस्मात्सर्वज्ञः ।"-न्यायमं० प्रमाण० वृ० १८४ ।

(E-11) "अथास्य बुद्धिनित्यत्वे किं प्रमाणमिति । नन्विदमेव बुद्धिमत्कारणाधिष्ठिताः परमाणवः प्रवर्तन्त इति ।" **न्यायवा० पृ० ४६४** । तस्य हि ज्ञानक्रियाशक्ती नित्ये इति ऐश्वर्यं नित्यम् । न्यायवा० ता० टी० पृ० ५९७ । नित्यं तज्ज्ञानं कथमिति चेत् तस्मिन् क्षणमप्यज्ञातरि सति तदिच्छाप्रेर्यमाणकर्माधीन-नानाप्रकारव्यवहारविरामप्रसङ्गात् ।"-**न्यायमं० प्रमाण० पृ० १८४** ।

(E-12) "अत एवैक ईश्वर इष्यते न द्वौ बहवो वा भिन्नाभिप्रायतया लोकानुग्रहोपघातवैशसप्रसङ्गात्, इच्छाविसंवादसंभवेन च ततः कस्यचित्संकल्पविघातद्वारकानैश्वर्यप्रसङ्गाद् इत्येक एवेश्वरः ।"-न्यायमं० **प्रमाण० पृ० १८७** ।

(E-13) तुलना "यत्तावत् क्षित्यादेर्बुद्धिमद्धेतुकत्वसिद्धये कार्यत्वं साधनमुक्तम्, तत्किं सावयवत्वम्, प्रागसतः स्वकारणसत्तासमवायः, कृतम् इति प्रत्ययविषयत्वम्, विकारित्वं वा स्यात् ?" **न्यायकुमु० पृ० १०१ । प्रमेयरत्नमा० पृ० ६४ ।**

(E-14) तुलना "नापि प्रागसतः स्वकारणसत्तासंबन्धः कार्यत्वम्, तत्संबन्धस्य समवायाख्यस्य नित्यत्वेन कार्यलक्षणत्वायोगात् ।" **न्यायकुमु० पृ० १०१ ।**

(E-15) "तदा योगिनामशेषकर्मक्षये पक्षान्तः पातिनि हेतोः कार्यत्वलक्षणस्याप्रवृत्तेर्भागासिद्धत्वम् । न च तत्र सत्तासमवायः स्वकारणसमवायो वा समस्ति, तत्प्रक्षयस्य प्रध्वंसरूपत्वेन सत्तासमवाययोर-भावात् सत्ताया द्रव्यगुणक्रियाधारत्वाभ्यनुज्ञानात् समवायस्य च परैर्द्रव्यादिपञ्चपदार्थवृत्तित्वाभ्युपगमात् ।" **प्रमेयरत्नमा० सू० २।१२ ।**

(E-16) "तत्रापि खननोत्सेचनात् कृतमिति गृहीतसंकेतस्य कृतबुद्धिसंभवात् ।"-**प्रमेरत्नमा० सू० २।१२ ।**

(E-17) "अस्तु वा यथाकथंचिज्जगतः कार्यत्वम्, तथापि किं कार्यमात्रमत्र हेतुत्वेन विवक्षितम्, तद्विशेषो वा ।" **न्यायकुमु० पृ० १०२ ।**

(E-18) "तत्र अकृत्रिमभूभागादिसंस्थानसारूप्यस्य कृतबुद्धेरनुत्पादकस्य सद्भावतः तदनुत्पादस्योपपत्तेः । सिद्ध्यतु वा, तथाप्यसौ विरुद्धः ।" **न्यायकुमु० पृ० १०३ ।**

(E-19) "अकृष्टप्रभवैस्तरुतृणादिभिर्व्यभिचारी चायं हेतु ।" **न्यायकुमु० पृ० १०४ ।**

(E-20) "अस्तु वा तत्सद्भावः, तथापि अस्याऽदृश्यत्वे शरीराभावः कारणम्, विद्यादिप्रभावः, जातिविशेषो वा ।" **न्यायकुमु० पृ० १०५ । स्या० रत्ना० पृ० ४३३ ।**

(E-21) "अशरीरो ह्यधिष्ठाता नात्मा मुक्तात्मवत् भवेत् ॥७८॥" **मीमांसाश्लो० पृ० ६६०** । "तस्यापि वितनुकरणस्य तत्कृतेरसंभवात् ।" **अष्टश० अष्टसह० पृ० २७१** । "तत्संबन्धरहितस्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुक्तात्मन इव जगत्कर्तृत्वानुपपत्तेः ।" **सन्मति० टी० पृ० ११९ ।**

(E-22) "अस्तु वादृश्योऽसौ तथापि सत्तामात्रेण, ज्ञानवत्त्वेन, ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्वेन, तत्पूर्वकव्यापारेण ऐश्वर्येण वा क्षित्यादेः कारणं स्यात् ?" **न्यायकुमु० पृ० १०६ ।**

(E-23) "ऐश्वर्यमपि ज्ञातृत्वम्, कर्तृत्वम्, अन्यद्वा स्यात् ?" **न्यायकुमु० पृ० १०६ ।**

(E-24) "किंच, ईश्वरस्य जगन्निर्माणे यथारुचि प्रवृत्तिः, कर्मपारतन्त्र्येण, करुणया, धर्मादिप्रयोजनोद्देशेन, क्रीडया, निग्रहानुग्रहविधानार्थम्, स्वभावतो वा ?" **न्यायकुमु० पृ० १०७ ।** "अभावाच्चानुकम्प्यानां नानुकम्पास्य जायते । सृजेच्च शुभमेवैकमनुकम्पाप्रयोजितः ॥५३॥"-**मीमांसाश्लो० पृ० ६५२ । तत्त्वसं० पृ० ७६ । सन्मति० टी० पृ० १३० । स्या० रत्ना० पृ० ४४७ ।**

(E-25) "क्रीडार्थायां प्रवृत्तौ च विहन्येत कृतार्थता ॥५६॥" **मीमांसाश्लो० पृ० ६५३ । तत्त्वसं० पृ० ७७ ।**

(E-26) "बोधो न वेधसो नित्यो बोधत्वादन्यबोधवत् । इति हेतोरसिद्धत्वान्न वेधाः कारणं भुवः ॥१२॥"-**तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३६० ।**

(E-27) "तथापि शास्त्राणां प्रमाणेतरव्यवस्थाविलोपः सर्वशास्त्रं प्रमाणमेव स्यात् ईश्वरप्रणीतत्वात् तत्प्रणीतप्रसिद्धशास्त्रवत् ॥" **न्यायकुमु० पृ० १०८ ।**

(E-28) "प्रतिवाद्यादिव्यवस्थाविलोपश्च सर्वेषामीश्वरादेशविधायित्वात् ।"-**न्यायकुमु० पृ० १०८ ।**

(E-29) "सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः । निराकरणवच्छक्त्या न चासीदिति कल्पना ॥११७॥"-**मीमां० श्लो० सू० २, पृ० ८१ ।** "सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः । दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥३१८६॥"-**तत्त्वसं० ।**

(E-30) "न चागमेन सर्वज्ञः तदीयेऽन्योन्यसंश्रयात् । नरान्तरप्रणीतस्य प्रामाण्यं गम्यते कथम् ॥११८॥ न चाप्येवं परो नित्यः शक्यो लब्धुमिहागमः । नित्यश्चेदर्थवादत्वं तत्परे स्यादनित्यता ॥११९॥"-**मी० श्लो० प्रत्यक्षसू० ।**

(E-31) "सर्वज्ञसदृशः कश्चिद् यदि दृश्येत सम्प्रति । तदा गम्येत सर्वज्ञसद्भाव उपमाबलात् ॥३२१५॥"-**तत्त्वसं० पृ० ८३८ ।**

(E-32) "उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः । अन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञ्यं यदि नो भवेत् ॥३२१७॥ प्रत्यक्षादौ निषिद्धेऽपि सर्वज्ञप्रतिपादके । अर्थापत्त्यैव सर्वज्ञमित्थं यः प्रतिपद्यते ॥३२१८॥"-**तत्त्वसं० पृ० ८३८ ।**

(E-33) "साम्प्रतं सामटयज्ञटयोर्मतेन पुनरपि सर्वज्ञदूषणमाह... युगपच्छुच्यशुच्यादिस्वभावानां विरोधिनाम् । ज्ञानं नैकधिया दृष्टं भिन्ना वा गतयः क्वचित् ॥३२४९॥ भूतं भवद्भविष्यच्च वस्त्वनन्तं क्रमेण कः । प्रत्येकं शक्नुयादद्धोद्धुं वत्सराणां शतैरपि ॥३२५०॥" **तत्त्वसं० पृ० ८४४ ।** "अपि च सर्वं न क्रमेण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शक्यावगमम्, आनन्त्यात् । न हि पूर्वापरकोटिविरहिणो ज्ञेयस्योत्पादवतः परिनिष्ठास्ति । न यौगपद्येन, आनन्त्यादेव । इयत्तानवधारणे सर्वैकदेशप्रतिपत्त्योरविशेषात् । अतो नानन्त्याकारमेकं ज्ञानं, अनन्तानि वा युगपद् ज्ञानानि । अपि चानन्त्यमेव सर्वज्ञत्वे तदवधारणं न संभवति । तथाहि-सर्वा व्यक्तयोऽवधारिताश्चेत्तावत्य एव नानन्ताः । अनवधारणे ह्यनन्तत्वं तासां तदनवधारणं चानन्तमिति कथं तदवधारणम् ?" **विधिवि० पृ० १९९** । "अशुच्यादिरसंवादसङ्गमश्चानिवारितः । प्राप्यकारीन्द्रियत्वे च सर्ववित् कथमुच्यते ॥३५९॥ युगपत्सर्वविज्ञानेऽनादिसंसारता कथम् । यस्मिन् परिसमाप्तिज्ञः स एवात्रादिरुच्यते ॥३७०॥" **प्र० वार्तिकाल० पृ० ५०** ।

(E-34) "अथवा प्रत्युत्पन्नाकारमेव ज्ञानमतीतानागताकारमपि वा । पूर्वत्र सर्वस्यातथाभावान्मिथ्या । उत्तरत्राऽतीतादिरूपकल्पनाप्रवृत्तत्वान्न प्रत्यक्षम् । सर्वं वा ज्ञानकाले प्रत्युत्पन्नात्मना ज्ञायेत, तथावस्थं वा । पूर्वस्मिन्मिथ्यात्वम् । उत्तरत्र न सर्वं प्रत्यक्षमवस्थान्तराप्रत्यक्षीकरणात् ।" **विधिवि० पृ० ५९८** । "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥२५॥ यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजम्, एतद्धि वर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः । अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवदिति, यत्र काष्ठाप्राप्तिज्ञानस्य स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष इति ।" **योगसू० व्यासभा० १।२५** । "प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः ।" **प्रमाणमी० अ० १, आ० १, सू० १६** ।

(E-35) "अभ्यासेन विशेषेऽपि लङ्घनोदकतापवत् । स्वभावातिक्रमो मा भूदिति चेदादितः स चेत् ॥१२२॥ पुनर्यत्नमपेक्षेत यदि स्याच्चास्थिराश्रयः । विशेषो नैव वर्द्धेत स्वभावश्च न तादृशः ॥१२३॥" **प्र० वा० १।१२२-१२३** । **तत्त्वसं० पृ० ८९२** ।

(E-36) "सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा । अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥" आप्तमी० ५ । "ततोऽन्तरिततत्त्वानि प्रत्यक्षाण्यर्हतोऽञ्जसा । प्रमेयत्वाद्यथास्मादृक् प्रत्यक्षार्थाः सुनिश्चिताः ॥८८॥" **आप्तप० श्लो० ८८** ।

(E-37) "सूक्ष्माद्यर्थोपदेशो हि तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकः । परोपदेशलिङ्गाक्षानपेक्षावितथत्वतः ॥९॥" **तत्त्व० श्लो० पृ० ११** । "सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः अनुपदेशलिङ्गान्वयव्यतिरेकपूर्वका-विसंवादिनष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखदुःखग्रहोपरागाद्युपदेशकरणान्यथानुपपत्तेः ।" बृहत्सर्वज्ञसि० पृ० १३० । "यो यद्विषयानुपदेशालिङ्गान्वयव्यतिरेकाविसंवादिवचनानुक्रमकर्ता स तत्साक्षात्कारी यथा अस्मदादिर्यथोक्तजलशैत्यादिविषयवचनरचनानुक्रमकारी तद्द्रष्टा नष्टमुष्ट्यादिविषयानुपदेशलिङ्गान्वय-व्यतिरेकाविसंवादिवचनरचनानुक्रमकर्ता च कश्चिद्विमत्यधिकरणभावापन्नः पुरुष इति ।" **लघुसर्वज्ञसि० पृ० १०७** । **सन्मति० टी० पृ० ६५** । **न्यायवि० वि० द्वि० पृ० २९७** ।

(E-38) "अतीन्द्रियार्थदर्शिनो हि बाधकं प्रमाणं प्रत्यक्षम् अनुमानादि अभावो वा स्यात् ?" **न्यायकुमु० पृ० ८९** ।

(E-39) "न तावत् प्रत्यक्षं बाधकम्, तस्यातद्विषयत्वात् ।" **तत्त्वसं० प० पृ० ८४८** ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(E-40) "कारणं व्यापकाभावे निवृत्तिश्चेह युज्यते। हेतुमद्व्याप्तयोस्तस्मादुत्पत्तेरेकभावतः ॥३२७१॥ कुशानुपादपाभावे धूमाभ्रादिनिवृत्तिवत्। अन्यथाऽहेतुतैव स्यान्नानात्वं च प्रसज्यते ॥३२७२॥" **तत्त्वसं० प० पृ० ८५१।**

(E-41) "नाप्यनुमानम्, धर्मि-साध्यसाधनानां स्वरूपाप्रसिद्धेः, तदबाधके ह्यनुमाने धर्मित्वेन, सर्वज्ञोऽभिप्रेतः सुगतः, सर्वपुरुषाः वा ? यदि सर्वज्ञः तदा किं तत्र साध्यम्-असत्त्वम्, असर्वज्ञत्वं वा। यद्यसत्त्वम्, किं तत्र साधनम्-अनुपलम्भः, विरुद्धविधिः, वक्तृत्वादिकं वा। यद्यनुपलम्भः, स किं सर्वज्ञस्य, तत्कारणस्य, तत्कार्यस्य, तद्व्यापकस्य वा। यदि सर्वज्ञस्य सोऽपि किं स्वसम्बन्धी, सर्वसम्बन्धी वा। स्वसम्बन्धी चेत्, सोऽपि किं निर्विशेषणः उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वविशेषणो वा ?" **न्यायकुमु० पृ० ९१ स्या० रत्ना० पृ० ३८२** । किं स्वोपलम्भनिवृत्तिस्त्वया सर्वज्ञाभावसिद्धयेऽनुपलम्भोऽभिप्रेतः । आहोस्वित्सर्वपुरुषोपलम्भनिवृत्तिः। अनुपलम्भोऽपि किं निर्विशेषणोऽभीष्ट उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्येत्येतस्य विशेषणस्यानाश्रयणात्। आहोस्वित् सविशेषेण इति। **तत्त्वसं० प० पृ० ८५०।**

(E-42) "सर्वसंबन्धिसर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम्। न चक्षुरादिभिर्वेद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत् ॥" **त० श्लो० पृ० १४।**

(E-43) "तथाहि-कश्चिदात्मा सकलार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावकत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्ध-प्रत्ययत्वात्।" **न्यायकुमु० ९१। प्रमेयक० २५५। स्या० रत्ना० पृ० २७०। प्रमेयरत्नमा० २।१२।**

(E-44) "नापि विरुद्धविधिः यतः साक्षात्, परम्परया वा विरुद्धस्य विधिः सर्वज्ञाभावं प्रसाधयेत्।" **-न्यायकुमु० पृ० ९२।**

(E-45) "यद्वा-अर्थान्तरस्य साक्षात्पारम्पर्येण वा विरुद्धस्यैव विधानात्तन्निषेधः, नाविरुद्धस्य, तस्य तत्सहभावसंभवात्। यथा-नास्त्यत्र शीतस्पर्शो वह्नेरिति साक्षाद्विरुद्धस्य वह्नेर्विधानाच्छीतस्पर्शनिषेधः, तद्वत्सर्वज्ञनिषेधेऽपि स्यात्।" **तत्त्वसं० पृ० ८५२। न्यायकुमु० पृ० ९२।**

(E-46) "अयं च वक्तृत्वाख्यो हेतुः यस्य ज्ञेयप्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणा इत्यत्रादिशब्देनाक्षिप्त एवेति।.. तदत्रादिपदाक्षिप्तो वक्तृत्वे योऽभिमन्यते। निश्चयं व्यतिरेकस्य परस्परविरोधतः ॥३३५९॥" **तत्त्वसं० पृ० ८८१।**

(E-47) "किं च, सर्वविदः प्रमाणविरुद्धार्थवक्तृत्वं हेतुत्वेन विवक्षितम्, तद्विपरीतम् वक्तृत्वमात्रं वा।" **न्यायकुमु० पृ० ९३। प्रमेयक० पृ० २६३। सन्मति० टी० पृ० ४५। स्या० रत्ना० पृ० ३८४। प्रमेयरत्न० पृ० ५७।**

(E-48) "उक्त्यादेर्दोषसंक्षयः। नेत्येके व्यतिरेकोऽस्य संदिग्धाव्यभिचार्य्यतः।" प्र० वा० १।१४३ "उच्यते यदि वक्तृत्वं स्वतन्त्रं साधनं मतम्। तदानीमाश्रयासिद्धः सन्दिग्धासिद्धताऽथवा ॥३३७१॥ अस्य चार्थस्य सन्देहात्सन्दिग्धासिद्धता स्थिरा।" **तत्त्वसं० पृ० ८८४।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(E-49) "स सर्ववित् स लोकवित् इत्यादेः हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः इत्यादेश्च आगमस्य।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४५। "हिरण्यगर्भं। प्रकृतस्य सर्वज्ञः।" **न्यायकुमु० पृ० ८७। सन्मति० टी० पृ० ४६। स्या० रत्ना० पृ० ३६४। शास्त्रवा० टी० पृ० ४९ पू०। बृ० सर्वज्ञसि० पृ० १३३।**

(E-50) "नोपमानमशेषाणां नृणामनुपलम्भतः। उपमानोपमेयानां तद्बाधकमसम्भवात्।" **आप्तप० श्लो० १०१। न्यायकुमु० पृ० ९४। तत्त्वसं पृ० ९१७।**

(E-51) "नार्थापत्तिरसर्वज्ञं जगत्साधयितुं क्षमा। क्षीणत्वादन्यथाभावाभावात्तत्तदबाधिका॥" **आप्तप० श्लो० १०२। न्यायकुमु० पृ० ९४।**

(E-52) "अभावोऽपि प्रमाणं ते निषेध्याधारवेदने। निषेध्यस्मरणे च स्यान्नास्तिताज्ञानमञ्जसा ॥१०५॥ न चाशेषजगज्ज्ञानं कुतश्चिदुपपद्यते। नापि सर्वज्ञसंवित्तिः पूर्वं तत्स्मरणं कुतः ॥१०६॥ येनाशेषजगत्यस्य सर्वज्ञस्य निषेधनम्।" **आप्तप० श्लो० १०५-६। न्यायकुमु० पृ० ९६। त० श्लो० पृ० १४।**

(E-53) "तटस्थस्य हि संवित्तौ न रागित्वादिसंभवः। अनेनाशुचिरसादिवेदनेऽपि दोषः प्रत्युक्तः। अपवित्रत्वयोगः स्यादिन्द्रियेणास्य वेदने। कर्मजेन न चान्येन भावनाबलभाविना ॥५७६॥"-**प्र० वार्तिकाल० पृ० ३३०।** "तस्मान्न विषयानुभवः केवल एव सुखदुःखहर्षविषादामर्षादिहेतुः। किन्तु कारणान्तरसहितः। तच्च कर्मैव भवितुमर्हति। तच्च निरस्ताशेषदोषावरणस्य नास्तीति केवलो विषयानुभवस्तस्योपेक्षामेव सर्वत्र जनयति न सुखदुःखादिकम्। निःशेषदोषावरणविश्लेषं च समर्थयिष्यामः।" **बृहत्सर्वज्ञसि० पृ० १७९। प्रमेय० पृ० २६०।**

(E-54) "एकज्ञानक्षणव्याप्तनिःशेषज्ञेयमण्डलः। प्रसाधितो हि सर्वज्ञः क्रमो नाश्रीयते ततः ॥३६२७॥" **तत्त्वसं० पृ० ९२९।** ततोऽस्य वीतरागत्वे सर्वार्थज्ञानसंभवः। समाहितस्य सकलं चकास्तीति विनिश्चितम् ॥३२९॥ इति चेन्नाक्रमेणैव सर्वार्थानां प्रवेदनात्। **प्र० वार्तिकाल० पृ० ३३०।**

(E-55) "न चैकेन ज्ञानेन परिच्छिन्नानीत्येतावता वस्तूनामात्मस्वभावहानिः। येन तान्येकज्ञानपरिच्छेदवशादनन्तत्वमात्मस्वभावं जह्युः। यत एवासौ पर्यन्ततया न गृह्णाति तत एव सर्वज्ञो भवति। अन्यथाऽनन्तं वस्त्वन्तवत्त्वेन गृह्णन् भ्रान्तो भवेत्।"-**तत्त्वसं० प० पृ० ९३०। न्यायकुमु० पृ० ९६।**

(E-56) "तदस्ति सुनिश्चितासम्भवाद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्॥" **लघी० स्व० श्लो० ४। सिद्धिवि०। अष्टश०, अष्टसह० पृ० ४४। आप्तप० पृ० २२६। त० श्लो० पृ० १८५। प्रमाणनि० पृ० २९। प्र० मी० पृ० १४।**

(E-57) "ण बलाउसाउअट्ठेणसरीस्सुवचयट्ठं तेजट्ठं। णाणट्ठं संजमट्ठंझाणट्ठं चेव भुंजेज्जो ॥६२॥" **मूलाचा० ६।६२।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(E-58) "एगेण कारणेण दु सादस्सेव दुणिरंतरो उदओ। तेणासादणिमित्ता परीसहा जिणवरेणत्थि ॥" **गो० कर्म० गा० २७५ ।** "घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् । यथा विषद्रव्यं मन्त्रौषधिबलादुपक्षीणमारणशक्तिकमुपयुज्यमानं न मरणाय कल्प्यते तथा ध्यानानलनिर्दग्धघातकर्मेन्धनस्यानन्ताप्रतिहतज्ञानादिचतुष्टयस्यान्तरायाभावन्निरन्तरमुपचीयमानशुभपुद्गलसन्ततेर्वेदनीयाख्यं कर्म सदपि प्रक्षीणसहायबलं स्वयोग्यप्रयोजनोत्पादानं प्रत्यसमर्थमिति क्षुधाद्यभावः, तत्सद्भावोपचारात् ध्यानकल्पनवत्।" त० वा० ९।११ । "अविकलसामर्थ्यं ह्यसातादिवेदनीयं स्वकार्यकारि, सामर्थ्यवैकल्यं च मोहनीयकर्मणो विनाशात्सुप्रसिद्धम्। यथैव हि पतिते सैन्यनायकेऽसामर्थ्यं सैन्यस्य तथा मोहनीयकर्मणि नष्टे भगवत्यसामर्थ्यमघातिकर्मणाम् । यथा च मन्त्रेण निर्विषीकरणे कृते मन्त्रिणोपभुज्यमानमपि विषं न दाहमूर्च्छादिकं कर्तुं समर्थम् तथा असातादिवेदनीयं विद्यमानोदयमप्यसति मोहनीये निःसामर्थ्यत्वान्नक्षुद्दुःखकरणे प्रभुसामग्रीतः कार्योत्पत्तिप्रसिद्धेः ।" **प्रमेयक० पृ० ३०३ । न्यायकुमु० पृ० ८५९ । रत्नक० टी० पृ० ६ । प्रव० टी० पृ० २८ ।**

(E-59) "नापि क्षुद्वेदना प्रतीकारार्थं, अनन्तसुखवीर्ये भगवत्यस्याः सम्भवाभावस्योक्तत्वात् ।" **प्रमेयक० पृ० ३०६ । न्यायकुमु० पृ० ८६० ।** "यदि क्षुधाबाधास्ति तर्हि क्षुधाक्षीणशक्तेरनन्तवीर्यं नास्ति, तथैव क्षुधा दुःखितस्य अनन्तसुखमपि नास्ति ।" **प्रव० टी० पृ० २८ ।**

(E-60) "नापि ज्ञानादिसिद्ध्यर्थम्, यतो ज्ञानं तस्याखिलार्थविषयमक्षयस्वरूपम्, संयमश्च यथाख्यातः सर्वदा विद्यते ।" **प्रमेयक० पृ० ३०६ ।**

(E-61) "नापि आयुषोऽसाधितमुक्तिकस्य अपवर्तननिवृत्त्यर्थम्, चरमोत्तमदेहानामनपवर्त्यायुष्कत्वादेव तथाविधस्यास्य अपवर्तनानुपपत्तेः ।"-**न्यायकुमु० पृ० ८६३ । प्रमेयक० पृ० ३०६ ।**

(E-62) "अस्ति च केवलिभुक्तिः समग्रहेतुर्यथा पुरा भुक्तेः । पर्याप्तिवेद्यतैजसदीर्घायुष्कोदयो हेतुः । नष्टानि न कर्माणि क्षुधो निमित्तं विरोधिनो न गुणाः । ज्ञानादयो जिने किं सा संसारस्थितिर्नास्ति ।" **केवलिभु० श्लो० १-२ । सन्मति टी० पृ० ६१२ । स्या० २ पृ० ४७४ । आध्यात्मिक० पृ० ६३ ।** "अस्ति केवलिनो भुक्तिः समग्रसामग्रीकत्वात् पूर्वभुक्तिवत् । सामग्री चेयं प्रक्षेपाहारस्य, तद्यथा पर्याप्तत्वं वेदनीयोदयः आहारपक्तिनिमित्तं तैजसशरीरं दीर्घायुष्कत्वं चेति ।" **सूत्रकृ० शी० पृ० ३४५ । युक्तिप्र० पृ० १५३**

(E-63) "न च दग्धरज्जुसंस्थानीयत्वात् तस्य स्वकार्याजनकत्वम् तत एव सातवेदनीयस्यापि स्वकार्याजनकत्वप्रसक्तेः सुखानुभवस्यापि भगवत्यभावप्रसङ्गात् । यथा च दग्धरज्जुसंस्थानीयायुष्कर्मोदयकार्यं प्राणादिधारणं भगवति तथा प्रकृतमप्यभ्युपगम्यता विशेषाभावात्।" **सन्मति० टी० पृ० ६१५ । स्या० रत्ना० पृ० ४६५ ।**

(E-64) "तम इव भासो वृद्धौ ज्ञानादीनां च तारतम्येन । क्षुध् हीयतेऽत्र न च तद् ज्ञानादीनां विरोधगतिः ॥" **केवलिभुक्तिप्र० श्लो० ३ । स्या० रत्ना० पृ० ४७४ ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(E-65) "अनुदीर्णवेद्य इति चेद् न क्षुदवीर्यं किमत्र नहि वीर्यम्। क्षुदभावे क्षुदभावेन स्थित्यै क्षुधि तनोर्विलयः ॥" **केवलिभुक्ति प्र० श्लो० १५ ।**

(E-66) "न क्षुद् विमोहपाको यत् प्रतिसंस्थानभावननिवर्त्या। न भवति विमोहपाकः सर्वोऽपि हि तेन विनिवर्त्यः ॥" **केवलिभुक्तिप्र० श्लो० ७ । स्या० रत्ना० पृ० ४७६ ।**

(E-67) "उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ।" (उपशमेन हन्यात् क्रोधं, मानं मार्दवेन जयेत्। मायामार्जवभावेन, लोभं संतोषतो जयेत् ॥) **दशवै० ८।३९।**

(E-68) "आयुरिवाभ्यवहारो जीवनहेतुर्विनाभ्यवहृतेः। चेत् तिष्ठत्वनन्तवीर्ये विनायुषा कालमपि तिष्ठेत् ॥" **केवलिभुक्तिप्र० श्लो० २० ।** "ध्यानस्य समुच्छिन्नक्रियस्य चरमक्षणे गते सिद्धिः। सा नेदानीमस्ति स्वस्य परेषां च कर्तव्या ॥" **केवलिभुक्तिप्र० श्लो० १८ ।**

(E-69) "ज्ञानाद्यलयेऽपि जिने मोहेऽपि स्याद् क्षुद् उद्भवेद् भुक्तिः। वचनगमनादिवच्च प्रयोजनं स्वपरसिद्धिः स्यात् ॥" **केवलिभुक्तिप्र० श्लो० १७ ।**

(E-70) "रोगादिवत् क्षुधो न व्यभिचारो वेदनीयजन्मायाः। प्राणिनि एकादश जिन इति जिनसामान्यविषयं च ॥ तद्हेतुकर्मभावात् परीषहोक्तिर्न जिन उपस्कार्यः। नश्चाभावासिद्धेरित्यादेर्न क्षुदादिगतिः ॥" **केवलिभुक्तिप्र० श्लो० २९-३० ।**

(E-71) "कायस्तथाविधोऽसौ जिनस्य यदभोजनस्थितिरितीदम् । वाङ्मात्रं नात्रार्थे प्रमाणमाप्तागमोऽन्यद् वा ॥" **केवलिभुक्तिप्र० श्लो० २६ ।**

(E-72) "देशोनपूर्वकोटीविहरणमेवं सतीह केवलिनः-। सूत्रोक्तमुपायादि न मुक्तिश्च न नियताकाला स्यात् ॥" **केवलिभुक्तिप्र० श्लो० २४ ।**

(E-73) "तैजससमूहकृतस्य द्रव्यस्याभ्यवहृतस्य पर्याप्त्या। अनुत्तरपरिणामे श्रुतक्रमणे भवति च तत् सर्वम् ॥" **केवलिभुक्तिप्र० श्लो० ९ ।**

(E-74) "ज्ञानावरणीयादेर्ज्ञानावरणादि कर्मणः कार्यम् । क्षुत् तद्विलक्षणास्यां न तस्य सहकारिभावोऽपि ॥" केवलिभुक्तिप्र० श्लो० १० । **स्या० रत्ना० पृ० ४७५ ।**

(E-75) "नव सब्भावपयत्था पण्णत्ते। तं जहा-जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो णिज्जरा बंधो मोक्खो ॥" **स्थाना० ९।६६५ ।**

(E-76) "कायवाङ्मनः कर्मयोगः । स आस्रवः । शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ।" **त० सू० ६।१-३।**

(E-77) "आस्रवनिरोध संवरः ।" **त० सू० ९।१ ।**

(E-78) "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः ।" **त० सू० ९।२ ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(E-79) "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते सः बन्धः ।" **त० सू० ८।२ ।**

(E-80) "प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ।" **त० सू० ८।३ ।**

(E-81) "आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ।" **त० सू० ८।४ ।**

(E-82) "स्वसंवेद्यः स भवति नासावन्येन शक्यते द्रष्टुम्, नासावन्येन शक्यते द्रष्टुं कथमसौ निर्दिश्येत असौ पुरुषः स्वयमात्मानुपलभते न चान्यस्मै शक्नोति दर्शयितुम्..." **शाबरभा० १।१।५ ।** अहं प्रत्ययविज्ञेयः स्वमात्मोपपद्यते ॥१०७॥ **मीमांसाश्लो० आत्मवाद ।** स्वसंवेदनतः सिद्धः सदात्मा बाधवर्जितात् । तस्य क्ष्मादिविवर्तात्मन्यात्मन्यनुपपत्तितः ॥९६॥ **तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६ । शास्त्रवा० समु० श्लो० ७९ । न्यायकुमु० पृ० ३४३ ।** सुख्यहं दुःख्यहमिच्छावानहम् इत्याद्यनुपचरिताहम्प्रत्ययस्यात्मग्राहिणः प्रतिप्राणि संवेदनात् । **प्रमेयक- पृ० ११२ ।**

(E-83) "न शरीरालम्बनमन्तः करणव्यापारेण उत्पत्तेः । तथाहि न शरीरमन्तः करणपरिच्छेद्यं बहिर्विषयत्वात् ।" **प्रश० व्यो० पृ० ३९१ । प्रमेयक० पृ० ११२ ।**

(E-84) "स्वसंवेदप्रत्यक्ष आत्मा भ० २ । स्वसंवेदनवेद्याहंप्रत्ययोत्पादयुक्तो न त्वचेतनः प्रत्यक्षलक्ष्य आत्मा क० ।"

(E-85) "मदीयो भृत्य इति ज्ञानवन्मदीयं शरीरमिति भेदप्रत्ययदर्शनात् भृत्यवदेव शरीरेऽप्यहमिति ज्ञानस्य औपचारिकत्वमेव युक्तम् । उपचारस्तु निमित्तं विना न प्रवर्तते इत्यात्मोपकारकत्वं निमित्तं कल्प्यते ।" **प्रश० व्यो० पृ० ३९१ । न्यायकुमु० पृ० ३४९ । सन्मति० टी० पृ० ८६ । प्रमेयक० पृ० १।१२।**

(E-86) "व्यतिरेकः तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धितत् । " **ब्रह्मसू० ३।३।५४ । तत्त्वसं० पं० पृ० ५२५ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३० ।** भूत-चैतन्ययोः कार्यकारणभावानुपपत्तेः । **न्यायकुमु० पृ० ३४४ ।**

(E-87) "इत्याह - मदशक्तिवद् विज्ञानम् ।" **न्यायकुमु० पृ० ३४२ । प्रमेयक० पृ० ११५ । ब्रह्मसू० शां० भा० ३।३।५३ । न्यायमं पृ० ४३७ ।** मदशक्तिवच्चैतन्यमिति । प्रकरणपं० **पृ० १४६ ।**

(E-88) "पृथिव्व (व्या) पस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः तेभ्यश्चैतन्यम् इत्यत्र)" **प्रमेयक० पृ० ११६ ।** तत्त्वोप० पृ० १ । भामती ३।३।५४ । **तत्त्वसं० पं० पृ० ५२० ।** त० श्लो० पृ० २८ **न्यायकुमु० पृ० ३४१ । चेन्न त्वन्मते सोऽपि भ० १, भ० २, प० १, प० २ ।**

(E-88) "यथा यन्त्रप्रतिमाचेष्टितं प्रयोक्तुरस्तित्वं गमयति तथा प्राणापानादिकर्मापि क्रियावन्तमात्मानं साधयति ।" **सर्वार्थसि० ५।१९ ।** "रथकर्मणा सारथिवत् प्रयत्नवानि विग्रहस्याधिष्ठातानुमीयते प्राणादिभिश्चेति .... ।" **प्रश० भा० पृ० ६९ ।** जीवच्छरीरं प्रयत्नवदधिष्ठितम् इच्छानुविधायिक्रियाश्रयत्वात् रथवत् । **प्रश० व्यो० पृ० ४०२ । न्यायकुमु० पृ० ३४९ ।**

(E-89) "करणैः शब्दाद्युपलब्ध्यनुमितैः श्रोत्रादिभिः समधिगमः क्रियते वास्यादीनां करणानां कर्तृ प्रयोज्यत्वदर्शनात् ।" **प्रश० भा० पृ० ६० ।** "श्रोत्रादीनि करणानि कर्तृप्रयोज्यानि करणत्वात् वास्यादिवत् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रश० व्यो० पृ० ३९३ । न्यायकुमु० पृ० ४९ । प्रमेयक० पृ० ११३ ।

(E-90) "शब्दादिज्ञानं क्वचिदाश्रितं गुणत्वात् ।" **प्रश० व्यो० पृ० ३९३ । न्यायकुमु० पृ० ३४८ । प्रमेयक० पृ० ११३ ।**

(E-91) "समवायिकारणपूर्वकत्वं कार्यत्वाद्रूपादिवदेव ।" **प्रश० व्यो० पृ० ३९३ ।** ज्ञानसुखादि उपादानकारणपूर्वकं कार्यत्वात् घटादिवत् । **न्यायकुमु० पृ० ३४९ ।**

(E-92) "संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेधादृते क्वचित् ।" **आप्तमी० श्लो० २७ ।**

(E-93) "ते न तु तदभावः तथा द्वितीयचन्द्राभावान्नास्ति चन्द्रसामान्यमित्यादिषु चन्द्रसामान्यादीनां सतामेव सामान्यं निराक्रियते न तु तदभावः ख्याप्यते तथा न सन्ति भ० २ ।"

(E-94) "नेन्द्रियाणां करणत्वात् उपहतेषु विषयासान्निध्ये चानुस्मृतिदर्शनात् ।" **प्रश० भा० पृ० ६९ । प्रश० व्यो० पृ० ३९५ । प्रमेयक० पृ० ११४ ।** नेन्द्रियार्थयोः तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् । **न्यायसू० ३।२।१८ ।** हिमवदुत्पल आ० ।

(E-95) "पूर्वानुभूतस्मृत्यनुबन्धाज्जातास्य हर्षभयशोकसंप्रतिपत्तेः ।" **न्यायसू० ३।१।१९ । न्यायमं० पृ० ४७० ।** नास्मृतेऽभिलाषोऽस्ति न विना सापि दर्शनात् । तद्धि जन्मान्तरान्नायं जातमात्रेऽपि लक्ष्यते ॥ **प्रमेयक० पृ० ११९ । तत्त्वसं० पं० पृ० ५३२ ।**

(E-96) "भोक्तात्मा चेत्स एवास्तु कर्ता तदविरोधतः विरोधे तु तयोर्भोक्तुः स्याद्भुजौ कर्तृता कथम् ॥" **आप्तपं० श्लो० ८२ ।**

(E-97) "अनादिरादिमांश्च ॥४२॥ तत्रानादिररूपिषु धर्माधर्माकाशजीवेष्विति । रूपिष्वादिमान् ॥४३॥ रूपिषु तु द्रव्येषु आदिमान् परिमाणोऽनेकविधः स्पर्शपरिणामादिरिति ।" **त० सू० भा० ५।४२,.४३।**

(E-98) "कथं तर्हि इमे गुणा विनियोक्तव्या इति । एकैकश्येन उत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तराणां तदनुपलब्धिः ।" **न्यायसू० ३।१।६४ ।**

(E-99) "पृथिव्यप्तेजोवायुमनांसि पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भवन्ति, रूपरसगन्धस्पर्शवत्वात् ।... न च केचित्पार्थिवादिजातिविशेषयुक्ताः परमाणवः सन्ति, जातिसंकरेणारम्भदर्शनात् ।" **सर्वार्थसि० ४।३ ।**

(E-100) "कर्णशष्कुल्यां कटकटायमानस्य प्रायशः प्रतिघातहेतोर्भवनाद्युपघातिनः शब्दस्य प्रसिद्धिः अस्पर्शत्वकल्पनामस्तंगमयति ।" **अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०८ ।** "द्रव्यं शब्दः, स्पर्शाल्पत्वमहत्त्वपरिणामसंख्यासंयोगगुणाश्रयत्वात्, यद्यदेवंविधं तत्तद्द्रव्यम् यथा बदरामलकविल्वादि, तथा चायं शब्दः, तस्माद्द्रव्यम् ।" **प्रमेयक० पृ० ५५० ।**

(F-1) "व्यापित्वात् भ० २ ।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(F-2) "गुणवान् शब्दः स्पर्श-अल्पत्व-महत्त्वपरिमाण-संख्या-संयोगाश्रयत्वात्, यद् एवंविधं तद् गुणवत् यथा बदर-आमलकादि, तथा च शब्दः, तस्मात्तथा इति।" **न्यायकुमु० पृ० २४३।**

(F-3) "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगः बन्धहेतवः।" **त० सू०।**

(F-4) "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः।" **त० सू० ९।२।**

(F-5) "आस्रवनिरोधः संवरः।" **त० सू० ९।१।**

(F-6) "प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः।" **त० सू० ८।३।**

(F-7) "आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः।" **त० सू० ८।४।**

(F-8) "पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम्।" **त० सू० ८।५।**

(F-9) "नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः।" **प्रश० व्यो० पृ० ६३८। न्यायमं० पृ० ५०८।**

(F-10) "नवानामात्मगुणानां संतानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, संतानत्वात्, यो यः संतानः सः सोऽत्यन्तमुच्छिद्यमानो दृष्टः यथा प्रदीपसंतानः, तथाचायं सन्तानः, तस्माद् अत्यन्तमुच्छिद्यते।" **प्रश० व्यो० पृ० २० क०।** "दुःखसंततिरत्यन्तमुच्छिद्यते संततित्वात् प्रदीपसंततिवदित्याचार्याः।" **प्रश० किर० पृ० ९।**

(F-11) "यदा तु तत्त्वज्ञानात् मिथ्याज्ञानमपैति तथा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयान्ति दोषापाये प्रवृत्तिरपैति, प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति जन्मापाये दुःखमपैति, दुःखापाये चात्यन्तिकोऽपवर्गो निश्रेःयसमिति।" न्यायभा० १।१।२। "निवृत्ति च मिथ्याज्ञाने तन्मूलत्वाद्रागादयो नश्यन्ति कारणाभावे कार्यस्यानुत्पादादिति। रागाद्यभावे च तत्कार्यप्रवृत्तिर्व्यावर्तते, तदभावे च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः। आरब्धकार्ययोश्चोपभोगात् प्रक्षयः।" **प्रश० व्यो० पृ० २०क०।**

(F-12) यस्मादात्मनः "सर्वथा भिन्नानां बुद्ध्यादिविशेषगुणानां संतानस्य उच्छेदः प्रसाध्यते, अथ अभिन्नानाम्, कथंचिद्भिन्नानां वा ?" **न्यायकुमु० पृ० ८२५। प्रमेयक० पृ० ३१७।**

(F-13) "किंच, अतोऽनुमानात् इन्द्रियजानां बुद्ध्यादिविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदः साध्येत, अतीन्द्रियाणां वा।" **न्यायकुमु० पृ० ८२७।**

(F-14) "अपि वृन्दावने शून्ये श्रृगालत्वं स इच्छति। न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतमः।" संबन्धवा० श्लो० ४२३। **विवरणप्र० पृ० १३७।** "वरं वृन्दावने रम्ये श्रृगालत्वं प्रपद्यते।" **न्यायकुमु० पृ० ८२८।** "वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवाञ्छितम्।" **स्या० मं० पृ० ८६।**

(F-15) "प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे लोभमोहौ च चेतसः। शीतातपौ शरीरस्य षड्ऊर्मिरहितः शिवः॥" **न्यायम० प्रमे० पृ० ७७।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(F-16) "तस्य च न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोः बाह्यविषयसंयोगवियोगनिमित्तयोः बाह्यविषयसंयोगवियोगो ममेति मन्यमानस्य अपहतिर्विनाश उच्छेदः संततिरूपयीर्नास्तीति । तं पुनर्देहाभिमानादशरीरस्वरूपविज्ञानेन निवर्तिताविवेकज्ञानमशरीरं सन्तं प्रियाप्रियेन स्पृशतः । स्पृशिः प्रत्येकं संबध्यत इति प्रियं न स्पृशति अप्रियं न स्पृशतीति वाक्यद्वयं भवति... धर्माधर्मकार्ये हि ते, अशरीरता तु स्वरूपमिति तत्र धर्माधर्मरसंभवात्तत्कार्यभावी दूरत एवेत्यतो न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।।" **छान्दो० शां० भा० ।**

(F-17) "तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयः अन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा आत्मानमेव प्रियमुपासीत" **बृहदा० १।४।८ ।** "एष एव प्रियतमः पुत्रादपि धनादपि । अन्यस्मादपि सर्वस्मादात्मायं परमान्तरः ।।" **सर्ववेदान्तसि० श्लो० ६२७ ।** "आत्मा सुखाभिन्नः सुखलक्षणवत्त्वाद् वैषयिकसुखवत् आत्मा सुखम् अनौपाधिकप्रेमगोचरत्वात् ।" **संक्षेपशा० टी० पृ० ३०-३१ ।** "परमप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यात्मनः सुखरूपत्वे प्रमाणम् ।" **चित्सु० पृ० ३५८ । सिद्धान्त वि० पृ० ४४५ ।**

(F-18) "वित्तस्त्रीपुत्रादयो हि आत्मार्थमुपादीयन्ते परं चात्मन उपादानं तु नान्यार्थम् स्वयमात्मा आत्मार्थमेवोपादीयते इत्यर्थः । प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च यच्च यावच्च चेष्टितम् । आत्मार्थमेव नान्यार्थं नातः प्रियतमं परः ।" **सर्ववेदान्तसि० श्लो० ६३० ।**

(F-19) "इष्टार्थो मुमुक्षुप्रयत्नः, प्रेक्षापूर्वकारिप्रयत्नत्वात्, कृष्यादि प्रयत्नवत् इति ।" **न्यायकुमु० पृ० ८३१ ।**

(F-20) "मोक्षेऽभिपद्यते" **प्रश० व्यो० पृ० २० ख ।** "आनन्दं ब्राह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम् ।" **वेदान्तसि० पृ० १५१ ।** तुलना-नित्यं सुखामात्मानो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यते । **न्यायभा० १।१।२२ । न्याय० मं० पृ० ५०९ ।** प्रकृतपाठः सन्मति० टी- पृ० १५९ । **न्यायकुमु० पृ० ८३ ।**

(F-21) "उद्धृतोऽयम्" **न्यायकुमु० पृ० ८३१ ।**

(F-22) "सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।" **भगवद्गी० ६।२१ ।** यो० सि० ३।१५ ।

(F-23) "तत्प्रधानावगमं प्रति यदा पुरुषस्य सम्यग् ज्ञानमुत्पद्यते तदा तेन ज्ञानेन दृष्टा प्रकृतिः पुरुषसङ्गान्निवर्तते । स्वैरिणीव पुरुषेणोपलक्षिता । अये इयमसाध्वी मां मोहयति तस्मान्न ममानया कार्यमितिवत् । तस्यां च निवृत्तायां मोक्षं गच्छति ।" **सांख्य० माठरवृ० श्लो० ६१ ।**

(F-24) "चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च ।" **योगभा० १।२।**

(F-25) "तत्र केयं विवेकख्यातिर्नाम प्रकृतिपुरुषयोः स्वेन स्वेन रूपेणावस्थितयोः भेदेन प्रतिभासनमिति चेत्, सा कस्य-प्रकृतेः, पुरुषस्य तद्व्यतिरिक्तस्य वा कस्यचित् ।" **न्यायकुमु० पृ० ८२१।**

(F-26) "तस्याः असंवेद्यपर्वणि स्थितत्वात् अचिद्रूपत्वात्, अनभ्युपगमाच्च ।" **न्यायकुमु० पृ० ८२२ ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(F-27) "प्रकृतेर्जडतया इत्थं विज्ञानानुपपत्तेः" **न्यायकुमु० ८२२ ।**

(F-28) "तत्र श्रुतमयी श्रूयमाणेभ्यः परार्थानुमानवाक्येभ्यः समुत्पद्यमानेन श्रुतशब्दवाच्यतामास्कन्दता निर्वृत्ता परं प्रकर्षं प्रतिपद्यमाना स्वार्थानुमानलक्षणया चिन्तया निवृत्तां चिन्तमयीभावनामारभते ।" **आप्तप० का० ८३ ।**

(F-29) "फलवैचित्र्यदृष्टेश्च शक्तिभेदोऽनुमीयते । कर्मणां तापसंक्लेशात् नैकरूपात्ततः (क्षय) ॥ फलं कथंचित्तज्जन्यात्पं स्यात् न विजातिमत् । अथापि तपसः शक्त्या शक्तिसंकरसंक्षयैः । क्लेशात् कुतश्चिद्धीयेताशेषमक्लेशलेशतः । यदीष्टमपरं क्लेशात् तत्तपः क्लेश एव चेत् । तत् कर्मफलमित्यस्मात् न शक्तेः संकरादिकम् ॥" **प्र० वा० १।२७६-७८ ।**

(F-30) "उद्धृतौ इमौ ।" **न्यायकुमु० पृ० ८४१ । स्या० र० पृ० १११८ ।**

(F-31) "किन्तु अज्ञो जनः दुःखाननुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् सांसारिकेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते । हिताहितविवेकस्तु ।" **न्यायकुमु० पृ० ८४२ । स्या० र० पृ० १११८ ।**

(F-32) "क्षणिकादिभावनाया मिथ्यारूपत्वात्, न च मिथ्याज्ञानस्य निःश्रेयसकारणत्वमतिप्रसङ्गात् ।" **प्रश० व्यो० पृ० २० ध० ।** "भावनाया विकल्पात्मिकायाः" श्रुतमय्याश्चिन्तामय्याश्चावस्तुविषयाया वस्तुविषयस्य योगिज्ञानस्य जन्मविरोधात् । कुतश्चिदतत्त्वविषयाद् विकल्पज्ञानात्तत्त्वविषयस्य ज्ञानस्यानुपलब्धेः । **आप्तप० का० ८३ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१ । षड्द० बृह० श्लो० ५२ । न्यायकुमु० पृ० ८४२ ।**

(F-33) "न बन्धमोक्षो क्षणिकैकसंस्थौ-क्षणिकमेकं यच्चितं तत्संस्थौ बन्धमोक्षौ न स्याताम् । यस्य चित्तस्य बन्धः निरन्वयप्रणाशादुत्तरचित्तस्याबद्धस्यैव मोक्षप्रसङ्गात् । यस्यैव बन्धः तस्यैव मोक्ष इति एक चित्तसंस्थौ बन्धमोक्षौ ।" **युक्त्यनु० टी० पृ० ४१ । न्यायकुमु० पृ० ८४२ ।**

(F-34) "इह च कस्तथाविधो मार्गाभ्यासे प्रवर्तमानः मोक्षो मम स्यात् । इत्यनुसंदध्यात् क्षणः संतानो वा ।" **न्यायकुमु० पृ० ८४२ ।**

(F-35) "अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः । .चित्तसंततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुकः ।" आप्तमी० का० ५२ । युक्त्यनु० टी पृ० ४० । निर्हेतुकतया विनाशस्य उपायवैयर्थ्यम्, अयत्नसाध्यत्वात् । **प्रश० व्यो० पृ० २० । न्यायकुमु० पृ० ८४३ ।**

(F-36) "तेन हि प्राक्तनस्य रागादिचित्तलक्षणस्य नाशः क्रियते, भाविनो वानुत्पादः तदुत्पादकशक्तेर्वा क्षयः संतानस्य वोच्छेदः अनुत्पादो वा, निरास्रवचितसंतत्युत्पादो वा ।" **न्यायकुमु० पृ० ८४२ ।**

(F-37) "केवलं सा चित्तसंततिः सान्वया, निरन्वया वा इति वक्तव्यम् ।" **न्यायकुमु० पृ० ८४४ ।**

(F-38) "हिंसादिविरतिलक्षणवृत्तोपबृंहकस्य कायक्लेशकर्मफलत्वेऽपि तपस्त्वाविरोधात् ।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न्यायकुमु० पृ० ८४७ ।

(F-39) "ततः स्त्रीणां न मोक्षः पुरुषेभ्यो हीनत्वात् नपुंसकादिवत् ।" **न्यायकुमु० पृ० ८७६ ।**

(F-40) "निर्वाणकारणज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति, परमप्रकर्षत्वात्, सप्तमपृथिवीगमनकारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षवत् ।" **न्यायकुमु० पृ० ८६० । प्रमेयक० पृ० ३२८ ।**

(F-41) "सप्तमपृथिवीगमनाद्यभावमव्याप्तमेव मन्यन्ते । निर्वाणाभावेनापश्चिमतनवो न तां यान्ति ॥" **स्त्रीमु० श्लो० ५ । सन्मति० टी० पृ० ७५३ । प्रज्ञा० मलय० पृ० २ । नन्दि० मलय० पृ० १३२ । रत्नाकराव० ७।५७ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२८ । युक्तिप्र० पृ० ११५ ।**

(F-42) "विषमगतयोऽप्यधस्तादुपरिष्टात्तुल्यमासहस्रारम् । गच्छन्ति च तिर्यञ्चस्तदधोगत्यूनताऽहेतुः ॥" **स्त्रीमु० श्लो० ६ ।** "अपि च भुजपरिसर्पाः द्वितीयामेव पृथिवीं यावत् गच्छन्ति न परतः परपृथिवीगमनहेतुतथारूपमनोवीर्यपरिणत्यभावात् तृतीयां यावत् पक्षिणः । चतुर्थीं चतुष्पदाः पञ्चमीमूरगाः, अथ च सर्वेऽप्यूर्ध्वमुत्कर्षतः सहस्रारं यावद् गच्छन्ति । तत्राधोगतिविषये मनोवीर्यपरिणतिवैषम्यदर्शनादूर्ध्वगतावपि च न तद्वैषम्यम् ।" **प्रज्ञा० मलय० पृ० २९ । नन्दि० मलय० पृ० १३३ शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२८ । युक्तिप्र० पृ० १९५ ।**

(F-43) "ततो यत्र ऐहिकवादिविक्रियाचारणादिलब्धीनामपि हेतुः संयमविशेषो नास्ति तत्र मोक्षहेतुरसौ भविष्यतीति कः सुधी श्रद्दधीत् ?" **न्यायकुमु० पृ० ८७२ । प्रमेयक० पृ० ३३० ।**

(F-44) "वादादिविकुर्वणत्वादिलब्धिविरहे श्रुते कनीयसि च । जिनकल्पमनःपर्ययविरहेऽपि न सिद्धिविरहोऽस्ति ॥ वादादिलब्ध्यभाववदभविष्यद् यदि च सिद्ध्यभावोऽपि । तासामवारयिष्यद् यथैव जम्बूयुगादारात् ।" **स्त्रीमु० श्लो० ७-८ । प्रज्ञा० मलय० पृ० २१ । रत्नकराव० ७।५७ ।** माषतुषादीनां लब्धिविशेषहेतुसंयमाभावेऽपि मोक्षहेतुतच्छ्रवणात् क्षायोपशमिक लब्धिविरहेऽपि क्षायिकलब्धेरप्रतिघातात् । **शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२७ ।**

(F-45) "स्त्रीणां न निर्वाणपदप्राप्तिः यतिगृहिदेववन्द्यपदाऽनर्हत्वात्, नपुंसकादिवत् ।" **न्यायकुमु० पृ० ८७५ ।**

(F-46) "अप्रतिबन्ध्यत्वाच्चेत्संयतवर्गेण नार्यिकासिद्धिः । वन्दतां ता यदि ते नोनत्वं कल्प्यते तासाम् ॥ सन्त्यूनाः पुरुषेभ्यस्ताः स्मारणचारणादिकारिभ्यः । तीर्थकराकारिभ्यो न च जिनकल्पादिरिति गणधरादीनाम् । अर्हन् न वन्दते न तावताऽसिद्धिरंगगते । प्राप्तान्यथा विमुक्तिः स्थानं स्त्रीपुंसयोस्तुल्यम् ॥" **स्त्रीमु० श्लो० २४-२६ ।** अथ महाव्रतस्थपुरुषावन्द्यत्वात् न तासां मुक्त्यवाप्तिः तर्हि गणधरादेरपि अर्हदवन्द्यत्वात् न मुक्त्यवाप्तिः स्यात् । **सन्मति० टी० पृ० ७५४ । रत्नाकराव० ७।५७ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२९ । युक्तिप्र० पृ० ११४ ।**

(F-47) "इतश्च तत्सिद्धम् यतः सारणवारणपरिचोदनादीनि स्त्रीणां पुरुषाः कुर्वन्ति न स्त्रियः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषाणाम् तीर्थकराकारधराश्च पुरुषा न स्त्रियः । उक्तं च- सारणवारणपरिचोयणणइ पुरिसा करेई नतहु इत्थी" **न्यायकुमु० पृ० ८७६** । "सारणा हिते प्रवर्तनलक्षणा कृत्यस्मारणलक्षणा वा, उपलक्षणत्वाद् वारणा अहितान्निवारणलक्षणा, चोयणा संयमयोगेषु स्खलितः सन्नयुक्तमेतद् भवादृशां विधातुमित्यादिवचनेन प्रेरणा, **प्रतिचोदना तथैव पुनः-पुनः प्रेरणा** ।" **गच्छा० वृ० गा० १७ । ओघनि० टी० गा० ४४८** ।

(F-48) "अस्ति स्त्रीनिर्वाणं पुंवत् यदविकलहेतुकं स्त्रीषु । न विरुद्ध्यति हि रत्नत्रयसंपदनिर्वृतेर्हेतुः ॥" **स्त्रीमु० श्लो० २ । सन्मति० टी० पृ० ७५२** । एतदर्थम् उत्तराध्ययनस्य पाइयटीकापि विलोकनीया । इत्थीलिङ्गसिद्धा-सम्यग्दर्शनादीनि पुरुषाणामिव स्त्रीणामप्यविकलानि दृश्यन्ते तथाहि.. । **प्रज्ञा० मलय० पृ० २० । नन्दि० मलय० पृ० १३१ । रत्नाकराव० ७।५७** । यथोक्तं यापनीयतन्त्रे णो खलु इत्थी अजीवो, ण यवि अभव्वा, ण यावि दंसणविरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारिउप्पत्ती, णो असंखेज्जाउया, णो अइक्रूरमई, णो ण उवसन्तमोहो, णो ण सुद्धाचारा, णो असुद्धबोंदी, णो ववसायवज्जिया णो अपुव्वकरणविरोहिणी णो णवगुणगणरहिता, णो अजोगा लद्धीए, णो अकल्लाणभायणं ति कहं न उत्तमधम्मसाहिगत्ति । **ललितवि० पु० ५७ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२९** ।

(F-49) "अक्षाश्रितत्वं च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य । न तु प्रवृत्तिनिमित्तम् । अनेन त्वक्षाश्रितत्वेनैकार्थसमवेतमर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते । तदेव शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् । ततश्च यत्किंचिदर्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं तत् प्रत्यक्षमुच्यते । यदि च अक्षाश्रितत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यात् इन्द्रियज्ञानमेव प्रत्यक्षमुच्येत, न मानसादि, यथा गच्छतीति **गौः** इति गमनक्रियायां व्युत्पादितोऽपि गोशब्दः गमनक्रियोपलक्षितमेकार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति, तथा च गच्छति अगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति ।" न्यायवि० टी० १।३ । यद् इन्द्रियमाश्रित्य उज्जिहीते अर्थसाक्षात्कारिज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् इत्यर्थः, एतच्च प्रत्यक्षशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तं न प्रवृत्तिनिमित्तम् । **इत्यादि न्यायव० टी० पृ० १६** । वैशद्यांशस्य सद्भावात् व्यवहारप्रसिद्धितः । **तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२ । न्यायकुमु० पृ० २६** ।

(F-50) "अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा तमेव प्रातक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं प्रत्यक्षम् ।" **सर्वार्थसि० ।१२। त० व० १।१२ । प्रमाणप० पृ० ६८** । तथा च भद्रबाहुः-जीवो अक्खो तं पइ जं वट्टई तं तु होइ पच्चक्खं । परओ पुण अक्खस्स वट्टन्तं होई परोक्खं । (निर्युक्ति) **न्यायाव० टी० टि० पृ० १५** । जीवो अक्खो अत्थव्वावण भोयण गुणण्णिओ जेण । तं पई पट्टई णाणं जं पच्चक्खं तयं तिविहम् ॥८९॥ विशेषाव० भा० । **न्यायकुमु० पृ० २६** ।

(F-51) "जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु ॥५९॥" **प्रव० सार पृ० ७५** । "पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्य आत्मन उत्पद्यमानं मतिश्रुतं परोक्षम् इत्याख्यायते ।" सर्वार्थसि० १।११ । "उपात्तानुपात्तपराधान्यादवगमः परोक्षम् ।" **तत्त्वार्थरा० वा १।११** । "अक्षाद् आत्मनः परावृत्तं परोक्षम् । ततः परैः इन्द्रियादिभिः उक्ष्यते सिञ्च्यते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अभिवर्ध्यते इति परोक्षम् ।" **तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२ । प्रमाणप० पृ० ६९ । परीक्षामुख ३।१ । पञ्चाध्यायीश्लो० ६९६ । न्यायाव० श्लो० ४ । विशेषाव० भा० श्लो० ९० । सन्मति० टी० पृ० ५९५ न्यायकुमु० पृ० २७ । प्रमाण० त० ३।१ । प्रमाणमी० ३।१ ।**

(F-52) "चकारः प्रत्यक्षानुमानयोस्तुल्यबलत्वं समुच्चिनोति ।" **न्यायवि० टी० १।३ ।**

(F-53) "आदौ प्रत्यक्षग्रहणं प्राधान्यात्.. तत्र किं शब्दस्यादावुपदेशो भवतु आहोस्वित् प्रत्यक्षस्येति । प्रत्यक्षस्येति युक्तम् । किं कारणम् । सर्वप्रमाणानां प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् इति ।" **न्यायवा० १,१,३ । साङ्ख्यत० का० ५ । न्यायम० पृ० ६५, १०९ ।** न च ज्येष्ठप्रमाणप्रत्यक्षविरोधादाम्नायस्यैव तदपेक्षस्याप्रामाण्यमुप-चरितार्थत्वं चेति युक्तम् तस्य पौरुषेयतया निरस्तसमस्तदोषाशङ्कस्य बोधकतया स्वतः सिद्धप्रमाणभावस्य स्वकार्ये प्रमितावनपेक्षत्वात् । **भामती पृ० ६ ।**

(F-54) "अर्थसंवादकत्वे च समाने ज्येष्ठतास्य का । तदभावे तु नैव स्यात् प्रमाणमनुमानादिकम् ॥" **तत्त्वसं० का० ४६० । न्यायवि० टी० १,३ । अष्टश० अष्टस० पृ० ८० । प्रमाणमी० पृ० ७ ।**

(F-55) "प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ।" **न्यायसू० १।१।६ ।** "प्रसिद्धसाधर्म्यादिति - प्रसिद्धं साधर्म्यं यस्य, प्रसिद्धेन वा साधर्म्यं यस्य सोऽयं प्रसिद्धसाधर्म्यो गवयस्तस्मात् साध्यसाधनमिति समाख्यासंबन्धप्रतिपत्तिरूपमानार्थः । किमुक्तं भवति । आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सारूप्यज्ञानमुपमानम् । यदा ह्यनेन श्रुतं भवति यथा गौरेवं गवय इति, प्रसिद्धे गोगवयसाधर्म्यं पुनर्गवा साधर्म्यं पश्यतोऽस्य भवति अयं गवय इति समाख्यासंबन्धप्रतिपत्तिः ।" **न्यायवा० पृ० ५७ ।** "प्रसिद्धसाधर्म्यात् इत्यत्र प्रसिद्धिरुभयी श्रुतिमयी प्रत्यक्षमयी च । श्रुतिमयी यथा गौरेवं गवय इति । प्रत्यक्षमयी च यथा गोसादृश्यविशिष्टोऽयमीदृशः पिण्ड इति । तत्र प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धिरागमाहितस्मृत्यपेक्षा समाख्यासंबन्धप्रतिपत्तिहेतुः । तस्मादागमप्रत्यक्षाभ्यामन्यदेवेदमागमस्मृतिसहितं सादृश्यज्ञानमुपमानाख्यं प्रमाणमास्थेयम् ।" **न्यायवा० ता० पृ० १९८ ।** "अद्यतनास्तु व्याचक्षते श्रुतातिदेशवाक्यस्य प्रमातुरसिद्धे पिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञान-मिन्द्रियजं संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिफलमुपमानम् । तद्धीन्द्रियजनितमपि धूमज्ञानमिव तद गोचरप्रमेयप्रमितिसाधनात् प्रमाणान्तरम् । श्रुतातिदेशवाक्यो हि नागरिकः कानने परिभ्रमन् गोसदृशं प्राणिनमवगच्छति ततो वनेचरपुरुषकथितं यथा गौस्तथा गवय इति वचनमनुस्मरति, स्मृत्वा च प्रतिपद्यते अयं गवयशब्दवाच्य इति । तदेतत्संज्ञासंज्ञिसंबन्धज्ञानं तज्जन्यमित्युपमानफलमित्युच्यते ।" **न्यायमं० पृ० १४२ । न्यायकलि पृ० ३ ।**

(F-56) "ततो यः संकलनात्मकः प्रत्ययः स प्रत्यभिज्ञानमेव यथा स एवायम् इति प्रत्ययः संकलनात्मकश्च अनेन सदृशो गौः इति प्रत्यय इति ।" **न्यायकुमु० पृ० ४९४ ।** आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव । **प्रश० भा० शब्द० कन्द० पृ० २२० ।**

(F-57) "अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते-इत्यर्थकल्पना, यथा जीवति देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना ।" **शाबभा० १।१।५ । प्रकरणपं० पृ० ११३ । शास्त्रदी०**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृ० २९० । नयवि० पृ० १५२ । तन्त्ररह० पृ० १३ । प्रभाकरवि० पृ० ५३ ।

(F-58) "शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात् ।" **प्रश० भा० कन्द० पृ० २१३ ।** "शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावाद् अनुमानेऽर्थापत्तिसंभवानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः । **न्यायसू० २।२।२ ।** प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य संबद्धस्य प्रतिपत्तिरनुमानं तथा चार्थापत्तिसंभवाभावाः । वाक्यार्थसंप्रत्ययेनानभिहितस्यार्थस्य प्रत्यनीकभावाद् ग्रहणमर्थापत्तिरनुमानमेव । **न्यायभा० २।२।२ । न्यायवा० पृ० २७६ । न्यायली० पृ० ५७ । न्यायकुमु० ३।१९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१७ । प्रमेयक० पृ० १९३ न्यायकुमु० पृ० ५१३ । सन्मति टी० पृ० ५८५ । जैनतर्कवा० पृ० ७७ । स्या० र० पृ० २८३ । रत्नाकरावo २।१ । दर्शनार्थादर्थापत्तिर्विरोध्येव श्रवणादनुमितानुमानम् । प्रश० भा०, कन्द० पृ० २२३ ।**

(F-59) "प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते । सात्मनोऽपरिमाणो वा विज्ञानं वान्यवस्तुनि ॥" **मी० श्लो० अभाव० श्लो० ११ ॥**

(F-60) "अभावोऽप्यनुमानमेव यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्, एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम् ।" **प्रश० भा० पृ० ५७७ ।** तुलना प्रत्यादिनैवाभावस्य प्रतीतेः, तथा चाक्षव्यापारादिह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानमपरोक्षमुत्पद्यमानं दृष्टम् । **प्रश० व्यो० पृ० ५९२ । प्रश० शब्द० पृ० २२६ ।** "शब्दे ऐतिह्यानर्थान्तरभावात् अनुमानोऽर्थापत्तिसंभवोभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ।" **न्यायसू० २।२।६ ।** "अभावोऽप्यनुमानमेव" न्यायवा० पृ० २७६ । सत्यमभावः प्रमेयमभ्युपगम्यते प्रत्यक्षाद्यवसीयमानस्वरूपत्वान्न प्रमाणान्तरमात्मपरिच्छित्तये मृगयते । अदूरमेदिनिदेशवर्तिनस्तस्य चक्षुषा । परिच्छेदः परोक्षस्य क्वचिन्मानान्तरैरपि ॥ **न्यायमं० पृ० ५१ ।** अन्यस्य घटादिविविक्तस्य भूतलस्योपलब्ध्या घटानुपलब्धिरिति प्रत्यक्षसिद्धानुपलब्धिः । एतदुक्तं भवति घटग्राहकत्वस्य भूतलग्राहकत्वस्य चैकज्ञानसंसर्गित्वात् यदा भूतलग्राहकमेव तज्ज्ञानं भवति तदा-घटग्राहकत्वाभावं निश्चाययतीति प्रतीतिप्रत्यक्षसिद्धैव घटानुपलब्धिः । **प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६ । तत्त्वसं० पृ० ४७५ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२ । न्यायकुमु० पृ० ४६८ । स्या० र० पृ० ३१० । न्यायावा० टी० टि० पृ० २१ ।**

(F-61) "अभावोऽप्यनुमानमेव, यथा उत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्, एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम् ।" **प्रश० भा०, कन्द० पृ० २२५ ।** कश्चित्पुत्ररसंनिकृष्टदेशवृत्तिरनुमेयोऽपि भवत्यभावः । **न्यायमं० पृ० ५४ । न्यायकुमु० पृ० ४६९ ।**

(F-62) "संभवोऽप्यविनाभावित्वादनुमानमेव" प्रश० भा०, कन्द० पृ० २२५ । संभवो नाम अविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणादन्यस्य सत्ताग्रहणं यथा-द्रोणस्य सत्ताग्रहणादाढकस्य सत्ता ग्रहणम्, आढकस्य ग्रहणात् प्रस्थस्येति । **न्यायभा० २।२।१ ।**

(F-63) "ऐतिह्यमर्थापत्तिः संभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि तानि कस्मान्नोक्तानि । इति होचुः इत्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं-प्रवादपारंपर्यम् ऐतिह्यम् ।" **न्यायभा० २।२।१ ।** "'तथैवैतिह्यमप्यवितथमाप्तोपदेश

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवेति । **प्रश० भा० कन्द० पृ० २३० ।**

(F-64) "आम्नायविधातृणामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेष्वनुपनिबद्धेषु चात्ममनसोः संयोगाद्--धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभं यथार्थनिवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तदार्षमित्याचक्षते । तत्तु प्रस्तारेण देवर्षीणाम् । कदाचिदेष लौकिकानां यथा कन्यका ब्रवीति श्वो मे भ्राता गन्तेति हृदयं मे कथयतीति ॥" **प्रश० भा० पृ० ६२१ । जैनतर्कभा० पृ० ७७ ।**

(F-65) "स्मृत्यूहादिकमित्येके प्रातिभं च तथापरे । स्वप्नविज्ञानमित्यन्ये स्वसंवेदनमेव नः ॥" **न्यायावता० श्लो० १९ ।**

(F-66) "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः ।" **लघी० श्लो० ३ ।**

(F-67) "इन्द्रियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खम् ॥९५॥" **विशेषा० भा० ।** "तत्र सांव्यवहारिकम् इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम् ।" **लघी० स्ववृ० श्लो० ४ । प्रमाणपरी० पृ० ६८ । सन्मति० टी० पृ० ५५२ । जैनतर्कवा० पृ० १०० । परीक्षामु० २।५ । प्रमाणमी० १।१।२१ न्यादी० पृ० ९ ।**

(F-68) "अतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्यवसायात्मकं स्फुटमवितथातीन्द्रियमव्यवधानं लोकोत्तरमात्मार्थविषयम् ।" **लघी० स्ववृ० श्लो० ६१** । सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् । **परीक्षामु० २।११** । पारमार्थिकं पुनरुत्पतौ आत्ममात्रापेक्षम् । **प्रमा० तत्त्वा० २।१८ । प्रमाणमी० १।१।१८ । न्यायदी० पृ० १० ।**

(F-69) "अवग्रहेहावायधारणाः ।" **तत्त्वासू० ।१५।**

(F-70) "तत्र अव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैः विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः ।" **तत्त्वार्थधि० भा० १।१५ ।** विषयविषयिसंनिपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः । विषयविषयिसंनिपाते सति दर्शनं भवति, तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः । **सर्वार्थसि० १।१५ । लघो० श्लो० ५ । राजवा० १।१५ । धवलाटी० सत्प्ररू० । प्रमाणप० पृ० ६८ । सन्मति० टी० पृ० ५५२ । प्रमा० नय० २।७ । न्यायदी० पृ० १० ।**

(F-71) "अवगृहीतेऽर्थे विषयार्थैकदेशाच्छेषानुगमनं निश्चयविशेषजिज्ञासा चेष्टा ईहा ।" **तत्त्वार्थाधि० १।१५ ।** अवग्रहग्रहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा । **सर्वार्थ० १।१५ । लघी० श्लो० ५ । राजवा० १।१५ । धवला० टी० सत्प्ररू० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२० । प्रमाणप० पृ० ६८ । सन्मति० टी० पृ० ५५३ । प्रमा० नय० २।८ । प्रमाणमी० १।१।२७ । न्यायदी० पृ० १ । जैनतर्कभा- पृ० ५ ।**

(F-72) "अवगृहीते विषये सम्यगसम्यगिति गुणदोषविचारणाध्यवसायापनोदोपायः ।" **तत्त्वार्थधि-भा० १।१५ ।** विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः । **सर्वार्थसि० १।१५ । लघी० श्लो० ५ । राजवा० १।१५ । धवलाटी० सत्प्ररू० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२० । प्रमाणप० पृ० ६८ ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्मति० टी० पृ० ५५३ । प्रमा० नय० २।९ । प्रमाणमी० १।१।२८ । न्ययादी० पृ० १ । जैनतर्कभा० पृ० ५ ।

(F-73) "धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्वं मत्यवस्थानमवधारणं च धारणा प्रतिपत्तिः अवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगमः अवबोधः इत्यनर्थान्तरम् ।" तत्त्वार्थाधि० भा० १।१५ । अथैतस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा । **सर्वार्थसि० १।१५ । लघी० श्लो० ६ । राजवा० १।१५ । धवलाटी० सत्प्ररू० प्रमाणप० पृ० ६८ । सन्मति टी० पृ० ५५३ । प्रमा० नय० २।१० । प्रमाणमी० १।१।२९ । न्यायदी० पृ० ११ । जैनतर्कभा० पृ० ५ ।**

(F-74) "पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम् । प्रमाणफलयोः क्रमभेदेऽपि तादात्म्यमभिन्न-विषयत्वं च प्रत्येयम् ।" **लघी० स्ववृ० श्लो० ७** । "पूर्वपूर्वप्रमाणमुत्तरोत्तरं फलमिति क्रमः ।" प्रमाणवार्तिकालं० ३।३।१० । "तथा पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलमिति ।" **न्यायवि० टी० टि० पृ० ४० । सन्मति० टी० पृ० ५५३** । अवग्रहादीनां क्रमोपजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम् । **प्रमाणमी० १।१।३९ ।**

(F-75) "अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा । स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य । संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य । चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः ।" **लघी० स्ववृ० श्लो० ११ । सन्मति० टी० ५५३**

(F-76) "ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता वा(चा) भिनिबोधकम् । प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् । प्राक् शब्दयोजनात् शेषं श्रुतज्ञानमनेकप्रभेदम् ॥" **लघी० स्ववृ० श्लो० १०** ।

(F-77) "आभिनिबोधिकज्ञानस्यैव त्रिकालविषयस्यैते पर्याया नार्थान्तरतेति मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यस्यानर्थान्तरमेतदिति ।" **तत्त्वार्थाधि० भा० टी० १।१३** ।

(F-78) "अत्र च यत् शब्दसंयोजनात् प्राक् स्मृत्यादिकमविसंवादिव्यवहारनिर्वर्तनक्षमं प्रवर्तते तन्मतिः शब्दसंयोजनात् प्रादुर्भूतं तु सर्वं श्रुतमिति विभागः ।" - **सन्मति० टी० पृ० ५५३** ।

(F-79) "जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु ॥५९॥" प्रव० सार पृ० ७५ । पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्य आत्मन उत्पद्यमानं मतिश्रुतं परोक्षम् इत्याख्यायते । **सर्वार्थसि० पृ० ५९** । "अक्खस्स पोग्गलकया जं दव्विंदियमणा परा तेणं । तेहिं तो जं पाणं परोक्खमिह तमणुमाणं व ॥९०॥" **विशेषाव० भा०** । "परोक्षं शेषविज्ञानम् ।" लघी० श्लो० ३ । अक्षाद् आत्मनः परावृत्तं परोक्षम्, ततः परैः इन्द्रियादिभिः उक्ष्यते सिञ्च्यते अभिवर्ध्यते इति परोक्षम् । **तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२** । परोक्षमविशद् ज्ञानात्मकम् । **प्रमाणप० पृ० ६९ । सन्मति० टी० पृ० ५९५ । परोक्षमितरत् । परीक्षामु० ३।१ । न्याययाव० श्लो० ४ । प्रमाणनय० ३।१ । प्रमाणमी० ३।१ । पञ्चाध्या० श्लो० ६९६ ।**

(F-80) "प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमं भेदम् ।" **परीक्षामु० ३।२ । लघी०**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्ववृ० श्लो० १० । प्रमाणनय० ३।१ । प्रमाणमी० १।२।३ ।

(F-81) "संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः । स देवदत्तः तथा ।" **परीक्षामु० ३ ३-४ ।** "तत्र संस्कारप्रबोधसंभूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मरणमिति । तत्तीर्थकरबिम्बमिति यथेति ।" **प्रमाणनय० ३।३-४ । प्रमाणप० पृ० ६९ । प्रमाणमी० १।२।३ ।**

(F-82) "दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम् । तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि । यथा स एवायं देवदत्तः । गोसदृशो गवयः । गोविलक्षणो महिषः । इदमस्माद् दूरम् । वृक्षोऽयमित्यादि ।" **परीक्षामु० ३।५-१० । प्रमाणप० पृ० ६९ । प्रमाणनय० ३।४-६ । प्रमाणमी० १।२।४**

(F-83) "उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः . इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च । यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।" **परीक्षामु० ३।११-१३ ।** "उपलम्भानुपलम्भसंभवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसंबन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन्सत्येव भवतीत्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्क इति ।" **प्रमाणनय० ३।७ । प्रमाणसं० का० १२ । प्रमाणप० पृ० ७० । प्रमाणमी० १।२।५ ।**

(F-84) "तत्र हेतुग्रहणसंबन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थमिति ।" **प्रमाणनय० ३।१० ।**

(F-85) "अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम् ।" **न्यायाव० श्लो० २२ ।** "साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नम् ।" **प्रमाणसं पृ० १०२ । न्यायवि० श्लो० २६९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१४ । परीक्षमु० ३।१५ ।** तथा चाभ्यधायि कुमारनन्दिभट्टारकैः - अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमङ्ग्यते । प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः ॥ **प्रमाणप० पृ० ७२ । प्रमाणनय० ३।११ ।**

(F-86) "पक्षः प्रसिद्धो धर्मी, प्रसिद्धविशेषणविशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेषः ।" **न्यायप्रवे० पृ० १ ।** साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः । **न्यायाव० श्लो० १४ ।** स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्षः इति । **न्यायवि० पृ० ७९ ।** साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम् । **न्यायवि० श्लो० १७२ । परीक्षामु० ३।१५ । प्रमाणनय० ३।१२ । जैनतर्कभा० पृ० १३ । प्रमाणमी० १।२।१३ ।**

(F-87) "साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी । पक्ष इति यावत् । प्रसिद्धो धर्मी ।" **परीक्षामु० ३।२५-२७ । न्यायप्र० पृ० १ । प्रमाणमी० १।२।१५-१६ ।**

(F-88) "त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम् ।" **न्यायवि० ३।१ ।** "साध्याविनाभुवो हेतोर्वचो यत्प्रतिपादकम् । परार्थमनुमानं तत्पक्षादिवचनात्मकम् ॥" **न्यायवा० श्लो० १३ । परीक्षामु० ३।५५ । प्रमाणमी० २।१।१-२ ।** पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारादिति । **प्रमाणनय० ५।२३ ।**

(F-89) "बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ।" **परीक्षामु० ३।४६ ।** मन्दमतीस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि प्रयोज्यानीति । **प्रमाणनय- ३।४२ । प्रमाणमी०**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२।१।१०

(F-90) "दृष्टान्तो द्वेधा । अन्वयव्यतिरेकभेदात् ।" **परीक्षामु- ३।४७ । न्यायाप्र० पृ० १ । प्रमाणनय० ३।४१ । प्रमाणमी० १।२।२१ ।**

(F-91) "साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः।" **परीक्षामु० ३।४८ । न्यायाप्र० पृ० १ न्यायाव० श्लो० १८ । प्रमाणनय० ३।४२-४३ । प्रमाणी० १।२।२२ ।**

(F-92) "साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ।" **परीक्षामु० ३।४९ । न्यायप्र० पृ० २ । न्यायाव० श्लो० १९ । प्रमाणनय० ३।४२, ४३ । प्रमाणमी० १।२।२२ ।**

(F-93) "हेतुरुपसंहार उपनयः ।" **परीक्षामु० ३।५० । प्रमाणनय० ३।४६, ४७ । प्रमाणमी० २।१।१४ ।**

(F-94) "प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ।" **परीक्षामु० ३।५१ । प्रमाणनय० ३।४८, ४९, प्रमाणमी० २।१।१५ ।**

(F-95) "परिणामी शब्दः, कृतकत्वात् ।" **परीक्षामु० ३।६५ । प्रमाणनय० ३।७३ ।**

(F-96) "त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, सपक्ष एव सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् ।" **न्यायवि० २।५ ।**

(F-97) "न च सपक्षे सत्त्वं पक्षधर्मत्वं विपक्षे चासत्त्वमात्रं साधनलक्षणम्, स श्यामः तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवदित्यत्र साधनाभासे तत्सद्भावसिद्धेः । सपक्षे हीतरत्र तत्पुत्रे तत्पुत्रत्वस्य साधनस्य श्यामत्वव्याप्तस्य सत्त्वं प्रसिद्धम्, विवादाध्यासिते च तत्पुत्रे पक्षीकृते तत्पुत्रत्वस्य सद्भावात् पक्षधर्मत्वम्, विपक्षे वाश्यामे क्वचिदन्यपुत्रे तत्पुत्रत्वस्याभावात् विपक्षेऽसत्त्वमात्रं च । न च तावता साध्यसाधनत्वं साधनस्य ।" **प्रमाणप० पृ० ७० । न्यायकुमु० पृ० ४४० । सन्मति० टी० पृ० ५९० । स्या० र० पृ० ५१८ । प्रमेयर० ३।१५ । प्रमाणमी० पृ० ४० ।**

(F-98) "तत्सद्भावे पक्षधर्मत्वाद्यभावेऽपि साधनस्य सम्यक्त्वप्रतीतेः उदेष्यति शकटं कृतिकोदयादित्यस्य पक्षधर्मत्वाभावेऽपि प्रयोजकत्वॉव्यवस्थितेः ।" **प्रमाणप० पृ० ७१ ।** तस्मात्प्रतीतिमाश्रित्य हेतुं गमकमिच्छता । पक्षधर्मत्वशून्योऽस्तु गमकः कृत्तिकोदयः । पल्वलोदकनैर्मल्यं तदागस्त्युदये स च । तत्र हेतुः सुनिर्णीतः पूर्वं शरदि सन्मतः । चन्द्रादौ जलचन्द्रादि सोऽपि तत्र तथाविधः । छायादिपादपादौच सोऽपि तत्र कदाचन ॥ **तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१ ।**

(F-99) "नो हि शकटे धर्मिणि उदेष्यतायां साध्यायां कृत्तिकाया उदयोऽस्ति तस्य कृत्तिकाधर्मत्वात् ततो न पक्षधर्मत्वम् ।" **प्रमाणप० पृ० ७१ । न्यायकुमु० पृ० ४४० । प्रमेयक० पृ० ३५४ । स्या० र० पृ० ५१९ । प्रमेयर० ३।१५ । प्रमाणमी० पृ० ४० ।**

(F-100) "तथा न चन्द्रोदयात् समुद्रवृद्ध्यनुमानं चन्द्रोदयात् (पूर्वं पश्चादपि) तदनुमानप्रसङ्गात् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्रोदयकाल एव तदनुमानं तदैव व्याप्तेर्गृहीतत्वादिति चेत्, यद्येवं तत्कालसंबन्धित्वमेव साध्यसाधनयोः, तदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमानं चन्द्रोदयश्च तत्संबन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम् ।" **प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३ ।**

(G-1) "कालादिर्धर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्गः ।" **प्रमाणसं० पृ० १०४ ।** "यदि पुनराकाशं कालो वा धर्मी तस्योदेष्यच्छकटत्वं साध्यं कृत्तिकोदयसाधनं पक्षधर्म एवेति मतम्, तदा धरित्रीधर्मिणी महोदध्याधाराग्निमत्त्वं साध्यं महानसधूमवत्त्वं साधनं पक्षधर्मोऽस्तु तथा च महानसधूमो महोदधौ अग्निं गमयेदिति न कश्चिदपक्षधर्मो हेतुः स्यात् ।" **प्रमाणप० पृ० ७१ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०० ।** "काककाष्ण्यदिरपिप्रासादधावल्ये साध्ये जगतो धर्मित्वेन पक्षधर्मत्वस्य कल्पयितुं सुशकत्वात् ।" **न्यायकुमु० पृ० ४४० । सन्मति- टी० पृ० ५९१ । स्या० र० पृ० ५१९ । जैनतर्कभा० पृ० १२ ।**

(G-2) "अनित्यः शब्दः श्रावणत्वात् सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् इत्यादेः सपक्षे सत्त्वाभावेऽपि गमकत्वप्रतीतेः ।" **न्यायकुमु० ४४० ।**

(G-3) "आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।" **परीक्षामु० ३।९९ । प्रमाणनय० ४।९ ।**

(G-4) "उपचारादाप्तवचनं चेति ।" **प्रमाणनय० ४।२ ।**

(G-5) "समस्त्यत्र प्रदेशे रत्नविधानं सन्ति रत्नसानुप्रभृतय इति ।" **प्रमाणनय० ४।३ ।**

(G-6) "यथा मेर्वादयः सन्ति ।" **परीक्षामु० ३।१०१ ।**

(G-7) "अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानाति यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्त इति ।" **प्रमाणनय० ४।४ ।**

(G-8) "स च द्वेधा लौकिको लोकोत्तरश्चेति । लौकिको जनकादिर्लोकोत्तरस्तु तीर्थंकरादिरिति ।" **प्रमाणनय० ४।६, ७ ।**

(G-9) "तेन मुख्यसंव्यवहारेण... ।" **सन्मति० टी० पृ० ५१५ ।**

(G-10) "यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ।" **लघी० श्लो० २२ । सिद्धिवि० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७० । अष्टसह० पृ० १६३ । सन्मति० टी० पृ० ५९५ ।**

(G-11) "तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणम् यथा तत्संख्यादौ विसंवादकत्वाद-प्रमाणं प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात् ।" **लघी० स्ववृ० श्लो० २२ ।** येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदः तदपेक्षया प्रामाण्यमिति । तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या, प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्य भूताकारावभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि संख्यासंख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात् । तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत् । **अष्टश० अष्टसह० पृ० २७७ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७० । सन्मति० टी० पृ० ५९५ ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(G-12) "मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।" **त० सू० १।९ ।**

(G-13) "आद्ये परोक्षम् ।" **त० सू० १।११ ।**

(G-14) "प्रत्यक्षमन्यत्" **त० सू० १।१२ ।**

(G-15) "अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धौ बहिरुदाहृतिः । व्यर्था स्यात्तदसद्भावेऽप्येवं न्यायविदो विदुः ।" **न्यायावता० श्लो० २० ।**

(G-16) "सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् । असदेव विपर्यासात् न चैव व्यवतिष्ठते ।" **आप्तमी० श्लो० १५ ।**

(G-17) "अत्र च स्निग्धरूक्षशीतोष्णाश्चत्वार एवाणुषु संभवन्ति, स्कन्धेष्वष्टावपि यथासंभवमभिधानीयाः ।" **तत्त्वार्थाधि० भा० टी० ५।२३ ।**

(G-18) "अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशं प्रत्यक्षम् ।" **न्यायाव० श्लो० ४ ।** "प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा ।" **न्यायविनि० १।३ । प्रमाणप० पृ० ६७ । परीक्षामु० २।३ । पञ्चाध्यायी १।६१६ । न्यायाव० श्लो० ४। जैनतर्कवा० पृ० ९३ । प्रमाण० तत्त्वा० २।२ । प्रमाणमी० १।१।१३ ।**

(G-19) "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् ॥३॥" **प्रमाणस० पृ० ८ ।** तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् । न्यायवि० पृ० १६ । **तत्त्वसं० का० १२१४ ।** "इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्न-मव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।" **न्या० सू० १।१।४ ।** "अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्, वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा ।" **न्यायभा० पृ० १७ । न्या० वा० पृ० २८ ।** सम्यगपरोक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षम् । न्यायसार पृ० २ । आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत् । **वैशे० द० ३।१।१८ ।** "अक्षमक्षं प्रतीत्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्... सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसंनिकर्षाद् अवितथमव्यपदेश्यं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।" **प्रशस्तपा० पृ० १८६ ।** इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, अथवा ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । **मुक्तावली श्लो० ५२ । न्यायबो० ४७ ।** "साक्षात्काररूपप्रमाकरणं प्रत्यक्षम् ।" **न्यायसि० मं० पृ० २ ।** "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम् ।" **सांख्यका० ५।** "इन्द्रियप्रमाणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।" **योगद० व्यासभा० पृ० २७ ।** यत्संबद्धं सत् तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् । **सांख्यद १।८९ ।** सत्संप्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् । **मीमां० द० १।१।४ ।** साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम् । प्रकरणपं० पृ० ५१ । तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः- करणं प्रत्यक्षप्रमाणम् । प्रत्यक्षत्वम् चात्र चैतन्यमेव (पृ० १२) तथा च तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याऽभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम् । **वेदान्तपरि० पृ० २६ ।** आत्मेन्द्रियमनोऽर्थात् संनिकर्षात् प्रवर्तते । व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते । **चरकसं० ११।२० ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(G-20) "बुद्धिपूर्वा क्रियां दृष्ट्वा स्वलेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात् । मन्यते बुद्धिसद्भावः सा न येषु न तेषु धीः ॥" **सन्तान० सि० श्लो० १ । त० वा० पृ० २६ ।**

(G-21) "अत एव सर्वे प्रत्यया अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययवदिति प्रमाणस्य परिशुद्धिः ।" **प्रमाणवार्तिकालं ३।३३१ ।**

(G-22) "उपन्ने वा विगए वा धुवे वा ।" **स्था० स्था० १० ।** "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।" **तत्त्व० सू० ५।३० ।**

(G-23) "न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् । व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ।" **आप्तमी० श्लो० ५७ ।**

(G-24) "उत्पादादयो हि परस्परमनपेक्षाः खपुष्पवन्न सन्त्येव । तथा हि-उत्पादः केवलो नास्ति स्थितिविगमरहितत्वाद्वियत्कुसुमवत् तथा स्थितिविनाशौ प्रतिपत्तव्यौ ।" **अष्टश० अष्टसह० पृ० २११ ।**

(G-25) "द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्य...सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरया आकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसदृशे कुण्डले भवतः, आकृतिरन्या अन्या न भवति द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते ।" **पात० महाभा० १।१।१ । योगभा० ४।१३** । वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा । तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥२१॥ हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ॥२२॥ न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् । स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ॥२३॥ **मी० श्लो० पृ० ६१९ ।**

(G-26) "तस्मादयमुत्पित्सुरेव विनश्यति नश्वर एव तिष्ठति, स्थास्नुरेवोत्पद्यते स्थितिरेवोत्पद्यते, विनाश एव तिष्ठति, उत्पत्तिरेव नश्यति, स्थितिरेव स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति, विनाश एव स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति उत्पत्तिरेवोत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति स्थास्यतीति न कुतश्चिदुपरमति ।" **अष्टश० अष्टसह० पृ० ११२ ।**

(G-27) "किमिदं कार्यत्वं नाम । स्वकारणसत्तासंबन्धः, तेन सत्ता कार्यमिति व्यवहारात् ।" **प्रश० व्यो० पृ० १२९ ।**

(G-28) "अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत् ।" **प्र० वा० २।३ ।**

(G-29) "अथोत्पादव्ययध्रोव्ययुक्तं यत्तत्सदिष्यते । एषामेव न सत्त्वं स्यात् एतद्भावावियोगतः ॥ यदा व्ययस्तदा सत्त्वं कथं तस्य प्रतीयते । पूर्वं प्रतीते सत्त्वं स्यात् तदा तस्य व्ययः कथम् ॥ ध्रौव्येऽपि यदि नास्मिन् धीः कथं सत्त्वं प्रतीयते । प्रतीतेरेव सर्वस्य तस्मात्सत्त्वं कुतोऽन्यथा । तस्मान्न नित्यानित्यस्य वस्तुनः संभवः क्वचित् । अनित्यं नित्यमथवास्तु एकान्तेन युक्तिमत् ॥" **प्रमाणवार्तिकालं० पृ० १४२ ।** "ध्रौव्येण उत्पादव्ययययोर्विरोधात्, एकस्मिन् धर्मिण्ययोगात् ।" **हेतुबि० टी० पृ० १४६ ।** "भावस्स णत्थि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादा ॥१५॥" पंचास्तिकाय । द्रव्यपर्यायरूपत्वाद् द्वैरूप्यं वस्तुनः किल । तयोरेकात्मकत्वेऽपि भेदः संज्ञादिभेदतः ॥१॥ भेदाभेदोक्तदोषाश्च तयोरिष्टौ कथं न वा । प्रत्येकं ये प्रसज्यन्ते द्वयोर्भावे कथन्न ते ॥६२॥ न चैवं गम्यते तेन वादोऽयं जात्मकल्पितः ॥४५॥ **हेतुबि- टी- पृ० १०४- १०७** । तत्त्वसं० पृ० ४८६ । तद्वति सामान्यविशेषवति वस्तुन्यभ्युपगम्यमाने अत्यन्तमभेदभेदौ स्याताम्... अथ सामान्यविशेषयोः कथंचिद्भेद इष्यते । अत्राप्याह-अन्योन्यमित्यादि । सदृशासदृशात्मनोः सामान्यविशेषयोः यदि कथंचिदन्योन्यं परस्परं भेदः तदैकान्तेन तयोर्भेद एव स्यात्... दिगम्बरस्यापि तद्वति वस्तुन्यभ्युपगम्यमाने अत्यन्तभेदाभेदौ स्याताम् । मिथ्यावाद एव स्याद्वादः । **प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० ३३२-४२** । सद्भूता धर्माः सत्तादिधर्मैः समाना भिन्नाश्चापि यथा निर्ग्रन्थादीनाम् । तन्मतं न समञ्जसम् । कस्मात् न भिन्नाभिन्नमतेऽपि पूर्ववत् भिन्नाभिन्नयोर्दोषभावात् उभयोरेकस्मिन् असिद्धत्वात् भिन्नाभिन्नकल्पना न सद्भूतं न्यायासिद्धं सत्याभासं गृहीतम् । **विज्ञप्ति० परि० २ खं० २** । एकं हीदं वस्तूपलभ्यते । तच्चेदंभावः किमिदानीं भावो भविष्यति । तद्यपि पररूपतयाभावः, तदा घटस्य पटरूपता प्राप्नोति । यथा पररूपतया भावत्वेऽङ्गीक्रियमाणे पररूपानुप्रवेशः तथा अभावत्वेऽप्यङ्गीक्रियमाणे पररूपानुप्रवेश एव, ततश्च सर्वं सर्वात्मकं स्यात् । **तत्त्वोप- पृ० ७८-७९** । नित्यानित्ययोः विधिप्रतिषेधरूपत्वात् अभिन्ने धर्मिण्यभावः एवं सदसत्त्वादेरपीति । **प्रश० व्यो० पृ० २०** । नैकस्मिन्नसंभवात् २।२।२३ । न ह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः संभवति, शीतोष्णवत् । य एते सप्तपदार्था निर्धारिता एतावन्त एवं रूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्युः, इतरथा हि तथा वा स्युरतथा वेत्यनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवन्नाप्रमाणमेव स्यात् । अनेकात्मकं वस्त्विति निर्धारितरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यमानं संशयज्ञानवन्नाप्रमाणं भवितुमर्हति । नेति ब्रूमः । निरङ्कुशं ह्यनेकान्तत्वं सर्ववस्तुषू प्रतिजानानस्य निर्धारणस्यापि वस्तुत्वाविशेषात्, स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादिविकल्पोपनिपातादनिर्धारणात्मकतैव स्यात् । एवं निर्धारयितुर्निर्धारणफलस्य च स्यात्पक्षेऽस्तिता स्याच्च पक्षे नास्तितेति । एवं सति कथं प्रमाणभूतः संस्तीर्थंकरः प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमितिष्वनिर्धारितसूपदेष्टुं शक्नुयात् । **ब्रह्मसू० शां० भा० २।२।३३ । विज्ञानामृत-भ० श्रीकण्ठभा० अणुभा०, निम्बार्कभा० २।२।३३ । वेदान्तदी० पृ० १११** ।

(G-30) "विरोधस्तावदेकान्ताद्वक्तुमत्र न युज्यते ।" **मी० श्लो० पृ० ५६०** । यदप्युक्तं भेदाभेदयोर्विरोध इति, तदभिधीयते, अनिरूपितप्रमाणप्रमेयतत्त्वस्येदं चोद्यम् । एकस्यैकत्वमस्तीति प्रमाणादेव गम्यते । नानात्वं तस्य तत्पूर्वं कस्माद् भेदोऽपि नेष्यते । यत्प्रमाणैः परिच्छिन्नमविरुद्धं हि तत् तथा । वस्तुजातं गवाश्वादि भिन्नाभिन्नं प्रतीयते । न ह्यभिन्नं भिन्नमेव वा क्वचित् केनचित् दर्शयितुं शक्यते । सत्ताज्ञेयत्वद्रव्यत्वादिसामान्यात्मना सर्वमभिन्नं व्यक्तात्मना तु परस्परवैलक्षण्याद्भिन्नम् । तथाहि प्रतीयते तदुभयं विरोधः कोऽयमुच्यते । विरोधे चाविरोधे च प्रमाणं कारणं मतम् । एकरूपं प्रतीतत्वात् द्विरूपं तत्तथेष्यताम् । एकरूपं भवेदेकमिति नेश्वरभाषितम् ॥ अत्र प्रागल्भ्यात् कश्चिदाह-यथा संशयज्ञानं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यप्रमाणं तथा भेदाभेदज्ञानमिति, तदसत् परस्परोपमर्देन न कदाचित् सहस्थितिः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रमेयानिश्चयाच्चैव संशयस्याप्रमाणता । अत्र पुनः कारणं पूर्वसिद्धं मृत्सुवर्णादिलक्षणं ततः कार्यं पश्चाज्जायमानं तदाश्रितमेव जायते... अतो भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्मेति स्थितम् । संग्रहश्लोकः-कार्यरुपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना । हेमात्मना यथाभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा ॥ **भास्करभा० पृ० १६-१७ ।** तस्मात् प्रमाणबलेन भिन्नाभिन्नत्वमेव युक्तम् । ननु विरुद्धौ भेदाभेदौ कथमेकत्र स्याताम् । न विरोधः सह दर्शनात् । यदि हि इदं रजतम्, नेदं रजतम् इतिवत् परस्परोपमर्देन भेदाभेदौ प्रतीयेयाताम् ततो विरुद्ध्येयाताम् न तु तयोः परस्परोपमर्देन प्रतीतिः । इयं गौरिति बुद्धिद्वयम् अपर्यायेण प्रतिभासमानमेकं वस्तुद्वयात्मकं व्यवस्थापयति सामानाधिकरण्यं हि अभेदमापादयति अपर्यायत्वं च भेदम्, अतः प्रतीतिबलादविरोधः । अपेक्षाभेदाच्च, एवं धर्मिणो द्रव्यस्य रसादिधर्मान्तररूपेण रूपादिभ्यो भेदः द्रव्यरूपेण चाभेदः । **शास्त्रदी० पृ० ३९३-९५ ।** विरोधाभावस्तल्लक्षणाभावात् । न चैवमस्तित्वनास्तित्वयोः क्षणमात्रमपि एकस्मिन् वृत्तिरस्ति इति भवताभ्युपगम्यते यतो बध्यघातकभावरूपो विरोधः तयोः कल्प्येत । न च तथा जीवस्यास्तित्वनास्तित्वे पूर्वोत्तरकालभाविनि । यदि स्याताम् अस्तित्वकाले नास्तित्वाभावात् जीवसत्ता मात्रं सर्वं प्राप्नुवीत । नास्तित्वकाले च अस्तित्वाभावात्तदाश्रेयो बन्धमोक्षादिव्यवहारो विरोधमुपगच्छेत् । सर्वथैवासतः पुनः आत्मलाभाभावात्, सर्वथा च सतः पुनरभावप्राप्त्यनुपपत्तेः नैतयोः सहानवस्थानं युज्यते । तथा जीवादिषु प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकभावोऽपि न विरोधः संभवति । न च तथा अस्तित्वं नास्तित्वस्य प्रयोजनं प्रतिबन्ध्नाति तस्मिन्नेव काले परद्रव्यादिरूपेणानुपलब्धिबुद्ध्युत्पत्तिदर्शनात् । नास्तित्वं वा सदस्तित्वप्रयोजनं प्रतिबन्धाति तदैव स्वरूपाद्यपेक्षयोपलब्धिबुद्धिदर्शनात् । तस्माद् वाङ्मात्रमेव विरोधः । **त० वा० पृ० २६१ । प्रमाणसं० पृ० १०३ । अष्टश० अष्टसह० पृ० २०६ । तत्त्वार्थ० श्लो० पृ० ४३४ । सन्मति० टी० पृ० ४५१ । न्यायकुमु० पृ० ३७० । स्या० र० पृ० ७४१ । प्रमेयरत्न मा० ४।१ । प्रमाणमी० पृ० २८ । स्याद्वादमं० पृ० ११७ । सप्तभंगीत० पृ० १८१ । शास्त्रवा० टी० पृ० २६६ ।**

(G-31) "यथा एकस्य देवदत्तस्य पिता पुत्रो भ्राता भागिनेय इत्येवमादयः संबन्धा जनकत्वजन्यत्वादिनिमित्ता न विरुद्ध्यन्ते अर्पणाभेदात् । पुत्रापेक्षया पिता, पित्रपेक्षया पुत्र इत्येवमादिः तथा द्रव्यमपि सामान्यपेक्षया नित्यम्, विशेषार्पणयानित्यमिति नास्ति विरोधः ।" **सर्वार्थसि० ५।३२ ।** अर्पणाभेदादविरोधः पितापुत्रादिसंबन्धवत् । **त० वा० पृ० ३६ ।**

(G-32) "संशयहेतुरिति चेन्न, विशेषलक्षणोपलब्धेः ।" **त० वा० पृ० ३६ । अष्टसह० पृ० २०७ । न्यायकुमु० पृ० ३६८ ।**

(G-33) "तत एव नानावस्था, स्थित्यात्मनि जन्मविनाशानिष्टेर्जन्मात्मनि स्थितिविनाशानुपगमाद्विनाशे स्थितिजन्मानवकाशात् प्रत्येकं तेषां भयात्मकत्वानुपगमात् । न चैवमनेकान्ताभ्युपगमादनेकान्ताभावः, सम्यगेकान्तस्यानेकान्तेन विरोधाभावात्, नयार्पणादेकान्तस्य प्रमाणार्पणादनेकान्तस्यैवोपदेशात् तथैव दृष्टेष्टाभ्यामविरुद्धस्य तस्य व्यवस्थितेः ।" **अष्टसह० पृ० २०७ ।**

(G-34) "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः । अनेकान्तः प्रमाणान्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वृ० स्व० श्लो० १०३ । त० वा० पृ० ३५ ।

(G-35) "नापि वैयधिकरण्यम्, एकाधारतया निर्बाधबोधे तयोः प्रतिभासमानत्वात् ।" **न्यायकुमु० पृ० ३७१ । अष्टसह० पृ० २०६ ।**

(G-36) "नापि सङ्करव्यतिकरौ, स्वस्वरूपेणैव अर्थे तयोः प्रतीयमानत्वात् ।" **न्यायकुमु० पृ० ३७१** । "एकत्र बहुभेदानां संभवान्मेचकादिवत् ॥" **न्यायविनि० ३।४५** । "यथा कल्माषवर्णस्य यथेष्टं वर्णनिग्रहः ॥५७॥ चित्रत्वाद्वस्तुनोऽप्येवं भेदाभेदावधारणम् । यदा तु शवलं वस्तु युगपत्प्रतिपद्यते ॥६२॥ तदान्यानन्यभेदादि सर्वमेव प्रलीयते ॥" मीमांसाश्लो० आकृतिवाद । "एकाऽनेकस्वभावात्मकत्वं मेचकस्य वा । कथं च एकस्य नरसिंहत्वम् उमेश्वरत्वं वा स्यात् ।" **न्यायकुमु० पृ० ३६९।**

(G-37) "स्वर्गापवर्गयोश्च पक्षे भावः पक्षे चाभावस्तथा पक्षे नित्यता पक्षे चानित्यतेत्यनवधारणायां प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । अनादिसिद्धजीवप्रभृतीनां च स्वशास्त्रावधृतस्वभावानामयथावधृतस्वभावत्वप्रसङ्गः ।" **ब्रह्म० शां० भा० २।२।३३ ।** "तथा मुक्तावप्यनेकान्तो न व्यावर्तत इति मुक्तो न मुक्तश्चेति स्यात् । एवं च सति स एव मुक्तः संसारी चेति प्रसक्तेः ।" **प्रश० व्यो० पृ० २० च ।**

(G-38) "विरोधादेकमनेकस्वभावमयुक्तमिति चेत् तथा च प्रावटुकप्रवादः । एकं च चित्रं चेत्येतच्च चित्रतरं तत इति । को विरोधो नीलादीनां न तावदितरेतराभावात्मको भावस्वभावानुगमात् । अन्योन्यसंश्रयापत्तेश्च स्वरूपान्यत्वं विरोध इति चेत् सत्यमस्त्येव तथापि चित्रात्मनो रूपस्य नायुक्तता विचित्रकारणसामर्थ्यभाविनस्तस्य सर्वलोकप्रसिद्धेन प्रत्यक्षेणेवोपपादितत्वात् ।" **प्रश० कन्द० पृ० ३० ।**

(G-39) "द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः । अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद् विरोधगतिः । शीतोष्णस्पर्शवत् । परस्परपरिहारस्थितिलक्षणतया वा भावाभाववत् ।" **न्यायवि० ३।७२-७५ ।**

(G-39/1) तथाहि "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" इति प्रथममुक्त्वा, पश्चात् तत्रैव पठितम् - षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ तथा अग्नीषोमीयं पशुमालभेत सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत इत्यादिवचनानि कथमिव न पूर्वापरविरोधमनुरुध्यन्ते । तथा नानृतं ब्रूयात् इत्यादिना अनृतभाषणं प्रथमं निषिध्य ब्राह्मणार्थेऽनृतं ब्रूयात् इत्यादि तथा न नर्मयुक्तं.. **स्या० मं० पृ० ५१ ।**

(G-40) "सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम् । श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च । आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ।" **मनु० १।१००-१०१ ।**

(G-41) "तथा अपुत्रस्य गतिर्नास्ति इति लपित्वा, अनेकानि सहस्राणि.." **स्या० मं० पृ० ५२ ।**

(G-42) "उद्धृतोऽयम्" **स्या० मं० पृ० १३० ।**

(G-43) "धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसम् ।" **वैशे० सू० १।१।४ ।**

(G-44) "भावपरिज्ञानापेक्षित्वादभावस्य पृथगनुपसंख्यानम्.." **प्रश० व्यो० पृ० २० ।** "अभावस्य पृथगनुपदेशः भावपारतन्त्र्यात् न त्वभावात् ।" **प्रश० कन्दली० पृ० ७ ।** अभावस्य च समानतन्त्रसिद्धस्याप्रतिषिद्धस्य न्यायदर्शने मानसेन्द्रियतासिद्धिवदत्राप्यविरोधाद् अभ्युपगमसिद्धान्त-सिद्धत्वात् । **न्यायली० पृ० ३ ।**

(G-45) "पृथिव्यापस्तेजो-वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।" **वैशे० सू० १।१।५**

(G-46) "भासामभावरूपत्वाच्छायायाः ।" **प्रश० व्यो० पृ० ४६ ।** द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्ति-वैधर्म्यादभावस्तमः । **वैशे० सू० ५।२।१९ ।** उद्भूतरूपवद्यावत्तेजः संसर्गाभावस्तमः । **वैशे० उप० ५।२।२० ।**

(G-47) "पृथिवीत्वाभिसंबन्धात् पृथिवी । विषयस्तु द्व्यणुकादि क्रमेणारब्धस्त्रिविधो मृत्पाषाणस्थावरलक्षणः । तत्र भूप्रदेशाः- प्राकारेष्टकादयो मृत्प्रकाराः । पाषाणा उपलमणिवज्रादयः । स्थावरास्तृणौषधिवृक्षलतावतानवनस्पतय इति ।" **प्रश० भा० पृ० १३ ।**

(G-48) "अप्त्वाभिसंबन्धादापः । विषयस्तु सरित्समुद्रहिमकरकादि ।" **प्रश० भा० पृ० १४ ।**

(G-49) "तेजस्त्वाभिसंबन्धात् तेजः । विषयसंज्ञकं चतुर्विधग् सुवर्णादि ।" **प्रश० भा० पृ० १५**

(G-50) "वायुत्वाभिसंबन्धाद्वायुः ।" **प्रश० भा० पृ० १६ ।**

(G-51) "तत्राकाशस्य गुणाः शब्दसंख्यापरिमाणपृथकत्वसंयोगविभागाः शब्दलिङ्गाविशेषा-देकत्वं सिद्धम्.. विभववचनात् परममहत्परिमाणम् ।" **प्रश० भा० पृ० २३-२५ ।**

(G-52) "कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम् । काललिङ्गाविशेषादेकत्वं सिद्धम् । कारणे काल इति वचनात् परममहत्परिमाणम् ।" **प्रश० भा० पृ०२६ ।**

(G-53) "दिक् पूर्वापरादिप्रत्ययलिङ्गा मूर्तद्रव्यमवधिं कृत्वा मूर्तेष्वेव द्रव्येष्वेतस्मादिदं पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेनोत्तरेण पूर्वदक्षिणेन दक्षिणापरेण अपरोत्तरेण उत्तरपूर्वेण चाधस्तादुपरिष्टाच्चेति दश प्रत्यया यतो भवन्ति सा दिगिति, अन्यनिमित्तासंभवात् । दिग् लिङ्गाविशेषादङ्गसैकत्वेऽपि दिश, परममहर्षिभिः श्रुतिस्मृतिलोकसंव्यवहारार्थं मेरुं प्रदक्षिणमावर्तमानस्य भगवतः सवितुर्ये संयोगविशेषाः लोकपालपरिगृहीतदिक्प्रदेशानामन्वर्थाः प्राच्यादिभेदेन दशविधाः संज्ञाः कृताः अतो भक्त्या दश दिशः सिद्धाः ।" **प्रश० भा० पृ० २८ ।**

(G-54) "आत्मत्वाभिसंबन्धादात्मा । तथा चात्मेति वचनात्परममहत्परिमाणम् ।" **प्रश० भा० पृ० ३० ।**

(G-55) "मनस्त्वयोगान्मनः । सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये ज्ञानसुखादीनामभूत्वोत्पत्तिदर्शनात् करणान्तरमनुमीयते । श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनात् बाह्येन्द्रियैरगृहीतसुखादिग्राह्यान्तरभावाच्चान्तः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करणम् ।" प्रयत्नज्ञानायोगपद्यवचनात् प्रतिशरीरमेकत्वं सिद्धम् । पृथकत्वमप्यत एव । तदभाववचनादणु-परिमाणम् । प्रयत्नादृष्टपरिग्रहवशादाशुसंचारि चेति । **प्रश० भा० पृ० ३६ । न्यायसू० १।१।१६।**

(G-56) "लक्षणं च भेदार्थं व्यवहारार्थं चेति । तथाहि पृथिव्यादिनी इतरस्माद् भिद्यन्ते द्रव्याणीति वा व्यपहर्तव्यानि द्रव्यत्वयोगात् ।" - **प्रश० व्यो० पृ० १५० ।** पृथिव्यादीनां नवानामपि द्रव्यत्वयोगः । **प्रश० भा० पृ० २० ।** एतेन द्रव्यादिपदार्थस्य इतरेभ्यो भेदलक्षणमुक्तम् । **प्रश० कन्दली पृ० २० ।**

(G-57) "आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तिस्रः संज्ञा भवन्ति आकाशं कालो दिगिति ।" **प्रश० भा० पृ० ५८ ।**

(G-58) "रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ।" **वैशे० सू० १।१।६** । इति कण्ठोक्ताः सप्तदश । चशब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारादृष्टशब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः । **प्रश० भा० पृ० ३ ।**

(G-59) "स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः । क्षित्युदकज्वलनपवनवृत्तिः ।" **प्रश० भ० पृ० ४५ ।**

(G-60) "रसो रसनग्राह्यः । पृथिव्युदकवृत्तिः" **प्रश० भा० पृ० ४५ ।**

(G-61) "तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम् । पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति द्रव्याद्युपलम्भकं नयनसहकारि शुक्लाद्यनेकप्रकारं सलिलादिपरमाणुषु नित्यं पार्थिवपरमाणुष्वग्निसंयोगविरोधि सर्वकार्यद्रव्येषु कारणगुणपूर्वकमाश्रयविनाशादेव विनश्यतीति ।" **प्रश० भा० पृ० ४४ ।**

(G-62) "गन्धो घ्राणग्राह्यः । पृथिवीवृत्तिः ।" **प्रश० भा० पृ० ४५ ।**

(G-63) "शब्दोऽम्बरगुणः श्रोत्रग्राह्यः क्षणिकः कार्यकारणोभयविरोधी संयोगविभागशब्दजः प्रदेशवृत्तिः ।" **प्रश० भा० पृ० १४४ ।**

(G-64) "एकादिव्यवहारहेतुसंख्याः ।" **प्रश० भा० पृ० ४८ ।**

(G-65) "प्राप्तिपूर्वकाप्राप्तिर्विभागः ।" **प्रश० भा० पृ० ६७ ।**

(G-66) "अप्राप्तयोः प्राप्तिसंयोगः ।" **प्रश० भा० पृ० ६२ ।**

(G-67) "परिमाणं मानव्यवहारकारणम् ।" **प्रश० भा० पृ० भ० २ ।**

(G-68) "पृथक्त्वमपोद्धारव्यवहारकारणम् ।" **प्रश० भा० पृ० ५९ ।**

(G-69) "परत्वमपरत्वं च परापराभिधानप्रत्ययनिमित्तम् । तत्तु द्विविधं दिक्कृतं कालकृतं च ।" **प्रश० भा० पृ० ७६ ।**

(G-70) "बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः ।" **प्रश० भा० पृ० ४३ ।**

(G-71) "अविद्या चतुर्विधा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा ।" **प्रश० भा० पृ० ८४ ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(G-72) "विद्यापि चतुर्विधा प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा ।" **प्रश० भा० पृ० ९४ ।**

(G-73) "लिङ्गदर्शनेच्छानुस्मरणाद्यपेक्षादात्ममनसो संयोगविशेषात् पट्वभ्यासादरप्रत्ययजनिताच्चसंस्काराद्दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु शेषानुव्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुरतीतविषया स्मृतिरिति ।" **प्रश० भा० पृ० १२८ ।**

(G-74) "आम्नायविधातृणामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेष्वनुपनिबद्धेषु चात्ममनसो संयोगाद् धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभं यथार्थनिवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तदार्षमित्याचक्षते ।" **प्रश० भा० पृ० २९ ।**

(G-75) "अनुग्रहलक्षणं सुखम् ।" **प्रश० भा० पृ० १३० ।**

(G-76) "उपघातलक्षणं दुःखम् ।" **प्रश० भा० पृ० १३१ ।**

(G-77) "स्वार्थं परार्थं वाप्राप्तप्रार्थनेच्छा मैथुनेच्छा कामः । अभ्यवहारेच्छाभिलाषः । पुनः पुनर्विषयानुरञ्जनेच्छा रागः । अनासन्नक्रियेच्छा संकल्पः । स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःखप्रहाणेच्छा कारुण्यम् । दोषदर्शनाद्विषयत्यागेच्छा । परवञ्चनेच्छा उपधा । अन्तर्निगूढेच्छा भावः ।" **प्रश० भा० पृ० १३१ ।**

(G-78) "धर्मः पुरुषगुणः" **प्रश० भा० पृ० १३८ ।**

(G-79) "अधर्मोऽप्यात्मगुणः" **प्रश० भा० पृ० १४२ ।**

(G-80) "प्रयत्नः संरम्भ उत्साह इति पर्यायाः । स द्विविधो-जीवनपूर्वकः इच्छाद्वेषपूर्वकश्च ।" **प्रश० भा० पृ० १३२ ।**

(G-81) "संस्कारस्त्रिविधो वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च ।" **प्रश० भा० पृ० १३६ ।**

(G-82) "प्रज्वलनात्मको द्वेषः ।" **प्रश० भा० पृ० १३२ ।**

(G-83) "स्नेहोऽपां विशेषगुणः ।" **प्रश० भा० पृ० १३५ ।**

(G-84) "गुरुत्वं जलभूम्योः पतनकर्मकारणम् ।" **प्रश० भा० पृ० १३३ ।**

(G-85) "द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम् ।" **प्रश० भा० पृ० १३४ ।**

(G-86) "वेगो मूर्तिमत्सु पञ्चसु.." **प्रश० भा०पृ० १३६ ।**

(G-87) "प्रशस्तपादभाष्यकाराः ।" **प्रश० भा० पृ० १३६ ।**

(G-88) "द्रव्ये तावद् त्रिविधे महत्यनेकद्रव्यवत्त्वोद्भूतरूपप्रकाशचतुष्टयसंनिकर्षाद् धर्मादिसामग्र्ये च स्वरूपा लोचनमात्रम् सामान्यविशेषद्रव्यगुणकर्मविशेषणापेक्षादात्मनः संनिकर्षात् प्रत्यक्षमुत्पद्यते सद् द्रव्यं पृथिवी विषाणी शुक्लो गौर्गच्छतीति ।" **प्रश० भा० पृ० ९५ ।**

(G-89) "अस्मद्विशिष्टानां तु योगिनां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तरा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते वियुक्तनां पुनश्चतुष्टयसंनिकर्षाद्योगजधर्मानुग्रहसामर्थ्यात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु प्रत्यक्षमुत्पद्यते ।" - **प्रश० भा० पृ० ९७ ।**

(G-90) "कुटीचरो ब्रह्मचारी कुटुम्बं विसृजेत् । पात्रं विसृजेत् । पवित्रं विसृजेत् । दण्डाल्लोकाश्च विसृजेदिति होवाच । अत ऊर्ध्वममन्त्रवदाचरेत् । ऊर्ध्वगमनं विसृजेत् । औषधवदशनमाचरेत् । त्रिसंध्यादौ स्नानमाचरेत् । संधिं समाधावात्मन्याचरेत् । सर्वेषु वेदेष्वारण्यकमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदिति ॥" आरुणि० २ । "कुटीचको बहूदको हंसः परमहंसः तुरीयातीतोऽवधूतश्चेति । कुटिचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिख्यादिमन्त्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्डधारी त्रिदण्डः । बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्डधारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकवलाशी हंसो जटाधारी त्रिपुण्डोऽर्ध्वपुण्डधारी असंक्लृप्तमाधुकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी । परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहष्वेकरात्रान्नादनपरः करपात्री एककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकेशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी । तुरीयातीतो गोमुखः फलाहारी । अन्नाहारी चेद्गृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः । अवधूतस्त्वनियमोऽभिशस्तपतितवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः । आतुरो जीवति चेत् क्रमसंन्यासः कर्तव्यः कुटीचकबहूदकहंसानां ब्रह्मचर्याश्रमादितूरीयाश्रमवत् कुटीचकादीनां संन्यासविधिः । परमहंसादित्रयाणां च कटिसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रं न कमण्डलुर्न दण्डः सार्ववर्णैकभैक्षाटनपरत्वं जातरूपधरत्वं विधिः ।" **ना० प० उ० ५।१ । शाट्यायनी० ११ ।**

(G-91) "सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः । निराकरणवच्छक्या न चासीदिति कल्पना ॥ न चागमेन सर्वज्ञस्तदीयेऽन्योन्यसंश्रयात् । नरान्तर णीतस्य प्रामाण्यं गम्यते कथम् ॥" **मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० ११७-८ ।**

(G-92) "एतच्च विशेषणत्रयमुपादानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम् इति प्रमाणलक्षणं सूचितम् ।" शास्त्रदी० पृ० १५२ । अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम् इति भट्टमीमांसका आहुः । **सि० चन्द्रोदय पृ० २० ।**

(G-93) "अप्रत्यक्षा नो बुद्धिः प्रत्यक्षोऽर्थः, स हि बहिर्देशसंबद्धः प्रत्यक्षमनुभूयते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिम् ।" शाबरभा० १।१।५ । अर्थापत्तिः ज्ञानस्य प्रमाणम्, सा च अर्थस्य ज्ञातत्वान्यथानुपत्तिप्रभवा । प्रागर्थस्य ज्ञातत्वाभावान्नोत्पद्यते । ज्ञाते त्वर्थे पश्चात्तज्ज्ञातत्वानुपपत्त्या अर्थापत्तिप्रमाणमुपजायते । **मी० श्लो० टी० सू० १।१।५ । शून्यवाद श्लो० १८१-१८२ ।** ज्ञानक्रिया हि सकर्मिका कर्मभूतेऽर्थे फलं जनयति पाकादिवत् । तदेव च फलं कार्यभूतं कारणभूतं विज्ञानमुपकल्प्यतीति सिद्ध्यत्यप्रत्यक्षमपि ज्ञानम् । शास्त्रदी० १।१।५ ।

(G-94) "तस्मान्न बुद्धिविषयं प्रत्यक्षम्, अर्थविषयं हि तत् अतः सिद्धमानुमानिकत्वं बुद्धेः फलतः ।" **शाबर भा० पृ० ६७ । बृहती १।१।५ ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(G-95) "शास्त्रं शब्दविज्ञानात् असन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम् ।" **शाबर भा० १।१।५ ।**

(G-96) "अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन संबन्धः ।" **शाबरभा० १।१।५ ।**

(G-97) "तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम् । प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥ प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते । विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥" **मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३७-३८ ।**

(G-98) "वह्नेरनुमिता सूर्ये यानात्तच्छक्तियोग्यता ।" **मी० श्लो० अर्थापत्ति श्लो० ३ ।**

(G-99) "गवयोपमिता या गौस्तज्ज्ञानग्राह्यता मता ।" **मी० श्लो० अर्थापत्ति० श्लो० ४ ।**

(G-100) "अभिधानप्रसिद्ध्यर्थमर्थापत्त्यावबोधितात् । शब्दे बोधकसामर्थ्यात्तन्नित्यत्वप्रकल्पनम् ॥ अभिधा नान्यथा सिद्धयेदितिवाचकशक्तताम् । अर्थापत्यावगम्यैवं तदनन्यगते पुनः ॥ अर्थापत्त्यन्तरेण शब्दनित्यत्वनिश्चयः ॥" **मी० श्लो० अर्थापत्ति० श्लो० ५-७ ।**

(H-1) "प्रमाणाभावनिर्णीतचैत्राभावविशेषितात् । गेहाच्चैत्रबहिर्भावसिद्धिर्या त्विह दर्शिता ॥ तामभावोत्थितामन्यामर्थापत्तिमुदाहरेत् ।" **मी० श्लो० अर्थापत्ति- श्लो० ८-९ ।**

(H-2) "पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवचः श्रुतौ । रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥" **मी० श्लो० अर्थापत्तिः श्लो० ५१ ॥**

(H-3) तुलना "प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते । वस्तुसत्ताऽवबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥" **मी० श्लो० अभाव० श्लो० १ ।**

(H-4) "प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते । सात्मनः परिणामो वा विज्ञानं वान्यवस्तुनि ॥" **मी० श्लो० अभाव० श्लो० ११ ।** "तत्र कुमारिलेन त्रिविधोऽभावो वर्णितः आत्मनोऽपरिणाम एकः पदार्थान्तर्विशेषज्ञानं द्वितीय..... प्रमाणनिवृत्तिमात्रात्मकस्तृतीयः ।" **तत्त्वसं० पं० पृ० ४७३ ।**

(H-5) "न तावदिन्द्रियैरेषा नास्तीत्युत्पद्यते मतिः । भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ।" **मी० श्लो० अभाव० श्लो० १८ ।**

(H-6) "स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके । वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद्रूपं किंचित्कदाचन ॥" **मी० श्लो० अभाव० श्लो० १२ ।**

(H-7) "धर्मयोर्भेद इष्टो हि धर्म्यभेदेऽपि नः स्थिते ।" **मी० श्लो० अभाव० श्लो० २० ।**

(H-8) "पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरं तु फलम् ।" **मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ७०-७२ ।**

(H-9) "सामान्यं वा विशेषो वा ग्राह्यं नातोऽत्र कल्प्यते ।" **मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० १४ ।**

(H-10) "मदशक्ति वच्चैतन्यमिति ।" **प्रकरण पं० पृ० १४६ । न्यायमं० पृ० ४-७ । ब्रह्मसू०**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शां० भा० ३।३।५३ । न्यायकुमु० पृ० ३४२ । चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते । किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ॥ सर्वदर्शनसं० पृ० ५ । तेभ्य एव तथा ज्ञानं जायते व्यज्यतेऽथवा । **तत्त्वसं०** तेभ्यश्चैतन्यमिति, तत्र केचिद् वृत्तिकारा व्याचक्षते उत्पद्यते तेभ्यश्चैतन्यम्, अन्ये अभिव्यज्यते इति । **तत्त्वसं० पं० पृ० ५२० । ब्रह्मसू० शां० भा० ३।३।५३ प्रमेयक० पृ० ११७ ।**

(H-11) "यतः जलबुद्बुद्वज्जीवाः ।" यथैव हि समुद्रादौ नियामिकादृष्टरहिताः पदार्थसामर्थ्य-वशाद् वैचित्र्यभाजो बुद्बुदाः प्रादुर्भवन्ति यथा सुखदुःखवैचित्र्यभाजो जीवाः, पुनः कायाकारपरिणतभूतव्यतिरिक्ता नित्यादिस्वभावाः तत्सद्भावे प्रमाणाभावात् । **न्यायकुमु० पृ० ३४२ ।**

(H-12) "तथा चाभाणकः अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् । बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥" **सर्वदर्शनसं० पृ० ५ ।**

(H-13) "यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ इति लोकगाथाम् ।" **सर्वदर्शनसं० पृ० २ ।**

(H-14) "पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा ।" **तत्त्वोप० पृ० १ शां० भा० भामती ३।३।५४ । तत्त्वसं० पं० पृ० ५२० । तत्त्वार्थ श्लो० पृ० २८ । युक्त्यनुशा० टी० पृ० ७३ । न्यायकुमु० पृ० ३४१ । न्यायवि० वि० द्वि० पृ० ९३ । स्या० रत्ना० पृ० १८६ ।** ततो निराकृतमेतत् शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञेभ्यः पृथिव्यादिभूतेभ्यश्चैतन्याभिव्यक्तिः, पिष्टोदकगुडधातक्यादिभ्यो मदशक्तिवत् । **प्रमेयकम० पृ० ११५ ।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट-८
पारिभाषिकशब्दानुक्रमणी-सार्थ

● **जैनदर्शनम्**

श्लोक : ४५ से ५८

(१) जैनमते रागद्वेषविवर्जितः हतमोहमहामल्लः केवलज्ञानदर्शनः सुरासुरेन्द्रसंपूज्यः सद्भूतार्थप्रकाशकः संप्राप्तपरम (मोक्ष) पदम् जिनेन्द्रो देवता।

(२) मायालोभौ रागः, क्रोधमानौ द्वेषः। रागद्वेषौ हि दुर्जयौ दुरन्तभवसंतापहेतुतया च मुक्तिप्रतिरोधकौ समये (शास्त्रे) प्रसिद्धौ।

(३) छद्मस्थस्य हि प्रथमं दर्शनमुत्पद्यते ततो ज्ञानं, केवलिनस्त्वादौ ज्ञानं ततो दर्शनमिति।

(४) जैनदर्शने सर्वप्रमेयानि (सर्वाणि प्रमेयानि) सामान्यविशेषात्मकानि सन्ति। तत्र सामान्यस्य उपसर्जनीभावेन विशेषाणां च प्रधानभावेन यद्ग्राहकं तज्ज्ञानम् विशेषाणामुपसर्जनीभावेन सामान्यस्य च प्राधान्येन यद्ग्राहकं तद्दर्शनम्।

(५) जैनमते नवतत्त्वानि सन्ति। तद्यथा : (१) जीवः, (२) अजीवः, (३) पुण्यं, (४) पापं, (५) आश्रवः, (६) संवरः, (७) निर्जरा, (८) बन्धः, (९) मोक्षश्च।

(६) चेतनालक्षणो **जीवः**। तद्विपरीतलक्षणस्त्वजीवः। धर्माधर्माकाश कालभेदेन असौ **अजीवः** पञ्चधा व्यवस्थितः। अनयोरेव द्वयोर्जगद्वर्तिनः सर्वेऽपि भावा अन्तर्भवन्ति। (७) **पुण्यं** शुभाः कर्मपुद्गलाः। **पापमशुभाः** कर्मपुद्गलाः। (८) आस्रवति कर्म यतः स **आस्रवः** कायवाङ्मनो व्यापारः, पुण्यापुण्यहेतुतया चासौ **द्विविधः**।

(९) आस्रवनिरोधः **संवरः**, गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षादीनां चास्रवप्रतिबन्ध कारित्वात्, स च **द्विविधः** सर्वदेशभेदात्। (१०) योगनिमित्तः सकषायस्यात्मनः कर्मवर्गणापुद्गलैः संश्लेशविशेषो **बन्धः**। स च सामान्येनैकविधोऽपि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन चतुर्धा। पुनरेकैको ज्ञानावरणादिमूल प्रकृतिभेदादष्टधा। (११) आत्मसंयुक्तकर्मनिर्जरणकारणं निर्जरा द्वादशविधतपोरुपा। (१२) विनिर्मुक्ताशेषबन्धस्य प्राप्तनिजस्वरुपस्यात्मनो लोकान्तेऽवस्थानं मोक्षः।

(१३) ज्ञानादिधर्मेभ्यो भिन्नाभिन्नो, विवृत्तिमान्, शुभाशुभकर्मकर्ता, कर्मफलस्य भोक्ता, चैतन्यलक्षणो **जीवः**। एतद्विपरीतवान् अजीवः। पुण्यं सत्कर्मपुद्गलाः।

(१४) यत्र निषेधात्मकशब्दे व्युत्पत्तिसिद्ध-शुद्धाखंडपदस्य निषेधं दृश्यते, तत्र तं पदं प्रतिपक्षवान् भवति।

(१५) कारणं त्रिविधमुच्यते। तद्यथा (१) परिणामिकारणम् (यथा घटस्य मृत्परिणामिकारणम्), (२)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निमित्तकारणम् (यथा दण्डादयः), (३) निर्वर्तककारणम् (यथा घटं प्रति कुम्भकारः)।

(१६) निमित्तकारणं च द्वेधा निमित्तकारणमपेक्षाकारणं च।

(१७) अमूर्तश्च रुपरसगन्धस्पर्शपरिणामबाह्यवर्त्यभिधीयते । मूर्तश्च रुप-रस-गन्ध-स्पर्श-परिणामवर्त्यभिधीयते।

(१८) गुणपर्यायवद्द्रव्यम्।

(१९) अजीवो धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-आकाशस्तिकाय-काल-पुद्गलभेदात्पञ्चविधः।

(२०) स्वत एव गतिपरिणतानां जीवपुद्गलानामुपकारकरोऽपेक्षाकारणम् धर्मास्तिकायः । स च लोकव्यापी नित्योऽवस्थितोऽरुपीद्रव्यम्-अस्तिकायोऽसंख्यप्रदेशागत्युपग्रहकारी च भवति।

(२१) स्वत एव स्थितिपरिणतानां जीवपुद्गलानां स्थितिविषयेऽपेक्षाकारणं अधर्मास्तिकायः शेषंस्वरुपं धर्मास्तिकायवत् मन्तव्यः।

(२२) आकाशमपि लोकालोकव्यापकमनन्तप्रदेशं नित्यमवस्थितमरुपिद्रव्यमस्तिकायोऽवगाहोपकारकरम्।

(२३) ये केचनाचार्याः कालं द्रव्यं नाभ्युपयन्ति किन्तु धर्मादिद्रव्याणां पर्यायमेव, तन्मते धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवाख्यपञ्चास्तिकायात्मको लोकः । ये तु कालं द्रव्यमिच्छन्ति तन्मते षट्द्रव्यात्मको लोकः।

(२४) आकाशद्रव्यमेकमेवास्ति यत्र सोऽलोकः लोकलोकयोर्व्यापकमवगाहोपकारकमिति स्वत एवावगाहमानानां द्रव्याणामवगाहदायि भवति न पुनरनवगाहमानं पुद्गलादि बलादवगाहयति।

(२५) कालकृता वर्तनाद्या वस्तूनामुपकाराः। अथवा वर्तनाद्याः उपकाराः कालस्य लिङ्गानि। तत्र वर्तन्ते स्वयं पदार्थाः, तेषां वर्तमानानां प्रयोजिका कालाश्रया वृत्तिर्**वर्तना** प्रथमसमयाश्रया स्थितिः। द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन परिस्पन्देतरप्रयोगजपर्यायस्वभावः **परिणामः**। प्रयोगविस्रसाभ्यां जनितो जीवानां परिणमनव्यापारः करणं क्रिया तस्या अनुग्राहकः कालः । इदं परमिदमपरमितिप्रत्ययाभिधाने कालनिमित्ते।

(२६) वर्तनाद्युपकारानुमेयः कालो द्रव्यं मानुषक्षेत्रे, तद्बहिः कालद्रव्यं नास्ति।

(२७) स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः । अत्र स्पर्शग्रहणमादौ स्पर्शे सति रसादिसद्भाव-ज्ञापनार्थम्।

(२८) स्पर्शा हि मृदकठिनगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरुक्षाः । अत्र स्निग्धरुक्षशीतोष्णाश्चत्वार एवाणुषु संभवन्ति। स्कन्धेष्वष्टावपि यथासंभवम्।

(२९) रसास्तिक्तकटुकषायाम्लमधुराः। लवणो मधुरान्तर्गत इत्येके, संसर्गज इत्यपरे। गन्धौ सुरभ्यसुरभी। कृष्णादयो वर्णाः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(३०) शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमच्छायातपोद्योतवन्तः पुद्गलाः ।

(३१) पुद्गला द्वेधा, परमाणवः स्कन्धाश्च ।

(३२) परमाणोर्लक्षणमिदम् - "कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः । एकरसवर्णगन्धो । द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥

(३३) स्कन्धाः पुनर्द्व्यणुकादयोऽनन्ताणुकपर्यन्ताः सावयवाः प्रायो ग्रहणादानादिव्यापारसमर्थाः परमाणुसंघाताः ।

(३४) एते धर्माधर्माकाशकालपुद्गला जीवैः सह षड्द्रव्याणि । एष्वाद्यानि चत्वार्येकद्रव्याणि, जीवाः पुद्गलाश्चानेकद्रव्याणि, पुद्गलरहितानि तानि पञ्चामूर्तानि पुद्गलास्तु मूर्ता एव ।

(३५) या च सत्स्वभावानामपि भावानामनुपलब्धिः, सात्राष्टधा भिद्यते । तथाहि-अतिदूरात् १, अतिसामीप्यात् २, इन्द्रियघातात् ३, मनसोऽनवस्थानात् ४, सौक्ष्म्यात् ५, आवरणात् ६, अभिभवात् ७, समानाभिहाराच्चेति ८.

(३६) धर्मो गत्युपग्रहकार्यानुमेयः, अधर्मः स्थित्युपग्रहकार्यानुमेयः, अवगाहोपकारनुमेयाकाशं, वर्तनाद्युपकारानुमेयः कालः, प्रत्यक्षानुमानागमावसेयाश्च पुद्गलाः ।

(३७) पुण्याद्विपरीतम् - नरकादिफलनिर्वर्तकत्वादप्रशस्ता जीवसंबद्धाः, कर्मपुद्गलाः पापम् ।

(३८) आस्रवति कर्म एभ्यः स आस्रवः । मिथ्यात्व अविरति प्रमाद-कषाय योग विषया मनोवाक्कायव्यापारा एव शुभाशुभकर्मबन्धहेतुत्वादास्रवः ।

(३९) असद्देवगुरुधर्मेषु सद्देवादिबुद्धि**र्मिथ्यात्वम्** । हिंसाद्यनिवृत्तिरविरतिः । प्रमादो मद्यविषयादिः । कषायाः क्रोधादयः । योगा मनोवाक्कायव्यापाराः ।

(४०) अयं आस्रवः पुण्यापुण्यबन्धहेतुतया द्विविधः । द्विविधोऽप्ययं मिथ्यात्वाद्युत्तरभेदापेक्षयोत्कर्षापकर्षभेदापेक्षया अनेकप्रकारः ।

(४१) मिथ्यात्वाद्याश्रवाणां सम्यग्दर्शनविरतिप्रमादपरिहारक्षमादिगुप्तित्रयधर्मानुप्रेक्षाभिर्निरोधो निवारणं स्थगनं संवरः । स च देशसर्वभेदाद्द्वेधा । तत्र बादरसूक्ष्मयोगनिरोधकाले सर्वसंवरः । शेषकाले चरण (चारित्र) प्रतिपत्तेरारभ्य देशसंवरः ।

(४२) वह्न्ययस्पिण्डसम्बन्धवत् क्षीरोदकसम्पर्कवद्वा जीवकर्मणोर्मिथोऽनुप्रवेशात्मक एव सम्बन्धो बन्धः । स च प्रशस्ताप्रशस्तभेदाद् द्वेधा । प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश भेदाच्च चतुर्विधा । प्रकृतिः स्वभावो यथा ज्ञानावरणं ज्ञानाच्छादनस्वभावम् । स्थितिः अध्यवसायकृतः कालविभागः । अनुभागो रसः प्रदेशः कर्मदलसंचयः । पुनरपि मूलप्रकृतिभेदादष्टधा ज्ञानावरणादिकः । उत्तरप्रकृतिभेदादष्टपञ्चाशदधिकशतभेदः ।

(४३) यो बद्धस्य कर्मणः साटो सा निर्जरा मता । सा च सकामाकामभेदाद्द्विधा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(४४) देहादेरात्यन्तिको वियोगोः मोक्षः ।

(४५) द्विविधं बाध्यं, सहभूस्वभावं सहकारिसंपाद्यस्वभावं च । तत्र यत्सहभूस्वभावं, तन्न बाधकोत्कर्षे कदाचिदपि निरन्वयं विनाशमाविशति ।

(४६) जीवा उर्ध्वगौरवधर्माणः । अधोगौरवधर्माणः पुद्गलाः ।

(४७) प्राणा हि द्विविधाः, द्रव्यप्राणा भावप्राणाश्च । तत्र इन्द्रियादयः द्रव्यप्राणाः ज्ञानादयस्तु भावप्राणाश्च।

(४८) सम्यक्त्वज्ञानयोगेन एतानि नवतत्त्वानि यः श्रद्धत्ते स्थिराशयः तस्य चारित्रयोग्यता ।

(४९) तथाभव्यत्वपाकेन यस्यैतत्त्रितयं भवेत् सम्यग्ज्ञानक्रियायोगाज्जायते मोक्षभाजनम् ।

(५०) भव्यत्वं नाम सिद्धिगमनयोग्यत्वं जीवानामनादिपारिणामिको भावः ।

(५१) भव्यत्वमेव स्वस्वकालक्षेत्रगुर्वादिद्रव्यलक्षणसामग्रीभेदेन नानाजीवेषु भिद्यमानं सत्तथाभव्यत्वमुच्यते ।

(५२) सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

(५३) विशेषलक्षणं सामान्यलक्षणाविनाभावि, सामान्यलक्षणं च विशेषलक्षणाविनाभावि, सामान्यविशेषलक्षणयोरन्योन्यापरिहारेण स्थित्वात् ।

(५४) स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् ।

(५५) जैनदर्शने प्रमाणं प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद् द्विधा । अनन्तधर्मात्मकं वस्तु प्रमाणविषयः ।

(५६) इन्द्रियं प्रतिगतमिन्द्रियाधीनतया यदुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षम् । अक्षव्यापारनिरपेक्षं मनोव्यापेणासाक्षादर्थपरिच्छेदकम् परोक्षम् ।

(५७) प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावसम्भवऐतिह्य प्रातिभयुक्त्यनुपलब्ध्यादीनि प्रमाणानि सन्ति । तत्रानुमानागमौ परोक्षप्रकारावेव विज्ञातव्यौ । उपमानं तु परोक्षभेदे प्रत्यभिज्ञायामन्तर्भाव्यम् । अर्थापत्तेः अनुमानान्तर्गतैव ।

(५८) अविशदमविसंवादि ज्ञानं परोक्षम् । स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत्पञ्चधा ।

(५९) सम्भवस्तु अनुमानान्तर्गतः । सम्भवोऽपि समुदायेन समुदायिनोऽवगम इत्येवंलक्षणः ।

(६०) ऐतिह्यं अनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यम् एवमूचुर्वृद्धा यथा ''इह वटे यक्षः प्रतिवसति'' इति तदप्रमाणं अनिर्दिष्टवक्तृकत्वेन सांशयिकत्वात्, आप्तप्रवक्तृकत्वनिश्चये त्वागम इति ।

(६१) प्रातिभं अनिन्द्रियनिबन्धनतया मानस प्रत्यक्षकुक्षिनिक्षिप्तमेव ।

(६२) संस्कारप्रबोधसम्भूतनुभूतार्थविषय तदित्याकारं वेदनं स्मरणम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(६३) अनुभवस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् ।

(६४) उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालकलितसाध्यसाधन सम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनं तर्कः ।

(६५) अनुमानं द्विधा, स्वार्थं परार्थं च ।

(६६) हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणहेतुकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम् ।

(६७) निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः । इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यं, साध्यविशिष्टः प्रसिद्धो धर्म्मी पक्षः ।

(६८) पक्ष हेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात् ।

(६९) मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि प्रयोज्यानि ।

(७०) दृष्टान्तो द्विधा, अन्वयव्यतिरेकभेदात् । साधनसत्तायां यत्रावश्यं साधनसत्ता प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः । साध्याभावेन साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेक दृष्टान्तः ।

(७१) हेतोरुपसंहारं उपनयः । प्रतिज्ञायास्तूपसंहारो निगमनम् । अत्रोदाहारणम् परिणामी शब्दः कृतकत्वात्, यः कृतकः स परिणामी दृष्टो यथा घटः, कृतकश्चायम् तस्मात्परिणामी ।

(७२) आप्तवचनाज्जातमर्थज्ञानमागमः । अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः ।

(७३) प्रमाणस्य विषयस्तु अनन्तधर्मकं वस्तु स्वभावाः सहभाविनः क्रमभाविनश्च स्वपरपर्याया यस्मिंस्तदनन्तधर्मम् ।

(७४) अनेकेऽन्ता अंशा धर्मा (स्वभावाः सहभाविनः क्रमभाविनश्च स्वपरपर्यायाः) वात्मा स्वरुपं यस्य तदनेकान्तात्मकम् - अनन्तधर्मकम् ।

(७५) अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । ततोऽन्योऽपरोक्षः ।

(७६) उत्पत्तिविनाशस्थितियोग एव सतो वस्तुनो लक्षणम् । द्रव्यात्मना सर्वस्य वस्तुनः स्थितिरेव, पर्यायात्मना तु सर्व वस्तूत्पद्ये विपद्यते वा, अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात् ।

(७७) उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्भिन्नानि भिन्नलक्षणत्वात् रुपादिवत् । असत आत्मलाभ उत्पादः सतः सत्तावियोगो विनाशः द्रव्यरुपतयानुवर्तनं ध्रौव्यम् ।

(७८) उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मरोमवत् । विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, कूर्मरोमवत् । स्थितिरपि केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात् कूर्मरोमवत् ।

(७९) अनन्तधर्मात्मकं सर्वं वस्तु प्रमाणविषयः, अनन्तधर्मात्मकतायामेवोत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मकताया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपपत्तेः, अन्यथा तदनुपपत्तेरिति।

(८०) अनन्तधर्मात्मकं वस्तु, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वात्, यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तदुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमपि न भवति यथा वियदिन्दीवरमिति।

(८१) धर्माश्चोत्पद्यन्ते व्ययन्ते च, धर्मा च द्रव्यरुपतया सदा नित्यमवतिष्ठते । धर्माणां धर्मिणश्च कथञ्चिदनन्यत्वेन धर्मिणः सदा सत्त्वे कालत्रयवर्तिधर्माणामपि कथञ्चिच्छक्तिरुपतया सदा सत्त्वं, अन्यथा धर्माणामसत्त्वे कथञ्चित्तदभिन्नस्य धर्मिणोऽप्यसत्त्वप्रसङ्गात्।

(८२) न च धर्मिणः सकाशादेकान्तेन भिन्ना एवाभिन्ना एव वा धर्माः, तथानुपलब्धेः, कथञ्चित्तदभिन्नानामेव तेषां प्रतीतेश्च।

(८३) **विवादास्पदं** वस्त्वेकानेकनित्यानित्यसदसत्सामान्यविशेषाभिलाप्यनभिलाप्यादिधर्मात्मकं तथैवास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानत्वात्।

(८४) परस्परविषयगमनं **व्यतिकरः**।

(८५) सहानवस्थानं स्वरुपं परस्परपरिहारस्वरुप - वध्यघातकभावस्वरुपो **विरोधः**।

वैशेषिकदर्शनम्

श्लोक : ५९ से ६७

(१) देवताविषयकभेदो वैशेषिकाणां नैयायिकैः संमं नास्ति।

(२) वैशैषिकमते तत्त्वषट्कम् ! तद्यथा - १)द्रव्यं, (२)गुणः, (३)कर्म, (४सामान्य, (५)विशेष, (६)समवाय ! केचित्त्वभावं सप्तमं पदार्थमाहुः।

(३) पदार्थषट्के द्रव्याणि गुणाश्च केचिन्नित्या एव केचित्त्वनित्याः, कर्मानित्यमेव, सामान्यविशेष-समवायास्तु नित्या एव।

(४) भूः पृथ्वी, काठिन्यलक्षणा मृत्पाषाणवनस्पतिरुपा। जलमापः, तच्चसरित्समुद्रकरकादिकम्। तेजोग्निः, तच्च चतुर्धा, तद्यथा -(१)भौमं, (२)दिव्यं (३)औदर्यं (४)आकरजञ्च। अनिलो- वायुः। एतानि चत्वार्यनेकविधानि। अन्तरिक्षमाकाशं, तच्चैकं नित्यममूर्तं विभु च द्रव्यम्। कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गो द्रव्यम्। स चेको नित्योऽमूर्तो विभुद्रव्यं च। दिगपि द्रव्यमेका नित्याऽमूर्ता विभुश्च। आत्मा जीवोऽनेको नित्यो मूर्तो विभुर्द्रव्यं च। मनश्चित्तं, तच्च नित्यं द्रव्यमणुमात्रमनेकमाशुसंचारि प्रतिशरीरमेकं च। युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्। तस्य च मनसो मृतशरीरान्निर्गतस्य मृतशरीरपत्यासन्न-मदृष्टवशादुपजातक्रियैरणुभिर्द्व्यणुकादिक्रमेणारब्धमतिसूक्ष्ममनुपलब्धियोग्यं शरीरं संक्रम्यैव स्वर्गादौ गतस्य स्वर्गाद्युपभोग्यशरीरेण संबन्धो भवति। तच्च मरणजन्मनोरान्तरालं गतं शरीरं मनसःस्वर्गनरकादिदेशं प्रतिवहनधर्मकत्वादातिवाहिकमित्युच्यते।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(५) तत्र पृथिव्यादिचतुःसङ्ख्यं द्रव्यं प्रत्येकं नित्यानित्यभेदाद्द्विप्रकाम् । तत्र परमाणुरुपं नित्यम् । तदारब्धं तु द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यमनित्यम् । आकाशादिकं नित्यमेव, अनुत्पत्तिमत्त्वात् ।

(६) एषां च द्रव्यत्वाभिसंबन्धाद् द्रव्यरुपता । द्रव्यत्वाभिसंबन्धश्च द्रव्यत्वसामान्योपलक्षितः समवायः । तत्समवेतं वा सामान्यम् !

(७) इदं नवविधमपि द्रव्यं सामान्यतो द्वेधा, अद्रव्यं द्रव्यं अनेकद्रव्यं च द्रव्यम् । गुणः पुनः पञ्चविंशतिधा । तद्यथा : - (१) स्पर्शः, (२) रसः, (३) रुपं, (४) गन्धः, (५) शब्दः, (६) संख्या, (७) विभागः, (८) संयोगः, (९) परिमाणं, (१०) पृथक्त्वं, (११) परत्वं, (१२) अपरत्वं, (१३) बुद्धिः, (१४) सुखं, (१५) दुःखं, (१६) इच्छा, (१७) धर्मः, (१८) अधर्मः, (१९) प्रयत्नः, (२०) संस्कारः, (२१) द्वेषः, (२२) स्नेहः, (२३) गुरुत्वं, (२४) द्रवत्वं, (२५) वेगश्च ।

(८) तत्र द्रव्यं नवधा भूजलतेजोनिलान्तरिक्षाणि कालदिगात्ममनांसि च ।

(९) स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकज्वलनपवनवृत्तिः १. रसो- रसनेन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकवृत्तिः २. चक्षुर्ग्राह्यं रुपं पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति तच्च रुपं जलपरमाणुषु तेजःपरमाणुषु च नित्यं, पार्थिवपरमाणुरुपस्य त्वग्निसंयोगो विनाशकः ।

(७) सर्वकार्येषु च कारणरुपपूर्वकरुपमुत्पद्यते, उत्पन्नेषु हि द्व्यणुकादिकार्येषु च पश्चात्तत्र रुपोत्पत्तिः, निराश्रयस्य कार्यरुपस्यानुत्पादात् ।

(८) गन्धो घ्राणग्राह्यः पृथिवीवृत्तिः ।

(९) शब्दः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यो गगनवृत्तिः क्षणिकश्च । श्रोत्रेन्द्रियं चाकाशात्मकम् ।

(१०) सङ्ख्या तु एकादिव्यवहारहेतुरेकत्वादिलक्षणा । सा पुनरेकद्रव्या वानेकद्रव्या च ।

(११) अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः । प्राप्तिपूर्विका अप्राप्ति र्विभागः ।

(१२) परिमाणव्यवहारकारणं परिमाणम् । तच्चतुर्विधं, महदणु दीर्घं ह्रस्वं च तत्र महद्द्विविधं, नित्यमनित्यं च । नित्यमाकाशकालदिगात्मसु परममहत्त्वम् । अनित्यं द्व्यणुकादिषु द्रव्येषु । अण्वपि नित्यानित्यभेदाद् द्विविधम् । परमाणुमनःसु पारिमाण्डल्यलक्षणं नित्यम् । अनित्यं द्व्यणुक एव ।

(१३) संयुक्तमपि द्रव्यं यदवशादत्रेदं पृथगित्यपोद्धियते, तदपोद्धारव्यवहारकारणं पृथक्त्वम् ।

(१४) इदं परमिदमपरमिति यतोऽभिधानप्रत्ययौ भवतः, तद्यथाक्रमं परत्वमपरत्वं च । द्वितयमप्येतत् दिक्कृतं कालकृतं च ।

(१५) बुद्धिर्ज्ञानं ज्ञानान्तरग्राह्यम् । सा द्विविधा, विद्याऽविद्या वा । तत्राविर्धा चतुर्विधा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्न लक्षणा । विद्यापि चतुर्विधा प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा ।

(१६) अतीतविषया स्मृतिः सा च गृहीतग्राहित्वान्न प्रमाणम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१७) ऋषीणां व्यासादीनामतीतादिष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु यत्प्रातिभं तदार्षम् ।

(१८) आत्मन उपघातस्वभावं दुःखं तच्चामर्षदुःखानुभवविच्छायताहेतु : ।

(१९) स्वार्थं परार्थं चाप्राप्तप्रार्थनमिच्छा, तस्याश्च कामोऽभिलाषो रागः संकल्पः कारुण्यं वैराग्यं वञ्चनेच्छां गूढभाव इत्यादयो भेदाः ।

(२०) कर्तुफलदाप्यात्मगुण आत्ममनःसंयोगजः स्वकार्यविरोधी धर्मा धर्म रुपतया भेदवान् परोक्षोऽदृष्टाख्यो गुणः ।

(२१) प्रयत्न उत्साहः, स च सुप्तावस्थायां प्राणापानप्रेरकः प्रबोधकालेऽन्तःकरणस्येन्द्रियान्तरप्राप्ति-हेतुर्हिताहितप्राप्तिपरिहारोद्यमः शरीरविधारकश्च ।

(२२) संस्कारो द्वेधा, भावना स्थितिस्थापकश्च, भावनाख्य आत्मगुणो ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च दृष्टानुभूतश्रुतेष्वर्थेषु स्मृतिप्रत्यभिज्ञानकार्योन्नीयमानसद्भावः । स्थितिस्थापकस्तु मूर्तिमद्द्रव्यगुणः स च घनावयवसंनिवेशविशिष्टं स्वाभाश्रयं कालान्तरस्थायिनमन्यथावस्थितमपि प्रयत्नः पूर्ववद्यथावस्थितं स्थापयतीति स्थितिस्थापक उच्यते ।

(२३) प्रज्वनलानात्मको **द्वेषः** । स्नेहोऽपां विशेषगुणः संग्रहमृद्वादिहेतुः ।

(२४) गुरुत्वं जलभूम्यो :पतनकर्मकारणमप्रत्यक्षम् ।

(२५) द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणं त्रिद्रव्यवृत्ति । तद्द्वेधा, सहजं नैमित्तिकं च ।

(२६) वेगः पृथिव्यसेजोवायुमनःसु मूर्तिमद्द्रव्येषु प्रयत्नाभिघात-विशेषापेक्षात्कर्मणः समुत्पद्यते, नियतदिक्क्रियाकार्यप्रबन्धहेतुः स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगविरोधी च ।

(२७) स्पर्शादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसंबन्धो द्रव्याश्रितत्वं निष्क्रियत्वमगुणत्वं च । (२८) स्पर्शरसगन्धरुपपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्व स्नेहवेगा मूर्तगुणाः । (२९) बुद्धिसुखदुःखेच्छा-धर्माधर्मप्रयत्नभावनाद्वेषशब्दा अमूर्तगुणाः ॥ (३०) सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागा उभयगुणाः ।

(३१) पञ्चविधं कर्म । तद्यथा- उत्क्षेपणम्-१, अवक्षेपणम्-२, आकुंचनं-३, प्रसारणम्-४, गमनं-च-५ (३२)परमपरं च सामान्यं द्विविधम् । (३३) सत्ताख्यं परं सामान्यम् । द्रव्यत्वादि अपरसामान्यम् । (३४) इदं सदिदं सदित्यनुगताकारज्ञानकारणं सत्तासामान्यम् । तच्च त्रिषु द्रव्यगुणकर्मसु पदार्थेषु सदित्यनुवृत्तिप्रत्यस्यैव कारणत्वात्सामान्यमेव, न तु विशेषः ।

(३५) सत्तायोगात् सत्त्वं यदिष्यते तद्द्रव्यगुणकर्मस्वेव ।

(३६) षड्विधा जातिबाधकाः । तद्यथा - (१) व्यक्तेरभेदः, (२) तुल्यत्वम्, (३) सङ्करः, (४) अनवस्थितिः, (५) रुपहानिः, (६) संबन्धाभावश्च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(३७) नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः ।

(३८) अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावनां यः संबन्ध इह प्रत्ययहेतुः सः **समवाय :** ।

(३९) अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम् । अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री तदेकदेशो वा बोधरुपोऽबोधरुपो वा ज्ञानप्रदीपादिः साधकतमत्वात्**प्रमाणम्** ।

(४०) वैशेषिकाणां प्रमाणं द्विविधम्, प्रत्यक्षं लैङ्गिकं च । तत्र प्रत्यक्षं द्वेधा, ऐन्द्रियं योगजं च । ऐन्द्रियं-घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनःसन्निकर्षजमस्मदादीनां प्रत्यक्षम् । तद्द्वेधा, निर्विकल्पकं सविकल्पकं च । वस्तुस्वरुपालोचनमात्रं निर्विकल्पकम् ।

(४१) योगजं प्रत्यक्षं द्वेधा, युक्तानां प्रत्यक्षं वियुक्तानां च । तत्र युक्तानां समाधिमैकाग्र्यमाश्रितानां योगजधर्मबलादन्तःकरणे शरीराद्बहिर्निर्गत्यातीन्द्रियार्थैः समं संयुक्ते सति यदतीन्द्रियार्थदर्शन तद्युक्तानां प्रत्यक्षम् । ये चात्यन्तयोगाभ्यासोचितधर्मातिशयाद् समाधिं प्राप्ता अप्यतीन्द्रियार्थं पश्यन्ति, ते वियुक्ताः ।

(४२) लिङ्गदर्शनाद्यद्द्रव्यभिचारित्वादिविशेषणं ज्ञानं तद्यतः परामर्शज्ञानोपलक्षितात्कारकसमूहाद्भवति तल्लैङ्गिकम्-अनुमानम् ।

(४३) व्योमादिकं नित्यम् । प्रदीपादि कियत्कालावस्थायि ।

(४४) बुद्धिसुखादिकं च क्षणिकम् ।

(४५) चैतन्यादयो रुपादयश्च धर्माः आत्मादेर्घटादेश्च धर्मिणोऽत्यन्तं व्यतिरिक्ता अपि समवायसंबंधेन संबद्धाः, स च समवायो नित्यः सर्वगत एकश्च । सर्वगत आत्मा ।

(४६) बुद्धिसुखदुःखेच्छाधर्माधर्म प्रयत्नभावनाख्यसंस्कारद्वेषाणां नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदो मोक्षः ।

(४७) परस्पर विभक्तौ सामान्यविशेषौ द्रव्यपर्यायौ च **प्रमाणगोचरः ।**

(४८) द्रव्यगुणादिषु षट्सु पदार्थेषु स्वरुपसत्त्वं वस्तुत्वनिबन्धनं विद्यते ।

(४९) द्रव्यगुणकर्मसु सत्तासम्बधो वतते सामान्यविशेषसमवायेषु च स नास्तीति ।

"मीमांसकदर्शनम् = जैमिनिदर्शनम्"

श्लोक = ६८ से ७७

(१) जैमिनीया वेषेण साङ्ख्या इवैकदण्डास्त्रिदण्डा धातुरक्तवाससो मृगचर्मोपवेशनाः कमण्डलुधरा मुण्डशिरसः संन्यासिप्रभृतयो द्विजाः । ते द्विधा, एके याज्ञिकादयः पूर्वमीमांसावादिनः, अपरे तुत्तरमीमांसावादिनः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(२) तत्र पूर्वमीमांसावादिनः कुकर्मविवर्जिनो, यजनादिषट्कर्मकारिणो, ब्रह्मसूत्रिणो गृहस्थाश्रमसंस्थिताः शूद्रान्नादिवर्जका भवन्ति । ते च द्वेधा, भाट्टाः प्राभाकराश्च षट् पञ्च प्रमाणप्ररुपिणः । ये तूत्तरमीमांसावादिनः ते वेदान्तिनो ब्रह्माद्वैतमेव मन्यन्ते । आत्मन्येव लयं मुक्तिमाचक्षते न त्वपरां कामपि मुक्तिं मन्यन्ते ।

(३) ते च द्विजा एव भगवन्नामधेयाश्चतुर्धाभिधीयन्ते कूटीचरबहूदकहंसपरमहंसभेदात् । तत्र त्रिदण्डी सशिखो ब्रह्मसूत्री गृहत्यागी यजमानपरिग्रही सकृत्पुत्रगृहेऽश्नन् कुट्यां निवसन् **कुटीचर** उच्यते । कुटीचरतुल्यवेषो विप्रगेहनैराश्यभिक्षाशनो विष्णुजापपरो नदीनीरस्नायी **बहूदकः** कथ्यते । ब्रह्मसूत्रशिखाभ्यां रहितः कषायम्बर- दण्डधारी ग्रामे चैकरात्रं नगरे च त्रिरात्रं निवसन् विधूमेषु विगताग्निषु विप्रगेहेषु भिक्षां भुञ्जानस्तपःशोषितविग्रहो देशेषु भ्रमन् **हंसः** समुच्यते । हंस एवोत्पन्नज्ञानश्चातुर्वर्ण्यगेहभोजी स्वेच्छया दण्डधार ईशानीं दिशं गन्छन् शक्तिहीनतायामशनग्राही वेदान्तैकध्यायी **परमहंसः** समाख्याते । एतेषु चतुर्षु परः परोऽधिकः ।

(४) जैमिनिदर्शने सर्वज्ञादिविशेषणविशिष्टो देवो नास्ति । अनुमान प्रयोगः- नास्ति सर्वज्ञः, प्रत्यक्षादि गोचरातिक्रान्तत्वात् शशश्रृङ्गवत् ।

(५) अतीन्द्रियार्थानां साक्षाद्द्रष्टुरभावतो नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः । अत एव पुरा कार्यो वेदपाठः प्रयत्नतः, ततो धर्मसाधनी धर्मस्य जिज्ञासा कर्तव्या ।

(६) निमित्तं द्विविधं जनकं ग्राहकं च ।

(७) नोदनालक्षणो धर्मो, नोदना तु क्रियां प्रति प्रवर्तकं वचः प्राहुः । यथा स्वर्गकामो यजेत् ।

(८) अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणम् । अगृहीतार्थग्राहकं ज्ञानं प्रमाणम् ।

(९) प्रत्यक्षानुमानशाब्दोपमानार्थापत्त्यभावलक्षणानि षट् प्रमाणानि जैमिनिमुनेः संमतानि । तत्राद्यानि पञ्चैव प्रमाणानीति प्रभाकरोऽभावस्य प्रत्यक्षेणैव ग्राह्यतां मन्यमानोऽभिमन्यते । षडपि तानीति भट्टो भाषते ।

(१०) सत्संप्रयोगे सति पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम् ।

(११) लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानम् । ज्ञातसंबन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानम् ।

(१२) शाश्वतवेदोत्थं शाब्दम् । वेदशब्दजनितं ज्ञानं शाब्दं प्रमाणम् । शब्दज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः शाब्दम् इति शाबर भाष्ये ।

(१३) मीमांसकमते नित्या आकाशवत्सर्वगताश्च वर्णाः । ते च तालवोष्ठादिभिरभिव्यज्यन्ते न पुनरुत्पाद्यन्ते । विशिष्टनुपूर्वीका वर्णाः । शब्दो नित्यः । शब्दार्थयोर्वाच्यवाचक संबन्ध ।

(१४) प्रसिद्धार्थस्य साधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनं उपमानं कीर्तितम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१५) दृष्टार्थानुपपत्त्या बलेन कस्याप्यर्थस्य कल्पना क्रियते, सा अर्थापत्तिः उदाहृता ।

(१६) वस्तुसत्तावबोधार्थं प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरुपे न जायते, तत्र अभावप्रमाणता ।

(१७) अभावश्च प्रागभावादिभेदभिन्नो वस्तुरुपोऽवगन्तव्यः । अन्यथा कारणादिव्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसङ्गात् ।

(१८) अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणं । पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरं तु फलं । सामान्यविशेषात्मकं वस्तु प्रमाणगोचरम् । नित्यपरोक्षं ज्ञानं हि भाट्ट प्रभाकरमतयोरर्थप्राकट्यख्य संवेदनाख्यफलानुमेयम् ।

(१९) वेदोऽपौरुषेयः । वेदोक्ता हिंसा धर्माय । शब्दो नित्यः । सर्वज्ञो नास्ति अविद्याऽपरनाममायावशात्प्रतिभासमानः सर्वः प्रपञ्चोऽपारमार्थिकः । परब्रह्मैव परमार्थसत् ।

लोकायतमतम् :-

श्लोक-७९ से ८७

(१) कापालिका भस्मोद्धूलनपश्च योगिनो ब्राह्मणाद्यन्त्यजान्ताश्च केचन नास्तिका भवन्ति । ते च जीवपुण्यादिकं न मन्यन्ते । चतुर्भूतात्मकं जगदाचक्षते । केचित्तु पञ्चभूतात्मकं जगदिति निगदन्ति ।

(२) नास्तिकमते भूतेभ्यो मदशक्तिवच्चैतन्यमुत्पद्यते । जलबुद्बुदवज्जीवाः । चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः । धर्मं कामादपरं न् मन्वते ।

(३) तन्मते एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रयगोचरः ।

(४)प्रमाणं पुनः प्रत्यक्षमेवैकं न पुनरनुमानादिकं प्रमाणम् ।

- षड्दर्शनान्तर्गतन्यायसूची

(१) यथा उद्देशः तथा निर्देशः ।

(२) सर्वं हि वाक्यं सावधारणम् ।

(३) परार्थं हि वाक्यमभिधीयते ।

(४) नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः ।

(५) व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः ।

(६) सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति । (श्लोक-१७-१८-१९. टीका)

(७) गले पादिकान्यायः ।

(८) यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् ।

(९) व्यवच्छेदफलं वाक्यमिति न्यायः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट-९

।। संकेत-विवरणम् ।।

अणु भा.	:	अणुभाष्य
अ.द्वै.	:	अद्वैतसिद्धि
अनुयोग०	:	अनुयोगद्वारसूत्रम्
अनेकान्तवादप्र०	:	अनेकान्तवादप्रवेशः,
अनेकान्तव्य०	:	अनेकांत व्यवस्था
अनेकान्तजयप०	:	अनेकान्तजयपताका, प्र० द्वि० भा,
अन्य यो.	:	अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशतिका
अमर०	:	अमरकोश
अयोगव्य०	:	अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशतिका,
अष्टश०, अष्टसह०	:	अष्टशती (अष्टसहस्र्यन्तर्गत),
आप्तप०	:	आप्त परीक्षा,
आप्तमी०	:	आप्तमीमांसा (अष्टसहस्र्यन्तर्गत),
आ० मलय०	:	आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरिटीका
इ. सि.	:	इष्टसिद्धि
पुरुषसू० सायणभा०	:	पुरुषसूक्त सायणभाष्ययुक्त
काललो०	:	काललोकप्रकाशः,
केवलिभु०	:	केवलिभुक्तिप्रकरणम्,
क्षणभ० सि०	:	क्षणभङ्गसिद्धिः,
गच्छा० वृ०	:	गच्छाचारप्रकीर्णकवृत्तिः,
गो० कर्म०	:	गोम्मटसार कर्मकाण्ड,
चरक सं०	:	चरक संहिता,
चतुःश०	:	चतुःशतकम्,
चित्सु०	:	तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी,
छान्दोग्य	:	छान्दोग्यनोपनिषद्
जैनतर्कभा०	:	जैनतर्कभाषा
जैनतर्कवा०	:	जैनतर्कवार्तिकम्
ज्ञान प्र.	:	ज्ञानसार प्रकरण
तर्क. सं.	:	तर्कसंग्रहः
त० वा०	:	तत्त्वार्थवार्तिकम्,
त० सू०	:	तत्त्वार्थसूत्र
त० सू० भा०	:	(तत्त्वार्थाधिगम) तत्त्वार्थसूत्रभाष्य,
त० श्लोक०	:	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्,
तत्त्वसं०	:	तत्त्वसंग्रह
तत्त्वसं० प०	:	तत्त्वसंग्रह पञ्जिका
तत्त्वोप०	:	तत्त्वोपप्लवसिंह
तन्त्ररह०	:	तन्त्ररहस्यम्,
तन्त्रवा०	:	तन्त्रवार्तिकम्
तर्क सं.	:	तर्कसंग्रहः
ता.र.	:	तार्किक रक्षा
ति० प०	:	तिलोयपण्णत्ती,
तैत्ति०	:	तैत्तिरीयसंहिता,
द्रव्यसं०	:	द्रव्यसंग्रह,
दृग्दृश्य०	:	दृग्दृश्यविवेक
धवला०	:	धवला टीका,
धर्मो. प्र.	:	धर्मोत्तरप्रदीपः
धर्मसं०	:	धर्मसंग्रहिणीवृत्तिः,
धर्मोत्तर प्र.	:	धर्मोत्तरप्रदीप
नयक०	:	नयकर्णिका
नय प्र.	:	नयप्रकाशस्तव
नय. प्र०	:	नयप्रदीप
नन्दि० मलय०	:	नन्दिसूत्रमलयगिरिटीका,
नयरह०	:	नयरहस्य
नयो प०	:	नयोपदेश
नयवि०	:	नयविवेकः,
नव. प्र०	:	नवतत्त्व प्रकरणम्
नृ. उ.	:	नृसिंहतापनीयोपनिषद्
न्यायकुमु०	:	न्यायकुमुदचन्द्र,
न्यायकुसु०	:	न्यायकुसुमाञ्जलि
न्यायकलि०	:	न्यायकलिका
न्यायदी०	:	न्यायदीपिका,
न्यायमं०	:	न्यायमञ्जरी,
न्यायमं० प्रमाण०	:	न्यायमञ्जरी प्रमाणप्रकरणम्,
न्यायमं० प्रमे०	:	न्यायमञ्जरीप्रमेयप्रकरणम्,
न्या. मा.	:	न्यायमाला
न्यायमुक्ता० दिन०	:	न्यायमुक्तावली-दिनकरी,
न्या. रत्ना.	:	न्यायरत्नावली

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न्यायली०	:	न्यायलीलावती
न्यायवा०	:	न्यायवार्तिकम्
न्यायवा० ता० टी०	:	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका,
न्यायसारः	:	न्यायसारः
न्यायावता०	:	न्यायावतारः
न्यायभा०	:	न्यायभाष्यम्
न्यायवि० वि०	:	न्यायविनिश्चयविवरण, प्रथमभाग,
न्यायबि०	:	न्यायबिन्दुः
न्याय बि० टी०	:	न्यायबिन्दुटीका
न्याय वि.	:	न्यायविनिश्चय
न्यायसि.	:	न्यायसिद्धांत मुक्तावली
न्यायसू०	:	न्यायसूत्रम्
न्यायभा०	:	न्यायभाष्य
नीति०	:	नीतितत्त्वालोक
प्रभाकरवि०	:	प्रभाकर विजय,
प्रकरण पं०	:	प्रकरणपंजिका,
प्रज्ञा० मलय०	:	प्रज्ञापनासूत्र-मलयगिरिटीका
प्रमाणन०	:	प्रमाणनयतत्त्वालोकः
प्र० वार्तिकालं०	:	प्रमाणवार्तिकालंकारः,
प्र० वा० स्ववृ० टी०	:	प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका,
प्रमाणवा०	:	प्रमाणवार्तिकम्,
प्रमाणसमु०	:	प्रमाणसमुच्चयः
प्रमाणप०	:	प्रमाणपरीक्षा,
प्रमाणमी०	:	प्रमाणमीमांसा,
प्रमाणसं०	:	प्रमाणसंग्रह,
प्रमेयक०	:	प्रमेयकमलमार्तण्ड,
प्रमेयरत्नमा०	:	प्रमेयरत्नमाला,
प्रमेयरत्न०	:	प्रमेयरत्नार्णव
प्रव० टी०	:	प्रवचनसारटीका (जयसेनीया)
प्रश० भा०, कन्द	:	प्रशस्तपादभाष्यकन्दली
प्रश० किर०	:	प्रशस्तपादभाष्यकिरणावली टीका,
प्रश० भा, व्यो०	:	प्रशस्तपादभाष्य व्योमवतीटीका,
पूर्णप्रज्ञभा०	:	पूर्णप्रज्ञभाष्य
पात० महाभा०	:	पातंजल महाभाष्य
पां.यो.सू.	:	पांतजलयोग सूत्र
बृहत्कल्प० मलय०	:	बृहत्कल्पभाष्यम्-मलयगिरि टीका
बृ० सर्वज्ञसि०	:	बृहत्सर्वज्ञसिद्धिः
बृहदा०	:	बृहदारण्यकोपनिषत्,
ब्रह्मसू० शां० भा०	:	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्,
बोधिचर्या० पं० पृ०	:	बोधिचर्यावतारः,
भग०	:	भगवतीसूत्रम्,
भगवद्गी०	:	भगवद्गीता,
भा.ता.नि.	:	भागवततात्पर्यनिर्णयः
म.सि.सा.	:	माध्वसिद्धांतरसार
मनु०	:	मनुस्मृति,
महाभा०	:	महाभारतम्,
माध्यमिक० वृ०	:	माध्यमिकवृत्तिः,
मीमांसान्या०	:	मीमांसान्यायप्रकाश
मानमे०	:	मानमेयोदयः
मी० श्लो०	:	मीमांसाश्लोकवार्तिकम्,
मी० श्लो० उपमान०	:	मीमांसाश्लोकवार्तिकम्
मी० श्लो० प्रत्यक्षसू०	:	मीमांसाश्लोकवार्तिकम्,
मुण्डक०	:	मुण्डकोपनिषत्,
मूलाचा०	:	मूलाचार,
मैत्रा०	:	मैत्रायण्युपनिषद्,
यश०	:	यशस्तिलकम्,
युक्त्यनुशा०	:	युक्त्यनुशासन,
योगद० व्यासभा०	:	योगदर्शनव्यासभाष्यम्,
यो. सू.	:	योगसूत्र
योगभा०	:	योगदर्शनव्यासभाष्यम्
योगभा० तत्त्ववैशा०	:	योगभाष्यस्य तत्त्ववैशारदीटीका,
यो.शा.	:	योगशास्त्र
योगसू० व्यासभा०	:	योगसूत्रव्यासभाष्यम्
योग दृ.समु.	:	योगदृष्टि समुच्चय
यो.श.	:	योगशतक
रत्नक०	:	रत्नकरण्डश्रावकाचार,
रत्नाकराव०	:	रत्नाकरावतारिका,
राजवा०	:	राजवार्तिक,
वादन्यायः	:	वादन्यायः,
विधिवि०	:	विधिविवेक,
विधिवि० न्यायकणि०	:	विधिविवेक टीका न्याय कणिका,
विवरणप्र०	:	विवरणप्रमेयसंग्रहः,
विवेकचू०	:	विवेक चूडामणि
विशेषा०	:	विशेषावश्यकभाष्यम्,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विसुद्धि०	:	विसुद्धिमग्गो,
वेदांतप०	:	वेदांत परिभाषा
वेदांतसा०	:	वेदांतसार
वे.सि.मु.	:	वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली
वैशे० सू०	:	वैशेषिकसूत्रम्,
वे.पा.भा.	:	वेदान्तपारिजात भाष्य
वैशे० उप०	:	वैशेषिकसूत्रस्य उपस्कारः,
व्या० प्र०	:	व्याख्याप्रज्ञप्ति,
व्युत्पत्ति०	:	व्युत्पत्तिवाद
शुद्धाद्वैत मा.	:	शुद्धाद्वैतमार्तण्ड
शाबरभा०	:	शाबरभाष्यम्
शास्त्रदी०	:	शास्त्रदीपिका,
शास्त्रवा०	:	शास्त्रवार्तासमुच्चयः,
श्री भा.	:	श्रीभाष्य
श्रीकण्ठ भा.	:	श्री कण्ठभाष्य
वृ.प्र.	:	वृत्ति प्रभाकर
श्वेता०	:	श्वेताश्वतरोपनिषद्
षड्. समु.	:	षड्दर्शन समुच्चय
षड्० बृह०	:	षड्दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्तिः,
षट्प्रा० टी०	:	षट्प्राभृतटीका,
सप्तभंगीत०	:	सप्तभंगितरंगिणी,
सर्व.ल.स.	:	सर्वलक्षणसंग्रह
सर्वद० सं.	:	सर्वदर्शनसंग्रहः,
सर्ववेदान्तसि०	:	सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रहः
सर्व.वे.सि.सा.सं.	:	सर्व वेदान्त सिद्धांत सारसंग्रह
सर्वार्थसि०	:	सर्वार्थसिद्धिः,
सन्मति० टी०	:	सन्मतितर्कटीका,
संक्षेपशा० टी०	:	संक्षेपशारीरकटीका,
सांख्यका०	:	सांख्यकारिका,
सांख्यप्र० भा०	:	सांख्यप्रवचन भाष्यम्
सांख्य० माठर०	:	सांख्यकारिका माठरवृत्ति,
सांख्यतत्त्व कौ०	:	सांख्यतत्त्वकौमुदी,
सांख्यस०	:	सांख्यसंग्रहः
सांख्यसू० वि०	:	सांख्यसूत्रविषणम्,
सि.च.	:	सिद्धान्तचन्द्रिका
सि.ले.सं.	:	सिद्धान्तलेशसंग्रह
सि.बि.	:	सिद्धातबिंदु
सिद्धिवि० टी०	:	सिद्धिविनिश्चयटीका,
सौन्दर०	:	सौन्दरनन्दमहाकाव्यम्,
स्था०	:	स्थानांगसूत्रम्
सूत्र०	:	सूत्रकृतांग,
स्त्रीमु०	:	स्त्रीमुक्तिप्रकरणम्,
स्या० मं०	:	स्याद्वादमञ्जरी,
स्या० र०	:	स्याद्वादरत्नाकरः,
हेतुबि०	:	हेतुबिन्दुटीका,
हैम०	:	हेमकोशः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट-१०

।। उद्धृतवाक्यानुक्रमणिका ।। [श्लोक नं. / पृ. नं]

[अ]

अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः
[मैत्र्यु० ६।३] (७१/९७९)

अग्नीषोमीयं पशुमालभेत
[ऐतरेय आ० ६।१३] (५८/९३१)

अज्ञो जन्तुरनीशानोः
[महा भा० वन० ३१] (१/१८)

अज्ञो (अन्यो) जन्तुरनीशानः
[महाभा० वनप० ३०।२८] (१३/१३३)

अतर्कितोपस्थितमेव सर्वम्
[आचा० २।१।१।१।४] (१/२१)

अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिः [ ] (१०/६९)

अतिदूरात्सामीप्यात् [ ] (४८-४९/७३७)

अतीन्द्रियाणामर्थानाम् [ ] (६९/९७७)

अतोऽनेकस्वरात् [हैम० ७।२] (१/२३)

अथापि दिव्यदेहत्वात् [ ] (६८/९७४)

अधस्तिर्यक् तथोर्ध्वं च
[त० भा० १०।७] (५२/७६६)

अन्तेषु भवा अन्त्याः
[प्रश० भा० पृ० १६८] (६५/९६०)

अन्धे तमसि मज्जामः [ ] (५८/९३२)

अन्यदपि चैकरूपं तत् [ ] (५२/७८२)

अनुमातुरयमपराधो
नानुमानस्य [ ] (१७-१८-१९/१५९)

अनुवादादरवीप्सा [ ] (८२/१००४)

अनेकानि सहस्राणि [ ] (५८/९३१)

अप्सु स्पर्शः शीत एव [ ] (४८-४९/७१६)

अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ
[मी० श्लो० अभाव श्लो० ८] (७६/९९३)

अपवर्त्यते कृतार्थं [केवलिमुक्ति
श्लो० १६] (४५-४६/६७७)

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति [ ] (५८/९३१)

अपेक्ष्येत परः कश्चिद्यदि
[प्र-वा-३।२७९] (७/४७)

अभावोऽपि प्रमाणाभावलक्षणो
[शा० भा० १।१] (७६/९९०)

अमूर्तश्चेतनो भोगी [ ] (४१/२५३)

अयोगं योगमपरैः
[प्र० वा० ४। १९०] (९/६१)

अर्थापत्तिरपि दृष्टः
[शाबरभा० १।१।५] (७५/९८७)

अर्थो ज्ञानसमन्वितः [ ] (११/८४)

अस्ति वक्तव्यता काचित् [ ] (४४/२६२)

अस्ति ह्यालोचना ज्ञानम्
[मी० श्लो० प्रत्य०११२] (५/४२)

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि
[वैशे० सू० ९।२।१] (६७/९६६)

असदकरणादुपादानग्रहणात्
[सांख्यका० ९] (४३/२६०)

असिइसयं किरियाणं [सूत्रकृ०
नि० गा० ११९] (१/१५)

आग्रही बत निनीषति
युक्तिम् [ ] (८७/१०१०)

[आ]

आत्मनि सति परसंज्ञा
[प्र.व. १/२९/२२१] (५३/७८१)

आत्मशरीरेन्द्रयार्थबुद्धिः
[न्यायसू० १।१।९] (२४/१७३)

आत्मा सहैति मनसा [ ] (१७/१४३)

आधारभस्मकौपीन [ ] (१२/१२८)

आनन्दं ब्रह्मणो रूपम् [ ] (५२/७७४)

आरण्यमेतत्सवितास्तमागतः [ ]
(२७-२८/१९१)

[इ]

इत एकनवते कल्पे [ ] (५८/९२३)

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्
[न्यायसू० १।१।४] (१७/१३९)

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठम्
[मुण्डक- १।२।१०] (४३/२५६)

इषुकारनरः कश्चित् [ ] (४८-४९/७३९)

[ई]

ईर्याभाषैषणादान- [ ] (४४/६२५)

[उ]

उपमानमपि सादृश्यात् [शाबर भा० १।१।८]
(७४/९८५)

उवसमेण-[दश.वै.८/३९] (४५-४६/६७७)

[ऊ]

ऊर्ध्वगौरवधर्माणो
[त० भा० १०।७] (५२/७६६)

ऊर्ध्वसत्त्वविशालः
[सांख्यका० ५४] (३५/२४२)

ऊर्मिषट्कातिगं रूपम्
[न्यायम० प्रमे० पृ० ७] (५२/७७३)

[ए]

एक एक हि भूतात्मा
[त्रि० ता० ५।१२] (६७/९७१)

एकादश जिने
[त० सू० ९।१८] (४५-४६/६७९)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः [ ](५५/८४४)

एकं चेत्तत्कथं चित्रम्
[प्रश० क० पृ० ३०] (५७/८८६)

एरण्डयन्त्रपेडासु
[त० भा० १०।७] (५२/७६६)

एषामैन्द्रियकत्वेऽपि
[मी० श्लो० चोदना सू० श्लो० १३] (७१/९७९)

[ओ]

ओंबेकः कारिकां वेत्ति [ ] (१/३४)

[क]

कइणं भंते दव्वा पण्णत्ता [ ] (४८-४९/७४२)

कर्मक्षयाद्धि मोक्षः [ ] (५२/७८२)

कः कण्टकानां प्रकरोति
[बुद्धच० ९।६२] (१/१९)

क्वचिद्दु [हैम० ५।१।१७१] (१/८)

कारणमेव तदन्त्यम् [ ](४८-४९/७३५)

कालाभावे च गर्भादि
[शास्त्रवा० श्लो० १६७] (१/१६)

कालः पचति भूतानि [महाभा० हारीत सं०] (१/१६)

किंच कालादृते नैव
[शास्त्रवा० श्लो० १६६] (१/१६)

कुलालचक्रे दोलायाम्
[त० भा० १०।७] (५२/७६६)

को दुक्खं पाविज्जा [ ] (४५-४६/६२७)

क्षणिकाः सर्वसंस्काराः
[ ] (१/२१) (५/४४)

क्षीरे दधिभवेदेवम्
[मी० श्लो० अभाव० श्लोक ५] (७६/९९२)

[ग]

गतानुगतिको लोकः [न्यायम० प्रमा० पृ, ११] (३०/१९६)

गुणदर्शी परितृप्यन्
[प्र० व० १।२१९-२२१] (५२/७८१)

गुणपर्यायवद्द्रव्यम्
[त० सू० ५।३८] (४८-४९/७२८)

[घ]

घटमौलिसुवर्णार्थी
[आप्तमी० श्लो० ५९] (५७/८५३)

घ्राणादितोऽनुयातेन [ ](३३/२३८)

[ज]

जातिरेव हि भावानां [ ](७/४७)

जावइया वयणपहा [सन्मति० ३।४७] (१/१४)

जीवपुद्ग [ ] (४८-४९/७२०)

जे एगं जाणइ [ ] (५५/८४४)

जेसु अनाएसु तओ [ ] (५५/८४३)

जो तुल्लसाहणाणं [ ](५०/७५५)

ज्ञातसंबन्धस्यैकदेश [शाबर भा० १।१।५] (७३/९८४)

ज्ञानमप्रतिघं यस्य [ ](१३/१३२)

ज्ञानमप्रतिधं यस्य [महाभा० वन प० ३०] (१/१८)

ज्ञानादयस्तु भावप्राणा [ ](५२/७६८)

ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य [ ](४५-४६/६२९)

ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य [ ](५२/७९८)

[त]

तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् [ ] (१७-१८-१९/१५१)

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थम् [न्यायसू० ४।२।५०] (२९/१९३)

ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषाम् [त० भा० १०।७] (५२/७६७)

तदनन्तरमेवोर्ध्वम् [त० भा० १०।७] (५२/७६६)

तदा तन्नित्यमानन्दम् [ ](५२/७७४)

तदुच्छेदे च तत्कार्य [न्यायम० प्रमे० पृ० ७] (५२/७७३)

तदुपकारौ [त.सू. ५/१०] (४८-४९/७४२)

तपसा निर्जरा च
[त० सू० ९।३] (४७/६८२)

तपांसि यातनाश्चित्राः [ ](८१/१००१)

तं मंगलमाईए [विशेषा. गा-१३] (१/५)

तस्माद्यत्स्मर्यते तत् [मी० श्लो० उप० श्लो०३] (५५/८०९)

तस्मान्न बध्यते नैवमुच्यते
[सांख्यका० ६२] (४३/२५६)

तस्मान्मानुषलोकव्यापी [ ] (४८-४९/७३१)

तस्सेवाविग्घत्थं
[विशेषा० गा० १४] (१/५)

तादूप्येण च धर्मत्वम् [मी० श्लो० चोदना सू० श्लो० १४] (७१/९७९)

तावदेव चलत्यर्थो [ ](२६/१८५)

त्रैरूप्यं पाञ्चरूप्यं वा [ ](५७/८९४)

[द]

दग्धेन्धनः पुनरुपैति
[सिद्ध० द्वा०] (४५-४६/६२९)

दग्धे बीजे यथात्यन्तम् [तत्त्वार्थाधि० भा० १०।७] (४५-४६/६२९)

दशहस्तान्तरं व्योम्नो [ ](४५-४६/६५५) (६८/९७४)

दुःशिक्षितकुतर्काश -
[न्यायम० प्रमा० पृ० ११] (३०/१९५)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दैवागमनभोयान- [आप्त मी० श्लो० १] (६८/९७४)

देवागमनभोयान- [आप्तमी० १।१] (१/२४)

द्वादशाङ्गमपि... [ ] (५३/८००)

[ध]

धर्माधर्मनिमित्तो हि

[न्यायम० प्रमे० पृ० ७] (५२/७७३)

धर्माणां धर्मा [ ] (५७/८६९)

[न]

न कालव्यतिरेकेण [शास्त्रवा० श्लोक० १६५] (१/१६)

न च स्याद् व्यवहारोऽयम् [मी० श्लो० अभाव० श्लो०२] (७६/९९२)

न चावस्तु न एते स्यु [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४] (७६/९९२)

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति [वसि० धर्म० १६।३६] (५८/९३१)

न नरः सिंहरूपत्वात् [ ] (५७/८९४)

ननु कायाकार [ ] (४८-४९/६९७)

ननु तस्यामवस्थायाम् [न्यायम० प्रमे० पृ० ७] (५२/७७३)

न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्याम्

[प्र० वा० २।६३] (९/६५)

न मांसभक्षणे दोषो

[मनु० ५।५६] (५८/९३१)

नवि अत्थि माणुसाणं तं [ ] (५२/७६८)

न वै हिंस्रो भवेत् [ ] (५८/९३१)

न श्रद्धयैव त्वयि

[अयोगव्य. श्लो. २९] (१/१३)

न स्वर्धुनी न फणिनो [ ] (१२/१२६)

न ह्याभ्यामर्थं परिच्छिद्य [ ] (८/५५)

न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति [ ](१०/६८)

नहि वै सशरीरस्य

[छान्दो० ८।१२।१] (५२/७७३)

न हिंस्यात्सर्वभूतानि [ ] (५८/९३१)

नाकारणं विषयः [ ] (५८/९२१)

नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयास्ति [प्र० वा० २।३२७] (१०/७२)

नान्वयः स हि भेदित्वात् [ ] (५७/८९४)

नाननुकृतान्वयव्यतिरेकम् [ ] (९/६५)

नाननुकृतान्वयव्यतिरेकम् [ ] (५८/९२१)

नास्तिता पयसो दध्नि [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ६] (७६/९९२)

नित्यद्रव्याण्युत्पत्तिविनाशयो [ ] (६५/९६०)

नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा [प्र० वा० ३।३४] (४८-४९/६९७)

नियतेनैव रूपेण

[शास्त्रवा० श्लो० १७३] (१/१८)

निर्वर्तकं निमित्तम् [ ] (४८-४९/७२८)

[प]

पक्षपातो न मे वीरे [लोकतत्त्व नि० श्लो० ३८] (१/१३) (४४/२६२)

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो [ ] (३३/२३८)

पयोव्रतो न दध्यत्ति [आप्त मी० श्लो० ६०] (५७/८५३)

पुद्गलस्थिकाए [ ] (४८-४९/७४८)

पुराणं मानवो धर्मः [मनु० १२।११०] (४३/२६२)

पुरुष एवेदं सर्वम्

[ऋक्० १०।९०।२] (६७/९७१) (१/१८)

पुरुषोऽविकृतात्मैव [ ] (४१/२५३)

पूर्वाकारपरि [आप्त.मी.श्लो-५९] (५७/८५३)

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारः

[सांख्यका० ३३] (४१/२४८)

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम् [ ] (४८-४९/६९४)

प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः [मी० श्लोक० अभाव० श्लो० ११] (७६/९९०)

प्रतिक्षणं विशरावो [ ] (११/८३)

प्रतिनियताध्यवसायः [ ] (४३/२५८)

प्रध्वस्ते कलशे शुशोच तनया मौलौ समुत्पादिते [ ] (५७/८५३)

प्रापणशक्तिः प्रामाण्यम् [ ] (८/५५)

प्रमाणपञ्चकं यत्र [ ] (४५-४६/६५५)

प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् [प्र.वा.१/३] (८/५५)

प्रमाणषट्कविज्ञातो [मी० श्लो० अर्था० श्लो० १] (५५/८११)

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्य-साधनम् [न्यायसू० १।१।६] (२३/१७१)

पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति [ ] (८४/१००७)

[ब]

बदर्याः कण्टकस्तीक्ष्ण-

[लोकतत्त्व २।२२] (१/१९)

बन्धविप्रयोगो मोक्षः [ ] (४७/६८२)

बन्धुर्न नः स भगवान्

[लोकतत्त्व १।३२] (१/१३)

बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो

[प्र० वा० २।३२७] (१०/७२)

बुद्धिदर्पणसंक्रान्तम् [ ] (४१/७२)

बुद्ध्यध्यवसितमर्थम् [ ] (४१/२५२)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धस्तु सुगतो धर्मधातुः [अभिधान० २।१४६] (४/४०)
बुद्धिश्चाचेतनापि [ ] (४१/२५३)

[भ]

भागे सिंहो नरो भागे [ ] (५७/८९४)

[म]

मतिः स्मृतिः संज्ञा [त० सू० १।१३] (५५/८१६)
मणिप्रदीपप्रभयोः [प्र० वा० २।५७] (१०/७४)
मणुत्रं भोयणं भुञ्जा [ ] (४/३९)
मयाकश्यामाक [ ] (८०/९९९)
मयूराण्डरसे यद्वत् [ ] (५७/८९३)
महोक्षं वा महाजं वा [याज्ञ० स्मृ० १९९] (५८/९३१)
म्रियन्ते मिष्टतोयेन [ ] (३३/२३८)
मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेः [प्र० वा० १।२५६] (१२/८४)
मुख्यसंव्यवहारेण [सन्मतितर्क टीका पृ० ५९] (५५/८२३)
मूलक्षि (क्ष) तिकरीमाहु [ ] (५७/८६९)
मूलप्रकृतिरविकृतिः [सांख्यका० ३] (४१/२४८)
मृतानामपि जन्तूनाम् [ ] (५८/९३२)
मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया [ ] (४/३९)
मृल्लेपसंगनिर्मोक्षात् [त० भा० १०।७] (५२/७६६)

[य]

य एव श्रेयस्करः [शाबर० भा० १/१/२] (७१/९७९)
यथा तथायथार्थत्वे [प्र. वा० २/५८] (१०/७४)
यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च [त० भा० १०/७] (५२/७६६)
यथा सकलशास्त्रार्थः [प्र० वार्तिकाल० १२।२२७] (४५-४६/६७२)
यथोक्तक्षणोपपन्नः [न्याय सू० १।२।२।] (२९/१९३)
यद्यथैवाविसंवादि [सन्मतितर्क टीका, पृ० ५९] (५५/८२३)
यद्यदैव यतो यावत् [शास्त्रवा० श्लो० १७४] (१/१८)
यद्वानुवृत्तिव्यावृत्ति [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ३] (७६/९९२)
यदा ज्ञानं प्रमाणं तदा [न्यायभा० १।१।३] (१७/१४७)
यस्मात्क्षायिकसम्यक्त्व [ ] (५२/७६८)
यः पश्यत्यात्मानम् [प्र० व० १।२१९-२२१] (५२/७८१)
यावदात्मगुणाः सर्वे [न्याय म० प्रमे० पृ,० ७] (५२/७७३)
यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् [ ] (८१/१००१)
युगपदयुगपत्क्षिप्रम् [ ] (४८-४९/७४६)
युगपदु [ ] (५७/८६३)
येन येन हि भावेन [ ] (१२/१२६)

[र]

रागोऽङ्गनासङ्गमतः [ ] (४५-४६/६२७)
रूपादयस्तदर्थाः [ ] (१७-१८-१९/१३९)

[ल]

लिखितं साक्षिणो भुक्तिः (याज्ञव० स्मृ० २।२२) (५५/८११)
लूतास्य तन्तुगलिते [ ] (३३/२३८)

[व]

वर्तेत इदं न वर्तत [ ] (४८-४९/७४६)
वर्तना परिणामः क्रिया [त० सू० ५।२२] (४८-४९/७३३)
वरं वृन्दावने वासः [ ] (५२/७७२)
वस्तु (स्त्व) संकरसिद्धिश्च [मी श्लो० अभाव० श्लो० ५] (७६/९९२)
विविक्ते दृक्परिणतौ [ ] (४१/२५३)
विरोधादेकमनेकस्वभाव [प्रश० कन्द० पृ० ३०] (५७/८८६)
विशेषणविशेष्याभ्याम् [प्र० वा० ४।१९१] (९/६१)
वीतरागं स्मरन् योगी [ ] (१२/१२६)
व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वम् [प्रश० किरण० पृ० ३३] (६५/९५७)
व्यवच्छेदफलं वाक्यम् [प्र० वा० ४।१९२] (९/६१)
व्यावृत्ति बुद्धिहेतवः [प्र० वा० पृ० १६८] (६५/६९०)

[श]

शब्दज्ञानादसंनिकृष्टे [शाबर भा० १।१।५] (७४/९८५)
शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्य- [त० सू० ५।२४] (४८-४९/७३५)
शिरसोऽवयवा निम्ना [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ७] (७६/९९२)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययम्
[योग भा० २।२०] (४१/२५३)

शुद्धचैतन्यरूपोऽयम् [ ] (४३/२५६)

शून्यमिदं [ ] (११/८४)

शैवाः पाशुपताश्चैव [ ] (१२/१२८)

शैवीं दीक्षां द्वादशाब्दीम् [ ] (१२/१२६)

श्रुत्वा वचः सुचरितं
[लोकतत्त्व० १।३२] (१/१३)

श्रूयतां धर्मसर्वस्वम्
[चाणक्य १।७] (५८/९३२)

श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः च [मी० श्लो० चोदना श्लो० १९१] (७१/९७९)

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा (४३/२५८)

[ष]

षट्त्रिंशदङ्गुलायामम् [ ] (३३/२३८)

षट्शतानि नियुज्यन्ते [ ] (५८/९३१)

[स]

स एव योगिनां सेव्यः [ ] (१२/१२६)

सत्संप्रयोगे सति
[मी० सू० १।१।४] (७३/९८३)

सद्विद्यमाने सत्ये च
[अनेकार्थ १।१०] (१/७)

सदकारणवन्नित्यम्
[वैशं० सू० ४।१।१] (६१/९४२)

सप्तदशप्राजापत्यान्पशून्
[तैत्ति० सं० १।४] (५८/९३१)

सप्रतिपक्षस्थापनाहीनः
[न्यायसू० १।२।३] (२९/१९३)

सम्यग्ज्ञानदर्शन
[त०सू० १।१] (५४/८०१)

संबद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना
[मी० प्रत्यक्ष० सू० श्लो० ८४] (४५-४६/ ६५५) (६८/९७४)

सर्वमेतदिदं ब्रह्म
[छन्दो० ३।१४।१] (६७/९७१)

सर्वव्यक्तिषुनियतंक्षणेक्षणे [] (५७/८५१)

सर्ववाक्यंसावधारणमिति (९/६०)

सामीप्ये च व्यवस्थायाम् [ ] (४/४०)

सिद्धस्स सुहो रासी [ ] (५२/७६८)

सुखमात्यन्तिकं यत्र [ ] (५२/७७४)

सुनिश्चितं नः परतन्त्र
[द्वात्रिंश०] (५८/९२०)

सुविवेचितं कार्यं
कारणं च [ ] (१७-१८-१९/१५९)

सुरगणसुहं समग्गं [ ] (५२/७६८)

सुरासुरनरेन्द्राणाम् [ ] (५२/७६८)

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः
[त० सू० ५।२३] (४८-४९/७३५)

स्मृत्यनुमानागमसंशय०
[न्यायभा० १।१।१६] (१७-१८-१९/१५३)

स्वपरव्यवसायि - [ ] (५४/८०३)

स्वस्वभावजमत्यक्षम् [ ] [ ] (५२/७६८)

[ह]

ह्यः श्वोऽद्य संप्रति [ ] (४८-४९/७४६)

हस पिब लल खाद मोद [ ] (३३/२३८)

हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः [ ] (४५-४६/६७०)

हेतुमदनित्यमव्यापि
[सांख्यका० २०] (४१/२४८)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट-११

मूलश्लोकानुक्रम

श्लोक	नं.	पृ. नं.	श्लोक	नं.	पृ. नं.
अत एव पुरा	७०	(९७८)	तत्त्वानि षोडशा	१४	(१३४)
अपरोक्षतया	५६	(८४५)	तथाभव्यत्व	५४	(८०१)
अक्षपादमते	१३	(१२८)	तत्र ज्ञानादि	४८	(६८३)
आचार्य शिष्य	२९	(१९३)	तत्र द्रव्यं	६१	(९४०)
उत्क्षेपावक्षेप	६४	(९५५)	तत्र परं	६५	(९५६)
एतानि नव	५३	(८००)	तत्र प्रत्यक्ष	७३	(९८३)
एतावानेव	८१	(१०००)	तत्र बौद्धमते	४	(३९)
एतेषां या	३६	(२४३)	तस्मादती	६९	(९७६)
एवं चतुर्विंशति	४१	(२४७)	तस्माद्दृष्ट	८५	(१००८)
एवं सांख्यमत	४४	(२६१)	दर्शनानि षडेवा	२	(३५)
कार्यात् कारणा	२१	(१६९)	दुःखं संसारिणः	५	(४२)
किमेतदिति	२५	(१८१)	दृष्टांतस्तु	२६	(१८४)
क्षणिकाः सर्व	७	(४६)	दृष्टान्तोऽप्य	१५	(१३४)
चैतन्य लक्षणो	४९	(६८४)	दृष्टार्थानुप	७५	(९८७)
जातयो निग्रह	१६	(१३४)	देवताविषयो	५९	(९३८)
जिनेन्द्रो देवता	४५	(६२६)	द्रव्यं गुण	६०	(९३९)
जीवाजीवौ	४७	(६८१)	निग्रहस्थान	३२	(२२३)
जैनदर्शन	५८	(९१९)	नैयायिकमतस्यै	३३	(२३६)
जैमिनीयाः पुनः	६८	(९७३)	नैयायिकमताद	७८	(९९७)
जैमिनीयमत	७७	(९९६)	नोदनालक्षणो	७१	(९७८)
ततः संजायते	३७	(२४४)			

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्लोक	नं.	पृ. नं.	श्लोक	नं.	पृ. नं.
पापं तद्विपरीतं.	५०	(७५३)	यच्च सामान्य	२२	(१७०)
पायूपस्थ	३९	(२४५)	यथा काकादि	२८	(१८९)
पिब खाद च	८२	(१००४)	येनोत्पाद	५७	(८५०)
पृथ्वी जल	८३	(१००५)	रुपाणि पक्ष	११	(७८)
पृथ्व्यादि	८४	(१००६)	रुपात्तेजो	४०	(२४७)
पूर्ववच्छेष	१९	(१३९)	रोलंबगवल	२०	(१६८)
पंचविंशति	४२	(२५५)	लोकायतमते	८७	(१००९)
पंचेन्द्रियाणि	८	(५४)	लोकायता	८०	(९९९)
प्रकृतिवियोगो	४३	(२५६)	विजिगिषु	३०	(१९५)
प्रतिज्ञाहेतु	२७	(१८९)	व्यवसायात्मकं	१८	(१३९)
प्रत्यक्षमनुमानं	७२	(९८३)	शाब्दमाप्तो	२४	(१७३)
प्रत्यक्षमनुमानं	१७	(१३९)	शाब्दं शाश्वत	७४	(९८५)
प्रत्यक्षं कल्पना	१०	(६८)	षड्-दर्शन	७९	(९९८)
प्रत्यक्षं च	५५	(८०६)	सत्त्वं रजस्	३५	(२४१)
प्रमाणं च	६७	(९६४)	सद्दर्शनं	१	(२)
प्रमाणपंचकं	७६	(९९०)	समुदेति	६	(४५)
प्रमाणे द्वे च	९	(६०)	संवरस्तन्निरोध	५१	(७६०)
प्रसिद्धवस्तु	२३	(१७१)	साध्यवृत्ति	८६	(१००८)
बद्धस्य कर्मणो	५२	(७६३)	सांख्या निरी	३४	(२३९)
बुद्धिः सुख	६३	(९४५)	सुरासुरेंद्र	४६	(६२६)
बौद्धं नैयायिकं	३	(३६)	स्पर्शनं रसन	३८	(२४५)
बौद्ध राद्धांत	१२	(८४)	स्पर्शरस	६२	(९४५)
य इहायुत	६६	(९६२)	हेत्वाभासा	३१	(१९७)

❖ ❖ ❖

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुनिश्री द्वारा संपादित-लेखित-संपादिक पुस्तक

	ग्रंथ-पुस्तक का नाम	प्रकाशन वर्ष
(१)	षड्दर्शन समुच्चय भावानुवाद भाग-१ (गुजराती)	वि.सं. २०६१
(२)	षड्दर्शन समुच्चय भावानुवाद भाग-२ (गुजराती)	वि.सं. २०६१
(३)	धर्मसंग्रह सारोद्धार, श्रमण धर्म भाग-२ (गुजराती)	वि.सं. २०६१
(४)	तिथि अंगे सत्य और कुर्तको की समालोचना● (गुजराती)	वि.सं. २०६१
(५)	तत्त्व विषयक प्रश्नोत्तरी● (गुजराती)	वि.सं. २०६२
(६)	योगदृष्टि से जीवन दृष्टि बदलीये (१) (गुजराती)	वि.सं. २०६२
(७)	त्रिस्तुतिक मत समीक्षा प्रश्नोत्तरी (गुजराती)	वि.सं. २०६४
(८)	त्रिस्तुति मत समीक्षा प्रश्नोत्तरी (हिन्दी)	वि.सं. २०६४
(९)	चतुर्थस्तुति निर्णय (सानुवाद) भाग १-२ (हिन्दी, गुजराती)	वि.सं. २०६४
(१०)	योगपूर्व सेवा (२) (गुजराती)	वि.सं. २०६४
(११)	शुद्धधर्म● (३) (गुजराती)	वि.सं. २०६५
(१२)	अध्यात्म शुद्धि (४) (गुजराती)	वि.सं. २०६६
(१३)	समाधि मृत्यु थकी सद्गति सद्गति थकी भवमुक्ति (५) (गुजराती)	वि.सं. २०६७
(१४)	षड्दर्शन समुच्चय भावानुवाद भाग-१ (हिन्दी)	वि.सं. २०६८
(१५)	षड्दर्शन समुच्चय भावानुवाद भाग-२ (हिन्दी)	वि.सं. २०६८
(१६)	षड्दर्शन सूत्र संग्रह एवं षड्दर्शन विषयककृतयः	वि.सं. २०६८
(१७)	आत्मानी त्रण अवस्था (६) (गुजराती) (मुद्रण में)	वि.सं. २०६८

नोट : ●ऐ निशानवाले पुस्तक उपलब्ध नहीं है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नोंट

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु, स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसंपदः ।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता, जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org